जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क ९-१०

☐ निर्देशन
साध्वी श्री उमरावकुंवर 'अर्चना'

☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि

☐ सम्प्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'

☐ द्वितीय संस्करण
वीर निर्वाण सं० २५१८
विक्रम सं० २०४८
ई० सन् अप्रैल १९९१

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति
श्री ब्रज-मधुकर स्मृति भवन,
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
पिन—३०५९०१

☐ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यंत्रालय,
केसरगंज, अजमेर—३०५००१

☐ मूल्य : ९०) रुपये

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Shri Joravarmalji Maharaj

Fifth Ganadhara Sudharma Swami Compiled
Second Anga

SŪTRAKRTĀṄGA SŪTRA

[Original Text with Variant Readings, Hindi Version, Notes,
Annotations and Appendices etc.]

Part I, II

□

Proximity
(Late) Up-pravartaka Shasansevi Rev. Swami Sri Brijlalji Maharaj

□

Convener & Founder Editor
(Late) Yuvacharya Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

□

Translator & Annotator
Srichand Surana 'Saras'

Publishers
Shri Agam Prakashan Samiti
Beawar (Raj.)

Jinagam Granthmala Publication No. 9-10

☐ **Direction**
Sadhwi Shri Umrav Kunwar 'Archana'

☐ **Board of Editors**
Anuyoga-pravartaka Muni Shri Kanhaiyalalji 'Kamal'
Upacharya Sri Devendra Muni Shastri
Sri Ratan Muni

☐ **Promotor**
Muni Sri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendra Muni 'Dinakar'

☐ **Second Edition**
Vir-Nirvana Samvat 2517
Vikram Samvat 2048, Aaril. 1991.

☐ **Publishers**
Sri Agam Prakashan Samiti,
Brij-Madhukar Smriti Bhawan,
Pipalia Bazar, Beawar (Raj.)
Pin 305 901

☐ **Printer**
Satish Chandra Shukla
Vedic Yantralaya
Kaiserganj, Ajmer

☐ **Price : Rs. 90/-**

समर्पण

'अप्पमत्ते सदा जये' की आगम वाणी
जिनके जीवन में प्रतिपद चरितार्थ हुई
जो दृढसंकल्प के धनी थे,
जो उच्चकोटि के साधक थे,
विरक्ति की प्रतिमूर्ति थे,
कवि-मनीषी आप्तवाणी के अनन्यतमश्रद्धालु तथा उपदेशक थे,
उन

स्व. आचार्यप्रवर श्री जयमल्लजी महाराज की

पावन-स्मृति में,
सादर, सविनय समर्पित,

—मधुकर मुनि

(प्रथम संस्करण से)

प्रकाशकीय

सूत्रकृतांगसूत्र का यह द्वितीय संस्करण है। प्रथम संस्करण अलग-अलग दो जिल्दों में प्रकाशित किया गया था। किन्तु ऐसा अनुभव हुआ कि पूरा ग्रन्थ एक ही पुस्तक के रूप में अधिक उपयोगी रहेगा। इसीलिये ग्रन्थांक ९, १० को सम्मिलित कर दिया है।

आगम प्रकाशन की योजना एक महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रारम्भ की गई थी। संत-सतीवर्ग की सत्प्रेरणाओं, समाज के गणमान्य सज्जनों के सहयोग और स्वाध्यायप्रेमी महानुभावों के प्रोत्साहन से समिति अपने निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति के लिये गतिशील रही। इसी का सुफल है कि आगम बत्तीसी के प्रकाशन का कार्य प्राय: पूर्ण होने जा रहा है। जीवाजीवाभिगमसूत्र द्वितीय भाग और चार छेदसूत्रों का मुद्रण कार्य हो रहा था, किन्तु पूर्व प्रकाशित कुछ ग्रन्थों के अप्राप्य हो जाने और पाठकों की मांग होने से उनके द्वितीय संस्करण प्रकाशित करने का निश्चय करना पड़ा। अभी तक आचारांगसूत्र भाग-१, २, ज्ञाताधर्मकथांग, उपासकदशांग, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरोपपातिकसूत्र प्रकाशित हो गये हैं और अब सूत्रकृतांगसूत्र का द्वितीय संस्करण प्रकाशित कर रहे हैं। जीवाजीवाभिगमसूत्र द्वितीय भाग के साथ-साथ अन्य अनुपलब्ध ग्रन्थों के प्रकाशन के लिये कार्य चालू है। जिससे आगम बत्तीसी के सभी ग्रन्थ पाठकों को उपलब्ध हो जायें।

समिति चाहती है कि सभी ग्रन्थ यथाशीघ्र प्रकाशित हो जायें, किन्तु कार्य की पूर्णता के लिये समय अपेक्षित है।

श्रद्धेय मुनि श्री पार्श्वचन्द्रजी म. सा., सिद्धान्तशास्त्री (आचार्य श्री लालचन्द्रजी म. सा. के सुशिष्य) ने सूत्रकृतांगसूत्र के इस संस्करण में यथायोग्य संशोधन करने की कृपा की है। एतदर्थ समिति आपश्री की आभारी है।

अन्त में हम सभी सहयोगियों के प्रति धन्यवाद ज्ञापन करना अपना कर्तव्य मानते हैं, जिनके सहयोग से समिति अपने अधिकृत कार्य को सफल बनाने के लिये प्रयत्न कर रही है।

रतनचन्द मोदी	सायरमल चोरड़िया	अमरचन्द मोदी
कार्यवाहक अध्यक्ष	महामन्त्री	मन्त्री

श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

(कार्यकारिणी समिति)

अध्यक्ष	श्री किशनलालजी बैताला	मद्रास
कार्यवाहक अध्यक्ष	श्री रतनचन्दजी मोदी	ब्यावर
उपाध्यक्ष	श्री धनराजजी विनायकिया	ब्यावर
	श्री पारसमलजी चोरड़िया	मद्रास
	श्री हुक्मीचन्दजी पारख	जोधपुर
	श्री एस. किशनचन्दजी चोरड़िया	मद्रास
	श्री जसराजजी पारख	दुर्ग
महामंत्री	श्री जी० सायरमलजी चोरड़िया	मद्रास
मंत्री	श्री अमरचन्दजी मोदी	ब्यावर
	श्री ज्ञानराजजी मूथा	पाली
सहमंत्री	श्री ज्ञानचन्दजी विनायकिया	ब्यावर
कोषाध्यक्ष	श्री जंवरीलालजी शिशोदिया	ब्यावर
	श्री अमरचन्दजी बोथरा	मद्रास
सदस्य	श्री एस. बादलचन्दजी चोरड़िया	मद्रास
	श्री मूलचन्दजी सुराणा	नागौर
	श्री दुलीचन्दजी चोरडिया	मद्रास
	श्री प्रकाशचन्दजी चौपड़ा	ब्यावर
	श्री मोहनसिंहजी लोढ़ा	ब्यावर
	श्री सागरमलजी बैताला	इन्दौर
	श्री जतनराजजी मेहता	मेड़तासिटी
	श्री भंवरलालजी श्रीश्रीमाल	दुर्ग
	श्री चन्दनमलजी चोरड़िया	मद्रास
	श्री सुमेरमलजी मेड़तिया	जोधपुर
	श्री आसूलालजी बोहरा	जोधपुर
परामर्शदाता	श्री जालमसिंहजी मेड़तवाल	ब्यावर
	श्री प्रकाशचन्दजी जैन	नागौर

आदि वचन

(प्रथम संस्करण से)

विश्व के जिन दार्शनिकों—दृष्टाओं/चिन्तकों ने "आत्मसत्ता" पर चिन्तन किया है, या आत्म-साक्षात्कार किया है, उन्होंने पर-हितार्थ आत्म-विकास के साधनों तथा पद्धतियों पर भी पर्याप्त चिन्तन-मनन किया है। आत्मा तथा तत्सम्वन्धित उनका चिन्तन-प्रवचन आज आगम/पिटक/वेद/उपनिषद आदि विभिन्न नामों से विश्रुत है।

जैनदर्शन की यह धारणा है कि आत्मा के विकारों—राग-द्वेष आदि को साधना के द्वारा दूर किया जा सकता है और विकार जव पूर्णतः निरस्त हो जाते हैं तो आत्मा की शक्तियां ज्ञान/सुख/वीर्य आदि सम्पूर्ण रूप में उद्घाटित, उद्भासित हो जाती है। शक्तियों का सम्पूर्ण प्रकाश-विकास ही सर्वज्ञता है और सर्वज्ञ/आप्त-पुरुष की वाणी वचन/कथन प्ररूपणा—"आगम" के नाम से अभिहित होती है। आगम अर्थात् तत्त्वज्ञान, आत्म-ज्ञान तथा आचार-व्यवहार का सम्यक् परिवोध देने वाला शास्त्र/सूत्र/आप्तवचन।

सामान्यतः सर्वज्ञ के वचनों/वाणी का संकलन नहीं किया जाता, वह विखरे सुमनों की तरह होती है, किन्तु विशिष्ट अतिशयसम्पन्न सर्वज्ञ पुरुष, जो धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं, संघीय जीवन पद्धति में धर्म-साधना को स्थापित करते हैं, वे धर्मप्रवर्तक/अरिहंत या तीर्थंकर कहलाते हैं। तीर्थंकर देव की जनकल्याणकारिणी वाणी को उन्हीं के अतिशय सम्पन्न विद्वान शिष्य गणधर संकलित कर "आगम" या शास्त्र का रूप देते हैं अर्थात् जिन-वचनरूप सुमनों की मुक्त वृष्टि जव मालारूप में ग्रथित होती है तो वह "आगम" का रूप धारण करती है। वही आगम अर्थात् जिन-प्रवचन आज हम सव के लिए आत्म-विद्या या मोक्ष-विद्या का मूल स्रोत है।

"आगम" को प्राचीनतम भाषा में "गणिपिटक" कहा जाता था। अरिहंतों के प्रवचनरूप समग्र शास्त्र—द्वादशांग में समाहित होते हैं और द्वादशांग के आचारांग-सूत्रकृतांग आदि अंग-उपांग आदि अनेक भेदोपभेद विकसित हुए हैं। इस द्वादशांगी का अध्ययन प्रत्येक मुमुक्षु के लिए आवश्यक और उपादेय माना गया है। द्वादशांगी में भी वारहवां अंग विशाल एवं समग्रश्रुत ज्ञान का भण्डार माना गया है, उसका अध्ययन बहुत ही विशिष्ट प्रतिभा एवं श्रुतसम्पन्न साधक कर पाते थे। इसलिये सामान्यतः एकादशांग का अध्ययन साधकों के लिए विहित हुआ तथा इसी ओर सवकी गति/मति रही।

जव लिखने की परम्परा नहीं थी, लिखने के साधनों का विकास भी अल्पतम था, तव आगमों/शास्त्रों/को स्मृति के आधार पर या गुरु-परम्परा से कंठस्थ करके सुरक्षित रखा जाता था। सम्भवतः इसीलिए आगम ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा गया और इसीलिए श्रुति/स्मृति जैसे सार्थक शब्दों का व्यवहार किया गया। भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के एक हजार वर्ष वाद तक आगमों का ज्ञान स्मृति/श्रुति परम्परा पर ही आधारित रहा। पश्चात् स्मृतिदौर्बल्य, गुरु-परम्परा का विच्छेद, दुष्काल-प्रभाव आदि अनेक कारणों से धीरे-धीरे आगमज्ञान लुप्त होता चला गया। महासरोवर का जल सूखता-सूखता गोष्पद मात्र रह गया। मुमुक्षु श्रमणों के लिये यह जहां चिन्ता का विषय था, वहां चिन्तन की तत्परता एवं जागरूकता को चुनौती भी थी, वे तत्पर हुए श्रुतज्ञान-निधि के संरक्षण हेतु। तभी महान् श्रुतपारगामी देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने विद्वान् श्रमणों का एक सम्मेलन बुलाया और स्मृति-दोष से लुप्त होते आगम ज्ञान को सुरक्षित एवं संजोकर रखने का आह्वान किया। सर्व-सम्मति से आगमों को लिपि-बद्ध किया गया। जिनवाणी को पुस्तकारूढ़

करने का यह ऐतिहासिक कार्य वस्तुत: आज की समग्र ज्ञान-पिपासु प्रजा के लिए एक अवर्णनीय उपकार सिद्ध हुआ। संस्कृति, दर्शन, धर्म तथा आत्म-विज्ञान की प्राचीनतम ज्ञानधारा को प्रवहमान रखने का यह उपक्रम वीरनिर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात् प्राचीन नगरी वलभी (सौराष्ट्र) में आचार्य श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में सम्पन्न हुआ। वैसे जैन आगमों की यह दूसरी अन्तिम वाचना थी; पर लिपिबद्ध करने का प्रथम प्रयास था। आज प्राप्त जैन सूत्रों का अन्तिम स्वरूप-संस्कार इसी वाचना में सम्पन्न किया गया था।

पुस्तकारूढ़ होने के बाद आगमों का स्वरूप मूल रूप में तो सुरक्षित हो गया, किन्तु काल-दोष, श्रमण-संघों के आन्तरिक मतभेद, स्मृतिदुर्वलता, प्रमाद एवं भारतभूमि पर वाहरी आक्रमणों के कारण विपुल ज्ञान भण्डारों का विध्वंस आदि अनेकानेक कारणों से आगम ज्ञान की विपुल सम्पत्ति, अर्थवोध की सम्यक् गुरु-परम्परा धीरे-धीरे क्षीण एवं विलुप्त होने से नहीं रुकी। आगमों के अनेक महत्त्वपूर्ण पद, सन्दर्भ तथा उनके गूढ़ार्थ का ज्ञान, छिन्न-विच्छिन्न होते चले गए। परिपक्व भाषाज्ञान के अभाव में, जो आगम हाथ से लिखे जाते थे, वे भी शुद्ध पाठ वाले नहीं होते, उनका सम्यक् अर्थ-ज्ञान देने वाले भी विरले ही मिलते। इस प्रकार अनेक कारणों से आगम की पावन धारा संकुचित होती गई।

विक्रमीय सोलहवीं शताब्दी में वीर लोंकाशाह ने इस दिशा में क्रांतिकारी प्रयत्न किया। आगमों के शुद्ध और यथार्थ अर्थज्ञान को निरूपित करने का एक साहसिक उपक्रम पुन: चालू हुआ। किन्तु कुछ काल वाद उसमें भी व्यवधान उपस्थित हो गये। साम्प्रदायिक-विद्वेष, सैद्धांतिक विग्रह तथा लिपिकारों का अत्यल्प ज्ञान आगमों की उपलब्धि तथा उसके सम्यक् अर्थवोध में वहुत वड़ा विघ्न वन गया। आगम-अभ्यासियों को शुद्ध प्रतियां मिलना भी दुर्लभ हो गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में जव आगम-मुद्रण की परम्परा चली तो सुधी पाठकों को कुछ सुविधा प्राप्त हुई। धीरे-धीरे विद्वद्-प्रयासों से आगमों की प्राचीन चूर्णियां, निर्युक्तियां, टीकायें आदि प्रकाश में आईं और उनके आधार पर आगमों का स्पष्ट-सुगम भाववोध सरल भाषा में प्रकाशित हुआ। इससे आगम स्वाध्यायी तथा ज्ञान-पिपासु जनों को सुविधा हुई। फलत: आगमों के पठन-पाठन की प्रवृत्ति वढ़ी है। मेरा अनुभव है, आज पहले से कहीं अधिक आगम-स्वाध्याय की प्रवृत्ति वढ़ी है, जनता में आगमों के प्रति आकर्षण व रुचि जागृत हो रही है। इस रुचि-जागरण में अनेक विदेशी आगमज्ञ विद्वानों तथा भारतीय जैनेतर विद्वानों की आगम-श्रुत-सेवा का भी प्रभाव व अनुदान है, इसे हम सगौरव स्वीकारते हैं।

आगम-सम्पादन-प्रकाशन का यह सिलसिला लगभग एक शताब्दी से व्यवस्थित चल रहा है। इस महनीय श्रुत-सेवा में अनेक समर्थ श्रमणों, पुरुषार्थी विद्वानों का योगदान रहा है। उनकी सेवायें नींव की ईंट की तरह आज भले ही अदृश्य हों, पर विस्मरणीय तो कदापि नहीं, स्पष्ट व पर्याप्त उल्लेखों के अभाव में हम अधिक विस्तृत रूप में उनका उल्लेख करने में असमर्थ हैं, पर विनीत व कृतज्ञ तो हैं ही। फिर भी स्थानकवासी जैन परम्परा के कुछ विशिष्ट-आगम श्रुत-सेवी मुनिवरों का नामोल्लेख अवश्य करना चाहूँगा।

आज से लगभग साठ वर्ष पूर्व पूज्य श्री अमोलकऋषिजी महाराज ने जैन आगमों—३२ सूत्रों का प्राकृत से खड़ी वोली में अनुवाद किया था। उन्होंने अकेले ही वत्तीस सूत्रों का अनुवाद कार्य सिर्फ ३ वर्ष व १५ दिन में पूर्ण कर एक अद्भुत कार्य किया। उनकी दृढ़ लगनशीलता, साहस एवं आगम ज्ञान की गम्भीरता उनके कार्य से ही स्वत: परिलक्षित होती है। वे ३२ ही आगम अल्प समय में प्रकाशित भी हो गये।

इससे आगम पठन वहुत सुलभ व व्यापक हो गया और स्थानकवासी, तेरापंथी समाज तो विशेष उपकृत हुआ।

गुरुदेव श्री जोरावरमलजी महाराज का संकल्प

मैं जब प्रातःस्मरणीय गुरुदेव स्वामीजी श्री जोरावरमलजी म. के सान्निध्य में आगमों का अध्ययन अनुशीलन करता था तब आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित आचार्य अभयदेव व शीलांक की टीकाओं से युक्त कुछ आगम उपलब्ध थे। उन्हीं के आधार पर मैं अध्ययन-वाचन करता था। गुरुदेव श्री ने कई बार अनुभव किया—यद्यपि यह संस्करण काफी श्रमसाध्य व उपयोगी हैं, अब तक उपलब्ध संस्करणों में प्रायः शुद्ध भी हैं, फिर भी अनेक स्थल अस्पष्ट हैं, मूलपाठों में व वृत्ति में कहीं-कहीं अशुद्धता व अन्तर भी है। सामान्य जन के लिये दुरूह तो हैं ही। चूंकि गुरुदेव श्री स्वयं आगमों के प्रकाण्ड पण्डित थे, उन्हें आगमों के अनेक गूढ़ार्थ गुरु-गम से प्राप्त थे। उनकी मेधा भी व्युत्पन्न व तर्क-प्रवण थी, अतः वे इस कमी को अनुभव करते थे और चाहते थे कि आगमों का शुद्ध, सर्वोपयोगी ऐसा प्रकाशन हो, जिससे सामान्य ज्ञान वाले श्रमण-श्रमणी एवं जिज्ञासुजन लाभ उठा सकें। उनके मन की यह तड़प कई बार व्यक्त होती थी। पर कुछ परिस्थितियों के कारण उनका यह स्वप्न-संकल्प साकार नहीं हो सका, फिर भी मेरे मन में प्रेरणा बनकर अवश्य रह गया।

इसी अन्तराल में आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज, श्रमणसंघ के प्रथम आचार्य जैनधर्मदिवाकर आचार्य श्री आत्माराम जी म. विद्वद्रत्न श्री घासीलालजी म. आदि मनीषी मुनिवरों ने जैन आगमों की हिन्दी, संस्कृत, गुजराती आदि में सुन्दर विस्तृत टीकायें लिखकर या अपने तत्त्वावधान में लिखवा कर कमी को पूरा करने का महनीय प्रयत्न किया है।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आम्नाय के विद्वान् श्रमण परमश्रुतसेवी स्व. मुनि श्री पुण्यविजयजी ने आगम सम्पादन की दिशा में बहुत व्यवस्थित व उच्चकोटि का कार्य प्रारम्भ किया था। विद्वानों ने उसे बहुत ही सराहा। किन्तु उनके स्वर्गवास के पश्चात् उसमें व्यवधान उत्पन्न हो गया। तदपि आगमज्ञ मुनि श्री जम्बूविजयजी आदि के तत्त्वावधान में आगम-सम्पादन का सुन्दर व उच्चकोटि का कार्य आज भी चल रहा है।

वर्तमान में तेरापंथ सम्प्रदाय में आचार्य श्री तुलसी एवं युवाचार्य महाप्रज्ञजी के नेतृत्व में आगम-सम्पादन का कार्य चल रहा है और जो आगम प्रकाशित हुए हैं उन्हें देखकर विद्वानों को प्रसन्नता है। यद्यपि उनके पाठ-निर्णय में काफी मतभेद की गुंजाइश है। परम्परा-प्राप्त या पूर्वाचार्य-सम्मत पाठों में परिवर्तन व एक-पक्षीय निर्णय भी तो कुछ स्पष्ट व ठोस आधार चाहता है। तथापि उनके श्रम का महत्त्व है। मुनि श्री कन्हैयालाल जी म. "कमल" आगमों की वक्तव्यता को अनुयोगों में वर्गीकृत करके प्रकाशित कराने की दिशा में प्रयत्नशील हैं। उनके द्वारा सम्पादित कुछ आगमों में उनकी कार्यशैली की विशदता एवं मौलिकता स्पष्ट होती है।

आगम साहित्य के वयोवृद्ध विद्वान् पं. श्री बेचरदास जी दोशी, विश्रुत-मनीषी श्री दलसुखभाई मालवणिया जैसे चिन्तनशील प्रज्ञापुरुष आगमों के आधुनिक सम्पादन की दिशा में स्वयं भी कार्य कर रहे हैं तथा अनेक विद्वानों का मार्गदर्शन कर रहे हैं। यह प्रसन्नता का विषय है।

इस सब कार्य-शैली पर विहंगम अवलोकन करने के पश्चात् मेरे मन में एक संकल्प उठा। आज प्रायः सभी विद्वानों की कार्यशैली काफी भिन्नता लिये हुए है। कहीं आगमों का मूल पाठ मात्र प्रकाशित किया जा रहा है, कहीं आगमों की विशाल व्याख्यायें की जा रही हैं। एक पाठक के लिये दुर्बोध है तो दूसरी जटिल। सामान्य पाठक को तो सरलतापूर्वक आगम ज्ञान प्राप्त हो सकें, एतदर्थ मध्यम मार्ग का अनुसरण आवश्यक है। आगमों का एक ऐसा संस्करण होना चाहिये जो सरल हो, सुबोध हो, संक्षिप्त और प्रामाणिक हो। मेरे स्वर्गीय गुरुदेव ऐसा ही आगम-संस्करण चाहते थे। इसी भावना को लक्ष्य में रखकर मैंने ५-६ वर्ष पूर्व इस विषय की चर्चा प्रारम्भ की थी, सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात् वि. सं. २०३६ वैशाख शुक्ला दशमी, भगवान् महावीर कैवल्यदिवस को यह दृढ़ निश्चय घोषित कर दिया

और आगम वत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ भी। इस साहसिक निर्णय में गुरुभ्राता शासनसेवी स्वामी श्री व्रजलाल जी म. की प्रेरणा/प्रोत्साहन तथा मार्गदर्शन मेरा प्रमुख सम्वल वना है। साथ ही अनेक मुनिवरों तथा सद्-गृहस्थों का भक्ति-भाव भरा सहयोग प्राप्त हुआ है, जिनका नामोल्लेख किये बिना मन सन्तुष्ट नहीं होगा। आगम-अनुयोग शैली के सम्पादक मुनि श्री कन्हैयालालजी म. 'कमल', प्रसिद्ध साहित्यकार श्री देवेन्द्रमुनिजी म. शास्त्री, आचार्य श्री आत्मारामजी म. के प्रशिष्य भंडारी श्री पदमचन्दजी म. एवं प्रवचनभूषण श्री अमरमुनिजी, विद्वद्रत्न श्री ज्ञानमुनिजी म.; स्व. विदुषी महासती श्री उज्जवलकुंवरजी म. की सुशिष्याएँ महासती दिव्यप्रभाजी एम. ए. पी-एच.डी., महासती मुक्तिप्रभाजी तथा विदुषी महासती श्री उमरावकुंवरजी म. 'अर्चना', विश्रुत विद्वान् श्री दलसुखभाई मालवणिया, सुख्यात विद्वान् पं. श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल, स्व. पं. श्री हीरालालजी शास्त्री, डा. छगनलालजी शास्त्री एवं श्रीचन्दजी सुराणा "सरस" आदि मनीषियों का सहयोग आगम सम्पादन के इस दुरूह कार्य को सरल वना सका है। इन सभी के प्रति मन आदर व कृतज्ञ भावना से अभिभूत है। इसी के साथ सेवा-सहयोग की दृष्टि से सेवाभावी शिष्य मुनि विनयकुमार एवं महेन्द्रमुनि का साहचर्य-सहयोग, महासती श्री कानकुंवरजी, महासती श्री झणकारकुंवरजी का सेवाभाव सदा प्रेरणा देता रहा है। इस प्रसंग पर इस कार्य के प्रेरणास्रोत स्व. श्रावक चिमनसिंहजी लोढ़ा, स्व. श्री पुखराजजी सिसोदिया का स्मरण भी सहज रूप में हो आता है, जिनके अथक प्रेरणा-प्रयत्नों से आगम समिति अपने कार्य में इतनी शीघ्र सफल हो रही है। दो वर्ष के इस अल्पकाल में ही दस आगम ग्रन्थों का मुद्रण तथा करीब १५-२० आगमों का अनुवाद-सम्पादन हो जाना हमारे सव सहयोगियों की गहरी लगन का द्योतक है।

मुझे सुदृढ़ विश्वास है कि परम श्रद्धेय स्वर्गीय स्वामी श्री हजारीमल जी महाराज आदि तपोपूत आत्माओं के शुभाशीर्वाद से तथा हमारे श्रमणसंघ के भाग्यशाली नेता राष्ट्र-संत आचार्य श्री आनन्दऋषिजी म. आदि मुनिजनों के सद्भाव-सहकार के वल पर यह संकल्पित जिनवाणी का सम्पादन-प्रकाशन कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

इसी शुभाशा के साथ…………

—मुनि मिश्रीमल "मधुकर"
(युवाचार्य)

सम्पादकीय

(प्रथम संस्करण से)

आचारांग सूत्र का सम्पादन करते समय यह अनुभव होता था कि यह आगम आचार-प्रधान होते हुए भी इसकी वचनावली में दर्शन की अतल गहराईयां व चिन्तन की असीमता छिपी हुई है। छोटे-छोटे आर्ष-वचनों में द्रष्टा की असीम अनुभूति का स्पन्दन तथा ध्यान-योग की आत्म-संवेदना का गहरा 'नाद' उनमें गुंजायमान है, जिसे सुनने-समझने के लिए 'साधक' की भूमिका अत्यन्त अपेक्षित है। वह अपेक्षा कब पूरी होगी, नहीं कह सकता, पर लगे हाथ आचारांग के बाद द्वितीय अंग—सूत्रकृतांग के पारायण में, मैं लग गया।

सूत्रकृतांग के दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुस्कन्ध पद्यशैली में सूत्रप्रधान है, द्वितीय गद्यशैली में वर्णन-प्रधान है।

सूत्रकृतांग प्रथम श्रुतस्कन्ध, आचारांग की शैली का पूर्ण नहीं तो बहुलांश में अनुसरण करता है। उसके आचार में दर्शन था तो इसके दर्शन में 'आचार' है। विचार की भूमिका का परिष्कार करते हुए आचार की भूमिका पर आसीन करना सूत्रकृतांग का मूल स्वर है—ऐसा मुझे अनुभव हुआ है।

'सूत्रकृत' नाम ही अपने आप में गंभीर अर्थसूचना लिये है। आर्यसुधर्मा के अनुसार यह स्व-समय (स्व-सिद्धान्त) और पर-समय (पर-सिद्धान्त) की सूचना (सत्यासत्य-दर्शन) कराने वाला शास्त्र है।[1] नंदीसूत्र (मूल-हरिभद्रीयवृत्ति एवं चूर्णि) का आशय है कि यह आगम स-सूत्र (धागे वाली सुई) की भांति लोक एवं आत्मा आदि तत्त्वों का अनुसंधान कराने वाला (अनुसंधान में सहायक) शास्त्र है।[2]

श्रुतपारगामी आचार्य भद्रबाहु ने इसके विविध अर्थों पर चिन्तन करके शब्दशास्त्र की दृष्टि से इसे—श्रुत्वा कृतं="सूतकडं" कहा है—अर्थात् तीर्थंकर प्रभु की वाणी से सुनकर फिर इस चिन्तन को गणधरों ने ग्रन्थ का, शास्त्र का रूप प्रदान किया है। भाव की दृष्टि से यह **सूचनाकृत्**—'सूतकडं'—अर्थात् निर्वाण या मोक्षमार्ग की सूचना-अनुसंधान कराने वाला है।[3]

'सूतकडं' शब्द से जो गंभीर भाव-बोध होता है वह अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण है, बल्कि सम्पूर्ण आगम का सार सिर्फ चार शब्दों में सन्निहित माना जा सकता है। सूत्रकृतांग की पहली गाथा भी इसी भाव का बोध कराती है—

बुज्झिज्ज त्तिउट्टेजा—समझो, और तोड़ो (क्या)
बंधणं परिजाणिया—बंधन को जानकर।
किमाहु बंधणं वीरो—भगवान् ने बन्धन किसे बताया है।
किं वा जाणं तिउट्टइ—और उसे कैसे तोड़ा जा सकता है?[4]

इस एक ही गाथा में सूत्रकृत का संपूर्ण तत्त्वचिन्तन समाविष्ट हो गया है। दर्शन और धर्म, विचार और आचार यहाँ अपनी सम्पूर्ण सचेतनता और संपूर्ण क्रियाशीलता के साथ एकासनासीन हो गये हैं।

---

१. सूयगडे णं ससमया सूइज्जंति—समवायांग सूत्र

२. नंदीसूत्र मूल वृत्ति पृ. ७७, चूर्णि पृ. ६३.

३. देखिए निर्युक्ति-गाथा १८, १९, २० तथा उनकी शीलांकवृत्ति

४. सूत्रकृतांग गाथा १

दर्शनशास्त्र का लक्ष्य है—जीव और जगत के विषय में विचार एवं विवेचना करना। भारतीय दर्शनों का; चाहे वे वैदिक दर्शन (सांख्य-योग, वैशेपिक-न्याय, मीमांसक और वेदान्त) हैं या अवैदिक दर्शन (जैन, बौद्ध,चार्वाक) हैं, मुख्य आधार तीन तत्त्व हैं—

१. आत्म-स्वरूप की विचारणा,

२. ईश्वर सत्ता विषयक धारणा,

३. लोक-सत्ता (जगत स्वरूप) की विचारणा।

जब आत्म-स्वरूप की विचारणा होती है तो आत्मा के दुःख-सुख, बंधन-मुक्ति की विचारणा अवश्य होती है। आत्मा स्वतन्त्र है या परतन्त्र ? परतन्त्र है तो क्यों ? किसके अधीन ? कर्म या ईश्वर ? आत्मा जहाँ, जिस लोक में है उस लोकसत्ता का संचालन/नियमन/व्यवस्था कैसे चलती है ? इस प्रकार आत्मा (जीव) और लोक (जगत) के साथ ईश्वर सत्ता पर भी स्वयं विचार-चर्चा केन्द्रित हो जाती है और इन तत्त्वों की चिन्तना/चर्चा करना ही दर्शनशास्त्र का प्रयोजन है।

धर्म का क्षेत्र—दर्शनशास्त्र द्वारा विवेचित तत्त्वों पर आचरण करना है। आत्मा के दुःख-सुख, बन्धन-मुक्ति के कारणों की खोज दर्शन करता है, पर उन कारणों पर विचार कर दुःख-मुक्ति और सुख-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना धर्मक्षेत्र का कार्य है। आत्मा के बन्धनकारक तत्त्वों पर विवेचन करना दर्शनशास्त्र की सीमा में है और फिर उन बन्धनों से मुक्ति के लिए प्रयत्नशील होना धर्म की शिक्षा में आ जाता है।

अब मैं कहना चाहूँगा कि सूत्रकृत की सबसे पहली गाथा, आदि वचन, जिसमें आगमकार अपने समग्र प्रतिपाद्य का नवनीत प्रस्तुत कर रहे हैं—दर्शन और धर्म का संगम-स्थल है। बन्धन के कारणों की समग्र परिचर्चा के बाद या इसी के साथ-साथ बन्धन-मुक्ति की प्रक्रिया, पद्धति और साधना पर विशद चिन्तन प्रस्तुत करने का संकल्प पहले ही पद में व्यक्त हो गया है। अतः कहा जा सकता है कि सूत्रकृत का संपूर्ण कलेवर अर्थात् लगभग ३६ हजार पद परिमाण विस्तार, पहली गाथा का ही महाभाष्य है। इस दृष्टि से मैं कहना चाहूँगा कि सूत्रकृत न केवल जैन तत्त्वदर्शन का सूचक शास्त्र है, बल्कि आत्मा की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने वाला मोक्ष-शास्त्र है। आस्तिक या आत्मवादी दर्शनों के चरम बिन्दु—मोक्ष/निर्वाण/परम पद का स्वरूप एवं सिद्धि का उपाय बताने वाला आगम है—सूत्रकृत।

सूत्रकृत के सम्बन्ध में अधिक विस्तार पूर्वक पं. श्री विजयमुनिजी म. ने प्रस्तावना में लिखा है, अतः यहाँ अधिक नहीं कहना चाहता, किन्तु सूचनामात्र के लिए यह कहना चाहता हूँ कि इसके प्रथम 'समय' अध्ययन, बारहवें 'समवसरण', द्वितीय श्रुतस्कंध के द्वितीय अध्ययन 'पुण्डरीक' में अन्य मतों, दर्शन एवं उनकी मान्यताओं की स्फुट चर्चा है, उनकी युक्ति-रहित अयथार्थ मान्यताओं की सूचना तथा निरसन भी इसी हेतु से किया गया है कि वे मिथ्या व अयथार्थ धारणाएँ भी मन व मस्तिष्क का बन्धन हैं। अज्ञान बहुत बड़ा बन्धन है। मिथ्यात्व की बेड़ी सबसे भयानक है, अतः उसे समझना और फिर तोड़ना भी संभव है जब उसका यथार्थ परिज्ञान हो। साधक को सत्य का यथार्थ परिबोध देने हेतु ही शास्त्रकार ने बिना किसी धर्म-गुरु या मतप्रवर्तक का नाम लिए सिर्फ उनके सिद्धान्तों की युक्ति-रहितता बताने का प्रयास किया है।

सूत्रकृत में वर्णित पर-सिद्धान्त आज भी दीघनिकाय, सामञ्जफलसुत्तं, सुत्तनिपात, मज्झिमनिकाय, संयुक्त-निकाय, महाभारत तथा अनेक उपनिषदों में विकीर्ण रूप से विद्यमान हैं, जिससे २५०० वर्ष पूर्व की उस दार्शनिक चर्चा का पता चलता है। यद्यपि २५०० वर्ष के दीर्घ अन्तराल में भारतीय दर्शनों की विचारधाराओं में, सिद्धान्तों में भी काल क्रमानुसारी परिवर्तन व कई मोड़ आये हैं, आजीवक जैसे व्यापक सम्प्रदाय तो लुप्त भी हो गये हैं, फिर भी आत्म-अकर्तृत्ववादी सांख्य, कर्मचयवादी बौद्ध, पंचमहाभूतवादी चार्वाक (नास्तिक) आदि दर्शनों की सत्ता आज भी है। सुख-वाद एवं अज्ञानवाद के बीज पाश्चात्य दर्शन में महासुखवाद, अज्ञेयवाद एवं संशयवाद के रूप में आज परिलक्षित होते

हैं। इन दर्शनों की आज प्रासंगिकता कितनी है ? यह एक अलग चर्चा का विषय हो सकता है, पर मिथ्या धारणाओं के बन्धन से मुक्त होने का लक्ष्य तो सर्वत्र सर्वदा प्रासंगिक रहा है, आज के युग में भी चिन्तन की सर्वांगता और सत्यानुगामिता, साथ ही पूर्वाग्रहमुक्तता नितान्त आपेक्षिक है। सूत्रकृत का लक्ष्य भी मुक्ति तथा साधना की सम्यग्-पद्धति है। इसलिए इसका अनुशीलन-परिशीलन आज भी उतना ही उपयोगी तथा प्रासंगिक है।

सूत्रकृत का प्रथम श्रुतस्कंध पद्यमय है, (१६ वां अध्ययन भी गद्य-गीति समुद्र छन्द में है) इसकी गाथाएं बहुत सारपूर्ण सुभाषित जैसी हैं। कहीं-कहीं तो एक गाथा के चार पद, चारों ही चार सुभाषित जैसे लगते हैं। गाथाओं की शब्दावली बड़ी सशक्त, अर्थपूर्ण तथा श्रुति-मधुर है। कुछ सुभाषित तो ऐसे लगते हैं मानो गागर में सागर ही भर दिया है।

जैसे—

मा पच्छा असाहुया भवे	—	सूत्रांक १४९
तवेसु वा उत्तमवंभचेरं		३७४
आहंसु विज्जा-चरणं पमोक्खो		५४५
जे छेए विप्पमायं न कुज्जा		५८०
अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा		५४९

अगर स्वाध्यायी साधक इन श्रुतवाक्यों को कण्ठस्थ कर इन पर चिन्तन-मनन-आचरण करता रहे तो जीवन में एक नया प्रकाश, नया विकास और नया विश्वास स्वत: आने लगेगा।

द्वितीय श्रुतस्कंध के विषय में सामान्यत: यही कहा जाता है कि प्रथम श्रुतस्कंध में परवादि-दर्शनों की सूत्र रूप में की गई चर्चा का विस्तार तथा विविध उपनय एवं दृष्टान्तों द्वारा पर-वाद का खण्डन एवं स्व-सिद्धान्त का मण्डन—द्वितीय श्रुतस्कंध का विषय है। द्वितीय श्रुतस्कंध की शैली में विविधता के भी दर्शन होते हैं। सत्रहवाँ पोंडरीक अध्ययन एक ललित काव्य-कल्पना का रसास्वादन भी कराता है, दर्शनिक विचारधाराओं को पुष्करिणी एवं कमल के उपनय द्वारा बड़ी सरसता के साथ समझाया गया है। १८, १९, २०, २१—ये अध्ययन जहाँ शुद्ध दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक वर्णन प्रस्तुत करते हैं वहाँ २२ एवं २३ वां अध्ययन सरस कथा शैली में संवादों के रूप में भ्रान्त मान्यताओं का निराकरण करके स्व-मान्यता की प्रस्थापना बड़ी सहजता के साथ करते हैं। उदाहरण के रूप में—गोशालक भ. महावीर के प्रति आक्षेप करता है कि महावीर पहले एकान्तसेवी थे, किन्तु अब हजारों लोगों के झुंड के बीच रहते हैं, अत: अब उनकी साधना दूषित हो गई है।

मुनि आर्द्रककुमार इस आक्षेप का ऐसा सटीक अध्यात्मचिन्तनपूर्ण उत्तर देता है कि वह हजारों वर्ष बाद आज भी अध्यात्मजगत् का प्रकाशस्तंभ बना हुआ है। देखिये मुनि आर्द्रक का उत्तर—

आइक्खमाणो वि सहस्समज्झे एगंतयं सारयति तहच्चे।

—सूत्रांक-७९०

भले ही भगवान महावीर हजारों मनुष्यों के बीच बैठकर धर्म-प्रवचन करते हैं, किन्तु वे आत्मद्रष्टा हैं, राग-द्वेष से रहित हैं, अत: वे सदा अपने आप में स्थित हैं।

हजारों क्या, लाखों के बीच रहकर भी वे वास्तव में एकाकी ही हैं, अपनी आत्मा के साथ रहने वाले साधक पर बाहरी प्रभाव कभी नहीं पड़ता।

अध्यात्म-योग की यह महान् अनुभूति आर्द्रककुमार ने सिर्फ दो शब्दों में ही व्यक्त करके गोशालक की बाह्य-दृष्टि-परकता को ललकार दिया है। संवादों में इस प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूतियों से आर्द्रकीय अध्ययन बड़ा ही रोचक व शिक्षाप्रद बन गया है।

२३ वें (छठे) नालन्दीय अध्ययन में तो गणधर गौतम एक मनोवैज्ञानिक शिक्षक के रूप में प्रस्तुत होते हैं जो उदक पेढ़ालपुत्र को सहजता और वत्सलता के साथ विनय-व्यवहार की शिक्षाएं देते हुए उसकी धारणाओं का परिष्कार करते हैं।

वास्तव में प्रथम श्रुतस्कंध जहाँ तर्क-वितर्क-प्रधान चर्चाओं का केन्द्र है, वहाँ द्वितीय श्रुतस्कंध में तर्क के साथ श्रद्धा का सुन्दर सामञ्जस्य प्रकट हुआ है। इस प्रकार द्वितीय श्रुतस्कंध प्रथम का पूरक ही नहीं, कुछ विशेष भी है, नवीन भी है और अनुद्घाटित अर्थों का उद्घाटक भी है।

प्रस्तुत आगम में पर-दर्शनों के लिए कहीं-कहीं मंदा, मूढा "तमाओ ते जमं जंति" जैसी कठोर प्रतीत होने वाली शब्दावली का प्रयोग कुछ जिज्ञासुओं को खटकता है। आर्ष-वाणी में रूक्ष या आक्षेपात्मक प्रयोग नहीं होने चाहिए ऐसा उनका मन्तव्य है, पर वास्तविकता में जाने पर यह आक्षेप उचित नहीं लगता। क्योंकि ये शब्द-प्रयोग किसी व्यक्ति विशेष के प्रति नहीं हैं, किन्तु उन मूढ़ या अहितकर धारणाओं के प्रति हैं, जिनके चक्कर में फंसकर प्राणी सत्य श्रद्धा व सत्य आचार से पतित हो सकता है। असत्य की भर्त्सना और असत्य के कटु-परिणाम को जताने के लिए शास्त्रकार बड़ी दृढ़ता के साथ साधक को चेताते हैं। ज्वरार्त के लिए कटु औषधि के समान कटु प्रतीत होने वाले शब्द कहीं-कहीं अनिवार्य भी होते हैं। फिर आज के सभ्य युग में जिन शब्दों को कटु माना जाता है, वे शब्द उस युग में आम भाषा में सहजतया प्रयुक्त होते थे ऐसा भी लगता है, अतः उन शब्दों की संयोजना के प्रति शास्त्रकार की सहज-सत्य-निष्ठा के अतिरिक्त अन्यथा कुछ नहीं है।

सूत्रकृत में दर्शन के साथ जीवन-व्यवहार का उच्च आदर्श भी प्रस्तुत हुआ है। कपट, अहंकार, जातिमद, ज्ञान-मद आदि पर भी कठोर प्रहार किये गये हैं और सरल-सात्विक जीवन-दृष्टि को विकसित करने की प्रेरणाएँ दी हैं। कुल मिलाकर इसे गृहस्थ और श्रमण के लिए मुक्ति का मार्गदर्शक शास्त्र कहा जा सकता है।

प्रस्तुत संपादन :—

सूत्रकृत के प्रस्तुत संपादन में अब तक प्रकाशित अनेक संस्करणों को लक्ष्य में रखकर संपादन/विवेचन किया गया है। मुनि श्री जम्बूविजयजी द्वारा संपादित मूल पाठ हमारा आदर्श रहा है, किन्तु उसमें भी यत्र-तत्र चूर्णिसम्मत कुछ संशोधन हमने किये हैं। आचार्य भद्रबाहुकृत निर्युक्ति, प्राचीनतम संस्कृतमिश्रित-प्राकृतव्याख्या—चूर्णि, तथा आचार्य शीलांक कृत वृत्ति इन तीनों के आधार पर हमने मूल का हिन्दी भावार्थ व विवेचन करने का प्रयत्न किया है। कहीं-कहीं चूर्णिकार तथा वृत्तिकार के पाठों में पाठ-भेद तथा अर्थ-भेद भी है। यथाप्रसंग उसका भी उल्लेख करने का प्रयास मैंने किया है, ताकि पाठक उन दोनों के अनुशीलन से स्वयं की बुद्धि-कसौटी पर उसे कसकर निर्णय करे। चूर्णि एवं वृत्ति के विशिष्ट अर्थों को मूल संस्कृत के साथ हिन्दी में भी दिया गया है। जहाँ तक मेरा अध्ययन है, अब तक के विवेचनकर्ता संस्कृत को ही महत्त्व देकर चले हैं, चूर्णिगत तथा वृत्ति-गत पाठों को मूल रूप में अंकित करके ही इति करते रहे हैं, किन्तु इससे हिन्दी-पाठक के पल्ले कुछ नहीं पड़ता, जबकि आज का पाठक अधिकांशतः हिन्दी के माध्यम से ही जान पाता है। मैंने उन पाठों का हिन्दी अनुवाद भी प्रायशः देने का प्रयत्न किया है, यह संभवतः नया प्रयास ही माना जायेगा।

आगम पाठों से मिलते-जुलते अनेक पाठ, शब्द बौद्ध ग्रन्थों में भी मिलते हैं, जिनकी तुलना अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है, पाद-टिप्पण में स्थान-स्थान पर बौद्ध ग्रन्थों के वे स्थल देकर पाठकों को तुलनात्मक अध्ययन के लिए इंगित किया गया है, आशा है इससे प्रबुद्ध पाठक लाभान्वित होंगे। अन्त में परिशिष्ट है, जिनमें गाथाओं की अकारादि सूची तथा विशिष्ट शब्दसूची भी है। इनके सहारे आगम गाथा व पाठों का अनुसंधान करना बहुत सरल हो जाता है। अनुसंधाताओं के लिए इस प्रकार की सूची बहुत उपयोगी होती है। पं. श्री विजयमुनिजी शास्त्री ने विद्वत्तापूर्ण भूमिका में भारतीय दर्शनों की पृष्ठभूमि पर सुन्दर प्रकाश डालकर पाठकों को अनुगृहीत किया है।

इस संपादन में युवाचार्य श्री मधुकरजी महाराज का विद्वत्तापूर्ण मार्ग-दर्शन बहुत बड़ा सम्बल बना है। साथ ही विश्रुत विद्वान् परम सौहार्दशील पंडित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल का गंभीर-निरीक्षण-परीक्षण, पं. श्री नेमीचन्द्रजी महाराज का आत्मीय भावपूर्ण सहयोग—मुझे कृतकार्य में बहुत उपकारक रहा है, मैं विनय एवं कृतज्ञता के साथ उन सबका आभार मानता हूँ और आशा करता हूँ श्रुत-सेवा के इस महान कार्य में भविष्य में इसी प्रकार का सौभाग्य मिलता रहेगा।

—**श्रीचन्द सुराना**

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय दर्शन और सूत्रकृतांग

(प्रथम संस्करण से)

भारतीय-दर्शन, फिर भले ही वह किसी भी सम्प्रदाय का क्यों न रहा हो, उसका मूल स्वर अध्यात्मवाद रहा है। भारत का एक भी सम्प्रदाय ऐसा नहीं है जिसके दर्शन-शास्त्र में आत्मा, ईश्वर और जगत् के सम्बन्ध में विचारणा न की गई हो। आत्मा का स्वरूप क्या है? ईश्वर का स्वरूप क्या है ? और जगत् की व्यवस्था किस प्रकार होती है ? इन विषयों पर भारत की प्रत्येक दर्शन-परम्परा ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार किया है। जब आत्मा की विचारणा होती है, तब स्वाभाविक रूप से ईश्वर की विचारणा हो ही जाती है। इन दोनों विचारणा के साथ-साथ जगत् की विचारणा भी आवश्यक हो जाती है। दर्शन-शास्त्र के ये तीन ही विषय मुख्य माने गये हैं।

आत्मा चेतन है, ज्ञान उसका स्वभाव या गुण है, इस सत्य को सभी ने स्वीकार किया है। उसकी अमरता के सम्बन्ध में भी किसी को सन्देह नहीं है। भारतीय दर्शनों में एकमात्र चार्वाक दर्शन ही इस प्रकार का है जो आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं मानता। वह आत्मा को भौतिक मानता है। अभौतिक नहीं। जबकि अन्य समस्त दार्शनिक आत्मा को एक स्वर से अभौतिक स्वीकार करते हैं। आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में और उसकी अमरता के सम्बन्ध में किसी भी भारतीय दार्शनिक परम्परा को संशय नहीं रहा है। आत्मा के स्वरूप और लक्षण के सम्बन्ध में भेद रहा है परन्तु उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का भेद नहीं है। ईश्वर के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि किसी न किसी रूप में सभी दार्शनिकों ने उसके अस्तित्व को स्वीकार किया है। परन्तु ईश्वर के स्वरूप और लक्षण के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद रहा है।

जगत् के अस्तित्व के सम्बन्ध में किसी भी दर्शन परम्परा को सन्देह नहीं रहा। चार्वाक भी जगत् के अस्तित्व को स्वीकार करता है। अन्य सभी दर्शन परम्पराओं ने जगत् के अस्तित्व को स्वीकार किया है और उसकी उत्पत्ति तथा रचना के सम्बन्ध में अपनी-अपनी पद्धति से विचार किया है। किसी ने उसका आदि और अन्त स्वीकार किया है और किसी ने उसे अनादि और अनन्त माना है।

दर्शन-शास्त्र सम्पूर्ण सत्ता के विषय में कोई धारणा बनाने का प्रयत्न करता है। उसका उद्देश्य विश्व को समझना है। सत्ता का स्वरूप क्या है ? प्रकृति क्या है ? आत्मा क्या है ? और ईश्वर क्या है ? दर्शन-शास्त्र इन समस्त जिज्ञासाओं का समाधान करने का प्रयत्न करता है। दर्शन-शास्त्र में यह भी समझाने का प्रयत्न किया जाता है कि मानव जीवन का प्रयोजन और उसका मूल्य क्या है ? तथा जगत् के साथ उसका क्या सम्बन्ध है ? इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि दर्शनशास्त्र जीवन और अनुभव की समालोचना है। दर्शन-शास्त्र का निर्माण मनुष्य के विचार और अनुभव के आधार पर होता है। तर्कनिष्ठ विचार ज्ञान का साधन रहा है। दर्शन तर्कनिष्ठ विचार के द्वारा सत्ता के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता है। पाश्चात्य-दर्शन में सैद्धान्तिक प्रयोजन की प्रधानता रहती है, वह स्वतन्त्र चिन्तन पर आधारित है और आप्तप्रभाव की उपेक्षा करता है। नीति और धर्म की व्यावहारिक बातों से वह प्रेरणा नहीं लेता।

जबकि भारतीय दर्शन आध्यात्मिक चिन्तन से प्रेरणा पाता है। वास्तव में भारतीय दर्शन एक आध्यात्मिक शोध एवं खोज है। भारतीय-दर्शन सत्ता के स्वरूप की जो खोज करता है, उसके पीछे उसका उद्देश्य मानव जीवन के चरम साध्य मोक्ष को प्राप्त करना है। सत्ता के स्वरूप का ज्ञान इसलिये आवश्यक है कि वह निःश्रेयस् एवं परम साध्य को प्राप्त करने का एक साधन है। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि भारतीय-दर्शन अपने मूल स्वरूप में एक आध्यात्मिक-दर्शन है, भौतिक-दर्शन नहीं।

यद्यपि भारतीय-दर्शन में भौतिक तत्त्वों की व्याख्या की गई है, फिर भी उसका मूल स्वभाव आध्यात्मिक ही रहा है। इसका सर्वप्रथम प्रमाण तो यह है, कि भारत में धर्म और दर्शन को परस्पर एक दूसरे पर आश्रित माना गया है। परन्तु धर्म का अर्थ अन्ध विश्वास नहीं, बल्कि तर्क पूर्ण आत्म-अनुभवी माना गया है। भारतीय परम्परा के अनुसार धर्म आध्यात्मिक शक्ति को प्राप्त करने का एक व्यावहारिक उपाय एवं साधन है। दर्शन-शास्त्र सत्ता की मीमांसा करता है और उसके स्वरूप को विचार के द्वारा प्रकट करता है, जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः स्पष्ट है कि भारतीय-दर्शन बौद्धिक विलास नहीं है, बल्कि वह एक आध्यात्मिक खोज है। भारतीय-दर्शन चिन्तन एवं मनन के आधार पर प्रतिष्ठित है, लेकिन उसमें चिन्तन एवं मनन का स्थान आगम, पिटक और वेदों की अपेक्षा गौण है। भारतीय-दर्शन की प्रत्येक परम्परा आप्तवचन अथवा शब्द-प्रमाण पर अधिक आधारित रही है। जैन अपने आगम पर अधिक विश्वास करते हैं, बौद्ध अपने पिटक पर अधिक श्रद्धा रखते हैं और वैदिक परम्परा के सभी सम्प्रदाय वेदों के वचनों पर ही एकमात्र आधार रखते हैं। इस प्रकार भारतीय-दर्शन में प्रत्यक्ष अनुभूति की अपेक्षा परोक्ष अनुभूति पर ही अधिक बल दिया गया है, जिसे आप्तपुरुष की प्रत्यक्ष अनुभूति कह सकते हैं।

भारत के दार्शनिक सम्प्रदाय

भारत के दार्शनिक सम्प्रदायों को अनेक विभागों में विभाजित किया जा सकता है। भारतीय विद्वानों ने भी उनका वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया है। आचार्य हरिभद्र ने अपने *"षट्दर्शनसमुच्चय"* में, आचार्य माधव के *"सर्वदर्शनसंग्रह"* में, आचार्य शंकर के *"सर्वसिद्धान्त"* आदि में दर्शनों का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया गया है। पाश्चात्य-दर्शन-परम्परा के दार्शनिकों ने वर्गीकरण की जो पद्धति स्वीकार की है वह भी एक प्रकार की न होकर अनेक प्रकार की है। सबसे अधिक प्रचलित पद्धति यह है, कि भारतीय-दर्शन को दो भागों में विभाजित किया गया है—आस्तिक दर्शन और नास्तिक दर्शन। आस्तिक दर्शन इस प्रकार हैं—सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा और वेदान्त। नास्तिक दर्शन इस प्रकार हैं—चार्वाक, जैन और बौद्ध। परन्तु यह पद्धति न तर्कपूर्ण है न समीचीन। वैदिक दर्शनों को आस्तिक कहने का क्या आधार रहा है? इसका एक मात्र आधार शायद यही रहा है कि वे वेद-वचनों में विश्वास करते हैं। यदि वेद-वचनों पर विश्वास न करने के आधार पर ही चार्वाक, जैन और बौद्धों को नास्तिक कहा जाता है, तब यही मानना चाहिये कि जो व्यक्ति चार्वाक ग्रन्थों में, जैन आगमों में और बौद्ध पिटकों में विश्वास नहीं करते वे भी नास्तिक हैं। इस प्रकार भारत का कोई भी दर्शन आस्तिक नहीं रहेगा। यदि यह कहा जाए कि जो ईश्वर को स्वीकार नहीं करता, वह नास्तिक है, इस दृष्टि से चार्वाक, जैन और बौद्ध नास्तिक कहे जाते हैं, तब इसका अर्थ यह होगा कि सांख्य और योग तथा वैशेषिक-दर्शन भी नास्तिक परम्परा में ही परिगणित होंगे, क्योंकि ये भी ईश्वर को स्वीकार नहीं करते। वेदों का सबसे प्रबल समर्थक मीमांसा-दर्शन भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता, वह भी नास्तिक कहा जायेगा। अतः आस्तिक और नास्तिक के आधार पर भारतीय-दर्शनों का विभाग करना, यह एक भ्रम परिपूर्ण धारणा है। वास्तव में भारतीय-दर्शनों का विभाग दो रूपों में करना चाहिये—वैदिक-दर्शन और अवैदिक-दर्शन। वैदिक-दर्शनों में षड्-दर्शनों की परिगणना हो जाती है और अवैदिक-दर्शनों में चार्वाक, जैन और बौद्धदर्शन आ जाते हैं। इस प्रकार भारतीय-दर्शन परम्परा में मूल में नव दर्शन होते हैं—चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य,

योग, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा और वेदान्त। ये नव दर्शन भारत के मूल दर्शन है। कुछ विद्वानों ने यह भी कहा है कि अवैदिक-दर्शन भी छह हैं—जैसे चार्वाक, जैन, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक। इस प्रकार वेदान्त परम्परा के दर्शन भी छह हैं और अवैदिक दर्शन भी छह होते है। इस प्रकार भारत के मूल दर्शन द्वादश हो जाते हैं।

न्याय और वैशेषिक दर्शन में कुछ सैद्धान्तिक भेद होते हुए भी प्रकृति, आत्मा और ईश्वर के विषय में दोनों के मत समान हैं। कालक्रम से इनका एकीभाव हो गया और अब इनका सम्प्रदाय न्याय-वैशेपिक कहा जाता है। सांख्य और योग की प्रकृति के विषय में एक ही धारणा है, यद्यपि सांख्य निरीश्वरवादी है और योग ईश्वरवादी है। इसलिए कभी-कभी इनको एक साथ सांख्य-योग कह दिया जाता हैं। मीमांसा के दो सम्प्रदाय हैं, जिनमें से एक के प्रवर्तक आचार्य कुमारिल भट्ट हैं और दूसरे के आचार्य प्रभाकर। इनको क्रम से भट्ट-सम्प्रदाय और प्रभाकर-सम्प्रदाय कहा जाता है। वेदान्त के भी दो मुख्य सम्प्रदाय हैं, जिनमें से एक के प्रवर्तक आचार्य शंकर हैं और दूसरे के आचार्य रामानुज। शंकर का सिद्धान्त अद्वैतवाद अथवा केवलाद्वैतवाद के नाम से विख्यात है और रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद के नाम से। वेदान्त में कुछ अन्य छोटे-छोटे सम्प्रदाय भी है, उन सभी का समावेश भक्तिवादी दर्शन में किया जा सकता है। वेदान्त परम्परा के दर्शनों में मीमांसा-दर्शन को पूर्व-मीमांसा और वेदान्त-दर्शन को उत्तर-मीमांसा भी कहा जा सकता है। इस प्रकार इन विभागों में वैदिक परम्परा के सभी सम्प्रदायों का समावेश आसानी से किया जा सकता है। बौद्ध दर्शन परिवर्तनवादी दर्शन रहा है। वह परिवर्तन अथवा अनित्यता में विश्वास करता है, नित्यता को वह सत्य स्वीकार नहीं करता। बौद्धों के अनेक सम्प्रदाय हैं, उनमें से वैभाषिक और सौत्रान्तिक सर्वास्तिवादी हैं। इन्हें बाह्यार्थवादी भी कहा जाता है। क्योंकि ये दोनों सम्प्रदाय समस्त बाह्य वस्तुओं को सत्य मानते हैं। वैभाषिक बाह्य प्रत्यक्षवादी हैं। इनका मत यह है कि बाह्य वस्तु क्षणिक हैं, और उनका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। सौत्रान्तिक बाह्यानुमेयवादी हैं। इनका मत यह है कि बाह्य पदार्थ, जो कि क्षणिक हैं, प्रत्यक्षगम्य नहीं हैं। मन में उनकी जो चेतना उत्पन्न होती है, उससे उनका अनुमान किया जाता है। योगाचार सम्प्रदाय विज्ञानवादी है। इसका मत यह है कि समस्त बाह्य वस्तु मिथ्या है और चित्त में जो कि विज्ञान-सन्तान मात्र है, विज्ञान उत्पन्न होते हैं, जो निरालम्बन हैं। योगाचार विज्ञानवादी है। माध्यमिक सम्प्रदाय का मत यह है, कि न बाह्य वस्तुओं की सत्ता है और न आन्तरिक विज्ञानों की। ये दोनों ही संवृत्तिमात्र (कल्पना-आरोप) हैं। तत्त्व निःस्वभाव है, अनिर्वाच्य है और अज्ञेय है। कुछ बौद्ध विद्वान् केवल निरपेक्ष चैतन्य को ही सत्य मानते हैं।

जैन-दर्शन मूल में द्वैतवादी दर्शन है। वह जीव की सत्ता को भी स्वीकार करता है और जीव से भिन्न पुद्गल की भी सत्ता को सत्य स्वीकार करता है। जैन-दर्शन ईश्वरवादी दर्शन नहीं है। जैनों के चार सम्प्रदाय हैं—श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी और तेरापंथी। इन चारों सम्प्रदायों में मूलतत्त्व के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का मतभेद नहीं है। तत्त्व सम्बन्धी अथवा दार्शनिक किसी प्रकार का मतभेद इन चारों ही सम्प्रदायों में नहीं रहा। परन्तु आचार पक्ष को लेकर इन चारों में कुछ विचारभेद रहा है। वास्तव में अनुकम्पा—अहिंसा और अपरिग्रह की व्याख्या में मतभेद होने के कारण ही ये चारों सम्प्रदाय अस्तित्व में आये हैं। किन्तु तात्त्विक दृष्टि से इनमें आज तक कोई भेद नहीं रहा है। चार्वाकों में भी अनेक सम्प्रदाय रहे थे—जैसे चार भूतवादी और पांच भूतवादी। इस प्रकार भारत के दार्शनिक सम्प्रदाय अपनी-अपनी पद्धति से भारतीय दर्शन-शास्त्र का विकास करते रहे है।

भारतीय-दर्शनों के सामान्य सिद्धान्त

भारतीय-दर्शनों के सामान्य सिद्धान्तों में मुख्य रूप चार हैं—आत्मवाद, कर्मवाद, परलोकवाद और मोक्षवाद। इन चारों विचारों में भारतीय-दर्शनों के सभी सामान्य सिद्धान्त समाविष्ट रहे हैं। जो आत्मवाद में विश्वास रखता है,

उसे कर्मवाद में भी विश्वास रखना ही होगा । और जो कर्मवाद को स्वीकार करता है उसे परलोकवाद भी स्वीकार करना ही होगा । और जो परलोकवाद को स्वीकार कर लेता है, उसे स्वर्ग और मोक्ष पर भी विश्वास करना ही होता है। इस प्रकार भारतीय-दर्शनों के सर्वमान्य सिद्धान्त ये चार ही रहे हैं । इन चारों के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा विचार नहीं है, जो इन चारों में न आ जाता हो । फिर भी यदि हम प्रमाण-मीमांसा को लें, तो वह भी भारतीय-दर्शन का एक अविभाज्य अंग रही है । प्रत्येक दर्शन की शाखा ने प्रमाण की व्याख्या की है और उसके भेद एवं उपभेदों की विचारणा की है । फिर आचार-शास्त्र को भी यदि लिया जाये, तो प्रत्येक भारतीय-दर्शन की शाखा का अपना एक आचार-शास्त्र रहा है । इस आचार-शास्त्र को हम उस दर्शन का साधना पक्ष भी कह सकते हैं । प्रत्येक दर्शन-परम्परा अपनी पद्धति से अपने द्वारा प्रतिपादित तत्त्व-ज्ञान को जव जीवन में उतारने का प्रयत्न करती है, तव उसे साधना कहा जाता है । यह साधना-पक्ष भी प्रत्येक भारतीय-दर्शन का अपना एक विशिष्ट ध्येय रहा है ।

यह स्वाभाविक है कि मनुष्य को अपने वर्तमान जीवन से असन्तोष हो । जीवन में प्रतीत होने वाले प्रतिकूल भाव, दु:ख एवं क्लेशों से व्याकुल होकर मनुष्य इनसे छुटकारा प्राप्त करने की वात सोचे । भारत के प्रत्येक दर्शन ने फिर भले ही वह किसी भी परम्परा का क्यों न रहा हो, वर्तमान जीवन को दु:खमय एवं क्लेशमय माना है । इसका अर्थ यही होता है कि जीवन में जो कुछ दु:ख एवं क्लेश है. उसे दूर करने का प्रयत्न किया जाये । क्योंकि दु:ख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति प्रत्येक आत्मा का साहजिक अधिकार है । भारत के इस दृष्टिकोण को लेकर पाश्चात्य दार्शनिकों ने उसे निराशावादी अथवा पलायनवादी कहा है । परन्तु उन लोगों का यह कथन न तर्क-संगत है और न भारतीय-दर्शन की मर्यादा के अनुकूल ही । भारतीय-दर्शनों में त्याग और वैराग्य की जो चर्चा की गई है, उसका अर्थ जीवन से पराङ्मुख वनना नहीं है, वल्कि वर्तमान जीवन के असन्तोष के कारण चित्त में जो एक व्याकुलता रहती है. उसे दूर करने के लिये ही भारतीय दार्शनिकों ने त्याग और वैराग्य की वात कही है । यह दु:खवादी विचारधारा वौद्ध-दर्शन में अतिरेक वादी वन गयी है । उसे किसी अंश में स्वीकार करना ही होगा । जैन-दर्शन भी इस दु:खवादी परम्परा में सम्मिलित रहा है । सांख्य-दर्शन ने प्रारम्भ में ही इस तथ्य को स्वीकार किया है कि तीन प्रकार के दु:ख से व्याकुल यह आत्मा सुख और शान्ति की खोज करना चाहती है । इस प्रकार भारतीय-दर्शनों में दु:खवादी विचारधारा रही है । इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता । परन्तु इसका अर्थ निराशावाद और पलायनवाद कतई नहीं किया जा सकता । एक मात्र सुख का अनुसंधान ही उसका मुख्य उद्देश्य रहा ।

भारतीय-दर्शनों में आत्मवाद

भारत के सभी दर्शन आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं । न्याय और वैशेषिक आत्मा को अविनश्वर और नित्य पदार्थ मानते हैं । इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु:ख और ज्ञान को उसके विशेष गुण मानते हैं । आत्मा ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता है । ज्ञान, अनुभूति और संकल्प आत्मा के धर्म हैं । चैतन्य आत्मा का स्वरूप है । मीमांसादर्शन का भी यही मत है । मीमांसा आत्मा को नित्य और विभु मानती है । चैतन्य को उसका आगन्तुक धर्म मानती है । स्वप्न रहित निद्रा की तथा मोक्ष की अवस्था में आत्मा चैतन्य गुणों से रहित होती है । सांख्य-दर्शन में पुरुष को नित्य और विभु तथा चैतन्य स्वरूप माना गया है । इस दर्शन के अनुसार चैतन्य आत्मा का आगन्तुक धर्म नहीं है । पुरुष अकर्ता है । वह सुख-दु:ख की अनुभूतियों से रहित है । बुद्धि कर्ता है और सुख एवं दु:ख के गुणों से युक्त है । बुद्धि प्रकृति का परिणाम है और प्रकृति निरन्तर क्रियाशील है । इसके विपरीत पुरुष शुद्ध चैतन्य स्वरूप है । अद्वैत वेदान्त आत्मा को विशुद्ध सत्‌चित्त और आनन्द स्वरूप मानता है । सांख्य अनेक पुरुषों को मानता है, लेकिन ईश्वर को नहीं मानता । अद्वैत वेदान्त केवल एक ही आत्मा को सत्य मानता है । चार्वाकदर्शन आत्मा की सत्ता को नहीं मानता । वह चैतन्य विशिष्ट शरीर को ही आत्मा मानता है । वौद्धदर्शन आत्मा को ज्ञान, अनुभूति और संकल्पों की प्रत्येक क्षण में परिवर्तन होने वाली

सन्तान मानता है। इसके विपरीत जैनदर्शन आत्मा को नित्य, अजर और अमर स्वीकार करता है। ज्ञान आत्मा का विशिष्ट गुण है। जैनदर्शन मानता है कि आत्मा स्वभावतः अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-सुख और अनन्त-शक्ति से युक्त है। इस दृष्टि से प्रत्येक भारतीय-दर्शन आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है और उसकी व्याख्या अपने ढंग से करता है।

भारतीय-दर्शनों में कर्मवाद

कर्मवाद भारतीय-दर्शन का एक विशिष्ट सिद्धान्त माना जाता है। भारत के प्रत्येक दर्शन की शाखा ने इस कर्मवाद के सिद्धांत पर भी गम्भीर विचार किया है। जीवन में जो सुख और दुःख की अनुभूति होती है, उसका कोई आधार अवश्य होना चाहिये। इसका एक मात्र आधार कर्मवाद ही हो सकता है। इस संसार में जो विचित्रता और जो विविधता का दर्शन होता है, उसका आधार प्रत्येक व्यक्ति का अपना कर्म ही होता है। कर्मवाद के सम्वन्ध में जितना गम्भीर और विस्तृत विवेचन जैन-परम्परा के ग्रन्थों में उपलब्ध है उतना अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। एक चार्वाकदर्शन को छोड़कर शेष सभी भारतीय-दर्शन कर्मवाद के नियम में आस्था एवं विश्वास रखते हैं। कर्म का नियम नैतिकता के क्षेत्र में काम करने वाला कारण नियम ही है। इसका अर्थ यह है, कि शुभ कर्म का फल अनिवार्यतः सुख होता है और अशुभ कर्म का फल अनिवार्यतः अशुभ होता है। अच्छा काम आत्मा में पुण्य उत्पन्न करता है, जो कि सुखभोग का कारण वनता है। बुरा काम आत्मा में पाप उत्पन्न करता है, जो कि दुःखभोग का कारण बनता है। सुख और दुःख शुभ और अशुभ कर्मों के अनिवार्यतः फल हैं। इस नैतिक नियम की पकड़ से कोई भी छूट नहीं सकता। शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म सूक्ष्म संस्कार छोड़ जाते हैं। जो निश्चय ही भावी सुख-दुःख के कारण वनते हैं। वे अवश्य ही समय आने पर अपने फल को उत्पन्न करते हैं। इन फलों का भोग निश्चय ही इस जन्म में अथवा भविष्य में किया जाना है। कर्म के नियम के कारण ही आत्मा को इस संसार में जन्म और मरण करना पड़ता है। जन्म और मरण का कारण कर्म ही है।

कर्म के नियम का बीज रूप सर्वप्रथम ऋग्वेद की ऋतधारा में उपलब्ध होता है। ऋत का अर्थ है जगत की व्यवस्था एवं नियम। प्रकृति की प्रत्येक घटना अपने नियम के अनुसार ही होती है। प्रकृति के ये नियम ही ऋत हैं। आगे चलकर ऋत की धारणा में मनुष्य के नैतिक नियमों की व्यवस्था का भी समावेश हो गया था। उपनिषदों में भी इस प्रकार के विचार हमें बीज रूप में अथवा सूक्ष्म रूप में प्राप्त होते हैं। कुछ उपनिपदों में तो कर्म के नियम की भौतिक नियम के रूप में स्पष्ट धारणा की गई है। मनुष्य जैसा वोता है वैसा ही काटता है। अच्छे बुरे कर्मों का फल अच्छे बुरे रूप में ही मिलता है। शुभ कर्मों से अच्छा चरित्र बनता है और अशुभ कर्मों से बुरा। फिर अच्छे चरित्र से अच्छा जन्म मिलता है और बुरे चरित्र से बुरा। उपनिषदों में कहा गया है कि मनुष्य शुभ कर्म करने से धार्मिक बनता है और अशुभ कर्म करने से पापात्मा बनता है। संसार जन्म और मृत्यु का एक अनन्त चक्र है। मनुष्य अच्छे कर्म करके अच्छा जन्म पा सकता है और अन्त में भेद-विज्ञान के द्वारा संसार से मुक्त भी हो सकता है।

जैन-आगम और बौद्ध-पिटकों में भी कर्मवाद के शाश्वत नियमों को स्वीकार किया गया है। जैन-परम्परा में भगवान् ऋषभदेव के समय से ही कर्मवाद की मान्यता रही है। बौद्ध-दर्शन में भी कर्मवाद की मान्यता स्पष्ट रूप में नजर आती है। अतः बौद्ध-दर्शन भी कर्मवादी दर्शन रहा है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग तथा मीमांसा और वेदान्त दर्शन में कर्म के नियम के सम्बन्ध में आस्था व्यक्त की गई है। इन दर्शनों का विश्वास है कि अच्छे अथवा बुरे काम अदृष्ट को उत्पन्न करते हैं, जिसका विपाक होने में कुछ समय लगता है। उसके बाद उस व्यक्ति को सुख अथवा दुःख भोगना पड़ता है। कर्म का फल कुछ तो इस जीवन में मिलता है और कुछ अगले जीवन में। लेकिन कर्म के फल से कभी बचा नहीं जा सकता। भौतिक व्यवस्था पर कारण नियम का शासन है और नैतिक व्यवस्था पर कर्म के नियम का

शासन रहता है। परन्तु भौतिक व्यवस्था भी नैतिक व्यवस्था के ही उद्देश्य की पूर्ति करती है। इस प्रकार यह देखा जाता है कि भारतीय-दर्शनों की प्रत्येक शाखा ने कर्मवाद के नियमों को स्वीकार किया है और उसकी परिभाषा एवं व्याख्या भी अपनी-अपनी पद्धति से की है।

भारतीय दर्शनों में परलोकवाद

जब भारतीय-दर्शनों में आत्मा को अमर मान लिया गया है और संसारी अवस्था में उसमें सुख एवं दुःख मान लिया गया है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि सुख एवं दुःख का मूल आधार भी मान लिया जाये और वह मूल आधार कर्मवाद के रूप में भारतीय-दर्शन ने स्वीकार किया। वर्तमान जीवन में आत्मा किस रूप में रहती है? और उसकी स्थिति क्या होती है? इस समस्या में से ही परलोकवाद का जन्म हुआ। परलोकवाद को जन्मान्तरवाद भी कहा जाता है। एक चार्वाकदर्शन को छोड़कर शेष सभी भारतीय-दर्शनों का परलोकवाद एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। परलोकवाद अथवा जन्मान्तरवाद कर्मवाद के सिद्धांत का फलित रूप है। कर्म का सिद्धान्त यह माँग करता है कि शुभ कर्मों का शुभ फल मिले और अशुभ कर्मों का अशुभ फल। लेकिन सब कर्मों का फल इसी जीवन में मिलना संभव नहीं है। अतः कर्मफल को भोगने के लिये दूसरा जीवन आवश्यक है।

भारतीय-दर्शन के अनुसार यह संसार जन्म और मरण की अनादि शृंखला है। इस जन्म और मरण का कारण क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में सांख्यदर्शन में कहा गया है कि प्रकृति और पुरुष का भेद-ज्ञान न होना ही इसका कारण है। न्याय और वैशेषिक दर्शन में कहा गया है कि अविद्या अथवा माया ही उसका मुख्य कारण है। बौद्धदर्शन में कहा गया कि वासना के कारण ही जन्म और मरण होता है। जैनदर्शन में कहा गया है कि कर्मबद्ध संसारी आत्मा का जो बार-बार जन्म और मरण होता है, उसके पाँच कारण हैं—मिथ्यात्व-भाव, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा शुभ और अशुभ योग। सामान्य भाषा में जब तत्त्वज्ञान से अज्ञान का नाश हो जाता है, तब संसार का भी नाश हो जाता है। भारतीय-दर्शनों में यह भी कहा गया है कि संसार एक बंधन है, इस बंधन का आत्यन्तिक नाश आत्मा के शुद्ध स्वरूप मोक्ष से ही होता है। बन्धन का कारण अज्ञान है और इसी से संसार की उत्पत्ति होती है। इसके विपरीत मोक्ष का कारण तत्त्वज्ञान है। तत्त्वज्ञान के हो जाने पर संसार का भी अन्त हो जाता है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान और उसका विपरीत भाव अज्ञान, अविद्या, माया, वासना और कर्म को माना गया है।

जन्मान्तर, भवान्तर, पुनर्जन्म और परलोक का अर्थ है—मृत्यु के बाद आत्मा का दूसरा शरीर धारण करना। चार्वाकदर्शन ने यह माना था कि शरीर के नाश के साथ ही चेतनाशक्ति का भी नाश हो जाता है। परन्तु आत्मा की अमरता में विश्वास करने वाले दार्शनिकों का कहना है कि शरीर के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता। इस वर्तमान शरीर के नष्ट होने पर भी आत्मा बनी रहती है और पूर्व-कृत कर्मों का फल भोगने के लिए आत्मा को दूसरा जन्म धारण करना पड़ता है। दूसरा जन्म धारण करना ही पुनर्जन्म कहा जाता है। पशु, पक्षी, मनुष्य और नारक, देव आदि अनेक प्रकार के जन्म ग्रहण करना यह संसारी आत्मा का आवश्यक परिणाम है। आत्मा अनेक जन्म तभी ग्रहण कर सकती है जब वह नित्य और अविच्छिन्न हो। सभी आस्तिक दर्शन आत्मा की नित्यता को स्वीकार करते हैं।

चार्वाकदर्शन शरीर, प्राण अथवा मन से भिन्न आत्मा जैसी नित्य वस्तु को स्वीकार नहीं करता। अतः उसके मतमें जन्मान्तर अथवा पुनर्जन्म जैसी वस्तु मान्य नहीं है। बौद्ध दार्शनिक आत्मा को क्षणिक विज्ञानों की एक सन्तति मात्र मानते हैं। उनके अनुसार आत्मा क्षण-क्षण में बदलती है। जो आत्मा पूर्व क्षण में थी, वह उत्तर क्षण में नहीं रहती। इस प्रकार नदी के प्रवाह के समान वे चित्त-सन्तति के प्रवाह को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि आत्मा की सन्तति नित्य प्रवहमान रहती है। इस प्रकार क्षणिकवाद को स्वीकार करने पर भी वे जन्मान्तर और पुनर्जन्म को भी स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता के अनुसार एक विज्ञान सन्तान का अन्तिम विज्ञान सभी पूर्व विज्ञानों की वासनाओं

को आत्मसात करता है और एक नया शरीर धारण कर लेता है। बौद्ध मत के अनुसार वासना को संस्कार भी कहा गया है। इस प्रकार बौद्ध-दार्शनिक आत्मा की नित्यता तो नहीं मानते लेकिन विज्ञान-सन्तान की अविच्छिन्नता को अवश्य ही स्वीकार करते हैं। जैन-दार्शनिक आत्मा को केवल नित्य नहीं, परिणामी नित्य मानते हैं। आत्मा द्रव्यदृष्टि से नित्य है, और पर्यायदृष्टि से अनित्य। क्योंकि पर्याय प्रतिक्षण बदलता रहता है। इसके बदलने पर भी द्रव्य का द्रव्यत्व नष्ट नहीं होता। जैन-दार्शनिक पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं। क्योंकि प्रत्येक आत्मा अपने कर्मों के अनुसार अनेक गति एवं योनियों को प्राप्त होती है। जैसे कोई एक आत्मा, जो आज मनुष्यशरीर में है, भविष्य में वह अपने शुभाशुभ कर्मो के अनुसार देव और नारक भी बन सकती है। एक जन्म के बाद दूसरे जन्म को धारण करना, इसी को जन्मान्तर अथवा भवान्तर कहा जाता है। इस प्रकार समस्त आस्तिक भारतीय-दार्शनिक परम्पराएँ पुनर्जन्म को स्वीकार करती हैं।

भारतीय दर्शन में मोक्ष एवं निर्वाण

आस्तिक दार्शनिकों के सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि क्या कभी आत्मा की इस प्रकार की स्थिति भी होगी कि उसका पुनर्जन्म अथवा जन्मान्तर मिट जाये? इस प्रश्न के उत्तर में उनका कहना है कि मोक्ष, मुक्ति अथवा निर्वाण ही वह स्थिति है, जहाँ पहुँच कर आत्मा का जन्मान्तर अथवा पुनर्जन्म मिट जाता है। यही कारण है कि आत्मा की अमरता में आस्था रखने वाले आस्तिक दर्शनों ने मोक्ष की स्थिति को एक स्वर में स्वीकार किया है। चार्वाकदर्शन का कहना है कि मरण ही अपवर्ग अथवा मोक्ष है। मोक्ष का सिद्धान्त सभी आस्तिक भारतीय दार्शनिकों को मान्य है। भौतिकवादी होने के कारण एक चार्वाक ही उसे स्वीकार नहीं करता। क्योंकि आत्मा की वह शरीर से भिन्न सत्ता नहीं मानता। अतः उसके दर्शन में आत्मा के मोक्ष का प्रश्न ही नहीं उठता। चार्वाक की दृष्टि में इस जीवन में और इसी लोक में सुखभोग करना मोक्ष है। इससे भिन्न इस प्रकार के मोक्ष की कल्पना वह कर ही नहीं सकता जिसमें आत्मा एक लोकातीत अवस्था को प्राप्त हो जाती है।

बौद्धदर्शन में आत्मा की इस लोकातीत अवस्था को मोक्ष न कहकर निर्वाण कहा गया है। यद्यपि निर्वाण शब्द जैन ग्रन्थों में भी बहुलता से उपलब्ध होता है, फिर भी इसका प्रयोग बौद्धदर्शन में ही अधिक रूढ़ है। बौद्धदर्शन के अनुसार निर्वाण शब्द सब गुणों के आत्यन्तिक उच्छेद की अवस्था को अभिव्यक्त करता है। निर्वाण शब्द का अर्थ है—बुझ जाना। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए कि निर्वाण में आत्मा का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है। बौद्धदर्शन के अनुसार इसमें आत्यन्तिक विनाश तो अवश्य होता है, लेकिन दुःख का होता है, न कि आत्म-सन्तति का। कुछ बौद्धदर्शन निर्वाण को विशुद्ध आनन्द की अवस्था मानते हैं। इस प्रकार बौद्धदर्शन क्षणिकवादी होकर भी जन्मान्तर और निर्वाण को स्वीकार करता है।

जैन-दार्शनिक प्रारम्भ से ही मोक्षवादी रहे हैं। जैनदर्शन के अनुसार आत्मा की स्वाभाविक अवस्था ही मोक्ष है। अनन्त-दर्शन, अनन्त-ज्ञान और अनन्त-शक्ति का प्रकट होना ही मोक्ष है। आत्मा अपनी विशुद्ध अवस्था को तब प्राप्त करता है, जबकि वह सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की साधना के द्वारा कर्म पुद्गल के आवरण को सर्वथा नष्ट कर देता है। जैन परम्परा के महान् अध्यात्मवादी आचार्य कुन्द-कुन्द ने अपने समयसार में आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है—'एक व्यक्ति लम्बे समय से कारागृह में पड़ा हो और अपने बन्धन की तीव्रता और मन्दता को तथा बन्धन के काल को भली-भाँति समझता हो, परन्तु जब तक वह अपने बन्धन के वशीभूत होकर उसका छेदन नहीं करता, तब तक लम्बा समय हो जाने पर भी वह छूट नहीं सकता। इसी प्रकार कोई मनुष्य अपने कर्मबन्धन के प्रदेश, स्थिति और प्रकृति तथा अनुभाग को भली-भाँति समझता हो, तो भी इतने मात्र से वह कर्म-बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। वही आत्मा यदि राग एवं द्वेष आदि को दूर हटा कर विशुद्ध हो जाये, तो मोक्ष प्राप्त कर

सकता है।[1] बन्धन का विचार करने मात्र से बन्ध से छुटकारा नहीं मिलता है। छुटकारा पाने के लिए बन्ध का और आत्मा का स्वभाव भली-भाँति समझ कर बन्ध से विरक्त होना चाहिए। जीव और बन्ध के अलग-अलग लक्षण समझ कर प्रज्ञा रूपी छुरी से उन्हें अलग करना चाहिए, तभी बन्ध छूटता है। बन्ध को छेदकर आत्म-स्वरूप में स्थित होना चाहिए। आत्म-स्वरूप को किस प्रकार ग्रहण करना चाहिए ? इसके उत्तर में कहा गया है, कि मुमुक्ष को आत्मा का इस प्रकार विचार करना चाहिए—'मैं चेतन स्वरूप हूँ, मैं दृष्टा हूँ, मैं ज्ञाता हूँ, शेष जो कुछ भी है, वह मुझसे भिन्न है। शुद्ध आत्मा को समझने वाला व्यक्ति समस्त पर-भावों को परकीय जानकर उनसे अलग हो जाता है। यह परभाव से अलग हो जाना ही वास्तविक मोक्ष है।'[2] इस प्रकार जैन-दर्शन में मोक्ष के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है।

सांख्य-दर्शन मोक्ष को प्रकृति और पुरुष का विवेक मानता है। विवेक एक प्रकार का वेदज्ञान है। इसके विपरीत बन्ध प्रकृति और पुरुष का अविवेक है। पुरुष नित्य और मुक्त है। अपने अविवेक के कारण वह प्रकृति और उसके विकारों से अपना तादात्म्य मान लेता है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार ये सब प्रकृति के विकार हैं। लेकिन अविवेक के कारण पुरुष इन्हें अपना समझ बैठता है। मोक्ष पुरुष की स्वाभाविक अवस्था की प्राप्ति है। बन्ध एक प्रतीति मात्र है और इसका कारण अविवेक है। योग-दर्शन मोक्ष को आत्मा का कैवल्य मानता है। कैवल्य आत्मा के प्रकृति के जाल से छूट जाने की एक अवस्था विशेष है। आत्मा को इस अवस्था की प्राप्ति तब होती है, जब तप और संयम के द्वारा मन से सब कर्म-संस्कार निकल जाते हैं। सांख्य और योग मोक्ष में पुरुष की चित्‌मात्र अवस्थिति मानते हैं। इस अवस्था में वह सुख और दुःख से सर्वथा अतीत हो जाता है। क्योंकि सुख और दुःख तो बुद्धि की वृत्तियाँ मात्र हैं। इन वृत्तियों का आत्यन्तिक अभाव ही सांख्य और योग दर्शन से मुक्ति है।

न्याय और वैशेषिक-दर्शन मोक्ष को आत्मा की वह अवस्था मानते हैं, जिसमें वह मन और शरीर से अत्यन्त विमुक्त हो जाता है और सत्ता मात्र रह जाता है। मोक्ष आत्मा की अचेतन अवस्था है, क्योंकि चैतन्य तो उसका एक आगन्तुक धर्म है, स्वरूप नहीं। आत्मा का शरीर और मन से संयोग होने पर उसमें चैतन्य का उदय होता है। अतः मोक्ष की अवस्था में इनसे वियोग होने पर चैतन्य भी चला जाता है। मोक्ष की प्राप्ति तत्त्व-ज्ञान से होती है, यह दुःख के आत्यन्तिक उच्छेद की अवस्था है।

मीमांसा-दर्शन में भी मोक्ष को आत्मा की स्वाभाविक अवस्था की प्राप्ति माना गया है, जिसमें सुख और दुःख का अत्यन्त विनाश हो जाता है। अपनी स्वाभाविक अवस्था में आत्मा अचेतन होता है। मोक्ष दुःख के आत्यन्तिक अभाव की अवस्था है। लेकिन इसमें आनन्द की अनुभूति नहीं होती। आत्मा स्वभावतः सुख और दुःख से अतीत है। मोक्ष की अवस्था में ज्ञान-शक्ति तो रहती है, लेकिन ज्ञान नहीं रहता।

अद्वैत वेदान्त मोक्ष को जीवात्मा और ब्रह्म के एकीभाव की उपलब्धि मानता है। क्योंकि परमार्थतः आत्मा ब्रह्म ही है। आत्मा विशुद्ध सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है। बन्ध मिथ्या है। अविद्या एवं माया ही इसका कारण है। आत्मा अविद्या के कारण शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार के साथ अपना तादात्म्य कर लेता है, जो वस्तुतः माया निर्मित है। वेदान्तदर्शन के अनुसार यही मिथ्या तादात्म्य बन्ध का कारण है। अविद्या से आत्मा का बन्धन होता है और विद्या से इस बन्धन की मुक्ति होती है। मोक्ष आत्मा की स्वाभाविक अवस्था है। यह न चैतन्य रहित अवस्था है, और न दुःखाभाव मात्र की अवस्था है, बल्कि सत्, चित् और आनन्द की ब्रह्म-अवस्था है। यही जीवात्मा के ब्रह्मभाव की प्राप्ति है। इस प्रकार मोक्ष की धारणा समस्त भारतीय-दर्शनों में उपलब्ध होती है। वास्तव में मोक्ष की

---

[1] समयसार, २८८-९३.

[2] समयसार, २९४-३००.

प्राप्ति दार्शनिक चिन्तन का लक्ष्य है। भारत के सभी दर्शनों में इसके स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है और अपनी पद्धति से प्रत्येक ने उसकी व्याख्या की है।

भारतीय-दर्शनों में जिन तथ्यों का निरूपण किया गया है, उन सबका जीवन के साथ निकट का सम्बन्ध रहा है। भारतीय दार्शनिकों ने मानव जीवन के समक्ष ऊँचे से ऊँचे आदर्श प्रस्तुत किये हैं। वे आदर्श केवल आदर्श ही नहीं रहते, उन्हें जीवन में उतारने का प्रयत्न भी किया जाता है। इसके लिए विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न प्रकार की साधनाओं का भी प्रतिपादन किया है। ये साधन तीन प्रकार के होते हैं—ज्ञान-योग, कर्म-योग और भक्ति-योग। जैन-दर्शन में इन्हीं को रत्न-त्रय—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र कहा जाता है। बौद्ध-दर्शन में इन्हें प्रज्ञा, शील और समाधि कहा गया है। इन तीनों की साधना से प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में उच्च से उच्चतर एवं उच्चतम आदर्शों को भी प्राप्त कर सकता है। दर्शन का सम्बन्ध केवल बुद्धि से ही नहीं है, वल्कि हृदय और क्रिया से भी है। यही कारण है कि भारतीय-दर्शन की परम्परा के प्रत्येक दार्शनिक-संप्रदाय ने श्रद्धान, ज्ञान और आचरण पर बल दिया है। भारतीय-दर्शन केवल बौद्धिक विलास मात्र नहीं है, अपितु वह जीवन की वास्तविक स्थिति का प्रतिपादन करता है। अत: वह वास्तविक अर्थ में दर्शन एवं धर्म है।

सूत्रकृतांग सूत्र : एक अनुचिन्तन

वैदिक परम्परा में जो स्थान वेदों का मान्य है तथा बौद्ध परम्परा में जो स्थान पिटकों का माना गया है, जैन परम्परा में वही स्थान आगमों का है। जैन परम्परा, इतिहास और संस्कृति की विशेष निधि आगम-शास्त्र ही हैं। आगमों में जो सत्य मुखरित हुआ है, वह युग युगान्तर से चला आया है। इसमें दो मत नहीं हो सकते। परन्तु इस मान्यता में जरा भी सार नहीं है कि उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ है। भाव-भेद, भाषा-भेद और शैली-भेद आगमों में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। मान्यता-भेद भी कहीं-कहीं पर उपलब्ध हो जाते हैं। इसका मुख्य कारण है—समाज और जीवन का विकास। जैसे-जैसे समाज का विकास होता रहा, वैसे-वैसे आगमों के पृष्ठों पर विचार-भेद उभरते रहे हैं। आगमों की निर्युक्तियों में, आगमों के भाष्यों में, आगमों की चूर्णियों में और आगमों की टीकाओं में तो विचार-भेद अत्यन्त स्पष्ट है। मूल आगमों में भी युग-भेद के कारण से विचार-भेद को स्थान मिला है और यह सहज था। अन्यथा, उनके टीकाकारों में इतने भेद कहाँ से प्रकट हो पाते।

आगमों की रचना का काल

आधुनिक पाश्चात्य विचारकों ने भी इस बात को स्वीकारा है कि भले ही देवर्द्धिगणि ने पुस्तक लेखन करके आगमों के संरक्षण कार्य को आगे वढ़ाया, किन्तु निश्चय ही वे उनके कर्ता नहीं हैं। आगम तो प्राचीन ही हैं। देवर्द्धिगणि ने तो केवल उनका संकलन और संपादन ही किया है। यह माना जा सकता है कि आगमों में कुछ प्रक्षिप्त अंश हैं, पर उस प्रक्षेप के कारण समग्र आगम का काल देवर्द्धिगणि का काल नहीं हो सकता। सामान्य रूप में विद्वानों ने अंग आगमों का काल पाटलिपुत्र की वाचना के काल को माना है। पाटलिपुत्र की वाचना इतिहासकारों के अनुसार भगवान महावीर के परिनिर्वाण के वाद पंचम श्रुतकेवली आचार्य भद्रवाहु के काल में हुई और उसका काल है ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी का द्वितीय दशक। अतएव आगम संकलन का काल लगभग ईसा पूर्व छठी शताब्दी से ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक माना जा सकता है। लगभग हजार वर्ष अथवा वारह सौ वर्षों का समय आगम संकलना का काल रहा है। कुछ विद्वान् इस लेखन के काल का और अंग आगमों की रचना के काल का सम्मिश्रण कर देते हैं और इस लेखन को आगमों का रचना काल मान लेते हैं। अंग आगम भगवान महावीर का उपदेश है और उसके आधार पर उनके गणधरों ने अंगों की रचना की है। अत: आगमों की संरचना का प्रारम्भ तो भगवान महावीर के काल से माना जाना चाहिए। उसमें जो प्रक्षेप अंश हो, उसे अलग करके उसका समय निर्णय अन्य आधारों से किया जा सकता है।

अंग आगमों में सर्वाधिक प्राचीन आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध माना जाता है । इस सत्य को स्वीकार करने में किसी भी विद्वान् को किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती । सूत्रकृतांग सूत्र और भगवती सूत्र के सम्बन्ध में यही समझा जाना चाहिए । स्थानांग सूत्र और समवायांग सूत्र में कुछ स्थल इस प्रकार के हो सकते हैं, जिनकी नवता और पुरातनता के सम्बन्ध में आगमों के विशिष्ट विद्वानों को गम्भीरतापूर्वक विचार करके निर्णय करना चाहिए ।

अंगबाह्य आगम

अंगबाह्य आगमों में उपांग, मूल, छेद आदि की परिगणना होती है । अंगबाह्य आगम गणधरों की रचना नहीं हैं अतः उनका काल निर्धारण जैसे अन्य आचार्यों के ग्रन्थों का समय निर्धारित किया जाता है, वैसे ही होना चाहिए । अंगबाह्यों में प्रज्ञापना के कर्ता आर्य श्याम हैं । अतएव आर्य श्याम का जो समय है, वही उसका रचना समय है । आर्य श्याम को वीर निर्वाण सम्वत् ३३५ में 'युगप्रधान' पद मिला और ३७६ तक वे युगप्रधान रहे । अतः प्रज्ञापना सूत्र की रचना का समय भी यही मानना उचित है ।

छेदसूत्रों में दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्रों की रचना चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु ने की थी । आचार्य भद्रबाहु का समय ईसा पूर्व ३५७ के आस-पास निश्चित है । अतः उनके द्वारा रचित इन तीनों छेद सूत्रों का भी समय वही होना चाहिये । कुछ विद्वानों का मत है कि द्वितीय आचारांग की चार चूलाएँ और पंचम चूला निशीथ भी चतुर्दश पूर्वी आचार्य भद्रबाहु की रचना है । मूल सूत्रों में दशवैकालिक की रचना आचार्य शय्यंभव ने की है । इसमें किसी भी विद्वान् को विप्रतिपत्ति नहीं रही । परन्तु इसका अर्थ यह होगा कि दशवैकालिक की रचना द्वितीय आचारांग और निशीथ से पहले की माननी होगी । द्वितीय आचारांग का विषय और दशवैकालिक का विषय लगभग एक जैसा ही है । भेद केवल है तो संक्षेप और विस्तार का, गद्य और पद्य का एवं विषय की व्यवस्था का । तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाव, भाषा तथा विषय प्रतिपादन की शैली दोनों की करीब-करीब समान ही है ।

उत्तराध्ययन सूत्र के सम्बन्ध में दो मत उपलब्ध होते हैं—एक का कहना है कि उत्तराध्ययन सूत्र किसी एक आचार्य की कृति नहीं, किन्तु संकलन है । दूसरा मत यह है कि उत्तराध्ययन सूत्र भी चतुर्दश पूर्वी आचार्य भद्रबाहु की ही कृति है । कल्पसूत्र जिसकी पर्युषणा कल्प के रूप में वाचना की जाती है, वह भी चतुर्दश पूर्वी आचार्य भद्रबाहु की ही कृति है । इस प्रकार अन्य अंगबाह्य आगमों के सम्बन्ध में भी कुछ तो काल निर्णय हो चुका है और कुछ होता जा रहा है ।

अंगों का क्रम

एकादश अंगों के क्रम में सर्वप्रथम आचारांग है । आचारांग को क्रम में सर्वप्रथम स्थान देना तर्क-संगत भी है और परम्परा प्राप्त भी है । क्योंकि संघ–व्यवस्था में सबसे पहले आचार की व्यवस्था अनिवार्य होती है । आचार संहिता की मानव जीवन में प्राथमिकता रही है । अतः आचारांग को सर्वप्रथम स्थान देने में प्रथम हेतु है उसका विषय; दूसरा हेतु यह है कि जहाँ-जहाँ अंगों के नाम आये हैं उनके क्रम की योजना के मूल में अथवा वृत्ति में आचारांग का नाम ही सबसे पहले आया है । आचारांग के बाद जो सूत्रकृतांग आदि नाम आये हैं, उनके क्रम की योजना किसने किस प्रकार की, इसकी चर्चा के हमारे पास उल्लेखनीय साधन नहीं हैं । इतना अवश्य है कि सचेलक एवं अचेलक दोनों परम्पराओं में अंगों का एक ही क्रम है ।

सूत्रकृतांग सूत्र में विचारपक्ष मुख्य है और आचारपक्ष गौण । जबकि आचारांग में आचार की मुख्यता है और विचार की गौणता । जैन परम्परा प्रारम्भ से ही एकान्त विचारपक्ष को और एकान्त आचारपक्ष को अस्वीकार करती रही है । विचार और आचार का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करना ही जैन परम्परा का मुख्य ध्येय रहा है । यद्यपि आचारांग में भी परमत का खण्डन सूक्ष्म रूप में अथवा बीज रूप में विद्यमान है । तथापि आचार की प्रबलता ही उसमें

मुख्य है। सूत्रकृतांग में प्रायः सर्वत्र परमत का खण्डन और स्वमत का मण्डन स्पष्ट प्रतीत होता है। सूत्रकृतांग की तुलना बौद्ध परम्परा मान्य 'अभिधम्म पिटक' से की जा सकती है। जिसमें बुद्ध ने अपने युग में प्रचलित ६२ मतों का यथाप्रसंग खण्डन करके अपने मत की स्थापना की है।

सूत्रकृतांग सूत्र में स्व-समय और पर-समय का वर्णन है। वृत्तिकारों के अनुसार इस में ३६३ मतों का खण्डन किया गया है। समवायांग सूत्र में सूत्रकृतांग सूत्र का परिचय देते हुए कहा गया—इसमें स्व-समय, पर-समय, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, वन्ध तथा मोक्ष आदि तत्त्वों के विषय में कथन किया गया है। १८० क्रिया-वादी मतों की, ८४ अक्रियावादी मतों की, ६७ अज्ञानवादी मतों की एवं ३२ विनयवादी मतों की, इस प्रकार सब मिलाकर ३६३ अन्ययूथिक मतों की परिचर्चा की है। श्रमणसूत्र में सूत्रकृतांग के २३ अध्ययनों का निर्देश है—प्रथम श्रुतस्कन्ध में १६, द्वितीय श्रुतस्कन्ध में ७। नन्दीसूत्र में कहा गया है कि सूत्रकृतांग में लोक, अलोक, लोकालोक, जीव, अजीव आदि का निरूपण है तथा क्रियावादी आदि ३६३ पाखण्डियों के मतों का खण्डन किया गया है। दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ राजवार्तिक के अनुसार सूत्रकृतांग में ज्ञान, विनय, कल्प, अकल्प, व्यवहार, धर्म एवं विभिन्न क्रियाओं का निरूपण है।

सूत्रकृतांग सूत्र का संक्षिप्त परिचय

जैन परम्परा द्वारा मान्य अंग सूत्रों में सूत्रकृतांग का द्वितीय स्थान है। किन्तु दार्शनिक-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से इसका महत्त्व आचारांग से अधिक है। भगवान महावीर के युग में प्रचलित मत-मतान्तरों का वर्णन इसमें विस्तृत रूप से हुआ है। सूत्रकृतांग का वर्तमान समय में जो संस्करण उपलब्ध है, उसमें दो श्रुतस्कन्ध हैं—प्रथम श्रुत-स्कन्ध और द्वितीय श्रुतस्कन्ध। प्रथम में सोलह अध्ययन हैं और द्वितीय में सात अध्ययन। प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम समय अध्ययन के चार उद्देशक हैं—पहले में २७ गाथाएँ हैं, दूसरे में ३२, तीसरे में १६ तथा चौथे में १३ हैं। इसमें वीतराग के अहिंसा-सिद्धांत को वताते हुए अन्य वहुत से मतों का उल्लेख किया गया है। दूसरे वैतालीय अध्ययन में तीन उद्देशक हैं। पहले में २२ गाथाएँ, दूसरे में ३२ तथा तीसरे में २२। वैतालीय छन्द में रचना होने के कारण इसका नाम वैतालीय है। इसमें मुख्य रूप से वैराग्य का उपदेश है। तीसरे उपसर्ग अध्ययन के चार उद्देशक हैं। पहले में १७ गाथाएँ हैं, दूसरे में २२, तीसरे में २१ तथा चौथे में २२। इसमें उपसर्ग अर्थात् संयमी जीवन में आने वाली विघ्न-वाधाओं का वर्णन है। चौथे स्त्री-परिज्ञा अध्ययन के दो उद्देशक हैं। पहले की ३१ गाथाएँ हैं और दूसरे की २२। इसमें साधकों के प्रति स्त्रियों द्वारा उपस्थित किये जाने वाले ब्रह्मचर्य-घातक विघ्नों का वर्णन है। पांचवें निरय-विभक्ति अध्ययन के दो उद्देशक हैं। पहले में २७ गाथाएँ और दूसरे में २५। दोनों में नरक के दुःखों का वर्णन है। छठे वीरस्तुति अध्ययन का कोई उद्देशक नहीं है। इसमें २९ गाथाओं में भगवान महावीर की स्तुति की गई है। सातवें कुशील-परिभाषित अध्ययन में ३० गाथाएँ हैं, जिसमें कुशील एवं चरित्रहीन व्यक्ति की दशा का वर्णन है। आठवें वीर्य अध्ययन में २६ गाथाएँ हैं, इसमें वीर्य अर्थात् शुभ एवं अशुभ प्रयत्न का स्वरूप वतलाया गया है। नवमें धर्म अध्ययन में ३६ गाथाएँ हैं, जिसमें धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। दशवें समाधि अध्ययन में २४ गाथाएँ हैं, जिसमें धर्म में समाधि अर्थात् धर्म में स्थिरता का कथन किया गया है। ग्यारहवें मार्गअध्ययन में ३८ गाथाएँ हैं। जिसमें संसार के वन्धनों से छुटकारा प्राप्त करने का मार्ग वताया गया है। वारहवें समवसरण अध्ययन में २२ गाथाएँ हैं, जिसमें क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादी मतों की विचारणा की गई है। तेरहवें याथातथ्य अध्ययन में २३ गाथाएँ हैं, जिसमें मानव-मन के स्वभाव का सुन्दर वर्णन किया गया है। चौदहवें ग्रन्थ अध्ययन में २७ गाथाएँ हैं, जिसमें ज्ञान प्राप्ति के मार्ग का वर्णन किया गया है। पन्द्रहवें आदानीय अध्ययन में २५ गाथाएँ हैं, जिसमें भगवान महावीर के उपदेश का सार दिया गया है। सोलहवाँ गाथा अध्ययन गद्य में है, जिसमें भिक्षु अर्थात् श्रमण का स्वरूप सम्यक् प्रकार से समझाया गया है।

सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सात अध्ययन हैं। उनमें प्रथम अध्ययन पुण्डरीक है, जो गद्य में है। इसमें एक सरोवर के पुण्डरीक कमल की उपमा देकर बताया गया है कि विभिन्न मत वाले लोग राज्य के अधिपति राजा को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु स्वयं ही कष्टों में फंस जाते हैं। राजा वहीं का वहीं रह जाता है। दूसरी ओर सद्धर्म का उपदेश देने वाले भिक्षु के पास राजा अपने आप खिंचा चला जाता है। इस अध्ययन में विभिन्न मतों एवं विभिन्न सम्प्रदायों के भिक्षुओं के आचार का भी वर्णन किया गया है। द्वितीय अध्ययन क्रिया-स्थान है, जिसमें कर्मबन्ध के त्रयोदश स्थानों का वर्णन किया गया है। तृतीय अध्ययन आहार-परिज्ञा है, जिसमें बताया है कि आत्मार्थी भिक्षु को निर्दोष आहार पानी की एषणा किस प्रकार करनी चाहिये। चौथा अध्ययन प्रत्याख्यान है, जिसमें त्याग, प्रत्याख्यान, व्रतों एवं नियमों का स्वरूप बताया गया है। पाँचवां आचारश्रुत अध्ययन है, जिसमें त्याज्य वस्तुओं की गणना की गई है तथा लोकमूढ़ मान्यताओं का खण्डन किया गया है। छठा अध्ययन आर्द्रक है, जिसमें आर्द्रक-कुमार की धर्मकथा बहुत सुन्दर ढंग से कही गई है। यह एक दार्शनिक संवाद है जो उपनिषदों के संवाद की पद्धति का है। विभिन्न सम्प्रदायों के लोग आर्द्रककुमार से विभिन्न प्रश्न करते हैं और आर्द्रक उनकी विभिन्न शंकाओं का समाधान करते हैं। सातवां नालन्दा अध्ययन है, जिसमें भगवान महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम का नालन्दा में दिया गया उपदेश अंकित है।

सूत्रकृतांग सूत्र में जिन मतों का उल्लेख है, उनमें से कुछ का सम्बन्ध आचार से है और कुछ का तत्त्ववाद अर्थात् दर्शन-शास्त्र से है। इन मतों का वर्णन करते हुए उस पद्धति को अपनाया गया है, जिसमें पूर्वपक्ष का परिचय देकर वाद में उसका खण्डन किया जाता है। इस दृष्टि से सूत्रकृतांग का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान जैन आगमों में माना जाता है। बौद्ध परम्परा के अभिधम्मपिटक की रचना भी इसी शैली पर की गई है। दोनों की तुलनात्मक दृष्टि मननीय है।

पञ्च महाभूतवाद

दर्शन-शास्त्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह रहा कि लोक क्या है ? इसका निर्माण किसने किया ? और कैसे हुआ ? क्योंकि लोक प्रत्यक्ष है अतः उसकी सृष्टि के सम्बन्ध में जिज्ञासा का उठना सहज ही था। इसके सम्बन्ध में सूत्रकृतांग में एक मत का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि यह लोक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश रूप भूतों का बना हुआ है। इन्हीं के विशिष्ट संयोग से आत्मा का जन्म होता है और इनके वियोग से विनाश हो जाता है। यह वर्णन प्रथम श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन और प्रथम उद्देशक की ७-८ गाथाओं में किया गया है। मूल में इस वाद का कोई नाम नहीं बताया गया है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने इसे चार्वाक का मत बताया है। इस मत का उल्लेख दूसरे श्रुतस्कन्ध में भी है। वहाँ इसे पञ्चमहाभूतिक कहा गया है।

तज्जीव-तच्छरीरवाद

इस वाद के अनुसार संसार में जितने शरीर हैं, प्रत्येक में एक आत्मा है। शरीर की सत्ता तक ही जीव की सत्ता है। शरीर का नाश होते ही आत्मा का भी नाश हो जाता है। यहाँ शरीर को ही आत्मा कहा गया है। उसमें बताया गया है कि परलोक गमन करने वाला कोई आत्मा नहीं है। पुण्य और पाप का भी कोई अस्तित्व नहीं है। इस लोक के अतिरिक्त कोई दूसरा लोक भी नहीं है। मूलकार ने इस मत का कोई नाम नहीं बताया। निर्युक्तिकार तथा टीकाकार ने इस मत को 'तज्जीव-तच्छरीरवाद' कहा है। सूत्रकृतांग के दूसरे श्रुतस्कन्ध में इस वाद का अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है। शरीर से भिन्न आत्मा को मानने वालों का खण्डन करते हुए वादी कहता है—कुछ लोग कहते हैं कि शरीर अलग है और जीव अलग है। वे जीव का आकार, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श आदि कुछ भी

नहीं बता सकते । यदि जीव शरीर से पृथक् होता है, जिस प्रकार म्यान से तलवार, मूँज से सींक तथा मांस से अस्थि अलग करके बतलाई जा सकती है, उसी प्रकार आत्मा को भी शरीर से अलग करके बताया जाना चाहिए । जिस प्रकार हाथ में रहा हुआ आंवला अलग प्रतीत होता है तथा दही में से मक्खन, तिल में से तेल, ईख में से रस एवं अरणि में से आग निकाली जाती है, उसी प्रकार आत्मा भी शरीर से अलग प्रतीत होता, पर ऐसा होता नहीं । अत: शरीर और जीव को एक मानना चाहिए । तज्जीव-तच्छरीरवादी यह मानता है कि पाँच महाभूतों से चेतन का निर्माण होता है । अत: यह वाद भी चार्वाकवाद से मिलता-जुलता ही है । इस प्रकार के वाद का वर्णन प्राचीन उपनिषदों में भी उपलब्ध होता है ।

एकात्मकवाद की मान्यता

जिस प्रकार पृथ्वी-पिण्ड एक होने पर भी पर्वत, नगर, ग्राम, नदी एवं समुद्र आदि अनेक रूपों में प्रतीत होता है, इसी प्रकार यह समस्त लोक ज्ञान-पिण्ड के रूप में एक होने पर भी भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है । ज्ञान-पिण्ड स्वरूप सर्वत्र एक ही आत्मा है । वही मनुष्य, पशु-पक्षी आदि में परिलक्षित होता है । मूलकार ने इसका कोई नामोल्लेख नहीं किया । निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने इसे 'एकात्मवाद' कहा है । टीकाकार आचार्य शीलांक ने इसे 'एकात्म-अद्वैतवाद' कहा है ।

नियतिवाद

कुछ लोगों की यह मान्यता थी कि भिन्न-भिन्न जीव जो सुख और दु:ख का अनुभव करते है, यथाप्रसंग व्यक्तियों का जो उत्थान-पतन होता है, यह सब जीव के अपने पुरुषार्थ के कारण नहीं होता । इन सबका करने वाला जब जीव स्वयं नहीं है, तब दूसरा कौन हो सकता है ? इन सबका मूल कारण नियति है । जहां पर, जिस प्रकार तथा जैसा होने का भवितव्य होता आता है, वहाँ पर, उस प्रकार और वैसा ही होकर रहता है । उसमें व्यक्ति के पुरुषार्थ, काल अथवा कर्म आदि कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकते । जगत् में सब कुछ नियत है, अनियत कुछ भी नहीं है । सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में इस वाद के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा गया है—कुछ श्रमण तथा ब्राह्मण कहते हैं कि जो लोग क्रियावाद की स्थापना करते हैं और जो लोग अक्रियावाद की स्थापना करते हैं, वे दोनों ही अनियतवादी हैं । क्योंकि नियतिवाद के अनुसार क्रिया तथा अक्रिया दोनों का कारण नियति है । इस नियतिवाद के सम्बन्ध में मूलकार, निर्युक्तिकार तथा टीकाकार सभी एक मत हैं । वे तीनों इसे नियतिवाद कहते हैं । भगवान महावीर के युग में गोशालक का भी यही मत था जिसका उल्लेख भगवती सूत्र आदि अन्य आगमों में भी उपलब्ध होता है । निश्चय ही यह नियतिवाद गोशालक से भी पूर्व का रहा होगा । पर गोशालक ने इस सिद्धान्त को अपने मत का आधार बनाया था । सूत्रकृतांग सूत्र में इसी प्रकार के अन्य मत-मतान्तरों का भी उल्लेख है । जैसे क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद, अज्ञानवाद, वेदवाद, हिंसावाद, हस्तितापस-संवाद, आदि अनेक मतों का सूत्रकृतांग सूत्र में संक्षेप रूप में और कहीं पर विस्तार रूप में उल्लेख हुआ है । परन्तु निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने इसे विस्तार दिया तथा टीकाकार आचार्य शीलांक ने मत-मतान्तरों की मान्यताओं का नाम लेकर उल्लेख किया है । आचार्य शीलांक का यह प्रयास दार्शनिक क्षेत्र में बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है ।

आचारांग और सूत्रकृतांग

एकादश अंगों में आचारांग प्रथम अंग है जिसमें आचार का प्रधानता से वर्णन किया गया है । श्रमणाचार का यह मूलभूत आगम है । आचारांग सूत्र दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है—प्रथम श्रुतस्कन्ध तथा द्वितीय श्रुतस्कन्ध । निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ने आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को ब्रह्मचर्य अध्ययन कहा है । यहाँ ब्रह्मचर्य का अर्थ

संयम है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध को आचाराग्र कहा गया है। यह आचाराग्र पांच चूलाओं में विभक्त था। पांचवी चूला जिसका नाम आज निशीथ है तथा निर्युक्तिकार ने जिसे आचार-प्रकल्प कहा है, वह आचारांग से पृथक् हो गया। यह पृथक्करण कब हुआ, अभी इसकी पूरी खोज नहीं हो सकी है। आचारांग में अथ से इति तक आचार धर्म का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। जैन परम्परा का यह मूल-भूत आचार-शास्त्र है। दिगम्बर परम्परा का आचार्य वट्टकेरकृत 'मूलाचार' आचारांग के आधार पर ही निर्मित हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है।

सूत्रकृतांग सूत्र जो एकादश अंगों में द्वितीय अंग है, उसमें विचार की मुख्यता है। भगवान महावीरकालीन भारत के जो अन्य विभिन्न दार्शनिक मत थे उन सबके विचारों का खण्डन करके अपने सिद्धान्त पक्ष की स्थापना की है। सूत्रकृतांग जैन परम्परा में प्राचीन आगमों में एक महान् आगम है। इसमें नवदीक्षित श्रमणों को संयम में स्थिर रखने के लिये और उनके विचारपक्ष को शुद्ध करने के लिये जैन सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन है। आधुनिक काल के अध्येता को, जिसे अपने देश का प्राचीन बौद्धिक विचार-दर्शन जानने की उत्सुकता हो, जैन तथा अजैन दर्शन को समझने की दृष्टि हो, उसे इसमें बहुत कुछ उपलब्ध हो सकता है। प्रस्तुत आगम में जीव, अजीव, लोक, अलोक, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष का विस्तृत विवेचन हुआ है।

सूत्रकृतांग के भी दो श्रुतस्कन्ध हैं—दोनों में ही दार्शनिक विचार चर्चा है। प्राचीन ज्ञान के तत्त्वाभ्यासी के लिए सूत्रकृतांग में वर्णित अजैन सिद्धान्त भी रोचक तथा ज्ञानवर्द्धक सिद्ध होंगे। जिस प्रकार की चर्चा प्राचीन उपनिषदों में प्राप्त होती है, उसी प्रकार की विचारणा सूत्रकृतांग में उपलब्ध होती है। बौद्ध परम्परा के त्रिपिटक-साहित्य में इसकी तुलना ब्रह्मजाल सूत्र से की जा सकती है। ब्रह्मजाल सूत्र में भी बुद्धकालीन अन्य दार्शनिकों का पूर्वपक्ष के रूप में उल्लेख करके अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार की शैली जैन परम्परा के गणिपिटक में सूत्रकृतांग की रही है। भगवान् महावीर के पूर्व तथा भगवान महावीरकालीन भारत के सभी दर्शनों का विचार यदि एक ही आगम से जानना हो तो वह सूत्रकृतांग से ही हो सकता है। अतः जैन परम्परा में सूत्रकृतांग एक प्रकार से दार्शनिक विचारों का गणिपिटक है।

आगमों का व्याख्या साहित्य

मूल ग्रन्थ के रहस्योद्घाटन के लिये उसकी विविध व्याख्याओं का अध्ययन अनिवार्य नहीं तो भी आवश्यक तो है ही। जब तक किसी ग्रन्थ की प्रामाणिक व्याख्या का सूक्ष्म अवलोकन नहीं किया जाता तब तक उस ग्रन्थ में रही हुई अनेक महत्त्वपूर्ण बातें अज्ञात ही रह जाती हैं। यह सिद्धान्त जितना वर्तमान कालीन भौतिक ग्रन्थों पर लागू होता है उससे कई गुना अधिक प्राचीन भारतीय साहित्य पर लागू होता है। मूल ग्रन्थ के रहस्य का उद्घाटन करने के लिये उस पर व्याख्यात्मक साहित्य का निर्माण करना भारतीय ग्रन्थकारों की बहुत पुरानी परम्परा है। इस प्रकार के साहित्य से दो प्रयोजन सिद्ध होते हैं—व्याख्याकार को अपनी लेखनी से ग्रन्थकार के अपने अभीष्ट अर्थ का विश्लेषण करने में असीम आत्मोल्लास होता है तथा कहीं-कहीं उसे अपनी मान्यता प्रस्तुत करने का अवसर भी मिलता है। दूसरी ओर पाठक को ग्रन्थ के गूढ़ार्थ तक पहुँचने के लिये अनावश्यक श्रम नहीं करना पड़ता। इस प्रकार व्याख्याकार का परिश्रम स्व-पर उभय के लिये उपयोगी सिद्ध होता है। व्याख्याकार की आत्मतुष्टि के साथ जिज्ञासुओं की ज्ञान-पिपासा भी शान्त होती है। इसी पवित्र भावना से भारतीय व्याख्या-ग्रन्थों का निर्माण हुआ है। जैन व्याख्याकारों के हृदय भी इसी भावना से भावित रहे हैं।

प्राचीनतम जैन व्याख्यात्मक साहित्य में आगमिक व्याख्याओं का अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन व्याख्याओं को हम पाँच कोटियों में विभक्त करते हैं।—१. निर्युक्तियां (निज्जुत्ति), २. भाष्य (भास), ३. चूर्णियां (चुण्णि), ४. संस्कृत टीकाएँ और ५. लोक भाषाओं में रचित व्याख्याएँ (टब्बा)। आगमों के विषयों का संक्षेप में परिचय देने वाली

संग्रहणियां भी काफी प्राचीन हैं। पंचकल्प महाभाष्य के उल्लेखानुसार संग्रहणियों की रचना आर्य कालक ने की है। पाक्षिकसूत्र में भी निर्युक्ति एवं संग्रहणी का उल्लेख है।

निर्युक्तियां

निर्युक्तियां और भाष्य जैन आगमों की पद्यबद्ध टीकाएँ है। ये दोनों प्रकार की टीकाएँ प्राकृत में हैं। निर्युक्तियों में मूल ग्रन्थ के प्रत्येक पद का व्याख्यान न किया जाकर विशेष रूप से पारिभाषिक शब्दों का ही व्याख्यान किया गया है।

उपलब्ध निर्युक्तियों के कर्ता आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) ने निम्नोक्त आगम ग्रन्थों पर निर्युक्तियां लिखी हैं—१. आवश्यक, २. दशवैकालिक, ३. उत्तराध्ययन, ४. आचारांग, ५. सूत्रकृतांग, ६. दशाश्रुतस्कन्ध, ७. बृहत्कल्प, ८. व्यवहार, ९. सूर्यप्रज्ञप्ति, १०. ऋषिभाषित। इन दस निर्युक्तियों में से सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित की निर्युक्तियां अनुपलब्ध हैं। ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, पंचकल्पनिर्युक्ति और निशीथनिर्युक्ति क्रमशः आवश्यकनिर्युक्ति, दशवैकालिकनिर्युक्ति, बृहत्कल्पनिर्युक्ति और आचारांगनिर्युक्ति की पूरक हैं। संसक्तनिर्युक्ति बहुत बाद की किसी की रचना है। गोविन्दाचार्य रचित एक अन्य निर्युक्ति (गोविन्दनिर्युक्ति) अनुपलब्ध है।

निर्युक्तियों की व्याख्यान शैली निक्षेप-पद्धति के रूप में प्रसिद्ध है। यह व्याख्या-पद्धति बहुत प्राचीन है। इसका अनुयोगद्वार आदि में दर्शन होता है। इस पद्धति में किसी एक पद के संभावित अनेक अर्थ करने के बाद उनमें से अप्रस्तुत अर्थों का निषेध करके प्रस्तुत अर्थ ग्रहण किया जाता है। जैन न्यायशास्त्र में इस पद्धति का बहुत महत्त्व है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने निर्युक्ति का प्रयोजन बताते हुए इसी पद्धति को निर्युक्ति के लिये उपयुक्त बतलाया है। दूसरे शब्दों में निक्षेप पद्धति के आधार पर किये जाने वाले शब्दार्थ के निर्णय—निश्चय का नाम ही निर्युक्ति है। भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति (गा. ८८) में स्पष्ट कहा है कि "एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं किन्तु कौन-सा अर्थ किस प्रसंग के लिये उपयुक्त होता है, भगवान महावीर के उपदेश के समय कौनसा शब्द किस अर्थ से सम्बद्ध रहा है, आदि बातों को दृष्टि में रखते हुए सम्यक् रूप से अर्थ निर्णय करना और उस अर्थ का मूल-सूत्र के शब्दों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना—यही निर्युक्ति का प्रयोजन है।"

आचार्य भद्रबाहुकृत दस निर्युक्तियों का रचना-क्रम वही है जिस क्रम से ऊपर दस ग्रन्थों के नाम दिये गये हैं। आचार्य ने अपनी सर्वप्रथम कृति आवश्यकनिर्युक्ति (गा. ८५-६) में निर्युक्ति-रचना का संकल्प करते समय इसी क्रम से ग्रन्थों की नामावली दी है। निर्युक्तियों में उल्लिखित एक दूसरी निर्युक्ति के नाम आदि के अध्ययन से भी यही तथ्य प्रतिपादित होता है।

निर्युक्तिकार भद्रबाहु

निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु, छेदसूत्रकार, चतुर्दश-पूर्वधर आर्य भद्रबाहु से भिन्न हैं। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने अपनी दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति एवं पंचकल्पनिर्युक्ति के प्रारम्भ में एक छेदसूत्रकार भद्रबाहु को नमस्कार किया है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु प्रसिद्ध ज्योतिर्विद वराहमिहिर के सहोदर माने जाते हैं। ये अष्टांगनिमित्त तथा मंत्रविद्या में पारंगत नैमित्तिक भद्रबाहु के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। उपसर्गहरस्तोत्र और भद्रबाहुसंहिता भी इन्हीं की रचनाएँ हैं। वराहमिहिर वि. सं. ५३२ में विद्यमान थे, क्योंकि 'पंचसिद्धान्तिका' के अन्त में शक संवत् ४२७ अर्थात् वि. सं. ५६२ का उल्लेख है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु का भी लगभग यही समय है। अतः निर्युक्तियों का रचनाकाल वि. सं. ५००—६०० के बीच में मानना युक्ति-युक्त है।

सूतकृतांगनिर्युक्ति

इसमें आचार्य ने सूत्रकृतांग शब्द का विवेचन करते हुए गाथा, षोडश, पुरुष, विभक्ति, समाधि, मार्ग, ग्रहण, पुण्डरीक, आहार, प्रत्याख्यान, सूत्र, आर्द्र आदि पदों का निक्षेप पूर्वक व्याख्यान किया है। एक गाथा (११९) में

निम्नोक्त ३६३ मतान्तरों का उल्लेख किया है—१८० प्रकार के क्रियावादी, ८४ प्रकार के अक्रियावादी, ६७ प्रकार के अज्ञानवादी और ३२ प्रकार के वैनयिक।

जैन परम्परागत अनेक महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दों की सुस्पष्ट व्याख्या सर्व प्रथम आचार्य भद्रबाहु ने अपनी आगमिक निर्युक्तियों में की है। इस दृष्टि से निर्युक्तिकार आचार्य भद्रवाहु का जैन साहित्य के इतिहास में एक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। पीछे भाष्यकारों एवं टीकाकारों ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में उपर्युक्त निर्युक्तियों का आधार लेते हुए ही अपनी कृतियों का निर्माण किया है।

भाष्य

निर्युक्तियों का मुख्य प्रयोजन पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करना रहा है। पारिभाषिक शब्दों में छिपे हुए अर्थवाहुल्य को अभिव्यक्त करने का सर्वप्रथम श्रेय भाष्यकारों को है। निर्युक्तियों की भांति भाष्य भी पद्यबद्ध प्राकृत में हैं। कुछ भाष्य निर्युक्तियों पर हैं और कुछ केवल मूल सूत्रों पर। निम्नोक्त आगम ग्रन्थ पर भाष्य लिखे गये है—१—आवश्यक, २—दशवैकालिक, ३—उत्तराध्ययन, ४—बृहत्कल्प, ५—पंचकल्प, ६—व्यवहार ७—निशीथ, ८—जीतकल्प, ९—ओघनिर्युक्ति, १०—पिण्डनिर्युक्ति। आवश्यक सूत्र पर तीन भाष्य लिखे गये हैं। इनमें से 'विशेष आवश्यक भाष्य' आवश्यक सूत्र के प्रथम अध्ययन सामायिक पर है। इसमें ३६०३ गाथाएँ हैं। दशवैकालिक भाष्य में ६३ गाथाएँ हैं। उत्तराध्ययन भाष्य भी वहुत छोटा है। इसमें ४५ गाथाएँ हैं। बृहत्कल्प पर दो भाष्य हैं। इनमें से लघुभाष्य में ६४९० गाथाएँ हैं। पंचकल्पमहाभाष्य की गाथा संख्या २५७४ है। व्यवहार भाष्य में ४६२९ गाथाएँ हैं। निशीथ भाष्य में लगभग ६५०० गाथाएँ हैं। जीतकल्प भाष्य में २६०६ गाथाएँ हैं। ओघनिर्युक्ति पर दो भाष्य हैं। इनमें से लघुभाष्य में ३२२ तथा वृहद्भाष्य में २५१७ गाथाएँ हैं। पिण्डनिर्युक्ति भाष्य में केवल ४६ गाथाएँ हैं।

इस विशाल प्राकृत भाष्य साहित्य का जैन साहित्य में और विशेषकर आगमिक साहित्य में अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। पद्यवद्ध होने के कारण इसके महत्त्व में और भी वृद्धि हो जाती है।

भाष्यकार

भाष्यकार के रूप में दो आचार्य प्रसिद्ध हैं—जिनभद्रगणि और संघदासगणि। विशेषावश्यकभाष्य और जीतकल्पभाष्य आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की कृतियां हैं। बृहत्कल्प लघुभाष्य और पंचकल्प महाभाष्य संघदासगणि की रचनाएँ हैं। इन दो भाष्यकारों के अतिरिक्त अन्य किसी आगमिक भाष्यकार के नाम का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है। इतना निश्चित है कि इन दो भाष्यकारों के अतिरिक्त कम से कम दो भाष्यकार तो और हुए ही हैं। जिनमें से एक व्यवहारभाष्य आदि के प्रणेता एवं दूसरे बृहत्कल्पवृहद्भाष्य आदि के रचयिता हैं। विद्वानों के अनुमान के अनुसार बृहत्कल्पवृहदभाष्य के प्रणेता बृहत्कल्प-चूर्णिकार तथा विशेषकल्प-चूर्णिकार से भी पीछे हुए हैं। ये हरिभद्रसूरि के कुछ पूर्ववर्ती अथवा समकालीन हैं। व्यवहार भाष्य के प्रणेता विशेषावश्यक भाष्यकार आचार्य जिनभद्रसूरि के पूर्ववर्ती हैं। संघदासगणि भी आचार्य जिनभद्र के पूर्ववर्ती हैं।

चूर्णियां

जैन आगमों की प्राकृत अथवा संस्कृतमिश्रित प्राकृत व्याख्याएँ चूर्णियां कहलाती हैं। इस प्रकार की कुछ चूर्णियां आगमेतर साहित्य पर भी हैं। जैन आचार्यों ने निम्नोक्त आगमों पर चूर्णियां लिखी हैं—१—आचारांग, २—सूत्रकृतांग, ३—व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती), ४—जीवाभिगम, ५—निशीथ, ६—महानिशीथ, ७—व्यवहार, ८—दशाश्रुतस्कन्ध, ९—बृहत्कल्प १०—पंचकल्प, ११—ओघनिर्युक्ति, १२—जीतकल्प, १३—उत्तराध्ययन, १४—आवश्यक, १५—दशवैकालिक, १६—नन्दी, १७—अनुयोगद्वार, १८—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति। निशीथ और जीतकल्प पर दो-दो

चूर्णियां लिखी गई हैं। किन्तु वर्तमान में एक-एक ही उपलब्ध हैं। अनुयोगद्वार, वृहत्कल्प एवं दशवैकालिक पर भी दो-दो चूर्णियां हैं। जिनदासगणि महत्तर की मानी जाने वाली निम्नांकित चूर्णियों का रचनाक्रम इस प्रकार है—१. नन्दी चूर्णि, २. अनुयोगद्वार चूर्णि, ३. ओघनिर्युक्ति चूर्णि, ४. आवश्यक चूर्णि, ५. दशवैकालिक चूर्णि, ६. उत्तराध्ययन चूर्णि, ७. आचारांग चूर्णि, ८. सूत्रकृतांग चूर्णि और ९. व्याख्याप्रज्ञप्ति चूर्णि। नन्दी चूर्णि, अनुयोगद्वार चूर्णि, जिनदास कृत दशवैकालिक चूर्णि, उत्तराध्ययन चूर्णि, आचारांग चूर्णि, सूत्रकृतांग चूर्णि, निशीथ विशेष चूर्णि, दशाश्रुतस्कन्ध चूर्णि एवं वृहत्कल्प चूर्णि संस्कृत मिश्रित प्राकृत में हैं। आवश्यक चूर्णि, अगस्त्यसिह कृत दशवैकालिक चूर्णि एवं जीतकल्प चूर्णि (सिद्धसेन कृत) प्राकृत में हैं।

चूर्णिकार

चूर्णिकार के रूप में जिनदासगणि महत्तर का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। परम्परा से निम्न चूर्णियां जिनदास महत्तर की मानी जाती हैं—निशीथ विशेष चूर्णि, नन्दी चूर्णि, अनुयोगद्वार चूर्णि, आवश्यक चूर्णि, दशवैकालिक चूर्णि, उत्तराध्ययन चूर्णि, आचारांग चूर्णि, सूत्रकृतांग चूर्णि। उपलब्ध जीतकल्प चूर्णि के कर्ता सिद्धसेनसूरि हैं। वृहत्कल्प चूर्णि प्रलम्बसूरि की कृति है। अनुयोगद्वार की एक चूर्णि (अंगुल पद पर) के कर्ता भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण भी हैं। यह चूर्णि जिनदासगणिकृत अनुयोगद्वार चूर्णि में अक्षरशः उद्धृत है। दशवैकालिक पर अगस्त्यसिंह ने भी एक चूर्णि लिखी है। इसके अतिरिक्त अन्य चूर्णिकारों के नाम अज्ञात हैं।

प्रसिद्ध चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर के धर्मगुरु का नाम उत्तराध्ययन चूर्णि के अनुसार वाणिज्यकुलीन कोटिकगणीय, वज्रशाखीय गोपालगणि महत्तर है तथा विद्यागुरु का नाम निशीथ विशेष चूर्णि के अनुसार प्रद्युम्न क्षमाश्रमण है। जिनदास का समय भाष्यकार आचार्य जिनभद्र और टीकाकार आचार्य हरिभद्र के बीच में है। इसका प्रमाण यह है कि आचार्य जिनभद्रकृत विशेष आवश्यक भाष्य की गाथाओं का प्रयोग इनकी चूर्णियों में दृष्टिगोचर होता है तथा इनकी चूर्णियों का पूरा उपयोग आचार्य हरिभद्र की टीकाओं में हुआ दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर का समय वि. सं. ६५०-७५० के आसपास मानना चाहिए। क्योंकि इनके पूर्ववर्ती आचार्य जिनभद्र वि० सं० ६५०-६६० के आसपास तथा इनके उत्तरवर्ती आचार्य हरिभद्र वि० सं० ७५७-८२७ के आसपास विद्यमान थे। नन्दी चूर्णि के अन्त में उसका रचनाकाल शक संवत् ५१८ उल्लिखित है। इस प्रकार इस उल्लेख के अनुसार भी जिनदास का समय विक्रम की आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध निश्चित है।

जीतकल्प चूर्णि के कर्ता सिद्धसेनसूरि प्रसिद्ध सिद्धसेन दिवाकर से भिन्न हैं। इसका कारण यह है कि सिद्धसेन दिवाकर जीतकल्प सूत्र के प्रणेता आचार्य जिनभद्र के पूर्ववर्ती हैं। जबकि चूर्णिकार सिद्धसेनसूरि आचार्य जिनभद्र के पश्चात्वर्ती हैं। इनका समय वि० सं० १२२७ के पूर्व है, पश्चात् नहीं, क्योंकि प्रस्तुत जीतकल्प चूर्णि की एक टीका, जिसका नाम विषमपद व्याख्या है, श्रीचन्द्रसूरि ने वि० सं० १२२७ में पूर्ण की थी। प्रस्तुत सिद्धसेन संभवतः उपकेशगच्छीय देवगुप्तसूरि के शिष्य एवं यशोदेवसूरि के गुरु भाई हैं।

सूत्रकृतांग चूर्णि

आचारांग चूर्णि और सूत्रकृतांग चूर्णि की शैली में अत्यधिक साम्य है। इनमें संस्कृत का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक है। विषय विवेचन संक्षिप्त एवं अस्पष्ट है। सूत्रकृतांग की चूर्णि भी आचारांग आदि की चूर्णि की ही भाँति निर्युक्त्यनुसारी है।

टीकाएँ और टीकाकार

जैन आगमों की संस्कृत व्याख्याओं का भी आगमिक साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत के प्रभाव की विशेष वृद्धि होते देख जैन आचार्यों ने भी अपने प्राचीनतम साहित्य आगम ग्रन्थों पर संस्कृत में टीकाएँ लिखना प्रारम्भ किया। इन टीकाओं में प्राचीन निर्युक्तियों, भाष्यों एवं चूर्णियों की सामग्री का तो उपयोग हुआ ही, साथ ही साथ टीकाकारों ने नये-नये हेतुओं एवं तर्कों द्वारा उस सामग्री को पुष्ट भी किया। आगमिक साहित्य पर प्राचीनतम संस्कृत टीका आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण कृत विशेषावश्यक भाष्य की स्वोपज्ञवृत्ति है। यह वृत्ति आचार्य जिनभद्रगणि अपने जीवन काल में पूर्ण न कर सके। इस अपूर्ण कार्य को कोट्यार्य ने (जो कि कोट्याचार्य से भिन्न हैं) पूर्ण किया। इस दृष्टि से आचार्य जिनभद्र प्राचीनतम आगमिक टीकाकार हैं। भाष्य, चूर्णि और टीका तीनों प्रकार के व्याख्यात्मक साहित्य में इनका योगदान है। भाष्यकार के रूप में तो इनकी प्रसिद्धि है ही। अनुयोगद्वार के अंगुल पद पर इनकी एक चूर्णि भी है। टीका के रूप में इनकी लिखी हुई विशेषावश्यक भाष्य स्वोपज्ञवृत्ति है ही। टीकाकारों में हरिभद्रसूरि, शीलांकसूरि, अभयदेवसूरि, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र आदि विशेष प्रसिद्ध हैं।

शीलांकाचार्यकृत टीकाएँ

आचार्य शीलांक के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने प्रथम नौ अंगों पर टीकाएँ लिखी थीं। वर्तमान में इनकी केवल दो टीकाएँ उपलब्ध हैं। आचारांग विवरण और सूत्रकृतांग विवरण। इन्होंने व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) आदि पर भी टीकाएँ लिखी अवश्य होंगी, जैसा कि अभयदेवसूरि कृत व्याख्याप्रज्ञप्ति टीका से फलित होता है। आचार्य शीलांक, जिन्हें शीलाचार्य एवं तत्वादित्य भी कहा जाता है, विक्रम की नवीं दसवीं शती में विद्यमान थे।

आचारांग विवरण

यह विवरण आचारांग के मूलपाठ एवं उसकी निर्युक्ति पर है। विवरण शब्दार्थ तक ही सीमित नहीं है। इसमें प्रत्येक सम्बद्ध विषय का सुविस्तृत व्याख्यान है। यत्र-तत्र प्राकृत एवं संस्कृत उद्धरण भी हैं। प्रारम्भ में आचार्य ने गंधहस्तिकृत शस्त्रपरिज्ञा-विवरण का उल्लेख किया है एवं उसे कठिन बताते हुए आचारांग पर सुबोध विवरण लिखने का प्रयत्न किया है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के षष्ठ अध्ययन की व्याख्या के अन्त में विवरणकार ने बताया है कि महापरिज्ञा नामक सप्तम अध्ययन का व्यवच्छेद हो जाने के कारण उसका अतिलंघन करके अष्टम अध्ययन का व्याख्यान प्रारम्भ किया जाता है। अष्टम अध्ययन के षष्ठ उद्देशक के विवरण में ग्राम, नकर (नगर), खेट, कर्वट, मडम्ब, पत्तन, द्रोण, आकर, आश्रम, सन्निवेश, निगम, राजधानी आदि का स्वरूप बताया गया है। फानन द्वीप आदि को जलपत्तन एवं मुख मथुरा आदि को स्थलपत्तन कहा गया है। मरुकच्छ, ताम्रलिप्ति, आदि द्रोणमुख अर्थात् जल एवं स्थल के आगमन के केन्द्र हैं। प्रस्तुत विवरण निवृत्तिकुलीन शीलाचार्य ने गुप्त संवत् ७७२ की भाद्रपद शुक्ला पंचमी के दिन वाहरिसाधु की सहायता से गभूंता में पूर्ण किया। विवरण का ग्रन्थमान १२००० श्लोक प्रमाण है।

सूत्रकृतांग विवरण

यह विवरण सूत्रकृतांग के मूलपाठ एवं उसकी निर्युक्ति पर है। विवरण सुबोध है। दार्शनिक दृष्टि की प्रमुखता होते हुए भी विवेचन में क्लिष्टता नहीं आने पाई है। यत्र-तत्र पाठान्तर भी उद्धृत किये गये हैं। विवरण में अनेक श्लोक एवं गाथाएं उद्धृत की गई हैं किन्तु कहीं पर भी किसी ग्रन्थ अथवा ग्रन्थकार के नाम का कोई उल्लेख नहीं है। प्रस्तुत टीका का ग्रन्थमान १२८५० श्लोक प्रमाण है। यह टीका टीकाचार्य ने वाहरिगणि की सहायता से पूरी की है।

प्रस्तुत संस्करण एवं सम्पादन

सूत्रकृतांग सूत्र, जिसमें कि भगवान महावीर की दार्शनिक विचारधारा उपनिबद्ध है, जैन आगमों में इसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है तथा भारतीय दर्शनों में भी इसका महान् गौरव रहा है। प्राचीन भारतीय-दर्शन की एक भी धारा उस प्रकार की नहीं रही जिसका उल्लेख सूत्रकृतांग सूत्र में न हुआ हो। यह बात अवश्य रही है कि कहीं-कहीं पर संकेत मात्र कर दिया है और कहीं-कहीं नाम लेकर स्पष्ट उल्लेख किया गया है। उपनिषत्कालीन तत्त्ववाद का, वेदान्त और प्राचीन सांख्य-दर्शन, क्षणिकवादी बौद्धों का क्षणिकवाद तथा पंचभूतवादियों का भूतवाद इन सभी का समावेश सूत्रकृतांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में हो गया है। प्रस्तुत शास्त्र के व्याख्याकार निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने तथा चूर्णिकार ने अपनी चूर्णि में कुछ गम्भीर स्थलों की सुन्दर व्याख्या की है। लेकिन संस्कृत टीकाकार आचार्य शीलांक ने इस सूत्र की अपनी संस्कृत टीका में भारतीय दार्शनिक विचारधारा का विस्तार के साथ वर्णन किया है। जो विचार बीज रूप में उपलब्ध थे उनका एक विशाल वृक्ष उन्होंने अपनी टीका में रूपायित किया है। मैंने अपनी भूमिका के प्रारम्भ में ही भारतीय-दर्शन की विभिन्न मान्यताओं का संक्षेप में स्पष्ट वर्णन कर दिया है, इस भूमिका के आधार पर पाठक इस शास्त्र के गम्भीर भावों को आसानी से समझ सकेंगे।

स्व० पूज्य जवाहरलाल जी म० की देख-रेख में सूत्रकृतांग सूत्र का चार भागों में सम्पादन हुआ है जो अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण एवं सुन्दर सम्पादन है। पूज्य घासीलाल जी म० ने भी सूत्रकृतांग सूत्र की संस्कृत टीका बहुत ही विस्तार से प्रस्तुत की है, जिसमें उसका हिन्दी अर्थ तथा गुजराती अर्थ भी उपनिबद्ध कर दिया गया है।

परन्तु श्रमण संघ के युवाचार्य प्रकाण्ड पंडित श्रद्धेय मधुकर जी म० के सान्निध्य में सूत्रकृतांग का जो सुन्दर लेखन-सम्पादन हुआ है उसकी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। प्रस्तुत पुस्तक में मूल पाठ, उसका भावार्थ फिर उसका विवेचन और साथ में विभिन्न ग्रन्थों से टिप्पण दे दिये हैं जिससे इसकी उपयोगिता बहुत बढ़ गई है। यद्यपि सामान्य पाठक के लिये टिप्पणों का विशेष मूल्य नहीं है, वह प्रायः टिप्पण देखता भी नहीं परन्तु विद्वान अध्येताओं के लिए टिप्पण बहुत ही उपयोगी हैं। इस संस्करण के सम्पादन की बहुश्रुतता तब अभिव्यक्त हो जाती है जब सामान्य पाठक भी संस्कृत प्राकृत टिप्पणों का हिन्दी भावार्थ समझ लेता है, यह कार्य श्रम-साध्य है, पर उपयोगिता की दृष्टि से बहुत अच्छा रहा। पंडितरत्न श्री मधुकर जी म० संस्कृत, प्राकृत, पाली और अपभ्रंश भाषा के प्रौढ़ विद्वान हैं। उनकी व्यापक शास्त्रीय दृष्टि तथा निर्देशन-कुशलता इस शास्त्र के प्रत्येक पृष्ठ पर अभिव्यक्त हो रही है। उनकी इस सफलता के लिये मैं धन्यवाद देता हूँ तथा आशा करता हूँ कि भविष्य में अन्य आगमों का भी इसी प्रकार सम्पादन कार्य चालू रखेंगे। उनकी यह श्रुत-सेवा जैन इतिहास में अजर-अमर होकर रहेगी।

संस्कृत और प्राकृत के विश्रुत विद्वान श्रीचन्द्र जी सुराना ने प्रस्तुत शास्त्र का जिस योग्यता के साथ अनुवाद, विवेचन एवं सम्पादन किया है वह अत्यन्त स्तुत्य है। विभिन्न ग्रन्थों का लेखन, सम्पादन और प्रकाशन वे वर्षों से करते चले आ रहे हैं। उन्होंने श्रुत देवता की अपनी लेखनी से जो सेवा की है, समाज उसे कभी भुला नहीं सकेगा। उन्होंने पहले आचारांग सूत्र जैसे गहन व महत्त्वपूर्ण सूत्र का सम्पादन विवेचन किया है और अब सूत्रकृतांग का। सूत्रकृतांग सूत्र जैसे दार्शनिक आगम की व्याख्या एवं सम्पादन करना साधारण बात नहीं है। वे अपने इस कार्य में पूर्णतः सफल हुए हैं। समाज आशा कर सकता है कि वे भविष्य में इसी प्रकार की श्रुत साधना करते रहेंगे।

—विजय मुनि शास्त्री

'जैन भवन'
लोहामण्डी, आगरा

सूत्रकृताङ्ग सूत्र प्रथम श्रुतस्कन्ध : प्रथम संस्करण के अर्थ सहयोगी

आदर्श श्रावक श्रीमान् गुमानमल जी सा. चोरडिया

(प्रथम संस्करण से)

भगवान महावीर ने श्रावक के आदर्श जीवन की ओर इंगित करके एक वचन कहा है—**गिहिवासे वि सुव्वया**—वे गृहस्थावास में रहते हुए भी व्रतों की सम्यग् आराधना करते हैं।

श्रीमान् गुमानमल जी सा० चोरडिया— स्थानकवासी जैन समाज में एक आदर्श सद्गृहस्थ के प्रतीक रूप हैं। प्रकृति से अतिभद्र, सरल, छोटे-बड़े सभी के समक्ष विनम्र, किन्तु स्पष्ट और सत्यवक्ता, अपने नियम व मर्यादाओं के प्रति दृढ़निष्ठा सम्पन्न, गुरुजनों के प्रति विवेकवती आस्था से युक्त, सेवा कार्यों में स्वयं अग्रणी तथा प्रेरणा के दूत रूप में सर्वत्र विश्रुत हैं।

आपने बहुत वर्ष पूर्व श्रावक व्रत धारण किये थे। अन्य अनेक प्रकार की मर्यादाएँ भी की थीं, आज इस वृद्ध अवस्था तथा शारीरिक अस्वस्थता के समय भी आप उन पर पूर्ण दृढ़ हैं। इच्छा-परिमाण व्रत पर तो आपकी दृढ़ता तथा कार्यविधि सबके लिए ही प्रेरणाप्रद है। अपनी की हुई मर्यादा से अधिक जो भी वार्षिक आमदनी होती है वह सब तुरन्त ही शुभ कार्यों में—जैसे जीवदया, असहाय-सहायता, बुक बैंक, गरीब व रुग्णजन सेवा तथा साहित्य-प्रसार में वितरित कर देते हैं। राजस्थान तथा मद्रास में आपकी दानशीलता से अनेक संस्थाएँ लाभान्वित हो रही हैं।

आप स्था० जैन समाज के अग्रगण्य धर्मनिष्ठ श्रेष्ठी श्री मोहनमल जी सा० चोरड़िया के अत्यन्त विश्वास-पात्र, सुदक्ष तथा प्रधान मुनीम रहे। सेठ साहब प्रायः हर एक कार्य में आपकी सलाह लेते हैं। मद्रास में आपका अपना निजी व्यवसाय भी है। प्रायः सभी सामाजिक-धार्मिक कार्यों में आपका सहयोग वांछित रहता है।

आपकी जन्मभूमि—नोखा (चान्दावतों का) है, आपके स्व० पिता श्रीमान् राजमलजी चोरडिया भी धार्मिक वृत्ति के थे। आपके पाँच सहोदर अनुजभ्राता हैं—श्री मांगीलालजी, चम्पालालजी, दीपचन्दजी, चन्दनमलजी तथा फूलचन्दजी। सभी का व्यवसाय मद्रास में चल रहा है। तथा आप एवं सभी बंधु स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव स्वामी श्री हजारीलाल म० के प्रति अनन्य श्रद्धा-भक्ति रखते हैं स्वामी श्री ब्रजलाल जी म० सा० एवं युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी म० के प्रति आप सब की गहरी श्रद्धा है। युवाचार्य श्री के निदेशन में चलने वाले विविध धार्मिक एवं सांस्कृतिक उपक्रमों में आप समय-समय पर तन-मन-धन से सहयोग करते रहे हैं; कर रहे हैं।

आगमों के प्रति आपकी गहरी निष्ठा है। प्रारम्भ से ही आप आगम-साहित्य के प्रचार-प्रसार हेतु उत्साहवर्धक प्रेरणाएँ देते रहे हैं। जब युवाचार्य श्री के निदेशन में आगमों के हिन्दी अनुवाद एवं विवेचन प्रकाशित करने की योजना बनी तो, आपश्री ने स्वतः की प्रेरणा से ही एक बड़ी धनराशि देने की उत्साहपूर्ण घोषणा की, साथ ही अन्य मित्रों एवं स्वजन-स्नेहियों को प्रेरणा भी दी। आपकी सहयोगात्मक भावना तथा उदारता हम सबके लिये प्रेरणा प्रदीप का काम कर रही है।

प्रस्तुत आगम के प्रकाशन का व्यय-भार आपने वहन किया है। हम शासनदेव से प्रार्थना करते हैं कि ऐसे समाजरत्न आदर्श श्रावक चिरकाल तक जिनशासन की सेवा करते हुए हमारा मार्गदर्शन एवं उत्साह संवर्धन करते रहें।

श्री चोरड़िया जी ने अपनी स्वर्गीया धर्मपत्नी श्रीमती आशादेवी की स्मृति में यह आगम प्रकाशित करवाया है।

—मंत्री

सूत्रकृताङ्ग सूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध : प्रथम संस्करण के अर्थ सहयोगी

श्रीमान् सेठ कंवरलालजी बेताला

(प्रथम संस्करण से)

श्री आगम-प्रकाशन-समिति के विशिष्ट सहयोगी एवं आगम प्रकाशन के कार्य की नींव रखने वालों में प्रमुख, धर्मप्रेमी, उदारहृदय एवं सरल स्वभावी श्रीमान् कंवरलालजी सा. वेताला मूलतः डेह एवं नागौर निवासी हैं। आप श्रीमान् पूनमचन्दजी वेताला के सुपुत्र हैं। आपकी मातुश्री का नाम राजीवाई है। आप पांच भाई हैं जिनमें आपका चौथा स्थान है। सभी भाई अच्छे व्यवसायी हैं।

आपका जन्म वि. सं. १९८० में डेह में हुआ। वहीं प्रारम्भिक अध्ययन हुआ। आप वारह वर्ष की अल्पायु में ही अपने पिताजी के साथ आसाम चले गये थे। वहाँ व्यवसाय में लग गये और अपनी सहज प्रतिभा से निरन्तर प्रगति कर आगे से आगे वढ़ते गये। आज गौहाटी में आपका विस्तृत फाइनेन्स का व्यवसाय है। आप साहसी व्यवसायी हैं। हमेशा दूरन्देशी से कार्य करते हैं। फलस्वरूप आपको हमेशा सफलता मिली है। आप अपने श्रम से उपार्जित धन का खुले दिल से सामाजिक संस्थाओं के लिये एवं धार्मिक कार्यों में उपयोग करते हैं। मुक्तहस्त से दान देते हैं।

आप सन्तों की अत्यन्त भक्तिभाव से सेवा करते हैं। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती विदामवाई भी उदारमना महिला हैं। वे भी सन्त-सतियों के प्रति श्रद्धावान हैं व उनकी विश्वासभाजन हैं। दोनों श्रद्धालु एवं धर्मपरायण हैं।

स्व. स्वामीजी श्री रावतमलजी महाराज सा. के श्रद्धालु श्रावकों में आप प्रमुख रहे हैं। उसी तरह शासनसेवी श्री व्रजलालजी महाराज एवं युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी म. सा. के भी आप परम भक्त हैं।

आप अपनी जन्मभूमि की अनेक संस्थाओं के लिये व अन्य सेवा-कार्यों में अपने धन का सदुपयोग करते रहते हैं।

श्री स्थानकवासी जैन संघ गौहाटी के आप अध्यक्ष हैं। भारत जैन महामंडल के संरक्षक एवं आसाम प्रान्त के संयोजक हैं। मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन के अध्यक्ष रह चुके हैं। श्री आगम-प्रकाशन-समिति के आप उपाध्यक्ष हैं।

आपके सुपुत्र श्री धर्मचन्दजी भी वड़े उत्साही व धार्मिक रुचि के युवक हैं। आपके दो पुत्रियाँ श्रीमती कान्ता एवं मान्ता तथा पौत्र महेश व मुकेश भी अच्छे संस्कारशील हैं।

आपका वर्तमान पता है:—
ज्ञानचन्द धर्मचन्द वेताला
ए. टी. रोड, गौहाटी (आसाम)।

आपने इस सूत्र के प्रकाशन में विशिष्ट अर्थ सहयोग प्रदान कर हमें उत्साहित किया है। आशा है भविष्य में भी समिति को आपकी ओर से इसी प्रकार सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

—मंत्री

विषय-सूची

[प्रथम श्रुतस्कन्ध : अध्ययन १ से १६ तक]

सूत्रांक पृष्ठ

१· समय—प्रथम अध्ययन : पृष्ठ १ से १०८

सूत्रकृतांग सूत्र : परिचय ३-५
प्रथम अध्ययन : परिचय-प्राथमिक ५-६
प्रथम उद्देशक ७ से ४२
१-६ बन्ध-मोक्ष-स्वरूप ७
७-८ पंचमहाभूतवाद २०
९-१० एकात्मवाद २३
११-१२ तज्जीव-तच्छरीरवाद २५
१३-१४ अकारकवाद २८
१५-१६ आत्मषष्ठवाद ३२
१७-१८ क्षणिकवाद : दो रूपों में ३५
१९-२० सांख्यादिमत-निस्सारता एवं फलश्रुति ३८
द्वितीय उद्देशक ४३ से ६२
२८-३२ नियतिवाद स्वरूप ४३
३३-५० अज्ञानवाद स्वरूप ४८
५१-५६ कर्मोपचय निषेधवाद : क्रियावादी दर्शन ५५
५७-५९ परवादि-निरसन ६१
तृतीय उद्देशक ६३ से ८४
६०-६३ आधाकर्म दोष ६३
६४-६९ जगत् कर्तृत्ववाद ६६
७०-७१ अवतारवाद ७७
७२-९५ स्व-स्व प्रवाद प्रशंसा एवं सिद्धि का दावा ८०
चतुर्थ उद्देशक ८५ से १०८
७६-७९ मुनि धर्मोपदेश ८५
८०-८३ लोकवाद-समीक्षा ९१
८४-८५ अहिंसा धर्म निरूपण ९८
८६-८८ चारित्रशुद्धि के लिए उपदेश १०२

सूत्रांक		पृष्ठ
	वैतालीय : द्वितीय अध्ययन : पृष्ठ १०९ से १७९	
	प्राथमिक—परिचय	१०९-११०
प्रथम उद्देशक		**१११ से १३१**
८९-९२	भगवान् ऋषभदेव द्वारा अठानवें पुत्रों को सम्बोध	१११
९३-९४	अनित्यभाव दर्शन	११५
९५-९६	कर्म-विपाक दर्शन	११७
९७	मायाचार का कटुफल	११९
९८-१००	पाप-विरति उपदेश	१२०
१०१-१०३	परीषह-सहन उपदेश	१२२
१०४-१०८	अनुकूल-परीषह विजयोपदेश	१२५
१०९-११०	कर्म-विदारक वीरों को उपदेश	१२९
द्वितीय उद्देशक		**१३१ से १५५**
१११-११३	मद-त्याग उपदेश	१३१
११४-११८	समता धर्म-उपदेश	१३५
११९-१२०	परिग्रह-त्याग-प्रेरणा	१३६
१२१	अति-परिचय त्याग-उपदेश	१३८
१२२-१२८	एकलविहारी मुनिचर्या	१४०
१२९	अधिकरण विवर्जना	१४५
१३०-१३२	सामायिक साधक का आचार	१४६
१३३-१४२	अनुत्तर धर्म और उसकी आराधना	१४९
तृतीय उद्देशक		**१५५ से १७९**
१४३	संयम से अज्ञानोपचित कर्मनाश और मोक्ष	१५५
१४४-१५०	कामसक्ति त्याग का उपदेश	१५७
१५१-१५२	आरम्भ एवं पाप में आसक्त प्राणियों की गति एवं मनोदशा	१६३
१५३-१५४	सम्यग् दर्शन में साधक-बाधक तत्त्व	१६५
१५५	सुव्रती समत्वदर्शी-गृहस्थ देवलोक में	१६९
१५६-१५७	मोक्षयात्री भिक्षु का आचरण	१६९
१५८-१६०	अशरण भावना	१७२
१६१	वोधिदुर्लभता की चेतावनी	१७६
१६२-१६३	भिक्षुओं के मोक्ष-साधक गुणों में ऐकमत्य	१७७
१६४	उपसंहार	१७८
	उपसर्ग परिज्ञा : तृतीय अध्ययन : पृष्ठ १८० से २४६	
	प्राथमिक—परिचय	१८०-१८२
प्रथम उद्देशक		**१८३ से १९५**
१६५-१६७	प्रतिकूल उपसर्ग विजय	१८३

सूत्रांक		पृष्ठ
१६८-१६९	शीतोष्ण-परीषहरूप उपसर्ग के समय मन्द साधक की दशा	१८५
१७०-१७१	याचना : आक्रोश परीषह-उपसर्ग	१८६
१७२	वध-परीषह रूप उपसर्ग	१८९
१७३-१७५	आक्रोश परीषह के रूप में उपसर्ग	१९०
१७६	दंश-मशक और तृणस्पर्श परीषह के रूप में उपसर्ग	१९१
१७७	केशलोच और ब्रह्मचर्य के रूप में उपसर्ग	१९२
१७८-१८०	वध-बन्ध परीषह के रूप में उपसर्ग	१९३
१८१	उपसर्गों से आहत कायर साधकों का पलायन	१९५
द्वितीय उद्देशक		**१९६ से २०६**
१८२	अनुकूल उपसर्ग सूक्ष्म संग रूप एवं दुस्तर	१९६
१८३-१९५	स्वजन संगरूप उपसर्ग : विविध रूपों में	१९७
१९६-२०३	भोग निमंत्रण रूप उपसर्ग : विविध रूप में	२०२
तृतीय उद्देशक		**२०७ से २२३**
२०४-२०९	आत्म-संवेदनरूप उपसर्ग : अध्यात्म विषाद के रूप में	२०७
२०८-२१०	आत्म-संवेदनरूप उपसर्ग विजय साधक	२०९
२११-२१३	उपसर्ग : परवादिकृत आक्षेप के रूप में	२११
२१४-२२३	परवादिकृत आक्षेप निवारण : कौन क्यों और कैसे करें	२१४
२२४	उपसर्ग-विजय का निर्देश	२२३
चतुर्थ उद्देशक		**२२४ से २४६**
२२५-२२९	महापुरुषों की दुहाई देकर संयम भ्रष्ट करने वाले उपसर्ग	२२४
२३०-२३२	सुख से ही सुख प्राप्ति : मिथ्या मान्यता रूप उपसर्ग	२२८
२३३-२३७	अनुकूल कुतर्क से वासना तृप्ति रूप सुखकर उपसर्ग	२३४
२३८-२३९	कौन पश्चात्ताप करता है कौन नहीं ?	२३८
२४०-२४१	नारी संयोग रूप उपसर्ग : दुष्कर, दुस्तर एवं सुतर	२३९
२४२-२४६	उपसर्ग विजेता साधु : कौन और कैसे ?	२४१
	स्त्री परिज्ञा : चतुर्थ अध्ययन : पृष्ठ २४७ से २८५	
	प्राथमिक-परिचय	२४७-२४९
प्रथम उद्देशक		**२५० से २७२**
२४७-२७७	स्त्री-संगरूप उपसर्ग : विविध रूप सावधानी की प्रेरणाएं	२५०
द्वितीय उद्देशक		**२७२ से २८५**
२७८-२९५	स्त्री-संग से भ्रष्ट साधकों की विडम्बना	२७२
२९६-२९९	उपसंहार	२८१

नरक विभक्ति : पंचम अध्ययन : पृष्ठ २८६ से ३१४

सूत्रांक		पृष्ठ
	प्राथमिक-परिचय	२८६-२८८
प्रथम उद्देशक		२८९ से ३०२
३००-३०४	नरक जिज्ञासा और संक्षिप्त समाधान	२८९
३०५-३२४	नारकों को भयंकर वेदनाएँ	२९२
३२५-३२६	नरक में नारक क्या खोते, क्या पाते ?	३०१
द्वितीय उद्देशक		३०२ से ३१४
३२७-३४७	तीव्र वेदनाएँ और नारकों के मन पर प्रतिक्रिया	३०२
३४८-३५१	नरक में सतत दुःख प्राप्त और उससे बचने के उपाय	३१०

महावीर स्तव (वीर स्तुति) : छठा अध्ययन : पृष्ठ ३१५ से ३२८

	प्राथमिक	३१५-३१७
३५२-३५३	भगवान् महावीर के सम्बन्ध में जिज्ञासा	३१८
३५४-३६०	अनेक गुणों से विभूषित भगवान् महावीर की महिमा	३१९
३६१-३६५	पर्वतश्रेष्ठ सुमेरु के समान गुणों में सर्वश्रेष्ठ महावीर	३२२
३६६-३७५	विविध उपमाओं से भगवान् की श्रेष्ठता	३२३
३७६-३७९	भगवान् महावीर की विशिष्ट उपलब्धियाँ	३२६
३८०	फलश्रुति	३२८

कुशील परिभाषित : सप्तम अध्ययन : पृष्ठ ३२९ से ३४२

	प्राथमिक	३२९-३३०
३८१-३८४	कुशीलकृत जीवहिंसा और उसके दुष्परिणाम	३३१
३८५-३८९	कुशीलों द्वारा स्थावर जीवों की हिंसा के विविध रूप	३३३
३९०-३९१	कुशील द्वारा हिंसाचरण का कटुविपाक	३३४
३९२-४००	मोक्षवादी कुशीलों के मत और उनका खण्डन	३३५
४०१-४०६	कुशील साधक की आचारभ्रष्टता	३३९
४०७-४१०	सुशील साधक के लिए आचार-विचार के विवेक सूत्र	३४१

वीर्य : अष्टम अध्ययन : पृष्ठ ३४३ से ३५६

	प्राथमिक	३४३-३४४
४११-४१३	वीर्य का स्वरूप और प्रकार	३४५
४१४-४१९	बालजनों का सकर्म वीर्य : परिचय और परिणाम	३४६
४२०-४३१	पण्डित (अकर्म) वीर्य : साधना के प्रेरणा सूत्र	३४८
४३२-४३४	अशुद्ध और शुद्ध पराक्रम ही बालवीर्य और पण्डितवीर्य	३५२
४३५-४३६	पण्डित वीर्य : साधना का आदर्श	३५४

धर्म : नवम अध्ययन : पृष्ठ ३५७ से ३७३

सूत्रांक		पृष्ठ
	प्राथमिक	३५७-३५८
४३७-४४३	जिनोक्त श्रमण धर्माचरण : क्यों और कैसे ?	३५९
४४४-४४६	मूलगुणगत दोष त्याग का उपदेश	३६१
४४७-४६०	उत्तरगुण-गत दोष त्याग का उपदेश	३६२
४६१-४६३	साधुधर्म के भाषाविवेक सूत्र	३६७
४६४-४७२	लोकोत्तर धर्म के कतिपय आचार सूत्र	३६९

समाधि : दशम अध्ययन : पृष्ठ ३७४ से ३८४

	प्राथमिक	३७४-३७५
४७३-४८७	समाधि प्राप्त साधु की साधना के मूलमंत्र	३७६
४८८-४९१	भाव समाधि से दूर लोगों के विविध चित्र	३८१
४९२-४९६	समाधि प्राप्ति के प्रेरणा सूत्र	३८२

मार्ग : एकादश अध्ययन : पृष्ठ ३८५ से ३९८

	प्राथमिक	३८५-३८६
४९७-५०२	मार्ग सम्वन्धी जिज्ञासा, महत्त्व और समाधान	३८७
५०३-५०८	अहिंसा मार्ग	३८८
५०९-५११	एषणा समिति मार्ग-विवेक	३८९
५१२-५१७	भाषा समिति मार्ग-विवेक	३९१
५१८	निर्वाण मार्ग : माहात्म्य एवं उपदेष्टा	३९४
५१९-५२०	धर्मद्वीप	३९४
५२१-५२७	अन्यतीर्थिक समाधि रूप भावमार्ग से दूर	३९५
५२८-५३४	भावमार्ग की साधना	३९७

समवसरण : द्वादश अध्ययन : पृष्ठ ३९९ से ४१४

	प्राथमिक	३९९-४००
५३५	चार समवसरण : परतीर्थिक मान्य चार धर्मवाद	४०१
५३६	एकान्त अज्ञानवाद समीक्षा	४०१
५३७-५३८	एकान्त विनयवाद की समीक्षा	४०४
५३९-५४४	विविध एकान्त अक्रियावादियों की समीक्षा	४०५
५४५-५४८	एकान्त क्रियावाद और सम्यक् क्रियावाद एवं उसके प्ररूपक	४०९
५४९-५५१	सम्यक् क्रियावाद और क्रियावादियों के नेता	४११
५५२-५५६	सम्यक् क्रियावाद का प्रतिपादक और अनुगामी	४१२

यथातथ्य : त्रयोदश अध्ययन : पृष्ठ ४१४ से ४१८

	प्राथमिक	४१५-४१६
५५७	समस्त यथातथ्य निरूपण का अभिवचन	४१७

सूत्रांक		पृष्ठ
५५८-५६७	कुसाधु के कुशील एवं सुसाधु के शील का यथातथ्य निरूपण	४१८
५६८-५७३	साधु की ज्ञानादि साधना में तथ्य-अतथ्य-विवेक	४२१
५७४-५७८	सुसाधु द्वारा यथातथ्य धर्मोपदेश के प्रेरणासूत्र	४२३
५७९	साधु धर्म का यथातथ्य रूप में प्राण प्रण से पालन करे	४२५
	ग्रन्थ : चतुर्दश अध्ययन : पृष्ठ ४२७ से ४३९	
	प्राथमिक	४२७-४२८
५८०-५८४	ग्रन्थ त्यागी के लिए गुरुकुलवास का महत्त्व और लाभ	४२९
५८५-५९६	गुरुकुलवासी साधु द्वारा शिक्षा ग्रहण विधि	४३१
५९७-६०६	गुरुकुलवासी साधु द्वारा भाषा-प्रयोग के विधि-निषेध सूत्र	४३५
	जमतीत : पंचदश अध्ययन : पृष्ठ ४४० से ४५०	
	प्राथमिक	४४०-४४१
६०७-६११	अनुत्तर ज्ञानी और तत्कथित भावनायोग साधना	४४२
६१२-६२१	विमुक्त मोक्षाभिमुख और सांसारान्तकर साधु कौन ?	४४४
६२२-६२४	मोक्ष प्राप्ति किसको सुलभ, किसको दुर्लभ	४४७
६२५-६२६	मोक्ष-प्राप्त पुरुषोत्तम और उसका शाश्वत स्थान	४४८
६२७-६३१	संसार पारंगत साधक की साधना के विविध पहलू	४४९
	गाथा : षोडश अध्ययन : पृष्ठ ४५१ से ४५८	
	प्राथमिक	४५१
६३२-६३३	माहण-श्रमण परिभाषा स्वरूप	४५२
६३४	माहन स्वरूप	४५३
६३५	श्रमण-स्वरूप	४५४
६३६	भिक्षु-स्वरूप	४५५
६३७	निर्ग्रन्थ स्वरूप	४५७

[द्वितीय श्रुतस्कंध : अध्ययन १ से ७ तक]

पौण्डरीक : प्रथम अध्ययन : पृष्ठ ४५९ से ५०७

सूत्रांक		पृष्ठ
	सूत्र परिचय	४५९
	अध्ययन परिचय	४६१
६३८	पुष्करिणी और उसके मध्य में विकसित पुण्डरीक का वर्णन	४६३
६३९-४२	श्रेष्ठ पुण्डरीक को पाने में असफल चार पुरुष	४६५
६४३	उत्तम श्वेत कमल को पाने में सफल : निस्पृह भिक्षु	४६९
६४४-४५	दृष्टान्तों में दार्ष्टान्तिक की योजना	४७१
६४६-४७	धर्मश्रद्धालु राजा आदि के मस्तिष्क में अन्यतीर्थिकों द्वारा स्वधर्मप्रवेश का तरीका	४७३
६४८-५३	प्रथम पुरुष : तज्जीव तच्छरीरवादी का वर्णन	४७६
६५४-५८	द्वितीय पुरुष : पाञ्चमहाभूतिक : स्वरूप विश्लेषण	४८१
६५९-६२	तृतीय पुरुष : ईश्वर कारणवादी : स्वरूप और विश्लेषण	
	ईश्वर कारणवाद का मन्तव्य : आत्माद्वैत वाद का स्वरूप : आत्माद्वैत वाद—युक्तिविरुद्ध	४८४
६६३-६६	चतुर्थ पुरुष : नियतिवादी : स्वरूप और विश्लेषण	४८७
६६७-७६	भिक्षावृत्ति के लिये समुद्यत भिक्षु के लिए वैराग्योत्पादक परिज्ञान सूत्र	४९१
६७७-७८	गृहस्थवत् आरंभ-परिग्रह युक्त श्रमण-माहन और इन दोनों से युक्त निर्ग्रन्थ भिक्षु	४९७
६७९-९३	पंचम पुरुष : अनेक गुण विशिष्ट भिक्षु	४९९

क्रियास्थान : द्वितीय अध्ययन : पृष्ठ ५०९ से ५६१

	प्राथमिक परिचय	५०८
६९४	संसार के समस्त जीव तेरह क्रियास्थानों में	५१०
	[क्रियास्थान : परिभाषा, दण्डसमादान : क्रियास्थानों द्वारा वर्णवन्ध]	
६९५	प्रथम क्रियास्थान : अर्थदण्ड प्रत्ययिक	५१२
६९६	द्वितीय क्रियास्थान : अनर्थदण्ड प्रत्ययिक	५१२
६९७	तृतीय क्रियास्थान : हिंसादण्ड प्रत्ययिक	५१४
६९८	चतुर्थ क्रियास्थान : अकस्माद् दण्ड प्रत्ययिक	५१५
६९९	पंचम क्रियास्थान : दृष्टि विपर्यास दण्ड प्रत्ययिक	५१६
७००	छठा क्रियास्थान : मृषावाद प्रत्ययिक	५१७
७०१	सप्तम क्रियास्थान : अदत्तादान प्रत्ययिक	५१८
७०२	अष्टम क्रियास्थान : अध्यात्मप्रत्ययिक	५१८
७०३	नौवां क्रियास्थान : मान प्रत्ययिक	५१९
७०४	दसवां क्रियास्थान : मित्र दोष प्रत्ययिक	५२०

सूत्रांक पृष्ठ

७०५ ग्यारहवां क्रियास्थान : माया प्रत्ययिक ५२१

७०६ बारहवां क्रियास्थान : लोक प्रत्ययिक ५२२

७०७ तेरहवां क्रियास्थान : ऐर्यापथिक, अधिकारी, स्वरूप, प्रक्रिया एवं सेवन ५२४

७०८-१० अधर्मपक्षनामक प्रथम स्थान के संकल्प : चर्या अधिकारी : स्वरूप ५२७

७११ धर्मपक्ष नामक द्वितीय स्थान के विकल्प ५४०

७१२ तृतीय स्थान : मिश्रपक्ष का अधिकारी एवं स्वरूप ५४१

७१३ प्रथम स्थान : अधर्म पक्ष : वृत्ति, प्रवृत्ति एवं परिणाम ५४२

७१४ द्वितीय स्थान : धर्म पक्ष : अधिकारी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सुपरिणाम ५४७

७१५-२० तृतीय स्थान : मिश्र पक्ष : अधिकारी, वृत्ति, प्रवृत्ति और परिणाम ५५२

७२१ तेरह ही क्रियास्थानों का प्रतिफल ५६०

आहारपरिज्ञा : तृतीय अध्ययन : पृष्ठ ५६२ से ५८७

प्राथमिक ५६२-५६३

७२२-३१ अनेकविध वनस्पतिकायिक जीवों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि एवं आहार की प्रक्रिया ५६४

७३२ नानाविध मनुष्यों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि एवं आहार की प्रक्रिया ५७४
[देव-नारकों का आहार, स्त्री-पुरुष एवं नपुंसक की उत्पत्ति का रहस्य]

७३३-३७ पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि एवं आहार की प्रक्रिया ५७७

७३८ विकलेन्द्रिय त्रस प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति संवृद्धि और आहार की प्रक्रिया ५८०

७३९-४५ अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय और पृथ्वीकाय के आहारादि का निरूपण ५८२

७४६ समुच्चय रूप से सब जीवों की आहारादि प्रक्रिया और आहार-संयम-प्रेरणा ५८६

प्रत्याख्यान क्रिया : चतुर्थ अध्ययन : पृष्ठ ५८८ से ६०१

प्राथमिक ५८८-५८९

७४७ अप्रत्याख्यानी आत्मा का स्वरूप और प्रकार ५९०

७४८-४९ प्रत्याख्यान क्रिया रहित सदैव पापकर्म बन्धकर्ता : क्यों और कैसे ५९२

७५०-५२ संज्ञी-असंज्ञी-अप्रत्याख्यानी: सदैव पाप कर्मरत [समाधान : दो दृष्टान्तों द्वारा] ५९६

७५३ संयत, विरत पापकर्म प्रत्याख्यानी: कौन और कैसे ६००

अनाचारश्रुत : पंचम अध्ययन : पृष्ठ ६०२ से ६१९

प्राथमिक

७५४ अनाचरणीय का निषेध ६०२

७५५-६४ अनाचार के निषेधात्मक विवेकसूत्र ६०३

७६५-८१ नास्तिकता और आस्तिकता के आधारभूत संज्ञाप्रधान : सूत्र ६०४
[लोक-अलोक, जीव-अजीव धर्म-अधर्म, बन्ध और मोक्ष, पुण्य और पाप, आश्रव-संवर, वेदना और निर्जरा, क्रिया और अक्रिया, क्रोध, मान, माया और लोभ, राग और द्वेष, देव और देवी, सिद्धि और असिद्धि, साधु, और असाधु] ६०८

सूत्रांक		पृष्ठ
७८२-८५	कतिपय निषेधात्मक आचारसूत्र	६१७
७८६	जिनोपदिष्ट आचारपालन में प्रगति करे	६१९

आर्द्रकीय : छठा अध्ययन : पृष्ठ ६२० से ६३९

	प्राथमिक	६२०
७८७-९२	भगवान् महावीर पर लगाये गये आक्षेपों का आर्द्रकमुनि द्वारा परिहार	६२१
७९३-८००	गोशालक द्वारा सुविधावादी धर्म की चर्चा : आर्द्रक द्वारा प्रतिवाद	६२३
८०१-४	भीरु का आक्षेप और समाधान	६२६
८०५-११	गोशालक द्वारा प्रदत्त वणिक की उपमा का आर्द्रक द्वारा प्रतिवाद	६२७
८११-२८	बौद्धों के अपसिद्धान्त का आर्द्रक द्वारा खण्डन एवं स्व-सिद्धान्त का मंडन	६३०
८२९-३१	पशुवध समर्थक मांसभोजी ब्राह्मणों को भोजन का फल	६३४
८३२-३७	सांख्यमतवादी एकदण्डिकों के साथ तात्त्विक चर्चा	६३५
८३८-४०	हस्तितापसों का विचित्र अहिंसामत : आर्द्रक द्वारा प्रतिवाद	६३७
८४१	दुस्तर संसार-समुद्र को पार करने का उपाय : रत्नत्रय रूप धर्म	६३९

नालन्दकीय : सप्तम अध्ययन : पृष्ठ ६४० से ६७३

	प्राथमिक	६४०
८४२-४४	नालन्दानिवासी लेप श्रमणोपासक और उसकी विशेषताएं	६४१
८४५	उदक निर्ग्रन्थ की जिज्ञासा : गणधर गौतम की समाधानतत्परता	६४३
८४६-४७	उदक निर्ग्रन्थ की प्रत्याख्यान विषयक शंका : गौतमस्वामी द्वारा स्पष्ट समाधान	
	[गृहपति चोर विमोक्षण न्याय : उदक निर्ग्रन्थ की भाषा में दोष]	६४४
८४८-५०	उदक निर्ग्रन्थ द्वारा पुनः प्रस्तुत प्रश्न और गौतमस्वामी द्वारा प्रदत्त सटीक उत्तर	६४८
८५१-५२	उदक की आक्षेपात्मक शंका : गौतम का समाधान	६५०
८५३-५५	निर्ग्रन्थों के साथ श्रीगौतम स्वामी के संवाद	६५२
८५६-६६	दृष्टान्तों और युक्तियों द्वारा श्रमणोपासक प्रत्याख्यान की निर्विषयता का निराकरण	६५७
८६७-७३	कृतज्ञताप्रकाश की प्रेरणा और उदक निर्ग्रन्थ का जीवनपरिवर्तन	६७०

परिशिष्ट

प्रथम श्रुतस्कन्ध

१	गाथाओं की अनुक्रमणिका	६७७
२	विशिष्ट शब्दसूची	६८७
३	स्मरणीय सुभाषित	७२३

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

१.	गाथानामकारादिक्रम	७२६
२.	विशिष्ट शब्दसूची	७२८
	संदर्भग्रन्थसूची	......

पंचमगणहर भयवं सिरिसुहम्मसामिपणीयं बिइयमंगं

सूयगडंगसुत्तं

पंचम गणधर भगवत् सुधर्मस्वामिप्रणीत द्वितीय अंग

सूत्रकृतांगसूत्र

सूत्रकृतांगसूत्र

परिचय

☐ प्रस्तुत आगम द्वादशांगी का द्वितीय अंग है। इसका प्रचलित नाम 'सूत्रकृतांग' है।

☐ निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ने इसके तीन एकार्थक गुणनिष्पन्न नामों का निरूपण किया है[1]—(१) सूतगडं (सूत्रकृत), (२) सुत्तकडं (सूत्रकृत) और सुयगडं (सूचाकृत)।

☐ तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर द्वारा अर्थरूप में सूत (उत्पन्न) होने से, तथा गणधरों द्वारा ग्रथित—कृत (सूत्ररूप में रचित) होने से इसका नाम 'सूत्रकृत' है।

☐ सूत्र का अनुसरण करते हुए इसमें तत्त्वबोध (उपदेश) किया गया है, एतदर्थ इसका नाम सूत्रकृत् है।

☐ इसमें स्व-पर समयों (सिद्धान्तों) को सूचित किया गया है, इसलिए इसका नाम **'सूचाकृत'** भी है।[2]

☐ समवायांग, नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वारसूत्र में इसका 'सूयगडो' (सूत्रकृत) नाम उपलब्ध होता है।[3]

☐ नन्दीसूत्र वृत्ति और चूर्णि में दो अर्थ दिये गए हैं—जीवादि पदार्थ (सूत्र द्वारा) सूचित उपलब्ध हैं, इसलिए तथा जीवादि पदार्थों का अनुसन्धान होता है, इसलिए इसका नाम **'सूत्रकृत'** ही अधिक संगत है।[4]

☐ अचेलकपरम्परा में भी सूत्रकृतांग के प्राकृत में तीन नाम मिलते हैं—सुद्दयड, सूदयड और सूदयद। इन तीनों का संस्कृत रूपान्तर वहाँ **'सूत्रकृत'** ही माना है।[5]

☐ जैसे पुरुष के १२ अंग होते हैं, वैसे ही श्रुतरूप परमपुरुष के आचार आदि १२ अंग क्रमशः होते हैं, इसलिए आचार, सूत्रकृत आदि १२ आगमग्रन्थों के आगे 'अंग' शब्द लगाया जाता है।[6]

---

[1] सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा-२

[2] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २

[3] (क) समवायांग प्रकीर्णक समवाय ८८ (ख) नन्दीसूत्र ८० (ग) अनुयोगद्वार सूत्र ५०

[4] (क) नन्दी हारिभद्रीय वृत्ति पृ० ७७, (ख) नन्दीचूर्णि पृ० ६३

[5] प्रतिक्रमण ग्रन्थत्रयी में 'तेवीसाए सुद्दयडज्झाणेसु …।' (ख) 'जं तमंगपविट्ठं…सूदयडं'……सूदयदे छत्तीसपद-सहस्साणि।'—जयधवला पृ० २३, तथा पृ० ८५

[6] (क) नन्दीसूत्र चूर्णि पृ० ५७, हारी० वृत्ति० पृ० ६९

- अर्थागमरूप से सूत्रकर्ता (उपदेशसूत्रकर्ता) भ० महावीर हैं, वाणी या उपदेश उनके अंगभूत होने से इसके अन्त में अंग-शब्द और जोड़ा गया। इस कारण भी इस शास्त्र का नाम सूत्रकृतांग प्रचलित हो गया।[७]
- क्षीराश्रवादि अनेकलब्धिरूप योगों के धारक गणधरों ने भगवान् से अर्थरूप में सुनकर अक्षरगुण-मतिसंघटना और कर्मपरिशाटना (कर्मसंक्षय), इन दोनों के योग से अथवा वाग्योग और मनोयोग से शुभ अध्यवसायपूर्वक इस सूत्र की रचना की, इसलिए इसका नाम 'सूत्रकृत' हो गया।[८]
- सूत्रकृतांग के दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में १६ अध्ययन हैं, इस कारण इसका एक नाम 'गाथाषोडशक' भी है।
- द्वितीय श्रुतस्कन्ध में ७ अध्ययन हैं, ये विस्तृत होने के कारण इसे 'महज्झयणाणि' (महाध्ययन) भी कहते हैं।[९]
- प्रथम श्रुतस्कन्ध के १६ अध्ययनों के कुल २६ उद्देशक हैं, और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के ७ अध्ययनों के सात। कुल ३३ उद्देशक हैं। ३३ ही समुद्देशनकाल हैं, तथा ३६००० पदाग्र हैं।[१०]
- सूत्रकृतांग में स्वसमय-परसमय, जीवादि नौ तत्त्वों, श्रमणों की आचरणीय हितशिक्षाओं तथा ३६३ दर्शन मतों का निरूपण है।
- दिगम्बर साहित्य में सूत्रकृतांग की विषय वस्तु का निरूपण प्रायः समान ही है।[११]

□□

---

७. नन्दी. मलयगिरिवृत्ति

८. (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा. २० (ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ७

९. (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा. २२ (ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ८

१०. सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा. २२, शीलांक वृत्ति पत्रांक ८

११. (क) समवायांग सू. ९० (ख) नन्दीसूत्र सू. ८२
(ग) अंग पण्णत्ती, जयधवला पृ. ११२, राजवार्तिक १।२०, धवला पृ. १००

सूत्रकृतांगसूत्र (प्रथम श्रुतस्कन्ध)

प्रथम अध्ययन : समय

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग सूत्र प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन का नाम '**समय**' है।

☐ शब्द-कोष के अनुसार काल, शपथ, सौगन्ध, आचार, सिद्धान्त, आत्मा, अंगीकार, स्वीकार, संकेत, निर्देश, भाषा, सम्पत्ति, आज्ञा, शर्त, नियम, अवसर, कालविज्ञान, समयज्ञान, नियम बांधना, शास्त्र, प्रस्ताव, आगम, नियम, सर्वसूक्ष्मकाल, रिवाज, सामायिक, संयमविशेष, सुन्दर परिणाम, मत, परिणमन, दर्शन, पदार्थ आदि '**समय**' के अर्थ हैं।
प्रस्तुत में 'समय' शब्द सिद्धान्त, आगम, शास्त्र, मत, दर्शन, आचार एवं नियम आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।[1]

☐ निर्युक्तिकार ने 'समय' शब्द का १२ प्रकार का निक्षेप किया है—(१) नामसमय, (२) स्थापना-समय, (३) द्रव्यसमय, (४) कालसमय, (५) क्षेत्रसमय, (६) कुतीर्थसमय, (७) संगार (संकेत) समय, (८) कुलसमय (कुलाचार), (९) गणसमय (संघाचार), (१०) संकर-समय (सम्मिलित एकमत), (११) गंडीसमय (विभिन्न सम्प्रदायों की प्रथा) और (१२) भावसमय (विभिन्न अनुकूल प्रतिकूल सिद्धान्त)।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में 'भावसमय' उपादेय है, शेष समय केवल ज्ञेय हैं।[2]

☐ प्रस्तुत '**समय**' अध्ययन में स्व-पर सिद्धान्त, स्व-परदर्शन, स्व-पर मत एवं स्व-पर-आचार आदि का प्ररूपण किया गया है, जिसे '**स्व-पर-समयवक्तव्यता**' भी कहते हैं।

☐ समय-अध्ययन के चार उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में बन्धन और उसे तोड़ने का उपाय बताते हुए पंचमहाभूतवाद, एकात्मवाद, तज्जीव-तच्छरीरवाद, अकारकवाद, आत्मषष्टवाद, अफलवाद का वर्णन किया गया है।[3]

---

[1] (क) पाइअ-सद्द-महण्णवो पृ० ८६६
(ख) शब्दरत्नमहोदधि पृ० २००९
(ग) अभिधान राजेन्द्र कोष भा० ७ पृ० ४१८
(घ) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, भाग ४ पृ० ३२८
(ङ) समयसार ता० वृ० १५१।२१४।१३

[2] (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा २९
(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक १०

[3] (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ३०
(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ११

☐ द्वितीय उद्देशक में नियतिवाद, अज्ञानवाद, चार प्रकार से बद्ध कर्म उपचित (गाढ) नहीं होता, इस प्रकार के बौद्धों के वाद का वर्णन है।[४]

☐ तृतीय उद्देशक में आधाकर्म आहार-सेवन से होने वाले दोष बताये गए हैं। इसके पश्चात् विभिन्न कृतवादों (जगत्-कर्तृत्ववादों), तथा स्व-स्वमत से मोक्षप्ररूपकवाद का निरूपण है।[५]

☐ चतुर्थ उद्देशक में पर-वादियों की असंयमी गृहस्थों के आचार के साथ सदृशता बताई गई है। अन्त में अविरतिरूप कर्मबन्धन से बचने के लिए अहिंसा, समता, कषायविजय आदि स्वसमय (स्वसिद्धान्त) का प्रतिपादन किया गया है।[६]

☐ स्व-समय प्रसिद्ध कर्मबन्धन के ५ हेतुओं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग की दृष्टि से पर-समय (दूसरे दर्शनों, वादों और मतों के आचार-विचार) को बन्धनकारक बताकर बन्धन से छूटने का स्व-समय प्रसिद्ध उपाय इस अध्ययन में वर्णित है।[७]

☐ प्रस्तुत प्रथम अध्ययन सूत्र संख्या १ से प्रारम्भ होकर सूत्र ८८ पर समाप्त होता है।

☐ सूत्रकृतांग में वर्णित वादों के साथ बौद्धग्रन्थ सुत्तपिटक के दीघनिकायान्तर्गत ब्रह्मजाल सूत्र में वर्णित ६२ वादों की क्वचित्-क्वचित् समानता प्रतीत होती है।[८]

☐☐

---

[४] (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ६१ (ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ११

[५] (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ३२ (पूर्वार्द्ध) (ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ११

[६] (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ३२ (उत्तरार्द्ध) (ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ११

[७] (क) सूत्रकृतांग सूत्र (सूयगडंग सुत्तं) मुनि जम्बूविजयजी सम्पादित प्रस्तावना पृ० ६-७
(ख) सूत्रकृतांग (प्र० श्रु०) पं० मुनि हेमचन्द्रजी कृत व्याख्या—उपोद्घात पृ० २०

[८] सूयगडंग सुत्तं, मुनि जम्बूविजयजी सम्पादित प्रस्तावना पृ० ६-७

पढमं अज्झयणं 'समयो'

प्रथम अध्ययन : समय

पढमो उद्देसओ : प्रथम उद्देशक

बंध-मोक्ष स्वरूप—

१. वुज्झिज्ज तिउट्टेज्जा, बंधणं परिजाणिया ।
किमाह बंधणं वीरो ?, किं वा जाणं तिउट्टई ॥१॥

२. चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि ।
अन्नं वा अणुजाणाति, एवं दुक्खा ण मुच्चई ॥२॥

३. सयं तिवायए पाणे, अदुवा अण्णेहिं घायए ।
हणंतं वाऽणुजाणाइ, वेरं वड्ढेति अप्पणो ॥३॥

४. जस्सि कुले समुप्पन्ने, जेहिं वा संवसे णरे ।
ममाती लुप्पती वाले, अन्नमन्नेहिं मुच्छिए ॥४॥

५. वित्तं सोयरिया चेव, सव्वमेतं न ताणए ।
संखाए जीवियं चेव, कम्माणा उ तिउट्टति ॥५॥

६. एए गंथे विउक्कम्म, एगे समण-माहणा ।
अयाणंता विउस्सिता, सत्ता कामेहिं माणवा.॥६॥

१. मनुष्य को वोध प्राप्त करना चाहिए । बन्धन का स्वरूप जान कर उसे ताड़ना चाहिए । [श्री जम्बूस्वामी ने सुधर्मास्वामी से पूछा—] वीर प्रभु ने किसे बन्धन कहा है ? किसे जान कर जीव वन्धन को तोड़ता है ?

२. [श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं—] जो मनुष्य सचित्त (द्विपद चतुष्पद आदि सचेतन प्राणी] हो अथवा अचित्त (चैतन्य रहित सोना चांदी आदि जड़) पदार्थ अथवा भूसा आदि तुच्छ वस्तु हो, या थोड़ा-सा भी परिग्रह के रूप में रखता है अथवा दूसरे के परिग्रह रखने की अनुमोदना करता है [इस प्रकार] वह दु:ख से मुक्त नहीं होता ।

३. जो व्यक्ति स्वयं (किसी प्रकार से) प्राणियों का वध करता है अथवा दूसरों से वध कराता है या प्राणियों का वध करते हुए अन्य व्यक्तियों का अनुमोदन करता है, वह मारे जाने वाले प्राणियों के साथ अपना वैर बढ़ाता है (उपलक्षण से—अपनी आत्मा के साथ शत्रुता वढ़ाता है) ।

४. मनुष्य जिस कुल में उत्पन्न हुआ है, और जिसके साथ निवास करता है, वह अज्ञ (वाल)

जीव उसमें ममत्व बुद्धि रखता हुआ पीड़ित होता है। वह मूढ़ दूसरे-दूसरे पदार्थों में मूर्च्छित (आसक्त) होता रहता है।

५. धन-सम्पत्ति और सहोदर भाई-बहन आदि ये सब रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं। (यह) जान कर तथा जीवन को भी (स्वल्प) जान कर जीव कर्म (बन्धन) से छूट (पृथक् हो) जाता है।

६. इन (पूर्वोक्त) ग्रन्थों—सिद्धान्तों को छोड़कर कई श्रमण (शाक्यभिक्षु आदि) और माहण (बृहस्पति मतानुयायी—(ब्राह्मण) [स्वरचित सिद्धान्तों में अभिनिवेशपूर्वक] बद्ध हैं। ये अज्ञानी मानव काम-भोगों में आसक्त रहते हैं।

विवेचन—सर्वप्रथम बोधिप्राप्ति का संकेत क्यों ?—प्रथम सूत्र में बोधि-प्राप्ति की सर्वप्रथम प्रेरणा इसलिए दी गई कि बोधप्राप्ति या सम्बोधि लाभ अत्यन्त दुर्लभ है। यह तथ्य सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, आचारांग आदि आगमों में यत्र तत्र प्रकट किया है[1] बोधिप्राप्ति इसलिए दुर्लभ है कि एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों को बोध प्राप्ति होना सम्भव नहीं है। संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को ही बोधि प्राप्त हो सकती है, किन्तु संज्ञी पंचेन्द्रियों में जो तिर्यञ्च हैं उनमें बहुत ही विरले पशु या पक्षी को बोधि सम्भव है। जो नारक हैं, उन्हें दुःखों की प्रचुरता के कारण बोधि प्राप्ति का बहुत ही कम अवकाश है। देवों को भौतिक सुखों में आसक्ति के कारण बोधि लाभ प्रायः नहीं होता। उच्चजाति के देवों को बोधि प्राप्त होना सुगम है, परन्तु वे बोधि प्राप्त हो जाने पर भी बन्धनों को तोड़ने के लिए व्रत, नियम, त्याग, प्रत्याख्यान, तप-संयम में पुरुषार्थ नहीं कर सकते। इसलिए वहाँ बोधि लाभ होने पर भी तदनुरूप आचरण नहीं हाने से उसकी पूरी सार्थकता नहीं होती। रहा मनुष्य-जन्म, उसमें जो अनार्य हैं, मिथ्यात्वग्रस्त हैं, महारम्भ और महापरिग्रह में रचे-पचे हैं, उन्हें बोधि प्राप्त होना कठिन है।

जिस व्यक्ति को आर्यक्षेत्र, उत्तमकुल, परिपूर्ण इन्द्रियाँ, परिपूर्ण अंगोपांग, स्वस्थ, सशक्त शरीर, दीर्घायुष्य प्राप्त है उसी मनुष्य के लिए बोधि प्राप्त करना सुलभ है। अतः अभी से, इसी जन्म में, बोधि प्राप्त करने का शास्त्रकार का संकेत है।

बोध कैसा व कौन सा है ?—यों तो एकेन्द्रिय जीवों में भी चेतना सुषुप्त होती है, द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों में वह उत्तरोत्तर विकसित है, त्रस जीवों को भूख प्यास, सर्दी, गर्मी, सन्तान पोषण, स्वरक्षण आदि का सामान्य बोध होता है परन्तु यहाँ उस बोध से तात्पर्य नहीं, यहाँ आत्मबोध से तात्पर्य है[2] जिसे आगम की भाषा में बोधि कहा गया है। वास्तव में यहाँ 'बुज्झिज्ज'

---

[1] देखिये बोधि-दुर्लभता के आगमों में प्ररूपित उद्धरण—"संबोहि खलु पेच्च दुल्लहा"—सूत्रकृ. सूत्र ८९।
"णो सुलहं बोहिं च आहियं"—सूत्रकृ. सूत्र १६१
"बहुकम्म लेवलित्ताणं बोही होइ सुदुल्लहा तेसिं" —उत्तरा. ८।१५

[2] आत्मा से सम्बन्धित बोध का समर्थन आचारांग (श्रु. १, अ. १, सू. १) से मिलता है—"अत्थि मे आया उववाइए ? णत्थि मे आया उववाइए ? केवा अहमंसि ? केवा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि ?'
श्री शंकराचार्य ने भी आत्म-स्वरूप के बोध की ओर इंगित किया है—

"कोऽहं ? कथमिदं ? जातं, को वै कर्ताऽस्य विद्यते ?
उपादानं किमस्तीह ? विचारः सोऽयमीदृशः ॥"

पद से संकेत किया गया है कि 'मैं कौन हूँ मनुष्य लोक में कैसे आया ? आत्मा बन्धन रहित होते हुए भी इस प्रकार के बन्धन में क्यों और कैसे पड़ा ? इन बन्धनों के कर्त्ता कौन हैं ? बन्धनों को कौन तोड़ सकता है ? आदि सब प्रश्न आत्मबोध से सम्बन्धित हैं।

बन्धनों को जान कर तोड़ो—प्रथम गाथा के द्वितीय चरण में यही बात कही गई है कि पहले बन्धनों को जानो, समझो कि वे किस प्रकार के और किन-किन कारणों के होते हैं ? इस वाक्य में यह आशय भी गर्भित है कि बन्धनों को भलीभाँति जाने बिना तुम उन्हें तोड़ोगे कैसे ? या तो तुम एक बन्धन को तोड़ दोगे, वहाँ दूसरा बन्धन सूक्ष्म रूप से प्रविष्ट हो जाएगा। गृहस्थाश्रम के बन्धन तोड़ कर साधु जीवन अंगीकार कर लेने पर भी गुरु-शिष्य, गृहस्थ, श्रावक श्राविका, विचरण क्षेत्र, वस्त्र, पात्रादि उपकरणों के मोह ममत्वरूप बन्धन प्रविष्ट हो जाने की आशंका है। अथवा अबन्धन को बन्धन और बन्धन को अबन्धन समझ कर विपरीत पुरुषार्थ किया जायगा।

इस वाक्य में जैन दर्शन के एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त—**ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः**—ज्ञान और क्रिया दोनों से मोक्ष होता है, का प्रतिपादन किया गया है।

वेदान्त, सांख्य आदि कई दर्शन ज्ञान मात्र से मुक्ति बताते हैं। मीमांसा आदि दर्शन एकान्त कर्म (क्रिया) से कल्याण प्राप्ति मानते हैं; किन्तु जैन दर्शन ज्ञान और क्रिया दोनों से मुक्ति मानता है। इसीलिए यहाँ स्पष्ट कहा गया है—ज्ञपरिज्ञा से पहले उन बन्धनों को जानो, समझो और प्रत्याख्यान परिज्ञा से उन्हें त्यागने का पुरुषार्थ करो। अकेला ज्ञान पंगु है और अकेली क्रिया अन्धी है। अतः बन्धन का सिर्फ ज्ञान होना ही पर्याप्त नहीं। इसी प्रकार अज्ञानपूर्वक उग्र तपश्चरण आदि क्रिया करना भी उचित नहीं है। ऐसी अन्धी क्रियाएँ बन्धनों को तोड़ने के बदले आसक्ति, मोह, प्रसिद्धि, माया, अहंकार, प्रदर्शन, आडम्बर आदि से जनित बन्धनों में और अधिक डाल देती है। इसलिए यहाँ कहा गया है—बन्धनों को परिज्ञान पूर्वक तोड़ने की क्रिया करो।

दो प्रश्न : बन्धन को कैसे जानें : कैसे तोड़ें ?—यही कारण है कि इस गाथा के उत्तरार्द्ध में बन्धन को जानने और तोड़ने के सम्बन्ध में दो प्रश्न किये गये हैं कि "(१) वीर प्रभु (तीर्थंकर महावीर) ने बन्धन किसे कहा है ? और (२) किसे जान कर जीव बन्धन को तोड़ता है ?"

वास्तव में इन दोनों प्रश्नों के उत्तर के रूप में यह समग्र द्वितीय अंग सूत्र (सूत्रकृतांग) है।

बन्धन का स्वरूप—सामान्य जीव रस्सी, शृंखला, कारागार, तार अवरोध आदि स्थूल पदार्थों को बन्धन समझता है। परन्तु वे द्रव्य बन्धन हैं जो शरीर से सम्बन्धित हैं। अमूर्त, अदृश्य, अव्यक्त आत्मा इस प्रकार के द्रव्य बन्धनों से नहीं बन्धता। इसलिए यहाँ आत्मा को बांधने वाले भाव बन्धन को जानने के सम्बन्ध में प्रश्न है।[3]

भाव बन्धन का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—जिसके द्वारा आत्मा परतंत्र कर दिया जाता है, वह बन्धन है।[4] यहाँ 'बन्धन' या बन्ध जैन दर्शन मान्य कर्म सिद्धान्त का पारिभाषिक शब्द है इसलिए

---

३. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १२

४. 'बध्यते परतन्त्रीक्रियते आत्माऽनेनेति बन्धनम् ।' —कर्मग्रन्थ टीका

वृत्तिकार ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—'आत्मप्रदेशों के साथ जो (कर्मपुद्गल) क्षीरनीरवत् एकमेक होकर स्थित हो जाते हैं, रहते हैं, या वन्ध जाते हैं वे वन्धन या वन्ध कहलाते हैं। ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्म ही एक प्रकार के वन्धन हैं।[५] तत्त्वार्थसूत्र में वन्ध का लक्षण दिया है—'कपायसहित (रागद्वेषादि परिणामयुक्त) जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वही वन्ध है।'[६]

वन्धन (कर्मवन्ध) के कारण—प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त 'बंधणं' (वन्धन) शब्द में बन्धन के कारणों को भी ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि ज्ञानावरणीय आदि कर्म वन्धन रूप हैं, इतना जान लेने मात्र से वन्धन से छुटकारा नहीं हो सकता, यही कारण है कि आगे की गाथाओं में वन्धन का स्वरूप न वताकर वन्धन के कारणों का स्वरूप और उनकी पहचान बतायी गई है। अगली गाथाओं में विवक्षित परिग्रह, हिंसा, मिथ्यादर्शन आदि वन्धन (कर्मबन्धन) के कारण हैं। इसलिए यहाँ कारण में कार्य का उपचार करके वन्धन शब्द का प्रयोग किया गया है।

निष्कर्ष यह है कि ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के कारण रूप हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कपाय और योग, अथवा परिग्रह और आरम्भ आदि। ये ही यहाँ वन्धन हैं। तत्त्वार्थसूत्र में बन्ध के ५ मुख्य कारण बताये गए हैं—मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इन्हीं को लेकर यहाँ दो प्रश्न किये गये हैं।[७]

वन्धन का मुख्य कारण : परिग्रह—प्रथम गाथा में वन्धन (के कारण) के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया था। अतः उसके उत्तर के रूप में यह दूसरी गाथा है। पहले बताया गया था कि **'अविरति'** कर्मवंध के पांच मुख्य कारणों में से एक है। अविरति के मुख्यतया पांच भेद हैं—हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह। इनमें परिग्रह को कर्मवन्ध का सबसे प्रबल कारण मानकर शास्त्रकार ने सर्वप्रथम उसे ही ग्रहण किया है। क्योंकि हिंसाएँ परिग्रह को लेकर होती हैं, संसार के सभी समारम्भरूप कार्य 'मैं और मेरा', इस प्रकार की स्वार्थ, मोह, आसक्ति, ममत्व और तृष्णा की वुद्धि से होते हैं और यह परिग्रह है। असत्य भी परिग्रह के लिए बोला जाता है। चोरी का तो मूल ही परिग्रह है और अब्रह्मचर्य सेवन भी अन्तरंग परिग्रह-आसक्ति के कारण होता है। इसी प्रकार प्राणातिपात से लेकर मायामृषा तक के १७ पापों का स्थान, आदिकारण परिग्रह ही है। इस कारण परिग्रह समस्त कर्मवन्धनों का प्रधान कारण बनता है।

परिग्रह का लक्षण और पहचान—किसी भी सजीव और निर्जीव, भावात्मक पदार्थ के प्रति ममत्व वुद्धि होने के साथ उसे ग्रहण करने पर ही वह परिग्रह होता है, अन्यथा नहीं। परिग्रह का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है—किसी भी पदार्थ को द्रव्य और भावरूप से सभी ओर से ग्रहण करना या ममत्ववुद्धि से रखना परिग्रह है।[८]

---

[५] वध्यते जीवप्रदेशैरन्योऽन्यानुवेधरूपतया व्यवस्थाप्यत इति वन्धनम्। ज्ञानावरणीयाष्टप्रकारं कर्म।
—सूत्रकृ० शी० टीका पत्र १२

[६] सकपायत्वाज्जीव: कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स वन्ध। —तत्त्वार्थ० अ० ८, सू० २

[७] (क) सूत्र० शीला० टीका० पत्र० १२—"तद्धेतवो वा मिथ्यात्वाविरत्यादय: परिग्रहारम्भादयो वा।"

(ख) मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कपाय-योगा वन्धहेतव:। —तत्त्वार्थ० अ० ८, सूत्र १

(ग) सूत्रकृतांग प्रथम भाग समयार्थवोधिनी व्याख्या सहित (पूज्य श्री घासीलालजी म०) पृ० २०।

[८] परि-समन्ताद् ममत्ववुद्धया द्रव्यभावरूपेण गृह्यते इति परिग्रह:। —सूत्र० अमर सुखवोधिनी व्याख्या पृ० २२

किसी वस्तु को केवल ग्रहण करने मात्र से वह परिग्रह नहीं हो जाती अन्यथा पंचमहाव्रत अपरिग्रही साधु के लिए वस्त्र पात्र अन्य धर्मोपकरण उपाश्रय, शास्त्र, पुस्तक, शरीर, शिष्य, भक्त आदि सब परिग्रह हो जाते। वस्तुतः जहाँ मूर्च्छा (आसक्ति) हो, वहीं परिग्रह है।

दशवैकालिकसूत्र में यही कहा है—साधु साध्वी जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोंछन आदि धर्मोपकरण रखते हैं या धारण करते हैं, वह संयम पालन और लज्जा निवारण के लिए है। इसलिए प्राणिमात्र के त्राता ज्ञातपुत्र महावीर ने उक्त धर्मोपकरणसमूह को परिग्रह नहीं कहा है, सभी तीर्थंकरों ने मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा है, यही बात महावीर ने कही है।[९]

इसीलिए एक आचार्य ने कहा है—मूर्च्छा से जिनकी बुद्धि आच्छादित हो गई है उनके लिए सारा जगत् ही परिग्रह रूप है और जिनके मन-मस्तिष्क मूर्च्छा से रहित हैं, उनके लिए सारा जगत् ही अपरिग्रहरूप है।[१०]

महाभारत (४।७२) में भी स्पष्ट कहा है—'बन्ध और मोक्ष के लिए दो ही पद अधिकतर प्रयुक्त होते हैं—'मम' और 'निर्मम'। जब किसी पदार्थ के प्रति मम (ममत्व, मेरापन) मेरा है यही भाव आ जाता है तब प्राणी कर्म-बन्धन से बंध जाता है और जब किसी पदार्थ के प्रति निर्मम (मेरा नहीं है) भाव आता है तब बन्धन से मुक्त हो जाता है।[११]

परिग्रह के दो रूप—परिग्रह के शास्त्रकारों ने मुख्यतः दो रूप बताए हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य परिग्रह के मुख्यतया दो भेद यहाँ मूल पाठ में बताए हैं—**'चित्तमंतमचित्तं वा परिगिज्झ'**—सचेतन परिग्रह और अचेतन (जड़) परिग्रह। सचित्त परिग्रह में मनुष्य, पशु, पक्षी, (द्विपद, चतुष्पद) तथा वृक्ष, पृथ्वी, वनस्पति, फल, धान्य आदि समस्त सजीव वस्तुओं का समावेश हो जाता है और अचित परिग्रह में क्षेत्र, वास्तु (मकान) सोना, चाँदी, मणि, वस्त्र, वर्तन, सिक्के, नोट आदि सभी निर्जीव वस्तुओं का समावेश होता है।

भगवतीसूत्र में कर्म, शरीर और भण्डोपकरण—इन तीनों को ममत्वयुक्त होने पर परिग्रह बताया है आभ्यन्तर परिग्रह के क्रोध आदि ४ कषाय, हास्य आदि नो कषाय और मिथ्यात्व (विपरीत श्रद्धा मान्यता आदि की पकड़), यश, प्रतिष्ठा, लिप्सा, वस्तु न होते हुए भी उसके प्रति लालसा, आसक्ति आदि १४ प्रकार परिग्रह के बताए हैं।

---

[९] जं पि वत्थं व पायं व कंबलं पायपुंछणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा धारंति परिहरंति य॥
न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा॥ —दशवै० ६।१९-२०

[१०] मूर्च्छयाच्छन्नधियां सर्वं जगदेव परिग्रहः।
मूर्च्छया रहितानां तु जगदेवापरिग्रहः॥

[११] द्वे पदे बन्ध-मोक्षाय निर्ममेति ममेति च।
ममेति बध्यते जन्तुः निर्ममेति विमुच्यते॥ —महाभारत ४/७२

संसार में जो कुछ दिखाई देता है, वह या तो जड़ होता है अथवा चेतन, इन दोनों में विश्व के समस्त पदार्थ आ जाते हैं। इन्हीं दोनों को लेकर वाह्य या आभ्यन्तर परिग्रह होता है। इसीलिए शास्त्रकार ने 'चित्तमंतमचित्तं' ये दो सूत्ररूप में यहाँ दिये हैं।[१२]

'किसामवि' का तात्पर्य—वृत्तिकार ने इस पद के दो रूप देकर तीन अर्थ सूचित किए हैं—**'किसामवि'** (कृशमपि) थोड़ा-सा भी तुच्छ तृण, तृष आदि तुच्छ पदार्थ भी तथा **'कसमवि'** (कसमपि) जीव का उस वस्तु का ममत्ववुद्धि से या परिग्रहवुद्धि से प्राप्त करने का परिणाम।[१३]

परिग्रह रखना जैसे कर्मवन्ध का कारण है, वैसे वन्धन के भय से अपने पास न रखकर दूसरे के पास रखाना भी कर्मवन्ध का कारण है। इसी प्रकार जो दूसरों को परिग्रह ग्रहण, रक्षण एवं संचित करने की प्रेरणा अनुमोदन या प्रोत्साहन देता है, इन्हें भी शास्त्रकार ने परिग्रह और कर्मवन्ध का कारण मानते हुए कहा है—**'परिगिज्झ…अन्नं वा अणुजाणाइ'**।[१४]

परिग्रह कर्मवन्ध का मूल होने से दुःखरूप—परिग्रह दुःखरूप इसलिए है कि अप्राप्त परिग्रह को प्राप्त करने की इच्छा होती है, नष्ट होने पर शोक होता है, प्राप्त परिग्रह की रक्षा में कष्ट होता है और परिग्रह के उपभोग से अतृप्ति रहती है। परिग्रह से वैर, द्वेष, ईर्ष्या, छल-कपट, चित्तविक्षेप, मद, अहंकार अधीरता, आर्त्त-रौद्रध्यान, विविध पापकर्म वढ़ जाते हैं, इसलिए परिग्रह अपने आप में भी दुःखकारक है। फिर परिग्रह कर्मवन्ध का कारण होने से उसके फलस्वरूप असातावेदनीयकर्म के उदय से नाना दुःखरूप कटुफल प्राप्त होते हैं इसीलिए यहाँ कहा गया है—**'एवं दुक्खा ण मुच्चइ'**—वृत्तिकार ने इसका तात्पर्यार्थ वताया है—"परिग्रह अष्ट प्रकार के कर्मवन्ध तथा तत्फलस्वरूप असातोदयरूप दुःख प्राप्त कराता है, इसलिए दुःखरूप है, अतः परिग्रही इस दुःख से मुक्त नहीं होता।"

हिंसा : कर्मवन्धन का प्रवल कारण—तीसरी गाथा में भी दूसरी गाथा की तरह कर्मवन्ध के मिथ्यात्व, अविरति आदि ५ मुख्य कारणों में से अविरतिरूप कारण के अन्तर्गत हिंसा (प्राणातिपात) को भी कर्मवन्धन का प्रवल कारण वताया गया है।

वृत्तिकार प्रकारान्तर से प्राणातिपात (हिंसा) को वन्धनरूप वताते हैं। उनका आशय यह है कि परिग्रही व्यक्ति गृहीत परिग्रह से असन्तुष्ट होकर फिर परिग्रह के उपार्जन में तत्पर होता है, उस समय उपार्जित परिग्रह में विरोध करने, अधिकार जमाने या उसे ग्रहण करने वाले के प्रति हिंसक प्रतिकार वैर-विरोध, निन्दा, द्वेष, मारपीट, उपद्रव या वध करता है, इस प्रकार अपने धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, मकान, दूकान, परिवार, जाति, सम्प्रदाय, मत, पंथ, राष्ट्र, प्रान्त, नगर-ग्राम आदि पर ममतावश इन-परिग्रहों की रक्षा के लिए मन, वचन, काया से दूसरे के प्राणों का अतिपात (घात) करता है, इसलिए परिग्रहरक्षार्थ प्राणातिपात (हिंसा) भी कर्मवन्ध का कारण वताने के लिए शास्त्रकार ने यह तीसरी गाथा दी है।[१५]

---

[१२] सूत्रकृतांग शीलांक टीका पत्रांक १२।

[१३] वही, पत्रांक १३, "कसनं कसः, परिग्रहवुद्धया जीवस्य गमनपरिणामः।"

[१४] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १३

[१५] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १३

प्राणातिपात क्या और कैसे-कैसे ?—हिंसा का जैनशास्त्र प्रसिद्ध पर्यायवाची नाम 'प्राणातिपात' है। हिंसा का अर्थ सहसा साधारण एवं जैनेतर जनता किसी स्थूल प्राणी को जान से मार देना, प्रायः इतना ही समझती है। इसलिए विशेष अर्थ का द्योतक प्राणातिपात शब्द रखा है। प्राण भी केवल श्वासोच्छ्वास नहीं, किन्तु इसके अतिरिक्त ९ प्राण और मिलाकर १० बताए हैं। इसलिए प्राणातिपात का लक्षण दिया गया है—'पाँच इन्द्रियों के बल मन, वचन, कायबल, उच्छ्वास-निश्वासबल एवं आयुष्यबल—ये १० बल प्राण हैं। इनका वियोग करना, इनमें से किसी एक प्राण को नष्ट करना भी हानि पहुँचाना या विरोध कर देना प्राणातिपात (हिंसा) है। इसलिए इस गाथा में कहा गया है—**'सयं तिवायए पाणे'** ।[१६]

परिग्रहासक्त व्यक्ति दूसरे के प्राणों का घात स्वयं ही नहीं करता, दूसरों के द्वारा भी घात करवाता है। स्वयं के द्वारा हिंसा सफल न होने पर दूसरों को स्वार्थभाव-मोह-ममत्व से प्रेरित-प्रोत्साहित करके हिंसा करवाता है, हिंसा में सहयोग देने के लिए उकसाता है। अथवा हिंसा के लिए उत्तेजित करता है, हिंसोत्तेजक विचार फैलाता है, लोगों को हिंसा के लिए अभ्यस्त करता है। इससे भी आगे बढ़कर कोई व्यक्ति हिंसा करने वालों का अनुमोदन-समर्थन करता है, हिंसाकर्त्ताओं को धन्यवाद देता है, हिंसा के लिए अनुमति, उपदेश या प्रेरणा देता है, अथवा हिंसा के मार्ग पर जाने के लिए बाध्य कर देता है, इस प्रकार कृत, कारित और अनुमोदित तीनों ही प्रकार की हिंसा (प्राणातिपात) है और वह पापकर्मबन्ध का कारण है। इसलिए यहाँ बताया गया है—**"अदुवा अण्णेहि घायए हणंतं वाऽणुजाणाइ ।"**

इस पाठ से शास्त्रकार ने उन मतवादियों के विचारों का खण्डन भी ध्वनित कर दिया है जो केवल काया से होने वाली हिंसा को ही हिंसा मानते हैं, अथवा स्वयं के द्वारा की जाने वाली हिंसा को ही हिंसा समझते हैं, दूसरों से कराई हुई हिंसा को, या दूसरों के द्वारा कृत हिंसा की अनुमोदना को हिंसा नहीं समझते। मनुस्मृति में भी हिंसा के समर्थकों आदि की हिंसक की कोटि में परिगणित किया गया है।[१७]

त्रिविध हिंसा: कर्मबन्ध का कारण क्यों ?—पूर्वोक्त त्रिविध हिंसा कर्मबन्ध का कारण क्यों बनती है ? इसे बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं—**"वेरं वड्ढेति अप्पणो"**। आशय यह है कि हिंसा करने, कराने तथा अनुमोदन करने वाला व्यक्ति हिंस्य प्राणियों के प्रति अपना वैर बढ़ा लेता है। जिस प्राणी का प्राणातिपात किया कराया जाता है, उसके मन में उक्त हिंसक के प्रति द्वेष, रोष, घृणा

---

[१६] सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक-१३—

"पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च; उच्छ्वास-निःश्वासमथान्यदायुः।
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥"

[१७] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १३—

"अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥" —मनुस्मृति, चाणक्यनीति

—किसी जीव की हिंसा का अनुमोदन करने वाला, दूसरे के कहने से किसी का वध करने वाला, स्वयं उस जीव की हत्या करने वाला, जीव हिंसा से निष्पन्न मांस आदि को खरीदने-बेचने वाला, मांसादि पदार्थों को पकाने वाला, परोसने वाला या उपहार देने वाला, और हिंसा निष्पन्न उक्त मांसादि पदार्थ को स्वयं खाने-सेवन करने वाला, ये सब हिंसक की कोटि में हैं।

तथा प्रतिशोध की क्रूर भावना जगती है, फलतः उसके मन में वैरभाव बढ़ता है। इसी प्रकार हिंसक के मन में एक ओर अपने शरीर, परिवार, धन या अपने माने हुए सजीव-निर्जीव पदार्थ के प्रति राग; मोह, ममत्व आदि जागते हैं, तथा दूसरी ओर हिंस्य प्राणी के प्रति जागते हैं—द्वेष, घृणा, क्रूरता, रोष आदि। ऐसी स्थिति में ये राग और द्वेष ही कर्मबन्ध के कारण हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र में बताया है—"राग और द्वेष ये दोनों कर्म के बीज हैं" कर्मबन्ध के मूल कारण हैं। जब हिंसा की, कराई या अनुमोदित की जाती है, तब राग, द्वेष की उत्पत्ति अवश्य होती है। आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है—रागद्वेषादि का मन में प्रादुर्भाव न होना ही अहिंसा है, इसके विपरीत रागद्वेषादि का मन-वचन-काया से प्रादुर्भाव होना ही हिंसा है। यही जिनागम का सार है। एक बार हिंस्य प्राणियों के साथ वैर बंध जाने के बाद जन्म-जन्मान्तर तक वह वैर-परम्परा चलती रहती है। वैर-परम्परा की वृद्धि के साथ कर्मबन्धन में भी वृद्धि होती जाती है। क्योंकि पूर्वबद्ध अशुभकर्मों का क्षय नहीं हो पाता, और नये अशुभकर्म बंधते जाते हैं।[१८]

"वेरं वड्ढेति अप्पणो" का दूसरा अर्थ—इस पंक्ति का एक अर्थ यह भी ध्वनित होता है कि दूसरे प्राणियों का प्राणघात करने, कराने और उसका अनुमोदन करने वाला व्यक्ति दूसरे प्राणियों की हिंसा तो कर या करा सके अथवा नहीं, राग-द्वेष या कषायवश वह अपनी भावहिंसा तो कर ही लेता है जिसके फलस्वरूप अपनी आत्मा को कर्मबन्धन के चक्र में डाल देता है। ऐसी स्थिति में अपनी आत्मा ही अपना शत्रु बनकर वैर परम्परा को बढ़ा लेता है।

असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य आदि भी बन्धन के कारण—यहाँ प्राणातिपात शब्द उपलक्षण रूप है,[१९] इसलिए मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन (अब्रह्मचर्य) आदि भी अविरति के अन्तर्गत होने से कर्मबन्ध के कारण समझ लेना चाहिए, भले ही इस सम्बन्ध में यहाँ साक्षात् रूप से न कहा गया हो, क्योंकि मृषावाद आदि का सेवन करते समय भी रागद्वेषादिवश आत्मा के अशुभ परिणामों की हिंसा अथवा आत्मा के भावप्राणों[२०] की हिंसा अवश्य होती है।

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में असत्य आदि सभी पापास्रवों को हिंसा में समाविष्ट करते हुए कहा गया है—आत्मा के परिणामों की हिंसा के हेतु होने से मृषावाद (असत्य) आदि सभी पापास्रव एक तरह से हिंसा ही हैं। मृषावाद आदि का कथन तो केवल शिष्यों को स्पष्ट बोध करने के लिए किया गया है।[२१]

---

[१८] (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृष्ठ-४०, ४३।
(ख) उत्तराध्ययन अ. ३२/७ —'रागो य दोसो विय कम्मबीयं'
(ग) अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥—पुरुषार्थ सि० ४४ श्लो०

[१९] जो दूसरे का भी बोध कराता है, उसे उपलक्षण कहते हैं। —सम्पादक

[२०] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १३
(ख) ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख; ये चार भावप्राण हैं।

[२१] आत्मपरिणाम हिंसनहेतुत्वात् सर्वमेव हिंसेति। अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय।—पुरुषार्थ. ४२ श्लो.

जन्म, संवास, अतिसंसर्ग आदि का प्रभाव : कर्मबन्धकारण—चौथी गाथा में जन्म, संवास एवं अतिसंसर्ग के कारण होने वाली मूर्च्छा, ममता या आसक्ति को कर्मबन्धन का कारण बताया गया है। मनुष्य जिस कुल (उपलक्षण से) राष्ट्र, प्रान्त, नगर, देश, जाति-कौम, वंश आदि में उत्पन्न होता है जिन मित्रों, हमजोलियों, पत्नी-पुत्रों, माता-पिता, भाई-बहन, चाचा, मामा आदि के साथ रहता है, उसके प्रति वह अज्ञानवश मोह-ममता करता है। इसी प्रकार वह जिन-जिन के सम्पर्क में अधिक आता है, उन्हें वह मूढ़ 'ये मेरे' हैं समझ कर उनमें आसक्त होता है। जहाँ जिस सजीव या निर्जीव पदार्थ पर राग (मोह आदि) होता है, वहाँ उससे भिन्न विरोधी, अमनोज्ञ या अपने न माने हुए पदार्थ पर उसे अरुचि, द्वेष, घृणा या वैरविरोध होना स्वाभाविक है। अतः ममता, मूर्च्छा या आसक्ति राग-द्वेष की जननी होने से ये कर्मबन्ध के कारण हैं। उन कर्मों के फलस्वरूप वह अज्ञ नरक तिर्यंचादिरूप चतुर्गतिक संसार में परिभ्रमण करता हुआ दुःखित होता रहता है। वह जन्म-परम्परा के साथ ममत्व-परम्परा को भी बढ़ाता जाता है[२२] इस कारण कर्मबन्धन की शृंखला से मुक्त नहीं हो पाता।

ममाती लुप्पती बाले—इस वाक्य में शास्त्रकार ने एक महान् सिद्धान्त का रहस्योद्‌घाटन कर दिया है कि ममता (मूर्च्छा, आसक्ति राग आदि) से ही मनुष्य कर्मबन्धन का भागी बन कर संसार परिभ्रमण करके पीड़ित होता रहता है। इससे यह ध्वनित होता है कि मनुष्य चाहे जिस कुलादि में पैदा हो, चाहे जिन सजीव-निर्जीव प्राणि या पदार्थों के साथ रहे, या उनके संसर्ग में आए किन्तु उन पर मेरेपन की छाप न लगाए, उन पर मोह-ममत्व न रखे तो कर्मबन्धन से पृथक् रह सकता है अन्यथा वह कर्मबन्धन में फंसता रहता है। अपने आपको खो देता है।

'बाल' का अर्थ बालक नहीं, अपितु सद्-असद्-विवेक से रहित अज्ञान है।

अन्नमन्नेहिं मुच्छिए—इसके स्थान पर पाठान्तर मिलता है—**अण्णे अण्णेहिं मुच्छिए**। इस कारण इस वाक्य के दो अर्थ फलित होते हैं—प्रथम प्रकार के वाक्य का अर्थ है—**परस्पर मूर्च्छित होते हैं**। जबकि दूसरे वाक्य का अर्थ होता है—**अन्य-अन्य पदार्थों में मूर्च्छित होता है**। परस्पर मूर्च्छित होने का तात्पर्य है—वह मूढ़ माता-पिता, पत्नी, पुत्र आदि में मूर्च्छित होता है, तो वे भी अज्ञानवश उस पर मूर्च्छित होते हैं।

अन्य-अन्य पदार्थों में मूर्च्छित होने का आशय वृत्तिकार ने व्यक्त किया है मनुष्य बाल्यावस्था में क्रमशः माता-पिता, भाई-बहन, मित्र-साथी आदि पर मूर्च्छा करता है, युवावस्था आने पर पत्नी संतान, पौत्रादि पर उसकी आसक्ति हो जाती है। साथ ही अपने जाने-माने कुल, परिवार आदि के प्रति भी उसकी ममता बढ़ती जाती है। वृद्धावस्था में मूढ़ व्यक्ति की सर्वाधिक ममता अपने शरीर, धन, मकान आदि के प्रति हो जाती है। इस प्रकार की मूढ़ व्यक्ति की ममता-मूर्च्छा बदलती जाती है। विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न वस्तुओं पर ममता टिक जाती है। हमें पिछला पाठ अधिक संगत लगता है। वृत्तिकार ने उसी पाठ को मान कर व्याख्या की है।[२३]

---

[२२] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १३
(ख) आचारांग १।२

[२३] (क) सूयगडंगसुत्तं पढमो सुयक्खंधो अ० १।सू० ४ (जम्बूविजयजी सम्पादित) पृ० २
(ख) सूत्रकृतांग मूल शीलांकवृत्ति पत्रांक १३

बन्धन तोड़ने का उपाय—इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक की प्रथम गाथा में यह प्रश्न उपस्थित किया गया था कि किसे जान कर व्यक्ति बन्धन तोड़ पाता है ? इस प्रश्न के उत्तर में पाँचवीं गाथा में उसका उपाय दो प्रकार से बताया गया है (१) समस्त सजीव-निर्जीव पदार्थ प्राणी की रक्षा करने में असमर्थ, (२) तथा जीवन को स्वल्प व क्षणभंगुर मान कर कर्मो के बन्धन को तोड़ सकता है अथवा कर्मों से छूट सकता है। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—**"सव्वमेयं न ताणइ जीविय चेव संखाए, कम्मुणा उ तिउट्टइ।"** इसका आशय यह है कि बन्धन यहाँ कोई जंजीर या रस्से का नहीं है, जिसे तोड़ने के लिए शारीरिक बल लगाना पड़े। यहाँ **'परिणामे बन्धः'** इस सिद्धान्तसूत्र के अनुसार मनुष्य के शुभाशुभ परिणामों—पूर्वोक्त गाथाओं में वर्णित परिग्रह, हिंसा एवं मोह-ममता-मूर्च्छा के भावों से जो कठोर अशुभ कर्मबन्धन होते हैं, वे मन से होते हैं, और उन बन्धनों को मन से तोड़ा भी जाता है। कहा भी है—**'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः** मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण उनका मन ही है।'

मन से ममता-मूर्च्छा आदि के निकलते ही कर्मबन्धन स्वतः हट जायेंगे, आत्मा कर्मबन्धन से छूट जायेगा। मन ने कर्मबन्धन किये हैं, मन ही प्रशस्त चिन्तनबल से इन्हें तोड़ सकेगा।[२४]

वित्त और सहोदर : समस्त ममत्व स्थानों के प्रतीक—'वित्त' शब्द से यहाँ केवल सोना चाँदी सिक्के आदि धन ही नहीं, अपितु समस्त अचित्त पदार्थो को ग्रहण कर लेना चाहिए तथा **'सोयरिया'** शब्द से सहोदर भाई-बहन से नहीं, जितने भी सजीव माता-पिता सगे सम्बन्धी-जन हैं उन सबको ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि ये ही अचित्त और सचित्त पदार्थ ही ममत्वस्थान हैं।[२५]

जीवन स्वल्प और नाशवान—जिस शरीर पर मनुष्य की इतनी आसक्ति है, जिसे भोजनादि के द्वारा पुष्ट करता है, वस्त्र, मकान आदि भोज्य साधन जिसकी रक्षा के लिए जुटाता है, जिस जीवन के लिए हिंसा, असत्य, परिग्रह आदि अनेक पाप करता है क्या वह आयुष्य के टूटने पर उस शरीर या जीवन को बचा सकता है ? और इस नाशवान जीवन का कोई भरोसा भी तो नहीं है कि कब नष्ट हो जाए। इस तथ्य को हृदयंगम करके इस जीवन के प्रति ममता को मन से निकाल फेंके। जीवन के लिए अशुभ कर्मबन्ध करने वाले तत्त्वों को हृदय से निकाल दे।[२६]

ये सब भी त्राण रूप नहीं—धन, परिजन आदि सब पूर्वोक्त सचित्त-अचित्त द्रव्य प्राणान्तक शारीरिक मानसिक पीड़ा भोगते हुए परिग्रही, हिंसक या ममत्वी जीव की रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं। मनुष्य इसलिए इन पर ममत्व करता है कि समय आने पर जन्म, जरा, व्याधि, मृत्यु इष्ट-वियोग आदि के भयंकर दुःखों या जन्म-मरण परम्परा के घोरतम कष्टों से मेरी रक्षा करेंगे और मुझे शरण

---

[२४] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक-१४

[२५] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक-१४

[२६] सूत्रकृतांग अमरसुखबोधनी व्याख्या, पृ०-४९
उत्तराध्ययन सूत्र ८/१ में देखिये—

अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराए।
किं नाम होज्ज तं कम्मयं जेणाहं दुग्गइं न गच्छेज्जा।

देंगे, परन्तु समय आने पर ये कोई भी उसे बचा नहीं सकेंगे और न ही शरण दे सकेंगे। वह निरुपाय होकर देखता रह जायगा।[२५]

निष्कर्ष यह है कि विश्व का कोई भी सजीव-निर्जीव पदार्थ किसी अन्य की प्राणरक्षा में समर्थ नहीं है, और यह जीवन भी स्वल्प और नाशवान है, यह ज्ञपरिज्ञा से सम्यक् जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से सचित्त-अचित्त परिग्रह प्राणिवधादि पाप तथा स्वजनादि के प्रति मोह-ममत्व आदि बन्धन-स्थानों का त्याग करने से जीव कर्म से पृथक् हो जाता। अथवा **'कम्मुणा उ तिउट्टइ'** इस वाक्य का यह भी अर्थ हो सकता है—उक्त दोनों तथ्यों को भली-भाँति जानकर जीव कर्म—संयमानुष्ठानरूप क्रिया करने से बन्धन से छूट जाता है।[२६]

एए गंथे विउक्कम्म—पाँचवीं गाथा तक स्वसमय (सिद्धान्त) का निरूपण किया गया। छठी गाथा से पर-समय का निरूपण किया गया है। इसका आशय यह है कि कई श्रमण एवं माहण (ब्राह्मण) इन अर्हत्कथित ग्रन्थों-शास्त्रों अथवा सिद्धान्तों को अस्वीकार करके परमार्थ को नहीं जानते हुए मिथ्यात्व के उदय से मिथ्याग्रहवश विविध प्रकार से अपने-अपने ग्रन्थों—सिद्धान्तों में प्रबल रूप से बद्ध हैं।[२७]

चूर्णिकार के अनुसार यहाँ शास्त्रकार का आशय यह प्रतीत होता है कि वे तथाकथित श्रमण-माहण परमार्थ को या विरति-अविरति दोष को नहीं जानकर विविध रूप से अपने-अपने ग्रन्थों या सिद्धान्तों से चिपके हुए हैं। इसी मिथ्यात्व के कारण वे न तो आत्मा को मानते हैं और न कर्मबन्ध और मोक्ष (मुक्ति) को। जब आत्मा का अस्तित्व ही नहीं मानते तो उसके साथ बंधने वाले कर्मों को, और कर्मबन्धन से मुक्ति को मानने का प्रश्न ही नहीं उठता। कई माहण (दार्शनिक) आत्मा को मानते भी हैं तो वे सिर्फ पंचभौतिक या इस शरीर के साथ ही विनष्ट होने वाली मानते हैं, जिसमें न तो

---

[२५] (क) वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते—उत्तरा० अ० ४ गा० ५
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ४९-५०
(ग) धनानि भूमौ पशवश्चव गोष्ठे, नारी गृहद्वारि जनाः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे, धर्मानुगो गच्छति जीव एकः॥"
(घ) जेहिं वा सद्धिं संवसति ते व णं एगया णियगा पुव्विं पोसेति, सो वा ते णियगे पच्छा पोसेज्जा। णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमंपि तेसिं णालं ताणाए वा मरणाए वा।" —आचारांग सूत्र ६६

[२६] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १४
(ख) **संखाए त्ति** (संख्याय) ज्ञात्वा जाणणा संखाए, 'अणिच्चं जीवितं' ति तेण कम्माइं-कम्महेतू य त्रोडेज्जा।"
—संखाए का अर्थ है, जानकर, क्या जानकर ? जीवन अनित्य है, यह जानकर इस तरीके से कर्मों को—कर्म के कारणों को तोड़े। —सूत्र० चूर्णि०
अथवा चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर भी है—**'संधाति जीवितं चेव'** जिसका अर्थ किया है—
'समस्तं धाति—संधाति मरणाय धावति'—समस्त प्राणी जीवन मृत्यु (विनाश) की ओर दौड़ रहा है। —सूत्र० चूर्णि मू० पा० टिप्पण पृ० २

[२७] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १४
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ५२-५३

कर्मवन्ध का झगड़ा है, न कर्मवन्ध से मुक्ति का कोई प्रश्न है। सांख्यादि दार्शनिक आत्मा को पृथक् तत्त्व मानते हैं तो भी वे उसे निष्क्रिय और अकर्ता मानते हैं, निर्गुण मानते हुए भी भोक्ता मानते हैं। वे मुक्ति मानते हुए भी केवल २५ तत्त्वों के ज्ञानमात्र से ही मुक्ति मानते हैं चारित्र की आवश्यकता नहीं समझते। मीमांसक आदि दार्शनिक कर्म (क्रिया) को मानते हैं, तो भी वे सिर्फ वेदविहित एवं प्राय: स्वर्गादिकामनामूलक कर्मों को मानते हैं, और मोक्ष तक तो उनकी दौड़ ही नहीं है। वे स्वर्ग को ही अन्तिम लक्ष्य मानते हैं। नैयायिक-वैशेपिक आत्मा को तो मानते हैं, परन्तु नैयायिक प्रमाण, प्रमेय आदि १६ तत्त्वों के ज्ञान से ही मुक्ति मान लेते हैं। त्याग, नियम, व्रत आदि चारित्र-पालन की वे आवश्यकता नहीं वताते और न उन्होंने कर्मवन्ध का कोई तर्कसंगत सिद्धान्त माना है। कर्मवन्धन से मुक्त करने की सारी सत्ता ईश्वर के हाथों में सौंप दी है। यही हाल प्राय: वैशेपिकों का है—वे बुद्धि सुख-दु:ख, इच्छा आदि आत्मा के नौ गुणों के सर्वथा उच्छेद हो जाने को मुक्ति मानते हैं। इनकी मुक्ति भी ईश्वर के हाथ में है। ईश्वर ही जीव के अदृप्ट के अनुसार कर्मफल भोग कराता है—वन्धन में डालता है या मुक्त करता है। कर्मवन्धन से मुक्त होने के लिए न तो अहिंसा चारित्र-धर्म का पालन करने की अनिवार्यता वताई है और न ही कर्मवन्ध को काटने की कोई प्रक्रिया वताई है। संक्षेप में यही इन श्रमण-माहणों का अपसिद्धान्त है। यही कारण है कि ये सव मतवादी आत्मा एवं उसके साथ वँधने वाले कर्म और उनसे मुक्ति के सम्वन्ध में अपनी असत् कल्पनाओं से ग्रस्त होकर कामभोगों में आसक्त हैं। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**"अयाणंता विउस्सित्ता सत्ता कामेहिं माणवा।"** कर्मों का वन्धन जव हिंसादि के कारण नहीं माना जाता, तव उनसे छूटने की चिन्ता क्यों होगी? ऐसी स्थिति में उनका स्वच्छन्द कामभोगों में प्रवृत्त होना स्वाभाविक है।[२८]

---

[२८] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्र १४ के आधार पर।

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखवोधिनी व्याख्या के आधार पर, पृ. ५३-५४।

(ग) वौद्ध—नात्माऽस्ति, स्कन्धमात्रं तु क्लेशकर्माभिसंस्कृतम्।
अन्तरा भवसन्तत्या, कुक्षिमेति प्रदीपवत्॥
—अभिधम्मत्थ० ३

सांख्य— पंचविंशतितत्त्वज्ञो यत्रकुत्राश्रमे रत—
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यते नात्र संशय:॥
—सांख्यकारिका माठरवृत्ति
तस्मान्न वध्यते नैव मुच्यते नाऽपि संसरति कश्चित्।
संसरति वध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति:॥
—सांख्यकारिका ६२

वैशेपिक—"धर्मविशेपप्रसूताद् द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेप-समवायनां पदार्थानां साधर्म्य वैधर्म्याभ्यां तत्वज्ञानान्नि:श्रेयसाधिगम:॥"
—वैशेषिकसूत्र १/४/२

नैयायिक—"प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन दृप्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्नि:श्रेयसाधिगम:।"
—न्यायसूत्र १/१/१/३

मीमांसक—'चोदनालक्षणो धर्म:, चोदना इति क्रियाया: प्रवर्तकं वचनमाह।' —मीमांसासूत्र शव्द भा० १/१/२
अतीन्द्रायाणामर्थानां, साक्षाद् द्रप्टा न विद्यते।
(वेद) वचनेन हि नित्येन, य: पश्यति स पश्यति॥
—मी० श्लोक० कुमारिलभट्ट

चार्वाक—एतावानेव पुरुपो, यावानिन्द्रियगोचर:।
भद्रे! वृकपदं पश्य, यद् वदन्त्यवहुश्रुता:॥
—वृहस्पति आचार्य

'एगे समण-माहणा' की व्याख्या—प्रस्तुत गाथा में समण-माहणा का शब्दशः अर्थ होता है—श्रमण और माहन। परन्तु कौन श्रमण और कौन माहन? इस प्रसंग में वृत्तिकार श्रमण का अर्थ शाक्य भिक्षु करते हैं और माहन का अर्थ ब्राह्मण करते हुए उसका स्पष्टीकरण करते हैं—बार्हस्पत्य (चार्वाक=लोकायतिक) आदि। तथा आगे चलकर—ब्राह्मणपद के प्रवाह में सांख्य, वैशेषिक, नैयायिक एवं मीमांसक को भी ले लेते हैं, क्योंकि ये सभी मिथ्यात्व और अज्ञान से ग्रस्त हैं, अपनी-अपनी मिथ्या-मान्यताओं से आग्रहपूर्वक चिपके हुए हैं। साथ ही स्वच्छन्दरूप से कामभोगों में आसक्त होने के कारण ये अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग में भी प्रवृत्त होते हों, यह स्वाभाविक है।[२९]

पर-समय : मिथ्यात्वग्रस्त क्यों और कैसे?—जैन सिद्धान्तानुसार मिथ्यात्व का लक्षण है—जो वस्तु जैसी और वस्तुतः जिस स्वरूप में है, उसे वैसी और उस रूप में न मानकर विपरीत रूप में मानना।

मिथ्यादर्शन मुख्यतया दो प्रकार का होता है—

"(१) यथार्थ तत्त्वों में श्रद्धा न होना,
(२) अयथार्थ वस्तु पर श्रद्धा करना।"

स्थानांगसूत्र में जीव, धर्म, मार्ग, साधु और मुक्त को लेकर मिथ्यात्व के १० भेद बताये हैं। इसी प्रकार अक्रिया, अविनय, अज्ञान यों तीन प्रकार, आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक आदि ५ एवं २५ प्रकार के मिथ्यात्व शास्त्रों में बताये हैं।[३०]

सन्मतितर्क में मिथ्यात्व के ६ स्थान बताये हैं—(१) आत्मा नहीं है, (२) आत्मा नित्य नहीं है, (३) आत्मा कर्ता नहीं है, (४) आत्मा किसी भी कर्म का भोक्ता नहीं है, (५) मोक्ष नहीं है और (६) मोक्ष का उपाय नहीं है।[३१]

मिथ्यात्व के पूर्वोक्त लक्षण, प्रकार, कारणों और स्थानों की कसौटी पर जब हम उन-उन पर-समयों (पूर्वोक्त बौद्ध, लोकायतिक, सांख्य आदि श्रमण-ब्राह्मण सिद्धान्तों) को कसते हैं तो स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि वे किस-किस प्रकार के मिथ्यात्व से ग्रस्त हैं!

कठिन शब्दों की व्याख्या—गंथे—ग्रन्थ का अर्थ यहाँ कोई शास्त्र या पुस्तक न होकर लक्षणा-

---

[२९] (क) श्रमणाः शाक्यादयो, बार्हस्पत्यमतानुसारिणश्च ब्राह्मणाः। "....सांख्या एवं व्यवस्थिताः....वैशेषिकाः पुनराहुः....तथा नैयायिका—तथा मीमांसकाः—एवं चांगीकृत्यैते लोकायितकाः।"
—सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १४

[३०] (क) "दसविहे मिच्छत्ते पण्णत्ते, तं जहा—अधम्मेधम्मसण्णा धम्मे अधम्मसण्णा, मग्गे उम्मग्गसण्णा, अमग्गे मग्ग सण्णा, अजीवेसु जीव-सण्णा, जीवेसु अजीवसण्णा, असाहुसु साहुसण्णा, साहुसु असाहुसण्णा, अमुत्तेसु मुत्तसण्णा, मुत्तेसु अमुत्तसण्णा।
—स्थानांग स्था०-१०, सूत्र ७३४

(ख) तिविहे मिच्छत्ते पण्णत्ते तं जहा—अकिरिए, अविणए, अण्णाणे।
—स्थानांग स्था० ३

(ग) धर्मसंग्रह अधिकार-२ श्लो० २२, कर्मग्रन्थ भाग ४ गा० ५२

(ङ) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ५३

[३१] णत्थि, ण णिच्चो, ण कुणइ कथं ण वेएइ, णत्थि णिव्वाणं।
णत्थि य मोक्खोवाओ, छय मिच्छत्तस्स ठाणाइं॥
—सन्मतितर्क

वृत्ति से सिद्धान्त या मत अर्थ ही अधिक संगत होता है। **विउक्कम्म**—उल्लंघन कर, उलट-पुलट रूप में स्वीकार कर, या जिनोक्त सिद्धान्तों के अस्वीकारकर अथवा छोड़कर। **अयाणंता**—वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—परमार्थ को न जानते हुए, चूर्णिकार के अनुसार अर्थ है—विरति-अविरति दोषों को न जानते हुए। **विउस्सिता**—वृत्तिकार ने इसका विवेचन यों किया है—विविध-अनेक प्रकार से उत्=प्रबलता से जो सित=बद्ध हैं—वे व्युत्सृत हैं—स्व-स्वसमय (सिद्धान्त) से अभिनिविष्ट (चिपके हुए) हैं।

कामेहिंसत्ता—की व्याख्या चूर्णिकार के मतानुसार—अप्रशस्त इच्छा वाले गृहस्थ (मानव) शब्दादि कामभोगों में अथवा इच्छारूप एवं मदनरूप कामों में आसक्त हैं, रक्त —गृद्ध हैं, मूर्च्छित हैं। प्रायः यही व्याख्या वृत्तिकार ने की है।[32]

पंच महाभूतवाद—

७. संति पंच महब्भूया, इहमेगेसिमाहिया।
पुढवी आऊ तेऊ वा, वाऊ आगासपंचमा ॥७॥

८. एते पंच महब्भूया, तेब्भो एगो त्ति आहिया।
अह तेसिं विणासे णं, विणासो होइ देहिणो ॥८॥

७. इस लोक में पाँच महाभूत हैं, (ऐसा) किन्हीं ने कहा है। (वे पंच महाभूत हैं) पृथ्वी, जल, तेज, वायु और पांचवाँ आकाश।

८. ये पांच महाभूत हैं। इससे एक (आत्मा उत्पन्न होता है, ऐसा उन्होंने) कहा। पश्चात् इन (पंचमहाभूतों) के विनाश से देही (आत्मा) का विनाश होता है।

विवेचन—पंचमहाभूतवाद का स्वरूप—इन दो गाथाओं में पंचमहाभूतवाद का स्वरूप बताया गया है। वृत्तिकार इन पंचमहाभूतवादियों को चार्वाक कहते हैं। यद्यपि सांख्यदर्शन और वैशेषिक-दर्शन भी पंचमहाभूतों को मानते हैं, परन्तु वे इन पंचमहाभूतों को ही सभी कुछ नहीं मानते। सांख्यदर्शन पुरुष (आत्मा) प्रकृति, महत्तत्व (बुद्धि), अहंकार, पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय, पंचतन्मात्र (विषय) आदि, तथा वैशेषिकदर्शन दिशा, काल, आत्मा, मन आदि अन्य पदार्थों को भी मानता है, जबकि चार्वाक (लोकायतिक) पंचभूतों के अतिरिक्त आत्मा आदि कोई भी पदार्थ नहीं मानता, इसलिए इन दोनों गाथाओं में उक्त मत लोकायतिक का ही मान कर व्याख्या की गई।

लोकायतिक मत इस प्रकार है—"पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, ये पांच महाभूत सर्व-लोकव्यापी एवं सर्वजनप्रत्यक्ष होने से महान् हैं, इनके अस्तित्व से न तो कोई इन्कार कर सकता है, और न

---

[32] विउक्कम्म—एतान् अनन्तरोक्तान् ग्रन्थान् व्युत्क्रम्य परित्यज्य। अयाणंता—परमार्थमजानानाः (शी० वृत्ति पत्र १४) 'अयाणं' ता विरति—अविरतिदोसे य।" (चू० मू० पा० टि० पृ० २)। विउस्सित्ता विविधमनेक-प्रकारम् उत् प्राबल्येन सिता बद्धाः। (शी० वृत्ति प० १४), वीभत्सं वा उत्सृता विउस्सिता (चू० मू० पा० २) एवं सत्ता कामेहिं माणवा—कामाः शब्दादयः, गृहस्था अप्पसत्थिच्छा। कामेसु—इच्छाकामेसु मयणकामेसु वा सत्ता। (चू० मू० पा० टि० २)

ही इनका खण्डन। दूसरे मतवादियों द्वारा कल्पित इन पंचभूतों से भिन्न, परलोक में जाने वाला, सुख-दु:ख भोगने वाला आत्मा नाम का कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, क्योंकि उसका (आत्मा का) बोधक कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है।

"अनुमान, आगम आदि को हम प्रमाण नहीं मानते, क्योंकि अनुमान आदि में पदार्थ का इन्द्रियों के साथ साक्षात् सम्बन्ध (सन्निकर्ष) नहीं होता, इसलिए उनका मिथ्या होना सम्भव है। अत: हम मानते हैं कि पृथ्वी आदि पंचमहाभूतों के शरीर रूप में परिणत होने पर इन्हीं भूतों से अभिन्न ज्ञानस्वरूप चैतन्य उत्पन्न होता है। जैसे—गुड़-महुआ आदि मद्य की सामग्री के संयोग से मद-शक्ति उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही शरीर में इन पंचमहाभूतों के संयोग से चैतन्यशक्ति उत्पन्न होती है। यह चैतन्य शक्ति पंचमहाभूतों से भिन्न नहीं है, क्योंकि वह पंचमहाभूतों का ही कार्य है। जिस प्रकार जल में बुलबुले उत्पन्न होते हैं और इसी में विलीन हो जाते हैं, इसी प्रकार आत्मा भी इन्हीं पंचभूतों से उत्पन्न होकर इन्हीं में विलीन हो जाता है।[३३]

द्वितीय श्रुतस्कन्ध में इसका विस्तृत वर्णन है। यद्यपि कई प्राचीन चार्वाक पृथ्वी, जल, तेज और वायु, इन चार महाभूतों को ही मानते हैं, परन्तु अर्वाचीन चार्वाकों ने सर्वलोक प्रसिद्ध होने से पाँचवें आकाश को भी महाभूत मान लिया।

दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में ऐसे ही चातुर्भौतिकवाद का वर्णन है—'वे भी आत्मा को रूपी, चार महाभूतों से निर्मित तथा माता-पिता के संयोग से उत्पन्न मानते हैं। तथा यह कहते हैं कि शरीर के विनष्ट होते ही चेतना भी उच्छिन्न, विनष्ट, और लुप्त हो जाती है।[३४]

निराकरण—निर्युक्तिकार ने इस वाद का खण्डन इस प्रकार किया है—"पृथ्वी आदि पंचभूतों के संयोग से चैतन्यादि गुण (तथा तज्जनित बोलना, चलना, सुनना आदि क्रियारूप गुण) उत्पन्न नहीं हो सकते, क्योंकि पंचमहाभूतों का गुण चैतन्य नहीं है। अन्य गुण वाले पदार्थों के संयोग से अन्य गुण वाले पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जैसे—बालू में तेल उत्पन्न करने का स्निग्धता गुण नहीं है, इसलिए बालू को पीलनें से तेल पैदा नहीं होता, वैसे ही पंचभूतों में चैतन्य उत्पन्न करने का गुण न होने से, उनके संयोग से चैतन्य उत्पन्न नहीं हो सकता। स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और स्रोतरूप पाँच इन्द्रियों

---

[३३] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १५-१६
(ख) देखें द्वितीयश्रुतस्कन्ध, सूत्र ६५४-६५८
(ग) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ. ६५-६६
(घ) (१) पृथिव्यादिभूतसंहत्यां यथा देहादिसम्भवः।
मदशक्तिः सुरांगेभ्यो यत् पद् वच्चिदात्मनि। —षड्दर्शन समुच्चय ८४ श्लोक
(२) शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञके च पृथिव्यादिभूतेभ्यश्चैतन्याभिव्यक्तिः पिष्टोदक गुडधातक्यादियो मदशक्तिवत्।'
—प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृ. ११५
(३) पृथिव्यापस्तेजोवायूरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरविषयेन्द्रियसंज्ञाः तेभ्यश्चैतन्यम्।
—तत्वोपप्लव शां. भाष्य

[३४] ....अयं अत्ता रूपी चातुर्महाभूतिको मातापेत्तिकसम्भवो कायस्स भेदा उच्छिज्जत्ति विनस्सति, न होइ परं मरणा ....इत्थेके सतो सत्तस्स उच्छेदं विनासं विभव पञ्ञापेंति। —दीघनकाय ब्रह्मजाल सुत्त पृ. ३०

के जो उपादानकारण हैं, उनका गुण भी चैतन्य नहीं होने से भूतसमुदाय का गुण चैतन्य नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त एक इन्द्रिय के द्वारा जानी हुई वात, दूसरी इन्द्रिय नहीं जान पाती, तो फिर मैंने सुना भी और देखा भी, देखा, चखा, सूंघा, छुआ भी, इस प्रकार का संकलन—जोड़ रूप ज्ञान किसको होगा? परन्तु यह संकलन ज्ञान अनुभवसिद्ध है। इससे प्रमाणित होता है कि भौतिक इन्द्रियों के अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञाता है जो पाँचों इन्द्रियों द्वारा जानता है। इन्द्रियाँ करण हैं, वह तत्त्व कर्त्ता है। वही तत्त्व आत्मा है।

वृत्तिकार एक शंका प्रस्तुत करते हैं—यदि पंचभूतों से भिन्न आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है, तो फिर मृत शरीर के विद्यमान रहते भी 'वह (शरीरी) मर गया' ऐसा व्यवहार कैसे होगा?

यद्यपि चार्वाक इस शंका का समाधान यों करते हैं कि शरीर रूप में परिणत पंचभूतों में चैतन्य शक्ति प्रकट होने के पश्चात् उन पांच भूतों से किसी भी एक या दो या दोनों के विनष्ट हो जाने पर देही का नाश हो जाता है, उसी पर से 'वह मर गया', ऐसा व्यवहार होता है, परन्तु यह युक्ति निराधार है। मृत शरीर में भी पांचों भूत विद्यमान रहते हैं, फिर भी उसमें चैतन्यशक्ति नहीं रहती, इसलिए यह सिद्ध है कि चैतन्य शक्तिमान् (आत्मा) पंचभौतिक शरीर से भिन्न है। और वह नित्य है। इस पर से इस वात का भी खण्डन हो जाता है कि पंचभूतों के नष्ट होते ही देही (आत्मा) का भी नाश हो जाता है।[३५]

आत्मा अनुमान से, 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभव से, तथा "अत्थि में आया उववाइए" इत्यादि आगम प्रमाण से सिद्ध होता है। चार्वाक एकमात्र प्रत्यक्ष को मान कर भी स्वयं अनुमान प्रमाण का प्रयोग करता है, यह 'वदतो व्याघात' जैसा है।

मिट्टी की वनाई हुई ताजी पुतली में पांचों भूतों का संयोग होता है, फिर भी उसमें चैतन्य गुण क्यों नहीं प्रकट होता? वह स्वयं वोलती या चलती क्यों नहीं? इससे पंचभूतों से चैतन्यगुण प्रकट होने का सिद्धान्त मिथ्या सिद्ध होता है। चैतन्य एकमात्र आत्मा का ही गुण है, वह पृथ्वी आदि पंचभूतों से भिन्न है, स्पर्शन, रसन आदि गुणों के तथा ज्ञानगुण के प्रत्यक्ष अनुभव से उन गुणों के धारक गुणी का अनुमान किया जाता है।

देह विनष्ट होने के साथ आत्मा का विनाश मानना अनुचित

देह के विनाश के साथ आत्मा का विनाश मानने पर तीन वड़ी आपत्तियाँ आती हैं—

(१) केवलज्ञान, मोक्ष आदि के लिए की जाने वाली ज्ञान, दर्शन, चारित्र की तथा तप, संयम, व्रत, नियम आदि की साधना निष्फल हो जायगी।

(२) किसी भी व्यक्ति को दान, सेवा, परोपकार, लोक-कल्याण आदि पुण्यजनक शुभकर्मों का फल नहीं मिलेगा।

---

[३५] (क) पंचण्हं संजोए अण्णगुणाणं च चेइणागुणो।
पंचेंदियठाणाणं, ण अण्णमुणियं मुणइ अण्णो॥ —निर्युक्ति गा०-३३
(ख) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्रांक १५-१६

(३) हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापकर्म करने वाले लोग निःशंक होकर पापकर्म करेंगे क्योंकि उनका आत्मा तो शरीर के साथ यहीं नष्ट हो जायेगा। परलोक में उन पापकर्मों का फल भोगने के लिए उनकी आत्मा को नरक, तिर्यंच आदि दुर्गतियों में कहीं जाना नहीं पड़ेगा। इस मिथ्यावाद के फलस्वरूप सर्वत्र अराजकता अनैतिकता और अव्यवस्था फैल जायगी।

जैनदर्शन मानता है कि आत्मा द्रव्य दृष्टि से नित्य होते हुए भी पर्यायदृष्टि से कथंचित् अनित्य है ऐसा मानने पर ही शुभाशुभ कर्मफल व्यवस्था बन सकती है, पापकर्म करने वालों की आत्मा को दूसरी गति एवं योनि में उसका फल अवश्य भोगना पड़ेगा, पुण्यकर्म करने वालों को भी उसका शुभफल मिलेगा और ज्ञान-दर्शन-चारित्र, तप आदि की उत्कृष्ट साधना करने वालों की आत्मा कर्मों से मुक्त, सिद्ध, बुद्ध हो सकेगी।

निष्कर्ष यह है कि पंचभूतवाद का सिद्धान्त मिथ्यात्वग्रस्त है, अज्ञानमूलक है, अतः कर्मबन्ध का कारण है।

एकात्मवाद—

९. जहा य पुढवीथूभे, एगे नाणा हि दीसइ।
एवं भो! कसिणे लोए, विण्णू नाणा हि दीसइ ॥९॥

१०. एवमेगे त्ति जंपंति, मंदा आरंभणिस्सिया।
एगे किच्चा सयं पावं, तिव्वं दुक्खं नियच्छइ ॥१०॥

९. जैसे एक ही पृथ्वीस्तूप (पृथ्वीपिण्ड) नानारूपों में दिखाई देता है, हे जीवो! इसी तरह समस्त लोक में (व्याप्त) विज्ञ (आत्मा) नानारूपों में दिखाई देता है; अथवा (एक) आत्मरूप (यह) समस्त लोक नानारूपों में दिखाई देता है।[36]

१०. इस प्रकार कई मन्दमति (अज्ञानी), 'आत्मा एक ही है,' ऐसा कहते हैं, (परन्तु) आरम्भ में आसक्त रहने वाले व्यक्ति पापकर्म करके स्वयं अकेले ही दुःख करते हैं (दूसरे नहीं)।[37]

---

[36] 'कसिणे लोए विण्णू नाणा हि दीसइ'—पाठ में 'कसिणे लोए' को सप्तम्यन्त मानकर व्याप्तपद का अध्याहार करने से ऐसा अर्थ होता है। और 'कसिणे लोए' को प्रथमान्त मानकर अर्थ करने से दूसरा अर्थ होता है। चूर्णिकार ने 'विण्णू' शब्द का अर्थ विद्वान् अथवा विण्णु (व्यापक ब्रह्म) किया है।

[37] गाथा १० में 'एगे किच्चा····दुक्खं नियच्छइ' का अर्थ वृत्तिकार ने किया है 'एगे' अर्थात् कई पापकर्म करके स्वयं तीव्र दुःख पाते हैं। यहाँ आर्षवचन होने से 'नियच्छइ' में बहुवचन के वदले एकवचन का प्रयोग किया है। परन्तु 'एगे' का अर्थ 'एकाकी' करने से अर्थ हो जाता है—'आरम्भासक्त जीव पाप करके स्वयं अकेले ही तीव्र दुःख प्राप्त करता है।' 'एवंमेगेत्ति' का अर्थ चूर्णिकार 'एक एव पुरुषः एवं प्रभाषन्ते' करते हैं।

विवेचन—एकात्मवाद का स्वरूप और उसका खण्डन—प्रस्तुत दोनों गाथाओं में से नौवीं गाथा में दृष्टान्त द्वारा एकात्मवाद का स्वरूप बताकर, दसवीं गाथा में उसका सयुक्तिक खण्डन किया है।

प्रस्तुत गाथा में प्रतिपादित एकात्मवाद उत्तरमीमांसा (वेदान्त) दर्शनमान्य है।[३८] वेदान्तदर्शन का प्रधान सिद्धान्त है—इस जगत् में सब कुछ ब्रह्म (शुद्ध-आत्म) रूप है, उसके सिवाय नाना दिखाई देने वाले पदार्थ कुछ नहीं हैं। अर्थात् चेतन-अचेतन (पृथ्वी आदि पंचभूत तथा जड़ पदार्थ) जितने भी पदार्थ हैं, वे सब एक ब्रह्म (आत्म) रूप हैं।[३९] यही बात शास्त्रकार ने कही है—**'एवं भो कसिणे लोए विण्णू।'** नाना दिखाई देने वाले पदार्थों को भी वे दृष्टान्त द्वारा आत्मरूप सिद्ध करते हैं, जैसे—पृथ्वीसमुदायरूप पिण्ड (अवयवी) एक ही है, फिर भी नदी, समुद्र, पर्वत, रेती का टीला, नगर, घट, घर आदि के रूप में वह नाना प्रकार दिखाई देता है, अथवा ऊँचा, नीचा, काला, पीला, भूरा, कोमल, कठोर आदि के भेद से नाना प्रकार का दिखाई देता है, किन्तु इन सब में पृथ्वीतत्त्व व्याप्त रहता है। इन सब भेदों के बावजूद भी पृथ्वी-तत्त्व का भेद नहीं होता, इसी प्रकार एक ज्ञानपिण्ड (विज्ञ-विद्वान्) आत्मा ही चेतन-अचेतनरूप समग्र लोक में व्याप्त है। यद्यपि एक ही ज्ञानपिण्ड आत्मा पृथ्वी, जल आदि भूतों के आकार में नाना प्रकार का दिखाई देता है, फिर भी इस भेद के कारण आत्मा के स्वरूप में कोई भेद नहीं होता।

आशय यह है कि जैसे—घड़े आदि सब पदार्थों में पृथ्वी एक ही है, उसी तरह आत्मा भी विचित्र आकृति एवं रूप वाले समान जड़-चेतनमय पदार्थों में व्याप्त है और एक ही है। श्रुति (वेद) में भी कहा है—जैसे—एक ही चन्द्रमा जल से भरे हुए विभिन्न घड़ों में अनेक दिखाई देता है, वैसे सभी भूतों में रहा हुआ एक ही (भूत) आत्मा उपाधि भेद में अनेक प्रकार का दिखाई देता है। जैसे एक ही वायु सारे लोक में व्याप्त (प्रविष्ट) है, मगर उपाधिभेद से अलग-अलग रूप वाला हो गया है, वैसे एक ही आत्मा उपाधिभेद से विभिन्नरूप वाला हो जाता है।[४०]

---

[३८] उत्तरमीमांसा या वेदान्त के सिद्धान्त उपनिषदों में, कुछ पुराणों और अन्य वैदिक ग्रन्थों में मिलते हैं। वेद का उपनिषदों में संग्रहीत ज्ञानकाण्ड वेदान्त कहलाता है। वेदान्तदर्शन का क्रमशः वर्णन स्वरचित ब्रह्मसूत्र (वेदान्त सूत्र) में सर्वप्रथम बादरायण (ई० पू० ३-४ शताब्दी) ने किया, जिस पर शंकराचार्य का भाष्य है।

[३९] (क) (१) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेहनानास्ति किंचन' —ब्रह्मसूत्र
(२) 'सर्वमेतदिदं ब्रह्म' —छान्दोग्योपनिषद् ३।१४।१
(३) 'ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वम्' —मैत्र्युपनिषद् ४।६।३
(४) 'पुरुष एवेदं, सर्वं यच्चभूतं यच्च भाव्यम्। —श्वेताश्वतरोप० अ० ४ ब्रा० ६।१३

[४०] (क) एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥
(ख) वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो, रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥ —कठोप० २।५।१०

मंदा—वे एकात्मवादी मन्दबुद्धि इसलिए हैं कि युक्ति एवं विचार से रहित एकान्त एकात्मवाद स्वीकार करते हैं। एकान्त एकात्मवाद युक्तिहीन है, सारे विश्व में एक ही आत्मा को मानने पर निम्नलिखित आपत्तियाँ आती हैं—

(१) एक के द्वारा किये गए शुभ या अशुभकर्म का फल दूसरे सभी को भोगना पड़ेगा जो कि अनुचित व अयुक्तिक है।

(२) एक के कर्मवन्धन होने पर सभी कर्मवन्धन से वद्ध और एक के कर्मवन्धन से युक्त होने पर सभी कर्मवन्धन से मुक्त होंगे। इस प्रकार की अव्यवस्था हो जाएगी कि जो जीव मुक्त है, वह वन्धन में पड़ जाएगा और जो वन्धन में पड़ा है, वह मुक्त हो जाएगा। इस प्रकार वन्ध और मोक्ष की अव्यवस्था हो जायेगी।

(३) देवदत्त का ज्ञान यज्ञदत्त को होना चाहिए तथा एक के जन्म लेने, मरने या किसी कार्य में प्रवृत्त होने पर सभी को जन्म लेना, मरना या उस कार्य में प्रवृत्त होना चाहिए। परन्तु ऐसा कदापि होना सम्भव नहीं है।

(४) जड़ और चेतन सभी में एक आत्मा मानने पर आत्मा का चैतन्य या ज्ञान गुण जड़ में भी आ जाएगा, जो कि असम्भव है।

(५) जिसे शास्त्र का उपदेश दिया जाता है वह और शास्त्र का उपदेष्टा, दोनों में भेद न होने के कारण शास्त्ररचना भी न हो सकेगी।

इसीलिए शास्त्रकार ने कहा है—**"एगे किच्चा सयं पावं तिव्वं दुक्खं नियच्छइ"**—आशय यह है—संसार में यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि जो पापकर्म करता है, उस अकेले को ही उसके फलस्वरूप तीव्र दुःख प्राप्त होता है, दूसरे को नहीं। किन्तु यह एकात्मवाद मानने पर वन नहीं सकता।[४१]

तज्जीव तच्छरीरवाद

११. **पत्तेयं कसिणे आया, जे बाला जे य पंडिता।**
संति पेच्चा ण ते संति, णत्थि सत्तोववाइया॥ ११॥

१२. **णत्थि पुण्णे व पावे वा, णत्थि लोए इतो परे।**
सरीरस्स विणासेणं, विणासो होति देहिणो॥ १२॥

११. जो वाल (अज्ञानी) हैं और जो पण्डित हैं, उन प्रत्येक (सव) की आत्माएँ पृथक-पृथक हैं। मरने के पश्चात् वे (आत्माएँ) नहीं रहतीं। परलोकगामी कोई आत्मा नहीं है।

१२. (इस वाद के अनुसार) पुण्य अथवा पाप नहीं है, इस लोक से पर (आगे) कोई दूसरा लोक नहीं है। देह का विनाश होते ही देही (आत्मा) का विनाश हो जाता है।

---

[४१] (क) एकात्मवाद से सम्बन्धित विशेष वर्णन के लिए देखिए—द्वितीय श्रुतस्कन्ध, सूत्र ८३३
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १९ के आधार पर

विवेचन—तज्जीव तच्छरीरवाद का मन्तव्य और उसकी फलश्रुति—इन दोनों गाथाओं में से प्रथम गाथा में तज्जीव-तच्छरीरवाद का मन्तव्य बताया गया है और दूसरी गाथा में इसकी फलश्रुति।

'वही जीव है और वही शरीर है', इस प्रकार जो मानता है, उसे तज्जीव-तच्छरीरवाद कहते हैं।[४२] यद्यपि पंचमहाभूतवादी भी शरीर को ही आत्मा बताता है, किन्तु उसके मत में पंचमहाभूत ही शरीर के रूप में परिणत होकर दौड़ना, बोलना आदि सब क्रियाएँ करते हैं, जबकि तज्जीव तच्छरीरवादी शरीर से चैतन्यशक्ति की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति मानता है। शरीर से आत्मा को अभिन्न मानता है, यही इन दोनों वादों में अन्तर है।

यों तो जैनदर्शन, न्यायदर्शन आदि भी कहते हैं—**'प्रत्यगात्मा भिद्यते'** प्रत्येक प्राणी की आत्मा भिन्न है, वह अपने आप में सम्पूर्ण है, पूर्ण शक्तिमान है, किन्तु तज्जीव-तच्छरीरवाद की मान्यता विचित्र है, वह कहता है—जब तक शरीर है, तब तक ही उसकी आत्मा रहती है, शरीर के नष्ट होते ही आत्मा नष्ट हो जाती है, क्योंकि शरीररूप में परिणत पंचमहाभूतों से जो चैतन्यशक्ति उत्पन्न होती है, वह उनके बिखरते ही या अलग-अलग होते ही नष्ट हो जाती है। शरीर से बाहर निकल कर कहीं अन्यत्र जाता हुआ चैतन्य प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता, इसलिए कहा गया—**'पेच्चा ण ते संति।'** अर्थात्—मरने के बाद परलोक में वे आत्माएँ नहीं जाती।

निष्कर्ष यह है कि शरीर से भिन्न स्व-कर्मफलभोक्ता परलोकानुयायी कोई आत्मा नामक पदार्थ नहीं है। जो है, वह शरीर से अभिन्न है। इसी रहस्य को स्पष्ट करने के लिए कहते हैं—**'णत्थि सत्तोववाइया'**—अर्थात् कोई भी जीव (प्राणी) औपपातिक—एक भव से दूसरे भव में जाने वाले नहीं होते। जैसा कि उनके बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है—"प्रज्ञान (विज्ञान) का पिण्ड यह आत्मा, इन भूतों से उठकर (उत्पन्न होकर) इनके नाश के पश्चात् ही नष्ट हो जाता है, अतः मरने के पश्चात् इसकी चेतना (आत्मा) संज्ञा नहीं रहती।[४३] बौद्धग्रन्थ सुत्तपिटकान्तर्गत उदान में, तथा दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त में इसी से मिलते-जुलते मन्तव्य का उल्लेख है।[४४]

---

[४२] (क) स एव जीवस्तदेव शरीरमितिवदितुं शीलमस्येति तज्जीव-तच्छरीरवादी।
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक-२०

[४३] प्र (वि) ज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थायातान्येवानुविनश्यति, न प्रेत्यसंज्ञाऽस्तीति।"

—बृहदारण्यक उपनिषद् अ. ४, ब्रा. ६, श्लोक १३

[४४] (क) संते के समणब्राह्मणा एवं वादिनो एवंदिट्ठानो-तं जीवं तं शरीरं, इदमेव सच्चं मोघमञ्ञति····।

—सुत्तपिटक उदानं, पढमनातितित्थियसुत्तं, पृ. १४२

(ख) ····अजितकेसकम्बलो मं एतदवोच—'नत्थि, महाराज! दिन्नं, नत्थि यिट्ठं नत्थि हुतं, नत्थि सुकतदुक्कटान कम्मानं फलं विपाको, नत्थि अयं लोको, नत्थि परोलोको, नत्थि माता नत्थि पिता, नत्थि सत्ता ओपपातिका नत्थि लोके-सम-ण ब्राह्मणा सम्मग्गता सम्मापटिपन्ना, ये इमंच लोकं, परं च लोकं सयं अभिञ्जा सच्छिकत्वा

(क्रमशः)

इस प्रकार के बाद के तीन परिणाम फलित होते हैं, जो १२ वीं गाथा में बता दिए गए हैं—

(१) जीव के शुभाशुभकर्मफलदायक पुण्य और पाप नहीं होते ।

(२) इस लोक से भिन्न कोई दूसरा लोक ही नहीं है ।

(३) शरीर के नाश के साथ ही शरीरी आत्मा का नाश हो जाता है ।

पुण्य और पाप ये दोनों इसलिए नहीं माने गये कि इनका धर्मीरूप आत्मा यहीं समाप्त हो जाता है । पुण्य-पाप को मानने पर तो उनका फल भोगने के लिए परलोक में गमन भी मानना जरूरी हो जाता है । इसलिए न तो पुण्य-पाप है, और न ही उनका फल भोगने के लिए स्वर्ग-नरकादि परलोक हैं ।

जब आत्मा ही नहीं, तब आत्मा को धारण करने वाला प्राणी एक से दूसरे जन्म में कैसे जायेगा ? जैसे पानी का बुलबुला पानी से भिन्न नहीं होता है, वह पानी से ही पैदा होता है और उसी में विलीन हो जाता है, वैसे ही चैतन्य पंचभूतात्मक शरीर से ही पैदा होता है, और उसी में समा जाता है, उसका अलग कोई अस्तित्व नहीं है । जैसे ग्रीष्मऋतु में मरुभूमि में जल न होने पर भी जल का भ्रम हो जाता है, वैसे ही पंचभूतसमुदाय बोलना, चलना आदि विशिष्ट क्रियाएँ करता है, इससे जीव होने का भ्रम होता है ।"

जब उनसे यह पूछा जाता है कि यदि शरीर में भिन्न कोई आत्मा नहीं है, पुण्य-पाप एवं परलोकादि नहीं हैं, तब धनी-निर्धन, रोगी-निरोगी, सुखी-दुःखी आदि विचित्रताएँ जगत् में क्यों दृष्टिगोचर होती हैं ? तो वे उत्तर देते हैं—यह सब स्वभाव से होता है । जैसे—दो पत्थर के टुकड़े पास-पास ही पड़े हैं, उनमें से एक को मूर्तिकार गढ़ कर देवमूर्ति बना देता है, तो वह पूजनीय हो जाता है । दूसरा पत्थर का टुकड़ा केवल पैर धोने आदि के काम आता है । इन दोनों स्थितियों में पत्थर के टुकड़ों का कोई पुण्य या पाप नहीं है, जिससे कि उनकी वैसी अवस्थाएँ हो, किन्तु ये स्वाभाविक है । अतः जगत् में दृश्यमान विचित्रता भी स्वभाव से है । कांटों में तीक्ष्णता, मोर के पंखों का रंगबिरंगापन, मुर्गी की रंगीन चोटी आदि स्वभाव से होते हैं ।[४५] परन्तु कोई भी भारतीय आस्तिक दर्शन इस समाधान से सन्तुष्ट नहीं है । पुण्य-पाप या परलोक न मानने पर जगत् की सारी व्यवस्था एवं शुभकार्य में प्रोत्साहन समाप्त हो जायेंगे ।

कठिन शब्दों की व्याख्या—पेच्चा—मरने के बाद परलोक में । **ओववाइया**—औपपातिक, एक भव से दूसरे भव में जाना उपपात कहलाता है । जो एक भव से दूसरे भव में जाते हैं, औपपातिक हैं ।

पवेदेंति । चातुमहाभूतिको अयं पुरिसो यदा कालं करोति, पढवी पढवीकायं अनुपेति, अनुपगच्छति, आपो आपो कायं अनु····तेजो तेजोकायं अनु०····वायो वायोकायं अनु०····आकासं इन्द्रियानि संकमन्ति मुसा विलापो ये के चि अत्थिकवादी वदन्ति । वाले च पण्डिते च कायस्स भेदा उच्छिजंति विनस्संति, न होन्ति परं मरणा' ति । —सुत्तपिटक दीघनिकाय भा० १ सामञ्ञफलसुत्त, पृ० ४१-५३

(ग) सूत्रकृतांग द्वितीयश्रुतस्कन्ध सू० ८३३-८३४ में, तथा रायपसेणियसुत्तं में इस सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन देखें ।

[४५] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २०-२१ ।

अकारकवाद

१३. कुव्वं च कारवं चेव, सव्वं कुव्वं ण विज्जति ।
एवं अकारओ अप्पा, एवं ते उ पगब्भिया ।।१३।।

१४. जे ते उ वाइणो एवं, लोए तेसिं कओ सिया ।
तमातो ते तमं जंति, मंदा आरंभनिस्सिया ।।१४।।

१३. आत्मा स्वयं कोई क्रिया नहीं करता, और न दूसरों से कराता है, तथा आत्मा समस्त (कोई भी) क्रिया करने वाला नहीं है। इस प्रकार आत्मा अकारक है। इस प्रकार वे (अकारकवादी साँख्य आदि) (अपने मन्तव्य की) प्ररूपणा करते हैं।

१४. जो वे (पूर्वोक्त) वादी (तज्जीव-तच्छरीरवादी तथा अकारकवादी) इस प्रकार (शरीर से भिन्न आत्मा नहीं है, इत्यादि तथा "आत्मा अकर्त्ता और निष्क्रिय है") कहते हैं, उनके मत में यह लोक (चतुर्गतिक संसार या परलोक) कैसे घटित हो सकता है? (वस्तुतः) वे मूढ़ एवं आरम्भ में आसक्त वादी एक (अज्ञान) अन्धकार से निकल कर दूसरे अन्धकार में जाते हैं।

विवेचन—अकारकवाद क्या है?—१३वीं गाथा में अकारकवाद की झांकी बताई गई है। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसे सांख्यों का मत बताया है। क्योंकि **'अकर्त्ता निर्गुणो भोक्ता आत्मा कापिलदर्शने'**, यह सांख्य दर्शनमान्य उक्ति प्रसिद्ध है। सांख्यदर्शन आत्मा को अमूर्त्त, कूटस्थनित्य और सर्वव्यापी मानते हैं, [४६] इसलिए उसके मतानुसार आत्मा स्वतन्त्र कर्त्ता (क्रिया करने में स्वतंत्र) नहीं हो सकता, वह स्वयं क्रियाशून्य होता है। वह दूसरे के द्वारा क्रिया कराने वाला नहीं है। इसीलिए कहा गया है—**"कुव्वं च कारवं चेव"** गाथा में प्रयुक्त प्रथम 'च' शब्द आत्मा के भूत और भविष्यत् कर्तृत्व का निषेधक है। आत्मा इसलिए भी अकर्त्ता है कि वह विषय-सुख आदि को तथा इसके कारण पुण्य आदि कर्मों को नहीं करता।

प्रश्न होता है—जब इस गाथा में आत्मा के स्वयं कर्तृत्व एवं कारयितृत्व का निषेध कर दिया, तब फिर दुबारा "सव्वं कुव्वं न विज्जई" कहने की आवश्यकता क्यों पड़ी?

इसका समाधान यों किया जाता है कि आत्मा स्वयं क्रिया में प्रवृत्त नहीं होता, किन्तु 'मुद्राप्रतिविम्वोदय न्याय' एवं जपास्फटिकन्याय से वह स्थितिक्रिया एवं भोगक्रिया करता है।

जैसे किसी दर्पण में प्रतिविम्वित मूर्ति अपनी स्थिति के लिए प्रयत्न नहीं करती, वह अनायास ही चित्र में स्थित रहती है, इसी प्रकार प्रकृतिरूपी दर्पण में प्रतिविम्बित आत्मा अनायास ही स्थित रहती है। ऐसी स्थिति में प्रकृतिगत विकार पुरुष (आत्मा) में प्रतिभासित होते हैं। इस मुद्राप्रतिविम्वोदय न्याय से आत्मा स्थित क्रिया का स्वयं कर्त्ता न होने के कारण अकर्त्ता-सा है।

---

४६. "अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः ।
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिलदर्शने ।।" —षड्दर्शन समुच्चय

इसी प्रकार स्फटिक के पास लाल रंग का जपापुष्प रख देने से वह लाल-सा प्रतीत होता है, इसी तरह स्वयं भोगक्रिया रहित आत्मा में वुद्धि के संसर्ग से वुद्धि का भोग प्रतीत होता है। यों जपास्फटिक न्याय से आत्मा की भोगक्रिया मानी जाती है।

इस भ्रम के निवारणार्थ दुवारा यह कहना पड़ा—'सव्वं····विज्जइ।' अर्थात् आत्मा स्वयं किसी भी क्रिया का कर्त्ता नहीं होता। वह एक देश से दूसरे देश जाने की सभी परिस्पन्दादि क्रियाएँ नहीं करता क्योंकि वह सर्वव्यापी और अमूर्त्त होने के कारण आकाश की तरह निष्क्रिय है।[४७]

सांख्यों का विरोधी कथन

सामान्यतया जो कर्त्ता होता है, वही भोक्ता होता है किन्तु सांख्यमत में कर्त्ता प्रकृति है, भोक्ता पुरुष (आत्मा) है। दानादि कार्य अचेतन प्रकृति करती है, फल भोगता है—चेतन पुरुष। इस तरह कर्तृत्व-भोक्तृत्व का समानाधिकरणत्व छोड़कर व्याधिकरणत्व मानना पहला विरोध है। पुरुष चेतनावान है फिर भी नहीं जानता, यह दूसरी विरुद्धता है। पुरुष न वद्ध होता है, न मुक्त और न ही भवान्तरगामी ही होता है, प्रकृति ही वद्ध, मुक्त और भवान्तरगामिनी होती है, यह सिद्धान्तविरुद्ध, अनुभवविरुद्ध कथन भी धृष्टता ही है इसीलिए कहा गया है—एवमकारओ अप्पा, एवं ते उपगब्भिया।"[४८]

पूर्वोक्त वादियों के मत में लोक-घटना कैसे ?

१४वीं गाथा में तज्जीव-तच्छरीरवाद और अकारकवाद का निराकरण करते हुए इन दोनों मतों को मानने पर जन्म-मरणरूप चातुर्गतिक संसार या परलोक घटित न होने की आपत्ति उठाई है। तज्जीवतच्छरीरवादी शरीर से आत्मा को भिन्न मानते हैं तथा परलोकानुगामी नहीं मानते। तज्जीव-तच्छरीरवाद तथा उसकी ये असंगत मान्यताएँ मिथ्या यों हैं कि शरीर से आत्मा भिन्न सिद्ध होता है। इसे सिद्ध करने के लिए वृत्तिकार ने कुछ प्रमाण प्रस्तुत किए हैं—

(१) दण्ड आदि साधनों के अधिष्ठाता कुम्भकार की तरह आत्मा इन्द्रियों आदि करणों का अधिष्ठाता होने से वह इनसे भिन्न है।

(२) संडासी और लोहपिण्ड को ग्रहण करने वाला उनसे भिन्न लुहार होता है, इसी तरह इन्द्रियों (करणों) के माध्यम से विषयों को ग्रहण करने वाला इन दोनों से भिन्न आत्मा है।

(३) शरीररूप भोग्य पदार्थ का भोक्ता शरीर के अंगभूत इन्द्रिय और मन के अतिरिक्त और कोई पदार्थ होना चाहिए, वह आत्मा ही है।

आत्मा को परलोकगामी न मानना भी यथार्थ नहीं है। आत्मा का परलोकगमन निम्नोक्त

---

[४७] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २१

[४८] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २१

(ख) तस्मान्न वध्यते अद्धा न मुच्यते, नाऽपि संसरति कश्चित्।
संसरति वध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥ —सांख्यकारिका

अनुमान से सिद्ध हो जाता है—तत्काल जन्मे हुए बालक को माता के स्तनपान की इच्छा पूर्व-जन्म में किए गए स्तनपान के प्रत्यभिज्ञान के कारण होती है। इससे पूर्वजन्म सिद्ध होता है और पूर्वजन्म सिद्ध होने से अगला जन्म (परलोक) भी सिद्ध हो जाता है। अतः आत्मा का परलोकगमन शुभाशुभ कर्मों के अनुसार अवश्य होता है।

इस प्रकार धर्मीरूप आत्मा का पृथक् अस्तित्व सिद्ध होने से उसके धर्मरूप पुण्य-पाप की सिद्धि हो जाती है। पुण्य-पाप को न मानने पर जगत् में प्रत्यक्ष दृश्यमान ये सुखी-दुःखी आदि विचित्रताएँ, जो कर्मफलस्वरूप ही हैं, कैसे संगत हो सकती हैं? पुण्य-पापरूप कर्म मानने पर ही उनके फलस्वरूप चतुर्गतिरूप संसार (लोक) घटित हो सकता है, अथवा लोकगत विचित्रताएँ सिद्ध हो सकती हैं। इसलिए तज्जीव तच्छरीरवादियों के प्रति आक्षेप किया है—**लोए···सिआ ?**

अकारकवादी—सांख्यादि मतवादियों के लिए भी यही आपत्ति शास्त्रकार ने उठाई है—'आत्मा को एकान्त कूटस्थ नित्य,[४९] अमूर्त, सर्वव्यापी एवं निष्क्रिय (अकर्ता) मानने पर प्रत्यक्ष दृश्यमान जन्म-मरणादि रूप अथवा नरकादिगतिगमनरूप यह लोक (संसार प्रपञ्च) कैसे सिद्ध होगा? क्योंकि कूटस्थ नित्य आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में, एक गति या योनि छोड़कर दूसरी गति या योनि में कैसे जन्म-मरण करेगा? तथा एक ही शरीर में बालक, युवक, वृद्ध आदि पर्यायों को धारण करना कैसे सम्भव होगा? अगर कर्मानुसार जीवों का गमनागमन नहीं माना जाएगा तो जन्म-मरण आदि रूप संसार कैसे घटित होगा? कूटस्थ नित्य आत्मा तो अपरिवर्तनशील, एक रूप में ही रहने वाला है, ऐसी मान्यता से बालक सदैव बालक, मूर्ख सदैव मूर्ख ही रहेगा, उसमें किसी नये स्वभाव की उत्पत्ति नहीं होगी। ऐसी स्थिति में जन्ममरणादि दुःखों का विनाश, उसके लिए पुरुषार्थ, कर्मक्षयार्थ तप, जप, संयम नियम आदि की साधना सम्भव नहीं होगी।

निर्युक्तिकार ने अकारकवाद पर आपत्ति उठाई है कि 'जब आत्मा कर्ता नहीं है और उसका किया हुआ कर्म नहीं है, वह बिना कर्म किये उसका सुखदुःखादि फल कैसे भोग सकता है? यदि कर्म किए बिना ही फलभोग माना जाएगा तो दो दोषापत्तियाँ खड़ी होंगी—१. कृतनाश और २. अकृतागम। फिर तो एक प्राणी के किए हुए पाप से सबको दुःखी और एक के किये हुए पुण्य से सबको सुखी हो जाना चाहिए। किन्तु यह असम्भव और अनुभव विरुद्ध है, तथा अभीष्ट भी नहीं है।

आत्मा यदि व्यापक एवं नित्य है तो उसकी नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव तथा मोक्षरूप पाँच प्रकार की गति भी नहीं हो सकती, ऐसी स्थिति में सांख्यवादियों द्वारा काषायवस्त्र धारण, शिरोमुण्डन, दण्डधारण, भिक्षान्नभोजन, यम-नियमादि अनुष्ठान वगैरह साधनाएँ व्यर्थ हो जाएँगी।

इसीप्रकार एकान्तरूप से मिथ्याग्रहवश आत्मा को निष्क्रिय कूटस्थ नित्य मानकर बैठने से न तो त्रिविध दुःखों का सर्वथा नाश होगा, न ही मोक्षादि की प्राप्ति होगी, और कूटस्थ नित्य निष्क्रिय

---

[४९] 'अप्रच्युताऽनुत्पन्न-स्थिरैकस्वभावः नित्यः।' —जो विनष्ट न हो, उत्पन्न न हो स्थिर हो, सदा एक स्वभाव वाला हो वह कूटस्थ नित्य कहलाता है। —सांख्य तत्त्व कौमुदी

जडात्मा २५ तत्त्वों का ज्ञान भी कैसे कर सकेगा ? उस आत्मा में पूर्वजन्मों का स्मरण आदि क्रिया भी कैसे होगी ?[५०] अतः अकारकवाद युक्ति, प्रमाण एवं अनुभव से विरुद्ध है ।

दोनों वादों को मानने वालों की दुर्दशा

इस गाथा के उत्तरार्द्ध में शास्त्रकार ने पूर्वोक्त दोनों मिथ्यावादों को मानकर चलने वालों की दुर्दशा का संक्षेप में प्रतिपादन किया है—'**तमाओ ते तमं जंति मंदा आरंभणिस्सिया**'—अर्थात् वे (तज्जीव-तच्छरीरवादी) विवेकमूढ़ मंदमति नास्तिक बनकर आत्मा को शुभाशुभकर्म के फलानुसार परलोकगामी नहीं मानते, इस प्रकार उनकी बुद्धि पर मिथ्यात्व और अज्ञान का गहरा पर्दा पड़ जाने के कारण वे अज्ञानान्धकार में तो पहले से ही पड़े होते हैं । अब वे यह सोचकर कि हम आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नरक पुण्य-पाप आदि नहीं मानते तो हमें क्यों पाप-कर्म का बन्ध होगा, और क्यों उसके फलस्वरूप दुर्गति मिलेगी ? फलतः बेखटके वे मनमाने हिंसा, झूठ, चोरी, ठगी, आदि पापकर्म में रत हो जाते हैं, इस प्रकार ज्ञानावरणीयादि कर्मसञ्चयवश वे और अधिक गाढ़ अज्ञानान्धकार में पड़ जाते हैं ।

जैसे कोई व्यक्ति विष को मारक न माने-समझे या उसके दुष्प्रभाव से अनभिज्ञ रहकर विष खा ले तो क्या विष अपना प्रभाव नहीं दिखायेगा ? अवश्य दिखाएगा । इसी प्रकार कोई अनुभव-सिद्ध सत्य बात को न मानकर उसके परिणाम से अनभिज्ञ रहे और मिथ्या सिद्धान्तों को दुराग्रहवश पकड़ रखे तदनुसार हिंसादि दुष्कर्मों में प्रवृत्त हो जाए तो क्या वह मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि के प्रभाव से होने वाले पापकर्मबन्ध से बच जाएगा ? क्या उसे वे पापकर्मबन्ध नरकादि घोर अन्धकाररूप अपना फल नहीं देंगे ? स्थूल दृष्टि से देखें तो वे एक नरकादि यातना स्थान में सद्-असद विवेक से भ्रष्ट होकर फिर उससे भी भयंकर गाढ़ान्धकार वाले नरक में जाते हैं ।

इस प्रकार अकारकवादियों की भी दुर्दशा होती है । वे भी मिथ्याग्रहवश अपनी मिथ्या-मान्यता का पल्ला पकड़कर सत्य सिद्धान्त को सुना-अनसुना करके चलते हैं । फलतः वे मिथ्यात्ववश नाना प्रकार के हिंसादि कार्यों को निःशंक होकर करते रहते हैं । केवल २५ तत्त्वों का ज्ञाता होने से मुक्त हो जाने का झूठा आश्वासन अपने आपको देते रहते हैं । क्या इससे मिथ्यात्व और हिंसादि अविरति के कारण पापकर्मबन्धन से तथा उनके फलस्वरूप नरकादि गतियों से वे बच सकेंगे ? कदापि नहीं । यही कारण है कि वे यहाँ भी मिथ्यात्व एवं अज्ञान के गाढ़ अंधकार में डूबे रहते हैं, और परलोक में इससे भी बढ़कर गाढ़ अन्धकार में निमग्न होते हैं ।[५१]

---

[५०] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २२
(ख) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा ३४—
को वेएइ ? अकयं, कयनासो, पंचहा गई नत्थि ।
देवमणुस्सगयागई जाइसरणाइयाणं च ॥

[५१] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २२, २३

आत्मषष्ठवाद

१५. सति पंच महब्भूता, इहमेगेसिं आहिता ।
आयछट्ठा पुणेगाऽऽहु, आया लोगे य सासते ॥१५॥
१६. दुहओ ते ण विणस्संति, नो य उप्पज्जए असं ।
सव्वे वि सव्वहा भावा, नियतीभावमागता ॥१६॥

१५. इस जगत् में पाँच महाभूत हैं और छठा आत्मा है, ऐसा कई वादियों ने प्ररूपण किया (कहा) । फिर उन्होंने कहा कि आत्मा और लोक शाश्वत—नित्य हैं ।

१६. (सहेतुक और अहेतुक) दोनों प्रकार से भी पूर्वोक्त छहों पदार्थ नष्ट नहीं होते, और न ही असत्-अविद्यमान पदार्थ कभी उत्पन्न होता है । सभी पदार्थ सर्वथा नियतीभाव-नित्यत्व को प्राप्त होते हैं ।

विवेचन—आत्मषष्ठवाद का निरूपण—इन दो गाथाओं में आत्मषष्ठवादियों की मान्यता का निरूपण है । वृत्तिकार के अनुसार वेदवादी सांख्य और शैवाधिकारियों (वैशेषिकों) का यह मत है।[५२] प्रो. हर्मन जेकोबी इसे चरक का मत मानते हैं । बौद्ध ग्रन्थ 'उदान' में आत्मा और लोक को शाश्वत मानने वाले कुछ श्रमण-ब्राह्मणों का उल्लेख आता है ।[५३] यहाँ शास्त्रकार ने आत्मषष्ठवाद की ५ मुख्य मान्यताओं का निर्देश किया है—

(१) अचेतन पाँच भूतों के अतिरिक्त सचेतन आत्मा छठा पदार्थ है,[५४]
(२) आत्मा और लोक दोनों नित्य हैं,
(३) छहों पदार्थों का सहेतुक या अहेतुक किसी प्रकार से विनाश नहीं होता,
(४) असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती और सत् का कभी नाश नहीं होता,
(५) सभी पदार्थ सर्वथा नित्य हैं ।

आत्मा और लोक सर्वथा शाश्वत : क्यों और कैसे ?

पूर्वोक्त भूत-चैतन्यवादियों आदि के मत में जैसे इन्हें अनित्य माना गया है, इनके मत में इन्हें सर्वथा नित्य माना गया है । इनका कहना है—सर्वथा अनित्य मानने से बंध और मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन सकती । इस कारण ये आत्मा को आकाश की तरह सर्वव्यापी और अमूर्त होने से नित्य मानते हैं, तथा पृथ्वी आदि पंचमहाभूतरूप लोक को भी अपने स्वरूप से नष्ट न होने के कारण अविनाशी (नित्य) मानते हैं ।

---

[५२] एकेषां वेदवादिनां सांख्यानां शैवाधिकारिणाञ्चैतद् आख्यातम् । —सूत्र० वृत्ति पत्र २४

[५३] (क) This is the opinion expressed by 'Charaka' —प्रो० हर्मन जेकोबी
—The Sacred Book of the East Vol. XLV, पृ. 237

(ख) "सन्ति पनेके समणब्राह्मणा एव वादिनो एवं दिट्ठिनो—सस्सतो अत्ता च लोको च, इदमेव मोघमञ्ञंति ।'
—उदान पृ. १४६

[५४] आत्मा षष्ठः कोऽर्थः? यथा पंचमहाभूतानि सन्ति, तथा तेभ्यः पृथग्भूतः षष्ठः आत्माख्यः पदार्थोऽस्तीति भावः ।
—दीपिका

वौद्धदर्शन में पदार्थ की उत्पत्ति के पश्चात् तत्काल ही निष्कारण विनाश होना माना जाता है, अतः उत्पत्ति के अतिरिक्त विनाश का अन्य कोई कारण नहीं है परन्तु आत्मषष्ठवादी इस अकारण (निर्हेतुक) विनाश को नहीं मानते, और न ही वैशेषिक दर्शन के अनुसार डंडे, लाठी आदि के प्रहार (कारणों) से माने जाने वाले सकारण (सहेतुक) विनाश को मानते हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मा हो, चाहे पंचभौतिक लोक (लोकगत पदार्थ), अकारण और सकारण दोनों प्रकार से विनष्ट नहीं होते। ये चेतनाचेतनात्मक दोनों कोटि के पदार्थ अपने-अपने स्वभाव से च्युत नहीं होते, स्वभाव को नहीं छोड़ते, इसलिए नित्य हैं।

आत्मा किसी के द्वारा किया हुआ नहीं (अकृतक) है, इत्यादि हेतुओं से नित्य है, और **'न कदाचिदनीदृशं जगत्'**—जगत् कदापि और तरह का नहीं होता, इसलिए नित्य है।

भगवद्गीता में भी कहा गया है—इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, पानी भिगो नहीं सकता, हवा इसे सुखा नहीं सकती। अतः यह आत्मा अच्छेद्य है, अभेद्य है, अविकार्य (विकार रहित) है, यह नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और सनातन है।

असत्पदार्थ की कदापि उत्पत्ति नहीं होती, सर्वत्र सत्पदार्थ की ही उत्पत्ति होती है। अतः सांख्यदर्शन सत्कार्यवाद के द्वारा आत्मा और लोक की नित्यता सिद्ध करता है। सत्कार्यवाद की सिद्धि भी पांच कारणों से की जाती है[५५]—

(१) **असदकरणात्**—गधे के सींग की तरह जो वस्तु नहीं होती, वह (उत्पन्न) नहीं की जा सकती।

(२) **उपादानग्रहणात्**—जो वस्तु सत् है, उसी का उपादान विद्यमान होता है। विद्यमान उपादान ग्रहण करने के कारण सत् की उत्पत्ति हो सकती है, असत् की नहीं।

(३) **सर्वसम्भवाभावात्**—सभी कारणों से सभी पदार्थों की उत्पत्ति नहीं होती। बालू से तेल नहीं निकल सकता, तिल से ही तेल निकलता है यदि असत्पदार्थ की उत्पत्ति हो तो पेड़ की लकड़ी से कपड़ा, गेहूं आदि क्यों नहीं बना लिये जाते ? अतः उपादान कारण से ही कार्य होता है।

---

[५५] (क) जातिरेव हि भावानां, विनाशे हेतुरिष्यते
यो जातश्च न च ध्वस्तो, नश्येत् पश्चात् स केन च ? —बौद्ध दर्शन

(ख) नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोपयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ —गीता अ० २/२३-२४

(ग) नासतो विद्यते भावो, नाभावो जायते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः॥ —गीता० अ० २/१६

(घ) असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाऽभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥ —सांख्यकारिका

(४) **शक्तस्य शक्यकरणात्**—मनुष्य की शक्ति से जो साध्य-शक्य हो, उसे ही वह करता है, अशक्य को नहीं। यदि असत् की उत्पत्ति हो तो कर्ता को अशक्य पदार्थ भी बना देना चाहिए।

(५) **कारणभावाच्च सत्कार्यम्**—योग्य कारण में स्थित (विद्यमान सत्) पदार्थ की ही उत्पत्ति होती है, अन्यथा पीपल के बीज से आम का अंकुर पैदा हो जाता।

निष्कर्ष यह है कि सत्कार्यवाद में उत्पत्ति और विनाश केवल आविर्भाव-तिरोभाव के अर्थ में है। वस्तु का सर्वथा अभाव या विनाश नहीं होता, वह अपने स्वरूप में विद्यमान रहती है।

आत्मषष्ठवाद मिथ्या क्यों ?

संसार के सभी पदार्थों (आत्मा, लोक आदि) को सर्वथा या एकान्त नित्य मानना यथार्थ नहीं है। सभी पदार्थों को एकान्त नित्य मानने पर आत्मा में कर्तृत्व-परिणाम उत्पन्न नहीं हो सकेगा। कर्तृत्व परिणाम के अभाव में कर्मबन्ध कैसे होगा ? कर्मबन्ध नहीं होगा तो सुख-दुःखरूप कर्मफल भोग कैसे होगा ? वह कौन करेगा, क्योंकि आत्मा को अकर्ता मानने पर कर्मबन्ध का सर्वथा अभाव हो जाएगा, ऐसी स्थिति में सुख-दुःख का अनुभव कौन करेगा ?

अगर असत् की कथञ्चित् उत्पत्ति नहीं मानी जाएगी तो पूर्वभव को छोड़कर उत्तरभव में उत्पत्तिरूप जो आत्मा की चार प्रकार की गति और मोक्षरूप पंचमगति बताई जाती है, वह कैसे सम्भव होगी ? आत्मा को अप्रच्युत, अनुत्पन्न, स्थिर एवं एक स्वभाव का (कूटस्थनित्य) मानने पर उसका मनुष्य, देव आदि गतियों में गमन-आगमन सम्भव नहीं हो सकेगा और प्रत्यभिज्ञान या स्मृति का अभाव होने से जातिस्मरण आदि भी न हो सकेगा। इसलिए आत्मा को एकान्त नित्य मानना मिथ्या है।

सत् की ही उत्पत्ति होती है, ऐसी एकान्तप्ररूपण भी दोषयुक्त है, क्योंकि वह (कार्य) पहले से ही सर्वथा सत् है, तो उसकी उत्पत्ति कैसी ? यदि उत्पत्ति होती है तो सर्वथा सत् कैसे ? घटादि पदार्थ जब तक उत्पन्न नहीं होते, तब तक उनसे ज़लधारणादि कार्य नहीं हो सकते, अतः घटगुणों से युक्त होकर घटरूप से उत्पन्न होने से पूर्व मृत्पिण्डादि कार्य को घटरूप में असत् समझना चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा, पंचभूत आदि सभी पदार्थों को कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य, तथा किसी अपेक्षा से सत् और किसी अपेक्षा से असत्, इस प्रकार सद्सत्कार्यरूप न मानकर एकान्त मिथ्याग्रह पकड़ना ही आत्मषष्ठवादियों का मिथ्यात्व है। अतः बुद्धिमान् सत्यग्राही व्यक्तियों को प्रत्येक पदार्थ द्रव्यरूप से सत् (नित्य) और पर्याय रूप से असत् (अनित्य) मानना ही योग्य है।[५६]

---

५६. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २४-२५

(ख) कर्मगुणव्यपदेशाः प्रागुत्पत्तेर्न सन्ति यत्तस्मात्।
कार्यमसद्विज्ञेयं क्रिया प्रवृत्तेश्च कर्तृणाम्॥

—न्यायसिद्धान्त

क्षणिकवाद : दो रूपों में

१७. पंच खंधे वयंतेगे, बाला उ खणजोइणो ।
अन्नो अणन्नो णेवाऽऽहु, हेउयं च अहेउयं ॥१७॥

१८. पुढवी आऊ तेऊ य तहा वाउ य एकओ ।
चत्तारि धाउणो रूवं, एवमाहंसु जाणगा ॥१८॥

१७. कई बाल (अज्ञानी) क्षणमात्र स्थिर रहने वाले पाँच स्कन्ध बताते हैं । वे (भूतों से) भिन्न तथा अभिन्न, कारण से उत्पन्न (सहेतुक) और बिना कारण उत्पन्न (अहेतुक) (आत्मा का) नहीं मानते-नहीं कहते ।

१८. दूसरे (बौद्धों) ने बताया कि पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चारों धातु के रूप हैं, ये (शरीर के रूप में) एकाकार हो जाते हैं, (तब इनकी जीव-संज्ञा होती है) ।

विवेचन—क्षणभंगी पंच स्कन्धवाद : स्वरूप और विश्लेषण—१७वीं गाथा में पंचस्कन्धवादी कतिपय बौद्धों की क्षणिकवाद की मान्यता का प्रतिपादन किया गया है । मूल पाठ एवं वृत्ति के अनुसार पंचस्कन्धवाद क्षणिकवादी कुछ बौद्धों का मत है । विसुद्धिमग्ग सुत्तपिटकगत अंगुत्तरनिकाय आदि बौद्धग्रन्थों के अनुसार पाँच स्कन्ध निम्न हैं—

१. रूपस्कन्ध, २. वेदनास्कन्ध, ३. संज्ञास्कन्ध, ४. संस्कारस्कन्ध और ५. विज्ञानस्कन्ध ।

इन्हीं पाँचों को उपादानस्कन्ध भी कहा जाता है । शीत आदि विविध रूपों में विकार प्राप्त होने के स्वभाव वाला जो धर्म है वह सब एक होकर रूपस्कन्ध बन जाता है । भूत और उपादान के भेद से रूपस्कन्ध दो प्रकार का होता है । सुख-दुःख, असुख और अदुःख रूप वेदन (अनुभव) करने के स्वभाव वाले धर्म का एकत्रित होना वेदनास्कन्ध है । विभिन्न संज्ञाओं के कारण वस्तुविशेष को पहचानने के लक्षण वाला स्कन्ध संज्ञास्कन्ध है, पुण्य-पाप आदि धर्म-राशि के लक्षण वाला स्कन्ध संस्कारस्कन्ध कहलाता है । जो जानने के लक्षण वाला है, उस रूपविज्ञान, रसविज्ञान आदि विज्ञान समुदाय को विज्ञानस्कन्ध कहते हैं ।[५७]

इन पाँचों स्कन्धों से भिन्न या अभिन्न सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञानादि का आधारभूत आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं है । इन पंचस्कन्धों से भिन्न आत्मा का न तो प्रत्यक्ष अनुभव होता है, न ही

---

[५७] (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक २५ के आधार पर

(ख) १. पंच खन्धा—रूपक्खन्धो, वेदनाक्खंधो, सञ्ञाक्खंधो, संखारक्खंधो, विञ्ञाणक्खंधो ति । तत्थ यं किंचि सीतादि हि रूप्पनलक्खणं धम्मजातं, सव्वं तं एकतो कत्वा रूपक्खंधो ति वेदितव्वं ।.... यं किंचि वेदयति लक्खणं....वेदनाक्खंधो वेदितव्वो । यं किंचि संजाननलक्खणं....संञक्खंधो वेदितव्वो ।
—विसुद्धिमग्ग खन्धनिद्देस पृ. ३०९

२. पञ्चिमे, भिक्खवे, उपादानक्खंधा । कतमे पञ्च ? रूपुपादानक्खंधो, वेदनुपादानक्खंधो, सञ्ञुपादानक्खंधो, संङ्खारूपादानक्खंधो, विञ्ञाणुपादानक्खंधो । इमे खो, भिक्खवे, पंचुपादानक्खंधा ।
—सुत्तपिटके अंगुत्तरनिकाय, पालि भा. ४ पृ. १९२

आत्मा के साथ अविनाभावी सम्बन्ध रखने वाला कोई लिंग भी गृहीत होता है, जिससे कि आत्मा अनुमान द्वारा जाना जा सके। प्रत्यक्ष और अनुमान, ये दो ही बौद्धसम्मत प्रमाण हैं।

इस प्रकार बौद्ध प्रतिपादन करते हैं।[५८] फिर वे कहते हैं—ये पाँचों स्कन्ध क्षणयोगी हैं, अर्थात् ये स्कंध न तो कूटस्थनित्य हैं, और न ही कालान्तर स्थायी हैं, ये सिर्फ क्षणमात्र स्थायी हैं। दूसरे क्षण ही समूल नष्ट हो जाते हैं। परमसूक्ष्म काल 'क्षण' कहलाता है। स्कन्धों के क्षणिकत्व को सिद्ध करने के लिए वे अनुमान प्रयोग करते हैं—स्कन्ध क्षणिक हैं, क्योंकि वे सत् हैं। जो जो सत् होता है, वह-वह क्षणिक होता है, जैसे मेघमाला। मेघमाला क्षणिक है, क्योंकि वह सत् है। उसी प्रकार सभी सत् पदार्थ क्षणिक हैं।

सत् का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है।[५९] सत् में स्थायित्व या नित्यत्व घटित नहीं होता, क्योंकि नित्य पदार्थ अर्थक्रिया नहीं कर सकता, इसलिए सत् में क्षणिकत्व ही घटित होता है। नित्य पदार्थ में क्रम से या युगपद् (एक साथ) अर्थक्रिया नहीं हो सकती, इसलिए सभी पदार्थों को अनित्य माना जाए तो उनकी क्षणिकता अनायास ही सिद्ध हो सकती है, और पदार्थों की उत्पत्ति ही उसके विनाश का कारण है, जो पदार्थ उत्पन्न होते ही नष्ट नहीं होता, वह बाद में कभी नष्ट नहीं होगा।[६०] अतः सिद्ध हुआ कि पदार्थ अपने स्वभाव से अनित्य क्षणिक हैं, नित्य नहीं।

'अण्णो अणण्णो' 'हेउयं अहेउयं'—पदों का आशय—वृत्तिकार ने इन चारों पदों का रहस्य खोलते हुए कहा है कि जिस प्रकार आत्मषष्ठवादी सांख्य पंचभूतों से भिन्न आत्मा को मानते हैं, या जिस प्रकार पंचमहाभूतवादी या तज्जीव-तच्छरीरवादी पंचभूतों से अभिन्न आत्मा को मानते हैं, उस प्रकार ये बौद्ध न तो पंचभूतों से भिन्न आत्मा को मानते हैं, न ही पंचभूतों से अभिन्न आत्मा को। इसी प्रकार बौद्ध आत्मा को न तो सहेतुक (शरीर रूप में परिणत पंचभूतों से उत्पन्न) मानते हैं, और न ही अहेतुक (बिना किसी कारण से आदि-अन्तरहित नित्य) आत्मा को मानते हैं, चूर्णिकार भी इसी से सहमत है—इसका उल्लेख उनके द्वारा मान्य ग्रन्थ सुत्तपिटक के दीघनिकायान्तर्गत महालिसुत्त और जालियसुत्त में मिलता है।[६१]

चातुर्धातुकवाद : क्षणिकवाद का दूसरा रूप

१८वीं गाथा में क्षणिकवाद के दूसरे रूप चातुर्धातुकवाद का शास्त्रकार ने निरूपण किया है। यह मान्यता भी वृत्तिकार के अनुसार कतिपय बौद्धों की है। चातुर्धातुकवाद का स्वरूप सुत्तपिटक के मज्झिम निकाय के अनुसार इस प्रकार है—

---

[५८] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २५-२६

[५९] 'अर्थक्रिया समर्थं यत् तदत्र परमार्थ सत्' —प्रमाणवार्तिक

[६०] क्रमेण युगपच्चापि जस्मादर्थक्रिया कृता।
न भवन्ति स्थिरा भावा निःसत्त्वास्ततो मताः। —तत्त्वसंग्रह

[६१] (क) सूत्रकृ. शीला. वृ. पत्रांक २६
(ख) '.....अहं खो पनेतं, आवुसो, एवं जानामि, एवं पस्सामि, अथ च पनाहं न वदामि तं जीवं तं सरीरं ति वा अञ्ञं जीवं अञ्ञं सरीरं ति वा।" —सुत्तपिटके दीघनिकाय भा. पृ. १६६
(ग) केचिदन्यं शरीरादिच्छन्ति, केचिदनन्यम् शाक्यास्तु केचिद् नैवान्यम्, नैवाप्यनन्यम्। —चूर्णि. मू. पा. टिप्पण पृ. ४

चार धातु हैं—(१) पृथ्वी धातु, (२) जल धातु, (३) तेज धातु और (४) वायु धातु। ये चारों पदार्थ जगत् को धारण-पोषण करते हैं, इसलिए धातु कहलाते हैं। ये चारों धातु जब एकाकार होकर भूतसंज्ञक रूपस्कन्ध बन जाते हैं, शरीर रूप में परिणत हो जाते हैं, तब इनकी जीवसंज्ञा (आत्मा संज्ञा) होती है। जैसा कि वे कहते हैं—"यह शरीर चार धातुओं से बना है, इन चार धातुओं से भिन्न आत्मा नहीं है।" यह भूतसंज्ञक रूपस्कन्धमय होने के कारण पचस्कन्धों की तरह क्षणिक है। अतः चातुर्धातुकवाद भी क्षणिकवाद का ही एक रूप है।

'जाणगा' शब्द का अर्थ है—वे बौद्ध, जो अपने आपको बड़े जानकार या ज्ञानी कहते हैं। कहीं-कहीं **'जाणगा'** के बदले पाठान्तर है—**'यावरे'** (य+अवरे) उसका अर्थ होता है—'और दूसरे'।[६२]

ये सभी अफलवादी—वृत्तिकार का कहना है कि ये सभी बौद्धमतवादी अथवा सांख्य, बौद्ध, आदि सभी पूर्वोक्त मतवादी अफलवादी हैं। बौद्धों के क्षणिकवाद के अनुसार पदार्थ मात्र, आत्मा या दान आदि सभी क्रियाएँ क्षणिक हैं। इसलिए क्रिया करने के क्षण में ही कर्ता—आत्मा का समूल विनाश हो जाता है। अतः आत्मा का क्रिया-फल के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। जब फल के समय तक आत्मा भी नहीं रहती, क्रिया भी उसी क्षण नष्ट हो गई, तब ऐहिक और पारलौकिक क्रियाफल को कौन भोगेगा?

सांख्यमतानुसार एकान्त अविकारी, निष्क्रिय (क्रियारहित) एवं कूटस्थनित्य आत्मा में कर्तृत्व या फलभोक्तृत्व ही सिद्ध नहीं होता। सदा एक-से रहने वाले कूटस्थ नित्य, सर्वप्रपंचरहित, सर्वदा उदासीन आत्मा में किसी प्रकार की कृति नहीं होती। कृति के अभाव में कर्तृत्व भी नहीं होता और कर्तृत्व के अभाव में क्रिया का सम्पादन असम्भव है। ऐसी स्थिति में वह (आत्मा) फलोपभोग कैसे कर सकता है?

जिनके मत में पंचस्कन्धों या पंचभूतों से भिन्न आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है, उनके मतानुसार आत्मा (फलभोक्ता) ही न होने से सुख-दुःखादि फलों का उपभोग कौन और कैसे करेगा? विज्ञान स्कन्ध भी क्षणिक है, ज्ञानक्षण अति सूक्ष्म होने के कारण उसके द्वारा भी सुख-दुःखानुभव नहीं हो सकता।

जब आत्मा ही नहीं है, तो बन्ध-मोक्ष, जन्म-मरण, स्वर्ग-नरकगमन आदि की व्यवस्था भी गड़बड़ा जाएगी। मोक्षव्यवस्था के अभाव में इन महाबुद्धिमानों की शास्त्र-विहित सभी प्रवृत्तियाँ निरर्थक हो जाएँगी।[६३]

---

[६२] (क) "····पुन च परं, भिक्खवे, भिक्खु, इममेव कायं यथाठितं, यथापणिहितं धातुसो पच्चवेक्खति—अत्थि इमस्मिं काये पथवी धातु, आपोधातु, तेजोधातु, वायुधातु ति।"

—सुत्तपिटके मज्झिमनिकाय पालि भा० ३, पृ० १५३

(ख) "····तत्थ भूतरूपं चतुब्बिधं—पथवीधातु, आपोधातु, तेजोधातु, वायोधातु ति"

—विसुद्धिमग्ग ग्रंथनिद्देस पृ० ३०९

(ग) सूत्रकृतांग वृत्ति पत्रांक २६-२७

[६३] सूत्रकृतांग वृत्ति पत्रांक २६ के आधार पर

एकान्त क्षणिकवाद मानने से जो क्रिया करता है, और जो उसका फल भोगता है, इन दोनों के बीच काफी अन्तर होने से कृतनाश और अकृतागम ये दोनों दोष आते हैं, क्योंकि जिस आत्मक्षण ने क्रिया की, वह तत्काल नष्ट हो गया, इसलिए फल न भोग सका, यह कृतनाश दोष हुआ, और जिसने क्रिया नहीं की, वह फल भोगता है, इसलिए अकृतागम दोष हुआ। ज्ञान संतान भी क्षणिक होने से उसके साथ भी ये दोष आ जायेंगे।[६४]

अनेकान्त दृष्टि से आत्मा एवं पदार्थों का स्वरूप निर्णय

पदार्थों की समीचीन व्यवस्था के लिए प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव, यों चार प्रकार के अभाव को मानना आवश्यक है। इसलिए क्षणभंगवाद निरूपित वस्तु का सर्वथा अभाव कथमपि संगत नहीं है, प्रध्वंसाभाव के अनुसार वस्तु का पर्याय (अवस्था) परिवर्तन मानना ही उचित है। ऐसी स्थिति में वस्तु परिणामी-नित्य सिद्ध होगी।

जैन दृष्टि से आत्मा भी परिणामी नित्य, ज्ञान का आधार, दूसरे भवों में जाने-आने वाला, पंच भूतों से या शरीर से कथंचित् भिन्न तथा शरीर के साथ रहने से शरीर से कथंचित् अभिन्न है। वह आत्मा कर्मों के द्वारा नरकादि गतियों में विभिन्न रूपों में बदलता रहता है, इसलिए वह अनित्य और अहेतुक भी है, तथा आत्मा के निजस्वरूप का कदापि नाश न होने के कारण वह नित्य और अहेतुक भी है। इस प्रकार मानने से कर्ता को क्रिया का सुख-दुःखादिरूप फल भी प्राप्त होगा, बन्ध-मोक्षादि व्यवस्था भी बैठ जाएगी।[६५]

सांख्यादिमत-निस्सारता एवं फलश्रुति

१९. अगारमावसंता वि, आरण्णा वा वि पव्वया।
इमं दरिसणमावन्ना सव्वदुक्खा विमुच्चती ॥ १९ ॥

२०. ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविऊ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, ण ते ओहंतराऽऽहिता ॥ २० ॥

२१. ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविऊ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, ण ते संसारपारगा ॥ २१ ॥

२२. ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविऊ जणा।
जे ते ऊ वाइणो एवं, ण ते गब्भस्स पारगा ॥ २२ ॥

२३. ते णावि संधिं णच्चा, णं न ते धम्मविऊ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते जम्मस्स पारगा ॥ २३ ॥

---

[६४] सूत्रकृतांग वृत्ति पत्रांक २६-२७ के आधार पर

[६५] सूत्रकृतांग वृत्ति पत्रांक २७-२८ के अनुसार

२४. ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविऊ जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते दुक्खस्स पारगा ॥ २४ ॥

२५. ते णावि संधि णच्चा णं, न ते धम्मविऊ जणा ।
जे ते उ वादिणो एवं, न ते मारस्स पारगा ॥ २५ ॥

२६. णाणाविहाइं दुक्खाइं, अणुभवंति पुणो पुणो ।
संसारचक्कवालम्मि, वाहि-मच्चु-जराकुले ॥ २६ ॥

२७. उच्चावयाणि गच्छंता, गब्भमेस्संतऽणंतसो ।
नायपुत्ते महावीरे, एवमाह जिणोत्तमे ॥ २७ ॥ त्ति बेमि ॥

१९. घर में रहने वाले (गृहस्थ), तथा वन में रहने वाले तापस एवं प्रव्रज्या धारण किये हुए मुनि अथवा पार्वत—पर्वत की गुफाओं में रहने वाले (जो कोई) भी (मेरे) इस दर्शन को प्राप्त (स्वीकार) कर लेते हैं, (वे) सब दुःखों से मुक्त हो जाते हैं ।

२०. वे (पूर्वोक्त मतवादी अन्यदर्शनी) न तो सन्धि को जानकर (क्रिया में प्रवृत्त होते हैं,) और न ही वे लोग धर्मवेत्ता हैं । इस प्रकार के (पूर्वोक्त अफलवाद के समर्थक) वे जो मतवादी (अन्यदर्शनी) हैं, उन्हें (तीर्थंकर ने) संसार (जन्म-मरण की परम्परा) को तैरने वाले नहीं कहे ।

२१. वे (अन्यतैर्थिक) सन्धि को जाने बिना ही (क्रिया में प्रवृत्त होते हैं,) तथा वे धर्मज्ञ नहीं हैं । इस प्रकार के जो वादी हैं (पूर्वोक्त सिद्धान्तों को मानने वाले) हैं, वे (अन्यतीर्थी) चातुर्गतिक संसार (समुद्र) के परगामी नहीं हैं ।

२२. वे (अन्य मतावलम्वी) न तो सन्धि को जानकर (क्रिया में प्रवृत्त होते हैं); और न ही वे लोग धर्म के ज्ञाता हैं । इस प्रकार के जो वादी (पूर्वोक्त मिथ्या सिद्धान्तों को मानने वाले) हैं, वे गर्भ (में आगमन) को पार नहीं कर सकते ।

२३. वे (अन्य मतवादी) न तो सन्धि को जानकर ही (क्रिया में प्रवृत्त होते हैं), और न ही वे धर्म के तत्त्वज्ञ हैं । जो मतवादी (पूर्वोक्त मिथ्यावादों के प्ररूपक हैं, वे जन्म (परम्परा) को पार नहीं कर सकते ।

२४. वे (अन्य मतवादी) न तो सन्धि को जानकर (क्रिया में प्रवृत्ति करते हैं), और न ही वे धर्म का रहस्य जानते हैं । इस प्रकार के जो वादी (मिथ्यामत के शिकार) हैं, वे दुःख (—सागर) को पार नहीं कर सकते ।

२५. वे अन्यतीर्थी सन्धि को जाने बिना ही (क्रिया में प्रवृत्त हो जाते हैं), वे धर्म मर्मज्ञ नहीं हैं । अतः जो (पूर्वोक्त प्रकार से मिथ्या प्ररूपणा करने वाले) वादी हैं, वे मृत्यु को पार नहीं कर सकते ।

२६. वे (मिथ्यात्वग्रस्त अन्य मतवादी) मृत्यु, व्याधि और वृद्धावस्था से पूर्ण (इस) संसाररूपी चक्र में बार-बार नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करते हैं—दुःख भोगते हैं ।

२७. ज्ञातपुत्र जिनोत्तम श्री महावीर स्वामी ने यह कहा कि वे (पूर्वोक्त अफलवादी अन्य-तीर्थी) उच्च-नीच गतियों में भ्रमण करते हुए अनन्त वार (माता के) गर्भ में आएँगे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—अन्य दर्शनियों का अपना-अपना मताग्रह—१९वीं गाथा में शास्त्रकार ने अन्य मतवादियों के द्वारा लोगों को अपने मत-पंथ की ओर खींचने की मनोवृत्ति का नमूना दिखाया है—वे सभी मतवादी यही कहते हैं—चाहे तुम गृहस्थ हो, चाहे आरण्यक या पर्वतीय तापस या योगी हो, चाहे प्रव्रजित हो, हमारे माने हुए या प्रवर्तित दर्शन या वाद को स्वीकार कर लोगे तो समस्त शारीरिक, मानसिक या आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक दुःखों से मुक्त हो जाओगे, अथवा जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, गर्भावास आदि के दुःखों से छुटकारा पा जाओगे। अथवा कठोर तप करके अपने शरीर को सुखा देना, संयम और त्याग की कठोरचर्या अपनाना, शिरोमुण्डन, केशलुञ्चन, पैदल विचरण, नग्न रहना या सीमित वस्त्र रखकर सर्दी-गर्मी आदि परीषह सहना, जटा, मृगचर्म, दण्ड, काषायवस्त्र आदि धारण करना ये सब शारीरिक क्लेश दुःखरूप हैं, हमारा दर्शन या मत स्वीकार करने पर इन शारीरिक कष्टों से छुटकारा मिल जाएगा।[६६]

गार्हस्थ्य-प्रपंचों में रचे-पचे रहते हुए हिंसा, झूठ, चोरी आदि दोषों से सर्वथा मुक्त न हो सकने वाले व्यक्ति को भी ये सभी दार्शनिक कर्मबन्धन से मुक्त होने के लिए हिंसादि आस्रवों, मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय आदि का त्याग या यथाशक्ति तप, व्रत, नियम, संयम करने के वदले सिर्फ अपने मत या दर्शन को स्वीकार करने का सस्ता, सरल और सीधा मार्ग बतला देते थे।

वनवासी तापस, पर्वतनिवासी योगी या परिव्राजक, जो परिवार, समाज और राष्ट्र के दायित्वों से हटकर एकान्त साधना करते थे, या उन्हें नैतिक, धार्मिक मार्गदर्शन देने से दूर रहते थे, उनके लिए भी वे दार्शनिक यही कहते थे कि हमारे दर्शन का स्वीकार करने से झटपट मुक्ति हो जाएगी, इसमें तुम्हें कुछ त्याग, तप आदि करने की कोई जरूरत नहीं। दूसरों को आकर्षित करने की मनोवृत्ति का चित्रण करते हुए कहा है—

तपांसि यातनाश्चित्राः संयमो भोगवञ्चनम्।
अग्निहोत्रादिकं कर्म बालक्रीडेव लक्ष्यते॥

—विविध प्रकार के तप करना शरीर को व्यर्थ यातना देना है, संयम धारण करना अपने आपको भोग से वंचित करना है और अग्निहोत्र आदि कर्म तो वच्चों के खेल के समान मालूम होते हैं।[६७]

---

[६६] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २८
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखवोधिनी व्याख्या पृ० १२५ के अनुसार
(ग) 'पव्वए' के वदले कहीं-कहीं 'पव्वइया' पाठान्तर है, उसका अर्थ होता है—'प्रव्रजिताः' प्रव्रज्या धारण किये हुए। पव्वया के दो अर्थ किये गए हैं—पव्वया—प्रव्रजिताः, प्रव्रज्या धारण किये हुए, अथवा पव्वया—पार्वताः—पर्वत में रहने वाले। —सूत्रकृ० समयार्थबोधिनी टीका पृ० २३२

[६७] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २८ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखवोधिनी व्याख्या पृ० १२६ के आधार पर

सर्वदुःखों से विमुक्त होने का मार्ग यह या वह ?

'सव्वदुक्खा विमुच्चइ' इस पंक्ति के पीछे शास्त्रकार का यह भी गर्भित आशय प्रतीत होता है कि पंचभूतात्मवादी से लेकर चातुर्धातुकवादी (क्षणिकवादी) तक के सभी दर्शनकार जो सर्वदुःखों से मुक्ति का आश्वासन देते हैं, क्या यही दुःख-मुक्ति का यथार्थ मार्ग है ? या श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र एवं तप के द्वारा कर्मक्षय करके मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग, इन कर्मवन्ध के कारणों से दूर रहना सर्वदुःखमुक्ति का मार्ग है ? इस प्रकार का विवेक प्रत्येक साधक स्वयं करे। सवसे वड़ा दुःख तो जन्म-मरण का है, वह कर्मवन्धन के मिटने से ही दूर हो सकता है, कर्मवन्धन तोड़ने का यथार्थ मार्ग मिथ्यात्वादि पांच आस्रवों से दूर रहना और रत्नत्रय की साधना करना है।

ये सव दार्शनिक स्वयं दुःखमुक्त नहीं

पूर्वगाथा में समस्त अन्य दर्शनियों द्वारा अपने दर्शन को अपना लेने से दुःखमुक्त हो जाने के झूठे आश्वासन का उल्लेख किया गया था, २०वीं गाथा से लेकर २६वीं गाथा तक शास्त्रकार प्रायः एक ही वात को कई प्रकार से दोहराकर कहते हैं, वे दार्शनिक दुःख के मूल स्रोत जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, चतुर्गतिरूप संसारचक्र, गर्भ में पुनः-पुनः आगमन तथा अन्य तज्ञान-मोहादिजनित कष्टों आदि को स्वयं पार नहीं कर पाते, तो दूसरों को दुःखों से मुक्त कैसे करेंगे ? ये स्वयं दुःखमुक्त नहीं हो पाते, इसके मूल दो कारण शास्त्रकार ने वताये हैं—

(१) संधि को जाने विना ही क्रिया में प्रवृत्त हो जाते हैं,

(२) वे धर्मतत्त्व से अनभिज्ञ हैं। यही कारण है कि शास्त्रकार ने उन सव दार्शनिकों के लिए छह गाथाओं के द्वारा यही वात अभिव्यक्त की है।

इसी वात को विशेष स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार २६वीं गाथा में कहते हैं—**'नाणाविहाइं दुक्खाइं, अणुभवंति पुणो पुणो'**—अर्थात् वे विभिन्न मतवादी पूर्वोक्त नाना प्रकार के दुःखों को वार-वार भोगते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जव तक जीवन में मिथ्यात्व, हिंसादि से अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रहेगा, तव तक चाहे वह पर्वत पर चला जाए, घोर वन में जाकर ध्यान लगा ले, अनेक प्रकार के कठोर तप भी कर ले अथवा विविध क्रियाकाण्ड भी कर ले तो भी वह जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, गर्भवासरूप संसारचक्र-परिभ्रमण के महादुःखों को सर्वथा समाप्त नहीं कर सकता।[६८]

'ते णावि संधि णच्चा'—इस पंक्ति में **'ते'** शब्द उन लोगों के लिए प्रयुक्त किया गया है, जिनके मिथ्यावादों (मतों) के सम्वन्ध में शास्त्रकार पूर्वगाथाओं में कह आए हैं। वे संसार परिभ्रमणादि दुःखों को समाप्त नहीं कर पाते, इसके दो कारणों में से प्रथम महत्त्वपूर्ण कारण है—संधि की अनभिज्ञता। इस पंक्ति में संधि शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्राकृत शब्दकोष के अनुसार सन्धि के यहाँ प्रसंगवश मुख्यतया ६ अर्थ होते हैं[६९]—

(१) संयोग,
(२) जोड़ या मेल,
(३) उत्तरोत्तर पदार्थ-परिज्ञान,
(४) मत या अभिप्राय,
(५) अवसर, तथा
(६) विवर-छिद्र।

---

[६८] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २८ के अनुसार

[६९] पाइअ-सद्द-महण्णवो पृष्ठ ८४२

इन अर्थों के सन्दर्भ में इस पंक्ति की व्याख्या इस प्रकार समझना चाहिए—

(१) आत्मा के साथ कर्म का कहाँ-कहाँ कैसे-कैसे संयोग, जोड़ या मेल है ?

(२) आत्मा के साथ कर्मबन्धन की सन्धि कहाँ-कहाँ, और कैसे-कैसे किन कारणों से हो जाती है।

(३) आत्मा कैसे/किस प्रकार कर्मबन्धन से रहित हो सकता है, इस सिद्धान्त, मत या अभिप्राय को वे नहीं जान पाते।

(४) उत्तरोत्तर अधिक पदार्थों (तत्त्वभूत पदार्थों) को वे नहीं जानते।

(५) वे ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध कर्मों का विवर (रहस्य) नहीं जानते। अथवा आत्मा को कर्मबन्धन से मुक्ति का अवसर कैसे मिल सकता है ? इस तथ्य को वे नहीं जानते। इस प्रकार संधि को जाने बिना ही वे (पूर्वोक्त) मतवादी क्रिया में प्रवृत्त होते हैं।[७०]

'ण ते धम्मविऊ जणा'—संसारपरिभ्रमणादि दुःखों से मुक्त न होने का दूसरा प्रबल कारण है—उनका धर्मविषयक अज्ञान। जब वे आत्मा को ही नहीं मानते, या मानते हैं तो उसे कूटस्थनित्य, निष्क्रिय, या शरीर या पंचभूतों या चतुर्धातुओं तक ही सीमित, अथवा पंचस्कन्धात्मक क्षणजीवी मानते हैं, तब वे आत्मा के धर्म को उसके ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख और वीर्य आदि निजी गुणों को—स्वभाव को कैसे जान पाएँगे ? वे तो हिंसादि पापकर्मों को ही आत्मा का स्वाभाविक धर्म समझे बैठे हैं, अथवा आत्मा को जान-मानकर भी वे उसके साथ संलग्न होने वाले कर्मबन्ध को तोड़कर आत्मा को उसके निजी धर्म में रमण नहीं करा पाते। कदाचित् वे शुभकर्मजनित पुण्यवश स्वर्ग पा सकते हैं, परन्तु जन्म-मरणादि दुःखों से सर्वथा मुक्ति नहीं पा सकते, न ही उसके लिए तीर्थंकरों द्वारा आचरित प्ररूपित एवं अनुभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप रूप धर्म की आराधना-साधना करते हैं। वे इस धर्म के ज्ञान और आचरण से कोसों दूर हैं।

उच्चावयाणि गच्छंता गब्भमेस्संति पुणो पुणो—यह भविष्यवाणी वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर महावीर द्वारा उन्हीं पूर्वोक्त वादियों के लिए की गई है। विश्वहितंकर राग-द्वेष मुक्त, सर्वज्ञ निःस्पृह महापुरुष किसी के प्रति रोष, द्वेष, वैर, घृणा आदि से प्रेरित होकर कोई वचन नहीं निकालते, उन्होंने अपने ज्ञान में पूर्वोक्त वाद की प्ररूपणा करने वाला जैसा अन्धकारमय भविष्य देखा, वैसा व्यक्त कर दिया। उन्होंने उनके लिए **उच्चावयाणि गच्छंता**—उच्च नीच गतियों में भटकने की बात कही, उसके पीछे रहस्य यह है कि एक तो वे स्वयं उक्त मिथ्यावादों के कदाग्रहरूप मिथ्यात्व से ग्रस्त हैं, फिर वे हजारों-लाखों जनसमुदाय के समक्ष मुक्ति—सर्वदुःखमुक्ति का प्रलोभन देकर उन्हें भी मिथ्यात्वविष का पान कराते हैं, तब भला वे घोर मिथ्यात्व के प्रचारक इतने कठोर प्रायश्चित् के बिना कैसे छुटकारा पा सकते हैं ? फिर भी अगर वे गोशालक की तरह बीच में ही सँभल जाएँ, अपनी भूल सुधार लें तो कम से कम दण्ड से भी छुट्टी मिल सकती है। परन्तु मिथ्यात्व के गाढ़तम अन्धकार में ही वे लिपटे रहें, सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान प्राप्त करने की उनमें जिज्ञासा भी न हो तो चारों गतियों के दुःखों को भोगना ही पड़ेगा, अनन्त बार गर्भ में आना ही पड़ेगा।[७१]

इस प्रकार गणधर श्री सुधर्मास्वामी ने अपने शिष्य श्री जम्बूस्वामी से तीर्थंकर भगवान् महावीर से साक्षात सुना हुआ वर्णन किया है। □

---

[७०] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २९ के आधार पर

[७१] वही, पत्रांक २९

बिइओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

नियतिवाद-स्वरूप

२८. आघायं पुण एगेसिं, उववन्ना पुढो जिया।
वेदयंति सुहं दुक्खं, अदुवा लुप्पंति ठाणओ ॥१॥

२९. न तं सयंकडं दुक्खं, कओ अन्नकडं च णं।
सुहं वा जइ वा दुक्खं, सेहियं वा असेहियं ॥२॥

३०. न सयं कडं ण अन्नेहिं, वेदयन्ति पुढो जिया।
संगतियं तं तहा तेसिं इहमेगेसिमाहियं ॥३॥

३१. एवमेताइं जंपंता, बाला पंडियमाणिणो।
णियया-ऽणिययं संतं, अजाणंता अबुद्धिया ॥४॥

३२. एवमेगे उ पासत्था, ते भुज्जो विप्पगब्भिया।
एवं उवट्ठिता संता, ण ते दुक्खविमोक्खया ॥५॥

२८. पुन: किन्हीं मतवादियों का कहना है कि (संसार में) सभी जीव पृथक्-पृथक् हैं, यह युक्ति से सिद्ध होता है। तथा वे (जीव पृथक्-पृथक् ही) सुख-दु:ख भोगते हैं, अथवा अपने स्थान से अन्यन्त्र जाते हैं—अर्थात्—एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाते हैं।

२९-३०. वह दु:ख (जब) स्वयं द्वारा किया हुआ नहीं है, तो दूसरे का किया हुआ भी कैसे हो सकता है? वह सुख या दु:ख, चाहे सिद्धि से उत्पन्न हुआ हो अथवा सिद्धि के अभाव से उत्पन्न हुआ हो, जिसे जीव पृथक्-पृथक् भोगते हैं, वह न तो उनका स्वयं का किया हुआ है और न दूसरे के द्वारा किया हुआ है, उनका वह (सुख या दु:ख) सांगतिक = नियतिकृत है ऐसा इस दार्शनिक जगत् में किन्हीं (नियतिवादियों) का कथन है।[1]

३१. इस (पूर्वोक्त) प्रकार से इन (नियतिवाद की) बातों को कहनेवाले (नियतिवादी) स्वयं अज्ञानी (वस्तुतत्त्व से अनभिज्ञ) होते हुए भी अपने आपको पण्डित मानते हैं, (क्योंकि सुख-दु:ख आदि)

---

[1] 'मक्खलिपुत्तगोसालक' नियतिवाद का मूल पुरस्कर्ता और आजीवक सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक था; परन्तु प्रस्तुत गाथाओं में कहीं भी गोशालक या आजीवक का नाम नहीं आया। हाँ, द्वितीय श्रुतस्कन्ध में नियति और संगति शब्द का (मू० ६६३-६५) उल्लेख है। उपासकदशांग के ७वें अध्ययन में गोशालक और उसके मत का सद्दालपुत्त और कुण्डकोलिय प्रकरण में स्पष्ट उल्लेख है कि गोशालक मतानुसार उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषार्थ आदि कुछ भी नहीं है। सब भाव सदा से नियत हैं। बौद्ध-ग्रन्थ दीघनिकाय, संयुक्त निकाय, आदि में तथा जैनागम व्याख्याप्रज्ञप्ति, स्थानांग, समवायांग, औपपातिक आदि में भी आजीवक मत-प्रवर्त्तक नियतवादी गोशालक का (नामपूर्वक या नामरहित) वर्णन उपलब्ध है।

—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा० २, पृ० १३८

नियत (नियतिकृत) और अनियत (अनियतिकृत) दोनों ही प्रकार के होते हैं, परन्तु वुद्धिहीन (नियतिवादी) इसे नहीं जानते।

३२. इस प्रकार कई (नियतिवाद से ही) पास में रहने वाले, (पार्श्वस्थ) अथवा कर्मपाश (कर्मवन्धन) में जकड़े हुए (पाशस्थ) कहते हैं। वे वार-वार नियति को ही (सुख-दुःखादि का) कर्ता कहने की धृष्टता करते हैं। इस प्रकार (अपने सिद्धान्तानुसार पारलौकिक क्रिया में) उपस्थित होने पर भी वे (स्वयं को) दुःख से मुक्त नहीं कर सकते।

विवेचन—नियतिवाद के गुण-दोष—यहाँ २८वीं गाथा से ३२वीं गाथा तक नियतिवाद के मन्तव्य का और मिथ्या होने का विश्लेषण किया गया है। नियतिवाद की मान्यता यहाँ तक तो ठीक है कि जगत् में सभी जीवों का अपना अलग-अलग अस्तित्व है। यह तथ्य प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणों और युक्तियों द्वारा सिद्ध है। क्योंकि जव तक आत्मा पृथक्-पृथक् नहीं मानी जायेगी, तव तक जीव अपने द्वारा कृत कर्मवन्ध के फलस्वरूप प्राप्त होने वाला सुख-दुःख नहीं भोग सकेगा और न ही सुख-दुःख भोगने के लिए एक शरीर, एक गति तथा एक योनि को छोड़कर दूसरे शरीर, दूसरी गति तथा योनि को प्राप्त कर सकेगा। जीवों की पृथक्-पृथक् सत्ता मानने पर ही यह सव वातें घटित हो सकती हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त इस युक्ति से भी जीव पृथक्-पृथक् इसलिए सिद्ध हैं कि संसार में कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई धनी, कोई निर्धन आदि विभिन्नताएँ देखी जाती हैं। प्रत्येक प्राणी को होने वाले न्यूनाधिक सुख-दुःख के अनुभव को हम झुठला नहीं सकते, तथा आयुष्य पूर्ण होते ही वर्तमान शरीर को यहीं छोड़कर दूसरे भव में प्राणी चले जाते हैं, कई व्यक्तियों को अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो जाता है, इस अनुभूति को भी मिथ्या नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार प्रत्येक आत्मा का पृथक् अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर पंचभूतात्मवाद, एकात्मवाद, तज्जीवतच्छरीरवाद, पंचस्कन्धवाद या चातुर्धातुवाद आदि वादों का खण्डन हो जाता है। इस अंश में नियतिवाद का कथन सत्य स्पर्शी है। परन्तु इससे आगे जव नियतिवादी यह कहते हैं कि प्राणियों के द्वारा भोगा जाने वाला सुख-दुःख आदि न तो स्व-कृत है, न पर-कृत है, वह एकान्त नियतिकृत ही है, तव उनका यह ऐकान्तिक कथन मिथ्या हो जाता है।[२]

एकान्त नियतिवाद कितना सच्चा, कितना झूठा?—वौद्धग्रन्थ दीघनिकाय के सामञ्जफलसुत्त में आजीवकमत-प्रवर्तक मंक्खलि गोशाल के नियतिवाद का उल्लेख इस प्रकार है—'....सत्त्वों के क्लेश (दुःख) का हेतु प्रत्यय नहीं है। विना हेतु और प्रत्यय के ही सत्त्व (प्राणी) क्लेश पाते हैं। विना हेतु और प्रत्यय के सत्त्व शुद्ध होते हैं। न वे स्वयं कुछ कर सकते हैं, और न पराये कुछ कर सकते हैं, (कोई) पुरुषार्थ (पुरुषकार) नहीं है, वल नहीं है, वीर्य नहीं है, पुरुष का साहस (स्थाम) नहीं है, और न पुरुष का कोई पराक्रम है। समस्त सत्त्व, समस्त प्राणी सभी भूत और सभी जीव अवश (लाचार) हैं, निर्वल हैं, निर्वीय हैं, नियति के संयोग से छह जातियों में (उत्पन्न होकर) सुख-दुःख भोगते हैं।...जिन्हें मूर्ख और पण्डित जानकर और अनुगमन कर दुःखों का अन्त कर सकते हैं। वहाँ यह नहीं है कि इस

---

[२] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २९ के आधार पर

(ख) तुलना कीजिए—"....सन्तेके समण व्राह्मणा एवं वादिनो एवं दिट्ठिनो—असयंकारं अपरंकारं अधिच्चसमुप्पन्नं सुखदुक्खं अत्ता च लोकं च। इदमेव सच्चं मोघमञ्ञं ति। —सुत्तपिटके उदानं नानातित्थिय सुत्तं पृ. १४६-१४७

शील, व्रत, तप या ब्रह्मचर्य से मैं अपरिपक्व कर्म को परिपक्व कर लूँगा, परिपक्व कर्म को भोगकर अन्त करूँगा। सुख और दुःख तो द्रोण (माप) से नपे-तुले (नियत) हैं, संसार में न्यूनाधिक या उत्कर्ष-अपकर्ष नहीं है। जैसे सूल की गोली फेंकने पर उछलती हुई गिरती है, वैसे ही मूर्ख और पण्डित दौड़कर आवागमन में पड़कर दुःख का अन्त करेंगे।[३]

संगतिअंतं—शास्त्रकार नियतिवाद या नियति का सीधा नाम न लेकर इसे सांगतिक (सांतियं) बताते हैं। वृत्तिकार के अनुसार **'संगतिअं'** की व्याख्या इस प्रकार है—"सम्यक्—अर्थात् अपने परिणाम से जो गति है, उसे संगति कहते हैं। जिस जीव, को जिस समय, जहाँ, जिस सुख-दुःख का अनुभव करना होता है, वह संगति कहलाती है, वही नियति है। उस संगति = नियति से जो सुख-दुःख उत्पन्न होता है, उसे **सांगतिक** कहते हैं।

बौद्ध-ग्रन्थ दीघनिकाय में मक्खिल गोसाल के मत वर्णन में '**····नियतिसंगतिभावपरिणता**' शब्द का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। सूत्रकृतांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध सूत्र ६६३-६५ में भी **नियति** और **संगति** दोनों शब्दों का यत्र-तत्र स्पष्ट उल्लेख है।

'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में नियतिवाद का वर्णन करते हुए कहा गया है—'चूँकि संसार के सभी पदार्थ अपने-अपने नियत स्वरूप से उत्पन्न होते हैं, अतः ज्ञात हो जाता है कि ये सभी पदार्थ नियति से उत्पन्न हैं। यह समस्त चराचर जगत् नियति से बँधा हुआ है। जिसे, जिससे, जिस समय, जिस रूप में होना होता है, वह, उससे, उसी समय, उसी रूप में उत्पन्न होता है। इस तरह अबाधित प्रमाण से सिद्ध इस नियति की गति को कौन रोक सकता है? कौन इसका खण्डन कर सकता है?[४] साथ ही काल, स्वभाव, कर्म और पुरुषार्थ आदि के विरोध का भी वह युक्तिपूर्वक निराकरण करता है।[५]

---

३. (क) "मक्खलिगोसालो मं एतदवोच—नत्थि महाराज, हेतु, नत्थि पच्चयो सत्तानं सङ्किलेसाय। अहेतू अपच्चया सत्ता सङ्किलिस्संति। नत्थि हेतु, नत्थि पच्चयो सत्तानं विसुद्धिया। अहेतू अपच्चया सत्ता विसुज्झंति। नत्थि अत्तकारे, नत्थि परकारे, नत्थि पुरिसकारे, नत्थि बलं, नत्थि वीरियं, नत्थि पुरिसथामो, नत्थि पुरिस-परक्कमो। सब्बे सत्ता, सब्बे पाणा, सब्बे भूता, सब्बे जीवा अवसा अबला, अविरिया नियतिसंगतिभावपरिणता, छस्वेवाभिजातीसु सुखदुक्खं पटिसंवेदेन्ति।····यानि बाले च पण्डिते च सन्धावित्वा संसरित्वा दुक्खस्संतं करिस्संति। तत्थ नत्थि इमिनाहं सीलेन व वतेन वा तपेन वा ब्रह्मचरियेन वा अपरिपक्कं वा कम्मं परिपाचेस्सामि, परिपक्कं वा कम्मं फुस्स फुस्स ब्यन्ति करिस्सामीति। हेवं नत्थि दोणमिते सुखदुक्खे परियन्तकते संसारे, नत्थि हायनवड्ढने, नत्थि उक्कंसावकंसे। सेय्यथापिनाम सुत्तगुले क्खित्ते निब्बेठियमामेव पलेति एवमेव बाले च पण्डिते च संधावित्वा संसरित्वा दुक्खस्संतं करिस्संतीति।' '—सुत्तपिटके दीघनिकाये (पाली भाग १) सामञ्ञफलसुत्त पृ० ४१-५३।

४.
नियतेनैव रूपेण, सर्वे भावा भवन्ति यत्।
ततो नियतिजा ह्येते, तत्स्वरूपानुबन्धतः॥
यद्यदेव यतो यावत् तत्तदेव ततस्तथा।
नियतं जायते न्ययात् क एनं बाधयितं क्षमः? —शास्त्रवार्तासमुच्चय

५. देखिये श्वेताश्वतरो० श्लोक २ में—काल: स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां नत्वात्मभावादात्माप्यनीशः. खदुःखहेतोसुः॥"

काल को त्रिकाल त्रिलोकव्यापी तथा विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का, यहाँ तक कि प्रत्येक कार्य, सुख-दुःखादि का कारण मानने वाले कालवादियों का खण्डन करते हुए नियतिवादी कहते हैं—एक ही काल में दो पुरुषों द्वारा किये जाने वाले एक सरीखे कार्य में एक को सफलता और दूसरे को असफलता क्यों मिलती है ? एक ही काल में एक को सुख और एक को दुःख क्यों मिलता है ? अतः नियति को माने विना कोई चारा नहीं।

स्वभाववादी सारे संसार को स्वभाव से निष्पन्न मानते हैं, वे कहते हैं—मिट्टी का ही घड़ा बनने का स्वभाव है, कपड़ा बनने का नहीं, सूत का ही कपड़ा बनने का स्वभाव है, घड़ा नहीं। इस तरह प्रति नियत कार्य-कारण भाव स्वभाव के विना बन नहीं सकता। सभी पदार्थ स्वतः परिणमन स्वभाव के कारण ही उत्पन्न होते हैं, इसमें नियति की क्या आवश्यकता है ? इन युक्तियों का खण्डन करते हुए नियतिवादी कहते हैं-- भिन्न-भिन्न प्राणियों का, इतना ही नहीं एक ही जाति के अथवा एक ही माता के उदर से जन्मे दो प्राणियों का पृथक्-पृथक् स्वभाव नियत करने का काम नियति के विना हो नहीं सकता। नियतिवाद ही इस प्रकार का यथार्थ समाधान कर सकता है। फिर स्वभाव पुरुष से भिन्न न होने के कारण वह सुख-दुःख का कर्ता नहीं हो सकता।[६]

ईश्वर का या पुरुष का (स्वकृत) पुरुषार्थ भी सुख-दुःख कर्ता या जगत् के सभी पदार्थों का कारण नहीं हो सकता। एक सरीखा पुरुषार्थ करने पर भी दो व्यक्तियों का कार्य एक-सा या सफल क्यों नहीं हो पाता ? अतः इसमें भी नियति का ही साथ है। ईश्वर-कृतक पदार्थ मानने पर तो अनेक आपत्तियाँ आती हैं। अब रहा कर्म। कर्मवादी कहते हैं—किसान, वणिक आदि का एक सरीखा उद्योग होने पर भी उनके फल में विभिन्नता या फल की अप्राप्ति पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म के प्रभाव को सूचित करती है। इसका प्रतिवाद नियतिवादी यों करते हैं—"कर्म पुरुष से भिन्न नहीं होता, वह अभिन्न होता है, ऐसी स्थिति में वह पुरुष रूप हो जायगा और पुरुष पूर्वोक्त युक्तियों से सुखदुःखादि का कारण नहीं हो सकता। नियति ही एकमात्र ऐसी है, जो जगत् के समस्त पदार्थों की कारण हो सकती है।

इस प्रकार से एकान्त नियतिवाद का खण्डन करते हुए शास्त्रकार सूत्रगाथा ३१ द्वारा कहते हैं—**णिययाऽणिययं संतं अजाणंता अबुद्धिया**—इसका आशय यह है कि वे मिथ्या प्ररूपणा करते हुए मुज्ञ (हठाग्रही) एवं पण्डितमानी नियतिवादी एकान्त-नियतिवाद को पकड़े हुए हैं। वे इस बात को नहीं जानते कि संसार में सुख-दुःख आदि सभी नियतिकृत नहीं होते, कुछ सुख-दुःख आदि नियतिकृत

---

६. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३० के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० १४३-५ के आधार पर
(ग) कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः।
कालः सुप्तेपु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥—हारीत सं०
(घ) 'यदिन्द्रियाणां नियतः प्रचारः, प्रियाप्रियत्वं विषयेपु चैव।
सुयुज्यते यज्जरयाऽऽर्तिभिश्च, कस्तत्र यत्नो ? न नु स स्वभावः ॥' —बुद्ध चरित
(च) 'कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं, विचित्रभावं मृगपक्षिणां च।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति, कुतः प्रयत्नः ?' —सूत्र० टीका में उद्धृत

होते हैं, क्योंकि उन-उन सुख-दुःखों के कारणरूप कर्म का अबाधाकाल समाप्त होने पर अवश्य उदय होता ही है, जैसे निकाचित कर्म का।' परन्तु कई सुख-दुःख अनियत (नियतिकृत नहीं) होते हैं। वे पुरुष के उद्योग, काल, स्वभाव और कर्म द्वारा किये हुए होते हैं। ऐसी स्थिति में अकेला नियति को कारण मानना अज्ञान है।

आचार्य सिद्धसेन ने **'सन्मति तर्क'** में बताया है कि काल, स्वभाव, नियति, अदृष्ट (कर्म) और पुरुषार्थ ये पंच कारण समवाय है। इसके सम्बन्ध में एकान्त कथन मिथ्या है और परस्पर सापेक्ष कथन ही सम्यक्त्व है।[७]

जैन-दर्शन सुख-दुःख आदि को कथंचित् पुरुषकृत उद्योग साध्य भी मानता है, क्योंकि क्रिया से फलोत्पत्ति होती है और क्रिया उद्योगाधीन है। कहीं उद्योग की विभिन्नता फल की भिन्नता का कारण होती है, कहीं दो व्यक्तियों का एक सरीखा उद्योग होने पर भी किसी को फल नहीं मिलता, वह उसके अदृष्ट (कर्म) का फल है। इस प्रकार कथंचित् अदृष्ट (कर्म) भी सुखादि का कारण है। जैसे—आम, कटहल, जामुन, अमरूद आदि वृक्षों में विशिष्ट काल (समय) आने पर ही फल की उत्पत्ति होती है, सर्वथा नहीं। एक ही समय में विभिन्न प्रकार की मिट्टियों में बोये हुए बीज में से एक में अन्नादि उग जाता है, दूसरी ऊपर मिट्टी से नहीं उगते इस कारण स्वभाव को भी कथंचित् कारण माना जाता है। आत्मा को उपयोग रूप तथा असंख्य-प्रदेशी होना तथा पुद्गलों का मूर्त होना और धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय आदि का अमूर्त एवं गति-स्थिति में सहायक होना आदि सब स्वभावकृत है।

इस प्रकार काल, स्वभाव, नियति अदृष्ट (कर्म) और पुरुषकृत पुरुषार्थ ये पाँचों कारण प्रत्येक कार्य या सुखादि में परस्पर-सापेक्ष सिद्ध होते हैं, इस सत्य तथ्य को मानकर एकान्त रूप से सिर्फ नियति को मानना दोषयुक्त है, मिथ्या है।

कठिन शब्दों की व्याख्या—'लुप्पंति ठाणउ'—अपनी आयु से अलग प्रच्युत हो जाते हैं, एक स्थान (शरीर) को छोड़कर दूसरे स्थान (शरीर या भव) में संक्रमण करते जाते हैं। **सेहियं-असेहियं**—ये दोनों विशेषण सुख के हैं। एक सुख तो सैद्धिक है और दूसरा है असैद्धिक। सिद्धि यानि मुक्ति में जो सुख उत्पन्न हो, उसे सैद्धिक और इसके विपरीत जो असिद्धि यानि संसार में सातावेदनीय के उदय से जो सुख प्राप्त होता है उसे असैद्धिक सुख कहते हैं। अथवा सुख और दुःख, ये दोनों ही सैद्धिक-असैद्धिक दोनों प्रकार के होते हैं। पुष्पमाला, चन्दन और वनिता आदि की उपभोग क्रिया रूप सिद्धि से होने वाला सुख सैद्धिक तथा चाबुक की मार, गर्म लोहे से दागने आदि सिद्धि से होने वाला दुःख भी सैद्धिक है। आकस्मिक अप्रत्याशित बाह्यनिमित्त से हृदय में उत्पन्न होने वाला आन्तरिक आनन्द रूप सुख असैद्धिक सुख है, तथा ज्वर, मस्तक पीड़ा, उदर शूल आदि दुःख, जो अंग से उत्पन्न होते हैं, वे असैद्धिक दुःख हैं। **पासत्था**—इस शब्द के संस्कृत में दो रूप होते हैं—'पार्श्वस्था' और 'पाशस्था'। पार्श्वस्थ का अर्थ होता है—पास, नजदीक में रहने वाले अथवा युक्ति समूह से बाहर या परलोक की क्रिया के किनारे ठहरने वाले अथवा कारणचतुष्टयवादियों से अलग (एक किनारे) रहने वाले।

---

[७] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २७ से ३२ तक

(ख) 'कालो सहाव-नियई.........।' —सन्मतितर्क

पाशस्थ का अर्थ होता है—पाश (बन्धन) में जकड़े हुए की तरह कर्मपाश (कर्मबन्धन) में जकड़े हुए यहाँ 'पाशस्थ' रूप ही अधिक संगत लगता है।

उवट्ठिया संता—अपने सिद्धान्तानुसार पारलौकिक क्रिया में उपस्थित (प्रवृत्त) होकर भी।

ण ते दुक्ख विमोक्खया—वृत्तिकार के अनुसार अपने आपको संसार के दुःख से मुक्त नहीं कर पाते। चूर्णिकार ने **'णऽत्तदुक्खविमोक्खया'** पाठ मानकर अर्थ किया है—अपनी आत्मा को संसार-दुःख से विमुक्त नहीं कर पाते। कहीं-कहीं **'ण ते दुक्खविमोयगा'** पाठान्तर है, उसका भी वही अर्थ है।[८]

अज्ञानवाद-स्वरूप

३३. जविणो मिगा जहा संता, परिताणेण वज्जिता।
असंकियाइं संकंति, संकियाइं असंकिणो॥ ६॥

३४. परियाणियाणि संकंता, पासिताणि असंकिणो।
अण्णाणभयसंविग्गा, संपलिंति तहिं तहिं॥ ७॥

३५. अह तं पवेज्ज वज्झं, अहे वज्झस्स वा वए।
मुंचेज्ज पयपासाओ, तं तु मंदे ण देहती॥ ८॥

३६. अहियप्पाऽहियपण्णाणे, विसमंतेणुवागते।
से बद्धे पयपासेहिं, तत्थ घायं नियच्छति॥ ९॥

३७. एवं तु समणा एगे, मिच्छद्दिट्ठी अणारिया।
असंकिताइं संकंति, संकिताइं असंकिणो॥ १०॥

३८. धम्मपण्णवणा जा सा, तं तु संकंति मूढगा।
आरंभाइं न संकंति, अवियत्ता अकोविया॥ ११॥

३९. सव्वप्पगं विउक्कस्सं, सव्वं णूमं विहूणिया।
अप्पत्तियं अकम्मंसे, एयमट्ठं मिगे चुए॥ १२॥

४०. जे एतं णाभिजाणंति, मिच्छद्दिट्ठी अणारिया।
मिगा वा पासबद्धा ते, घायमेसंतऽणंतसो॥ १३॥

४१. माहणा समणा एगे, सव्वे णाणं सये वए।
सव्वलोगे वि जे पाणा, न ते जाणंति किंचणं॥ १४॥

---

[८] (क) सूत्रकृतांग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृष्ठ ६

४२. मिलक्खु अमिलक्खुस्स, जहा वुत्ताणुभासती ।
ण हेउं से विजाणाति भासियं तऽणुभासती ।। १५ ।।

४३. एवमण्णाणिया नाणं, वयंता विसयं सयं ।
णिच्छयत्थं ण जाणंति, मिलक्खू व अबोहिए ।। १६ ।।

४४. अण्णाणियाण वीमंसा, अण्णाणे नो नियच्छती ।
अप्पणो य परं णालं, कुतो अण्णेऽणुसासिउं ? ।। १७ ।।

४५. वणे मूढे जहा जंतु, मूढणेताणुगामिए ।
दुहओ वि अकोविया, तिव्वं सोयं णियच्छति ।। १८ ।।

४६. अंधो अंधं पहं णितो, दूरमद्धाण गच्छती ।
आवज्जे उप्पहं जंतु, अदुवा पंथाणुगामिए ।। १९ ।।

४७. एवमेगे नियायट्ठी, धम्ममाराहगा वयं ।
अदुवा अधम्ममावज्जे, ण ते सव्वज्जुयं वए ।। २० ।।

४८. एवमेगे वितक्काहिं, णो अण्णं पज्जुवासिया ।
अप्पणो य वितक्काहिं, अयमंजू हि दुम्मती ।। २१ ।।

४९. एवं तक्काए साहेंता, धम्मा-ऽधम्मे अकोविया ।
दुक्खं ते नाइतुट्टंति, सउणी पंजरं जहा ।। २२ ।।

५०. सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वइं ।
जे उ तत्थ विउस्संति, संसारं ते विउस्सिया ।। २३ ।।

३३-३४. जैसे परित्राण—संरक्षण से रहित अत्यन्त शीघ्र भागनेवाले मृग शंका से रहित स्थानों में शंका करते हैं और शंका करने योग्य स्थानों में शंका नहीं करते। सुरक्षित-परित्राणित स्थानों को शंकास्पद और पाश-बन्धन-युक्त स्थानों को शंकारहित मानते हुए अज्ञान और भय से उद्विग्न वे (मृग) उन-उन (पाशयुक्त बन्धन वाले) स्थलों में ही जा पहुंचते हैं।

३५. यदि वह मृग उस बन्धन को लांघकर चला जाए, अथवा उसके नीचे होकर निकल जाए तो पैरों में पड़े हुए (उस) पाशबन्धन से छूट सकता है, किन्तु वह मूर्ख मृग तो उस (बन्धन) को देखता (ही) नहीं है।

३६. अहितात्मा=अपना ही अहित करने वाला तथा अहितबुद्धि (प्रज्ञा) वाला वह मृग कूटपाशादि (बन्धन) से युक्त विषम प्रदेश में पहुंचकर वहां पद-बन्धन से बंध जाता है और (वहीं) वध को प्राप्त होता है।

३७. इसी प्रकार कई मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण अशंकनीय—शंका के अयोग्य स्थानों में शंका करते हैं और शंकनीय—शंका के योग्य स्थानों में निःशंक रहते हैं—शंका नहीं करते।

३८. वे मूढ़ मिथ्यादृष्टि, धर्मप्रज्ञापना—धर्मप्ररूपना में तो शंका करते हैं, (जबकि) आरम्भों हिंसायुक्त कार्यों में (सत्शास्त्रज्ञान से रहित है, इस कारण) शंका नहीं करते।

३९. सर्वात्मक—सबके अन्तःकरण में व्याप्त—लोभ, समस्त माया, विविध उत्कर्षरूप-मान और अप्रत्ययरूप क्रोध को त्याग कर ही जीव अकर्मांश (कर्म से सर्वथा) रहित होता है। किन्तु इस (सर्वज्ञभाषित) अर्थ (सदुपदेश या सिद्धान्त अथवा सत्य) को मृग के समान (बेचारा) अज्ञानी जीव ठुकरा देता—त्याग देता है।

४०. जो मिथ्यादृष्टि अनार्यपुरुष इस अर्थ (सिद्धान्त या सत्य) को नहीं जानते, मृग की तरह पाश (बन्धन) में बद्ध वे (मिथ्यादृष्टि अज्ञानी) अनन्तबार घात—विनाश को प्राप्त करेंगे—विनाश को ढूँढ़ते हैं।

४१. कई ब्राह्मण (माहन) एवं श्रमण (ये) सभी अपना-अपना ज्ञान बघारते हैं—बतलाते हैं। परंतु समस्त लोक में जो प्राणी हैं, उन्हें भी (उनके विषय में भी) वे कुछ नहीं जानते।

४२-४३—जैसे म्लेच्छ पुरुष अम्लेच्छ (आर्य) पुरुष के कथन (कहे हुए) का (सिर्फ) अनुवाद कर देता है। वह हेतु (उस कथन के कारण या रहस्य) को विशेष नहीं जानता, किन्तु उसके द्वारा कहे हुए वक्तव्य के अनुसार ही (परमार्थशून्य) कह देता है। इसी तरह सम्यग्ज्ञान-हीन (ब्राह्मण और श्रमण) अपना-अपना ज्ञान बघारते—कहते हुए भी (उसके) निश्चित अर्थ (परमार्थ) को नहीं जानते। वे (पूर्वोक्त) म्लेच्छों—अनार्यों की तरह सम्यक् बोधरहित हैं।

४४. अज्ञानियों—अज्ञानवादियों द्वारा अज्ञानपक्ष में मीमांसा-पर्यालोचना करना युक्त (युक्तिसंगत) नहीं हो सकता। (जब) वे (अज्ञानवादी) अपने आपको अनुशासन (स्वकीय शिक्षा) में रखने में समर्थ नहीं हैं, तब दूसरों को अनुशासित करने (शिक्षा देने) में कैसे समर्थ हो सकते हैं?

४५. जैसे वन में दिशामूढ़ प्राणी दिशामूढ़ नेता के पीछे चलता है तो सन्मार्ग से अनभिज्ञ वे दोनों ही (कहीं खतरनाक स्थल में पहुंचकर) अवश्य तीव्र शोक में पड़ते हैं।—असह्य दुःख पाते हैं, (वैसे ही अज्ञानवादी सम्यक् मार्ग के विषय में दिङ्मूढ़ नेता के पीछे चलकर बाद में गहन शोक में पड़ जाते हैं।)

४६. अन्धे मनुष्य को मार्ग पर ले जाता हुआ दूसरा अन्धा पुरुष (जहां जाना है, वहाँ से) दूरवर्ती मार्ग पर चला जाता है, इसमें वह (अज्ञानान्ध) प्राणी या तो उत्पथ (ऊबड़-खाबड़ मार्ग) को पकड़ लेता है—पहुँच जाता है, या फिर उस (नेता) के पीछे-पीछे (अन्य मार्ग पर) चला जाता है।

४७. इसी प्रकार कई नियागार्थी—मोक्षार्थी कहते हैं—हम धर्म के आराधक हैं, परन्तु (धर्माराधना तो दूर रही) वे (प्रायः) अधर्म को ही (धर्म के नाम से) प्राप्त—स्वीकार कर लेते हैं। वे सर्वथा सरल-अनुकूल संयम के मार्ग को नहीं पकड़ते—नहीं प्राप्त करते।

४८. कई दुर्बुद्धि जीव इस प्रकार के (पूर्वोक्त) वितर्कों (विकल्पों) के कारण (अपने अज्ञानवादी नेता को छोड़कर) दूसरे—ज्ञानवादी की पर्युपासना—सेवा नहीं करते। अपने ही वितर्कों से मुग्ध वे यह अज्ञानवाद ही यथार्थ (या सीधा) है, (यह मानते हैं।)

४९. धर्म-अधर्म के सम्बध में अज्ञ (अज्ञानवादी) इस प्रकार के तर्कों से (अपने मत को मोक्षदायक) सिद्ध करते हुए दुःख (जन्म-मरणादि दुःख) को नहीं तोड़ सकते, जैसे पक्षी पिंजरे को नहीं तोड़ सकता।

५०. अपने-अपने मत की प्रशंसा करते हुए और दूसरे के वचन की निन्दा करते हुए जो (मतवादी जन) उस विषय में अपना पाण्डित्य प्रकट करते हैं, वे (जन्म-मरणादि रूप चातुर्गतिक) संसार में दृढ़ता से बंधे—जकड़े रहते हैं।

विवेचन—अज्ञानवादियों की मनोदशा का चित्रण—वृत्तिकार के अनुसार ३३वीं गाथा से ५०वीं गाथा तक अज्ञानवाद का निरूपण है, चूर्णिकार का मत है कि २८वीं गाथा से ४०वीं गाथा तक नियतिवाद सम्बन्धी विचारणा है। उसके पश्चात् ४१ से ५०वीं गाथा तक अज्ञानवाद की चर्चा है। परन्तु इन गाथाओं को देखते हुए प्रतीत होता है कि नियतिवादी, अज्ञानवादी, संशयवादी एवं एकान्तवादी इन चारों को शास्त्रकार ने चर्चा का विषय बनाकर जैन-दर्शन के अनेकान्त सिद्धान्त की कसौटी पर कसा है।[९]

सर्वप्रथम ३३वीं गाथा से ४०वीं गाथा तक एकान्तवादी, संशयवादी अज्ञान एवं मिथ्यात्व से ग्रस्त अन्य दार्शनिकों को वन्य मृग की उपमा देकर बताया है कि वे ऐसे मृग के समान हैं—

(१) जो असुरक्षित होते हुए भी सुरक्षित एवं अशंकनीय (सुरक्षित) स्थानों को असुरक्षित और शंकास्पद मान लेते हैं और असुरक्षित एवं शंकनीय स्थानों को सुरक्षित एवं अशंकनीय मानते हैं।

(२) जो चाहें तो पैरों में पड़े हुए उस पाश-बन्धन से छूट सकते हैं, पर वे उस बन्धन को बन्धन ही नहीं समझते।

(३) अन्त में वे विपम प्रदेश में पहुंचकर बन्धन में बंधते जाते हैं और वहीं समाप्त हो जाते हैं।

इसी प्रकार के एकान्तवादी अज्ञान-मिथ्यात्व ग्रस्त कई अनार्य श्रमण हैं, जो स्वयं सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र से पूर्णतः सुरक्षित नहीं हैं, जो हिंसा, असत्य, मिथ्याग्रह, एकान्तवाद या विषय-कषायादि से युक्त अधर्म प्ररूपणा को निःशंक होकर ग्रहण करते हैं और अधर्म प्ररूपकों की उपासना करते हैं, किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं अहिंसा, सत्य, अनेकान्त, अपरिग्रह आदि सद्धर्मों में वे शंकाकुल होकर उनसे दूर भागते हैं। वे सद्धर्म प्ररूपक, वीतराग, सर्वज्ञ हैं या उनके प्रतिनिधि हैं, उनके सान्निध्य में नहीं पहुंचते। अहिंसा, अनेकान्त, अपरिग्रह, तप, संयम, एवं क्षमादि सद्धर्म की प्ररूपणा जिन शास्त्रों में है, उन पर शंका करते हैं, और यह कहते हुए ठुकरा देते हैं—यह तो असद्धर्म की प्ररूपणा है, इस अहिंसा से तो देश का बेड़ा गर्क हो जायेगा। इसके विपरीत जिन तथाकथित शास्त्रों में यज्ञीय आरम्भ और पशुबलिजनित घोर हिंसा की प्ररूपणा है, कामना-नामना पूर्ण कर्मकाण्डों का विधान है, हिंसाजनक कार्यों की प्रेरणा है, ऐसे पापोपादानभूत आरम्भों से बिल्कुल शंका नहीं करते, उसी अधर्म को धर्म-प्ररूपणा मानकर अन्ततोगत्वा वे एकान्तवादी, अज्ञानी एवं मिथ्यात्वी लोग घोर पापकर्म के पाश (बन्धन) में फँस जाते हैं जिसका परिणाम निश्चित है—बार-बार जन्म-मरण रूप संसार में परिभ्रमण।

---

[९] सूयगडंग सुत्त (मूलपाठ, टिप्पण युक्त) की प्रस्तावना, पृष्ठ ९

इन गाथाओं में पूर्वोक्त अज्ञानियों की मनोदशा के फलस्वरूप तीन प्रक्रियाएँ बतायी हैं—

(१) अशंकनीय पर शंका तथा शंकनीय पर अशंका, (२) कर्मबन्धन में बद्धता और (३) अन्त में विनाश।[10]

अज्ञानवादियों के दो रूप—४१वीं गाथा से ५०वीं गाथा तक दो प्रकार के अज्ञानवादियों का निरूपण है—एक तो वे हैं, जो थोड़ा-सा मिथ्याज्ञान पाकर उसके गर्व से उन्मत्त बने हुए कहते हैं कि दुनिया भर का सारा ज्ञान हमारे पास है, परन्तु उनका ज्ञान केवल ऊपरी सतह का पल्लवग्राही होता है, वे अन्तर की गहराई में, आत्मानुभूति युक्त ज्ञान नहीं पा सके, केवल शास्त्र वाक्यों का तोतारटन है जिसे, वे भोले-भाले लोगों के सामने बघारा करते हैं। जैसे देशी भाषा में बोलने वाले आर्य व्यक्ति के आशय को न समझ विदेशी-भाषा-पण्डित केवल उस भाषा का अनुवाद भर कर देता है, वैसे ही वे तथाकथित शास्त्रज्ञानी, वीतराग सर्वज्ञों की अनेकान्तमयी सापेक्षवाद युक्त वाणी का आशय न समझकर उसका अनुवाद भर कर देते हैं और उसे संशयवाद कहकर ठुकरा देते हैं। इसके लिए ४३वीं गाथा में कहा गया है—"निच्छयत्थं ण जाणंति।"

दूसरे वे अज्ञानवादी हैं—जो कहते हैं—अज्ञान ही श्रेयस्कर है। कुछ भी जानने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान न होने पर वाद-विवाद, संघर्ष, वाक्कलह, अहंकार, कषाय आदि से बचे रहेंगे। जानबूझकर अपराध करने से भयंकर दण्ड मिलता है, जबकि अज्ञानवश अपराध होने पर दण्ड बहुत ही अल्प मिलता है, कभी नहीं भी मिलता। मन में रागद्वेषादि उत्पन्न न होने देने का सबसे आसान उपाय है—ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति को छोड़कर अज्ञान में ही लीन रहना। इसलिए मुमुक्षु के लिए अज्ञान ही श्रेयस्कर है।

फिर संसार में विभिन्न मत हैं, अनेक पंथ हैं, नाना शास्त्र हैं, बहुत-से धर्म-प्रवर्तक हैं, किसका ज्ञान सत्य है, किसका असत्य? इसका निर्णय और विवेक करना बहुत ही कठिन है। किसी शास्त्र का उपदेश देते किसी सर्वज्ञ को आंखों से नहीं देखा, ये शास्त्रवचन सर्वज्ञ के हैं या नहीं? शास्त्रोक्तवचन का यही अर्थ है या अन्य कोई? इस प्रकार का निश्चय करना भी टेढ़ी खीर है। अतः इन सब झमेलों से दूर रहने के लिए अज्ञान का सहारा लेना ही हितावह है।[11]

इन दोनों प्रकार के अज्ञानवादियों का मन्तव्य प्रकट करने के पश्चात् शास्त्रकार ने प्रथम प्रकार के ज्ञानगर्वस्फीत अज्ञानवादियों की मनोवृत्ति का उल्लेख करते हुए उनके अज्ञानवाद का दुष्परिणाम—अनन्त संसार परिभ्रमण (४७वीं गाथा से ५०वीं गाथा तक) में जो बताया है उसका निष्कर्ष यह है कि वे साधुवेश धारण करके मोक्षार्थी बनकर कहते हैं—हम ही धर्माराधक हैं। किन्तु धर्माराधना का क-ख-ग वे नहीं जानते। वे षट्काय के उपमर्दनरूप आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त होते हैं, दूसरों को भी आरम्भ का उपदेश देते हैं, उस हिंसादि पापारम्भ से रत्नत्रय रूप धर्माराधना तो दूर रही, उलटे वे धर्म भ्रमवश अधर्म कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं, वे संयम एवं सद्धर्म के मार्ग को ठुकरा देते हैं। न ही ऐसे सद्धर्म प्ररूपकों की सेवा में बैठकर इनसे धर्म तत्त्व समझते हैं। धर्माधर्म के तत्त्व से

---

[10] वृत्तिकार ने अज्ञानवादियों में एकान्त नियतिवादियों, कूटस्थनित्य आत्मवादियों, एकान्त क्षणिकात्मवादियों (बौद्धों) आदि का उल्लेख किया है। —सूत्र कृ० शीलांकवृत्ति पत्र ३२

[11] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३२ से ३४ तक के आधार पर।

अनभिज्ञ वे लोग केवल कुतर्कों के सहारे अपनी मान्यता सिद्ध करते हैं। जैसे पिंजरे में बन्द पक्षी उसे तोड़कर वाहर नहीं निकल सकता वैसे ही अज्ञानवादी अपने मतवादरूपी या संसाररूपी पिंजरे को तोड़कर वाहर नहीं निकल सकते। वे केवल अपने ही मत की प्रशंसा में रत रहते हैं, फलतः अज्ञानवादरूप मिथ्यात्व के कारण वे संसार के बन्धन में दृढ़ता से बंध जाते हैं। जो अज्ञान को श्रेयष्कर मानने वाले दूसरे प्रकार के अज्ञानवादी हैं, शास्त्रकार उनका भी निराकरण ४४ से ४६ तक तीन गाथाओं में करते हैं। उनका भावार्थ यह है—

"अज्ञानश्रेयोवादी अज्ञान को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, वह सब विचारचर्चा ज्ञान (अनुमान आदि प्रमाणों तथा तर्क, हेतु युक्ति) द्वारा करते हैं, यह 'वदतोव्याघात' जैसी बात है। वे अपने अज्ञानवाद को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए ज्ञान का सहारा क्यों लेते हैं? ज्ञान का आश्रय लेकर तो वे अपने ही सिद्धान्त का अपने विरुद्ध व्यवहार से खण्डन करते हैं। उन्हें तो अपनी बुद्धि पर ताला लगाकर चुपचाप वैठना चाहिए। जव वे स्वयं अज्ञानवाद सिद्धान्त के अनुशासन में नहीं चल सकते, तव दूसरों (शिष्यों) को कैसे अनुशासन में चलायेंगे? साथ ही, अज्ञानवाद के शिक्षार्थियों को वे ज्ञान को तिलांजलि देकर कैसे शिक्षा दे सकेंगे?

अज्ञानवादग्रस्त जव स्वयं सन्मार्ग से अनभिज्ञ हैं, तव उनके नेतृत्व में बेचारा दिशामूढ़—मार्ग से अनभिज्ञ भी अत्यन्त दुःखी होगा। वहाँ तो यही कहावत चरितार्थ होगी—**'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।'** अंधे मार्गदर्शक के नेतृत्व में चलने वाला दूसरा अन्धा भी मार्ग भ्रष्ट हो जाता है, वैसे ही सम्यग् मार्ग से अनभिज्ञ अज्ञानवादी के पीछे चलने वाले नासमझ पथिक का हाल होता है।[12]

इन दोनों में से दूसरे प्रकार की भूमिका वाले अज्ञानश्रेयोवादी की तुलना भगवान् महावीर के समकालीन मतप्रवर्तक 'संजय वेलट्ठिपुत्त' नामक अज्ञानवादी से की जा सकती है, जिसका हर पदार्थ के प्रश्न के सम्वन्ध में उत्तर होता था—"यदि आप पूछें कि क्या परलोक है? और यदि मैं समझूं कि परलोक है तो आपको वतलाऊं कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता, मैं दूसरी तरह भी नहीं कहता, मैं यह भी नहीं कहता कि यह नहीं है, मैं यह भी नहीं कहता कि यह नहीं नहीं है। परलोक नहीं है। परलोक है भी और नहीं भी, परलोक न है और न नहीं है।" संजय वेलट्ठिपुत्त ने कोई निश्चित बात नहीं कही।[13] निष्कर्ष यह है कि संजयवेलट्ठिपुत्त के मतानुसार तत्त्वविषयक अज्ञेयता अथवा अनिश्चितता ही अज्ञानवाद की आधारशिला है, जिसका सामान्य उल्लेख गाथा ४३ में हुआ है—**'निच्छयत्थं ण जाणंति।'** यह मत पाश्चात्यदर्शन के संशयवाद अथवा अज्ञेयवाद से मिलता-जुलता है।

दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में अमराविक्खेववाद में जो तथागत बुद्ध द्वारा प्रतिपादित वर्णन है, वह भी सूत्रकृतांग प्र० श्रु० के १२वें अध्ययन में उक्त अज्ञानवाद से मिलता-जुलता है। जैसे—

---

[12] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३५-३६ के आधार पर

[13] (क) "....संजयो वेलट्ठपुत्तो मं एतदवोच ...'अत्थि परो लोकोति इति चे मं पुच्छसि, अत्थि परो लोको नि इति चे मे अस्स, अत्थि परो लोको ति इति ते न व्याकरेय्यं। एवं ति पि मे नो, तथा ति पि मे नो, अञ्जथा ति पि मे नो, नो ति पि मे नो, नो नो ति पि मे नो। नत्थि परो लोको पे....अत्थि च नत्थि च परो लोको—पे....नेवत्थि न नत्थि परो लोको....पे०....।"

—सुत्तपिटके दीघनिकाये सामञ्ञफलसुत्तं पृ. ४१-५३

(ख) जैन साहित्य का वृहत् इतिहास भा. १., पृ. १३३

"भिक्षुओ ! कोई श्रमण या ब्राह्मण ठीक से नहीं जानता कि यह अच्छा है और यह बुरा । उसके मन में ऐसा होता है कि 'मैं ठीक से नहीं जानता कि यह अच्छा है, यह बुरा है तब मैं ठीक से जाने बिना यह कह दूँ कि यह अच्छा है और यह बुरा है, तो असत्य ही होगा, जो मेरा असत्य भाषण मेरे लिए घातक (नाश का कारण) होगा, जो घातक होगा, वह अन्तराय (मोक्ष मार्ग में) होगा । अतः वह असत्य भाषण के भय से और घृणा से न यह कहता है कि यह अच्छा है और न यह कि यह बुरा है । प्रश्नों के पूछे जाने पर कोई स्थिर बातें नहीं करता ।····यह भी नहीं, वह भी नहीं, ऐसा भी नहीं, वैसा भी नहीं ···।' इसी प्रकार किसी पदार्थ विषयक प्रश्न के उत्तर में अच्छा-बुरा कहने से राग, द्वेष, लोभ, घृणाआदि की आशंका, या तर्क-वितर्कों का उत्तर देने में असमर्थता विघात(दुर्भाव)और बाधक समझकर किसी प्रकार का स्थिर उत्तर न देकर अपना अज्ञान प्रकट करना भी इसी अज्ञानवाद का अंग है ।[१४]

कठिन शब्दों की व्याख्या—मिगा—वन्य पशु या विशेषतः हिरण । **परियाणियाणि**—वृत्तिकार के अनुसार—परित्राण = रक्षण से युक्त । चूर्णिकार के अनुसार—जो परितः—सब ओर से, **ततानि**—आच्छादित है, वे परितत हैं । **पासिताणि**—पाशयुक्त स्थान । **संपलिंति**—वृत्तिकार के अनुसार, अनर्थबहुल पाश, वागुरा आदि बन्धनों में एकदम जा पड़ते हैं । चूर्णिकार के अनुसार, कुटिल अन्य पाशों में जकड़ जाते हैं, अथवा उनके एक ओर पाश हाथ में लिए व्याध खड़े होते हैं, दूसरी ओर वागुरा (जाल या फंदा) पड़ा होता है, इन दोनों के बीच में भटकते हैं । **वज्झं**—बन्धनाकार में स्थित बन्धन अथवा वागुरा आदि बन्धन (बँधने वाले होने से) बन्ध कहलाते हैं—ये दोनों अर्थ **बंधं** एवं **बंधस्स** पाठान्तर मानने से होते हैं । **वज्झं** का संस्कृत रूपान्तर होता है—वर्ध्र या वध्य । वर्ध्र का यहाँ अर्थ है—चमड़े का पाश-बन्धन । **अहियप्पाऽहियपण्णाणे**—वृत्तिकार के अनुसार—अहितात्मा तथा अहितप्रज्ञान—अहितकर बोध या बुद्धि वाला । चूर्णिकार ने **'अहितेहितपण्णाणा'** पाठान्तर माना है जिसका अर्थ होता है—अहित में हित बुद्धि वाले—हित समझाने वाले । **विसमंतेणुवागते**—वृत्तिकार के अनुसार विषमान्त अर्थात् कूटपाशादि युक्त प्रदेश को प्राप्त होता है, अथवा कूटपाशादि युक्त विषम प्रदेश में अपने आपको गिरा देता है । चूर्णिकार के अनुसार—विषम यानि कूटपाशादि उपकरणों से घिरा हुआ, वागुरा (जाल) का द्वार, उसके पास पहुंच जाता है। **अवियत्ता**—अव्यक्त—मुग्ध भोले-भाले, सहजसद्विवेकविकल । **अकोविया**—सुशास्त्र बोध रहित—अपण्डित । **सव्वप्पगं**—सर्वात्मक—जिसकी सर्वत्र आत्मा है, ऐसा सर्वात्मक सर्वव्यापी—लोभ । **विउक्कसं**—व्युत्कर्ष—विविध प्रकार का उत्कर्ष-गर्व मान । **णूमं**—माया, कपट । **अप्पत्तियं**—अप्रत्यय—क्रोध । **वुत्ताणभासए**—कथन या भाषण का केवल अनुवाद कर देता है । **अन्नणियाणं**—भगवती सूत्र की वृत्ति के अनुसार—कुत्सित ज्ञान अज्ञान है, जिनके वह (ऐसा) अज्ञान है, वे अज्ञानिक हैं । **वीमंसा**—पर्यालोचनात्मक विचारविमर्श अथवा मीमांसा । **अण्णाणे नो नियच्छति**—निश्चय रूप से अज्ञान के विषय में युक्त—संगत नहीं है । **तिव्वं सोयं णियच्छति**—चूर्णिकार के अनुसार तीव्र-अत्यन्त स्रोत = भय द्वार को नियत या अनियत (निश्चित या अनिश्चित) रूप से पाता है । वृत्तिकार के अनुसार, तीव्र गहन या शोक निश्चय ही प्राप्त करता है । **पंथाणुगामिए**—अन्य मार्ग पर चल पड़ता है । **सव्वज्जुए**—वृत्तिकार एवं चूर्णिकार के अनुसार, सब प्रकार के ऋजु—सरल सर्वतोऋतु-मोक्ष गमन के लिए अकुटिल—संयम अथवा सद्धर्म । **वियक्काहिं**—वितर्कों—विविध मीमांसाओं या असत्कल्पनाओं के कारण । **दुक्खं ते नाइतुट्टति**—

---

१४. देखिये, दीघनिकाय ब्रह्मजालसुत्त में तथागत बुद्ध द्वारा कथित अमराविक्खेववाद ।—(हिन्दी अनुवाद) पृ. १-१०

चूर्णिकार के अनुसार, वे दुःखरूप संसार को लांघ नहीं सकते। पार नहीं कर सकते। वृत्तिकार के अनुसार, असातोदयरूप दुःख को या उसके मिथ्यात्व आदि से बाँधे हुए कर्मबन्धन रूप कारण को अतिशय रूप से; व्यवस्थित ढंग से नहीं तोड़ सकते। **णो अण्णं पज्जुवासिया**—अन्य की उपासना-सेवा नहीं की। अन्य का अर्थ है—आर्हतादि ज्ञानवादियों की पर्युपासना नहीं की। **अयमंजू**—हमारा यह अज्ञानात्मक मार्ग ही अंजू—निर्दोष होने से व्यक्त या स्पष्ट है। **सउणी पंजरं जहा**—जैसे पिंजरे में वन्द पक्षी पिंजरे को तोड़ने में, तथा पिंजरे के वन्धन से स्वयं को मुक्त करने में समर्थ नहीं होता, वैसे ही अज्ञानवादी संसार रूप पिंजरे को तोड़कर उससे अपने आपको मुक्त करने में समर्थ नहीं होता। **विउस्संति**—वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—संस्कृत में इसका रूपान्तर होता है—**विद्वस्यन्ते**—विद्वान् की तरह आचरण करते हैं अथवा—'विशेषेण उशन्ति—स्वशास्त्रविषये विशिष्टं युक्तिव्रातं, वदन्ति, अर्थात् अपने शास्त्रों के पक्ष में विशिष्ट युक्तियों का प्रयोग करते हैं। **संसारं ते विउस्सिया**—वृत्तिकार ने इसकी दो व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं—"संसारं चतुर्गतिभेदेन संसृतिरूपं विविधं—अनेक-प्रकारं उत्—प्राबल्येन श्रिताः सम्वद्धाः, तत्र वा संसारे उषिताः—संसारान्तर्वर्तिनः सर्वदा भवन्तीत्यर्थः।" अर्थात्—चार गतियों में संसरण—भ्रमणरूप इस संसार में जो अनेक प्रकार से दृढतापूर्वक वंधे हुए हैं अथवा जो इस संसार में निवास करने वाले हैं।[15]

कर्मोपचय निषेधवाद : क्रियावादी दर्शन

५१. अहावरं पुरक्खायं, किरियावाइदरिसणं।
कम्मचिंतापणट्ठाणं। संसारपरिवड्ढणं ॥२४॥

५२. जाणं काएणऽणाउट्टी, अबुहो जं च हिंसती।
पुट्ठो संवेदेति परं, अवियत्त खु सावज्जं ॥२५॥

५३. संतिमे तओ आयाणा, जेहिं कीरति पावगं।
अभिकम्माय पेसाय, मणसा अणुजाणिया ॥२६॥

५४. एए उ तओ आयाणा, जेहि कीरति पावगं।
एवं भावविसोहीए, णिव्वाणमभिगच्छती ॥२७॥

५५. पुत्तं पि ता समारंभ, आहारट्ठमसंजए।
भुंजमाणो य मेधावी, कम्मुणा नोवलिप्पति ॥२८॥

५६. मणसा जे पउस्संति, चित्तं तेसिं न विज्जती।
अणवज्जं अतहं तेसिं, ण ते संवुडचारिणो ॥२९॥

५१. दूसरा पूर्वोक्त (एकान्त) क्रियावादियों का दर्शन है। कर्म (कर्म-बन्धन) की चिन्ता से रहित (उन एकान्त क्रियावादियों का दर्शन) (जन्म-मरण-रूप) संसार की या दुःख समूह की वृद्धि करने वाला है।

---

१५. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३२ से ३७ तक
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० ६ से ९ तक

५२. जो व्यक्ति जानता हुआ मन से हिंसा करता है, किन्तु शरीर से छेदन-भेदनादि क्रिया रूप हिंसा नहीं करता एवं जो अनजान में (शरीर से) हिंसा कर देता है, वह केवल स्पर्शमात्र से उसका (कर्मवन्ध का) फल भोगता है। वस्तुत: वह सावद्य (पाप) कर्म अव्यक्त-अस्पष्ट-अप्रकट होता है।

५३. ये तीन (कर्मों के) आदान (ग्रहण-वन्ध के कारण) हैं, जिनसे पाप (पापकर्म वन्ध) किया जाता है—(१) किसी प्राणी को मारने के लिए स्वयं अभिक्रम-आक्रमण करना, (२) प्राणिवध के लिए नौकर आदि को भेजना या प्रेरित करना और (३) मन से अनुज्ञा-अनुमोदना देना।

५४. ये ही तीन आदान-कर्मवन्ध के कारण हैं, जिनसे पापकर्म किया जाता है। वहाँ (पापकर्म से) भावों की विशुद्धि होने से कर्मवन्ध नहीं, किन्तु मोक्ष की प्राप्ति होती है।

५५. (किसी दुष्काल आदि विपत्ति के समय) कोई असंयत गृहस्थपिता आहार के लिए पुत्र को भी मारकर भोजन करे तो वह कर्मवन्ध नहीं करता। तथा मेधावी साधु भी निस्पृहभाव से उस आहार-मांस का सेवन करता हुआ कर्म से लिप्त नहीं होता।

५६. जो लोग मन से (किसी प्राणी पर) द्वेष करते हैं, उनका चित्त विशुद्धियुक्त नहीं है तथा उनके (उस) कृत्य को निरवद्य (पापकर्म के उपचय रहित-निष्पाप) कहना अतथ्य—मिथ्या है। तथा वे लोग संवर (आस्रवों के स्रोत के निरोध) के साथ विचरण करने वाले नहीं हैं।

विवेचन—बौद्धों का कर्मोपचय निषेधवाद—अज्ञानवादियों की चर्चा के वाद बौद्धों के द्वारा मान्य एकान्त क्रियावाद की चर्चा गाथा ५१ से ५६ तक प्रस्तुत की गई है। वैसे तो बौद्ध-दर्शन को अक्रियावादी कहा गया है, बौद्ध-ग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय के तृतीय भाग—अट्ठकनिपात के सिंहसुत्त में तथा विनयपिटक के महावग्ग (पाली) के सीहसेनापति वत्थु में बुद्ध के अक्रियावादी होने का उल्लेख है, सूत्रकृतांग के १२ वें समवसरण अध्ययन में सूत्र ५३५ की चूर्णि एवं वृत्ति में भी बौद्धों को अक्रियावादियों में परिगणित किया गया है, परन्तु यहाँ स्पष्ट रूप से बौद्ध-दर्शन को (वृत्ति और चूर्णि में) क्रियावादी-दर्शन वताया गया है, वह अपेक्षाभेद से समझना चाहिए।[१६]

वृत्तिकार ने क्रियावादी-दर्शन का रहस्य खोलते हुए कहा है—जो केवल चैत्यकर्म (चित्त विशुद्धिपूर्वक) किये जाने वाले किसी भी कर्म आदि क्रिया को प्रधान रूप से मोक्ष का अंग मानते हैं, उनका दर्शन क्रियावादी दर्शन है।

ये एकान्त क्रियावादी क्यों हैं ? इसका रहस्य ५१ वीं सूत्र गाथा में शास्त्रकार वताते हैं—'कम्मचिंतापणट्ठाणं'—अर्थात् ये ज्ञानावरणीय आदि की चिन्ता से रहित—दूर हैं। ज्ञानावरणीय आदि

---

१६. (क) सूयगडंग सुत्तं' (मुनि जम्बूविजयजी सम्पादित) की प्रस्तावना पृ० १०

(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि मू० पा० टिप्पण पृ० ९७

(ग) "....अहं हि, सीह ! अकिरियं वदामि कायदुच्चरितस्स, वचीदुच्चरितस्स, मनोदुच्चरितस्स अनेकविहितानं पापकानं अकुसलानं धम्मानं अकिरियं वदामि ...।"

—सुत्तपिटके अंगुत्तरनिकाय, पालि भा० ३, अट्ठकनिपात पृ० २९३-२९६

आठ कर्म कैसे-कैसे किन-किन कारणों से, किस-किस तीव्र मन्द आदि रूप में बंध जाते हैं। वे सुख-दुःख आदि के जनक हैं या नहीं ? उनसे छूटने के उपाय क्या-क्या हैं ? इत्यादि कर्म-सम्बन्धी चिन्ता-चिन्तन से एकान्त क्रियावादी दूर है।

"कोई भी क्रिया, भले ही उससे हिंसादि हो, चित्तशुद्धिपूर्वक करने पर कर्मबन्धन नहीं होता"—इस प्रकार की कर्मचिन्ता से दूर रहने के कारण ही शायद बौद्धों को एकान्त क्रियावादी कहा गया होगा। इसके अतिरिक्त बौद्ध दार्शनिक अज्ञान आदि से किये गये चार प्रकार के कर्मोपचय को कर्मबन्ध का कारण नहीं मानते। उन चारों में से दो प्रकार के कर्मों का उल्लेख गाथा ५२ में किया है—(१) **परिज्ञोपचित कर्म**—कोपादि कारणवश जानता हुआ केवल मन से चिन्तित हिंसादि कर्म, शरीर से नहीं, और (२) **अविज्ञोपचित कर्म**—अनजाने में शरीर से किया हुआ हिंसादि कर्म।

निर्युक्तिकार ने इन चारों का वर्णन पहले किया है उनमें शेष दो हैं—(३) **ईर्यापथ कर्म**—मार्ग में जाते अनभिसन्धि से होने वाला हिंसादि कर्म और (४) **स्वप्नान्तिक कर्म**—स्वप्न में होने वाला हिंसादि कर्म।[१७] ये चारों प्रकार के कर्म उपचय को प्राप्त नहीं होते—अर्थात् तीव्र विपाक (फल) देने वाले नहीं बनते। जैसा कि शास्त्रकार ने गाथा ५२ में कहा है—'पुट्ठो संवेदेति परं'। इन चारों प्रकार के कर्मों से पुरुष स्पृष्ट होता है, बद्ध नहीं। अतः ऐसे कर्मों के विपाक का भी स्पर्शमात्र ही वेदन (अनुभव) करता है। ये चतुर्विध कर्म स्पर्श के बाद ही नष्ट हो जाते हैं, यही सोचकर कर्मबन्धन से निश्चिन्त होकर ये क्रियाएँ करते हैं।

कर्मबन्धन कब होता है, कब नहीं ?—चूर्णिकार ने उक्त मत के सन्दर्भ में प्रश्न उठाया है कि कर्मोपचय (कर्म बन्धन) कब होता है ? उसका समाधान देते हुए कहा है—(१) प्रथम तो हनन किया जाने वाला प्राणी सामने हो, (१) फिर हनन करने वाले को यह भान (ज्ञान) हो कि यह प्राणी है, (३) उसके पश्चात् हनन करने वाले की ऐसी बुद्धि हो कि मैं इसे मारूँ या मारता हूँ। इन तीन कारणों के अतिरिक्त उनके मतानुसार दो कारण और हैं—(१) पूर्वोक्त तीन कारणों के रहते हुए यदि वह उस प्राणी को शरीर से मारने की चेष्टा करता है, और (२) उस चेष्टा के अनुसार उस प्राणी को मार दिया जाता है—प्राणों का वियोग कर दिया जाता है; तब हिंसा होती है, और तभी कर्म का भी उपचय होता है।[१८]

---

[१७] (क) "तेषां हि परिज्ञोपचितं ईर्यापथं, स्वप्नान्तिकं च कर्मचयं न यातीत्यतस्ते कम्मचितापणट्ठा।"
—सूत्रकृतांग चूर्णि मू० पा० टि० पृ० ९

(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति पत्रांक ३१

(ग) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा ३१ में कहा गया—'कम्म चयं न गच्छइ चउव्विहं भिक्खु समयंसि' बौद्धागम में चतुर्विध कर्म उपचय को प्राप्त नहीं होता।

[१८] (क) 'स्यात्—कथं पुनरुपचीयते ? उच्यते, यदि सत्त्वश्च भवति ?, सत्त्व संज्ञा च २, संचित्य संचित्य ३
जीविताद् व्यपरोपणं प्राणातिपातः ॥'
—सूत्रकृ० चूर्णि, मू० पा० टिप्पण पृ० ९

(ख) "प्राणी प्राणिज्ञानं घातकचित्तं च तद्गता चेष्टा।
प्राणैश्च विप्रयोगः, पंचभिरापद्यते हिंसा ॥"
—सूत्र० शीलांकवृत्ति पत्र० ३७

शास्त्रकार ने इस सन्दर्भ में बौद्ध मतानुसार पाप कर्मवन्ध के तीन कारण (५३-५४वीं गाथाओं द्वारा) वताये हैं—(१) स्वयं किसी प्राणी को मारने के लिए उस पर आक्रमण या प्रहार करना। (२) नौकर आदि दूसरों को प्रेरित या प्रेषित करके प्राणिवध कराना और (३) मन से प्राणिवध के लिए अनुज्ञा-अनुमोदना करना। ये तीनों पाप कर्म के उपचय (वन्ध) के कारण इसलिए हैं कि इन तीनों में दुष्ट अध्यवसाय-रागद्वेष युक्त परिणाम रहता है।[१९]

भाव-शुद्धि से कर्मोपचय नहीं : एक विश्लेषण—इसीलिए ५४वीं गाथा के अन्त में उन्हीं का मत-प्ररूपण करते हुए कहा गया है—**'एवं भावविसोहीए णिव्वाणमभिगच्छति'** इसका आशय यह है कि जहाँ राग-द्वेष रहित बुद्धि से कोई प्रवृत्ति होती है, ऐसी स्थिति में जहाँ केवल विशुद्ध मन से या केवल शरीर से प्राणातिपात हो जाता है, वहाँ भाव-विशुद्धि होने के कारण कर्मोपचय नहीं होता, इससे जीव निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

इस सम्वन्ध में बौद्ध-ग्रन्थ सुत्तपिटक के खुद्दकनिकाय के वालोवाद जातक में बुद्ध वचन मिलता है—("दूसरे मांस की वात जाने दो) कोई असंयमी पुरुष अपने पुत्र तथा स्त्री को मारकर उस मांस का दान करे, और प्रज्ञावन संयमी (भिक्षु) उस मांस का भक्षण करे तो भी उसे पाप नहीं लगता।"[२०]

इसी बुद्ध वचन का आशय लेकर शास्त्रकार ने ५५वीं सूत्र गाथा में संकेत किया है। यद्यपि चूर्णिकार सम्मत और वृत्तिकार सम्मत दोनों पाठों में थोड़ा-सा अन्तर है, इसलिए अर्थ भेद होते हुए भी दोनों का आशय समान है। चूर्णिकारसम्मत पाठ है—**'पुत्तं पिता समारम्भ आहारट्ठमसंजए'** और वृत्तिकारसम्मत पाठ है—**'पुत्तं पिया समारब्भ आहारेज्ज असंजए।'**[२१]

चूर्णिकार ने इसकी व्याख्या यों की है—'पुत्र का भी समारम्भ करके; समारम्भ का अर्थ है—वेच कर, मारकर उसके मांस से या द्रव्य से और तो क्या कहें, पुत्र न हो तो सूअर या बकरे को भी मारकर भिक्षुओं के आहारार्थ भोजन बनाए, स्वयं भी खाये।[२२] कौन? असंयत अर्थात् भिक्षु के अतिरिक्त उपासक या अन्य कोई गृहस्थ उस त्रिकोटि शुद्ध भोजन को सेवन करता हुआ वह मेधावी भिक्षु कर्म से लिप्त नहीं होता।[२३]

---

[१९] "....इमेसं खो अहं, तपस्सि, तिण्णं कम्मानं एवं पटिविभत्तानं एवं पटिविसट्ठानं मनोकम्मं महासावज्जतरं पञ्ञपेमि, पापस्स कम्मस्स किरियाय, पापस्स कम्मस्स पवत्तिया, नो तथा कायकम्मं, नो तथा वची कम्मंति।
—सुत्तपिटके मज्झिमनिकाय (पा० भा० २) म० पण्णा० उपालि सुत्तं पृ० ४३-६०

[२०] पुत्त-दारंपि चे हन्त्वा, देति दानं असञ्ञतो।
भुञ्जमानो पि संप्पञ्ञो, न पापमुपलिम्पती॥"
—सुत्तपिटक, खुद्दक निकाय, वालोवादजातक पृ० ६४

[२१] सूत्रकृतांग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० ९

[२२] पं० वेचरदासजी दोशी के अनुसार 'पुत्तं' शब्द 'शूकर' का द्योतक है; वुद्धचर्या के अनुसार बुद्ध ने 'शूकर मद्दव' (शूकर मांस) खाया था।
—जैन सा० इति० भाग १, पृ० १३३

[२३] सूत्रकृतांग चूर्णि पृ० ३८—"पुत्रमपि तावत् समारम्य, समारम्भो नाम विक्रीय मारयित्वा, तन्मांसेन वा द्रव्येण वा, किमंग पुणरपुत्रं शूकरं वा छगलं वा, आहारार्थं कुर्याद् भुक्तं भिक्खूणं, अस्संजतो नाम भिक्खुव्यतिरिक्तः स पुनरुपासकोऽन्यो वा, तं च भिक्षुः त्रिकोटि-शुद्धं भुञ्जानोऽपि मेधावी कम्मुणा णोवलिप्पते।"

वृत्तिकार कृत व्याख्या इस प्रकार है—पुत्र—अपत्य को पिता-जनक समारम्भ करके यानी आहारार्थ मारकर कोई तथाविध विपत्ति आ पड़ने पर उसे पार करने के लिए राग-द्वेष रहित असंयत गृहस्थ उस मांस को खाता हुआ भी, तथा मेधावी-संयमी भिक्षु भी (यानी वह शुद्धाशय गृहस्थ एवं भिक्षु दोनों) उस मांसाहार का सेवन करते हुए भी पाप कर्म से लिप्त नहीं होते।

इस सम्बन्ध में एक बौद्ध कथा भी है, जिसे तथागत बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को खानपान का उद्देश्य समझाने के लिए कही थी। उसका सार यह है—'पिता, पुत्र एवं माता तीनों गहन वन में से होकर जा रहे थे, तीनों को अत्यन्त भूख लगी, पास में कुछ भी न था। शरीर में इतनी अशक्ति आ गयी कि एक डग भी चला नहीं जा रहा था। अतः पुत्र ने अपना मांस-भक्षण करके परिवार को जीवित रखने की पिता से प्रार्थना की। वैसा ही किया गया और उस पुत्र के माता-पिता ने उस अरण्य को पार किया।[24]

तथागत के यह पूछने पर कि क्या पिता ने अपने पुत्र का मांस स्वाद, शक्तिवृद्धि, बल-संचय अथवा शारीरिक रूप-लावण्य वृद्धि के लिए खाया था? सबने कहा—'नहीं।' इस पर तथागत ने कहा—"भिक्षुओ! तुमने घरबार छोड़ा है, संसाराटवी को पार करने के हेतु भिक्षुव्रत लिया है, संसार रूपी भीषण वन पार करके तुम्हें निर्वाण लाभ करना है, अतः तुम भी इसी उद्देश्य से परिमित, धर्म-प्राप्त, यथाकाल-प्राप्त भोजन-पान लेते रहो, न मिले तो सन्तोष करो। किन्तु स्वाद, बलवृद्धि, शक्ति-संचय या रूप-लावण्यवृद्धि आदि दृष्टियों से खान-पान लोगे तो भिक्षु-धर्म से च्युत हो जाओगे और मोघ (पिण्डोलक) भिक्षु हो जाओगे।[25]

सम्भव है, इस गाथा का वास्तविक आशय (भोजन में अनासक्ति) विस्मृत हो गया हो, और इस कथा का उपयोग बौद्ध गृहस्थ एवं भिक्षु दोनों मांस-भक्षण के समर्थन में करने लग गये हों।

जो भी हो, बालोवाद जातक में उल्लिखित बुद्ध वचन के अनुसार राग-द्वेष रहित होकर शुद्धाशय से पुत्रवध करके उसका माँस खाने वाले पिता को तथा भिक्षुओं को कर्मोपचय नहीं होता, यह सिद्धान्त इस गाथा में बताया गया है।

कर्मोपचय निषेधवाद का निराकरण—पूर्वोक्त पाँच गाथाओं में कर्मोपचय निषेध के सम्बन्ध में जो भी युक्ति, हेतु एवं दृष्टान्त दिये गये हैं, उन सबका निराकरण इस ५६वीं सूत्र गाथा द्वारा

---

२४. (क) पुत्तं पिता इत्यादि। पुत्रमपत्यं, पिता जनकः समारभ्य व्यापाद्य आहारार्थं कस्यां चित् तथा विधाया-मापदि तदुद्धरणार्थमरक्ताद्विष्टः असंयतो गृहस्थः तत्पिशितं भुंजानोऽपि, च शब्दस्यापि शब्दार्थत्वात्। तथा मेधा व्यपि संयतोपीत्यर्थः, तदेव गृहस्थो भिक्षुर्वा शुद्धाशयः पिशिताश्यपि कर्मपापेन नोपलिप्यते, नाश्लिस्यते।"

—सूत्रकृतांग वृत्ति पत्रांक ३९

(ख) जैन साहित्य का बृहत् इतिहास भा० १, पृ० १३४-१३५

२५. (क) सुत्तपिटके संयुत्तनिकाय पालि भा० २, पुत्तमंससुत्तं पृ० ८४

(ख) तुलना करो—ज्ञातासूत्र प्रथम अध्ययन धन्ना सार्थवाह एवं उसके पुत्रों द्वारा मृत-पुत्री मांस विषयक प्रसंग।

(ग) बौद्ध भिक्षुओं की मांसभक्षण निर्दोषिता का वर्णन सूत्रकृतांग द्वितीयश्रुतस्कन्ध गाथा ८१२ से ८१६ तथा ८२३-८२४ गाथाओं में मिलता है।

किया गया है ···**'मणसा जे····संवुडचारिणो ।'** इसका आशय यह है कि जो पुरुष किसी भी निमित्त से किसी प्राणी पर द्वेष या हिंसा में नहीं जाता, वह विशुद्ध है, इसलिए उन व्यक्तियों को पाप कर्म का वन्ध (उपचय) नहीं होता, यह कहना असत्य है, सिद्धान्त और युक्ति से विरुद्ध है। जानकर हिंसा करने से पहले राग-द्वेष पूर्ण भाव न आएं, यह सम्भव नहीं है।[२६] भाव हिंसा तभी होती है, जव मन में जरा भी राग, द्वेष, कषाय आदि के भाव आते हैं। वस्तुतः कर्म के उपचय करने में मन ही तो प्रधान कारण है, जिसे वौद्ध-ग्रन्थ धम्मपद में भी माना है।[२७] उन्हीं के धर्म ग्रन्थ में वताया है कि 'राग-द्वेषादि क्लेशों से वासित चित्त ही संसार (कर्म वन्धन रूप) है, और वही रागादि क्लेशों से मुक्त चित्त ही संसार का अन्त—मोक्ष कहलाता है।

वौद्धों के द्वारा दृष्टान्त देकर यह सिद्ध करना कि विपत्ति के समय पिता द्वारा पुत्र का वध किया जाना और उसे मारकर स्वयं खा जाना और मेधावी भिक्षु द्वारा उक्त मांसाशन करना पापकर्म का कारण नहीं है, विलकुल असंगत है। राग-द्वेष से क्लिष्ट चित्त हुए विना मारने का परिणाम नहीं हो सकता, 'मैं पुत्र को मारता हूँ' ऐसे चित्त परिणाम को असंक्लिष्ट कौन मान सकता है?[२८]

और उन्होंने भी तो कृत-कारित और अनुमोदित तीनों प्रकार से हिंसादि कार्य को पापकर्म-वन्ध का आदान कारण माना है। ईर्यापथ में भी विना उपयोग के गमनागमन करना चित्त की संक्लिष्टता है, उससे कर्म वन्धन होता ही है। हाँ, कोई साधक प्रमाद रहित होकर सावधानी से उपयोग पूर्वक चर्या करता है, किसी जीव को मारने की मन में भावना नहीं है, तव तो वहाँ से उसे जैन सिद्धान्तानुसार पापकर्म का वन्ध ही न होता।[२९] परन्तु सर्वसामान्य व्यक्ति, जो विना उपयोग के प्रमादपूर्वक चलता है, उसमें चित्त संक्लिष्ट होता ही है, और वह व्यक्ति पापकर्म वन्ध से वच नहीं सकता। इसी प्रकार चित्त संक्लिष्ट होने पर ही स्वप्न में किसी को मारने का उपक्रम होता है। अतः

---

[२६] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३९
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखवोधिनी व्याख्या

[२७] (क) मनो पुव्वंगमा धम्मा मनो सेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा ॥१॥

—धम्मपद पढमो यमकवग्गो १

(ख) चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम्।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ॥

—सूत्रकृतांग भाषानुवाद पृ० १२६

[२८] (ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३७ से ४० तक
(ख) सूत्रकृतांक चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ९

[२९] जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं न वंधइ ॥ —दशवै० अ० ४/८

स्वप्नान्तिक कर्म में भी चित्त अशुद्ध होने से कर्मबन्ध होता ही है। इसलिए चतुर्विध कर्म-उपचय (बन्ध) को प्राप्त नहीं होते, यह कहना भी यथार्थ नहीं है। इसीलिए शास्त्रकार ने कर्मोपचय निषेधवादी बौद्धों पर दो आक्षेप लगाये हैं—(क) कर्म चिन्ता से रहित हैं, (२) संयम और संवर के विचार से किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते।

कठिन शब्दों की व्याख्या— संसारपरिवड्ढणं—संसार-जन्म-मरण रूप संसार की वृद्धि करने वाला, पाठान्तर है—**दुक्खक्खंधविवद्धणं**—दुःख-स्कन्ध[30] यानी असातावेदनीय के उदय रूप दुःख की परम्परा को बढ़ाने वाला। **जाणं काएण अणाउट्टी**—जानता हुआ भी शरीर से हिंसा नहीं करने वाला। जानता हुआ यदि काया से प्राणी को, प्राणी के अंगों को काटता हो अथवा चूर्णिकार के अनुसार जो ६ बातों से अभिज्ञ बुद्ध-तत्त्वज्ञ है, वह हिंसा करता हुआ भी पापकर्म का बन्ध नहीं करता अथवा स्वप्न में किसी प्राणी का घात करता हुआ भी काया से छेदनादि हिंसा नहीं करता। **अबुहो**—अनजान में, नहीं जानता हुआ। **पुट्ठो संवेदेति परं**—अविज्ञोपचित आदि चार प्रकार के कर्मों से कर्ता जरा-सा स्पृष्ट होता है, वह केवल स्पर्शमात्र का अनुभव करता है, क्योंकि उसका विपाक (फल) अधिक नहीं होता। जैसे—दीवार पर फेंकी हुई बालु की मुट्ठी स्पर्श के बाद ही झड़ जाती है। **'अवियत्तं खु सावज्जं'**—उक्त चतुर्विध कर्म अव्यक्त-अस्पष्ट हैं, क्योंकि विपाक का स्पष्ट अनुभव नहीं इसलिए परिज्ञोपचितादि कर्म अव्यक्त रूप से सावद्य हैं। **आयाणा**—पापकर्मों के आदान-ग्रहण या कर्मबन्ध के कारण। अर्थात् जिन दुष्ट अध्यवसायों से पापकर्म का उपचय किया जाता है, वे आदान कहलाते हैं। **भावविसोहीए**—राग-द्वेषादि रहित बुद्धि से। **चित्तं तेसिं न विज्जती**—प्राणिवध के परिणाम होने पर उनका चित्त शुद्ध नहीं रहता। **आणवज्जं अतहं तेसिं**—केवल मन से द्वेष करने पर भी उनके पाप कर्मबन्धन या कर्मोपचय नहीं होता, यह असत्य है।

परवादि-निरसन

५७. **इच्चेयाहिं दिट्ठीहिं, सातागारवणिस्सिता।**
सरणं ति मण्णमाणा, सेवंती पावगं जणा ॥३०॥

५८. **जहा आसाविणिं णावं, जातिअंधो दुरूहिया।**
इच्छेज्जा पारमागंतुं, अंतरा य विसीयति ॥३१॥

५९. **एवं तु समणा एगे मिच्छद्दिट्ठी अणारिया।**
संसारपारकंखी ते, संसारं अणुपरियट्टंति ॥३२॥ त्ति बेमि ॥

५७. (अब तक बताई हुई) इन (पूर्वोक्त) दृष्टियों को लेकर सुखोपभोग एवं बड़प्पन (मान-बड़ाई) में आसक्त (विभिन्न दर्शन वाले) अपने-अपने दर्शन को अपना शरण (रक्षक) मानते हुए पाप का सेवन करते हैं।

---

[30] चूर्णिकार के अनुसार—कर्मसमूह, वृत्तिकार के अनुसार—दुःख परम्परा बौद्ध सम्मत चार आर्य सत्यों में से दूसरा।

५८. जैसे चारों ओर से जल प्रविष्ट होने वाली (छिद्रयुक्त) नौका पर चढ़कर जन्मान्ध व्यक्ति पार जाना चाहता है, परन्तु वह बीच में ही जल में डूब जाता है।

५९. इसी प्रकार कई मिथ्यादृष्टि, अनार्य श्रमण संसार सागर से पार जाना चाहते हैं, लेकिन वे संसार में ही बार-बार पर्यटन करते रहते हैं।

—इस प्रकार मैं कहता हूँ।

विवेचन—विभिन्न अन्यदृष्टियों की दशा—५७ से लेकर ५९ तक की तीन गाथाओं में बताये गये विभिन्न एकान्त दर्शनों, वादों, दृष्टियों को सत्य मानकर उनकी शरण लेकर अन्धविश्वासपूर्वक चलने वाले व्यक्तियों की दुर्दशा का दो तरह से चित्रण किया गया है—(१) अपने दर्शन की शरण लेकर, कर्म बन्धन से निश्चिन्त होकर इन्द्रिय-सुखोपभोग एवं मान-बड़ाई में आसक्त वे लोग निश्शंक भाव से पापाचरण करते रहते हैं, (२) जैसे सच्छिद्र नौका में बैठा हुआ जन्मान्ध अधबीच में ही पानी में डूबता है, वैसे ही संसार सागर पार होने की आशा से मिथ्यात्व-अविरति आदि छिद्रों के कारण कर्म जल प्रविष्ट हो जाने वाली मिथ्यादृष्टि युक्त मत नौका में बैठे हुए मत-मोहान्ध व्यक्ति बीच में ही डूब जाते हैं।[31]

कठिन शब्दों की व्याख्या—सातागारवणिस्सिया—सुखशीलता में आसक्त। **सरणं ति मण्णमाणा**—हमारा यही दर्शन संसार से उद्धार करने में समर्थ है, इसलिए यही हमारा शरण-रक्षक होगा, यह मानकर। चूर्णिकार—**हियंति मण्णमाणा तु सेवंती अहियं जणा'**—पाठान्तर मानकर इसकी व्याख्या करते हैं—'इसी से हमारा हित होगा' इस प्रकार वे इस अहितकर को हितकर मानते हुए सेवन करते हैं। **आसाविणीं णावं**—वृत्तिकार के अनुसार—जिसमें चारों ओर से पानी आता है, ऐसी सच्छिद्र नौका आस्रविणी कहलाती है। चूर्णिकार के अनुसार, जिसमें चारों ओर से पानी आकर गिरता है, इस कारण जिसके कोठे (प्रकोष्ठ) टूट गये हैं, या कोठे बनाये ही नहीं गये हैं ऐसी नाव। **अन्तरा य विसीयति**—बार-बार चतुर्गतिक परिभ्रमण रूप संसार में ही पर्यटन करते हैं।[32]

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

---

[31] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३९
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० १९२ से १९६ तक

[32] (क) सूत्रकृतांक शीलांकवृत्ति पत्रांक ३९-४०
(ख) सूयगडंग सुत्तं चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० १०

तइओ उद्द`सओ

तृतीय उद्देशक

आधाकर्म दोष

६०. जं किंचि वि पूतिकडं, सड्ढीमागंतुमीहियं ।
सहस्संतरियं भुंजे, दुपक्खं चेव सेवती ।। १ ।।

६१. तमेव अविजाणंता, विसमंमि अकोविया ।
मच्छा वेसालिया चेव, उदगस्सऽभियागमे ।। २ ।।

६२. उदगस्सऽप्पभावेणं, सुक्कंमि घातमिंति उ ।
ढंकेहि व कंकेहि य, आमिसत्थेहिं ते दुही ।। ३ ।।

६३. एवं तु समणा एगे, वट्टमाणसुहेसिणो ।
मच्छा वेसालिया चेव, घातमेसंतऽणंतसो ।। ४ ।।

६०. जो आहार आधाकर्मी आहार के एक कण से भी दूषित, मिश्रित या अपवित्र है, और श्रद्धालु गृहस्थ के द्वारा आगन्तुक मुनियों, श्रमणों के लिए बनाया गया है, उस (दोषयुक्त) आहार को जो साधक हजार घर का अन्तर होने पर भी खाता है वह साधक (गृहस्थ और साधु) दोनों पक्षों का सेवन करता है।

६१. उस (आधाकर्म आदि आहारगत दोष) को नहीं जानते हुए तथा (अष्टविध कर्म के या संसार के) ज्ञान में अनिपुण वे (आधाकर्मादि दोषयुक्त आहारसेवी साधक) उसी प्रकार दुःखी होते हैं, जैसे वैशालिक जाति के मत्स्य जल की वाढ़ आने पर।

६२. वाढ़ के जल के प्रभाव से सूखे और गीले स्थान में पहुंचे हुए वैशालिक मत्स्य जैसे मांसार्थी ढंक और कंक पक्षियों द्वारा सताये जाते हैं।

६३. इसी प्रकार वर्तमान सुखके अभिलाषी कई श्रमण वैशालिक मत्स्य के समान अनन्त वार (विनाश) को प्राप्त होंगे।

विवेचन—दूषित आहार-सेवी साधकों की दशा—गाथा ६० से ६३ तक में शास्त्रकार ने स्व-समय (निर्ग्रन्थ श्रमणाचार) के सन्दर्भ में आधाकर्म आदि दोष से दूषित आहार-सेवन से हानि एवं दोषयुक्त आहार-सेवी की दुर्दशा का निरूपण किया है।

छान्दोग्य उपनिषद में भी वताया है कि आहार-शुद्धि से सत्त्वशुद्धि होती है, सत्त्वशुद्धि से स्मृति स्थायी होती है, स्थायी स्मृति प्राप्त होने पर समस्त ग्रन्थियों का विशेष प्रकार से मोक्ष हो जाता है।[1]

---

[1] आहारशुद्धौ:, सत्त्वशुद्धि ध्रुवा स्मृतिः ।
स्मृतिलम्भे सर्वं ग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ।' —छान्दोग्योपनिषद् अ० ७, खण्ड २६/२

यहां शास्त्रकार ने भी आहार शुद्धि पर जोर दिया है। अगर साधु का आहार आधाकर्मादिदोषदूषित होगा तो वह हिंसा का भागी तो होगा ही, उसके विचार संस्कार एवं अन्तःकरण निर्बल हो जायेंगे। दूषित आहार से साधु के सुख-शील कषाय मुक्त प्रमादी बन जाने का खतरा है। ६३वीं सूत्र गाथा में स्पष्ट कहा गया है—'**वट्टमाण सुहेसिणो**।' आशय यह है कि आहार-विहार की निर्दोषता को ठुकराकर वे साधक वर्तमान में सुख-सुविधाओं को ढूंढ़ते रहते हैं, प्रमादी बनकर क्षणिक वैषयिक सुखों को देखते हैं, भविष्य के महान् दुःखों को नहीं देखते।

प्रश्न होता है—आधाकर्मादि दोषयुक्त आहार का सेवन करने से कौन-से दुःख और कैसे प्राप्त होते हैं? इसके समाधान हेतु भगवती सूत्र में यह द्रष्टव्य है—श्रमण भगवान् महावीर से गणधर गौतम ने एक प्रश्न पूछा—'भगवन्! आधाकर्मी (दोषयुक्त) आहार का सेवन करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ किस कर्म का बन्ध करता है? कौन-सा कर्म प्रबल रूप से करता है? कितने कर्मों का चय-उपचय करता है?"

उत्तर में भगवान् ने कहा—"गौतम! आधाकर्मी आहारकर्ता आयुष्य कर्म के सिवाय शेष ७ शिथिल नहीं हुई कर्म-प्रकृतियों को गाढ़-बन्धनों से बद्ध कर लेता है, कर्मों का चय-उपचय करता है यावत् दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है।[2]

यहां वैशालिक जाति के मत्स्य से तुलना करते हुए शास्त्रकार ने स्पष्ट बताया है जिस प्रकार वशालिक या विशालकाय मत्स्य समुद्र में तूफान आने पर ऊँची-ऊँची उछलती हुई लहरों के थपेड़े खाकर चले जाते हैं। उन प्रबल तरंगों के हटते ही गीले स्थान के सूख जाने पर वे समुद्र तट पर ही पड़े-पड़े तड़फते हैं, उधर मांसलोलुप ढंकादि पक्षियों या मनुष्यों द्वारा वे नोंच-नोंचकर फाड़ दिये जाते हैं। रक्षक के अभाव में वे वहीं तड़प-तड़प कर मर जाते हैं। यही हाल आधाकर्मी आहारभोजी का होता है, उन्हें भी गाढ़ कर्म बन्धन के फलस्वरूप नरक तिर्यंच आदि दुर्गतियों में जाकर दुःख भोगने पड़ते हैं, नरक में परमाधार्मिक असुर हैं, तिर्यंच में मांसलोलुप शिकारी, कसाई आदि हैं, जो उन्हें दुःखी कर देते हैं।

आहार-दोष का ज्ञान न हो तो?—कोई यह पूछ सकता है कि अन्यतीर्थी श्रमण, भिक्षु आदि जो लोग आधाकर्मादि दोषों से बिलकुल अनभिज्ञ है, उनके ग्रन्थों में आहार-दोष बताया ही नहीं गया है, न ही उनके गुरु, आचार्य आदि उन्हें आहार-शुद्धि के लिए आधाकर्मादि दोष बताते हैं। वे संसार परिभ्रमण के कारण और निवारण के सम्बन्ध में बिल्कुल अकुशल हैं। न वे दूषित आहार-ग्रहणजनित हिंसादि आस्रवों को पाप कर्मबन्ध का कारण मानते हैं, ऐसी स्थिति में उनकी क्या दशा होगी? इसके उत्तर में दो शब्दों में यहां कहा गया—**ते दुही**—वे दुःखी होते हैं। चाहे आहार दोष जानता हो, या न जानता हो, जो भी साधक आधाकर्मी आहार करेगा, उसे उसका कटुफल भोगना ही पड़ेगा।

वृत्तिकार ने यहाँ निष्पक्ष दृष्टि से स्पष्ट कर दिया है—चाहे आहार दोषविज्ञ जैन श्रमण हो

---

२. 'आहाकम्मं णं भुंजमाणे समणे निग्गंथे किं बंधइ? किं पकरेइ किं चिणाइ, किं उपचिणाइ?"
गोयमा! आहाकम्मं णं भुंजमाणे आउयवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ सिढिल बंधण-बद्धाओ धणियबंधण बद्धाओ पकरेइ, जाव अणुपरियट्टइ।"
—भगवतीसूत्र शतक ७, उ० ९, सू० ७८

अथवा आजीवक, बौद्ध आदि आहार-दोष से अनभिज्ञ श्रमण हो, जो भी आधाकर्म दोषयुक्त आहार करेगा, उसकी दुर्गति एवं अनन्त बार विनाश निश्चित है—**'घातमेस्संति णंतसो'**।

आधाकर्म दोषयुक्त आहार की पहचान—आहार आधाकर्म दोषयुक्त कैसे जाना जाये ? क्या दूसरे शुद्ध आहार के साथ मिल जाने या मिला देने से वह आहार आधाकर्म दोषयुक्त नहीं रहता ? इसके उत्तर में ६०वीं गाथा में स्पष्ट बता दिया गया है—**'पूतिकडं सड्ढीमागंतुमीहियं'**। किसी श्रद्धालु भक्त द्वारा गाँव में आये हुए साधु या श्रमणादि के लिए बनाया हुआ आहार आधाकर्म दोपयुक्त आहार है। विशुद्ध आहार में उसका अल्पांश भी मिल जाय तो वह पूतिकृत आहार कहलाता है और एक, दो नहीं चाहे हजार घरों का अन्तर देकर साधु को दिया गया हो, साधु उसका सेवन करे तो भी वह साधु उक्त दोप से मुक्त नहीं होता। बल्कि शास्त्रकार कहते हैं—**दुपक्खं चेव सेवए**। आशय यह है कि ऐसे आहार का सेवी साधु द्विपक्ष दोप-सेवन करता है।

'दुपक्ख' (द्विपक्ष) के तीन अर्थ यहाँ फलित होते हैं—

(१) स्वपक्ष में तो आधाकर्मी आहार-सेवन का दोष लगता ही है, गृहस्थ पक्ष के दोष का भी भोगी वह हो जाता है, अतः साधु होते हुए भी वह गृहस्थ के समान आरम्भ का समर्थक होने से द्विपक्ष-सेवी है।

(२) ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी दोनों क्रियाओं का सेवन करने के कारण द्विपक्ष-सेवी हो गया। आहार लाते समय ऐर्यापथिकी क्रिया लगती है और दोषयुक्त आहार लेने व सेवन करने से माया और लोभ दोनों कषायों के कारण साम्परायिकी क्रिया भी लगती है।

(३) दोपयुक्त आहार लेने से पहले शिथिल रूप से बांधी हुई कर्म प्रकृतियों को वह निधत्त और निकाचित रूप से गाढ़ स्थिति में पहुँचा देता है। अतः वह द्विपक्ष-सेवी है।[3]

कठिन शब्दों की व्याख्या—सड्ढीमागंतुमीहियं—चूर्णिकार के शब्दों में—**श्रद्धा आस्यास्तीतिश्राद्धी आगच्छन्तीत्यागन्तुकाः। तैः श्राद्धीभिरागन्तूननुप्रेक्ष्य प्रतीत्य बक्खडियं। अधवा सड्ढित्ति जे एकतो वसंति तानुद्दिश्य कृतम्। तत् पूर्वपश्चिमानां आगन्तुकोऽपि यदि सहस्संतरकडं भुंजे दुपक्खं णाम पक्षौ द्वौ सेवते।** अर्थात्—जिसके हृदय में श्रद्धा (साधुजनों के प्रति) है, वह श्राद्धी है। जो नये आते हैं वे आगन्तुक हैं। उन श्रद्धालुओं द्वारा आगन्तुक साधुओं के उद्देश्य से अथवा उन्हें आये देख जो आहार तैयार कराया है। अथवा श्राद्धी का अर्थ है, जो साधक एक ओर रहते हैं, उन्हें उद्देश्य करके जो आहार बनाया है, उस आहार को यदि पहले या पीछे आये हुए आगन्तुक भिक्षु, श्रमण या साधु यदि हजार घर में ले जाने के पश्चात् भी सेवन करता है, तो द्विपक्ष दोष का सेवन करता है।

वृत्तिकार के अनुसार—**श्रद्धावताऽन्येन भक्तिमताऽपरान् आगन्तुकान् उद्दिश्य ईहितं चेष्टितम् निष्पादितम्**—अर्थात् दूसरे भक्तिमान् श्रद्धालु ने दूसरे आये हुए साधकों के उद्देश्य (निमित्त) से बनाया है, तैयार किया है।

पुतिकडं—आधाकर्मादि दोष के कण से भी जो अपवित्र दूषित है। **तमेव अजाणंता विसमंसि अकोज्ञिया**—आधाकर्मादि आहार दोष के सेवन को न जानने वाले विषम अष्टविध कर्मबन्ध

---

[3] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४०-४१ के आधार पर

से करोड़ों जन्मों में भी छूटना कठिन है, ऐसे अष्टविध कर्मबन्धों को जानने में अकोविद-अनिपुण। यह कर्मबन्ध कैसा होता है, कैसे नहीं ? यह संसार सागर कैसे पार किया जा सकता है ? इस विषयों के ज्ञान में अकुशल। **आमिसत्थेहिं**—मांसार्थी मछुओं (मछली पकड़ने वालों) द्वारा (जिंदा ही काटी जाती हैं)। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**आमिसासीहि** जिसकी व्याख्या की गयी है—**आमिषाशिनः—शृगाल-पक्षि-मनुष्यमार्जरादययस्तैः**। अर्थात् मांसभोजी शियार, पक्षी (गिद्ध आदि), मनुष्य (मछुए, कसाई आदि) तथा बिल्ली आदि के द्वारा। कहीं-कहीं **'सुक्कं सिग्घंतमिति उ'** पाठ की इस प्रकार संगति बिठायी गयी है—**'सुक्कंसि घंतमिति'**—पानी के सूख जाने पर वे (मत्स्य) अशरण—रक्षा रहित होकर—घात—विनाश को प्राप्त होते हैं। **घंतमिति** का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—"वन्तमेतीति—घनघोतन वा अंतं करोतीति घन्तः—घातः तम् एति—प्राप्नोतीत्यर्थः अथवा घंतो णाममच्चू तं मच्चूमेति।' अर्थात् घनघात—सघन चोटें मारकर या पीट-पीटकर अन्त करने से विनाश को प्राप्त होते हैं, अथवा घत का अर्थ मृत्यु, वे मृत्यु को प्राप्त होते हैं।[४]

जगत् कर्तृत्ववाद

६४. इणमन्नं तु अण्णाणं, इहमेगेसिमाहियं।
देवउत्ते अयं लोगे, बंभउत्ते त्ति आवरे ॥५॥

६५. ईसरेण कडे लोए, पहाणाति तहावरे।
जीवा-ऽजीवसमाउत्ते, सुह-दुक्खसमन्निए ॥६॥

६६. सयंभुणा कडे लोए, इति वुत्तं महेसिणा।
मारेण संथुता माया, तेण लोए असासते ॥७॥

६७. माहणा समणा एगे, आह अंडकडे जगे।
असो तत्तमकासी य, अयाणंता मुसं वदे ॥८॥

६८. सएहिं परियाएहिं लोयं, बूया कडे ति य।
तत्तं ते ण विजाणंती ण, विणासि कयाइ वि ॥९॥

६९. अमणुण्णसमुप्पायं, दुक्खमेव विजाणिया।
समुप्पादमयाणंता, किह नाहिंति संवरं ॥१०॥

६४. (पूर्वोक्त अज्ञानों के अतिरिक्त) दूसरा अज्ञान यह भी है—'इस लोक (दार्शनिक जगत्) में किसी ने कहा है कि यह लोक (किसी) देव के द्वारा उत्पन्न किया हुआ है और दूसरे कहते हैं कि ब्रह्मा ने बनाया है।'

---

[४] (क) सूत्रकृ० शीला० वृ० पत्रांक ४०-४१
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (सूयगडंग मूलपाठ टिप्पण युक्त) पृ० १०-११

६५. जीव और अजीव से युक्त तथा सुख-दुःख से समन्वित (सहित) यह लोक ईश्वर के द्वारा कृत-रचित है (ऐसा कई कहते हैं) तथा दूसरे (सांख्य) कहते हैं कि (यह लोक) प्रधान (प्रकृति) आदि के द्वारा कृत है।

६६. स्वयम्भू (विष्णु या किसी अन्य) ने इस लोक को बनाया है, ऐसा हमारे महर्षि ने कहा है। यमराज ने यह माया रची है, इसी कारण यह लोक अशाश्वत-अनित्य (परिवर्तनशील) है।

६७. कई माहन (ब्राह्मण) और श्रमण जगत् को अण्डे के द्वारा कृत कहते हैं तथा (वे कहते हैं)—ब्रह्मा ने तत्त्व (पदार्थ-समूह) को बनाया है।
वस्तुतत्त्व को न जानने वाले ये (अज्ञानी) मिथ्या ही ऐसा कहते हैं।

६८. (पूर्वोक्त अन्य दर्शनी) अपने-अपने अभिप्राय से इस लोक को कृत (किया हुआ) बतलाते हैं। (वास्तव में) वे (सब अन्यदर्शनी) वस्तुतत्त्व को नहीं जानते, क्योंकि यह लोक कभी भी विनाशी नहीं है।

६९. दुःख अमनोज्ञ (अशुभ) अनुष्ठान से उत्पन्न होता है, यह जान लेना चाहिए। दुःख की उत्पत्ति का कारण न जानने वाले लोग दुःख को रोकने (संकट) का उपाय कैसे जान सकते हैं?

विवेचन—लोक कर्तृत्ववाद : विभिन्न मतवादियों की दृष्टि में—गाथा ६४ से ६९ तक शास्त्रकार ने इसे अज्ञानवादियों का दूसरा अज्ञान बताकर लोक-रचना के सम्बन्ध में उनके विभिन्न मतों को प्रदर्शित किया है। इन सब मतों के बीज उपनिषदों, पुराणों एवं स्मृतियों तथा सांख्यादि दर्शनों में मिलते हैं। यहाँ शास्त्रकार ने लोक रचना के विषय में मुख्य ७ प्रचलित मत प्रदर्शित किये हैं—

(१) यह किसी देव द्वारा कृत है, गुप्त (रक्षित) है, उप्त (बोया हुआ) है।
(२) ब्रह्मा द्वारा रचित है, रक्षित है या उत्पन्न किया गया है।
(३) ईश्वर द्वारा यह सृष्टि रची हुई है।
(४) प्रधान (प्रकृति) आदि के द्वारा लोक कृत है।
(५) स्वयम्भू (विष्णु या अन्य किसी के) द्वारा यह लोक बनाया हुआ है।
(६) यमराज (मार या मृत्यु) ने यह माया बनायी है, इसलिए लोक अनित्य है।
(७) यह लोक अण्डे से उत्पन्न हुआ है।

(१) **देवकृत लोक**—वैदिक युग में मनुष्य का एक वर्ग अग्नि, वायु, जल, आकाश, विद्युत, दिशा आदि शक्तिशाली प्राकृतिक तत्त्वों का उपासक था, प्रकृति को ही देव मानता था। मनुष्य में इतनी शक्ति कहाँ, जो इतने विशाल ब्रह्माण्ड की रचना कर सके, देव ही शक्तिशाली है। इस धारणा से देवकृत लोक की कल्पना प्रचलित हुई। इसलिए कहा गया—**देवउत्ते**। इसके संस्कृत में तीन रूप हो सकते हैं—देव-उप्त, देवगुप्त और देवपुत्र। 'देव-उप्त' का अर्थ है—देव के द्वारा बीज की तरह बोया गया। किसी देव ने अपना बीज (वीर्य) किसी स्त्री में बोया (डाला) और उससे मनुष्य तथा दूसरे प्राणी हुए। प्रकृति की सब वस्तुएं हुई। ऐतरेयोपनिषद् आदि में इनके प्रमाण मिलते हैं।

देवगुप्त का अर्थ है—देवों या देव द्वारा रक्षित। सारा जगत् किसी देव द्वारा रक्षित है। देवपुत्र का अर्थ है—यह जगत् तथाकथित देव का पुत्र सन्तान है, जिसने संसार को उत्पन्न किया है।[५]

(२) **ब्रह्मरचितलोक**—कोई प्रजापति ब्रह्मा द्वारा लोक की रचना मानते हैं। उनका कहना है—मनुष्य में इतनी शक्ति कहाँ कि कितनी विशाल व्यापक सृष्टि की रचना और सुरक्षा कर सके। और देव भले ही मनुष्यों से भौतिक शक्ति में वढ़े-चढ़े हों, लेकिन विशाल ब्रह्माण्ड को रचने में कहाँ समर्थ हो सकते हैं? वही सारे संसार को देख सकते हैं। जैसा कि उपनिषद् में कहा है—"सृष्टि से पहले हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) अकेला ही था।"[६]

मुण्डकोपनिषद् में तो स्पष्ट कहा है—विश्व का कर्ता और भुवन का गोप्ता (रक्षक) ब्रह्मा देवों में सर्वप्रथम हुआ। **तैत्तिरीयोपनिषद्** में कहा गया है—उसने कामना की—"मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ, प्रजा को उत्पन्न करूँ।" उसने तप तथा तपश्चरण करके यह सव रचा—सृजन किया—**प्रश्नोपनिषद्** में भी इसी का समर्थन मिलता है। इसी तरह छान्दोग्य-उपनिषद् में पाठ है। **बृहदारण्यक** में ब्रह्मा के द्वारा सृष्टि रचना की विचित्र कल्पना बतायी गयी है और क्रम भी। "ब्रह्मा अकेला रमण नहीं करता था। उसने दूसरे की इच्छा की। जैसे स्त्री-पुरुष परस्पर आश्लिष्ट होते हैं, वैसे ब्रह्मा ने अपने आपके दो भाग किये और वे पति-पत्नी के रूप में हो गये।····पहले मनुष्य फिर गाय, वैल, गर्दभी, गर्दभ, वकरी, वकरा, पशु-पक्षी आदि से लेकर चींटी तक सव के जोड़े वनाये। उसे विचार हुआ कि मैं सृष्टि रूप हूँ, मैंने ही यह सव सृजन किया है,····इस प्रकार सृष्टि हुई।[७] एक वैदिक पुराण

---

[५] देवकृत जगत् के प्रमाण उपनिपदों में—

(क) "·····दिवमेव भवामो····सुतेजा आत्मा वैश्वानरो ···इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै विश्वरूपं आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव वहु विश्वरूपं कुले दृश्यते ॥१॥ ·······वायुमेव भगवो····मुपास्से ···इत्याकाशमेव भगवो राजन्निति····बहुलोऽसि ···प्रजया धनेन च ॥१॥ इत्यप एव भगवो राजन्निति होवाचैष वै रायिरात्मा वैश्वानरो····तस्मात्त्वं रयिमान् पुष्टिमानसि ॥ ·· पृथिवीमेव भगवो राजन् इति होवाचैष वै प्रतिष्ठात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मा न मुपास्से ···तस्मात्वं प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च ॥१॥ ····यूयं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्वसोऽन्नमात्थ यस्त्वेतमेवं प्रादेसमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेपु लोकेप भूतेपु सर्वेष्वात्मस्वन्नमस्ति ॥१॥

—छान्दोग्योपनिपद् खण्ड १२ से १८ तक अध्याय ५

(ख) ··· स ईक्षतः लोकान्नु सृजा इति। स इमांल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचिर्मरमापोऽम्भः परं दिवं द्यौः प्रतिष्ठाऽन्तरिक्ष मरीचयः॥

—ऐतरेयोपनिपद्, प्रथम खण्ड

(ग) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४२ के आधार पर

[६] ब्रह्मा द्वारा रचित जगत् के प्रमाण—

"हिरण्यगर्भः समवर्तताऽग्रे, स ऐक्षत,····तत्तेजाऽसृजत।"

—छान्दोग्योपनिपद् खण्ड २ श्लोक ३

[७] (क) ओ३म् ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्वभूव विश्वस्य कर्ता, भुवनस्य गोप्ता।—मुण्डकोपनिपद् खण्ड १ श्लोक १

(ख) सोऽकामयत। वहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत॥

—तैत्तिरीयोपनिपद अनुवाक् ६

में सृष्टि क्रम बताया है कि पहले यह जगत् घोर अन्धकारमय था, बिलकुल अज्ञात, अविलक्षण अतर्क्य और अविज्ञेय। मानो वह बिलकुल सोया हुआ था। वह एक समुद्र के रूप में था। उसमें स्थावर-जंगम, देव, मानव, राक्षस, उरग और भुजंग आदि सब प्राणी नष्ट हो गये थे। केवल गड्ढा-सा बना हुआ था, जो पृथ्वी आदि महाभूतों से रहित था। मन से भी अचिन्त्य विभु सोये हुए तपस्या कर रहे थे। सोये हुए विभु की नाभि से एक कमल निकला, जो तरुण सूर्य बिम्ब के समान तेजस्वी, मनोरम और स्वर्णकर्णिका वाला था। उस कमल में से दण्ड और यज्ञोपवीत से युक्त ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। जिन्होंने वहीं आठ जगन्माताएँ बनायीं—(१) दिति, (२) अदिति, (३) मनु, (४) विनता, (५) कद्रु, (६) सुलसा, (७) सुरभि और (८) इला। दिति ने दैत्यों को, अदिति ने देवों को, मनु ने मनुष्यों को, विनता ने सभी प्रकार के पक्षियों को, कद्रु ने सभी प्रकार के सरीसृपों (सांपों) को, सुलसा ने नागजातीय प्राणियों को, सुरभि ने चौपाये जानवरों को और इला ने समस्त बीजों को उत्पन्न किया।[8]

ये और इस प्रकार के अनेक प्रसंग ब्रह्मा द्वारा सृष्टि रचना के मिलते हैं। इसीलिए शास्त्रकार

(ग) प्रजाकामो वै प्रजापतिः। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्ये ॥४॥ —प्रश्नोपनिषद् प्रश्न १, श्लो० ४

(घ) ....स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावनाप यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ, स इममेवात्मानं द्वेधा पातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्....। तस्मादिदं मर्धवृगलमिव स्व इतिह स्माहयाज्ञवल्क्य एतस्मादयमाकाशः, ... ततो मनुष्या अजायन्त, ...गौरभवदृषभः, ...ततो गापोऽजायन्त, वडवेतराभवदश्व वृषः इतरो गर्दभीतरा गर्दभः....अजेतरभवद्वस्त....यदिदं किं च मिथुनमगपिपीलिकाभ्यस्तत् सर्वममृजत ॥४॥ सेऽवेदहं वाव सृष्टिरस्मि, अहं सर्वमसृक्षीति, ततः सृष्टिरभवत्। —बृहदारण्यक उपनिषद् ब्रा० ४, सू० ३-४

[8] आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥१॥
तस्मिन्नेकार्णवीभूते नष्टस्थावरजंगमे।
नष्टामरनरे चैव प्रणष्टे राक्षसोरगे ॥२॥
केवलं गह्वरीभूते, महाभूतविवर्जिते।
अचिन्त्यात्मा विभुस्तत्र शयानस्तप्यते तपः ॥३॥
तत्र यस्य शयानस्य नाभेः पद्मविनिर्गतम्।
तरुणार्क बिम्बनिभं हृद्यं कांचनकर्णिकाम् ॥४॥
तस्मिन् पद्मे भगवान् दण्डयज्ञोपवीतसंयुक्तः।
ब्रह्मा तत्रोत्पन्नस्तेन जगन्मातरः सृष्टाः ॥५॥
अदितिः सुर-सन्धानां दितिरसुराणां, मनुर्मनुष्याणाम्।
विनता विहंगमानां माता विश्वप्रकाराणाम् ॥६॥
कद्रुः सरीसृपानां सुलसा माता च नागजातीनाम्।
सुरभिश्चतुष्पदानामिला पुनः सर्वबीजानाम् ॥७॥ —वैदिक पुराण

ने कहा—"**बंभउत्ते ति आवरे।**" देवउत्ते की तरह बंभउत्ते के भी तीन संस्कृत रूप होते हैं और अर्थ भी उसी अनुसार तीन होते हैं।

ईश्वरकृत लोक—उस युग में ईश्वर कर्तृत्ववादी मुख्यतया तीन दार्शनिक थे—वेदान्ती, नैयायिक और वैशेषिक।[९] वेदान्ती ईश्वर (ब्रह्मा) को ही जगत् का उपादान करण एवं निमित्तकारण मानते हैं। उनके द्वारा अनेक प्रमाण भी प्रस्तुत किये जाते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में देखिए—"पहले एकमात्र यह ब्रह्म ही था, वही एक सत् था, जिसने इतने श्रेय रूप क्षेत्र का सृजन किया, फिर क्षत्राणी का, जिसने वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान आदि देवता उत्पन्न किये। ····फिर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और अन्त में सबके पोषक शूद्र वर्ण का सृजन किया।[१०] ··· तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा है—"जिस ब्रह्म—ईश्वर से ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिससे ये भूत (प्राणी) उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं, जिसके कारण प्रयत्न (हलन-चलन आदि प्रवृत्ति) करते हैं, जिसमें विलीन हो जाते हैं, उन सबका तादाम्य-उपादान कारण ईश्वर (ब्रह्म) ही है।[११]

बृहदारण्यक में ही आगे कहा है—'उस ब्रह्म के दो रूप हैं—मूर्त और अमूर्त, अथवा मर्त्य और अमृत, जिसे यत् और त्यत् कहते हैं। वही एक ईश्वर सब प्राणियों के अन्तर में छिपा हुआ है।' बादरायण व्यास-रचित ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र में बताया—"सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय इसी से होते हैं।" वेदान्ती अनुमान प्रमाण का प्रयोग भी करते हैं—"ईश्वर जगत् का कर्ता है, क्योंकि वह चेतन है, जो-जो चेतन होता है, वह-वह कर्ता होता है जैसे—कुम्हार घट का कर्ता है'।[१२]

---

९. (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २०६
 (ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४२ के आधार पर
 (ग) वर्तमान में वैदिक धर्म-सम्प्रदायों के अतिरिक्त इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म, आदि भी ईश्वरकर्तृत्ववादी हैं, परन्तु उनके पास अपने-अपने धर्म-ग्रन्थों में लिखित ईश्वरकर्तृत्ववाद पर आँखें मूँदकर श्रद्धा करने के अतिरिक्त कोई विशेष प्रमाण, युक्ति या तर्क नहीं है।

१०. (क) ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव, तदेकं सन्न व्यभवतच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत क्षत्रं, यान्येतानि देवता क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति तस्मात् क्षत्रात्परं नास्ति, तस्माद् ब्राह्मणाः····स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति ॥१२॥ ····स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणम्। ····तदेतद् ब्रह्म क्षत्रं विट् शुद्रः···· ॥ —बृहदा० अ० १, ब्रा० ४

११. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यप्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति।···· —तैत्तिरीयोपनिषद् ३ भृगुवली

१२. (क) द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च, मर्त्यं चामृतं च, स्थितं च यच्च त्यच्च। —बृहदारण्यकोपनिषद् अ. २ ब्रा. ३।१
 (ख) ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं यथा निकायं सर्वभूतेषु गूढम्। —श्वेताश्वतर. अ. ३।७
 (ग) 'जन्माद्यस्य यतः' —ब्रह्मसूत्र १।१।१
 (घ) कर्तास्ति कश्चित् जगतः सचैकः, स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः।
 इमा कुहेवाकविडम्बनास्युस्तेषां न येषमनुशासकस्त्वम्॥ —स्याद्वाद मंजरी

दूसरे कर्तृत्ववादी नैयायिक हैं, नैयायिक मत अक्षपाद ऋषि प्रतिपादित है। इस मत के आराध्य देव महेश्वर (शिव) हैं, महेश्वर ही चराचर सृष्टि का निर्माण तथा संहार करते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में बताया है—'वही देवों का अधिपति है, उसी में सारा लोक अधिष्ठित है। वही इस द्विपद चतुष्पद पर शासन करता है। वह सूक्ष्म रूप में कलिल (वीर्य) में भी हैं, विश्व का स्रष्टा है, अनेक रूप है। वही विश्व का एकमात्र परिवेष्ठिता (अपने में लपेटने वाला) है, उस शिव को जानकर (प्राणी) परम शान्ति प्राप्त कर लेता है। वही समय पर भुवन (सृष्टि) का गोप्ता (रक्षक) है, वही विश्वाधिप है, सभी प्राणियों में गूढ है, जिसमें ब्रह्मर्षि और देवता लीन होते हैं। उसी को जानकर मृत्युपाश का छेदन करते हैं।'

नैयायिक जगत् को महेश्वर कृत सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रमाण का प्रयोग करते हैं—"पृथ्वी, पर्वत, चन्द्र, सूर्य, समुद्र, शरीर, इन्द्रिय, आदि सभी पदार्थ किसी बुद्धिमान कर्ता द्वारा बनाये गये हैं, क्योंकि वे कार्य हैं। जो-जो कार्य होते हैं, वे किसी न किसी बुद्धिमान कर्ता के द्वारा ही किये जाते हैं, जैसे कि घट। यह जगत् भी कार्य है, अतः वह भी किसी बुद्धिमान द्वारा ही निर्मित होना चाहिए। वह बुद्धिमान जगत् का रचयिता ईश्वर (महेश्वर) ही है। जो बुद्धिमान द्वारा उत्पन्न नहीं किये गये हैं, वे कार्य नहीं हैं, जैसे कि आकाश। यह व्यतिरेक दृष्टान्त है।

ईश्वर को जगत् कर्ता मानने के साथ-साथ वे उसे एक, सर्वव्यापी (आकाशवत्) नित्य स्वाधीन, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान भी मानते हैं। संसारी प्राणियों को कर्मफल भुगतवाने वाला भी ईश्वर है, ऐसा कहते हैं। नैयायिक वेदान्तियों की तरह ईश्वर को उपादानकारण या समवायीकारण नहीं मानते, वे उसे निमित्तकारण मानते हैं। ईश्वर कर्तृत्व के विषय में वैशेषिकों की मान्यता भी लगभग ऐसी ही है।

प्रधानादिकृत लोक—सांख्यवादी कहते हैं—यह लोक प्रधान अर्थात् प्रकृति के द्वारा किया गया है। प्रकृति, सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था है। इसलिए जगत् का मूल कारण प्रधान को कहें या त्रिगुण (सत्त्व, रज और तम) को कहें, एक ही बात है। इन्हीं गुणों से सारा लोक उत्पन्न हुआ है। सृष्टि त्रिगुणात्मक कहलाती है। जगत् के प्रत्येक पदार्थ में तीन गुणों की सत्ता देखी जाती है। इसलिए सिद्ध है कि यह जगत त्रिगुणात्मक प्रकृति से बना है।[१३]

मूलपाठ में कहा गया है—**'पहाणाइ तहावरे'**—आदि पद से महत्तत्त्व (बुद्धि), अहंकार आदि का ग्रहण करना चाहिए। सांख्य-दर्शन का सिद्धान्त है त्रिगुणात्मक प्रकृति सीधे ही इस जगत् को उत्पन्न नहीं करती। प्रकृति मूल, अविकृति (किसी तत्त्व के विकार से रहित) और नित्य है, उससे महत् (बुद्धि) तत्त्व उत्पन्न होता है, महत्तत्त्व से अहंकार और अहंकार से पांच तन्मात्रा (इन्द्रिय विषय) पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और मन ये १६ तत्त्व (षोडशगण) उत्पन्न होते हैं, पाँच तन्मात्राओं से पृथ्वी आदि पाँच भूत उत्पन्न होते हैं इस क्रम से प्रकृति सारे लोक को उत्पन्न करती है।[१४]

---

[१३] (क) 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। —सांख्यतत्त्व कौमुदी

[१४] (क) मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो, न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ —सांख्यकारिका १

(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृति पत्रांक ४१

अथवा, प्रधानादि शब्द में आदि शब्द से काल, स्वभाव, नियति आदि का ग्रहण करके इस जगत् को कोई कालकृत कोई स्वभावकृत, कोई नियतिकृत, कोई एकान्त कर्मकृत मानते हैं।

पूर्वोक्त कर्ताओं से उत्पन्न जगत् कैसा है—प्रश्न होता है—पूर्वोक्त विभिन्न जगत्कर्तृत्ववादियों के मत से उन-उन कारणों (कर्ताओं) द्वारा उत्पन्न जगत् कैसा है ? इस शंका के उत्तर में शास्त्रकार उनकी ओर से लोक के दो विशेषण व्यक्त करते हैं—**जीवाजीव समाउत्ते** और **सुहदुक्खसमन्निए**, अर्थात् वह लोक, जीव और अजीव दोनों से संकुल है, तथा सुख और दुःख से समन्वित ओत-प्रोत है।[१५]

स्वयम्भू द्वारा कृत लोक—महर्षि का कहना है—यह लोक स्वयम्भू द्वारा रचित है। महर्षि के दो अर्थ चूर्णिकार प्रस्तुत करते हैं—(१) महर्षि अर्थात् ब्रह्मा। अथवा (२) व्यास आदि ऋषि महर्षि हैं।

स्वयम्भू शब्द का अर्थ वृत्तिकार करते हैं—विष्णु या अन्य कोई। स्वयम्भू शब्द ब्रह्मा के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है और विष्णु के अर्थ में भी। नारायणोपनिषद् में कहा है—'अन्तर और वाह्य जो भी जगत् दिखायी देता है, सुना जाता है, नारायण (विष्णु) उस सारे जगत् को व्याप्त करके स्थित हैं। नारायणाथर्वशिर उपनिषद् में कहा है—पुरुष नारायण (विष्णु) ने चाहा कि मैं प्रजाओं का सृजन करूँ और उससे प्राण, मन, इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ब्रह्मा, रुद्र, वसु यहाँ तक कि सारा जगत् नारायण से ही उत्पन्न होता है।[१६]

पुराण में वर्णित ब्रह्मा द्वारा सृष्टि-रचना के क्रम की तरह मनुस्मृति में भी उसी प्रकार का वर्णन मिलता है। यह 'जगत् सर्वत्र अन्धकारमय था, सुषुप्त-सा था। उसके पश्चात् महाभूतादि से ओज का वरण करके अन्धकार को हटाते हुए अव्यक्त स्वयम्भू इस (जगत्) को व्यक्त करते हुए स्वयं प्रादुर्भूत हुए। वे अतीन्द्रिय द्वारा ग्राह्य, सूक्ष्म अव्यक्त, सनातन, सर्वभूतमय एवं अचिन्त्य स्वयम्भू स्वतः

---

[१५] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४२
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ. २१२

[१६] (क) सूत्रकृतांग चूर्णि
(ख) जैन साहित्य का वृहत् इतिहास भा. १
(ग) यच्च किञ्चिज्जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्वहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥ —नारायणोपनिषद, १३वाँ गुच्छ
(घ) अथ पुरुषो हवै नारायणोऽकामयत—प्रजाः सृजयेति। नारायणात् जायते, मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ नारायणाद् ब्रह्मा जायते, नारायणात्प्रजापतिः प्रजायते···· नारायणादेव समुत्पद्यते, नारायणात् प्रवर्तन्ते, नारायणे प्रणीयन्ते···।" —नारायणाथर्वशिर उपनिषद् १

उत्पन्न हुए। ध्यान करके अपने शरीर से विविध प्रजाओं की सृष्टि की। उसने सर्वप्रथम पानी बनाया, फिर उसमें बीज उत्पन्न किया।"[१७]

मार द्वारा रचित माया : संसार प्रलयकर्ता मार—इसके पश्चात् शास्त्रकार ने कहा है—**मारेण संथुता माया, तेण लोए असासए** अर्थात् मार ने माया की रचना की। इस कारण यह जगत् अशाश्वत-अनित्य है।

मार के दो अर्थ यहाँ किये गये हैं—वृत्तिकार ने अर्थ इस प्रकार किया है—'जो मारता है, नष्ट करता है, वह मार—मृत्यु या यमराज।' पौराणिक कहते हैं—"स्वयम्भू ने लोक को उत्पन्न करके अत्यन्त भार के भय से जगत् को मारने वाला मार यानी मृत्यु-यमराज बनाया। मार (यम) ने माया रची, उस माया से प्राणी मरते हैं।" मार का अर्थ चूर्णिकार विष्णु करते हैं। वे नागार्जुनीय सम्मत पाठान्तर के रूप में एक नई गाथा उद्धृत करते हैं—

"अतिवड्ढीयजीवाणं मही विण्णवते पभुं।
ततो से मायासंजुत्ते करे लोगस्सऽभिद्दवा।"

अर्थात् पृथ्वी अपने पर जीवों का भार अत्यधिक बढ़ जाने के कारण प्रभु (विष्णु) से विनती करती है। इस पर उस प्रभु ने लोक का विनाश (संहार) करने के लिए उसे (लोक को) माया से युक्त बनाया।[१८]

वैदिक ग्रन्थों में एक प्रसिद्ध उक्ति है—

"विष्णोर्माया भगवती, यया सम्मोहितं जगत्।"

विष्णु की माया भगवती है, जिसने सारे जगत् को सम्मोहित कर दिया है। कठोपनिषद् में उस स्वयम्भू की माया के सम्बन्ध में कहा गया है—ब्राह्मण और क्षत्रिय जिसके लिए भात (भोजन) है, मृत्यु जिसके लिए व्यंजन (शाकभाजी) के समान है, उस विष्णु (स्वयम्भू) को कौन यहाँ जानता है जहाँ वह है?" जो भी हो मृत्यु का विनाश प्रत्येक सजीव-निर्जीव पदार्थ के साथ लगा हुआ है, इसी कारण लोक का अनित्य विनाशशील होना स्वाभाविक है। मृत्यु की महिमा बताते हुए बृहदारण्यक में कहा है—"यहाँ पहले कुछ भी नहीं था। मृत्यु से ही यह (सारा जगत्) आवृत्त था। वह मृत्यु सारे जगत् को निगल जाने के लिए थी····।"[१९]

---

[१७] आसीदिदं तमोभूत····मलक्षणम्।
अप्रतर्क्यं········प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥५॥
ततः स्वयम्भूर्भगवान् अव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत् तमोनुदः ॥६॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥७॥
सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमिवासृजत् ॥८॥ —मनुस्मृति अध्याय १

[१८] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४२-४३ (ख) सूयगडंग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) पृ० ११

[१९] (क) यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः। —कठोपनिषद् १ वल्ली २।२४
(ख) नेवेह किंचनाग्र आसीन् मृत्युनैवेदमावृतमासीत् ···। —बृहदारण्यक० ब्राह्मण २।१

मार्कण्ड ऋषि की एक कहानी मिलती है, जिसमें विष्णु द्वारा सृष्टि की रचना की जाने का रोचक वर्णन प्राकृत भाषा में निबद्ध है।

अण्डे से उत्पन्न जगत्—"कुछ (त्रिदण्डी आदि) श्रमणों-ब्राह्मणों ने या कुछ पौराणिकों ने अण्डे से जगत् की उत्पत्ति मानी है।" ब्रह्माण्ड पुराण में बताया गया है कि पहले समुद्र रूप था, केवल जलाकार! उसमें से एक विशाल अण्डा प्रकट हुआ, जो चिरकाल तक लहरों से इधर-उधर बहता रहा। फिर वह फूटा तो उसके दो टुकड़े हो गये। एक टुकड़े से पृथ्वी और दूसरे से आकाश बना। फिर उससे देव, दानव, मानव, पशु-पक्षी आदि के रूप में सम्पूर्ण जगत् पैदा हुआ। फिर जल, वायु, समुद्र, नदी, पहाड़ आदि उत्पन्न हुए। इस प्रकार यह सारा ब्रह्माण्ड (लोक) अण्डे से बना हुआ है।

मनुस्मृति में भी इसी से मिलती-जुलती कल्पना है—"वह अण्डा स्वर्णमय और सूर्य के समान अत्यन्त प्रभावान् हो गया। उसमें से सर्वलोक पितामह ब्रह्माजी उत्पन्न हुए।....उस अण्डे में वे भगवान् परिवत्सर (काफी वर्षों) तक रहे, फिर स्वयं आत्मा का ध्यान करके उस अण्डे के दो टुकड़े कर डाले। उन दोनों टुकड़ों से आकाश और भूमि का निर्माण किया....।[२०]

लोक-कर्तृत्व के सम्बन्ध में ये सब मिथ्या एवं असंगत कल्पनाएँ— गाथा ६७ के उत्तरार्द्ध में ६८ वीं सम्पूर्ण गाथा में पूर्वोक्त जगत् कर्तृत्ववादियों को परामर्श से अनभिज्ञ, मृषावादी, अपने-अपने कृतवाद को अपनी-अपनी युक्तियों या स्वशास्त्रोक्तियों को सच्ची बताने वाले कथञ्चित् नित्य—अविनाशी लोक को एकान्त अनित्य-विनाशी बताने वाले कहा है। मूल गाथाओं में केवल इतना-सा संकेत अवश्य किया है कि वे अविनाशी लोक को कृत—अर्थात् विनाशी कहते हैं। वे लोक के यथार्थ स्वभाव (वस्तुतत्त्व) को नहीं जानते। वृत्तिकार ने इसी पंक्ति की व्याख्या करते हुए कहा है—वास्तव में यह लोक कभी सर्वथा नष्ट नहीं होता, क्योंकि द्रव्य रूप से यह सदैव स्थित रहता है। यह लोक अतीत में भी था, वर्तमान में भी है और भविष्य में भी रहेगा। अतः यह लोक पहले-पहल किसी देव ब्रह्मा,, ईश्वर, प्रकृति, विष्णु, शिव आदि के द्वारा बनाया हुआ नहीं है। यदि कृत (बनाया हुआ) होता तो सदैव सर्वथा नाशवान् होता; परन्तु लोक एकान्ततः ऐसा नहीं है।। अतः लोक देव

---

२०. (क) तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मासर्वलोक पितामहः ॥९॥
तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद् द्विधा ॥१२॥
ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे।
मध्येव्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ॥१३॥
उद्ववर्हान्मिनश्चैव........पंचेन्द्रियाणि च ॥१४-१५॥
—मनुस्मृति अ० १

(ख) कृतवाद-सम्बधित विचार के लिए देखिये सूत्रकृतांग सूत्र ६५९-६६२।

आदि के द्वारा भी बनाया हुआ नहीं है। ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि जिससे विभिन्न कृतवादी अपने-अपने मान्य आराध्य द्वारा लोक का कर्तृत्व सिद्ध कर सकें। ईश्वर कर्तृत्ववादियों ने लोक के विभिन्न पदार्थों को कार्य बताकर कुम्हार के घट रूप कार्य के कर्ता की तरह ईश्वर को जगत् कर्तृत्व रूप कार्य का कर्ता सिद्ध करने का प्रयास किया है, परन्तु लोक द्रव्य रूप से नित्य होने के कारण कार्य है ही नहीं। पर्याय रूप से अनित्य है, पर कार्य का कर्ता के साथ कोई अविनाभाव नहीं है।

दूसरा प्रश्न कृतवादियों के समक्ष यह उपस्थित होता है कि उनका सृष्टि कर्ता इस सृष्टि को स्वयं उत्पन्न होकर बनाता है या उत्पन्न हुए बिना बनाता है? स्वयं उत्पन्न हुए बिना तो दूसरे को कैसे बना सकता है? यदि उत्पन्न होकर बनाता है तो स्वयं उत्पन्न होता है या दूसरे के द्वारा उत्पन्न किया है? यदि माता-पिता के बिना स्वयमेव उत्पन्न होता है, तब तो इस जगत् को भी स्वयं उत्पन्न क्यों नहीं मानते? यदि दूसरे से उत्पन्न होकर लोक को बनाता है, तो यह बतायें कि उस दूसरे को कौन उत्पन्न करता है? वह भी तीसरे से उत्पन्न होगा, और तीसरा चौथे से उत्पन्न मानना पड़ेगा। इस प्रकार उत्पत्ति का प्रश्न खड़ा रहने पर अनवस्था दोष आ जायेगा। इसका कृतवादियों के पास कोई उत्तर नहीं है।

तीसरा प्रश्न यह खड़ा होता है कि वह सृष्टिकर्ता नित्य है या अनित्य है? नित्य तो एक साथ या क्रमशः भी अर्थक्रिया कर नहीं सकता, क्योंकि वह तो अपनी जगह से हिल भी नहीं सकता और न उसका स्वभाव बदल सकता है। यदि वह अनित्य है तो उत्पत्ति के पश्चात् स्वयं विनाशी होने के कारण नष्ट हो सकता है, अतः उसका कोई भरोसा नहीं है कि वह जगत् को बनायेगा, क्योंकि नाशवान होने से अपनी रक्षा करने में असमर्थ हो, वह दूसरे की उत्पत्ति के लिए व्यापार चिन्ता क्या कर सकता है?

अब प्रश्न यह है कि वह सृष्टि कर्ता मूर्त है या अमूर्त? यदि वह अमूर्त है तो आकाश की तरह वह भी अकर्ता है, यदि मूर्तिमान है, तब कार्य करने के लिए उसे साधारण पुरुष की तरह उपकरणों की अपेक्षा रहेगी। उपकरण बनायेगा तो उनके लिए दूसरे उपकरण चाहिए। वे उपकरण कहाँ से आयेंगे? यदि पहले ईश्वर द्वारा सृष्टि की रचना मानने से उसमें अन्यायी, अबुद्धिमान, अशक्तिमान, पक्षपाती, इच्छा, राग-द्वेष आदि विकारों से लिप्त आदि अनेक दोषों का प्रसंग होता है।[२१] इसीलिए भगवद्गीता में कहा गया है—

"न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥"

ईश्वर न तो लोक का सृजन करता है, न ही कर्मों का और न लोकगत जीवों के शुभाशुभ कर्मफल का संयोग करता है। लोक तो स्वभावतः स्वयं प्रवर्तित है—चल रहा है।[२२]

---

[२१] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४३-४४ के आधार पर
(ख) स्याद्वाद मंजरी—"कर्ताऽस्ति कश्चिज्जगतः ..." कारिका की व्याख्या

[२२] भगवद्गीता अ० ५, श्लोक १४

ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, उदर से वैश्य और पैरों से शूद्र की तथा अण्डे से जगत् की उत्पत्ति मानना एक तरह से असंगत है, अयुक्ति है। जब ईश्वर आदि भी जगत् के कर्ता न हो सके तो स्वयम्भू द्वारा मार की रचना, अण्डे की उत्पत्ति, (पंचभूतों के बिना) आदि तथा अव्यक्त अमूर्त, अचेतन प्रकृति से मूर्त, सचेतन एवं व्यक्त की रचना आदि सब निरर्थक कल्पनाएँ हैं।

जैन दर्शन के अनुसार यह लोक अनादि-अनन्त है। लोक द्रव्यार्थ रूप से नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य-परिवर्तनशील है। जीव अनादिकाल से और अजीव-जड़ पदार्थ अपने रूप में न कभी नष्ट होते हैं, न उत्पन्न होते हैं। उनमें मात्र अवस्थाओं का परिवर्तन हुआ करता है।

जो लोक के कर्ता नहीं, वे उसके दुःख-सुख संयोजनकर्ता कैसे ?—गाथा ६९ भी लोककर्तृत्ववाद से सम्बन्धित है। पहले ६५वीं गाथा में यह बताया गया था कि **'जीवाजीव समाउत्ते सुहदुक्खसमन्निए'**—ईश्वर या प्रधानादि जीवाजीव एवं सुख-दुःख से युक्त लोक का निर्माण करते हैं। उसी सन्दर्भ में यहाँ उत्तर दिया गया है कि ये लोग मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग दुःख की उत्पत्ति के कारण हैं यह नहीं जानते तथा सम्यक्त्व, हिंसादि से विरति आदि की साधना-आराधना करना दुःख निवारण का उपाय है, ऐसा भी नहीं जानते-मानते हैं। इसलिए ६९वीं गाथा में कहा गया है—**अमणुण्ण समुप्पादं····कहं नाहिंति संवरं ?** इसका आशय यह है—अपने द्वारा किये गये अशुभ अनुष्ठान (पापाचरण या धर्माचरण) से दुःख की उत्पत्ति होती है, इसके विपरीत अपने द्वारा किये गये शुद्ध धर्मानुष्ठान (रत्नत्रयाचरण) से ही सुख की उत्पत्ति होती है। दूसरा कोई देव, ब्रह्मा, विष्णु, महेश या ईश्वर किसी को सुख या दुःख से युक्त नहीं कर सकता। अगर ऐसा कर देता तो वह सारे जगत् को सुखी ही कर देता, दुःखी क्यों रहने देता ? जो लोग सुख-दुःख की उत्पत्ति के कारणों को स्वयं नहीं जानते, वे दूसरों को सुख-दुःख दे पायेंगे ? अथवा दूसरों को सुख-दुःख प्राप्त करने का उपाय भी कहाँ से बतायेंगे ?

इस गाथा द्वारा शास्त्रकार ने **'अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य'** (आत्मा ही अपने सुखों और दुःखों का कर्ता एवं भोक्ता है) के सिद्धान्त को ध्वनित कर दिया है तथा दुःख रूप कर्मबन्धन को तोड़ने के लिये किसी देव, ब्रह्मा, विष्णु, महेश या परमात्मा के समक्ष गिड़गिड़ाने, याचना करने का खण्डन करके स्वकर्तृत्ववाद—स्वयं पुरुषार्थ द्वारा आत्म-शक्ति प्रकट करने का श्रमण संस्कृति का मूलभूत सिद्धान्त व्यक्त कर दिया है।[२३]

कठिन शब्दों की व्याख्या—सएहिं परियाएहिं लोयं बूया कडेति य—अपने-अपने पर्यायों-अभिप्रायों से युक्ति विशेषों से उन्होंने कहा कि यह लोक कृत (अमुक द्वारा किया हुआ) है। चूर्णिकार के अनुसार 'य' (च) शब्द से **'अकडेति च'** यह भी अध्याहृत होता है, अर्थ होता है—और (यह लोक) अकृत (नित्य) भी है। यहाँ **'लोयं बूया कडेविधि'** भी पाठान्तर मिलता है, उसका अर्थ किया गया है—विधि-विधान या प्रकार। लोक को 'कृत' का एक प्रकार कहते हैं। **'ण विणासी कयाइ वि'** इसके बदले

---

[२३] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४४-४५ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २३० के आधार पर

चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**'णायं ण ऽऽ सि कयाति वि'** अर्थात् यह लोक कभी 'नहीं था' ऐसा नहीं है। **अमणुन्नसमुप्पादं दुक्खमेव**—जिस दुःख की उत्पत्ति अमनोज्ञ-असत् अनुष्ठान से होती है। **विजाणीया**—बुद्धि विशेष रूप से जाने।[२४]

अवतारवाद

७०. सुद्धे अपावए आया, इहमेगेसि आहित ।
पुणो कीडा-पदोसेणं, से तत्थ अवरज्झई ॥११॥

७१. इह संवुडे मुणी जाए, पच्छा होति अपावए ।
वियडं व जहा भुज्जो, नीरयं सरयं तहा ॥१२॥

७०. इस जगत् में किन्हीं (दार्शनिकों या अवतारवादियों) का कथन (मत) है कि आत्मा शुद्धाचारी होकर (मोक्ष में) पापरहित हो जाता है। पुनः क्रीड़ा (राग) या प्रद्वेष (द्वेष) के कारण वहीं (मोक्ष में ही) बन्ध युक्त हो जाता है।

७१. इस मनुष्य भव में जो जीव संवृत—संयम-नियमादि युक्त मुनि बन जाता है, वह बाद में निष्पाप हो जाता है। जैसे—रज रहित निर्मल जल पुनः सरजस्क मलिन हो जाता है, वैसे ही वह (निर्मल निष्पाप आत्मा भी पुनः मलिन हो जाती है)।

विवेचन—त्रैराशिकवाद बनाम अवतारवाद—वृत्तिकार के अनुसार दोनों गाथाओं में गोशालक मतानुसारी (आजीवक) मत की मान्यता का दिग्दर्शन कराया गया है। समवायांग वृत्ति और इसी आगम के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के छठे अध्ययन में त्रैराशिकों को आजीवक या गोशालक मतानुसारी बताया है। त्रैराशिक का अर्थ है—जो मत या वाद सर्वत्र तीन राशियाँ मानता है, जैसे जीव राशि, अजीव राशि और नोजीव राशि। यहाँ आत्मा की तीन राशियों का कथन किया गया है। वे तीन अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—

(१) राग-द्वेष सहित कर्म-बन्धन से युक्त पाप सहित अशुद्ध आत्मा की अवस्था,

(२) अशुद्ध अवस्था से मुक्त होने के लिए शुद्ध आचरण करके शुद्ध निष्पाप अवस्था प्राप्त करना, तदनुसार मुक्ति में पहुंच जाना।

(३) इसके पश्चात् शुद्ध-निष्पाप आत्मा जब क्रीड़ा—राग अथवा प्रद्वेष के कारण पुनः कर्मरज

---

[२४] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४२ से ४५ तक
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० १२

से लिप्त (अशुद्ध) हो जाता है, वह तीसरी अवस्था। तीन अवस्थाओं की मान्यता के कारण इन्हें त्रैराशिक कहा जाता है। इन दोनों गाथाओं में इसी मत का निदर्शन किया गया है।[२५]

शुद्ध निष्पाप आत्मा पुनः अशुद्ध और सपाप क्यों ?—प्रश्न होता है, जो आत्मा एक बार कर्मफल से सर्वथा रहित हो चुका है, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, निष्पाप हो चुका है, वह पुनः अशुद्ध, कर्मफल युक्त और पापयुक्त कैसे हो सकता है ? जैसे बीज जल जाने पर उससे अंकुर उत्पन्न होना असम्भव है, वैसे ही कर्मबीज के जल जाने पर फिर संसार रूपी (जन्म-मरण-युक्त) अंकुर का फूटना असम्भव है। गीता में इसी तथ्य का समर्थन अनेक बार किया गया है।[२६] जितनी भी अध्यात्म साधनाएँ की जाती हैं, उन सबका उद्देश्य पाप से, कर्मबन्ध से राग-द्वेष-कषायादि विकारों से सर्वथा मुक्त, शुद्ध एवं निष्पाप होना है। भला कौन ऐसा साधक होगा, जो शुद्ध-बुद्ध-मुक्त होने के बाद पुनः अशुद्धि और राग-द्वेष की गन्दगी में आत्मा को डालना चाहेगा ? अगर ऐसा हुआ, तब तो सारा काता-पींजा कपास हो जायेगा। इतनी की हुई साधना मिट्टी में मिल जायेगी। परन्तु त्रैराशिक मतवादी इन सब युक्तियों की परवाह न करके मुक्त एवं शुद्ध आत्मा के पुनः प्रकट होने या पुनः कर्मरज से मलिन होकर कर्मबन्ध में जकड़ने के दो मुख्य कारण बताते हैं—**'पुणो कीडापदोसेणः'**—इसका आशय यह है कि उस मुक्तात्मा को अपने शासन की पूजा और पर-शासन (अन्य धर्मसंघ) का अनादर देखकर (क्रीड़ा) प्रमोद उत्पन्न होता है, तथा स्वशासन का पराभव और परशासन का अभ्युदय देखकर द्वेष होता है। इस प्रकार वह शुद्ध आत्मा राग-द्वेष से लिप्त हो जाता है, राग-द्वेष ही कर्मबन्ध के कारण हैं, इस कारण पुनः अशुद्ध-सापराध हो जाता है। वह आत्मा कैसे पुनः मलिन हो जाता है ? इसके लिए वे एक दृष्टान्त देकर अपने मत का समर्थन करते हैं—**"वियडम्बु जहा भुज्जो नीरयं सरयं तहा।"** आशय यह है कि जैसे मटमैले पानी को निर्मली या फिटकरी आदि से स्वच्छ कर निर्मल बना लिया जाता है, किन्तु वही निर्मल पानी, आँधी, तूफान आदि के द्वारा उड़ायी गयी रेत, मिट्टी, कचरा आदि के

---

२५. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४५-४६
(ख) 'ते एव च आजीवाकास्त्रैराशिका भणिताः—समवायांगवृत्ति अभयदेव सूरि पृ० १३०
(ग) स एवं गोशालकमतानुसारी त्रैराशिकः निराकृतः—सूत्रकृ० २, श्रु० ६, अ० गा० १४
(घ) "त्रैराशिकाः गोशालकमतानुसारिणो येषामेकविंशतिसूत्राणि पूर्वगत त्रैराशिकसूत्रपरिपाट्या व्यवस्थितानि।" —सूत्र० १, श्रु० १, सूत्र गा० ७० वृत्ति

२६. (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २३३
(ख) "दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे त रोहति भवांकुरः॥
(ग) मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥१५॥
.......मामुपेत्य तु कौन्तेय ! पुनर्जन्म न विद्यते॥१६॥
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥२१॥ —गीता अ० ८। १५-१६-२१
(घ) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४५ के आधार पर

कारण पुनः मलिन हो जाता है, वैसे ही कोई जीव मनुष्य जन्म पाकर राग-द्वेष से, कषायादि से या कर्मों से मलिन बनी हुई अपनी आत्मा को मुनि बनकर संयम नियमादि की साधना करके विशुद्ध बना लेता है, एक दिन वह आत्मा समस्त कर्मरहित होकर शुद्ध-बुद्ध-मुक्त बन जाता है, किन्तु पुनः पूर्वोक्त कारणवश राग-द्वेष की आँधी या तूफान आने से वह विशुद्धात्मा पुनः अशुद्ध एवं कर्म-मलिन हो जाता है।

इस सम्बन्ध में चूर्णिकार ७० वीं गाथा के उत्तरार्द्ध में **कीलावणप्पदोसेणा रजसा अवतारते,** इस प्रकार का पाठान्तर मानकर अवतारवाद की झाँकी प्रस्तुत करते हैं—वह आत्मा मोक्ष प्राप्त (मुक्त) होकर भी क्रीड़ा और प्रदोष के कारण (कर्म) रज से (लिप्त होने से) संसार में अवतरित होता (जन्म लेता) है। इस कारण वह अपने धर्म शासन की पुनः प्रतिष्ठा करने के लिए रजोगुण युक्त होकर अथवा उस कर्म रज से श्लिष्ट होकर अवतार लेता है।[२७]

कुछ-कुछ इसी प्रकार की मान्यता बौद्ध धर्म के एक सम्प्रदाय की तथा धर्म-सम्प्रदायों की भी है। उनका कथन है कि सुगत (बुद्ध) आदि धर्म तीर्थ के प्रवर्तक ज्ञानी तीर्थकर्ता (अवतार) परम पद (मोक्षावस्था) को प्राप्त करके भी जब अपने तीर्थ (धर्म-संघ) का तिरस्कार (अप्रतिष्ठा या अवनति) देखते हैं तो (उसका उद्धार करने के लिए) पुनः संसार में आते हैं (अवतार लेते हैं)।[२८]

धर्म का ह्रास और अधर्म का अभ्युत्थान (प्रतिष्ठा) होता देखकर मुक्त आत्मा के अवतरित होने की मान्यता वैदिक-परम्परा में प्रसिद्ध है और गीता आदि ग्रन्थों में अवतारवाद का स्पष्ट वर्णन है—"जब-जब संसार में धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि-उन्नति होने लगती है, तब तब मैं (मुक्त आत्मा) ही अपने रूप को रचता हूँ—प्रकट करता हूँ। साधु पुरुषों की रक्षा तथा दूषित कर्म करने वालों का नाश करने के लिए मैं युग-युग में जन्म (अवतार) लेता हूँ।" अतः इसे अवतारवाद या पुनरागमनवाद भी कहा जा सकता है।[२९]

गाथा ७० में शुद्ध आत्मा के पुनः अशुद्ध एवं कर्मलिप्त होने के दो कारण—क्रीड़ा एवं प्रद्वेष बताये गये हैं, वे इस अवतारवाद में संगत होते हैं। क्रीड़ा का अर्थ जो भक्तिवादी सम्प्रदायों में प्रचलित है, वह है, 'लीला।' ऐसा कहा जाता है—'भगवान् अपनी लीला दिखाने के लिए अवतरित

---

[२७] "स मोक्षप्राप्तोऽपि भूत्वा कीलावणप्पदोसेण रजसा अवतारते। तस्य हि स्वाशसनं पूज्यमानं दृष्ट्वा अन्यशासनान्यपूज्यमानानि च क्रीडा भवति, मानसः प्रमोद इत्यर्थः, अपूज्यमाने वा प्रदोषः, ... तेन रजसाऽवतार्यते।"
—सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० १२

[२८] ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तारः परमं पदम्।
गत्वाऽऽगच्छन्ति भूयोऽपि भवं तीर्थनिकारतः॥

[२९] यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत!
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥
परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे ॥८॥
—गीता अ० ४/७-८

होते हैं। अथवा सज्जनों की रक्षा एवं दुर्जनों के संहार के रूप में अपनी लीला करते हैं। ऐसी लीला के समय जब वे दुष्टों का नाश करते हैं, तब अपने भक्त की रक्षा के लिए हर सम्भव प्रयत्न करते हैं, ऐसा करने में उनमें द्वेष एवं राग का होना स्वाभाविक है। इसीलिए इस गाथा में **'कीडापदोसेणं'** के साथ अर्थ संगति बैठ जाती है।

पाठान्तर एवं व्याख्याएं—७१ वीं गाथा की पूर्वार्द्ध-पंक्ति का चूर्णिसम्मत पाठान्तर इस प्रकार है—**"इह संवुडे भवित्ताणं, (सुद्धे सिद्धीए चिट्ठती)—पेच्चा होंति अपावए"** इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—इह—यहाँ आकर मनुष्य भव में वयस्क होकर प्रव्रज्या ग्रहण करके संवृतात्मा होकर जानक अर्थात्—ज्ञानवान आत्मा (जिसका ज्ञान प्रतिपाती नहीं होता) (शुद्ध होकर सिद्धिगति-मुक्ति में स्थित हो जाता है।) अथवा यह (मेरे द्वारा प्रवर्तित) शासन (धर्म संघ) जाज्वल्यमान नहीं होता, इसलिए उसे जाज्वल्यमान करके कुछ काल तक संसार में अवस्थित होकर वहाँ से शरीर छोड़कर पुनः अपापक अर्थात् मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार ७० वीं गाथा के उत्तरार्द्ध का चूर्णि-सम्मत पाठान्तर है—**"पुणोकालेणऽणंतेण तत्थ से अवरज्झति।"** अर्थात् अन्तकाल के वाद स्वशासन को अपूज्यमान या पूज्यमान (प्रतिष्ठित अथवा अप्रतिष्ठित) देखकर वह उस पर अवरज्झति—यानि अपराध करता है। अर्थात् राग या द्वेष को प्राप्त हो जाता है।[30] **'वियडं वा जहा भुज्जो नीरयं सरयं तथा'** की व्याख्या वृत्तिकार के अनुसार—विकटवत्—उदक (पानी) के समान। जैसे रज (मिट्टी) रहित निर्मल पानी, हवा, आँधी आदि से उड़ायी हुई धूल से पुनः सरजस्क-मलिन हो जाता है।[31]

स्व-स्व-प्रवाद-प्रशंसा एवं सिद्धि का दावा

७२. एयाणुवीति मेधावि, बंभचेरे ण ते वसे।
पुढो पावाउया सव्वे, अक्खायारो सयं सयं ॥१३॥

७३. सए सए उवट्ठाणे, सिद्धिमेव ण अन्नहा।
अहो वि होंति वसवत्ती, सव्वकामसमप्पिए ॥१४॥

७४. सिद्धा य ते अरोगा य, इहमेगेसि आहितं।
सिद्धिमेव पुराकाउं, सासए गढिया णरा ॥१५॥

७५. असंवुडा अणादीयं, भमिहिंति पुणो पुणो।
कप्पकालमुवज्जंति, ठाणा आसुर किब्बिसिय ॥१६॥ त्ति बेमि।

---

[30] "इहेति—इह आगत्य मानुष्ये वयः प्राप्य प्रव्रज्यामभ्युपेत्य संवृतात्मा भूत्वा, जानको नाम जानक एव आत्मा न तस्य तज् ज्ञानं प्रतिपतति, यदि वा एतत् (यतश्चैतत् शासनं न ज्वलति, तत एवं प्रज्वाल्य किञ्चित्कालं संसारेऽवस्थित्य प्रेत्य पुनरपापको भवति मुक्त इत्यर्थः।"
"एवं पुनरनन्तेन कालेन स्वशासनं पूज्यमानं वा अपूज्यमानं दृष्टवा तत्थ से अवरज्झति=अवराधो णाम रागं दोसं वा गच्छति।"
—सूयगडंग (चूर्णि मू० पा० टिप्पण) पृ० १२

[31] विकटवद् उदकवद नीरजस्कं सद् वातोद्धूतरेणु निवहसम्पृक्तं सरजस्कं मलिनं भूयो यथा भवति, तथाऽयमप्यात्मा॥
—सूत्र० शी० वृत्ति ४५

७२. बुद्धिमान् साधक इन (पूर्वोक्त वादियों के कथन पर) चिन्तन करके (मन में यह) निश्चित कर ले कि (पूर्वोक्त जगत् कर्तृत्ववादी या अवतारवादी) ब्रह्म=आत्मा की चर्या (सेवा या आचरण) में स्थित नहीं है। वे सभी प्रावादुक अपने-अपने वाद की पृथक्-पृथक् वाद (मान्यता) की बढ़ा-चढ़ाकर प्रशंसा (बखान) करने वाले हैं।

७३. (विभिन्न मतवादियों ने) अपने-अपने (मत में प्ररूपित) अनुष्ठान से ही सिद्धि (समस्त सांसारिक प्रपञ्च रहित सिद्धि) होती है, अन्यथा (दूसरी तरह से) नहीं, ऐसा कहा है। मोक्ष प्राप्ति से पूर्व इसी जन्म एवं लोक में ही वशवर्ती (जितेन्द्रिय अथवा हमारे तीर्थ या मत के अधीन) हो जाए तो उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

७४. इस संसार में कई मतवादियों का कथन है कि (हमारे मतानुसार अनुष्ठान से) जो सिद्धि (रससिद्धि या अष्टसिद्धि प्राप्त) हुए हैं, वे नीरोग (रोग मुक्त) हो जाते हैं। परन्तु इस प्रकार की डींग हाँकने वाले) वे लोग (स्वमतानुसार प्राप्त) तथाकथित सिद्धि को ही आगे रखकर अपने-अपने आशय (दर्शन या मत) में ग्रथित (आसक्त/ग्रस्त-बँधे हुए) हैं।

७५. वे (तथाकथित लौकिक सिद्धिवादी) असंवृत-इन्द्रिय मन:संयम से रहित होने से (वास्तविक सिद्धि मुक्ति तो दूर रही) इस अनादि संसार में बार-बार परिभ्रमण करेंगे। वे कल्पकाल पर्यन्त—चिरकाल तक असुरों-भवनपतिदेवों तथा किल्विषिक(निम्नकोटि के) देवों के स्थानों में उत्पन्न होते हैं।

विवेचन—अन्यतीर्थिक मतवादी प्रावादुक और स्वमत प्रशंसक—७२वीं गाथा में शास्त्रकार ने पूर्वोक्त जगत्कर्तृत्ववादियों, अवतारवादियों को 'पृथक् प्रावादुक' कहकर उल्लिखित किया। प्रावादुक होने के दो कारण शास्त्रकार ने प्रस्तुत किए हैं—(१) कार्य-कारण विहीन तथा युक्ति रहित अपने ही मतवाद की प्रशंसा करते हैं, और (२) आत्म-भावों के विचार में स्थित नहीं हैं। इन्हीं दो कारणों को स्पष्ट करने के लिए शास्त्रकार ने अगली दो गाथाएँ (७३-७४वीं) प्रस्तुत की हैं।

इन भ्रान्त मान्यताओं के कारण राग-द्वेष-मुक्त एवं कर्म बीज रहित मुक्त जीवों का पुन: राग-द्वेष से प्रेरित होकर कर्मलिप्त बनना कार्य-कारण भाव के सिद्धान्त के विरुद्ध है। जब मुक्त जीवों के जन्म-मरणरूप संसार के कारण कर्म बीज ही जल गये हैं, तब वे कर्म के बिना कैसे राग-द्वेष से लिपटेंगे और संसार में अवतरित होंगे ?

देखा जाये तो इस भ्रान्त धारणा का कारण यह है कि वे अपने अवतारवाद के प्रवाह में इतने बह जाते हैं कि आत्मा की ऊर्ध्वगामिता के सिद्धान्त पर विचार करना भूल जाते हैं। जब एक आत्मा इतने उत्कर्ष पर पहुँच चुका है, जहाँ से उसका पुन: नीचे गिरना असम्भव है, क्योंकि आत्मा का स्वभाव कर्म लेप से रहित होने पर अग्नि की लौ की तरह उर्ध्वगमन करना है, नीचे गिरना नहीं। ऐसी स्थिति में पूर्ण सिद्ध-मुक्तात्मा क्यों वापस संसार में आगमन रूप पतन के गर्त में गिरेगा ? यही कारण है कि आचार्य सिद्धसेन को अवतारवादी अन्यतैर्थिकों की मोहवृत्ति को प्रकट करते हुए कहना पड़ा—

दग्धेन्धनः पुनरूपैति भवं प्रमथ्य, निर्वाणमप्यनवधारितभीरुनिष्ठम् ।
मुक्तः स्वयं कृतभवश्च परार्थशूरम्, त्वच्छासनप्रतिहतेस्विह मोहराज्यम् ॥[32]

हे वीतराग प्रभो ! आपके शासन (संघ) को ठुकराने वाले व्यक्तियों पर मोह का प्रवल साम्राज्य छाया हुआ है। वे कहते हैं—जिस आत्मा ने कर्म रूपी ईन्धन (कारण) को जला कर संसार (जन्म-मरण) का नाश कर दिया है, वह भी मोक्ष को छोड़कर पुनः संसार में अवतार लेता है। स्वयं मुक्त होते हुए भी शरीर धारण करके पुनः संसारी वनता है, केवल दूसरों को मुक्ति दिलाने में शूरवीर वनकर वह कार्यकारण सिद्धान्त का विचार किये विना ही लोकभीरु वनता है। यह है अपनी (शुद्ध) आत्मा का विचार किए विना ही दूसरों की आत्माओं का उद्धार या सुधार करने की मूढ़ता।

यह निश्चित सिद्धान्त है कि मुक्त जीवों को राग-द्वेष नहीं हो सकता। उनके लिए फिर स्व-शासन या परशासन का भेद ही कहाँ रह जाता है? जो सारे संसार को एकत्व दृष्टि से—आत्मौपम्य दृष्टि से देखता है, वहाँ अपनेपन-परायेपन या मोह का काम ही क्या? जिनकी अहंता-ममता (परिग्रह वृत्ति) सर्वथा नष्ट हो चुकी है, जो राग-द्वेप, कर्म-समूह आदि को सर्वथा नष्ट कर चुके हैं, जो समस्त पदार्थों का यथार्थ स्वरूप जानते हैं, निन्दा-स्तुति में सम हैं, ऐसे निष्पाप, शुद्ध आत्मा में राग-द्वेष होना कदापि सम्भव नहीं और राग-द्वेप के अभाव में कर्म-वन्धन कैसे हो सकता है? कर्म के सर्वथा अभाव में संसार में पुनरागमन (जन्म-मरण) हो ही नहीं सकता।[33]

दूसरा कारण है—उन परतीर्थिकों का अपने ही ब्रह्मैकत्व-विचार में स्थित न रहना। जव वे संसार की समस्त आत्माओं को सम मानते हैं, तव उनके लिए कौन अपना, कौन पराया रहा? फिर वे अपने-अपने भूतपूर्व शासन का उत्थान-पतन का विचार क्यों करेंगे? यह तो अपने ब्रह्मैकत्व विचार से हटना है।

इस प्रकार कार्य-कारण भाव न होते हुए भी सिद्धान्त एवं युक्ति से विरुद्ध होते हुए भी अपने-अपने मतवाद की प्रशंसा और शुद्ध आत्मभाव में अस्थिरता, ये दोनों प्रवल कारण अन्य मतवादियों की भ्रान्ति के सिद्ध होते हैं।

निष्कर्ष यह है कि जैन-दर्शन जैसे शिव (निरुपद्रव-मंगलकर), अचल (स्थिर), अरूप (अमूर्त), अनन्त (अनन्त ज्ञानादियुक्त) अक्षय, अव्यावाध, अपुनरावृत्ति (संसार में आवागमन रहित) रूप सिद्धि-गति को ही मुक्ति मानता है और ऐसे सिद्ध को समस्त कर्म, काया, मोह-माया से सर्वथा रहित—मुक्त मानता है, वैसे अन्यतीर्थी नहीं मानते। उनमें से प्रायः कई तो सिद्धि को पुनरागमन युक्त मानते हैं, तथा सिद्धि का अर्थ कई मतवादी मुक्ति या मोक्ष मानते हैं, लेकिन सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप से

---

३२. द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका (सिद्धसेनकृत)

३३. (क) "यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ? ॥९॥ —ईशोपनिषद्
(ख) तुल्यनिन्दास्तुतिमौनी सन्तुष्टो येन केन चित् ॥ —गीता अ० १३।१९

या ज्ञान-क्रिया दोनों से अथवा समस्त कर्म क्षय से मोक्ष या सिद्धि न मानकर स्वकल्पित एकान्त ज्ञान से, क्रिया से, सिद्धि मानते हैं, या योगविद्या से अणिमादि अष्ट सिद्धि प्राप्ति या रससिद्धि (पारद या स्वर्ण की रसायन सिद्धि) को अथवा स्वकीयमतानुवर्ती होने या जितेन्द्रिय होने मात्र से यहाँ सर्वकामसिद्धि मानते हैं। ऐसे लौकिक सिद्धों (अष्टसिद्धि प्राप्त या स्वकीय मत के तत्त्वज्ञान में निपुण) की पहचान नीरोग होने मात्र से हो जाती है, ऐसा वे कहते हैं।[३४] इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**सिद्धिमेव ······गढिया नरा ?** अर्थात्—वे सिद्धिवादी अपनी पूर्वोक्त युक्तिविरुद्ध स्वकल्पित सिद्धि को ही सामने (केन्द्र में) रखकर चलते हैं, उसी की प्रशंसा करते हैं, उसी से ही इहलौकिक-पारलौकिक सिद्धि को सिद्ध करने के लिए युक्तियों की खींचतान करते हैं, इस प्रकार वे अपने-अपने आशय (मत या कल्पना) में आसक्त हैं।

आशय यह है कि वे इतने मिथ्याग्रही हैं कि दूसरे किसी वीतराग सर्व हितैषी महापुरुष की युक्तियुक्त वात को नहीं मानते।

अन्यमतवादियों के मताग्रह से मोक्ष वा संसार ?—७५वीं गाथा में पूर्वोक्त अन्य मतवादियों द्वारा स्व-स्वमतानुसार कल्पित लौकिक सिद्धि से मोक्ष का खण्डन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

"असंवुडा ········ आसुरकिब्बिसिया।" इसका आशय यह है, जो दार्शनिक सिर्फ ज्ञान से, या सिर्फ क्रियाकाण्ड से, अथवा अष्ट-भौतिक ऐश्वर्य प्राप्ति अथवा अन्य लौकिक एवं यौगिक उपलब्धियों से सिद्धि (मुक्ति) मानते हैं, उनके मतानुसार हिंसा आदि पाँच आस्रवों से, अथवा मिथ्यात्वादि पाँच कर्मवन्ध के कारणों से अथवा इन्द्रिय और मन में असंयम से अपने आपको रोकने (संवृत्त होने) की आवश्यकता नहीं मानी जाती, कहीं किसी मत में कुछ तपस्या या शारीरिक कष्ट सहन या इन्द्रिय-दमन का विधान है, तो वह भी किसी न किसी स्वर्गादि कामना या इहलौकिक (आरोग्य, दीर्घायु या अन्य किसी लाभ की) कामना से प्रेरित होकर अज्ञानपूर्वक किया जाता है, इसलिए वे सच्चे माने में संवृत नहीं हैं। इस कारण वास्तविक सिद्धि (मुक्ति) से वे कोसों दूर रहते, वल्कि अज्ञानवश अपने आपको ज्ञानी, मुक्तिदाता, तपस्वी और क्रियाकाण्डी मानकर भोले लोगों को मिथ्यात्वजाल में फँसाने के कारण तीन दुष्फल वताये हैं—

---

[३४] (क) सिद्धि (मुक्ति या मोक्ष) के सम्वन्ध में विभिन्न वाद—

(i) दीक्षात: एक मोक्ष:। —शैव

(ii) "पंचविंशति तत्त्वज्ञो····मुच्यते नात्र संशय:।" —सांख्य

(iii) नवानामात्मगुणानामुच्छेदो मोक्ष:। —वैशेषिक (प्रशस्तपाद भाष्य)

(iv) ऋते ज्ञानन्न मुक्ति:। —वेदान्त

(v) योगाभ्यास से अष्टसिद्धियां प्राप्त होती हैं। —योगदर्शन

"अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा।
प्राप्ति: प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धय:।" —अमरकोश

कहीं-कहीं गरिमा और प्राप्ति के बदले अप्रतिघातित्व और यत्रकामावसायित्व नाम की सिद्धियाँ हैं।

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २४० से २४३ तक तथा सूत्र० शी० वृत्ति पत्र ४६ के आधार पर।

(१) अनादि संसार में बार-बार परिभ्रमण, (२) दीर्घ (कल्प) काल पर्यन्त भवनपति देव (असुर) में, (३) अल्पऋद्धि, अल्प आयु और अल्पशक्ति से युक्त अधम किल्विषिक देव के रूप में उत्पत्ति।[३५]

कठिन शब्दों की व्याख्या—एयाणुवीति मेधावी—पूर्वोक्त कुवादियों के युक्ति विरुद्ध मतों पर गहराई से विचार करके मेधावी निश्चय करे कि इनके वाद सिद्धि-मुक्ति (निर्वाण या मोक्ष) के लिए नहीं है, **बंभचेरे ण ते वसे**—ब्रह्मचर्य (शुद्ध-आत्म-विचार) में वे स्थित नहीं हैं, अथवा वे संयम में स्थित नहीं हैं। **पावाउया**—प्रावादुक—वाचाल या मतवादी। **अक्खायारो**—अनुरागवश अच्छा बतलाने वाले। **सए-सए-उवट्ठाणे**—अपने-अपने (मतीय) अनुष्ठानों से। **अन्नहा**—अन्यथा—दूसरे प्रकार से। **अहो विहोति वसवत्ती**—समस्त द्वन्द्वों (प्रपंचों) से निवृत्ति रूप सिद्धि की प्राप्ति से पूर्व भी इन्द्रियों को वशीभूत करने वालों को इसी जन्म में, हमारे दर्शन में प्रतिपादित अनुष्ठान के प्रभाव से अष्टविध ऐश्वर्य रूप सिद्धि प्राप्त हो जाती है। चूर्णिकार के अनुसार पाठान्तर हैं—**अधोधि होति वसवत्ती**…… ….**एवं अहो इहेव वसवत्ती**….। प्रथम, पाठान्तर की व्याख्या की गई है, दूसरे दर्शनों में तो उनके स्वकीय ग्रन्थोक्त चारित्र धर्म विशेष से व्यक्ति को इसी जन्म में, या इसी लोक में अष्टगुण रूप ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है। दूसरे पाठान्तर की व्याख्या है—अधोधि—यानि अवधिज्ञान से सिद्धि होती है, किसको ? जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं, न कि उसे जो इन्द्रियों के वश में है।[३६] **सव्वकाम समप्पिए**—समस्त कामनाएं उनके चरणों में समर्पित हो जाती हैं—अर्थात्—वह सभी कामनाओं से पूर्ण हो जाता है। **सिद्धिमेव पुराकाउं**—सिद्धि को ही आगे रखकर। **सासए गढिया णरा**—वृत्तिकार के अनुसार—वे लोग स्वाशय, अपने-अपने आशय—दर्शन या मान्यता में ग्रथित—बँधे हुए हैं। चूर्णिकार ने **'आसएहिं गढिया णरा'** पाठान्तर मानकर व्याख्या की है—हिंसादि आश्रवों में वे लोग गृद्ध-मूर्च्छित हैं।[३७]

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

---

[३५] (क) 'कल्पकालं प्रभूतकालमुत्पद्यन्ते सम्भवन्ति आसुरा असुरस्थानोत्पन्नाः नागकुमारादयः तत्रापि न प्रधानाः, किंतर्हि ? किल्विषिकाः अधमाः।
(ख) कप्पकालुववज्जंति ठाणा आसुरकिब्बिसा—कल्पपरिमाणः कालः कप्प एव वा कालः तिष्ठन्ति तस्मिन् इति स्थानम्। आसुरेपूत्पद्यन्ते किल्विषिकेपु च।

—सूत्र कृ० चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० १३

[३६] (क) 'अन्येपां तु स्वाख्यातचरणधर्मविशेषाद् इहैव अष्टगुणैश्वर्यप्राप्तो भवति। तद्यथा—अणिमानं लघिमानमित्यादि अहवा 'अधोधि होति वसवत्ती' अधोधि नाम—अवधिज्ञानं वशवर्ती नाम वशे तस्येन्द्रियाणि वर्तन्ते, नाऽसाविन्द्रियावशकः।
—सूत्र कृ० चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० १३
(ख) सिद्धिप्राप्तेरधस्तात् प्रागपि यावदद्यापि सिद्धिप्राप्तिर्न भवति, तावदिहैव जन्मन्यस्मदीयदर्शनोक्तानुष्ठानुभावादष्टगुणैश्वर्यसद्भावो भवतीति दर्शयति आत्मवशवर्त्तितु. शीलमस्येति वशवर्ती वशेन्द्रिय इत्युक्तं भवति।
—सूत्र कृ० शीलांक वृत्ति पत्र ४६

[३७] हिंसादिपु आश्रवेपु गढिता नाम मूर्च्छिताः। —सूत्रकृतांग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृष्ठ १३
"स्वकीये आशये स्वदर्शनाभ्युपगमे ग्रथिताः सम्वद्धाः।"
—सूत्र शी० वृत्ति पत्र ४६

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

मुनि धर्मोपदेश

७६. एते जिता भो ! न सरणं, बाला पंडितमाणिणो ।
हेच्चा णं पुव्वसंजोगं, सिया किच्चोवदेसगा ।।१।।

७७. तं च भिक्खू परिण्णाय, विज्जं तेसु ण मुच्छए ।
अणुक्कसे अप्पलोणे, मज्झेण मुणि जावए ।।२।।

७८. सपरिग्गहा य सारंभा, इहमेगेसि आहियं ।
अपरिग्गहे अणारंभे, भिक्खू ताणं परिव्वए ।।३।।

७९. कडेसु घासमेसेज्जा, विऊ दत्तेसणं चरे ।
अगिद्धो विप्पमुक्को य, ओमाणं परिवज्जए ।।४।।

७६. हे शिष्यो ! ये (पूर्वोक्त अन्यतीर्थी) साधु [काम, क्रोध आदि से अथवा परीषह-उपसर्ग रूप शत्रुओं से] पराजित (जीते जा चुके) हैं, (इसलिए) ये शरण लेने योग्य नहीं हैं अथवा स्वशिष्यों को शरण देने में समर्थ नहीं हैं। वे अज्ञानी हैं, (तथापि) अपने आपको पण्डित मानते हैं। पूर्व संयोग (बन्धु-बान्धव, धन-सम्पत्ति आदि) को छोड़कर भी (दूसरे आरम्भ-परिग्रह में) आसक्त हैं, तथा गृहस्थ को सावद्य कृत्यों का उपदेश देते हैं।

७७. विद्वान् भिक्षु उन (आरम्भ-परिग्रह में आसक्त साधुओं) को भली-भांति जानकर उनमें मूर्च्छा (आसक्ति) न करे; अपितु (वस्तुस्वभाव का मनन करने वाला) मुनि किसी प्रकार का मद न करता हुआ उन अन्यतीर्थिकों, गृहस्थों एवं शिथिलाचारियों के साथ संसर्गरहित होकर, मध्यस्वभाव से संयमी जीवन-यापन करे; या मध्यवृत्ति से निर्वाह करे।

७८. मोक्ष के सम्बन्ध में कई (अन्यतीर्थी) मतवादियों का कथन है कि परिग्रहधारी और आरम्भ (आलम्भन हिंसाजनक प्रवृत्ति) से जीने वाले जीव भी मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु निर्ग्रन्थ भावभिक्षु अपरिग्रही और अनारम्भी (आरम्भरहित महात्माओं) की शरण में जाए।

७९. सम्यग्ज्ञानी विद्वान् भिक्षु (गृहस्थ द्वारा अपने लिए) किये हुए (चतुर्विध) आहारों में से (कल्पनीय) ग्रास—यथोचित आहार की गवेषणा करे, तथा वह दिये हुए आहार को (विधिपूर्वक) लेने की इच्छा (ग्रहणैषणा) करे। (भिक्षा प्राप्त आहार में वह) गृद्धि (आसक्ति) रहित एवं (राग-द्वेष से) विप्रमुक्त (रहित) होकर (सेवन करे), तथा (किसी के द्वारा कुछ कह देने पर) मुनि उसका अपमान न करे, (दूसरे के द्वारा किये गये) अपने अपमान को मन से त्याग (निकाल) दे।

विवेचन—निर्ग्रन्थ को संयम धर्म का उपदेश—प्रस्तुत चतु:सूत्री में निर्ग्रन्थ भिक्षु को संयमधर्म का अथवा स्वकर्तव्य का वोध दिया गया है। भिक्षुधर्म की चतु:सूत्री इस प्रकार है—

(१) पूर्व सम्वन्ध त्यागी अन्ययूथिक साधु सावद्य-कृत्योपदेशक होने से शरण ग्रहण करने योग्य नहीं हैं,

(२) विद्वान् मुनि उन्हें भलीभाँति जानकर उनसे आसक्तिजनक संसर्ग न रखे, मध्यस्थभाव से रहे,

(३) परिग्रह एवं आरम्भ से मोक्ष मानने वाले प्रव्रज्याधारियों का संग छोड़कर निष्परिग्रही, निरारम्भी महात्माओं की शरण में जाये, और

(४) आहार सम्बन्धी ग्रासैषणा, ग्रहणैषणा परिभोगैषणा आसक्तिरहित एवं राग-द्वेषयुक्त होकर करे। इस चतु:सूत्री में स्व-पर-समय (स्वधर्माचार एवं परधर्माचार) का विवेक वताया गया है।

प्रथम कर्तव्यबोध : ये साधु शरण योग्य नहीं—भिक्षुधर्म के प्रथम सूत्र (गाथा ७६) में 'भो' शब्द से शास्त्रकार ने निर्ग्रन्थ शिष्यों का ध्यान केन्द्रित किया है कि ऐसे तथाकथित साधुओं की शरण में न जाओ, अथवा वे शरण (आत्मरक्षण) देने में असमर्थ—अयोग्य हैं। वे शरण के अयोग्य क्यों हैं? इसके लिए उन्होंने ५ कारण वतलाये हैं—

(१) ये वाल-मुक्ति के वास्तविक मार्ग से अनभिज्ञ हैं,

(२) फिर भी अपने आपको पण्डित तत्त्वज्ञ मानते हैं,

(३) साधु जीवन में आने वाले परीषहों एवं उपसर्गों से पराजित हैं, अथवा काम, क्रोधादि रिपुओं द्वारा विजित हारे हुए हैं,

(४) वे वन्धु-वान्धव, धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद तथा गृहस्थ प्रपञ्चरूप पूर्व (परिग्रह) सम्वन्ध को छोड़कर भी पुन: दूसरे प्रकार के परिग्रह में आसक्त हैं, और

(५) गृहस्थ को सावद्य (आरम्भ-समारम्भयुक्त) कृत्यों का उपदेश देते हैं।

बाला पंडितमाणिणो—इस अध्ययन की प्रथम सूत्र गाथा में वोधि प्राप्त करने और वन्धन तोड़ने कहा गया था, परन्तु वन्धन तोड़ने के लिए उद्यत साधकों को बन्धन-अबन्धन का वोध न हो, वन्धन समझ कर गृह-त्याग कर देने के पश्चात् भी जो पुन: गृहस्थ सम्बन्धी या गृहस्थवत् आरम्भ एवं परिग्रह में प्रवृत्त हो जायें, जिन्हें अपने संन्यास धर्म का जरा भी भान न रहे, वे लोग वालक के समान विवेक न होने से जो कुछ मन में आया कह या कर डालते हैं, इसी तरह ये तथाकथित गृहत्यागी भी कह या कर डालते हैं, इसीलिए शास्त्रकार ने इन्हें **'बाला'** कहा है, पूर्वोक्त कारणों से ये अज्ञानी होते हुए भी अपने आपको महान् तत्त्वज्ञानी समझते हैं, रटा-रटाया शास्त्रज्ञान वघारते हैं। इस कारण शास्त्रकार ने इन्हें **'पण्डितमानी'** कहा है।

यहाँ वृत्तिकार एक पाठान्तर सूचित करते हैं कि **'बाला पंडितमाणिणो'** के बदले कहीं **'जत्थ**

बालेऽवसीयइ' पाठ है, जिसका अर्थ होता है—"जिस अज्ञान में पड़कर अज्ञजीव दु:खित होते हैं, उसी अज्ञान में ये अन्यतीर्थी बाल (अज्ञ) पड़कर दु:खित होते हैं।"[1]

एते जिता—'एते' शब्द से वृत्तिकार पंचभूतवादी, एकात्मवादी, तज्जीव-तच्छरीरवादी, कृतवादी, अवतारवादी, सिद्धिवादी आदि पूर्वोक्त सभी मतवादियों का ग्रहण कर लेते हैं, क्योंकि तथाकथित मतवादी गृहत्यागियों में ये सब कारण पाये जाते हैं, जो उन्हें शरण के अयोग्य सिद्ध करते हैं। जिन्हें आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप, शुभ-अशुभ कर्मों का ही यथार्थ बोध नहीं है, जो बन्ध और मोक्ष के तत्त्व से अनभिज्ञ हैं, अथवा जो देव, ब्रह्मा, ईश्वर, अवतार आदि किसी न किसी शक्ति के हाथों में अपने बन्ध-मोक्ष या डूबने-तरने का भार सौंपकर निश्चिन्त हो जाते हैं, वे भला हिंसादि पापों या आरम्भपरिग्रह से बचने की चिन्ता क्यों करेंगे? वे तो बेखटके परिग्रह में आसक्त होंगे और नाना आरम्भजनक प्रवृत्ति करेंगे। प्रव्रजित जीवन में आने वाले कष्टों या उपसर्गों को भी क्यों सहन करेंगे? तथा काम, क्रोध आदि को भी घटाने या मिटाने का पुरुषार्थ क्यों करेंगे? इसीलिए शास्त्रकार ठीक कहते हैं—'**एते जिता**'—अर्थात् ये परीषहों, उपसर्गों तथा कामादि शत्रुओं से हारे हुए हैं, उनका सामना नहीं कर सकते।[2]

हेच्चा णं ···सिया किच्चोवदेसगा—इसका भावार्थ यह है कि जिस घर बार, कुटुम्ब-कबीला, जमीन-जायदाद, धन-धान्य, आरम्भ-समारम्भ (गार्हस्थ्य-प्रपञ्च) आदि को पहले त्याज्य समझकर छोड़ा था, प्रव्रजित होकर मोक्ष के लिए उद्यत हुए ये, उन्हीं गृहस्थ सम्बन्ध परिग्रहों को शिष्य-शिष्या, भक्त-भक्ता, आश्रम, जमीन-जायदाद, धान्य-संग्रह, भेंट-दान आदि के रूप में सम्पत्ति ग्रहण तथा आये दिन बड़े भोजन समारोह के लिए आरम्भ-समारम्भ आदि के रूप में पुन: स्वीकार कर लिया, साथ ही गृहस्थों को उन्हीं सावद्य (आरम्भ-समारम्भ युक्त) कृत्यों का उपदेश देने लगे। अत: वे प्रव्रजित होते हुए भी गृहस्थों से भिन्न नहीं, अपितु उन्हीं के समान परिग्रहधारी एवं समस्त सावद्य प्रवृत्तियों के अनुमोदक, प्रेरक एवं प्रवर्तक बन बैठे।

इन सब कारणों से वे शरण-योग्य नहीं है, क्योंकि जब वे स्वयं आत्मरक्षा नहीं कर सकते तो

---

[1] (क) सूत्रकृतांक शीलांक वृ० पत्रांक ४६-४७ के आधार पर
(ख) देखिये—सुत्तपिटक दीघनिकाय (पालि भा० १) सामञ्ञफल सुत्त पृ० ४१-५३ में पूरण काश्यप का मत—"पूरणो कस्सपो मं एतदवोच—करोतो खो, महाराज, कारयतो छिन्दते छेदापयतो····न करीयति पापं····नत्थि ततो निदानं पापं, नत्थि पापस्स आगमो। दानेन, दमेन, सच्चवज्जे नत्थि पुञ्ञं, नत्थि पुञ्ञस्स आगमो ति ···

[2] (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २४७-२४८ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ४७-४८ के आधार पर
(ग) पंचशूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्कर: । —मनुस्मृति
कुण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यन्ते यास्तु वांहयन् ॥
गृहस्थ के घर में पांच कसाईखाने (हिंसा के उत्पत्तिस्थान) होते हैं, जिन्हें निभाता हुआ वह हिंसा (आरम्भजन्य) में प्रवृत्त होता है। वे पांच ये हैं—चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ऊखली और पानी का स्थान (परिंडा)।

शरणागत अनुयायी (शिष्य) की आत्मरक्षा कैसे करेंगे ? इसीलिए शास्त्रकार ने कहा—**'न सरणं'** । कहीं-कहीं **'णोऽसरणं'** पाठ भी है, उसका भी अर्थ यही है।

सरलात्मा निर्ग्रन्थ साधुओं को सावधान करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि ऐसे तथाकथित प्रव्रजितों के आडम्बर एवं वाक्छटा से प्रभावित होकर उनके चक्कर में साधु न आयें।[3]

अणुक्कसे—आठ प्रकार के मदों में से कोई भी मद न करे।

तीन सावधानियां—पूर्वोक्त अन्यतीर्थिक साधु के मिल जाने पर उसे भली-भाँति जान-परख लेने के बाद यदि विज्ञ साधु को ऐसा प्रतीत हो कि तथाकथित अन्यतीर्थी साधु मूढ़ मान्यताओं का है, मिथ्याभिमानी है, हठाग्रही है, उसके मन में रोष एवं द्वेष है, उसका अचार-विचार अतीव निकृष्ट है, न उसमें जिज्ञासा है, न सरलता, तब क्या करे ? उसके साथ कैसे बरते, कैसे निपटे ? इसके लिए शास्त्रकार ने तीन सावधानियाँ, तीन विवेक सूत्रों-के रूप में प्रस्तुत की हैं—

(१) **विज्जं तेसु ण मुच्छए,**
(२) **अप्पलीणे,**
(३) **मज्जेण मुणि जावए**

इनका आशय यह है कि विज्ञ साधु उक्त साधु के प्रति किसी प्रकार की ममता-मूर्च्छा न रखे, उसके साथ अन्तर् से लिप्त-संसक्त, संसर्गयुक्त न हो।

तृतीय कर्तव्यबोध : निरारम्भी निष्परिग्रहियों की शरण में जाये—सूत्रगाथा ७८ में शास्त्रकार ने आरम्भ-परिग्रह में आसक्त पुरुष भी मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, इस सस्ते मोक्षवाद के प्रवर्तकों या मतवादियों से सावधान रहने तथा निरारम्भी निष्परिग्रही महान् आत्माओं की शरण में जाने का निर्देश दिया है।

प्रश्न होता है—७६वीं सूत्रगाथा में भी शरण के अयोग्य व्यक्तियों की पहचान बतायी गयी थी, उससे यह स्पष्ट प्रतिफलित होता था कि जो साधक आरम्भ-परिग्रह से मुक्त हैं, उन्हीं की शरण लेनी चाहिए, फिर यहाँ पुनः उस बात को शास्त्रकार ने क्यों दुहराया ? इसका समाधान यह है कि "शास्त्रकार यहाँ एक विचित्र मोक्षवादी मत का रहस्योद्घाटन करते हुए उक्त मतवादी साधकों की शरण कतई न स्वीकारने का स्पष्ट रूप से निर्देश कर रहे हैं कि निरारम्भी और निष्परिग्रही निर्ग्रन्थ की शरण में जाओ।" यद्यपि शास्त्रकार ने **'सपरिग्गहा या सारम्भा'** इन दो शब्दों का प्रयोग किया है, परन्तु वृत्तिकार आशय स्पष्ट करते हुए कहते हैं—सपरिग्रह और सारम्भ प्रव्रजित भी मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। मोक्ष के विषय में ऐसा कतिपय मतवादियों का कथन है। जो धन-धान्य, द्विपद-चतुष्पद, मकान, जमीन-जायदाद, शारीरिक सुखोपभोग सामग्री तथा स्त्री-पुत्र आदि पर स्व-स्वामित्व एवं ममत्व रखते हैं, वे **'सपरिग्रहः'** कहलाते हैं। जो षट्कायिक जीवों का उपमर्दन करने वाली प्रवृत्तियाँ करते हैं,

---

[3] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ४८-४९ के आधार पर

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० २५२ से २५५ तक

अथवा जो स्वयं आरम्भ-समारम्भ न करते हुए भी आरम्भानुमोदक-औद्देशिक आहार करते हैं, वे **सारम्भ** कहलाते हैं। फिर वे प्रव्रजित हों, किसी भी वेश में हों या अप्रव्रजित, आरम्भ-परिग्रह से युक्त हों तो भी वे मोक्षमार्ग के साधक हैं। इन दो कारणों से ये तथाकथित मोक्षवादी शरण ग्रहण करने योग्य नहीं हैं।

ऐसी सुविधाजनक, आसान, सस्ती आरम्भ-परिग्रहवादियों की मोक्ष-कल्पना के चक्कर में आकर-कोई मुमुक्षु साधक फँस न जाये, इसीलिए शास्त्रकार को स्पष्ट कहना पड़ा—जो आरम्भ-परिग्रह से सर्वथा रहित, भिक्षाजीवी निर्ग्रन्थ साधक हैं, जो संयम-पालन के लिए—जीवन टिकाने हेतु नियम-प्राप्त भोजन, वस्त्र आदि लेते हैं, धर्मोपकरण, पुस्तक आदि सामग्री के सिवाय वे अपने स्वामित्व या ममत्व से युक्त कोई भी धन-धान्यादि नहीं रखते, न ही पचन-पचनादि आरम्भ करते हैं, अहिंसादि महाव्रतों में लीन समताधारी उन निर्ग्रन्थों की शरण में जाना चाहिए। यही शास्त्रकार का आशय है।[४]

चतुर्थ कर्तव्यबोध : आसक्ति से मुक्त एवं त्रिविध एषणा से युक्त आहार करे—सूत्रगाथा ७९ में आरम्भ एवं परिग्रहों से मुक्त होने के लिए राग-द्वेष, आसक्ति आदि से मुक्त होकर त्रिविध एषणाओं से युक्त आहार-ग्रहण एवं उपभोग करने का विधान है। साधु-जीवन में मुख्यतया तीन आवश्यकताएँ होती हैं—भोजन, वस्त्र और आवास। तीनों में मुख्य समस्या भोजन की है, क्योंकि अहिंसा महाव्रती साधु न स्वयं भोजन पकाता है, न पकवाता है और न ही भोजन बनाने का अनुमोदन करता है क्योंकि इस कार्य से हिंसा होती है। हिंसाजनक कार्य को ही आरम्भ कहा जाता है। अतः साधु को आहार सम्बन्धी उक्त आरम्भ से बचना आवश्यक है। तब फिर प्रश्न हुआ कि आहार कैसे, किससे और कहाँ से ले, जिससे आरंभदोष से बच सके? इसी समस्या का समाधान शास्त्रकार ने चार विवेक-सूत्रों में दिया है—

(१) **कडेसु घासमेसेज्जा,**
(२) **विऊ दत्तेसणं चरे,**
(३) **अगिद्धो विप्पमुक्को य,**
(४) **ओमाणं परिवज्जए।**

इन्हें शास्त्रीय परिभाषा में आहार-सम्बन्धी तीन एषणाएँ कह सकते हैं—(१) गवेषणा, (२) ग्रहणैषणा, (३) ग्रासैषणा या परिभोगैषणा। इन्हीं तीनों के कुल मिलाकर ४७ दोष होते हैं, वे इस प्रकार वर्गीकृत किये जा सकते हैं—गवेषणा के ३२ दोष (१६ उद्गम के एवं १६ उत्पाद के), ग्रहणैषणा के १० एवं परिभोगैषणा के ५ दोष।

१६ उद्गम दोष ये हैं, जो मुख्यतया गृहस्थ से आहार बनाते समय लगते हैं—

(१) आधाकर्म,
(२) औद्देशिक,
(३) पूतिकर्म,
(४) मिश्रजात,
(५) स्थापना,
(६) प्राभृतिका,
(७) प्रादुष्करण,
(८) क्रीत,
(९) प्रामित्य,
(१०) परिवर्तित,
(११) अभिहृत,
(१२) उद्भिन्न,
(१३) मालाहृत,
(१४) आच्छेद्य,
(१५) अनिःसृष्ट (१६) अध्यवपूरक दोष।

---

[४] (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक ४९
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २५६ से २६१ तक

१६ प्रकार के उत्पाद दोष ये हैं, जो साधु की असावधानी एवं रसलोलुपता से उसके स्वयं के निमित्त से लगते हैं—

(१) धात्री दोष,
(२) दूति दोष या दौत्य दोष,
(३) निमित्त दोष,
(४) आजीव दोष,
(५) वनीमक दोष,
(६) चिकित्सा दोष,
(७) क्रोध दोष,
(८) मान दोष,
(९) माया दोष,
(१०) लोभ दोष,
(११) पूर्व-पश्चात् संस्तव दोष,
(१२) विद्या दोष,
(१३) मन्त्र दोष,
(१४) चूर्ण दोष,
(१५) योग दोष
(१६) मूलकर्म दोष ।

ये दोनों प्रकार के दोष आहार की गवेषणा करते समय साधु की असावधानी से लगते हैं । आहार लेते समय पूछताछ, खोज-बीन करके लेना गवेषणा है, यहां **'कडेसु घासमेसेज्जा'** कहकर गृहस्थ द्वारा अपने लिए कृत चतुर्विध आहारों में से ग्राह्य आहार की एषणा करनी आवश्यक बतायी है ।[5]

इसके पश्चात् **'दत्तेसेणं चरे'** इस वाक्य से शास्त्रकार ने ग्रहणैषणा के १० दोषों से बचने का संकेत किया है । वे इस प्रकार हैं—

(१) शंकित,
(२) म्रक्षित,
(३) निक्षिप्त,
(४) पिहित,
(५) संहृत,
(६) दायक दोष,
(७) उन्मिश्र दोष
(८) अपरिणत दोष,
(९) लिप्त दोष
(१०) छर्दित दोष ।

इसके अनन्तर तीन विवेक-सूत्र परिभोगैषणा या ग्रासैषणा के ५ दोषों के सम्बन्ध में बताये हैं—

(१) अगिद्धो, (२) विप्पमुक्को, (३) ओमाणं परिवज्जए ।

---

५. आहार ग्रहण-सेवन आदि के ४७ दोष इस प्रकार हैं—

१६ उद्गम दोष—

आहाकम्मुद्देसिय पूइकम्मे य मीसजाए य ।
ठवणा पाहुडियाए पाओअरकीयपामिच्चे ॥१॥
परियट्टिए अभिहडे उब्भिन्ने मालोहडे इय ।
आच्छिज्जे अणिसिट्ठे अज्भोवरए य सोलसमे ॥२॥

१६ उत्पाद दोष—

धाई दुई निमित्ते आजीव-वणीमगे तिगिच्छाय ।
कोहे माणे माया लोभे य हवंति दस एए ॥१॥
पुव्विपच्छासंत्थवविज्जामंते य चुण्णजोगे य ।
उप्पायणाइदोसा सोलसमे मूलकम्मे ॥२॥

१० एषणा (ग्रहणैषणा) दोष—

संकिय-मक्खिय-निक्खित्त-पिहिय-साहरिय-दायगुम्मीसे ।
अपरिणय-लित्ति-छड्डिय एषणदोसा दस हवंति ॥१॥

५ परिभोगैषणा दोष—

(१) इंगाले, (२) धूमे, (३) संजोयणा; (४) पमाणे, (५) कारणे चेव । पंच एए हवंति घासेसण-दोसा ॥

नोट—इनका समस्त वर्णन दशवैकालिक, पिण्डनिर्युक्ति, आचारांग आदि से जान लेना चाहिए । —सम्पादक

गृद्धि, राग-द्वेपलिप्तता एवं अपमान या अवमान—ये तीनों दोष हैं।
परिभोगैषणा के ५ दोष इस प्रकार हैं—
१. अंगार दोष, २. धूम दोष, ३. संयोजना दोष, ४. प्रमाण दोष
५. कारण दोप।

ओमाणं परिवज्जए—वृत्तिकार ने इसकी व्याख्या यों की है—भिक्षा के समय साधु गृहस्थ के यहाँ जाये, उस समय यदि कोई उसे झिड़क दे, अपमानित कर दे या अपशब्द या मर्मस्पर्शी शब्द कह दे तो भी साधु उस अपमान को दिल-दिमाग से निकाल दे, या गृहस्थ कोई सरस चीज न दे, बहुत ही कम दे या तुच्छ रूखा-सूखा आहार देने लगे, तव उस पर झुंझलाकर उसका अपमान न करे। ज्ञान और तप के मद का परित्याग करे। ये चारों आहार विवेक-सूत्र साधु को आरम्भ-मुक्त होने के लिए बताये हैं।

कठिन शब्दों की व्याख्या—जिता—जो परीषह-उपसर्ग तथा काम-क्रोधादि ६ शत्रुओं से पराजित हैं। **हेच्चा**—छोड़कर। **विज्जं**—विद्वान्। **अणुक्कसे**—वृत्तिकार के अनुसार—अनुत्कर्षवान् अर्थात्—आठ प्रकार के मदस्थानों में से किसी भी प्रकार का मद न करता हुआ। चूर्णिकार ने **'अणुक्कसो'** और **'अणुक्कसायो'**, ये दो पाठान्तर माने हैं। इनके अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं—अनुत्कर्ष का अर्थ है, जो जाति आदि मदस्थानों द्वारा उत्कर्ष (गर्व) को प्राप्त नहीं होता और अनुत्कपाय का अर्थ है—जो तनुकषाय हो, जिसका कषाय मन्द हो। **अप्पलीणे**—वृत्तिकार के अनुसार—अप्रलीन का अर्थ है—असम्वद्ध—अन्यतीर्थी, गृहस्थ या पार्श्वस्थ आदि के साथ संसर्ग न रखता हुआ। चूर्णिकार के अनुसार—**अप्पलीणे** का अर्थ—अपलीन हो, अर्थात् अपने आप का उन अन्यतीर्थिकों आदि से ग्रहण—सम्पर्क न होने दे। **'मज्झेण मुणि जावए'**—मध्यस्थभाव से मुनि जीवन-यापन करे अर्थात् न तो उन पर राग करे, न ही द्वेष, अथवा मुनि उनकी निन्दा-प्रशंसा से बचता हुआ व्यवहार करे। **ताणं परिव्वए**—शरण प्राप्त करे। चूर्णिकार ने **'जाणं परिव्वए'** पाठ मानकर अर्थ किया है—ज्ञान भिक्षु (अनारम्भी-अपरिग्रही की सेवा में) पहुँचे। **विउ**—विज्ञ। **कडेसु**—दूसरों द्वारा कृत—वनाये हुए में से। **घासमेसेज्जा**—कल्पनीय ग्राह्य ग्रास—आहार की एषणा—गवेषणा करे। **विप्पमुक्को**—राग-द्वेष से मुक्त होकर। **ओमाणं**—अपमान या अष्टविध मद।[६]

लोकवाद-समीक्षा

८०. लोगावायं निसामेज्जा, इहमेगेसि आहितं।
विवरीतपण्णसंभूतं, अण्णण्णवुतिताणुयं ॥ ५ ॥

८१. अणंते णितिए लोए, सासते ण विणस्सति।
अंतवं णितिए लोए, इति धीरोऽतिपासति ॥ ६ ॥

---

[६] (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक ४८-४९
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखवोधिनी व्याख्या, पृ० २४७ से २६१ तक
(ग) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० १३-१४

८२. अपरिमाणं विजाणाति, इहमेगेसि आहितं ।
सव्वत्थ सपरिमाणं, इति धीरोऽतिपासति ।। ७ ।।

८३. जे केइ तसा पाणा, चिट्ठंति अदु थावरा ।
परियाए अत्थि से अंजू, तेण ते तस-थावरा ।। ८ ।।

८०. इस लोक में किन्हीं लोगों का कथन है कि लोकवाद—पौराणिक कथा या प्राचीन लौकिक लोगों द्वारा कही हुई बातें सुनना चाहिए, (किन्तु वस्तुतः पौराणिकों का वाद) विपरीत बुद्धि की उपज है—तत्त्वविरुद्ध प्रज्ञा द्वारा रचित है, परस्पर एक दूसरों द्वारा कही हुई मिथ्या बातों (गप्पों) का ही अनुगामी यह लोकवाद है ।

८१. यह लोक (पृथ्वी आदि लोक) अनन्त (सीमारहित) है, नित्य है और शाश्वत है, यह कभी नष्ट नहीं होता; (यह किसी का कथन है ।) तथा यह लोक अन्तवान्, ससीम और नित्य है । इस प्रकार व्यास आदि धीर पुरुष देखते अर्थात् कहते हैं ।

८२. इस लोक में किन्हीं का यह कथन है कि कोई पुरुष सीमातीत पदार्थ को जानता है, किन्तु सर्व को जानने वाला नहीं । समस्त देश-काल की अपेक्षा वह धीर पुरुष सपरिमाण—परिमाण सहित—एक सीमा तक जानता है ।

८३. जो कोई त्रस अथवा स्थावर प्राणी इस लोक में स्थित हैं, उनका अवश्य ही पर्याय (परिवर्तन) होता है, जिससे वे त्रस से स्थावर और स्थावर से त्रस होते हैं ।

विवेचन—लोकवाद : एक समीक्षा—प्रस्तुत चतुःसूत्री में लोकवाद-सम्बन्धी मीमांसा है । प्रस्तुत चतुःसूत्री को देखते हुए लोकवाद के प्रस्तुत समय-अध्ययन की दृष्टि से चार अर्थ फलित होते हैं—(१) लोकों—पौराणिक लोगों का वाद-कथा या मत प्रतिपादन, (२) लोकों—पाषण्डियों द्वारा प्राणियों के जन्म-मरण (इहलोक-परलोक) के सम्बन्ध में कही हुई विसंगत बातें, (३) लोक की नित्यता-अनित्यता, अनन्तता-सान्तता आदि के सम्बन्ध में विभिन्न पौराणिकों के मत, और (४) प्राचीन लोगों द्वारा प्रचलित परम्परागत अन्धविश्वास की बातें—लोकोक्तियाँ । वृत्तिकार ने इन चारों ही अर्थों को प्रस्तुत चारों सूत्रगाथाओं (८० से ८३ तक) की व्याख्या में ध्वनित कर दिया है । शास्त्रकार ने प्रस्तुत चतुःसूत्री की चारों गाथाओं में निम्नोक्त समीक्षा की है—(१) लोकवाद : कितना हेय-ज्ञेय या उपादेय है ? (२) कुछ कहते हैं—यह लोक अनन्त, नित्य, शाश्वत एवं अविनाशी है । दूसरे कहते हैं—लोक अन्तवान है, किन्तु नित्य है, (३) पौराणिकों आदि का अवतार लोकवादी है, जो अपरिमित ज्ञाता है तथा सपरिमाण ज्ञाता है, और (४) त्रस त्रस ही रहते हैं, स्थावर स्थावर ही, इस लोकवाद का खण्डन ।

बहुचर्चित लोकवाद क्यों और कब से ?—शास्त्रकार ने लोकवाद की चर्चा इसलिए छेड़ी है कि उस युग में पौराणिकों का बहुत जोर था । लोग उन पौराणिकों को सर्वज्ञ मानते और कहते थे; उनसे आगम-निगम की, लोक-परलोक की, मरणोत्तर लोक के रहस्य की या प्राणी की मरणोत्तर दशा की, अथवा प्रत्यक्ष दृश्यमान सृष्टि (लोक) की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की बहुत चर्चाएँ करते थे ।

उस युग में जो व्यक्ति बहुत वाचाल होता और तर्क-युक्तिपूर्वक लोकमानस में अपनी बात बिठा देता, उसे अन्धविश्वास पूर्वक अवतारी, सर्वज्ञ, ऋषि, पुराण-पुरुष आदि मान लिया जाता था। कई बार ऐसे लोग अपने अन्धविश्वासी लोगों में ब्राह्मण, कुत्ता, गाय आदि प्राणियों के सम्बन्ध में अपनी सर्वज्ञता प्रमाणित करने के लिए आश्चर्यजनक, विसंगत एवं विचित्र मान्यताएँ फैला देते थे।

भगवान् महावीर के युग में पूरण काश्यप, मक्खली गोशालक, अजितकेश कम्बल, पकुद्ध कात्यायन, गौतम बुद्ध एवं संजय वेलट्ठिपुत्त आदि कई तीर्थंकर माने जाने वाले व्यक्ति थे, जो सर्वज्ञ कहे जाते थे; उधर वैदिक पौराणिकों में व्यास, बादरायण, भारद्वाज, पाराशर, हारीत, मनु आदि भी थे, जिन्हें लोग उस युग के सर्वज्ञाता मानते थे। यही कारण है कि शास्त्रकार ने ८०वीं सूत्रगाथा में प्रस्तुत किया है—आम जनता में प्रचलित लोकवाद को सुनने का कुछ लोगों ने हमसे अनुरोध किया है, किन्तु हमने बहुत कुछ सुन रखा है, प्रचलित लोकवाद उन्हीं विपरीत बुद्धि वाले पौराणिकों की बुद्धि की उपज है, जिसमें उन्होंने कोई यथार्थ वस्तुस्वरूप का कथन नहीं किया है। जैसे उन लोकवादियों की मान्यता भी परस्पर-विरुद्ध है, वैसे यह लोकवाद भी उसी का अनुगामी है। निष्कर्ष यह है कि प्रस्तुत लोक ज्ञेय और हेय अवश्य हो सकता है, उपादेय नहीं।[७]

लोकवाद : परस्पर विरुद्ध क्यों और कैसे ?—प्रश्न होता है, जब प्रायः हर साधारण व्यक्ति इस लोकवाद को मानता है, तब आप (शास्त्रकार) उसे क्यों ठुकराते हैं? इसके उत्तर में ८१वीं सूत्रगाथा प्रस्तुत की गई है। कुछ वादियों के अनुसार पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति तथा एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जितने भी प्राणी हैं, वे सब मिलकर लोक कहलाता है। इस प्रकार के लोक का निरन्वय नाश नहीं होता। उनका आशय यह है कि जो जीव इस जन्म में जैसा है, परलोक में भी, यहाँ तक कि सदा काल के लिए वह वैसा ही उत्पन्न होता है। पुरुष पुरुष ही होता है, स्त्री स्त्री ही होती है। अन्वय (वंश या नस्ल) के रूप में कभी उसका नाश नहीं होता। इसलिए उन्होंने कह दिया—लोक अविनाशी है; फिर उन्होंने कहा—लोक नित्य है, उत्पत्ति-विनाश रहित, सदैव स्थित एवं एक सरीखे स्वभाव वाला रहता है। तथा यह लोक शाश्वत है—बार-बार उत्पन्न नहीं होता, सदैव विद्यमान रहता है। यद्यपि द्व्यणुक आदि कार्य-द्रव्यों (अवयवियों) की उत्पत्ति की दृष्टि से यह शाश्वत नहीं है, तथापि कारण-द्रव्य परमाणुरूप से इसकी कदापि उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए यह शाश्वत ही माना जाता है, क्योंकि उनके मतानुसार काल, दिशा, आकाश, आत्मा और परमाणु नित्य है। तथा यह लोक अनन्त है, अर्थात् इसकी कालकृत कोई अवधि नहीं है, यह तीनों कालों में विद्यमान है।

---

७. (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ. २६६-२६७
(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक ४९
(ग) देखिये दीघनिकाय में—अयं देव ! पूरणो कस्सपो संघी चेव गणी च गणायरियो च ञातो, यसस्सी, तित्थकरो, साधु सम्मतो बहुजनस्य रत्तञ्ञू, चिर पव्वजितो, अद्धगतो, वयो अनुप्पत्तो…मक्खलि गोसालो…अजितो केस कम्बलो …पकुधो कच्चायनो…सञ्जयो वेलट्ठपुत्तो…निगण्ठो…नायपुत्तो…भगवा अरहं सम्मा सम्बुद्धो विज्जाचरण-सम्पन्नो सुगतो लोकविदू, अनुत्तरो, पुरिस दम्म सारथिसत्थादेव मनुस्सानं, बुद्धो भगवा ति।
—सुत्त पिटके दीघनिकाय, पालि भा. १ में ४१-५३

कुछ पौराणिकों के मतानुसार यह लोक अन्तवान् है। जिसका अन्त अथवा सीमा हो, उसे अन्तवान् कहते हैं। लोक ससीम-परिमित है। क्योंकि पौराणिकों ने बताया है—**"यह पृथ्वी सप्तद्वीप पर्यन्त है, लोक तीन हैं, चार लोक संनिवेश है,** इत्यादि। इस दृष्टि से लोकसीमा दृष्टिगोचर होने के कारण यह अन्तवान् है। किन्तु सपरिमाण (ससीम) होते हुए भी यह लोक नित्य है, क्योंकि प्रवाहरूप से यह सदैव दृष्टिगोचर होता है।

वौद्धधर्म के दीर्घनिकाय ग्रन्थ के ब्रह्मजाल सुत्त में बताया गया है कि "कितने ही श्रमण ब्राह्मण एक या अनेक पूर्वजन्मों के स्मरण के कारण कहते हैं—यह आत्मा और लोक नित्य, अपरिणामी, कूटस्थ और अचल हैं, प्राणी चलते-फिरते, उत्पन्न होते और मर जाते हैं, लेकिन अस्तित्व नित्य है।···· कितने ही श्रमण और ब्राह्मण हैं, जो आत्मा और लोक को अंशत: नित्य और अंशत: अनित्य मानते हैं····लोक का प्रलय हो जाता है, तब पहले-पहल जो उत्पन्न होता है वह पीछे जन्म लेने वाले प्राणियों द्वारा नित्य, ध्रुव, शाश्वत अपरिणामधर्मा और अचल माना जाता है, अपने आपको उस (ब्रह्मा) से निर्मित किये जाने के कारण अपने को अनित्य, अध्रुव, अशाश्वत, परिणामी और मरणशील मानता है।"

" ····कितने ही श्रमण-ब्राह्मण लोक को सान्त और अनन्त मानते हैं। ······ यह लोक ऊपर से सान्त और दिशाओं की ओर से अनन्त है।"[८]

शास्त्रकार ने इसका खण्डन करते हुए कहा है—**'इति धीरोऽतिपासति'** इसका आशय यह है कि लोकवाद इस प्रकार की परस्पर-विरोधी और विवादास्पद वातों का भण्डार है, जो व्यास आदि के समान किसी साहसिक बुद्धिवादी (धीर) पुरुष का अतिदर्शन है—अर्थात् वस्तुस्वरूप के यथार्थ दर्शन का अतिक्रमण है। इस वाक्य में से यह भी ध्वनित होता है कि वस्तुस्वरूप का यथार्थ दर्शन वही कर सकता है जिसका दर्शन सम्यक् हो। इसीलिए चूर्णिकार ने पाठान्तर माना है, **'एव वीरोऽधिपासति'** इस प्रकार वादवीर सामान्य जनों से अधिक देखता है, वह सर्वज्ञ नहीं है।[९]

लोकवाद की ऐकांतिक एवं युक्तिविरुद्ध मान्यताएं—पौराणिक आदि लोकवादियों की सर्वज्ञता के सम्वन्ध में शास्त्रकार ने यहाँ दो मान्यताएँ प्रस्तुत की हैं—(१) एक मान्यता तो यह है, जो

---

[८] (क) सूत्रकृतांग अमरसुखवोधिनी व्याख्या पृ. २६२-२६३ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, ४९-५० के आधार पर
(ग) 'सप्तद्वीपा वसुन्धरा' इत्यादि वातें पुराणों में वर्णित हैं।
(घ) '····एकच्चो समणो ब्राह्मणो वा····अन्तसञ्ञी लोकस्सि विहरति। सो एवमाह—अन्तवा सयं लोको परिवटुमो····। ····एकच्चो समणो वा ब्राह्मणो वा····अनन्तसञ्ञी लोकस्सि विहरति··· सो एवमाह—अनन्तो अयं लोको अपरियन्तो····।

[९] (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति, पत्रांक ४९ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखवोधिनी व्याख्या, पृ. २६३ के आधार पर
(ग) सूयगडंग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ. १४

पौराणिकों की है कि हमारा मान्य अवतार या ईश्वर अपरिमित पदार्थों को जानता है, क्योंकि वह अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञाता है। दूसरी मान्यता यह है कि हमारा ईश्वर या अवतारी पुरुष अपरिमित पदार्थों का ज्ञाता अवश्य है, मगर वह सर्वज्ञ नहीं है—सर्वक्षेत्र-काल के सब पदार्थों का ज्ञाता नहीं है। सीमित क्षेत्रकालगत पदार्थों को ही जानता-देखता है।

कई अतीन्द्रिय द्रष्टा सर्वज्ञ एवं अपने मत के तीर्थंकर कहलाते थे, तथापि वे कहते थे—जो अतीन्द्रिय पदार्थ उपयोगी हों, जिनसे कोई प्रयोजन हो, उन्हीं को हमारे तीर्थंकर जानते हैं। जैसे कि आजीवक मतानुयायी अपने तीर्थंकर मक्खली गोशालक के सम्बन्ध में कहते थे—

तीर्थंकर सभी पदार्थों को देखे या न देखे, जो पदार्थ अभीष्ट एवं मोक्षोपयोगी हों, उन्हें देख ले, इतना ही काफी है। कीड़ों की संख्या का ज्ञान भला हमारे किस काम का? कीड़ों की संख्या जानने से हमें क्या प्रयोजन? अतएव हमें उस (तीर्थंकर) के अनुष्ठान सम्बन्धी या कर्तव्याकर्तव्य सम्बन्धी ज्ञान का विचार करना चाहिए। अगर दूर तक देखने वाले को ही प्रमाण मानेंगे तब तो हम उन दूरदर्शी गिद्धों के उपासक माने जायेंगे।[10]

यह सर्वत्र को पूर्णज्ञाता न मानने वालों का मत है।

इस गाथा में प्रथम मत पौराणिकों का है, और द्वितीय मत है—आजीवक आदि मत के तीर्थंकरों का। एक प्रकार से सारी गाथा में पौराणिकों के मत का ही प्ररूपण है। पुराण के मतानुसार 'ब्रह्माजी का एक दिन चार हजार युगों का होता है' और रात्रि भी इतनी ही बड़ी होती है।[11] ब्रह्माजी दिन में जब पदार्थो की सृष्टि करते हैं, तब तो उन्हें पदार्थों का अपरिमित ज्ञान होता है, किन्तु रात में जब वह सोते हैं तब उन्हें परिमित ज्ञान भी नहीं होता। इस प्रकार परिमित अज्ञान होने से ब्रह्माजी में ज्ञान और अज्ञान दोनों की सम्भावना है। अथवा वे कहते हैं—ब्रह्माजी एक हजार दिव्य वर्ष सोये रहते हैं, उस समय वह कुछ भी नहीं देखते और जब उतने ही काल तक वे जागते हैं, तब वे देखते हैं। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**'धीरोऽतिपासई'** अर्थात्—धीर ब्रह्मा का यह (लोकवाद) अतिदर्शन है।[12]

अपुत्रस्य गतिर (लोको) नास्ति, स्वर्गो नैव च, नैव च—पुत्रहीन की गति (लोक) नहीं होती, स्वर्ग तो उसे हर्गिज नहीं मिलता। इस प्रकार की धारणाएँ लोकवाद है।

लोकवाद युक्ति-प्रमाण विरुद्ध है—सूत्रगाथा ८३ में लोकवाद के रूप में प्रचलित युक्ति-प्रमाण विरुद्ध मान्यताओं का निराकरण किया गया है। जैसे कि लोकवादी यह कहते हैं—यह लोक अनन्त, नित्य, शाश्वत और अविनाशी है। इस विषय में जैनदर्शन यह कहता है कि अगर लोकगत पदार्थों को

---

१०. सर्वं पश्यतु वा मा वा, इष्टमर्थं तु पश्यतु।
कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥१॥
तस्मादनुष्ठानगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेते गृद्धानुपास्महे ॥२॥

११. "चतुर्युग सहस्राणि ब्रह्मणो दिनमुच्यते।" —पुराण

१२. (क) सूत्रकृतांग शीलांक वृत्ति ५०
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या २६८-२६९

उत्पत्ति-विनाश रहित, स्थिर, एक स्वभाव वाले कूटस्थ नित्य मानते हैं तो यह प्रत्यक्ष प्रमाण विरुद्ध है। इस जगत् में जड़-चेतन कोई भी पदार्थ ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता, जो क्षण-क्षण में उत्पन्न न हो। प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण पर्याय रूप से उत्पन्न और विनष्ट होता हुआ दिखता है। अतएव लोकगत पदार्थ सर्वथा पर्याय रहित कूटस्थ नित्य कैसे हो सकते हैं? लोकवाद की इसी कूटस्थ नित्य की मान्यता को लेकर जो यह कहा जाता है कि त्रस सदैव त्रस पर्याय में ही होता है, स्थावर स्थावर पर्याय में ही होता है, तथा पुरुष मरकर पुरुष ही बनता है, स्त्री मरकर पुनः स्त्री ही होती है, यह लोकवाद सत्य नहीं है। आचारांग सूत्र में भगवान् महावीर के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—"स्थावर (पृथ्वीकाय आदि) जीव त्रस (द्वीन्द्रियादि) के रूप में उत्पन्न हो जाते हैं और त्रसजीव स्थावर के रूप में उत्पन्न हो जाते हैं। अथवा संसारी जीव सभी योनियों में उत्पन्न हो सकते हैं। अज्ञानी जीव अपने-अपने कर्मों से पृथक्-पृथक् रूप रचते हैं।"[१३]

यदि यह लोकवाद सत्य हो कि जो मनुष्य इस जन्म में जैसा है, अगले जन्म में भी वह वैसा ही होता है, तव तो दान, अध्ययन, जप, तप, यम, नियम, आदि समस्त अनुष्ठान व्यर्थ हो जाएँगे, फिर क्यों कोई दान देगा, यम नियमादि की साधना करेगा? क्योंकि उस साधना या धर्माचरण से कुछ भी परिवर्तन होने वाला नहीं है। परन्तु स्वयं लोकवाद के समर्थकों ने जीवों का एक पर्याय से दूसरी पर्याय में उत्पन्न होना स्वीकार किया है—

'स वै एष शृगालो जायते, यः सपुरीषो दह्यते।'

अर्थात्—'वह पुरुष अवश्य ही सियार होता है, जो विष्ठा सहित जलाया जाता है।'

तथा— "गुरुं तुंकृत्य हुंकृत्य, विप्रान्निर्जित्य वादतः।
श्मशाने जायते वृक्षः, कंक-गृध्रोपसेवितः॥"

अर्थात्—जो गुरु के प्रति 'तुं' या 'हुं' कहकर अविनयपूर्ण व्यवहार करता है, ब्राह्मणों को वाद में हरा देता है, वह मरकर श्मशान में वृक्ष होता है, जो कंक, गिद्ध आदि नीच पक्षियों द्वारा सेवित होता है।

इसलिए पूर्वोक्त लोकवाद का खण्डन उन्हीं के वचनों से हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि त्रस हो या स्थावर, सभी प्राणियों का अपने-अपने कर्मानुसार विभिन्न गतियों और योनियों के रूप में पर्याय परिवर्तन होता रहता है। स्मृतिकार ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है।[१४]

एक द्रव्यविशेष की अपेक्षा से कार्यद्रव्यों को अनित्य और आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन को सर्वथा नित्य कहना भी लोकवाद का असत्य है क्योंकि सभी पदार्थ उत्पात, विनाश और ध्रौव्य इन तीनों से युक्त होते हैं। ऐसा न मानने पर आकाश-कुसुमवत् वस्तु का वस्तुत्व ही नहीं रहेगा। पदार्थों

---

१३. अदु थावरा य तसत्ताए, तस जीवा य थावरत्ताए।
अदुवा सव्व जोणिया सत्ता कम्मुणा कप्पिया पुढो वाला॥ —आचारांग १, श्रु० ९, अ० १, उ० गा० ५४

१४. देखिये स्मृति में—"अन्तः प्रज्ञा भवन्त्येते सुख-दुःख समन्विताः।
शारीरजैः कर्मदोषैर्यान्ति स्थावरतां नरः॥"

की अपनी-अपनी जाति (सत्ता) का नाश नहीं होता फिर भी वे परिणामी हैं, यही (परिणामी नित्य) मानना ही जैनदर्शन को अभीष्ट है।

लोक को अन्तवान् सिद्ध करने के लिए लोक (पृथ्वी) को सात द्वीपों से युक्त कहना भी प्रमाण-विरुद्ध है। क्योंकि इस बात को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है।

लोकवादियों के द्वारा मान्य अवतार या भगवान् अपरिमितदर्शी होते हुए भी सर्वज्ञ नहीं हैं, इसलिए उनका भी यदि यह कथन हो तो प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि जो पुरुष अपरिमित-दर्शी होकर भी सर्वज्ञ नहीं हैं, वे हेय-उपादेय का उपदेश देने में भी समर्थ नहीं हैं, अतीन्द्रिय पदार्थों का उपदेश देना तो दूर रहा।

लोकवाद मान्य अवतार या तीर्थंकर यदि अपरिमित पदार्थदर्शी या अतीन्द्रिय पदार्थ द्रष्टा है, तो उनका सर्व-देश-कालज्ञ होना अत्यावश्यक है। यदि उन्हें कीड़ों की संख्या का उपयोगी ज्ञान भी नहीं होगा तो बुद्धिमान पुरुष शंका करने लगेंगे कि उन्हें उसी प्रकार अन्य पदार्थों का भी ज्ञान नहीं होगा। ऐसे शंकित-मानस उनके द्वारा उपदिष्ट हेयोपादेय में निवृत्त-प्रवृत्त नहीं हो सकेंगे।

लोकवादियों का यह कथन भी कोई अपूर्व नहीं है कि "ब्रह्मा सोते समय कुछ नहीं जानता, जागते समय सब कुछ जानता है," यह तो सभी प्राणियों के लिए कहा जा सकता है। तथा ब्रह्मा के सोने पर जगत् का प्रलय और जागने पर उत्पाद (सर्जन) होता है, यह कथन भी प्रमाणशून्य होने से उपादेय नहीं है।

वास्तव में लोक का न तो एकान्त रूप से उत्पाद होता है और न ही सर्वथा विनाश (प्रलय)। द्रव्य रूप से लोक सदैव बना (नित्य) रहता है, पर्याय रूप से बदलता (अनित्य) रहता है।

लोकवादियों का यह कथन भी छोटे बालक के समान हास्यास्पद है कि पुत्रहीन पुरुष की कोई गति (लोक) नहीं। अगर पुत्र के होने मात्र से विशिष्ट लोक प्राप्त होता हो, तब तो बहुपुत्रवान् कुत्तों और सूअरों से लोक परिपूर्ण हो जाएगा। हर कुत्ता या सूअर विशिष्ट लोक (सुगति) में पहुँच जाएगा, विना ही कुछ धर्माचरण किये, शुभकर्म किये। पुत्र के द्वारा किये गए अनुष्ठान से उसके पिता को विशिष्ट लोक प्राप्त होता हो, तब तो कुपुत्र के द्वारा किये गए अशुभ अनुष्ठान से कुलोक (कुगति) में भी जाना पड़ेगा, फिर उस पिता के स्वकृत शुभाशुभ कर्मों का क्या होगा? वे तो व्यर्थ ही जाएँगे? अतः कर्म-सिद्धान्त-विरुद्ध, प्रमाण-विरुद्ध लोकवादीय कथन कथमपि उपादेय नहीं है।

'कुत्ते यक्ष हैं', 'ब्राह्मण देव हैं' इत्यादि लोकोक्तियाँ भी लोकवाद के युक्ति-प्रमाण शून्य विधान हैं। अतः ये विश्वसनीय नहीं हो सकते।[१५]

कठिन शब्दों की व्याख्या—णिसामिज्जा—सुनना चाहिए, अर्थात् जानना चाहिए। **विपरीत-पण्णसंभूतं**—परमार्थ-वस्तुतत्त्व से विपरीत प्रज्ञा (बुद्धि) द्वारा उत्पन्न-सम्पादित-रचित। **अण्णण्ण-**

---

१५. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४९
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २६९-२७०

वृतिताणुगं—चूर्णिकार के अनुसार—अन्योन्य—एक दूसरे के उक्त कथन का अनुगामी है। वृत्तिकार ने **अन्नउत्तं तयाणुयं**—पाठान्तर मानकर व्याख्या की है—विपरीत स्वरूप वनाने वाले अन्य अविवेकियों ने जो मिथ्या अर्थ वतलाया है, उसी का अनुगामी (लोकवाद है।) **अणंत**—जिसका अन्त—निरन्वय नाश नहीं है, अथवा अनन्त यानी परिमाण रहित—निरवधि। **इहमेगेसि आहितं**—इस लोक में किन्हीं सर्वज्ञापह्नववादियों का यह कथन या मत है। **अपरिमाणं विजानाति**—क्षेत्र और काल की जिसमें इयत्ता—सीमा नहीं है, ऐसा अपरिमित ज्ञाता अतीन्द्रियदर्शी **सव्वत्थ सपरिमाणं इति धीरोऽतिपासति**=वुद्धिमान (धीर) (व्यास आदि) सर्वार्थ देशकालिक अर्थ सपरिमाण-सीमित जानता है, यह अतिदर्शन है। अदु—अथवा, अंजु—अवश्य, **परियाए**—पर्याय में।[१६]

अहिंसा धर्म-निरूपण

८४. उरालं जगओ जोयं, विपरीयासं पलेंति य।
सव्वे अक्कंत दुक्खा य, अतो सव्वे अहिंसिया ॥ ९ ॥

८५. एतं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसति किंचणं।
अहिंसा समयं चेव, एतावंतं वियाणिया ॥ १० ॥

८४. (औदारिक त्रस-स्थावर जीव रूप) जगत् का (वाल्य-यौवन-वृद्धत्व आदि) संयोग—अवस्थाविशेष अथवा योग—मन वचन काया का व्यापार (चेष्टाविशेष) उदार-स्थूल है—इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। और वे (जीव) विपर्यय (दूसरे पर्याय) को भी प्राप्त होते हैं तथा सभी प्राणी दुःख से आक्रान्त—पीड़ित हैं, (अथवा सभी प्राणियों को दुःख अकान्त—अप्रिय है, और सुख प्रिय है) अतः सभी प्राणी अहिंस्य—हिंसा करने योग्य नहीं—हैं।

८५. विशिष्ट विवेकी पुरुष के लिए यही सार—न्याय संगत निष्कर्ष है कि वह (स्थावर या जंगम) किसी भी जीव की हिंसा न करे। अहिंसा के कारण सव जीवों पर समता रखना और (उपलक्षण से सत्य आदि) इतना ही जानना चाहिए, अथवा अहिंसा का समय (सिद्धान्त या आचार) इतना ही समझना चाहिए।

विवेचन—अहिंसा के सिद्धान्त या आचार का निरूपण—इस गाथा द्वय (८४-८५) में स्व-समय के सन्दर्भ में अहिंसा के सिद्धान्त एवं आचार का प्रतिपादन किया गया है।

लोकवाद के सन्दर्भ में कहा गया था कि उसकी यह मान्यता है कि त्रस या स्थावर, स्त्री या पुरुष, जो इस लोक में जैसा है, अगले लोकों में भी वह वैसा ही होता है, इसलिए कोई श्रमण निर्ग्रन्थ अहिंसादि के आचरण से विरत न हो जाये, इसीलिए ये दोनों गाथाएं तथा आगे की गाथाएँ शास्त्रकार ने प्रस्तुत की हैं। प्रस्तुत गाथा द्वय से मिलती-जुलती गाथाएँ इसी सूत्र के १२वें अध्ययन की सूत्रगाथा ५०५ और ५०६ में भी हैं।

---

[१६] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४९-५०
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० १४

समस्त प्राणी अहिंस्य क्यों ?—प्रस्तुत गाथा में संसार के समस्त जीव अहिंस्य क्यों हैं ? अर्थात् जीव हिंसा क्यों नहीं करनी चाहिए ? इसके तीन कारण बताये हैं—

(१) इस दृश्यमान त्रस-स्थावर जीव रूप जगत् की मन-वचन-काया की प्रवृत्तियाँ (योग) अथवा बाल्य-यौवन-वृद्धत्व आदि (अवस्थाएँ) स्थूल (प्रत्यक्ष) हैं,

(२) स्थावर-जंगम सभी प्राणियों की पर्याय—अवस्थाएँ सदैव एक-सी नहीं रहतीं, तथा

(३) सभी प्राणी शारीरिक-मानसिक दुःखों से पीड़ित रहते हैं, अथवा सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय है ।

बहुत से मतवादियों का कथन है आत्मा कूटस्थनित्य, एक-से स्वभाव का, उत्पत्ति-विनाश से रहित है, इसलिए वे यह तथ्य प्रस्तुत करते हैं कि आत्मा की बाल्यादि अवस्थाएं नहीं होतीं, न ही अवस्था परिवर्तन होता है, और न कभी सुख-दुःख आदि होते हैं, इसलिए किसी जीव को मारने-पीटने, सताने आदि से कोई हिंसा नहीं होती है । यह वाद दीघनिकाय में वर्णित पकुद्धकात्यायन के अकृततावाद से प्रायः मिलता-जुलता है ।[१७] इसी मिथ्यात्वग्रस्त पर-समय का निराकरण करने हेतु आत्मा की कथंचित् अनित्यता, परिणामधर्मिता तथा तदनुसार सुख-दुःखादि प्राप्ति, दुःख से अरुचि आदि स्वसमय का प्रतिपादन किया गया है और यह स्पष्ट बता दिया गया है कि समस्त प्राणि-जगत् की विविध चेष्टाएँ तथा बाल्यादि अवस्थाएँ प्रत्यक्ष हैं, अवस्थाएँ (पर्यायें) भी सदा एक-सी नहीं रहती प्राणिमात्र मरणधर्मा है । वह एक शरीर नष्ट होते ही स्व-स्वकर्मानुसार आत्मा दूसरे मनुष्य, तिर्यंच, नरक आदि गतियों और योनियों रूप पर्यायों में पर्यटन करती रहती है, और एक पर्याय (अवस्था) से दूसरी पर्याय बदलने पर जन्म, जरा, मृत्यु, शारीरिक-मानसिक चिन्ता, सन्ताप आदि नाना प्रकार के दुःख भी भोगने पड़ते हैं, जो कि उन प्राणियों को अप्रिय हैं । इसलिए यह स्वाभाविक है कि कोई भी व्यक्ति जब किसी भी प्राणी को सतायेगा, पीड़ा देगा, मारेगा-पीटेगा, डरायेगा या किसी भी प्राणी को हानि पहुँचायेगा, प्राणों से रहित कर देगा तो उसे दुःखानुभव होगा, इसलिए शास्त्रकार ने इन्हीं तीन मुख्य प्रत्यक्ष दृश्यमान स्थूल कारणों को प्रस्तुत करके बता दिया कि प्राणी सदैव एक से नहीं रहते—उनमें परिवर्तन होना प्रत्यक्षसिद्ध है । अतः किसी भी प्राणी की हिंसा न करो ।

---

[१७] (क) तुलना कीजिए—सव्वे अक्कंतदुक्खा य, अतो सव्वे न हिंसया
एयं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसति कंचणं ।
अहिंसा समयं चेव एतावंतं विजाणिया ॥
—सूत्रकृ० १ श्रु० अ० ११, गा० ९-१०, सू० ५०५-६

(ख) ····पकुधो कच्चायनो यं एतदवोच—सत्तिमे महाराज, काया अटका, अकटविधा अनिम्मिता अनिम्माता, वञ्झा कूटट्ठा एसिकट्ठायिट्ठिता । तेन इञ्जन्ति, न विपरिणामेंति, अञ्ञमञ्ञं व्याबाधेंति, नालं अञ्ञमञ्ञस्स सुखाय वा दुक्खाय वा, सुखदुक्खाय वा । कतमे सत्त ? पठविकायो, आपोकायो, तेजोकायो, वायोकायो, सुखे, दुक्खे, जीवे सत्तमे ।···
—सुत्तपिटके दीघनिकाय पालि भा० १, सामञ्ञफलसुत्त

(ग) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ५१ के आधार पर

(घ) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या २७४-२७५ के आधार पर

"अश्रो सव्वे अहिंसिया"—किसी भी प्राणी को किसी भी रूप से पीड़ा देना, सताना, मारना-पीटना, डराना आदि हिंसा है, और किसी भी प्रकार की हिंसा से प्राणी को दुःख होता है। हिंसा करना निर्ग्रन्थ क्यों छोड़ते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर दशवैकालिक एवं आचारांग में स्पष्ट दिया गया है कि समस्त जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता, सभी को अपना जीवन प्रिय है, सभी सुख चाहते हैं, दुःख सभी को अप्रिय है, इसीलिए निर्ग्रन्थ प्राणिवध को घोर पाप समझकर उसका त्याग करते हैं।[१८]

यह भी सत्य है कि असत्य, चोरी, मैथुन-सेवन, परिग्रह वृत्ति आदि पापास्रवों से भी प्राणियों को शारीरिक-मानसिक दुःख होता है, इसलिए ये सब हिंसा के अन्तर्गत आ जाते हैं। प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त 'य' (च) शब्द से उपलक्षण से असत्यादि का त्याग भी समझ लेना चाहिए।

हिंसा आदि पापास्रव अविरति के अन्तर्गत हैं, जो कि अशुभ कर्मबन्धन का एक कारण है। इस दृष्टि से भी शास्त्रकार ने प्राणिहिंसा का निषेध किया है।

ज्ञानी के ज्ञान का सार : हिंसा न करे—प्राणिहिंसा निषेध के पूर्वोक्त विवेक सूत्र को और स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार सूत्र गाथा ८५ में कहते हैं—**'एतं ख नाणिणो सारं····किंचणं'**—अर्थात् ज्ञानी होने का सार—निष्कर्ष यही है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे।

ज्ञानी कौन ? उसके ज्ञान का सार क्या ?—यहाँ ज्ञानी उसे नहीं बताया गया है, जो पोथी-पण्डित हो, रटारटाया शास्त्र पाठ जिसके दिमाग में भरा हो, अथवा जो केवल शास्त्रीय ज्ञान बघारता हो, अथवा जिसका लौकिक या भौतिक विद्याओं का पाठन-अध्ययन प्रचुर हो। यहाँ ज्ञानी के मुख्य दो अर्थ फलित होते हैं—(१) अध्यात्म-ज्ञानवान्—जो आत्मा से सम्बन्धित पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, बन्ध-मोक्ष, निर्जरा, आत्मा का स्वरूप, कर्मबन्ध, शुद्धि, विकास-ह्रास आदि का सम्यग् ज्ञाता हो।

(२) सभी प्राणियों को मेरे समान ही सुख प्रिय हैं, दुःख अप्रिय, सभी को अपने प्राण प्यारे हैं, सभी जीना चाहते हैं, मरना नहीं। हिंसा, असत्य आदि से मेरे समान सभी प्राणियों को दुःख होता है, इस प्रकार आत्मवत् सर्वभूतेषु सिद्धान्त का जिसे अनुभव ज्ञान हो। इसीलिए शास्त्रकार का यहाँ आशय यह है **'ज्ञानस्य सारो विरतिः'** ज्ञान का सार है—(पाप कर्मबन्ध या दुःख प्रदान से) विरति। इस दृष्टि से आत्मा को कर्मबन्ध से मुक्त कराने और बन्धन को भली-भाँति समझकर तोड़ना ही जब ज्ञानी के ज्ञान का सार है, तब हिंसादि जो कर्मबन्ध या कर्मास्रव के कारण हैं, उनमें वह कैसे पड़ सकता है। इसीलिए यहाँ कहा गया—**'जं न हिंसति किंचणं'**। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी के लिए न्याय संगत (सार) यही है कि पाप कर्मबन्धन के मुख्य कारण हिंसा को छोड़ दे। किसी भी प्राणी की किसी

---

[१८] (क) सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पणिवहं घोरं निग्गंथा वज्जयंति णं॥　　—दशवैकालिक अ० ६ गा० १०

(ख) सव्वे पाण पियाउया, सुहसाया दुक्खपडिकूला, अप्पियवहा, पियजीविणो, जीविउकामा, सव्वेसिं जीवियं पियं।"　　—आचारांग श्रु० १, अ० २, सू० २४०-२४१

(ग) सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योग-युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥　　—गीता ६/२९

भी प्रकार से हिंसा न करे, परितापना पीड़ा न दे। उपलक्षण से पाप कर्मबन्ध के अन्य कारण तथा पीड़ाजनक (हिंसाजनक)—मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन सेवन, परिग्रह वृत्ति से भी दूर रहे।

अहिंसा से समता या समय को जाने—ज्ञानी के लिए सारभूत दूसरा तथ्य यहाँ बताया गया है—**'अहिंसा-समयं चेव····वियाणिया'** इसके तीन अर्थ यहाँ फलित होते हैं—

(१) अहिंसा से समता को जाने, इतना ही सार है,

(२) अहिंसा रूप समता को विशेष रूप से जाने, इतना ही सार है,

(३) इतना ही (यही) अहिंसा का समय (सिद्धान्त या आचार या प्रतिज्ञा) है, यह जाने।

तीनों अर्थों का आशय यह है कि साधु ने दीक्षा ग्रहण करते समय **'करेमि भन्ते सामाइयं'** के पाठ समता की प्रतिज्ञा ली है। अहिंसा भी एक प्रकार की समता है अथवा समता का कारण है। क्योंकि साधक अहिंसा का पालन या आचरण तभी कर सकता है, जब वह प्राणिमात्र के प्रति समभाव-आत्मौपम्य भाव रखे। दूसरों की पीड़ा, दुःख, भय, त्रास को भी अपनी ही तरह या अपनी ही पीड़ा, दुःख, भय, त्रास आदि समझे। जैसे मेरे शरीर में विनाश, प्रहार, हानि एवं कष्ट से मुझे दुःख का अनुभव होता है, वैसे ही दूसरे प्राणियों को भी उनके शरीर के विनाशादि से दुःखानुभव होता है। इसी प्रकार मुझे कोई मारे-पीटे, सताये, मेरे साथ झूठ बोले, धोखा करे, चोरी और बेईमानी करे, मेरी बहन-बेटी की इज्जत लूटने लगे या संग्रहखोरी करे तो मुझे दुःख होगा, उसी तरह दूसरों के साथ मैं भी वैसा व्यवहार करूं तो उसे भी दुःख होगा। इस प्रकार समतानुभूति आने पर ही अहिंसा का आचरण हो सकता है।[१९]

भगवान् महावीर ने तो स्पष्ट कहा है—**'अप्पणा सच्चमेसेज्जा'**—अपनी आत्मा को तराजू पर तोलकर सत्य का अन्वेषण करे। ऐसा करने पर ही मालूम होगा कि दूसरे प्राणी को मारने, सताने आदि से उतनी ही पीड़ा होती है जितनी तुम्हें होती है। आचारांग सूत्र में तो यहाँ तक कह दिया है कि "जिस प्राणी को तुम मारना, पीटना, सताना, गुलाम बनाकर रखना, त्रास देना, डराना आदि चाहते हो, वह तुम्हीं हो, ऐसा सोच लो कि उसके स्थान पर तुम्हीं हो।"[२०]

---

[१९] (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २७६

(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ५१

(ग) 'करेमि भन्ते सामाइयं'—आवश्यक सूत्र, सामायिक सूत्र सभाष्य

[२०] (क) अहिंसया समता अहिंसा समता तां चैतावद् विजानीयात्। —शीलांकवृत्ति पत्र ५१

(ख) अप्पणा सच्चमेसेज्जा.... —उत्तराध्यन सूत्र अ० ६

(ग) तुमं सि णाम तं चेव जं हंतव्वं ति मण्णसि, तुमं सि०····जं अज्जावेतव्वं ति०····तुमंसि····परितावेतव्वं ति मण्णसि, तुमंमि ···परिघेतव्वं ति····, तुमंसि····उद्दवेतव्वंति मण्णसि।····

—आचारांग श्रु० १, अ० ५, उ० ५, सू० १७०

निष्कर्ष यह है—इस प्रकार की समता का जीवन में आ जाना ही अहिंसा है। इसी समता सूत्र से अहिंसा आदि का आचरण होता है। यही अहिंसा का सिद्धान्त है। इसे भलीभाँति हृदयंगम कर लेना ही ज्ञानी होने का सार है। अगर पुरुष इतना भी न कर सकता, तो उनका ज्ञान निरर्थक ही नहीं, भारभूत है, परिग्रह रूप है। एक आचार्य ने कहा है कि 'भूसे के ढेर के समान उन करोड़ों पदों के पढ़ने से क्या लाभ, जिनसे इतना भी ज्ञान न हुआ कि दूसरों को पीड़ा नहीं देनी चाहिए।[२१]

इस समग्र गाथा का निष्कर्ष यह है कि ज्ञानी पुरुष के लिए यही न्यायोचित है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे, "आत्मवत् सर्वभूतेषु" का भाव रखकर अहिंसा का आचरण करे।

कठिन शब्दों की व्याख्या—उरालं—उदार, स्थूल है, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है, आँखों से प्रत्यक्ष दृश्यमान है। **जोगं**—प्राणियों के योग-व्यापार, चेष्टा या अवस्था विशेष को। **विवज्जासं पलिंति**—औदारिक शरीरधारी जीव गर्भ, कलल और अर्बुदरूप पूर्वावस्था छोड़कर उससे विपरीत बाल्य-कौमार्य-यौवन-वृद्धत्व आदि स्थूल पर्यायों (अवस्था विशेषों) को प्राप्त करते हैं। **अक्कंतदुक्खा**—असातावेदनीय के उदय से, शारीरिक-मानसिक दुःखों से आक्रान्त-पीड़ित हैं। चूर्णिकार **'अकंतदुक्खा'** पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं—कान्त का अर्थ है—प्रिय। जिन्हें दुःख अकान्त-अप्रिय अनिष्ट है।[२२]

अहिंसिया—सभी प्राणी साधु के लिए अहिंसनीय—अवध्य हैं। चूर्णिकार **'अहिंसगा'** पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं—इस कारण से साधु अहिंसक होते हैं। **सारं**—न्याय-संगत या निष्कर्ष।[२३]

चारित्र शुद्धि के लिए उपदेश

८६. वुसिए य विगयगेही य, आयाणं संरक्खए।
चरियाऽऽसण-सेज्जासु, भत्तपाणे य अंतसो ॥११॥

८७. एतेहिं तिहिं ठाणेहिं, संजते सततं मुणी।
उक्कसं जलणं णूमं, मज्झत्थं च विगिंचए ॥१२॥

८८. समिते उ सदा साहू, पंचसंवरसंवुडे।
सितेहिं असिते भिक्खू, आमोक्खाए परिवएज्जासि ॥१३॥
—त्ति बेमि

८६. दस प्रकार की साधु समाचारी में स्थित और आहार आदि में गृद्धि (आसक्ति) रहित साधु (मोक्ष प्राप्ति के) आदान (साधन-ज्ञानदर्शन-चारित्र) की सम्यक् प्रकार से रक्षा करे। (तथा)

---

[२१] किं तया पठितया पदकोट्या पलालभूतया।
येनैतन्न ज्ञातं परस्य पीडा न कर्तव्या ॥

[२२] "कान्तं प्रियमित्यर्थः, न कान्तमकान्त दुक्खं अणिट्ठं—अकंतदुक्खा" —चूर्णि

[२३] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ५१
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू. पा. टिप्पण) पृ. १५

चर्या (चलने-फिरने), आसन (बैठने) और शय्या (सोने) के विषय में और अन्ततः आहार-पानी के सम्बन्ध में (सदा उपयोग रखे)।

८७. इन (पूर्वोक्त) तीनों (इर्यासमिति, आदान-निक्षेपणसमिति और एषणासमिति रूप) स्थानों में सतत संयत (संयमरत) मुनि मान (उत्कर्ष), क्रोध (ज्वलन), माया (णूम) और लोभ (मध्यस्थ) का परिहार (विवेकपूर्वक त्याग) करे।

८८. भिक्षाशील साधु सदा पंच समितियों से युक्त (होकर) पाँच संवर (अहिंसादि) से आत्मा को आस्रवों से रोकता (सुरक्षित रखता हुआ) गृहपाश—(गृहस्थ के बन्धन में) बद्ध—श्रित गृहस्थों में न बँधता (मूर्च्छा न रखता) हुआ मोक्ष प्राप्त होने तक सब ओर से संयम (परिव्रज्या) में उद्यम करे।

(श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं—) इस प्रकार मैं कहता हूँ।

विवेचन—चारित्र शुद्धि के लिए उपदेश—प्रस्तुत त्रिसूत्री में कर्मबन्धनों को तोड़ने के लिए चारित्र-शुद्धि का उपदेश दिया गया है। वास्तव में ज्ञान, दर्शन, चारित्र (चारित्र के अन्तर्गत तप) यह रत्नत्रय मिलकर मोक्षमार्ग कर्मबन्धनों से छुटकारे का एकमात्र साधन है। मोक्षरूप शुद्ध साध्य के लिए पिछली गाथाओं में पर्याप्त चर्चा की गयी है। शुद्ध साध्य की प्राप्ति के लिए साधनों (रत्नत्रय) की शुद्धि पर ध्यान देना आवश्यक है। इसी दृष्टि से ज्ञान और दर्शन की शुद्धि के हेतु पिछली अनेक गाथाओं में शास्त्रकार ने सुन्दर ढंग से निर्देश किया है। बाकी रही चारित्र-शुद्धि। अतः पिछली दो अहिंसा निर्देशक गाथाओं के अतिरिक्त अब यहाँ तीन गाथाओं में चारित्र-शुद्धि पर जोर दिया है। हिंसा आदि पांच आस्रवों से अविरति, प्रमाद, कषाय और मन-वचन-काया-योग का दुरुपयोग, ये सब चारित्र-दोष के कारण हैं, और कर्मबन्धन के भी मुख्य कारण हैं। चारित्रशुद्धि से ही आत्मशुद्धि (निर्जरा या कर्मक्षय, कर्मास्रव-निरोध) होती है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने आत्म शुद्धि (निर्जरा) के लिए समिति, गुप्ति, दशविध धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र और तप की आराधना-साधना बतायी है। इसी प्रकार चारित्रशुद्धि के परिप्रेक्ष्य में शास्त्रकार ने प्रस्तुत तीन गाथाओं में १० विवेकसूत्र बताये हैं—

(१) दस प्रकार की समाचारी में स्थित रहे।
(२) आहार आदि में गृद्धि—आसक्ति न रखे।
(३) अप्रमत्त होकर अपनी आत्मा का या रत्नत्रय का संरक्षण करे।
(४) गमनागमन, आसन, शयन, खान-पान (भाषण एवं परिष्ठापन) में विवेक रखे।
(५) पूर्वोक्त तीन स्थानों (समितियों) अथवा इनके मन-वचन-काया गुप्ति रूप तीन स्थानों में मुनि सतत संयत रहे।
(६) क्रोध, मान, माया, और लोभ इन चार कषायों का परित्याग करे।
(७) सदा पंच समिति से युक्त अथवा सदा समभाव में प्रवृत्त होकर रहे।
(८) प्राणातिपातादि-विरमण रूप पंच महाव्रत रूप संवरों से युक्त रहे।
(९) भिक्षाशील साधु गार्हस्थ्य बन्धनों से बँधे हुए गृहस्थों से आसक्तिपूर्वक बँधा हुआ न रहे।
(१०) मोक्ष प्राप्त होने तक संयमानुष्ठान में प्रगति करे—डटा रहे।

इस प्रकार चारित्र शुद्धि के लिए साधु को दस विवेकसूत्रों का उपदेश शास्त्रकार ने प्रस्तुत प्रसंग में दिया है।[२४]

इस दस विवेक सूत्री पर क्रमशः चिन्तन-विश्लेषण करना आवश्यक है—

१. **समाचारी में विविध प्रकार से रमा रहे**—चारित्र शुद्धि के लिए यह प्रथम विवेकसूत्र है। समाचारी साधु संस्था की आचार संहिता है, उस पर साधु की श्रद्धा, आदर एवं निष्ठा होनी आवश्यक है। इसीलिए यहाँ शास्त्रकार ने एक शब्द प्रयुक्त किया है—'वुसिए' जिसका शब्दशः अर्थ होता है—विविध प्रकार से वसा हुआ। वृत्तिकार उसका आशय खोलते हुए कहते हैं—अनेक प्रकार से दशविध साधु-समाचारी में स्थित—वसा रहने वाला। क्योंकि यह समाचारी भगवदुपदिष्ट हैं, संसार सागर से तारने वाली एवं साधु के चारित्र को शुद्ध रखती हुई उसे अनुशासन में रखने वाली है। समाचारी के दस प्रकार क्रमशः ये हैं—

(१) **आवस्सिया**—उपाश्रय आदि स्थान से बाहर कहीं भी जाना हो तो 'आवस्सही आवस्सही' कहना आवश्यकी है।

(२) **निसीहिया**—वापस लौटकर स्वस्थान (उपाश्रयादि) में प्रवेश करते समय निस्सिही-निस्सिही कहना नैषिधिकी है।

(३) **आपुच्छणा**—कार्य करते समय ज्येष्ठ दीक्षित से पूछना आपृच्छना है।

(४) **पडिपुच्छणा**—दूसरों का कार्य करते समय बड़ों से पूछना प्रतिपृच्छना है।

(५) **छंदणा**—पूर्वगृहीत द्रव्यों के लिए गुरु आदि को आमन्त्रित (मनुहार) करना 'छन्दना' है।

(६) **इच्छाकार**—अपने और दूसरे के कार्य की इच्छा वताना या स्वयं दूसरों का कार्य अपनी सहज इच्छा से करना, किन्तु दूसरों से अपना कार्य कराने (कर्तव्यनिर्देश करने) से पहले विनम्र निवेदन करना कि आपकी इच्छा हो तो अमुक कार्य करिए, अथवा दूसरों की इच्छा अनुसार चलना 'इच्छाकार' है।

(७) **मिच्छाकार**—दोष की निवृत्ति के लिए गुरुजन के समक्ष आलोचना करके प्रायश्चित्त लेना अथवा आत्मनिन्दापूर्वक 'मिच्छामि दुक्कडं' कहकर उस दोष को मिथ्या (शुद्ध) करना 'मिथ्याकार' है।

(८) **तहक्कार**—गुरुजनों के वचनों को, **तहत्ति**—आप जैसा कहते हैं, वैसा ही है।" कहकर यों सम्मानपूर्वक स्वीकार करना तथाकार है।

(९) **अब्भुट्ठाण**—गुरुजनों का सत्कार-सम्मान या बहुमान करने के लिए उद्यत रहना, उनके सत्कार के लिए आसन से उठकर खड़ा होना अभ्युत्थान—समाचारी है।

(१०) **उपसंपया**—शास्त्रीय ज्ञान आदि विशिष्ट प्रयोजन के लिए किसी दूसरे आचार्य के पास विनयपूर्वक रहना 'उपसम्पदा' समाचारी है।

यों दस प्रकार की समाचारी में हृदय से स्थित रहना, सतत निष्ठावान रहना चारित्रशुद्धि का महत्त्वपूर्ण अंग है।[२५]

---

[२४] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ५२ के आधार पर।
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ. २७७ के आधार पर

[२५] सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या तथा उत्तराध्ययनसूत्र अ. २६, गाथा १ से ४ तक देखें।

२. आहारादि में गृद्धि (आसक्ति) रहित रहे—समस्त प्रपंच-त्यागी साधु जब जिह्वालोलुप अथवा प्रलोभनकारी आहार, वस्त्र या अन्य धर्मोपकरण-सामग्री, अथवा संघ, पंथ, गच्छ, उपाश्रय, शिष्य-शिष्या भक्त-भक्ता आदि की आसक्ति में फँस जाता है तो उसका अपरिग्रह महाव्रत दूषित होने लगता है। वह बाहर से तो साधुवेष एवं साधु समाचारी (क्रिया आदि) से ठीक-ठीक लगता है, पर अन्दर से सजीव-निर्जीव, मनोज्ञ अभीष्ट पदार्थों की ममता, मूर्च्छा, आसक्ति एवं वासना से उसका चारित्र खोखला होने लगता है। इसी दृष्टि से शास्त्रकार चारित्र शुद्धि हेतु कहते हैं—**विगयगेही।** इसका संस्कृत रूपान्तर '**विगतगृद्धिः**' के बदले **विगतगेही** भी हो सकता है, जिसका अर्थ होता है—गृहस्थों से या घर से जिसका ममत्व-सम्बन्ध हट गया है, ऐसा साधु।[२६]

३. रत्नत्रयरूप मोक्ष साधन का संरक्षण करे—साधु दीक्षा लेते समय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं पंचमहाव्रतादि रूप सम्यक् चारित्र अंगीकार कर लेता है। इनकी प्रतिज्ञा भी कर लेता है, किन्तु बाद में हीनाचार, संसर्ग, शिथिल वातावरण आदि के कारण प्रमादी बन जाता है, वह लापरवाही करने लगता है, बाहर से वेष साधु का होता है, क्रिया भी साधु की करता है, किन्तु प्रमादी होने के कारण सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय में दोष लगाकर मलिन करता जाता है। अतः शास्त्रकार चारित्र शुद्धि की दृष्टि से कहते हैं—**आयाणं संरक्खए**—अर्थात् जिसके द्वारा मोक्ष का आदान—ग्रहण हो, वह आदान या आदानीय ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप रत्नत्रय है।[२७] उस मोक्षमार्ग—कर्मबन्धन से मुक्ति के साधन का सम्यक् प्रकार से रक्षण करना—उसे सुरक्षित रखना चाहिए। रत्नत्रय की उन्नति या वृद्धि हो, वैसा प्रयत्न करना चाहिए।

४. इर्यादि समितियों का पालन करे—साधु को अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति (गमनागमन, आसन, शयन, भोजन, भाषण, परिष्ठापन, निक्षेपण आदि हर क्रिया) विवेकपूर्वक करनी चाहिए। अगर वह अपनी प्रवृत्ति विवेकपूर्वक नहीं करेगा तो उसकी प्रवृत्ति, हिंसा, असत्य, चौर्य, कुशील, परिग्रह आदि दोषों से दूषित होनी सम्भव है, ऐसी स्थिति में उसका चारित्र विराधित—खण्डित हो जायेगा, उसके महाव्रत दूषित हो जायेंगे। अतः चारित्र शुद्धि की दृष्टि से इर्या समिति; आदाननिक्षेपण समिति एवं एषणा समिति को अप्रमत्ततापूर्वक पालन करने का संकेत है। उपलक्षण से यहाँ भाषासमिति और परिष्ठापना समिति का संकेत भी समझ लेना चाहिए। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—'**चरिया-ऽऽसणसेज्जासु भत्तपाणे य अंतसो**'—अर्थात्—चर्या एवं आसन (चलने-फिरने एवं बैठने आदि) में सम्यक् उपयोग रखे—इर्यासमिति का पालन करे, तथा शय्या (सोने तथा शयनीय बिछौने, पट्ट आदि) का भलीभाँति प्रतिलेखन (अवलोकन) प्रमार्जन करे—आदान निक्षेपणा समिति का पालन करे, एवं निर्दोष आहारपानी ग्रहण-सेवन का ध्यान रखे—एषणासमिति का पालन करे। आहारपानी के लिए जब भिक्षाटन करेगा—गृहस्थ के घर में प्रवेश करेगा, तब भाषण-सम्भाषण होना भी सम्भव है, तथा आहार-पानी का सेवन करने पर उच्चार-प्रस्रवण भी अवश्यम्भावी है, इसलिए इन दोनों में विवेक के लिए एषणासमिति के साथ ही भाषा समिति और परिष्ठापन समिति का भी समावेश यहाँ हो जाता है।

---

[२६] विगता अपगता आहारादौ गृद्धिर्यस्याऽसौ विगतगृद्धिः साधुः।

[२७] "आदीयते····मोक्षो येन तदादानीयं—ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयम्।" —सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ५२

५. इन तीन स्थानों में मुनि सतत संयत रहे—पूर्व गाथा में क्रियापद नहीं है, इसलिए ८७वीं सूत्र-गाथा के पूर्वार्द्ध में शास्त्रकार ने यह पंक्ति प्रस्तुत की है—**'एतेहिं तिहिं ठाणेहिं संजते सततं मुणी'**—अर्थात्—इन (पूर्वोक्त) तीन स्थानों (समितियों) में मुनि सतत सम्यक् प्रकार से यतनाशील रहे। इससे प्रतिक्षण अप्रमत्त होकर रहना भी सूचित कर दिया है।

६. कषाय-चतुष्टय का परित्याग करे—कषाय भी कर्मबन्ध का एक विशिष्ट कारण है। कषाय मुख्यतया चार प्रकार के हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। साधु जीवन में कोई भी कषाय भड़क उठेगा, या तीव्र हो जायेगा, वह सीधा चारित्र का घात कर देगा। बाहर से उच्च क्रिया पालन करने पर भी साधक में अभिमान, कपट, लोभ (आसक्ति) या क्रोध की मात्रा घटने के बजाय बढ़ती गई तो वह उसके साधुत्व को चौपट कर देगी, साधु धर्म का मूल चारित्र है, वह कषाय विजय न होने से दूषित हो जाता है। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा—**'उक्कसं जलणं णूमं मज्झत्थं च विगिंचए'**—मान, क्रोध, माया और लोभ का परित्याग करे, इन चारों के लिए क्रमशः इन चार पदों का प्रयोग किया गया है।[२८]

७. साधु सदा समित होकर रहे—यद्यपि वृत्तिकार **'समिते सदा साहू'** इस विवेकसूत्र का अर्थ करते हैं कि 'साधु पंच समितियों से समित—युक्त हो।'[२९]

८. पंचमहाव्रत रूप संवर से संवृत्त हो—पाँच महाव्रत कहें या प्राणातिपात-विरमण आदि पाँच संवर कहें, बात एक ही है। ये पंच संवर कर्मास्रव को रोकने वाले हैं, कर्मबन्ध के निरोधक हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो साधु-जीवन के ये पंच प्राण हैं। इनके बिना साधु-जीवन निष्प्राण है। इसलिए साधु को चाहिए कि चारित्र के मूलाधार, इन पाँच महाव्रतों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को प्राणप्रण से सुरक्षित (गुप्त) रखें। अन्यथा चारित्रशुद्धि तो दूर रही, चारित्र का ही विनाश हो जायेगा। इसीलिए शास्त्रकार ने विवेकसूत्र बताया **"पंचसंवर संवुडे।"**[३०]

९. गृहपाश-बद्ध गृहस्थों में आसक्त न हो—यह विवेकसूत्र भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। स्थविर-कल्पी साधु को आहार, पानी, आवास, प्रवचन आदि को लेकर बार-बार गृहस्थ वर्ग से सम्पर्क आता है। ऐसी स्थिति में उससे सम्बन्ध रखे बिना कोई चारा नहीं, किन्तु साधुगृहस्थों से—गृहस्थ के पत्नी, पुत्र, माता-पिता आदि पारिवारिकजनों से सम्पर्क रखते हुए भी उनके मोहरूपी पाश-बन्धनों में न फंसे, वह राग-द्वेषादिवश गृहस्थ वर्ग की झूठी निन्दा-प्रशंसा, चाटुकारी आदि न करे, न ही उसके

---

२८. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ५२
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ. २७१

२९. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ५२
(ख) देखिये आचारांगसूत्र में 'समित' के तीन अर्थ—(१) समिते एयाणुपस्सी (आचा० १।२।३।७६) समिते—सम्यग्दृष्टिसम्पन्न, (२) "....उवसंते समिते सहिते....।"—(१।३।२।११६) समिते—सम्यक्प्रवृत्त। "अहियासए सदा समिते....समिते—समभाव में प्रवृत्त-युक्त होकर (आचा० १।९।२।२८६)।

३०. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ५२
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या आ. १ पृ. २७२

समक्ष दीनता-हीनता प्रकट करे, उससे किसी प्रकार का मोह सम्बन्ध भी न रखे। उससे निर्लिप्त, अनासक्त, निःस्पृह और निर्मोह रहने का प्रयत्न करे, अन्यथा उसका पंच महाव्रत रूप चारित्र खतरे में पड़ सकता है, आचार शैथिल्य आने की सम्भावना है, वह समाज (गृहस्थ वर्ग) के बीच रहता हुआ भी उसके गार्हस्थ्य प्रपंच (व्यवसाय या वैवाहिक कर्म आदि) से जलकमलवत् निर्लिप्त रहे। इसीलिए चारित्रशुद्धि हेतु शास्त्रकार कहते हैं—**'सितेहिं असिते भिक्खू'**—अर्थात् भिक्षु गृहपाशादि में सित-बद्ध-आसक्त गृहस्थों में असित—अनवबद्ध अर्थात् मूर्च्छा न करता हुआ जल-कमलवत् अलिप्त होकर रहे।[३१]

१०. मोक्ष होने तक संयम में उद्यम करे—यह अन्तिम और सबसे महत्त्वपूर्ण विवेकसूत्र है। चारित्र पालन के लिए साधु को तन-मन-वचन से होने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति में सावधान रहना आवश्यक है। उसे प्रत्येक प्रवृत्ति में संयम में दृढ़ रहना है। मुक्त होने के लिए ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप संयम में सतत उद्यम करते रहना है, उसकी कोई भी प्रवृत्ति कर्मबन्धनयुक्त न हो, प्रत्येक प्रवृत्ति कर्म-बन्धन से मुक्ति के लिए हो। प्रवृत्ति करने से पहले उसे उस पर भलीभाँति चिन्तन कर लेना चाहिए कि मेरी इस प्रवृत्ति से कर्मबन्ध होगा या कर्म-मोक्ष? अगर किसी प्रवृत्ति के करने से सस्ती प्रतिष्ठा या क्षणिक वाहवाही मिलती हो, अथवा प्रसिद्धि होती हो, किन्तु वह कर्मबन्धनकारक हो तो उससे दूर रहना उचित है। किसी प्रवृत्ति के करने से मोक्षमार्ग का मुख्य अंग—चारित्र या संयम जाता है, नष्ट होता है, तो उसे भी करने का विचार न करे। अथवा इस विवेक सूत्र का यह आशय भी सम्भव है कि मोक्ष होने तक बीच में साधनाकाल में कोई परीषह, उपसर्ग, संकट या विषम परिस्थिति आ जाए, तो भी साधु अपने संयम में गति-प्रगति करे, वह संयम (चारित्र) को छोड़ने का कतई विचार न करे। जैसे सत्त्वशाली प्रवासी पथिक जब तक अपनी इष्ट मंजिल नहीं पा लेता, तब तक चलना बन्द नहीं करता, या नदी तट का अन्वेषक जब तक नदी तट न पा ले, तब तक नौका का परित्याग नहीं करता, इसी तरह जब तक समस्त दुःखों (कर्मों) को दूर करने वाले सर्वोत्तम सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति न हो जाये तब तक मोक्षार्थी को संयम-पालन करना चाहिए। अन्यथा, कर्मबन्धन काटने के लिए किया गया उसका अब तक का सारा पुरुषार्थ निष्फल हो जायेगा। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**"आमोक्खाए परिव्वएज्जासि।"** निष्कर्ष यह है कि समस्त कर्मों के क्षय (मोक्ष) के लिए सतत संयम में पराक्रम करता रहे; ऐसा करना चारित्र शुद्धि के लिए आवश्यक है।[३२]

---

३१. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ५२
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ. २८०
(ग) सितेहिं—सितेषु गृहपाशादिषु सिताः-बद्धाः-आसक्ताः ये ते सिताः-गृहस्थास्तेषु गृहस्थेषु असितः-अनवबद्धः-मूर्च्छामकुर्वाणः। यथा पंके जायमाने जले च वर्धमानमपि कमलं न पंकेन जलेन वा स्पृष्टं भवति, किन्तु निर्लिप्तमेव तिष्ठति जलोपरि, तथैव तेषु सम्बन्धरहितो भवेत्।
—सूत्रकृतांग समयार्थबोधिनी भा. १ पृ. ४५९

३२. (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ. २८०
(ख) सूत्रकृतांग समयार्थबोधिनी टीका भा. १ पृ. ४६०-४६१
(ग) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति; भाषानुवाद सहित भा. १ पृ. १९१

कठिन शब्दों की व्याख्या—**उक्कसं**—उत्कर्ष—जिससे मनुष्य उकसा जाए—गर्वित हो जाए वह उत्कर्ष—मान। **जलणं**—जिससे व्यक्ति अन्दर ही अन्दर जलता है, वह जलन यानी क्रोध। **णूमं**—नूम का अर्थ है—जो प्रच्छन्न-अप्रकट-गहन-गूढ़ हो; वह माया। **मज्झत्थं**—मध्यस्थ—अर्थात् जो सारे संसार के प्राणियों के मध्य-अन्तर में रहता है, वह मध्यस्थ—लोभ। अथवा **मज्झत्थं** के बदले **'अज्झत्थं'** पाठान्तर मानकर चूर्णिकार अर्थ करते हैं—**"अज्झत्थो णाम अभिप्रेयः, स च लोभः"**—अध्यस्थ यानी अभिप्रेत (अभीष्ट) और वह है लोभ।[33]

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

॥ सूत्रकृतांग सूत्र प्रथम अध्ययन : समय—समाप्त ॥

□□

---

[33] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ५२
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू. पा. टिप्पण) पृ. १५

वैतालीय—द्वितीय अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांगसूत्र (प्र. श्रु.) के द्वितीय अध्ययन का नाम 'वैतालीय' है।

☐ प्राकृत में इसका नाम वेयालीय है, संस्कृत में उसके दो रूप होते हैं—वैतालीय और वैदारिक, जिन्हें निर्युक्तिकार, चूर्णिकार और वृत्तिकार तीनों स्वीकार करते हैं।

☐ कर्मों के या कर्मों के बीज—रागद्वेष-मोह के संस्कारों के विदार (विदारण-विनाश) का उपदेश होने से इस अध्ययन को वैदारिक कहा गया है। इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक में **'वेयालिय-मग्गमागओ'** का अर्थ चूर्णि और वृत्ति में 'कर्म-विदारण का, अथवा कर्म-विदारक भगवान् महावीर का मार्ग' किया गया है।

☐ इस अध्ययन की रचना वैतालीय वृत्त (छन्द) में की गई है, इस कारण भी इस अध्ययन का नाम 'वैतालीय' है।[1]

☐ मोहरूपी वैताल (पिशाच) साधक को सामाजिक, पारिवारिक, शारीरिक, मानसिक, आदि रूप में कैसे-कैसे पराजित कर देता है? उससे कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे बचना चाहिए?, इस प्रकार मोह वैताल-सम्बन्धी वर्णन होने के कारण इसका नाम वैतालीय या वैतालिक सार्थक है।[2]

---

[1] (क) वेयालियं इह देसियंति, वेयालियं तओ होइ।
वेयालियं तहा वित्तमत्थि, तेणेव य णिवद्धं ॥ —सूत्रकृ. निर्युक्ति गाथा ३८

(ख) वैयालियमग्गमागओ—कर्मणां विदारणमार्गमागतो भूत्वा……। —सूत्रकृ. शीलांकवृत्ति पत्र ५९

(ग) "विदार का अर्थ है—विनाश। यहाँ रागद्वेष रूप संस्कारों का विनाश विवक्षित है। जिस अध्ययन में रागद्वेप के विदार का वर्णन हो, उसका नाम है वैदारिक।"
—जैनसाहित्य का वृहद् इतिहास भा. १ पृ. १४०

(घ) "वैतालीयं र्लगनैर्धना: पड्युक्पादेऽष्टौ समे च ल:।
न समोऽत्र परेण युज्यते, नेत: षट् च निरन्तरा युजो: ॥"
—जिस वृत्त (छन्द) के प्रत्येक पाद के अन्त में रगण, लघु और गुरु हों, तथा प्रथम और तृतीय पाद में
६-६ मात्राएँ हों, एवं द्वितीय और चतुर्थ पाद में ८-८ मात्राएँ हों, तथा समसंख्या वाला लघु परवर्ण से गुरु
न किया जाता हो, एवं दूसरे व चौथे चरण में लगातार छह लघु न हों, उसे वैतालीय छन्द कहते हैं।
—सूत्रकृ. शी. वृत्ति पत्रांक ५३

[2] (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ. २८२ के आधार पर

(ख) जैन-आगम साहित्य : मनन और मीमांसा पृ. ८१ के आधार पर

☐ अष्टापद पर्वत पर विराजमान भगवान् ऋषभदेव ने मार्गदर्शन के लिए अपने समीप समागत ९८ पुत्रों को जो प्रतिबोध दिया था, जिसे सुनकर उनका मोहभंग हो गया, वे प्रतिबुद्ध होकर प्रभु के पास प्रव्रजित हो गए, वह प्रतिबोध इस अध्ययन में संगृहीत है[3], ऐसा निर्युक्तिकार का कथन है।

☐ यहाँ द्रव्य विदारण का नहीं, भाव विदारण का प्रसंग है। दर्शन, ज्ञान, तप, संयम आदि भाव विदारण हैं, कर्मों को या राग-द्वेष-मोह को विदारण (नष्ट) करने का सामर्थ्य इन्हीं में है।[4]

☐ भाव विदारण के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत अध्ययन के तीन उद्देशकों में वस्तु तत्त्व का प्रतिपादन वैशालिक ज्ञातपुत्र महावीर भगवान् द्वारा किया गया है, जिसका उल्लेख अध्ययन के अन्त में है।[5]

☐ प्रथम उद्देशक में सम्बोध (हित-प्राप्ति और अहित-त्याग के सम्यक् बोध) और संसार की अनित्यता का उपदेश है।

☐ द्वितीय उद्देशक में मद, निन्दा, आसक्ति आदि के त्याग का तथा समता आदि मुनिधर्म का उपदेश है।

☐ तृतीय उद्देशक में अज्ञान-जनित कर्मों के क्षय का उपाय, तथा सुखशीलता, काम-भोग, प्रमाद आदि के त्याग का वर्णन है।

☐ प्रथम उद्देशक में २२, द्वितीय उद्देशक में ३२ और तृतीय उद्देशक में २२ गाथाएँ हैं। इस प्रकार इस वैतालीय या वैदारिक अध्ययन में कुल ७६ गाथाएँ हैं, जिनमें मोह, असंयम, अज्ञान, राग-द्वेष आदि के संस्कारों को नष्ट करने का वर्णन है।[6]

☐ सूत्रगाथा संख्या ८९ से प्रारम्भ होकर सूत्रगाथा १६४ पर द्वितीय अध्ययन समाप्त होता है।

☐☐

---

[3] (क) कामं तु सासणमिणं कहियं अट्ठावयंमि उसभेणं।
अट्ठाणंउति सुयाणं सोऊण ते वि पव्वइया ॥
—सूत्रकृ. निर्युक्ति गा. ३९

(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ५३

[4] "भावविदारणं तु दर्शन-ज्ञान-तपः संयमाः, तेषामेव कर्मविदारणे सामर्थ्यमित्युक्तं भवति। विदारणीयं······ पुनरष्टप्रकारं कर्मेति·····।"
—सूत्र. शी. वृत्ति, पत्रांक ५३

[5] "वेसालिए वियाहिए।"
—सूत्र शी. वृत्ति भाषानुवादसहित भा. १ पृ. ३००

[6] (क) पढमे संबोहो अणिच्चया य, बीयंमि माणवज्जणया।
अहिगारो पुण भणिओ, तहा तहा बहुविहो तत्थ ॥ ४० ॥
उद्देसंमि य तइए अन्नाणचियस्स अवचओ भणिओ।
वज्जेयव्वो य सया सुहप्पमाओ जइजणेणं ॥ ४१ ॥
—सूत्रकृ. निर्युक्ति

(ख) जैन-आगम-साहित्य : मनन और मीमांसा पृ. ८१

बिइयं अज्झयणं 'वेयालियं'

द्वितीय अध्ययन : वैतालीय

पढमो उद्देसओ : प्रथम उद्देशक

भगवान् ऋषभदेव द्वारा अठानवें पुत्रों को सम्बोध

८९. संबुज्झह किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
णो हूवणमंति रातिओ, णो सुलभं पुणरावि जीवियं ।।१।।

९०. डहरा वुड्ढा य पासहा, गब्भत्था वि चयंति माणवा ।
सेणे जह वट्टयं हरे, एवं आउखयम्मि तुट्टती ।।२।।

९१. मायाहिं पियाहिं लुप्पति, णो सुलभा सुगई वि पेच्चओ ।
एयाइं भयाइं पेहिया, आरंभा विरमेज्ज सुव्वते ।।३।।

९२. जमिणं जगती पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो ।
सयमेव कडेहिं गाहती, णो तस्सा मुच्चे अपुट्ठवं ।।४।।

८९. (हे भव्यो !) तुम बोध प्राप्त करो । बोध क्यों नहीं प्राप्त करते ? (मरने के पश्चात्) परलोक में सम्बोधित प्राप्त करना अवश्य ही दुर्लभ है । बीती हुई रातें लौटकर नहीं आतीं, और संयमी जीवन फिर (पुनः पुनः) सुलभ नहीं है ।

९०. छोटे बच्चे, बूढ़े और गर्भस्थ शिशु भी अपने जीवन (प्राणों) को छोड़ देते हैं, मनुष्यो ! यह देखो ! जैसे बाज बटेर पक्षी को (झपट कर) मार डालता है; इसी तरह आयुष्य क्षय (नष्ट) होते ही (मृत्यु भी प्राणियों के प्राण हर लेती है, अथवा) जीवों का जीवन भी टूट (नष्ट हो) जाता है ।

९१. कोई व्यक्ति माता-पिता आदि (के मोह में पड़कर, उन्हीं) के द्वारा मार्गभ्रष्ट कर दिया जाता है, या वे संसार-परिभ्रमण कराते हैं । उन्हें मरने पर (परलोक में) सुगति (मनुष्यगति या देवगति) सुलभ नहीं होती—आसानी से प्राप्त नहीं होती । इन भयस्थलों (खतरों) को देख जानकर व्यक्ति सुव्रती (व्रतधारी) बनकर आरम्भ (हिंसादि जनित भयंकर पापकर्म) से विरत-निवृत्त हो जाय ।

९२. क्योंकि (मोहान्ध होकर सावद्य कार्यों से अविरत) प्राणी इस संसार में अलग-अलग अपने-अपने (स्वयं) किये हुए कर्मों के कारण दुःख पाते हैं, तथा (स्वकृत कर्मों के ही फलस्वरूप) नरकादि यातना स्थानों में जाते हैं । अपने कर्मों का स्वयं फलस्पर्श किये (फल भोगे) बिना (उनसे) वे छूट (मुक्त) नहीं (हो) सकते ।

विवेचन—सम्बोधि प्राप्ति का उपदेश—इस अवसर्पिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती भरत ने जब अपने ९८ लघु भ्राताओं को अधीनता स्वीकार करने का संदेश भेजा, तब वे मार्गदर्शन के लिए प्रथम तीर्थंकर पितामह भगवान् ऋषभदेव की सेवा में पहुंचे और 'हम क्या करें ?' का समाधान पूछा। तब आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव अपने गृहस्थपक्षीय पुत्रों को लक्ष्य करके विभिन्न पहलुओं से त्याग, वैराग्य का बोध प्राप्त करने का उपदेश देते हैं, जो इस उद्देशक में संकलित है। प्रस्तुत चतुःसूत्री में वे चार तथ्यों का बोध देते हैं—

(१) यहीं और अभी जीते जी बोध प्राप्त कर लो, परभव में पुनः बोध-प्राप्ति सुलभ नहीं,
(२) मृत्यु सभी प्राणियों की निश्चित है,
(३) माता-पिता आदि का मोह सुगति से वंचित कर देगा,
(४) मोहान्ध जीव अपने दुष्कृत कर्मो के फलस्वरूप स्वयं दुःखित एवं दुर्गतियों में पीड़ित होते हैं।

सम्बोध क्या और वह दुर्लभ क्यों—प्रथम गाथा (सूत्र ८९) में यथाशीघ्र सम्बोध प्राप्त करने की प्रेरणा दी गयी है वह सम्बोध क्या है ? वृत्तिकार कहते हैं—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र, इस रत्नत्रय रूप उत्तम धर्म का बोध ही सम्बोध है।

पहले तो मनुष्य जन्म प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। मनुष्य जन्म की प्राप्ति के साथ आर्य देश, कर्म भूमि, उत्तम कुल, कार्यक्षम पाँचों इन्द्रियाँ, स्वस्थ शरीर, दीर्घायु, नीरोगता तथा उत्तम सद्धर्म की प्राप्ति आदि अनेक दुर्लभ घाटियाँ पार करने के बाद भी मनुष्य प्रमाद में पड़ जाये तो सद्धर्म श्रवण और उस पर श्रद्धा करना अत्यन्त कठिन है। जब तक व्यक्ति सद्धर्म का श्रवण और उस पर श्रद्धा न कर ले, तव तक सम्बोध प्राप्ति भी दूर है, ऐसा समझकर ही सम्बोध दुर्लभतम वताया है।

सद्धर्म-श्रवण से पहले ही दुर्लभ वस्तुएं प्राप्त होने पर अधिकांश लोग सोचने लगते हैं कि परलोक में बोध प्राप्त कर लेंगे, अभी क्या जल्दी है ? उसका निराकरण करते हुए कहा गया है—**'नो सुलहं पुणरावि जीवियं'** अर्थात् यह मनुष्य जीवन अथवा संयमी जीवन पुनः मिलना सुलभ नहीं है।

दो कारण से मनुष्य वर्तमान में प्राप्त उत्तम अवसर को आगे पर टालता है—(१) देवलोक या पुनः मनुष्य लोक मिलने की आशा से, अथवा (२) इस जन्म में भी वृद्धावस्था आने पर या भोगों से तृप्त हो जाने पर, परन्तु शास्त्रकार स्पष्ट कह देते हैं कि यह निश्चित नहीं है कि तुम्हें मरने के बाद देवलोक मिलेगा ही ! तिर्यञ्चगति या नरकगति मिल गई तो वहाँ सम्बोध पाना प्रायः असम्भव-सा है। देवगति मिल गई तो भी वहाँ सम्यग्दर्शन बोध उसी को प्राप्त होता है, जो मनुष्य-जन्म में उत्तम धर्मकरणी करते हैं, और बड़ी कठिनता से अगर वहाँ सम्बोध मिल भी गया तो भी देवता धर्माचरण या संयमी जीवन स्वीकार नहीं कर सकते, उसे मनुष्य ही कर सकते हैं। मनुष्य जन्म भी तभी मिलता है, जवकि प्रकृति भद्रता, विनीतता सहृदयता एवं दया भाव हो। मान लो, मनुष्य जन्म मिल भी गया तो भी पूर्वोक्त विकट घाटियाँ पार होनी अत्यन्त कठिन है, फिर यदि मनुष्य जन्म को भी विषय-भोगों में फँसकर खो दिया अथवा बुढ़ापा आदि आने पर धर्म-बोध पाने की आशा से कुछ किया नहीं, यों ही हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे—क्या पता है, बुढ़ापा आयेगा या नहीं ? मान लो, बुढ़ापा भी आ गया, तो भी उस समय मनोवृत्ति कैसी होगी ? धर्म-श्रवण की जिज्ञासा होगी या नहीं ? सद्धर्म पर

श्रद्धा होगी या नहीं ? किसे पता है ? और फिर बुढ़ापे में जब इन्द्रियाँ क्षीण हो जायेगी, शरीर जर्जर हो जायेगा धर्माचरण या संयम पालन करने की शक्ति नहीं रह जायेगी। इसलिए शास्त्रकार का तात्पर्य यह है कि संयमयुक्त मानव जीवन पुनः प्राप्त होना दुर्लभ है। **'णो हूवणमंति राइओ'** इस बोध वाक्य का भी आशय यही है कि बीता हुआ समय या अवसर लौटकर नहीं आता। इसलिए इस जन्म में भी जो क्षण बीत गया है, वह वापस लौटकर नहीं आयेगा, और न यह भरोसा है कि इस क्षण के बाद अगले क्षण तुम्हारा जीवन रहेगा या नहीं ? जीवन के इस परम सत्य को प्रकट करते हुए कहा गया है—**"संबुज्झह, किं न बुज्झह ?"** इसका आशय यही है कि इसी जन्म में और अभी बोध प्राप्त कर लो। जब इतने सब अनुकूल संयोग प्राप्त हैं तो तुम बोध क्यों नहीं प्राप्त कर लेते ?

भगवान् ऋषभदेव का यह वैराग्यप्रद उपदेश समस्त भव्य मानवों के राग-द्वेष-मोह-विदारण करने एवं बोध प्राप्त करने में महान् उपयोगी है। केनोपनिषद् में भी इसी प्रकार की प्रेरणा है—"यहाँ जो कुछ (आत्मज्ञान) प्राप्त कर लिया, वही सत्य है, अगर यहाँ उसे (आत्मादि तत्त्व को) नहीं जाना तो (आगे) महान् विनाश है।[1]

द्रव्य सम्बोध की अपेक्षा भाव सम्बोध दुर्लभतर—द्रव्यनिद्रा से जागना द्रव्य सम्बोध है, और भाव-निद्रा (ज्ञान-दर्शन-चारित्र की शून्यता या प्रमाद) से जागना भाव सम्बोध है, जिसे प्राप्त करने की ओर शास्त्रकार का इंगित है; क्योंकि द्रव्य सम्बोध की अपेक्षा भाव सम्बोध दुर्लभ है। यहाँ निर्युक्तिकार ने द्रव्य और भाव से जागरण और शयन को लेकर चतुर्भंगी सूचित की है—(१) एक साधक द्रव्य से सोता है, भाव से जागता है, (२) दूसरा द्रव्य से जागता है, भाव से सोता है, (३) तीसरा साधक द्रव्य से भी सोता है, भाव से भी, और (४) चौथा साधक द्रव्य और भाव दोनों से जागता है; यह चतुर्थभंग है और यही सर्वोत्तम है। इसके बाद प्रथम भंग ठीक है। शेष दोनों भंग निकृष्ट हैं।[2]

मृत्यु किसी को, किसी अवस्था में नहीं छोड़ती—वीतराग केवली चरमशरीरी या तीर्थंकर आदि इने-गिने महापुरुषों के सिवाय मृत्यु पर किसी ने भी विजय प्राप्त नहीं की। आयुष्य की डोरी टूटते ही मृत्यु निश्चित है। जैसे—बाज बटेर पर झपटकर उसका जीवन नष्ट कर देता है, वैसे ही मृत्यु आयुष्य क्षय होते ही मनुष्य जीवन पर टूट पड़ती है। इसी आशय से दूसरी गाथा में कहा गया है—**'डहरा वुड्ढाय .... आउक्खयम्मि तुट्टइ।'**

मनुष्य जन्म प्राप्त हो जाने पर भी मृत्यु निश्चित है, वह कब आकर गला दबोच देगी, यह निश्चित नहीं है, इसलिए सम्बोध प्राप्त करने तथा धर्माराधना करने में विलम्ब नहीं करना चाहिए, यह आशय इस गाथा में गर्भित है।

---

[1] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पृ० ५४ के आधार पर
(ख) इहचेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदवेदीन्महती विनष्टिः। —केनोपनिषद्

[2] (क) दव्वं निद्दावेओ दंसणणाणतवसंजमा भावे।
अहिगारी पुण भणिओ, णाणे तव-दंसण-चरित्ते॥ —सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा० ४२
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति भाषानुवाद भाग १, पृ० १९९

माता-पिता आदि का मोह दुर्गति से नहीं बचा पाता—कई लोग यह सोच लेते हैं कि माता-पिता के कारण हम तर जायेंगे। इस भ्रान्ति का निराकरण करते हुये तृतीय गाथा (९१) में कहा गया है—**'मायाहिं पियाहिं लुप्पई।'**

एआइं भयाइं पेहिया……… सुव्वए—इस पंक्ति का आशय यह है कि माता-पिता आदि स्वजनों के मोह से विवेक विकल होकर उनके निमित्त से नाना पापकर्म से दुर्गतिगमनादि जो खतरे पैदा होते हैं, उन्हें जान-देखकर (कम-से-कम) व्रतधारी-श्रावक बनकर उक्त निरर्थक आरम्भादि सावद्य (पाप) कार्यों से रुके—बचे।

यहाँ माता-पिता आदि की गृहस्थ श्रावक-धर्मोचित सेवा आज्ञापालन आदि कर्तव्य-पालन का निषेध नहीं किया है, किन्तु उनके प्रति मोहान्ध होकर श्रावक धर्म विरुद्ध अन्ध परम्परागत हिंसाजनक कुप्रथाओं का पालन करने तथा पशुबलि, मदिरापानादि दुर्व्यसन, हिंसा, झूठ, चोरी, लूटपाट डकैती, गिरहकटी आदि भयंकर पापकर्म से बचने की प्रेरणा दी गई है।

स्वकृत कर्मों का फलभोग स्वयं को ही करना होगा—पूर्वगाथा के सन्दर्भ में "माता-पिता आदि पारिवारिकजनों के लिए किये गये पापकर्म का फल स्वयं (पुत्र) को नहीं भोगना पड़ेगा", इस भ्रान्ति के शिकार व्यक्तियों को लक्ष्य में रखकर चतुर्थ गाथा (सू० ९२) में कहा गया है—**"जमिणं जगती··· मुच्चे अपुट्ठवं।"** इसका आशय यह है कि जगत् में समस्त प्राणियों के कर्म पृथक्-पृथक् हैं, उन स्वकृत कर्मों के फलस्वरूप व्यक्ति स्वयं ही यातना स्थानों में (फल भोगने के लिए) जाता है। कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं हो सकता। इस गाथा में तीन रहस्यार्थ छिपे हैं—(१) पुत्रादि के बदले में माता-पिता आदि उन पुत्रादि-कृतकर्मों का फल नहीं भोगेंगे, (२) सबके कर्म सम्मिलित नहीं हैं कि एक के बदले दूसरा उस कर्म का फल भोग ले, इसलिए व्यक्ति को स्वयं ही स्वकृत कर्मफल भोगना पड़ेगा। (३) स्वकृत कर्मफल से छुटकारा न तो माता-पिता आदि स्वजन दिला सकेंगे, न देवता, ईश्वर या कोई विशिष्ट शक्तिशाली व्यक्ति ही दिला सकेंगे, स्वकृत कर्म से छुटकारा व्यक्ति स्वयं ही कर्मोदय के समय समभाव से भोगकर पा सकेगा। अथवा अहिंसा, संयम (महाव्रत ग्रहण) एवं विशिष्ट तपस्या से उन कर्मों की निर्जरा किए बिना उन (कर्मों) से छुटकारा नहीं हो सकेगा।[3]

कठिन शब्दों की व्याख्या—पेच्च—परलोक में जाने पर। **णो हूवणमंति रातिओ**—निःसन्देह रात्रियाँ (व्यतीत समय) वापस नहीं लौटती। **डहरा**—छोटे बच्चे। **चयंति**—जीवन या प्राणी को छोड़ देते हैं। **सेणे**—श्येनबाज। **वट्टयं**—वर्तक—बतक या बटेर पक्षी। **हरे**—मार डालता है। **माताहिं पिताहिं लुप्पति, णो सुलभा सुगई वि पेच्चओ**—कोई व्यक्ति माताओं (माता, दादी, नानी, चाची, ताई, मौसी, मामी आदि) तथा पिताओं (पिता, दादा, ताऊ, चाचा, नाना, बाबा, मौसा, मामा आदि) के मोह में पड़कर धर्म आचरण से विरत हो जाता है, उसे उन्हीं के द्वारा संसार भ्रमण कराया जाता

---

[3] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पृ० ५५ के आधार पर

(ख) स्वयंकृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥

है। परलोक में उसके लिए सुगति भी सुलभ नहीं है। किसी प्रति में **मायाइ पियाइ लुप्पति**…पाठान्तर हैं, अर्थ होता है—माता के द्वारा या पिता के द्वारा धर्ममार्ग से भ्रष्ट कर दिया जाता है। चूर्णिकार ने नागार्जुनीय सम्मत पाठान्तर सूचित किया है—"**मातापितरो य भातरो विलभेज्ज सुकेण पच्चए।**" पुत्रादि के बदले माता, पिता, पितामहादि या भाई आदि भी मरने के बाद परलोक में कैसे उनके कर्मफल प्राप्त कर सकते हैं? या पुत्रादि को माता-पिता आदि परलोक में कैसे प्राप्त हो सकते हैं? **पेहिया**—देखकर, चूर्णि में पाठान्तर है—**देहिया**। अर्थ समान है। **सुव्वते**—सुव्रत—श्रेष्ठ व्रतधारी बनकर। वृत्तिकार इसके बदले '**सुट्ठिते**' पाठान्तर सूचित करके व्याख्या करते हैं—भली भाँति धर्म में स्थित—स्थिर होकर। **जमिणं**—क्योंकि जो पुरुष सावद्य-अनुष्ठानों से निवृत्त नहीं होते, उनकी यह दशा होती है। **पुढो**—पृथक्-पृथक्। **जगा पाणिणो**—जीवधारी प्राणी। **लुप्पंति**—विलुप्त-दुःखित होते हैं। **गाहती**—नरकादि यातना स्थानों में अवगाहन करते है—भटकते हैं। अथवा उन दुःख हेतुक कर्मों का गाहन-वर्धन (वृद्धि) करते हैं। '**णो तस्सा मुच्चे अपुट्ठवं**'—अशुभाचरण जन्य पापकर्मों के विपाक से अस्पृष्ट—अछुए रहकर (भोगे बिना) वे मुक्त नहीं हो सकते।[४]

अनित्यभाव-दर्शन

९३. देवा गंधव्व-रक्खसा, असुरा भूमिचरा सिरीसिवा।
राया नर-सेट्ठि-माहणा, ठाणा ते वि चयंति दुक्खिया॥ ५॥

९४. कामेहि य संथवेहि य, गिद्धा कम्मसहा कालेण जंतवो।
ताले जह बंधणच्चुते, एवं आउखयम्मि तुट्टती॥ ६॥

९३. देवता, गन्धर्व, राक्षस, असुर, भूमिचर (भूमि पर चलने वाले) सरीसृप (सरक कर चलने वाले सांप आदि तिर्यंच), राजा, मनुष्य, नगरसेठ या नगर का श्रेष्ठ पुरुष और ब्राह्मण, ये सभी दुःखित होकर (अपने-अपने) स्थानों को छोड़ते हैं।

९४. काम-भोगों (की तृष्णा) में और (माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि) परिचितजनों में गृद्ध-आसक्त प्राणी (कर्मविपाक के समय) अवसर आने पर अपने कर्म का फल भोगते हुए आयुष्य के क्षय होने पर ऐसे टूटते (मर जाते) हैं, जैसे बन्ध से छुटा हुआ तालफल (ताड़ का फल) नीचे गिर जाता है।

विवेचन—सभी प्राणियों के जीवन की अस्थिरता एवं अनित्यता—प्रस्तुत दो गाथाओं में दो पहलुओं से जीवन की समाप्ति बताई है—(१) चारों ही गति के जीवों के स्थान अनित्य हैं, (२) आसक्त प्राणी आयुष्य क्षय होते ही समाप्त हो जाते हैं। सभी स्थान अनित्य हैं—संसार में कोई भी गति, योनि पद, शारीरिक स्थिति या आर्थिक स्थिति आदि स्थायी नहीं है, चाहे वह देवगति का किसी भी कोटि का देव हो, चाहे मनुष्य गति का किसी भी श्रेणी का मानव हो, चाहे तिर्यञ्चगति का किसी भी जाति का विशालकाय जन्तु हो, अथवा और कोई हो, सभी को मृत्यु आते ही, अथवा अशुभ कर्मों का उदय होते ही अपनी पूर्व स्थिति विवश व दुःखित होकर छोड़नी पड़ती है, इसीलिए

---

[४] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति ५४
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० १६

शास्त्रकार कहते हैं—**देवा गंधव्वरक्खसा··· चयंति दुक्खिया**। आशय यह है—मनुष्य भ्रान्तिवश यह सोच लेता है कि मनुष्य मरकर पुनः मनुष्य ही बनता है, अतः मुझे फिर यही गति मिलेगी, अथवा मैं राजा, नगरसेठ या ब्राह्मण आदि पद पर वर्ण—जाति में सदैव स्थायी रहूँगा, या मेरी वर्तमान सुखी स्थिति, यह परिवार, धन, धाम आदि सदैव ऐसे ही बने रहेंगे, परन्तु मृत्यु आती है, या पापकर्म उदय में आते हैं, तब सारी आशाओं पर पानी फिर जाता है, सभी स्थान उलट-पलट जाते हैं। व्यक्ति अपने पूर्व स्थानों या स्थितियों के मोह में मूढ़ होकर उनसे चिपका रहता है, परन्तु जब उस स्थिति को छोड़ने का अवसर आता है, तो भारी मन से विलाप-पश्चात्ताप करता हुआ दुःखित होकर छोड़ता है, क्योंकि उसे उस समय बहुत बड़ा धक्का लगता है।[५]

देवता को अमर (न मरने वाला) बताया गया है; इस भ्रान्ति के निवारणार्थ इस गाथा में देव, गन्धर्व, राक्षस एवं असुर आदि प्रायः सभी प्रकार के देवों की स्थिति भी अनित्य, विनाशी एवं परिवर्तनशील बताई है। गीता में भी देवों की स्थिति अनित्य बताई गई है।[६]

शास्त्रकार का यह आशय गर्भित है कि सुज्ञ मानव अपनी गति, जाति, शरीर, धन, धाम, परिवार, पद आदि समस्त स्थानों को अनित्य एवं त्याज्य समझ कर इनके प्रति मोह ममता स्वयं छोड़ दे, ताकि इन्हें छोड़ते समय दुःखी न होना पड़े। वास्तव में देवों को अमर कहने का आशय केवल यही है कि वे अकालमृत्यु से नहीं मरते।

विषय-भोगों एवं परिचितों में आसक्त जीवों की दशा भी वही—इस द्वितीय गाथा में भी उसी अस्थिरता की झांकी देकर मनुष्य की इस भ्रान्ति को तोड़ने का प्रयास किया गया है कि वह यह न समझ ले कि पंचेन्द्रिय विषय-भोगों का अधिकाधिक सेवन करने से तृप्ति हो जाएगी और ये विषय-भोग मेरा साथ कभी नहीं छोड़ेंगे, तथा माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि सजीव तथा धन, धाम, भूमि आदि निर्जीव परिचित पदार्थ सदा ही मेरे साथ रहेंगे, ये मुझे मौत से या दुःख से बचा लेंगे। जब अशुभ कर्म उदय में आएँगे और आयुष्य क्षय हो जाएगा, तब न तो ये विषय-भोग साथ रहेंगे और न ही परिचित पदार्थ। इन सभी को छोड़कर जाना पड़ेगा, अथवा पापकर्मोदयवश भयंकर दुःख के गर्त में गिरना पड़ेगा। फिर व्यर्थ ही काम-भोगों पर या परिचित पदार्थों पर आसक्ति करके क्यों पाप कर्म का बन्ध करते हो, जिससे फल भोगते समय दुःखित होना पड़े? **'कामेहि संथवेहि···तुट्टती'** गाथा का यही आशय है।

कठिन शब्दों की व्याख्या—राया—चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, सम्राट्, राणा, राव राजा, ठाकुर जागीरदार आदि सभी प्रकार के शासक। **कामेहि**—इच्छाकाम (विषयेच्छा) और मदनकाम

---

[५] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ५५ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या के आधार पर पृ० २९३

[६] (क) ·········"स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते·········।" —कठोपनिषद् अ० १, वल्ली ३, श्लो० १२-१३
(ख) "ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं,
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।" —भगवद्गीता अ० ९/२१
(ग) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २९३

(कामभोग) में । **संथवेहिय**—और माता-पिता, स्त्री पुत्र आदि सजीव एवं धन, धाम, जमीन-जायदाद आदि निर्जीव परिचित पदार्थों में । **कम्मसहा**—वृत्तिकार के अनुसार—कर्मविपाक (कर्मफल) को सहते भोगते हुए । चूर्णिकार 'कम्मसहे' पाठान्तर मानकर व्याख्या करते हैं—कामेभ्यः संस्तवेभ्यश्च कम्मसहित्ति—कर्मभिः सह त्रुट्यतीति । कर्मों के साथ ही आयु कर्मों के क्षय होने के साथ ही उन काम-भोगों एवं परिचित पदार्थों से सम्बन्ध टूट जाता है । अर्थात्—**तुट्टती**—जीवन रहित हो जाते हैं । **ठाणा ते वि चयंति दुक्खिया**—ये सभी अपने स्थानों को दुःखित होकर छोड़ते हैं ।[7]

कर्म-विपाक-दर्शन

९५. जे यावि बहुस्सुए सिया, धम्मिए माहणे भिक्खुए सिया ।
अभिनूमकडेहिं मुच्छिए, तिव्वं से कम्मेहिं किच्चती ॥७॥

९६. अह पास विवेगमुट्ठिए, अवितिण्णे इह भासती धुवं ।
णाहिसि आरं कतो परं, वेहासे कम्मेहिं किच्चती ॥८॥

९५. यदि कोई बहुश्रुत—अनेक शास्त्र पारंगत हो, चाहे धार्मिक—धर्मक्रियाशील हो, ब्राह्मण (माहन) हो या भिक्षु (भिक्षाजीवी) हो, यदि वह मायामय-प्रच्छन्न दाम्भिक कृत्यों में आसक्त (मूर्च्छित) हैं तो वह कर्मों द्वारा अत्यन्त तीव्रता से पीड़ित किया जाता है ।

९६. अब तुम देखो कि जो (अन्यतीर्थी साधक) (परिग्रह का) त्याग अथवा (संसार की अनित्यता का) विवेक (ज्ञान) करके प्रव्रज्या ग्रहण करने को उद्यत होता है, परन्तु वह संसार-सागर से पार नहीं हो पाता, वह यहाँ या धार्मिक जगत् में ध्रुव—मोक्ष के सम्बन्ध में भाषण मात्र करता है । (हे शिष्य !) तुम (भी उन मोक्षवादी अन्यतीर्थियों का आश्रय लेकर) इस लोक तथा परलोक को कैसे जान सकते हो ? वे (अन्यतीर्थी उभय भ्रष्ट होकर) मध्य में ही कर्मों के द्वारा पीड़ित किये जाते हैं ।

विवेचन—दाम्भिक एवं भाषणशूर साधक : कर्मों से पीड़ित—प्रस्तुत गाथा द्वय में उन साधकों से सावधान रहने का संकेत किया गया है, जो मायायुक्त कृत्यों में आसक्त हैं, अथवा जो मोक्ष के विषय में केवल भाषण करते हैं, क्योंकि ये दोनों राग-द्वेष (माया-मान-कषाय) के वश होकर ऐसा करते हैं, और रागद्वेष कर्मबन्ध के बीज हैं, अतः वे नाना कर्मबन्ध करके कर्मोदय के समय दुःखित-पीड़ित होते हैं । इसलिए दोनों गाथाओं के अन्त में कहा गया है—**कम्मेहिं किच्चति** ।

प्रथम प्रकार के अन्यतीर्थी साधक (बहुश्रुत, धार्मिक, ब्राह्मण या भिक्षु) अथवा अन्य साधक गृहत्यागी एवं प्रव्रजित होते हुए भी सस्ते, सुलभ मोक्ष पथ का सब्जबाग दिखाते हैं, किन्तु वे स्वयं मोक्षपथ से काफी दूर हैं, मोक्ष तो क्या, लोक-परलोक का भी, पुण्य-पाप आदि का भी उन्हें यथार्थ ज्ञान नहीं है, न ही अन्तर में मोक्ष मार्ग पर श्रद्धा है, और न रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग पर चलते हैं, तब

---

७. (क) सूत्रकृतांक शीलांकवृत्ति पत्रांक ५४-५५
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृष्ठ १७

भला वे कैसे संसार सागर को पार कर सकते हैं ? सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय ही तो मोक्षपथ है, जिसका उन्हें सम्यग्ज्ञान—बोध नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि मायाचार युक्त अनुष्ठानों में अधिकाधिक आसक्ति अथवा मोक्ष का भाषण मात्र करने वाले कोई भी साधक प्रव्रजित या धार्मिक होकर कर्मक्षय करने के बदले घोर कर्मबन्धन कर लेते हैं, जो कर्मोदय के समय उन्हें अत्यन्त पीड़ा देते हैं। कदाचित् हठपूर्वक अज्ञानतप, कठोर क्रियाकाण्ड या अहिंसादि के आचरण के कारण उन्हें स्वर्गादि सुख या इहलौकिक विषय-सुख मिल भी जाएँ, तो भी वे सातावेदनीय कर्मफल भोग के समय अतीव गृद्ध होकर धर्म मार्ग से विमुख हो जायेंगे फलतः वे सातावेदनीय कर्म भी उनके लिए भावी पीड़ा के कारण बन जायेंगे।

णाहिसि आरं कतो परं—यह वाक्य शिष्यों को पूर्वोक्त दोनों कोटि के अन्यतीर्थी साधकों से सावधान रहने के लिए प्रयुक्त है। इसका आशय यह है कि शिष्यो ! यदि तुम मोक्ष और लोक से अनभिज्ञ कोरे भाषणभट्टों का आश्रय लेकर उनके पक्ष को अपनाओगे तो कैसे संसार और मोक्ष को जान सकोगे ?[९]

कठिन शब्दों की व्याख्या—अभिणूमकडेहिं मुच्छिए—अभिमुख रूप से (चलाकर) 'णूम' यानि मायाचार कृत असदनुष्ठानों में मूर्च्छित—गृद्ध।[१०] **कम्मेहिं किच्चति**—वे (पूर्वोक्त साधक) कर्मों से छेदे जाते हैं—पीड़ित किये जाते हैं। **विवेगं**—विवेक के दो अर्थ हैं—परित्याग और परिज्ञान। यहाँ कुछ अनुरूप प्रासंगिक शब्दों का अध्याहार करके इसकी व्याख्या की गयी है—परिग्रह का त्याग करके[११] या संसार की अनित्यता जानकर। **अवितिण्णे**—संसार सागर को पार नहीं कर पाते। **ध्रुव**—शाश्वत होने से ध्रुव यहाँ मोक्ष अर्थ में हैं। अतः ध्रुव का अर्थ है मोक्ष या उसका उपायरूप संयम।[१२]

णाहिसि आरं कतो परं—वृत्तिकार के अनुसार उन अन्यतीर्थिकों के पूर्वोक्त मार्ग का आश्रय करके आरं—इस लोक को तथा परं—परलोक को कैसे जान सकेगा ? अथवा आरं यानी गृहस्थ धर्म और परं (पारं) अर्थात् प्रव्रज्या के पर्याय को···अथवा आरं यानी संसार को और परं यानी मोक्ष को···[१३] चूर्णिकार इसके बदले **'ण णेहिसि आरं परं वा'** पाठान्तर मानकर व्याख्या करते हैं—'णणेहिसित्ति ···न नयिष्यसि मोक्षम् आत्मानं परं वा। तत्रात्मा आरं, परं पर एव।'' अर्थात् उन अन्यतीर्थिकों के मत का आश्रय लेने पर आरं यानी आत्मा स्वयं और परं यानी पर—दूसरे को मोक्ष नहीं ले जा सकोगे। **वेहासे**—अन्तराल (मध्य) में ही, इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः होकर मझधार में ही

---

[९] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पृ० ५६ के आधार पर

[१०] अभिमुख्येन णूमंति कर्ममाया वा तत्कृतैरसदनुष्ठानैः मूर्च्छिता गृद्धाः।

[११] विवेकं परित्यागं परिग्रहस्य, परिज्ञानं वा संसारस्य····।

[१२] ध्रुवो मोक्षस्तं, तदुपायं वा संयमं····।

[१३] कथं ज्ञास्यस्यारं इहभवं कुतो वा परं परलोकं; यदि वा आरमिति गृहस्थत्वं, परमिति प्रव्रज्यापर्यायम्, अथवा आरमिति संसारं, परमिति मोक्षम्····।" —सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पृ० ५६ के अनुसार

मायाचार का कटुफल

९७. जइ वि य णिगिणे किसे चरे, जइ वि य भुंजिय मासमंतसो ।
जे इह मायाइ मिज्जती, आगंता गब्भायऽणंतसो ।।९।।

९७. जो व्यक्ति इस संसार में माया आदि से भरा है, वह यद्यपि (चाहे) नग्न (निर्वस्त्र) एवं (घोर तप से) कृश होकर विचरे और (यद्यपि) कदाचित् मासखमण करे; किन्तु (माया आदि के फलस्वरूप) वह अनन्त काल तक गर्भ में आता रहता है—गर्भवास को प्राप्त करता है ।

विवेचन—मायादि युक्त उत्कृष्ट क्रिया और तप : संसार-वृद्धि के कारण—प्रस्तुत सूत्र गाथा से कर्मक्षय के लिए स्वीकार की गयी माया युक्त व्यक्ति की नग्नता कृशता एवं उत्कृष्ट तपस्या को कर्मबन्ध की और परम्परा से जन्म-मरण रूप संसार परिभ्रमण की जड़ बतायी जाती है, कारण बताया गया है—**'जे इह मायाइ मिज्जइ'** । आशय यह है कि जो साधक निष्कञ्चन है, निर्वस्त्र है, कठोर क्रियाओं एवं पंचाग्नि तप आदि से जिसने शरीर को कृश कर लिया है, उत्कृष्ट दीर्घ तपस्या करता है, किन्तु यदि वह माया (कपट), दम्भ, वञ्चना, धोखाधड़ी; अज्ञान एवं क्रोध, अहंकार, लोभ, मोह आदि से लिपटा हुआ है, तो उससे मोक्ष दूराति दूर होता चला जाता है, वह अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है । यहाँ माया शब्द से उपलक्षण से समस्त कषायों और आभ्यन्तर परिग्रहों का ग्रहण कर लेना चाहिए । वास्तव में कर्मों से मुक्त हुए बिना मुक्ति नहीं हो सकती, और कर्मों से मुक्ति राग, द्वेष, मोह, कषाय आदि के छूटे बिना हो नहीं सकती । व्यक्ति चाहे जितनी कठोर साधना कर ले, जब तक उसके अन्तर से राग, द्वेष, मोह, माया आदि नहीं छूटते, तब तक वह चतुर्गति रूप संसार में ही अनन्त बार परिभ्रमण करता रहेगा । यद्यपि तपस्या साधना कर्म-मुक्ति का कारण अवश्य है, लेकिन वह राग, द्वेष, काम, मोह, मिथ्यात्व, अज्ञान आदि से युक्त होगी तो संसार का कारण बन जायेगी ।

इसी आशय से उत्तराध्ययन सूत्र, इसिभासियाइं एवं धम्मपद आदि में बताया गया है कि जो अज्ञानी मासिक उपवास के अन्त में कुश की नोंक पर आये जितना भोजन करता है, वह जिनोक्त रत्नत्रय रूप धर्म की सोलहवीं कला को भी नहीं पा सकता ।[१४]

'जे इह मायाइ····णंत सो' वाक्य की व्याख्या—वृत्तिकार के अनुसार—जो (तीर्थिक) इस लोक में माया आदि से परिपूर्ण है, उपलक्षण से कषायों से युक्त है, वह गर्भ में बार-बार आता रहेगा, अनन्त बार यानी अपरिमित काल तक । चूर्णिकार **'जइ विह मायाइ मिज्जति ···'** ऐसा पाठान्तर

---

[१४] देखिये—इसी के समर्थक पाठ—

(क) मासे-मासे तु जो बालो कुसग्गेणं तु भुंजए ।
न सो सुयक्खाय धम्मस्स कलं अग्घइ सोलसिं ।। —उत्तराध्ययन अ० ९।४४

(ख) मासे-मासे कुसग्गेन बालो भुञ्जेय्य भोजनं ।
न सो संखत धम्मानं कलं अग्घति सोलसिं ।। —धम्मपद ७०

(ग) इन्दनागेण अरहता इसिणा बुइतं—
मासे मासे य जो बालो कुसग्गेण आहारए ।
ण से सुक्खाय धम्मस्स अग्घती सतिमं कलं ।।१३।। —इसिभासियाइं अ० १३, पृ० ९३

मानकर व्याख्या करते हैं—माया का अर्थ है—जहाँ निदश (कथन) अनिर्दिष्ट—अप्रकट रखा जाता है। उन माया प्रमुख कषायों से यदि वह साधक भरा (युक्त) है तो⋯।[१५]

पाप-विरति-उपदेश

९८. पुरिसोरम पावकम्मुणा, पलियंतं मणुयाण जीवियं ।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जंति नरा असंवुडा ।।१०।।

९९. जययं विहराहि जोगवं, अणुपाणा पंथा दुरुत्तरा ।
अणुसासणमेव पक्कमे, वीरेहिं सम्मं पवेदियं ।।११।।

१००. विरया वीरा समुट्ठिया, कोहाकायरियादिपीसणा ।
पाणे ण हणंति सव्वसो, पावातो विरयाऽभिनिव्वुडा ।।१२।।

९८. हे पुरुष ! पापकर्म से उपरत—निवृत्त हो जा । मनुष्यों का जीवन सान्त—नाशवान् है। जो मानव इस मनुष्य जन्म में या इस संसार में आसक्त हैं, तथा विषय-भोगों में मूर्च्छित—गृद्ध हैं, और हिंसा, झूठ आदि पापों से निवृत्त नहीं हैं, वे मोह को प्राप्त होते हैं, अथवा मोहकर्म का संचय करते हैं।

९९. (हे पुरुष !) तू यतना (यत्न) करता हुआ, पांच समिति और तीन गुप्ति से युक्त होकर विचरण कर, क्योंकि सूक्ष्म प्राणियों से युक्त मार्ग को (उपयोग यतना के विना) पार करना दुष्कर-दुस्तर है। अतः शासन—जिन प्रवचन के अनुरूप (शास्त्रोक्त विधि के अनुसार) (संयम मार्ग में) पराक्रम (संयमानुष्ठान) करो। सभी रागद्वेष विजेता वीर अरिहन्तों ने सम्यक् प्रकार से यही वताया है।

१००. जो (हिंसा आदि पापों से) विरत हैं, जो (कर्मों को विदारण—विनष्ट करने में) वीर हैं, (गृह—आरम्भ-परिग्रह आदि का त्याग कर संयम पालन में) समुत्थित—उद्यत हैं, जो क्रोध और माया आदि कषायों तथा परिग्रहों को दूर करने वाले हैं, जो सर्वथा (मन-वचन-काया से) प्राणियों का घात नहीं करते, तथा जो पाप से निवृत्त हैं, वे पुरुष (क्रोधादि शान्त हो जाने से मुक्त जीव के समान) शान्त हैं।

विवेचन—पापकर्म से विरत होने का उपदेश—प्रस्तुत त्रिसूत्री में साधु-जीवन में पापकर्म से दूर रहने का परम्परागत उपदेश विविध पहलुओं से दिया गया है। इनमें पापकर्म से निवृत्ति के लिए निम्नोक्त वोधसूत्र है—

(१) जीवन नाशवान् है, इसलिए विविध पापकर्मों से दूर रहो।
(२) विषयासक्त मनुष्य हिंसादि पापों में पड़कर मोहमूढ़ वनते हैं।

---

[१५] (क) सूत्रकृतांक शीलांकवृत्ति पत्र ५७
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० १७

(३) यतनापूर्वक समिति-गुप्तियुक्त होकर प्रवृत्ति करने से पापकर्मबन्ध नहीं होता।

(४) जो हिंसादि पापों तथा क्रोधादि कषायों से विरत होकर संयम में उद्यत हैं, वे मुक्त आत्मा के समान शान्त एवं सुखी हैं।[१६]

पाप कर्म क्या है, कैसे बंधते-छूटते हैं ?—बहुत से साधक साधु-जीवन को तो स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु पाप-पुण्य का सम्यक् परिज्ञान उन्हें नहीं होता, न ही वे यह जानते हैं कि पापकर्म कैसे-कैसे बँध जाते हैं ? और कैसे उन पापकर्मों से छुटकारा हो सकता है ? प्रस्तुत त्रिसूत्री में भगवान् ऋषभदेव ने समस्त कर्म-विदारण वीर तीर्थंकरों द्वारा उपादिष्ट पापकर्म विषयक परिज्ञान दिया है। पापकर्म वे हैं, जो आत्मा को नीचे गिरा देते हैं, उसकी शुद्धता, स्वाभाविकता और निर्मलता पर अज्ञान, मोह आदि का गाढ़ आवरण डाल देते हैं, जिससे आत्मा उर्ध्वगमन नहीं कर पाता, विकास नहीं कर पाता। पापकर्मों के कारण ही तो प्राणी को सम्यक् धर्ममार्ग नहीं मिल पाता और बार-बार मोह एवं अज्ञान के कारण पाप में अधिकाधिक वृद्धि करके नरक, तिर्यंच आदि दुःख प्रदायक गतियों में भटकता रहता है। इसीलिए गाथा ९८ में स्पष्ट कहा गया है—**'पुरिसोरम पावकम्मुणा'**। इसका आशय यह है कि अब तक तुम अज्ञानादिवश पापकर्मों में बार-बार फँसते रहे, जन्म-मरण करते रहे, किन्तु अब इस पापकर्म से विरत हो जाओ। इस कार्य में शीघ्रता इसलिए करनी है कि जिंदगी का कोई भरोसा नहीं है, वह नाशवान है। जो मनुष्य इस शरीरादि जीवन को, मोह में पड़कर इसे विषय-भोगों में नष्ट कर देते हैं, विविध हिंसादि पाप करके शरीर को पोषते रहते हैं, तप-संयम के कष्ट से कतराते हैं, वे मोहनीय प्रमुख अनेक पापकर्मों का संचय कर लेते हैं, उनका फल भोगते समय फिर मोहावृत हो जाते हैं। इसलिए सद्धर्माचरण एवं तप-संयम द्वारा पापकर्म से शीघ्र विरत हो जाना चाहिए।

प्रश्न होता है—पापकर्म तो प्रत्येक प्रवृत्ति में होना सम्भव है, इससे कैसे बचा जाय ? इसके लिए गाथा ९९ में कहा गया है—**'जयं विहराहि ······ पवेइयं।'** अर्थात् प्रत्येक प्रवृत्ति यतनापूर्वक करने से पापकर्म का वन्ध नहीं होता। दशवैकालिक आदि शास्त्रों में यही उपाय पापकर्मबन्ध से बचने का बताया है। आचारांग आदि शास्त्रों में यत्रतत्र पापकर्म से बचने की विधि बतायी गयी है। पाँच समिति, तीन-गुप्ति, पंचमहाव्रत, दशयतिधर्म आदि सब पापकर्म से बचने के शास्त्रोक्त एवं जिनोक्त उपाय हैं।

पापकर्म का बन्ध प्रमत्त योग से, कषाय से, हिंसादि में प्रवृत्त होने से होता है।

पापकर्म से विरत साधक कैसा होता है, उसकी क्या पहिचान है ? इसके लिए गाथा १०० में स्पष्ट बताया है—(१) वे हिंसा आदि पापों से निवृत्त होते हैं, (२) कर्मक्षय करने के अवसर पर वीरवृत्ति धारण कर लेते हैं, (३) संयमपालन में उद्यत होते हैं, (४) क्रोधादि कषायों को पास नहीं फटकने देते, (५) मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप से प्राणिहिंसा नहीं करते, (६) पापकर्मबन्ध होने के कारणों (मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, अशुभ योग, से दूर रहते हैं, (७) ऐसे साधक मुक्त जीवों के समान शान्त होते हैं।

---

[१६] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्र ५६ के आधार पर

कठिन शब्दों की व्याख्या— **पलियंतं**—वृत्तिकार ने इसके संस्कृत में दो रूप—**'पल्यान्त'** एवं **'पर्यन्त'** मानकर व्याख्या की है कि पुरुषों का जीवन अधिक से अधिक तीन पल्य (पल्योपम) पर्यन्त टिकता है। और पुरुषों का संयम जीवन तो पल्योपम के मध्य में होता है। अथवा पुरुषों का जीवन पर्यन्त—सान्त—नाशवान् है। **जोगवं**—संयम-योग से युक्त यानी पंचसमिति—त्रिगुप्ति से युक्त होकर। **अणुसासणं**—शास्त्र या आगम के अनुसार। **अणुपाणा**—सूक्ष्म प्राणियों से युक्त। **वीरेहिं**—कर्मविदारण—वीर अरिहन्तों ने। **कोहकायरियाइपीसणा**—क्रोध और कातरिका—माया, आदि शब्द से मान, लोभ, मोहनीय कर्म आदि से दूर। **अभिनिव्वुडा**—शान्त।[१७]

परीषहसहन-उपदेश

१०१. ण वि ता अहमेव लुप्पए, लुप्पंती लोगंसि पाणिणो ।
एवं सहिएऽधिपासते, अणिहे से पुट्ठोऽधियासए ॥१३॥

१०२. धुणिया कुलियं व लेववं, कसए देहमणासणादिहिं ।
अविहिंसामेव पव्वए, अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो ॥१४॥

१०३. सउणी जह पंसुगुंडिया, विधुणिय धंसयती सियं रयं ।
एवं दविओवहाणवं, कम्मं खवति तवस्सि माहणे ॥१५॥

१०१. ज्ञानादि से सम्पन्न साधक इस प्रकार देखे (आत्म-निरीक्षण करे) कि शीत-उष्ण आदि परीषहों (कष्टों) से केवल मैं ही पीड़ित नहीं किया जा रहा हूँ, किन्तु संसार में दूसरे प्राणी भी (इनसे) पीड़ित किये जाते हैं। अतः उन परीषहों का स्पर्श होने पर वह (संयमी) साधक क्रोधादि या राग-द्वेष-मोह से रहित होकर उन्हें (समभावपूर्वक) सहन करे।

१०२. जैसे लीपी हुई दीवार—भींत (लेप) गिरा कर पतली कर दी जाती है, वैसे ही अनशन के द्वारा देह को कृश कर देना—सुखा देना चाहिए। तथा (साधक को) अहिंसा धर्म में ही गति प्राप्ति करनी चाहिए। यही अनुधर्म—परीषहोपसर्ग सहन रूप एवं अहिंसादि धर्म समयानुकूल या मोक्षानुकूल है, जिसका प्ररूपण मुनीन्द्र सर्वज्ञ प्रभु ने किया है।

१०३. जैसे धूल से भरी हुई पक्षिणी अपने अंगों या पंखों को फड़फड़ाकर शरीर में लगी हुई रज को झाड़ देती है, इसी प्रकार भव्य उपधान आदि तपस्या करने वाला तपस्वी पुरुष कर्मरज को झाड़ (नष्ट कर) देता है।

विवेचन—परीषह और उपसर्ग : क्यों और कैसे सहे ?—प्रस्तुत त्रिसूत्री में शीत और उष्ण परीषहों—उपसर्गों को सहन करने का उपदेश क्यों है? तथा परीषहादि कैसे किस पद्धति से सहना चाहिए? इस सम्बन्ध में मार्ग निर्देश किया गया है। परीषह जैन धर्म का पारिभाषिक शब्द है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है—**'मार्गाच्यवन-निर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः'**—धर्ममार्ग से विचलित या भ्रष्ट न होने तथा निर्जरा के लिए जो कष्ट मन-वचन-काया से सहे जाते हैं, वे परीषह कहलाते हैं।[१८]

---

[१७] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्र ५७

[१८] तत्त्वार्थसूत्र अ० ९/३

ऐसे परीषह २२ हैं। आचारांग-सूत्र में दो प्रकार के परीषह बताये गये हैं—शीत और उष्ण। जिन्हें अनुकूल और प्रतिकूल परीषह भी कहा जाता है। २२ परीषहों में से स्त्री और सत्कार, ये दो शीत या अनुकूल परीषह कहलाते हैं, तथा शेष २० परीषह उष्ण या प्रतिकूल कहलाते हैं। इसीप्रकार उपसर्ग भी शीत और उष्ण दोनों प्रकार के होते हैं।[19] उपसर्ग परीषह सहन क्यों करना चाहिए? इसके लिए शास्त्रकार चिन्तन सूत्र प्रस्तुत करते हैं—(१) ये उपसर्ग और परीषह मुझे ही पीड़ित नहीं करते, संसार के सभी प्राणियों को पीड़ित करते हैं। परन्तु पूर्वकृत कर्मोदयवश जब ये कष्ट साधारण व्यक्ति पर आते हैं, तो वह हाय-हाय करता हुआ इन्हें भोगता है, जिससे कर्मक्षय (निर्जरा) के बदले और अधिकाधिक कर्म बंध कर लेता है, ज्ञानादि सम्पन्न साधक पूर्वकृत अशुभ कर्मों का फल जानकर इन्हें शत्रु नहीं, मित्र के रूप में देखता है, क्योंकि ये परिषह या उपसर्ग साधक को कर्मनिर्जरा का अवसर प्रदान करते हैं, धर्म पर दृढ़ता की भी कसौटी करते हैं। अतः परीषहों और उपसर्गों को समतापूर्वक सहन करना चाहिए। उस समय न तो उन कष्टदाताओं या कष्टों पर क्रोध करे, और न कष्टसहिष्णु होने का गर्व करे। अनुकूल परीषह या उपसर्ग आने पर विषयसुख लोलुपतावश विचलित न हो, अपने धर्म पर डटा रहे। इन्हें सहन करने से साधक में कष्टसहिष्णुता, धीरता, कायोत्सर्ग-शक्ति, आत्म-शक्ति आदि गुणों में वृद्धि होती है।

अज्ञानी लोग विविध कष्टों को सहते हैं, पर विवश होकर, समभाव से नहीं, इसी कारण वे निर्जरा के अवसरों को खो देते हैं।

परीषह और उपसर्ग सहने के सहज उपाय—शास्त्रकार ने परीषह और उपसर्ग को सहजता से सहने के लिए तीन उपाय बताये हैं—

(१) शरीर को अनशन आदि (उपवासादि) तपश्चर्या के द्वारा कृश कर दें;

(२) परीषह या उपसर्ग के आने पर अहिंसा धर्म में डटा रहे;

(३) उपसर्ग या परीषह को पूर्वकृत कर्मोदयजन्य जानकर समभाव से भोग कर कर्मरज को झाड़ दे।[20]

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि स्वेच्छा से अपनाये हुए कष्टों को मनुष्य कष्ट अनुभव नहीं करता, किन्तु जब दूसरा उन्हीं कष्टों को देने लगता है तो कष्ट असह्य हो जाते हैं। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं कि परीषहों और उपसर्गों को समभावपूर्वक हँसते-हँसते सहने के लिए पहले साधक को स्वेच्छा से विविध कष्टों को—अनशनादि तपस्या, त्याग, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग, सेवा, आतापना, वस्त्रसंयम, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता, ऊनोदरी, रसपरित्याग, वृत्ति संक्षेप आदि के माध्यम से अपनाकर अभ्यास करना चाहिए। आचारांग सूत्र में इसके लिए सम्यक् मार्गदर्शन दिया गया है।

---

१९. इत्थीसक्कार-परीसहो य दो भाव सीयला एए।
सेसा वीसं उण्हा परीसहा हुंति नायव्वा॥
—आचा० निर्युक्ति गा० २०३

२०. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्र ५७-५८ के आधार पर
(ख) 'कसेहि अप्पाणं जरेहि अप्पाणं'
—आचारांग श्रु० १ अ० ४ उ० ३/१४१

अभ्यास परिपक्व हो जाने पर साधु-जीवन में अकस्मात् कोई भी उपसर्ग या परीषह आ पड़े तो उस समय अहिंसा धर्म के गुणों—क्षमा, दया, धैर्य आदि को धारण करना चाहिए। उस समय न तो उस परीषह या उपसर्ग के निमित्त को कोसना चाहिए और न ही झुंझलाना या झल्लाना चाहिए। विलाप, आर्त्तध्यान, रोप, या द्वेष करना भावहिंसा है, और यह प्रकारान्तर से आत्महिंसा (आत्मगुणों का घात) है।

जैन दर्शन का माना हुआ सिद्धान्त है कि मनुष्य पर कोई भी विपत्ती, संकट, यातना या कष्ट अथवा दुःख पूर्वकृत अशुभ कर्मों के उदय के कारण आते हैं, परन्तु अज्ञानी व्यक्ति असातावेदनीय कर्मों को भोगने के साथ आकुल-व्याकुल एवं शोकार्त्त होकर नया कर्मबन्ध कर लेता है, इसलिए शास्त्रकार ने सूत्र गाथा १०१ में बताया है कि ज्ञानी साधक उपसर्ग या परीषहजन्य कष्ट आने पर पूर्वकृत कर्मफल जानकर उन्हें समभाव से भोगकर उस कर्मरज को इस तरह झाड़ दे, जिस तरह धूल से सना हुआ पक्षी अपने पंख फड़फड़ा कर उस धूल को झाड़ देता है।

कठिन शब्दों की व्याख्या—**लुप्पए**—शीतोष्णादिदुःख विशेषों, (परीषहों) से पीड़ित होता है। **लुप्पंती**—अतिदुःसह, दुःखों से परितप्त—पीड़ित होते हैं। **सहितेऽधिपासते**—वृत्तिकार के अनुसार—**सहितोज्ञानादिभिः, स्वहितो वा आत्महितः सन् पश्येत्**'—ज्ञानादि से युक्त-सम्पन्न, अथवा स्वहित यानी आत्म-हितैषी होकर कुशाग्र बुद्धि से देखे—पर्यालोचन करे। चूर्णिकार के अनुसार—"**सहिते**····अधिकं पृथग् जनान् पश्यतिअधिपश्यति"—अर्थात् ज्ञानादि सहित साधक पृथक्-पृथक् अपने से अधिक लोगों को देखता है। **अणिहे स पुट्ठोऽधियासए**—निह कहते हैं—पीड़ित को। जो क्रोधादि द्वारा पीड़ित न हो, वह अनिह कहलाता है। ऐसा महासत्व परीषहों से स्पृष्ट—आक्रान्त होने पर समभाव से सहन करे, अथवा अनिह अर्थात् अनिगूहित—नहीं छिपाने वाला। अर्थात् तप-संयम में तथा परीषह सहन में अपने वल-वीर्य को न छिपाए। **कुलियं व लेववं**—लेप वाली (लीपी हुई) भींत या दीवार को। **कसए**—पतली, कृश कर दे। **अविहिंसा पव्वए**—विविध प्रकार की हिंसा विहिंसा है। विहिंसा न करना अविहिंसा है, उस अविहिंसा धर्म पर प्रवल रूप में चलना या डटे रहना चाहिए। **अणुधम्मो**—वृत्तिकार के अनुसार '**अनुगतो मोक्षम्प्रति अनुकूलो धर्मोऽनुधर्मः अहिंसालक्षणः परीषहोपसर्गसहनलक्षणश्च धर्मः**" अर्थात् मोक्ष के अनुकूल अहिंसा रूप और परिषहोपसर्ग सहनरूप धर्म अनुधर्म है। **अनुधर्म** शब्द आचारांग सूत्र में तथा वौद्ध ग्रन्थों में भी प्रयुक्त है, वहाँ इसका अर्थ किया गया है—पूर्व तीर्थंकरों द्वारा आचरित धर्म के अनुरूप, अथवा पूर्व तीर्थंकर चरित धर्म का अनुसरण अथवा धर्म के अनुरूप—धर्म सम्मत।[२१] **पंसुगुंडिया**—धूल से सनी हुई। **धंसयती**—झाड़ देती है। **सियं रयं**—लगी हुई रज को। **दविओ**—द्रव्य अर्थात् भव्य—मुक्ति गमन योग्य व्यक्ति। **उवहाणवं**—जो मोक्ष के उप—समीप, स्थापित कर देता है, वह उपधान (अनशनादि तप) कहलाता है, उपधान रूप तप के आराधक को उपधानवान कहते हैं।

---

[२१] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ५७-५८
(ख) सूयगडंग चूर्णि, (मू० पा० टिप्पण) पृ० १८
(ग) देखो आचारांग में—'एतं खु अणुधम्मियं तस्स' का विवेचन—आचारांग विवेचन ९/१/४२, पृ० ३०७

अनुकूल-परीषह-विजयोपदेश

१०४. उट्ठियमणगारमेसणं, समणं ठाणठियं तवस्सिणं ।
डहरा वुड्ढा य पत्थए, अवि सुस्से ण य तं लभे जणा ॥१६॥

१०५. जइ कालुणियाणि कासिया, जइ रोवंति व पुत्तकारणा ।
दवियं भिक्खु समुट्ठितं, णो लब्भंति ण संठवित्तए ॥१७॥

१०६. जइ वि य कामेहि लाविया, जइ णेज्जाहि णं बंधिउं घरं ।
जति जीवित णावकंखए, णो लब्भंति ण संठवित्तए ॥१८॥

१०७. सेहंति य णं ममाइणो, माय पिया य सुता य भारिया ।
पासाहि णे पासओ तुमं, लोयं परं पि जहाहि पोस णे ॥१९॥

१०८. अन्ने अन्नेहिं मुच्छिता, मोहं जंति नरा असंवुडा ।
विसमं विसमेहिं गाहिया, ते पावेहिं पुणो पगब्भिता ॥२०॥

१०४. गृह त्याग कर अनगार वने हुए तथा एषणां पालन के लिए उत्थित—तत्पर अपने संयम स्थान में स्थित तपस्वी श्रमण को उसके लड़के-बच्चे तथा बड़े-बूढ़े (मां-बाप आदि) (प्रव्रज्या छोड़ देने की) चाहे जितनी प्रार्थना करें, चाहे (प्रार्थना करते-करते) उनका गला सूखने लगे—(वे थक जाएँ, परन्तु वे) उस (श्रमण) को पा नहीं सकते, अर्थात्—मनाकर अपने अधीन नहीं कर सकते ।

१०५. यदि वे (साधु के माता-पिता आदि स्वजन) (उसके समक्ष) करुणा-प्रधान वचन बोलें या कारुण्योत्पादक कार्य करें और यदि वे अपने पुत्र के लिए रोयें-विलाप करें, तो भी मोक्ष-साधना या साधुधर्म का पालन करने में उद्यत उस द्रव्य (भव्य—मुक्तिगमन योग्य) उस (परिपक्व) भिक्षु को प्रव्रज्या भ्रष्ट नहीं कर सकते, न ही वे उसे पुनः गृहस्थ वेष में स्थापित कर सकते हैं ।

१०६. चाहे (साधु के पारिवारिक जन उसे) काम-भोगों का प्रलोभन दें, वे उसे बाँधकर घर पर ले जाएँ, परन्तु वह साधु यदि असंयमी जीवन नहीं चाहता है, तो वे उसे अपने वश में नहीं कर सकते, और न ही उसे पुनः गृहवास में रख सकते हैं ।

१०७. 'यह साधु मेरा है,' ऐसा जानकर साधु के प्रति ममत्व करने वाले उसके माता-पिता और पत्नी-पुत्र आदि (कभी-कभी) साधु को शिक्षा भी देते हैं—तुम तो प्रत्यक्षदर्शी हो या सूक्ष्म (दूर) दर्शी हो, अतः हमारा भरण-पोषण करो । ऐसा न करके, तुम इस लोक और परलोक दोनों के कर्तव्य को छोड़ रहे हो । (अतः किसी भी तरह से) हमारा पालन-पोषण करो ।

१०८. संयम भाव से रहित (असंवृत) कोई-कोई मनुष्य—(अपरिपक्व साधक) (माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि) अन्यान्य पदार्थों के मूर्च्छित-आसक्त होकर मोहमूढ़ हो जाते हैं । विषय व्यक्तियों—संयम रहित मानवों द्वारा विषम-असंयम ग्रहण कराये हुए वे मनुष्य पुनः पापकर्म करने में धृष्ट हो जाते हैं ।

विवेचन—अनुकूल परीषह-उपसर्ग—सहन का उपदेश—प्रस्तुत पाँच सूत्रों में शास्त्रकार ने माता-पिता आदि स्वजनों द्वारा साधु को संयम छोड़ने के लिए कैसे-कैसे विवश किया जाता है? उस समय साधु क्या करे? कैसे उस उपसर्ग या परीषह पर विजय प्राप्त करे? अथवा साधु धर्म पर कैसे डटा रहे? यह तथ्य विभिन्न पहलुओं से प्रस्तुत किया है।

स्वजनों द्वारा असंयमी जीवन के लिए विवश करने के प्रकार—यहाँ पाँच सूत्रों में क्रमशः अनुकूल उपसर्ग का चित्रण किया है, साथ ही साधु को दृढ़ता रखने का भी विधान किया है—

(१) संयमी तपस्वी साधु को गृहवास के लिए उसके गृहस्थ पक्षीय स्वजन प्रार्थना एवं अनुनय-विनय करें,

(२) दीनतापूर्वक करुण विलाप करें या करुणकृत्य करें,

(३) उसे गृहवास के लिए विविध काम-भोगों का प्रलोभन दें,

(४) उसे भय दिखाएँ, मारें-पीटें, बाँधकर घर ले जाएँ,

(५) नव दीक्षित साधु को उभय-लोक भ्रष्ट हो जाने की उलटी शिक्षा देकर संयम से भ्रष्ट करें,

(६) जरा-सा फिसलते ही उसे मोहान्ध बनाकर निःसंकोच पाप-परायण बना देते हैं।

पाँचवीं अवस्था तक सर्व विरति संयमी साधु को स्वजनों द्वारा चलाए गए अनुकूल उपसर्ग बाणों से अपनी सुरक्षा करने का अभेद्य संयम कवच पहनकर उनके उक्त प्रक्षेपास्त्रों को काट देने और दृढ़ता बताने का उपदेश दिया है।

उपसर्ग का प्रथम प्रकार—जो अनगार तपस्वी, संयमी और महाव्रतों में दृढ़ है, उसे उसके बेटे, पोते या माता-पिता आदि आकर बार-बार प्रार्थना करते हैं—आपने बहुत वर्षों तक संयम पालन कर लिया, अब तो यह सब छोड़कर घर चलिए। आपके सिवाय हमारा कोई आधार नहीं है, हम सब आपके बिना दुःखी हो रहे हैं, घर चलिए, हमें संभालिए।" इसीलिए इस गाथा में कहा गया है—**'डहरा वुड्ढा य पत्थए।'**

उपसर्ग का द्वितीय प्रकार—अब दूसरा प्रकार है—करुणोत्पादक वचन या कृत्य का। जैसे—उसके गृहस्थ पक्षीय माता, दादी, या पिता, दादा आदि करुण स्वर में विलाप करके कहें—बेटा! तुम हम दुःखियों पर दया करके एक बार तो घर चलो, देखो, तुम्हारे बिना हम कितने दुःखी हैं? हमें दुःखी करके कौन सा स्वर्ग पा लोगे?" यह एक पहलू है, संयम से विचलित करने का जिसके लिए शास्त्रकार कहते हैं—**"जइ कालुणियाणि कासिया।"** इसी का दूसरा पहलू है, जिसे शास्त्रकार इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—**'जइ रोयंति य पुत्तकारणा'**—आशय यह है कि उस साधु की गृहस्थ पक्षीय पत्नी रो-रोकर कहने लगे—हे नाथ! हे हृदयेश्वर! हे प्राणवल्लभ! आपके बिना सारा घर सूना-सूना लगता है। बच्चे आपके बिना रो रहे हैं, जब देखो, तब वे आपके ही नाम की रट लगाया करते हैं। उन्हें आपके बिना कुछ नहीं सुहाता। मेरे लिए नहीं तो कम से कम उन नन्हें-मुन्नों पर दया करके ही घर चलो! आपके घर पर रहने से आपके बूढ़े माता-पिता का दिल भी हरा-भरा रहेगा। अथवा उक्त साधु की पत्नी अश्रुपूरित नेत्रों से गद्‌गद होकर कहे—'आप घर नहीं चलेंगे तो मैं

यहीं प्राण दे दूंगी। आपको नारी हत्या का पाप लगेगा। इतने निष्ठुर मत वनिये।" अथवा उसके बूढ़े स्वजन रो-रोकर कहें—"वेटा ! एक वार तो घर चलो। कुलदीपक पुत्र के बिना घर में सर्वत्र अन्धेरा है। हमारा वंश, कुल या घर सूना-सूना है। अतः और कुछ नहीं तो अपनी वंशवृद्धि के लिए कम से कम एक पुत्र उत्पन्न करके फिर तुम भले ही संयम पालना। हम फिर तुम्हें नहीं रोकेंगे। केवल एक पुत्र की हमारी मनोकामना पूर्ण करो।"

उपसर्ग का तीसरा प्रकार—यह प्रारम्भ होता है—प्रलोभन से। साधु के स्वजन प्रलोभन भरे मधुर शब्दों में कहते हैं—तुम हमारी वात मानकर घर चले चलो। हम तुम्हारी सुख-सुविधा में कोई कमी नहीं आने देंगे। तुम्हारी सेवा में कोई कमी नहीं आने देंगे। उत्तमोत्तम नृत्य, गायन, वादन, राग-रंग आदि से तुम्हारी प्रसन्नता वढ़ा देंगे। बढ़िया-वढ़िया स्वादिष्ट खानपान से तुम्हें तृप्त कर देंगे। मनचाहे सुगन्धित पदार्थों से तुम्हारा मन जरा भी नहीं ऊबेगा, एक से एक बढ़कर स्वर्ग की अप्सरा-सी सुन्दरियाँ तुम्हारी सेवा में तत्पर रहेंगी। तुम्हारे उपभोग के लिए सब तरह की सुख-सामग्री जुटा देंगे।" इसी तथ्य को उजागर करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—**'जइ विय कामेहि लाविया'**।

उपसर्ग का चौथा प्रकार—इसी गाथा में उपसर्ग के चौथे प्रकार का रूप दिया गया है—**'जइ णेज्जाहि य बंधिऊं घरं'**—आशय यह है कि प्रलोभन से जव साधु डिगता न दीखे तो पारिवारिक जन भय का अस्त्र छोड़ें—"उसे डराएँ-धमकाएँ, मारे-पीटें या जवरन रस्सी से बाँधकर घर ले जाएँ, अथवा उसे वचनवद्ध करके या स्वयं स्वजन वर्ग उसके समक्ष वचनवद्ध होकर घर ले जाएँ।

उपसर्ग का पाँचवाँ प्रकार—इतने पर भी जव संयमी विचलित न हो तो स्वजन वर्ग नया मोह प्रक्षेपास्त्र छोड़ते हैं, शिक्षा देने के वहाने से कहते हैं—"यह तो सारा संसार कहता है कि माता-पिता एवं परिवार को दुःखी, विपन्न, अर्थ-संकटग्रस्त एवं पालन-पोषण के अभाव में त्रस्त बनाकर साधु वने रहना धर्म नहीं है, यह पाप है। माता-पिता आदि का पालन-पोषण करने वाला घर में कोई नहीं है, और एक तुम हो कि उनके पालन-पोषण की जिम्मेदारी से छिटककर साधु बन गये हो। चलो, अब भी कुछ नहीं विगड़ा है। घर में रहकर हमारा भरण-पोषण करो। अथवा वे कहते हैं—तुम तो प्रत्यक्षदर्शी हो, घर की सारी परिस्थिति तुम्हारी आँखों देखी है, तुम्हारे बिना यह घर बिलकुल नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा। अथवा तुम तो दूरदर्शी हो या सूक्ष्मदर्शी, जरा बुद्धि से सोचो कि तुम्हारे द्वारा पालन-पोषण के अभाव में हमारी कितनी दुर्दशा हो जायेगी ? अथवा वे यों कहते हैं—ऐसे समय में दीक्षा लेकर तुमने इहलोक भी विगाड़ा, इस लोक का भी कोई सुख नहीं देखा और अब परलोक भी विगाड़ रहे हो, माता-पिता एवं परिवार के पालन-पोषण के प्रथम कर्तव्य से विमुख होकर ! दुःखी परिवार का पालन-पोषण करना तुम्हारा प्रथम धर्म है,[२२] इस पुण्य लाभ को छोड़कर भला परलोक

---

[२२] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ५८ से

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखवोधिनी व्याख्या पृ० ३१० से ३१२ तक

(ग) देखिये उनके द्वारा दिया जाने वाला शिक्षासूत्र—

"या गतिः क्लेशदग्धानां गृहेषु गृहमेधिनाम् ।
विभ्रताम् पुत्र दारांस्तु तां गतिं व्रज पुत्रक !"

अर्थात्—हे पुत्र ! पुत्र और पत्नी का भरण पोषण करने हेतु क्लेश सहने वाले गृहस्थों का (गृहस्थी का) जो मार्ग है, उसी मार्ग से तुम भी चलो।"

—सूत्र कृ० शीलांकवृत्ति भाषानुवाद भा० १, पृ० २२२

का सुख कैसे मिलेगा ?" अतः घर में रहकर हमारा पालन-पोषण करो। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—**"सेहंतिय''''जहासि पोसणे।'**

सच्चा साधु वहके-फिसले नहीं—ये और इस प्रकार के अनेक अनुकूल उपसर्ग साधु को संयम मार्ग एवं साधुत्व से विचलित एवं भ्रष्ट करने और उसे किसी तरह से मनाकर पुनः गृहस्थ भाव में स्थापित करने के लिए आते हैं, परन्तु शास्त्रकार उपदेश की भाषा में कहते हैं कि वह अनगार, श्रमण संयम स्थान में स्थित तपस्वी, भिक्षु मोही स्वजनों की प्रार्थना पर जरा भी ध्यान न दे। वे प्रार्थना करते-करते थक जाएँ फिर भी साधु इस प्रकार की दृढ़ता दिखाए कि वे उसे अपने वश—अधीन न कर सकें; न ही गृहस्थी में उसे स्थापित कर सकें। इस बात को शास्त्रकार ने तीनों गाथाओं में दोहराया है। उसे संयम पर दृढ़ रहने के लिए यहाँ शास्त्रकार ने ७ बातें ध्वनित की हैं—(१) उनकी प्रार्थना पर ध्यान न दे, (२) उनकी बातों से जरा भी न पिघले, (३) उनके करुण-विलाप आदि से जरा भी विचलित न हो, (३) उनके द्वारा प्रदर्शित प्रलोभनों से वहके नहीं, भयों से घबराकर डिगे नहीं, (५) उनकी बातों में जरा भी रुचि न दिखाए, (६) उनकी संयम भ्रष्टकारिणी शिक्षा पर जरा भी विचार न करे, (७) असंयमी जीवन की जरा भी आकांक्षा न करे।

शास्त्रकार उन सच्चे साधुओं को अपने साधुत्व—संयम और श्रमणत्व में दृढ़ एवं पक्के रखने के आशय से कहते हैं—**अन्ने अन्नेहिं मुच्छिता मोहं जंति**''''''**पुणो पगब्भिता**—अर्थात् वे दूसरे हैं, कच्चे साधु हैं, जो माता-पिता आदि अन्य असंयमी लोगों द्वारा प्रलोभनों से वहकाने-फुसलाने से, भय दिखाने से मूर्च्छित हो जाते हैं, और उनके चक्कर में आकर दीर्घकालीन अथवा महामूल्य अति दुर्लभ संयम धन को खोकर असंयमी वन जाते हैं। उन मूढ़ साधकों को उन असंयमी लोगों के द्वारा विषम (सिद्धान्त एवं संयम से हीन) पथ पकड़ा दिया जाता है, फलतः वे गृहस्थ-जीवन में पड़कर अपने परिजनों या कामभोगों में इतने आसक्त हो जाते हैं कि फिर वे किसी भी पाप को करने में कोई संकोच नहीं करते। यहाँ तक कि फिर गृहस्थोचित धर्म-मर्यादाओं को भी वे ताक में रख देते हैं। संयम भ्रष्ट पुरुष अठारह ही प्रकार के पापों को करने में धृष्ट एवं निरंकुश हो जाते हैं।

अन्ने अन्नेहिं मुच्छिया—आदि पाठ से शास्त्रकार ने उन सच्चे श्रमणों को सावधान कर दिया है कि वे दूसरे हैं, तुम वैसे नहीं हो, वे मन्द पराक्रमी, आचार-विचार शिथिल, साधुत्व में अपरिपक्व, असंयम रुचि व्यक्ति हैं, जो परायों (असंयमियों) को अपने समझकर उनके चक्कर में पड़ जाते हैं, पर तुम ऐसे कदापि नहीं वनोगे, अपने महामूल्य संयम धन को नहीं खोओगे।[23]

कठिन शब्दों की व्याख्या—उट्ठियमणगारमेसणं—घर-वार, धन-सम्पत्ति, एवं सांसारिक कामभोगों को छोड़कर गृह-त्यागी होकर मुनि धर्मोचित एषणा-पालन के लिए उद्यत है। **समणं ठाणठियं**—श्रमण (संयम में पुरुषार्थी है तथा उत्तरोत्तर विशिष्ट संयम स्थानों में स्थित है। चूर्णिकार के अनुसार **'समणट्ठाणठिय'** पाठान्तर सम्भावित है, क्योंकि इसकी व्याख्या की गयी है—**'समणाणं ठाणे ठितं चरित्ते णाणातिसु'**—अर्थात् श्रमणों के स्थान में—चारित्र में या ज्ञानादि में स्थित है। **अवि सुस्से**—(यों कहते-कहते) उनका गला सूख जाए अर्थात् वे थक जाएँ अथवा इसका **'अपि श्रोष्ये'** रूप

---

[23] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ५८-५९ पर से

भी संस्कृत में होता है, अर्थ होता है—वह साधु उनकी वात सुनेगा, किन्तु वाग्जाल में न फँसेगा। काम रूप, काम भोगों—इन्द्रियविषयों से ललचाएँ, प्रलोभन दें; भोगों का निमन्त्रण दें। **णेज्जाहि णं बंधिउं घरं**—यदि वाँधकर घर ले जायें। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर—**आणेज्ज णं बंधित्ता घरं**—या वाँधकर घर ले आएँ। **"जीवियं णावकंखए"** इसके दो अर्थ वृत्तिकार ने किये हैं—(१) यदि जीवित रहने (जीने) की आकांक्षा-आसक्ति नहीं है, अथवा (२) यदि असंयमी जीवन की आकांक्षा नहीं करता या उसे पसन्द नहीं करता। **ममाइणो**—यह साधु मेरा है, इस प्रकार ममत्व रखने वाले। **सेहंति**—शिक्षा देते हैं। **अन्ने**—कई अल्प पराक्रमी कायर। **अन्नेहिं**—माता-पिता आदि द्वारा। **विसमं**—असंयम। साधक के लिए संयम सम हैं, असंयम विषम है। **विसमेहिं**—असंयमी पुरुषों—उन्मार्ग में प्रवृत्त होने और अपाय—विपत्ति से न डरने के कारण राग-द्वेष युक्त विषम पथ को ग्रहण करने वालों द्वारा। अथवा विपमों—यानी राग-द्वेषों के द्वारा।[24]

कर्मविदारक वीरों को उपदेश

१०९. तम्हा दवि इक्ख पंडिए, पावाओ विरतेऽभिनिव्वुडे।
पणया वीरा महाविहिं, सिद्धिपहं णेयाउयं धुवं ॥२१॥

११०. वेतालियमग्गमागओ, मण वयसा काएण संवुडो।
चेच्चा वित्तं च णायओ, आरंभं च सुसंवुडे चरेज्जासि ॥२२॥
—त्ति बेमि।

१०९. [माता-पिता आदि के मोह वन्धन में पड़कर कायर पुरुष संयम भ्रष्ट हो जाते हैं] इसलिए द्रव्यभूत भव्य (मुक्तिगमन योग्य अथवा राग-द्वेष रहित) होकर अन्तर्निरीक्षण करे। पण्डित—सद्-असद् विवेकयुक्त पुरुष पापकर्म से सदा विरत होकर अभिनिवृत्त (शान्त) हो जाता है। वीर (कर्म-विदारण में समर्थ पुरुष) उस महावीथी (महामार्ग) के प्रति प्रणत—समर्पित होते हैं, जो कि सिद्धि पथ (मोक्षमार्ग) है, न्याय युक्त अथवा मोक्ष की ओर ले जाने वाला और ध्रुव (निश्चित या निश्चल) है।

११०. (अब तुम) वैदारिक (कर्मो को विदारण—विनष्ट करने में समर्थ) मार्ग पर आ गए हो! अतः मन, वचन और काया से संवृत (गुप्त-संयत) होकर, धन-सम्पत्ति तथा ज्ञाति जनों (कुटुम्वियों) एवं आरम्भ (सावद्य कार्य) को छोड़कर श्रेष्ठ इन्द्रिय संयमी (सुसंवृत) होकर विचरण करो।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—कर्म-विदारण-वीर साधकों को उपदेश—प्रस्तुत सूत्र गाथा द्वय (१०९-११०) में संयम भ्रष्ट साधकों की अवदशा वताकर सुविहित साधकों को महापथ पर चलने का उपदेश दिया है। उक्त महापथ पर चलने की विधि के लिए सात निर्देश सूत्र हैं—(१) भव्य-मोक्षगमन के योग्य हो, (२) स्वयं अन्तर्निरीक्षण करो, (३) सद्-असद् विवेक युक्त पण्डित हो, (४) पाप-कर्म से विरत हो,

---

[24] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्र ५८-५९
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० १८-१९

(५) कपायों से निवृत्त शान्त हो, कर्म विदारण वीर साधक इस सिद्ध पथ, न्याय युक्त और ध्रुव महा मार्ग के प्रति समर्पित होते हैं, तुम भी समर्पित हो जाओ, इसी वैदारिक महामार्ग पर आ जाओ, (६) मन-वचन-काया से संयत-संवृत्त बनो, तथा (७) धन-सम्पत्ति, कुटुम्ब कबीला; एवं सावद्य आरम्भ-समारम्भ का त्याग कर उत्तम संयमी बनकर विचरण करो।

पणया वीरा महावीहिं—आचारांग सूत्र के प्रथम अध्ययन में भी यह वाक्य आता है। सम्भव है, सूत्रकृतांग के द्वितीय अध्ययन की २१वीं गाथा में इस वाक्य सहित पूरा पद्य दे दिया हो। यहाँ वृत्तिकार ने इस वाक्य का विवेचन इस प्रकार किया है—वीर-परीषह-उपसर्ग और कषाय सेना पर विजय प्राप्त करने वाले—वीर्यवान (आत्म-शक्तिशाली) पुरुष महावीथी—सम्यग्दर्शनादि रूप मोक्ष मार्ग के प्रति प्रणत हैं—झुके हुए हैं—समर्पित हैं। यहाँ **'वीरा'** का अर्थ वृत्तिकार ने 'कर्म-विदारण समर्थ' किया है। **'महावीहिं'** शब्द के ही यहाँ **'सिद्धिपहं; णेयाउयं'** एवं **'ध्रुवं'** विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं। 'णेयाउयं' का अर्थ वृत्तिकार ने किया है—मोक्ष के प्रति ले जाने वाले किन्तु आवश्यक-सूत्रान्तर्गत श्रमण सूत्र में तथा उत्तराध्ययन में समागत **'णेयाउयं'** का अर्थ न्याययुक्त या न्यायपूर्ण किया गया है।[25]

'पणया वीरा महावीहिं' के स्थान पर शीलांकाचार्यकृत वृत्ति सहित मूलपाठ में **'पणए वीरं महाविहिं'** पाठान्तर है। चूर्णिकार ने एक विशेष पाठान्तर उद्धृत किया है—**'पणता वीधेतऽणुत्तरं'**। व्याख्या इस प्रकार है—**'एतदितिभावविधी जं भणिहामि, अणुत्तरं असरिसं, अणुत्तरं वा ठाणादि'**—अर्थात् यह भावविधि (जिसका वर्णन आगे कहेंगे) अनुत्तर-असदृश-अप्रतिम है, अथवा स्थानादि अनुत्तर है। उसके प्रति प्रणत—समर्पित हो।[26] **तम्हा दवि इक्ख पंडिए**—इस गाथा में सर्वप्रथम आन्तरिक निरीक्षण करने को कहा गया है, उसके लिए दो प्रकार से योग्य बनने का निर्देश भी है। **'दवि'** और **'पंडिए'**। 'दविए' के जैसे दो अर्थ होते हैं—द्रव्य अर्थात् भव्य मोक्ष गमन योग्य, अथवा राग-द्वेष रहित; वैसे 'पंडिए' के भी मुख्य चार अर्थ होते हैं—(१) सद्-असद्-विवेकशील, (२) पाप से दूर रहने वाला, (३) इन्द्रियों से अखण्डित अथवा (४) ज्ञानाग्नि से अपने कर्मों को जला डालने वाला।[27]

---

[25] (क) प्रणताः प्रह्वाः वीराः परीपहोपसर्ग—कपाय सेनाविजयात् वीथिः पन्थाः महांश्चासौ वीथिश्च महा-वीथि=सम्यग्दर्शनादिरूपो मोक्षमार्गो····जिनेन्द्रचन्द्रादिभिः प्रहतः तं प्रति प्रह्वाः—वीर्यवन्तः।
—आचारांग श्रु० १, अ० १,३-१, सूत्र २० की वृत्ति पत्रांक ४३

(ख) प्रणताः—प्रह्वीभूताः वीराः कर्मविदारणसमर्थाः महावीथिं महामार्गं
—सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ६०

(ग) णेआउयं—मोक्षम्प्रति नेतारं प्रापकं।
—सूत्रकृतांग वृत्ति पत्रांक ६०

[26] (क) 'पणए वीरं महाविहिं'
—सूत्रकृतांग मूलपाठ शीलांकवृत्ति युक्त पत्रांक ६०

(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि—(मूलपाठ टिप्पणयुक्त) पृ० १९-२०

[27] (क) दवि-द्रव्यभूतो भव्यः मुक्ति गमनयोग्यः रागद्वेष रहितो वा सन्—सूत्रकृतांग वृत्ति पत्रांक ६०

(ख) पंडिए—पण्डा—सदसद्विवेकशालिनी बुद्धि; संजाता अस्येति पण्डितः
—वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी (भट्टोजिदीक्षित)

पापाड्डीनः पण्डितः—दशवैकालिक हारी० वृत्ति
स पण्डितो यः करणैरखण्डितः—उपाध्याय यशोविजयजी
"····ज्ञानादिदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः—गीता० अ० ४/१९

"...**पावाओ विरतेऽभिनिव्वुडे**—इस पंक्ति का आशय यह है कि "साधक पुरुष ! तुम भव्य हो, राग से ऊपर उठकर, स्व-पर के प्रति निष्पक्ष, सद्-असद् विवेकी या पापों से दूर रहकर ठण्डे दिल-दिमाग से उन पाप कर्मो के परिणामों पर विचार करो अथवा अपने जीवन आदि पापजनक जो भी स्थान या कार्य हों, उनसे विरत होकर तथा कपाय और राग-द्वेष आदि से या इन्हें उत्पन्न करने वाले कार्यों से सर्वथा निवृत्त—शान्त हो जाओ।" शान्ति से आत्म-स्वभाव में या आत्म-भाव में रमण करो, यह आशय भी यहाँ गर्भित है।

'वेतालियमग्ग...चरेज्जासि'—इस गाथा का यह आशय ध्वनित होता है कि आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को उपदेश देने के साथ समस्त मोक्ष-पथिक गृहत्यागी साधुओं को उपदेश दिया है कि हे साधको ! अब तुम कर्मबन्धन का मार्ग छोड़कर पूर्वोक्त वीरतापूर्वक विदारण समर्थ (वैदारक) मार्ग पर चल पड़े हो। अब तुम्हें संयम पालन के तीन साधनों—मन-वचन-काया पर नियन्त्रण रखना है। मन को सावद्य (पापयुक्त) विचारों से रोककर निर्वद्य (मोक्ष एवं संयम) विचारों में आत्मभाव में लगाना है, वचन को पापोत्पादक शब्दों को व्यक्त करने से रोककर धर्म (संवर निर्जरा) युक्त वचनों को व्यक्त करने में लगाना है या मौन रहना है और काया को सावद्य कार्यों से रोककर निर्वद्य सम्यग्दर्शनादि धर्माचरण में लगाना है। साथ ही धन-सम्पत्ति, परिवार, स्वजन या गार्हस्थ्य-जीवन के प्रति जो पहले लगाव रहा है, उसे अब सर्वथा छोड़ देना है, बिलकुल भूल जाना है, और मन तथा इन्द्रियों के विजेता जागरूक संयमी बनकर इस वैदारिक महापथ पर विचरण करना है।[२८]

।। प्रथम उद्देशक समाप्त ।।

◆

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

मद-त्याग-उपदेश

१११. तयसं व जहाति से रयं, इति संखाय मुणी ण मज्जती।
गोतण्णतरेण माहणे, अहऽसेयकरी अन्नेसि इंखिणी ।।१।।

११२. जो परिभवती परं जणं, संसारे परियत्तती महं।
अदु इंखिणिया उ पाविया, इति संखाय मुणी ण मज्जती ।।२।।

११३. जे यावि अणायगे सिया, जे वि य पेसगपेसए सिया।
जे मोणपदं उवट्ठिए, णो लज्जे समयं सया चरे।।३।।

---

३०. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ६० के आधार पर

१११. जैसे सर्प अपनी त्वचा—केंचुली को छोड़ देता है, यह जानकर (वैसे) माहन (अहिंसा प्रधान) मुनि गोत्र आदि का मद नहीं करता (छोड़ देता है) दूसरों की निन्दा अश्रेयस्कारिणी-अकल्याणकारिणी है। (मुनि उसका भी त्याग करता है।)

११२. जो साधक दूसरे व्यक्ति का तिरस्कार (प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से अवज्ञा) करता है, वह चिरकाल तक या अत्यन्त रूप से चतुर्गतिक संसार में परिभ्रमण करता है। अथवा (या क्योंकि) पर निन्दा पापिका-पापों की जननी-दोषोत्पादिका ही है; वह जानकर मुनिवर जाति आदि का मद नहीं करते।

११३. चाहे कोई अ-नायक (स्वयं-नायक-प्रभु-चक्रवर्ती आदि) हो (रहा हो), अथवा जो दासों का भी दास हो (रहा हो); (किन्तु अब यदि वह) मौनपद-संयम मार्ग में उपस्थित (दीक्षित) हैं तो उसे (मदवश या हीनतावश) लज्जा नहीं करनी चाहिए। अपितु सदैव समभाव का आचरण करना चाहिए।

विवेचन—मद का विविध पहलुओं से त्याग क्यों और कैसे ?—प्रस्तुत त्रिसूत्री में मुख्य रूप से मद त्याग का उपदेश विविध पहलुओं से दिया गया है। मद त्याग के विविध पहलू ये हैं—(१) साधु, कर्म वन्धन के कारण मूल अष्टविध मद का त्याग करे, (२) साधु मदान्ध होकर अकल्याणकारी परनिन्दा न करे (३) जाति आदि मद के वशीभूत होकर पर का तिरस्कार न करे, (४) मद के कारण पूर्व दीक्षित दास और वर्तमान में मुनि को वन्दनादि करने में लज्जित न हो, न ही हीन भावनावश साधु अपने से वाद में दीक्षित भूतपूर्व स्वामी से वन्दना लेने में लज्जित हो।" इसमें प्रस्तुत गाथा में मद त्याग क्यों करना चाहिए ? इसका निर्देश है और शेष दो गाथाओं में यह वताया गया है कि मद कैसे-कैसे उत्पन्न होता है तथा साधक मद के कारण किन-किन दोषों को अपने जीवन में प्रविष्ट कर लेता है ? उन्हें आते ही कैसे और क्यों खदेड़े ?

इति संखाय मुणी न मज्जती—वह महत्त्वपूर्ण मद त्याग सूत्र है। इसका आशय यह है कि मद चाहे किसी भी प्रकार का हो, वह पाप-कर्मवन्ध का कारण है। सर्प जैसे अपनी त्वचा (केंचुली) को सर्वथा छोड़ देता है, इसी तरह साधु को कर्म आस्रव को या कर्मवन्ध को सर्वथा त्याज्य समझकर कर्म-जनक जाति, गोत्र (कुल), वल, रूप, धन-वैभव आदि मद का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

'अहऽसेयकरी अन्नेसि इंखिणी'—इस पंक्ति का आशय यह है कि साधक में दीक्षा लेने के वाद जरा-सा भी जाति, कुल, वल, रूप, तप, लाभ, शास्त्रज्ञान, ऐश्वर्य (पद या अधिकार) का मद होता है, तो उसके कारण वह दूसरों का उत्कर्ष, किसी भी वात में उन्नति सह नहीं सकता, दूसरों की (मनुष्यों, साधकों या सम्प्रदायों की) उन्नति, यशकीर्ति, प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा, वृद्धि देखकर वह मन-ही-मन कुढ़ता है, जलता है, ईर्ष्या करता है, दोष-दर्शन करता रहता है। फलत: अपने मद को पोषण देने के लिए वह दूसरों की निन्दा, चुगली, वदनामी, मिथ्यादोषारोपण, अप्रसिद्धि या अपकीर्ति करता रहता है। इस प्रकार अपने मद की वह वृद्धि करके भारी पाप कर्मवन्धन कर लेता है।[1]

शास्त्रकार ने यहाँ संकेत कर दिया है कि साधु अपने आत्म-कल्याण के लिए कर्मवन्धजनक समस्त वातों का त्याग कर चुका है, फिर आत्मा का अकल्याण करने वाली पापकर्मवर्द्धक परनिन्दा

---

[1] १. सूत्रकृतांग मूलपाठ एवं शीलांकवृत्ति भाषानुवाद, पृ० २२६ से २३०

को वह क्यों अपनाएगा ? और क्यों परनिन्दा तथा उसके समकक्ष ईर्ष्यादि अनेक दोषों को पैदा करने वाले मद को अपनाएगा ? इसीलिए सूत्रगाथा ११२ के उत्तरार्द्ध में इसी तथ्य को पुनः अभिव्यक्त किया है—**"अदु इंखिणिया उ पाविया, इति संखाय मुणी ण मज्जति ।"** यहाँ शास्त्रकार ने 'इंखिणी' शब्द का प्रयोग किया है, जिसका संस्कृत रूप होता है—ईक्षिणी अर्थात् देखने वाली परदोषदर्शिनी । परनिन्दा, चुगली, वदनामी, अपकीर्ति, मिथ्या दोषारोपण आदि सब परदोष दर्शन से होते हैं, इसलिए ये सब ईक्षिणी के अन्तर्गत हैं । वृत्तिकार ने इसीलिए 'इंखिणी' का अर्थ परनिन्दा किया है । साधक मदावेश में आकर ही अनेक पापों की जननी ईक्षिणी को पालता है, यह समझकर उसे मूल में ही मद को तिलांजलि दे देनी चाहिए । निर्युक्तिकार ने इसी सन्दर्भ में परनिन्दा-त्याग एवं मद-त्याग की प्रेरणा देने वाली दो गाथाएँ प्रस्तुत की हैं ।[2]

जो परिभवई परं जणं····महं—इस गाथा के पूर्वार्द्ध में मदावेश से होने वाले अन्य विकार और उसके भयंकर परिणाम का संकेत किया है । इसका आशय यह है कि जाति आदि के मद के कारण साधक अपने से जाति, कुल वैभव (पदादि या अधिकारादि का), बल, लाभ, शास्त्रीय ज्ञान, तप आदि में हीन या न्यून व्यक्ति का तिरस्कार, अवज्ञा, अपमान या अनादर करने लगता है, उसे दुरदुराता है, धिक्कारता, डाँटता-फटकारता है, बात-बात में नीचा दिखाने का प्रयत्न करता है, अपनी बड़ाई करके दूसरों को नगण्य—तुच्छ वताता है, लज्जित करता है, लांछित करता है, उसे अपने अधीनस्थ बनाकर मनमाना काम लेता है, चुभते मर्मस्पर्शी वचन या अपशब्द भी कह देता है, क्योंकि ये सब 'पर-परिभव' की ही संतति हैं । इसलिए मदजनित पर-परिभव भी त्याज्य है ।

संसारे परिवत्तती महं—परिभव आदि भी ईक्षिणी के ही परिवार हैं । ईक्षिणी को पापों की जननी वताया गया था कि परनिन्दा करते समय साधु दूसरे के प्रति ईर्ष्या-द्वेष करता है, यह भी पाप स्थान है । पर-परिवाद भी अपने-आप में पाप स्थान है, पर-परिभव भी अपने को अधिक गुणी, उत्कृष्ट मानने से होता है, अतः मान रूपी पाप स्थान भी आ जाता है, साथ ही क्रोध, माया, असत्य (मिथ्या दोषारोपण के कारण), पैशुन्य (चुगली), कपट-क्रिया आदि बताकर अपने मद का पोषण करने से मायामृषा, माया, उच्च पदादि प्राप्ति का लोभ, अहर्निश दूसरों के दोष या छिद्र देखने की वृत्ति के कारण आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान रूप पाप आता है । अपना स्वाध्याय, ध्यान, अध्ययन-मनन, आत्म-चिन्तन, परमात्म-स्मरण आदि आत्म-कल्याण की चर्चा का अधिकांश समय परनिन्दा आदि में व्यतीत करके तीर्थंकर-आज्ञा के उल्लंघन रूप अदत्तादान एवं ईर्ष्या-द्वेष-कषायादि के कारण भावहिंसा रूप पाप आता है । यों उनका जीवन अनेक पापों का अड्डा बन जाता है । उन संचित पापों के

---

[2] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पृ० ६०-६१ के आधार पर

(ख) तव-संजम-णाणेसु वि जइ माणो वज्जिओ महेसीहिं ।
अत्तसमुक्करिसत्थं किं पुण हीला उ अन्नेसिं ॥४३॥
जइ ताव निज्जरमाओ पडिसिद्धो अट्ठमाण महेर्णहिं ।
अवसेसमयट्ठाणा परिहरियव्वा पयत्तेणं ॥४४॥

—सूत्रकृतांग निर्युक्ति

अर्थात्—जब तप, संयम और ज्ञान का अभिमान भी महर्षियों ने त्याज्य कहा है, तब अपना वड़प्पन प्रकट करने के लिए दूसरों की निन्दा या अवज्ञा को प्रयत्नपूर्वक छोड़ ही देना चाहिए ।"

फलस्वरूप वह मदोन्मत्त साधक मोक्ष (कर्ममुक्ति) की ओर गति-प्रगति करने के वजाय दीर्घकाल या महाकाल तक संसार-सागर में ही भटकता रहता है, अतः मुनि चाहे कितना ही क्रियाकाण्डी हो, आचारवान् हो, विशिष्ट कुल जाति में उत्पन्न हो, शास्त्रज्ञ हो, तपस्वी हो अथवा उच्च पदाधिकारी आदि हो, उसे मदावेश में किसी की निन्दा या तिरस्कार आदि नहीं करना चाहिए। दूसरों के दोषदर्शन में पड़कर अपने आत्मकल्याण के अमूल्य अवसंर को खोना तथा पापपुंज इकट्ठा करके अनन्त संसार परिभ्रमण करना है। यही इस गाथा का आशय है।[3]

उत्कर्ष और अपकर्ष के समय सम रहें—एक साधु अपनी भूतपूर्व गृहस्थावस्था में चक्रवर्ती राजा, मन्त्री या उच्च प्रभुत्व सम्पन्न पदाधिकारी था। दूसरा एक व्यक्ति उसके यहाँ पहले नौकरी करता था, अथवा वह उसके नौकर का नौकर था, किन्तु प्रवल पुण्योदयवश वह संसार से विरक्त होकर मुनि वन गया और उसका मालिक या ऊपरी अधिकारी कुछ वर्षो वाद मुनि बनता है। अव वह अपनी पूर्व जाति कुल आदि की उच्चता के मद में कुसंस्कारवश अपने से पूर्व दीक्षित (अपने भूतपूर्व दास) के चरणों में वन्दन-नमन करने में लज्जा करता है, कतराता है, अपनी हीनता महसूस करता है, यह ठीक नहीं है। इसीलिए सूत्र गाथा ११३ में कहा गया है—"**जे यावि अणायगे सिया····णो लज्जे।**" इस गाथा का यह आशय भी हो सकता है—जो पहले किसी प्रभुत्वसम्पन्न व्यक्ति के नौकर का नौकर था, वह पहले मुनि पदारूढ हो जाने पर अपने भूतपूर्व प्रभुत्वसम्पन्न; किन्तु वाद में दीक्षित साधु द्वारा वन्दना किये जाने पर जरा भी लज्जित न हो, अपने में हीन भावना न लाये, अपने को नीचा न माने।

'समयं सयाचरे'—इसीलिये अन्त में, दोनों कोटि के साधकों को विवेक सूत्र दिया गया है कि वे दोनों सदैव समत्व में विचरण करें। 'मुनि-पद' समता का मार्ग है, इसलिए वह कभी हीन तो हो ही नहीं सकता। वह तो सर्वदा, सर्वत्र विश्ववन्द्य पद हैं, उसे प्राप्त कर लेने के वाद तो भूतपूर्व जाति, कुल आदि सव समाप्त हो जाते हैं। वीतराग मुनीन्द्र के धर्म संघ में आकर सभी समान हो जाते हैं। इसीलिए मदावेश में आकर कोई साधु अपने से जाति आदि से हीन पूर्व दीक्षित साधु का न तो तिरस्कार करे, न ही उसको वन्दनादि करने में लज्जित हो। इसी कारण **'समयं सयाचरे'** का अर्थ यह भी सम्भव है—'समयं-जैन सिद्धान्त पर या साध्वाचार पर सदा चले।' साधक में उत्कर्ष तो मदजनित है ही, अपकर्ष भी दूसरे के वृद्धिगत उत्कर्ष मद को देखकर होता है, इसलिए यह भी मदकारक होता है। क्योंकि ऐसा करने में कषायवश अधिक पाप कर्मवन्ध होगा, इसलिए समभाव या साधुत्व (संयम) में विचरण करना चाहिए। मान और अपमान दोनों ही साधु के लिए त्याज्य है।"[4]

---

[3] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पृ० ६१ के आधार पर

(ख) तुलना कीजिये—अहंकारं वलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।

मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकः ॥१८॥
तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥ —गीता० अ० १५/१८-१९

[4] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पृ० ६१ के आधार पर

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ३२२ से ३२६ के आधार पर

समताधर्म उपदेश

११४. सम अन्नयरम्मि संजमे, संसुद्धे समणे परिव्वए।
जे आवकहा समाहिए, दविए कालमकासि पंडिए ॥ ४ ॥

११५. दूरं अणुपस्सिया मुणी, तीतं धम्ममणागयं तहा।
पुट्ठे फरुसेहिं माहणे, अवि हण्णू समयंसि रीयति ॥ ५ ॥

११६. पण्णसमत्ते सदा जए, समिया धम्ममुदाहरे मुणी।
सुहुमे उ सदा अलूसए, णो कुज्झे णो माणि माहणे ॥ ६ ॥

११७. वहुजणणमणम्मि संवुडे, सव्वट्ठेहिं णरे अणिस्सिते।
हरए व सया अणाविले, धम्मं पादुरकासि कासवं ॥ ७ ॥

११८. वहवे पाणा पुढो सिया, पत्तेयं समयं उवेहिया।
जे मोणपदं उवट्ठिते, विरतिं तत्थमकासि पंडिते ॥ ८ ॥

११४. सम्यक् प्रकार से शुद्ध श्रमण जीवनपर्यन्त (पाँच प्रकार के चारित्र संयम में से) किसी भी एक संयम (संयम स्थान) में स्थित होकर समभाव के साथ प्रव्रज्या का पालन करे। वह भव्य पण्डित ज्ञानादि समाधि से युक्त होकर मृत्यु काल तक संयम पालन करे।

११५. मुनि (तीनों काल की गतिविधि पर मनन करने वाला) मोक्ष (दूर) को तथा जीवों को अतीत एवं अनागतकालीन धर्म—जीवों के स्वभाव को देखकर (जानकर) कठोर वाक्यों या लाठी आदि के द्वारा स्पर्श (प्रहार) किया जाता हुआ अथवा हनन किया (मारा) जाता हुआ भी समय में—(संयम में) विचरण करे।

११६. प्रज्ञा में परिपूर्ण मुनि सदा (कषायों पर) विजय प्राप्त करे तथा समता धर्म का उपदेश दे। संयम का विराधक न हो। माहन (साधु) न तो क्रोध करे, न मान करे।

११७. अनेक लोगों द्वारा नमस्करणीय-वन्दनीय अर्थात् धर्म में सावधान रहने वाला मुनि समस्त (वाह्याभ्यन्तर) पदार्थों या इन्द्रिय-विषयों में—अप्रतिबद्ध होकर ह्रद—सरोवर की तरह सदा अनाविल (निर्मल) रहता हुआ काश्यप गोत्रीय भगवान् महावीर के धर्म—समता धर्म को प्रकाशित-प्रकट करे।

११८. वहुत से प्राणी पृथक्-पृथक् इस जगत् में निवास करते हैं। अतः प्रत्येक प्राणी को समभाव से सम्यक् जान-देखकर जो मुनिपद संयम में उपस्थित—पण्डित साधक है, वह उन प्राणियों की हिंसा से विरति—निवृत्ति करे।

विवेचन—समता-धर्म की आराधना के विविध पहलू—प्रस्तुत पंचसूत्री (११४ से ११८ तक) में साधु को समता धर्म कहाँ-कहाँ, किस-किस अवसर पर कैसे-कैसे पालन करना चाहिए? इस पर सम्यक् प्रकाश डाला गया है। जो सरल सुबोध है।

कठिन शब्दों की व्याख्या—अन्नयरंमि संजमे—सामायिक, छेदोपस्थानीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात। इन पाँचों में से किसी एक संयम में, या संयम में ६ प्रकार का तारतम्य होने से ६स्थानों में से किसी भी संयम स्थान में स्थित होकर। **समणे**—सम, श्रम (तप) एवं शम करने वाला या सममना। **आवकहा**—यावत्कथा—जहाँ तक देवदत्त, यज्ञदत्त इस प्रकार के नाम की कथा चर्चा हो, वहाँ तक, यानी जीवन की समाप्ति तक। **समाहिए**—सम्यक् रूप से ज्ञानादि में आत्मा को स्थापित करने वाला अथवा समाधिभाव-शुभ अध्यवसाय से युक्त। **दूरं**—अति दूर होने के कारण, दूर का अर्थ मोक्ष किया गया है। अथवा सुदूर अतीत एवं सुदूर भविष्य काल को भी 'दूरं' कहा जा सकता है। **धम्मं**—जीवों के उच्चनीच स्थान गति रूप अतीत-अनागत धर्म यानी स्वभाव को। **'अविहण्णू'**—प्राणों से वियुक्त किये जाने पर भी। **समयंमि रीयइ**—समता धर्म में या संयम में विचरण करे। **पण्णसमत्ते**—प्रज्ञा में समाप्त पूर्ण अथवा पटु प्रज्ञावाला। वृत्तिकार द्वारा सूचित पाठान्तर है—**पेण्हसमत्थे**—इसके दो अर्थ किये गये हैं—प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ अथवा जिसके प्रश्न (संशय) समाप्त हो गये हों वह संशयातीत—समाप्त प्रश्न। **'समयाधम्ममुदाहरे'**—समताधर्म का कथन-प्ररूपण करे अथवा समता धर्म का उदाहरण—आदर्श प्रस्तुत स्थापित करे। चूर्णिकार—**समिया धम्ममुदाहरेज्ज**—इस प्रकार का पाठान्तर स्वीकार करके व्याख्या करते हैं—**समिता णाम सम्मं धम्मं उदाहरेज्ज**—अर्थात् समिता यानी सम्यक् धर्म का उपदेश करे। **सुहुमेउ सदा अलूसए**—सूक्ष्म अर्थात् संयम में सदा अविराधक रहे। **बहुजण णमणंमि**—बहुत से लोगों द्वारा नमस्करणीय धर्म में। **अणाविले**—अनाकुल-अकलुष हृदय की तरह क्रोधादि से अक्षुब्ध अनाकुल, अथवा चूर्णिकार के अनुसार—**अणाइल इति निरुद्धाश्रवः अणातुरो न म्लायति धर्मं कथयन्**—अर्थात् अनाविल का अर्थ है जिसने आश्रवों का निरोध कर लिया है, जो अनातुर होगा, वही क्षमादि रूप धर्म का धर्मोपदेश देता हुआ नहीं घबरायेगा। **समयं उवेहिया**—समता माध्यस्थ्य वृत्ति या आत्मौपम्य भाव धारण करके अथवा पाठान्तर है **'समीहिया'** उसके अनुसार अर्थ होता है—स्वयम्-आत्मरूप जान-देखकर। अथवा प्रत्येक प्राणी में दुःख की अप्रियता एवं सुख की प्रियता समान भाव से जानकर। **मौणपदं**—मौनीन्द्र तीर्थंकर के पद—पथ—संयम में अथवा आचारांग के अनुसार साम्य या सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय रूप मौन-पद में।[५]

परिग्रह त्याग-प्रेरणा

११९. धम्मस्स य पारए मुणी, आरंभस्स य अंतए ठिए।
सोयंति य णं ममाइणो, नो य लभंति णियं परिग्गहं ॥९॥

१२०. इहलोग दुहावहं विऊ, परलोगे य दुहं दुहावहं।
विद्धंसणधम्ममेव तं, इति विज्जं कोऽगारमावसे ॥१०॥

---

५. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ६१ से ६३
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या ३२८ से ३३५ पृष्ठ तक
(ग) सूयगडंग चूर्णि (जम्बूविजयजी सम्पादित टिप्पण) पृ० २१
(अ) पण्हसमत्थे—समाप्तप्रश्न इत्यर्थः।
(ब) सदाजतेत्ति—ज्ञानवान् अप्रमत्तश्च।
(स) अणाइले हरदेत्ति—पद्म महापद्मादयो वा ह्रदा अनाकुलाः, क्रोधादीहि वा अणाइलो, अथवा अणाइल इति निरुद्धाश्रवः अनातुरो, न म्लायति धर्मं कथयन्।"

११९. जो पुरुष धर्म का पारगामी और आरम्भ के अन्त (अभाव) में स्थित है, (वही) मुनि है। ममत्वयुक्त पुरुष (परिग्रह का) शोक (चिन्ता) करते हैं, फिर भी अपने परिग्रह (परिग्रह रूप पदार्थ) को नहीं पाते।

१२०. (सांसारिक पदार्थों और स्वजन वर्ग का) परिग्रह इस लोक में दुःख देने वाला है और परलोक में भी दुःख को उत्पन्न करने वाला है, तथा वह (ममत्व करके गृहीत पदार्थ समूह) विध्वंस-विनश्वर स्वभाव वाला है, ऐसा जानने वाला कौन पुरुष गृह-निवास कर सकता है?

विवेचन—परिग्रह-त्याग : क्यों और किसलिए ? प्रस्तुत त्रि-सूत्री में परिग्रह त्याग की प्रेरणा दी गई है। सूत्रगाथा ११९ में सच्चे अपरिग्रही मुनि की दो अर्हताएँ बतायी हैं—(१) जो श्रुतचारित्र रूप धर्म के सिद्धान्तों में पारंगत हो, (२) जो आरम्भ के कार्यों से दूर रहता है। जो इन दो अर्हताओं से युक्त नहीं है, अर्थात् जो मुनि धर्म के सिद्धान्तों से अनभिज्ञ है, आरम्भ में आसक्त रहता है, धर्माचरण करने में मन्द रहता है, वह इष्ट पदार्थों और इष्टजनों को 'वे मेरे हैं, उन पर मेरा स्वामित्व या अधिकार है,' इस प्रकार ममत्व करता है, उनके वियोग में झूरता रहता है, शोक करता है, किन्तु वे पदार्थ उनके हाथ में नहीं आते। तात्पर्य यह है कि इतनी आकुलता-व्याकुलता करने पर भी वे उस पदार्थ को प्राप्त नहीं कर पाते। इसीलिए कहा गया है—**"धम्मस्स य पारए ···नो य लभंति णियं परिग्गहं।"**

इस गाथा का यह अर्थ भी सम्भव है—जो मुनि धर्म में पारंगत है, और आरम्भ कार्यों से परे है, उसके प्रति ममत्व और आसक्ति से युक्त स्वजन उसके पास आकर शोक, विलाप और रुदन करते हैं, उस साधु को ले जाने का भरसक प्रयत्न करते हैं, परन्तु वे अपने माने हुए उस परिग्रहभूत (ममत्व के केन्द्र) साधु को नहीं प्राप्त कर सकते, उसे वश करके ले जा नहीं सकते।[7]

परिग्रह उभयलोक में दुःखद व विनाशी होने से त्याज्य—इस सूत्र गाथा १२० में परिग्रह क्यों त्याज्य है? इसके कारण बताये गये हैं—(१) सांसारिक पदार्थ और स्वजन वर्ग के प्रति परिग्रह (ममत्व) रखता है, वह इस लोक में तो दुःखी होता ही है, परलोक में भी दुःख पाता है। (२) परिग्रहीत सजीव-निर्जीव सभी पदार्थ नाशवान् हैं। यह जानकर कौन विज्ञ पुरुष परिग्रह के भण्डार गृहस्थवास में रह सकता है? अर्थात् परिग्रह का आगार गृहस्थवास पूर्वोक्त कारणों से त्याज्य ही है।

इह लोक में परिग्रह दुःखदायी है—धन, सोना-चाँदी, जमीन, मकान आदि निर्जीव पदार्थों का परिग्रह (ममत्व) इस लोक में चार कारणों से दुःखदायक होता है—(१) पदार्थों को प्राप्त करने में, (२) फिर उनकी रक्षा करने में, (३) उनके व्यय में दुःख तथा (४) उनके वियोग में दुःख।[8]

---

[7] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ६३
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३३६

[8] (क) अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थाः कष्टसंश्रयाः॥ —नितिकार
(ख) राजतः सलिलादग्नेश्चौरतः स्वजनादपि।
नित्यं धनवतां भीतिर्दृश्यते भुवि सर्वदा॥

इसी प्रकार माता-पिता आदि स्वजनों के प्रति ममत्व (परिग्रह) भी दुःखदायी है, क्योंकि रोग, कष्ट, निर्धनता, आफत आदि के समय स्वजनों से लगाई हुई सहायता, तथा मौत, संकट आदि के समय सुरक्षा की आशा प्रायः सफल नहीं होती, क्योंकि संसार में प्रायः स्वार्थ का बोलबाला है। स्वार्थपूर्ति न होने पर स्वजन प्रायः छोड़ देते हैं।

परलोक में भी परिग्रही दुःखदायी—इहलोक में इष्ट पदार्थों पर किये गये राग के कारण जो कर्मबन्धन हुआ, उसके फलस्वरूप परलोक में भी नाना दुःख भोगने पड़ते हैं। उन दुःखों को भोगते समय फिर शोक, चिन्ता या विषाद के वश नये कर्मबन्धन होते हैं, फिर दुःख पाता है, इस प्रकार दुःखपरम्परा बढ़ती जाती है।

गृहवास : परिग्रह भण्डार होने से गृहपाश हैं—शास्त्रकार ने स्पष्ट कह दिया—**इति विज्जा कोऽगारमावसे ?**—आशय यह है कि परिग्रह को उभयलोक दुःखद एवं विनाशवान जानकर कौन विज्ञ परिग्रह के भण्डार गृहस्थ में आवास करेगा ? कौन उस गृहपाश में फँसेगा ?

अतिपरिचय-त्याग-उपदेश

१२१. महयं पलिगोव जाणिया, जा'वि य वंदण-पूयणा इहं ।
सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे, विदुमं ता पयहेज्ज संथवं ।। ११ ।।

१२१. (सांसारिकजनों का) अतिपरिचय (अतिसंसर्ग) महान् पंक (परिगोप) है, यह जानकर तथा (अतिसंसर्ग के कारण प्रव्रजित को राजा आदि द्वारा) जो वंदना और पूजा (मिलती) है उसे भी इस लोक में या जिन-शासन में स्थित विद्वान् मुनि (वन्दन-पूजन को) गर्वरूप सूक्ष्म एवं कठिनता से निकाला जा सकने वाला शल्य (तीर) जानकर उस (गर्वोत्पादक) संस्तव (सांसारिकजनों के अतिपरिचय) का परित्याग करे।

विवेचन—अतिपरिचय : कितना सुहावना, कितना भयावना ? प्रस्तुत सूत्र में सांसारिक जनों के अतिपरिचय के गुण-दोषों का लेखा-जोखा दिया गया है। सांसारिक लोगों के अतिपरिचय को शास्त्रकार ने तीन कारणों से त्याज्य बताया है—(१) गाढ़ा कीचड़ है, (२) साधु को वन्दना-पूजा मिलती है, उसके कारण साधु-जीवन में गर्व (ऋद्धि, रस और साता रूप गौरव) का तीखा और बारीक तीर गहरा घुस जाता है कि उसे फिर निकालना अत्यन्त कठिन होता है यद्यपि अपरिपक्व साधु को धनिकों और शासकों आदि का गाढ़ संसर्ग बहुत मीठा और सुहावना लगता है, अपने भक्त-भक्ताओं के अतिपरिचय के प्रवाह में साधु अपने ज्ञान-ध्यान, तप-संयम और साधु-जीवन की दैनिकचर्या से विमुख होने लगता है, भक्तों द्वारा की जाने वाली प्रशंसा और प्रसिद्धि, भक्ति और पूजा से साधु के मन में मोह, अहंकार और राग घुस जाता है, जो भयंकर कर्मबन्ध का कारण है। इसीलिए इसे गाढ़ कीचड़ एवं सूक्ष्म तथा दुरुद्धर शल्य की उपमा दी है। अतः साधु अतिपरिचय को साधना में भयंकर विघ्नकारक समझकर प्रारम्भ में ही इसका त्याग करे। यह इस गाथा का आशय है।[९]

---

[९] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ६३
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३३७

महयं पलिगोव जाणिया—सांसारिकजनों का अति परिचय साधकों के लिए परिगोप है—पंक (कीचड़) है। परिगोप दो प्रकार का है—द्रव्य-परिगोप और भाव परिगोप। द्रव्यपरिगोप कीचड़ को कहते हैं, और भावपरिगोप कहते हैं आसक्ति को। इसके स्वरूप और परिणाम को जानकर…। जैसे कीचड़ में पैर पड़ने पर आदमी या तो फिसल जाता है या उसमें फँस जाता है, वैसे ही सांसारिकजनों के अतिपरिचय से ये दो खतरे हैं।

जावि वंदणपूयणा इह—मुनि धर्म में दीक्षित साधु के त्याग-वैराग्य को देखकर बड़े-बड़े धनिक, शासक, अधिकारी लोग उसके परिचय में आते हैं, उसकी शरीर से, वचन से वन्दना, भक्ति, प्रशंसा की जाती है और वस्त्रपात्र आदि द्वारा उसकी पूजा-सत्कार या भक्ति की जाती है। अधिकांश साधु इस वन्दना एवं पूजा से गर्व में फूल जाते हैं। यद्यपि जो वन्दना-पूजा होती है वह जैन सिद्धान्तानुसार कर्मोपशमजनित फल मानी जाती है अतः उसका गर्व न करो।

नागार्जुनीय पठान्तर—यहाँ वृत्तिकार एक नागार्जुनीय सम्मत पाठान्तर सूचित करते हैं—

पलिमंथ महं विजाणिया, जा वि य वंदनपूयणा इधं।
सुहुमं सल्लं दुरुल्लसं, तं पि जिणे एएण पंडिए॥

अर्थात्—स्वाध्याय-ध्यानपरायण एवं एकान्तसेवी निःस्पृह साधु का जो दूसरों—सांसारिक लोगों द्वारा वन्दन-पूजनादि रूप में सत्कार किया जाता है वह भी साधु के धर्म के सदनुष्ठान या सद्गति में महान् पलिमन्थ—विघ्न है, तब फिर शब्दादि विषयों में आसक्ति का तो कहना ही क्या? अतः बुद्धिमान् साधक इस दुरुद्धर सूक्ष्म शल्य को छोड़ दें।[१०]

चूर्णिकार '**महयं पलिगोव जाणिया**' के बदले '**महता पलिगोह जाणिया**' पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं—'**परिगोहो णाम परिष्वंग…भावे अभिलाषो बाह्याभ्यन्तरवस्तुषु।**" अर्थात् परिगोह कहते हैं—परिष्वंग (आसक्ति) को, द्रव्यपरिगोह पंक है, जो मनुष्य के अंगों में चिपक जाता है, भावपरिगोह है—बाह्य-आभ्यन्तर पदार्थों की अभिलाषा-लालसा।[११]

इसी आशय को बोधित करने वाली एक गाथा सुत्तपिटक में मिलती है। उसमें भी सत्कार को सूक्ष्म दुरूह शल्य बताया गया है।[१२]

---

[१०] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ६४
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३४०-३४१

[११] (क) सूत्रकृतांग चूर्णि पृ० ६३
(ख) सूत्रकृतांग समयार्थबोधिनी टीका भा० १, पृ० ४६०-४६१

[१२] पङ्कोति हि नं पवेदयुं यायं, वन्दनपूजना कुलेसु।
सुखुमं सल्लं दुरुब्बहं सक्कारो कापुरिसेन दुज्जहो॥
—सुत्तपिटक खुद्दकनिकाये थेरगाथा २५३, ३१४, ३७२

एकलविहारीमुनि-चर्या

१२२. एगे चरे ठाणमासणे, सयणे एगे समाहिए सिया ।
भिक्खू उवधाणवीरिए, वइगुत्ते अज्झप्पसंवुडे ।।१२।।

१२३. णो पीहे णावऽवंगुणे, दारं सुन्नघरस्स संजते ।
पुट्ठो ण उदाहरे वयं, न समुच्छे नो य संथरे तणं ।।१३।।

१२४. जत्थऽत्थमिए अणाउले, सम-विसमाणि मुणीऽहियासए ।
चरगा अदुवा वि भेरवा, अदुवा तत्थ सिरीसिवा सिया ।।१४।।

१२५. तिरिया मणुया य दिव्वगा, उवसग्गा तिविहाऽधियासिया ।
लोमादीयं पि ण हरिसे, सुन्नागारगते महामुणी ।।१५।।

१२६. णो अभिकंखेज्ज जीवियं, णो वि य पूयणपत्थए सिया ।
अब्भत्थमुवेंति भेरवा, सुन्नागारगयस्स भिक्खुणो ।।१६।।

१२७. उवणीततरस्स ताइणो, भयमाणस्स विवित्तमासणं ।
सामाइयमाहु तस्स जं, जो अप्पाणं भए ण दंसए ।।१७।।

१२८. उसिणोदगतत्तभोइणो, धम्मट्ठियस्स मुणिस्स हीमतो ।
संसग्गि असाहु रायिहिं, असमाही उ तहागयस्स वि ।।१८।।

१२२. भिक्षु वचन से गुप्त और अध्यात्म-संवृत (मन से गुप्त) तथा तपोबली (उपधान-वीर्य) होकर अकेला (द्रव्य से सहायरहित एकाकी, और भाव से रागद्वेष रहित) विचरण करे। कायोत्सर्ग, आसन और शयन अकेला ही करता हुआ समाहित (समाधियुक्त धर्मध्यान युक्त होकर) रहे।

१२३. संयमी (साधु) सूने घर का द्वार न खोले और न ही बन्द करे, किसी से पूछने पर (सावद्य) वचन न बोले, उस मकान (आवासस्थान) का कचरा न निकाले, और तृण (घास) भी न विछाए।

१२४. जहाँ सूर्य अस्त हो जाए, वहीं मुनि क्षोभरहित (अनाकुल) होकर रह जाय। सम-विषम (कायोत्सर्ग, आसन एवं शयन आदि के अनुकूल या प्रतिकूल) स्थान हो तो उसे सहन करे। वहाँ यदि डांस-मच्छर आदि हो, अथवा भयंकर प्राणी या सांप आदि हों तो भी (मुनि इन परीषहों को सम्यक् रूप से सहन करे।)

१२५. शून्य गृह में स्थित महामुनि तिर्यञ्चजनित, मनुष्यकृत एवं देवजनित त्रिविध उपसर्गों को सहन करे। भय से रोमादि-हर्षण (रोमांच) न करे।

१२६. (पूर्वोक्त उपसर्गों से पीड़ित साधु) न तो जीवन की आकांक्षा करे और न ही पूजा का

प्रार्थी (सत्कार-प्रशंसा का अभिलाषी) बने। शून्यगृह-स्थित (जीवन-मरण और पूजा से निरपेक्ष) भिक्षु को (धीरे-धीरे) भैरव (भयंकर) प्राणी अभ्यस्त—सह्य हो जाते हैं।

१२७. जिसने अपनी आत्मा को ज्ञानादि के समीप पहुंचा दिया है, जो त्रायी (अपना और दूसरों का उपकार कर्त्ता या त्राता) है, जो स्त्री-पशु-नपुंसक-संसर्ग से रहित विविक्त (विजन) स्थान का सेवन करता है तथा जो अपनी आत्मा में भय प्रदर्शित नहीं करता उस साधु का जो चरित्र है, उसे तीर्थंकरों ने सामायिक चारित्र कहा है।

१२८. गर्मजल को गर्म (विना ठंडा किये) ही पीने वाले, (श्रुत-चारित्र-रूप) धर्म में स्थित (स्थिर) एवं (असंयम से) लज्जित होने वाले मुनि को राजा आदि से संसर्ग करना अच्छा नहीं है। (क्योंकि वह) उक्त प्रकार के शास्त्रोक्त आचार-पालन में स्थित तथागत मुनि का भी समाधिभंग करता है।

विवेचन—एकाकी-विचरणशील साधु की आचार-संहिता—प्रस्तुत सप्तसूत्री (सूत्रगाथा १२२ से १२८ तक) में एकाकी विचरणशील विशिष्ट साधु की योग्यता एवं आचार संहिता की झांकी दी गई है। वह २२ सूत्री आचार संहिता इस प्रकार है—

(१) एकचारी साधु स्थान (कायोत्सर्गादि), आसन और शयन अकेला ही करे, (२) सभी परिस्थितियों में समाधियुक्त होकर रहे, (३) मनोगुप्त, वाग्गुप्त और तपस्या में पराक्रमी हो, (४) शून्यगृह का द्वार न खोले, न बन्द करे, (५) प्रश्न का उत्तर न दे, (६) मकान का कचरा न निकाले, (७) वहाँ घास भी न बिछाए, (८) जहाँ सूर्य अस्त हो जाए, वहीं क्षोभरहित होकर ठहर जाए, (९) अनुकूल-प्रतिकूल आसन, शयन और स्थान को सहन करे, (१०) वहाँ डांस-मच्छर आदि का उपद्रव हो या भयंकर राक्षस आदि हों, अथवा सर्प आदि हो तो भी समभावपूर्वक सहन करे, (११) शून्यागार स्थित साधु दिव्य, जो मानुष और तिर्यंचगत उपसर्ग आएँ उन्हें सहन करे, (१२) भय से जरा भी रोंगटे खड़े न होने दे, (१३) भयंकर उपसर्ग-पीड़ित होने पर न तो जीने की इच्छा करे न ही पूजा प्रार्थी हो, (१४) शून्यगृह स्थित साधु के सतत अभ्यास से भयंकर प्राणी भी सह्य हो जाते हैं। (१५) अपनी आत्मा ज्ञानादि में स्थापित करे (१६) स्व-परत्राता बने, (१७) विविक्तासनसेवी हो, (१८) अपनी आत्मा में भय का संचार न होने दे (१९) उष्णोदक, गर्म जल पीए, (२०) श्रुत-चारित्र धर्म में स्थित रहे, (२१) असंयम से लज्जित हो, (२२) शास्त्रोक्त आचारवान मुनि भी असमाधिकारक राजादि का संसर्ग न करे।

ये मुख्य-मुख्य अर्हताएँ हैं, जो एकाकीचर्याशील साधु में होनी चाहिए या उसे प्राप्त करनी चाहिए।[13]

एकाकीचर्या : लाभ या हानि?—प्रस्तुत सात गाथाओं में एकाकी विचरण की विशिष्ट साधना से सम्बन्धित निरूपण है। समूह के साथ साधु रहेगा तो उसे समूह की रीति-नीति के अनुसार चलना पड़ेगा। सामूहिक रूप से कायोत्सर्ग, स्वाध्याय, शयन एवं आसन का उपयोग करना होगा।

---

१३. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति मूल भाषानुवाद भा० १ पृ० २४४ से २५० तक का सार

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३४२ से ३५२ तक का सार

समूह में रहने पर गृहस्थों का सम्पर्क अधिक होगा, साधु को उनसे सम्मान, प्रतिष्ठा, कल्पनीय यथोचित साधन, सुख-सुविधाएँ, योग्य वस्त्र, पात्र, आवासस्थान आदि मिलने सम्भव हैं। ऐसे समय में वह साधु अगर सावधानी न रखे तो उसका जीवन संसर्गजनित दोषों और गर्वादि जनित अनिष्टों से बचना कठिन है। इसी दृष्टि से तथा उक्त दोनों दोषों से दूर रहकर साधुजीवन की समाधि और यथार्थ आनन्द प्राप्त करने हेतु शास्त्रकार ने एक विशिष्ट उच्च साधना—एकचर्या-साधना बताई है—**एगे चरे ठाणमासणे सयणे एगे समाहिए**। इस पंक्ति का आशय यह है कि इन सब दोषों तथा राग-द्वेष कषाय आदि से बचने के लिए साधु अकेला विचरण करे, अकेला ही कायोत्सर्ग करे, अकेला ही ठहरे-बैठे और अकेला ही शयन करे। यहाँ जितनी भी एकाकीचर्या बताई है, वहाँ द्रव्य और भाव दोनों से वह एकाकी होनी चाहिए। द्रव्य से एकाकी का मतलब है—दूसरे-साधु श्रावकवर्ग से सहायता लेने में निरपेक्ष। भाव से एकाकी का अर्थ है—राग-द्वेषादि दोषों से तथा जनसम्पर्क-जनित दोषों से रहित एकमात्र आत्मभावों में या आत्म गुणों में स्थित रहकर विचरण करना। अपना स्थान भी ऐसा चुने, जो एकान्त, विजन, पवित्र, शान्त और स्त्री-पशु-नपुंसक संसर्ग रहित हो। जिसके लिए शास्त्रकार ने आगे निर्देश किया है—**'भयमाणस्स विवित्तमासणं'**। यदि साधु एकलविहार भी हो गया, किन्तु ग्राम के बाहर अथवा कहीं एकान्त में रहकर भी अपना अखाड़ा जमाना शुरू कर दिया, जनता की भीड़ वहाँ भी आने लगी, अथवा वह स्थान एकान्त में होते हुए भी मुर्दाघाट है या गन्दगी (मल-मूत्र) डालने का स्थान है तो वह भी ठीक नहीं। अथवा एकान्त होते हुए भी वहाँ आस-पास कल-कारखानों का या अन्य कोई कोलाहल होता है, अथवा वह पशुओं को बांधने का बाड़ा हो, अथवा किसी स्त्री या नपुंसक का वहाँ रात्रिकाल में आवागमन होता हो तो वह विविक्त नहीं कहलाता, अपवित्र, अशान्त, कोलाहल युक्त या स्त्री-पशु-नपुंसक संसक्त जन समुदाय के जमघट वाले स्थान में रहने से साधु के एकाकीचर्या की साधना स्वीकार करने का उद्देश्य पूर्ण नहीं होता। वहाँ उसके स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि साधना में विक्षेप पड़ेगा, लौकिक स्वार्थवश सांसारिक लोगों का जमघट शुरू हो गया तो साधु को उनके झमेले से ही अवकाश नहीं मिल पाएगा। इन सब खतरों से बचे रहने के लिए एकचर्या के विशिष्ट साधक को यहाँ सावधान किया है। १२८ वीं गाथा में इसी बात को स्पष्ट कर दिया है—**'संसग्गी असाहु रायिंहि।'**—अर्थात् राजा आदि राजनीतिज्ञों या सत्ताधारियों के साथ संसर्ग ठीक नहीं है, वह आचारवान् साधु के लिए असमाधिकारक है।[१४]

एकाकीचर्या के योग्य कौन और कौन नहीं?—एकाकी विचरण करने वाले साधु को कठोर साधना करनी पड़ती है, क्योंकि एकाकी विचरण-साधना अंगीकार करने के बाद जरा-सी स्थान की, आहार-पानी की असुविधा हुई, सम्मान-सत्कार में लोगों की अरुचि देखी कि मन में उचाट आ गया, अथवा वाणी में रोष, कठोरता एवं अपशब्द आ गये, या किसी सूने घर में ठहर जाने पर वहाँ किसी प्रकार का देवी, मानुषी, या पाशविक उपद्रव खड़ा हो गया, तो साधु की समाधि भंग हो जायेगी, मन में राग-द्वेष-मोह का उफान आने लगेगा। दशाश्रुतस्कन्ध में कहा है—उक्त बीस असमाधि स्थानों से दूर रहकर श्रुत, विनय, आचार एवं तप, इन चार प्रकार की समाधि में स्थित रहना चाहिए। वस्तुतः एकचर्या का लाभ उसी को मिल सकता है, जो पहले अपने आपको एकचर्या के योग्य बना ले। अन्यथा,

---

[१४] सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३४३-३४४ के आधार पर

एकचर्या से लाभ के बदले हानि ही अधिक उठानी पड़ सकती है।[१५] चित्त समाधि युक्त साधक की इस प्रकार की विशिष्ट उपलब्धियाँ भी हो सकती हैं। इसलिए इन सूत्रगाथाओं में एकचारी साधक में १२ विशिष्ट गुणों का होना अनिवार्य बताया है—

(१) वह समाधियुक्त हो, (२) वचनगुप्ति (मौन या विवेकपूर्वक अल्प भाषण) से युक्त हो, (३) मन को भी राग-द्वेष-कषायोत्पादक विचारों से रोककर (संवृत-गुप्त) रखे, (४) बाह्य एवं आभ्यन्तर तप करने में शक्तिशाली (पराक्रमी) हो, (५) भिक्षणशील हो, (६) जीने की आकांक्षा (प्राणों का मोह) न हो, (७) पूजा-प्रतिष्ठा की चाह न हो, (८) सभी प्रकार के परीषहों और उपसर्गों को समभावपूर्वक सहने में सक्षम हो, (९) भय से रोमांच या अंग विकार न हो, (१०) अपनी आत्मा में परीषहोपसर्ग जनित भय का भूत खड़ा न करे और (११) श्रुत-चारित्रधर्म या मुनिधर्म में स्थिर रहे तथा (१२) असंयम के कार्य करने में लज्जित हो।

इसके अतिरिक्त एकचारी साधु के लिए अहिंसादि की दृष्टि से कुछ कठोरचर्याओं का भी निर्देश किया है—

(१) **शून्यगृह का द्वार न खोले, न बंद करे**—वर्षों से बिना सफाई किये पड़े हुए जन शून्य मकान में जाले जम जाते हैं, मकड़ी आदि कई जीव आकर बसेरा कर लेते हैं, चिड़िया-कबूतर आदि पक्षी, छिपकली आदि भी वहाँ अपना घोंसला बना लेते हैं, अण्डे दे देते हैं, साँप, बिच्छू आदि विषैले जन्तु भी वहाँ अपना डेरा जमा लेते हैं। कीड़े वहाँ रेंगते रहते हैं। इसलिए साधु वर्षा, सर्दी या गर्मी का परीषह सह ले, किन्तु उसके द्वार को न तो खोले, न बन्द करे, यह निर्देश किया गया है।

(२) **न सफाई करे, न घास बिछाए**—साथ ही उस दीर्घकाल से सूने पड़े हुए मकान की सफाई (प्रमार्जन) करने और घास बिछाने का निषेध इसलिए किया गया है कि वहाँ रहने वाले जीव-जन्तुओं की इससे विराधना होगी।

(३) **पूछने पर बोले नहीं**—साधु को कायोत्सर्ग में सूने घर में खड़े देख बहुत से लोग उस पर चोर, डाकू, गुप्तचर, लुटेरा या अन्य अपराधी होने का सन्देह कर बैठते हैं, और उससे पूछते हैं—"कौन है? कहाँ से आया है?" इस सम्बन्ध में शास्त्रकार कहते हैं—**पुट्ठे ण उदाहरे वयं**। प्रश्न होता है—बिलकुल न बोलने पर लोग कदाचित् कुपित होकर मारें-पीटें, सताएँ उस समय समभावपूर्वक सहन करने की शक्ति न हो तो मुनि क्या करें? यहाँ वृत्तिकार अभिग्रहधारी या जिनकल्पिक साधु के लिए तो निरवद्यवचन भी बोलने का निषेध करते हैं, किन्तु स्थविरकल्पी गच्छगत साधु के लिए वे

---

[१५] (क) देखिये दशाश्रुतस्कन्ध में २० असमाधिस्थान। — दशाश्रुतस्कन्ध सू० १-२

(ख) "चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता—तंजहा विणयसमाही, सुयसमाही, तवसमाही, आयारसमाही।" —दशवै० अ० ९, ३-४

(ग) ····इमाइं दश चित्तसमाहिठाणाइं असमुप्पण्णपुव्वाइं समुपज्जेज्जा····(१) धम्मचिंता····(२) सण्णिजाइ-सरणेणं··· (३) सुमिणदंसणे(४) देवदंसणे (५) ····ओहिणाणे (६) ओहिदंसणे····(७) मणपज्जवणाणे····(८) केवलणाणे····(९) केवलदंसणे····, (१०) केवलमरणे वा····।" —दशा० श्रु० दशा० ५, सू० ६

कहते हैं—"शून्य आगार में या अन्यत्र स्थित (स्थविरकल्पी) साधु से यदि कोई धर्म आदि के सम्बन्ध में या मार्ग अथवा परिचय पूछे तो सावद्य (समाप) भाषा न बोले।"

(४) सूर्य अस्त हो जाए वहाँ शान्ति से रह जाए—इस निर्देश के पीछे यह रहस्य है कि रात के अँधेरे में साँप, बिच्छू आदि दिखाई न देने के कारण काट सकते हैं, हिंस्र वन्य पशु भी आक्रमण कर सकते हैं, चोर-लुटेरे आदि के सन्देह में वह पकड़ा जा सकता है, अन्य सूक्ष्म व स्थूल जीव भी पैर के नीचे आकर कुचले जाने सम्भव हैं। इसलिए सूर्यास्त होते ही वह उचित स्थान देखकर वहीं रात्रि-निवास करे।

(५) प्रतिकूल एवं उपद्रव युक्त स्थान में समभाव से परीषह सहे—कदाचित् कोई ऊबड़-खाबड़ खुला या बिलकुल बन्द स्थान मिल गया, जहाँ डांस, मच्छर आदि का उपद्रव हो, जंगली जानवरों का भय हो, जहरीले जन्तु निकल आयें तो साधु व्याकुल हुए बिना शान्ति से उन परीषहों को सह ले।

(६) गर्म पानी गर्म-गर्म ही पीये—यह स्वाद-विजय एवं कष्टसहिष्णुता की दृष्टि से एकचारी साधु का विशिष्ट आचार बताया है।[१६]

एकचर्या की विकट साधना का अधिकारी साधक—सूत्रगाथा १२२ से १२८ तक एकचर्या की विशिष्ट साधना, उसकी योग्यता तथा उस साधना की कुछ विशिष्ट आचार-संहिता को देखते हुए निःसन्देह कहा जा सकता है कि इस कठोर साधना का अधिकारी या तो कोई विशिष्ट अभिग्रहधारी साधु हो सकता है, या फिर जिनकल्पिक साधु। स्थविरकल्पी साधु के वश की बात नहीं है कि वह दैवी, मानुषी या तिर्यञ्चकृत उपसर्गों या विविध परीषहों के समय उक्त प्रकार से अविचल रह सके, भय से कांपे नहीं, जीवन का मोह या यश-प्रतिष्ठा की आकांक्षा का मन से जरा भी स्पर्श न हो। वृत्तिकार ने भी इसी बात का समर्थन किया है।[१७]

इतनी विशिष्ट योग्यता कैसे आये? प्रश्न होता है—इतने भयंकर कष्टों, उपद्रवों एवं संकटों का सामना करने की शक्ति किसी भी साधक में एकदम तो आ नहीं सकती। कोई दैवी वरदान से तो यह शक्ति और योग्यता प्राप्त होने वाली नहीं, ऐसी स्थिति में एकचारी साधक में ऐसी क्षमता और योग्यता कैसे आ पायेगी? शास्त्रकार इसका समाधान करते हुए कहते हैं—**"अब्भत्थमुवेंति भेरवा···· भिक्खुणे।"** इसका आशय यह है कि ऐसा विशिष्ट साधक महामुनि जब जीने की आकांक्षा और पूजा-प्रतिष्ठा की लालसा का बिलकुल त्याग करके बार-बार शून्यागार में कायोत्सर्गादि के लिए जायेगा, वहाँ पूर्वोक्त दंश-मशक आदि के उपद्रव तथा भयंकर उपसर्ग आदि सहने का अभ्यास हो जायेगा, तब उसे ये सब उपसर्गकर्ता प्राणी आत्मीय मित्रवत् प्रतीत होने लगेंगे, और मतवाले हाथी के

---

[१६] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ६४

[१७] (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या ३४२ से ३५२

(ख) I. ....शून्यागारगतः शून्यगृहव्यवस्थितस्य चोपलक्षणार्थत्वात् पितृवनादि स्थितो महामुनिर्जिनकल्पादिरिति।

II. तत्रस्थोऽन्यत्र वा केनचिद् धर्मादिकं मार्गं वा पृष्टः—सन् सावद्यां वाचं नोदाहरेन्नब्रूयात्, आभिग्रहिको जिनकल्पादिर्निरवद्यामपि न ब्रूयात्।···नाऽपि शयनार्थी कश्चिदाभिग्रहिकः तृणादिकं संस्तरेत्—तृणैरपिसंस्तेरकं न कुर्यात् किं पुनः कम्बलादिना? —सूत्रकृ० वृत्ति पत्रांक ६४-६५

समान उसके मन पर शीत-उष्ण, दंश-मशक आदि परीषहों का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। उसके लिए ये भयंकर परीषह या उपसर्ग सह्य हो जायेंगे।[१७]

कठिन शब्दों की व्याख्या—**ठाणं**—कायोत्सर्ग, या एक स्थान में स्थित होना। **उवधाणवीरिए**—तपस्या में पराक्रमी। **अज्झप्पसंवुडे**—आत्मा में लीन अथवा मनोगुप्ति से युक्त। **णो पीहे**—न बन्द करे, **णाऽवंगुणे**—नहीं खोले। **ण समुच्छे**—इसके दो अर्थ फलित होते हैं—वृत्तिकार ने व्याख्या की है—**न समुच्छिन्द्यात् तृणानि कचवरं च प्रमार्जनेन नापनयेत्**—अर्थात्—घास-तिनके एवं कचरा झाड़-बुहार कर निकाले-हटाए नहीं। **चरगा**—डांस, मच्छर आदि काटने वाले जीव। **समविसमाइं**—अनुकूल-प्रतिकूल शयन, आसन आदि। **मुणी**—यथार्थ संस्कार का वेत्ता-मननकर्ता। **महामुणी**—जिनकल्पिक मुनि या उच्च अभिग्रहधारी साधक। **समाहिए**—वृत्तिकार के अनुसार—'विचरण-निवास, आसन, कायोत्सर्ग, शयन आदि विविध अवस्थाओं में राग-द्वेष रहित होने से ही समाहित-समाधियुक्त होता है।' चूर्णिकार के अनुसार—'एकाकी विचरण समाहित अर्थात्—आचार्य, गुरु आदि से अनुमत होकर करे।' **तिविहाऽधिवासिया**—तीनों प्रकार के उपसर्गों को सम्यक् सहन करे। चूर्णिकार **'तिविहावि सेविया'** पाठान्तर मानते हैं। **अब्भत्थमुवेंति भेरवा**—भयानक परिषह-उपसर्ग (उपद्रव) आदि अभ्यस्त—आसेवित या सुसह हो जाते हैं। **उवणीततरस्स**—जिस साधक ने अपनी आत्मा ज्ञानादि के निकट पहुँचा दी है, उस उपनीततर साधु का। **धम्मट्ठियस्स**—वृत्तिकार के अनुसार—धर्म में स्थित साधु के, चूर्णिकार के अनुसार—जिसका धर्म से ही अर्थ—प्रयोजन है, वह धर्मार्थी। **असमाही उ तहागयस्स वि**—शास्त्रोक्त आचारपालक साधु का भी राजा आदि के संसर्ग से असमाधि अर्थात्—अपध्यान ही सम्भव है। **उसिणोदगतत्तभोइणो**—तीन बार उकाला आये हुए गर्म जल का सेवन करने वाला अथवा उष्णजल को ठंडा न करके गर्म-गर्म ही सेवन करने वाला। **हीमतो**—असंयम के प्रति लज्जावान् है।[१८]

उवणीयतरस्स …… **अप्पाणं भए ण दंसए**—इसी गाथा से मिलती-जुलती गाथा बौद्धधर्म-ग्रन्थ सुत्तपिटक में मिलती है।[१९]

अधिकरण-विवर्जना

१२९. अहिगरणकडस्स भिक्खुणो, वयमाणस्स पसज्झ दारुणं।
अट्ठे परिहायती बहू, अहिगरणं न करेज्ज पंडिए ॥१९॥

---

[१७] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ६४-६५
(ख) अब्भत्थमवेंति भेरवा—अभ्यस्ता नाम आसेविता····नीराजितवारणस्यैऽभैरवा एव भवन्ति।
—सूत्रकृ० चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० २३

[१८] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ६४-६५
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० २२-२३

[१९] तुलना—पतिलीनचरस्स भिक्खुनो भजमानस्स विवित्तमासनं।
सामाग्गियमाहु तस्स तं यो अत्तानं भवने न दस्सये।
—सुत्तपिटके खुद्दकनिकाये सुत्तनिपाते अट्ठकवग्गे पृ० ३९४

१२९. जो साधु अधिकरण (कलह या विवाद) करता है, और हठपूर्वक या मुँहफट होकर भयंकर कठोर वचन बोलता है, उसका बहुत-सा अर्थ (संयमधन या मोक्षरूप प्रयोजन) नष्ट हो जाता है। इसलिए पण्डित (सद्-असद् विवेकी) मुनि अधिकरण न करे।

विवेचन—अधिकरण निषेध—प्रस्तुत गाथा में साधु के लिए अधिकरण सर्वथा वर्जनीय बताया है। इसके दो लक्षण बताये गये हैं—अधिकरणशील साधु रौद्रध्यान ईर्ष्या, रोष, द्वेष, छिद्रान्वेषण, कलह आदि पाप-दोष बटोरता है, (२) वह हठपूर्वक प्रकट रूप से भयंकर कठोर वचन बोलता है।

परिणाम—अधिकरण करने वाले साधु का बहुत-सा संयमधन लुट जाता है, अथवा उसका मोक्षरूप प्रयोजन सर्वथा नष्ट हो जाता है। कहा भी है—

"जं अज्जियं समीखल्लएहिं तवनियमबंभमाइएहिं।
माहु तयं कलहंता छड्डे अहसागपत्तेहिं॥"

—चिरकाल तक कठोर तप, नियम एवं ब्रह्मचर्य आदि बड़ी मुश्किल से जो सत्फल उपार्जित किया है, उसे तुच्छ बातों के लिए कलह करके नष्ट मत करो, ऐसा पण्डितजन उपदेश देते हैं।

अधिकरणकर का अर्थ—बात को अधिकाधिक बढ़ा-चढ़ाकर करना, उसे बतंगड़ बना देना, और विवाद खड़ा करके कलह करना अधिकरण है। बात-बात में जिसका अधिकरण करने का स्वभाव हो जाता है, उसे 'अधिकरणकर' कहते हैं।[२०]

सामायिक-साधक का आचार

१३०. सीओदगपडिदुगुञ्छिणो, अपडिण्णस्स लवावसक्किणो।
सामाइयमाहु तस्स जं, जो गिहिमत्तेऽसणं न भुञ्जती॥२०॥

१३१. न य संखयमाहु जीवियं, तह वि य बालजणे पगब्भती।
बाले पावेहिं मिज्जती, इति संखाय मुणी ण मज्जती॥२१॥

१३२. छंदेण पलेतिमा पया, बहुमाया मोहेण पाउडा।
वियडेण पलेति माहणे, सीउण्हं वयसाऽहियासए॥२२॥

१३०. जो साधु ठण्डे (कच्चे—अप्रासुक) पानी से घृणा (अरुचि) करता है, तथा मन में किसी प्रकार की प्रतिज्ञा (सांसारिक कामना पूर्ति का संकल्प—निदान) नहीं करता, कर्म (बन्धन) से दूर रहता है, तथा जो गृहस्थ के भाजन (बर्तन) में भोजन नहीं करता, उस साधु के समभाव को सर्वज्ञों ने सामायिक (समतायोग) कहा है।

---

[२०] (क) सूत्रकृतांग समयार्थबोधिनी टीका, भाग १, पृ० ५८५
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३५४
(ग) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पृ० ६६

१३१. जीवन संस्कार करने (जोड़ने) योग्य नहीं है ऐसा (सर्वज्ञों ने) कहा है, तथापि अज्ञानीजन (पाप करने में) धृष्टता करता है। वह अज्ञजन (अपने बुरे कार्यों से उपार्जित पापों के कारण) पापी माना जाता है, यह जानकर (यथावस्थित पदार्थवेत्ता) मुनि मद नहीं करता।

१३२. वहुमायिक एवं मोह से प्रावृत (आच्छादित) ये प्रजाएँ (विभिन्न जाति के प्राणी) अपने स्वच्छन्दाचार के कारण नरक आदि गतियों में जाकर लीन (प्रविष्ट) होती हैं, किन्तु अहिंसा महाव्रती महामाहन (कपट रहित कर्म के कारण मोक्ष अथवा संयम में) प्रलीन होता है और शीत (अनुकूल) और उष्ण (प्रतिकूल) परीषहों को मन-वचन-काया से सहता है।

विवेचन—सामायिक-साधक के मौलिक आचारसूत्र—प्रस्तुत तीन गाथाओं में शास्त्रकार ने सामायिक साधक के कुछ मौलिक आचारसूत्र बताये हैं—(१) वह ठण्डे (कच्चे-अप्रासुक) जल से घृणा (अरुचि) करता है, (२) किसी भी प्रकार का निदान (सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति का संकल्प) नहीं करता (३) कर्मवन्धन के कारणों से दूर हट जाता है, (४) गृहस्थ के भाजन (बर्तन) में भोजन नहीं करता, (५) जीवन को क्षणभंगुर (असंस्कृत) जानकर मद (घमण्ड) नहीं करता, (६) स्वच्छन्दाचार, मायाचार एवं मोह प्रवृत्ति के दुष्परिणाम जानकर इनसे रहित होकर संयमसाधना में लीन रहता है, (७) अनुकूल-प्रतिकूल परीपहों को मन-वचन-काया से समभावपूर्वक सहता है।[२१]

सीओदगपडिदुगुञ्छिणो—शीतोदक—ठण्डे-अप्रासुक-सचित्त पानी के सेवन के प्रति जुगुप्सा—घृणा—अरुचि करने वाला। कैसा भी विकट प्रसंग हो, साधु जरा-सा भी अप्रासुक जल-सेवन करना पसन्द नहीं करता क्योंकि जल-जीवों की विराधना को वह आत्म-विराधना समझता है।

अपडिण्णस्स—प्रतिज्ञा—किसी भी अभीष्ट मनोज्ञ इहलौकिक-पारलौकिक विषय को प्राप्त करने का निदान रूप संकल्प (नियाणा) न करने वाला साधु।

'लवावसक्किणो'—शब्द का अर्थ है—लेशमात्र कर्मवन्धन से भी दूर रहने वाला। वृत्तिकार सम्मत पाठान्तर है—**लवावसप्पिणो**। व्याख्या की है—**लवं कर्म तस्मात् अवसर्पिणः यदनुष्ठानं कर्मबन्धोपादानरूपं तत्परिहारिण इत्यर्थः**। अर्थात्—लव कहते हैं कर्म को, उससे अलग हट जाने वाला, अर्थात् जो कार्य कर्मवन्धन का कारण है, उसे जानते ही तुरन्त छोड़ देने वाला। वह लेशमात्र भी कर्मवन्धन के कारण के पास नहीं फटकता।[२२]

'गिहिमत्तेऽसणं न भुंजती'—गृहस्थ के वर्तनों में भोजन नहीं करता। दशवैकालिक सूत्र में साधु को गृहस्थ के वर्तन में भोजन करने का निषेध निम्नोक्त कारणों से किया है—(१) पश्चात्कर्म और पुरः कर्म की सम्भावना है, (२) वर्तनों को गृहस्थ द्वारा सचित्त जल से धोने और उस धोए हुए

---

[२१] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ६६ का सारांश
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या ३५५-३५७ के आधार पर

[२२] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ६६
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३५५ के आधार पर
(ग) सूत्रकृतांग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० २३

पानी को अयतनापूर्वक फेंकने से प्राणियों की हिंसा होती है, (३) गृहस्थ के कांसे आदि के वर्तनों में भोजन करने वाला श्रमण आचारभ्रष्ट हो जाता है। यही कारण है कि गृहस्थ के वर्तन में भोजन आदि करने से समत्वयोग भंग होता है।[२३]

इति संखाय मुणी ण मज्जती—जीवन को क्षणभंगुर जानकर भी धृष्टतापूर्वक वेखटके पापकर्म में प्रवृत्त होने वाले पापीजनों को जान-देखकर तत्त्वज्ञ मुनि किसी प्रकार का मद—घमण्ड नहीं करता। इसका अर्थ वृत्तिकार ने किया है—ऐसी स्थिति में मुनि के लिए ऐसा मद करना (अभिमान या घमण्ड करना) पाप है कि इन बुरे कार्य करने वालों में मैं ही सत्कार्य करने वाला हूँ, मैं ही धर्मात्मा हूँ, अमुक मनुष्य तो पापी है, मैं उच्च क्रियापात्र हूँ, ये सब तो शिथिलाचारी हैं। असन्ध्येय—असंस्कृत जिन्दगी में मानव किस बूते पर अभिमान कर सकता है?"

अथवा इस पंक्ति का आशय यह भी हो सकता है—आयुष्य के क्षण नष्ट होते ही जीवन समाप्त हो जाता है, किसी का भी जीवन स्थायी और आयुष्य के टूटने पर जुड़ने वाला नहीं है, फिर कोई भी तत्त्वज्ञ विचारशील मुनि अपने पद, ज्ञान, विद्वत्ता, वक्तृत्वकला, तपश्चरणशक्ति, या अन्य किसी लब्धि-उपलब्धि या योग्यता विशेष का मद (अभिमान) कैसे कर सकता है?

"छंदेण पले इमा पया····वियडेंण पलेंति माहणे"—इस पंक्ति का आशय यह है कि अज्ञ-प्रजाजन अपने-अपने स्वच्छन्द आचार-विचार के कारण, तथा मायाप्रधान आचार के कारण मोह से—मोहनीय कर्म से आवृत्त होकर नरकादि गतियों में जाते हैं। स्वत्वमोह से उनकी बुद्धि आवृत्त हो जाने से वे लोग **'अग्निष्टोमीयं पशुमालभेत'** इत्यादि श्रुति वाक्यों को प्रमाण रूप में प्रस्तुत करके देवी-देवों के नाम से या धर्म के नाम से वकरे, मुर्गे आदि पशु-पक्षियों की वलि करते हैं। इसे वे यज्ञ—अभीप्ट कल्याण साधक मानते हैं। कई विभिन्न यज्ञों में अश्व, गौ, मनुष्य आदि को होमने का विधान करते हैं। कई मोहमूढ़ लोग अपने धर्मसंघ, आश्रम, मन्दिर, संस्था या जाति आदि की रक्षा के नाम पर दासी-दास अथवा पशु तथा धनधान्य आदि का परिग्रह करते हैं। भोले-भाले लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने हेतु तथा क्रियाकाण्डों का सब्जवाग दिखाकर उनसे धन-साधन आदि वटोरने-ठगने के लिए वाह्य शौच को धर्म वताकर शरीर पर वार-वार पानी छींटने, स्थान को वार-वार धोने, वर्तनों को वार-वार रगड़ने तथा कान का स्पर्श करने आदि मायाप्रधान वंचनात्मक प्रवृत्ति करते हैं, और उसी का समर्थन करते हुए वे कहते हैं—

---

[२३] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ६६

(ख) तुलना कीजिए—

कंसेसु कंसपाएसु कुण्डमोएसु वा पुणो।
भुंजंतो असणपाणाइं, आयारा परिभस्सइ॥
सीओदगसमारंभे, मत्तधोयण-छड्डणे।
जाइं छन्नंति भूयाइं, दिट्ठो तत्थ असंजमो॥
पच्छाकम्मं पुरेकम्मं सिया तत्थ न कप्पई।
एयमट्ठं न भुंजंति निग्गंथा गिहिभायणे॥ —दसवेआलियं (मुनि नथमलजी) अ० ६, गा० ५०, ५१, ५२

"कुक्कुटसाध्यो लोको, नाकुक्कुटतः प्रवर्त्तते किंचित् ।
तस्माल्लोकस्यार्थे स्वपितरमपि कुक्कुटं कुर्यात् ।।

अर्थात्—'यह संसार कपट से ही साधा (वश में किया) जाता है, बिना कपट किए जरा-सा भी लोक-व्यवहार नहीं चल सकता । इसलिए लोक-व्यवहार के लिए व्यक्ति को अपने पिता के साथ भी कपट करना चाहिए । जो भी हो, स्वेच्छाचार और मायाचार, उसके कर्त्ता को नरकादि दुर्गतियों में ले डूबते हैं । अतः सामायिक साधक महामुनि को कपटाचार एवं स्वैराचार का दुष्परिणाम बताकर सावधान करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—वह इस मायाचार एवं स्वच्छन्दाचार से बचकर वीतरागोक्त शास्त्रविहित साध्वाचार में या मोक्ष प्रदायक संयम में लीन रहे ।[२४]

'वियडेंण पलेंति' का अर्थ—प्रकटेनाऽमायेन कर्मणा मोक्षे संयमे वा प्रकर्षेण—कई बार सरल निश्चल एवं चमत्कार, आडम्बर आदि से रहित सीधे-सादे साधु को विवेक-विकल लोग समझ नहीं पाते, उसकी अवज्ञा, अपमान एवं तिरस्कार कर बैठते हैं । कई बार गृहस्थ लोग अपने पुत्र धनादि प्राप्ति या रोग निवारण इत्यादि स्वार्थों के लिए तपस्वी संयमी साधु के पास आते हैं । उसके द्वारा कुछ भी न बतलाने या प्रपंच न करने पर वे लोग उसे मारते-पीटते हैं या उसे बदनाम करके गाँव से निकाल देते हैं । अपशब्द भी कहते हैं । ऐसी स्थिति में समतायोगी साधु को क्या करना चाहिए ? इसके लिए शास्त्रकार कहते हैं—**सीउण्ह वयसाऽहियासए**—शीत या उष्ण परीषह या उपसर्ग वचन एवं उपलक्षण से मन और शरीर से समभावपूर्वक सहने चाहिए । शीत और उष्ण शब्द यहाँ अनुकूल और प्रतिकूल परीषह या उपसर्ग के द्योतक हैं ।[२५]

चूर्णिकार **'छन्देण पलेतिमा पया'** के बदले **'छण्णेण पलेतिया पया'** पाठान्तर मानकर **छण्णेण** का अर्थ करते हैं—**'छण्णेणेति डम्भेणोवहिणा वा'**—छन्न अर्थात् गुप्त—मायालिप्त, दम्भ या उपधि (कपट) के कारण ।[२६]

अनुत्तरधर्म और उसकी आराधना

१३३. कुजए अपराजिए जहा, अक्खेहिं कुसलेहिं दिव्वयं ।
कडमेव गहाय णो कलिं, नो तेयं नो चेव दावरं ।। २३ ।।

१३४. एवं लोगंमि ताइणा, बुइएऽयं धम्मे अणुत्तरे ।
तं गिण्ह हितं ति उत्तमं, कडमिव सेसऽवहाय पंडिए ।। २४ ।।

---

[२४] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३४६ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० २६६ के आधार पर

[२५] सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३७५ के आधार पर

[२६] सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० २४

१३५. उत्तर मणुयाण आहिया, गामधम्मा इति मे अणुस्सुतं ।
जंसी विरता समुट्ठिता, कासवस्स अणुधम्मचारिणो ।। २५ ।।

१३६. जे एय चरंति आहियं, नातेणं महता महेसिणा ।
ते उट्ठित ते समुट्ठिता, अन्नोन्नं सारेंति धम्मओ ।। २६ ।।

१३७. मा पेह पुरा पणामए, अभिकंखे उवहिं धुणित्तए ।
जे दूवणतेहि णो णया, ते जाणंति समाहिमाहियं ।। २७ ।।

१३८. णो काहिए होज्ज संजए, पासणिए ण य संपसारए ।
णच्चा धम्मं अणुत्तरं, कयकिरिए य ण यावि मामए ।। २८ ।।

१३९. छण्णं च पसंस णो करे, न य उक्कास पगास माहणे ।
तेसिं सुविवेगमाहिते, पणया जेहिं सुझोसितं धुयं ।। २९ ।।

१४०. अणिहे सहिए सुसंवुडे, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए ।
विहरेज्ज समाहितिदिए, आयहियं खु दुहेण लब्भई ।। ३० ।।

१४१. ण हि णूण पुरा अणुस्सुतं, अदुवा तं तह णो समुट्ठियं ।
मुणिणा सामाइयाहितं, णाएणं जगसव्वदंसिणा ।। ३१ ।।

१४२. एवं मत्ता महंतरं, धम्ममिणं सहिता बहू जणा ।
गुरुणो छंदाणुवत्तगा, विरता तिन्न महोघमाहितं ।। ३२ ।।
—ति बेमि ।।

१३३. कभी पराजित न होने वाला चतुर जुआरी (कुजय) जैसे कुशल पासों से जुआ खेलता हुआ कृत नामक चतुर्थ स्थान को ग्रहण करता है, कील को नहीं, (इसी तरह) न तो तृतीय स्थान (त्रेता) को ग्रहण करता है, और न ही द्वितीय स्थान (द्वापर) को ।

१३४. इसी तरह लोक में जगत् (षड्जीवनिकायरूप) के त्राता (रक्षक) सर्वज्ञ के द्वारा कथित जो अनुत्तर (सर्वोत्तम) धर्म है, उसे वैसे ही ग्रहण करना चाहिए; जैसे कुशल जुआरी शेष समस्त स्थानों को छोड़कर कृत नामक स्थान को ही ग्रहण करता है; क्योंकि वही (धर्म) हितकर एवं उत्तम है ।

१३५. मैंने (सुधर्मा स्वामी ने) परम्परा से यह सुना है कि ग्राम-धर्म (पाँचों इन्द्रियों के शब्दादि विषय अथवा मैथुन सेवन) इस लोक में मनुष्यों के लिए उत्तर (दुर्जेय) कहे गये हैं । जिनसे विरत (निवृत्त) तथा संयम (संयमानुष्ठान) में उत्थित (उद्यत) पुरुष ही काश्यपगोत्रीय भगवान् ऋषभदेव अथवा भगवान् महावीर स्वामी के धर्मानुयायी साधक हैं ।

१३६. जो पुरुष महान् महर्षि ज्ञातपुत्र के द्वारा कथित इस धर्म का आचरण करते हैं, वे ही मोक्षमार्ग में उत्थित (उद्यत) हैं, और वे सम्यक् प्रकार से समुत्थित (समुद्यत) हैं, तथा वे ही धर्म से (विचलित या भ्रष्ट होते हुए) एक-दूसरे को सँभालते हैं, पुनः धर्म में स्थिर या प्रवृत्त करते हैं।

१३७. पहले भोगे हुए शब्दादि विषयों (प्रणामकों) का अन्तर्निरीक्षण या स्मरण मत करो। उपधि (माया या अष्टविध कर्म-परिग्रह) को धुनने—दूर करने की अभिकांक्षा (इच्छा) करो। जो दुर्मनस्कों (मन को दूषित करने वाले शब्दादि विषयों) में नत (समर्पित या आसक्त) नहीं है, वे (साधक) अपनी आत्मा में निहित समाधि (राग-द्वेष से निवृत्ति या धर्मध्यानस्थ चित्तवृत्ति) को जानते हैं।

१३८. संयमी पुरुप विरुद्ध काथिक (कथाकार) न बने, न प्राश्निक (प्रश्नफल वक्ता) बने, और न ही सम्प्रसारक (वर्षा, वित्तोपार्जन आदि के उपाय निर्देशक) बने, न ही किसी वस्तु पर ममत्ववान् हो; किन्तु अनुत्तर (सर्वोत्कृष्ट) धर्म को जानकर संयमरूप धर्म-क्रिया का अनुष्ठान करे।

१३९. माहन (अहिंसाधर्मी साधु) माया और लोभ न करे, और न ही मान और क्रोध करे। जिन्होंने धुत (कर्मो के नाशक—संयम) का अच्छी तरह सेवन—अभ्यास किया है, उन्हीं का सुविवेक (उत्कृष्ट विवेक) प्रसिद्ध हुआ है, वे ही (अनुत्तर धर्म के प्रति) प्रणत—समर्पित हैं।

१४०. वह अनुत्तर-धर्मसाधक किसी भी वस्तु की स्पृहा या आसक्ति न करे, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की वृद्धि करने वाले हितावह कार्य करे, इन्द्रिय और मन को गुप्त—सुरक्षित रखे, धर्मार्थी तपस्या में पराक्रमी बने, इन्द्रियों को समाहित—वशवर्ती रखे, इस प्रकार संयम में विचरण करे, क्योंकि आत्महित (स्वकल्याण) दुःख से प्राप्त होता है।

१४१. जगत् के समस्त भावदर्शी ज्ञातपुत्र मुनिपुंगव भगवान् महावीर ने जो सामायिक आदि का प्रतिपादन किया है, निश्चय ही जीवों ने उसे सुना ही नहीं है, (यदि सुना भी है तो) जैसा (उन्होंने) कहा, वैसा (यथार्थरूप से) उसका आचरण (अनुष्ठान) नहीं किया।

१४२. इस प्रकार जानकर सबसे महान् (अनुत्तर) अर्हद्धर्म को मान (स्वीकार) करके ज्ञानादिरत्नत्रय—सम्पन्न गुरु के छन्दानुवर्ती (आज्ञाधीन या अनुज्ञानुसार चलने वाले) एवं पाप से विरत अनेक मानवों (साधकों) ने इस विशालप्रवाहमय संसारसागर को पार किया है, यह भगवान् महावीर स्वामी ने कहा है।

—ऐसा मैं तुमसे कहता हूँ।

विवेचन—अनुत्तरधर्म और उसकी आराधना के विविध पहलू—सूत्रगाथा १३३ से १४२ तक दस सूत्रों में शास्त्रकार ने तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित अनुत्तरधर्म का माहात्म्य और उसकी विविध प्रकार से आराधना की प्रक्रिया बतायी है। प्रथम दो सूत्र गाथाओं में अनुत्तर धर्म की महत्ता और उपादेयता कुशल दुर्जेय जुआरी की उपमा देकर समझायी है। तदनन्तर अनुत्तरधर्म की साधना के अधिकारी कौन हो सकते हैं? इसके लिए दो अर्हताएँ बतायी हैं—(१) जो दुर्जेय ग्रामधर्म (शब्दादि विषय या काम) से निवृत्ति हैं, तथा (२) जो मोक्षमार्ग में उत्थित-समुत्थित हैं। इसके बाद चार सूत्रगाथाओं (१३७ से १४० तक) में अनुत्तरधर्म के आराधक के लिए निषेध-विधान के रूप में कुछ आचारधाराएँ बतायी हैं—

(१) वह पूर्वभुक्त शब्दादि विषयों का स्मरण न करे, (२) अष्टविध कर्मपरिग्रह या माया

(उपधि) को दूर करने की अभिकांक्षा करे, ताकि समाधि के दर्शन कर सके, (३) आत्महित-विरुद्ध कथा करने वाला न बने, (४) न प्राश्निक (प्रश्नों का फलादेश बताने वाला) बने, और (५) न संप्रसारक (अपने व्यक्तित्व का प्रसार (प्रसिद्धि) करने हेतु धनादि के सम्बन्ध में उपाय निर्देशक) बने, (६) किसी भी वस्तु पर ममता न रखे, (७) अनुत्तरधर्म को जानकर संयम साधक क्रिया करे, (८) क्रोध, मान, माया और लोभ का परित्याग करे, (९) कर्मनाशक संयम (धुत) का सम्यक् अभ्यास करे, (१०) अनुत्तरधर्म के प्रति सर्वथा प्रणत—समर्पित हो, ताकि उसका सुविवेक जागृत हो, (११) संसार के सभी सजीव-निर्जीव पदार्थों के प्रति अनासक्त, निरपेक्ष एवं निरीह रहे, (१२) ज्ञानादि की वृद्धि वाले हित कार्य करे, (१३) इन्द्रियों और मन को अशुभ में जाने से बचाए—गुप्त रखे, (१४) धर्मार्थी बने, (१५) तपस्या में पराक्रमी हो, (१६) इन्द्रियाँ वश में रखे; (१७) प्रतिक्षण संयम में विचरण करे, ताकि आत्महित सिद्ध हो।

यह धर्म अनुत्तर और उपादेय क्यों?—प्रश्न होता है—यही धर्म अनुत्तर (सर्वश्रेष्ठ) क्यों है ? दूसरे क्यों नहीं ? इसके लिए दो विशेषताएँ यहाँ बताई गयी हैं—(१) यह लोक में त्राता सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कथित है, (२) यह आत्मा के लिए हितकर है। इसी कारण चतुर अपराजेय जुआरी जैसे जुए के अन्य पाशों को छोड़कर कृत नामक पाशों को ही ग्रहण करता है, वैसे ही जिन-प्रवचन कुशल साधु को भी गृहस्थ, कुप्रावचनिक और पार्श्वस्थ आदि के धर्मों को छोड़कर सर्वज्ञ वीतरागोक्त सर्वोत्तम, सर्व महान्, सर्वहितकर, सार्वभौम, दशविध श्रमण धर्म रूप या श्रुत-चारित्र रूप अनुत्तर धर्म का ग्रहण करना चाहिए।

'उत्तर मणुयाण आहिया, गामधम्मा····' इस वाक्य का आशय यह है कि ग्राम—इन्द्रिय समूह का धर्म-विषय (स्वभाव), और इन्द्रिय-विषय ही काम है। काम मनुष्यों के लिए उत्तर—प्रधान या दुर्जेय कहे गये हैं। 'उत्तर' का अर्थ यों तो प्रधान होता है, किन्तु लक्षणा से यहाँ वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'दुर्जेय' किया है। संयमी पुरुषों को छोड़कर काम प्रायः सभी प्राणियों पर हावी हो जाता है, इसलिए यह दुर्जेय है। काम में सर्वेन्द्रिय-विषयों का एवं मैथुन के अंगों का सामवेश हो जाता है।

इति मे अणुस्सुतं—इसका आशय यह है कि गणधर श्री सुधर्मास्वामी अपने शिष्य श्री जम्बूस्वामी आदि से कहते हैं—ऐसा मैंने कर्णोपकर्ण सुना है। अर्थात् जो पहले कहा गया है और आगे कहा जायेगा, यह सब आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों से कहा था, इसके पश्चात् मैंने (आर्य सुधर्मा ने) भगवान् महावीर से सुना था।

'जं सि विरता समुट्ठिता··· अणुधम्मचारिणो'—इस पंक्ति से श्री सुधर्मास्वामी का यह आशय प्रतीत होता है कि यद्यपि काम दुर्जेय है, तथापि जो पवित्रात्माएँ आत्मधर्म को तथा आत्मशक्तियों को सर्वोपरि जान-मानकर संयम-पथ पर चलने के लिए कटिबद्ध हैं, उनके लिए काम-विजय दुष्कर नहीं है। वास्तव में वे ही साधक भगवान् ऋषभदेव या भगवान् महावीर के धर्मानुगामी हैं।

'अणुधम्मचारिणो'—आचारांग आदि में अणुधम्म (अनुधर्म) का अर्थ है—पूर्व तीर्थंकरों द्वारा आचरित धर्म का अनुगमन-अनुसरण। पाली शब्द-कोष में अनुधर्म का अर्थ किया गया है—धर्म के अनुरूप—धर्म-सम्मत। बौद्धग्रन्थ **'सुत्तपिटक'** में भी **अनुधम्मचारिनो** शब्द का यही अर्थ आता है।[२७]

---

[२७] भगवतो सावका वियत्ता विनीता विसारदा····अनुधम्मचारिनो —सुत्तपिटके उदानं पृ. १३८

आहियं नातेणं महता महेसिया—वृत्तिकार और चूर्णिकार दोनों ने इस पंक्ति का अर्थ किया है—"ज्ञातेन ज्ञातपुत्रेण, ज्ञातकुलीयेन····ज्ञातृत्वेऽपि सति राजसूनुना केवलज्ञानवेत्ता वा, महेय त्ति-महाविषयस्य ज्ञानस्यानन्त्यभूतत्वान्महान् तेन तथाऽनुकूल-प्रतिकूलोपसर्ग-सहिष्णुत्वान्महर्षिणा"—अथवा ज्ञात के द्वारा यानी ज्ञातपुत्र द्वारा, ज्ञातकुलोत्पन्न के द्वारा, राजपुत्र होने से ज्ञातृकुलत्व होने पर भी केवलज्ञान सम्पन्न द्वारा महाविषयरूप ज्ञान के अनन्त होने से भगवान् महान् थे, अतः उस महान् के द्वारा तथा अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग सहिष्णु होने से वे महर्षि थे, अतः महर्षि द्वारा जो (अनुत्तरधर्म) कहा गया है।"

अन्नोन्नं सारेंति धम्मओ—अन्योन्य—परस्पर, धर्मतः यानी धर्म से सम्बन्धित या धर्म से भ्रष्ट व्यक्ति को धर्म में प्रेरित करते हैं।

कठिन शब्दों की व्याख्या—पणामए—दुर्गति या संसार की ओर प्राणियों को झुकाने वाले शब्दादि विषय। **उवहिं**—जिसके द्वारा आत्मा दुर्गति के समीप पहुंचा दिया है, उसे उपधि कहते हैं, वह माया एवं अष्टविध कर्म परिग्रह है। **काहिए**—जो कथा से आजीविका करता है, वह काथिक—कथाकार। आचारांग चूर्णिकार के अनुसार **'णो काहिए'** का अर्थ है—शृंगारकथा (शृंगार सम्बन्धी बात) न कहे। विरुद्ध कथा कहते हैं विकथा को। जिससे कामोत्तेजना भड़के, भोजन लालसा बढ़े, जिससे युद्ध, हत्या, दंगा, लड़ाई या वैमनस्य बढ़े तथा देश-विदेश के गलत आचार-विचारों के संस्कारों का बीजारोपण हो, ये चारों विकथाएँ हैं, ऐसा संयम-विरुद्ध कथाकार न बने। **पासणिए**—प्राश्निक वह है, जो गृहस्थों के व्यवहारों या व्यापार वगैरह या संतान आदि के विषय में प्रश्नों का फल ज्योतिषी की तरह बताता हो। प्राश्निक का विशेष अर्थ आचारांग चूर्णि में बताया गया है—स्वप्नफल या किसी स्त्री के विषय में यह पूछने पर कि यह कला-कुशल या सन्तानवती होगी या नहीं? इत्यादि प्रश्नों का फल बताने वाला साधु। **णो पासणिए** का अर्थ आचारांगवृत्ति में किया गया है—स्त्रियों के अंगोपांग न देखे।[२८]

---

२६. कथया चरित कथिकः····प्रश्ननिमित्तरूपेण चरतीति प्राश्निकः—सम्प्रसारक····देववृष्टयर्थकाण्डादिसूचक कथा-विस्तारकः। कृता स्वभ्यस्ता क्रिया संयमानुष्ठानरूपा येन स कृतक्रियः। तथाभूतश्च न चापि मामको—ममेदमहमस्य स्वामीत्येवं परिग्रहाग्रही। —सूत्र० वृत्ति

(ख) कथयतीति कथकः, पासणिओ-णाम गिहीणं व्यवहारेषु प्रस्तुतेषु पणियगादिषु वा प्राश्निको······ ····। ····संपसारकोनाम सम्प्रसारकः, तद्यथा—इमं वरिसं किं देवो वासिस्सति ण वेत्ति।····कतकिरिओ—णाम कृतं परैः कर्म पुट्ठो अपुट्ठो वा भणति शोभनमशोभनं वा ···मामको णाम ममीकारं करेति।

—सूत्रकृतांग चूर्णि पृ० २५

तुलना—से णो काहिए, णो पासणिए, णो संपसारए, णो मामए, णो कतकिरिए····।"

—आचारांग श्रु० १, अ० ५, उ० ४, सू० १६५, पृ० १७३

(ग) से णो काहीए····सिंगारकहा ण कहेयव्वा····। पासणितत्तंपि ण करेति। कयरी अम्ह सा भवति सुमंडिता वा कलाकुसला वा।····संपसारतो णामा उवसमंतिआ····। एरिसिया मम भाउज्जा, भइणी, भज्जा वा···· ममीकारं करेइ। कतकिरियो णाम के ते किरियं करेइ··· अहो सोभसि न व सोभसि। —आचा० चूर्णि

(घ) से णो काहिए—स्त्रीसंगपरित्यागी स्त्रीनेपथ्यकथां श्रृगारकथां वा नो कुर्यात् ···तथा नो पासणिए···· तासामङ्ग प्रत्यंगादिकं न पश्येत्····। नो संपसारणाए····ताभिः न सम्प्रसारणं पर्यालोचनमेकान्ते····कुर्यात्। णो मामए····न तासु ममत्वं कुर्यात्। णो कयकिरिए····कृता मण्डनादिका क्रिया येन स कृतक्रिय इत्येवंभूतो न भूयात्।

—आचारांग शीला० वृत्ति

संपसारए—वृत्तिकार के अनुसार—वर्षा आदि के लिए आरम्भजनक या आरम्भोत्तेजक कथा-विस्तारक सम्प्रसारक है। आचारांग चूर्णि के अनुसार—सम्प्रसारक का अर्थ मिथ्या सम्मति देने वाला है। वास्तव में सम्प्रसारक वह है, जो वर्षा, धन-प्राप्ति, रोग-निवारण आदि के लिए आरम्भ-समारम्भजनक उपाय बताये। आचारांगवृत्ति में सम्प्रसारण का अर्थ किया गया है—स्त्रियों के सम्बन्ध में एकान्त में पर्यालोचन करना। **मामए**—वृत्तिकार के अनुसार—'यह मेरा है', मैं इसका स्वामी हूँ, इस प्रकार का परिग्रहाग्रही मामक है। आचारांग चूर्णि के अनुसार—गृहस्थ के घर में जाकर जो यह कहता है कि मेरी पत्नी ऐसी थी, मेरी भौजाई या मेरी बहन ऐसी थी, इस प्रकार जो मेरी-मेरी करता है, वह मामक है।' इस प्रकार ममत्व करने से उसके वियोग में या न मिलने पर दुःख होगा, उसकी रक्षा की चिन्ता बढ़ेगी, उसके चुराये जाने या नष्ट होने पर भी आर्त्तध्यान होगा। ऐसा साधु व्यर्थ की आफत मोल ले लेता है।

कयकिरिए—वृत्तिकार के अनुसार—जिसने अच्छी तरह संयमानुष्ठान रूप क्रिया की है, वह कृतक्रिय है। परन्तु चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है जो दूसरों के द्वारा किये हुए कर्म के विषय में पूछने या न पूछने पर अच्छा या बुरा बताता है, वह कृतक्रिय है। आचारांगवृत्ति के अनुसार इसका अर्थ है—जिसने शृंगारादि या मण्डनादि क्रिया की है, वह कृतक्रिय है।[२९]

छण्णं—छन्न का अर्थ है गुप्त क्योंकि उसमें अपने अभिप्राय को छिपाया जाता है। **पसंस**—जिसकी सब लोग प्रशंसा करते हैं, जिसे आदर देते हैं, उसे प्रशंसा यानी लोभ कहते हैं। **उक्कोसं**—जो नीच प्रकृति वाले व्यक्ति को जाति आदि मदस्थानों द्वारा मदमत्त बना देता है, उसे उत्कर्ष—मान कहते हैं।

पगासं—जो अन्तर में स्थित होते हुए भी मुख आदि के विकारों से प्रकट हो जाता है, उसे प्रकाश—क्रोध कहते हैं।[३०]

तेसिं सुविवेगमाहिते—इसके दो अर्थ वृत्तिकार ने किये हैं—(१) उन कषायों का सम्यक् विवेक परित्याग आहित—उत्पन्न किया है, अथवा (२) उन्हीं सत्पुरुषों का सुविवेक प्रसिद्ध हुआ है। **चेहि सुझोसितं धुयं**—जिससे कर्मों का धूनन-क्षपण किया जाए, उसे धुत कहते हैं, वह है—ज्ञानादि-रत्नत्रय या संयम अथवा ज्ञानादि या संयम जिनके द्वारा भलीभाँति सेवित—अभ्यस्त हैं, उन्हें 'सुजोषितं' कहते हैं। **सहिए** के भी संस्कृत में तीन अर्थ होते हैं—(१) जो हित सहित हो, वह सहित है, (२) ज्ञानादि से युक्त—सहित, (३) 'सहिए' का संस्कृत रूप—**स्वहित** मानने पर अर्थ होता है—जो सदनुष्ठान के कारण आत्मा का हितैषी हो।[३१] **महंतरं**—सब धर्मों से महान् अन्तर रखने वाले धर्म-विशेष को अथवा कर्म के अन्तर को।

---

[२९] देखिए टिप्पण २८; पृष्ठ १५३ पर

[३०] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ६९
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृष्ठ २५

[३१] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ६९-७०—
"सह हितेन वर्तत इति सहितः, सहितो युक्तो वा ज्ञानादिभिः, स्वहितः आत्महितो वा सदनुष्ठानं प्रवृत्तेः।"

जे दूवणतेहि णो णया—चूर्णिकार के अनुसार—दुष्प्रवृत्तियों-आरम्भपरिग्रहादि में प्रणत—झुके हुए हैं, वे दूपनत—शाक्यादि धर्मानुयायी हैं, उनके धर्मों में जो नत—झुके हुए नहीं हैं, अर्थात् उनके आचार के अनुसार प्रवृत्ति नहीं करते। वृत्तिकार के अनुसार—(१) दुष्ट धर्म के प्रति जो उपनत हैं—कुमार्गानुष्ठानकर्ता हैं। जो उनके चक्कर में नहीं है। अथवा '**दूयणतेहिं**' पाठान्तर मानने से अर्थ होता है—मन को दूषित करने वाले जो शब्दादि विषय हैं, उनके समक्ष नत—दास नहीं है।[32] **समाहिमाहियं**—(अपनी आत्मा में) निहित स्थित राग-द्वेष परित्यागरूप समाधि या धर्मध्यानरूप समाधि को। **आयहियं खु दुहेण लब्भइ**—अर्थात् आत्महित की प्राप्ति बड़ी कठिनता से होती है। क्यों? इसका उत्तर वृत्तिकार देते हैं कि 'संसार में परिभ्रमण करने वाले प्राणी को धर्माचरण किये बिना आत्म-कल्याण कैसे प्राप्त होगा? गहराई से विचार करने पर इस कथन की यथार्थता समझ में आ जावेगी, क्योंकि सभी प्राणियों में जंगम (त्रस) प्राणी श्रेष्ठ हैं, उनमें भी पंचेन्द्रिय जीव उत्कृष्ट हैं; और पंचेन्द्रिय प्राणियों से भी मनुष्यभव विशिष्ट है। मनुष्यभव में भी आर्यदेश, फिर उत्तमकुल और उसमें भी उत्तम जाति, उसमें भी रूप, समृद्धि, शक्ति, दीर्घायु, विज्ञान (आत्मज्ञान), सम्यक्त्व, फिर शील यों उत्तरोत्तर विशिष्ट पदार्थ की प्राप्ति पदार्थ की प्राप्ति दुर्लभ होने से आत्महित का साधन दुर्लभतम है। इतनी घाटियाँ पार होने के बाद आत्महित की प्राप्ति सम्भव है, इससे आत्महित की दुष्प्राप्यता सहज ही जानी जा सकती है।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

□

तइओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

संयम से अज्ञानोपचित कर्म-नाश और मोक्ष

१४३. संवुडकम्मस्स भिक्खुणो, जं दुक्खं पुट्ठं अबोहिए।
तं संजमओऽवचिज्जइ, मरणं हेच्च वयंति पंडिता ॥१॥

१४३. अष्टविध कर्मों का आगमन जिसने रोक दिया है, ऐसे भिक्षु को अज्ञानवश जो दुःख (या दुःखजनक कर्म) स्पृष्ट हो चुका है; वह (कर्म) (सत्रह प्रकार के) संयम (के आचरण) से क्षीण हो जाता है। (और) वे पण्डित मृत्यु को छोड़ (समाप्त) कर (मोक्ष को) प्राप्त कर लेते हैं।

विवेचन—मुक्तिप्राप्ति के लिए नवीन कर्मों के आस्रव का निरोध अर्थात् संवर पूर्वबद्ध कर्मों

---

[32] (क) जे दूवणतेहि णो णता—जे····दुष्टं प्रणताः दूपनताः शाक्यादयः,····आरम्भ-परिग्रहेषु ये न नताः।
—सू० कृ० चूर्णि० (मू० पा० टि०) पृ० २४

(ख) दुष्टं धर्मं प्रति उपनता दुरूपनताः, कुमार्गानुष्ठायिनस्तीर्थिकाः, यदि वा दूमणत्ति दुष्ट मनःकारिणः···· विषया तेषु ये महासत्त्वा न नताः तदाचारानुष्ठायिनो न भवन्ति। —सूत्रकृ० शी० वृत्ति पत्रांक ६२

का क्षय—निर्जरा अनिवार्य है। जिस साधक ने मिथ्यात्व आदि आस्रवों को रोक दिया है वह नवीन कर्मवन्ध नहीं करता किन्तु पूर्ववद्ध कर्मों का क्षय हुए विना तो मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। प्रस्तुत गाथा में उन कर्मों के क्षय का उपाय बतलाया गया है। संयम के द्वारा—जिसमें तपश्चर्या भी गर्भित है, पूर्वकर्मों का क्षय किया जाता है—इस संवर और निर्जरा द्वारा मुक्तिप्राप्ति का निरूपण किया गया है।

संयम से ही अज्ञानोपचित कर्मनाश और मोक्ष—प्रस्तुत में समस्त कर्मों से रहित होकर मोक्ष प्राप्त कर लेने हेतु संयम की प्रेरणा दी गयी है।

कर्मों के आस्रव या बन्ध के कारण तथा प्रकार—कर्मों के आगमन द्वार एवं बन्धन के कारण मुख्यतया पाँच हैं—(१) मिथ्यादर्शन, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग। इन पाँचों आस्रवद्वारों से उपरति—विरति संयम है। कर्मवन्ध की चार अवस्थाएँ हैं—(१) स्पृष्ट, (२) वद्ध, (३) निधत्त और (४) निकाचित। इसे कर्मग्रन्थ में सूइयों का दृष्टान्त देकर समझाया गया है—किसी ने विखरी हुई सूइयों को एकत्र कर दिया, ऐसा एकत्र किया हुआ ढेर आसानी से पृथक् हो सकता है। इसी प्रकार जो कर्म केवल स्पृष्ट रूप से वँधे हुए हैं, वे प्रतिक्रमण, आलोचना, निन्दा आदि के अल्प प्रयत्न से आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। किसी ने उन सूइयों के ढेर को सूत के धागे से बाँध दिया जो परिश्रम से ही खुल जाता है, इसी प्रकार कुछ कर्म ऐसे वंधते हैं, जो कुछ तप, संयम के परिश्रम से छूट जाते हैं, वे वद्धरूप में वंधे हुए होते हैं। किसी ने सूइयों के ढेर को तार से बाँध दिया, अब उस ढेर को खोलने में काफी श्रम करना पड़ता है, इसी प्रकार निधत्त रूप में वँधे हुए जिन कर्मों के कुंज को आत्मा से छुड़ाने में कठोर तप-संयम का आचरण करना पड़ता है, और एक सूइयों का ढेर ऐसा है, जिसे आग में गर्म करके एक लोहपिण्ड बना दिया गया है, उसमें सूइयों का अलग-अलग करना असम्भव है। इसी प्रकार जिन कर्मों को निकाचित रूप में बाँध लिया है, सम्पूर्ण रूप से उन कर्मों का फल भोगे विना अन्य उपायों से उनसे छुटकारा होना असम्भव है। प्रस्तुत में '**दुक्खं पुट्ठं**' शब्द हैं, जिनका अर्थ वृत्तिकार ने किया है—जो दुःख यानी, असाता-वेदनीय, उसके उपादान रूप अष्टविधकर्म स्पृष्ट रूप से वँध गये हैं, अथवा उपलक्षण से वद्ध, स्पृष्ट एवं निकाचित रूप से कर्म उपचित हुए हैं।[1]

'**मरणं हेच्च वयंति**' ···इस वाक्य का आशय यह है कि पुरुष संवृतात्मा हैं और वे मरण यानी मरणस्वभाव को तथा उपलक्षण से जन्म, जरा, मरण, शोक आदि के क्रम को छोड़—मिटाकर मोक्ष में चले जाते हैं।[2]

संयम के १७ भेद—(१—५) पृथ्वीकायादि पाँच स्थावर-संयम, (६) द्वीन्द्रिय-संयम, (७) त्रीन्द्रिय संयम, (८) चतुरिन्द्रिय संयम, (९) पंचेन्द्रिय संयम, (१०) अजीव संयम, (११) प्रेक्षासंयम, (१२) उपेक्षा संयम, (१३) प्रमार्जना संयम, (१४) परिष्ठापना संयम, (१५) मन:संयम, (१६) वचन संयम (१७) काय संयम।

दूसरी प्रकार से भी संयम के १७ भेद होते हैं—(१-५) हिंसादि पाँच आस्रवों से (६-१०) स्पर्श, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, इन पाँच इन्द्रियों को उनके विषयों की ओर से रोकना, (११-१४) क्रोध,

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ६० के आधार-पर

[2] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पृ० ६०

मान, माया और लोभ रूप चार कषायों का त्याग करना, (१५-१७) मन-वचन-काया की अशुभ-प्रवृत्ति रूप तीन दण्डों से विरति ।[3]

कामासक्ति-त्याग का उपदेश

१४४. जे विण्णवणाहिऽझोसिया, संतिण्णेहि समं वियाहिया ।
तम्हा उड्ढं ति पासहा, अद्दक्खू कामाइं रोगवं ॥२॥

१४५. अग्गं वणिएहिं आहियं, धारेंती राईणिया इहं ।
एवं परमा महव्वया, अक्खाया उ सराइभोयणा ॥३॥

१४६. जे इह सायाणुगा णरा, अच्छोववन्ना कामेसु मुच्छिया ।
किवणेण समं पगब्भिया, न वि जाणंति समाहिमाहियं ॥४॥

१४७. वाहेण जहा व विच्छते, अबले होइ गवं पचोइए ।
से अंतसो अप्पथामए, नातिवहति अबले विसोयति ॥५॥

१४८. एवं कामेसणं विदू, अज्ज सुए पयहेज्ज संथवं ।
कामी कामे ण कामए, लद्धे वा वि अलद्ध कन्हुई ॥६॥

१४९. मा पच्छ असाहुया भवे, अच्चेही अणुसास अप्पगं ।
अहियं च असाहु सोयती, से थणतो परिदेवती बहुं ॥७॥

१५०. इह जीवियमेव पासहा, तरुणए वाससयाउ तुट्टती ।
इत्तरवासे व बुज्झहा, गिद्धनरा कामेसु मुच्छिया ॥८॥

१४४. जो साधक स्त्रियों से सेवित नहीं हैं, वे मुक्त (संसार-सागर-सन्तीर्ण) पुरुषों के समान कहे गये हैं। इसलिए कामिनी या कामिनी-जनित कामों के त्याग से ऊर्ध्व—ऊपर उठकर (मोक्ष) देखो। जिन्होंने काम-भोगों को रोगवत् देखा है, (वे महासत्त्व साधक भी मुक्त तुल्य हैं।)

१४५. जैसे इस लोक में वणिकों—व्यापारियों के द्वारा (सुदूर देशों से) लाये हुए (वा लाकर भेंट किये हुए) उत्तमोत्तम सामान (पदार्थ) को राजा-महाराजा आदि सत्ताधीश या धनाढ्य लेते हैं, या खरीदते हैं, इसी प्रकार आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रात्रिभोजनत्यागसहित पाँच परम (उत्कृष्ट) महाव्रतों को कामविजेता श्रमण धारण—ग्रहण करते हैं।

---

[3] (क) समवायांग, समवाय १७ देखिए

(ख) प्रवचनसारोद्धार द्वार, गाथा ५५५-५५६

१४६. इस लोक में जो मनुष्य सुखानुगामी (सुख के पीछे दौड़ते) हैं, वे (ऋद्धि-रस-साता-गौरव) में अत्यासक्त हैं, और काम-भोग में मूर्च्छित हैं, वे दयनीय (इन्द्रियविषयों से पराजित) के समान काम-सेवन में धृष्ट वने रहते हैं। वे कहने पर भी समाधि को नहीं समझते।

१४७. जैसे गाड़ीवान के द्वारा चाबुक मारकर प्रेरित किया हुआ बैल कमजोर हो जाता है, (अतः वह विषम—कठिन मार्ग में चल नहीं सकता, अथवा उसे पार नहीं कर सकता।) आखिरकार वह अल्पसामर्थ्य वाला (दुर्बल बैल) भार वहन नहीं कर सकता, (अपितु कीचड़ आदि में फँसकर) क्लेश पाता है।

१४८. इसी तरह काम के अन्वेषण में निपुण पुरुष; आज या कल में कामभोगों का संसर्ग (एषणा) छोड़ देगा, (ऐसा सिर्फ विचार किया करता है, छोड़ नहीं सकता।) अतः कामी पुरुष काम-भोग की कामना ही न करे, तथा कहीं से प्राप्त हुए कामभोग को अप्राप्त के समान (जाने, यही अभीष्ट है।)

१४९. पीछे (मरण के पश्चात्) दुर्गति (बुरी दशा) न हो, इसलिए अपनी आत्मा को (पहले से ही) विषय-संग से हटा लो, उसे शिक्षा दो कि असाधु (असंयमी) पुरुष अत्यधिक शोक करता है, वह चिल्लाता है, और बहुत विलाप करता है।

१५०. इस लोक में अपने जीवन को ही देख लो, सौ वर्ष की आयु वाले मनुष्य का जीवन तरुणावस्था (युवावस्था) में ही नष्ट हो जाता है। अतः इस जीवन को थोड़े दिन के निवास के समान समझो। (ऐसी स्थिति में) क्षुद्र या अविवेकी मनुष्य ही काम-भोगों में मूर्च्छित होते हैं।

विवेचन—कामासक्ति-त्याग की प्रेरणा—प्रस्तुत सात सूत्रगाथाओं (१४४ से १५० तक) में विविध पहलुओं से कामभोगों की आसक्ति के त्याग की प्रेरणा दी गई है। वे प्रेरणासूत्र ये हैं—(१) कामवासना को व्याधि समझ कर जो कामवासना की जड़-कामनियों से असेवित-असंसक्त हैं, वे ही पुरुष मुक्ततुल्य हैं, (२) जैसे व्यापारियों द्वारा दूरदेश से लाई हुई उत्तमसामग्री को राजा आदि ही ग्रहण करते हैं, वैसे ही कामभोगों से ऊपर उठे हुए महापराक्रमी साधु ही रात्रिभोजन-विरमण व्रत-सहित पंचमहाव्रतों को धारण करते हैं। (३) विषयसुखों के पीछे दौड़ने वाले त्रिगौरव में आसक्त कामभोगों में मूर्च्छितजन, इन्द्रियों के गुलाम के समान ढीठ होकर कामसेवन करते हैं, वे लोग समाधि का मूल्य नहीं समझते। (४) जैसे गाड़ीवान के द्वारा चाबुक मार-मारकर प्रेरित किया हुआ दुर्बल बैल चल नहीं सकता, भार भी नहीं ढो सकता और अन्त में कहीं कीचड़ आदि में फँसकर क्लेश पाता है, वैसे ही कामभोगों से पराजित मनोदुर्वल मानव भी कामैषणा को छोड़ नहीं सकता, काम-भोगों के कीचड़ में फँसकर दुःख पाता है। (५) कामभोगों को छोड़ने के दो ठोस उपाय हैं—(१) कामभोगों की कामना ही न करे, (२) प्राप्त कामभोगों को भी अप्राप्तवत् समझे (६) मरणोपरान्त दुर्गति न हो, पीछे असंयमी (कामी-भोगी) की तरह शोक, रुदन और विलाप न करना पड़े, इसलिए पहले से ही अपनी आत्मा को विषय सेवन से अलग रखो, उसे ठीक अनुशासित करो; और (७) जीवन अल्पकालीन है यह देखकर अविवेकी मनुष्यों की तरह काम-भोगों में मूर्च्छित नहीं होना चाहिए।[४]

---

[४] सूत्रकृतांग सूत्र मूलपाठ, शीलांकवृत्ति भाषानुवाद सहित भाग १, पृ० २७३ से २८० तक का सार।

कामिनीसंसर्गत्यागी मुक्तसदृश क्यों और कैसे ?—साधक को मुक्ति पाने में सबसे बड़ी बाधा है—कामवासना। कामवासना जब तक मन के किसी भी कोने में हलचल करती रहती है, तब तक मुक्ति दूर रहती है। और कामवासना की जड़ कामिनी है, वास्तव में कामिनी का संसर्ग ही साधक में कामवासना उत्पन्न करता है। कामिनी-संसर्ग जब तक नहीं छूटता, तब तक मनुष्य चाहे जितनी उच्च क्रिया कर ले, साधुवेश पहन ले, और घरबार आदि छोड़ दे, उसकी मुक्ति दूरातिदूर है। मुक्ति के निकट पहुँचने के लिए, दूसरे शब्दों में संसारसागर को पार करने के लिए कामिनियों के काम-जाल से सर्वथा मुक्त-असंसक्त रहना आवश्यक है। जो व्यक्ति कामवासना की जड़ कामिनियों के संसर्ग से सर्वथा दूर हैं, वे मुक्तसदृश हैं। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—"**जे विण्णवणाहिऽझोसिया, संतिण्णेहि समं वियाणिया।**" यहाँ '**विण्णवणा**' (विज्ञापना) शब्द कामिनी का द्योतक है। जिसके प्रति कामीपुरुष अपनी कामवासना प्रकट करता है, अथवा जो कामसेवन के लिए प्रार्थना-विज्ञपना या निवेदन करती है, इस दृष्टि से कामिनी को यहाँ विज्ञापना कहा गया है। विज्ञापनाओं—कामिनियों से जो महासत्त्व साधक असंसक्त हैं, सन्तीर्ण—संसार-सागरसमुत्तीर्ण करने वाले मुक्त पुरुष के समान कहे गए हैं। यद्यपि उन्होंने अभी तक संसारसागर पार नहीं किया, तथापि वे निष्किंचन और कंचनकामनी में संसक्त होने में संसारसागर के किनारे पर ही स्थित हैं।[५]

यहाँ मूल में '**अझोसिया**' पाठ है, उसका वृत्तिकार अर्थ करते हैं—जो स्त्रियों से "**अजुष्टाः असेविताः क्षयं वा अवसायलक्षणमतीताः**"—अर्थात्—अजुष्ट यानी असेवित हैं, अथवा जो कामिनियों द्वारा विनाशरूप क्षय को प्राप्त नहीं हैं। चूर्णिकार अर्थ करते हैं—**अझूषिता नाम अनाद्रियमाणा इत्यर्थः**—अर्थात्—जो कामिनियों द्वारा अभूषित—अनादृत हैं। तात्पर्य यह है कि जो काम और कामिनियों से इतने विरक्त हैं कि स्वयं कामिनियाँ उनका अनादर करती हैं, उपेक्षा करती हैं; क्योंकि उनका त्याग, रहन-सहन, वेशभूषा या चर्या ही ऐसी है कि कामिनियाँ उनसे कामवासना पूर्ति की दृष्टि से अपेक्षा ही नहीं करतीं, वे उनके पास आएँगी तो भी उनकी कामवासना भी उनके सान्निध्य प्रभाव से ही शान्त हो जाएँगी।[६]

'**तम्हा उड्ढंति पासहा**'—इस वाक्य का आशय यह है कि स्त्रीसंसर्गरूप महासागर को पार करने वाला, संसारसागर को लगभग पार कर लेता है, इस दृष्टि से कामिनीसंसर्ग से ऊपर उठकर देखो क्योंकि कामनीसंसर्गत्याग के बाद ही मोक्ष का सामीप्य होता है। इस वाक्य के बदले "**उड्ढं तिरियं अहे तहा**" पाठ भी मिलता है जिसका '**अहक्खु कामाइं रोगवं**' पाठ के साथ सम्बन्ध जोड़कर अर्थ किया जाता है—सौधर्म आदि ऊर्ध्व (देव) लोक, तिर्यक्लोक में, एवं भवनपति आदि अधोलोक में भी कामभोग विद्यमान हैं, उन्हें जिन महासत्त्वों ने रोगसदृश जान-देख लिया, वे भी संसारसमुद्र से तीर्ण—मुक्त पुरुष के समान कहे गये हैं। इसी से मिलते-जुलते आशय का एक श्लोक वैदिक सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है—

> **"वेधा द्वेधा भ्रमं चक्रे, कान्तासु कनकेषु च ॥**
> **तासु तेष्वनासक्तः साक्षात् भर्गो नराकृतिः ॥"**

---

[५] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पृ० ७०

[६] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति ७०
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० २६

अर्थात्—विधाता (कर्मरूपी विधाता) ने दो भ्रम (संसार परिभ्रमण के कारण) पैदा किये हैं—एक तो कामिनियों में, दूसरा कनक में। उन कामिनियों में और उन धन-साधनों में जो अनासक्त है, समझ लो मनुष्य की आकृति में वह साक्षात् परमात्मा है।[७]

काम सामग्री के बदले मोक्ष सामग्री ग्रहण करना ही अभीष्ट—साधु-जीवन का उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति है, और मोक्ष प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक, सम्यक्चारित्र का ध्यान करना आवश्यक है; किन्तु अगर कोई साधक इस तथ्य को भूलकर मोक्षसामग्री के लिए कामसामग्री (स्त्री तथा अन्य पंचेन्द्रिय विषय आदि) इकट्ठी करने लगे, या इन्हीं के चिन्तन में रात-दिन डूबे रहे तो यह उसकी उच्चश्रेणी के अनुरूप नहीं है।[८] इसीलिए १४५वीं गाथा में कहा गया है—'**अग्गं वणिएहि आहियं**···· **सराइ भोयणा**'। इसका तात्पर्य यह है कि व्यापारियों के द्वारा दूर देश से लाया हुआ उत्तम पदार्थ राजादि ले लेते हैं वैसे साधु आचार्यों द्वारा प्रतिपादित या प्रदत्त रात्रि-भोजन विरमण व्रत सहित पंचमहाव्रतों को ही धारण करे। काम सामग्री को नहीं।[९]

काम-भोगों में आसक्त : समाधिसुख से अनभिज्ञ—शास्त्रकार ने इस गाथा १४६ के द्वारा उन लोगों की आँखें खोल दी हैं कि जो तुच्छ प्रकृति के लोग साधुवेष धारण करके भी परीषहों—उपसर्गों से घबराकर रात-दिन सुख-सुविधाओं के पीछे या वैषयिक सुखों की तलाश में भाग-दौड़ करते रहते हैं वे अपनी समृद्धि (पद प्रसिद्धि एवं धनिक भक्तों द्वारा पूजा-प्रतिष्ठा), रस (स्वाद) एवं साता (सुख-सुविधाओं) के अहंकार (गौरव) में डूबे हुए तथा काम-भोगों में इतने आसक्त रहते हैं कि उन्हें समाधि के परम सुख को जानने-समझने की भी परवाह नहीं रहती। इसे ही शास्त्रकार कहते हैं—"**जे इह सायणुगा**····**समाहिमाहियं**।" इसके द्वारा शास्त्रकार यह कहना चाहते हैं कि सुख भोगों के पीछे पड़कर वास्तविक सुख और बहुमूल्य जीवन को नष्ट कर डालना बुद्धिमानी नहीं है। काम, कामनाओं या सुख-सुविधाओं के पीछे दीवाने बन श्वेत वस्त्र सम अपने संयम को मलिन बनाने से सारी ही मोक्ष सुख-साधना चौपट हो जाती है।[१०]

काम-भोगों की चाट छूटती नहीं—जैसे मरियल बैल चाबुकों की मार खाकर भी विषम मार्ग में चल नहीं पाता, भार ढो नहीं सकता और अन्त में वह कीचड़ आदि में फँसकर दुःख पाता है, वैसे ही काम-भोगों का गुलाम और दुर्बल मन का साधक गुरुवचनों की फटकार पड़ने पर भी परीषहादि सहन रूप विषम मार्ग में चल नहीं पाता नाम की एषणा छोड़ न पाने के कारण वह संयम का भार ढो नहीं सकता और अन्त में शब्दादि विषय-भोगों के कीचड़ में फँसकर दुःखी होता है। यही तथ्य

---

[७] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पृ० ७१ में उद्धृत

[८] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पृ० ७१ के आधार पर

[९] इस गाथा की व्याख्या में चूर्णिकार ने दो मतों का उल्लेख किया है—पूर्व में रहने वाले आचार्यों के मत का एवं पश्चिम दिशा में रहने वाले आचार्यों के मत का। सम्भव है—चूर्णिकार का तात्पर्य पूर्व दिशागत मथुरा या पाटलिपुत्र के सम्बन्ध से स्कन्दिलाचार्य आदि से एवं पश्चिम दिशागत वल्लभी के सम्बन्ध से नागार्जुन या देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण आदि से हो। —जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १, पृ० १४१

[१०] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पृ० ७१

(१४७-१४८) द्वय में बताया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि काम-भोगों के चक्कर में पड़ने वाला साधक इस भ्रम में न रहे कि मैं कुछ दिनों बाद ही जब चाहे तब इसे छोड़ दूंगा, बल्कि एक बार काम-भोगों की चाट लग जाने पर शास्त्र चाहे कितनी ही प्रेरणा देते रहें, गुरुजन आदि चाहे जितनी शिक्षाएँ दें, उसे फटकारें तो भी वह चाहता हुआ भी काम-भोगों की लालसा को छोड़ नहीं सकेगा।

काम-भोगों के त्याग के ठोस उपाय—दो ही उपाय हैं कामभोगों की आसक्ति से छूटने के—(१) कामी काम-भोगों की कामना ही न करे, (२) प्राप्त कामभोगों को अप्राप्त के समान समझे, उनसे बिलकुल उदासीन रहे। **"कामी कामे ण····अलद्धे कण्हुई।"** इस पंक्ति का आशय यह है कि अगर कोई साधक अपने पूर्व (गृहस्थ) जीवन में कदाचित् काम से अतृप्त रहा हो तो उसे काम-सेवन के दुष्परिणामों पर विचार करके साधु-जीवन में वज्रस्वामी या जम्बूस्वामी की तरह मन में काम-भोगों की जरा भी कामना-वासना न रखनी चाहिए। स्थूलभद्र एवं क्षुल्लककुमार की तरह किसी भी निमित्त से प्रतिबद्ध साधक कदाचित् पूर्व जीवन में कामी रहा हो, तो उसे पूर्वभुक्त कामभोगों का कदापि स्मरण नहीं करना चाहिए, और कदाचित् कोई इन्द्रिय-विषय (काम) प्राप्त भी हो जाये तो नहीं मिले के समान जानकर उसके प्रति निरपेक्ष, निःस्पृह एवं उदासीन रहना चाहिए।[११]

काम-त्याग क्यों?—साधु को काम-त्याग क्यों करना चाहिए? इसके लिए शास्त्रकार गाथा-द्वय द्वारा दो प्रबल युक्तियों से काम-त्याग की अनिवार्यता समझाते हैं—(१) मृत्यु के बाद अगले जन्म में दुर्गति न हो, वहाँ की भयंकर यातनाएँ सहनी न पड़े, वहाँ असंयमी की तरह रोना-पीटना न पड़े। (२) इसी जन्म में देखो न, सौ वर्ष की आयु वाला मानव जवानी में ही चल बसता है, अतः इस अल्प-कालिक जीवन में अविवेकी मानव की भाँति कामभोग में मूर्च्छित हो जाना ठीक नहीं है।

'मा पच्छा असाधुता भवे····परिदेवती बहु' एवं **'इह जीवियमेव पासहा····कामेसु मुच्छिया'** इन दोनों गाथाओं द्वारा साधक को कामभोगों के त्याग की प्रेरणा देने के पीछे पहली युक्ति यह है कि कामभोगों में जो भ्रमवश सुख मानते हैं, वे उनके भावी दुष्परिणामों पर विचार करें कि क्षणिक कामसुख कितने भयंकर चिरकालीन दुःख लाता है, जिन्हें मनुष्य को रो-रोकर भोगना पड़ता है। काम-भोगों को शास्त्रों में किंपाकफल की उपमा देकर समझाया है कि किंपाकफल जैसे दिखने में सुन्दर, खाने में मधुर एवं सुगन्ध सुरस से युक्त होता है; परन्तु उसके खाने पर परिणाम मृत्यु रूप में आता है, वैसे ही ये कामभोग आपात रमणीय, उपभोग करने में मधुर एवं सुहावने लगते हैं, परन्तु इनका परिणाम दुर्गति गमन अवश्यम्भावी है, जहाँ नाना प्रकार की यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। इसीलिए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है—

---

[११] (क) चूर्णिकार १४७वीं सूत्रगाथा—'से अंतसो····विसीयति' का पाठान्तर—'से अंतए अप्पथामए णातिचए अवसे विसीदति' मानकर कहा है—'से अंतए—अन्त्यायामपि अवस्थायां अन्तशः णातिचए—ण सक्केति, अवसे विसीदति एव। सोवि संयमादि निरुद्यमः। अर्थात् वह (मरियल बैल) अन्तिम अवस्था में भी अल्प सामर्थ्य होने से बोझ नहीं ढो सकता, न विषम मार्ग में चल सकता है, अतः विवश होकर दुःख पाता है। इसी प्रकार साधु भी संयमादि में निरुद्यम हो जाता है।

—सूत्रकृतांग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० २७

(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पृ० ७१ के आधार पर

"सल्लं कामा, विसं कामा, कामा आसीविसोपमा ।
कामे पत्थेमाणा अकामा जंति दुग्गइं ॥"

अर्थात्—ये काम शल्य के समान है, काम विषवत् है, काम आशीविष सर्प तुल्य है, जो व्यक्ति कामभोगों की लालसा करते हैं, वे काम-भोग न भोगने पर भी, केवल कामभोग की लालसा मात्र से ही दुर्गति में चले जाते हैं।

दूसरी युक्ति यह दी गयी है कि मनुष्य की जिन्दगी कितनी अल्प है ? कई लोग जवानी में और कई बचपन में ही चल देते हैं। इतनी छोटी-सी अल्पकालीन जिन्दगी है, उसमें भी साधारण मनुष्यों की आयु सोपक्रमी (अकाल में ही नष्ट होने वाली) होती है। वह कब, किस दुर्घटना से या रोगादि निमित्त से समाप्त हो जायेगी, कोई पता नहीं। ऐसी स्थिति में कौन दूरदर्शी साधक अपनी अमूल्य, किन्तु अल्प स्थायी जिन्दगी को कामभोगों में खोकर अपने आपको नरकादि दुर्गतियों में डालना चाहेगा ? वर्तमान काल में मनुष्य की औसत आयु १०० वर्ष की मानी जाती है, वह भी अकाल में ही नष्ट हो जाने पर बहुत थोड़ी रहती है। सागरोपम कालिक आयु के समक्ष तो यह आयु पलक झपकने समान है। जीवन की ऐसी अनित्यता, अस्थिरता एवं अनिश्चितता जानकर क्षुद्र-प्रकृति के जीव ही शब्दादि कामभोगों में आसक्त हो सकते हैं, बुद्धिमान साधक नहीं।

बुद्धिमान दूरदर्शी साधक को कामत्याग के लिए दो बातों की प्रेरणा दी है—**"अच्चेही अणुसास अप्पगं।"** अर्थात्—(१) साधु को पहले से ही सावधान होकर इन कामभोगों से अपने आपको मुक्त (दूर) रखना चाहिए, और (२) कदाचित् पूर्वभुक्त कामभोग स्मृति-पट पर आ जाए या कभी काम-कामना मन में उत्पन्न हो जाये तो अविलम्ब उस पर नियन्त्रण करना चाहिए, आत्मा को इस प्रकार अनुशासित (प्रशिक्षित) करना चाहिए—"हे आत्मन् ! पहले ही हिंसादि पापकर्मो के कारण पुण्यहीन हुआ है, फिर कामभोग-सेवन करके या कामभोगों की अभिलाषा करके क्यों नये कर्म बाँधता है ? क्या इनका दुष्परिणाम नहीं भोगना पड़ेगा ?" इस प्रकार मन में काम का विचार आते ही उसे खदेड़ दे।[१२]

कठिन शब्दों की व्याख्या—अग्गं—प्रधान या वरिष्ठ रत्न, वस्त्र, आभूषण आदि। **आहियं**—देशान्तर से लाये हुए। **राइणिया**—राजा या राजा के समान, सामन्त, जागीरदार आदि शासक। **अज्झोववन्ना**—समृद्धि, रस और साता इन तीन गौरवों में गृद्ध आसक्त। **किवणेण समं पगब्भिया**—इन्द्रियों के गुलाम (इन्द्रियों से पराजित) होने के कारण दीन, बेचारे, दयनीय, इन्द्रियलम्पट के समान काम-सेवन में ढीठाई धारण किए हुए। **समाहिं**—धर्मध्यानादि, या मोक्ष सुख। **वाहेण जहा व**

---

[१२] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ७२

(ख) सूयगडंग चूर्णि में 'तरुणए स दुब्बलं वाससयं तिउट्टति' इस प्रकार का पाठान्तर मानकर अर्थ किया गया है—"तरुणगो असम्पूर्णवया अन्यो वा कश्चित्, दुर्बलं वाससयं परमायुः, ततो तिउट्टति।" अर्थात् तरुण का अर्थ है—अपूर्ण वय वाला अथवा और कोई, शतवर्ष की परमायु (उत्कृष्ट आयु) होने पर भी दुर्बल होने से बीच में टूट जाती है। —सूत्रकृतांग चूर्णि (मूल पाठ टिप्पण) पृ० २७

विच्छते'''—वृत्तिकार के अनुसार—'वाह' अर्थात् व्याध (शिकारी) जैसे मृगादि पशु विविध प्रकार के कूटपाश आदि से क्षत—घायल, परवश किया हुआ, या थकाया हुआ दुर्बल हो जाता है। दूसरा अर्थ है—'वाह यानी शाकटिक—गाड़ीवान, वह गाड़ी को ठीक से चलाने के लिए चाबुक आदि से प्रहार करके चलने को प्रेरित करता है। **अप्पथामए**—अल्पसामर्थ्य वाला। **कामेसणं विऊ**—कामभोगों के अन्वेषण में विद्वान् (निपुण) पुरुष। **असाधुता**—कुगतिगमन आदि रूप दुःस्थिति—दुर्दशा। **सोयती**—शोक करता है। **थणति**—सिसकता है या सशब्द निःश्वास छोड़ता है। **परिदेवती**—विलाप करता है, बहुत रोता-चिल्लाता है। **वाससयाउ**—सौ वर्ष से। **इत्तरवासेव**—थोड़े दिन के निवास के समान।[13]

आरम्भ एवं पाप में आसक्त प्राणियों की गति एवं मनोदशा

१५१. जे इह आरंभनिस्सिया, आयदंड एगंतलूसगा।
गंता ते पावलोगयं, चिररायं आसुरियं दिसं ॥९॥

१५२. ण य संखयमाहु जीवियं, तह वि य बालजणे पगब्भती।
पच्चुप्पन्नेण कारितं, के दुट्ठुं परलोगमागते ॥१०॥

१५१. इस लोक में जो मनुष्य आरम्भ में आसक्त, आत्मा को दण्ड देने वाले एवं एकान्त रूप से प्राणि-हिंसक हैं, वे चिरकाल के लिए पापलोक (नरक) में जाते हैं, (कदाचित् बालतप आदि के कारण देव हों तो) आसुरी दिशा में जाते हैं।

१५२. (सर्वज्ञ पुरुषों ने) कहा है—यह जीवन संस्कृत करने (जोड़ने) योग्य नहीं है, तथापि अज्ञानीजन (पाप करने में) धृष्टता करते हैं। (वे कहते हैं—) (हमें तो) वर्तमान (सुख) से काम (प्रयोजन) है, परलोक को देखकर कौन आया है?

विवेचन—आरम्भासक्त एवं पापाचरण धृष्ट व्यक्तियों की दशा—यहाँ सूत्रगाथाद्वय में से प्रथम में आरम्भजीवी या आरम्भाश्रित साधकों की दशा का और द्वितीय गाथा में वर्तमानदर्शी अज्ञानीजनों की मनोदशा का वर्णन किया है।

आरम्भासक्त साधका : दुष्कृत्य और उनका फल—आरम्भ निश्रित साधकों के लिए यहाँ दो विशेषण ध्यान देने योग्य हैं—**"आयदंडा तथा एगंतलूसगा।"** यहाँ शास्त्रकार ने आरम्भनिश्रित शब्द का प्रयोग किया है, उसका अर्थ वृत्तिकार करते हैं—'आरम्भों यानी हिंसादि सावद्यानुष्ठान रूप कार्यो में जो निश्चयतः (निःसंकोच) श्रित—यानी सम्बद्ध हैं, आरम्भ पर ही आश्रित हैं, आसक्त हैं।'

आरम्भ जैनधर्म का पारिभाषिक शब्द है, उसका एक खास अर्थ है। जिस कार्य या प्रवृत्ति से जीवों का द्रव्य और भाव से, चारों ओर से प्राणातिपात (हिंसा) हो, उसे 'आरम्भ' कहते हैं। आरम्भ

---

[13] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्र ७०-७२
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० २६-२७

अनेक प्रकार का होता है—जैसे भोजन पकाना, हरी वनस्पति तोड़ना, मकान बनवाना, जमीन खोदना, खेती करना, आग जलाना, कलकारखाने चलाना, युद्ध करना, लड़ाई-झगड़े करना, दूसरों को सताना, मारपीट, दंगा, आगजनी, चोरी, डकैती, धोखाधड़ी आदि सब प्रकार की हिंसा, असत्य, चोरी आदि पापजनक (सावद्य) कार्य आरम्भ हैं।[१४] आत्म-कल्याण की इच्छा रखने वाले को सभी प्रकार के आरम्भों का त्याग करना आवश्यक है। परन्तु कई साधक शरीर या जीवन की सुख-सुविधा के मोह में पड़कर ऐसे आरम्भों में स्वयं प्रवृत्त हो जाते हैं, अथवा दूसरों से करवाते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे उनकी वृत्ति इतनी आरम्भाश्रित हो जाती है कि वे आरम्भ के बिना जी नहीं सकते। ऐसे आत्मार्थी साधक दूसरे प्राणियों को दण्डित (हिंसा) करने के बदले उक्त आरम्भजन्य पाप कर्म के कारण स्वयं आत्मा (निज) को उनके फलस्वरूप दण्डित करते हैं। वास्तव में आरम्भ आसक्त साधक एकान्तलूसक (प्राणि-हिंसक) या सत्कर्म के ध्वंसक हैं।

उक्त आरम्भासक्ति के फलस्वरूप वे या तो मरकर पापलोक में जाते हैं। पापलोक से यहाँ शास्त्रकार का तात्पर्य पापियों के लोक से है, वह पापियों का लोक नरक तो है ही तिर्यंचगति भी है, और मनुष्यगति में भी निकृष्ट पापी-म्लेच्छ क्षेत्र सम्भव हैं अथवा कदाचित् ऐसे व्यक्ति बालतप या अकाम-निर्जरा कर लेते हैं तो उसके फलस्वरूप मरकर वे आसुरी योनि में उत्पन्न होते हैं।

‘आसुरियं दिसं’ की व्याख्या वृत्तिकार इस प्रकार करते हैं—**‘असुराणामियं आसुरी, तां दिशं यन्ति, अपरप्रेष्या किल्विषिकाः देवाधमाः भवन्तीत्यर्थः।”** असुरों की दिशा आसुरी दिशा है, वे आसुरी दिशा में जाते हैं, अर्थात् दूसरों के दासरूप किल्विषी देव बनते हैं, परमाधार्मिक असुर बनते हैं। चूर्णिकार **‘आसूरियं’** पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं—**‘न तत्थ सूरो विद्यते’**—अर्थात् जहाँ सूर्य नहीं होता है, यानी सूर्य प्रकाश के बिना अन्धकार छाया रहता है, द्रव्य अन्धकार भी तथा अज्ञान मोहरूप भावान्धकार भी। जैसे कि ईशावास्योपनिषद् में कहा है—

असुर्यानाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्यभिगच्छन्ति, ये केचात्महनो जनाः॥

अर्थात् असूर्य नामक लोक वे हैं, जो गाढ़ अन्धकार से आवृत्त हैं। जो कोई भी आत्मघातक (आत्मदण्डक) जन हैं, वे यहाँ से मरकर उन लोकों में जाते हैं।[१५]

वर्तमानदर्शी अज्ञानी जीवों की मनोवृत्ति एवं पापप्रवृत्ति—गाथा १५२ में सर्वप्रथम उन अज्ञानियों की मनोदशा बतायी है कि यह तो प्रत्यक्ष अनुभव है कि यह प्रत्यक्ष दृश्यमान जीवन;

---

१४. (क) अभिधान राजेन्द्रकोश भाग १, ‘आरम्भ’ शब्द देखिए।
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पृ० ७२-७३

१५. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पृ० ७३
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण), पृ० २७
(ग) ईशावास्योपनिषद् श्लोक ३
(घ) वैदिक मतानुसार ‘दक्षिण दिशा’—असुरों की दिशा है।

आयुष्य के टूटने पर वस्त्र की तरह फिर साधा (जोड़ा) नहीं जा सकता, ऐसा जीवन के रहस्य वेत्ता सर्वज्ञों ने कहा है। फिर भी अज्ञान और मोह के अन्धकार से व्याप्त मूढ़जन पापकर्म में निःसंकोच धृष्टतापूर्वक प्रवृत्ति करते हैं। उन्हें यह भान ही नहीं रहता कि वे जो पापकर्म करते हैं, उसके कितने दारुण-दुष्परिणाम भोगने होंगे। और जिस जीवन के लिए वे पापकर्म करते हैं, वह जीवन भी तो पानी के बुलबुले या काँच की तरह एक दिन नष्ट हो जायेगा। उनसे जब कोई कहता है कि 'तुम्हें परलोक में (अगले जन्मों में) इन पापकर्मों का भयंकर फल भोगना पड़ेगा, उसका तो विचार करो।' तब वे उत्तर दे देते हैं—'पच्चुपन्नेन कारियं परलोकमागते।' अरे! परलोक किसने देखा है? कौन परलोक देखकर आया है? परलोक की बातें गप्प लगती हैं। मुझे तो बस वर्तमान काम-भोगजन्य सुख से मतलब (काम) है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी कहा है—"जो काम भोग अभी हस्तगत है, प्रत्यक्ष हैं, वे ही हैं, जिन्हें बहुत-सा काल व्यतीत हो गया, वे तो अतीत (नष्ट) हो गये और अनागत भी अभी अविद्यमान एवं अनिश्चित है। कौन जानता है—परलोक है या नहीं है?" ऐसे लोग जो परलोक, पुनर्जन्म, पुण्य-पाप का फलभोग आदि को नहीं मानते, वे बेखटके अहर्निश मनचाहे पाप में प्रवृत्त होते हैं। ऐसे लोगों को इस बात की तो कोई परवाह नहीं होती कि कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा। उन वर्तमानजीवियों का तर्क है—वर्तमान काल में होने वाले पदार्थ ही वस्तुतः सत् है। अतीत और अनागत विनष्ट और अनुत्पन्न होने से अविद्यमान है। इसलिए प्रेक्षापूर्वक कार्य करने वाले के लिए वर्तमानकालीन पदार्थ ही प्रयोजन साधक होने से उपादेय हो सकता है।[16] शास्त्रकार ने परोक्षरूप से इन दोनों गाथाओं द्वारा सुविदित साधु को आरम्भ एवं पापकर्मों से बचने का उपदेश दिया है।

कठिन शब्दों की व्याख्या—चिररायं—दीर्घकाल तक। **आरम्भनिस्सिया**—आरम्भ में रचे-पचे। **पच्चुपन्नेन**—प्रत्युत्पन्न—वर्तमानकालवर्ती। **कारियं**—कार्य, प्रयोजन।[17]

सम्यग्दर्शन में साधक-बाधक तत्त्व

१५३. अदक्खुव दक्खुवाहितं, सद्दहसु अद्दक्खुदंसणा।
हंदि हु सुनिरुद्धदंसणे, मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा॥११॥

१५४. दुक्खी मोहे पुणो पुणो, निव्विदेज्ज सिलोग-पूयणं।
एवं सहितेऽहिपासए, आयतुलं पाणेहिं संजते॥१२॥

---

[16] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ७२
(ख) अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ३८३
(ग) सूत्रकृतांग मूलपाठ टिप्पण युक्त, पृ० २७
(घ) उत्तराध्ययन अ० ५, गाथा ६

[17] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्र ७२-७३

१५३. अद्रष्टावत् (अन्धतुल्य) पुरुष ! प्रत्यक्षदर्शी (सर्वज्ञ) द्वारा कथित दर्शन (सिद्धान्त) में श्रद्धा करो । हे असर्वज्ञदर्शन पुरुषो ! स्वयंकृत मोहनीय कर्म से जिसकी दृष्टि (ज्ञान दृष्टि) अवरुद्ध (बन्द) हो गई है; (वह सर्वज्ञोक्त सिद्धान्त को नहीं मानता) यह समझ लो ।

१५४. दुःखी जीव पुनः-पुनः मोह—विवेकमूढ़ता को प्राप्त करता है । (अतः मोहजनक) अपनी स्तुति (श्लाघा) और पूजा (सत्कार-प्रतिष्ठा) से साधु को विरक्त रहना चाहिए । इस प्रकार ज्ञान-दर्शन-चारित्र सम्पन्न (सहित) संयम साधु समस्त प्राणियों को आत्मतुल्य देखे ।

विवेचन—सम्यग्दर्शन में साधक एवं बाधक तत्व—इन दो सूत्रगाथाओं में सम्यग्दर्शन में साधक-बाधक निम्नोक्त ६ तथ्यों का दिग्दर्शन कराया गया है—(१) सम्यग्द्रष्टा बनने के लिए केवलज्ञान-केवल दर्शन-सम्पन्न वीतरागोक्त-दर्शन (सिद्धान्त) पर दृढ़ श्रद्धा करो, (२) स्वयंकृत मोहकर्म के कारण सम्यग्-दृष्टि अवरुद्ध हो जाने से व्यक्ति सर्वज्ञोक्त सिद्धान्त पर श्रद्धा नहीं करता, (३) अज्ञान एवं मिथ्यात्व के कारण जीव दुःखी होता है, (४) दुःखी जीव बार-बार अपनी दृष्टि एवं बुद्धि पर पर्दा पड़ जाने के कारण विवेकमूढ़ (मोह-प्राप्त) होता है, (५) साधक को मोह पैदा करने वाली आत्मश्लाघा और पूजा से विरक्त रहना चाहिए, (६) समस्त प्राणियों को आत्मतुल्य देखने वाला संयमी साधु ही सम्यग्दर्शी एवं रत्नत्रय सम्पन्न होता है ।[१८]

'अद्दक्खु व दक्खुवाहितं सद्दहसू'—'अद्दक्खूव' यह सम्बोधन है । संस्कृत में इसके पाँच रूप वृत्तिकार ने प्रस्तुत किये हैं—(१) हे अपश्यवत् । (२) हे अपश्यदर्शन ! (३) अदक्षवत् । (४) अदृष्टदर्शिन् । (५) अदृष्टदर्शन । इनके अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) जो देखता है, वह 'पश्य' है, जो नहीं देखता वह 'अपश्य' कहलाता है । अपश्य को व्यवहार में अन्धा कहते हैं । यहाँ दार्शनिक क्षेत्र में द्रव्य-अन्ध से मतलब नहीं है, भाव-अन्ध ही वहाँ विवक्षित है । भावअन्ध तुल्य यहाँ तीन कारणों से माना गया है—(क) एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने के कारण, (ख) कर्तव्य-अकर्तव्य, हिताहित के विवेक से रहित होने के कारण, (ग) व्यवहार मात्र का लोप हो जाने के कारण ।

(२) 'पश्य' कहते हैं सर्वज्ञ—सर्वदर्शी को, अपश्य कहते हैं—जो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी नहीं है, उसे । अतः यहाँ **'अपश्यदर्शन'** का अर्थ हुआ हे असर्वज्ञ—असर्वदर्शी के दर्शन को मानने वाले पुरुष ! इसे दूसरे शब्दों में 'अन्य दर्शनानुयायी पुरुष' कह सकते हैं ।

(३) दक्ष का अर्थ है निपुण । दर्शनिक क्षेत्र में निपुण उसे कहते हैं जो प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाणों से तत्व को सिद्ध करने में निपुण हो । जो ऐसा न हो, वह 'अदक्ष' कहलाता है । अतः **'अदक्षवत्'** का अर्थ हुआ—'हे अदक्ष के समान पुरुष ।'

(४) **अदृष्टदर्शिन्**—अदृष्ट उसे कहते हैं—जैसे सूक्ष्म, व्यवहित, दूर, परोक्ष (क्षेत्र और काल) से भविष्य एवं इन्द्रिय-क्षीणता आदि के कारण सूक्ष्मादि पदार्थ दृष्ट नहीं है—दिखाई नहीं देते । इस

---

[१८] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति भाषानुवाद सहित भाग-१, पृष्ठ २८४ से २८७ तक का सारांश

कारण उसे **अदृष्टदर्शी**—अर्वाग्दर्शी—जो सामने निकटवर्ती-प्रत्यक्ष है, उसे ही देखने वाला कहते हैं। उसका सम्बोधन में अदृष्टदर्शिन् रूप होता है।

(५) अदृष्ट असर्वज्ञ-असर्वदर्शी को भी कहते हैं, इस दृष्टि से **अदृष्टदर्शन** का अर्थ हुआ—जो अदृष्ट (असर्वदर्शी) के दर्शन वाला है। जो भी हो, अपश्यदर्शन या अदृष्टदर्शी भावतः अन्ध होने के कारण सम्यग्दर्शन युक्त नहीं होता। अतः उसे सम्बोधन करते हुए परमहितैषी शास्त्रकार कहते हैं—**'दक्खुवाहियं सद्दहसु'** इसका भावार्थ यह है कि तुम कब तक सम्यग्दृष्टि विहीन रहोगे? सम्यग्दर्शन सम्पन्न बनने के लिए सर्वज्ञ सर्वदर्शी द्वारा कथित तत्त्वों या सिद्धान्तों या आगमों पर श्रद्धा करो। एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने से समस्त व्यवहार का लोप हो जाने से मनुष्य बहुत सी बातों में अप्रामाणिक एवं नास्तिक बन जाता है, फिर पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, कर्तव्य-अकर्तव्य, कर्म-अकर्म को नहीं मानने पर उसका सारा ही बहुमूल्य जीवन (सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप) धर्म से विहीन हो जाता है। यह कितनी बड़ी हानि है। इसीलिए इस गाथा के उत्तरार्द्ध में कहा गया है—**'हंदिहु सुनिरुद्धदंसणे ····कम्मुणा'** सम्यग्दर्शन प्राप्ति का अवसर खो देने से अपने पूर्वकृत मोहनीय कर्म के कारण मनुष्य की सम्यग्दर्शन पूर्वक ज्ञानदृष्टि बन्द हो जाती है।[१९]

दुक्खी मोहे पुणो पुणो—इस पंक्ति में शास्त्रकार के दो आशय छिपे हैं—पहला आशय यह है कि सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान के अभाव में अज्ञान, अन्धविश्वास और मिथ्यात्व के कारण मनुष्य पाँच तरह से दुःखी हो जाता है—(१) हिताहित, कर्तव्याकर्तव्य, श्रेय-प्रेय, हेय-उपादेय का भान भूल जाने, से, धर्म-विरुद्ध कार्य करके, (२) वस्तु-तत्त्व का यथार्थ ज्ञान न होने से इष्ट वियोग-अनिष्ट संयोग में आर्त्तध्यान या चिन्ता करके; (३) परम हितैषी या आप्त वीतराग सर्वज्ञ सिद्धान्त या दर्शन पर विश्वास न करने से; तथा (४) अज्ञानवश मान-अपमान, निन्दा प्रशंसा, लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण आदि द्वन्द्वों में समभाव न होने से। (५) मिथ्यात्वादि के कारण भयंकर पाप कर्मबन्ध हो जाने से बार-बार कुगतियों में जन्म-मरणादि करके।

शास्त्रीय परिभाषा में उदयावस्था को प्राप्त असातावेदनीय को या असातावेदनीय के कारण को दुःख कहते हैं, अथवा जो प्राणी को बुरा (प्रतिकूल) लगता है, सुहाता नहीं, उसे भी दुःख कहते हैं। दुःख जिसको हो रहा हो, उसे दुःखी कहते हैं। वही असातावेदनीय कर्म जब उदय में आता है, तब मूढजीव ऐसे दुष्कर्म करता है, जिससे वह बार-बार दुःखी होता है।

दूसरा आशय है—दुःखी मनुष्य पुनः-पुनः मोहग्रस्त विवेकमूढ़ हो जाता है। उपर्युक्त छः प्रकारों में से किसी भी प्रकार से दुःखी मानव अपनी बुद्धि पर मिथ्यात्व और अज्ञान का पर्दा पड़ जाने से सही सोच नहीं सकता, वास्तविक निर्णय नहीं कर सकता, तत्त्व पर दृढ़ श्रद्धा नहीं कर सकता सर्वज्ञोक्त वचनों पर उसका विश्वास नहीं जम सकता; फलतः वह बार-बार कुकृत्य करके विपरीत चिन्तन करके मूढ़ या मोहग्रस्त होता रहता है। अथवा मोहनीय कर्मबन्धन करके फिर चतुर्गतिक रूप भयंकर दुःखकारी अनन्त संसाराटवी में चक्कर काटता रहता है।[२०]

---

[१९] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ७३ के आधार पर

[२०] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ७३ के आधार पर

मोह के दो प्रबल कारणों—श्लाघा और पूजा से विरक्त रहे—यहाँ एक प्रश्न होता है कि साधु-जीवन अंगीकार करने के पश्चात् तो सम्यग्दर्शनादि का उत्कट आचरण होने लगता है, फिर वहाँ मोह का और दुःख का क्या काम है? इसका समाधान इसी पंक्ति में गर्भित है कि साधु-साध्वी सांसारिक पदार्थों की मोह-ममता त्याग कर सम्यक् प्रकार से संयम के लिए उत्थित हुये हैं फिर भी जव तक साधक वीतराग नहीं हो जाता, तब तक उसे कई प्रकार से मोह घेर सकता है जैसे—

(१) शिष्य-शिष्याओं, (२) भक्त-भक्ताओं, (३) वस्त्र-पात्रादि उपकरणों, (४) क्षेत्र-स्थान, (५) शरीर, (६) प्रशंसा-प्रसिद्धि, (७) पूजा-प्रतिष्ठा आदि का मोह। इसीलिए आचारांग सूत्र में दुःखी '**मोहे-पुणो-पुणो**' के बदले '**एत्थ मोहे पुणो-पुणो**' पाठ है, जिसका आशय है—इस साधु-जीवन में भी पुनः-पुनः मोह का ज्वार आता है। प्रस्तुत गाथा में विशेष मोहोत्पादक दो बातों से खासतौर से विरक्त होने की प्रेरणा दी गयी है—**निव्विदेज्ज सिलोग-पूयणं**—श्लोक का अर्थ है—आत्मश्लाघा, या स्तुति, प्रशंसा, यशकीर्ति, प्रसिद्धि या वाहवाही। और पूजा का अर्थ है—वस्त्रादि दान द्वारा सत्कार, अथवा प्रतिष्ठा, बहुमान, भक्ति आदि। साधु-जीवन में और बातों का मोह छूटना फिर भी आसान है, परन्तु अपनी प्रशंसा, प्रसिद्धि, पूजा-सम्मान और प्रतिष्ठा की लालसा छूटनी बहुत कठिन है, क्योंकि वह चुपके-चुपके साधक के मानस में घुसती है, और सम्प्रदाय, धर्म, कुल, तप, ज्ञान, अहंकार, प्रभुत्व आदि कई रूपों में साधक का दिल-दिमाग भ्रान्त करती हुई आती है। इसीलिए शास्त्रकार यहाँ उसका समूलोच्छेदन करने के लिए कहते हैं—'**निव्विदेज्ज**' अर्थात् इन दोनों मोह जननियों से विरक्त हो जाओ। मन से भी इन्हें मत चाहो, न इनका चिन्तन करो। इनकी जरा-सी भी चाट लगी कि मोह मूढ़ बना साधक बात-बात में अपना अपमान, तिरस्कार, अपकीर्ति आदि मानकर दुःखी हो जायेगा।[२१]

सम्यग्दर्शन पुष्ट होता है—सर्वप्राणियों के आत्मवत् दर्शन से—१५४वीं सूत्रगाथा के उत्तरार्द्ध में समस्त प्राणियों को आत्मवत् दृष्टि से देखने की प्रेरणा है। संयमी साधु के लिए स्व-पर का भेद-भाव, स्व-सुख की ममता, और पर-सुख की उपेक्षा, स्वजीवन का मोह, परजीवन की उपेक्षा आदि विषमभाव निकालकर दूर कर देना चाहिए। इस विषयभाव को मिटाने का सबसे सरल तरीका है—साधक समस्त प्राणियों को आत्मतुल्य दृष्टि से देखें। अपने सुख-दुःख, जीवन-मरण के समान ही उनके सुख-दुःखादि को जाने। इसीलिए कहा गया है—"**एवं सहितेऽहिपासए····संजते।**" चूर्णिकार इसका अर्थ करते हैं—इस प्रकार संयमी साधु ज्ञानादि सम्पन्न होकर सभी प्राणियों को आत्मतुल्य से भी अधिक देखे।[२२]

'दक्खु' वाहितं' आदि पदों का अर्थ—दक्खुवाहितं—सर्वज्ञ-सर्वदर्शी द्वारा व्याहृत-कथित,

---

२१. (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ३८७ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ७३
(ग) आचारांग सूत्र श्रु०१ अ०२ उ०२ सू० ७० पृ० ४६ में देखिए 'एत्थ मोहे पुणो-पुणो सण्णा, णो हव्वाए, णो पाराए।'

२२. (क) शीलांकवृत्ति (सू० कृ०) पत्रांक ७३ का सारांश
(ख) अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३८७ का सारांश
(ग) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० २८

वृत्तिकार के अनुसार—'**अचक्षुदर्शनः—केवलदर्शनः—सर्वज्ञः, तस्माद् यदाप्यते हितं तत्।**' अर्थात् अचक्षुदर्शन वाला—यानी केवलदर्शनी जो सर्वज्ञ है, उससे जो हित (हितकर वचन) प्राप्त होता है उस पर। **अद्दक्खूदंसणा**—असर्वज्ञ के दर्शन वालो! वृत्तिकार ने '**अचक्खुदंसणा**' पाठान्तर मानकर उपर्युक्त अर्थ ही किया है।[२३]

सुव्रती समत्वदर्शी-गृहस्थ देवलोक में

१५५. गारं पि य आवसे नरे, अणुपुव्वं पाणेहिं संजए।
समया सव्वत्थ सुव्वए, देवाणं गच्छे स लोगयं ॥१३॥

१५५. घर (गृहस्थ) में भी निवास करता हुआ मनुष्य क्रमशः प्राणियों पर (यथाशक्ति) संयम रखता है तथा सर्वत्र (सब प्राणियों में) समता रखता है, तो वह (समत्वदर्शी) सुव्रती (श्रावकव्रती गृहस्थ) भी देवों के लोक में जाता है।

विवेचन—सुव्रती समत्वदर्शी गृहस्थ भी देवलोकगामी—प्रस्तुत गाथा में बताया गया है कि गृहस्थी भी तीन गुणों से समन्वित होकर देवों के लोक में चला जाता है। वे तीन विशिष्ट गुण ये हैं—(१) वह गृहस्थ में रहता हुआ मर्यादानुसार प्राणिहिंसा पर संयम (नियन्त्रण) रखे, (२) आर्हत्-प्रवचनोक्त समस्त एकेन्द्रियादि प्राणियों पर समभाव-आत्मवद्भाव रखे तथा (३) श्रावक के व्रत धारण करे। उत्तराध्ययनसूत्र में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है कि सुव्रती भिक्षु हो या गृहस्थ, दिव्यलोक में जाता है।[२४]

कठिन शब्दों की व्याख्या—'समया सव्वत्थ सुव्वए'—वृत्तिकार के अनुसार—इस वाक्य के दो अर्थ हैं—(१) समता यानी समभाव—स्व-पर तुल्यता सर्वत्र—साधु और गृहस्थ के प्रति रखता है अथवा आर्हत्प्रवचनोक्त एकेन्द्रियादि समस्त प्राणियों पर समभाव रखता है, ऐसा सुना जाता है, कहा जाता है। चूर्णिकार के अनुसार—जो सर्वत्र समताभाव रखता है, वह गृहस्थ भले ही सामायिक आदि क्रियाएँ न करता हो, फिर भी समताभाव के कारण। **देवाणं गच्छे स लोगयं**—वह देवों (वैमानिकों) के लोक में जाता है। चूर्णिकार '**स लोगयं**' को '**सलोगतं**' पाठ मानकर अर्थ करते हैं—'**देवाणं गच्छे सलोगतं—समानलोगतं सलोगतं।**' अर्थात्—देवों का समान लोकत्व (स्थान या अवधिज्ञान दर्शन) पा जाता है अथवा देवों का श्लोकत्व—प्रशंसनीयत्व प्राप्त कर लेता है।[२५] **गारं पि य आवसे नरे**—आगर—गृह में निवास करता हुआ भी।

मोक्षयात्री भिक्षु का आचरण

१५६. सोच्चा भगवाणुसासणं, सच्चे तत्थ करेहुवक्कमं।
सव्वत्थऽवणीयमच्छरे, उंछं भिक्खु विसुद्धमाहरे ॥१४॥

---

[२३] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ७३

[२४] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ७४
(ख) तुलना 'भिक्खाए व गिहत्थे वा सुव्वए कम्मइ दिवं!' —उत्तराध्ययन अ० ५।२२

[२५] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ७४
(ख) 'सव्वत्थ समतां भावयति, तदनु चाकृतसामायिकः शोभनव्रतः सुव्रतः।'
—सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० २८

१५७. सव्वं णच्चा अहिट्ठए, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए ।
गुत्ते जुत्ते सदा जए, आय-परे परमाययट्ठिए ॥१५॥

१५६. भगवान् (वीतराग सर्वज्ञ प्रभु) के अनुशासन (आगम या आज्ञा) को सुनकर उस प्रवचन (आगम) में (कहे हुए) सत्य (सिद्धान्त या संयम) में (उपक्रम) करे। भिक्षु सर्वत्र (सब पदार्थों में) मत्सररहित होकर शुद्ध (उञ्छ) आहार ग्रहण करे।

१५७. साधु सब (पदार्थों या हेयोपादेयों) को जानकर (सर्वज्ञोक्त सर्वसंवर का) आधार (आश्रय) ले; धर्मार्थी (धर्म का अभिलाषी) रहे; तप (उपधान) में अपनी शक्ति लगाये; मन-वचन-काया की गुप्ति (रक्षा) से युक्त होकर रहे; सदा स्व-पर-कल्याण के विषय में अथवा आत्मपरायण होकर यत्न करे और परम-आयत (मोक्ष) के लक्ष्य में स्थित हो।

विवेचन—मोक्षयात्री भिक्षु का आचरण—प्रस्तुत सूत्र गाथाद्वय में मोक्षयात्री भिक्षु के लिए ग्यारह आचरणसूत्र प्रस्तुत किये गये हैं—(१) सर्वज्ञोक्त अनुशासन (शिक्षा, आगम या आज्ञा) को सुने, (२) तदनुसार सत्य (सिद्धान्त या संयम) में पराक्रम करे, (३) सर्वत्र मत्सरहित (**रागद्वेष रहित** या क्षेत्र, गृह, उपाधि, शरीर आदि पदार्थों में **लिप्सारहित**) होकर रहे, (४) शुद्ध भिक्षुचर्या करे, (५) हेय-ज्ञेय-उपादेय को जानकर सर्वज्ञोक्त संवर का ही आधार ले; (६) धर्म से ही अपना प्रयोजन रखे, (७) तपस्या में अपनी शक्ति लगाये, (८) तीन गुप्तियों से युक्त होकर रहे, (९) सदैव यत्नशील रहे, (१०) आत्मपरायण या स्व-पर-हित में रत रहे और (११) परमायत-मोक्षरूप लक्ष्य में दृढ़ रहे।[२६]

भगवदनुशासन—श्रवण क्यों आवश्यक ?—मोक्षयात्री के लिए पाथेय के रूप में सर्वप्रथम भगवान् का अनुशासन-श्रवण करना इसलिए आवश्यक है कि जिस मोक्ष की वह यात्रा कर रहा है, भगवान् उस मोक्ष के परम अनुभवी, मार्गदर्शक हैं, क्योंकि ज्ञान, वैराग्य, धर्म, यश, श्री, समग्र ऐश्वर्य, एवं मोक्ष इन छह विभूतियों से वे (भगवान्) सम्पन्न होते हैं। वे वीतराग एवं सर्वज्ञ होते हैं, वे निष्पक्ष होकर वास्तविक मोक्ष-मार्ग ही बताते हैं। उनकी आज्ञाएँ या शिक्षाएँ (अनुशासन) आगमों में निहित हैं, इसलिए गुरु या आचार्य से उनका प्रवचन (आगम) सुनना सर्वप्रथम आवश्यक है। सुनकर ही तो साधक श्रेय-अश्रेय का ज्ञान कर सकता है।[२७]

सर्वज्ञोक्त सत्य-संयम में पराक्रम करे—जब श्रद्धापूर्वक श्रवण होगा, तभी साधक उस सुने हुए सत्य को सार्थक करने हेतु अपने जीवन में उतारने का पुरुषार्थ करेगा। अन्यथा कोरा श्रवण या कोरा भाषण तो व्यर्थ होगा। शास्त्र में बताया है—**"सच्चे सच्चपरक्कमे"** साधु सत्य में सच्चा पराक्रम करे।[२८] परन्तु साधक का सत्य-संयम में पुरुषार्थ मत्सरहित—राग-द्वेष रहित होगा तभी वह सच्चा पुरुषार्थ होगा।

---

[२६] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ७४

[२७] (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३८९ के अनुसार
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ७४
(ग) सोच्चा जाणइ कल्लाणं सोच्चा जाणइ पावगं—दशवै० ४।११

[२८] उत्तराध्ययन सूत्र अ० १८।२४

सब पदार्थों में मत्सरहित होकर रहे—मूल में '**सव्वत्थ विणीयमच्छरे**' पाठ है, उसका शब्दशः अर्थ तो यही होता है, किन्तु वृत्तिकार ने इसके दो और विशेष अर्थ प्रस्तुत किये हैं—(१) सर्वत्र यानी क्षेत्र, गृह, उपाधि, शरीर आदि पदार्थों की तृष्णा (लिप्सा) को मन से हटा दे, अथवा (२) सर्व पदार्थों के प्रति न तो राग या मोह करे, न ही द्वेष, घृणा या ईर्ष्या करे; क्योंकि मत्सर होगा, वहाँ द्वेष तो होगा ही, जहाँ एक ओर द्वेष होगा, वहाँ दूसरी ओर राग मोह-अवश्यम्भावी है। साधक की मोक्षयात्रा में ये बाधक हैं, अतः इनसे दूर ही रहे।[२९]

शुद्ध भिक्षाचरी क्या, क्यों और कैसे?—साधु भिक्षाजीवी होता है, परन्तु उसकी भिक्षाचरी ४७ एषणा दोषों से रहित होनी चाहिए, वही विशुद्ध भिक्षा कहलाती है। औद्देशिक आदि दोषों से युक्त भिक्षा होगी तो साधु अहिंसा महाव्रत, संयम, एषणा समिति अथवा तप का आचरण यथार्थ रूप से नहीं कर सकेगा। दोषयुक्त भिक्षा ग्रहण एवं सेवन से साधु की तेजस्विता समाप्त हो जायेगी, उसमें निःस्पृहता, निर्लोभता (मुत्ती), त्याग एवं अस्वादवृत्ति नहीं रह पायेगी। यहाँ भिक्षा के बदले शास्त्रकार ने '**उंछं**' शब्द का प्रयोग किया है, प्राकृत शब्दकोश के अनुसार उसका अर्थ होता है—"क्रमशः (कण-कण करके) लेना।" इसका तात्पर्य है—अनेक गृहस्थों के घरों से थोड़ी-थोड़ी भोजन सामग्री ग्रहण करना।[३०]

जाने सब, पर आधार सर्वज्ञोक्त शास्त्र का ले—साधु यद्यपि बहुत-सी चीजों को जानता-देखता है, उनमें कई हेय होती हैं, कई ज्ञेय और कई उपादेय। साधु राजहंस की तरह सर्वज्ञोक्त शास्त्ररूपी चोंच द्वारा हेय-ज्ञेय-उपादेय का नीर-क्षीर-विवेक करे, यही अभीष्ट है। अथवा सर्वज्ञोक्त पंचसंवर को आधारभूत मानकर उसी कसौटी पर उन पदार्थों को कसे और जो संवर के अनुकूल हो, उसे ग्रहण करे शेष को छोड़ दे या जानकर ही विराम करे। साधु स्वयं हेयादि का निर्णय करने जायेगा तो छद्मस्थता (अल्पज्ञता) वश गड़बड़ा जायेगा, इसलिए सर्वज्ञोक्त पंचसंवर के माध्यम से निर्णय करे।[३१]

सया जए—यह छोटा-सा आचरण सूत्र है, लेकिन इसमें गम्भीर अर्थ छिपा हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि साधु चलना-फिरना, उठना-सोना, खाना-पीना, बोलना आदि प्रत्येक क्रिया यत्नपूर्वक करे। वह इस बात का विवेक रखे कि इस प्रवृत्ति या क्रिया के करने में कहीं हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि आस्रवों से तो मैं नहीं लिप्त हो जाऊँगा? अगर कोई क्रिया हिंसादि दोषयुक्त हो, या भविष्य में अनर्थकारक, हिंसादि पापवर्द्धक हो तो उसे न करना। यह इस सूत्र का आशय है।[३२]

आय-परे—का वृत्तिकार ने तो '**यतेताऽऽत्मनि परस्मिश्च**'—अपने और पर के सम्बन्ध में यत्न करे, यही अर्थ किया है, परन्तु हमारी दृष्टि से इसका दूसरा अर्थ '**आत्म-परायण हो**' यह होना चाहिए। इसका आशय यह है कि साधु की प्रत्येक प्रवृत्ति आत्मा को केन्द्र में रखकर होनी चाहिए। जो प्रवृत्ति आत्मा के लिए अहितकर, आत्मशुद्धिबाधक, कर्मबन्धजनक एवं दोषवर्द्धक हो, आत्म-गुणों

---

[२९] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ७४

[३०] सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ. ३९० पर से

[३१] सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ. ३९०

[३२] दशवैकालिक अ०४/गा० १ से ९ तक की हारिभद्रीय टीका

(ज्ञानादि रत्नत्रयादि) के घातक हों, उससे सतत वचना ही आत्मपरकता या आत्मपरायणता है। जो प्रवृत्ति आत्मा के लिए अकल्याणकर अहितकर हो, किन्तु दूसरों को उससे अर्थादिलाभ होता हो तो भी उसे न करे।[33]

परमाययट्ठिए—परमायत—मोक्ष (मोक्ष के लक्ष्य) में स्थित रहे। परम उत्कृष्ट आयत-दीर्घ हो, वह परमायत है, अर्थात् जो सदा काल शाश्वत स्थान है, श्रेष्ठ धाम है। साधु उस परमायत लक्ष्य में स्थित—परमायतस्थित तथा उस परमायत का अर्थी परमायतार्थिक—मोक्षाभिलाषी हो। अथवा अपने मन, वचन और काया को साधु मोक्षरूप लक्ष्य में ही स्थिर रखे, डाँवाडोल न हो कि कभी तो मोक्ष को लक्ष्य वना लिया, कभी अर्थ-काम को या कभी किसी क्षुद्र पदार्थ को।[34]

शेष आचरण-सूत्र तो स्पष्ट हैं। इन ११ आचरणसूत्रों को हृदयंगम करके साधु को मोक्षयात्रा करनी चाहिए।

अशरण भावना

१५८. वित्तं पसवो य णातयो, तं वाले सरणं ति मण्णती।
एते मम तेसु वी अहं, नो ताणं सरणं च विज्जइ ॥ १६ ॥

१५९. अव्भागमितम्मि वा दुहे, अहवोवक्कमिए भवंतए।
एगस्स गती य आगती, विदुमं ता सरणं न मन्नती ॥ १७ ॥

१६०. सव्वे सयकम्मकप्पिया, अव्वत्तेण दुहेण पाणिणो।
हिंडंति भयाउला सढा, जाति-जरा-मरणेहऽभिद्दुता ॥ १८ ॥

१५८. अज्ञानी जीव धन, पशु और ज्ञातिजनों को अपने शरणभूत (शरणदाता या रक्षक) समझता है कि ये मेरे हैं, मैं भी उनका हूँ। (किन्तु वस्तुतः ये सब उसके लिए) न तो त्राणरूप हैं और न शरणरूप हैं।

१५९. दुःख आ पड़ने पर, अथवा उपक्रम (अकालमरण) के कारणों से आयु समाप्त होने पर या भवान्त (देहान्त) होने पर अकेले को जाना या आना होता है। अतः विद्वान् पुरुष धन, स्वजन आदि को अपना शरण नहीं मानता।

१६०. सभी प्राणी अपने-अपने कर्मों के कारण विभिन्न अवस्थाओं में व्यवस्थित—विभक्त हैं और सभी प्राणी अव्यक्त (अलक्षित) दुःख से दुःखी हैं। भय से व्याकुल शठ (अनेक दुष्कर्मों के कारण दुष्ट) जन जन्म, जरा और मरण से पीड़ित होकर (वार-वार संसार-चक्र में) भ्रमण करते हैं।

---

[33] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ७४
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखवोधिनी व्याख्या पृ. ३९०

[34] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ७४

विवेचन—कोई भी त्राता एवं शरणदाता नहीं—प्रस्तुत तीन गाथाओं में अशरण-अनुप्रेक्षा (भावना) का विविध पहलुओं से चित्रण किया गया है—(१) अज्ञानी जीव धन, पशु एवं स्वजनों को भ्रमवश त्राता एवं शरणदाता मानता है, परन्तु कोई भी सजीव-निर्जीव त्राण एवं शरण नहीं देता। (२) दुःख, रोग, दुर्घटना, मृत्यु आदि आ पड़ने पर प्राणी को अकेले ही भोगना या परलोक जाना-आना पड़ता है। (३) विद्वान् (वस्तुतत्वज्ञ) पुरुष किसी भी पदार्थ को अपना शरणरूप नहीं मानता। (४) सभी प्राणी अपने-अपने पूर्वकृत कर्मानुसार विभिन्न अवस्थाओं (गतियों-योनियों) को प्राप्त किये हुए हैं। (५) समस्त प्राणी अव्यक्त दुःखों से दुःखित हैं। (६) दुष्कर्म करने वाले जीव जन्म, बुढ़ापा और मृत्यु आदि से पीड़ित एवं भयाकुल होकर संसार चक्र में परिभ्रमण करते हैं।

धन आदि शरण योग्य एवं रक्षक क्यों नहीं?—प्रश्न होता है कि धन आदि शरण्य एवं रक्षक क्यों नहीं होते? इसके उत्तर में एक विद्वान् ने कहा है—

"रिद्धि सहावतरला, रोग-जरा-भंगुरं हयसरीरं।
दोण्हं पि गमणसीलाणं कियच्चिरं होज्ज संबंधो?"

अर्थात्—ऋद्धि (धन-सम्पत्ति) स्वभाव से ही चंचल है, यह विनश्वर शरीर रोग और बुढ़ापे के कारण क्षणभंगुर है। अतः इन दोनों (गमनशील-नाशवान्) पदार्थों का सम्बन्ध कब तक रह सकता है? वास्तव में जिस शरीर के लिए धनादि वस्तुओं के संचय की इच्छा की जाती है, वह शरीर ही विनाशशील है। फिर वे धनादि चंचल पदार्थ शरीर आदि को कैसे नष्ट होने से बचा सकेंगे? कैसे उन्हें शरण दे सकेंगे?

जिन पशुओं (हाथी, घोड़ा, बैल, गाय, भैंस, बकरी आदि) को मनुष्य अपनी सुख-सुविधा, सुरक्षा एवं आराम के लिए रखता है, क्या वे मनुष्य की मृत्यु, व्याधि, जरा आदि को रोक सकते हैं? वे ही स्वयं जरा मृत्यु, व्याधि आदि से ग्रस्त होते हैं; ऐसी स्थिति में वे मनुष्य की सुरक्षा कैसे कर सकते हैं? युद्ध के समय योद्धा लोग हाथी, घोड़ा आदि को अपना रक्षक मानकर मोर्चे पर आगे कर देते हैं, परन्तु क्या वे उन्हें मृत्यु से बचा सकते हैं? जो स्वयं अपनी मृत्यु आदि को रोक नहीं सकता, वह मनुष्य की कैसे रक्षा कर सकता है, शरण दे सकता है?

इसी प्रकार माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-बहन आदि ज्ञाति (स्व) जन भी स्वयं मृत्यु, जरा, व्याधि आदि से असुरक्षित है, फिर वे किसी की कैसे रक्षा कर सकेंगे, कैसे शरण दे सकेंगे? इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—'**वित्तं पसवो⋯सरणं मण्णती**।'—इसका आशय यही है कि धनादि पदार्थ शरण योग्य नहीं हैं, फिर भी अज्ञानी जीव मूढ़तावश इन्हें शरणरूप मानते हैं। वे व्यर्थ ही ममत्ववश मानते हैं कि 'ये सजीव-निर्जीव पदार्थ मेरे हैं, मैं भी उनका हूँ।[३५]

---

[३५] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति सहित भाषानुवाद भा० १, पृ० २९१ से २९५ तक का सार
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ३९१ से ३९३ तक का सारांश
(ग) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पृ० ७५ के आधार पर

मान लो, माता-पिता आदि स्वजनों को कोई भ्रान्तिवश अपना शरणदाता एवं त्राता मानता है, परन्तु अशुभ कर्मोदयवश उस व्यक्ति पर कोई दुःख, संकट आ गया, सोपक्रमी आयु वाला होने से अकस्मात् कोई दुर्घटना हो गयी, इस कारण आयु नष्ट हो गयी तथा देहान्त हो गया। ऐसे समय में उस व्यक्ति के माता-पिता आदि स्वजन न तो उसके बदले में दुःख भोग सकते हैं, न ही दुर्घटना से उसे बचा सकते हैं, और न ही आयुष्य नष्ट होने से रोक सकते हैं, तथा शरीर छूटने से भी यानी मृत्यु से भी उसे बचा नहीं सकते, क्यों ? इसलिए कि उसके स्वकृत कर्म अलग हैं, माता-पिता आदि स्वजन के कृतकर्म अलग हैं। उसके कर्मों का फल न तो उसके माता-पिता आदि भोग सकते हैं और न ही पुत्र आदि अपने माने हुए माता-पिता आदि के द्वारा किये गये कर्मों का फल भोग सकते हैं। कोई भी स्वजन उसके रोग को न तो घटा सकता है और न ही नष्ट कर सकता है। इससे स्पष्ट है कि कर्मों का सुखद या दुःखद फल भोगते समय व्यक्ति अकेला ही होता है। अकेला ही परलोक में जाता है, अकेला ही वहाँ से दूसरे लोक में जन्म लेता है। दूसरा कोई भी उसके साथ परलोक में नहीं जाता और न वहाँ से आता है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**"अब्भागमितम्मि वा दुहे ··· विदुमं ता सरणं न मन्नती।"** आशय ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। निष्कर्ष यह है कि इन सब कारणों से वस्तुतत्वज्ञ विद्वान् किसी भी सजीव-निर्जीव पदार्थ को अपना शरणभूत नहीं मानते।

स्वकर्म-सूत्र से ग्रथित सारा संसार—प्रश्न होता है कि जीव अकेला ही जन्मता-मरता और अकेला ही किसी गति या योनि में क्यों जाता-आता है ? इस प्रश्न का उत्तर इस गाथा में दिया गया है—**'सव्वे सयकम्मकप्पिया ··· जाइजरामरणे हऽभिद्दुता।'** सभी जीव अपने-अपने कर्मों के कारण नाना गतियाँ, योनियाँ, शरीर, इन्द्रियाँ आदि प्राप्त करते हैं। अपने ही ज्ञानावरणीयादि कर्मों के कारण जीव सूक्ष्मबादर, पर्याप्त-अपर्याप्त, सम्मूर्च्छिम-गर्भज तथा एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय और पंचेन्द्रियों में भी मनुष्य, तिर्यञ्च, देव या नरक आदि विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं। दूसरा तथ्य यह है कि इन विभिन्न अवस्थाओं में भी प्राणी अपने-अपने कर्मों के प्रभाव से रोग, निर्धनता, अभाव, अपमान, संकट, कर्जदारी, आदि विभिन्न कारणों से स्वयं ही शारीरिक, मानसिक एवं प्राकृतिक दुःख पाता है। ये समस्त दुःख मन में ही महसूस होते हैं, इसलिए इन्हें अव्यक्त-अप्रकट कहा है, क्योंकि साधारण अल्पज्ञ व्यक्ति इन्हें सहसा जान नहीं पाता। हाँ, असातावेदनीय के फलस्वरूप दुःख आ पड़ने पर व्यक्ति के वाणी तथा आकृति आदि पर से दुःख को अनुमानतः व्यक्त रूप से जाना जा सकता है, परन्तु सामान्यतया दुःख अव्यक्त होता। दुःख एक मानसिक अवस्था है, प्रतिकूल रूप से वेदन भी मानसिक होता है, जो प्रत्येक प्राणी का अपना अलग-अलग होता है।[३९]

कई लोग कहते हैं कि समस्त प्राणियों को अपने-अपने कर्मों का फल मिलता है, किन्तु प्रायः देखा जाता है कि कई दुष्कर्म करने वाले पापी लोग पापकर्म (हत्या, लूटपाट, चोरी, व्यभिचार आदि) करते हैं, फिर भी वे यहाँ मौज से रहते हैं, वे सम्पन्न हैं, समाज में भी प्रशंसित हैं, ऐसा क्यों ? इसी का समाधान देने हेतु सूत्रगाथा ६० का उत्तरार्द्ध प्रस्तुत है—

---

[३९] (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ३९४
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पृ० ७५

"हिंडंति भयाउला सढा जाति जरामरणेहऽभिद्दुता" इससे दो तथ्य प्रतिफलित होते हैं—(१) यहाँ वे भयाकुल होकर ही घूमते हैं, (२) अथवा वे जन्म, जरा; मरण आदि से यहाँ या आगे पीड़ित रहते हैं। प्रायः देखा जाता है चोरी, डकैती, हत्या, लूटपाट, बलात्कार आदि भयंकर पाप करने वाले दुष्ट (शठ) लोग प्रतिक्षण आशंकित, भयभीत, दण्डभय से व्याकुल और समाज में वेइज्जती हो जाने की आशंका से चिन्तित रहते हैं। कई लोग तो एकान्त स्थानों में छिपकर या सरकार की नजर बचाकर अपनी जिन्दगी विताते हैं। उनका पाप उन्हें हरदम कचोटता रहता है। कोई उसकी हत्या न कर दे, वदला न ले ले, बुरी तरह मारपीट कर अधमरा न कर दे, इस प्रकार उन दुष्कर्मियों का वह जीवन मुट्ठी में रहता है। चिन्ता ही चिन्ता के कारण उनका मानसिक सन्तुलन विगड़ जाता है। विक्षिप्त, अर्धविक्षिप्त-से हो जाते हैं। कभी हृदय-रोग का हमला, रक्तचाप, क्षय आदि रोगों के कारण जिन्दगी वर्वाद हो जाती है, असमय में ही बुढ़ापा आ जाता है। इसलिए बहुत-से लोगों को तो इसी जन्म में दुष्कर्म का फल मिल जाता है। मृत्यु के समय भी कई अत्यन्त भयभीत रहते हैं। अगर किसी को इस जन्म में अपने दुष्कर्मों का फल नहीं मिलता तो अगले जन्मों में अवश्य ही मिलता है। वे जन्म-मृत्यु के चक्के में पिसते रहते हैं। निःसन्देह कहा जा सकता है कि संसार में कोई किसी का त्राता एवं शरणदाता नहीं हो सकता, सभी को अपने-अपने कर्मों से तथा तदनुसार दुःखों से निपटना होता है। उत्तराध्ययन आदि सूत्रों में भी इसी तथ्य का उद्घाटत किया गया है।[३७]

कठिन शब्दों की व्याख्या—**'अव्वत्तेण दुहेण पाणिणो'** का अर्थ वृत्तिकार के अनुसार है—अव्यक्त—अपरिस्फुट शिरोवेदना आदि अलक्षित स्वभावरूप दुःख से प्राणी दुःखित हैं। चूर्णिकार **'अव्वत्तेण'** के वदले **अवियत्तेंण** पाठ मानकर इसके संस्कृत में दो रूप वनाकर अर्थ करते हैं—**"अवियत्तेण कृती छेदने, न विकृतं अच्छिन्नमित्यर्थस्तेन, अथवा अवियत्तेन अधिगच्छन्तेनेत्यर्थः"** कृती धातु छेदने अर्थ में है। विकृत नहीं, अर्थात् अविकृत-अविच्छिन्न, उस (दुःख) से, अथवा अवियत्तेंन का अर्थ—'जानते हुए या स्मरण करते हुए' भी होता है। पहले अर्थ के अनुसार—अविच्छिन्न (लगातार) दुःख से प्राणी दुःखी होते हैं, दूसरे अर्थ के अनुसार—ज्ञात और संस्मृत दुःख से प्राणी दुःखी होते हैं, **'जातिजरामरणे हऽभिद्दुता'** के बदले चूर्णिकार ने **'वाधिजरामरणेहिऽभिद्दुता'** पाठान्तर माना है, जिसका अर्थ होता है—यहाँ व्याधि, जरा एवं मरण से पीड़ित। **'विदुमंता'** का अर्थ वृत्तिकार के अनुसार है—विद्वान्-विवेकी-संसार स्वभाव का यथार्थवेत्ता। चूर्णिकार 'विदु मंता' इन दोनों पदों को 'विदु मत्वा' के रूप में पृथक्-पृथक् करके अर्थ करते हैं—विद्वान् इस प्रकार जान-मानकर (पूर्वोक्त ज्ञाति आदि वस्तुओं को शरण नहीं मानते।)[३८]

---

[३७] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पृ. ७५ के आधार पर
(ख) देखिए प्रश्नव्याकरण सूत्र में प्रथम आस्रव द्वार और तृतीय आस्रव द्वार का वर्णन।
(ग) माणुसत्ते असारंमि वाहीरोगाण आलए।
जरा-मरणघत्थंमि खणंपि न रमामहं॥ —उत्तराध्ययन सूत्र अ. १९।१४

[३८] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पृ. ७५
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ. २९

बोधिदुर्लभता की चेतावनी

१६१. इणमेव खणं वियाणिया, णो सुलभं बोहिं च आहियं ।
एवं सहिएऽहिपासए; आह जिणे इणमेव सेसगा ।।१९।।

१६१. ज्ञानादि सम्पन्न या स्वहितैषी मुनि इस प्रकार विचार (या पर्यालोचन) करे कि यही क्षण (बोधि प्राप्ति का) अवसर है, बोधि (सम्यग्दर्शन या सद्‌बोध की प्राप्ति) सुलभ नहीं है; ऐसा जिन-रागद्वेष विजेता (तीर्थंकर ऋषभदेव) ने और शेष तीर्थंकरों ने (भी) कहा है।

विवेचन—बोधिदुर्लभता की चेतावनी—इस गाथा में शास्त्रकार वर्तमान क्षण का महत्त्व बताकर चेतावनी देते हैं कि बोधि दुर्लभ है। उत्तरार्द्ध में इस तथ्य की पुष्टि के लिए—समस्त राग-द्वेष-विजेता तीर्थंकरों की साक्षी देते हैं।

इणमेव खणं—इस वाक्य में 'इणं' (इदं) शब्द प्रत्यक्ष और समीप का और 'खणं' अर्थ का बोधक है। 'एव' शब्द निश्चय अर्थ में है। शास्त्रकार के आशय को खोलते हुए वृत्तिकार कहते हैं—मोक्ष साधना के लिए यही क्षेत्र और यही काल, तथा यही द्रव्य और यही भाव श्रेष्ठ अवसर है।

द्रव्यतः श्रेष्ठ अवसर—जंगम होना, पंचेन्द्रिय होना, उत्तमकुलोत्पत्ति तथा मनुष्य जन्म प्राप्ति है। **क्षेत्रतः श्रेष्ठ अवसर है**—साढे पच्चीस जनपद रूप आर्यदेश प्राप्त होना। **कालतः श्रेष्ठ अवसर है**—अवसर्पिणी काल का चतुर्थ आदि आरा तथा वर्तमान काल धर्म प्राप्ति के योग्य है। **भावतः श्रेष्ठ अवसर है**—सम्यक् श्रद्धान एवं चारित्रावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न सर्वविरति स्वीकार करने में उत्साह रूप भाव अनुकूलता।

सर्वज्ञोक्त (शास्त्रोक्त) कथन से ऐसा क्षण (अवसर) प्राप्त होने पर भी जो जीव धर्माचरण या मोक्षमार्ग की साधना नहीं करेगा उसे फिर बोधि प्राप्त करना सुलभ नहीं होगा, यही इस गाथा का आशय है।[३९]

इस प्रेरणा सूत्र के द्वारा साधक को गम्भीर चेतावनी शास्त्रकार ने दे दी है—**'एवं सहिएऽहियासए'** इस प्रकार (पूर्वोक्त कथन को जानकर) ज्ञानादि सहित या स्वहितार्थी साधक को अपनी आत्मा में (भीतर) झांकना चाहिए। इस चेतावनी के रहस्य को खोलने के लिए वृत्तिकार एक गाथा प्रस्तुत करते हैं—

"लद्धेलियं बोहिं, अकरें तो अणागयं च पत्थेंतो ।
अन्ने दाइं बोहिं, लब्भिसि कयरेण मोल्लेणं ?"

---

[३९] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पृ. ७५ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ. ३९५ के आधार पर
(ग) तुलना—'खणं जाणाहि पंडिए'—आचारांग सूत्र १, अ. २ उ. २ सू. ६८ पृ० ४४

अर्थात्—जो पुरुष उपलब्ध वोधि को सार्थक नहीं करता और भविष्य काल में बोधि प्राप्त करने की अभिलाषा रखता है अर्थात् यह चाहता है कि मुझे भविष्य में बोधि मिले, वह दूसरों को वोधि देकर क्या मूल्य चुकाकर पुनः वोधि लाभ करेगा ?

तात्पर्य यह है कि आत्महितार्थी साधक को दीर्घदृष्टि से सोचना चाहिए कि अगर एक वार वोधिलाभ का अवसर खो दिया तो अर्धपुद्गल-परावर्तन काल तक फिर बोधि (सम्यक्त्व) प्राप्त करना दुर्लभ होगा। अतः साधक सदैव वोधि दुर्लभता का ध्यान रखे। वह अपने अंतरतम में झांककर सदैव पता लगाता रहे कि वोधि-लाभ को सार्थक करने का कोई भी क्षण खोया तो नहीं है।

वोधिदुर्लभता का यह उपदेश केवल शास्त्रकार ही नहीं कर रहे हैं; अष्टापद पर्वत पर प्रथम तीर्थंकर ने अपने पुत्रों को यह उपदेश दिया था, शेष तीर्थंकरों ने भी यही वात कही है।

पाठान्तर—'अहियासए' के वदले 'अधियासए' पाठान्तर भी है, जिसका अर्थ होता है—परिषहोपसर्गों को समभाव से सहन करे।[४०]

भिक्षुओं के मोक्षसाधक गुणों में ऐकमत्य

१६२. अभविंसु पुरा वि भिक्खवो, आएसा वि भविंसु सुव्वता।
एताइं गुणाइं आहु ते, कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥२०॥

१६३. तिविहेण वि पाणि मा हणे, आयहिते अणियाण संवुडे।
एवं सिद्धा अणंतगा, संपति जे य अणागयाऽवरे ॥२१॥

१६२. भिक्षुओ ! पूर्वकाल में भी जो (सर्वज्ञ) हो चुके हैं और भविष्य में भी जो होंगे, उन सुव्रत पुरुषों ने इन्हीं गुणों को (मोक्ष साधन) कहा है। काश्यपगोत्रीय (भगवान् ऋषभदेव एवं भगवान् महावीर स्वामी) के धर्मानुगामी साधकों ने भी यही कहा है।

१६३. मन, वचन और काया इन तीनों से प्राणियों का प्राणातिपात (हिंसा) न करे तथा-हित (अपने कल्याण) में रत रहे, स्वर्गादि सुखों की वाञ्छा (निदान) से रहित, सुव्रत होकर रहे। इस प्रकार (रत्नत्रय की साधना से) अनन्त जीव (भूतकाल में) सिद्ध-मुक्त हुए हैं, (वर्तमानकाल में हो रहे हैं) और भविष्य में भी अनन्त जीव सिद्ध-बुद्ध मुक्त होंगे।

विवेचन—भिक्षुओं के मोक्षसाधक गुण : सभी तीर्थंकरों का एकमत—प्रस्तुत गाथाद्वय में पूर्वोक्त गाथाओं में निरूपित मोक्ष साधक गुणों के सम्बन्ध में सभी तीर्थंकरों की एक वाक्यता बतायी गयी है, तथा पंचमहाव्रत आदि चारित्र गुणों से युक्त साधकों की तीनों कालों में मुक्ति भी बतायी गयी है।[४१]

'अभविंसु पुरावि....एताइंगुणाइं आएसा।'—इस गाथा पंक्ति का आशय यह है कि पूर्व

---

[४०] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पृ. ७५

[४१] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पृ. ७५

गाथाओं में जिन मोक्ष साधक गुणों का निरूपण किया गया है, उस सम्बन्ध में अतीत, अनागत वर्तमान के सर्वज्ञ एक मत हैं, इतना ही नहीं काश्यप गोत्रीय भगवान् ऋषभदेव एवं भगवान् महावीर के धर्मानुगामी साधकों का भी यही मत है।

'सुव्वश्रा'—शब्द इस बात का सूचक है कि इन पुरुषों को जो सर्वज्ञता प्राप्त हुई थी, वह उत्तम व्रतों के पालन से ही हुई थी और होगी।

तिविहेण वि पाणि मा हणे—संवुडे—यद्यपि मोक्ष-साधन तीन हैं—सम्यग् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र, परन्तु यहां केवल सम्यक् चारित्र (महाव्रतादि) से मुक्त-सिद्ध होने का जो वर्णन किया है—वह इस अपेक्षा से है कि जहाँ सम्यक् चारित्र आयेगा, वहाँ सम्यक् ज्ञान अवश्यम्भावी है और ज्ञान सम्यक् तभी होता है, जब दर्शन सम्यक् हो। अतः सम्यक् चारित्र में सम्यक् ज्ञान और सम्यग्दर्शन का समावेश हो ही जाता है। अथवा पूर्व गाथाओं में सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा ही जा चुका है, इसीलिए शास्त्रकार ने पुनरुक्ति न करते हुए इतना सा संकेत कर दिया है— **'एताइं गुणाइं आहु ते'**। फिर भी शास्त्रकार उत्तराध्ययन सूत्र में उक्त **'अगुणिस्स नत्थि मोक्खो'**[२२] चारित्र गुण रहित को मोक्ष नहीं होता, इस सिद्धान्त की दृष्टि से यहाँ कुछ मूलभूत चारित्र गुणों का उल्लेख मात्र कर दिया है—**'तिविहेण वि पाणि मा हणे**—। यहाँ सर्वचारित्र के प्रथम गुण—अहिंसा महाव्रत पालन का निर्देश समझ लेना चाहिए। अन्य चारित्र से सम्बद्ध मुख्य तीन गुणों का भी यहाँ उल्लेख है—(१) आत्महित तत्पर, (२) निदान (स्वर्गादि-सुख भोग प्राप्ति की वाञ्छा रूप) से मुक्त, तथा (३) सुव्रत (तीन गुप्तियों से गुप्त, या पंचसंवर से युक्त।) निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान युक्त चारित्र गुणों से अतीत में अनन्त जीव सिद्ध मुक्त हुए हैं, भविष्य में भी होंगे और वर्तमान में भी। चूर्णिकार के **'संपतंसंखेज्जा सिज्झंति'** इस मतानुसार 'वर्तमान में संख्यात जीव सिद्ध होते हैं।

१६४. एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे।
अरहा णायपुत्ते भगवं वेसालीए वियाहिए ॥२२॥ त्ति

१६४. इस प्रकार उस (भगवान् ऋषभदेव स्वामी) ने कहा था, जिसे अनुत्तरज्ञानी, अनुत्तरदर्शी, अनुत्तर ज्ञान-दर्शन-धारक, इन्द्रादि देवों द्वारा पूजनीय (अर्हन्त) ज्ञातपुत्र तथा ऐश्वर्यादि गुण युक्त भगवान् वैशालिक महावीर स्वामी ने वैशाली नगरी में कहा था—'सो मैं (सुधर्मा स्वामी) तुमसे जम्बू स्वामी आदि शिष्य वर्ग से) कहता हूँ।'

विवेचन—प्रस्तुत गाथा वैतालीय या वैदारिक अध्ययन की अन्तिम गाथा है। इसमें इस अध्ययन का उपसंहार करते हुए श्री सुधर्मा स्वामी अपने शिष्य जम्बू स्वामी आदि से इस अध्ययन रचना का

---

४२. (क) देखिए उत्तराध्ययन (अ. २८।३०) में मोक्ष-विषयक सिद्धान्त—
'नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा ण हुँति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥'
(ख) (अ) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति सहित भाषानुवाद भा. १, पृ. २९८ पर से
(ब) सूयगडंग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ. २९

इतिहास बताते हुए कहते हैं—**'एवं से उदाहु—वेसालिए वियाहिए'**। इसका आशय यह है कि 'तीन उद्देशकों से युक्त इस वेतालीय अध्ययन में जो उपदेश है, वह आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने अपने ९८ पुत्रों को लक्ष्य करके अष्टापद पर्वत पर दिया था, उसे ही भगवान् महावीर स्वामी ने हमें (गणधरों को) विशाला नगरी में फरमाया था। उसी उपदेश को मैं तुमसे कहता हूँ।'

भगवान् महावीर के विशेषणों के अर्थ—प्रस्तुत गाथा में भगवान् महावीर के ७ विशेषण उनकी मोक्ष प्राप्ति की गुणवत्ता एवं योग्यता बताने के लिए प्रयुक्त किये गये हैं। उनके अर्थ क्रमशः इस प्रकार हैं—**अणुत्तर णाणी**—केवलज्ञानी, जिससे उत्तम (बढ़कर) और कोई ज्ञान कहीं ऐसे अनुत्तर ज्ञान से सम्पन्न। **अणुत्तरदंसी**—केवलदर्शन, जिससे बढ़कर कोई दर्शन न हो, ऐसे अनुत्तर दर्शन से सम्पन्न। **अणुत्तर णाणदंसण धरे**—केवल (अनुत्तर) ज्ञान-दर्शन के धारक। **अरहा**—इन्द्रादि देवों द्वारा पूज्य अर्हन्। **नायपुत्ते**—ज्ञातृकुल में उत्पन्न होने से ज्ञातपुत्र। **भगवं**—ऐश्वर्यादि छः गुणों से युक्त भगवान्। **वेसालिए**—इसके संस्कृत में दो रूप बनते हैं वैशालिकः और वैशाल्याम्। अतः 'वैसालिए' के तीन अर्थ निकलते हैं—(१) वैशाली में, अथवा विशाला नगरी में किया गया प्रवचन, (२) विशाल कुल में उत्पन्न होने से वैशालिक भगवान् ऋषभदेव, (३) अथवा वैशालिक भगवान् महावीर। पिछले अर्थ का समर्थन करने वाली एक गाथा वृत्तिकार ने दी—

"विशाला जननी यस्य, विशालं कुलमेव वा।
विशालं वचनं चास्य, तेन वैशालिको जिनः॥"[४३]

अर्थात् (भगवान् महावीर) की माता विशाला थी, उनका कुल भी विशाल था, तथा उनका प्रवचन भी विशाल था, इसलिए जिनेन्द्र (भगवान् महावीर) को वैशालिक कहा गया है। इसलिए **'वैसालिए वियाहिए'** का अर्थ हुआ—(१) वैशाली नगरी में (यह उपदेश) कहा गया था, अथवा (२) वैशालिक भगवान् महावीर ने (इसका) व्याख्यान किया था।

अधिक गाथा—एक प्रति में चूर्णिकार एवं वृत्तिकार के द्वारा व्याख्या न की हुई एक गाथा इस अध्ययन के अन्त में मिलती है—

'इति कम्मवियालमुत्तमं जिणवरेण सुदेसियं सया।
जे आचरंति आहियं खवितरया वइहिंति ते सिवं गतिं।'[४४] **—त्ति बेमि**

अर्थ—इस प्रकार उत्तम कर्मविदार नामक अध्ययन का उपदेश श्री जिनवर ने स्वयं फरमाया है, इसमें कथित उपदेश के अनुसार जो आचरण करते हैं, वे अपने कर्मरज का क्षय करके मोक्षगति प्राप्त कर लेते हैं। —ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

॥ वैतालीय : द्वितीय अध्ययन सम्पूर्ण ॥

---

[४३] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ७६ के आधार पर

[४४] सूयगडंग सुत्तं मूल (जम्बूविजयजी-सम्पादित) पृ० ३०

उपसर्ग-परिज्ञा : तृतीय

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांगसूत्र के तृतीय अध्ययन का नाम है—'उपसर्गपरिज्ञा'।

☐ प्रतिबुद्ध (सम्यक् उत्थान से उत्थित) साधक जब मोक्ष प्राप्ति हेतु रत्नत्रय की साधना करने जाता है, तब से लेकर साधना के अन्त तक उसके समक्ष कई अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग आते हैं। कच्चा साधक उस समय असावधान हो तो उनसे परास्त हो जाता है, उसकी की हुई साधना दूषित हो जाती है। अतः साधक उन उपसर्गों को भलीभाँति जानें और उनसे पराजित न होकर समभाव पूर्वक अपने धर्म पर डटा रहे तभी वह वीतराग, प्रशान्तात्मा एवं स्थितप्रज्ञ बनता है। यही इस अध्ययन का उद्देश्य है।[1]

☐ उपसर्गों की परिज्ञा दो प्रकार से की जाती है—(१) ज्ञपरिज्ञा से उन्हें जाने और (२) प्रत्याख्यान परिज्ञा से उनके समक्ष डटा रहकर प्रतीकार करे। यही तथ्य उपसर्ग परिज्ञा अध्ययन में प्रतिपादित है।

☐ 'उपसर्ग' जैन धर्म का एक पारिभाषिक शब्द है। निर्युक्तिकार ने उपसर्ग का निर्वचन इस प्रकार किया है—'जो किसी देव, मनुष्य या तिर्यञ्च आदि दूसरे पदार्थों से (साधक के समीप) आता है तथा जो साधक के देह और संयम को पीड़ित करता है वह 'उपसर्ग' कहलाता है।'[2] उपताप, शरीर-पीड़ोत्पादन इत्यादि उपसर्ग के पर्यायवाची शब्द हैं। प्रचलित भाषा में कहें तो, साधना-काल में आने वाले इन विघ्नों, बाधाओं, उपद्रवों और आपत्तियों को उपसर्ग कहा जाता है।

☐ निर्युक्तिकार ने **'उपसर्ग'** को विभिन्न दृष्टियों से समझाने के लिए ६ निक्षेप किये हैं—(१) नाम-उपसर्ग, (२) स्थापना-उपसर्ग, (३) द्रव्य-उपसर्ग, (४) क्षेत्र-उपसर्ग, (५) काल-उपसर्ग और (६) भाव-उपसर्ग।

☐ किसी का गुण शून्य उपसर्ग नाम रख देना **'नाम-उपसर्ग'** है, उपसर्ग सहने वाले या उपसर्ग सहते समय की अवस्था को चित्रित करना, या उसका कोई प्रतीक रखना **'स्थापना-उपसर्ग'** है, उपसग

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ७७

[2] (क) "आगंतुगो य पीलागरो य जो सो उवसग्गो।" —सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ४५
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ७७
(ग) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा० १, पृ० १४२

कर्ता या उपसर्ग करने का साधन **द्रव्य उपसर्ग** है। यह दो प्रकार का है—चेतन द्रव्यकृत, अचेतन द्रव्यकृत। तिर्यञ्च, मनुष्य आदि अचेतन प्राणी अंगों का घात करके जो उपसर्ग (देह पीड़ा) उत्पन्न करते हैं, वह **सचित्त द्रव्यकृत** है और काष्ठ आदि अचित्त द्रव्यों द्वारा किया गया आघात **अचित्त द्रव्यकृत** उपसर्ग है।

☐ जिस क्षेत्र में क्रूर जीव, चोर आदि द्वारा शरीर पीड़ा, संयम-विराधना आदि होती है, अथवा कोई वस्तु किसी क्षेत्र में दुःख उत्पन्न करती है, उसे **क्षेत्रोपसर्ग** कहते हैं। जिस काल में एकान्त दुःख ही होता है, वह दुःषम आदि काल, अथवा—ग्रीष्म, शीत आदि ऋतुओं का अपने-अपने समय में दुःख उत्पन्न करना **कालोपसर्ग** है। ज्ञानावरणीय, असातावेदनीय आदि कर्मों का उदय होना भावोपसर्ग है।

☐ नाम और स्थापना को जोड़कर पूर्वोक्त सभी उपसर्ग **औधिक** और **औपक्रमिक** के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

☐ अशुभकर्म प्रकृति से उत्पन्न उपसर्ग औधिक उपसर्ग है, और डंडा, चाबुक, शस्त्र, मुट्ठी आदि के द्वारा जो दुःख उत्पन्न होता है, वह औपक्रमिक उपसर्ग है।

☐ यहाँ 'उपक्रम' का अर्थ है—जो कर्म उदय-प्राप्त नहीं है, उसका उदय होना। अतः औपक्रमिक उपसर्ग का अर्थ हुआ—जिस द्रव्य का उपयोग करने से, या जिस द्रव्य के निमित्त से असातावेदनीय आदि अशुभकर्मों का उदय होता है, और जब अशुभकर्मोदय होता है, तब अल्प पराक्रमी साधक के संयम में विघ्न, दोष या विघात आ जाता है, उस द्रव्य द्वारा उत्पन्न उपसर्ग को 'औपक्रमिक उपसर्ग' कहते हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रवृत्त मुनियों का संयम (रत्नत्रय साधक) ही मोक्ष का अंग है। अतः उस संयम में विघ्नकारक औपक्रमिक उपसर्ग का ही इस अध्ययन में वर्णन है, औधिक उपसर्ग का नहीं।

☐ औपक्रमिक उपसर्ग द्रव्य रूप से चार प्रकार का होता है—दैविक, मानुष्य, तिर्यञ्चकृत और आत्म-संवेदन रूप।

☐ इनमें से प्रत्येक के चार-चार प्रकार होते हैं। दैविक (देवकृत) उपसर्ग हास्य से, द्वेष से, परीक्षा करने के लिए तथा अन्य अनेक कारणों से होता है। मनुष्कृत उपसर्ग भी हास्य से, द्वेष से, परीक्षा करने के लिए एवं कुशील सेवन निमित्त से होता है। तिर्यञ्चकृत उपसर्ग भय से, द्वेष से, आहार के लिए तथा अपनी संतान आदि की रक्षा के लिए होता है। आत्म संवेदन रूप उपसर्ग भी चार प्रकार का होता है (१) अंगों के परस्पर रगड़ने से, (२) अँगुलि आदि अंगों के चिपक जाने या कट जाने से (३) रक्त संचार रुक जाने से एवं ऊपर से गिर जाने से। अथवा (४) वात, पित्त, कफ और इन तीनों के विकार से भी आत्म-संवेदनरूप उपसर्ग चार प्रकार का होता है। पूर्वोक्त देवकृत आदि चारों उपसर्ग अनुकूल और प्रतिकूल के भेद से ८ प्रकार के हैं। तथा पूर्वोक्त चारों के ४ भेदों को परस्पर मिलाने से कुल १६ भेद उपसर्गों के होते हैं।[३]

---

[३] (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ४५, ४६, ४७, ४८

(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ७७-७८

☐ प्रस्तुत अध्ययन के चार तथ्यों का सांगोपांग निरूपण किया गया है—
(१) कैसे-कैसे उपसर्ग किस-किस रूप में आते हैं ?
(२) उन उपसर्गों को सहने में क्या-क्या पीड़ा होती है ?
(३) उपसर्गों से सावधान न रहने या उनके सामने झुक जाने से कैसे संयम का विघात होता है?
(४) उपसर्गों के प्राप्त होने पर साधक को क्या करना चाहिए ।[५]

☐ प्रस्तुत अध्ययन के चार उद्देशक हैं—प्रथम उद्देशक में प्रतिकूल उपसर्गों का वर्णन है। द्वितीय उद्देशक में स्वजन आदिकृत अनुकूल उपसर्गों का निरूपण है। तृतीय उद्देशक में आत्मा में विषाद पैदा करने वाले अन्यतीर्थिकों के तीक्ष्णवचन रूप उपसर्गों का विवेचन है और चतुर्थ उद्देशक में अन्यतीर्थिकों के हेतु सदृश प्रतीत होने वाले हेत्वाभासों से वस्तुस्वरूप को विपरीत रूप में ग्रहण करने से चित्त को विभ्रान्त एवं मोहित करके जीवन को आचारभ्रष्ट करने वाले उपसर्गों का तथा उन उपसर्गों के समय स्वसिद्धान्त प्रसिद्ध मुक्ति संगत हेतुओं द्वारा यथार्थ बोध देकर संयम में स्थिर रहने का उपदेश है।

चारों उद्देशकों में क्रमशः १७, २२, २१ और २२ गाथाएँ हैं।

☐ इस अध्ययन की सूत्र गाथा संख्या १६५ से प्रारम्भ होकर गाथा २४६ पर समाप्त है।

☐☐

---

४. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ७८
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४०२

५. (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा ४९, ५०
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ७८
(ग) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग १, पृ० १४१, १४३, १४४

उवसग्गपरिण्णा—तइयं अज्झयणं

पढमो उद्देसओ : प्रथम उद्देशक

उपसर्ग-परिज्ञा : तृतीय अध्ययन

प्रतिकूल-उपसर्ग विजय

१६५. सूरं मन्नति अप्पाणं जाव जेतं न पस्सति ।
जुज्झंतं दढधम्माणं सिसुपाले व महारहं ॥१॥

१६६. पयाता सूरा रणसीसे संगामम्मि उवट्ठिते ।
माता पुत्तं ण याणाइ जेतेण परिविच्छए ॥२॥

१६७. एवं सेहे वि अप्पुट्ठे भिक्खाचरियाअकोविए ।
सूरं मन्नति अप्पाणं जाव लूहं न सेवई ॥३॥

१६५. जव तक विजेता पुरुष को नहीं देख लेता, (तब तक कायर) अपने आपको शूरवीर मानता है। युद्ध करते हुए दृढधर्मा (अपने प्रण पर दृढ) महारथी (श्रीकृष्ण) को देखकर जैसे शिशुपाल के छक्के छूट गए थे।

१६६. युद्ध छिड़ने पर युद्ध के अग्रभाग में (मोर्चे पर) पहुंचे हुए शूरवीर (वीराभिमानी पुरुष), (जिस युद्ध में) माता अपनी गोद से गिरते हुए बच्चे को नहीं जानती, (ऐसे कलेजा कंपा देने वाले भयंकर युद्ध में), जब विजेता पुरुष के द्वारा क्षत-विक्षत (घायल) कर दिये जाने पर दीन हो जाते हैं।

१६७. इसी प्रकार भिक्षाचर्या में अनिपुण तथा परीषहों और उपसर्गों का स्पर्श नहीं पाया हुआ नवदीक्षित साधु (शैक्ष) भी अपने आपको तभी तक शूरवीर मानता है, जब तक वह संयम का सेवन—आचरण नहीं करता।

विवेचन—उपसर्ग विजय—कितना सरल, कितना कठिन ?—प्रस्तुत तीन गाथाओं में शास्त्रकार साधक को दृष्टान्तों द्वारा उपसर्ग विजय की महत्ता समझाने का प्रयत्न कर रहे हैं कि (१) उपसर्ग पर विजय पाना कायर एवं शूराभिमानी पुरुष के लिए उतना आसान नहीं, जितना वह समझता है, (२) कदाचित युद्ध के मोर्चे पर कोई वीराभिमानी कायर पुरुष आगे बढ़ भी जाए, किन्तु भीषण युद्ध में विजेता द्वारा घायल कर दिये जाने पर वह दीन हो जाता है, (३) भिक्षाचरी आदि

साधुचर्या में अनिपुण एवं अभी तक उपसर्गों से अछूता नवदीक्षित साधु तभी तक अपने आपको उपसर्ग विजयी शूर मान सकता है, जब तक वह संयम का सेवन नहीं करता।

उपसर्ग देखते ही सूराभिमानी के छक्के छूट जाते हैं—साधु का वेष पहन लेने और महाव्रतों का एवं संयम का स्वीकार कर लेने मात्र से कोई उपसर्ग विजेता साधक नहीं हो जाता।

उपसर्गों पर विजय पाना युद्ध में विजय पाने से भी अधिक कठिन है। उपसर्गों से लड़ना भी एक प्रकार का धर्मयुद्ध है। इसीलिए शास्त्रकार यहाँ दृष्टान्त द्वारा यह सिद्ध करते हैं कि युद्ध में जब तक अपने सामने विजयशील प्रतियोद्धा को नहीं देखता, तभी वीराभिमानी होकर गर्जता है। जैसे माद्रीपुत्र शिशुपाल योद्धा के रूप में तभी तक अपनी प्रशंसा करता रहा, जब तक युद्ध में अपने समक्ष प्रण-दृढ़ महारथी प्रतियोद्धा श्रीकृष्ण को सामने जूझते हुए नहीं देखा। यह इस गाथा का आशय है।

शिशुपाल श्रीकृष्णजी की फूफी (बुआ) का लड़का था। एक बार माद्री (फूफी) ने पराक्रमी श्रीकृष्ण के चरणों में शिशुपाल को झुकाकर प्रार्थना की—'श्रीकृष्ण! यदि यह अपराध करे तो भी तू क्षमा कर देना। श्रीकृष्णजी ने भी सौ अपराध क्षमा करने का वचन दे दिया। शिशुपाल जब जवान हुआ तो यौवन मद से मत्त होकर श्रीकृष्ण को गालियां देने लगा। दण्ड देने में समर्थ होते हुए भी श्रीकृष्णजी ने प्रतिज्ञा बद्ध होने से उसे क्षमा कर दिया। जब शिशुपाल के सौ अपराध पूरे हो गए, तब श्रीकृष्णजी ने उसे बहुत समझाया, परन्तु वह नहीं माना।

एक बार किसी बात को लेकर शिशुपाल ने कृष्ण के साथ युद्ध छेड़ दिया। जब तक श्रीकृष्ण स्वयं युद्ध के मैदान में नहीं आए, तब तक शिशुपाल अपने और प्रतिपक्षी सैन्य के लोगों के सामने अपनी वीरता की डींग हांकता रहा, किन्तु ज्यों ही शस्त्रास्त्र का प्रहार करते हुए श्रीकृष्ण को प्रतियोद्धा के रूप में सामने उपस्थित देखा, त्यों ही उसका साहस समाप्त हो गया, घबराहट के मारे पसीना छूटने लगा, फिर भी अपनी दुर्बलता छिपाने के लिए वह श्रीकृष्ण पर प्रहार करने लगा। श्रीकृष्णजी ने उसके सौ अपराध पूरे हुए देख चक्र से उसका मस्तक काट डाला।

इसी दृष्टि से शास्त्रकार कहते हैं। **सूरंमन्नति····महारहं।** अपने को शूरवीर मानने वाला घायल होते ही दीन बन जाता है—कई शूराभिमानी अपनी प्रशंसा से उत्तेजित होकर युद्ध के मोर्चे पर तो उपस्थित हो जाते हैं, किन्तु जब दिल दहलाने वाला युद्ध होता है, तब वे घबराने लगते हैं। युद्ध की भीषणता तो इतनी होती है कि युद्ध की भयंकरता से घबराई हुई माता को अपनी गोद से गिरते हुए प्यारे पुत्र का भी ध्यान नहीं रहता। और जब विजेता प्रतिपक्षी सुभटों द्वारा चलाए गए शस्त्रास्त्र से वे क्षत-विक्षत कर दिये जाते हैं, तब तो वे दीन-हीन होकर गिर जाते हैं, उनका साहस टूट जाता है। यह भाव इस गाथा में व्यक्त किया गया है **'पयाता सूरा····परिविच्छए।'**

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति सहित भाषानुवाद भा. २ पृ. ५ से ९ तक का सार

२. (क) सूत्रकृतांक शीलांकवृत्ति पत्रांक ७८ के आधार पर

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ. ४०४

इसी प्रकार उपसर्गों को सहन करने में कायर, अथवा उपसर्गों से अछूता नवदीक्षित साधक, जो उपसर्ग के साथ जूझने से पहले अपने आपको शूरवीर मानता था, प्रबल उपसर्गों से पराजित हो जाता है। वह दीन वन जाता है, अतएव उपसर्ग पर डटे रहने, और उसके सामने हार न मानने के लिए संयम का सतत अभ्यास आवश्यक है। जव तक संयम का सतत आचरण नहीं होगा तब तक साधक के लिए उपसर्ग—विजय अत्यन्त कठिन है। लहं—अर्थात् रूक्ष—संयम। अष्टविध कर्म नहीं चिपकने (राग रहित होने) के कारण संयम को रूक्ष कहा गया है।[3]

दढधम्माणं—का अर्थ वृत्तिकार के अनुसार—"दृढ़: समर्थो धर्मो स्वभाव: संग्रामाभंगरूपो यस्य स तथा तम् दृढ़धर्माणम्" जिसका स्वभाव संग्राम में पलायित न होने का दृढ़ है; वही। चूर्णिकार के अनुसार—"दढधन्नाणं" पाठान्तर है, अर्थ है—जिसका धनुष्य दृढ़ है।[4]

शीतोष्ण परीषह-रूप उपसर्ग के समय मन्द साधक की दशा

१६८. जदा हेमंतमासम्मि सीतं फुसति सवातगं।
तत्थ मंदा विसीयंति रज्जहीणा व खत्तिया ॥ ४ ॥

१६९. पुट्ठे गिम्हाभितावेणं विमणे सुप्पिवासिए।
तत्थ मंदा विसीयंति मच्छा अप्पोदए जहा ॥ ५ ॥

१६८. हेमन्त (ऋतु) के मास (मौसम) में जव शीत (ठण्ड) (सभी अंगों को) स्पर्श करती है तव मन्द पराक्रमी (मनोदुर्बल साधक) राज्यविहीन क्षत्रिय की तरह विषाद का अनुभव करते हैं।

१६९. ग्रीष्म (ऋतु) के प्रचण्ड ताप (गर्मी) से स्पर्श पाया हुआ (साधक) उदास (अनमना-सा) और पिपासाकुल (हो जाता है।) उस (भयंकर उष्ण परीषह) का उपसर्ग प्राप्त होने पर मन्द (शिथिल या मूढ़) साधक इस प्रकार विषाद अनुभव करते हैं, जैसे थोड़े-से जल में मछली।

विवेचन—शीतोष्णपरिषह रूप उपसर्ग के समय मन्द साधक की मनोदशा—प्रस्तुत गाथाद्वय में हेमन्त ऋतु में शीत और ग्रीष्मऋतु में ताप-परीषह रूप उपसर्गों के समय मन्द साधक किस प्रकार विषाद का अनुभव करते हैं, इसे उपमा द्वारा समझाया गया है।

'जदा हेमन्तमासम्मि····रज्जहीणा व खत्तिया'—इसका आशय यह है कि जब कभी हेमन्त ऋतु के पौष-माघ महीनों में ठण्ठी-ठण्डी कलेजे को चीरने वाली बर्फीली हवाओं के साथ ठण्ड शरीर के सभी अंगों को स्पर्श करने लगती है, तब असह्यशीतस्पर्श से कई मन्द—अल्पपराक्रमी भारीकर्मी साधक इस प्रकार दुःखानुभव करते हैं, जिस प्रकार राज्यभ्रष्ट होने पर क्षत्रिय (शासक) विषाद का अनुभव करते हैं। तात्पर्य यह है—जैसे राज्यभ्रष्ट शासक मन में खेद-खिन्न होता है कि लड़ाई भी

---

[3] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ७९
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखवोधिनी व्याख्या ४०५

[4] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ७८-७९

लड़ी, इतने सैनिक भी मारे गये और राज्य भी हाथ से गया, वैसे ही उपसर्ग सहने में कायर साधक भी कड़ाके की ठण्ड का उपसर्ग आने पर यह सोचकर खिन्न होता है कि 'मैंने घरवार भी छोड़ा, सुख-सुविधाएँ भी छोड़ी, परिवार वालों को भी रुष्ट किया, फिर भी ऐसी असह्य सर्दी का सामना करना पड़ रहा है।'[५]

पुट्ठे गिम्हाभितावेणं……**मच्छा अप्पोदए जहा**—इस गाथा का आशय यह है कि ग्रीष्मऋतु—ज्येष्ठ और आषाढ़मास में जब भयंकर गर्मी पड़ती है, लू चलती है, सनसनाती हुई गर्म हवाएँ शरीर को स्पर्श करती हैं, कण्ठ प्यास से व्याकुल हो जाता है, उस समय अल्पपराक्रमी साधक उदास, खिन्न एवं अनमना-सा हो जाता है। ऐसी स्थिति में विवेकमूढ़ अल्पसत्व नव दीक्षित साधक एकदम तड़प उठते हैं। इसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—जैसे कि किसी जलाशय में पानी सूखने लगता है, तब अत्यन्त अल्पजल में मछलियाँ गर्मी से संतप्त होकर तड़प उठती हैं, वहाँ से हटने में असमर्थ होकर वे वहीं मरणशील हो जाती हैं।[६]

फलितार्थ—दोनों ही गाथाओं का यह उपदेश फलित होता है कि सर्दी का उपसर्ग हो या गर्मी का, साधक को अपना मनोबल, धैर्य और साहस नहीं खोना चाहिए। उपसर्गों पर विजय प्राप्त करने से कर्मनिर्जरा, आत्मबल, और सहनशक्ति में वृद्धि होगी यह सोचकर उपसर्ग-सहन के लिए कटिबद्ध रहना चाहिए। दोनों उपसर्गों में शीतोष्ण, पिपासा, अचेलक, अरति आदि परीषहों का समावेश हो जाता है।

कठिन शब्दों का अर्थ—**सवातगं**—हवा के साथ, किसी प्रति में इसके बदले पाठान्तर है—**सव्वंगं**—अर्थात् सभी अंगों को। **रज्जहीणा**—राज्य-विहीन, राज्य से भ्रष्ट, चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**रट्ठहीणा**—अर्थात् राष्ट्र से हीन, राष्ट्र से निष्कासित। **गिम्हाभितावेणं**—ग्रीष्मऋतु ज्येष्ठ आषाढ़मास के अभिताप-गर्मी से। **अप्पोदए**—थोड़े पानी में।[७]

याचना-आक्रोश परीषह उपसर्ग

१७०. सदा दत्तेसणा दुक्खं जायणा दुप्पणोल्लिया।
कम्मत्ता दुब्भगा चेव इच्चाहंसु पुढो जणा ।। ६ ।।
१७१. एते सद्दे अचायंता गामेसु नगरेसु वा।
तत्थ मंदा विसीयंति संगामंसि व भीरुणो ।। ७ ।।

१७०. साधुओं के लिए दूसरे (गृहस्थ) के द्वारा दी हुई वस्तु ही एषणीय (उत्पादादि दोष-रहित होने पर ग्राह्य या उपभोग्य) होती हैं। सदैव यह दुःख (बना रहता) है, (क्योंकि) याचना

---

[५] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ८० पर से
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४०७ पर से

[६] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ८० पर से
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४०८ पर से

[७] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ८०
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ३१

(भिक्षा मांगने) की पीड़ा दुस्त्याज्य (या दुःसह) होती है। प्राकृत जन (अज्ञ लोग) इस प्रकार कहते हैं कि ये (भिक्षु-साधु) पूर्वकृत पापकर्म का फल भोग रहे हैं, ये अभागे हैं।

१७१. गांवों में या नगरों में इन (पूर्वोक्त आक्रोशजनक) शब्दों को सहन न कर सकने वाले मन्द (अल्पसत्व साधक) आक्रोश परीषहरूप उपसर्ग के प्राप्त होने पर इस प्रकार विषाद पाते हैं, जैसे संग्राम में डरपोक लोग (विषाद पाते हैं)।

विवेचन—याचना—आक्रोश परीषहरूप उपसर्गों के समय कच्चे साधक की मनोदशा—प्रस्तुत सूत्रगाथाद्वय में दो उपसर्गों के समय अल्पपराक्रमी साधकों की मनोदशा का वर्णन किया गया है। वे दो उपसर्ग हैं—याचना परिषहरूप एवं आक्रोश परीषहरूप।

याचना--साधु के लिए कष्टदायिनी, क्यों और कैसे ?—प्रश्न होता है कि साधु तो भिक्षाजीवी होता है फिर उसे भिक्षा मांगने में कष्ट क्यों होता है ? इसके उत्तर में कहा गया है—**सया दत्तेसणा दुक्खं ···वुप्पणोल्लिया**—साधु भिक्षाजीवी है, इसीलिए तो प्रत्येक वस्तु याचना (माँग) करके गृहस्थ से (उसके द्वारा) दी जाने पर लेनी या उपभोग करनी होती है। ऐसी स्थिति में पहले तो साधु को भिक्षा के लिए घर-घर घूमना, गृहस्थ (चाहे परिचित हो या अपरिचित) के घर में प्रवेश करना, आवश्यक वस्तु भिक्षाचरी के ४२ दोषों में से किसी दोष से युक्त तो नहीं है, इस प्रकार की एषणा करना, सदैव दुःखदायक होता है। तत्पश्चात् दाता से आवश्यक वस्तु की याचना करना असह्य दुःखद होता है। क्षुधावेदना से पीड़ित किन्तु पूर्व (गृहस्थ) जीव में अभिमानी नवदीक्षित, परीषहोपसर्ग से अनभ्यस्त अल्पसत्व साधक किसी के द्वार पर निर्दोष आहारादि लेने जाता है, उस समय उसकी मनःस्थिति का वर्णन विद्वानों ने यों किया है—

खिज्जइ मुखलावण्णं वाया घोलेइ कंठमज्झंमि।
कहकहकहेइ हिययं देहित्ति परं भणंतस्स॥

गतिभ्रंशो मुखे दैन्यं गात्रस्वेदो विवर्णता।
मरणे यानि चिह्नानि तानि चिह्नानि याचके॥

अर्थात्—याचना करने से गौरव समाप्त हो जाता है, इसलिए चेहरे की कांति क्षीण हो जाती है, वाणी कंठ में ही घुटती रहती है, सहसा यह नहीं कहा जाता कि मुझे अमुक वस्तु दो, हृदय धक्-धक् करने लगता है।

माँगने के लिए जाने में उसके पैर लड़खड़ाने लगते हैं, उसके मुख पर दीनता छा जाती है, शरीर से पसीना छूटने लगता है, चेहरे का रंग उड़ जाता है। इस प्रकार मृत्यु के समय जो चिह्न दिखाई देते हैं, वे सब याचक में दृष्टिगोचर होते हैं। 'कवि रहीम' ने भी एक दोहे द्वारा याचक को मृतक-सा बताया है—

"रहिमन वे नर मर चुके, जो कहुं माँगन जाहि।
उनते पहले वे मुए, जिन मुख निकसत नाँहि॥"

इसका अर्थ यह नहीं है कि याचना परीषहरूप उपसर्ग प्रत्येक साधक के लिए ही दुःखदायी हो। जो महासत्त्व उपसर्ग सहिष्णु एवं अभ्यस्त संयमी साधक होते हैं, वे याचना के समय मन में

दीनता-हीनता, ग्लानि एवं मिथ्या गौरव भावना नहीं लातें, वे स्वाभिमान पूर्वक निर्दोष भिक्षा प्राप्त होने पर ही लेते हैं, गृहस्थदाता द्वारा इन्कार करने पर या, रसहीन रूक्ष, तुच्छ एवं अल्प आहारादि देने पर भी वह विषण्ण नहीं होते, यही इस गाथा के पूर्वार्द्ध का फलिताशय है।

आक्रोश-परीषह के रूप में उपसर्ग : किनके लिए सह्य-असह्य ?—इसी गाथा के उत्तरार्द्ध में बतलाया गया है कि आक्रोश-परीषहरूप उपसर्ग किस रूप में आता है—साधुओं को ग्राम या नगर में प्रवेश करते या भिक्षा विहार आदि करते देखकर कई अनाड़ी लोग उन पर तानाकशी करते हैं 'अरे ! देखो तो, इनके कपड़े कितने गंदे एवं मैले हैं। शरीर भी गंदा है, इनके शरीर और मुंह से वदवू आती हैं, इनके सिर मुंडे हुए हैं, ये वेचारे भूखे-प्यासे, अधनंगे एवं भिखमंगे साधु अपने पूर्वकृत अशुभकर्मों (के फल) से पीड़ित हैं, अथवा ये अपने पूर्वकृत पापकर्मों का फल भोग रहे हैं। अथवा ये लोग घर में खेती, पशुपालन आदि काम धंधा नहीं कर सकते थे, या उन कामों के बोझ से दुःखी एवं उद्विग्न (आर्त्त) थे, इनसे कामधाम होता नहीं था, निकम्मे और आलसी थे, घर में इन्हें कोई पूछता नहीं था सभी पदार्थों से तंग थे, इसलिए साधु वन गए हैं। ये लोग अभागे हैं, स्त्रीपुत्रादि सभी लोगों ने इन्हें निकाल (छोड़) दिया है, जहाँ जाते हैं वहाँ इनका दुर्भाग्य साथ-साथ रहता है।' इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—'कम्मत्ता दुब्भगा······जणा' अर्थात्—अज्ञानीजन इस प्रकार के आक्रोशमय (ताने भरे) शब्द उन्हें कहते हैं।

जो नाजुक, तुच्छ, उपसर्ग सहन में अनभ्यस्त अल्पसत्त्व (मंद) साधक होते हैं, वे अज्ञानीजनों के इन तानों तथा व्यंग्य वचनों को सुनकर एकदम क्षुब्ध हो जाते हैं। ऐसे आक्षेप, निन्दा, तिरस्कार एवं व्यंग्य से युक्त तथा कलेजे में तीर से चुभने वाले कटुवचनों को सुनते ही उनके मन में दो प्रकार की प्रतिक्रिया होती है—(१) आक्रोश—शब्दों को सुनकर उन्हें सहने में असमर्थ होने से मन ही मन कुढ़ते या खिन्न होते रहते हैं, या (२) वे क्रुद्ध होकर वाद-विवाद आदि पर उतर आते हैं। उस समय उन कायर एवं अपरिपक्व साधकों की मनःस्थिति इतनी दयनीय एवं भयाक्रान्त हो जाती है, जैसी कायर और भगौड़े सैनिकों की युद्ध क्षेत्र में पहुँचने पर या युद्ध में जब तलवारें चमकती हैं, शस्त्रास्त्र उछलने लगते हैं, तब होती है। यही बात शास्त्रकार कहते हैं—**एते सद्दे अचायंता······भीरुणो।**[८]

आक्रोश-उपसर्ग विषयक इस गाथा से यह आशय फलित होता है कि महाव्रती साधक उपसर्ग सहिष्णु बनकर ऐसे आक्रोशमय वचनों को समभाव से सहन करे।

कठिन शब्दों की व्याख्या—दुप्पणोल्लिया—दुस्त्याज्य या दुःसह। **कम्मत्ता दुब्भगा चेव**—वृत्तिकार के अनुसार कर्मों से अति-पीड़ित हैं, पूर्व-स्वकृत कर्मों का फल भोग रहे हैं, अथवा कृषि आदि कर्मों (अजीविका कार्यों) से आर्त्त—पीड़ित हैं, उन्हें करने में असमर्थ एवं उद्विग्न हैं, और दुर्भाग्य युक्त हैं।[९] चूर्णिकार ने 'कम्मंता दुब्भगा चेव' पाठान्तर मानकर अर्थ किया है—कृषि-पशु-

---

[८] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ८० के आधार पर

[९] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ८० में देखिए—

(अ) कर्मभिरार्ताः, पूर्वस्वकृतकर्मणः फलमनुभवन्ति, यदि वा कर्मभिः कृष्यादिभिः आर्त्ताः, तत्कर्तुमसमर्था उद्विग्नाः सन्तः।"

(ब) दुर्भगाः—सर्वेणैव पुत्रदारादिना परित्यक्ता निर्गतिकाः सन्तः प्रव्रज्यामभ्युपगताः।

पालनादि कर्मों का अन्त—विनाश हो जाने, छूट जाने से ये आप्त-अभिभूत (पीड़ित) हैं और दुर्भागी हैं। **पुढोजणा**—पृथक्जन—प्राकृत (सामान्य) लोग। **अचायंता**—सहन करने में अशक्त।[10]

वध-परीषह रूप उपसर्ग

१७२. अप्पेगे झुंझियं भिक्खुं सुणी दसति लूसए।
तत्थ मंदा विसीयंति तेजपुट्ठा व पाणिणो ॥८॥

१७२. (भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए) क्षुधार्त भिक्षु को यदि प्रकृति से क्रूर कुत्ता आदि प्राणी काटने लगता है, तो उस समय अल्पसत्व विवेक मूढ़ साधु इस प्रकार दुःखी (दीन) हो जाते हैं, जैसे अग्नि का स्पर्श होने पर प्राणी (वेदना से) आर्त्तध्यानयुक्त हो जाते हैं।

विवेचन—वधपरीषह के रूप में उपसर्ग आने पर—प्रस्तुत सूत्र में वधपरीषह के रूप उपसर्ग का वर्णन और उस मौके पर कायर साधक की मनोदशा का चित्रण किया है।

अप्पेगे झुंझियं····तेजपुट्ठा व पाणिणो—प्रस्तुत गाथा का आशय यह है कि एक तो बेचारा साधु भूख से व्याकुल होता है, उस पर भिक्षाटन करते समय कुत्ते आदि प्रकृति से क्रूर प्राणी उसकी विशित्र वेष-भूषा देखकर भोंकने, उस पर झपटने या काटने लगते हैं, दाँतों से उसके अंगों को नोंच डालते हैं, ऐसे समय में नवदीक्षित या साधु संस्था में नवप्रविष्ट परीषह एवं उपसर्ग से अपरिचित अल्पसत्व साधक घबरा जाते हैं। वे उसी तरह वेदना से कराहते हैं, तथा आर्त्तध्यान करते हैं, जैसे आग से जल जाने पर प्राणी आर्तनाद करते हुए अंग पकड़ या सिकोड़ कर बैठ जाते हैं। वे कदाचित् संयम से भ्रष्ट भी हो जाते हैं।[11]

कठिन शब्दों का अर्थ—अप्पेगे—'अपि' शब्द सम्भावना अर्थ में हैं। 'एगे' का अर्थ है—कई। आशय है—कई साधु ऐसे भी हो सकते हैं। **'खुधियं'**—इसके दो और पाठान्तर हैं—**खुज्झितं** और **झुंझियं**—तीनों का अर्थ है क्षुधित—भूखा, क्षुधार्त्त साधक। **सुणी दसति लूसए**—प्रकृति से क्रूर कुत्ता आदि प्राणी काटने लगता है। **तेजपुट्ठा**—तेज—अग्नि से स्पृष्ट—जला हुआ।[12]

---

[10] (क) कम्मंता—कृषी पशुपाल्यादिभिः कर्मान्तैः आप्ताः अभिभूता इत्यर्थः।—सूयगडंग चूर्णि पृ. ३१
(ख) पुढो जणा—पृथक् जनाः, प्राकृत पुरुषाः, अनार्यकल्पाः।

[11] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ८०-८१ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ. ४१२

[12] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ८०-८१
(ख) सूयगडंग मूल तथा टिप्पणयुक्त (जम्बूविजयजी सम्पादित) पृ. ३२

आक्रोश-परीषह के रूप में उपसर्ग

१७३. अप्पेगे पडिभासंति, पाडिपंथियमागता ।
पडियारगया एते, जे एते एवंजीविणो ॥९॥

१७४. अप्पेगे वइं जुंजंति, नगिणा पिंडोलगाऽहमा ।
मुंडा कंडूविणट्ठंगा, उज्जल्ला असमाहिया ॥१०॥

१७५. एवं विप्पडिवण्णेगे, अप्पणा तु अजाणगा ।
तमाओ ते तमं जंति, मंदा मोहेण पाउडा ॥११॥

१७३. कई (पुण्यहीन) साधुजनों के प्रति द्रोही (प्रतिकूलाचारी) लोग (उन्हें देखकर) इस प्रकार प्रतिकूल वोलते हैं—ये जो भिक्षु इस प्रकार (भिक्षावृत्ति से) जी रहे हैं, ये (अपने) पूर्वकृत पापकर्मों का (फल भोग कर) वदला चुका रहे हैं ।

१७४. कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि ये लोग नंगे हैं, परपिण्ड पर पलने वाले (टुकड़ैल) हैं, तथा अधम हैं, ये मुण्डित हैं, खुजली से इनके अंग गल गए हैं (या शरीर विकृत हो गए हैं), ये लोग सूखे पसीने से युक्त हैं तथा प्राणियों को असमाधि उत्पन्न करने वाले दुष्ट या वीभत्स है ।

१७५. इस प्रकार साधु और सन्मार्ग के द्रोही कई लोग स्वयं अज्ञानी; मोह से आवृत (घिरे हुए) और विवेकमूढ़ हैं । वे अज्ञानान्धकार से (निकल कर फिर) गहन अज्ञानान्धकार में जाते हैं ।

विवेचन—साधु-द्वेषीजनों द्वारा आक्रोश उपसर्ग—प्रस्तुत सूत्रगाथात्रय में साधु-विद्वेषी प्रतिकूलाचारी लोगों द्वारा किये जाने वाले आक्रोशपरीषह रूप उपसर्ग का वर्णन है । साथ ही अन्त में, इस प्रकार द्रोह मोह-युक्त मूढ़जनों को मिलने वाले दुष्कर्म के परिणाम का निरूपण है ।

कठिन शब्दों की व्याख्या—पडिभासंति—प्रतिकूल वोलते हैं, या चूर्णिकार सम्मत **'परिभासंति'** पाठान्तर के अनुसार—**'परि-समन्ताद् भाषन्ते परिभाषन्ते'** अर्थात् वे अत्यन्त वड़वड़ाते हैं । **पाडिपंथियमागता-प्रतिपथः—प्रतिकूलत्वं तेन चरन्ति—प्रातिपथिकाः—साधुविद्वेषिण तद्भावमागतः कथञ्चित् प्रतिपथे वा दृष्टा अनार्याः** । अर्थात्—प्रतिपथ से यानी प्रतिकूलरूप से जो चलते हैं वे प्रातिपथिक हैं, अर्थात् साधु-विद्वेषी हैं । साधुओं के प्रति द्वेषभाव (द्रोह) पर उतरे हुए, कथञ्चित् असत्-पथ पर देख गए अनार्य लोग ।

पडियारगया—वृत्तिकार के अनुसार—**प्रतीकारः—पूर्वाचरितस्य कर्मणोऽनुभवस्तं गताः-प्राप्ताः—स्वकृत-कर्मफल-भोगिनः**—प्रतीकार अर्थात् पूर्वाचरित कर्मफल के अनुभव—भोग को गत—प्राप्त । यानी स्वकृत पापकर्म का फल-भोग करते हैं । चूर्णिकार इसके वदले **'तद्दारवेदणिज्जे ते'** पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं—**'जेहिं चेव दारेहिं कतं तेहिं चेव वेदिज्जतित्ति तद्दारवेदणिज्जं, जधा अदत्तादाणा तेण ण लभंते ।'** अर्थात्—जिन द्वारों (रूपों) में कर्म किये हैं, उन्हीं द्वारों से इन्हें भोगना पड़ेगा, जैसे—इन्होंने पूर्वजन्म में अदत्त (विना दिया हुआ) आदान (ग्रहण) कर लिया था (चोरी की थी), अतः अव ये विना दिया ले नहीं सकते । **एवंजीविणो**—इस प्रकार जीने वाले—अर्थात् भिक्षा

के लिए ये दूसरों के घरों में घूमते हैं, इसलिए अन्तप्रान्तभोजी, दिया हुआ ही आहार लेते हैं, सिर का लोच करते हैं, समस्त भोगों से वंचित रहकर दुःखमय जीवन व्यतीत करने वाले हैं। **वइं जुंजंति**—वाणी का प्रयोग करते हैं—बोलते हैं। **नगिणा**—नग्न। चूर्णिकार समस्त पाठान्तर है—**'चरगा'** अर्थात्—ये लोग परिव्राजक हैं, घुमक्कड़ हैं। **पिंडोलगा**—दूसरों से पिंड की याचना करते हैं। **अहमा**—अधम हैं, मैले-गंदे या घिनौने हैं। **कंडूविणट्ठगा**—खुजाने से हुए घावों या रगड़ के निशानों से जिनके अंग विकृत हो गए—**उज्जल्ला**—**'उद्गतो जल्लः—शुष्कप्रस्वेदो येषां ते उज्जल्लाः'**—स्नान न करने से सूखे पसीने के कारण शरीर पर मैल जम गया है। चूर्णिकार ने इसके बदले **'उज्जाया'**—पाठान्तर मानकर अर्थ किया है—**'उज्जातो—मृगोनष्ट इत्यर्थः'** बेचारे ये नष्ट हो गए है—उजड़ गए हैं।

असमाहिता—**अशोभना बीभत्सा दुष्टा वा प्राणिनामसमाधिमुत्पादयन्तीति**—अर्थात् ये असमाहित हैं—भद्दे, वीभत्स, दुष्ट हैं या प्राणियों को असमाधि उत्पन्न करते हैं। **विप्पडिवन्ना**—**विप्रतिपन्नाः—साधुसन्मार्गद्वेषिणः।'** अर्थात्—साधुओं और सन्मार्ग के द्वेषी-द्रोही। **अप्पणा तु अजाणगा**—स्वयं अपने आप तो अज्ञ ही हैं, तु शब्द से यह अर्थ फलित होता है—अन्य विवेकीजनों के वचन को भी नहीं मानते। **मन्दा मोहेण पाउडा**—ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से तथा मोह—मिथ्यादर्शन से प्रावृत—आच्छादित हैं। चूर्णिकार ने इस वाक्य की एक और व्याख्या की है—**अधवा मतिमन्दा इत्थिगाउया मन्दविण्णाणा स्त्री मोहेन।** अर्थात् स्त्री के अनुचर बन जाने से मतिमन्द हैं, अथवा नारीमोह के कारण मन्द विज्ञानी हैं। **तमाओ ते तमं जंति**—अज्ञान रूप अन्धकार से पुनः गाढ़ान्धकार में जाता है, अथवा नीचे से नीची गति में जाता है।[१३] वस्तुतः विवेकहीन और साधु विद्वेषी होने से मोहमूढ़ होकर वे अन्धकाराच्छन्न रहते हैं।[१४]

दंश-मशक और तृणस्पर्श परीषह के रूप में उपसर्ग

१७६. पुट्ठो य दंस-मसएहिं, तणफासमचाइया।
न मे दिट्ठे परे लोए, जइ परं मरणं सिया ॥१२॥

१७६. डांस और मच्छरों के द्वारा स्पर्श किये (काटे) जाने पर तथा तृण-स्पर्श को न सह सकता हुआ (साधक) (यह भी सोच सकता है कि) मैंने परलोक को तो नहीं देखा, किन्तु इस कष्ट से मरण तो सम्भव ही है (साक्षात् ही दीखता है)।

---

१३. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ८१ का सार
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टि०)

१४. विवेकान्ध लोगों की वृत्ति के लिए एक विद्वान् ने कहा है—
एकं हि चक्षुरमलं सहजो विवेकः तद्वद्भिरेव सह संवसतिर्द्वितीयम्।
एतद् द्वयं भुवि न यस्य स तत्त्वतोऽन्धः तस्यापमार्ग चलने खलु कोऽपराधः ?
—एक पवित्र नेत्र तो सहज विवेक है, दूसरा है—विवेकी जनों के साथ निवास। संसार में ये दोनों आँखें जिसके नहीं हैं, वह वस्तुतः अन्धा है। अगर वह कुमार्ग पर चलता है, तो अपराध ही क्या है ?

विवेचन—दंश-मशक परीषह और तृणस्पर्श परीषह के रूप में उपसर्ग: कायर साधक का दुश्चिन्तन—प्रस्तुत सूत्र में दो परीषहों के रूप में उपसर्गों का निरूपण करते हुए कायर एवं मनोदुर्बल साधक का दुश्चिन्तन अभिव्यक्त किया है—**'पुट्ठोय''' तणफासमचाइया। न मे दिट्ठे'''परं मरणं सिया।'** इसका आशय यह है कि साधु प्राय: सभी प्रान्तों-प्रदेशों में विचरण करता है। कोंकण आदि देशों में साधु को बहुत डांस-मच्छरों से पाला पड़ता है। वे साधु के तन पर सहसा टूट पड़ते हैं, साथ ही घास की शय्या पर जब नवदीक्षित साधु सोता है तो उसका खुर्दरा स्पर्श चुभता है। इस प्रकार डांस-मच्छरों के उपद्रव तथा तृण स्पर्श के कारण उपसर्ग सहन में अनभ्यस्त नवदीक्षित साधु एकदम झुंझला उठता है। वह प्राय: ऐसा सोचता है कि आखिरकार मैं यह सब कष्ट क्यों सहन कर रहा हूँ? व्यर्थ ही कष्ट में अपने को क्यों डालूँ? कष्ट सहन तो तभी सार्थक हो, जबकि परलोक हो, न तो मैंने परलोक को देखा है और न ही परलोक से लौटकर कोई मुझे वहाँ की बातें बताने आया है। प्रत्यक्ष से जब परलोक नहीं देखा तो उसका अनुमान भी सम्भव नहीं। अत: मेरे इस वृथा कष्ट सहन का नतीजा सिर्फ कष्ट सहकर मर जाने के सिवाय और क्या हो सकता है?

इस प्रकार दुश्चिन्तन करके कच्चा और कायर साधक उपसर्ग-सहन या उपसर्ग-विजय का सुपथ छोड़कर सुकुमार एवं असंयमी बन जाता है।[१५] उत्तराध्ययन सूत्र में भी उपसर्ग विजयोद्यत साधु को इस प्रकार का दुश्चिन्तन करने का निषेध किया गया है।[१६]

केशलोच और ब्रह्मचर्य के रूप में उपसर्ग

१७७. संतत्ता केसलोएणं, बंभचेरपराजिया।
तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा पविट्ठा व केयणे ॥१३॥

१७७. केश-लुञ्चन से संतप्त (पीड़ित) और ब्रह्मचर्य पालन से पराजित (असमर्थ) मन्द (जड़-तुच्छ) प्रकृति के साधक (प्रव्रज्या लेकर) मुनिधर्म में इस प्रकार क्लेश पाते हैं, जैसे जाल में फंसी हुई मछलियाँ तड़फती हैं।

विवेच—केशलोच एवं ब्रह्मचर्य पालन रूप उपसर्ग—प्रस्तुत सूत्रगाथा (१७७) में केशलोच और ब्रह्मचर्य पालन रूप उपसर्गों के समय नवदीक्षित साधक की मनोदशा का चित्रण किया गया है। दोनों उपसर्गों पर विजय पाने की प्रेरणा इस गाथा का फलितार्थ है।

केशलोच: दीक्षा के पश्चात् सबसे कठोर परीक्षा रूप उपसर्ग—साधु-दीक्षा लेने के बाद

---

[१५] (क) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४१६ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ८१ के आधार पर

[१६] देखिये उपसर्ग या परीषह को सहने में कायरों के वाक्य—
(अ) 'को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो।' —उत्तरा० अ० ५/६
(ब) "नत्थि नूणं परे लोए, इड्ढी वा वि तवस्सिणो।
अदुवा वंचिओमित्ति, इइ भिक्खू न चिंतए ॥" —उत्तराध्ययन अ० २।४४

जब सर्वप्रथम केशों को जड़ से उखाड़ा जाता है, उस समय कई बार रक्त बह जाता है, कच्चा और कायर साधक घबरा जाता है, मन ही मन संतप्त होता रहता है। इसलिए कहा है—"संतत्ता केसलोएणं।"

ब्रह्मचर्य-पालन भी कम कठिन उपसर्ग नहीं—जो साधक कच्ची उम्र का होता है, उसे कामोन्माद का पूरा अनुभव नहीं होता। इसलिए कह देता है—कोई कठिन नहीं है मेरे लिए ब्रह्मचर्य पालन! परन्तु मनरूपी समुद्र में जब काम का ज्वार आता है, तब वह हार खा जाता है, मन में पूर्व-भुक्त भोगों या गृहस्थ लोगों के दृष्ट भोगों का स्मरण, और उससे मन में रह रह कर उठने वाली भोगेच्छा की प्रबल तरंगों को रोक पाना उसके लिए बड़ा कठिन होता है। वह उस समय घोर पीड़ा महसूस करता है, जैसे जाल में पड़ी हुई मछली उसमें से निकलने का मार्ग न पाकर वहीं छटपटाती रहती है, और मर जाती है, वैसे ही साधु संघ में प्रविष्ट साधु भी काम से पराजित होकर भोगों को पाने के लिए छटपटाते रहते हैं और अन्त में संयमी जीवन से भ्रष्ट हो जाते हैं। इसीलिए कहा है—**'बंभचेरपराइया'**। **मच्छा पविट्ठा केयणे** का अर्थ—केतन यानी मत्स्यबन्धन में प्रविष्ट—फंसी हुई मछलियाँ। 'विद्धा' पाठान्तर भी है। उसका अर्थ होता है—(कांटे) से बींधी हुई मछलियां जैसे बन्धन में पड़ी तड़फती हैं।[१७]

वध-बंध-परीषह के रूप में उपसर्ग

१७८. आतदंडसमायारा, मिच्छासंठियभावणा।
हरिसप्पदोसमावण्णा, केयि लूसंतिऽणारिया॥ १४॥

१७९. अप्पेगे पलियंतंसि, चारि चोरो त्ति सुव्वयं।
बंधंति भिक्खुयं बाला, कसायवयणेहि य॥ १५॥

१८०. तत्थ दंडेण संवीते, मुट्ठिणा अदु फलेण वा।
णातीणं सरती बाले, इत्थी वा कुद्धगामिणी॥ १६॥

१७८. जिससे आत्मा दण्डित होता है, ऐसे (कल्याण-भ्रष्ट) आचार वाले, जिनकी भावना (चित्तवृत्ति) मिथ्या बातों (आग्रहों) में जमी हुई है, और जो राग (—हर्ष) और प्रद्वेष से युक्त हैं, ऐसे कई अनार्य पुरुष साधु को पीड़ा देते हैं।

१७९. कई अज्ञानी लोग अनार्यदेश की सीमा पर विचरते हुए सुव्रती साधु को यह गुप्तचर है, यह चोर है, इस प्रकार (के सन्देह में पकड़ कर) (रस्सी आदि में) बांध देते हैं और कषाययुक्त (—कटु) वचन कहकर (उसे हैरान करते हैं।)

---

[१७] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ८२
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ३२

१८०. उस अनार्य देश की सीमा पर विचरण करने वाले साधु को डंडों से, मुक्कों से अथवा बिजोरा आदि फल से (या फलक—पटिये से, अथवा भाले आदि से) पीटा जाता है, तव वह नवदीक्षित अज्ञ साधक अपने वन्धु-बांधवों को उसी प्रकार स्मरण करता है, जिस प्रकार रुष्ट होकर घर से भागने वाली स्त्री स्वजनवर्ग को (स्मरण करती है।)

विवेचन—वध-बन्ध परीषह रूप उपसर्ग—प्रस्तुत सूत्रगाथात्रय में वध और वन्ध परीषह के रूप में उपसर्ग साधक को किस प्रकार पीड़ित करते हैं? उसका विशद निरूपण है।

पीड़ा देने वाले कौन ? कई सुव्रती साधु सहज भाव से अनार्य देश के पारिपार्श्विक सीमावर्ती प्रदेश में विचरण करते हैं, उस समय उन्हें कई अनार्य पीड़ा देते हैं। अनार्यों के लिए यहाँ तीन विशेषण प्रयुक्त किये गए हैं—(१) **आतदण्ड समायारा**, (२) **मिच्छासंठिय भावणा** और (३) **हरिसप्पदोस-मावण्णा** : अर्थात् जो अनार्य अपनी आत्मा को ही कर्मवन्ध से दण्डित करने वाले कल्याण भ्रष्ट आचारों से युक्त होते हैं, जिनकी बुद्धि मिथ्यात्व दोष से जकड़ी हुई है, तथा जो राग और द्वेष से कलुषित हैं।

किस प्रकार पीड़ित करते हैं ?—वे अनार्य लोग सीमाचारी सुविहित साधु को यह खुफिया है, या यह चोर है, इस प्रकार के सन्देह में पकड़ करके बांध देते हैं, कषायवश अपशब्द भी कहते हैं, फिर उसे डंडों, मुक्कों और लाठियों से पीटते भी हैं।

उस समय उपसर्ग से अनभ्यस्त साधक की मनोदशा—उस समय अनाड़ी लोगों द्वारा किये गए प्रहार से घबराकर संयम से भाग छूटने की मनोवृत्तिवाला कच्चा और अज्ञ नवदीक्षित साधक अपने माता-पिता या स्वजन वर्ग को याद करके उसी प्रकार पछताता रहता है, जिस प्रकार कोई स्त्री घर से रूठकर भाग जाती है, किन्तु कामी लोगों द्वारा पीछा करके वलात् पकड़ ली जाती है, उस समय वह अपने स्वजनों को याद करके पश्चात्ताप करती है।

शास्त्रकार ने ऐसे उपसर्गों के समय साधक को सावधान करने के लिए ऐसी सम्भवनाएँ व्यक्त की हैं।[१८]

कठिन शब्दों की व्याख्या—पलियंतंसि—अनार्य देश के पर्यन्त सीमाप्रदेश में विचरण करते हुए। **चारि**—चारिक, गुप्तचर, चूर्णिकार इसका अर्थ करते हैं—**चारिकोऽयं चारयतीति चारकः येषां परस्पर विरोधस्ते चारिक मित्येन संवदन्ते**। अर्थात्—यह चारिक है। जिन राज्यों का परस्पर विरोध होता है, वे उसे चारिक—विरोधी-गुप्तचार समझते हैं। **कसायवयणेहिं**—क्रोधादि कषाय युक्त वचनों से पीड़ित करते हैं। चूर्णिकार **'कसायवसणेहिं'**—पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं—काषायरंग के वस्त्रों से सज्जित करके कई कार्पटिक पाषण्डिक लोग उस साधु की भर्त्सना करते हैं, रोकते हैं या नचाते हैं। अथवा कषाय के वश होकर के पीड़ित करते हैं। **संवीते**—पीटे जाने पर या प्रहत—घायल किये जाने पर।[१९]

---

१८. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ८२ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ४१७ से ४१९ तक का सारांश

१९. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पृ० ८२
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ३३

उपसर्गों से आहत : कायर साधकों का पलायन

१८१. एते भो कसिणा फासा, फरुसा दुरहियासया ।
हत्थी वा सरसंवीता, कीवाऽवसा गता गिहं ।। १७ ।। त्ति बेमि ।।

१८१. हे शिष्यो ! ये (पूर्वोक्त) समस्त (उपसर्गों और परीषहों के) स्पर्श (अवश्य ही) दुःस्सह और कठोर हैं, किन्तु वाणों से आहत (घायल) हाथियों की तरह विवश (लाचार) होकर वे ही (संयम को छोड़कर) घर को चले जाते हैं, जो (कायर) हैं । --यह मैं कहता हूँ ।

विवेचन—उपसर्गों से आहत : असमर्थ साधकों का पलायन—इस गाथा में पूर्वगाथाओं में उक्त दुःसह एवं कठोर परीषहोपसर्गों के समय कायर पुरुष की पलायनवृत्ति का उल्लेख शिष्यों को सम्बोधित करते हुए किया गया है ।

पूर्वोक्त उपसर्गों के स्पर्श कैसे ?—इस उद्देशक में जितने भी परीषहों या उपसर्गों का निरूपण किया गया है, उन सब के स्पर्श—स्पर्शेन्द्रियजनित अनुभव—अत्यन्त कठोर हैं तथा दुःसह्य हैं ।

उन उपसर्गस्पर्शों का प्रभाव किन पर कितना ?—उपसर्ग या परीषह तो जैसे हैं, वैसे ही हैं, अन्तर तो उनकी अनुभूति में होता है । जो साधक कायर, कच्चे और गुरुकर्मी होते हैं, उन्हें ये स्पर्श अत्यन्त तीव्र, असह्य लगते हैं । फलतः जिस तरह रणक्षेत्र में वाणों के प्रहार से पीड़ित (घायल) हाथी मैदान छोड़कर भाग जाते हैं, उसी तरह वे अपरिपक्व साधक परीषहों और उपसर्गों की मार से पीड़ित एवं विवश होकर संयम को छोड़कर पुनः गृहवास में प्रवृत्त हो जाते हैं, लेकिन जो परिपक्व वीर साधक होते हैं, वे संयम में डटे रहते हैं ।[२०]

कठिन शब्दों की व्याख्या—सरसंवीता—वाणों के प्रहार से आकुल या पीड़ित । **कीवा**—असमर्थ, कायर साधक । **अवसा**—परवश या गुरु कर्माधीन (भारीकर्मा) चूर्णिकार **'कीवाऽवसा'** के वदले दो पाठान्तर प्रस्तुत करते हैं—**'कीवा वसगा'** और **'तिव्वसढगा'** । प्रथम पाठान्तर का अर्थ किया गया है—**"क्लीवा वशका नाम परीषहे वशकाः"**—अर्थात्—क्लीव (असमर्थ कायर) और वशक अर्थात्—परीषहों से विवश । द्वितीय पाठान्तर का अर्थ है—"तीव्रं शठाः तीव्रशठाः तीव्रैर्वा शठाः तीव्रशठाः, तीव्रैः परीषहैः प्रतिहताः ।" अर्थात् तीव्र शठता (धृष्टता) धारण किये हुए तीव्रशठ, अथवा तीव्र परीषह से शठ प्रतिहत-पीड़ित । वृत्तिकार ने भी **'तिव्वसढ़ा'** पाठान्तर का उल्लेख करके अर्थ किया है—तीव्रैरूपसर्गैरभिद्रुताः शठः शठानुष्ठानाः संयमं परित्यज्य गृहंगताः ।" अर्थात्—तीव्र उपसर्गों से पीड़ित शठ यानी शठता का कार्य करने वाले ।[२१]

।। प्रथम उद्देशक समाप्त ।।

---

[२०] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ८३ के आधार पर

[२१] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ८३
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ३३

बिइओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

अनुकूल उपसर्ग : सूक्ष्म संग रूप एवं दुस्तर

१८२. अहिमे सुहुमा संगा, भिक्खूणं जे दुरुत्तरा ।
जत्थ एगे विसीयंति, ण चयंति जवित्तए ॥१॥

१८२. इसके (प्रतिकूल उपसर्ग के वर्णन के) पश्चात् ये सूक्ष्म (स्थूल रूप से प्रतीत न होने वाले—अनुकूल) संग बन्धु-बान्धव आदि के साथ सम्बन्ध रूप उपसर्ग हैं, जो भिक्षुओं के लिए दुस्तर—दुरतिक्रमणीय होते हैं। उन सूक्ष्म आन्तरिक उपसर्गो के आने पर कई (कच्चे) साधक व्याकुल हो जाते हैं—वे संयमी जीवन-यापन करने में असमर्थ बन जाते हैं।

विवेचन—सूक्ष्म-अनुकूल उपसर्ग : दुस्तर एवं संयमच्युतिकर—प्रस्तुत सूत्रगाथा में अनुकूल उपसर्गों का वर्णन प्रारम्भ करते हुए शास्त्रकार उनका परिचय देते हैं। अनुकूल उपसर्गों की पहिचान दो प्रकार से होती है—(१) ये सूक्ष्म संग रूप होते हैं, (२) दुरुत्तर होते हैं। इनका प्रभाव विवेकमूढ़ साधक पर दो तरह से होता है—(१) वे घबरा जाते हैं, या (२) संयमी जीवन निभाने में असमर्थ हो जाते हैं।

ये उपसर्ग सूक्ष्म और दुरुत्तर क्यों ?—स्थूल दृष्टि से देखने वाला इन्हें सहसा उपसर्ग नहीं कहेगा, बल्कि यह कहेगा कि इन आने वाले उपसर्गों को तो आसानी से सहन किया जा सकता है। इनको सहने में काया को कोई जोर नहीं पड़ता। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**'अहिमे सुहुमा संगा भिक्खूणं जे दुरुत्तरा'**, आशय यह है कि अपने पूर्वाश्रम के माता-पिता, भाई-बहन, स्त्री-पुत्र आदि स्वजनों का मधुर एवं स्नेहस्निग्ध संसर्ग (सम्बन्ध) रूप उपसर्ग इतना सूक्ष्म होता है कि वह साधक के शरीर पर हमला नहीं करता, अपितु उसके मन पर घातक आक्रमण करता है, उसकी चित्तवृत्ति में उथल-पुथल मचा देता है। इसीलिए इस संगरूप उपसर्ग को सूक्ष्म यानी आन्तरिक बताया गया है। प्रतिकूल उपसर्ग तो प्रकट रूप से बाह्य शरीर को विकृत करते हैं, किन्तु ये (अनुकूल) उपसर्ग बाह्य शरीर को विकृत न करके साधक के अन्तर्हृदय को विकृत बना देते हैं।

इन सूक्ष्मसंगरूप उपसर्गों को दुस्तर (कठिनता से पार किये जा सकनेवाले) इसलिए बताया गया है कि प्राणों को संकट में डालने वाले प्रतिकूल उपसर्गों के आने पर तो साधक सावधान होकर मध्यस्थवृत्ति धारण कर सकते हैं, जबकि अनुकूल उपसर्ग आने पर मध्यस्थ वृत्ति का अवलम्बन लेना अतिकठिन होता है। इसीलिए सूक्ष्म या अनुकूल उपसर्ग को पार करना अत्यन्त दुष्कर बताया गया है।[1]

---

[1] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति सहित भाषानुवाद भा० २, पृ० २५ का सारांश
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ८ पर से
(ग) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४२३ के आधार पर

इन उपसर्गों का प्रभाव—गाथा के उत्तरार्द्ध में इन उपसर्गों का प्रभाव बताया गया है। इन अनुकूल उपसर्गों के आने पर कई महान् कहलाने वाले साधक भी धर्माराधना या संयम-साधना से विचलित एवं भ्रष्ट हो जाते हैं, सुकुमार एवं सुखसुविधा-परायण कच्चे साधक तो बहुत जल्दी अपने संयम से फिसल जाते हैं, सम्बन्धियों के मोह में पड़कर वे संयम पालन में शिथिल अथवा धीरे-धीरे सर्वथा भ्रष्ट हो जाते हैं। वे संयम पूर्वक अपनी जीवन यात्रा करने में असमर्थ हो जाते हैं। सदनुष्ठान के प्रति वे विषण्ण (उदासीन) हो जाते हैं, संयम पालन उन्हें दुःखदायी लगने लगता है। वे संयम को छोड़ बैठते हैं या छोड़ने को उद्यत हो जाते हैं।[2]

कठिन शब्दों की व्याख्या—**सुहुमा**—प्रायः चित्त विकृतिकारी होने से आन्तरिक हैं, तथा प्रतिकूल उपसर्गवत् प्रकटरूप से शरीर विकृतिकारी एवं स्थूल न होने से सूक्ष्म हैं। **संगा**—माता-पिता आदि का सम्बन्ध। **'जत्थ एगे विसीयंति'**—जिन उपसर्गों के आने पर अल्पपराक्रमी साधक विषण्ण हो जाते हैं, शिथिलाचार-परायण हो जाते हैं, संयम को छोड़ बैठते हैं। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**'जत्थ मंदा विसीदंति'** अर्थ प्रायः एक-सा ही है। **'ण चयंति जवित्तए' नैवात्मानं संयमानुष्ठानेन यापयितुं वर्तयितुं तस्मिन् वा व्यवस्थापयितुं शक्नुवन्ति समर्था भवन्ति।'** अर्थात्—अपने आपको संयमानुष्ठान के साथ जीवन-निर्वाह करने में, संयम में टिकाए रखने में समर्थ नहीं होते।[3]

स्वजनसंगरूप उपसर्ग : विविध रूपों में

१८३. अप्पेगे णायओ दिस्स, रोयंति परिवारिया।
पोस णे तात पुट्ठोऽसि, कस्स तात चयासि णे ॥ २ ॥

१८४. पिया ते थेरओ ताय ! ससा ते खुड्डिया इमा।
भायरो ते सगा तात ! सोयरा किं चयासि णे ॥ ३ ॥

१८५. मायरं पितरं पोस, एवं लोगो भविस्सइ।
एयं खु लोइयं ताय ! जे पोसे पिउ-मातरं ॥ ४ ॥

१८६. उत्तरा महुरुल्लावा, पुत्ता ते तात ! खुड्डगा।
भारिया ते णवा तात ! मा से अण्णं जणं गमे ॥ ५ ॥

१८७. एहि ताय घरं जामो, मा तं कम्म सहा वयं।
बीयं पि तात पासामो, जामु ताव सयं गिहं ॥ ६ ॥

---

[2] सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृं० ४२३ पर से

[3] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ८३
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मूल पाठ टिप्पण) पृ० ३३

१८८. गंतुं तात ! पुणाऽऽगच्छे ण तेणऽसमणो सिया ।
अकामगं परक्कम्मं, को ते वारेउमरहति ? ॥ ७ ॥

१८९. जं किंचि अणगं तात ! तं पि सव्वं समीकतं ।
हिरण्णं ववहारादी, तं पि दासामु ते वयं ॥ ८ ॥

१९०. इच्चेव णं सुसेहंति, कालुणिया समुट्ठिया ।
विबद्धो नातिसंगेहिं, ततोऽगारं पधावति ॥ ९ ॥

१९१. जहा रुक्खं वणे जायं, मालुया पडिबंधति ।
एवं णं पडिबंधंति, णातओ असमाहिणा ॥ १० ॥

१९२. विबद्धो णातिसंगेहिं, हत्थी वा वि नवग्गहे ।
पिट्ठतो परिसप्पंति, सूतीगो व्व अदूरगा ॥ ११ ॥

१९३. एते संगा मणुस्साणं, पाताला व अतारिमा ।
कीवा जत्थ य कीसंति, नातिसंगेहिं मुच्छिता ॥ १२ ॥

१९४. तं च भिक्खू परिण्णाय, सव्वे संगा महासवा ।
जीवितं नाभिकंखेज्जा, सोच्चा धम्ममणुत्तरं ॥ १३ ॥

१९५. अहिमे संति आवट्टा, कासवेण पवेदिता ।
बुद्धा जत्थावसप्पंति, सीयंति अबुहा जहिं ॥ १४ ॥

१८३. कई-कई ज्ञातिजन साधु को देखकर उसे घेर कर रोते हैं—विलाप करते हैं, (वे कहते हैं) "तात ! अब आप हमारा भरण-पोषण करें, हमने आपका पालन-पोषण किया है। हे तात ! (अब) हमें आप क्यों छोड़ते हैं ?

१८४. हे पुत्र (तात) ! तुम्हारे पिता अत्यन्त बूढ़े हैं, और यह तुम्हारी बहन (अभी) छोटी है। हे पुत्र ! ये तुम्हारे अपने सहोदर भाई हैं। (फिर) तुम हमें क्यों छोड़ रहे हो ?

१८५. हे पुत्र ! अपने माता-पिता का पालन-पोषण करो। ऐसा करने से ही लोक (लोक—इहलोक-परलोक) सुधरेगा—बनेगा। हे तात ! यही लौकिक आचार है कि जो पुत्र हैं, वे अपने माता-पिता का पालन करते हैं।

१८६. हे तात ! तुम्हारे उत्तरोत्तर (एक के बाद एक) जन्मे हुए पुत्र मधुरभाषी (तुतलाते हुए मीठी बोली में बोलते) हैं तथा वे अभी बहुत छोटे हैं। हे तात ! तुम्हारी पत्नी अभी नवयौवना है, वह (कहीं) दूसरे पुरुष के पास न चली जाए।

१८७. आओ, तात ! घर चलें। (अब से) तुम कोई काम मत करना, हम लोग तुम्हारे काम में सहायक होंगे। हे तात ! (अब) दूसरी बार (चलो) (तुम्हारा काम) हम देखेंगे। अतः चलो, हम लोग अपने घर चलें।

१८८. हे तात ! (अच्छा) एक बार घर जा कर फिर लौट आना। (इससे तुम) अश्रमण नहीं हो जाओगे। (घर के काम में) तुम इच्छारहित (अनिच्छुक) हो तो तुम्हें स्वेच्छानुसार कार्य करने से कौन रोक सकता है ?

१८९. हे तात ! जो कुछ ऋण था, वह भी सारा का सारा हमने बराबर (समभाग में) बाँटकर ठीक कर (उतार) दिया है। तुम्हारे व्यवहार आदि के लिए उपयोगी जो हिरण्य (सोना-चाँदी आदि) है, वह भी हम लोग तुम्हें देंगे।

१९०. करुणाजनक वचनों से (साधक को फुसलाने हेतु) भलीभाँति उद्यत (कटिबद्ध) बन्धु-बान्धव इसी प्रकार साधु को शिक्षा देते हैं (बरगलाते हैं।) (ऐसी स्थिति में) ज्ञातिजनों के संगों—सम्बन्धों से विशेष रूप से (स्नेह बन्धन में) बंधा (जकड़ा) हुआ साधक उस निमित्त (बहाने) से घर की ओर चल पड़ता है।

१९१. जैसे वन में उत्पन्न वृक्ष के लता (लिपट कर) बाँध लेती है, इसी तरह ज्ञातिजन (स्वजन) (साधक के चित्त में) असमाधि उत्पन्न (समाधिभंग) करके (उसे) बांध लेते हैं।

१९२. (माता-पिता आदि) स्वजनवर्ग के स्नेह सम्बन्धों से बंधे हुए साधु के पीछे-पीछे (स्वजन वर्ग) चलते हैं और नये-नये पकड़े हुए हाथी के समान (उसके अनुकूल चलते हैं)। तथा जैसे नई व्याई हुई गाय अपने बछड़े के पास रहती है, वैसे पारिवारिक जन भी उसके पास ही रहते हैं।

१९३. ये (माता-पिता आदि स्वजनों के प्रति) संग (स्नेह सम्बन्ध रूप उपसर्ग) मनुष्यों के लिए समुद्र के समान अतल और दुस्तर हैं। इस प्रकार उपसर्ग के आने पर ज्ञातिजनों के संग (सम्बन्ध) में मूर्च्छित—आसक्त होकर अल्प पराक्रमी साधक क्लेश पाते हैं।

१९४. भिक्षु उस ज्ञातिजन सम्बन्धरूप उपसर्ग को भलीभाँति जान कर छोड़ देता है। क्योंकि सभी संग (आसक्तियुक्त सम्बन्ध) कर्म के महान् आस्रव द्वार हैं। अनुत्तर (वीतरागप्ररूपित) धर्म का श्रवण करके साधु असंयमी जीवन की आकांक्षा न करे।

१९५. इसके अनन्तर काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर ने विशेषरूप से बता दिया कि ये संग (ज्ञातिजनों के साथ स्नेहसम्बन्ध) आवर्त्त (भंवरजाल या चक्कर) हैं। जिस उपसर्ग के आने पर प्रबुद्ध (तत्त्वज्ञ) पुरुष इनसे शीघ्र ही अलग (दूर) हट जाते हैं, जबकि अदूरदर्शी विवेकमूढ़ इनमें फँसकर दुःख पाते हैं।

विवेचन—स्वजनसंगरूप उपसर्ग: कैसे-कैसे, किस-किस रूप में ?—इन (१८३ से १९५ तक १३ सूत्रगाथाओं में ज्ञातिजन-संग रूप अनुकूल उपसर्ग का विविध पहलुओं से वर्णन किया गया है। ज्ञातिजनों द्वारा आसक्तिमय वचनों से साधक को फुसलाने के सात मुख्य प्रकारों का यहाँ वर्णन है—(१) सम्बन्धी-

जन रो-रो कर अपने भरणपोषण के लिए, कहते हैं; (२)बूढ़े पिता, छोटी बहन, तथा सहोदर भाइयोंको छोड़ने का अनुरोध, (३) माता-पिता का भरण-पोषण करना लौकिक आचार है, इससे लोक सुधरता है, (४) छोटे-छोटे दुधमुँहे बच्चे और नवयौवना पत्नी को सँभालने का आग्रह, (५) तुम्हारे जिम्मे का सब काम हम कर लेंगे इस प्रकार कह कर घर चलने का आग्रह, (६) घर जाकर वापस लौट आना, वहाँ तुम्हें स्वेच्छा से काम करने से कोई नहीं रोकेगा (७) तुम्हारा सब कर्ज हमने बराबर बाँटकर चुका दिया है, तथा तुम्हें अब घरबार चलाने एवं व्यापार के लिए हम सोना आदि देंगे। इस प्रकार बहकाना।

इस प्रकार के अनुकूल उपसर्ग का ४ प्रकार का प्रभाव—(१) स्वजनों के करुणाजनक वार्तालाप से उनके स्नेह सम्बन्धों में बद्ध साधक घर की ओर चल पड़ता है, (२) बेल द्वारा वृक्ष को बाँधने की तरह स्वजन समाधि रहित साधक को बाँध लेते हैं, (३) नये पकड़े हुए हाथी की तरह वे उसके पीछे-पीछे चलते हैं, वे उसे अपने से दूर नहीं छोड़ते। (४) समुद्र की तरह गम्भीर एवं दुस्तर इन ज्ञाति-संगों में आसक्त होकर कायर साधक कष्ट पाते हैं।

इन उपसर्गों के समय साधक का कर्तव्य—(१) इस उपसर्गों को भली-भांति जान कर छोड़ दे, (२) सभी संग रूप उपसर्ग महास्रवरूप हैं, (३) अनुत्तर निर्ग्रन्थ धर्म का श्रवण-मनन करे, (४) असंयमी जीवन की आकांक्षा न करे, (५) भगवान् महावीर ने इन्हें भंवरजाल बताया है, (६) अज्ञानी साधक ही इनमें फँस कर दुःखी होते हैं, ज्ञानी जन इनसे दूर हट जाते हैं।[४]

स्वजन संगरूप उपसर्ग के मुख्य सात रूप—प्रथमरूप—साधुधर्म में दीक्षित होते या दीक्षित हुए देखकर स्वजनवर्ग जोर-जोर से रोने लगते हैं, आँसू बहाते हैं, स्वजनों की आँखों में आँसू देखकर कच्चे साधक का मन पिघल जाता है। जब वह उनके मोहगर्भित वचनों को सुनने के लिए तैयार होता है, तब वे कहते हैं—पुत्र! हमने बचपन से तुम्हारा पालन-पोषण इसलिए किया था कि बुढ़ापे में तुम हमारा भरण-पोषण करोगे, लेकिन तुम तो हमें अधबीच में ही छिटका कर जा रहे हो। अतः चलो, हमारा भरण-पोषण करो। तुम्हारे सिवाय हमारा पोषक-रक्षक कौन है? हमें असहाय छोड़कर क्यों जा रहे हो?

दूसरा रूप—पुत्र! देखो तो सही, तुम्हारे पिता बहुत बूढ़े हैं, इन्हें तुम्हारी सेवा की आवश्यकता है! यह तुम्हारी बहन अभी बहुत छोटी है; ये तुम्हारे सहोदर भाई हैं, इनकी ओर भी देखो। इन सबको छोड़कर क्यों जा रहे हो? घर चलो!

तीसरा रूप—बेटा! माँ-बाप का भरण पोषण करो, इसी से लोक-परलोक सुधरेगा। लौकिक आचारशास्त्र में यह स्पष्ट कहा गया है कि पुत्र अपनी जन्मदात्री माँ का तथा गुरुजनों का अवश्य ही पालन करते हैं, तभी वे माता-पिता के उपकारों से किंचित उऋण हो सकते हैं।

चौथा रूप—अभी तुम्हारे एक के बाद एक पैदा हुए सुन्दर सलौने मधुर भाषी दुधमुँहे बच्चे हैं। तुम्हारी पत्नी अभी नवयौवना है। तुम्हारे द्वारा परित्यक्त होने पर यह किसी दूसरे पुरुष के साथ

---

[४] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्तियुक्त भाषानुवाद भा० २ पृ० २५ से ३७ तक का सार

चली जायगी तो उन्मार्गगामिनी एवं स्वच्छन्दाचारिणी बन जायगी। यह बड़ा लोकापवाद होगा। इन सब बातों पर विचार करके अपने स्त्री-पुत्रों की ओर देखकर तुम घर चलो।

पाँचवाँ रूप—घर के कामधन्धों से कतरा कर तुमने घर छोड़ा है, परन्तु अब हमने निश्चय कर लिया है कि हम तुम्हें किसी काम के लिए नहीं कहेंगे। तुम्हारे काम में सहायता करेंगे, तुम्हारे जिम्मे के कामों को हम देखेंगे। अतः घर चलो, तुम कोई काम मत करना।

छठा रूप—प्रिय पुत्र! तुम एक बार घर चल कर अपनें स्वजन वर्ग से मिलकर, उन्हें देखकर फिर लौट आना। घर चलने मात्र से तुम कोई असाधु नहीं हो जाओगे। अगर तुम्हें घर में रहना नापसन्द हो तो पुनः यहां आ जाना। यदि तुम्हारी इच्छा घर का काम-काज करने की न हो तो तुम्हें अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने से कौन रोकता है? अथवा तुम्हारी इच्छा काम-भोगों से निवृत्त होकर बुढ़ापे में पुनः संयमानुष्ठान करने की हो तो कौन मना करता है? संयमाचरण योग्य अवसर आने पर तुम्हें कोई रोकेगा नहीं। अतः हमारा साग्रह अनुरोध मानकर एकबार घर चलो।

सातवाँ रूप—वेटा! तुम पर जो भारी कर्ज था, उसे हम लोगों ने परस्पर बराबर हिस्से में वाँट लिया है, एवं चुका दिया है। अथवा ऋण चुकाने के भय से तुमने घरबार छोड़ा था, उसे हम लोगों ने आसानी से चुकाने की व्यवस्था कर ली है। रहा व्यापार एवं घर खर्च का व्यवहार तो उसे चलाने के लिए हम तुम्हें सोना-चाँदी आदि द्रव्य देंगे। जिस निर्धनता से घबरा कर तुमने घर छोड़ा था, अव उस भय को मन से निकाल दो, और घर चलो। अब घर में रहने में तुम्हारे लिए कोई विघ्न-वाधा नहीं रही। स्वजनों द्वारा इन और ऐसे ही मोहोत्पादक विभिन्न आकर्षक तरीकों से कच्चे साधक को पुनः गृहस्थ-जीवन में खींच लिया जाता है। संयमी जीवन में इस प्रकार के प्रलोभन अनुकूल उपसर्ग हैं, कच्चा साधक स्वजनों के मोह सम्बन्ध में पड़कर संयम से फिसल जाता है।

ये समस्त सूत्रगाथाएँ साधु को इस प्रकार के अनुकूल उपसर्गों के समय सावधान रहने तथा संयम छोड़कर पुनः गृहवास में जाने का जरा भी विचार न करने की प्रेरणा देती हैं।[६]

कठिन शब्दों की व्याख्या—**दिस्स**—देखकर। **अप्पेगे**—(अपि सम्भावना अर्थ में होने से) सम्भव है,कई तथाकथित। **णायओ**—ज्ञातिजन। **परिवारिया**—घेरकर। **कस्स चयासि णे?**—किसलिए, किस कारण से हमें तू छोड़ रहा है। **'चयासि'** के बदले पाठान्तर है—जहासि। अर्थ समान है। **खुड्डिया** —छोटी वच्ची है। **सगा**—अपने, सगे। 'सवा' पाठान्तर भी है, जिसके संस्कृत में दो रूप होते हैं—स्वकाः, श्रवाः। स्वका का अर्थ अपने निजी है, और श्रवा का अर्थ होता है—तुम्हारे वचन या आज्ञा आदि को सुनने वाले। **कम्मंसहा**—कर्मों (कामों) में सहायक। चूर्णिकार के अनुसार **इदाणि वयं कम्मसमत्था-कम्मसहा कम्मसहायकत्व प्रतिभवतः**। अर्थात्—अब हम काम करने में समर्थ हैं, आपके कामों में सहायता करने में भी। **लोगो भविस्सइ**—तुम्हारा इहलोक—परलोक बनेगा—सुधरेगा। जे इसके बदले पाठान्तर है—**'जे पालंति पोसे पिउमातरं**—जो पुत्र पिता-माता का पालनपोषण करता है।

---

[६] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ८४ से ८६ तक का सार
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखवोधिनी व्याख्या पृ० ४२४ से ४३४ तक के आधार पर

य मातरं ।' अर्थ होता है—जो पुत्र होते हैं, वे माता और अन्य गुरुजनों का पालन करते हैं । **उत्तरा**—**'उत्तरोत्तरजाता'** यानी एक के वाद एक जन्मे हुए । कहीं-कहीं 'उत्तमा' पाठान्तर भी है; अर्थ होता है—सुन्दर श्रेष्ठ । **महुरुल्लावा—मधुरो—मनोज्ञ उल्लापः—आलापो तेषां ते तथाविधाः,**—जिनकी बोली मधुर—मनोज्ञ है, **गंतु**—घर जाकर अपने स्वजन-वर्ग को देखकर । **अकामगं—अनिच्छन्तं—गृहव्यापारेच्छारहितं**—घर के कामकाज करने की इच्छा से रहित (अनिच्छुक) । **परक्कमं**—स्वेच्छानुसार अवसर प्राप्त किसी काम को करने से । चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**परक्कमंतं**—अर्थ किया गया है—अपनी रुचि अनुसार पराक्रम करते हुए तुम को । **हत्थीवा वि नवग्गहे**—नये पकड़े हुए हाथी की तरह । **'सूतीगोव्व'**—प्रसूता गाय की तरह । **पाताला व अतारिया**—अतल समुद्र की तरह दुस्तर । **मालुया**—लता । **असमाहिणा**—असमाधि पैदा करने वाले रुदन-विलापादि कृत्यों से । चूर्णिकार **असमाधिता** पाठान्तर भी मानते हैं । अर्थ है—असमाधिपन । **कीवाजत्थ य कीसंति**—असमर्थ साधक इन अनुकूल उपसर्गों के आने पर क्लेश (जन्ममरणादिरूप संसार भ्रमण का दुःख) पाते हैं । चूर्णिकार के अनुसार पाठान्तर है—**कीवा जत्थावकीसंति**—अल्पसत्व साधक जिस उपसर्ग के आने पर मोक्षगुण से या धर्म से अपकृष्ट—दूर हो जाते हैं । एक और चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**कीवा जत्थ विसण्णे सी**—कीवा जत्थ विसण्णं एसंतीति विसण्णेसी······विसण्णा वा आसन्ति विसण्णासी । अर्थात्—जहाँ कायर साधक विषाद को प्राप्त करते हैं, अथवा विषण्ण होकर वैठ जाते हैं । **महासवा**—महान् कर्मो के आस्रवद्वार हैं । **अहिमे**—अथ का अर्थ है—इसके अनन्तर ये (पूर्वोक्त स्वजन संगरूप उपसर्ग) । **'अहो इमे'** इस प्रकार का पाठान्तर भी वृत्तिकार ने सूचित किया है । जिसका अर्थ होता है—आश्चर्य है, ये प्रत्यक्ष निकटवर्ती एवं सर्वजन विदित । **अवसप्पंति**—अप्रमत्तता—सावधानीपूर्वक उससे दूर हट जाते हैं ।[७]

भोग निमंत्रण रूप उपसर्ग : विविध रूपों में

१९६. रायाणो रायमच्चा य, माहणाऽदुव खत्तिया ।
निमंतयंति भोगेहिं, भिक्खुयं साहुजीविणं ।।१५।।

१९७. हत्थऽस्स-रह-जाणेहिं, विहारगमणेहि य ।
भुंज भोगे इमे सग्घे, महरिसी ! पूजयामु तं ।।१६।।

१९८. वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य ।
भुंजाहिमाइं भोगाइं, आउसो ! पूजयामु तं ।।१७।।

१९९. जो तुमे नियमो चिण्णो भिक्खुभावम्मि सुव्वता ।
अगारमावसंतस्स, सव्वो संविज्जए तहा ।।१८।।

२००. चिरं दूइज्जमाणस्स, दोसो दाणि कुतो तव ?
इच्चेव णं निमंतेंति नीवारेण व सूयरं ।।१९।।

---

७. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ८४ से ८६ तक
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ३४-३५

२०१. चोइता भिक्खुवज्जाए, अचयंता जवित्तए।
तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसि व दुब्बला ॥२०॥

२०२. अचयंता व लूहेण, उवहाणेण तज्जिता।
तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसि जरग्गवा ॥२१॥

२०३. एवं निमंतणं लद्धुं, मुच्छिया गिद्ध इत्थीसु।
अज्झोववण्णा कामेहिं, चोइज्जंता गिहं गया ॥२२॥ —त्ति बेमि।

१९६. राजा-महाराजा और राजमन्त्रीगण, ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय साध्वाचार (उत्तमाचार) जीवी भिक्षु को विविध भोग भोगने के लिए निमन्त्रित करते हैं।

१९७. हे महर्षे! ये हाथी, घोड़े, रथ और पालकी आदि सवारियों पर आप बैठिये और मनोविनोद या आमोद-प्रमोद के लिए वाग-वगीचों में सैर करिए। इन उत्तमोत्तम (श्लाघ्य) भोगों का (मनचाहा) उपभोग कीजिए। हम आपकी पूजा-प्रतिष्ठा (आदर-सत्कार) करते हैं।

१९८. हे आयुष्मन्! वस्त्र, सुगन्धित पदार्थ, आभूषण, ललनाएँ और शय्या तथा शयन-सामग्री, इन भोगों (—भोगसामग्री) का मनचाहा उपभोग करें। हम आपकी पूजा-प्रतिष्ठा करते हैं।

१९९. हे सुन्दर व्रतधारी (मुनिवर)! मुनिभाव में (रहते हुए) जिस नियम (महाव्रतादि यमनियम) का आपने आचरण (अनुष्ठान) किया है वह सब घर (गृहस्थ) में निवास करने पर भी उसी तरह (पूर्ववत्) वना रहेगा।

२००. (हे साधकवर!) चिरकाल से (संयमाचरणपूर्वक) विहरण करते हुए आपको अब भोगों का उपभोग करने पर भी) दोष कैसे (लग सकता है)? (इस प्रकार लोभ दिखाकर) जैसे चावलों के दानों (के प्रलोभन) से सूअर को फँसा लेते हैं, इसी प्रकार (विविध भोगों का) निमन्त्रण देकर (साधु को गृहवास में फँसा लेते हैं।)

२०१. संयमी साधुओं की चर्या (समाचारी-पालन) के लिए (आचार्य आदि के द्वारा) प्रेरित संयमी जीवन यापन करने में असमर्थ, मन्द (अल्पपराक्रमी) साधक उस उच्च संयम मार्ग पर प्रयाण करने में उसी तरह दुर्वल (मनोदुर्वल) होकर बैठ जाते हैं जिस तरह ऊँचे मार्ग के चढ़ाव में मरियल वैल दुर्वल होकर बैठ जाते हैं।

२०२. रुक्ष (संयम) के पालन में असमर्थ तथा तपस्या से पीड़ा पाने वाले मन्द (अल्पसत्व अदूरदर्शी) साधक उस उच्च संयम मार्ग पर चलने में उसी प्रकार कष्ट महसूस करते हैं, जिस प्रकार ऊँचे चढ़ाई वाले मार्ग पर चलने में बूढ़े वैल कष्ट-अनुभव करते हैं।

२०३. इस (पूर्वोक्त) प्रकार से भोग-भोगने के लिए निमन्त्रण पाकर विविध भोगों में मूर्च्छित (अत्यासक्त) स्त्रियों में गृद्ध—मोहित एवं काम-भोगों में रचे-पचे दत्तचित्त (—कई साधुवेषी) (उच्चाचारपरायण आचार्यादि द्वारा संयम पालनार्थ) प्रेरित किये जाने पर भी घर (गृहवास) को चले गये। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—भोग निमन्त्रण रूप उपसर्ग और उनसे पराजित साधक—प्रस्तुत आठ सूत्रगाथाओं (१९६ से २०३ तक) में साधु-जीवन में भोग निमन्त्रणरूप उपसर्ग कैसे-कैसे और किस रूप के अनुसार किनके निमित्त से आते हैं और मोहमूढ़ मनोदुर्बल साधक कैसे उन भोगों के जाल में फँस जाते हैं ? विस्तार पूर्वक यह वर्णन किया गया है ।

भोगों का निमन्त्रण देने वाले—सूत्रगाथा १९६ के अनुसार साधु को भोगों का निमन्त्रण देकर काम-भोगों एवं गृहवास के जाल में फँसाने वाले ४ कोटि के लोग होते हैं—(१) राजा महाराजादि, (२) राजमन्त्री वर्ग, (३) ब्राह्मण वर्ग एवं (४) क्षत्रिय वर्ग । भोगपरायण शासक वर्ग ही प्राय: भोग निमन्त्रणदाता प्रतीत होते हैं । वे अपने किसी लौकिक स्वार्थवश या स्वार्थपूर्ति हो जाने के बाद अथवा स्वयं के भोग में साधु बाधक न बने इस कारण साधुओं को भी अपने जैसा भोगासक्त बना देने का कुचक्र चलाते हैं । जैसे—ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने चित्त (चित्र) नामक साधु को विविध विषयों के उपभोग के लिए आमंत्रित किया था ।

भोग निमन्त्रण रूप उपसर्ग किस-किस रूप में ?—प्रथमरूप—पहले तो समुच्चय रूप से वे साधु को भोगों के लिए इस प्रकार आमंत्रित करते हैं—पधारिये, मुनिवर ! आप हमारे घर को पावन कीजिए । जितने दिन आपकी इच्छा हो, खुशी से रहिये, आपके लिये यहाँ सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ हैं । शास्त्रकार कहते हैं—**निमंतयंति भोगेहिं····साहुजीविणं ।**

दूसरा रूप—इस पर जब सुविहित साधु सहसा भोगों का आसेवन करने में संकोच करता है, तब वे अपने यहाँ लाकर उन्हें खुल्लमखुल्ला भोग प्रलोभन देते हैं—'देखिये, महात्मन् ! ये हाथी, घोड़े, रथ और पालकी आदि सवारियाँ आपके लिए प्रस्तुत हैं । आपको मेरे गुरु होकर पैदल नहीं चलना है । इनमें जो भी सवारी आपको अभीष्ट हो, उसका मनचाहा उपयोग करें । और जब कभी आपका मन उचट जाए और सैर करने की इच्छा हो तो ये बाग-बगीचे हैं, इनमें आप मनचाहा भ्रमण करें, ताजे फूलों की सुगन्ध लें, प्राकृतिक सौन्दर्य की बहार का आनन्द लूटें । अथवा यह भी कह सकते हैं—'इन्द्रियों और मन को रंजित करने वाले अन्य खेलकूद, नाचगान, रंग राग आदि विहारों का भी आनन्द लें ।' 'हम आपके परमभक्त हैं । आप जो भी आज्ञा देंगे, उसे हम सहर्ष शिरोधार्य करेंगे, आपकी पूजा-प्रतिष्ठा में कोई कमी न आने देंगे । शास्त्रकार कहते हैं—'**हत्थऽस्स····पूजयामु तं ।**'

तीसरा रूप—जब वे यह देखते हैं कि जब यह साधु इतनी भोग्य-सामग्री एवं सुख-सुविधाओं का उपभोग करने लग गया है, तब अन्तरंग मित्र बनकर संयम विघातक अन्यान्य भोगसामग्री के लिए आमन्त्रण देते हैं—'महाभाग ! आयुष्मन् ! आप हमारे पूज्य हैं, आपके चरणों में दुनिया की सर्वश्रेष्ठ भोगसामग्री अर्पित है । आप इन उत्तमभोग्य साधनों का उपभोग करेंगे तो हम अपना अहोभाग्य समझेंगे ये चीनांशुक आदि मुलायम रेशमी वस्त्र हैं, ये इत्र, तेल, फुलैल, सुगन्धित चूर्ण, पुटपाक, आदि सुगन्धित पदार्थ हैं, ये हैं कड़े, बाजूबन्द, हार, अंगूठी आदि आभूषण, ये नवयुवती गौरवर्णा मृगनयनी सुन्दरियाँ हैं, ये गद्दे, तकिये, पलंग, पलंगपोश, मखमली शय्या आदि शयनीय सामग्री है, यह सब इन्द्रियों और मन को प्रसन्न करने वाली उत्तमोत्तम भोग्य सामग्री हैं । आप इनका खुलकर जी चाहा उपयोग करके अपने जीवन को सार्थक करें । हम इन भोग्यपदार्थों से आपका सत्कार करते हैं ।'

इस प्रकार का खुला आमन्त्रण पाने पर भी साधु के मन में संकोच होता है कि मुझे इन पदार्थों का उपभोग करते देख नये वने हुए राजा आदि भक्तों के मन में कदाचित् अश्रद्धा-अप्रतिष्ठा का भाव पैदा हो, इस संकोच के निवारणार्थ साधु को आश्वस्त करते हुए वे कहते हैं—'हे पूज्य ! आप निश्चिन्त रहें । इन चीजों के उपभोग से आपकी पूजा-प्रतिष्ठा में कोई कमी नहीं आएगी । हम आपकी पूजा-प्रतिष्ठा करते हैं । राजा या समाज में प्रतिष्ठित व्यक्ति सत्कार सम्मान करता है तो जनता तो अवश्य ही करेगी, क्योंकि साधारण जनता तो श्रेष्ठ कहलाने वाले व्यक्तियों का अनुसरण करती है ।' इसी आशय से शास्त्रकार कहते हैं—**"वत्थगंध···आउसो पूजयामु तं ।"** साधु को पूजा-प्रतिष्ठा की ओर से आश्वस्त करने हेतु शास्त्रकार 'पूजयामु तं' वाक्य का दो गाथाओं में प्रयोग करते हैं ।

चौथा रूप—कई साधनाशील साधक इन संयम विघातक भोगों का खुला उपभोग करके भिक्षुभाव से गृहवास में जाने से यों कतराते हैं कि ऐसा करने से हमारे यम-नियम आदि सब भंग हो जाएँगे, आज तक की-कराई संयम साधना चौपट हो जायगी । अतः सुविहित एवं संकोचशील साधु को आश्वस्त करने एवं गृहवास में फँसाने की दृष्टि से वे कहते हैं—हे सुव्रतधारिन् महामुने ! आपने मुनिभाव में महाव्रत आदि यम-नियमों का पालन किया है, गृहवास में जाने पर वे उसी तरह वरकरार रहेंगे, उनका फल कभी समाप्त नहीं होगा, या गृहवास में भी वे पूर्ववत् पाले जा सकेंगे, उनका फल भी पूर्ववत् मिलता रहेगा, क्योंकि स्वकृत पुण्य-पाप के फल का कभी नाश नहीं होता । अतः नियमभंग के भय से सुखोपभोग करने में संकोच न कीजिए । इसी आशय से शास्त्रकार कहते हैं—**"जो तुमे नियमो चिण्णो···सव्वो संविज्जए तहा ।"**

पाँचवाँ रूप—इतना आश्वासन देने के वावजूद भी सुसंयमी साधु का मन सहसा यह सोचकर गृहवास में जाने को तैयार नहीं होता कि गृहस्थावास में जाने से मुझे पूर्व स्वीकृत यम-नियमों को भंग करने का महादोष लगेगा, अतः वे फिर दूसरा पासा फैंकते हैं—"साधकवर ! अपने बहुत वर्षों तक संयम में रमण कर लिया, यम-नियमों से युक्त होकर विहार कर लिया, अब आप अनायास प्राप्त उन भोगों को निर्लिप्त भाव से भोगेंगे तो आपको कोई भी दोष नहीं लगेगा । इसी आशय को शास्त्रकार व्यक्त करते हैं—**'चिरं दूइज्जमाणस्स·······कुतो तव ?'**

उपसर्ग के प्रभाव—ये और इस प्रकार के अन्य अनेक भोग निमन्त्रणरूप उपसर्ग के रूप हो सकते हैं । इस प्रकार के अनुकूल उपसर्ग हैं, जिन पर विजय करने में कच्चा साधक असमर्थ रहता है । एक वार भोग बुद्धि साधु के हृदय में उत्पन्न हुई कि फिर पतन का दौर शुरू हो जाता है, फिर वह उत्तरोत्तर फिसलता ही चला जाता है । जैसे लोग चावलों के दाने डालकर सूअर को फँसा लेते हैं, वैसे ही भोगवृत्ति-परायण लोग भोग सामग्री के टुकड़े डालकर साधु को भोगों के जाल में या गृहवास में फंसा लेते हैं । यह इस उपसर्ग का प्रथम प्रभाव है ।

दूसरा प्रभाव—यह होता है कि जो साधक पूर्वोक्त भोग निमन्त्रण के प्रलोभन में फंसकर एक वार संयम में शिथिल हो जाता है, भोगपरायण बन जाता है, वह साधुचर्या के लिए प्रेरित किये जाने पर भी उसे क्रियान्वित नहीं कर पाता । संयम का नाम उसे नहीं सुहाता ।

तीसरा प्रभाव—वह फिर संयम पालनपूर्वक जीवनयापन करने में असमर्थ हो जाता है । उसे रात-दिन भोग्य सामग्री पाने की धुन लगी रहती है ।

चौथा प्रभाव—मन्द पराक्रमी (शिथिलाचारी) साधक उच्च संयमाचरण में फिर इतने दुर्वल होकर वैठ जाते हैं, जैसे मरियल वैल ऊँचे चढ़ाई वाले मार्ग पर चलने में अशक्त होकर वैठ जाता है। आशय यह है फिर वह पंचमहाव्रत तथा साधुसमाचारी के भार को वहन करने में अशक्त, मनोदुर्वल होकर संयमभार को त्याग कर या संयम में शिथिल होकर नीची गर्दन करके वैठ जाता है।

पाँचवाँ प्रभाव—फिर वे कठोर एवं नीरस संयम का पालन करने में सर्वथा असमर्थ हो जाते हैं।

छठा प्रभाव—तपस्या का नाम सुनते ही उनको वेचैनी हो जाती है। तपस्या से उन्हें विच्छु के डंक-सी पीड़ा हो जाती है।

सातवाँ प्रभाव—वूढे वैल जैसे ऊँची-चढ़ाई वाले मार्ग में कष्ट पाते हैं, वैसे ही वे संयम से हारे-थके, अनुकूल उपसर्ग से पराजित विवेकमूढ़ साधक संयम साधना की ऊँचाइयों पर चढ़ने में पद-पद पर कष्टानुभव करते हैं।

आठवाँ प्रभाव—वे फिर नाना भोग सामग्री में लुब्ध-मूर्च्छित हो जाते हैं, कामिनियों के प्रणय में आवद्ध—आसक्त हो जाते हैं, और कामभोगों में अधिकाधिक ग्रस्त रहते हैं।

नौवाँ प्रभाव—ऐसे काम-भोगासक्त साधकों को फिर आचार्य आदि कितनी ही प्रेरणा दें, संयमी संयम जीवन में रहने की, किन्तु वे विलकुल नहीं सुनते और गृहस्थजीवन स्वीकार करके ही दम लेते हैं। वे संयम में नहीं टिकते।

पिछली साढ़े तीन गाथाओं (सू० गा० २०० के उत्तरार्द्ध से लेकर सू० गा० २०३ तक) द्वारा शास्त्रकार ने उपभोग निमन्त्रण रूप उपसर्ग के मन्दसत्व साधक पर नौ प्रभावों का उल्लेख किया है।[८]

पाठान्तर—**'भिक्खुभावम्मि सुव्वता'** के वदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'सव्वो सो चिट्ठती तधा'** अर्थ होता है (जो भी तुमने आज तक यम-नियमों का आचरण किया है) वह सव ज्यों का त्यों (वैसा ही) रहेगा।

कठिन शब्दों की व्याख्या—**नीवारेण**—वृत्तिकार के अनुसार—**'व्रीहिविशेषकणदानेन'**—विशेष प्रकार के चावलों के कण डालकर। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**णीयारेण**—अर्थ है—**णीयारे कुण्डगादि**—चावल आदि देकर। **उज्जाणं सि**—चूर्णिकार के अनुसार—**ऊर्ध्वं यानम् उद्यानम् तच्च नदी, तीर्थ-स्थलं गिरिपब्भारो वा'** ऊर्ध्वयान—चढ़ाई को उद्यान कहते हैं, वह हैं नदीतट, तीर्थस्थल पर्वतशिखर उस पर गमन करने में। वृत्तिकार के अनुसार—**ऊर्ध्व यानमुद्यानम् मार्गस्योन्नतो भाग; उट्टङ्कमित्यर्थः तस्मिन्नुद्यानशिरसि।** अर्थात्—मार्ग का उन्नत ऊँचा या उठा हुआ भाग उद्यान है। उस उद्यान के लिए-चोटी पर दूसरी वार उज्जाणंसि के वदले (२०२ सू० गाथा में) **पंकंसि** पाठान्तर चूर्णिसम्मत प्रतीत होता है, क्योंकि इस वाक्य की व्याख्या चूर्णिकार ने की है—**पंके जीर्णगौः जरद्गववत्!** अर्थात् कीचड़ में फँसे हुए वूढ़े वैल की तरह।[९]

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

---

[८] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पृ० ८६ से ८८ के आधार पर

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखवोधिनी व्याख्या पृ० ४३५ से ४४३ तक के आधार पर

[९] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ८६ से ८८ तक

(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ३६-३७

तइओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

आत्म-संवेदनरूप उपसर्ग : अध्यात्म विषाद के रूप में

२०४. जहा संगामकालम्मि, पिट्ठतो भीरु पेहृति।
वलयं गहणं नूमं, को जाणेइ पराजयं ? ॥ १ ॥

२०५. मुहुत्ताणं मुहुत्तस्स, मुहुत्तो होति तारिसो।
पराजियाऽवसप्पामो, इति भीरु उवेहृति ॥ २ ॥

२०६. एवं तु समणा एगे, अबलं नच्चाण अप्पगं।
अणागतं भयं दिस्स, अवकप्पंतिमं सुयं ॥ ३ ॥

२०७. को जाणति विओवातं, इत्थीओ उदगाओ वा।
चोइज्जंता पवक्खामो, न णे अत्थि पकप्पितं ॥ ४ ॥

२०८. इच्चेवं पडिलेहंति, वलाइ पडिलेहिणो।
वितिगिञ्छ समावण्णा, पंथाणं व अकोविया ॥ ५ ॥

२०४. जैसे युद्ध के समय कायर पुरुष पीछे की ओर गड्ढा, (वृक्षों और बेलों से) आच्छादित गहन तथा प्रच्छन्न स्थान (पर्वत की गुफा आदि) देखता है। (वह सोचता है—) कौन जाने (कि युद्ध में) किसकी हार होगी ?

२०५. वहुत से मुहूर्तों में से, अथवा एक ही मुहूर्त में कोई ऐसा अवसर विशेष (मुहूर्त) होता है, (जिसमें जय या पराजय सम्भव है।) (अतः शत्रु के द्वारा) पराजित होकर जहाँ भाग (कर छिप) जाएँ ऐसे स्थान के सम्वन्ध में कायर पुरुष (पहले से) सोचता (ढूँढता) है।

२०६. इसी प्रकार कई श्रमण अपने आपको जीवन-पर्यन्त संयम-पालन करने में दुर्वल (असमर्थ) जानकर तथा भविष्यकालीन भय (खतरा) देखकर यह (व्याकरण, ज्योतिष; वैद्यक आदि) शास्त्र (मेरे जीवननिर्वाह का साधन वनेगा,) ऐसी कल्पना कर लेते हैं।

२०७. कौन जानता है—मेरा पतन (संयम से पतन) स्त्री-सेवन से या (स्नानादि के लिए) सचित्त जल के उपयोग से हो जाए ? (या और किसी उपसर्ग से पराजित होने से हो जाए ?) (ऐसी स्थिति में) मेरे पास पूर्वोपार्जित द्रव्य भी नहीं है। अतः किसी के द्वारा पूछे जाने पर हम हस्तिशिक्षा, धनुर्वेद आदि विद्याएँ) बता देंगे।

२०८. (मैं इस संयम का पालन कर सकूंगा या नहीं ?) इस प्रकार के संशय (विचिकित्सा) से घिरे हुए (आकुल), (मोक्षपथ के विषय में) अनिपुण (अनभिज्ञ) अल्प पराक्रमी कच्चे साधक भी (युद्ध के समय) गड्ढा (या छिपने का स्थान) आदि ढूंढ़ने वाले कायर पुरुषों के समान (संयम-विघातक रास्ते) ढूंढते हैं।

विवेचन—आत्मसंवेदनरूप उपसर्ग : प्रस्तुत पांच सूत्रगाथाओं (२०४ से २०८ तक) में संयम-पालन में अल्पसत्व कायर साधक के मन में होने वाले भय, कुशंका और अस्वस्थ चिन्तन का निरूपण कायर योद्धा के साथ तुलना करते हुए किया गया है।

युद्ध के समय कायर पुरुष के चिन्तन के विविध पहलू—जब रणभेरी बजती है, युद्ध प्रारम्भ होता है, तब युद्ध विद्या में अकुशल, मनोदुर्बल, कायर योद्धा सोचता है—"(१) पता नहीं इस युद्ध में किसकी हार या जीत होगी ? (२) युद्ध क्षेत्र में शत्रुपक्ष के बड़े-बड़े योद्धा उपस्थित हैं, दुर्भाग्य से हार हो गई तो फिर प्राण बचाने मुश्किल होंगे, अतः पहले से ही भाग कर छिपने का स्थान ढूंढ़ लेना चाहिए। (३) वह स्थान इतना गहरा तथा बेलों और झाड़ियों से कमर तक ढका हुआ होना चाहिए कि शत्रु पीछा न कर सके, न पता लगा सके। (४) पता नहीं युद्ध कितने लम्बे समय तक चले, (५) इतने लम्बे काल तक युद्ध चलने के बाद भी विजय या पराजय की घड़ी तो एक ही बार आएगी। (६) उस घड़ी में हम शत्रु से हार खा गये तो फिर कहीं के न रहेंगे। अतः पहले से ही भाग कर छिपने का गुप्त स्थान ढूंढ लेना अच्छा है।"

संयम-पालन में कायर, संशयशील एवं मनोदुर्बल साधकों का चिन्तन—संयम पालन में उपस्थित होने वाले परिषह-उपसर्गरूप शत्रुओं से जीवन के अन्त तक जूझना और उन पर विजय पाना भी संशयशील मनोदुर्बल एवं कायर साधकों के लिए अत्यन्त कठिन होता है, इसलिए ऐसे नाजुक साधक कोई भी परीषह और उपसर्ग उपस्थित न हो तो भी मन से इनकी कल्पना करके स्वयं को भारी विपत्ति में फंसा हुआ मान लेते हैं। वे संयम को भारभूत समझते हैं और कायर योद्धा की तरह उन जरा-जरासी कठिनाइयों से बचने तथा संयममार्ग से पराजित होने पर अपने जीवन को बचाने और जीवनयापन करने के संयम-विघातक तरीके सोच लेते हैं। उनके अस्वस्थ चिन्तन के ये पहलू हैं—(१) यहाँ रूखा-सूखा और ठण्डा आहार मिलता है। सो भी भोजन का समय बीत जाने पर, और वह भी नीरस। प्रव्रजित साधक को भूमि पर सोना पड़ता है। फिर लोच करना, स्नान न करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना इत्यादि संयमाचरण कितना कठोर और कठिन है ! और फिर इस प्रकार कठोर संयमपालन एक-दो दिन या वर्ष तक नहीं, जीवन भर करना है। यह मुझसे सुकोमल, सुकुमार और आराम से पले हुए व्यक्ति से कैसे हो सकेगा ? हाय ! मैं तो इस बन्धन में फंस गया ! (२) जीवन भर चारित्रपालन में अब मैं असमर्थ हूँ। अतः संयमत्याग करना ही मेरे लिए ठीक है। परन्तु संयम त्याग करने से सर्वप्रथम मेरे समक्ष जीविका का संकट उपस्थित होगा, जीविका का कोई न कोई साधन हुए बिना मैं सुख से कैसे जी सकूंगा ? (३) इस संकट से बचने तथा सुख से जीवनयापन करने के लिए मैं अपनी सीखी हुई गणित, ज्योतिष, वैद्यक, व्याकरण और होराशास्त्र आदि विद्याओं का उपयोग करूंगा। (४) ओ हो ! मैं बहुत दूर चला गया। यह कौन जानता है कि संयम से पतन स्त्री-सेवन से या सचित्त (कच्चे) पानी के उपयोग से, या और किसी उपसर्ग से होगा ! (५) फिर पता नहीं, मैं किस उपसर्ग से, कब संयम से भ्रष्ट हो जाऊँ ? (६) मान, लो मैं संयम से भ्रष्ट हो गया तो फिर मैं घर का रहा, न घाट का ! मेरे पास पहले का कमाया हुआ कोई धन भी नहीं है, बड़ी समस्या खड़ी होगी, मेरे सामने। (७) कोई पूछेगा कि संयमत्याग करने के बाद आप क्या करेंगे, कैसे जीयेंगे ? तो हम झूठ-मूठ यहीं कहेंगे कि हमारे पास हस्तिविद्या, धनुर्वेद आदि विद्याएँ हैं, उन्हीं का उपयोग हम करेंगे ! (८) कभी वह सहसा संशयशील बन जाता है, और इस प्रकार के संशयों

में डूबता-उतराता रहता है—(क) पता नहीं, मैं जीवन के अन्त तक संयमपालन कर सकूँगा या नहीं ? (ख) यदि सचमुच ही मुझे संयम छोड़ना पड़ा तो मेरे लिए कौन-सा मार्ग हितकर होगा ? (ग) फिर इतने कठोर संयम के पालन का फल भी मिलेगा या नहीं ? यदि कुछ भी अच्छा फल न मिला तो इस व्यर्थ कष्ट सहन से क्या लाभ ? (घ) इससे तो वेहतर यही था कि मैं आराम की जिन्दगी जीता, यहाँ तो पद-पद पर कष्ट है। परन्तु आराम की जिन्दगी जीने के साधन न हुए तो मैं कैसे इसमें सफल हो पाऊँगा ? (ङ) क्या मेरी पहली सीखी हुई विद्याएँ काम नहीं आएँगी ? (च) पर वे तो मोक्षमार्ग या संयम मार्ग से विरुद्ध होंगी; ऐसी स्थिति में अशुभकर्मो का वन्ध होने से मुझे सुख के वदले फिर दुःख ही दुःख नहीं उठाने पड़ेंगे ?

इस प्रकार अल्पसत्त्व साधक की चित्तवृत्ति डांवाडोल एवं संशयशील हो जाती है। वह **'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः'** जैसी स्थिति में पड़ जाता है। फलतः वह अपनी तामसिक एवं राजसी बुद्धि से अज्ञान एवं मोह से प्रेरित संयम विरुद्ध चिन्तन और तदनुरूप कुकृत्य करता है।[2] फिर भी उस अभागे का मनोरथ सिद्ध नहीं होता। ये सव आध्यात्मिक विषाद के रूप में स्व संवेदन रूप उपसर्ग के नमूने हैं। जिनसे कायर साधक पराजित हो जाता है।

कठिन शब्दों की व्याख्या—वलयं—यत्रोदकं वलयाकारेण व्यवस्थितम्, उदक रहिता वा गर्त्ता दुःखनिर्गमन प्रवेशा—अर्थात् वलय का अर्थ है—जहाँ पानी वलय-चूड़ी के आकार के समान ठहरा हुआ हो अथवा वलय का अर्थ है—जल से रहित सूखा गहरा गड्ढा, जिसमें कठिनता से निकलना और प्रवेश करना हो सके। **गहणं—धवादिवृक्षैः कटिसंस्थानीयम्**—गहन का अर्थ है—वह वन या स्थान जो धव (खैर) आदि वृक्षों से मनुष्य की कमर तक आच्छादित हो। **नूमं—'प्रच्छन्नं गिरिगुहादिकम्'** —अर्थात्—प्रच्छन्न (गुप्त) पर्वत-गुफा आदि स्थान। **अवसप्पामो—नश्यामः**। अर्थात्—भाग सकें या भागकर छिप सकें। **उवेहति**—उत्प्रेक्षा करता है—कल्पना करता है। "**अवकप्पंति**—अवकल्पयन्ति, मन्यन्ते।" अर्थात्—व्याकरणादि शास्त्रों को संकट के समय रक्षा के लिए उपयुक्त मान लेते हैं। **विओवातं**—चूर्णिकार के अनुसार—**'विओवातो णाम व्यापातः'** अर्थात् विओवातो का अर्थ है—व्यापात—विशेपरूप से (संयम से) पतन या विनाश। **न णे अत्थि पकप्पितं**—हमारे पास अपना प्रकल्पित पूर्वोपार्जित द्रव्य कुछ नहीं है। **वितिगिच्छा समावण्णा—'विचिकित्सा'**—चित्तविप्लुति। अर्थात् विचिकित्सा का अर्थ चित्त की उछलकूद है, मैंने यह जो संयमभार उठाया है, इसे मैं अन्त तक पार लगा सकूँगा या नहीं ? इस प्रकार के संशय से घिरे हुए।[3]

आत्मसंवेदन रूप उपसर्ग विजयी वीर साधक

२०९. जे उ संगामकालम्मि, नाता सूरपुरंगमा।
ण ते पिट्ठमुवेहंति, किं परं मरणं सिया ॥६॥

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति भाषानुवाद सहित भा० २, पृ० ४४

[2] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ८८-८९ के आधार पर

[3] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ८८-८९
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण), पृ० ३७

२१०. एवं समुट्ठिए भिक्खू, वोसिज्जाऽगारबंधणं ।
आरंभं तिरिय कट्टु, अत्तत्ताए परिव्वए ॥७॥

२०९. परन्तु जो पुरुष जगत्-प्रसिद्ध एवं शूरवीरों में अग्रगण्य हैं, वे युद्ध के समय पीछे (युद्ध के फल) की बात की कल्पना तक नहीं करते। (वे समझते हैं कि) मरण से बढ़कर और क्या हो सकता है ?

२१०. इसी प्रकार गृहबन्धन का त्याग करके और आरम्भ को त्यागकर संयम पालन के लिए समुत्थित-समुद्यत भिक्षु आत्मभाव की प्राप्ति के लिए संयम में पराक्रम करे।

विवेचन—आत्मसंवेदन रूप उपसर्ग पर विजयी साधक कौन, कैसे ?— प्रस्तुत सूत्रगाथाद्वय में संग्राम में सच्चे वीर योद्धा की उपमा देकर आत्म-संवेदन रूप उपसर्ग पर विजयी साधक के स्वरूप, लक्ष्य और कर्तव्य का निरूपण किया गया है।

विश्वविख्यात वीर योद्धाओं की मनोवृत्ति—जो पुरुष संसार में प्रसिद्ध तथा वीरों में अग्रगण्य हैं, वे युद्ध के अवसर पर कायरों की तरह आगा पीछा नहीं सोचते कि युद्ध में हार गये या मारे गये तो क्या होगा ? न ही उनके मन में युद्ध में पराजित होने पर पलायन का या गुप्तस्थान को पहले से टटोलने का विचार आता है और न वे दुर्गम स्थानों में छिपकर अपनी रक्षा के लिए पीछे की ओर झांकते हैं। बल्कि वे युद्ध के समय अग्रिम मोर्चे पर रहते हैं, युद्धक्षेत्र छोड़कर भागने का उन्हें विचार तक नहीं होता। वे समझते हैं—इस युद्ध में अधिक से अधिक हानि मृत्यु से बढ़कर और क्या हो सकती है ? वह मृत्यु हमारी दृष्टि में सदा स्थायी रहने वाली कीर्ति की अपेक्षा तुच्छ है। इसीलिए इस गाथा में कहा गया है—"""जे उ संगामकालंमि"""मरणं सिया।"

आत्मसंवेदनोपसर्ग—विजेता साधक की मनोवृत्ति—विश्व-विख्यात सुभटों की-सी ही मनोवृत्ति उपसर्ग विजयी संयमवीर की होनी चाहिए, इसे बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं—"एवं समुट्ठिए""" अत्तत्ताए परिव्वए।" इसका तात्पर्य यह है कि विश्वविख्यात वीर सुभटों की तरह पराक्रमशाली साधु कषायों और इन्द्रिय विषयों रूपी शत्रुओं पर विजय पाने, परीषहों और उपसर्गों का सामना करने, एवं जन्म-मरणचक्र का भेदन करने हेतु संयम भार को लेकर जब उद्यत—उत्थित हो जाता है, तब वह पीछे की ओर मुड़कर नहीं देखता कि मेरे घरवालों का क्या होगा ? ये विविध भोगोपभोग के साधन न मिले तो क्या होगा ? अथवा 'मैं संयम-पालन न कर सका या कभी संयमभ्रष्ट हो गया तो भविष्य में मेरा क्या होगा ?' उसके मन में ये दुर्विकल्प उठते ही नहीं। वह दृढ़तापूर्वक यही चिन्तन करता है है कि जब एक बार मैंने गार्हस्थ्यबन्धन को काटकर फेंक दिया है और आरम्भ-समारम्भों को तिलांजलि दे दी है, और संयमपालन के लिए कटिबद्ध हुआ हूँ, तब पीछे मुड़कर देखने और भविष्य की निरर्थक चिन्ता करने का मेरे मन में कोई विकल्प ही नहीं उठना चाहिए। मेरा प्रत्येक कदम वीर की तरह आगे की ओर होगा, पीछे की ओर नहीं। अधिक से अधिक होगा तो किसी प्रतिकूल परीषह या उपसर्ग को सहने में प्राणों की बलि हो जायेगी। परन्तु सच्चे साधक के लिए तो 'समाधिमरण' सर्वश्रेष्ठ अवसर है, कर्मों को या जन्ममरण के बन्धनों को काटने का।[४]

अत्तत्ताए परिव्वए—ऐसे संयमवीर साधक का यह मूलमन्त्र है। इसका अर्थ है—'आत्मत्व के

---

[४] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ८९

लिए पराक्रम करें।' आत्मत्व कहते हैं—आत्मभाव—आत्मा के स्वभाव को। आत्मा का पूर्णतया शुद्ध स्वभाव समस्त कर्मकलंक से रहित होने—मोक्ष प्राप्त होने पर होता है। निष्कर्ष यह है कि आत्मत्व की यानी मोक्ष की प्राप्ति के लिए सुविहित साधु को अप्रमत्त होकर पुरुषार्थ करना चाहिए। अथवा साधु-जीवन का ध्येय आत्मा का मोक्ष या संयम है। चूर्णिकार ने **आतत्थाए** पाठ मानकर यही अर्थ किया है—**आतो मोक्षः संजमो वा अस्यार्थस्य—आतत्थाए**। अर्थात् आत्मा मोक्ष या संयम को कहते हैं, वही आत्मा का आत्मत्व स्वभाव है। जिसे प्राप्त करने के लिए वह सर्वतोमुखी प्रयत्न करे। आत्मा पर कषायादि लग कर उसे विकृत करते हैं, स्वस्वरूप में स्थिर नहीं रहने देते। इसीलिए शास्त्र में कहा गया है—

"कोहं माणं च मायं च लोहं पंचेदियाणि य।
दुज्जयं चेवमप्पाणं, सव्वमप्पे जिए-जियं॥"

"क्रोध, मान, माया और लोभ; ये चार कषाय तथा पाँचों इन्द्रियाँ, ये आत्मा के लिए दुर्जेय हैं। अतः आत्मा को जीत लेने (यानी आत्मा पर लगे कषाय विषयसंग आदि को हावी न होने देने) पर सभी को जीत लिया जाता है।"[5]

पाठान्तर—'ण ते पिट्ठमुवेहंति, किं परं मरणं सिया ?' के बदले चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—'ण ते पिट्ठतो पेहुंति, किं परं मरणं भवे।'—अर्थात्—वे पीछे मुड़कर नहीं देखते। यही सोचते हैं कि मृत्यु से बढ़कर और क्या होगा ?[6]

उपसर्ग : परवादिकृत आक्षेप के रूप में

२११. **तमेगे परिभासंति, भिक्खुयं साहुजीविणं।**
जे ते उ परिभासंति, अंतए ते समाहिए॥८॥

२१२. **संबद्धसमकप्पा हु, अन्नमन्नेसु मुच्छिता।**
पिंडवायं गिलाणस्स, जं सारेह दलाह य॥९॥

२१३ **एवं तुब्भे सरागत्था, अन्नमन्नमणुव्वसा।**
नट्ठसप्पहसब्भावा, संसारस्स अपारगा॥१०॥

२११. साध्वाचार—(उत्तम आचार) पूर्वक जीने वाले उस (सुविहित) भिक्षु के विषय में कई (अन्यदर्शनी) (आगे कहे जाने वाले) आक्षेपात्मक वचन कहते हैं, परन्तु जो इस प्रकार (—के आक्षेपात्मक वचन) कहते हैं, वे समाधि से बहुत दूर हैं।

---

[5] (क) उत्तराध्ययन अ० ९, गा० ३६
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ८९
(ग) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ. ३८

[6] सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ३८

२१२. (उपकार्य-उपकारक रूप से—) सम्बद्ध गृहस्थ के समान व्यवहार (अनुष्ठान) वाले आप लोग परस्पर (एक दूसरे में) मूर्च्छित (आसक्त) हैं; क्योंकि आप रुग्ण (ग्लान साधु) के लिए भोजन लाते और देते हैं।

२१३. इस प्रकार (परस्पर उपकार के कारण) आप सराग (स्वजनों के प्रति रागी) और एक दूसरे के वश में रहते हैं। अतः आप सत्पथ (सन्मार्ग) और सद्भाव (परमार्थ) से भ्रष्ट (दूर) हैं, तथा संसार (चतुर्गतिक भ्रमणरूप संसार) के पारगामी नहीं हो सकते।

विवेचन—स्वसंवेदनरूप उपसर्ग—परवादिकृत आक्षेप के रूप में—प्रस्तुत सूत्रगाथात्रय (२११ से २१३ तक) में अन्य दर्शनियों द्वारा सुविहित साधुओं पर किये जाने वाले मिथ्या आक्षेपों का वर्णन है।

यद्यपि इन मिथ्या आक्षेपों का सम्यग्दृष्टि एवं मोक्षविशारद, तत्त्व-चिन्तक साधुओं के मन पर कोई असर नहीं होता, किन्तु जो साधक अभी तक सिद्धान्तनिष्ठ, तत्त्वज्ञ एवं साध्वाचारदृढ़ नहीं हैं, उनका चित्त उक्त आक्षेपों को सुनकर संशयग्रस्त या कषायोत्तेजनाग्रस्त हो सकता है, इस कारण ऐसे आक्षेपवचनों को उपसर्ग माना गया है। शास्त्रकार ऐसे आत्मसंवेदनरूप उपसर्ग की सम्भावना होने पर साधु को अपना मन समाधिस्थ रखने हेतु संकेत करते हैं–**'तमेगे परिभासन्ति····अन्तर से समाहिए'**। आशय यह है कि जो साधुताजीवी भिक्षुओं पर ऐसा मिथ्या आक्षेप करते हैं, ज्ञानादि से मोक्षरूप अथवा कषाय की उपशान्ति रूप समाधि से दूर हैं, अर्थात्—वे वेचारे असमाधि में हैं, सांसारिक भ्रमणा में हैं। शास्त्रकार का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि ऐसे मिथ्या-आक्षेपवादियों के द्वारा किये गये असत् आक्षेपों को सुनकर सुविहित साधु को न तो उत्तेजित होकर अपनी चित्त समाधि भंग करनी चाहिए और न उनके मिथ्या-आक्षेपों को सुनकर, क्षुब्ध होना चाहिए, अर्थात् स्वयं को समाधि से दूर नहीं करना चाहिए, ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप समाधि में स्थिर रहना चाहिए।

वृत्तिकार और चूर्णिकार 'एगे' शब्द की व्याख्या करते हुए इन आक्षेपकों को गोशालकमतानुसारी आजीवन या दिगम्बर परम्परा के भिक्षु बताते हैं, वृत्तिकार आगे कहते हैं—उत्तम साधु यह तटस्थ (राग-द्वेष-पक्षपात रहित) चिन्तन करे कि ये जो साध्वाचार की निन्दा या आलोचना करते हैं, या आक्षेपात्मक वचन बोलते हैं, उनका धर्म पुष्ट-सुदृढ़ नहीं है, तथा वे समाधि से दूर हैं। वे परस्पर उपकार से रहित दर्शन (दृष्टि) से युक्त हैं, लोहे की सलाइयों की तरह परस्पर मिलते नहीं, दूर-दूर अलग अलग रहतें हैं। पृथक्-पृथक् विचरण करते हैं।

तात्पर्य यह है कि उत्तम साध्वाचार परायण एवं वीतरागता का पथिक साधु उन निन्दकों या आलोचकों के प्रति तरस खाए, भड़के नहीं; उनकी आक्षेपात्मक बातों पर कोई ध्यान न दे, मोक्षमार्ग पर अबाध गति से चलता रहे। हाँ, अपने संयमाचरण में कोई त्रुटि या भूल हो तो उसे अवश्य सुधार ले, उसमें अवश्य सावधानी रखे। यही इस गाथा द्वारा शास्त्रकार ने ध्वनित किया है।

आक्षेप कितने और किस प्रकार के ?—उत्तम साधुओं पर लगाये जाने वाले मिथ्या आक्षेपों के कुछ नमूने यहाँ शास्त्रकार ने प्रस्तुत किये हैं, वैसे उनकी कोई निश्चित गणना नहीं की जा सकती, ऐसे और आक्षेप भी अन्य आक्षेपकों द्वारा किये जा सकते हैं।

कुछ आक्षेप इस प्रकार हैं—(१) परस्पर उपकार्य—उपकारक सम्बन्ध से बँधे हुए गृहस्थों का-सा इनका व्यवहार है, (२) ये परस्पर एक-दूसरे में आसक्त हैं, (३) रोगी साधु के प्रति अनुरागवश ये उसके लिए भोजन लाते हैं, और देते हैं। (४) आप लोग स्पष्टतः सरागी हैं, (५) परस्पर एक-दूसरे के वश—अधीन हैं। (६) सद्भाव और सन्मार्ग से दूर हैं, (७) आप संसार को पार नहीं कर सकते।[७]

परोक्ष आक्षेप की झांकी—कोई-कोई परोक्ष में आक्षेप करते हैं, जैसे—देखो तो सही! ये लोग घरबार कुटुम्ब परिवार और रिश्ते-नाते छोड़कर साधु बने हैं, परन्तु इनमें अब भी एक-दूसरे साधुओं के साथ पुत्र कलत्र आदि स्नेह-पाशों से बन्धे हुए गृहस्थों का-सा व्यवहार है। गृहस्थ लोग परस्पर एक-दूसरे के सहायक उपकारक होते हैं, वैसे ही ये साधु भी परस्पर सहायक उपकारक होते हैं। जैसे गृहस्थ-जीवन में पिता-पुत्र में, भाई-भाई में, भाई-बहन में परस्पर गाढ़ अनुराग होता है, वैसे ही इन साधुओं में गुरु-शिष्य का, गुरु भाइयों का तथा गुरु-भाईयों गुरु-बहनों का परस्पर गाढ़ अनुराग होता है। इन्होंने गृहस्थी के नाते-रिश्ते छोड़े, यहाँ नये रिश्ते-नाते बना लिये। आसक्ति तो वैसी की वैसी ही बनी रही, केवल आसक्ति के पात्र बदल गये हैं। फिर इनमें और गृहस्थों में क्या अन्तर रहा? फिर ये परस्पर आसक्त होकर एक-दूसरे का उपकार भी करते हैं, जैसे कि कोई साधु बीमार हो जाता है तो ये उस रुग्ण साधु के प्रति अनुराग वश उसके योग्य पथ्ययुक्त आहार अन्वेषण करके लाते हैं और उसे देते हैं। यह गृहस्थ के समान व्यवहार नहीं तो क्या है? यही बात शास्त्रकार कहते हैं—**संबद्ध····दलाहय**।

कोई आक्षेपकर्ता साधुओं से कहते हैं—अजी! आप लोग गृहस्थों की तरह परस्पर राग-भाव से ग्रस्त हैं, अपने माने हुए लोगों का परस्पर उपकार करते हैं, इसलिए रागयुक्त हैं—राग-सहित स्वभाव में स्थित (सरागत्थ) हैं। बन्धनबद्ध या एक-दूसरे के आधीन रहना तो गृहस्थों का व्यवहार है। इसी कारण आप लोग सत्पथ (मोक्ष के यथार्थ मार्ग) तथा सद्भाव (परमार्थ) से भ्रष्ट हैं। इसीलिए आप चतुर्गति परिभ्रमणरूप संसार के पारगामी नहीं हो सकते। मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते।[८]

पाठान्तर और व्याख्या—'जे तेउ (तेवं) परिभासन्ति अन्तए ते समाहिए'—वृत्तिकार के अनुसार—'ये ते अपुष्टधर्माणः, एवं वक्ष्यमाणं परिभाषन्ते, त एवम्भूताः अन्तके—पर्यन्ते—दूरे समाधेः मोक्षाख्यात्····वर्तन्त इति।' वे अपुष्ट धर्मा (आक्षेपक) ऐसा (आगे कहे जाने वाला आक्षेपात्मक वचन) कहते हैं, वे मोक्ष नामक समाधि से दूर हैं। चूर्णिकार '**जे ते एवं भासन्ति, अन्तए (ते) समाहिते**' पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं—"**अन्तए** नाम नाभ्यन्तरतः, दूरतः ते समाहिए, णाणादि-मोक्खा परमसमाधी, अत्यन्त असमाधौ वर्तन्ते, '**असमाहिए**'—अंकारलोपं कृत्वा **संसारे** इत्यर्थः। अर्थात्—**अन्तए** का अर्थ है—आभ्यन्तर से नहीं, अपितु वे समाधि से दूरतः हैं। ज्ञानादिमोक्षरूप परमसमाधि होती है। अतः ऐसा अर्थ सम्भव है कि वे अत्यन्त असमाधि में हैं। **असमाहिए** पाठ में अकार का लोप करने से असमाहिए (असमाधि में) का फलितार्थ होता है—संसार में हैं। **सारेह**—

---

[७] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ९० के आधार पर

[८] वृत्तिकार के कथनानुसार यह चर्चा दिगम्बर पक्षीय साधुओं और श्वेताम्बर परम्परा के साधुओं के बीच है।
—जैन साहित्य का बृहत् इतिहास भा० १, पृ० १४३
वृत्तिकार का यह कथन उपयुक्त प्रतीत होता है।

अन्वेषयत—अन्वेषण करते हैं। दलाहृय—ग्लान के योग्य आहार का अन्वेषण करके उसके उपकारार्थ लाकर देते हैं। 'च' शब्द से आचार्यादि की वैयावृत्य करने आदि उपकार करते हैं।[९]

परवादिकृत आक्षेप निवारण : कौन, क्यों और कैसे करें ?

२१४. अह ते परिभासेज्जा, भिक्खू मोक्खविसारए।
एवं तुब्भे पभासेंता, दुपक्खं चेव सेवहा ॥११॥

२१५. तुब्भे भुंजह पाएसु, गिलाणाऽभिहडं ति य।
तं च बीओदगं भोच्चा, तमुद्देसादि जं कडं ॥१२॥

२१६. लित्ता तिव्वाभितावेण, उज्जया असमाहिया।
नातिकंडुइतं सेयं, अरुयस्सावरज्झती ॥१३॥

२१७. तत्तेण अणुसिट्ठा ते, अपडिण्णेण जाणया।
ण एस णियए मग्गे, असमिक्खा वई किती ॥१४॥

२१८. एरिसा जा वई एसा, अग्गे वेणु व्व करिसिता।
गिहिणो अभिहडं सेयं, भुंजितुं न तु भिक्खुणो ॥१५॥

२१९. धम्मपण्णवणा जा सा, सारंभाण विसोहिया।
न तु एताहिं दिट्ठीहिं, पुव्वमासि पकप्पियं ॥१६॥

२२०. सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, अचयंता जवित्तए।
ततो वायं णिराकिच्चा, ते भुज्जो वि पगब्भिता ॥१७॥

२२१. रागदोसाभिभूतप्पा, मिच्छत्तेण अभिद्दुता।
अक्कोसे सरणं जंति, टंकणा इव पव्वयं ॥१८॥

२२२. बहुगुणप्पगप्पाइं, कुज्जा अत्तसमाहिए।
जेणऽण्णो ण विरुज्झेज्जा, तेण तं तं समायरे ॥१९॥

२२३. इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेइयं।
कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिते ॥२०॥

---

[९] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ९०
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ३८

२१४. इसके पश्चात् मोक्षविशारद (ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्ष की प्ररूपणा करने में निपुण) साधु उन (अन्यतीर्थिकों) से (इस प्रकार) कहे कि यों कहते (आक्षेप करते) हुए आप लोग दुष्पक्ष (मिथ्यापक्ष) का सेवन करते (आश्रय लेते) हैं।

२१५. आप सन्त लोग (गृहस्थ के कांसा, तांबा आदि धातु के) पात्रों में भोजन करते हैं; रोगी सन्त के लिए गृहस्थों से (अपने स्थान पर) भोजन मँगवा कर लेते हैं; तथा आप बीज और सचित्त (कच्चे) जल का उपभोग करते हैं एवं जो आहार किसी सन्त के निमित्त (उद्देश्य से) बना है उस औद्देशिक आदि दोषयुक्त आहार का सेवन करते हैं।

२१६. आप लोग तीव्र कषायों अथवा तीव्र बन्ध वाले कर्मों से लिप्त (सद्विवेक से—) रहित तथा समाधि (शुभ अध्यवसाय) से रहित हैं। (अतः हमारी राय में) घाव (व्रण) का अधिक खुजलाना अच्छा नहीं है, क्योंकि उससे दोष (विकार) उत्पन्न होता है।

२१७. जो प्रतिकूल ज्ञाता नहीं है अथवा जिसे मिथ्या (विपरीत) अर्थ बताने की प्रतिज्ञा नहीं है; तथा जो हेय-उपादेय का ज्ञाता साधु है; उसके द्वारा उन (आक्षेपकर्ता अन्य दर्शनियों) को सत्य (तत्त्व वास्तविक) बात की शिक्षा दी जाती है कि यह (आप लोगों द्वारा स्वीकृत) मार्ग (निन्दा का रास्ता) नियत (युक्ति-संगत) नहीं है, आपने सुविहित साधुओं के लिए जो (आक्षेपात्मक) वचन कहा है, वह बिना विचारे कहा है, तथा आप लोगों का आचार भी विवेक शून्य है।

२१८. आपका यह जो कथन है कि साधु को गृहस्थ के द्वारा लाये हुए आहार का उपभोग (सेवन) करना श्रेयस्कर है, किन्तु साधु के द्वारा लाये हुए का नहीं; यह बात बांस के अग्रभाग की तरह कमजोर है (वजनदार नहीं है।)

२१९. (साधुओं को दान आदि देकर उपकार करना चाहिए), यह जो धर्म-प्रज्ञापना (धर्म-देशना) है, वह आरम्भ-समारम्भयुक्त गृहस्थों की विशुद्धि करने वाली है, साधुओं की नहीं, इन दृष्टियों से (सर्वज्ञों ने) पूर्वकाल में यह प्ररूपणा नहीं की थी।

२२०. समग्र युक्तियों से अपने पक्ष की सिद्धि (स्थापना) करने में असमर्थ वे अन्यतीर्थी तब वाद को छोड़कर फिर अपने पक्ष की स्थापना करने की धृष्टता करते हैं।

२२१. राग और द्वेष से जिनकी आत्मा दबी हुई है, जो व्यक्ति मिथ्यात्व से ओतप्रोत हैं, वे अन्य तीर्थी शास्त्रार्थ में हार जाने पर आक्रोश (गाली या अपशब्द आदि) का आश्रय लेते हैं। जैसे (पहाड़ पर रहने वाले) टंकणजाति के म्लेच्छ (युद्ध में हार जाने पर) पर्वत का ही आश्रय लेते हैं।

२२२. जिसकी चित्तवृत्ति समाधि (प्रसन्नता या कषायोपशान्ति) से युक्त है, वह मुनि (अन्य-तीर्थी के साथ विवाद के समय) अनेक गुण निष्पन्न हों, जिससे इस प्रकार का अनुष्ठान करे और दूसरा कोई व्यक्ति अपना विरोधी न बने।

२२३. काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा कहे हुए इस धर्म को स्वीकार करके समाधि युक्त भिक्षु रुग्ण साधु की सेवा (वैयावृत्य) ग्लानि रहित होकर करे।

विवेचन—परवादिकृत-आक्षेपरूप उपसर्ग-निवारण : कौन, क्यों और कैसे करें—इससे पूर्व परवादिकृत आक्षेपरूप उपसर्ग के कुछ नमूने प्रस्तुत किये गये हैं। अब सूत्रगाथा २१४ से २२३ तक १० सूत्रगाथाओं में बताया गया है कि परवादिकृत पूर्वोक्त आक्षेपों का निराकरण करे या नहीं ? करे तो कौन करे ? कैसे करे ? किस पद्धति से करे ?

आक्षेप निवारण करे या नहीं ?—सर्वप्रथम यह प्रश्न होता है कि सुसाधुओं की या उनके आचार-विचार पर कोई अन्यतीर्थी छींटाकशी करे, नुक्ता-चीनी करे, अथवा निन्दा, आलोचना या मिथ्या आक्षेप करे तो क्या वे उसे चुपचाप सुन लें, सह लें, या उसका प्रतिवाद करें, या उनके गलत आक्षेपों का निराकरण करें और भ्रान्ति में पड़े हुए लोगों को यथार्थ वस्तुस्थिति समझाएं ?

यद्यपि इससे पूर्व गाथा २११ में इस प्रकार के मिथ्या आक्षेपकों को समाधि से दूर मानकर शास्त्रकार ने साधुओं को उनके प्रति उपेक्षा करने, ध्यान न देने की बात ध्वनित की है।

परन्तु आक्षेपक जब व्यक्तिगत आक्षेप तक सीमित न रहकर उसे समूह में फैलाए, उसे निन्दा और बदनामी का रूप देने लगें, जैसा कि पूर्वोक्त सूत्र-गाथाओं में वर्णित है, तब शास्त्रकार उक्त मिथ्या आक्षेपों का प्रतिवाद करने का निर्देश करते है—**"अह ते परिभासेज्जा भिक्खू मोक्ख विसारए।"**

शास्त्रकार का आशय यह प्रतीत होता है कि अगर वस्तुतत्त्व प्रतिपादन में निपुण तत्त्ववेत्ता स्वयं की व्यक्तिगत आलोचना या निन्दा को चुपचाप समभावपूर्वक सह लेता है, बदले में कुछ नहीं कहता तो यह अपनी आत्मा के लिए निर्जरा (कर्मक्षय) का कारण होने से ठीक है, परन्तु जब समग्र साधु-संस्था या संघ पर मिथ्या आक्षेप होता है, तब उसे चुपचाप सुन लेना अच्छा नहीं; ऐसा करने से वस्तु तत्त्व से अनभिज्ञ साधारण जनता प्रायः यही समझ लेती है कि इनके धर्म, संघ या साधु वर्ग में कोई दम नहीं है। ये तो गृहस्थों की तरह अपने-अपने दायरे में, अपने-अपने गुरु-शिष्यों में मोहवश बन्धे हुए हैं। इस प्रकार एक ओर धर्मतीर्थ (संघ) की अवहेलना हो, दूसरी ओर साधु-संस्था के प्रति जनता में अश्रद्धा बढ़े, तथा मिथ्यावाद को उत्तेजना मिले तो यह दोहरी हानि है। इससे संघ में नवीन मुमुक्षु साधकों का प्रवेश तथा सद्गृहस्थों द्वारा व्रत में धारण रुकना सम्भव है। इसलिए शास्त्रकार ने इस गाथा द्वारा मार्ग-दर्शन दिया है कि ऐसे समय साधु तटस्थ भावपूर्वक आक्षेपकर्ताओं से प्रतिवाद के रूप में कहे।[१०]

आक्षेप निवारणकर्ता भिक्षु की योग्यता—शास्त्रकार ने आक्षेप का प्रतिवाद करने का निर्देश किया है, किन्तु साथ ही कौन साधु प्रतिवाद कर सकता है ? इस सम्बन्ध में शास्त्रकार ने सूत्रगाथा २१४, २१६, २२१ और २२२ में आक्षेप निवारक भिक्षु के विशेष गुणों के सम्बन्ध में क्रमशः प्रकाश डाला है। वे गुण क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) वह साधु मोक्षविशारद हो, (२) वह अप्रतिज्ञ हो, (३) वह हेयोपादेय का सम्यग् ज्ञाता हो, (४) क्रुद्ध, द्वेषी विरोधियों का प्रतिवाद क्रोध-द्वेष-वधादि-पूर्वक न करे, (५) आत्मसमाधि से युक्त हो, (६) अनेक गुणों का लाभ हो, तभी प्रतिवाद करता हो, (७) दूसरे लोग विरोधी न बन जाएँ, ऐसा आचरण करता हो।

---

[१०] सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ४५६

मोक्ख विसारए—प्रतिवादकर्ता साधु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग की प्ररूपणा करने में प्रवीण होना चाहिए। अगर वह साधु स्वयं ही शिथिल आचार का पोषक हुआ तो वह आक्षेपकों के आक्षेप का निराकरण ठीक से न कर सकेगा और न ही उसके द्वारा किये गये निराकरण का साधारण जनता पर या आक्षेपकों पर प्रभाव पड़ेगा। इसलिए आक्षेप-निवारक साधु का मोक्ष-प्ररूपणा में विशारद होना आवश्यक है।

अपडिण्णेण—जो किसी प्रकार की मिथ्या अर्थ बताने की प्रतिज्ञा—से रहित है, वह अप्रतिज्ञ होता है, प्रतिवादकर्ता साधु इस प्रकार की प्रतिज्ञावाला न हो कि मुझे अपनी बात की सिद्धि के लिए असत्य अर्थ का भी समर्थन कर देना चाहिए। क्योंकि इस प्रकार असत्य बातों का समर्थक साधु होगा तो वह आक्षेपकों के प्रति न्यायी, एवं विश्वस्त नहीं रहेगा। वह स्व-मोह एवं पर-द्वेष में पड़ जायगा। राग और द्वेष आदि सिद्धान्त-प्रतिकूल विचारों के प्रवाह में वह जायेगा। अथवा अप्रतिज्ञ यानी उसकी जानकारी सिद्धान्त-प्रतिकूल नहीं होनी चाहिए। सिद्धान्त-प्रतिकूल जानकारी वाला साधक स्वयं अपने सिद्धान्त से च्युत हो जायेगा, आक्षेपकों का निराकरण सिद्धान्तानुकूल नहीं कर सकेगा।

जाणया—फिर वह प्रतिवादकर्ता साधक स्वयं हेयोपादेय का सम्यक् ज्ञाता होना चाहिए तभी वह आक्षेपकों को उपादेय तत्त्व के अनुरूप शिक्षा दे सकेगा तथा आक्षेपकों की बातों में हेयोपादेय तत्त्व का विश्लेपण करके समझा सकेगा।

रागदोसाभिभूतप्पा···अवकोसे सरणं जंति—प्रतिवादकर्ता साधु को इस बात को समझने में कुशल होना चाहिए कि प्रतिपक्षी विवाद में न टिक पाने के कारण अपनी हार की प्रतिक्रिया स्वरूप अपशब्द, गाली, या डंडे, मुक्के या शस्त्रादि द्वारा प्रहार करने आदि पर उतर आया है, तो उन्हें राग-द्वेष कषाय, मिथ्यात्व, आक्रोश आदि विकारों के शिकार जानकर उनसे विवाद में नहीं उलझना चाहिए न ही आक्रमण के वदले प्रत्याक्रमण या आक्रोश प्रहार आदि हिंसक तरीकों का आश्रय लेना चाहिए। विश्ववन्धु साधु को उस समय उनके प्रति उपेक्षा भाव रखकर मौन हो जाना ही श्रेयस्कर है। जैसा कि वृत्तिकार कहते हैं—

"अक्कोस-हणण-मारण-धम्मब्भंसाण बालसुलभाणं।
लाभं मन्नइ धीरो जहुत्तणाणं अभावंमि॥"

अर्थात्—गाली देना, रोष करना, मारपीट या प्रहार करना अथवा धर्मभ्रष्ट करना, ये सब कार्य निपट नादान बच्चों के से हैं। धीर साधु पुरुष ऐसे लोगों की बातों का उत्तर न देना ही लाभदायी समझते हैं।

इस दृष्टि से शास्त्रकार ने प्रतिवादकर्ता साधु का आवश्यक गुण ध्वनित कर दिया है कि वह इतना अवसरज्ञ हो कि आक्षेपक यदि हिंसा पर उतर आए तो उसके साथ प्रतिहिंसा से पेश न आकर शान्त एवं मौन हो जाए।

अत्तसमाहिए—प्रतिवादकर्ता साधु में आत्म-समाधि में दृढ़ रहने का गुण होना चाहिए। कैसी भी परिस्थिति हो, अपनी आत्मसमाधि—मानसिक शान्ति, प्रसन्नता या चित्त की स्वस्थता न खोए।

आशय यह है कि वह आक्षेपकों के साथ विवाद करते समय उखड़े नहीं, झल्लाए नहीं, विक्षुब्ध न हो। अथवा वह आत्म-समाधान पर दृढ़ रहे, जिस प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त आदि से स्वपक्ष सिद्धि होती हो, उसी का प्रतिपादन करे।

बहुगुणप्पगप्पाइ कुज्जा—प्रतिवादकर्ता साधु 'बहुगुणप्रकल्पक' होना चाहिए। जिस विवाद से प्रतिपक्षी के हृदय में स्नेह, सद्भावना, आत्मीयता, धर्म के प्रति आकर्षण, साधु संस्था के प्रति श्रद्धा, वीतराग देवों के प्रति बहुमान आदि अनेक गुण निष्पन्न होते हों, उसे बहुगुण प्रकल्प कहते हैं। वृत्तिकार की दृष्टि से **बहुगुणप्रकल्प** का अर्थ है—(१) जिन बातों से स्वपक्ष सिद्धि और परपक्ष के दोषों की अभिव्यक्ति हो अथवा (२) जिन अनुष्ठानों से माध्यस्थ्यभाव आदि प्रकट हो, ऐसे प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन आदि का प्रयोग करे या वचन प्रयोग करे।

इस दृष्टि से प्रतिवादकर्ता साधु उसी प्रकार का विवाद करता हो, जो बहुगुणप्रकल्प हो। प्रशान्तात्मा मुनि को ऐसा प्रतीत हो कि प्रतिपक्षी विवाद में पराजित होता जा रहा है, और इस विवाद से आत्मीयता, मैत्री, स्नेह-सद्भावना, देव-गुरु-धर्म के प्रति श्रद्धा आदि गुण बढ़ने के बजाय रोष, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, प्रतिक्रिया, अश्रद्धा आदि दोषों के बढ़ने की सम्भावना है, तब वह उस विवाद को वहीं स्थगित कर दे। यह गुण प्रतिवादकर्ता साधु में अवश्य होना चाहिए। प्रतिपक्षी को कायल, अश्रद्धालु एवं हैरान करने तथा उसे बार-बार चिढ़ाने से उपर्युक्त बहुगुण नष्ट होने की सम्भावना है।

जेणऽण्णो ण विरुज्झेज्जा तेण तं तं समायरे—प्रतिवादकर्ता में यह खास गुण होना चाहिए कि वह प्रतिपक्षी के प्रति ऐसा वचन न बोले, न ही ऐसा व्यवहार या आचरण करे, जिससे वह विरोधी, विद्वेषी या प्रतिक्रियावादी बन जाए। धर्मश्रवण करने आदि सद्भावों में प्रवृत्त अन्यतीर्थी या अन्य व्यक्ति में अपने प्रतिवाद रूप वचन अनुष्ठान से विरोध, विद्वेष, चित्त में दुःख या विषाद उत्पन्न हो, वैसा वचन या अनुष्ठान न करे।

इस गुणों से युक्त साधक ही आक्षेपकर्ताओं के आक्षेपरूप उपसर्ग पर यथार्थरूप से विजय प्राप्त कर सकता है।[११]

प्रतिपक्षी के पूर्वोक्त आक्षेपों का उत्तर किस पद्धति से दे—पूर्वगाथाओं में प्रतिवादी के द्वारा सुविहित साधुओं पर परोक्ष एवं प्रत्यक्षरूप से मिथ्या आक्षेपों का निदर्शन बताया गया है और यह भी कहा जा चुका है कि प्रतिपक्षी के आक्षेपों का प्रतिवाद मोक्ष विशारद आदि सात गुण से सम्पन्न साधु यथायोग्य अवसर देखकर कर सकता है। अब प्रश्न यह है कि प्रतिपक्षी के पूर्वोक्त आक्षेपों का उत्तर पूर्वोक्त गुणसम्पन्न साधु को किस पद्धति से देना चाहिए? इस विषय में शास्त्रकार ने सूत्रगाथा २१४ से २१९ तक प्रकाश डाला है। आक्षेपों के उत्तर के मुख्य मुद्दे ये हैं—(१) आपके आक्षेपयुक्त वचनों से आप द्विपक्ष या दुष्पक्ष का सेवन करते प्रतीत होते हैं (२) आप गृहस्थ के कांसा, तांबा आदि धातु के बर्तनों में भोजन करते हैं; (३) रोगी संत के लिए गृहस्थ से आहारादि मँगवाते हैं,

---

[११] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ९१ से ९३ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४५६ से ४६२

(४) सचित्त बीज और जल का उपभोग करते हैं, (५) औद्देशिक आदि दोषों से बने आहार का सेवन करते हैं। (६) आप लोग तीव्र कषाय या कर्मबन्ध से लिप्त हैं, (७) सद्विवेक से शून्य हैं, (८) शुभ अध्यवसाय (समाधि) से रहित हैं, (९) जिस प्रकार घाव के अधिक खुजलाने से विकारवृद्धि होती है, इसी तरह मिथ्या-आक्षेपात्मक चर्चा भी बार-बार रागद्वेष युक्त होकर छेड़ने से कोई लाभ नहीं, वह कषायादि वर्द्धक ही है। (१०) निन्दा आदि करने का मार्ग भगवान् की नीति के अनुकूल या युक्ति-संगत नहीं है। (११) आपके आक्षेपात्मक वचन बिना सोचे विचारे कहे गए हैं, (१२) आपके कार्य भी विवेक-विचार शून्य हैं, (१३) "साधु को गृहस्थ के द्वारा लाया हुआ आहार करना श्रेयस्कर है किन्तु साधु के द्वारा लाया हुआ नहीं" यह कथन बांस के अग्रभाग की तरह दमदार नहीं है, (१४) साधुओं को दान आदि देकर उपकार करना चाहिए यह धर्मदेशना गृहस्थों की शुद्धि करने वाली है साधुओं को नहीं, इस दृष्टि से पूर्वकालिक सर्वज्ञों ने प्ररूपणा नहीं की थी।[१२]

दुपक्खं चेव सेवहा—वृत्तिकार ने **'दुपक्खं'** आदि वाक्य की व्याख्या चार प्रकार से की है—(१) दुष्पक्ष—आप मिथ्या, असत् पक्ष का आश्रय लेते हैं (२) द्विपक्ष—राग और द्वेषरूप दो पक्षों का सेवन करते हैं। क्योंकि आप अपने दोषयुक्त पक्ष का भी समर्थन करते हैं, इस कारण आपका अपने पक्ष में राग है, तथा हमारा सिद्धान्त दोष रहित है उसे आप दूषित बतलाते हैं, इसलिए उस पर आपका द्वेष है। (३) आप लोग द्विपक्षों का आश्रय लेते हैं। जैसे—आप लोग सचित्त बीज, कच्चा पानी और उदिष्ट आहार आदि का सेवन करने के कारण गृहस्थ हैं और साधु का वेष रखने के कारण साधु हैं। (४) अथवा आप दो पक्षों का सेवन करते हैं। जैसे—स्वयं असद् अनुष्ठान करते है और सद् अनुष्ठान करने वाले दूसरों की निन्दा करते हैं।

तात्पर्य यह है कि आपने जो साधु वर्ग पर सरागस्थ और परस्पर आसक्त होने का आक्षेप लगाया, वह गलत है, दुष्पक्ष है—मिथ्यापूर्वपक्ष से युक्त है।

लित्ता तिव्वाभितावेणं ···असमाहिया—इस गाथा में तीन प्रत्याक्षेप आक्षेपकर्ताओं पर लगाए हैं—१. तीव्र अभिताप से लिप्त, २. सद्विवेक से विहीन, तथा ३. समाधि (शुभ अध्यवसाय) से रहित। ये तीनों प्रत्याक्षेप इस प्रकार प्रमाणित होते हैं—(१) षट्कायिक जीवों का उपमर्दन करके जो आहार उनके निमित्त तैयार किया जाता है, उसका सेवन करने से, झूठी बात को भी दृढ़तापूर्वक पूर्वाग्रहवश पकड़ने से, मिथ्यादृष्टित्व के स्वीकार से एवं सुविहित साधुओं की निन्दा करने के कारण वे लोग तीव्र कषाय या तीव्र कर्मबन्धन के अभिताप से लिप्त हैं। सुविवेक से विहीन इसलिए हैं कि भिक्षापात्र न रखकर किसी एक गृहस्थ के घर में भोजन करने के कारण तथा रुग्ण साधु के लिए गृहस्थ से बनवाकर भोजन मँगाने के कारण वे उद्दिष्ट आदि दोष युक्त आहार करते हैं। तथा शुभ अध्यवसाय से रहित इसलिए हैं कि वे उत्तम साधुओं से द्वेष करते हैं, उनको झूठमूठ बदनाम करते हैं।

नातिकंडुइतं सेयं अरुयस्सावरज्झती—इस प्रत्याक्षेप वाक्य में सुसाधु द्वारा सामान्य नीति की प्रेरणा है। इसका अर्थ है—घाव को अधिक खुजलाना अच्छा नहीं होता उससे विकार उत्पन्न होता

---

१२. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति सहित भाषानुवाद भा० २. पृ० ५७ से ६३ तक का सार

है, इस न्याय से हम लोग आपके दोषों को अधिक कुरेदना ठीक नहीं समझते। इससे आप में राग-द्वेष वृद्धिरूप दोष उत्पन्न होने की सम्भावना है।

'ण एस णियए मग्गे'—इसका आशय यह है कि आक्षेपकर्ताओं के प्रति प्रत्याक्षेप करते हुए सुसाधु कहते हैं—आपके द्वारा अपनाया हुआ सुसाधुओं की निन्दा करने का यह मार्ग या रवैया भगवान् के द्वारा नियत—निश्चित या युक्तिसंगत नहीं है, अथवा चूर्णिकार सम्मत **'णितिए'** पाठान्तर के अनुसार "यह मार्ग भगवान् की नीति के अनुकूल (नैतिक) नहीं है।"

तत्तेण अणुसिट्ठाते—जो साधक हेयोपादेय ज्ञाता है, तथा रागद्वेष रहित होकर सत्य बातें कहने के लिए कृतप्रतिज्ञ है, वह उन गोशालक मतानुसारी आजीवन आदि श्रमणों से तू-तू मैं-मैं, वाक्कलह, व्यर्थ विवाद या झगड़ा करने की अपेक्षा वस्तु तत्त्व की दृष्टि से, जिनेन्द्र के अभिप्राय के अनुसार यथार्थ परमार्थ प्ररूपणा के द्वारा बहुत ही मधुर शब्दों में नम्रतापूर्वक सच्ची और साफ-साफ बातें समझा दे, उन्हें हितकर और वास्तविक बातों की शिक्षा दे। यही इस पंक्ति का आशय है।

असमिक्खा वई किती—'आपका यह कथन अविचारपूर्वक है कि जो भिक्षु रोगी साधु को आहार लाकर देते हैं, वे गृहस्थ के समान हैं। तथा आप जो कार्य, आचरण या व्यवहार करते हैं, वह भी विवेक विचार शून्य हैं।'

एरिसा सा वई····न तु भिक्खुणं—इस गाथा का निष्कर्ष यह है कि "साधु को गृहस्थ के द्वारा लाया हुआ आहार करना श्रेयस्कर है, मगर साधु के द्वारा लाया हुआ नहीं," आपकी इस बात में भी बांस के अग्रभाग की तरह कोई दम नहीं है, क्योंकि एक तो इस कथन के पीछे कोई प्रमाण, कोई तर्कसंगत तथ्य या कोई हेतु सहित युक्ति नहीं है। वीतराग महर्षियों द्वारा चलाई हुई प्राचीन परम्परा से भी यह संगत नहीं है। आपका यह कथन इसलिए निःसार है कि गृहस्थों के द्वारा बना कर लाए हुए आहार में षट्कायिक जीवों का घात स्पष्ट है, साथ ही वह आहार आधाकर्म, औद्देशिक आदि दोषों से युक्त अशुद्ध होता है, जबकि साधुओं के द्वारा अनेक घरों से गवेषणा करके लाया हुआ भुक्त-शिष्ट आहार उद्गमादि दोषों से रहित, साधु के लिए आरम्भ-समारम्भ से वर्जित एवं अमृत भोजन होता है।

धम्मपण्णवणा जा सा····पुव्वमासि पकप्पियं—सर्वज्ञों की एक धर्मदेशना है—'साधुओं को दान देकर उपकार करना चाहिये' यह गृहस्थों की शुद्धि करने वाली है, साधुओं की नहीं, क्योंकि साधु तो अपने ही तप-संयम का आचरण करके शुद्ध होते हैं, यह वीतराग सर्वज्ञ पुरुषों की धर्म देशना का गलत अर्थ लगाना है। इसी गलत अर्थ को लेकर आक्षेपकर्तागण यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि रोगादि अवस्था में साधु को आहारादि लाकर देने का (साधु के प्रति) उपकार गृहस्थ को ही करना चाहिए, साधुओं को नहीं, परन्तु पूर्वकालीन सर्वज्ञों की धर्मदेशना ऐसी नहीं रही है, आप (आक्षेपकर्ता) अपनी मिथ्या दृष्टि के कारण सर्वज्ञोपदिष्ट कथन का विपरीत अर्थ करते हैं। सर्वज्ञपुरुष ऐसी तुच्छ या विपरीत बात की प्ररूपणा नहीं करते अतः रोगी साधु की वैयावृत्य साधु को नहीं करनी चाहिए, इत्यादि आजीवकादि आक्षेपकों का आक्षेप शास्त्र-विरुद्ध, युक्ति-विरुद्ध एवं अयथार्थ है।

वस्तु स्थिति यह है कि आप (आजीवकादि) लोग रुग्ण साधु की वैयावृत्य करने के लिए गृहस्थ

को प्रेरणा देते हैं, तथा इस कार्य का अनुमोदन करके रुग्ण साधु का उपकार करना स्वीकार भी करते हैं, अतः आप एक ओर रुग्ण साधु के प्रति उपकार भी करते हैं, दूसरी ओर इस उपकार का विरोध भी करते हैं। यह 'वदतो व्याघात' सा है।[13]

रुग्ण साधु की सेवा प्रसन्नचित्त साधु का धर्म : प्रतिवादी द्वारा किये गए आक्षेप का निवारण करने के पश्चात् शास्त्रकार २२३वीं सूत्रगाथा में स्वपक्ष की स्थापना के रूप में स्वस्थ साधु द्वारा ग्लान (रुग्ण, वृद्ध, अशक्त आदि) साधु की सेवा को अनिवार्य धर्म बताते हुए कहते हैं—

"इमं च धम्म ·· कुज्जा भिक्खु गिलाणस्स अगिलाए समाहिते"—इसका आशय यह है कि साधु के लिए इस सेवाधर्म का प्रतिपादन मैं (सुधर्मास्वामी) ही नहीं कर रहा हूँ, अपितु काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर ने केवलज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् देव, मनुष्य आदि की परिषद् में किया था।

ग्लान साधु की सेवा दूसरा साधु किस प्रकार करे ?—इसके लिए यहाँ दो विशेषण अंकित किये हैं—(१) **अगिलाए** (२) **समाहिते**। अर्थात्—ग्लानि रहित एवं समाहित—समाधियुक्त—प्रसन्नचित्त होकर। इन दो विशेषताओं से युक्त होकर रुग्ण साधु की सेवा करेगा, तभी वह धर्म होगा—संवर-निर्जरा का कारण होगा, कदाचित् पुण्यबन्ध हो तो शुभगति का कारण होगा।

ग्लानिरहित एवं समाधि युक्त होकर सेवा करने के विधान के पीछे एक अन्य आशय भी वृत्तिकार अभिव्यक्त करते हैं—यदि साधु स्वयं समाधियुक्त होकर अग्लानभाव से रुग्ण साधु की सेवा नहीं करेगा या सेवा से जी चुराएगा; तो भविष्य में कदाचित् वह भी किसी समय अशुभ कर्मोदयवश रुग्ण, अस्वस्थ या अशक्त हो सकता है, उस समय उसकी सेवा से दूसरे साधु कतराएँगे, तब उक्त साधु के मन में असमाधिभाव उत्पन्न होगा। अतः स्वयं को तथा रुग्ण साधु को जिस प्रकार से समाधि उत्पन्न हो उस प्रकार से आहारादि लाकर देना व उसकी सेवा करना स्वस्थ साधु का मुख्य धर्म है।[14]

परास्तवादियों के साथ विवाद के दौरान मुनि का धर्म—यहाँ सूत्रगाथा २२० से २२२ तक में अन्यमतवादियों के मिथ्या आक्षेपों का उत्तर देते समय कैसी विकट परिस्थितियों की सम्भावना है, और वैसी स्थिति में मुनि का धर्म क्या है ? यह संक्षेप में निर्देश किया गया है। यहाँ तीन परिस्थितियों की सम्भावनाएँ व्यक्त की हैं—(१) परास्तवादी वाद को छोड़कर धृष्टतापूर्वक अपने पक्ष को ही यथार्थ मानने पर अड़ जाएँ, (२) रागद्वेप एवं मिथ्यात्व से ग्रस्त होकर प्रतिवाद आक्रोश (गाली-गलौच, मार-पीट आदि) का आश्रय लें, अथवा (३) विवाद के दौरान कठोरता, अपशब्द-व्यंग्यवचन आदि के प्रयोग, या वाध्य) करने की नीति को देखकर कोई अन्यतीर्थी धर्मजिज्ञासु विरोधी न बन जाए।

वृत्तिकार का आशय यह प्रतीत होता है कि ऐसी परिस्थिति में मुनि को इस प्रकार मनःसमाधान से युक्त एवं कपायोत्तेजना से रहित होकर ऐसे हठाग्रहियों से विवाद न करना ही श्रेयस्कर है।

---

[13] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ९१ से ९४
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४५६ से ४६२

[14] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पृ० ९३ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांक अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४६८ के आधार पर

पाठान्तर और व्याख्या—परिभासेज्जा—कहे, वतलाए। चूर्णिकार **'पडिभासेज्ज'** पाठान्तर मानते हैं, जिसका अर्थ होता है—प्रतिवाद करे, प्रत्याक्षेप करे। **उज्जया**—उज्जात यानी उज्जड़ या अक्खड़ लोग, वृत्तिकार सम्मत पाठान्तर है—**उज्झिया,** अर्थ किया है—सद्विवेकशून्याः—सद्विवेक से शून्य। किसी-किसी प्रति में **"उज्जुया', 'उज्जुत्ता'** पाठान्तर हैं, जिनका अर्थ होता है– लड़ाई करने को उद्यत अथवा अपनी जिद्द पर अड़े हुए। **'ण एस णियए मग्गे'**—वृत्तिकार के अनुसार—आपके द्वारा स्वीकृत यह मार्ग कि "साधुओं को निश्चित न होने के कारण परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव नहीं होता" **नियत**—निश्चित या युक्ति संगत नहीं है। चूर्णिकार **'ण एस णितिए मग्गे'** पाठान्तर मानकर दो अर्थ प्रस्तुत करते हैं—**'न एष भगवतां नीतिको मार्गः, नितिको नाम नित्यः।'**—भगवान् की (अनेकान्तमयी) नीति के अनुरूप यह मार्ग नहीं है, अथवा नीतिक का अर्थ 'नित्य' है, यह मार्ग नित्य (उत्सर्ग) मार्ग नहीं है, अर्थात् अपवाद मार्ग है। **'अग्गे वेणुव्व करिसिता'**—वृत्तिकार के अनुसार—**'अग्रे वेणुवत् वंशवत् कर्षिता दुर्वलेत्यर्थः।'** अर्थात् वांस के अग्रभाग की तरह आपका कथन दुर्वल है, वजनदार नहीं। चूर्णिकार के अनुसार पाठान्तर है—**"अग्गे वेलुव्व करिसिति—विल्वो हि मूले स्थिरः अग्रेकर्षितः।** अर्थात् विल्व की तरह मूल में स्थिर और अग्रभाग में दुर्वल। **वायं णिराकिच्चा**—वृत्तिकार के अनुसार—**'सम्यग्हेतु दृष्टान्तैर्यो वादो—जल्पस्तं परित्यज्य'** अर्थात् सम्यक् हेतु, दृष्टान्त आदि से युक्त जो वाद—जल्प है, उसका परित्याग करके। चूर्णिकार सम्मत एक पाठान्तर है—**वादं निरे किच्चा**—अर्थ इस प्रकार है—**निरं णाम पृष्ठतः वादं निरेकृत्वा**—अर्थ है वाद को पीठ करके यानी पीछे धकेलकर।[१५] वृत्तिकार ने कहा है—अनेक असत्वादियों की अपेक्षा एक सत्यवादी ज्ञानी का कथन प्रमाणभूत होता है। **'अचयंता जवित्तए'**—स्वपक्ष में अपने आपको संस्थापित करने में असमर्थ। पाठान्तर है—**"अचयंता जहित्तते"** अर्थ होता है—अपने पक्ष को छोड़ने में असमर्थ। **अगिलाए समाहिते**—वृत्तिकार के अनुसार **'अग्लानतया समाहितः समाधि प्राप्तः।'** अर्थात् स्वयं अग्लान भाव को प्राप्त एवं समाधि युक्त होकर। चूर्णिकार **'अगिलाणेण समाधिए'** पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं—**'अगिलाणेण—अनार्दितेन अव्यथितेन समाधिएत्ति समाधिहेतोः।'** अर्थात्—समाधि के हेतु अग्लान यानि अव्यथित होते (मन में किसी प्रकार का दुःख या पीड़ा महसूस न करते हुए)।[१६]

टंकणा इव पव्वयं—वृत्तिकार के अनुसार पहाड़ में रहने वाली म्लेच्छों की एक जाति

---

[१५] (क) सूत्रकृतांग अमरसुखवोधिनी व्याख्या, पृ० ४६३ से ४६७ तक का सारांश
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पृ० ९२-९३

[१६] एरंडकट्ठरासी जहा य गोसीसचन्दनपलस्स।
मोल्ले न होज्ज सरिसो कित्तियमेत्तो गणिज्जंतो ॥१॥
तह वि गणणातिरेगो जह रासी सो न चन्दनसरिच्छो।
तह निव्विण्णाणमहाजणो वि सोज्झइ विसंवयति ।२॥
एक्को सचक्खुगो जह अंधलयाणं सएहिं वहुएहिं।
होइ वरं दट्ठव्वो णहु ते वहु गा अपेच्छंता ॥३॥
एवं वहुगा वि मूढा ण पमाणं जे गई ण याणंति।
संसारगमणगुविलं णिउणस्स य वंधमोक्खस्स ॥४॥

—सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति में उद्धृत पत्रांक ९३

विशेप टंकण कहलाती है। सूत्रकृतांग अंग्रेजी अनुवाद के टिप्पण में टंकण जाति को मध्यप्रदेश के ईशानकोण में रहने वाली पर्वतीय जाति बतलाई है। जैसे दुर्जय टंकण जाति के भील किसी प्रबल शक्तिशाली पुरुष की सेना द्वारा हराकर खदेड़ दिये जाते हैं, तब वे आखिर पर्वत का ही आश्रय लेते हैं, वैसे ही विवाद में परास्त लोग और कोई उपाय न देखकर आक्रोश का ही सहारा लेते हैं।[१७]

उपसर्ग विजय का निर्देश

२२४. **संखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिनिव्वुडे।**
उवसग्गे नियामित्ता, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥२१॥ —त्ति बेमि।

२२४. सम्यग् दृष्टिसम्पन्न (पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता-द्रष्टा), प्रशान्त (रागद्वेष रहित-कपायोपशान्तियुक्त) मुनि (इस सर्वज्ञप्रणीत श्रुति-चारित्र रूप) उत्तम धर्म को जानकर उपसर्गों पर नियन्त्रण (उन्हें वश में) करता हुआ मोक्ष प्राप्ति-पर्यन्त संयम में पराक्रम करे।—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त उपसर्ग-विजय करे—तृतीय उद्देशक के अन्त में उपसर्ग विजय के निर्देश के सन्दर्भ में तीन तथ्यों को अभिव्यक्त किया है—(१) उत्तम धर्म को जानकर, (२) दृष्टिमान् एवं उपशान्त मुनि (३) मोक्ष प्राप्त होने तक संयमानुष्ठान से उद्यम करे। संक्षेप में उपसर्ग विजय, क्या करके, कौन और कब तक करता रहे? इन तीन तथ्यों का उद्घाटन किया गया है।[१८]

पाठान्तर और व्याख्या—पेसलं—सुन्दर—अहिंसादि में प्रवृत्ति होने के कारण प्राणियों की प्रीति का कारण। **उवसग्गो नियामित्ता** वृत्तिकार के अनुसार—"उपसर्गान् अनुकूल-प्रतिकूलान् नियम्य संयम्य सोढा, नोपसर्गैरुपसर्गितोऽसमंजसं विदध्यात्।" अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों पर नियमन-संयम करके सहन (वश में) करे। उपसर्गों से पीड़ित होने पर असमंजस (उलझन) में न पड़े। चूर्णिकार **'उवसग्गे अधियासेंतो'** पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं उपसर्गों को सहन करता हुआ। **'आमोक्खाए'** चूर्णिकार के अनुसार—**मोक्षापरिसमाप्ते**····**मोक्खो द्विविधः भवमोक्खो सव्वकम्ममोक्खो य, उभयहेतोरपि आमोक्षाय परिव्रजे**—अर्थात् मोक्ष की परिसमाप्ति—पूर्णता तक····मोक्ष दो प्रकार का है—भवमोक्ष जन्ममरण रूप संसार से मुक्ति, सर्व कर्ममोक्ष—समस्त कर्मक्षय रूप मोक्ष। इन दोनों मोक्षों की प्राप्ति के हेतु संयम में पराक्रम करे। वृत्तिकार **'आमोक्खाय'** पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं—"आमोक्षाय अशेपकर्मक्षयप्राप्ति यावत्—अर्थात् मोक्ष प्राप्ति समस्त कर्मक्षय प्राप्ति तक।[१९]

□□

---

[१७] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ९४

(ख) "This hill-tribe lived some-where in the north-east of Madhyapradesa, see Peterburg Dictionary. S. V." —Sacred Books of the East Vol-XIV, p. 268

(ग) सूयगडंग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० ३८ से ४० तक

[१८] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति भाषानुवाद सहित भा० २, पृ० ७०

[१९] (क) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ४०

(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ९४

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

महापुरुषों की दुहाई देकर संयम-भ्रष्ट करने वाले उपसर्ग

२२५. आहंसु महापुरिसा, पुव्वि तत्ततवोधणा।
उदएण सिद्धिमावण्णा, तत्थ मंदे विसीयती ॥१॥

२२६. अभुंजिया णमी वेदेही, रायगुत्ते य भुंजिया।
बाहुए उदगं भोच्चा, तहा तारागणे रिसी ॥२॥

२२७. आसिले देविले चेव, दीवायण महारिसी।
पारासरे दगं भोच्चा, बीयाणि हरियाणि य ॥३॥

२२८. एते पुव्वं महापुरिसा, आहिता इह संमता।
भोच्चा बीओदगं सिद्धा, इति मेतमणुस्सुतं ॥४॥

२२९. तत्थ मंदा विसीयंति, वाहच्छिन्ना व गद्दभा।
पिट्ठतो परिसप्पंति, पीढसप्पी व संभमे ॥५॥

२२५. कई (परमार्थ से अनभिज्ञ) अज्ञजन कहते हैं कि प्राचीनकाल में तप्त (तपे तपाये) तपोधनी (तपरूप धन से सम्पन्न) महापुरुष शीतल (कच्चे) पानी का सेवन करके सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त हुए थे। (ऐसा सुनकर) अपरिपक्व बुद्धि का साधक उसमें (शीतजल के सेवन में) प्रवृत्त हो जाता है।

२२६. वैदेही (विदेह देश के राजा) नमिराज ने आहार छोड़कर और रामगुप्त ने आहार का उपभोग करके, तथा बाहुक ने एवं तारागण (तारायण या नारायण) ऋषि ने शीतल जल आदि का सेवन करके (मोक्ष पाया था।)

२२७. आसिल और देवल ऋषि ने, तथा महर्षि द्वैपायन एवं पाराशर ऋषि (आदि) ने शीतल (सचित्त) जल बीज एवं हरी वनस्पतियों का उपभोग करके (मोक्ष प्राप्त किया था।)

२२८. पूर्वकाल में ये महापुरुष सर्वत्र विख्यात थे और यहाँ (आर्हत प्रवचन में) भी ये (इनमें से कोई-कोई) सम्मत (मान गये) हैं। ये सभी सचित बीज एवं शीतजल का उपभोग करके सिद्ध (मुक्त) हुए थे; ऐसा मैंने (कुतीर्थिक या स्वयूथिक ने) (महाभारत आदि पुराणों से) परम्परा से सुना है।

२२९. इस प्रकार की भ्रान्तिजनक (बुद्धिभ्रष्ट या आचारभ्रष्ट करने वाले) दुःशिक्षणरूप उपसर्ग के होने पर मन्दबुद्धि साधक भारवहन से पीड़ित गधों की तरह दुःख का अनुभव करते हैं। जैसे लकड़ी के टुकड़ों को पकड़कर चलने वाला (पृष्ठसर्पी) लंगड़ा मनुष्य अग्नि आदि का उपद्रव होने पर

(भगदड़ के समय) भागने वाले लोगों के पीछे-पीछे (सरकता हुआ) चलता है, उसी तरह मन्दमति साधक भी संयमनिष्ठ मोक्षयात्रियों के पीछे-पीछे रेंगता हुआ चलता है (अथवा वह उन दुःशिक्षकों का पिछलग्गू हो जाता है।)

विवेचन—महापुरुषों की दुहाई देकर संयमभ्रष्ट करने वाले—प्रस्तुत पंचसूत्रगाथाओं (सूत्र-गाथा २२५ से २२९ तक) में एक ऐसे अनुकूल उपसर्ग और मन्दबुद्धि साधकों पर उसकी प्रतिक्रिया का वर्णन किया गया है, जिसमें कुछ शिथिल साधकों द्वारा अपनी अनाचाररूप प्रवृत्तियों को आचार में समाविष्ट करने हेतु प्रसिद्ध पूर्वकालिक ऋषियों की दुहाई देकर कुतर्कों द्वारा मन्दसाधक की बुद्धि को भ्रष्ट किया जाता है और उन्हें अनाचार में फँसाने का प्रयत्न किया जाता है।

प्रस्तुत पंचसूत्री में कुछ ऋषियों के नाम लिए बिना, तथा कुछ प्रसिद्ध ऋषियों के नाम लेकर इस उपसर्ग के उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं—

(१) पूर्वकाल में वल्कलचीरी, तारागण आदि महापुरुषों ने पंचाग्नि आदि तप करके शीत-जल; कन्दमूल-फल आदि का उपभोग करके सिद्धि प्राप्त की थी। (२) वैदेही नमिराज ने आहार त्यागकर (३) रामगुप्त ने आहार का उपभोग करके, (४) बाहुकऋषि ने शीतल जल का उपभोग करके, (५) इसी तरह तारायण या नारायण ऋषि ने भी जल सेवन करके, (६, ७, ८, ९) असिल, देवल, द्वैपायन एवं पाराशर महर्षि ने शीत (कच्चा) जल, बीज और हरी वनस्पति का उपभोग करके, सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त की है, ऐसा मैंने महाभारत पुराणों से सुना है। पूर्वकाल (त्रेता-द्वापर आदि युगों) में ये महापुरुष प्रसिद्ध रहे हैं और आर्हत प्रवचन में ये माने गये हैं।[1]

ये महापुरुष कहाँ तथा किस रूप में प्रसिद्ध हैं—निमिवैदेही—भागवत-पुराण में निमि का चरित्र अंकित है। वहाँ निमि के 'जनक', 'वैदेह' और 'मिथिल' नाम क्यों पड़े? इसका भी कारण बताया गया है। बौद्धग्रन्थ सुत्तपिटक में **'निमिराजचरिया'** के नाम से निमि का चरित मिलता है। जैन आगम उत्तराध्ययन सूत्र में **'नमिपव्वज्जा'** अध्ययन में नमिराजर्षि और इन्द्र का संवाद अंकित है।[2]

---

[1] जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा० १

[2] (क) सूयगडंग सुत्तं (मू० पा० टिप्पण) प्रस्तावना एवं टिप्पण पृ० १४, १५ तथा ४०-४१

(ख) णमी वेदेही—देखिये श्रीमद् भागवत० (९।१३।१ से १३ श्लो० तक) में—'श्री शुक उवाच—

निमिरिक्ष्वाकुतनयो वशिष्ठमवृतर्त्विजम्। आरभ्य ···वृतोऽस्मि भोः ॥१॥

तं निर्वृत्या····करोन्मखम् ॥२॥

निमिश्चलमिदं विद्वान्····यावता गुरुः ॥३॥

शिष्यव्यतिक्रमं····निमेः पण्डितमानिनः ॥४॥

निमिः प्रतिददौ शापं····धर्ममजानतः ॥५॥

इत्युससर्ज एवं देहं निमिध्यात्मकोविदः····प्रपितामहः ॥····देवा उचुः—विदेह उष्यतां कामं लोचनेषु

शरीरिणाम्। उन्मेषणनिमेषाभ्यां लक्षितोऽध्यात्मसंस्थितः ॥११॥

जन्मना जनकः सोऽभूद् वैदेहस्तु विदेहजः। मिथिलो मथनाज्जातो, मिथिला येन निर्मितः ॥१३॥

रामगुत्त-रामपुत्त—इसिभासियाइं (ऋषिभाषित) के रामपुत्तिय नामक २३वें अध्ययन में रामपुत्त नाम मिलता है। वृत्तिकार के अनुसार रामगुप्त एक राजर्पि थे।[3] **बाहुक-आर्हतऋषि**—इसिभासियाइं के १४वें बाहुक अध्ययन में बाहुक को आर्हतऋषि कहा गया है। महाभारत के तीसरे आरण्यक-पर्व में नल राजा का दूसरा नाम 'बाहुक' बताया गया है, पर वह तो राजा का नाम है।[4] **तारागण-तारायण या नारायण ऋषि**—इसिभासियाइं के ३६वें तारायणिज्ज नामक अध्ययन में तारायण या तारागण ऋषि का नामोल्लेख आता है।[5] **आसिल (असित ?) देविल (देवल) ऋषि**—वृत्तिकार ने असिल और देविल दोनों अलग-अलग नाम वाले ऋषि माने हैं। किन्तु **'इसिभासियाइं'** के तृतीय दविल अध्ययन में असित दविल आर्हतऋपि के रूप में एक ही ऋषि का नामोल्लेख है। सूत्रकृतांग चूर्णि का भी यही आशय प्रतीत होता है। महाभारत में भी तथा भगवद्गीता में आसित देवल के रूप में एक ही नाम का कई जगह उल्लेख है। इस पर से ऋपि का देवल गोत्र और असित नाम प्रतीत होता है। वायुपुराण के प्रथम खण्ड में ऋषिलक्षण के प्रकरण के अनुसार असित और देवल ये दोनों पृथक्-पृथक् मालूम होते हैं।[6]

दीवायण महा सी और पारासर—इसिभासियाइं के ४०वें **'दीवायणिज्ज'** नामक अध्ययन में द्वीपायन ऋषि का नामोल्लेख मिलता है, वहाँ पाराशर ऋषि का नामोल्लेख नहीं है। महाभारत में **'द्वैपायन'** ऋपि का नाम मिलता है। व्यास, पाराशर (पराशर पुत्र) ये द्वैपायन के ही नाम हैं। ऐसा वहाँ उल्लेख है। वृत्तिकार ने द्वैपायन और पाराशर इन दोनों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। इसी

(आ) देखिए सुत्तपिटक चरियापिटक पालि, निमिराज चरिया (पृ० ३९०) में—
"पुनापरं यदा होमि मिथिलायं पुरिसुत्तमे। निमि नाम महाराजा, पण्डितो कुसलत्थिको ॥१॥
तदाहं मापयित्वा न चतुस्सालं चतुम्मुखं। तत्थ दानं पवत्तेसिं मिगपक्खिनरादिनं ॥२॥"

(इ) देखिए—उत्तराध्ययन नमि पविज्जा अध्ययन ९ में—
तओ नमि रायरिसी देविंदं इण मव्ववी

[3] रामगुत्ते—(अ) इसिभासियाइं अ. १३ रामपुत्तिय अध्ययन देखिए।
(आ) रामगुप्तश्च राजर्पि: —वृत्तिकार शीलांकाचार्य

[4] इसिभासियाइं में १४वाँ अध्ययन बाहुकज्झयणं देखिये।

[5] इसिभासियाइं में ३६वाँ तारायणिज्जज्झयणं देखिये।

[6] (अ) इसिभासियाइं में तीसरे दविलज्झयणं में—"असिएण दविलेणं अरहता इसिणा बुइतं।"
(आ) आसिलो नाम महर्षि: देविलो द्वैपायनश्च तथा पाराशराख्य: ॥ —शीला० वृत्ति
(इ) असितो देवलो व्यास: स्वयंचैव ब्रवीपि मे ॥ —भगवद्गीता अ० १०/१३
(ई) वायुपुराण में ऋपि लक्षण में—
काश्यपश्चैव वत्सारो विभ्रमोरैभ्य एव च।
असितो देवलश्चैव षडेते ब्रह्मवादिन: ॥
(उ) देवलस्त्वसितोऽब्रवीत् (महा. भीष्म पर्व ६।६४।६)
"नारदस्य च संवादं देवलस्यासितस्य च।" (शान्तिपर्व १२।२६७।१)

तरह औपपातिक (उववाइय) सूत्र में आठ माहन-परिव्राजकों में **'परासर'** और **'दीवायण'** इन दो परिव्राजकों (ऋषियों) के नामोल्लेख हैं।[७]

मोक्षप्राप्ति का कारण शीतलजलादि था या और कुछ ?—भ्रान्ति उत्पादक एवं बुद्धिवञ्चक अन्यतीर्थिक लोग मोक्ष के वास्तविक कारणों से अनभिज्ञ होते हैं, इसलिए वे प्रसिद्ध ऋषियों के नाम के साथ कच्चे पानी, पंचाग्नि आदि तप, हरी वनस्पति आदि के उपभोग को जोड़कर उसी को मोक्ष का कारण बताते हैं। वृत्तिकार कहते हैं कि वे परमार्थ से अज्ञ यह नहीं जानते कि वल्कलचीरी आदि जिन ऋषियों या तापसों को सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त हुई थी, उन्हें किसी निमित्त से जातिस्मरण आदि ज्ञान उत्पन्न हुआ था, जिससे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र प्राप्त हुआ था, किन्तु सर्वविरति परिणामरूप भावलिंग के बिना केवल जीवोपमर्दक शीतजल-बीज-वनस्पति आदि के उपभोग से सर्वथा कर्मक्षय नहीं हो सकता। चूर्णिकार भी यह बात कहते हैं कि अज्ञलोग कहते हैं—इन प्रत्येकबुद्ध ऋषियों को वनवास में रहते हुए बीज, हरितवनस्पति आदि के उपभोग से केवलज्ञान उत्पन्न हो गया था, जैसे कि भरतचक्रवर्ती को शीशमहल में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था। वे कुतीर्थी यह नहीं जानते कि किस भाव में प्रवर्त्तमान व्यक्ति को केवलज्ञान होता है ? किस रत्नत्रय से सिद्धत्व प्राप्त होता है, इस सैद्धान्तिक तत्त्व को न जानते हुए वे विपरीत प्ररूपणा कर देते हैं।[८]

कैसे चारित्र से पतित या बुद्धिभ्रष्ट हो जाते हैं ?—ऐसे अज्ञानियों द्वारा महापुरुषों के नाम से फैलाई हुई गलत बातों को सुनकर अपरिपक्व बुद्धि या मन्दपरिणामी साधक चक्कर में आ जाते हैं, वे उन बातों को सत्य मान लेते हैं, प्रासुक जल पीने तथा स्नान न करने से घबराये हुए वे साधक पूर्वापर का विचार किये बिना झटपट शीतल जल, आदि का उपभोग करने लगते हैं, शिथिलाचार को सम्यक्आचार में परिगणित कराने के लिए पूर्वोक्त दुहाई देने लगते हैं कि जब ये प्रसिद्ध ऋषि सचित्त जल पीकर निरन्तर भोजी रहकर एवं फल बीज वनस्पति (कन्दमूल आदि) खाकर मुक्त हुए हैं, महापुरुष बने हैं, तो हम वैसा क्यों नहीं कर सकते ? जैसा कि २२८वीं सूत्रगाथा में कहा है—**'एते पुव्वं···सिद्धा इति मे समणुस्सुतं।'** इस प्रकार के हेत्वाभास (कुतर्क) द्वारा शिथिल श्रमण साध्वाचार से भ्रष्ट हो जाते हैं। उनकी बुद्धि चकरा जाती है, वे किंकर्तव्यविमूढ होकर चारित्रभ्रष्ट या मार्गभ्रष्ट हो जाते हैं और अन्त में संसार-सागर में डूब जाते हैं। यही बात शास्त्रकार ने २२५वीं सूत्रगाथा में स्पष्ट कह दी है—**'आहंसु महापुरिसा ···मन्दो विसीयती।'**[९]

---

७. (क) "दीवायण महारिसी। पारासरे····—(अ) तत्थ खलु इमे अट्ठमाहण-परिव्वायगा भवंति—

कण्हे य करकंडे य अंबडे य परासरे।
कण्हे दीवायणे चेव देवगुत्ते य नारए। —ओववाइयसुत्तं

(ख) महाभारते—"परासरसुतः (पाराशरः) श्रीमान् व्यासो वाक्य मुवाचह।" —शान्तिपर्व १२।३२७।२०

(ग) एतद्विषयक विशेष विवेचन 'पुरातत्त्व' (त्रैमासिकी पत्रिका) में प्रकाशित 'सूत्रकृतांग मां आवतां विशेष नामो' शीर्षक लेख में उपलब्ध है। —सम्पादक

८. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ९६

(ख) सूयगडंग चूर्णि पृ० ९६

९. (क) जैन साहित्य का बृहत् इतिहास भा० १

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४७३-४७४ के अनुसार

इस उपसर्ग से पीड़ित साधकों की अवदशा—अदूरदर्शी भोले-भाले मन्दपराक्रमी साधक जब भ्रान्तिजनक मिथ्यादृष्टि दुःशिक्षकों के चक्कर में आकर ऐसे उपसर्ग के आने पर झट फिसल जाते हैं, ऐसे साधकों की अवदशा को शास्त्रकार दो दृष्टान्तों द्वारा प्रतिपादित करते हैं—**तत्थ मन्दा विसीयन्ति ....पिट्ठसप्पीय सम्भमे।** आशय यह है—ऐसे मन्द पराक्रमी साधक संयम के भार को वहन करने में इसी प्रकार की तीव्र पीड़ा महसूस करते हैं, जिस प्रकार बोझ से पीड़ित गधे चलने में दुःख महसूस करते हैं। अथवा ऐसे संयम में शिथिल हतोत्साह साधक अग्निकाण्ड आदि का उपद्रव होने पर हड़बड़ी में भागने वालों के पीछे लकड़ी के टुकड़ों को हाथ में पकड़कर सरक-सरक कर चलने वाले उस लंगड़े की तरह हैं, जो तेजी से मोक्ष की ओर जाने वाले साधकों के पीछे रोते-पीटते रेंगते हुए बेमन से चलते हैं। ऐसे कच्ची बुद्धि वाले साधक उपसर्ग पीड़ित होकर संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।

कठिन शब्दों की व्याख्या—**आंहसु**—कहते हैं। **आहिता**—'आ समन्तात् ख्याता:—आख्याताः, प्रख्याताः राजर्षित्वेन प्रसिद्धिमुपगता' अर्थात्—पूरी तरह ख्यात यानी प्रख्यात, राजर्षि के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त। **इह सम्मता**—इहापि आर्हत-प्रवचने सम्मता अभिप्रेता—अर्थात् यहाँ ऋषिभाषित आदि आर्हत प्रवचन में भी इनमें से कई माने गये हैं। **सम्भमे**—अग्निकाण्ड आदि होने पर भगदड़ के समय।[10]

सुख से ही सुख प्राप्ति : मिथ्या मान्यता रूप उपसर्ग

२३०. इहमेगे उ भासंति, सातं सातेण विज्जती।
जे तत्थ आरियं मग्गं, परमं च समाहियं ॥६॥

२३१. मा एयं अवमन्नंता, अप्पेणं लुम्पहा बहुं।
एतस्स अमोक्खाए, अयहारि व्व जूरहा ॥७॥

२३२. पाणाइवाए वट्टंता, मुसावाए असंजता।
अदिन्नादाणे वट्टंता, मेहुणे य परिग्गहे ॥८॥

२३०. इस (मोक्ष प्राप्ति के) विषय में कई (मिथ्यादृष्टि बौद्ध) कहते हैं—'सुख (साता) सुख से (साता से) ही प्राप्त होता है।' (परन्तु) अनन्तसुख रूप मोक्ष के विषय में जो आर्य (समस्त हेय धर्मों से दूर रहने वाला एवं तीर्थंकर प्रतिपादित) मार्ग (मोक्षमार्ग) है, तथा जो परमसमाधि रूप (ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मक) है, (उसे) जो (छोड़ देते हैं, वे व्यामूढ़मति हैं।)

२३१. इस (जिनप्ररूपित मोक्षमार्ग) को तिरस्कृत करते हुए ('सुख से ही सुख की प्राप्ति होती है', इस भ्रान्त मान्यता के शिकार होकर ठुकराते हुए) तुम (अन्य साधक) अल्प (तुच्छ) विषय सुख के लोभ से अत्यन्त मूल्यवान मोक्षसुख को मत विगाड़ो (नष्ट मत करो)। सुख से ही सुख प्राप्त होता है) इस मिथ्या मान्यता को नहीं छोड़ने पर सोने को छोड़ कर लोहा लेने वाले वणिक् की तरह पछताओगे।

---

[10] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ९६

२३२. आप (सुख से सुख प्राप्ति के मिथ्यावाद के प्ररूपक) लोग प्राणातिपात (हिसा) में प्रवृत्त होते हैं, (साथ ही) मृषावाद (असत्य), अदत्तादान (चोरी), मैथुन (अब्रह्मचर्य) सेवन और परिग्रह में भी प्रवृत्त होते हैं, (इस कारण आप लोग) असंयमी हैं।

विवेचन—'सुख से ही सुख प्राप्ति' : एक मिथ्यामान्यता रूप उपसर्ग—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओं (२३० से २३२ तक) में मोक्षमार्ग से भ्रष्ट करने वाले मिथ्या मान्यता रूप उपसर्ग का निदर्शन प्रस्तुत किया गया है। इस मिथ्या मान्यता रूप उपसर्ग के सम्बन्ध में यहाँ दो तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं—(१) 'सुख से ही सुख मिलता है, इस मिथ्या मान्यता के शिकार मूढ़मति साधक रत्नत्रयात्मक अनन्त सुखात्मक मोक्ष मार्ग को छोड़ देते हैं, (२) ऐसे मिथ्यावाद के प्ररूपक तथा ऐसे उपसर्ग से पीड़ित लोग पांचों आस्रवों में प्रवृत्त होते देर नहीं लगाते।[11]

'सुख से ही सुख की प्राप्ति'—यह मान्यता किसकी, कैसे और क्यों ?—चूर्णिकार ने यह मत बौद्धों का माना है, वृत्तिकार ने भी इसका समर्थन किया है, किन्तु साथ ही यह भी बताया है कि कुछ जैन श्रमण, जो केशलोच, पादविहार, रात्रिभोजन-त्याग, कठोर तप आदि कष्टों से सन्तप्त हो जाते हैं, वे भी इस मिथ्या मान्यता रूप उपसर्ग के प्रवाह में बह जाते हैं और मोक्षमार्ग से भटक जाते हैं। वे कहते हैं—सुख द्वारा सुख प्राप्त किया जा सकता है, अतः सुखप्राप्ति के लिए कष्ट सहन करने की आवश्यकता नहीं है। जो लोग सुख प्राप्ति के लिए तपरूप कष्ट उठाते हैं, वे भ्रम में हैं। बौद्धग्रन्थ 'सुत्तपिटक' मज्झिम निकाय के चूल दुक्खखंध सुत्त में निर्ग्रन्थों के साथ गौतम-बुद्ध का जो वार्तालाप हुआ है, उसमें निर्ग्रन्थों के कथन का जो उत्तर दिया है, उस पर से यह बौद्धमत है, इतना स्पष्ट हो जाता है।[12] इसके अतिरिक्त 'इसिभासियाइं' के ३८वें अध्ययन—'साइपुत्तिज्ज' में इस मान्यता का स्पष्ट उल्लेख है—'जो सुख से सुख उपलब्ध होता है; वही अत्यन्त सुख है, सुख से जो दुःख उपलब्ध होता है, मुझे उसका समागम न हो।' सातिपुत्र बुद्ध का यह कथन है—"मनोज्ञ भोजन एवं मनोज्ञ शयनासन का सेवन करके मनोज्ञ घर में जो भिक्षु (मनोज्ञ पदार्थ का) ध्यान करता है, वही समाधि (सुख) युक्त है। अमनोज्ञ भोजन एवं अमनोज्ञ शयनासन का उपभोग करके अमनोज्ञ घर में (अमनोज्ञ पदार्थ का) जो भिक्षु ध्यान करता है, वह दुःख का ध्यान है।"[13]

---

[11] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति भाषानुवाद सहित भा० २, पृ० ७७ से ८२ का सारांश

[12] '……न खो, आवुसो गोतम, सुखेन सुखं अधिगंतव्वं, दुक्खेन खो सुखं अधिगंतव्वं……।
—सुत्तपिटक मज्झिमनिकाय चूलदुक्खखंध सूत्र पृ० १२८/१२९

[13] (क) "जं सुहेण सुहं लद्धं अच्चंत सुखमेव तं।
जं सुहेण दुहं लद्धं मा मे तेण समागमो ॥" —सातिपुत्तेण बुद्धेण अरहता—वुइतं
मणुण्णं भोयणं भुच्चा, मणुण्णं सयणासणं।
मणुण्णंसि अगारंसि झाति भिक्खु समाहिए ॥२॥
अमणुण्णं भोयणं भुच्चा, अमणुण्णं सयणासणं।
अमणुण्णंसि गेहंसि दुक्खं भिक्खू झियायती ॥३॥ —इसिभासियाइं अ० ३८, पृ० ८५

(ख) सूयगडंग मूलपाठ टिप्पण युक्त (जम्बूविजयजी) प्रस्तावना एवं परिशिष्ट पृ० १६ एवं ३६५

यहाँ 'सातिपुत्त' शब्द का अर्थ गौतम बुद्ध विवक्षित हो तो इस शब्द का संस्कृत रूपान्तर 'शाक्यपुत्र' करना चाहिए। परन्तु इसिभासियाइं की टीका में अन्त में शारिपुत्रीयमध्ययनम् कहा गया है। यहाँ 'सातिपुत्र' शब्द का अर्थ यदि 'शारिपुत्र' अभीष्ट हो तो यहाँ बुद्ध का अर्थ बौद्ध (बुद्ध) शिष्य करना चाहिए, जैसा कि इसिभासियाइं की टीका में भी **'इति बौद्धर्षिणा भाषितम्'** कहा गया है।

'सुख से ही सुख की प्राप्ति होती है' इस मान्यता को सिद्ध करने के लिए उपर्युक्त प्रमाणों के अतिरिक्त, बौद्ध यह कुतर्क प्रस्तुत करते हैं—न्यायशास्त्र का एक सिद्धान्त है—'कारण के अनुरूप ही कार्य होता है, इस दृष्टि से जिस प्रकार शालिधान के बीज से शालिधान का ही अंकुर उत्पन्न होता है, जौ का नहीं; उसी प्रकार इहलोक के सुख से ही परलोक का या मुक्ति का सुख मिल सकता है, मगर लोच आदि के दुःख से मुक्ति का सुख नहीं मिल सकता।'

इसके अतिरिक्त वे कहते हैं—'समस्त प्राणी सुख चाहते हैं, दुःख से सभी उद्विग्न हो उठते हैं, इसलिए सुखार्थी को स्वयं को (दूसरों को भी) सुख देना चाहिए सुख प्रदाता ही सुख पाता है। अतः मनोज्ञ आहार-विहार आदि करने से चित्त में प्रसन्नता (साता) प्राप्त होती है, चित्त प्रसन्न होने पर एकाग्रता (ध्यान विषयक) प्राप्त होती है और उसी से मुक्ति की प्राप्ति होती है किन्तु लोच आदि काया कष्ट से मुक्ति नहीं हो सकती।

इसी भ्रान्त मान्यता के अनुसार उत्तरकालीन बौद्ध भिक्षुओं की वैषयिक सुख युक्त दिनचर्या के प्रति कटाक्ष रूप में यह प्रसिद्ध हो गया—

"मृद्वी शय्या, पातरुत्थाय पेया, भक्तं मध्ये पानकं चापराह्णे।
द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्द्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टाः।"

'भिक्षु को कोमल शय्या पर सोना चाहिए, प्रातःकाल उठते ही दूध आदि पेय पदार्थ पीना, मध्याह्न में भोजन और अपराह्न में शर्बत, दूध आदि का पान करना चाहिए, फिर आधी रात में किशमिश और मिश्री खाना चाहिए, इस प्रकार की सुखपूर्वक दिनचर्या से अन्त में शाक्यपुत्र (बुद्ध) ने मोक्ष देखा (बताया) है।[१४]

यह ऐतिहासिक तथ्य है कि बुद्ध के निर्वाण के बाद बौद्ध धर्म की एक शाखा के भिक्षुओं में उपर्युक्त प्रकार का आचारशैथिल्य आ गया था। वृत्तिकार ने इस सूत्रगाथा (२३०) की वृत्ति में इस तथ्य का विशेष रूप से स्पष्ट उल्लेख किया है। सम्भव है, नौवीं-दसवीं सदी में बौद्ध भिक्षुओं के आचारशिथिल जीवन का यह आँखों देखा वर्णन हो। थेरगाथा में बौद्ध भिक्षुओं की आचारशिथिलता का वर्णन इसी से मिलता-जुलता है। सम्भव है—थेरगाथा के प्रणयन काल में बौद्ध भिक्षुओं में यह

---

१४. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पृ० ९६ में उद्धृत
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४७६-४७७

शैथिल्य आ चुका होगा, जिसकी प्रतिध्वनि थेरगाथा में स्पष्ट अंकित है।[१५] इसीलिए शास्त्रकार ने इस भ्रान्त मान्यता का उल्लेख किया है—**'इहमेगेउ···सातं सातेण विज्जती।'**

कितनी भ्रान्त और मिथ्या मान्यता है यह ?—इसी गाथा के उत्तरार्द्ध में इस मान्यता को भ्रान्त और मिथ्या बताया गया है। वृत्तिकार ने इस मान्यता का खण्डन करते हुए कहा है कि इस मान्यता को सिद्ध करने के लिए बौद्धग्रन्थों में जो युक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं, वे निःसार हैं। मनोज्ञ आहार आदि को, जो सुख का कारण कहा है, वह भी ठीक नहीं, मनोज्ञ आहार से कभी-कभी हैजा (विसूचिका), अतिसार एवं उदरशूल आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

इसलिए मनोज्ञ आहार एकान्ततः सुख का कारण नहीं है। न ही मनोज्ञ शयनासन ही सुख का कारण है, क्योंकि उससे प्रमाद, अब्रह्मचर्य आदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं, जो दुःख के कारण हैं। वास्तव में इन्द्रिय-विषयजन्य सुख दुःख के क्षणिक प्रतीकार का हेतु होने से वह सुख का आभास-मात्र है, उसमें अनेक दुःख गर्भित होने से, वह परिणाम में विष-मिश्रित भोजन के समान दुःख रूप ही है, दुःख का ही कारण है। फिर जो सुख इन्द्रियों या पदार्थों के अधीन है, वह पराधीन है। इन्द्रियों के विकृत या नष्ट हो जाने पर या पदार्थों के न मिलने या वियोग हो जाने से वह सुख अत्यन्त दुःख रूप में परिणत हो जाता है। अतः वैषयिक सुख परवश होने से दुःख रूप ही है।

इसके विपरीत त्याग, तप, वैराग्य, यम, नियम, संयम, ध्यान, साधना, भोजनादि परतन्त्रता से मुक्ति, स्वाधीन सुख हैं, ये ही वास्तविक सुख या मोक्षसुख हैं। अतः दुःखरूप विषयजन्य पराधीन सुख परमानन्दरूप ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक स्वाधीन मोक्षसुख का कारण कैसे हो सकता है ? इसीलिए कहा है—

"दुःखात्मकेषु विषयेषु सुखाभिमानः, सौख्यात्मकेषु नियमादिषु दुःखबुद्धिः।
उत्कीर्णवर्णपदपंक्तिरिवान्यरूपा, सारूप्यमेति विपरीतगतिप्रयोगात्॥"

अर्थात्—विवेकमूढ़ लोग अपनी विपरीत गति, मति और दृष्टि के कारण दुःखरूप पंचेन्द्रिय विषयों में सुख मानते हैं। किन्तु जो यम-नियम, तप, त्याग आदि सुखरूप है, उन्हें वे दुःखरूप समझते हैं। जैसे किसी धातु पर उत्कीर्ण की (खोदी) हुई अक्षर, पद, एवं पंक्ति देखने पर उलटी दिखाई देती है, लेकिन उसे मुद्रित कर दिये जाने से वह सीधी हो जाती है। इसी तरह संसारी जीवों की सुख-दुःख के विषय में उलटी समझ होती है। अतः विषय-भोग को दुःखरूप और यम-नियमादि को सुखरूप समझने से उनका यथार्थरूप प्रतीत होता है।

तथाकथित बौद्धभिक्षुओं ने केशलोच, प्रखरतप, भूमिशयन, भिक्षाटन, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी

---

[१५] देखिये थेरगाथा में उत्तरकालीन बौद्ध भिक्षुओं के शिथिलाचार की झाँकी—

अञ्ञथा लोयनाथम्हि तिट्ठंते पुरिसुत्तमे।
इरियं असि भिक्खूनं अञ्ञथा दानि दिस्सति॥
सव्वासवपरिक्खीणा महाझायी महाहिता।
निब्बुता, दानि ते थेरा परित्ता दानि तादिसा॥ —थेरगाथा ९२१, ९२८

आदि परीषह का सहन, आदि दु:ख के कारण माने हैं, वे उनके लिए हैं जो मन्दपराक्रमी हैं, परमार्थदर्शी नहीं हैं, अतीव दुर्बल हृदय हैं। परन्तु जो महान् दृढ़धर्मी साधक हैं, परमार्थदर्शी हैं, आत्म स्वभाव में लीन एवं स्व-पर कल्याण में प्रवृत्त हैं, उनके लिए ये सब साधनाएँ दु:खरूप नही हैं, बल्कि स्वाधीनतारूप सुख की जननी हैं। अत: सम्यग्ज्ञानपूर्वक की गई ये सब पूर्वोक्त साधनाएँ मोक्ष सुख के साधन हैं। परमार्थचिन्तक महान् आत्मा के लिए ये बाह्य कष्ट भी सुखरूप नहीं। कहा भी है—

"तण संथारनिसण्णो वि मुनिवरो भट्टरागमयमोहो।
जं पावइ मुत्तिसुहं कत्तो तं चक्कवट्टी वि?"

"राग, मद और मोह से रहित मुनिवर तृण (घास) की शय्या पर सोया (बैठा) हुआ भी जिस परमानन्दरूप मुक्ति सुख का अनुभव करता है, वह चक्रवर्ती के भाग्य में भी कहाँ है ?" उन बाह्यदु:खों को तत्त्वज्ञ मुनि सुखजनक कैसे मानते हैं ?

इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**"जे तत्थ आरियं परमं च समाहिए।"** तात्पर्य यह है कि परम समाधिकारक (सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय रूप) मोक्षमार्ग है, वैषयिक सुख नहीं।[१६]

ऐसे मिथ्या मान्यता रूप उपसर्ग के चक्कर में आने का दुष्परिणाम—(१) इस उपसर्ग के प्रभाव में आने पर साधक लोहवणिक् की तरह बहुत पश्चात्ताप करता है, तथा (२) हिंसादि आश्रवों में प्रवृत्त हो जाता है।

२३१वीं सूत्रगाथा में शास्त्रकार इस उपसर्ग के शिकार लोगों पर अनुकम्पा लाकर उपदेश देते हैं—इस मिथ्यामान्यता के चक्कर में पड़कर वीतराग प्ररूपित मोक्षमार्ग (अनन्तसुख मार्ग) को या जिन सिद्धान्त को ठुकरा रहे हो, और तुच्छ विषय-सुखों में पड़कर मोक्षसुख की बाजी हाथ से खो रहे हो यह, तुच्छ वस्तु के लिए महामूल्यवान् वस्तु को खोना है! छोड़ो इस मिथ्या मान्यता को। अगर मिथ्या मान्यता को हठाग्रहवश पकड़े रखोगे, तो बाद में तुम्हें उसी तरह पछताना पड़ेगा, जिस तरह सोना आदि बहुमूल्य धातुएँ छोड़कर हठाग्रहवश सिर्फ लोहा पकड़े रखने वाले लोहवणिक् को बहुत पछताना पड़ा था। सावधान! इस मिथ्याछलना के चक्कर में पड़कर अपना अमूल्य जीवन बर्बाद मत करो! अन्यथा तुम्हें बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ेगी।

२३२वीं गाथा में शास्त्रकार इस कुमान्यता के शिकार दुराग्रही व्यक्ति को इसके दुष्परिणाम बताते हुए कहते हैं—आप लोग जब इस कुमान्यता की जिद्द पकड़ लेते हैं तो एकमात्र वैषयिक सुख के पीछे हाथ धोकर पड़ते हैं, तब अपने लिए आप विविध सुस्वादु भोजन बनवाकर या स्वयं पचन-पाचन के प्रपंच आदि में, आलीशान भवनों के बनाने, सुखसाधनों को जुटाने आदि की धुन में अहिंसा महाव्रत को ताक में रख देते हैं, बात-बात में जीवहिंसा का आश्रय लेते हैं। स्वयं को प्रव्रजित एवं भिक्षाशील कहकर गृहस्थों का सा आचरण करते हैं, दम्भ, दिखावा करते हैं, यह असत्य भाषण में प्रवृत्त होते हैं। सुखवृद्धि के लिए नाना प्रकार के सुख साधनों को जुटाते हैं, हाथी, घोड़ा, ऊँट, जमीन,

---

[१६] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ९६-९७

आश्रम आदि अपने स्वामित्व में रखते हैं, उन पर ममत्व करके आप परिग्रह-सेवन भी करते हैं। सुख प्राप्ति की धुन में रति-याचना करने वाली ललना के साथ काम-सेवन भी कर लेना सम्भव है। और सुख साधन आदि जुटाने की धुन में आप दूसरे के अधिकार का हरण एवं बेईमानी भी करते हैं। यों सर्व प्रसिद्ध पाँचों पापाश्रवों में आप बेखटके प्रवृत्त होते हैं। फिर भला आपको संयमी कौन कहेगा।[१६] इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—"पाणाइवाते"परिग्गहे।"

'सुख से सुख की प्राप्ति होती है' इस प्रकार की मिथ्या मान्यता के कारण बौद्ध भिक्षुओं में पूर्णरूप से शिथिलाचार व्याप्त हो गया था, वे हिंसा आदि पांचों पापों में प्रवृत्त हो गये थे। शास्त्रकार द्वारा प्रतिपादित उक्त पांचों पापों का बौद्ध भिक्षुओं पर आक्षेप थेरगाथा में अंकित वर्णन से यथार्थ सिद्ध हो जाता है। थेरगाथा में यह भी शंका व्यक्त की गई है कि यदि ऐसी ही शिथिलता बनी रही तो बौद्ध शासन विनष्ट हो जाएगा। आज भिक्षुओं में ये पाप वासनाएँ उन्मत्त राक्षसों-सी खेल रही हैं। वासनाओं के वश होकर वे सांसारिक विषय भोगों की प्राप्ति के लिए यत्र-तत्र दौड़ लगाते हैं। असद्धर्म को श्रेष्ठ मानते हैं। भिक्षा के लिए कुकृत्य करते हैं। वे सभी शिल्प सीखते हैं। गृहस्थों के समान आजीविका करते हैं। वे भिक्षु औषधों के विषय में वैद्यों की तरह, काम-धाम में गृहस्थों की तरह, विभूषा करने में गणिकावत्, ऐश्वर्य में क्षत्रिय तुल्य हैं। वे धूर्त हैं, प्रवंचक हैं, ठग हैं, असंयमी हैं। वे लोभवश धन संग्रह करते हैं, स्वार्थ के लिए धर्मोपदेश देते हैं, संघ में संघर्ष करते हैं आदि।[१७]

शिथिलाचारी बौद्धों के जीवन का यह कच्चा चिट्ठा बताता है कि एक मिथ्यामान्यता का उपसर्ग साधक को कितना विचार भ्रष्ट कर देता है।

पाठान्तर और कठिन शब्दों की व्याख्या—जे तत्थ आरियं मग्गं परमं च समाहियं—वृत्तिकार के अनुसार उस मोक्ष विचार के अवसर पर आर्यमार्ग (जैनेन्द्र प्रतिपादित मोक्ष मार्ग) जो परम समाधि युक्त (ज्ञानदर्शन चारित्रात्मक) है, उसे जो कई (शाक्यादि) अज्ञ छोड़ देते हैं, वे सदा संसावशवर्ती होते हैं। चूर्णिकार ने **'जितत्थ आयरियं मग्गं परमं च समाधिता'** पाठान्तर मानकर अर्थ किया है—**जिता नाम दु:ख प्रव्रज्या कुर्वाणा अपि न मोक्षं गच्छत वयं सुखेनैव मोक्षं गच्छाम इत्यतो भवन्तो जिताः तेनास्मदीयार्यमार्गेण परमं ति समाधित्ति मनःसमाधि परमा असमाधीए शारीरादिना दु:खेनेत्यर्थः'** जिता कहते हैं—दु:खपूर्वक प्रव्रज्या करते हुए, मोक्ष नहीं जा सकते हुए भी हम सुखपूर्वक मोक्ष चले जाएँगे, इस प्रकार आप जित हैं, उस हमारे आर्य मार्ग से होने वाली मनःसमाधि (को छोड़कर) शारीरिक दु:ख से असमाधि (प्राप्त करते हैं)। **इहमेगे उ भासंति**—दार्शनिक क्षेत्र में कई कहते हैं। कहीं **'भासंति'** के बदले **'मन्नंति'** पाठ है। उसका अर्थ होता है—मानते हैं। 'मन्नंति' पाठ मान्यता को

---

[१६] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ९६-९७

[१७] (क) देखिये थेरगाथा में अंकित बौद्ध साधुओं की पापाचार प्रवृत्ति का निदर्शन—

····भेसज्जेसु यथा वेज्जा, किच्चाकिच्चे यथा गिही।
गणिका व विभूसायं, इस्सरे खत्तिओ यथा॥
नेकतिका वंचनिका कूटसक्खा अपाटुका।
बहूहि परिकप्पेहि आमिसं परिभुञ्जरे।

—थेरगाथा ९३८-९३९

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या टिप्पण पृ० ४८३

सूचित करता है, इसलिए यह अधिक संगत प्रतीत होता है।[१८]

अनुकूल कुतर्क से वासनातृप्तिरूप सुखकर उपसर्ग—

२३३. एवमेगे तु पासत्था, पण्णवेंति अणारिया।
इत्थीवसं गता बाला, जिणसासणपरम्मुहा ॥ ९ ॥

२३४. जहा गंडं पिलागं वा, परिपीलेज्ज मुहुत्तगं।
एवं विण्णवणित्थीसु, दोसो तत्थ कुतो सिया? ॥ १० ॥

२३५. जहा मंधादए नाम, थिमितं भुंजती दगं।
एवं विण्णवणित्थीसु, दोसो तत्थ कुतो सिया? ॥ ११ ॥

२३६. जहा विहंगमा पिंगा, थिमितं भुंजती दगं।
एवं विण्णवणित्थीसु, दोसो तत्थ कुतो सिया? ॥ १२ ॥

२३७. एवमेगे उ पासत्था, मिच्छादिट्ठी अणारिया।
अज्झोववन्ना कामेहिं, पूतणा इव तरुणए ॥ १३ ॥

२३३. स्त्रियों के वश में रहे हुए अज्ञानी जिनशासन से पराङ्मुख अनार्य कई पाशस्थ या पार्श्वस्थ इस प्रकार (आगे की गाथाओं में कही जाने वाली बातें) कहते हैं—

२३४. जैसे फुंसी या फोड़े को दबा (-कर उसका मवाद निकाल) दे तो (एक) मुहूर्त्त में ही (थोड़ी देर में ही) शान्ति हो जाती है, इसी तरह समागम की प्रार्थना करने वाली (युवती) स्त्रियों के साथ (समागम करने पर थोड़ी ही देर में शान्ति हो जाती है।) इस कार्य में दोष कैसे हो सकता है?

२३५. जैसे मन्धादन—भेड़ बिना हिलाये जल पी लेती है, इसी तरह (किसी को पीड़ा दिये बिना) रति प्रार्थना करने वाली युवती स्त्रियों के साथ (सहवास कर लिया जाए तो) इसमें (कोई) दोष कैसे हो सकता है?

२३६. जैसे पिंगा नामक पक्षिणी बिना हिलाये पानी पी लेती है, इसी तरह कामसेवन के लिए प्रार्थना करने वाली तरुणी स्त्रियों के साथ (समागम कर लिया जाए तो) इस कार्य में क्या दोष है?

२३७. पूर्वोक्त रूप से मैथुन-सेवन को निर्दोष-निरवद्य मानने वाले कई पाशस्थ (पार्श्वस्थ) मिथ्यादृष्टि हैं, अनार्य हैं; वे काम-भोगों में वैसे ही अत्यासक्त हैं, जैसे पूतना डाकिनी (दुधमुंहे) बच्चों पर आसक्त रहती है।

---

[१८] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ९६-९७
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ४१

विवेचन—समागम-प्रार्थना पर स्त्री समागम निर्दोष : एक मिथ्या मान्यता रूप उपसर्ग—प्रस्तुत पाँच सूत्रगाथाओं में एक ऐसे अनुकूल उपसर्ग का विश्लेषण किया गया है, जो अत्यन्त भयंकर हेत्वाभासों द्वारा कुतर्क देकर वासना तृप्ति रूप सुखकर एवं अनुकूल उपसर्ग के रूप में उपपन्न किया गया है।

ऐसे भयंकर अनुकूल उपसर्ग के शिकार कौन ?—सूत्रगाथा २३३ में इस भयंकर मान्यता के प्ररूपक तथा इस उपसर्ग से पीड़ित कौन और कैसे हैं ? इसका संक्षेप में परिचय दिया गया है। प्रस्तुत सूत्रगाथा में उनके लिए ५ विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं—(१) पाशस्थ या पार्श्वस्थ, (२) अनार्य, (३) स्त्रीवशंगत, (४) बाल और (५) जिनशासनपराङ्मुख।

एगे—वृत्तिकार ने 'एगे' पद की व्याख्या करते हुए मान्यता के प्ररूपक एवं इस उपसर्ग के शिकार प्राणातिपात आदि में प्रवृत्त नीलवस्त्रधारी विशिष्ट बौद्ध साधकों, अथवा नाथवादिक मण्डल में प्रविष्ट शैवसाधक विशेषों तथा जैन संघीय ऐसे कुशील एवं पार्श्वस्थ श्रमणों को बताया है। उन्हें **'पासत्था'** आदि कहा गया है। इन सबका अर्थ इस प्रकार है—(१) **पासत्था**—इसके दो रूप संस्कृत में बनते हैं—पार्श्वस्थ और पाशस्थ। प्रथम पार्श्वस्थ रूप का अर्थ है—जिसका आचार-विचार शिथिल हो। शीलांकाचार्य ने इनमें नीलवस्त्रधारी विशिष्ट बौद्ध-साधकों एवं नाथवादी सम्प्रदाय के शैव साधकों को भी समाविष्ट किया है। इन्हें पार्श्वस्थ इसलिए भी बताया है कि ये उत्तम अनुष्ठान से दूर रहते थे, कुशील सेवन करते थे, स्त्री परीषह से पराजित थे। **पाशस्थ** इसलिए बताया है कि ये स्त्रियों के मोहपाश में फंसे हुए थे।

अणारिया—ये अनार्य कर्म करने के कारण अनार्य हैं। अनार्य कर्म हैं—हिंसा, असत्य, चोरी-ठगी-बेईमानी, मैथुन सेवन एवं परिग्रह। पिछली सूत्रगाथा २३२ में तथा उसके टिप्पण में थेरगाथा के प्रमाण देकर तथाकथित बौद्ध साधकों के हिंसादि में प्रवृत्त होना सिद्ध कर आए हैं। इसीलिए उन्हें अनार्य कहा है।

इत्थीवसंगया—जो तरुण कामिनियों की गुलामी करते हों, जो उनके मोहक जाल में फँसकर उनके वशवर्ती बन गये हों, वे स्त्री वशंगत हैं। स्त्रियों के वे कितने अधिक गुलाम थे ? यह उन्हीं के शब्दों में देखिये—

प्रिया दर्शनमेवाऽस्तु किमन्यैर्दर्शनान्तरैः।
प्राप्यते येन निर्वाणं सरागेणाऽपि चेतसा ।।

"मुझे प्रिया का दर्शन होना चाहिए, फिर दूसरे दर्शनों से क्या प्रयोजन ? क्योंकि प्रिया दर्शन से सराग चित्त होने पर भी निर्वाण-सुख प्राप्त होता है।"

बाला—अध्यात्म जगत् में बाल वे हैं—जो अपने हिताहित से अज्ञ हों, जो हिंसादि पापकर्म करने की नादानी करके अपने ही विनाश को निमन्त्रण देते हों, जो बात-बात में रोष, द्वेष, ईर्ष्या, मोह, कषाय आदि से उत्तेजित हो जाते हैं।[१९]

---

[१९] (क) जैन साहित्य का वृहत् इतिहास, भा० १, पृ० १४४
(ख) सूयगडंग सुत्तं, मूलपाठ टिप्पण युक्त, प्रस्तावना, पृ० १६

'जिणसासण परम्मुहा'—राग-द्वेष विजेता जिन कहलाते हैं, उनका शासन है—उनकी आज्ञा—कषाय, मोह और राग-द्वेष को उपशान्त करने की आज्ञा से विमुख—अर्थात्—संसाराभिसक्त तथा जैनमार्ग को कठोर समझकर उससे घृणा, द्वेष करने वाले जिनशासन पराङ्मुख कहलाते हैं।

काम-भोगों में अत्यासक्त—सूत्रगाथा २३७ में इन भ्रष्ट साधकों को, फिर वे चाहे जैन श्रमण ही क्यों न हों, उन्हें पाशस्थ, मिथ्यादृष्टि एवं अनार्य बताया गया है और कहा गया है कि पिशाचिनी पूतना जैसे छोटे बच्चों पर आसक्त रहती है, वैसे ही ये मिथ्यात्वी अनार्य एवं पाशस्थ तरुणियों के साथ काम-भोगों के सेवन में अत्यधिक आसक्त रहते हैं। शास्त्रकार कहते हैं—**"एवमेग उ ···पूतणा इव तरुणए।"** चूर्णिकार **'पूयणा इव तण्णए'** पाठान्तर मानकर व्याख्या करते हैं—"पूयणा नाम औरणीया, तस्या अतीव तण्णगे छावके स्नेहः।" 'पूयणा' कहते हैं—भेड़ को, उसका अपने बच्चे पर अत्यधिक स्नेह (आसक्ति) रहता है। वृत्तिकार ने एक उदाहरण देकर इसे सिद्ध किया है—"एक बार अपनी सन्तान पर पशुओं की आसक्ति की परीक्षा के लिए सभी पशुओं के बच्चे एक जलरहित कुंए में रख दिये गए। उसी समय सभी मादा पशु अपने-अपने बच्चों की आवाज सुनकर कुंए के किनारे आकर खड़ी हो गईं। परन्तु भेड़ अपने बच्चे की आवाज सुनकर उनके मोह में अन्धी होकर कुंए में कूद पड़ी। इस पर से समस्त पशुओं में भेड़ की अपने बच्चों के प्रति अत्यधिक आसक्ति सिद्ध हो गई।" इसी तरह पूर्वोक्त भ्रान्त मान्यताओं के शिकार साधक कामभोगों में अत्यन्त आसक्त होते हैं।[२०]

जहा गंडं पिलागं वा ·······कओ सिया?—प्रथम अज्ञानियों की मान्यता—यह है कि जैसे किसी के शरीर में फोड़ा-फुंसी हो जाने पर उसकी पीड़ा शान्त करने के लिए उसे दबा कर मवाद आदि निकालने से थोड़ी ही देर में उसे सुख-शान्ति हो जाती है, ऐसा करने में कोई दोष नहीं माना जाता; वैसे ही कोई युवती अपनी काम-पीड़ा शान्त करने के लिए समागम की प्रार्थना करती है तो उसके साथ समागम करके उसकी काम-पीड़ा शान्त करने में दोष ही क्या? दोष तो बलात्कार में होता है।

जहा मंधादए·······कओ सिया? दूसरे अज्ञानियों की मान्यता—जैसे भेड़ घुटनों को पानी में झुका कर पानी को गंदा किये, या हिलाए बिना स्थिरतापूर्वक धीरे से चुपचाप पानी पीकर अपनी तृप्ति कर लेती है, उसकी इस चेष्टा से किसी जीव को पीड़ा नहीं होती, इसी प्रकार सम्भोग की प्रार्थना करने वाली नारी के साथ सम्भोग करने से किसी जीव को कोई पीड़ा नहीं होती और उसकी व अपनी काम-तृप्ति हो जाती है, इस कार्य में दोष ही क्या है?

जहा विहंगमा पिंगा·······कओ सिया?—तीसरे अज्ञानियों की मान्यता—जैसे कपिंजल नाम की चिड़िया आकाश में ही स्थित रहकर दूसरे अंगों द्वारा जलाशय के जल को छुए बिना या हिलाये बिना केवल अपनी चोंच की नोक से जलपान कर लेती है, उसका जलपान जीवघात एवं दोष से रहित है। इसी प्रकार किसी नारी द्वारा समागम प्रार्थना किये जाने पर कोई पुरुष रागद्वेषरहित बुद्धि से, उस स्त्री के अन्य अंगों को कुशा से ढक कर न छूते हुए, सिर्फ पुत्रोत्पत्ति के उद्देश्य से

---

[२०] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ९७ पर से

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० ४८५-४८६ एवं ४९१

(काम के उद्देश्य से नहीं) ऋतुकाल में उसके साथ समागम करता है, तो उसमें उसे कोई दोष न होने से उसके तथारूप मैथुन सेवन में दोप नहीं है।[२१]

खण्डन—इन तीनों गाथाओं में तथाकथित पार्श्वस्थों की तीनों मान्यताओं का मूल स्वर एक ही है। 'रति-प्रार्थिनी स्त्री के साथ समागम निर्दोष है' जिसे प्रत्येक गाथा के अन्त में दोहराया गया है—"एवं विण्णवणित्थीसु दोसो तत्थ कुतो सिया ?"

ये तीनों मान्यताएँ मिथ्या एवं सदोष : क्यों और कैसे—विद्वान् निर्युक्तिकार तीन गाथाओं द्वारा इस मिथ्या मान्यता को वहुत वड़ा उपसर्ग ध्वनित करते हुए इसका खण्डन करते हैं—(१) जैसे कोई व्यक्ति तलवार से किसी का सिर काट कर चुपचाप कहीं छिप कर बैठ जाए तो क्या इस प्रकार उदासीनता धारण करने से उसे अपराधी मान कर पकड़ा नहीं जायगा? (२) कोई मनुष्य यदि विप की घूंट पीकर चुपचाप रहे या उसे कोई पीते देखे नहीं, इतने मात्र से क्या उसे विषपान के फलस्वरूप मृत्यु के मुँह में नहीं जाना पड़ेगा? (३) यदि कोई किसी धनिक के भण्डार से वहुमूल्य रत्न चुरा कर पराङ्मुख होकर चुपचाप वैठ जाए तो क्या वह चोर समझ कर पकड़ा नहीं जाएगा?

तात्पर्य यह है कि कोई मनुष्य मूर्खतावश या दुष्टतावश किसी की हत्या करके, स्वयं विषपान करके या किसी की चोरी करके मध्यस्थ भाव धारण करके वैठ जाए तो वह निर्दोष नहीं हो सकता। दोप या अपराध करने का विचार तो उसने कुकृत्य करने से पहले ही कर लिया, फिर उस कुकृत्य को करने में प्रवृत्त हुआ, तव दोप-संलग्न हो गया, तत्पश्चात् उस दोष को छिपाने के लिए वह उदासिन होकर या छिपकर एकान्त में वैठ गया, यह भी दोष ही है। अत: दोष तो कुकृत्य करने से पूर्व, कुकृत्य करते समय और कुकृत्य करने के पश्चात् यों तीनों समय है। फिर उसे निर्दोष कैसे कहा जा सकता है? इसी तरह कोई व्यक्ति किसी स्त्री की मैथुन सेवन करने की प्रार्थना मात्र से उसके साथ मैथुन में उस कुकृत्य में प्रवृत्त हो जाता है तो उस रागभाव रूप पाप का विचार आए विना नहीं रहेगा तत्पश्चात् मैथुन क्रिया करते समय भी तीव्र रागभाव होना अवश्यम्भावी है। इसीलिए दशवैकालिक सूत्र में निर्ग्रन्थ साधुओं के लिए मैथुन-सेवन वर्जित है, क्योंकि यह महादोषोत्पत्ति स्थान है।[२२]

अत: राग होने पर ही उत्पन्न होने वाला, समस्त दोषों का स्थान, हिंसा का कारण एवं

---

[२१] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ९७-९८ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखवोधिनी व्याख्या पृ० ४८७-४८८
(ग) देखिये उन्हीं के धर्मशास्त्र में लिखा है—

धर्मार्थं पुत्रकामाय स्वदारेस्वधिकारिणे।
ऋतुकाले विधानेन दोपस्तत्र न विद्यते॥

[२२] (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा ५३-५४-५५
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ९८
(ग) मूलमेयहम्मस्स महादोससमुस्सयं।
तम्हा मेहुणसंसग्गंथा निग्गं वज्जयंति णं॥ —दशवैकालिक ६

संसार भ्रमणवर्द्धक मैथुनसेवन—चाहे वह स्त्री-पुरुष दोनों की इच्छा से ही क्यों न हो, कथमपि निर्दोष नहीं हो सकता।[23]

कठिन शब्दों की व्याख्या—विण्णवणीत्थीसु—स्त्री की विज्ञापना—समागम प्रार्थना होने पर। **मंधादए**—मन्धादन-भेड़। **थिमितं**—हिलाए विना—स्थिरतापूर्वक। **भुंजती**—उपभोग करती है, पीती है। चूर्णिकार ने '**पियति**' पाठान्तर माना है। **पिंगा विहंगमा**—कपिंजल नामक आकाशचारी पक्षिणी।[24]

कौन पश्चाताप करता है, कौन नहीं ?

२३८. अणागयमपस्संता, पच्चुप्पन्नगवेसगा।
ते पच्छा परितप्पंति, खीणे आउम्मि जोव्वणे ॥१४॥

२३९. जेहिं काले परक्कंतं, न पच्छा परितप्पए।
ते धीरा बंधणुमुक्का, नावकंखंति जीवियं ॥१५॥

२३८. भविष्य में होने वाले दुःख को न देखते हुए जो लोग वर्तमान सुख के अन्वेषण (खोज) में रत रहते हैं, वे वाद में आयु और युवावस्था क्षीण (नष्ट) होने पर पश्चाताप करते हैं।

२३९. जिन (आत्महितकर्ता) पुरुषों ने (धर्मोपार्जन-) काल में (समय रहते) धर्माचरण में पराक्रम किया है, वे पीछे पश्चात्ताप नहीं करते। वन्धन से उन्मुक्त वे धीरपुरुष असंयमी जीवन की आकांक्षा नहीं करते।

विवेचन—कौन पश्चात्ताप करते हैं, कौन नहीं ?—इस गाथाद्वय (सू० गा० २३८, २३९) में पूर्वोक्त उपसर्गों के सन्दर्भ में यह वताया गया है कि कौन व्यक्ति पश्चात्ताप करते हैं, कौन नहीं करते—(१) जो वर्तमान में किये हुए दुष्कृत्यों से अथवा काम-भोग सुखासक्ति से 'भविष्य में प्राप्त होने वाले दुःखरूप कुफल का विचार नहीं करते, (२) दूरदर्शी न होकर केवल वर्तमान सुख की तलाश में रहते हैं। ये मात्र प्रेयोवादी लोग यौवन और आयु ढल जाने पर पश्चात्ताप करते हैं, परन्तु (१) जो श्रेयोवादी दूरदर्शी लोग धर्मोपार्जन काल में धर्माचरण में पुरुषार्थ करते हैं, (२) जो वर्तमान कामभोगजनित क्षणिक सुख के लिए असंयमी जीवन जीना नहीं चाहते, (३) जो परीषह-उपसर्ग सहन करने में धीर हैं, और (४) जो स्नेहवन्धन या कर्मवन्धन से दूर रहते हैं, वे पश्चात्ताप नहीं करते।[25]

पश्चात्ताप करने का कारण और निवारण—जो व्यक्ति पूर्वोक्त भ्रान्त मान्यताजनित उपसर्गों

---

[23] प्राणिनां वाधकं चैतच्छास्त्रे गीतं महर्षिभिः।
नलिका तप्त कणकप्रवेशज्ञाततस्तथा ॥१॥
मूलं चैतदधर्मस्य भवभावप्रवर्धनम्।
तस्माद् विषान्नवद् त्याज्यमिदं पापमनिच्छता ॥२॥

[24] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ९७-९८

[25] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति भाषानुवाद सहित भा० २, पृ० ९०-९१ का सारांश

के शिकार होकर वैषयिक सुखों में और कामजनित सुखों में संलग्न हो जाते हैं, उक्त सुखों की पूर्ति के लिए हिंसा, झूठ, चोरी, बेईमानी, ठगी, कामासक्ति और परिग्रह आदि दुष्कर्मों को निःसंकोच होकर करते हैं। उन दुष्कर्मों को करते समय भविष्य में उनके दुष्परिणाम के रूप में नरक एवं तिर्यञ्च में मिलने वाली यातनाओं का कोई विचार नहीं करते। जिनकी दृष्टि केवल वर्तमान के क्षणिक वैषयिक एवं कामजन्य सुखों की प्राप्ति में टिकी रहती है, काम-भोगों के सेवन से जब सारा शरीर जर्जर हो जाता है, शक्ति क्षीण हो जाती है, कोई न कोई रोग आकर घेर लेता है, इन्द्रियाँ काम करने से जवाब दे देती हैं, यौवन ढल जाता है, बुढ़ापा आकर झांकने लगता है, मृत्यु द्वार पर दस्तक देने लगती है, तब वे अत्यन्त पछताते हैं—अफसोस ! हमने अपना बहुमूल्य जीवन यों ही बर्बाद कर दिया, कुछ भी धर्माचरण न कर सका, संसार की मोहमाया में उलझा रहा, साधुवेष धारण करके भी लोकवंचना की। एक जैनाचार्य ने उनके पश्चात्ताप को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"मैंने मनुष्य जन्म पाकर अच्छे कामों को नहीं अपनाया—सदाचरण नहीं किया, यों मुट्ठियों से आकाश को पीटता रहा और चावलों का भुस्सा कूटता रहा।"

'वास्तव में वैभव के नशे में, यौवन के मद में जो कार्य नहीं करने चाहिए, वे किये। किन्तु जब उम्र ढल जाती है और वे अकृत्य याद आते हैं, तब हृदय में वे कांटे-से खटकने लगते हैं।' इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—**'अणागयमपस्संता ···· खीणे आउम्मिजोव्वणे।'**

किन्तु जो विवेक सम्पन्न पुरुष समय पर पराक्रम करते हैं, धर्म पुरुषार्थ को मुख्य रखकर प्रवृत्ति करते हैं, एक क्षण भी धर्म रहित होकर असंयम या अधर्म में नहीं खोते, जो विघ्न बाधाएँ, विपत्तियाँ आने पर भी धर्माचरण नहीं छोड़ते, धैर्यपूर्वक परीषह-उपसर्ग को सहन करते हैं, इहलौकिक, पारलौकिक काम-भोगों या विषय सुखों की वांछा नहीं करते, स्नेहबन्धन में फंसाने के चाहे जितने अनुकूल उपसर्ग हों, वे स्नेहबन्धन से उन्मुक्त रहते हैं, वे असंयमी जीवन जीने की वांछा कदापि नहीं करते इसीलिए वे कर्म विदारण करने में समर्थ धीर रहकर तपस्या में रत रहते हैं। ऐसे जीवन-मरण से निःस्पृह संयमानुष्ठान में दत्तचित्त पुरुष यौवन पार होने के बाद बुढ़ापे में पश्चात्ताप नहीं करते।[२६] इसे ही शास्त्रकार कहते हैं—**जेहिं काले ···· नावकंखंति जीवियं।**

नारी-संयोगरूप उपसर्ग : दुष्कर, दुस्तर एवं सुतर !

२४०. जहा नदी वेयरणी, दुत्तरा इह सम्मता।
एवं लोगंसि नारीओ, दुत्तरा अमतीमता ॥ १६ ॥

---

२६. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ९९ पर से

(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४९२ से ४९४ तक

(ग) "हतं मुष्टिभिराकाशं, तुषाणां कण्डनं कृतम्।
यन्मया प्राप्य मानुष्यं, सदर्थे नादरः कृतः ॥"
"विहवावलेवन डिएहिं जाइं कीरंति जोव्वण मएणं।
वयपरिणामे सरियाइं ताइं हिअए खुडुक्कंति ॥"

२४१. जेहिं नारीण संजोगा, पूयणा पिट्ठतो कता।
सव्वमेयं निराकिच्चा, ते ठिता सुसमाहिए ॥ १७ ॥

२४०. जैसे वैतरणी नदी दुस्तर मानी गई है, इसी तरह इस लोक में कामिनियाँ अमतिमान (अविवेकी) साधक पुरुष के लिए दुस्तर मानी हैं।

२४१. जिन साधकों ने स्त्रियों के संसर्ग तथा पूजना (काम-विभूषा) से पीठ फेरली है, वे साधक इन समस्त उपसर्गों को निराकृत (पराजित) करके सुसमाधि (स्वस्थ चित्तवृति) में स्थित रहते हैं।

विवेचन—स्त्रीसंसर्गरूप उपसर्ग : किसके लिए दुस्तर किसके लिए सुतर?—प्रस्तुत सूत्रगाथाद्वय में से प्रथम गाथा में अविवेकी के लिए स्त्रीसंगरूप उपसर्ग दुस्तर वताया गया है जवकि द्वितीय गाथा में स्त्री संसर्ग एवं कामविभूषा के त्यागी साधकों को स्त्रीसंगरूप भयंकर उपसर्ग ही नहीं, अन्य समस्त उपसर्ग सुतर-सुजेय हो जाते हैं।[२७]

स्त्रीसंगरूप उपसर्ग कितना और कैसा दुस्तर?—जैसे नदियों में वैतरणी नदी अत्यन्त प्रवल वेगवाली एवं विषमतट वाली होने से अतीव दुस्तर या दुर्लंघ्य मानी जाती है, वैसे ही पराक्रमहीन अविवेकी साधक के लिए स्त्रीसंसर्गरूप उपसर्गनद का पार करना अत्यन्त दुस्तर है। वल्कि जो साधक विषय-लोलुप काम-भोगासक्त एवं स्त्रीसंगरूप उपसर्ग से पराजित हो जाते हैं, वे अंगारों पर पड़ी हुई मछली की तरह कामराग, दृष्टिराग एवं स्नेहराग रूपी आग में जलते-तड़फते हुए अशान्त—असमाधिस्थ रहते हैं।

इसी कारण वड़े-वड़े पहुंचे हुए साधकों के लिए भी स्त्री संग पर विजय पाना कठिन है। वे अपने आपको पहुँचे हुए पुराने साधक समझ कर इस अनुकूल स्त्रीसंगरूप उपसर्ग से असावधान रहते हैं, वे कामिनियों के कटाक्ष के आगे पराजित हो जाते हैं। वे चाहे शास्त्रज्ञ, प्रवचनकार, विद्वान् एवं क्रियाकाण्डी क्यों न हों, अगर वे इस उपसर्ग के आते ही तुरन्त इससे सावधान होकर नहीं खदेड़ देंगे तो फिर यह उपसर्ग उन पर भी हावी हो जाएगा। किसी अनुभवी ने ठीक ही कहा है—

सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणाम्,
लज्जां तावद्विधत्ते, विनयमपि समालम्बते तावदेव।
भ्रूचापाक्षेपमुक्ताः श्रवणपथजुषो नीलपक्ष्माण एते,
यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति॥

पुरुष तभी तक सन्मार्ग पर टिकता है, इन्द्रियों पर भी तभी तक प्रभुत्व (वश) रखता है, लज्जा भी तभी तक करता है एवं विनय भी तभी तक करता है, जब तक स्त्रियों द्वारा धैर्य नष्ट करने वाले भ्रकुटि रूपी धनुष को कान तक खींचकर चलाये हुए नीले नयनों वाले दृष्टिबाण उस पर नहीं गिरे। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**'जह नदी वेयरणी दुत्तरा अमतीमता।'**

---

[२७] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ९९ के आधार पर

यह तो बहुत ही असम्भव-सा है कि साधक के साथ स्त्रियों का बिलकुल ही सम्पर्क न हो, भिक्षाचरी, उपाश्रय-निवास, प्रवचन आदि अवसरों पर स्त्री सम्पर्क होता है, परन्तु जो साधक सावधान एवं मोक्ष मार्ग की साधना में दृढ़ रहता है, वह स्त्री सम्पर्क होने पर भी स्त्रियों के प्रति मोह, आसक्ति, मन में काम-लालसा, कामोत्तेजना का कामोत्तेजक वस्त्राभूषणादि या शृंगार-साज-सज्जा आदि को अनर्थकर तथा परिणाम में कटुफल वाले समझकर इनसे बिलकुल दूर रहता है, स्त्री-संगरूप उपसर्ग के आते ही तुरन्त सावधान होकर उससे पीठ फेर लेता है, मन में जरा भी काम सम्बन्धी विकार नहीं लाता, वह स्त्रीसंगरूप उपसर्ग को तो पार कर ही जाता है, अन्य अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों पर भी विजय प्राप्त कर लेता है। ऐसे उपसर्ग विजेता साधक किसी भी प्रकार के उपसर्गों के समय न तो क्षुब्ध होते हैं; न ही उन्हें अपने पर हावी होने देते हैं, न ही अपने धर्मध्यान या चित्त समाधि का त्याग करते हैं, वल्कि वे साधक सुसमाधि में स्थिर रहते हैं। यही बात शास्त्रकार करते हैं—**जेहिं नारीण⋯ठिया सुसमाहिए।**[२८]

कठिन शब्दों की व्याख्या—पूयणा—वृत्तिकार के मतानुसार—**पूजना**—कामविभूषा, चूर्णिकार के अनुसार—**'पूयणा'**—शरीर पूजना, अथवा पूतनाः—"पातयन्ति धर्मात् पासयंति वा चारित्रमिति पूतनाः—पूतीकुर्वन्तीत्यर्थः' अर्थात्—पूयणा के तीन अर्थ फलित होते हैं—(१) शरीर पूजना—शारीरिक मण्डन विभूषा, अथवा (२) पूतना जो धर्म से पतित करती हो, वह पूतना है, अथवा (३) जो चारित्र को गन्दा (मलिन) करती हो वह पूतना है। **पिट्ठतो कता**—परित्यक्तेत्यर्थः, परित्याग कर दिया है।[२९]

उपसर्ग-विजेता साधु : कौन और कैसे ?

२४२. एते ओघं तरिस्संति, समुद्दं व ववहारिणो।
जत्थ पाणा विसण्णा सं, किच्चंती सयकम्मुणा ॥१८॥

२४३. तं च भिक्खू परिण्णाय, सुव्वते समिते चरे।
मुसावायं विवज्जेज्जाऽदिण्णादाणाइ वोसिरे ॥१९॥

२४४. उड्ढमहे तिरियं वा, जे केई तस-थावरा।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, संति निव्वाणमाहितं ॥२०॥

२४५. इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेदितं।
कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिते ॥२१॥

२४६. संखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिनिव्वुडे।
उवसग्गे नियामित्ता, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥२२॥ —त्ति बेमि ॥

---

[२८] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ९९ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृष्ठ ४९५-४९६

[२९] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ९९
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ४३

२४२. ये (अनुकूल-प्रतिकूल-उपसर्ग-विजेता पूर्वोक्त साधक) (दुस्तर) संसार को भी पार कर लेंगे, जैसे समुद्र के आश्रय से व्यापार करने वाले (वणिक्) समुद्र को पार कर लेते हैं, जिस संसार (समुद्र) में पड़े हुए प्राणी अपने-अपने कर्मों से पीड़ित किये जाते हैं।

२४३. भिक्षु उस (पूर्वोक्त अनुकूल-प्रतिकूल-उपसर्ग-समूह) को जानकर (ज्ञपरिज्ञा से जानकर और प्रत्याख्यान परिज्ञा से उससे मुक्त रह कर) उत्तम व्रतों से युक्त तथा पंच समितियों से सहित रह कर विचरण करे, मृषावाद (असत्य) को छोड़ दे, और अदत्तादान का व्युत्सर्ग (मन-वचन-काया से त्याग) कर दे।

२४४. ऊपर, नीचे और तिरछे (लोक) में जो कोई त्रस-स्थावर प्राणी हैं, उनके नाश (वध) से विरति (निवृत्ति) कर लें। (ऐसा करने से) शान्तिरूप निर्वाणपद की प्राप्ति कही गई है।

२४५. काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित इस धर्म को स्वीकार करके समाधियुक्त भिक्षु अग्लान भाव से ग्लान साधु की वैयावृत्त्य (सेवा) करे।

२४६. सम्यग्-दृष्टि सम्पन्न एवं परिनिर्वृत (प्रशान्त) साधक (मुक्ति प्रदान करने में) कुशल इस धर्म को सम्यक् प्रकार से जानकर उपसर्गों पर नियन्त्रण (विजय प्राप्त) करता हुआ मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त संयम में पराक्रम (पुरुषार्थ) करे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—उपसर्गविजेता साधु : कौन और कैसे ?—प्रस्तुत पांच सूत्रगाथाओं में उपसर्ग विजेता साधक की योग्यता, प्रतिफल और कर्तव्य का निर्देश किया गया है। उपसर्गविजेता के सम्बन्ध में विभिन्न पहलुओं से यहाँ अध्ययन का उपसंहार करते हुए विचार किया गया है—(१) उपसर्गविजेता साधक स्वकर्म पीड़ित संसार सागर को सामुद्रिक व्यवसायी की तरह पार कर लेते हैं, (२) पूर्वगाथाओं में उक्त उपसर्गों को जानकर उनसे बचे, (३) उत्तमव्रत धारक हो, (४) पंच समितियों से युक्त हो, (५) मृषावाद का परित्याग करे, (६) अदत्तादान का त्याग करे, (७) समस्त प्राणियों की हिंसा से विरत हो, (८) शान्ति ही निर्वाण प्राप्ति का कारण है, (९) भगवान् महावीर द्वारा प्रज्ञप्त धर्म को स्वीकार करे, (१०) ग्लान साधु की अग्लान भाव से सेवा करे, (११) मुक्ति प्रदान-कुशल धर्म को पहचाने-परखे, (१२) सम्यग्दृष्टि से सम्पन्न हो, (१३) राग-द्वेष, कषाय आदि से परिशान्त हो, (१४) उपसर्गों के आने पर शीघ्र नियन्त्रण में करे, और (१५) मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त संयम में निष्ठापूर्वक पराक्रम करे।[३०]

उपसर्गविजेता बनने के लिए पहला कदम—संसार-सागर को पार करना बड़ा कठिन है, संसार तभी पार किया जा सकता है, जबकि कर्मों का सर्वथा क्षय हो। कर्मों का क्षय करने के लिए पूर्वगाथाओं में उक्त अनुकूल और प्रतिकूल समस्त उपसर्गों पर विजय पाना आवश्यक है। जो मोक्षयात्री साधक इन समस्त उपसर्गों पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, वे बहुत आसानी से उसी तरह संसार-समुद्र को धर्मरूपी या संयमरूपी जहाज से पार कर लेते हैं, जिस तरह सामुद्रिक व्यापारी समुद्र की छाती पर माल से लदी अपनी जहाजें चला कर लवण समुद्र को पार कर लेते हैं। इसलिए

---

[३०] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति भाषानुवाद सहित, भा० २, पृ० ९४ से ९९ तक का सारांश

शास्त्रकार कहते हैं—**'एते ओघं तरिस्संति '' सयकम्मुणा ।'** परन्तु जो दुस्तर नारी-संगरूपी उपसर्ग पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते, वे स्वकृत असाता वेदनीय रूप पापकर्म के उदय से संसार-सागर को पार नहीं कर सकते, वे संसार में रहते हुए दुःख भोगते हैं। संसार उन्हीं के लिए दुस्तर है, जिनके लिए नारीसंग दुस्तर है। एक कवि ने कहा है—

> **"संसार ! तव दुस्तारपदवी न दवीयसी ।**
> **अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदिरे ! मदिरेक्षणा ।।"**[३१]

"अरे संसार ! यदि बीच में ये दुस्तर नारियाँ न होतीं तो तेरी यह जो दुस्तार पदवी है, उसका कोई महत्त्व न होता !" यह उपसर्ग-विजयी साधक बनने के लिए पहला कदम है।

दूसरा कदम—अनुकूल और प्रतिकूल जितने भी उपसर्गों का निरूपण पिछली सूत्रगाथाओं में किया गया है, उन्हे भली-भाँति जाने। कौन-कौन से उपसर्ग, कैसे-कैसे किस-किस रूप में आते हैं ? उन सबको ज्ञपरिज्ञा से अच्छी तरह समझ ले, तत्पश्चात् प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उनसे सावधान होकर बचे, उन उपसर्गों के आते ही दृढ़तापूर्वक उन पर विजय पाए, उन्हें अपने पर हावी न होने दे। यह उपसर्ग विजेता के लिए द्वितीय कदम है, जिसके लिए शास्त्रकार ने कहा है—**'तं च भिक्खू परिण्णाय ।'**

तीसरा कदम—उपसर्ग विजयी बनने के लिए साधक को सुन्दर व्रतों (यम-नियमों) से युक्त होना आवश्यक है। शास्त्रकार ने भी कहा है—"सुव्वते''''चरे।" 'चरे' क्रिया लगाने के पीछे आशय यह है कि साधक केवल महाव्रत या यम-नियम ग्रहण करके ही न रह जाए, उनका आचरण भी दृढ़तापूर्वक करे, तभी वह उपसर्गो पर सफलता से विजय पा सकेगा।

चौथा कदम—साधक को उपसर्गविजयी बनने के लिए पांच समितियों और उपलक्षण से तीन गुप्तियों का पालन करना आवश्यक है। अगर इनका अभ्यास जीवन में नहीं होगा तो साधु उपसर्गो के समक्ष टिक न सकेगा। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा—**'समिते चरे'**। इस वाक्य से शास्त्रकार का आशय उत्तरगुणों के दृढ़तापूर्वक आचरण से है जबकि 'सुव्वते' शब्द से मूलगुणों का आचरण द्योतित किया गया है।

पाँचवां, छठा और सातवाँ कदम—पूर्वोक्त कदम में महाव्रतों का विधेयात्मक रूप से आचरण करने का निर्देश था, किन्तु कई साधक वैसा करते हुए भी फिसल जाते हैं, इसलिए निषेधात्मक रूप से भी व्रताचरण करने हेतु यहाँ तीन निर्देशसूत्र हैं—**(१) मुसावायं च वज्जिज्जा, (२) अदिन्नादाणं च वोसिरे,** और **(३) सव्वत्थ विरतिं कुज्जा।** अर्थात्—उपसर्गो पर विजय पाने के लिए यह आवश्यक है कि साधक मृषावाद (असत्य) का मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप से सर्वथा त्याग करे; इसी तरह अदत्तादान (चौर्यकर्म) का भी व्युत्सर्ग करे, साथ ही 'च' शब्द से मैथुनवृत्ति (अब्रह्मचर्य) और परिग्रहवृत्ति को भी सर्वथा छोड़े, और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु है—जीव हिंसा से सर्वथा विरति होने की। अर्थात्—समस्त लोक और सर्वकाल में जो भी त्रस-स्थावर आदि एकेन्द्रिय

---

[३१] सूत्रकृतांग समयार्थबोधिनी टीका, भा० २, पृ० १८५ में उद्धृत

से लेकर पंचेन्द्रिय तक के प्राणी हैं, उनकी हिंसा किसी भी अवस्था में मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप से नहीं करनी चाहिए।

आठवाँ कदम—उपसर्ग-विजय के लिए साधक को सतत तपश्चर्या का अभ्यास होना चाहिए, ताकि वह स्वकृत कर्मों की आग को शान्त कर सके। भगवान् ने कर्माग्नि की शान्ति को ही निर्वाण प्राप्ति का कारण बताया है—**'संति निव्वाणमाहियं'**। इसलिए उपसर्ग-विजयी के लिए कर्मरूप अनल की शान्ति को आठवाँ कदम बताया गया है।

नौवाँ कदम—उपसर्ग-विजय के लिए भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित श्रुत-चारित्र रूप, मूलगुण-उत्तरगुण रूप या क्षमा आदि दशविध श्रमणधर्म को दृढ़तापूर्वक स्वीकार करना आवश्यक है। यहाँ क्षमा आदि दशविध श्रमणधर्म के स्वीकार का संकेत प्रतीत होता है, क्योंकि उपसर्ग-विजय के लिए क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन दस धर्मों का साधु जीवन में होना अनिवार्य है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**'इमं च धम्ममादाय कासवेण पवेदितं।'**

दसवाँ कदम—उपसर्ग-विजय के लिए अग्लान साधक को ग्लान (रुग्ण, अशक्त, वृद्ध आदि) साधु की परिचर्या (सेवा) अग्लान भाव से करना आवश्यक है। ग्लान साधु की सेवा करने में वह बेचैनी, ग्लानि या झुंझलाहट अनुभव न करे, प्रसन्नमन से, स्वयं को धन्य एवं कृतकृत्य मानता हुआ सेवा करे, तभी वह ग्लान-सेवा कर्म-निर्जरा का कारण बनेगी। ग्लान-सेवा का अवसर प्राप्त होने पर उससे जी चुराना, मुख मोड़ना या बेचैनी अनुभव करना, एक प्रकार का अरति परीषह रूप उपसर्ग है। ऐसा करना साधक की उक्त उपसर्ग से पराजय है। इसीलिए कहा गया है—**"कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स अगिलाए समाहिए।"**

ग्यारहवाँ कदम—उपसर्ग-विजय के लिए यह भी आवश्यक है कि उस धर्म को भली-भाँति परख ले, पहिचान ले, जो मुक्ति प्रदान करने में (कर्मों से मुक्ति दिलाने में) कुशल हो। संसार में अनेक प्रकार के नित्य और नैमित्तिक धर्म प्रचलित हैं। कई दर्शन या मत तो अमुक कामना-वासनामूलक बातों को भी धर्मसंज्ञा देते हैं, कई अमुक (तथाकथित स्वमान्य) शास्त्रविहित कर्मकाण्डों या सिर्फ ज्ञान को ही धर्म बताते हैं, उसी के एक-एक अंग को मुक्ति का कारण बताते हैं, जबकि जैनदर्शन यह कहता है जिससे शुभ कर्म की वृद्धि हो, ऐसे सत्कर्म धर्म नहीं, पुण्य हैं। धर्म वही है—जिससे कर्मों का निरोध या कर्मक्षय होता हो। इस दृष्टि से न तो सिर्फ ज्ञान ही मोक्ष का कारण है और न ही एकान्त चारित्र (क्रिया), किन्तु सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र तीनों मिलकर ही मोक्ष के कारण हैं, ये तीनों ही जहाँ हो, वहीं धर्म है। अगर साधक धर्म को पहिचानने-परखने के मामले में गड़बड़ा जाएगा तो वह धर्म के नाम से धर्मभ्रम (पशुबलि, काम-प्रार्थी नारी समागम, कामनामूलक क्रियाकाण्ड आदि) को पकड़कर उपसर्गों की चपेट में आ जाएगा। इसीलिए उपसर्ग-विजय के लिए ग्यारहवाँ कदम बताया गया है—**संखाय पेसलं धम्मं।**

बारहवाँ कदम—अगर साधक मिथ्या या विपरीत दृष्टि (दर्शन) से ग्रस्त हो जाएगा तो वह फिर अनुकूल उपसर्गों के चक्कर में आ जाएगा। इसलिए उपसर्ग-विजयी बनने हेतु साधक का सम्यग्दृष्टिसम्पन्न होना परम आवश्यक बताया गया है। सम्यग्दृष्टिसम्पन्न होने पर साधक व्यवहार में सुदेव,

सुगुरु और सद्धर्म तथा सच्छास्त्र के प्रति दृढ़ श्रद्धा रखेगा, हेय-ज्ञेय-उपादेय तत्त्वों को जान सकेगा, तथा सर्वत्र आत्महित की दृष्टि ही मुख्य रखेगा। वह फिर चारित्र भ्रष्ट करने वाले अनुकूल उपसर्गों के चक्कर में नहीं आएगा। इसीलिए कहा गया है—**'दिट्ठिमं।'**

तेरहवाँ कदम—उपसर्गों पर सफलतापूर्वक विजय पाने हेतु साधक के रागद्वेष एवं कषाय आदि परिशान्त होने आवश्यक हैं। अगर उसका राग-द्वेष या क्रोधादि कषाय बात-बात में भड़क उठेगा, या समय-असमय वह राग-द्वेष-कषायादि से उत्तेजित हो जाएगा तो वह अनेक आत्म-संवेदन-कृत उपसर्गों से घिर जाएगा, फिर उन उपसर्गों से छुटकारा पाना कठिन हो जाएगा। इसीलिए शास्त्रकार ने कहा—**"परिनिव्वुडे'**।

चौदहवाँ कदम—इतना सब करने पर भी साधक के जीवन में अनुकूल या प्रतिकूल कई उपसर्ग अकस्मात् आ सकते हैं, उस समय साधक को फौरन ही विवेकपूर्वक उन उपसर्गों पर काबू पाना आवश्यक है। अगर वह उस समय गाफिल होकर रहेगा तो उपसर्ग उस पर हावी हो जाएगा, इसलिए उपसर्ग के आते ही मन से उसे तुरन्त निर्णय करना होगा कि मुझे इस उपसर्ग को अपने पर विजयी नहीं होने देना है, यानी इस उपसर्ग से पराजित नहीं होना है, अपितु इस पर नियन्त्रण (विजय) पाना है। इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—**'उवसग्गे नियामित्ता'**।

पन्द्रहवाँ कदम—सबसे अन्तिम कदम उपसर्ग-विजयी बनने के लिए यह है कि उस साधक को उपसर्गों के बार-बार आक्रमण होने पर मन में अश्रद्धा, अविश्वास और अधीरता लाकर संयम (संयमी जीवन) को छोड़ बैठना नहीं चाहिए अपितु दृढ़ विश्वास और धैर्य के साथ उपसर्गों को सहन करते हुए, मोक्ष प्राप्ति (कर्मों के सर्वथा क्षय) होने तक संयम पर डटे रहना चाहिए। उसकी संयम-निष्ठा इतनी पक्की होनी चाहिए। इसी तथ्य की ओर शास्त्रकार का संकेत है—**'आमोक्खाए परिव्वएज्जासि।'**

उपसर्ग परिज्ञा अध्ययन की परिसमाप्ति में अन्तिम दो गाथाओं की (जो कि इसी अध्ययन के तृतीय उद्देशक के अन्त में दी गई थीं) पुनरावृत्ति करके भी शास्त्रकार ने पाँच सूत्रगाथाओं में उपसर्ग-विजयी बनने के लिए पंचदशसूत्री कदमों का मार्ग निर्देश किया।[३२]

पाठान्तर और व्याख्या—विसण्णा सं कच्चंति सयकम्मुणा—वृत्तिकार के अनुसार—**'विषण्णाः सन्तः कृत्यन्ते-पीड्यन्ते स्वकृतेन-आत्मनाऽनुष्ठितेन पापेन कर्मणा असद्वेदनीयोदयरूपेण'**—अर्थात् जिस संसार में विषण्ण—फँसे हुए प्राणी स्वकृत असातावेदनीयरूप पापकर्म के उदय से पीड़ित होते हैं। चूर्णिकार **'विसण्णासी च कच्चंती सह कम्मुणा'** पाठान्तर मानकर व्याख्या करते हैं—'यस्मिन्-यत्र एते पाषण्डाः····विषयजिता विषण्णा आसते गृहिणश्च, इह परत्र च कच्चंति सहकम्मुणा'—जिस संसार में ये पाषण्ड व्रतधारी (साधक) या गृहस्थ विषयों से पराजित होकर विषण्ण—दुःखी रहते हैं, और अपने कर्मों से यहाँ और वहाँ पीड़ित होते हैं। **विवज्जेज्जाऽदिण्णादाणाइ वोसिरे**—वृत्तिकार **'बज्जिज्जा अदिन्नादाणं च वोसिरे'** पाठान्तर मानकर अर्थ करते हैं—**'अदत्तादानं च व्युत्सृजेत्'** दन्तशोधनमात्र-

---

[३२] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १००, १०१ के आधार पर
(ख) सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या पृ० ४९६ से ५०५ के आधार पर

मप्यदत्तं न गृह्णीयात् ।' अर्थात्—अदत्तादान का व्युत्सर्ग-त्याग करे, यानी दांत कुरेदने के लिए तिनका भी विना दिया हुआ, ग्रहण न करे ।' वृत्तिकार यहाँ 'आदि' शब्द मानकर अर्थ करते हैं—**'आदिग्रहणान्-मैथुनादेः परिग्रहः'** आदि शब्द यहाँ (मूलपाठ में) ग्रहण किया गया है, इसलिए मैथुन आदि का ग्रहण करना अभीष्ट है । चूर्णिकार तो **'विवज्जेज्ज अदिण्णादि च वोसिरे**—पाठान्तर मानकर उपर्युक्त अर्थ स्वीकार करते हैं । **'सव्वत्थ विरतिं कुज्जा'**—वृत्तिकार के अनुसार—**सर्वत्र-काले, सर्वावस्थास्वित्यनेनेनाऽपि कालभावभेदभिन्नः प्राणातिपात उपात्तो द्रष्टव्यः**—अर्थात् सव्वत्थ का अर्थ है—सर्वत्र यानी सब काल में, सभी अवस्थाओं में प्राणातिपात नहीं करना चाहिए, यह कहकर शास्त्रकार ने काल और भाव रूप से प्राणातिपात का ग्रहण किया दिखता है । चूर्णिकार इसके वदले **'सव्वत्थ विरतिं विज्जं'** पाठान्तर मानकर व्याख्या करते हैं—**'सव्वत्थ—सर्वत्र विज्जं—विद्वान, सर्वत्र-विरतिं—सर्वविरतिं विद्वान् 'कुर्याद' इति वाक्यशेष**—अर्थात् विज्जं—विद्वान् सर्वत्र अथवा सर्वत्रविरति—सर्वविरति, 'कुर्याद्' यह वाक्य शेष है, अर्थ होता है—करे । **समाहिते**—समाधि प्राप्त ।[३३]

।। चतुर्थ उद्देशक समाप्त ।।

।। उपसर्ग परिज्ञा : तृतीय अध्ययन सम्पूर्ण ।।

---

[३३] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १००, १०१ का सार
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ. ४३, ४४

स्त्रीपरिज्ञा : चतुर्थ अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग सूत्र (प्र० श्रु०) के चतुर्थ अध्ययन का नाम 'स्त्रीपरिज्ञा' है।

☐ स्त्री शब्द के निक्षेप की दृष्टि से अनेक अर्थ होते हैं। नाम स्त्री और स्थापना स्त्री प्रसिद्ध है। द्रव्य स्त्री दो प्रकार की हैं—आगमत: और नोआगमत:। जो स्त्री पद के अर्थ को जानता है किन्तु उसके उपयोग से रहित है, वह आगम-द्रव्यस्त्री है। नोआगम-द्रव्यस्त्री के तीन भेद हैं—ज्ञशरीर-द्रव्यस्त्री, भव्य शरीर द्रव्यस्त्री और ज्ञशरीर भव्यशरीर-व्यतिरिक्त-द्रव्यस्त्री। इनमें से ज्ञशरीर-भव्यशरीर-तद्व्यतिरिक्त द्रव्यस्त्री के तीन प्रकार हैं—(१) एक भविका (जो जीव एक भव के बाद ही स्त्री शरीर को प्राप्त करने वाला हो) (२) बद्धायुष्का (जिसने स्त्री की आयु बांध ली हो) और (३) अभिमुख-नाम-गोत्रा (जिस जीव के स्त्रीनाम-गोत्र अभिमुख हो)।

☐ इसी तरह चिह्नस्त्री, वेदस्त्री और अभिलापस्त्री आदि भी द्रव्यस्त्री के प्रकार हैं। जो चिह्नमात्र से स्त्री है, अथवा स्त्री के स्तन आदि अंगोपांग तथा स्त्री की तरह की वेशभूषा आदि धारण करने वाला जीव है वह चिह्नस्त्री है। अथवा जिस महान् आत्मा का स्त्रीवेद नष्ट हो गया है, इसलिए जो (छद्मस्थ, केवली या अन्यजीव) केवल स्त्रीवेष धारण करता है, वह भी चिह्नस्त्री है। जिसमें पुरुष को भोगने की अभिलाषारूप स्त्रीवेद का उदय हो, उसे वेदस्त्री कहते हैं। स्त्रीलिंग का अभिलापक (वाचक) शब्द अभिलाप स्त्री है। जैसे—माला, सीता, पद्मिनी आदि।

☐ भावस्त्री दो प्रकार की होती है—आगमत:, नो-आगमत:। जो स्त्री पदार्थ को जानता हुआ उसमें उपयोग रखता है वह आगमत: भावस्त्री है। जो स्त्रीवेदरूप वस्तु में उपयोग रखता है, अथवा स्त्रीवेदोदय प्राप्त कर्मों में उपयोग रखता है—स्त्रीवेदनीय कर्मो का अनुभव करता है, वह नो-आगमत: भावस्त्री है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में चिह्नस्त्री, वेदस्त्री आदि द्रव्यस्त्री सम्बन्धी अर्थ ही अभिष्ट है।

☐ परिज्ञा का भावार्थ है—तत्सम्बन्धी सभी पहलुओं से ज्ञान प्राप्त करना। परिज्ञा के शास्त्रीय दृष्टि से दो अर्थ फलित होते हैं—ज्ञपरिज्ञा द्वारा वस्तु तत्त्व का यथार्थ परिज्ञान और प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा उसके प्रति आसक्ति, मोह, रागद्वेषादि का परित्याग करना।

☐ **'स्त्रीपरिज्ञा'** का विशिष्ट अर्थ हुआ—स्त्री के स्वरूप, स्वभाव आदि का परिज्ञान और उसके प्रति आसक्ति, मोह आदि के परित्याग का जिस अध्ययन में वर्णन है, वह स्त्रीपरिज्ञा अध्ययन है।

☐ स्त्रीसंगजनित उपसर्ग किस-किस प्रकार से साधुओं पर आता है? साधुओं को उक्त उपसर्ग से कैसे बचना चाहिए? इत्यादि परिज्ञान कराना इस अध्ययन का उद्देश्य है।[1]

☐ स्त्रीपरिज्ञा अध्ययन के दो उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में स्त्रीजन्य उपसर्ग के सन्दर्भ में यह बताया गया है कि स्त्रियों के साथ संसर्ग रखने, उनके साथ चारित्र भ्रष्ट करने वाली बातें करने तथा उनके कामोत्तेजक अंगोपांगों को विकार भाव से देखने आदि से मन्दपराक्रमी साधु शीलभ्रष्ट हो जाता है। तनिक-सी असावधानी रखने पर श्रमणत्व का विनाश हो सकता है; वह साधु दीक्षा तक को छोड़ सकता है। प्रथम उद्देशक में ३१ गाथाएँ हैं।

☐ द्वितीय उद्देशक में बताया गया है कि शीलभ्रष्ट साधु को स्वपक्ष और परपक्ष की ओर से कैसे-कैसे अपमान, तिरस्कार आदि दुःखों के प्रसंग आते हैं? शीलभंग से हुए अशुभ कर्मबन्ध के कारण अगले जन्मों में उसे दीर्घकाल तक संसार परिभ्रमण करना पड़ता है। विचित्र छलनापूर्ण मनोवृत्ति वाली स्त्रियों द्वारा अतीव बुद्धिमान् प्रचण्ड शूरवीर एवं महातपस्वी कैसे-कैसे चक्कर में फँसा लिये जाते हैं, यह दृष्टान्तपूर्वक समझाया गया है। द्वितीय उद्देशक में २२ गाथाएँ हैं।[2]

☐ इस अध्ययन में स्त्रियों को अविश्वसनीय, कपट की खान आदि दुर्गुणों से युक्त बताया गया है, वह मात्र पुरुष को जागृत और काम विरक्त करने की दृष्टि से है, वहाँ स्त्रियों की निन्दा करने की दृष्टि कतई नहीं है, विशेषतः श्रमण को सावधान करने की दृष्टि से ऐसा बताया गया है। वास्तव में पुरुष की भ्रष्टता का मुख्य कारण तो उसकी स्वयं की काम-वासना है, उस वासना के उत्तेजित होने में स्त्री निमित्त कारण बन जाती है। इसलिए **'स्त्रीपरिज्ञा'** का तात्पर्य स्त्री-संसर्ग निमित्तक उपसर्ग की परिज्ञा समझना चाहिए।[3]

☐ इसी कारण निर्युक्तिकार और वृत्तिकार इस तथ्य को स्वीकार करते हैं—स्त्रियों के संसर्ग से जितने दोष पुरुष में उत्पन्न होते हैं, प्रायः उतने ही दोष पुरुषों के संसर्ग से स्त्री में उत्पन्न हो सकते हैं। अतः वैराग्यमार्ग में स्थित श्रमणों को स्त्री-संसर्ग से सावधान रहने की तरह दीक्षित साध्वियों को भी पुरुष-संसर्ग से सावधान (अप्रमत्त) रहना चाहिए।

---

[1] (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा ५६
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १०२

[2] (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा ५८
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १०२

[3] जैन साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग १, पृ० १४५

☐ प्रस्तुत अध्ययन में स्त्री-संसर्ग से पुरुष साधक में होने वाले दोषों के समान ही पुरुष के संसर्ग से स्त्री में होने वाले दोष भी बताये गये हैं, तथापि इसका नाम 'पुरुष-परिज्ञा' न रखकर 'स्त्री-परिज्ञा' इसलिए रखा गया है कि अधिकतर दोष स्त्री संसर्ग से ही पैदा होते हैं।[४] तथा इसके प्रवक्ता पुरुष हैं, यह भी एक कारण हो सकता है।

☐ तथापि निर्युक्तिकार ने स्त्री शब्द के निक्षेप की तरह 'पुरुष' के भी नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, प्रजनन, कर्म, भोग, गुण और भाव की दृष्टि से १० निक्षेप बताये हैं, जिन्हें पुरुषपरिज्ञा की दृष्टि से समझ लेना चाहिए।[५]

☐ यह अध्ययन सूत्रगाथा २४७ से प्रारम्भ होकर सूत्रगाथा २९९ पर समाप्त होता है।[६]

☐☐

---

४. (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा ६३
   (ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक १०४

५. (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा ५७
   (ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १०२

६. सूयगडंग सुत्तं (मू० पा० टिप्पण) पृ० ४५ से ५३ तक

'इत्थीपरिण्णा'-चउत्थं अज्झयणं

पढमो उद्देसओ

स्त्रीसंगरूप उपसर्ग : विविध रूप : सावधानी की प्रेरणाएँ

२४७. जे मायरं च पियरं च, विप्पजहाय पुव्वसंयोगं ।
एगे सहिते चरिस्सामि, आरतमेहुणे विवित्तेसी ॥१॥

२४८. सुहुमेण तं परक्कम्म, छन्नपदेण इत्थिओ मंदा ।
उवायं पि ताओ जाणिंसु, जह लिस्संति भिक्खुणो एगे ॥२॥

२४९. पासे भिसं निसीयंति, अभिक्खणं पोसवत्थ परिहिंति ।
कायं अहे वि दंसेंति, बाहुमुद्धट्टु कक्खमणुवज्जे ॥३॥

२५०. सयणा-ऽऽसणेण जोग्गेण, इत्थीओ एगया निमंतेंति ।
एताणि चे सेव जाणे, पासाणि विरूवरूवाणि ॥४॥

२५१. नो तासु चक्खु संधेज्जा, नो वि य साहसं समभिजाणे ।
नो सद्धियं पि विहरेज्जा, एवमप्पा सुरक्खिओ होइ ॥५॥

२५२. आमंतिय ओसवियं वा, भिक्खुं आयसा निमंतेंति ।
एताणि चेव से जाणे, सद्दाणि विरूवरूवाणि ॥६॥

२५३. मणबंधणेहिं, णेगेहिं, कलणविणीयमुवगसित्ताणं ।
अदु मंजुलाइं भासंति, आणवयंति भिन्नकहाहिं ॥७॥

२५४. सीहं जहा व कुणिमेणं, णिब्भयमेगचरं पासेणं ।
एवित्थिया उ बंधंति, संवुडं एगतियमणगारं ॥८॥

२५५. अह तत्थ पुणो नमयंति, रहकारु व्व णेमि आणुपुव्वीए ।
बद्धे मिए व पासेणं, फंदंते वि ण मुच्चती ताहे ॥९॥

२५६. अह सेऽणुतप्पती पच्छा, भोच्चा पायसं व विसमिस्सं ।
एवं विवेगमायाए, संवासो न कप्पती दविए ॥१०॥

२५७. तम्हा उ वज्जए इत्थी, विसलित्तं व कंटगं णच्चा ।
ओए कुलाणि वसवत्ती, आघाए ण से वि णिग्गंथे ॥११॥

२५८. जे एयं उंछं अणुगिद्धा, अण्णयरा हु ते कुसीलाणं ।
सुतवस्सिए वि से भिक्खू, णो विहरे सह णमित्थीसु ॥१२॥

२५९. अवि धूयराहिं सुण्हाहिं, धातीहिं अदुव दासीहिं ।
महतीहिं वा कुमारीहिं, संथवं से णेव कुज्जा अणगारे ॥१३॥

२६०. अदु णातिणं व सुहिणं वा, अप्पियं दट्ठु एगता होति ।
गिद्धा सत्ता कामेहिं, रक्खण-पोसणे मणुस्सोऽसि ॥१४॥

२६१. समणं पि दट्ठुदासीणं, तत्थ वि ताव एगे कुप्पंति ।
अदुवा भोयणेहिं णत्थेहिं, इत्थीदोससंकिणो होंति ॥१५॥

२६२. कुव्वंति संथवं ताहिं, पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं ।
तम्हा समणा ! ण समेंति, आतहिताय सण्णिसेज्जाओ ॥१६॥

२६३. बहवे गिहाइं अवहट्टु, मिस्सीभावं पत्थुता एगे ।
धुवमग्गमेव पवदंति, वायावीरियं कुसीलाणं ॥१७॥

२६४. सुद्धं रवति परिसाए, अह रहस्सम्मि दुक्कडं करेंति ।
जाणंति य णं तहावेदा, माइल्ले महासढेऽयं ति ॥१८॥

२६५. सयं दुक्कडं च न वयइ, आइट्ठो वि पकत्थती बाले ।
वेयाणुवीइ मा कासी, चोइज्जंतो गिलाइ से भुज्जो ॥१९॥

२६६. उसिया वि इत्थिपोसेसु, पुरिसा इत्थिवेदखेतण्णा ।
पण्णासमन्निता वेगे, णारीण वसं उवकसंति ॥२०॥

२६७. अवि हत्थ-पादछेदाए, अदुवा वद्धमंस उक्कंते ।
अवि तेयसाऽभितवणाइं, तच्छिय खारसिंचणाइं च ॥२१॥

२६८. अदु कण्ण-णासियाछेज्जं, कंठच्छेदणं तितिक्खंति ।
इति एत्थ पावसंतत्ता, न य बेंति पुणो न काहिं ति ॥२२॥

२६९. सुतमेतमेवमेगेसिं, इत्थीवेदे वि हु सुअक्खायं ।
एवं पि ता वदित्ताणं, अदुवा कम्मुणा अवकरेंति ।।२३।।

२७०. अन्नं मणेण चिंतेंति, अन्नं वायाइ कम्मुणा अन्नं ।
तम्हा ण सद्दहे भिक्खू, वहुमायाओ इत्थिओ णच्चा ।।२४।।

२७१. जुवती समणं बूया उ, चित्तलंकारवत्थगाणि परिहेत्ता ।
विरता चरिस्स हं लूहं, धम्ममाइक्ख णे भयंतारो ।।२५।।

२७२. अदु साविया पवादेण, अहगं साधम्मिणी य समणाणं ।
जतुकुम्भे जहा उवज्जोती, संवासे विदू वि सीएज्जा ।।२६।।

२७३. जतुकुम्भे जोतिमुवगूढे, आसुऽभितत्ते णासमुपयाति ।
एवित्थियाहिं अणगारा, संवासेण णासमुवयंति ।।२७।।

२७४. कुव्वंति पावगं कम्मं, पुट्ठा वेगे एवमाहंसु ।
नाहं करेमि पावं ति, अंकेसाइणी ममेस त्ति ।।२८।।

२७५. वालस्स मंदयं वितियं, जं च कडं अवजाणई भुज्जो ।
दुगुणं करेइ से पावं, पूयणकामए विसण्णेसी ।।२९।।

२७६. संलोकणिज्जमणगारं, आयगतं णिमंतणेणाऽऽहंसु ।
वत्थं व ताति ! पातं वा, अन्नं पाणगं पडिग्गाहे ।।३०।।

२७७. णीवारमेय वुज्झेज्जा, णो इच्छे अगारमागंतुं ।
वद्धे य विसयपासेहिं, मोहमागच्छती पुणो मंदे ।।३१।। त्ति बेमि ।।

२४७. जो पुरुष (इस भावना से दीक्षा ग्रहण करता है कि मैं) "माता-पिता तथा समस्त पूर्व संयोग (पूर्व सम्बन्ध) का त्याग करके, मैथुन (सेवन) से विरत होकर तथा अकेला ज्ञान-दर्शन-चारित्र से युक्त (सहित) रहता हुआ विविक्त (स्त्री, पशु एवं नपुंसक रहित) स्थानों में विचरण करूँगा।"

२४८. उस साधु के निकट आकर हिताहितविवेकरहित स्त्रियाँ छल से, अथवा गूढ़ार्थ वाले पदों (छन्न शब्दों, पहेली व काव्य) से उसे (शीलभ्रष्ट करने का प्रयत्न करती हैं।) वे स्त्रियाँ वह उपाय भी जानती हैं, जिससे कई साधु उनका संग कर लेते हैं।

२४९. वे साधु के पास वहुत अधिक वैठती हैं, वार-वार कामवासना-पोषक सुन्दर वस्त्र पहनती हैं, शरीर के अधोभाग (जांघ आदि) को भी (साधु को कामोत्तेजित करने हेतु) दिखाती हैं, तथा वाहें ऊँची करके कांख (दिखाती हुई साधु के) सामने से जाती हैं।

२५०. कभी (वे चालाक) स्त्रियाँ (उपभोग करने) योग्य शयन, आसन आदि (सुन्दर पलंग, शय्या, कुर्सी या आराम कुर्सी आदि) का उपभोग करने के लिए साधु को (एकान्त में) आमंत्रित करती हैं। वह (परमार्थदर्शी विवेकी) साधु इन (सब बातों) को कामजाल में फँसाने के नाना प्रकार के बन्धन समझे।

२५१. साधु उन स्त्रियों पर आँख न गड़ाए (मिलाए) न उनके साथ कुकर्म .करने का साहस भी स्वीकार करे; न ही उनके साथ-साथ (ग्राम-नगर आदि में) विहार करे। इस प्रकार (ऐसा करने पर) साधु की आत्मा सुरक्षित होती है।

२५२. विलासिनी स्त्रियाँ साधु को संकेत करके (अर्थात्—मैं अमुक समय आपके पास आऊँगी, इत्यादि प्रकार से) आमंत्रित करके तथा (अनेक प्रकार के वार्तालापों से) विश्वास दिला कर अपने साथ सम्भोग करने के लिए निमंत्रित—प्रार्थना करती हैं। अत: वह (विवेकी साधु) (स्त्री सम्बन्धी) इन सब शब्दों—बातों को नाना प्रकार के पाशबन्धन समझे।

२५३. चालाक नारियाँ साधु के मन को बाँधने वाले (मनोमोहक-चित्ताकर्षक) अनेक उपायों के द्वारा तथा करुणोत्पादक वाक्य और विनीत भाव से साधु के समीप आकर मधुर-मधुर सुन्दर बोलती हैं, और काम सम्बन्धी बातों से साधु को अपने साथ कुकर्म करने की आज्ञा (अनुमति) दे देती हैं।

२५४. जैसे वन में निर्भय और अकेले विचरण करने वाले सिंह को मांस का लोभ देकर सिंह पकड़ने वाले लोग पाश से बाँध लेते हैं, इसी तरह मन-वचन-काय से संवृत-गुप्त रहने वाले किसी-किसी शान्त साधु को स्त्रियाँ अपने मोहपाश में बाँध लेती हैं।

२५५. रथकार जैसे रथ की नेमि चक्र के बाहर लगने वाली पुट्ठी को क्रमश: नमा (झुका) लेता है, इसी तरह स्त्रियाँ साधु को अपने वश में करने के पश्चात् अपने अभीष्ट (मनचाहे) अर्थ में क्रमश: झुका लेती हैं। मृग की तरह पाश में बँधा हुआ साधु (पाश से छूटने के लिए) कूद-फाँद करता हुआ भी उस (पाश) से छूट नहीं पाता।

२५६. जैसे विषमिश्रित खीर को खाकर मनुष्य पश्चात्ताप करता है, वैसे ही स्त्री के वश में होने के पश्चात् वह साधु पश्चात्ताप करता है। अतः मुक्तिगमन-योग्य (द्रव्य) साधु को स्त्रियों के साथ संवास (एक स्थान में निवास) या सहवास—संसर्ग करना उचित—कल्पनीय नहीं है।

२५७. स्त्रियों को विष से लिप्त कांटे के समान समझ कर साधु स्त्रीसंसर्ग से दूर रहे। स्त्री के वश में रहने वाला जो साधक गृहस्थों के घरों में अकेला जाकर (अकेली स्त्री को) धर्मकथा (उपदेश) करता है, वह भी 'निर्ग्रन्थ' नहीं है।

२५८. जो पुरुष (साधक) इस (स्त्रीसंसर्गरूपी) झूठन या त्याज्य निन्द्यकर्म में अत्यन्त आसक्त है, वह अवश्य ही कुशीलों (पार्श्वस्थ, अवसन्न आदि चारित्रभ्रष्टों) में से कोई एक है। इसलिए वह साधु चाहे उत्तम तपस्वी भी हो, तो भी स्त्रियों के साथ विहार न करे।

२५९. अत: अपनी पुत्रियों, पुत्रवधुओं, धाय-माताओं अथवा दासियों, या बड़ी उम्र की स्त्रियों अथवा कुंआरी कन्याओं के साथ भी वह अनगार सम्पर्क—परिचय न करे।

२६०. किसी समय (एकान्त स्थान में स्त्री के साथ बैठे हुए साधु को) देखकर (उस स्त्री के) ज्ञाति (स्व) जनों अथवा सुहृदों—हितैषियों को अप्रिय लगता है। (वे कहते हैं—) जैसे दूसरे प्राणी काम-भोगों में गृद्ध-आसक्त हैं (वैसे ही यह साधु भी है।) (वे साधु से कहते हैं—) 'तुम इस (स्त्री) का रक्षण-पोषण करो, (क्योंकि) तुम इसके पुरुष हो।'

२६१. (रागद्वेषवर्जित) उदासीन तपस्वी (श्रमण) साधु को भी स्त्री के साथ एकान्त में बातचीत करते या बैठे देखकर कोई-कोई व्यक्ति क्रुद्ध हो उठते हैं। अथवा नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोजन साधु के लिए बनाकर रखते या देते देखकर वे उस स्त्री के प्रति दोष की शंका करने लगते हैं (कि यह उस साधु से अनुचित संबंध रखती है)।

२६२. समाधियोगों (धर्मध्यान) से भ्रष्ट पुरुष ही उन स्त्रियों के साथ संसर्ग करते हैं। इसलिए श्रमण आत्महित के लिए स्त्रियों के निवास स्थान (निषद्या) पर नहीं जाते।

२६३. बहुत से लोग घर से निकल कर प्रव्रजित होकर भी मिश्रभाव-अर्थात्—कुछ गृहस्थ का और कुछ साधु का, यों मिला-जुला आचार अपना लेते हैं। इसे वे मोक्ष का मार्ग ही कहते हैं। (सच है) कुशीलों के वचन में ही शक्ति (वीर्य) होती है, (कार्य में नहीं)।

२६४. वह (कुशील पुरुष-साधक) सभा में (स्वयं को) शुद्ध कहता है, परन्तु एकान्त में दुष्कृत (पापकर्म) करता है। तथाविद् (उसकी अंगचेष्टाओं-आचार-विचारों एवं व्यवहारों को जानने वाले व्यक्ति) उसे जान लेते हैं कि यह मायावी और महाधूर्त है।

२६५. बाल (अज्ञ) साधक स्वयं अपने दुष्कृत-पाप को नहीं कहता, तथा गुरु आदि द्वारा उसे अपने पाप को प्रकट करने का आदेश दिये जाने पर भी वह अपनी बड़ाई करने लगता है। "तुम मैथुन की अभिलाषा (पुरुषवेदोदय के अनुकूल कामभोग की इच्छा) मत करो", इस प्रकार (आचार्य आदि के द्वारा) बार-बार प्रेरित किये जाने पर वह कुशील ग्लानि को प्राप्त हो (मुर्झा) जाता है (झेंप जाता है या नाराज हो जाता है)।

२६६. जो पुरुष स्त्रियों की पोषक प्रवृत्तियों में प्रवृत्त रह चुके हैं, अतएव स्त्रियों के कारण होने वाले खेदों के ज्ञाता (अनुभवी) हैं एवं प्रज्ञा (औत्पात्तिकी आदि बुद्धियों) से सम्पन्न (युक्त) हैं, ऐसे भी कई लोग स्त्रियों के वश में हो जाते हैं।

२६७. (इस लोक में परस्त्री-सेवन के दण्ड के रूप में) उसके हाथ-पैर भी छेदे (काटे) जा सकते हैं, अथवा उसकी चमड़ी और मांस भी उखेड़ा (काटा) जा सकता है, अथवा उसे आग में डालकर जलाया जाना भी सम्भव है, और उसका अंग छीलकर उस पर क्षार (नमक आदि) का पानी भी छिड़का जा सकता है।

२६८. पाप-सन्तप्त (पाप की आग में जलते हुए) पुरुष इस लोक में (इस प्रकार से) कान और नाक का छेदन एवं कण्ठ का छेदन (गला काटा जाना) तो सहन कर लेते हैं, परन्तु यह नहीं कहते कि हम अब फिर ऐसे पाप नहीं करेंगे।

२६९. 'स्त्रीसंसर्ग बहुत बुरा होता है', यह हमने सुना है, कई अनुभवियों का भी यही (कथन) कहता है। स्त्रीवेद (वशिक काम शास्त्र) का भी यह कहना है कि 'अब मैं ऐसा नहीं करूँगी', यह कह कर भी वे (काम कला-निपुण स्त्रियाँ) कर्म से अपकृत्य करती हैं।

२७०. स्त्रियाँ मन से और कुछ सोचती हैं, वाणी से दूसरी बात बोलती हैं और कर्म से और ही करती हैं। इसलिए स्त्रियों को बहुत माया (कपट) वाली जानकर उन पर विश्वास (श्रद्धा) न करे।

२७१. कोई युवती विचित्र आभूषण और वस्त्र पहन कर श्रमण से यों कहे कि—"हे कल्याण करने वाले या संसार से पार करने वाले, अथवा हे भय से बचाने वाले साधो ! मैं विरत (संसार से विरक्त) हो गई हूँ, मैं अब संयम पालन करूँगी, आप मुझे धर्मोपदेश दीजिए।"

२७२. अथवा श्राविका होने के बहाने से स्त्री साधु के निकट आकर कहती है—"मैं श्रमणों की साधर्मिणी हूँ।" (किन्तु) जैसे अग्नि के पास लाख का घड़ा पिघल जाता है, वैसे ही विद्वान् पुरुष भी स्त्री के साथ रहने से शिथिलाचारी हो जाते हैं।

२७३. जैसे अग्नि को छूता हुआ लाख का घड़ा शीघ्र ही तप्त होकर नाश को प्राप्त (नष्ट) हो जाता है, इसी तरह स्त्रियों के साथ संवास (संसर्ग) से अनगार पुरुष (भी) शीघ्र ही नष्ट (संयमभ्रष्ट) हो जाते हैं।

२७४. कई भ्रष्टाचारी पापकर्म करते हैं, किन्तु आचार्य आदि के द्वारा पूछे जाने पर यों कहते हैं कि मैं पापकर्म नहीं करता, किन्तु 'यह स्त्री (बाल्यकाल में) मेरे अंक में सोती थी।'

२७५. उस मूर्ख साधक की दूसरी मूढ़ता यह है कि वह पुनः-पुन किये हुए पापकर्म को, 'नहीं किया', कहता है। अतः वह दुगुना पाप करता है। वह जगत् में अपनी पूजा चाहता है, किन्तु असंयम की इच्छा करता है।

२७६. दिखने में सुन्दर आत्मज्ञानी अनगार को स्त्रियाँ निमंत्रण देती हुई कहती हैं—हे भवसागर से त्राता (रक्षा करने वाले) साधो ! आप मेरे यहाँ से वस्त्र, पात्र, अन्न (आहार) या पान (पेय पदार्थ) स्वीकार (ग्रहण) करें।

२७७. इस प्रकार के प्रलोभन को साधु, सूअर को फँसाने वाले चावल के दाने के समान समझे। ऐसी स्त्रियों की प्रार्थना पर वह (उनके) घर जाने की इच्छा न करे। (किन्तु) विषय-पाशों से बंधा हुआ मूर्ख साधक पुनः पुनः मोह को प्राप्त हो जाता है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—स्त्रीसंगरूप उपसर्ग : विविध रूप, दुष्परिणाम एवं कर्त्तव्यनिर्देश—प्रस्तुत उद्देशक की ३१ सूत्रगाथाओं (सू० गा० २४७ से २७७ तक) में स्त्रीसंसर्गरूप के विविध रूपों का परिचय देते हुए शास्त्रकार ने बीच-बीच में स्त्रीसंग से भ्रष्ट साधक की अवदशा, स्त्रीसंसर्गभ्रष्टता के दुष्परिणामों एवं इस उपसर्ग से बचने के कर्त्तव्यों का निरूपण भी किया गया है।[1]

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति (भाषानुवाद सहित), भाग २, पृ० १०९ से १४७ तक का सारांश

स्त्रीसंगरूप उपसर्ग एक : रूप अनेक—वास्तव में साधु मन में जब कामवासना के मलिन विचारों को घुलाता रहता है, तब वह किसी भी स्त्री के हावभाव, मधुर आलाप, नम्र वचन, चाल-ढाल या अंगोपांग को देखकर उसके प्रति कामासक्त हो सकता है। फिर भी साधु की भूमिका इससे काफी ऊँची है और शास्त्रकार इस अध्ययन के प्रारम्भ में सर्वप्रथम उसकी उच्च भूमिका का स्मरण कराते हैं—'जब कोई व्यक्ति घर-बार, माता-पिता आदि स्वजनों, कुटुम्बीजनों, धन-सम्पत्ति तथा समस्त सांसारिक वस्तुओं से पहले का मोहसम्बन्ध छोड़कर एकाकी वन मुनिधर्म में दीक्षित होता है, तब यही प्रतिज्ञा करता है कि मैं आज से सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञानपूर्वक सम्यक्चारित्र (पंचमहाव्रत पंचसमिति, त्रिगुप्ति आदि) में अथवा स्व-(आत्म) हित में विचरण करूँगा। तब से वह समस्त प्रकार के मैथुन से मन-वचन-काया से विरत हो जाता है और विविक्त (स्त्री-पशु-नपुंसकसंसर्गरहित) स्थान की गवेषणा करता है, अथवा विविक्त-पवित्र साधुओं के मार्ग के अन्वेषण में तत्पर रहता है, या कर्मों से विविक्त-रहित मोक्ष का अभिलाषी रहता है। फिर भी उक्त ब्रह्मचर्यपरायण साधु के समक्ष अत्यन्त सूक्ष्म रूप में कई विवेकमूढ़ नारियाँ आकर उसे नाना रूप से शीलभ्रष्ट कर सकती हैं। साधु को सहसा उस स्त्रीजन्य सूक्ष्म उपसर्ग का पता ही नहीं लगता, वह ठगा जाता है, उक्त उपसर्ग के प्रवाह में बह जाता है। अतः शास्त्रकार श्रमण को सावधान करने और उस उपसर्ग में फँसने से बचाने की दृष्टि से स्त्रीजन्य उपसर्ग के विभिन्न रूपों को यहाँ प्रस्तुत करते हैं।[2]

१. प्रथम रूप—विवेकमूढ़ स्त्रियाँ साधु के पास आकर बैठ जाती हैं, और इधर-उधर के पुराने गार्हस्थ्य या दाम्पत्य संस्मरण याद दिलाकर साधक को शीलभ्रष्ट करने का प्रयत्न करती हैं। जैसे नाना प्रकार से छल करने में निपुण, कामवासना पैदा करने में चतुर, मागधवेश्या आदि नारियों ने कूलवालुक जैसे तपस्वी रत्नों को शीलभ्रष्ट कर दिया था। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**'सुहुमेण तं परिक्कम्म।'** अर्थात् अन्य कामुक स्त्रियाँ भाई, पुत्र, स्वजन या अन्य सांसारिक रिश्ते के बहाने से साधु के पास आकर धीरे-धीरे उससे अनुचित अनैतिक सम्बन्ध कर लेती हैं। यह स्त्रीजन्य उपसर्ग का प्रथम रूप है।

२. दूसरा रूप—कई कामुक रमणियाँ साधु को शीलभ्रष्ट करने हेतु गूढ़ अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग करके अपने मनोभाव जताकर फँसा लेती हैं। वे इस प्रकार द्व्यर्थक श्लोक, कविता, पहेली, भजन या गायन साधु के पास आकर सुनाती हैं और उसी के माध्यम से अपना कामुक मनोभाव प्रकट कर देती हैं। अपरिपक्व साधक उसके मोहजाल में फँसकर अपने संयम से हाथ धो बैठता है।[3]

---

[2] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १०४ पर से।

[3] वृत्तिकार इसी प्रकार का एक गूढार्थक श्लोक उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हैं—

"काले प्रसुप्तस्य जनार्दनस्य, मेघान्धकारासु च शर्वरीसु।
मिथ्या न माषऽहंविशालनेत्रा, ते प्रत्यया ये प्रथमाक्षरेषु ॥"

इस श्लोक के चारों चरणों के प्रथम अक्षरों की योजना करने से **'कामेमि ते'** (मैं तुम्हें चाहती हूँ) यह वाक्य बन जाता है।

इसके अतिरिक्त गुप्त नाम के द्वारा या गूढार्थक मधुर वार्तालाप करके अपने जल में साधु को फंसा लेती हैं। इसलिए शास्त्रकार कहते हैं—**'छन्नपए।'**

३. **तृतीय रूप**—प्राय: कामुक रमणियाँ साधु को अपने कामजाल में फंसाने के अनेक तरीके जानती हैं, जिसमें भोलेभाले साधक वेदमोहनीय कर्मोदयवश फंसकर उनमें आसक्त हो जाते हैं। शास्त्रकार यही बात कहते हैं—**उवायं पि ताउ····लिस्संति भिक्खुणो।** कामुक स्त्रियों द्वारा साधु को जाल में फंसाये जाने के कुछ तरीके सूत्रगाथा २४९ में बताये हैं—**पासे भिसं····कक्खमणुव्वज्जे।** अर्थात्—(१) वे साधु के पास अत्यन्त सटकर कोई गुप्त बात कहने के बहाने बैठ जाती हैं, या बहुत अधिक देर तक बैठती हैं, (२) बारबार कामोत्तेजक वस्त्रों को ढीला होने का बहाना बना कर पहनती हैं, (३) शरीर के अधोभाग (जांघ, नाभि, टाँग, नितम्ब आदि) दिखाती हैं, (४) बाँहें ऊँची करके काँख को दिखाती हुई सामने से जाती हैं, ताकि साधु उसे देखकर काम-विह्वल हो जाए। इसके अतिरिक्त हाथ से इशारे करना, आँखें मटकाना, स्तन दिखाना, कटाक्ष करना आदि तो कामुक कामिनियों के कामजाल में फंसाने के सामान्य सूत्र हैं।

४. **चौथा रूप**—कभी-कभी ऐसी चालाक नारियाँ कामजाल में फँसाने के लिए साधु को अत्यन्त भावभक्तिपूर्वक किसी को दर्शन देने आदि के बहाने से पधारने की प्रार्थना करती हैं, या घर पर एकान्त कमरे में अनुनय-विनय करके ले जाती हैं। जब अविवेकी साधु उसकी प्रार्थना या मनुहार पर उसके घर पर या एकान्त में चला जाता है, तब वे साधु को शीलभ्रष्ट करने हेतु कहती हैं—जरा इस पलंग या गद्दे पर या शय्या पर विराजिए। इसमें कोई सजीव पदार्थ नहीं है, प्रासुक है। अच्छा, और कुछ नहीं तो, कम से कम इस आराम-कुर्सी पर तो बैठ जाइए। इतनी दूर से पधारे हैं तो जरा इस गलीचे पर बैठकर सुस्ता लीजिए। भोला साधु स्त्री के वाग्जाल में फँस जाता है। यही बात शास्त्रकार कहते हैं—**सयणासणेण जोग्गेण····णिमंतंति।**

५. **पाँचवां रूप**—कई कामलोलुप कामिनियाँ साधु को अपने कामजाल में फँसाने के लिए पहले साधु को इशारा करती हैं, या वचन देती हैं कि 'मैं अमुक समय में आपके पास आऊँगी, आप भी वहाँ तैयार रहना।' इस प्रकार का आमंत्रण देकर फिर वे साधु को अनेक विश्वसनीय वचनों से विश्वास दिलाती हैं, ताकि वह संकोच छोड़ दे। वे साधु का भय एवं संकोच मिटाने के लिए झूठमूठ कहती हैं—'मैं अपने पति से पूछकर, अपने पति को भोजन कराकर, उनके पैर धोकर तथा उन्हें सुलाकर आपके पास आई हूँ। मेरा यह तन, मन, धन, आभूषण आदि सब आपका है। आप शरीर का मनचाहा उपभोग कीजिए, मैं तो आपके चरणों की दासी हूँ। यों विविध वाग्जाल बिछाकर साधु को विश्वस्त करके रमणियाँ अपने साथ रमण करने के लिए प्रार्थना करती हैं। शास्त्रकार कहते हैं—**आमंतिय उस्सविया····आयसा निमंतंति।**

६. **छठा रूप**—कई चतुर ललनाएँ साधु को अपने साथ समागम के हेतु मनाने के लिए मन को काम-पाश में बाँध देने वाले विविध आकर्षणकारी दृश्यों, संगीतों, रसों, सुगन्धियों और गुदगुदाने वाले कोमल स्पर्शों से लुभाकर अपनी ओर खींचती हैं। इसके लिए वे मधुर-मधुर वचन बोलती हैं, आकर्षक शब्दों से सम्बोधित करती हैं, कभी साधु की ओर स्नेहपूर्ण दृष्टि से कटाक्ष फेंककर अथवा आँखें या

मुंह मटकाकर देखती हैं, कभी अपने स्तन, नाभि, कमर, जंघा आदि अंगों को दिखाती हैं, कभी मनोहर हावभाव, अभिनय या अंगविन्यास करती हैं, जिससे कि साधु उस पर मुग्ध हो जाए। कभी वे करुणा उत्पन्न करने वाले मधुर आलाप करती हैं—'हे प्राणनाथ ! हे करुणामय, हे जीवनाधार, हे प्राणप्रिय, हे स्वामी, हे कान्त ! हे हृदयेश्वर ! आप मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं। आप ही मेरे इस तन-मन के स्वामी हैं, आपको देखकर ही मैं जीती हूँ। आपने मुझे बहुत रुलाया, बहुत ही परीक्षा कराई, अब तो हद हो चुकी। अब मेरी बात मानकर मेरी मनोकामना पूर्ण करिये। अब भी आप मुझे नहीं अपनाएँगे तो मैं निराधार हो जाऊँगी, मैं यहीं सिर पछाड़कर मर जाऊँगी। आपको नारी-हत्या का पाप लगेगा। आपने अस्वीकार किया तो मेरी सौगन्ध है आपको ! बस, अब तो आप मुझे अपनी चरणदासी बना लें, मैं हर तरह से आपकी सेवा करूंगी। निश्चिन्त होकर मेरे साथ समागम कीजिए।' इस प्रकार की करुणाजनक एवं विश्वासोत्पादक मीठी-मीठी बातों से अनुनय-विनय करके साधक के हृदय में कामवासना भड़काकर अपने साथ सहवास के लिए उसे मना लेती हैं। कभी वे मीठी चुटकी लेती हैं—'प्रियवर ! अब तो मान जाइए न ! यों कब तक रूठे रहेंगे ? मुझे भी तो रूठना आता है !' कभी वे मन्द हास्य करती हैं—'प्राणाधार ! अब तो आपको मैं जाने नहीं दूंगी। मुझे निराधार छोड़कर कहाँ जाएँगे ?' कभी वे एकान्त में कामवासना भड़काने वाली बातें कहकर साधु को काम-विह्वल कर देती हैं। वे येन-केन-प्रकारेण साधु को मोहित एवं वशीभूत करके उसे अपना गुलाम बना लेती हैं, फिर तो वे उसे अपने साथ सहवास के लिए बाध्य कर देती हैं। इसी तथ्य को शास्त्रकार व्यक्त करते हैं—**मणबंधणेहिं ····आणवयंति भिन्नकहाहिं** ।

७. सातवाँ रूप—जैसे वन में स्वच्छन्द विचरण करने वाले एकाकी एवं पराक्रमी वनराज सिंह को पकड़ने वाले चतुर शिकारी मांस आदि का लोभ देकर विविध उपायों से बांध लेते हैं, या पिंजरे में बंद कर लेते हैं, फिर उसे तरह-तरह की यातनाएँ देकर पालतू पशु की तरह काबू में कर लेते हैं। ठीक इसी तरह कामकला चतुर कामिनियाँ मन-वचन-काया को गुप्त (सुरक्षित) रखने वाले कठोर संयमी साधु को भी पूर्वोक्त अनेकविध उपायों से अपने वश में कर लेती हैं, मोहपाश में जकड़ लेती हैं। जब वे इतने कठोर संयमी सुसंवृत साधु को भी अपना पथ बदलने को विवश कर सकती हैं तो जिनके मन-वचन-काया सुरक्षित नहीं हैं, उनको काबू में करने और डिगाने में क्या देर लगती है ? इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**सीहं जहा व····मुच्चए ताहे** ।

८. आठवाँ रूप—जिस प्रकार बढ़ई रथ के चक्र से बाहर की पुट्ठी को गोलाकार बनाकर धीरे-धीरे नमा देता है, उसी तरह साधु को अपने वश में करके उससे अभीष्ट (मनचाहे) कार्यों की ओर मोड़ लेती हैं। कामकलादक्ष कामिनियों के मोहपाश में एक बार बंध जाने के बाद फिर चाहे जितनी उछलकूद मचाए, उससे उसी तरह नहीं छूट सकता, जिस तरह पाश में बंधा हुआ मृग पाश से छूटने के लिए बहुत छटपटाता है, मगर छूट नहीं सकता। नारी के मोहपाश का बन्धन कितना जबर्दस्त है, इसे एक कवि के शब्दों में देखिये—

"बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि, प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत् ।
दारुभेदनिपुणोऽपि षडङ्घ्रिर्निष्क्रियो भवति पंकजकोषे ।।"

—संसार में बहुत से बन्धन हैं, परन्तु इन सब में प्रेम (मोह) रूपी रस्सी का बन्धन निराला ही

है । कठोर काष्ठ को भेदन करने में निपुण भौंरा कमल सौरभ के प्रेम (मोह) के वशीभूत होकर उसके कोष में ही निष्क्रिय होकर स्वयं बंद हो जाता है । इसी बात को शास्त्रकार कहते हैं—'**अहं तत्थ पुणो नमयंती ·········ण मुच्चति ताहे** ।'

९. **नौवाँ रूप**—स्त्रियों के मायावी स्वभाव का वर्णन करते हुए शास्त्रकार स्त्रीजन्य उपसर्ग को समझने के लिए कहते हैं—'**अन्नं मणेण ·········कम्मुणा अन्नं** ।' इसका आशय यह है कि स्त्रियाँ पाताल के उदर के समान अत्यन्त गम्भीर होती हैं । उन्हें समझना अत्यन्त कठिन है । वे मन से कुछ सोचती हैं, वचन से कुछ और ही बोलती हैं और शरीर से चेष्टाएँ दूसरी ही करती हैं, उनका कहना, सोचना और करना अलग-अलग होता है ।'[1]

१०. **दसवाँ रूप**—कई बार साधु को अपने कामजाल में फँसाने के लिए कोई नवयौवना कामिनी आकर्षक वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर साधु के पास आकर कहती है—'गुरुदेव ! आप तो संसार-सागर में डूबते जीवों का उद्धार करने और पार लगाने वाले हैं । मुझे उबारिये । मैं अब इस गृहपाश (बन्धन) से विरक्त हो गई हूँ । मेरा पति मेरे अनुकूल में नहीं है, अथवा उसने मुझे छोड़ दिया है । अत: अब मैं संयम या मुनिधर्म का आचरण करूँगी । आप मुझे धर्मोपदेश दीजिए, ताकि मुझे इस दु:ख का भाजन न बनना पड़े ।' इसी तथ्य को शास्त्रकार २७१वीं सूत्रगाथा में कहते हैं—**जुवती समणं ······ ····णे भयंतारो** ।

११. **ग्यारहवाँ रूप**—मायाविनी नारी साधु को फँसाने के लिए श्राविका के रूप में उसके पास आती है और कहती है—मैं आपकी श्राविका हूँ, साधुओं की साधर्मिणी हूँ । मुझसे आप किसी बात का संकोच न करिये । जिस चीज की आवश्यकता हो मुझे कहिए । यों वह बारबार साधु के सम्पर्क में आती है, घण्टों उसके पास बैठती है और चिकनीचुपड़ी बातें बनाकर वह श्राविकारूपधारी मायाविनी नारी कूलवालुक की तरह साधु को धर्मभ्रष्ट कर देती है । इसी बात को शास्त्रकार (२७२वीं सूत्रगाथा में) अभिव्यक्त करते हैं—**अदु साविया·······साधम्मिणी य समणाणं** ।

१२. **बारहवाँ रूप**—कई बार व्यभिचारिणी स्त्रियाँ भद्र एवं संयमी साधु को अतिभक्ति का नाटक करके फंसा लेती हैं । कई कामुक नारियां सुन्दर, सुडौल, स्वस्थ एवं सुरूप आत्मज्ञानी अनगार

---

[1] वृत्तिकार ने दुर्ग्राह्य स्त्री स्वभाव को समझाने के लिए एक कथा दी है—एक युवक था दत्तावैशिक । उसे अपने कामजाल में फँसाने के लिए एक वेश्या ने अनेक उपाय किये । परन्तु दत्तावैशिक ने मन से भी उसकी कामना नहीं की । यह देख वेश्या ने एक नया पासा फेंका । उसने दयनीय चेहरा बनाकर रोते-रोते युवक से कहा—'मेरा दुर्भाग्य है कि आपने इतनी प्रार्थना करने के बावजूद भी मुझे छिटका दिया । अब मुझे इस संसार में जीकर क्या करना है ? मैं अब शीघ्र ही अग्नि प्रवेश करके जल मरूँगी ।' यह सुनकर दत्तावैशिक ने कहा—'स्त्रियाँ माया करके अग्निप्रवेश भी कर सकती हैं ।' इस पर वेश्या ने सुरंग के पूर्वद्वार के पास लकड़ियाँ इकट्ठी करके उन्हें जला दिया और सुरंगमार्ग से अपने घर चली गई । दत्तावैशिक ने सुना तो कहा—'स्त्रियों के लिए ऐसी माया करना बाएँ हाथ का खेल है ।' वह यों कह ही रहा था कि कुछ धूर्तों ने उसे विश्वास दिलाने के लिए उठाकर चिता में फेंक दिया, फिर भी दत्तावैशिक ने विश्वास नहीं किया । इस प्रकार के स्त्रीसंग उपसर्ग को भलीभाँति समझ लेना चाहिए ।

को सभ्य तरीके से फंसाने हेतु प्रार्थना करती हैं—संसारसागर से त्राता ! मुनिवर ! वस्त्र, पात्र, अन्न-पान आदि जिस किसी वस्तु की आपको आवश्यकता हो, आपको और कहीं पधारने की आवश्यकता नहीं । आप मेरे यहाँ पधारें । मैं आपको सब कुछ दूंगी ।

यदि साधु उसके वाग्जाल में फंसकर उसकी प्रार्थना स्वीकार करके बार-बार उसके यहाँ जाने-आने लगता है और वस्त्रादि स्वीकार कर लेता है तो निःसंदेह वह एक दिन उस स्त्री के मोहजाल में फंस सकता है । इसीलिए शास्त्रकार २७६वीं गाथा द्वारा इसे स्त्रीसंगरूप उपसर्ग बताते हुए कहते हैं—**संलोकणिज्जमणगारं……पाणगं पडिग्गाहे ।**

ये ही कुछ निदर्शन हैं, स्त्रीजन्य उपसर्ग के, जो इस उद्देशक में बताये गए हैं । इनके सिवाय और भी अनेकों रूप हो सकते हैं, जिनसे चारित्रनिष्ठ साधु को प्रतिक्षण सावधान रहना चाहिए ।

स्त्रीजन्य उपसर्गों से सावधान रहने की प्रेरणाएँ—इस समग्र उद्देशक में बीच-बीच में स्त्रीजन्य उपसर्ग के पूर्वोक्त विविध रूपों से सावधान रहने और इस उपसर्ग पर विजय पाने की विभिन्न प्रेरणाएँ शास्त्रकार ने दी हैं । वे प्रेरणाएँ इस प्रकार हैं[२]—

प्रथम प्रेरणा—शास्त्रकार ने इस उपसर्ग से बचने के लिए साधु को सर्वप्रथम प्रेरणा दी है—साधु-दीक्षा ग्रहण करते समय की हुई प्रतिज्ञा का स्मरण कराकर । प्रतिज्ञा स्मरण कराने का उद्देश्य यह है कि साधु अपनी गृहीत प्रतिज्ञा को स्मरण करके स्त्रीजन्य उपसर्ग से अपने आपको बचाए ।

इसीलिए **'जे मातरं पितरं……आरतमेहुणो विवित्तेसी'** इस गाथा द्वारा शास्त्रकार साधु को अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण कराते हुए **'उवायं पि ताओ जाणिसु जह लिस्संति भिक्खुणो एगे'** इस गाथार्ध द्वारा स्त्रीजन्य उपसर्ग से पराजित होने से बचने की प्रेरणा देते हैं ।

द्वितीय प्रेरणा—स्त्रियों द्वारा अंग-प्रदर्शन, हावभाव, निकट आकर किसी बहाने से बैठने आदि अथवा भावभक्तिपूर्वक शय्या, आसन आदि पर बैठने के नाना प्रकार के प्रलोभनों, कामोत्तेजक बातों से साधु सावधान रहे । विवेकी साधु इन सब बातों को व कामजाल में फंसाने के नाना प्रकार के बंधन (पाश बन्धन) समझे और इन लुभावने फंदों से अपने आपको बचाए । शास्त्रकार इनसे सावधान रहने की प्रेरणा देते हुए २५०वीं सूत्रगाथा में कहते हैं—**एताणि चेव से जाणे, पासाणि विरूव रूवाणि ।**

तृतीय प्रेरणा—प्रायः साधु दृष्टिराग के कारण शीलभ्रष्ट होता है, अगर वह अपनी दृष्टि पर संयम रखे, स्त्री के अंगों पर चलाकर अपनी नजर न डाले, उसकी दृष्टि से दृष्टि न मिलावे, उसके द्वारा कटाक्षपात आदि किये जाने पर स्वयं उसकी ओर से दृष्टि हटा ले । दशवैकालिक सूत्र में बताया गया है कि 'साधु स्त्री का भित्ती पर अंकित चित्र भी न देखे, शृङ्गारादि से विभूषित नारी को भी न देखे, कदाचित् उस पर दृष्टि पड़ जाए तो जैसे सूर्य की ओर देखते ही दृष्टि हटा ली जाती है,

---

[२] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १०४ से ११३ तक में से ।

उसी तरह उस पर से दृष्टि हटा ले ।[3] प्रयोजनवश कदाचित् स्त्री की ओर देखना पड़े तो इसके लिए वृत्तिकार कहते हैं—

"कार्येऽपीषन् मतिमान् निरीक्षते योषिदंगमस्थिरया ।
अस्निग्धतया दृशाऽवज्ञया ह्यकुपितोऽपि कुपित इव ॥"

अर्थात्—जरूरत पड़ने पर बुद्धिमान साधक स्त्री के अंग की ओर जरा-सी अस्थिर (उड़ती) अस्निग्ध, सूखी एवं अवज्ञापूर्ण दृष्टि से देखे, ताकि अकुपित होते हुए भी बाहर से कुपित-सा प्रतीत हो ।

तात्पर्य यह है कि साधक टकटकी लगाकर, दृष्टि जमाकर स्त्री के रूप, लावण्य एवं अंगों को न देखे । यही बात स्त्रीजन्य उपसर्ग से बचने के लिए शास्त्रकार कहते हैं—**'नो तासु चक्खु संधेज्जा'** ।

चौथी प्रेरणा—कई कामुक ललनाएँ साधु को आश्वस्त-विश्वस्त करके उसे वचनबद्ध कर लेती हैं । भोलाभाला साधु उनके मायाजाल में फँस जाता है । शास्त्रकार पहले से ही ऐसे अवसर पर सावधान रहने की प्रेरणा देते हैं—**'नो वि य साहसं समभिजाणे'** । इसका आशय यह है कि साधु किसी भी मूल्य पर स्त्री के साथ अनाचार सेवन करने का साहसिक कुकर्म करना स्वीकार न करे, ऐसा कुकर्म करने के लिए हर्गिज वचनबद्ध न हो, क्योंकि नरक-गमन, इहलोक-निन्दा, भयंकर दण्ड आदि कुशीलसेवन के दुष्परिणामों का ज्ञाता साधु यह भलीभांति समझ ले कि स्त्री के साथ समागम करना युद्ध में उतरने के समान जोखिम भरा दुःसाहस का कार्य है ।

पाँचवी प्रेरणा—स्त्रीजन्य उपसर्ग से शीलभ्रष्ट होने का खतरा निम्नोक्त कारणों से भी है—(१) स्त्रियों के साथ ग्राम, नगर आदि विहार करने से, (२) उनके साथ अधिक देर तक या एकान्त में बैठने-उठने, वार्तालाप करने आदि से । इसीलिए शास्त्रकार इस खतरे से सावधान रहने की प्रेरणा देते हैं—**'नो सद्धियं पि विहरेज्जा'** । 'विहार' के भ्रमण या गमन ही नहीं, साथ-साथ उठना-बैठना, क्रीड़ा करना (खेलना) आदि क्रियाएँ भी सूचित होती हैं । शास्त्रकार का तात्पर्य यह भी प्रतीत होता है कि स्त्रीसंसर्गों को हर हालत में टालने का प्रयत्न करना चाहिए ।

छठी प्रेरणा—स्त्रीजन्य उपसर्ग केवल स्त्री के द्वारा किये गए प्रलोभनों आदि से ही नहीं होता, कभी-कभी दुर्बलमनाः साधु स्वयं किसी स्त्री को देखकर, पूर्वभुक्त कामभोगों का स्मरण करके या स्वयं किसी स्त्री का चिन्तन करके अथवा किसी स्त्री को लुभाकर फंसाने से भी होता है । ऐसी स्थिति में, जबकि साधु स्वयमेव विचलित हो रहा हो, कौन उसे उबार सकता है ? शास्त्रकार इसका समाधान देते हैं—**'एवमप्पा सुरक्खिओ होइ ।'** इसका आशय यह है कि ये (पूर्वोक्त) और इनके समान अन्य कई प्रकार के कामोत्तेजक या शीलनाशक खतरे हैं, जिनसे साधु को स्वयं बचना चाहिये । आत्महितैषी साधक को स्वयं अपनी आत्मा की सुरक्षा करनी चाहिए । साधक की आत्मा स्वयमेव ही इस प्रकार से सुरक्षित हो सकती है ।

---

[३] 'चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सु अलंकियं ।
भक्खरं पिव दट्ठूणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥ —दशवैकालिक अ० ८, गा० ५५

सातवीं प्रेरणा—जब भी कोई नारी कामुकतावश साधु के समक्ष अमुक समय पर अमुक जगह आने का वादा करे या साधु को संकेत दे, या इधर-उधर की बातें बनाकर साधु को विश्वास दिलाकर समागम के लिए मनाने लगे तो विवेकी साधु तुरन्त सम्भल जाए। वह स्त्री की उन सब बातों को नाना प्रकार के कामजाल (पाशबन्धन) समझे। वह इन सब बातों में न आए, वाग्जाल में न फंसे। साधक इस प्रकार की स्त्रियों को मोक्षमार्ग में अर्गला के समान बाधक समझकर उनके संसर्ग से दूर रहे। स्त्रीसमागम तो दूर रहा, स्त्रीसमागम का चिन्तन भी भयंकर कर्मबन्ध का कारण है। अतः इन्हें प्रत्याख्यानपरिज्ञा से त्याग दे। यही प्रेरणा शास्त्रकार देते हैं—**एताणि चेव से जाणे सद्दाणि विरूवरूवाणि ।**

आठवीं प्रेरणा—स्त्रियों की मनोज्ञ एवं मीठी-मीठी बातों, चित्ताकर्षक शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि के प्रलोभनों, करुणोत्पादक वचनों अथवा विभिन्न मोहक बातों से साधु सावधान रहे। ऐसे सब प्रलोभनों या आकर्षणों को साधु कामपाश में बाँधने के बन्धन समझे, जिस बंधन में एक बार बंध जाने के बाद उससे छूटना अत्यन्त कठिन है। और फिर स्त्री के मोहपाश में बंधने के बाद मनुष्य को पश्चात्ताप के सिवाय कोई चारा नहीं रहता, क्योंकि गृहस्थी का चलाना, निभाना और चिन्तामुक्त रहना टेढ़ी खीर है। इसलिए साधु को समय रहते चेत जाना चाहिए। उसे मोहपाश में बांधने और कामजाल में फँसाने के स्त्री-प्रयुक्त सभी उपसर्गों से सावधान रहना चाहिये, स्त्रियों के संसर्गजनित मोहपाश में कतई न बंधना चाहिए। मुक्तिगमनयोग्य साधु को विवेक बुद्धि से सोचकर स्त्री-संवास या स्त्री-संग करना कथमपि उचित नहीं है, इसे प्रारम्भ से ही तिलांजलि दे देनी चाहिए। यही प्रेरणा २५६वीं सूत्रगाथा के उत्तरार्द्ध में शास्त्रकार देते हैं—**'एवं विवेकमायाए संवासो न कप्पती दविए ।'**

नौवीं प्रेरणा—स्त्री-संसर्ग को शास्त्रकार विषलिप्त काँटा बताकर उसे सर्वथा त्याज्य बताते हैं। एक तो काँटा हो, फिर वह विषलिप्त हो, जो चुभने पर केवल पीड़ा ही नहीं देता, जानलेवा भी बन जाता है। यदि वह शरीर के किसी अंग में चुभकर टूट जाए तो अनर्थ पैदा करता है, इसी तरह पहले स्त्री का स्मरण, कीर्तन ही अनर्थकारी है, फिर प्रेक्षण, गुह्यभाषण, मिलन, एकान्त-उपवेशन, सह-विहार आदि के माध्यम से उसका संसर्ग किया जाए तो विषलिप्त काँटे की तरह केवल एक बार ही प्राण नहीं लेता, अनेक जन्मों तक जन्म-मरण एवं नाना दुःख देता रहता है। एक प्राचीन आचार्य ने कहा है—

"वरि विसखइयं, न विसयसुहु, इक्कसि विसिणि मरंति ।
विसयामिस-घाइया पुण, णरा णरएहि पडंति ।।"

'विष खाना अच्छा, किन्तु विषयसुख का सेवन करना अच्छा नहीं; क्योंकि विष खाने से तो जीव एक ही बार मरण का कष्ट पाता है, किन्तु विषयरूपी माँस के सेवन से मनुष्य नरक के गड्ढे में गिर कर बार-बार कष्ट पाता है।' विष तो खाने से मनुष्य को मारता है, लेकिन विषय स्मरणमात्र से मनुष्य के संयमी जीवन की हत्या कर डालते हैं।

इसीलिए स्त्री विषयों में फंसाने में निमित्त है, इसलिए शास्त्रकार २५७वीं सूत्रगाथा के पूर्वार्द्ध द्वारा साधक को उससे सावधान रहने की प्रेरणा देते हैं—**तम्हा उ वज्जए ˙˙ कंटगं णच्चा ।**

दसवीं प्रेरणा—साधु परकल्याण की दृष्टि से धर्मकथा करता है, परन्तु यदि वह किसी अकेली स्त्री के घर अकेला जाकर धर्मकथा करता है तो उसकी निर्ग्रन्थता एवं स्वकल्याण (शील-रक्षण) खतरे में

पड़ते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो अकेली स्त्री के पास अकेले साधु के बैठकर धर्मोपदेश देने से कभी-न-कभी मोह या काम (वेद) की ग्रन्थि में बंध जाने की सम्भावना है। आभ्यन्तरग्रन्थ का शिकार वह साधु धीरे-धीरे उस स्त्री का वशवर्ती या गुलाम होकर फिर किसी न किसी बहाने से स्त्रीसंसर्ग करने का प्रयत्न करेगा, निषिद्ध आचरण करने से वह निर्ग्रन्थ धर्म से भ्रष्ट हो जाएगा। फिर वह सच्चे माने में निर्ग्रन्थ नहीं रह जाएगा। अतः साधु को अपनी निर्ग्रन्थता सुरक्षित रखने के लिए २५७वीं सूत्रगाथा के उत्तरार्द्ध द्वारा शास्त्रकार सावधान करते हैं—**'ओए कुलाणि ·· ···ण से वि णिग्गंथे।'**

वृत्तिकार इस सम्बन्ध में कुछ स्पष्टीकरण करते हैं कि यदि कोई स्त्री बीमारी के या अन्य किसी गाढ़ कारण से साधु के स्थान पर आने में असमर्थ हो, अतिवृद्ध एवं अशक्त हो, और उस साधु के दूसरे सहायक (साथी) साधु उस समय न हों तो अकेला साधु भी उस महिला के यहाँ जाकर दूसरी स्त्रियों या पुरुषों की उपस्थिति में उस महिला को वैराग्योत्पादक धर्मकथा या मंगलपाठ सुनाए तो कोई आपत्ति नहीं है।

ग्यारहवीं प्रेरणा—स्त्रियां कूलवालुक जैसे महातपस्वियों को भी तपस्या से भ्रष्ट कर देती हैं। इसलिए चाहे कोई उत्कृष्ट तपस्वी हो मगर उसे यह नहीं सोचना चाहिए कि मैं तो तपस्वी हूँ, तपस्या से मेरा शरीर कृश है, मेरी इन्द्रियां शिथिल या शान्त हो गई हैं, अब मुझे क्या खतरा है स्त्रियों से ? तपस्वी साधु इस धोखे में न रहे कि स्त्रीसंसर्ग से कभी भ्रष्ट नहीं हो सकता। स्त्री जलती हुई आग है, उसके पास साधकरूपी घृत रहेगा, तो पिघले बिना न रहेगा। तपस्वी यह भलीभाँति समझ ले कि वर्षों तक किया हुआ तप स्त्रीसंसर्ग से एक क्षण में नष्ट हो सकता है। अतः आत्महितैषी तपस्वी चारित्रभ्रष्ट करने वाली स्त्रियों के साथ न भ्रमण-गमन करे, न साथ रहे, न ही क्रीड़ा या विनोद करे, न बैठे-उठे, न विहार करे। यही प्रेरणा शास्त्रकार ने २५८वीं सूत्रगाथा के उत्तरार्द्ध में दी है—**'सुतवस्सिए वि भिक्खू णो विहरे सह णमित्थीसु'**।

बारहवीं प्रेरणा—साधु कई बार यह समझ बैठता है कि यह छोटी-सी लड़की है, यह कुमारी कन्या है, अथवा यह मेरी गृहस्थ पक्षीय पुत्र, पुत्रवधू, धायमाता या दासी है। यह मेरे-से भी उम्र में बहुत बड़ी है या साध्वी हैं इनके साथ एकान्त में बैठने, बातचीत करने, या सम्पर्क करने में मेरा शील-भंग कैसे हो जाएगा ? अथवा किसी को मेरे पर क्या शंका हो सकती है ? यद्यपि अपनी कन्या, या पुत्रवधू, अथवा धायमाता अथवा मातृसमा चाची, ताई आदि के साथ एकान्त में रहने पर साधु का चित्त सहसा विकृत नहीं हो सकता, फिर भी नीतिकारों ने कहा है—

> **"मात्रा स्वस्रदुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।**
> **बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वाँसमपि कर्षति।"**

अर्थात्—'माता, बहन या पुत्री के साथ भी एकान्त में नहीं बैठना चाहिए, क्योंकि इन्द्रियाँ बड़ी बलवती होती हैं, वे विद्वान् पुरुष को (मोह की ओर) खींच लेती हैं।

वास्तव में मोहोदय वश कामवासना का उदय कब, किस घड़ी हो जाएगा ? यह छद्मस्थ साधक के लिए कहना कठिन है। दूसरी बात है—स्त्री (चाहे वह पुत्री, माता या बहन ही क्यों न हो)

के साथ एकान्त में वैठे देखकर सामान्य लोगों को[४] शंका उत्पन्न हो सकती है । यही प्रेरणा शास्त्रकार ने २५९वीं सूत्रगाथा में अभिव्यक्त की है—'**अवि धूयराहिं····संथवं से णेव कुज्जा अणगारे ।**'

तेरहवीं प्रेरणा—स्त्रीसंसर्ग करने से साधु का समाधियोग (धर्मध्यान के कारण होने वाली चित्त की समाधि अथवा श्रुत-विनय-आचार-तपरूप समाधि का योग मन-वचन काय का शुभ व्यापार) नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है । स्त्रियों के आवास स्थानों में वार-वार जाना, उनके साथ पुरुषों की उपस्थिति के विना वैठना, संलाप करना, उन्हें रागभाव से देखना ये सव वेदमोहोदय जनित स्त्री-संस्तव—गाढ-परिचय साधु को समाधि योग से भ्रष्ट करने वाले हैं । इसीलिए शास्त्रकार २६२वीं सूत्रगाथा में प्रेरणा देते हैं—'**कुव्वंति संथवं ताहिं····तम्हा समणा ण समेंति····सण्णिसेज्जाओ ।**'

चौदहवीं प्रेरणा—साधु को अपने व्रह्मचर्य-महाव्रत की सभी ओर से सुरक्षा करनी आवश्यक है । इसलिए चाहे स्त्री सच्चरित्र हो, श्राविका हो, धर्मात्मा नाम से प्रसिद्ध हो, सहसा विश्वास न करे । व्रह्मचर्य की रक्षा के लिए नौ वाड़ के पालन में जरा भी शिथिलता न दिखाए । इसमें किसी स्त्री की अवमानना या निन्दा करने की दृष्टि नहीं, किन्तु शीलभ्रष्टता से अपनी रक्षा की दृष्टि है । कई स्त्रियाँ वहुत मायाविनी भी होती हैं, वे विरक्ता के रूप में, श्राविका या भक्ता के रूप में साधु को छलकर या फुसला कर शीलभ्रष्ट कर सकती हैं । इसीलिए २७०वीं सूत्रगाथा में शास्त्रकार स्त्रीसंग-रूप अनर्थ (उपसर्ग) से वचने के लिए प्रेरणा देते हैं—'**अन्नं मणेण····तम्हा ण सद्दहे····णच्चा ।**'

पन्द्रहवीं प्रेरणा—जिस तरह लाख का घड़ा, आग के पास रखते ही पिघल जाता है, वह शीघ्र ही चारों ओर से तपकर गल (नष्ट हो) जाता है, वैसे ही व्रह्मचारी भी स्त्री के साथ निवास करने से भ्रष्ट—शिथिलाचारी एवं संयम भ्रष्ट हो जाता है चाहे वह कितना ही विद्वान् श्रुतधर क्यों न हो । स्त्री का संवास एवं संसर्ग तो दूर रहा, स्त्री के स्मरण मात्र से व्रह्मचारी का संयम नष्ट हो जाता है । इसलिए व्रह्मचारी के लिए स्त्री संसर्ग से दूर रहना ही हितावह है । शास्त्रकार भी २७२ एवं २७३ इन दो सूत्रगाथाओं द्वारा इस प्रेरणा को व्यक्त करते हैं—'**जतुकुम्भे जहा उवज्जोती····सीएज्जा**' '**जतुकुम्भे····णासमुवयंति ।**'

सोलहवीं प्रेरणा—पूर्वोक्त गाथाओं में वर्णित कामुक एवं मायाविनी स्त्रियों द्वारा दिये जाने वाले विविध प्रलोभनों को साधु सूअर को फँसाने के लिए डाले जाने वाले चावलों के दानों की तरह समझे । स्त्री संसर्ग सम्वन्धी जितने भी आकर्षण या प्रलोभन हैं उन सबसे मुमुक्षु साधु वचे, सतर्क रहे, आते ही उन्हें मन से खदेड़ दे, उनके पैर न जमने दे ।

फिर वह उस मोहपाश को तोड़ नहीं सकेगा, वह अज्ञ साधक पुनः-पुनः मोह के भंवरजाल में गिरता रहेगा । उसका चित्त मोहान्धकार से घिर जाएगा, वह कर्तव्य विवेक न कर सकेगा । अतः शास्त्रकार साधु को प्रेरणा देते हैं कि किसी भी स्त्री के वुलावे और मनुहार पर अपने विवेक से दीर्घदृष्टि से विचार करे और उक्त प्रलोभन में न फँसे, अथवा एक वार संयम लेने के वाद साधु पुनः गृहरूपी भंवर में पड़ने की इच्छा न करे ।

---

[४] देखिये तुलना करके—

हत्थपायपडिच्छिन्नं कण्ण-नास-विगप्पियं ।
अवि वाससयं नारिं, वंभयारी विवज्जए ॥ —दशवैकालिक अ० ८, गा० ५६

इसी प्रेरणा को शास्त्रकार २७७वीं सूत्रगाथा द्वारा अभिव्यक्त करते हैं[५]—**'णीवारमेव…पुणोमते।'**

स्त्रीसंग में भ्रष्ट साधक की अवदशा—प्रस्तुत उद्देशक में शास्त्रकार ने स्त्रीसंगरूप उपसर्ग के अनेक रूप और उनसे सावधान रहने की यत्र-तत्र प्रेरणाएँ दी हैं, इनके बावजूद भी जो साधक स्त्री-संग से भ्रष्ट हो जाता है, उसकी कैसी अवदशा होती है, उसके कुछ नमूने शास्त्रकार ने इस उद्देशक में दिये हैं, शेष द्वितीय उद्देशक में प्रतिपादित हैं।

पहली अवदशा—जब साधु मायाविनी स्त्रियों के मोहक वाग्विलासों, मधुरालापों, करुणाजनक सम्बोधनों एवं वाक्यों से प्रभावित होकर उनका वशवर्ती हो जाता है, अथवा किसी स्त्री के रूप-रंग, अंग-विन्यास आदि देखकर स्वयं कामज्वर से पीड़ित हो जाता है, तब वे कामिनियाँ उस साधक की दुर्बलता को जानकर उसे इतना बाध्य कर देती हैं कि फिर उस शीलभ्रष्ट साधक को उनके इशारे पर नाचना पड़ता है। वे स्त्रियाँ जैसी आज्ञा देती हैं, वैसे ही उन्हें चुपचाप करना पड़ता हैं। इसी अवदशा को शास्त्रकार २५३वीं सूत्रगाथा में अंकित करते हैं—**आणवयंति भिन्नकहाहिं।**

दूसरी अवदशा—उसके पश्चात् वे स्त्रियाँ पूर्वोक्त अनेक उपायों से मन-वचन-काया को संवृत—सुरक्षित (गुप्त) रखने वाले उस कठोर संयमी साधु को अपने मोहपाश में इस तरह बांध लेती हैं, जिस तरह वन में एकाकी और निर्भय विचरण करने वाले पराक्रमी सिंह को मांस आदि का लोभ देकर सिंह को पकड़ने वाले चतुर शिकारी विविध उपायों से उसके गले में फंदा डालकर बाँध लेते हैं। फिर वे उसे अनेक यातनाएँ देकर पालतू जानवर की तरह काबू में कर लेते हैं। साधक की इस अवदशा को शास्त्रकार २५४वीं सूत्रगाथा द्वारा प्रकट करते हैं—**'सीहं जहा व …एगतियमणगारं।'**

तीसरी अवदशा—नारियों के मोहपाश में बंध जाने के पश्चात् साधु को वे अपने मनचाहे अर्थ में इस तरह झुका लेती हैं, जिस तरह रथकार रथ के चक्र के बाहर की पुट्ठी को क्रमशः गोलाकार बना कर नमा देता है। स्त्री के मोहपाश में बँधा हुआ साधु फिर चाहे जितनी उछलकूद मचा ले, वह पाश से मुक्त नहीं हो सकता। यह उक्त साधु की तीसरी अवदशा है, जिसे सूचित करते हुए २५५वीं सूत्रगाथा में शास्त्रकार कहते हैं—**'अह तत्थ पुणो नमयंति …… फंदते वि ण मुच्चए ताहे।'**

चौथी अवदशा—साधु की उस समय होती है, जब वह स्त्रीसंसर्गरूपी झूठन या त्याज्य निन्द्य-कर्म में अत्यन्त आसक्त हो जाता है। उसी के सेवन में प्रवृत्त हो जाता है। शास्त्रकार कहते हैं—कुशील पाशस्थ, या पार्श्वस्थ, अवसन्न, संसक्त और अपच्छन्द रूप कुशील साधकों में कोई एक है, अथवा वह काथिक, पश्यक, सम्प्रसारक और नामक रूप कुशीलों में से कोई एक कुशील है। यह निश्चित है कि स्त्रीसंग आदि निन्द्य कृत्यों से ऐसी कुशील दशा प्राप्त हो जाती है। ऐसा कुशील साधु सामाजिक एवं राजकीय दृष्टि से निन्द्य एवं दण्डनीय होता है। इसी तथ्य को शास्त्रकार २५८वीं सूत्रगाथा के पूर्वार्द्ध द्वारा व्यक्त करते हैं—**'जे एयं…… ते कुसीलाणं।'**

पाँचवीं अवदशा—साधु को एकान्त स्थान में किसी स्त्री के साथ बैठे हुए या वार्तालाप करते

---

[५] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १०४ से ११३ के अनुसार।

हुए देखकर उस स्त्री के ज्ञाति (पारिवारिक) जनों और सुहृदजनों (हितैपियों) के हृदय में दुःख उत्पन्न होता है। उन्हें उस अकेली स्त्री का साधु के पास बैठे रहना बहुत बुरा लगता है। वे इसे अपनी जाति या कुल की बदनामी या कलंक समझते हैं। वे साधु के इस रवैये को देखकर उसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की शंका-कुशंका एवं निन्दा करते हैं।

उस स्त्री के स्वजनों द्वारा बार-बार रोक-टोक करने और समझाने पर भी जब वह अपनी इस बुरी आदत को नहीं छोड़ता तो वे क्रुद्ध होकर उससे कहते हैं—अब तो आप ही इसका भरण-पोषण करिए, क्योंकि यह आपके पास ही अधिकतर बैठी रहती है, अतः अब तो आप ही इसके स्वामी हैं। अथवा उस स्त्री के ज्ञातिजन उस साधु पर ताना कसते हुए कहते हैं—'हम लोग तो इसके भरण-पोषण करने वाले हैं, इसके पति तो तुम हो, क्योंकि यह अपने सब कामकाज छोड़कर सदा तुम्हारे पास ही बैठी रहती है।' कितनी निन्दा, भर्त्सना बदनामी, अपमान और अवदशा है, स्त्री संसर्ग के कारण! यही अवदशा शास्त्रकार ने २६०वीं सूत्रगाथा में अभिव्यक्त की है।

छठी अवदशा—तपस्वी साधु को भी किसी स्त्री के साथ एकान्त में बैठे या वार्तालाप करते देखकर कई लोग सहन नहीं करते, वे क्रोधित हो जाते हैं। अथवा **'समणं दट्ठुदासीणं'** का यह अर्थ भी हो सकता है—तपस्वी साधु को अपनी स्वाध्याय, ध्यान एवं संयमक्रियाओं के प्रति उदासीन (लापरवाह) होकर जब देखो, तब किसी स्त्री के साथ एकान्त में बैठकर बातचीत करते देखकर कई लोगों में रोप पैदा जाता है। इसी अवदशा को शास्त्रकार सूत्रगाथा २६१ के पूर्वार्द्ध में अभिव्यक्त करते हैं—**'समणं दट्ठुदासीणं……एगे कुप्पंति।'**

सातवीं अवदशा—साधु के लिए भाँति-भाँति के पकवान बनाते और देते देखकर कई लोग उस स्त्री के प्रति चरित्रहीन या बदचलन होने की शंका करते हैं। इसी बात को शास्त्रकार २६१वीं सूत्रगाथा के उत्तरार्द्ध में व्यक्त करते हैं—**'अदुवा भोयणेहिं णत्थेहिं इत्थीदोससंकिणो होंति।'** अथवा इस पंक्ति का यह अर्थ भी सम्भव है—'अब यह स्त्री उस साधु के आने पर चंचलचित्त होकर श्वसुर आदि को आधा आहार या एक के बदले दूसरा भोज्य पदार्थ परोस देती है, इसलिए वे उस स्त्री के प्रति एकदम शंका-शील हो जाते हैं कि यह स्त्री अवश्य ही उस साधु का संग करती होगी, क्योंकि यह उस साधु के लिए विशिष्ट आहार बना कर रखती है या देती है।

वृत्तिकार ने इस अर्थ का समर्थक एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया है कि एक स्त्री भोजन की थाली पर बैठे अपने पति व श्वसुर को भोजन परोस रही थी, किन्तु उसका चित्त उस समय गाँव में होने वाले नट के नृत्य को देखने में था। अतः अन्यमनस्क होने से उसने चावल के बदले रायता परोस दिया। उसके श्वसुर और पति इस बात को ताड़ गए। उसके पति ने क्रुद्ध होकर उसे बहुत पीटा और परपुरुषासक्त जानकर उसे घर से निकाल दिया।

निष्कर्ष यह है कि स्त्रीसंसर्ग या स्त्री के प्रति लगाव के कारण साधु के चरित्र पर लांछन आता है, लोग उसके प्रति दोष की आशंका से शंकित रहते हैं।

आठवीं अवदशा—बहुत-से साधु घरबार आदि छोड़कर साधु और गृहस्थ के मिलेजुले आचार

का पालन करते हैं और उसी को संयमपथ या मोक्षमार्ग बताते हैं। अथवा उसी की विशेषता बताते हैं, उसी के समर्थन में तर्क और प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। अपने द्वारा स्वीकृत मार्ग को ही वे ध्रुव (धोरी या उत्सर्ग) मार्ग बतलाते हैं। वे द्रव्यसाधु ऐसी प्ररूपणा इसलिए करते हैं कि घरबार, कुटुम्ब कवीला और धनसम्पत्ति आदि पूर्वसंग छोड़ देने के बावजूद भी मोह कर्मोदयवश वे पुनः स्त्रियों से संसर्ग, भक्त-भक्ताओं से अतिपरिचय, परिजनों से मोह-ममता आदि के कारण न तो पूरे साधुजीवन के मौलिक आचार का पालन कर पाते हैं और न ही वे गृहस्थजीवन के आचार का पूर्णतया पालन करते हैं। इसी कारण वे ऐसे स्वकल्पित मिश्रमार्ग का अपना लेते हैं। उन कुशीलों के द्वारा मिश्र मार्ग का यह प्रतिपादन केवल वाणी की शूरवीरता समझनी चाहिए। उनके द्वारा इस मिश्रमार्ग को अपनाने के पीछे कोई शास्त्रसम्मत आचार का बल नहीं है। यह साधु-जीवन की एक विडम्बना ही है, जिसे शास्त्रकार इन शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं—**'बहवे गिहाइं ······ वायावीरियं कुसीलाणं।'**

नौवीं अवदशा—स्त्रीसंगरूप उपसर्ग से पराजित कुशील साधक की पतन दशा यहाँ तक हो जाती है कि वह शीलभ्रष्ट, अशुद्ध एवं दोषयुक्त होते हुए भी भरी सभा में अपने आपको शुद्ध, निर्दोष एवं दूध का धोया कहता है। वह भरी सभा में जोर से गर्जता हुआ कहता है—मैं शुद्ध-पवित्र हूँ, मेरा जीवन निष्पाप है। परन्तु उसके काले कारनामों को जानने वाले जानते हैं कि उसकी शुद्धता की दुहाई धोखा है, प्रवंचना है, छलावा है। वह छिप-छिपकर एकान्त में पापकर्म करता है, यह मायावी और महाधूर्त है। शास्त्रकार सूत्रगाथा २६४ द्वारा इसी बात को कहते हैं—**'सुद्धं रवति····महासठेऽयं ति।'** आशय यह है कि उसकी विसंगत दिनचर्या से उसके शिथिल आचार-विचार से, तथा उसकी अंग-चेष्टाओं पर से यह भलीभाँति जानते हैं कि यह केवल वचन के गुब्बारे उछालता है। यह जितना और जो कुछ कहता है, आचरण में उतना ही विपरीत है। मोहान्धपुरुष अँधेरे में छिपकर कुकृत्य करता है, और सोचता है कि मेरे पापकर्म को कौन जानता है? मगर नीतिकार कहते हैं—

"आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्र-वस्त्रविकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः॥"

अर्थात्—आकृति से, इशारों से, गति (चाल-ढाल) से, चेष्टा से, भाषण (बोली) से तथा आँख और मुँह के विकारों से किसी व्यक्ति के अन्तर्मन में रही हुई बात परिलक्षित हो जाती है। साधारण मनोविज्ञान के अभ्यासियों या सतत सम्पर्क में रहने वालों से उस व्यक्ति के दुष्कर्म छिपे नहीं रह सकते।

दसवीं अवदशा—ऐसा दुष्कर्मी द्रव्यलिंगी अज्ञपुरुष अपने दुष्कर्म (पाप) को स्वयं आचार्य या गुरु के समक्ष प्रकट नहीं करता, वह चाहे जितना पापकर्म करता हो, बाहर से तो वह धर्मात्मा ही कहलाना चाहता है। धर्मिष्ठ कहलाने की अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए वह गुप्त रूप से पाप या कुशील सेवन करता है, ताकि कोई उसे पापी न कह सके किन्तु उसके प्रच्छन्न पापों के जानकार गुरु, आचार्य या कोई हितैषी व्यक्ति उसे अपने पापों या दुष्कृत्यों को प्रकट करने या कहने के लिए आदेश या प्रेरणा देते हैं तो वह उनकी बातों को ऊपर उड़ा देता है, या सुनी-अनसुनी कर देता है।

इसके पश्चात् आचार्य या गुरु उसकी थोथी बातें सुनकर सखेद बार-बार कहासुनी करते या प्रेरणा देते हैं कि 'तुम आज से मन से भी मैथुनसेवन की इच्छा मत करो, तब वह एकदम मुर्झा जाता

है, झेंप जाता है, या उसके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लग जाती हैं या उसका चेहरा फीका हो जाता है, अथवा मर्माहत-सा खिन्न होकर कहता है—'मुझ पर पाप की आशंका की जाती है, तब मुझे पापरहित होकर क्या करना है, यों ही सही !' इस प्रकार कुशील साधक की संघ और समाज में बड़ी दुर्गति होती है। शास्त्रकार सू० गा० २६५ में इसी अवदशा को सूचित करते हैं—**'सयं दुक्कडं······ गिलाइ से भुज्जो।'**

ग्यारहवीं अवदशा—स्त्रीजन्य आकर्षण इतना प्रबल होता है कि बड़े-बड़े इन्द्रिय-विजेता पुरुष भी महामोहान्ध होकर नारियों के वश में हो जाते हैं। वे स्त्रियों के इतने गुलाम हो जाते हैं कि स्वप्न में बड़बड़ाती हुई स्त्री भला या बुरा जो भी कार्य करने को उनसे कहती है, वे उसे करते हैं। ऐसे भुक्तभोगी परिपक्व साधक की भी जब इतनी विडम्बना हो जाती है, तब सामान्य कच्चे साधक की तो बात ही क्या ? इसी अवदशा को शास्त्रकार सू० गा० २६६ में व्यक्त करते हैं—**'उसिया वि·· उवकसंति।**

बारहवीं अवदशा—जो व्यक्ति (साधुवेषी) स्त्रियों से संसर्ग रखते हैं वे रंगे हाथों पकड़े जाएँ तो सामाजिक लोगों या राजपुरुषों द्वारा उनके हाथ-पैर काट डाले जाने की सम्भावना है, अथवा उसकी चमड़ी उधेड़ी जा सकती है, तथा माँस भी काटा जा सकता है। यह भी सम्भव है कि उस स्त्री के स्वजन वर्ग द्वारा उकसाए हुए राजपुरुष उक्त परस्त्रीलम्पट साधुवेषी को भट्टी पर चढ़ाकर आग में जला दें या उसका अंग छीलकर उस पर नमक आदि खार पदार्थ छिड़क दें। इसी अवदशा को व्यक्त करते हुए शास्त्रकार २६७वीं सूत्रगाथा में कहते हैं—**'अवि हत्थपादछेदाए······ तच्छिय खार-सिंचणाइं च।'**

तेरहवीं अवदशा—ऐसे पाप-संतप्त (पापाग्नि से जलते हुए) साधुवेषी पुरुष अपने कृत पाप के फलस्वरूप इस लोक में कान और नाक का छेदन या गले का छेदन तक सहन कर लेते हैं, तथा परलोक में नरक आदि दुर्गतियों में अनेक प्रकार की यातनाएँ भी सह लेते हैं, लेकिन यह निश्चय नहीं कर सकते कि अब भविष्य में पापकर्म नहीं करेंगे। अर्थात्—इहलोक एवं परलोक के भयंकर दुःख उन्हें मंजूर हैं, लेकिन पापकर्म छोड़ना मंजूर नहीं। शास्त्रकार इसी अवदशा को सू० गा० २६७ में अभिव्यक्त करते हैं—**'अदु कण्णणासियाच्छेज्जं······पुणो न काहिंति।'**

चौदहवीं अवदशा—संसार में फंसाने वाली नारी में आसक्त, उत्तम सदाचार से भ्रष्ट एवं इहलोक परलोक के नाश से नहीं डरने वाले कई उद्धत साधुवेषी पुरुष मैथुन सेवन आदि पाप कर्म करते हैं, किन्तु आचार्य, गुरु आदि के द्वारा पूछे जाने पर बिलकुल इन्कार करते हुए कहते हैं—मैं ऐसे वैसे कुल में उत्पन्न ऐरा गैरा साधु नहीं हूँ; जो पाप कर्म के कारणभूत अनुचित कर्म करूँ। यह तो मेरी पुत्री के समान है, यह बाल्यकाल में मेरी गोदी में सोती थी। अतः उस पूर्वाभ्यास के कारण ही यह मेरे साथ ऐसा आचरण करती है। वस्तुतः मैं संसार के स्वभाव को भलीभाँति जानता हूँ। प्राण चले जाएँ, मगर मैं व्रत-नाश नहीं करूँगा।' इस प्रकार कपट करके पाप को छिपाने वाला साधु मोह कर्म से और अधिक लिप्त हो जाता है। कितनी भयंकर अधोदशा है, स्त्रीमोहियों की ! इसे ही शास्त्रकार २७४वीं सूत्रगाथा व्यक्त करते हैं—**'कुव्वंति पावगं···अंकेसाइणी ममेस ति'।**

पन्द्रहवीं अवदशा—रागद्वेष से आकुलबुद्धि वाले अतत्त्वदर्शी मूढ साधक की यह दूसरी मूढता है कि एक तो वह लम्पटतापूर्वक अकार्य करके चतुर्थ महाव्रत का नाश करता है, दूसरे, वह किए हुए उक्त दुष्कृत्य का स्वीकार न करके मिथ्या भाषण करता हुआ कहता है—मैंने यह दुष्कर्म हर्गिज

नहीं किया है, भला मैं ऐसा कुलीन और समझदार व्यक्ति इस प्रकार का दुष्कृत्य कैसे कर सकता हूँ ? मेरी भी तो इज्जत है (इस प्रकार वह पापकर्म करके भी समाज में सम्मान और शान के साथ जीना चाहता है।) ऐसा व्यक्ति सदाचारी, त्यागी तपस्वी एवं संयमी न होते हुए भी वैसा कहलाने हेतु मायाचार करता है। वह अमने कृत पापकर्म में छिपाकर बाहर से ऐसा डौल रचता है, ताकि उसकी ओर कोई अंगुली न उठा सके। ऐसे साधक की अन्तरात्मा हरदम भयभीत, शंकित और दबी हुई रहती है कि कहीं मेरी पोलपट्टी खुल न जाए। यह कितनी भयंकर विडम्बना है, साधक जीवन की ! शास्त्रकार सूत्रगाथा २७५ में इसी अवदशा को व्यक्त करते हुए कहते हैं—**'बालस्समंदयं…पूयणकामेविसण्णेसी ।'**

ये और इस प्रकार की कई अवदशाएँ स्त्रीजन्य उपसर्ग से पराजित साधक के जीवन में चरितार्थ होती हैं। अगर साधक इस अध्ययन में बताये हुए स्त्रीसंगरूप उपसर्ग के विभिन्न रूपों से सावधान हो जाए और अप्रमत्त होकर शास्त्रकार द्वारा दी गई प्रेरणाओं के अनुसार संयमनिष्ठ रहे तो वह इन अवदशाओं का भागी नहीं होता, अन्यथा उसकी अवदशा होती ही है।

पाठान्तर और व्याख्या—विवित्तेसी—वृत्तिकार के अनुसार—विविक्त स्त्री-नपुसंकादि रहित स्थान को अन्वेषण परायण, **विवित्तेसु** पाठान्तर का अर्थ है—विविक्त—स्त्री-पशु-नपुसंक-वर्जित स्थानों में विचरण करूंगा…चूर्णिकार ने 'विवित्तेसी' शब्द के तीन अर्थ किये हैं—'विविक्तान्येषतीति **विवित्तेसी**, विविक्तानां साधूनां मार्गमेषतीति **विवित्तेसी** अथवा कर्मविवित्तो मोक्खो, तमेवैषतीति **विवित्तमेसी ।'** अर्थात्—विविक्तैषी—एकान्त पवित्र स्थानों को ढूँढने में तत्पर, अथवा विविक्तैषी—विविक्तों यानी साधुओं के मार्ग का अन्वेषण करने वाला या विविक्त—कर्म से विविक्त—रहित अवस्था—मोक्ष, उसे जो चाहता है, वह विविक्तैषी है।

परक्कम—वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—"पराक्रम्य" यानी साधु के समीप आकर अथवा पराक्रम्य अर्थात्—शील से स्खलित, होने योग्य बनाकर उस (साधु) पर हावी होकर। पाठान्तर है—**'परिक्कम,'** जिसका अर्थ होता है—साधु को चारों ओर से घेरकर, अथवा उसके शील पर चारों ओर से आक्रमण करके **लिस्संति**—स्त्रीसंग में लिप्त हो जाते हैं, या फिसल जाते हैं। **उवायं पि ता ओ जाणिंसु**—वृत्तिकार के अनुसार—साधु को छलने का उपाय भी वे जान चुकी होती हैं। **'जाणिंसु'** के वदले **जाणंति** पाठान्तर है, उसका अर्थ होता है—'जानती हैं।' यही पाठान्तर तथा अर्थ चूर्णिकार मान्य है। **पोसवत्थं**—वृत्तिकार के अनुसार—काम को पुष्ट—उत्तेजित करने वाले सुन्दर वस्त्र। चूर्णिकार के अनुसार **पोसवत्थं णाम णिवसणं** अर्थात् पोषवस्त्र का अर्थ है—कामांगों को आच्छादित करने वाला वस्त्र। **बाहुमुद्धट्टू कक्खमणुवज्जे**—वृत्तिकार के अनुसार—बाहें उघाड़कर या ऊंची करके कांख दिखाकर साधु के अनुकूल—अभिमुख (सामने से) होकर जाती है। चूर्णिकार समत्त पाठान्तर है—**बाहुद्धट्टू कक्खं परामुसे** अर्थात्—बाहें उठाकर कांख को छूती या सहलाती है। कांख पर हाथ फिराती है। **सयणाऽऽसणेण जोग्गेण—शयन**—पलंग, शय्या, गद्दा या शयनगृह आदि, **आसन**—कुर्सी, आरामकुर्सी या चौकी, गलीचा आदि उपभोग योग्य वस्तुओं के उपभोग के लिए।

समभिजाणे—स्वीकार न करे, वचनवद्ध न हो। पाठान्तर है—**'समणुजाणे ।'** अर्थ समान है।

---

५. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १०४ से १११ तक के अनुसार।

आवसा निमंतेति—वृत्तिकार के अनुसार—अपने साथ सम्भोग के लिए आमंत्रित करती हैं। चूर्णिकार **'आयसा'** का संस्कृत रूपान्तर **'आत्मसात्'** करते हैं, तदनुसार अर्थ होता है—अपने साथ घुल मिलाकर हार्दिक आत्मीयता बताकर समागम के लिए आमंत्रित करती हैं। **उवगसित्ताणं**—वृत्तिकार के अनुसार—**'उपसंश्लिष्य-समीपमागत्य'** निकट आकर। चूर्णिकारसमत्त पाठान्तर है—**उपक्कमित्ता,** अर्थ किया गया है—**अल्लिइला**—पास में अड़कर। **आणवयंति**—वृत्तिकार के अनुसार आज्ञा करती है, प्रवृत्त करती है, साधु को अपने वश में जानकर नौकर की तरह उस पर आज्ञा (हुक्म) चलाती हैं। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**'आणमंति'**, अर्थ किया गया है—**'भुक्तभोगः कुमारगो वा तत्प्रयोजनात्यन्तपरोक्षः आनम्यते'**। अर्थात्—भुक्तभोगी या कुंआरे साधु को अपने प्रयोजन से अत्यन्त परोक्ष यानी अंधेरे में रखकर अपने साथ सहवास के लिए झुका लेती है। **विवेगमायाए**—वृत्तिकार के अनुसार विवेक ग्रहण करके, चूर्णिकार सम्मत पाठ है—**विवागमाताते**—अपने कुकृत्य का विपाक-फल प्राप्त कर या जानकर। **सुतवस्सिए वि**—वृत्तिकार के अनुसार—**'विकृष्टतपोनिष्ट तप्तदेहोऽपि'** अर्थात् लम्बी-लम्बी उत्कट तपस्या के द्वारा जिसने अपने शरीर को अच्छी तरह तपा लिया है, ऐसा सुतपस्वी भी, चूर्णिकारसमस्त पाठान्तर है—**सुतमस्सितो वि**—श्रुतमाश्रितोऽपि, अर्थात्—जो सदैव शास्त्राश्रित—शास्त्रों के आधार पर चला है, ऐसा साधु भी।

'णो विहरे सह णमित्थीसु'—वृत्तिकार के अनुसार—समाधि की शत्रु स्त्रियों के साथ विहार न करे—न कहीं जाए, न वैठे-उठे। चूर्णिकारसमस्त पाठान्तर है—**णो विरहे सहणमित्थीसु—विरहो** नाम नक्तं दिवा वा शून्यागारादि पइरिक्कजणे वा स्वगृहे, सहणं ति देसीभासा, सहेत्यर्थः। **विरहे**—का अर्थ है—रात्रि या दिन में सूने मकान आदि निर्जन स्थान में या स्त्री के अपने जनशून्य घर में स्त्रियों के साथ (सहण देशीय शब्द है, उसका **'साथ'** अर्थ होता है) न रहे। **आए—'ओजः एकः असहायः सन्'** साधु ओज यानी अकेला (किसी साथी साधु के विना) होकर। **'समणं पि दट्ठुदासीणं'** वृत्तिकार के अनुसार इसके तीन अर्थ हैं—(१) श्रमण को एकान्त स्थान में अकेली स्त्री के साथ आसीन (वैठे) देखकर, (२) श्रमण को भी अपने ज्ञान, ध्यान तथा दैनिक चर्या के प्रति उदासीन (लापरवाह) होकर केवल अमुक स्त्री के साथ बातचीत करते देखकर। (३) अथवा उदासीन—राग द्वेषरहित मध्यस्थ, श्रमण-तपस्वी (विषयसुखेच्छारहित) को भी एकान्त में स्त्री के साथ बातें करते देखकर। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**'समणं मपि दट्ठुदासीणा'**—श्रमणम्प्रत्यपि दृष्टवा उदासीनां **'उदासीणा णाम येषामप्यसौ भार्या न भवति'**—श्रमण के प्रति भी अमुक स्त्री को उदासीन (उनके प्रति भी भार्याभाव से रहित) देखकर।

'तम्हा समणा ण समेंति आतहिताय सण्णिसेज्जाओ'—वृत्तिकार के अनुसार चूँकि स्त्रियों के साथ संसर्ग अतिपरिचय (संस्तव) से समाधि योग का नाश होता है, इसलिए श्रमण (सुसाधुगण) सुखोत्पादक एवं मनोऽनुकूल होने से निषद्या (स्त्रियों की वैठक या निवासस्थली) के समान विषद्या या स्त्रियों के द्वारा वनाया हुआ विलास का अड्डा-माया हो, अथवा स्त्रियों की बस्ती (आवासस्थान) हो वहाँ आत्महित की दृष्टि से नहीं जाते। चूर्णिकार लगभग ऐसा ही पाठ मानकर अर्थ करते हैं—**तम्हा समणा ……ण समेंति**—ण समुपागच्छन्ति, **आतहियाओ**—आत्मने हितम् आत्मनि वा हितम्। **सण्णिसेज्जाओ—सण्णसेज्जा** नाम गिहिसेज्जा संथवसंकथाओ य। इस (स्त्रीसंस्तव अनर्थकारी होने के) कारण श्रमण आत्मा के लिए अथवा आत्मा में हित के कारण सन्निषद्या या सन्निशय्याओं के पास नहीं फटकते—उनके आसपास चारों ओर नहीं जाते। सन्निषद्या का सीधा अर्थ है—गृहस्थ शय्या

तथा स्त्रियों के साथ संस्तव—संकथाएँ आदि जहाँ हों। कहीं पाठान्तर है—**'तम्हा समणा उ जहाहि आयहियाओ सन्निसेज्जाओ।'** स्त्री सम्बन्ध अनर्थंकर होता है इसलिए हे श्रमण ! आत्महित (स्वकल्याण) दृष्टि से खास तौर से (सन्निषद्याओं) स्त्रियों की बस्तियों (आवास स्थानों) का, अथवा स्त्रियों के द्वारा की हुई सेवाभक्ति रूप माया (विलास स्थली) का त्याग कर दो। **मिस्सीभावं पत्थुता**—वृत्तिकार के अनुसार द्रव्य से साधुवेप होने से, किन्तु भाव से गृहस्थ के समान आचार होने से मिश्र-भाव—मिश्रमार्ग को प्रस्तुत—प्राप्त या मिश्रमार्ग प्रशंसा करने वाले। पाठान्तर है—**मिस्सीभावं पण्णता'** (पणता) अर्थ होता है—मिश्रमार्ग की प्ररूपणा करने वाले, अथवा मिश्रमार्ग की ओर प्रणत—झुके हुए। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**'मिस्सीभावापण्हया'**--**पण्हता** नाम गौरिव प्रस्नुता। गाय के स्तन से दूध झरने की तरह (विचारधारा) झरने को प्रस्नुत (पण्हत) कहते हैं। जिनकी वाणी से मिश्रमार्ग की विचारधारा ही सतत झरती रहती है, वे। **धुवमग्गमेव**—ध्रुव के दो अर्थ हैं—मोक्ष या संयम, उसका मार्ग ही बताते-कहते हैं। **तहावेदा**—वृत्तिकार के अनुसार—उस मायावी साधु के तथारूप अनुष्ठान (काली करतूत) को जो जानते हैं, वे तथावेद-तद्विद कहलाते हैं। चूर्णिकार के अनुसार पाठान्तर है—**'तधावेता'**, अर्थ है—'··· तथा वेदयन्तीति तथावेदाः कामतंत्रविद इत्यर्थः। तथाकथित वेत्ता अर्थात्—कामतंत्र (कामशास्त्र) के वेत्ता (ज्ञाता)। **इत्थिवेदखेदण्णा**—इसके दो अर्थ फलित होते हैं—(१) स्त्रीवेद के खेदज्ञ—निपुण, (२) स्त्रियों के वेद—वैशिक काम-के अनुसार स्त्रीसम्बन्ध जनित खेद (चिन्ताओं) को जानने वाले।

आइट्ठोवि—वृत्तिकार के अनुसार आदिष्ट या प्रेरित किया जाता हुआ, चूर्णिकारसम्मत पाठ है—**आउट्ठोवि,** अर्थ किया गया है—आक्रुष्टो नाम चोदितः, अर्थात्—आक्रुष्ट—आचार्यादि के द्वारा झिड़कने पर अथवा अपने पाप प्रकट करने के लिए प्रेरित किये जाने पर। **वद्धमंस उक्कंते**—वृत्तिकार के अनुसार चमड़ी और माँस भी उखाड़े या काटे जा सकते हैं। चूर्णिकार के अनुसार—**'पृष्ठीवंध्राणि उत्कृत्यन्ते'** अर्थात्—पीठ की चमड़ी उधेड़ी जाती है। **तच्छिय खारसिंचणाइं**—वृत्तिकार के अनुसार—वसूले आदि से उसके अंगों को छीलकर उस पर खार जल का सिंचन भी करते हैं। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**तच्छेत्तुं (वासीए) खार सिंचणाइं च।** अर्थ समान है।

विरता चरिस्स हं लूहं—मैं संसार से (विरत) हो गई हूँ, रूक्ष—संयम का आचरण करूंगी। 'लूहं' के वदले कहीं-कहीं पाठान्तर है—**'मोणं'** अर्थ किया गया है—मुनेरयं मौनः—संयमः, अर्थात्—मुनि का धर्म—मौन—संयम। **'अहगं साधम्मिणी य तुब्भं (समणाणं)'**—वृत्तिकार और चूर्णिकार दोनों द्वारा सम्मत पाठ 'तुब्भं' है। अर्थ किया गया है—मैं श्राविका हूँ, इस नाते आप श्रमणों की साधर्मिणी हूँ। **'एवित्थियाहिं अणगारा संवासेण णासमुवयंति'** वृत्तिकार के अनुसार—इसी प्रकार स्त्रियों के साथ संवास—परिभोग से अनगार भी (शीघ्र ही) नष्ट (संयम शरीर से भ्रष्ट) हो जाते हैं। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**'एवित्थिगासु अणगारासंवासेण णासमुवयंति'**—अर्थात् इसी प्रकार अपने, दूसरे के और दोनों के दोषों से अनगार स्त्रियों के साथ संवास से शीघ्र ही चारित्र से विनष्ट हो जाते हैं। **णिमंतणेणाऽऽहंसु**—निमन्त्रपूर्वक कहती हैं, या कह चुकती हैं। **णीवारमेवं बुज्झेज्जा**—वृत्तिकार के अनुसार—स्त्रियों के द्वारा इस प्रकार के (वस्त्रादि आमन्त्रणरूप) प्रलोभन को साधु नीवार (चावल के दाने) डालकर सूअर आदि को वश में करने के समान समझे। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**'णीयारमंतं बुज्झेज्जा'** गाय को नीरा (निकिर—चारादाना) डालकर निमंत्रित किये

जाने के समान साधु भी वस्त्रादि के प्रलोभन से निमंत्रित किया जा रहा है, यह समझ ले। **णो इच्छे अगारमागंतुं**—वृत्तिकार के अनुसार इसके दो अर्थ हैं—(१) साधु उस मायाविनी स्त्री के घर बार-बार जाने की इच्छा न करे, (२) साधु संयमभ्रष्ट होकर अपने घर जाने की इच्छा न करे। चूर्णिकार-सम्मत दो पाठान्तर हैं—(१) **'णो इच्छेज्ज अगारंगंतु'**, (२) **'णो इच्छेज्ज अगारमावत्तं'**। पहले पाठान्तर का अर्थ पूर्ववत् है। दूसरे पाठान्तर का अर्थ है—साधु ऐसी मायाविनी स्त्रियों के गृहरूपी भँवर में पड़ने की इच्छा न करे।[६]

□

बिइओ उद्देसओ

स्त्रीसंग से भ्रष्ट साधकों की विडम्बना

२७८. ओए सदा ण रज्जेज्जा, भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा।
भोगे समणाण सुणेहा, जह भुंजंति भिक्खुणो एगे ॥१॥

२७९. अह तं तु भेदमावन्नं, मुच्छितं भिक्खुं काममतिवट्टं।
पलिभिंदियाण तो पच्छा, पादुद्धट्टु मुद्धि पहणंति ॥२॥

२८०. जइ केसियाए मए भिक्खू, णो विहरे सह णमित्थीए।
केसाणि वि हं लुंचिस्सं, नऽन्नत्थ मए चरिज्जासि ॥३॥

२८१. अह णं से होति उवलद्धो, तो पेसंति तहाभूतेहिं।
लाउच्छेदं पेहाहिं, वग्गुफलाइं आहराहि त्ति ॥४॥

२८२. दारूणि सागपागाए, पज्जोओ वा भविस्सती रातो।
पायाणि य मे रयावेहि, एहि य ता मे पट्ठिं उम्मद्दे ॥५॥

२८३. वत्थाणि य मे पडिलेहेहि, अन्नपाणं च आहराहि त्ति।
गंधं च रओहरणं च, कासवगं च समणुजाणाहि ॥६॥

२८४. अदु अंजणिं अलंकारं, कुक्कुहयं च मे पयच्छाहि।
लोद्धं च लोद्धकुसुमं च, वेणुपलासियं च गुलियं च ॥७॥

---

[६] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १०४ से ११३ तक के अनुसार
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टि० जम्बूविजयजी सम्पादित) पृ. ४५ से ५० तक

२८५. कुट्ठं अगुरुं तगरुं च, संपिट्ठं समं उसीरेण।
तेल्लं मुहं भिलिंजाए, वेणुफलाइं सन्निधाणाए ॥८॥

२८६. नंदीचुण्णगाइं पहराहि, छत्तोवाहणं च जाणाहि।
सत्थं च सूवच्छेयाए, आणीलं च वत्थयं रयावेहि ॥९॥

२८७. सुफणिं च सागपागाए, आमलगाइं दगाहरणं च।
तिलगकरणिमंजणसलागं, घिंसु मे विधूणयं विजाणाहि ॥१०॥

२८८. संडासगं च फणिहं च, सीहलिपासगं च आणाहि।
आयंसगं पयच्छाहि, दंतपक्खालणं पवेसेहि ॥११॥

२८९ पूयफलं तंबोलं च, सूईसुत्तगं च जाणाहि।
कोसं च मोयमेहाए, सुप्पुक्खलगं ज खारगलणं च ॥१२॥

२९०. चंदालगं च करगं च, वच्चघरगं च आउसो ! खणाहि।
सरपादगं च जाताए, गोरहगं च सामणेराए ॥१३॥

२९१. घडिगं च सडिंडिमयं च, चेलगोलं कुमारभूयाए।
वासं समभियावन्नं, आवसहं च जाण भत्तं च ॥१४॥

२९२. आसंदियं च नवसुत्तं, पाउल्साइं संकमट्ठाए।
अदु पुत्तदोहलट्ठाए, आणप्पा हवंति दासा वा ॥१५॥

२९३. जाते फले समुप्पन्ने, गेण्हसु वा णं अहवा जहाहि।
अह पुत्तपोसिणो एगे, भारवहा हवंति उट्टा वा ॥१६॥

२९४. राओ वि उट्ठिया संता, दारगं संठवेंति धाती वा।
सुहिरीमणा वि ते संता, वत्थधुवा हवंति हंसा वा ॥१७॥

२९५. एवं बहुहिं कयपुव्वं, भोगत्थाए जेऽभियावन्ना।
दासे मिए व पेस्से वा, पसुभूते वा से ण वा केइ ॥१८॥

२७८. रागद्वेषरहित (ओज) साधु भोगों में कदापि अनुरक्त न हो। (यदि चित्त में) भोग-कामना प्रादुर्भूत हो तो (ज्ञान—ज्ञानबल द्वारा) उससे विरक्त हो जाय। भोगों के सेवन से श्रमणों की जो हानि अथवा विडम्बना होती है, तथा कई साधु जिस प्रकार भोग भोगते हैं, उसे सुनो।

२७९. इसके पश्चात् चारित्र से भ्रष्ट, स्त्रियों में मूर्च्छित—आसक्त, कामभोगों में अतिप्रवृत्त

(दत्तचित्त) उस साधु को वे स्त्रियाँ बाद में अपने वशीभूत जानकर अपना पैर उठाकर उसके सिर पर प्रहार करती हैं।

२८०. (नारी कहती है—) हे भिक्षो ! यदि मुझ केशों वाली स्त्री के साथ (लज्जावश) विहार (रमण) नहीं कर सकते तो मैं यहीं (इसी जगह) केशों को नोच डालूंगी; (फिर) मुझे छोड़कर अन्यत्र कहीं विचरण मत करना।

२८१. इसके पश्चात् (जब स्त्री यह जान लेती है कि) यह (साधुवेषी) मेरे साथ घुलमिल गया है, या मेरे वश में हो गया है, तब वह उस (साधुवेषी) को (दास के समान) अपने उन उन कार्यों के लिए प्रेरित करती-भेजती है। (वह कहती है—) तुम्बा काटने के लिए छुरी (मिले तो) देखना, और अच्छे-अच्छे फल भी लेते आना।

२८२. (किसी समय स्त्री नौकर की तरह आदेश देती है—) 'सागभाजी पकाने के लिए इन्धन-लकड़ियां (ले आओ), रात्रि (के घोर अन्धकार) में तेल आदि होगा, तो प्रकाश होगा। और जरा पात्रों (वर्तनों) को रंग दो या मेरे पैरों को (महावर आदि से) रंग दो। इधर आओ, जरा पीठ मल दो।'

२८३. अजी ! मेरे वस्त्रों को तो देखो, (कितने जीर्ण-शीर्ण हो गए हैं ? इसलिए दूसरे नये वस्त्र ले आओ); अथवा मेरे लिए (बाजार में अच्छे-से) वस्त्र देखना अथवा देखो, ये मेरे वस्त्र, (कितने गंदे हो गए हैं इन्हें धोबी को दे दो।) अथवा मेरे वस्त्रों की जरा देखभाल करना, कहीं सुरक्षित स्थान में इन्हें रखो, ताकि चूहे, दीमक आदि न काट दें। मेरे लिए अन्न और जल (पेय पदार्थ) माँग लाओ। मेरे लिए कपूर, केशतेल, इत्र आदि सुगन्धित पदार्थ और रजोहरण (सफाई करने के लिए बुहारी या झाड़न) लाकर दो। मैं केश-लोच करने में असमर्थ हूँ, इसलिए मुझे नाई (काश्यप) से बाल कटाने की अनुज्ञा दो।

२८४. हे साधो ! अब मेरे लिए अंजन का पात्र (सुरमादानी, कंकण-बाजूबंद आदि आभूषण और घुंघरुदार वीणा लाकर दो, लोध्र का फल और फूल लाओ तथा चिकने बाँस से बनी हुई बंशी या बाँसुरी लाकर दो, पौष्टिक औषध गुटिका (गोली) भी ला दो।

२८५. (फिर वह कहती है—प्रियतम !) कुष्ट (कमलकुष्ट) सागर ओर अगर (ये सुगन्धित पदार्थ) उशीर (खसखस) के साथ पीसे हुए (मुझे लाकर दो।) तथा मुख (चेहरे पर लगाने का मुखकान्ति वर्द्धक) तेल एवं वस्त्र आदि रखने के लिए बाँस की बनी हुई संदूक लाओ।

२८६. (प्राणवल्लभ !) मुझे ओठ रंगने के लिए नन्दीचूर्णक ला दीजिए, यह भी समझ लीजिए कि छाता और जूता भी लाना है। और हाँ, सागभाजी काटने के लिए शस्त्र (चाकू या छुरी) भी लेते आएं। मेरे कपड़े गहरे या हल्के नीले रंग से रंगवा दें।

२८७. (शीलभ्रष्ट पुरुष से स्त्री कहती है—प्रियवर !) सागभाजी आदि पकाने के लिए तपेली या बटलोई (सुफणि) लाओ। साथ ही आँवले, पानी लाने-रखने का घड़ा (वर्तन), तिलक और अंजन लगाने की सलाई भी लेते आना। तथा ग्रीष्मकाल में हवा करने के लिए एक पंखा लाने का ध्यान रखना।

२८८. (देखो प्रिय !) नाक के बालों को निकालने के लिए एक चींपिया, केशों को संवारने के

लिए कंघी और चोटी बाँधने के लिए ऊन की बनी हुई जाली (सिंहलीपासक) ला दीजिए। और एक दर्पण (चेहरा देखने का शीशा) ला दो, दाँत साफ करने के लिए दतौन या दाँतमंजन भी घर में लाकर रखिये।

२८९. (प्राणवल्लभ!) सुपारी, पान, सूई-धागा, पेशाब करने के लिए पात्र (भाजन), सूप (छाजला), ऊखल एवं खार गालने के लिए बर्तन लाने का ध्यान रखना।

२९०. आयुष्मन्! देवपूजन करने के लिए ताँबे का पात्र (चन्दालक) और करवा (पानी रखने का टूंटीदार वर्तन) अथवा मदिरापात्र ला दीजिए। एक शौचालय भी मेरे लिए खोदकर बना दीजिए। अपने पुत्र के खेलने के लिए एक शरपात (धनुष) तथा श्रामणेर (श्रमणपुत्र—आपके पुत्र) की बैलगाड़ी खींचने के लिए एक तीन वर्ष का बैल ला दो।

२९१. शीलभ्रष्ट साधु से उसकी प्रेमिका कहती है—प्रियवर! अपने राजकुमार-से पुत्र के खेलने के लिए मिट्टी की गुड़िया, झुनझुना, बाजा, और कपड़े की बनी हुई गोल गेंद ला दो। देखो, वर्षाऋतु निकट आ गई है, अतः वर्षा से बचने के लिए मकान (आवास) और भोजन (भक्त) का प्रबन्ध करना मत भूलना।

२९२. नये सूत से वनी हुई एक मँचिया या कुर्सी, और इधर-उधर घूमने-फिरने के लिए एक जोड़ी पादुका (खड़ाऊ) भी ला दें। और देखिये, मेरे गर्भस्थ-पुत्र-दोहद की पूर्ति के लिए अमुक वस्तुएँ भी लाना है। इस प्रकार शीलभ्रष्ट पुरुष स्त्री के आज्ञापालक दास हो जाते हैं, अथवा स्त्रियाँ दास की तरह शीलभ्रष्ट पुरुषों पर आज्ञा चलाती हैं।

२९३. पुत्र उत्पन्न होना गार्हस्थ्य का फल है। (पुत्रोत्पत्ति होने पर उसकी प्रेमिका रूठकर कहती है—) इस पुत्र को गोद में लो, अथवा इसे छोड़ दो, (मैं नहीं जानती)। इसके पश्चात् कई शीलभ्रष्ट साधक तो सन्तान के पालन-पोषण में इतने आसक्त हो जाते हैं कि फिर वे जिंदगी भर ऊंट की तरह गार्हस्थ्य-भार ढोते रहते हैं।

२९४. (वे पुत्रपोषणशील स्त्रीमोही पुरुष) रात को भी जागकर धाय की तरह बच्चे को गोद में चिपकाए रहते हैं। वे पुरुष मन में अत्यन्त लज्जाशील होते हुए भी (प्रेमिका का मन प्रसन्न रखने के लिए) धोबी की तरह स्त्री और बच्चे के वस्त्र तक धो डालते हैं।

२९५. इस प्रकार पूर्वकाल में बहुत से (शील भ्रष्ट) लोगों ने किया है। जो पुरुष भोगों के लिए सावद्य (पापयुक्त) कार्य में आसक्त हैं, वे पुरुष या तो दासों की तरह हैं, या वे मृग की तरह भोले-भोले नौकर हैं, अथवा वे पशु के समान हैं, या फिर वे कुछ भी नहीं (नगण्य अधम व्यक्ति) हैं।

विवेचन—स्त्री संग से भ्रष्ट साधकों की विडम्बना—सूत्रगाथा २७८ से २९५ तक में स्त्रियों के मोह में फंसकर काम-भोगों में अत्यासक्त साधकों की किस-किस प्रकार से इहलोक में विडम्बना एवं दुर्दशा होती है, और वे कितने नीचे उतर आते हैं, इसका विशद वर्णन शास्त्रकार ने किया है।

ये विडम्बनायें क्यों और कितने प्रकार की?—साधु तो निर्ग्रन्थ एवं वीतरागता के पथ पर चलने वाला तपस्वी एवं त्यागी होता है, उसके जीवन की सहसा विडम्बना होती नहीं, निःस्पृह एवं निरपेक्ष जीवन की दुर्दशा होने का कोई कारण नहीं बशर्ते कि वह प्रतिक्षण जागरूक रहकर

रागभाव और उसके कारणों से दूर रहे। वीतरागता के पथिक द्रव्य और भाव से एकाकी साधक में रागभाव आ जाता है या अन्य पदार्थों में आसक्ति होती है, तब साधु जीवन की विडम्बना होती है, विशेषत: स्त्री सम्बन्धी राग, आसक्ति या मोह का बन्धन तो अत्यधिक विडम्बनाकारक है। इसीलिए शास्त्रकार सूत्रगाथा २७८ में निर्देश करते हैं—**"ओए सदा ण रज्जेज्जा।"**[१]

इस चेतावनी के बावजूद साधु के चित्त में पूर्व संस्कारवश या मोहकर्म के उदयवश काम-भोग वासना प्रादुर्भूत हो जाए, तो ज्ञान रूपी अंकुश से मारकर तुरन्त उन काम-भोगों से विरक्त—विरत हो जाना चाहिए। जैसे मुनि रथनेमि को महासती राजीमती को देखकर कामवासना प्रादुर्भूत हो गई थी, लेकिन ज्यों ही महासती राजीमती का ज्ञान-परिपूर्ण वचन रूप अंकुश लगा कि वे यथापूर्व स्थिति में आगए थे, एकदम कामराग से विरत होगए थे। वैसे ही साधु का मन कदाचित् स्त्री सम्बन्धी भोग-वासना से ग्रस्त हो जाए तो फौरन वह ज्ञान वल द्वारा बलपूर्वक उसे रोके, उसमें विल्कुल दिलचस्पी न ले, यथापूर्व स्थिति में आ जाए तो वह शीलभ्रष्टता एवं उसके कारण होने वाली विडम्बनाओं से बच सकता है।

स्त्री सम्बन्धी भोगवासना चित्त में आते ही श्रमण इस प्रकार से चिन्तन करे कि "वह स्त्री मेरी नहीं है और न मैं ही उसका हूँ। फिर मेरा उसके प्रति रागभाव क्यों? यह तो मेरा स्वभाव नहीं है, मेरा स्वभाव तो वीतरागभाव है। इस प्रकार वह आत्मत्राता श्रमण रागभाव को अपने हृदय से खदेड़ दे।"[२]

और फिर काम-भोग तो किम्पाकफल के समान भयंकर हानिकारक है। किम्पाकफल तो एक ही वार, और वह भी शरीर को ही नष्ट करता है, लेकिन स्त्रीजन्य कामभोग बार-बार जन्म-जन्मातर में शरीर और आत्मा दोनों को नष्ट करते हैं। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**'भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा।'**

शास्त्रकार की इतनी चेतावनी के बावजूद जो साधु काम-भोगों की कामना को न रोककर उल्टे आसक्ति पूर्वक काम-भोगों के प्रवाह में वह जाता है, लोग उसकी हंसी उड़ाते हैं, कहते हैं—वाह रे साधु! कल तो हमें काम-भोगों को छोड़ने के लिए कह रहा था, आज स्वयं ही काम-भोगों में बुरी तरह लिपट गया! यह कैसा साधु है! इस प्रकार वह साधु जनता के लिए अविश्वसनीय, अश्रद्धेय, अनादरणीय और निन्दनीय बन जाता है। उसके साथ-साथ उससे सम्बन्धित गुरु, आचार्य तथा अन्य सम्वन्धित श्रमण भी लोक विडम्बना, लोकनिन्दा एवं घोर आशातना के पात्र वन जाते हैं। इसी आशय को व्यक्त करने के लिए शास्त्रकार एकवचन युक्त श्रमण शब्द का प्रयोग न करके

---

[१] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ११५ के अनुसार

[२] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ११५ के अनुसार

(ख) "तीसे सो वयणं सोच्चा, संजयाए सुभासियं।
अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइओ॥"—दशवै० अ० २ गा० १०, तथा उत्तरा अ० ९२ गा० ४६

(ग) "न सा महं, नो वि अहंपि तीसे
इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं।" —दशवै० अ० २ गा० ४

वहुवचनयुक्त श्रमण शब्द का प्रयोग करते हुए कहते हैं—**'भोगे समणाण....।'** जो साधु स्त्री सम्बन्धी कामभोग-सेवन से होने वाली घोर हानि एवं हंसी की उपेक्षा करके धृष्ट होकर भोग-सेवन में प्रवृत्त हो जाते हैं, उनकी कैसी-कैसी दुर्दशा या विडम्बना होती है ? यह विस्तार से बताने के लिए शास्त्रकार कहते हैं—' " **सुणेहा, जह भुंजंति भिक्खुणो एगे।'** अर्थात्—शास्त्रकार स्त्री सम्बन्धी भोगों में आसक्त शीलभ्रष्ट साधकों का बुरा हाल अगली १७ गाथाओं में स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हैं।[3]

चार प्रकार की मुख्य विडम्बनायें—चारित्रभ्रष्ट, स्त्रियों में मूर्च्छित, काम-भोगों में प्रवृत्त साधुवेषी साधक की जो भयंकर विडम्बनायें होती हैं, उन्हें मुख्यतया चार प्रकारों में बाँटा जा सकता है—(१) स्त्री वशीभूत साधक के सिर पर स्त्री लात मारती है, (२) अपने साथ रहने के लिए विवश कर देती है, (३) घुल-मिल जाने पर नित नई चीजों की फरमाइश करती है; और (४) नौकर की तरह उस पर हुक्म (आज्ञा) चलाती है।

पहली विडम्बना—जब मायाविनी नारियाँ शीलभ्रष्ट साधु को उसकी वृत्ति-प्रवृत्ति, रंग-ढंग, चाल-ढाल और मनोभावों पर से जान लेती हैं कि यह पूरी तरह हमारे वश में हो गया है। अब हम जैसे इसे कहेंगी, वैसे ही यह विना तर्क किये मान लेगा, तब वे सर्वप्रथम उसे पक्का गुलाम बनाने की दृष्टि से उसके प्रति किये हुए उपकारों का बखान करती हुई तरह-तरह की बातें कहती हैं।

वे नारियाँ जब रूठने का-सा स्वाँग करके नाराजी दिखलाती हैं, तब स्त्रियों का दास बना हुआ वह शीलभ्रष्ट साधु उन रुष्ट कामिनियों को मनाने और उन्हें प्रसन्न करने के लिए अनुनय-विनय करता है, उनके निहोरे करता है, दीन बनकर उनके चरणों में गिरता है, उनकी झूठ-मूठ प्रशंसा भी करता है।

इतने पर भी रूठी हुई स्त्रियाँ उस कामासक्त साधु की वशवर्तिता और चारित्र दुर्बलता जानकर नहीं मानती और नाराज होकर उसके सिर पर लात दे मारती हैं, किन्तु स्त्री-मोहित मूढ साधक उन कुपित स्त्रियों की मार भी हंसकर सह लेता है। यह कितनी भयंकर विडम्बना है, कि वह श्रमण सिंह होता हुआ भी स्त्री परवशता के कारण स्त्रियों के आगे दीन-हीन कायर और गुलाम बन जाता है। शास्त्रकार सूत्रगाथा २७९ में भ्रष्ट साधक की इसी विडम्बना को व्यक्त करते हैं—**'अहं तं तु ···पादुद्धट्टु मुद्धि पहणंति।'**

दूसरी विडम्बना—कई कामुक नारियाँ एक बार शीलभ्रष्ट होने के बाद उस साधु को अपने केशों की लटें दिखलाती हुई कहती हैं—"अगर मेरे इन केशों के कारण तुम मेरे साथ रमण करने में लज्जित होते हो तो लो, मैं अभी इसी जगह इन केशों को नोंच डालती हूँ।" (केश-लुञ्चन तो उपलक्षण मात्र है, कामिनी साधु को वचनबद्ध करने के लिए कहती है—) मैं ये केश भी उखाड़ डालूंगी, और इन आभूषणों को भी उतारने में नहीं हिचकूंगी, और भी विदेशगमन, धनोपार्जन आदि कठोर से कठोर दुष्कर काम भी मैं तुम्हारे लिए कर लूंगी, सभी कष्टों को सह लूँगी, बशर्ते कि तुम मेरी एक प्रार्थना को स्वीकार करो, और मुझे वचन दो तुम मेरे सिवाय अन्य किसी भी स्त्री के साथ

---

[3] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ११५ पर से

विहरण नहीं करोगे, मुझे छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाओगे। मैं तुम्हारा वियोग क्षणभर भी नहीं सहन कर सकूंगी। तुम मुझे जो भी आज्ञा दोगे, मैं उसका पालन निसंकोच करूंगी।"

इस प्रकार कामुक नारी भद्र साधु को वचनवद्ध करके विडम्बित करती है, कामजाल में फंसा कर उसका जीवन दुःखित कर देती है। इसी विडम्बना को द्योतित करने के लिए सूत्रगाथा २८० द्वारा शास्त्रकार कहते हैं—**'जइ केसियाए ···नऽन्नत्थ मए चरिज्जासि।'**

तीसरी विडम्बना—स्त्रियाँ अपने प्रति मोहित शीलभ्रष्ट साधु को कोमल ललित वचनों से दुलार कर आश्वस्त-विश्वस्त करके वचनबद्ध कर लेती हैं, और जब वे भली-भाँति समझ लेती हैं कि अब यह साधु मेरे प्रति पक्का अनुरागी हो गया है, तब वह उस साधु को प्रतिदिन नई-नई चीजों की फरमाइश करती है, कभी गृहोपयोगी, कभी अपने साज-सज्जा शृङ्गार की और कभी अपनी सुख सुविधा की वस्तु की माँग करती रहती है। अपनी प्रेमिका की नित नई फरमाइशें सुन-सुनकर वह घबरा जाता है, तब उसे आटे-दाल का भाव मालूम होता है कि गृहस्थी वसाने में या किसी स्त्री के साथ प्रणय सम्बन्ध जोड़ने पर कितनी हैरानी होती है, अर्थाभाव या आर्थिक संकट के समय कितनी परेशानी भोगनी पड़ती है? प्रेमिका द्वारा की गई मांगों को ठुकरा भी नहीं सकता, पूर्ति से इन्कार भी नहीं कर सकता बरबस उन माँगों की पूर्ति करते-करते उसकी कमर टूट जाती है, थोड़े-से विषय-सुख के बदले कई गुना दुःख पल्ले पड़ जाता है। यह भयंकर विडम्बना नहीं तो क्या है?

कामिनियाँ यों एक पर एक फरमाइशें प्रायः मोहमूढ एवं स्त्रीवशवर्ती भ्रष्ट साधक से किया करती हैं। इन सब फरमाइशों के अन्त में लाओ-लाओ का संकेत रहता है। अगर वह किसी माँग की पूर्ति नहीं करता है तो प्रेमिका कभी झिड़कती है, कभी मीठा उलाहना देती है, कभी आँखें दिखाती है, तो कभी झूठी प्रशंसा करके अपनी माँग पूरी कराती है। ललनासक्त पुरुष को नीचा मुँह किये सब कुछ सहना पड़ता है। यह कितनी बड़ी विडम्बना है। फिर तो रात-दिन वह तेली के बैल की तरह घर के कार्यों में ही जुता रहता है, साधना ताक में रख दी जाती है। इसी तथ्य को शास्त्रकार (सूत्रगाथा २८१ से २९२ तक) १२ गाथाओं द्वारा प्रकट करते हैं—**"अहणं से होती ···अदु पुत्तदोहलट्ठाए····।"**[४]

चौथी विडम्बना—पूर्वोक्त तीनों विडम्बनाओं से यह विडम्बना भयंकर है। इस विडम्बना से पीड़ित होने पर शीलभ्रष्ट साधक को छठी का दूध याद आ जाता है। प्रेमिका नारी जब जान लेती है कि यह भूतपूर्व साधु अब पूरा गृहस्थी बन गया है, मुझ पर पूर्ण आसक्त है, और अब यह घर छोड़कर कहीं जा नहीं सकता, तब वह उस पुरुष को मौका देखकर विभिन्न प्रकार की आज्ञा देती है जैसे—(१) जरा मेरे पैरों को महावर आदि से रंग दो, या मेरे पात्रों को रंग दो, (२) इधर आओ, मेरी पीठ में दर्द हो रहा है, जरा इसे मल दो, (३) मेरे वस्त्रों की अच्छी तरह देखभाल करो, इन्हें सुरक्षित स्थान में रखो, ताकि चूहे, दीमक आदि नष्ट न करें, (४) मुझ से लोच की पीड़ा सही नहीं जाती, अतः नाई से बाल कटवा देने होंगे, (५) मैं शौच के लिए बाहर नहीं जा सकती, अतः शौचादि के लिए एक शौचालय (वर्चोगृह) यहीं खोदकर या खुदवाकर बना दो, (६) पुत्र उत्पन्न होने पर उसे

---

[४] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ११५ से ११८ तक

संभालने, रखने और खिलाने की क्रिया द्वारा कठोर आदेश—या तो अपने लाल को सम्भालो नहीं तो छोड़ दो, मैं नहीं संभाल सकती। (७) स्त्रीमोही पुरुष (प्रिया की आज्ञा से) रात-रात भर जागकर धाय की तरह बालक को छाती से चिपकाए रखता है। प्रिया का मन प्रसन्न करने के लिए निर्लज्ज होकर धोबी की तरह उसके और बच्चे के कपड़े धोने पड़ते हैं।

निष्कर्ष यह है कि अपने पर गाढ अनुरक्त देखकर स्त्री कभी पुत्र के निमित्त से, कभी अन्यान्य प्रयोजनों से, कभी अपनी सुख-सुविधा के लिए पुरुष को एक नौकर समझकर जब-तब आदेश देती रहती है और स्त्रीमोही तथा पुत्रपोषक पुरुष महामोहकर्म के उदय से इहलोक और परलोक के नष्ट होने की परवाह न करके स्त्री का आज्ञा-पालक बनकर सभी आज्ञाओं का यथावत् पालन करता है। शास्त्रकार इसी तथ्य को स्पष्टतः व्यक्त करते हैं—**'आणप्पा हवंति दाता व।'**

ऐसे विडम्बनापात्र पुरुष पाँच प्रकार के—शास्त्रकार ने स्त्री वशीभूत पुरुषों की तुलना पाँच तरह से की है—(१) दास के समान, (२) मृग के समान, (३) प्रेष्य (नौकर) के समान, (४) पशु के समान और (५) सबसे अधम नगण्य।

दास के समान—इसलिए कहा गया है कि स्त्रियाँ निःशंक होकर उन्हें गुलाम (दास) की तरह (पूर्व गाथाओं में उक्त) निकृष्टकामों में लगाती हैं। **मृग के समान**—इसलिए कहा गया कि जैसे जाल में पड़ा हुआ मृग परवश हो जाता है वैसे ही कामजाल में पड़ा हुआ स्त्री-वशीभूत पुरुष भी इतना परवश हो जाता है कि स्वेच्छा से वह भोजनादि कोई भी क्रिया नहीं कर पाता। **क्रीतदास या प्रेष्य के समान**—इसलिए कहा गया है कि उसे नौकर की तरह काम में लगाया जाता है। **पशु के समान**—इसलिए कहा गया है कि स्त्री-वशीभूत पुरुष भी पशु की तरह कर्तव्य-अकर्तव्य के विवेक से शून्य तथा हितप्राप्ति एवं अहितत्याग से रहित होते हैं। जैसे पशु आहार, निद्रा, भय और मैथुन की प्रवृत्ति को ही जीवन का सर्वस्व समझते हैं, वैसे ही स्त्रीवशीभूत पुरुष भी अहर्निश भोग प्राप्ति, सुख-सुविधाओं की अन्वेषणा, काम-भोगों के लिए स्त्री की गुलामी, ऊँट की तरह रात-दिन तुच्छ सांसारिक कार्यों में जुटे रहने एवं उत्तम निरवद्य अनुष्ठानों से दूर रहने के कारण पशु-सा ही है। अथवा **स्त्री-वशीभूत पुरुष** दास, मृग, प्रेष्य और पशु से भी गया बीता, **अधम और नगण्य है।** वह पुरुष इतना अधम है कि उसके समान कोई नीच नहीं है, जिससे उसकी उपमा दी जा सके। अथवा उभयभ्रष्ट होने के कारण वह पुरुष किसी भी कोटि में नहीं है, कुछ भी नहीं है। अथवा इहलोक-परलोक का सम्पादन करनेवालों में से वह किसी में भी नहीं है। इसी बात को शास्त्रकार अभिव्यक्त करते हैं—**'दासे मिए व पेस्से वा पसुभूतेवासे ण वा कहे।'**[५]

कठिन शब्दों की व्याख्या—**ओए**—ओज, द्रव्य से परमाणुवत् अकेला और भाव से राग-द्वेष-रहित। **सदा**—सदा के लिए या कदापि। **भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा**—वृत्तिकार के अनुसार यदि मोहोदयवश कदाचित् साधु भोगाभिलाषी हो जाए तब स्त्री सम्बन्धी भोगों से होने वाले ऐहिक एवं पारलौकिक दुःखों का विचार करके पुनः उन स्त्रियों से विरक्त हो जाए, चूर्णिकार के अनुसार भोग-कामी पुनः विशेष रूप से रक्तगृद्ध हो जाता है। **तो पेसंति तहाभूतेहिं**—मदन रूप कामों में जिसकी मति (बुद्धि या मन) की वृत्ति-प्रवृत्ति है अथवा काम-भोगों में जो अतिप्रवृत्त है, कामाभिलाषी है।

---

[५] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ११९

पलिभिंदिया—यह मेरी बात मान लेता है, अर्थात् मेरे वश में हो गया है, इस प्रकार भलीभाँति जान कर अथवा अपने द्वारा उसके लिये किये हुए कार्यों को गिना कर, **उवलद्धो**—स्त्री जव पुरुष की आकृति, चेष्टा इशारे आदि से यह जान लेती है कि यह साधु मेरे वशीभूत हो गया है। **'तो पेसंति तहाभूएहिं'**—तब उसके अभिप्राय को जानने के पश्चात् नौकर के द्वारा करने योग्य एवं छोटे से छोटे कार्य में नियुक्त करती है अथवा तथाभूत कार्यों का अर्थ यह भी है साधुवेष में रहने वाले पुरुष के योग्य कार्यों में प्रवृत्त करती है। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है **'ततो णं देसेंति तहारुवेहिं'** अर्थ होता है वशीभूत हो जाने के वाद तथारूप कार्यों के लिए आदेश देती है। **पेहाहि**—देखना, प्राप्त करना। **वग्गूफलाइं आहराहिति**—वल्गु-अच्छे-अच्छे नारियल, केला आदि फलों को ले आना। अथवा **वग्ग-फलाइं** (पाठान्तर) का **'वाक्फलानि'** संस्कृत में रूपान्तर करके अर्थ हो सकता है—धर्मकथारूप या ज्योतिष व्याकरणादि रूप वाणी (व्याख्यान) से प्राप्त होने वाले वस्त्रादि रूप फलों को ले आइए। **'दारूणि सागपागाए'**—सागभाजी पकाने के लिए लकड़ियाँ (ईंधन), पाठान्तर है **अन्नपाकाय**—चावल आदि, अन्न पकाने के लिए चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है **'अण्णपायाय'** अर्थ उपर्युक्त ही है। **पाताणि मे रयावेहि**—मेरे पात्रों को रंग दो, रंग-रौगन कर दो, अथवा मेरे पैर महावर आदि से रंग दो। **कासवगं च मे समणुजाणाहि**—सिर मूँडने के लिए काश्यप, नाई को आज्ञा दो अथवा नाई से वाल कटाने की अनुज्ञा दो, (ताकि मैं अपने लम्वे केशों को कटवा डालूँ।) **'कोसं च मोयमेहाए'**—मोके—पेशाब करने के लिए कोश—भाजन। **कुक्कुहयं**—चूर्णिकार के अनुसार अर्थ है—तुम्बवीणा; वृत्तिकार के अनुसार अर्थ है—खुनखुना। **वेणुपलासियं**—वंशी या बांसुरी। **गुलियं**—औषध गुटिका—सिद्ध गुटिका, जिससे यौवन नष्ट न हो। **'तेल्लं मुहभिलिंगजाए'**—मुख पर अभ्यंगन करने—मलने के लिए ऐसा तेल लाएँ, जो मुख की कान्ति बढाए। **वेणुफलाइं सन्निधाणाए**—बांस के फलक की बनी हुई पेटी ला दें, **सुफणि**—जिसमें सुखपूर्वक तक्रादि पदार्थ पकाएँ या गर्म किए जा सकें ऐसा बर्तन—तपेली या बटलोई। **घिंसु**—ग्रीष्म ऋतु में। **चंदालगं**—देवपूजन करने के लिए तांबे का छोटा लोटा, जिसे मथुरा में **'चन्दालक'** (चण्डुल) कहते हैं। **करगं**—कदक-करवा पानी रखने का धातु का एक बर्तन अथवा मद्य का भाजन। **वच्चघर**—वर्चोग्रह—पाखाना, शौचालय। चूर्णिकार के अनुसार—**'वच्चघरगं ण्हाणिगा'**—वर्चोगृह का अर्थ स्नानिका-स्नानघर। **खणाहि**—बनाओ। **सरपादगं**—जिस पर रख कर वाण (शर) फैंके जाते है, धनुष। **गोरहगं**—तीन वर्ष का बैल, अथवा वैलों से खींचा जाने वाला छोटा रथ। **सामणेराए**—श्रामणेर—श्रमण पुत्र के लिए। **घडिंग**—मिट्टी की छोटी कुलडीया, घड़िया अथवा छोटी-सी गुड़िया। **सडिंडिमयं**—ढोल आदि के सहित बाजा या झुनझुना। **चेलगोलं**—कपड़े की बनी हुई गोल गेंद। **कुमारभूताय**—राजकुमार के समान अपने कुमार के लिए। **'आवसहं च जाण भत्तं च'**—वर्षाकाल में निवास करने योग्य मकान (आवास) और चावल आदि भोजन का प्रबन्ध कर लो। चूर्णिकार के अनुसार पाठान्तर है—**'आवसथं जाणाहि भत्ता।'** अर्थात्—हे स्वामी (पतिदेव)! वर्षाकाल सुख से बिताने योग्य मकान के प्रबन्ध का ध्यान रखना। **'पाउल्लाइं संकमट्ठाए'**—वृत्तिकार के अनुसार—मूंज की बनी हुई या काष्ठ की बनी हुई पादुका—खड़ाऊ, इधर-उधर घूमने के लिए लाओ, चूर्णिकार के अनुसार—**कट्ठपाउगाओ**—काष्ठ-पादुका। **'आणप्पा हवंति दासा वा'**—खरीदे हुए दास की तरह ऐसे पुरुषों पर स्त्रियों द्वारा आज्ञा की जाती है। **संठवेंति धाती वा**—धाय की तरह वच्चे को गोद में रखते हैं। चूर्णिकार के अनुसार पाठान्तर है—**सण्णवेंति धाव इवा**—अर्थ होता है—रोते हुए वच्चे को धाय की तरह अनेक प्रकार के मधुर आलापों से समझा-बुझाकर रखते

(चुप करते) हैं। **सुहिरामणा वि ते संता**—मन में अत्यन्त लज्जित होते हुए भी वे, लज्जा को छोड़कर स्त्री के मन को प्रसन्न रखने हेतु स्त्री वचनानुसार सबसे नीच (हलका) काम भी कर लेते हैं। **हंसा वा**—धोवियों की तरह। **'भोगत्थाए जेऽभियावन्ना'**—कामभोगों के लिए ऐहिक-पारलौकिक दुःखों का विचार किये विना भोगों के अभिमुख—अनुकूल सावद्य अनुष्ठानों में प्रवृत्त। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**'भोगत्थाए इत्थियाभि आवण्णा'** अर्थ होता है—कामभोगों की प्राप्ति के लिए स्त्रियों में अत्यासक्त।[७]

उपसंहार

२९६. एयं खु तासु विण्णप्पं, संथवं संवासं च चएज्जा।
तज्जातिया इमे कामा, वज्जकरा य एवमक्खाता ॥१९॥

२९७. एवं भयं ण सेयाए, इति से अप्पगं निरुंभित्ता।
णो इत्थि णो पसुं भिक्खू, णो सयपाणिणा णिलिज्जेज्जा ॥२०॥

२९८. सुविसुद्धलेस्से मेधावी, परकिरियं च वज्जए णाणी।
मणसा वयसा कायेणं, सव्वफाससहे अणगारे ॥२१॥

२९९. इच्चेवमाहु से वीरे, धूतरए धूयमोहे से भिक्खू।
तम्हा अज्झत्थविसुद्धे, सुविमुक्के आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥२२॥

—त्ति बेमि।

॥ इत्थीपरिण्णा चउत्थमज्झयणं समत्तं ॥

२९६. उनके (स्त्रियों के) विषय में इस प्रकार की बातें बताई गई हैं, (इसलिए) साधु स्त्रियों के साथ संस्तव (संसर्ग—अतिपरिचय) एवं संवास (सहवास) का त्याग करे। स्त्रीसंसर्ग से उत्पन्न होने वाले ये काम-भोग पापकारक या वज्रवत् पापकर्म से आत्मा को भारी करने वाले हैं, ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है।

२९७. स्त्री संसर्ग करने से जो (पूर्वोक्त) भय खतरे पैदा होते हैं, वे कल्याणकारी (श्रेयस्कर) नहीं होते। यह जानकर साधु स्त्रीसंसर्ग को रोककर स्त्री और पशु से युक्त स्थान में निवास न करे, न ही इन्हें अपने हाथ से स्पर्श करे, अथवा अपने हाथ से अपने गुप्तेन्द्रिय का पीड़न न करे।

२९८. विशुद्ध लेश्या (चित्त की परिणति) वाला मेधावी—मर्यादा में स्थित ज्ञानी साधु मन, वचन और काया से परक्रिया (स्त्री आदि से सम्बन्धित विषयोपभोगादि पर-सम्बन्धी क्रिया, अथवा स्त्री आदि पर-व्यक्ति से अपने पैर दबवाना, धुलाना आदि क्रिया) का त्याग करे। (वास्तव में,) जो समस्त (स्त्री, शीतोष्ण, दंशमशक आदि परीषहों के) स्पर्शों को सहन करता है, वही अनगार है।

२९९. जिसने स्त्री आदि संगजनित रज यानी कर्मों को दूर कर दिया था, जिसने मोह (राग-द्वेष) को पराजित कर दिया था, उन वीर प्रभु ने ही यह (पूर्वोक्त स्त्रीपरिज्ञा सम्बन्धी तथ्य) कहा है।

---

[७] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ११५ से ११९ तक
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ. ५० से ५३ तक

इसलिए विशुद्धात्मा (सुविशुद्धचेता) (स्त्रीसंसर्ग से) अच्छी तरह विमुक्त वह भिक्षु मोक्षपर्यन्त (संयमानुष्ठन में) प्रवृत्त—उद्यत रहे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—स्त्रीसंग से विमुक्त रहने का उपदेश—स्त्रीपरिज्ञा—अध्ययन का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार ने चार गाथाओं (सूत्रगाथा २९६ से २९९ तक) द्वारा ज्ञपरिज्ञा से पूर्वोक्त गाथाओं में कथित स्त्रीसंग से होने वाले अनर्थों को जानकर प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उसका सर्वथा त्याग करने का उपदेश दिया है।

स्त्रीसंग-त्याग क्यों, कैसे और कौन करे ?—प्रस्तुत चतु:सूत्री में स्त्रीसंगत्याग के तीन पहलू हैं—(१) साधु स्त्रीसंगत्याग क्यों करें ? (२) कैसे किस-किस तरीके से करें ? और (३) स्त्री-संगत्यागी किन विशेषताओं से युक्त हो ?

क्यों करें ? समाधान—साधु के लिए स्त्रीसंग परित्याग का प्रथम समाधान यह है कि प्रथम उद्देशक एवं द्वितीय उद्देशक की पूर्वगाथाओं में स्त्रीसंग से होने वाले अनर्थों, पापकर्म के गाढ़ वन्धनों, शीलभ्रष्ट साधक की अवदशाओं एवं विभिन्न विडम्बनाओं को देखते हुए साधु को स्त्रीसंग तथा स्त्री-संवास से दूर रहना अत्यावश्यक है। जैसा कि सूत्रगाथा. २९६ के पूर्वार्द्ध में कहा गया है—'**एवं खु तासु विण्णप्पं संथवं संवासं च चएज्जा।**'

दूसरा समाधान—स्त्रीसंसर्ग इसलिए वर्जनीय है कि तीर्थकरों गणधरों आदि ने स्त्रीसंसर्ग से उत्पन्न होने वाले तज्जातीय जितने भी कामभोग हैं, उन्हें पापकर्म को पैदा करने वाले या वज्र के समान पाप-कर्मो से आत्मा को भारी करने वाले बताए हैं। उत्तराध्ययन सूत्र (अ० १४।१३) में भगवान् महावीर ने कहा है—

"खणमित्त सुक्खा, बहुकाल दुक्खा पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया खाणी अणत्थाण उ कामभोगा।"

काम-भोग क्षणमात्र सुख देने वाले हैं चिरकाल तक दु:ख। वे अत्यन्त दु:खकारक और अल्प सुखदायी होते हैं, संसार से मुक्ति के विपक्षीभूत कामभोग अनर्थो की खान है।

तीसरा समाधान—पूर्वगाथाओं के अनुसार स्त्रियों द्वारा कामजाल में फँसाने की प्रार्थना, अनुनय, मायाचार आदि विविध तरीके तथा उनके साथ किया जाने वाला विभिन्न प्रकार का संसर्ग-संवास भयकारक है—खतरनाक है, वह साधु के संयम को खतरे में डाल देता है, इसलिए साधु के लिए वह कथमपि श्रेयस्कर-कल्याणकर नहीं है, इस कारण स्त्रीसंग सर्वथा त्याज्य है। इसे ही शास्त्रकार सूत्रगाथा २९७ के प्रथम चरण में कहते हैं—'**एयं भयं ण सेयाए।**'

चौथा समाधान—वीर प्रभु ने स्त्रीसंसर्ग को महामोहकर्मबन्ध का तथा अन्य कर्मो का कारण माना और स्वयं स्त्रीसंसर्गजनित कर्मरज से मुक्त बने, तथा राग-द्वेष-मोह-विजयी हुए। इसीलिए स्त्रीपरिज्ञा-अध्ययन में जो बातें कही गई हैं, वे सब विश्वहितंकर शासनेश श्रमण भगवान् महावीर ने विशेष रूप से साधकों के लिए कही हैं। वे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के संघ (तीर्थ) के सभी साधु-साध्वियों के लिए लागू होती हैं। अत: भगवान् महावीर द्वारा स्त्रीसंगत्याग ब्रह्मचर्यमहाव्रती साधु

के लिए समादिष्ट होने से तदनुसार चलना अनिवार्य है। सूत्रगाथा २९९ में शास्त्रकार कहते हैं—**"इच्चेवमाहु से वीरे धूतरए धूयमोहे ···तम्हा····।"**[८]

कुछ प्रेरणाएँ—इसके पश्चात् स्त्रीसंगत्याग का दूसरा पहलू है—साधु स्त्रीसंगत्याग कैसे या किस तरीके से करे ? वैसे तो इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक में, तथा द्वितीय उद्देशक की पूर्वगाथाओं में यत्र-तत्र स्त्रीसंगत्याग की प्रेरणा दी गई है, फिर भी परमहितैषी शास्त्रकार ने पुनः इसके लिए कुछ प्रेरणाएँ अध्ययन के उपसंहार में दी हैं।

प्रथम प्रेरणा—उपसर्गपरिज्ञा अध्ययन में स्त्री संसर्ग, स्त्रीपरिचय, स्त्रीसहवास तथा स्त्री-मोह से जो-जो अनर्थ परम्पराएँ बताई गई हैं, उन्हें ध्यान में रखकर आत्महितैषी साधु स्त्रीसंस्तव, (संसर्ग) स्त्रीसंवास (सहनिवास) आदि का त्याग करे। सूत्रगाथा २९६ में **'संथवं संवासं च चएज्जा'** इस पंक्ति द्वारा स्पष्टतः स्त्रीसंगत्याग की प्रेरणा दी गई हैं।

द्वितीय प्रेरणा—स्त्रीसंसर्गजनित अनेक खतरों में से कोई भी खतरा पैदा होते ही साधु तुरन्त अपने आपको उससे रोके। बिजली का करेन्ट छू जाते ही जैसे मनुष्य सावधान होकर फौरन दूर हट जाता है, उसका पुनः स्पर्श नहीं करता, वैसे ही स्त्रीसंगजनित (प्रथम उद्देशक में वर्णित) कोई भी उपद्रव-उपसर्ग पैदा होता दीखे कि साधक उसे खतरनाक (भयकारक) एवं आत्मविनाशकारी समझकर तुरन्त सावधान हो जाए, उससे दूर हट जाए, अपने-आपको उसमें पड़ने से रोक ले और संयमपथ में स्थापित करे। उसका स्पर्श बिलकुल न करे। शास्त्रकार ने इन शब्दों में प्रेरणा दी है—**'इति से अप्पगं निरुंभित्ता।"**

तृतीय प्रेरणा—स्त्रीसंगपरित्याग के सन्दर्भ में तृतीय प्रेरणा सूत्र गाथा २९७ के उत्तरार्द्ध द्वारा दी गई है—**'णो इत्थिं, णो पसुं भिक्खू, णो सयपाणिणा णिलिज्जेज्जा।'** इस पंक्ति में णिलिज्जेजा (निलीयेत) इस एक ही क्रिया के चार अर्थ फलित होने से स्त्रीसंगत्याग के सन्दर्भ में क्रमशः चार प्रेरणाएँ निहित हैं—(१) भिक्षु स्त्री और पशु को अपने निवास स्थान में आश्रय न दे, (२) स्त्री और पशु से युक्त संवास का आश्रय न ले, क्योंकि साधु के लिए शास्त्र में स्त्री-पशु-नपुंसक-वर्जित शयनासन एवं स्थान ही विहित है, (३) साधु स्त्री और पशु का स्पर्श या आश्लेष भी अपने हाथ से न करे, और (४) साधु स्त्री या पशु के साथ मैथुन सेवन की कल्पना करके अपने हाथ से स्वगुप्तेन्द्रिय का सम्बाधन (पीड़न या मर्दन) न करे—हस्तमैथुन न करे।

चौथी प्रेरणा—स्त्रीसंसर्ग-त्याग के सिलसिले में शास्त्रकार चौथी प्रेरणा सूत्रगाथा २९८ के द्वितीय चरण द्वारा देते हैं—**'परकिरियं च वज्जए णाणी।'** अर्थात्—ज्ञानी साधु परक्रिया का त्याग करे। प्रस्तुत सन्दर्भ में परक्रिया के लगभग चार अर्थ प्रतीत होते हैं—(१) आत्मभावों से अन्य परभावों-अनात्मभावों की क्रिया, अथवा आत्महित में बाधक क्रिया, परक्रिया है, (२) स्त्री आदि आत्मगुण बाधक (पर) पदार्थ के लिए जो क्रिया की जाती है, अर्थात्—विषयोपभोग द्वारा (देकर) जो

---

[८] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ११९

परोपकार किया जाता है, वह भी परक्रिया है, (३) विषयभोग की सामग्री देकर दूसरे की सहायता करना भी परक्रिया है, और (४) दूसरे से—गृहस्थ नर-नारी से अपने पैर आदि दबवाना, पैर धुलाना आदि सेवा लेना भी परक्रिया है।

स्त्रीसंगपरित्याग के सन्दर्भ में उपर्युक्त चारों अर्थों की छाया में काम-विकार-सेवन की दृष्टि से परक्रिया का मन-वचन-काया से सर्वथा त्याग करे, यही इस प्रेरणा का आशय है।

तात्पर्य यह है कि औदारिक एवं दिव्य कामभोगरूप परक्रिया के लिए वस्तुतत्त्व ज्ञानी साधु मन से भी विचार न करे, दूसरे को भी मन से परक्रिया के लिए प्रेरित न करे, ऐसा (परक्रिया का) विचार करने को मन से भी अच्छा न समझे। इसी प्रकार वचन और काया से भी इस प्रकार की परक्रिया का त्याग तीन करण से समझ लेना चाहिए। इस प्रकार औदारिक कामभोगरूप परक्रिया त्याग के ९ भेद हुए, वैसे ही दिव्य (वैक्रिय) कामभोगरूप परक्रिया त्याग के भी ९ भेद होते हैं। यों १८ प्रकार की परक्रिया (अब्रह्मचर्य-मैथुनसेवनरूप) का साधु त्याग करे, और १८ प्रकार से ब्रह्मचर्यव्रत को सुरक्षित रखे।[९]

अथवा परक्रियात्याग का अर्थ दशविध ब्रह्मचर्य समाधि स्थान भंग करने वाली स्त्री-संगरूप उपसर्ग की कारणभूत अब्रह्मचर्यवर्द्धक १० प्रकार की क्रियाओं का त्याग भी हो सकता है। वे दस अब्रह्मचर्यवर्द्धक परक्रियाएँ ये हैं—

(१) निर्ग्रन्थ ब्रह्मचारी स्त्री-पशु-नपुंसक संसक्त शयनासन या स्थान का सेवन करे।

(२) स्त्रियों के शृंगार, विलास आदि की कामवर्द्धक विकथा करे।

(३) स्त्रियों के साथ एक आसन या शय्या पर बैठे या स्त्रियाँ जिस आसन या स्थानादि पर बैठी हों, उस पर तुरन्त ही बैठे। स्त्रियों के साथ अतिसंसर्ग, अतिसंभाषण करे।

(४) स्त्रियों की मनोहर, मनोरम इन्द्रियों या अंगोपांगों को कामविकार की दृष्टि से देखे, टकटकी लगाए निरीक्षण करे।

(५) दीवार, कपड़े के पर्दे, या भींत के पीछे होने वाले स्त्रियों के नृत्य, गीत, क्रन्दन, विलाप, रुदन, हास्य, विलास आदि शब्दों को सुने।

(६) स्त्रियों के साथ पूर्वरत, पूर्वक्रीड़ित कामभोगों का स्मरण करे।

(७) सरस, स्निग्ध एवं स्वादिष्ट कामवर्द्धक आहार करे।

(८) अतिमात्रा में आहार-पानी करे।

(९) शरीर का शृंगार करे, मंडन-विभूषा करे।

---

[९] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ११९, १२०
(ख) देखिये आचा० श्रुत० १३ वां अध्ययन परक्रियासप्तक आचा० विवेचन पृ० ३४४ सू० ६९० से ७२९ तक।

(१०) मनोज्ञ शब्द रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का आसक्तिपूर्वक सेवन-उपभोग करे ।[10]

निष्कर्ष यह है, इन दस प्रकार की ब्रह्मचर्यबाधक परक्रियाओं का सर्वथा परित्याग करने की प्रेरणा भी शास्त्रकार का आशय हो सकता है ।

पाठान्तर और कठिन शब्दों की व्याख्या—णिलिज्जेज्जा—वृत्तिकार के अनुसार—**निलीयेत—**लीन-आश्रित-संसक्त हो, आश्रय ले या आश्लेप करे, सम्वाधन (पीड़न या मर्दन) करे, या स्त्री आदि का स्पर्श करे ।[11] चूर्णिकार के अनुसार—**णिलेज्जं ति हत्थकम्मं न कुर्यात् । निलंजनं नाम स्पर्श करणं अथवा स्वेन पाणिना तं प्रदेशमपि न लीयते ।** अर्थात्—**णिलेज्ज** का अर्थ है—हस्तकर्म न करे अथवा निलंजन कहते हैं—स्पर्श करने को । (स्त्री आदि का स्पर्श न करे) अथवा अपने हाथ से उस गुह्यप्रदेश का पीड़न (मर्दन) न करे । **से भिक्खू**—भिक्षु, चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**सभिक्खू** । अर्थ किया है—**'सोभणो भिक्ख सभिक्खू'** अर्थात्—अच्छाभ भिक्षु ।[11]

।। द्वितीय उद्देशक समाप्त ।।

।। स्त्रीपरिज्ञा : चतुर्थ अध्ययन सम्पूर्ण ।।

---

[10] आलओ थीजणाइण्णो, थीकहाय मणोरमा ।
संथवो चेव नारीणं, ताभि इंदियदरिसणं ।।११।।
कुइयं रुइयं गीयं हासि यं भुत्ताऽऽसियाणि य ।
पणीयं भत्तपाणं च अइमायं पाणभोयणं ।।१२।।
गत्तभूसणमिट्ठं च कामभोगा य दुज्जया ।
नरस्सत्तगवेसिस्सं विसं तालउडं जहा ।।१३।। —उत्तर० अ० १६

[11] सू० कृ० शीलांकवृत्ति पत्रांक १२०

नरक-विभक्ति : पंचम अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग सूत्र (प्र० श्रु०) के पंचम अध्ययन का नाम निरयविभक्ति अथवा नरकविभक्ति है।[1]

☐ कर्म-सिद्धान्त के अनुसार जो जीव हिंसा, असत्य, चोरी, कुशीलसेवन, महापरिग्रह, महारम्भ, पंचेन्द्रियजीवहत्या, मांसाहार आदि पापकर्म करता रहा है, उससे भारी पापकर्मों का वन्ध होता है, तथा उस पापकर्मवन्ध का फल भोगने हेतु नरक (नरक-गति) में जन्म लेना पड़ता है। और यह सर्वज्ञ जिनेन्द्रों द्वारा प्ररूपित आगमों से सिद्ध है।[2]

☐ वैदिक, बौद्ध और जैन, तीनों परम्पराओं में नरक के महादुःखों का वर्णन है। योगदर्शन के व्यासभाष्य में ६ महानरकों का वर्णन है। भागवतपुराण में २७ नरक गिनाये गए हैं। बौद्ध-परम्परा के पिटकग्रन्थ सुत्तनिपात के कोकालियसुत्त में नरकों का वर्णन है। अभिधर्मकोष के तृतीयकोश स्थान के प्रारम्भ में ८ नरकों का उल्लेख है। इन सव स्थलों को देखने से प्रतीत होता है—नरक विषयक मान्यता सभी आस्तिक दर्शनों में अति प्राचीन काल से चली आ रही है, और भारतीय धर्मों की तीनों शाखाओं में नरक-वर्णन एक-दूसरे से काफी मिलता-जुलता है। उनकी शव्दावली भी वहुत कुछ समान है।[3]

☐ यों तो नरक एक क्षेत्रविशेष (गति) का नाम है, जहाँ जीव अपने दुष्कर्मों का फल भोगने के लिए जाता है, स्थिति पूर्ण होने तक रहता है। अथवा घोर वेदना के मारे जहाँ जीव चिल्लाता है, सहायता के लिए एक-दूसरे को सम्वोधित करके वुलाता है, वह नरक है। अथवा घोर पापकर्मी जीवों को जहाँ दुर्लंघ्य रूप से वुला लिया जाता है, वह नरक है।[4]

☐ नरक का पर्यायवाची 'निरय' शव्द है, जिसका अर्थ होता है—सातावेदनीयादि शुभ या इष्टफल जिसमें से निकल गए हैं, वह निरय है।[5]

☐ निर्युक्तिकार ने निक्षेप की दृष्टि से नरक के ६ अर्थ किये हैं—'नामनरक' और 'स्थापनानरक'

---

[1] वृत्तिकार के अनुसार इस अध्ययन का नाम 'नरकविभक्ति' है।

[2] सूत्रकृतांग अमरसुखवोधिनी व्याख्या पृ० ५७२

[3] जैनसाहित्य का वृहद् इतिहास भा० १, पृ० १४६

[4] सूत्रकृतांग अमरसुखवोधिनी व्याख्या पृ० ५७४ में देखिये नरक की परिभाषा
(अ) नरान् कायन्ति शव्दयन्ति, योग्यताया अनतिक्रमेणाऽऽकारयन्ति जन्तून् स्व-स्व स्थाने इति नरकाः।

[5] निर्गतमयं शुभमस्मादिति निरयः, अथवा निर्गतमिष्टफलं सातावेदनीयादि रूपं येभ्यस्ते निरयाः।

सुगम हैं। द्रव्यनरक के मुख्य दो भेद—आगमतः, नो आगमतः। जो नरक को जानता है, किन्तु उसमें उपयोग नहीं रखता, वह आगमतः द्रव्यनरक है। नो आगमतः द्रव्यनरक (ज्ञशरीर-भव्य-शरीर-तद्व्यतिरिक्तरूप) वे जीव हैं जो इसी लोक में मनुष्य या तिर्यञ्च के भव में अशुभ कर्म करने के कारण अशुभ हैं, या बंदीगृहों, बन्धनों या अशुभ, अनिष्ट क्षेत्रों में परिवारों में नरक-सा कष्ट पाते हैं, अथवा द्रव्य और नोकर्मद्रव्य के भेद से द्रव्यनरक दो प्रकार का है। जिनके द्वारा नरक वेदनीय कर्म बंधे जा चुके हैं, वे एकभविक, बद्धायुष्क और अभिमुखनामगोत्र (कर्म) की दृष्टि से द्रव्य नरक हैं, नोकर्मद्रव्य की दृष्टि से 'द्रव्यनरक' इसी लोक में अशुभ शब्द, रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श हैं। नारकों के रहने के ८४ लाख स्थान '**क्षेत्रनरक**' हैं। जिस नरक की जितनी स्थिति है, वह '**कालनरक**' है। नरकयोग्य कर्म का उदय या नरकायु का भोग '**भावनरक**' है। अथवा नरक में स्थित जीव या नरकायु के उदय से उत्पन्न असातावेदनीयादि कर्मोदय वाले जीव भी '**भावनरक**' कहे जा सकते हैं।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में क्षेत्रनरक, कालनरक और भावनरक की दृष्टि से निरूपण किया गया है।[६]

☐ विभक्ति कहते हैं—विभाग यानी स्थान को। इस दृष्टि से '**नरक (निरय) विरक्ति**' का अर्थ हुआ वह अध्ययन, जिसमें नरक के विभिन्न विभागों-स्थानों के क्षेत्रीय दुःखों, पारस्परिक दुःखों तथा परमाधार्मिक असुरकृत दुःखों का वर्णन हो। तात्पर्य यह है कि हिंसा आदि भयंकर पापकर्म करने वाले जीवों का विभिन्न नरकवासों में जन्म लेकर भयंकर शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शकृत क्षेत्रीय दुःखों के अतिरिक्त पारस्परिक एवं परमाधार्मिककृत कैसे-कैसे घोर दुःख सहने पड़ते हैं? इन अनिष्ट विषयों से नारकों को कैसी वेदना का अनुभव होता है? उनके मन पर क्या-क्या प्रतिक्रियाएँ होती हैं, इन सबका सम्पूर्ण वर्णन 'नरकविभक्ति' अध्ययन के दोनों उद्देशकों में है। प्रथम उद्देशक में २७ और द्वितीय उद्देशक में २५ गाथाएँ हैं।[७]

☐ स्थानांग सूत्र में नरकगति के चार और तत्त्वार्थ सूत्र में नरकायु के दो मुख्य कारणों का उल्लेख है। तथा जो लोग पापी हैं—हिंसक, असत्यभाषी, चोर, लुटेरे, महारम्भी-महापरिग्रही हैं, असदाचारी-व्यभिचारी हैं, उन्हें इन नरकावासों में अवश्य जन्म लेना पड़ता है। अतः धीर साधक नरकगति या नरकायुबन्धन के इन कारणों और उनके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले दारुण दुःखों को सुन-समझकर इनसे बचे, हिंसादि पापों में प्रवृत्त न हो, और स्व-पर कल्याणरूप संयमसाधना में अहर्निश संलग्न रहे, यही इस अध्ययन का उद्देश्य है।[८]

☐ '**नरकविभक्ति**' का एक अर्थ यह भी है—नरक के प्रकार, भूमियाँ, उनकी लम्बाई-चौड़ाई-मोटाई

---

६. सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ६४-६५

७. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १२२
(ख) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा० १ पृ० १४६

८. (क) महारंभेण महापरिग्गहेण पंचेन्दियवहेणं कुणिमाहारेणं। —स्था० ४
(ख) 'वह्वारम्भ परिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः।' —तत्त्वार्थ अ० ३०

आदि विभिन्न नारकों की स्थिति, लेश्या, नरकों के विविध दुःख, दुःखप्रदाता नरकपाल आदि समस्त विषयों का विभाग रूप से जिस अध्ययन में निरूपण हो।

☐ नरक सात हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तपःप्रभा, महातमःप्रभा। इनके सात रूढ़िगत नाम गोत्र हैं—घम्मा, वंशा, शैला, अंजना, अरिष्टा, मघा और माघवती। ये ही सात नरकभूमियाँ हैं, जो एक-दूसरी के नीचे असंख्य योजनों के अन्तर पर घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश के आधार पर स्थित हैं। वे नरकभूमियाँ क्रमशः ३० लाख, २५ लाख, १५ लाख, १० लाख, पाँच कम एक लाख और पाँच आवासों में विभक्त हैं।

☐ **नरकवासियों की उत्कृष्ट स्थिति**—नरक में क्रमशः १, ३, ७, १०, १७, २२ और २३ सागरोपमकाल की स्थिति है।

☐ **नारकों की आकृति-प्रकृति**—नारक जीवों की लेश्या, परिणाम, आकृति अशुभतर होती है, उनकी वेदना असह्यतर होती है, उनमें विक्रियाशक्ति होती है जिससे शरीर के छोटे-बड़े विविध रूप बना सकते हैं।

☐ **नरक में प्राप्त होने वाले विविध दुःख**—मुख्यतया तीन प्रकार के हैं—(१) परस्परकृत। (२) क्षेत्रजन्य और (३) परमाधार्मिककृत।[१]

☐ **नारकों को दुःख देने वाले परमाधार्मिक असुर**—नरकपाल १५ प्रकार के हैं—(१) अम्ब, (२) अम्बर्षि, (३) श्याम, (४) सबल, (५) रौद्र, (६) उपरुद्र, (७) काल, (८) महाकाल, (९) असिपत्र, (१०) धनुष, (११) कुम्भ, (१२) वालु, (१३) वैतरणी, (१४) खरस्वर और (१५) महाघोष। ये असुर स्वभाव से बड़े क्रूर होते हैं। ये नारकों को पूर्वकृत पापकर्म याद दिलाकर उन्हें विविध प्रकार से भयंकर यातना देते हैं।

☐ सूत्रगाथा ३०० से प्रारम्भ होकर ३५१ सूत्रगाथा पर पंचम अध्ययन समाप्त होता है।

☐☐

---

[१] (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ६८ से ८४ तक

(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १२३ से १२५ तक

पंचमं अज्झयणं : 'णिरयविभत्ती'

पंचम अध्ययन : नरकविभक्ति

पढमो उद्देसओ : प्रथम उद्देशक

नरक जिज्ञासा और संक्षिप्त समाधान

३००. पुच्छिस्स हं केवलियं महेसिं, कहंऽभितावा णरगा पुरत्था ।
अजाणतो मे मुणि बूहि जाणं, कहं णु बाला णरगं उवेंति ॥१॥

३०१. एवं मए पुट्ठे महाणुभागे, इणमब्बवी कासवे आसुपण्णे ।
पवेदइस्सं दुहमट्ठदुग्गं, आदीणियं दुक्कडियं पुरत्था ॥२॥

३०२. जे केइ बाला इह जीवियट्ठी, पावाइं कम्पाइं करेंति रुद्दा ।
ते घोररूवे तिमिसंधयारे, तिव्वाभितावे नरए पडंति ॥३॥

३०३. तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य, जे हिंसती आयसुहं पडुच्चा ।
जे लूसए होति अदत्तहारी, ण सिक्खती सेयवियस्स किंचि ॥४॥

३०४. पागब्भि पाणे बहुणं तिवाती, अणिव्वुडे घातमुवेति बाले ।
णिहो णिसं गच्छति अंतकाले, अहो सिरं कट्टु उवेति दुग्गं ॥५॥

३००. (श्री सुधर्मा स्वामी कहते हैं—) मैंने पहले केवलज्ञानी महर्षि महावीर स्वामी से पूछा था कि नरक किस प्रकार की पीड़ा (अभिताप) से युक्त हैं ? हे मुने ! आप इसे जानते हैं, (अतः) मुझ अज्ञात (न जानने वाले) को कहिये, (कि) मूढ अज्ञानी जीव किस कारण से नरक पाते हैं ?

३०१. इस प्रकार मेरे (श्री सुधर्मा स्वामी के) द्वारा पूछे जाने पर महानुभाव (महाप्रभावक) काश्यपगोत्रीय आशुप्रज्ञ (समस्त वस्तुओं में सदा शीघ्र उपयोग रखने वाले) भगवान् महावीर ने कहा कि यह (नरक) दुःखहेतुक या दुःखरूप (दुःखदायक) एवं दुर्ग (विषम, गहन अथवा असर्वज्ञों द्वारा दुर्विज्ञेय) है । वह अत्यन्त दीन जीवों का निवासस्थान है, वह दुष्कृतिक (दुष्कर्म—पाप करने वालों या पाप का फल भोगने वालों से भरा) है । यह आगे चलकर मैं बताऊँगा ।

३०२. इस लोक में कई रौद्र, प्राणियों में हिंसादि घोर कर्म से भय उत्पन्न करने वाले जो

अज्ञानी जीव अपने जीवन के लिए हिंसादि पापकर्म करते हैं, वे घोर रूप वाले, घोर अन्धकार से युक्त तीव्रतम ताप (गर्मी) वाले नरक में गिरते हैं।

३०३-३०४. जो जीव अपने विषयसुख के निमित्त त्रस और स्थावर प्राणियों की तीव्र रूप से हिंसा करता है, जो (लूपक) अनेक उपायों से प्राणियों का उपमर्दन करता है, तथा अदत्तहारी (बिना दिये परवस्तु का हरण कर लेता) है, एवं (आत्महितैषियों द्वारा) सेवनीय (या श्रेयस्कर) संयम का थोड़ा-सा भी अभ्यास (सेवन) नहीं करता, जो पुरुष पाप करने में धृष्ट है, अनेक प्राणियों का घात करता है, जिसकी क्रोधादिकषायाग्नि कभी बुझती नहीं, वह अज्ञानी जीव अन्तकाल (मृत्यु के समय) में नीचे घोर (अन्धकारमय नरक) में चला जाता है, (और वहाँ) सिर नीचा किये (करके) वह कठोर पीड़ा-स्थान को प्राप्त करता है।

विवेचन—नरक के सम्बन्ध में स्वयं उद्भावित जिज्ञासा—प्रस्तुत पाँच सूत्रगाथाओं (३०० से ३०४ तक) में से प्रथम सूत्रगाथा में श्री सुधर्मास्वामी द्वारा नरक सम्बन्धी स्वयं उद्भूत जिज्ञासा है और अवशिष्ट चार गाथाओं में द्वितीय जिज्ञासा का समाधान अंकित किया गया है।

जिज्ञासा : नरक के सम्बन्ध में—पंचम गणधर श्री सुधर्मा स्वामी ने नरक के सम्बन्ध में अपने अनुभव श्री जम्बूस्वामी आदि को बताते हुए कहा कि मैंने केवलज्ञानी महर्षि भगवान् महावीर के समक्ष अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की थी—"भगवन् ! मैं नरक और वहाँ होने वाले तीव्र संतापों और यातनाओं से अनभिज्ञ हूँ। आप सर्वज्ञ हैं। आपसे त्रिकाल-त्रिलोक की कोई भी बात छिपी नहीं है। आपको अनुकूल-प्रतिकूल अनेक उपसर्गों को सहन करने का अनुभव है। आप समस्त जीवों की गति-आगति, क्रियाप्रति-क्रिया, वृत्ति-प्रवृत्ति आदि को भलीभाँति जानते हैं। अतः आप यह बताने की कृपा करें की (१) नरक कैसी-कैसी पीड़ाओं से भरे हैं ? और (२) कौन जीव किन कारणों से नरक को प्राप्त करते हैं ?

समाधान : द्वितीय जिज्ञासा का—श्री सुधर्मा स्वामी ने कहा—मेरे द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर महानुभाव, आशुप्रज्ञ एवं काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर ने (द्वितीय) जिज्ञासा का समाधान दो विभागों में किया—(१) नरकभूमि कैसी है ? (२) नरक में कौन-से प्राणी जाते हैं ?

सर्वप्रथम चार विशेषणों द्वारा नरकभूमि का स्वरूप बताया है—**'दुहमट्ठदुग्गं आदीणियं दुक्कडियं'**—अर्थात्—(१) नरक दुःखहेतुक (दुःख का कारण दुःख देने के लिए निमित्त रूप) हैं, या दुःखार्थ (दुःख-प्रयोजनभूत—केवल दुःख देने के लिए ही बना हुआ) है। अथवा दुःखरूप (बुरे कर्मों के फलों के कारण) है, अथवा नरक स्थान जीवों को दुःख देता है इसलिए वह दुःखदायक है, या असातावेदनीय कर्म के उदय से मिलने के कारण नरकभूमि तीव्र-पीड़ारूप है, इसलिए यह दुःखमय है। (२) नरक दुर्ग है—नरक भूमि को पार करना दुर्गम होने से, तथा विषम एवं गहन होने से यह दुर्ग है। अथवा असर्वज्ञों द्वारा दुर्गम्य-दुर्विज्ञेय है, क्योंकि नरक को सिद्ध करने वाला कोई इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। (३) नरक आदीनिक—अत्यन्त दीन प्राणियों का निवास स्थान है। यानी चारों ओर दीन जीव निवास करते हैं। तथा (४) नरक दुष्कृतिक है, दुष्कृत-दुष्कर्म करने वाले जीव वहाँ रहते हैं, इसलिए दुष्कृतिक है, अथवा दुष्कृत (बुरा कर्म, पाप) या दुष्कृत (पाप) का फल विद्यमान रहता है, इसलिए वह दुष्कृतिक है। अथवा जिन पापीजनों ने पूर्व जन्म में दुष्कृत किये हैं, उनका यहाँ निवास होने के कारण नरक दुष्कृतिक कहलाता है।

इसके पश्चात् यह बताया गया है कि नरक में कौन-से प्राणी और किन कारणों से जाते हैं ?—तीन गाथाओं में इसका समाधान दिया है, जो (१) बाल है (२) रौद्र है (३) जीवितार्थ पापकर्म करते हैं, (४) अपने सुख के लिए त्रस-स्थावर प्राणियों की तीव्रतम रूप से हिंसा करते हैं, (५) जो निर्दयतापूर्वक प्राणियों का उपमर्दन करते हैं, (६) जो चोरी-अपहरण, लूटमार या डकैती द्वारा बिना दी हुई परवस्तु का हरण करते हैं, (७) जो सेवनीय संयम का जरा भी अभ्यास (सेवन) नहीं करते, (८) जो धृष्ट होकर बहुत-से प्राणियों का वध करते हैं, (९) जिनकी कषायाग्नि कभी शान्त नहीं होती, (१०) जो मूढ़ हर समय घात में लगा रहता है वह अन्तिम समय (जीवन के अन्तिम काल) में नीचे घोर अन्धकार (अन्धकारमय नरक) में जाता है, जहाँ नीचा सिर किये कठोर पीड़ा स्थान को पाता है। वह घोररूप है, गाढ़ अन्धकारमय है, तीव्र ताप युक्त है, जहाँ वह गिरता है।[1]

नरकयात्री कौन और क्यों ?—नरक में वे अभागे जीव जाते हैं, जो हित में प्रवृत्ति और अहित से निवृत्ति के विवेक से रहित अज्ञानी हैं, रागद्वेष की उत्कटता के कारण जो आत्महित से अनजान तिर्यञ्च और मनुष्य हैं, अथवा जो सिद्धान्त से अनभिज्ञ होने के कारण महारम्भ, महापरिग्रह, पंचेन्द्रिय जीवों के वध एवं मांसभक्षण आदि सावद्य अनुष्ठान में प्रवृत्त हैं, वे बाल हैं। जो प्राणी स्वयं रौद्र हैं, कर्म से भी वचन से भी, विचारों एवं आकृति से भी रौद्र (भयंकर) हैं, जिन्हें देखते ही भय पैदा होता है। जो सुख और ऐश में जीवनयापन करने के लिए पापोपादानरूप घोर कर्म करते हैं, हिंसा, चोरी, डकैती, लूटपाट, विश्वासघात, आदि भयंकर पापकर्म करते हैं। इसके अतिरिक्त जो जीव महामोहनीय कर्म के उदय से इन्द्रिय सुखों का लोलुप बनकर बेखटके त्रस और स्थावर जीवों की निर्दयतापूर्वक रौद्रपरिणामों से हत्या करता है, नाना उपायों से जीवों का उपमर्दन (वध, बन्ध, शोषण, अत्याचार आदि) करता है तथा अदत्ताहारी है—यानी चोरी, लूटपाट, डकैती, अन्याय, ठगी, धोखाधड़ी आदि उपायों से बिना दिया परद्रव्य हरण करता है, अपने श्रेय के लिए जो सेवन (अभ्यास) करने योग्य, या साधुजनों द्वारा सेव्य संयम है, उसका जरा भी सेवन (अभ्यास) नहीं करता है, अर्थात्—पापकर्म के उदय के कारण जो काकमांस जैसी तुच्छ, त्याज्य, घृणित एवं असेव्य वस्तु से भी विरत नहीं होता। इसी प्रकार जो प्राणिहिंसा आदि पाप करने में बड़ा ढीठ है जिसे पापकर्म करने में कोई लज्जा, संकोच या हिचक नहीं होती। जो बेखटके बहुत-से निरपराध और निर्दोष प्राणियों की निष्प्रयोजन हिंसा कर डालता है। जब देखो तब प्राणियों के प्राणों का अतिपात (घात) करने का जिसका स्वभाव ही बन गया है, अर्थात् जो लोग क्रूर-सिंह, और सर्प के समान बेखटके आदतन प्राणियों का वध करते हैं, अथवा अपने स्वार्थ या किसी मतलब से धर्मशास्त्र के वाक्यों का मनमाना अर्थ लगाकर या किसी कुशास्त्र का आश्रय लेकर हिंसा, असत्य, मद्यपान, मांसाहार, शिकार, मैथुन-सेवन आदि की प्रवृत्ति को स्वाभाविक कहकर निर्दोष बताने की धृष्टता करते हैं।

अथवा कई हिंसापोषक मिथ्यावादी लोग कहते हैं—'**वेदविहिता हिंसा हिंसा न भवति**'—वेद विहित यज्ञादि में होने वाली पशुवधरूप हिंसा आदि हिंसा नहीं होती। कई मनचले शिकार को क्षत्रियों या राजाओं का धर्म बताकर निर्दोष प्राणियों का वध करते हैं तथा जिनकी कषायाग्नि

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १२६ के अनुसार

कभी शान्त नहीं होती, जो जानवरों का कत्ल एवं मछलियों का वध करके अपनी जीविका चलाते हैं, जिनके परिणाम सदैव प्रणिवध करने के वने रहते हैं, जो कभी प्राणिवध आदि पापों से निवृत्त और शान्त नहीं होते, ऐसे पापकर्मी मूढ़ जीव अपने किये हुए पापकर्मों का फल भोगने के लिए नरक में जाते हैं। इसी तथ्य को शास्त्रकार ने संक्षेप में तीन गाथाओं में व्यक्त किया है—'**जे केई बाला···· नरए पडंति**' '**तिव्वंतसे····सेयवियस्स किंचि**', और '**पागब्भिपाणे····घातमुवेति बाले**।'[2]

वे पापी कैसे-कैसे नरक में जाते हैं ?—नरक तो नरक ही है, दुःखागार है, फिर भी पापकर्म की तीव्रता-मन्दता के अनुसार तीव्र-मन्द पीड़ा वाली नरकभूमि उन नरकयोग्य जीवों को मिलती है। प्रस्तुत में सूत्रगाथा ३०२ और ३०४ में विशिष्ट पापकर्मियों के लिए विशिष्ट नरकप्राप्ति का वर्णन किया गया है—(१) '**ते घोररूवे तमिसंधयारे तिव्वाभितावे नरए पडंति**' तथा (२) **णिहो णिसं गच्छइ अंतकाले, अहोसिरं कट्टु उवेइ दुग्गं**।'—पहले प्रकार के पापकर्मी एवं रौद्र वालजीव जिस प्रकार के नरक में गिरते हैं, उसके तीन विशेषण शास्त्रकार ने प्रयुक्त किये हैं—(१) घोर रूप, (२) तमिस्रान्धकार (३) तीव्राभिताप। नरक में इतने विकराल एवं क्रूर आकृति वाले प्राणी एवं परमाधार्मिक असुर हैं, तथा विकराल दृश्य हैं, इस कारण नरक को **घोररूप** कहते हैं। नरक में अन्धकार इतना गाढ़ और घोर है कि वहाँ हाथ को हाथ नहीं सूझता, अपनी आँखों से अपना शरीर भी नहीं दिखाई देता। जैसे उल्लू दिन में वहुत ही कम देखता है, वैसे ही नारकीय अवधि (या विभंग) ज्ञान से भी दिन में मन्द-मन्द देख सकता है। इस संवंध में आगम-प्रमाण भी मिलता है। इसके अतिरिक्त नरक में इतना तीव्र दुःसह ताप (गर्मी) है उसे शास्त्रकार खैर के धधकते लाल-लाल अंगारों की महाराशि से भी अनन्तगुना अधिक ताप बताते हैं।

चौथी और पांचवी गाथा में वताए अनुसार जो पापकर्म करते हैं, वे नरक-योग्य जीव अपने मृत्यु काल में नीचे ऐसे नरक में जाते हैं, जहाँ घोर निशा है, अर्थात्—जहाँ उन्हें द्रव्यप्रकाश भी नहीं मिलता और ज्ञानरूप भावप्रकाश भी नहीं। वे नारकीय जीव अपने किये हुए पापकर्मों के कारण नीचा सिर करके भयंकर दुर्गम यातनास्थान में जा पहुँचते हैं, अर्थात्—ऐसे घोर अन्धकारयुक्त नरक में जा गिरते हैं, जहाँ गुफा में घुसने की तरह सिर नीचा करके जीव जाता है।[3]

नारकों को भयंकर वेदनाएँ

३०५. हण छिंदह भिंदह णं दहह, सद्दे सुणेत्ता परधम्मियाणं।
ते नारगा ऊ भयभिन्नसण्णा, कंखंति कं नाम दिसं वयामो॥ ६॥

३०६. इंगालरासिं जलियं सजोतिं, ततोवमं भूमि अणोक्कमंता।
ते डज्झमाणा कलुणं थणंति, अरहस्सरा तत्थ चिरट्ठितीया॥ ७॥

३०७. जइ ते सुता वेतरणीऽभिदुग्गा, निसितो जहा खुर इव तिक्खसोता।
तरंति ते वेयरणिं भिदुग्गं, उसुचोदिता सत्तिसु हम्ममाणा॥ ८॥

---

[2] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १२६-१२७

[3] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १२६-१२७

३०८. कोलेहिं विज्झंति असाहुकम्मा, नावं उवेंते सतिविप्पहूणा ।
अन्ने त्थ सूलाहिं, तिसूलियाहिं, दीहाहिं विद्धूण अहे करेंति ॥९॥

३०९. केसिंच बंधित्तु गले सिलाओ, उदगंसि बोलेंति महालयंसि ।
कलंबुयावालुय मुम्मुरे य, लोलेंति पच्चंति या तत्थ अन्ने ॥१०॥

३१०. असूरियं नाम महब्भितावं, अंधंतमं दुप्पतरं महंतं ।
उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु, समाहितो जत्थऽगणी झियाति ॥११॥

३११. जंसि गुहाए जलणेऽतियट्टे, अजाणओ डज्झति लुत्तपण्णे ।
सया य कलुणं पुण घम्मठाणं, गढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं ॥१२॥

३१२. चत्तारि अगणीओ सभारभित्ता, जहिं कूरकम्माऽभितवेंति बालं ।
ते तत्थ चिट्ठंतऽभितप्पमाणा, मच्छा व जीवंतुवजोतिपत्ता ॥१३॥

३१३. संतच्छणं नाम महब्भितावं, ते नारगा जत्थ असाहुकम्मा ।
हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं, फलगं व तच्छंति कुहाडहत्था ॥१४॥

३१४. रुहिरे पुणो वच्चसमूसियंगे, भिन्नुत्तमंगे परियत्तयंता ।
पयंति णं णेरइए फुरंते, सजीवमच्छे व अओकवल्ले ॥१५॥

३१५. णो चेव ते तत्थ मसीभवंति, ण मिज्जती तिव्वभिवेदणाए ।
तमाणुभागं अणुवेदयंता, दुक्खंति दुक्खी इह दुक्कडेणं ॥१६॥

३१६. तहिं च ते लोलणसंपगाढे, गाढं सुतत्तं अगणिं वयंति ।
न तत्थ सातं लभतीऽभिदुग्गे, अरहिताभितावा तह वी तवेंति ॥१७॥

३१७. से सुव्वती नगरवहे व सद्दे, दुहोवणीताण पदाण तत्थ ।
उदिण्णकम्माण उदिण्णकम्मा, पुणो पुणो ते सरहं दुहेंति ॥१८॥

३१८. पाणेहि णं पाव विओजयंति, तं भे पवक्खामि जहातहेणं ।
दंडेहिं तत्था सरयंति बाला, सव्वेहिं दंडेहिं पुराकएहिं ॥१९॥

३१९. ते हम्ममाणा णरए पडंति, पुण्णे दुरूवस्स महब्भितावे ।
ते तत्थ चिट्ठंति दुरूवभक्खी, तुट्टंति कम्मोवगता किमीहिं ॥२०॥

३२०. सदा कसिणं पुण धम्मठाणं, गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं ।
अंदूसु पक्खिप्प विहत्तु देहं, वेहेण सीसं सेऽभितावयंति ॥२१॥

पाप को नहीं जानता हुआ संज्ञाहीन होकर चलता रहता है। (वह नरक) सदैव करुणाप्राय है, सम्पूर्ण ताप का स्थान है, जो पापी जीवों को बलात् (अनिवार्य रूप से विवशता से) मिलता है, उसका स्वभाव ही अत्यन्त दुःख देना है।

३१२. जिस नरकभूमि में क्रूरकर्म करने वाले (परमाधार्मिक असुर) (चारों दिशाओं में) चार अग्नियाँ जलाकर अज्ञानी नारक को तपाते हैं। वे नारकी जीव जीते-जी आग में डाली हुई मछलियों की तरह ताप पाते-तड़फड़ाते हुए उसी जगह पर पड़े रहते हैं।

३१३. (वहाँ) संतक्षण नामक एक महान् ताप देने वाला नरक है, जहाँ बुरे कर्म करने वाले वे (नारक) नरकपाल हाथों में कुल्हाड़ी लिये हुए उनके (नारकों के) हाथों और पैरों को बांधकर लकड़ी के तख्ते की तरह छीलते हैं।

३१४. फिर रक्त से लिप्त जिनके शरीर के अंग मल से सूज (फूल) गये हैं, तथा जिनका सिर चूर-चूर कर दिया गया है, और जो (पीड़ा के मारे) छटपटा रहे हैं, ऐसे नारकी जीवों को परमाधार्मिक असुर (ऊपर-नीचे) उलट-पलट करते हुए जीवित मछली की तरह लोहे की कडाही में (डालकर) पकाते हैं।

३१५. वे नारकी जीव उस नरक (की आग) में (जलकर) भस्म नहीं हो जाते और न वहाँ की तीव्र वेदना (पीड़ा) से मरते हैं, किन्तु नरक की उस वेदना को भोगते हुए वे वहीं रहते हैं और इस लोक में किये हुए दुष्कृत—पाप के कारण वे दुःखी होकर वहाँ दुःख पाते रहते हैं।

३१६. नारकी जीवों के संचार से अत्यन्त व्याप्त (भरे हुए) उस नरक में तीव्ररूप से अच्छी तरह तपी हुई अग्नि के पास जब वे नारक जाते हैं, तब उस अतिदुर्गम अग्नि में वे सुख नहीं पाते। (यद्यपि वे नारक) तीव्र ताप से रहित नहीं होते, तथापि नरकपाल उन्हें और अधिक तपाते हैं।

३१७. इसके पश्चात् उस नरक में नगरवध (शहर में कत्लेआम) के समय होने वाले कोलाहल के से शब्द तथा दुःख से भरे (करुणाजनक) शब्द भी (सुनाई पड़ते हैं।) जिनके मिथ्यात्वादि-जनित कर्म उदय में आए हैं, वे (परमाधार्मिक नरकपाल) जिनके पापकर्म उदय (फल देने की) दशा में आये हुए हैं, उन नारकी जीवों को बड़े उत्साह के साथ बार-बार दुःख देते हैं।

३१८. पापी नरकपाल नारकी जीवों के प्राणों का पांच इन्द्रियों, मन-वचन-कायाबल आदि प्राणों-अवयवों को काट कर अलग-अलग कर देते हैं, इसका कारण मैं तुम्हें यथातथ्य (यथार्थ) रूप से बताता हूँ। अज्ञानी नरकपाल नारकी जीवों को दण्ड देकर उन्हें उनके पूर्वकृत सभी पापों का स्मरण कराते हैं।

३१९. परमाधार्मिकों द्वारा मारे जाते हुए वे नारकी जीव महासन्ताप देने वाले विष्ठा और मूत्र आदि बीभत्सरूपों से पूर्ण दूसरे नरक में गिरते हैं। वे वहाँ विष्ठा, मूत्र आदि का भक्षण करते हुए चिरकाल (बहुत लम्बे आयुष्यकाल) तक कर्मों के वश होकर रहते हैं और कृमियों (कीड़ों) के द्वारा काटे जाते हैं।

३२०. नारकी जीवों के रहने का सारा का सारा स्थान सदा गर्म रहता है, और वह स्थान उन्हें गाढ़ बन्धन से बद्ध (निधत्त-निकाचित) कर्मों के कारण प्राप्त होता है। अत्यन्त दुःख देना ही उस स्थान का धर्म-स्वभाव है। नरकपाल नारकी जीवों के शरीर को बेड़ी आदि में डाल कर, उनके शरीर को तोड़-मरोड़ कर और उनके मस्तक में छिद्र करके उन्हें सन्ताप देते हैं।

३२१. नरकपाल अविवेकी नारकी जीव की नासिका को उस्तरे से काट डालते हैं, तथा उनके ओठ और दोनों कान भी काट लेते हैं और उनकी जीभ को एक बित्ताभर बाहर खींचकर उसमें तीखे शूल भोंककर उन्हें सन्ताप देते हैं।

३२२. उन (नारकी जीवों) के (कटे हुए नाक, ओंठ, जीभ आदि) अंगों से सतत खून टपकता रहता है, (इस भयंकर पीड़ा के मारे) वे विवेकमूढ़ सूखे हुए ताल (ताड़) के पत्तों के समान रातदिन वहाँ (नरक में) रोते-चिल्लाते रहते हैं। तथा उन्हें आग में जलाकर फिर उनके अंगों पर खार (नमक आदि) लगा दिया जाता है, जिससे उनके अंगों से मवाद, मांस और रक्त चूते रहते हैं।

३२३-३२४. रक्त और मवाद को पकाने वाली, नवप्रज्वलित अग्नि के तेज से युक्त होने से अत्यन्त दुःसहताप युक्त, पुरुष के प्रमाण से भी अधिक प्रमाणवाली, ऊँची, बड़ी भारी एवं रक्त तथा मवाद से भरी हुई कुम्भी का नाम कदाचित् तुमने सुना होगा।

आर्तनाद करते हुए तथा करुण रुदन करते हुए उन अज्ञानी नारकों को नरकपाल उन (रक्त एवं मवाद से परिपूर्ण) कुम्भियों में डालकर पकाते हैं। प्यास से व्याकुल उन नारकी जीवों को नरकपालों द्वारा गर्म (करके पिघाला हुआ) सीसा और ताम्बा पिलाये जाने पर वे आर्त्तस्वर से चिल्लाते हैं।

विवेचन—नरक में नरकों को प्राप्त होने वाली भयंकर वेदनाएँ—सूत्रगाथा ३०५ से ३२४ तक बीस गाथाओं में नरक में नारकी जीवों को अपने पूर्वकृत पापकर्मानुसार दण्ड के रूप में मिलने वाले विभिन्न दुःखों और पीड़ाओं का करुण वर्णन है। नारकों को मिलने वाले भयंकर दुःखों को दो विभागों में बांटा जा सकता है—(१) क्षेत्रजन्य दुःख और (२) परमाधार्मिककृत दुःख।

क्षेत्रजन्य दुःख—क्षेत्रजन्य दुःख नरक में यत्र-तत्र है। वहाँ के शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सभी अमनोज्ञ, अनिष्ट, दुःखद एवं दुःसह्य होते हैं। शास्त्रकार द्वारा इस उद्देशक में वर्णित शब्दादि जन्य दुःखों का क्रमशः विवेचन इस प्रकार है—अमनोज्ञ भयंकर दुःसह शब्द—तिर्यञ्च और मनुष्य भव का त्याग कर नरकयोग्य प्राणियों की अण्डे से निकले हुए रोम पक्षविहीन पक्षी की तरह नरक में अन्तमुहूर्त में शरीरोत्पत्ति होती है, तत्पश्चात् ज्योंही वे पर्याप्तियों से युक्त होते हैं, त्यों ही उनके कानों में परमाधार्मिकों के भयंकर अनिष्ट शब्द पड़ते हैं—यह पापी महारम्भ-महापरिग्रह आदि पापकर्म करके आया है, इसलिए इसे मुद्गर आदि से मारो, तलवार आदि से काटो, इसके टुकड़े-टुकड़े कर दो, इसे शूल आदि से वींध दो, भाले में पिरो दो, इसे आग में झौंक कर जला दो; ये और इस प्रकार के कर्णकटु मर्मवेधी भयंकर शब्दों को सुनते ही उनका कलेजा कांप उठता है, वे भय के मारे वेहोश हो जाते हैं। होश में आते ही किंकर्त्तव्य विमूढ़ एवं भय-विह्वल होकर मन ही मन सोचते हैं कि अब कहाँ किस दिशा में भागें, कहाँ हमारी रक्षा होगी ? कहाँ हमें शरण मिलेगी ? हम इस दारुणदुःख

से कैसे छुटकारा पायेंगे ? इस प्रकार का शब्दजन्य दुःख नरक में है। जिसके लिए सूत्रगाथा ३०५ में शास्त्रकार कहते हैं—**"हण छिंदह···कं नाम दिसं वयामो ?"**

नरक में होने वाला नगरवध-सा भयंकर कोलाहल—नरक के जीवों पर जब शीत, उष्ण आदि के भयंकर क्षेत्रीय दुःख, पारस्परिक दुःख और परमाधार्मिक कृत दुःखों का पहाड़ टूट पड़ता है, तब वे करुण आर्तनाद करते हैं—हे मात ! हे तात ! वड़ा कष्ट है ! मैं अनाथ और अशरण हूँ, कहाँ जाऊँ ? कैसे इस कष्ट से बचूँ ? मेरी रक्षा करो ! इस प्रकार के करुणाजनक शब्दों में वे पुकार करते हैं। उस समय का चीत्कार नगर में होने वाले सामूहिक हत्याकाण्ड की तरह इतना भयंकर व डरावना होता है कि उसे सुनकर कान के पर्दे फट जाते हैं। वास्तव में नरक का वह कोलाहल नगर-वध के समय होने वाले कोलाहल से भी कई गुना वढ़कर तेज, दुःसह, मर्मभेदी, करुणोत्पादक एवं अति दुःखद होता है।

नरक में अनिष्ट कुरूपजन्य दुःख—यों तो नरक में नारकों को भोंडे, भद्दे कुरूप शरीर मिलते हैं, उनकी एवं परमाधार्मिकों की डरावनी क्रूर आकृति से भी उन्हें वास्ता पड़ता है। इसके अतिरिक्त नरकभूमियों का दृश्य भी अत्यन्त भयावह होता है, वह भी नारकों के मानस में अत्यन्त दुःख उत्पन्न करता है। शास्त्रकार ने इस उद्देशक में नरक के भयंकर रूप सम्बन्धी चर्चा सूत्रगाथा ३१० में की है।

(१) सघन अन्धकार पूर्ण दुस्तर और विशाल नरक—असूर्य नाम का एक नरक है, जहाँ सूर्य विलकुल नहीं होता। यों तो सभी नरकों को असूर्य कहते हैं। असूर्य होने के कारण नरक घोर अन्धकार पूर्ण होता है, तथापि वह प्रचण्ड तम से युक्त होता है। नरक इतना दुस्तर होता है कि उसका ओर-छोर नहीं दिखता। इतना विशाल और दीर्घ होने के कारण उसे पार करना कठिन होता है। ऐसे विशाल लम्वे, चौड़े और गहरे नरक में पापी प्राणी जाते हैं, रहते हैं, स्वकृत पापकर्मों का दुःखद फल भोगते हैं। साथ ही वहाँ ऊँची, नीची एवं तिरछी सभी दिशाओं में व्यवस्थित रूप से लगाई गई आग निरन्तर जलती रहती है। उस आग की लपटें दूर-दूर तक ऊपर उठती हैं। बेचारे नारक जीव वहाँ के इस भयंकर दृश्य को देख एक क्षण भी कैसे चैन से रह सकते हैं ? शास्त्रकार कहते हैं—**'असूरियं नाम···अंधंतमं दुप्पतरं महंतं···जत्थऽगणी झियाति।**

रक्त और मवाद से परिपूर्ण कुम्भी : बीभत्स—सामान्य मनुष्य को यदि थोड़ी-सी देर के लिए भी खून और मवाद से भरी कोठरी या भूमि में छोड़ दिया जाए तो वह उसकी दुर्गन्ध को सह नहीं सकेगा, उसकी नाक फट जाएगी, दुर्गन्ध के मारे। उसे वह दुःख असह्य प्रतीत होगा, किन्तु नरक में तो कोसों तक भूमि, मूत्र, खून, मवाद एवं विष्ठा की कीचड़ से लथपथ है। दूर-दूर तक उसकी बदबू उठती है। प्रस्तुत उद्देशक में सूत्रगाथा ३२३ में एक कुम्भी का वर्णन किया गया है, जो देखने में भी अत्यन्त घृणास्पद और बीभत्स है, उसकी दुर्गन्ध भी असह्य होती है, क्योंकि वह रक्त और मवाद से लबालब भरी होती है, वह पुरुष के प्रमाण से भी अधिक प्रमाण वाली ऊँट के आकार की बहुत ऊँची होती है। वह कुम्भी चारों ओर तीव्र आग से जलती रहती है। रोते-चिल्लाते नारकों को उस कुम्भी में जबरन डालकर पकाया जाता है। दुर्गन्ध का कितना दारुण दुःसह दुःख होता होगा उन नारकों को ? शास्त्रकार उस कुम्भी का वर्णन करते हुए कहते हैं—**"जइ ते सुता···लोहितपूयपुण्णा।"**

नरक में मल-मूत्र आदि का भक्षण : कितना असह्य रसास्वाद ?—नरक में नारकीय जीवों को रहने के लिए मल-मूत्र, मवाद आदि गंदी वस्तुओं से भरे स्थान मिलते हैं। नरक की कालकोठरी जेल की कालकोठरी से अनन्त गुना अधिक भयंकर होती है वहाँ नारकों को खाने-पीने के लिए मल, मूत्र, मवाद, रक्त आदि घिनौनी कुरूप वस्तुएँ मिलती हैं। इसी प्रकार की घिनौनी चीजों का भक्षण करते हुए एवं बीभत्स स्थान में रहते हुए नारकी जीव रिबरिबकर अपनी लम्बी आयु (कम से कम १० हजार वर्ष की, अधिक से अधिक ३३ सागरोपम तक की दीर्घकालिक) पूरी करते हैं। मल, मूत्र, रक्त एवं मवाद आदि में भयानक कीड़े उत्पन्न होते हैं, जो नारकों को रात-दिन काटते रहते हैं। यह है—नरक में रसादि जन्य तीव्र दुःख ! शास्त्रकार कहते हैं—**"ते हम्ममाणा···दुरूवस्स दुक्खभक्खी··· तुट्टंति···किमीहिं।"**

दुःसह स्पर्शजन्य तीव्र वेदना—नरक में स्पर्शजन्य दुःख तो पद-पद पर है। वह स्पर्श अत्यन्त दुःसह और दारुण दुःखद होता है। शास्त्रकार ने सू० गा० ३०६, ३०७, ३११, ३१६, ३२० एवं ३२४ में नारकों को पापकर्मोदयवश प्राप्त होने वाले दुःसह स्पर्शजन्य दुःख की झाँकी प्रस्तुत की है।

(१) **नरक की तप्त भूमि का स्पर्श कैसा और कितना दुःखदायी ?**—नरक की भूमि को शास्त्रकार ने खैर के धधकते अंगारों की राशि की, तथा जाज्वल्यमान अग्निसहित पृथ्वी की उपमा दी है। इन दोनों प्रकार की-सी तपतपाती नरकभूमि होती है, जिस पर चलते और जलते हुए नारकीय जीव जोर-जोर से करुण क्रन्दन करते हैं। यहाँ नरकभूमि की तुलना इस लोक की बादरअग्नि से की गई है। परन्तु वास्तव में यह तुलना केवल समझाने के लिए है, नरक का ताप तो इस लोक के ताप से कई गुना अधिक है। अतः महानगर के दाह से भी कई गुने अधिक ताप में नारक रोते-बिलखते हैं। ऐसी स्थिति में वे अपनी आयुपर्यन्त रहते हैं। यही बात शास्त्रकार सू० गा० ३०६ में कहते हैं—**"इंगालरासिं··· तत्थ चिरट्ठितीया।"**

नरक में गुहाकार अग्नि में सदा जलते हुए नारक—नरक में गुफानुमा नरकभूमि में आग ही आग चारों ओर रखी होती है। बेचारे नारक पापकर्मोदयवश उससे अनभिज्ञ होते हैं, वे बलात् इस अग्निमयी भूमि में धकेल दिये जाते हैं, जहाँ वे उस पूर्णतापयुक्त करुणाजनक स्थान में संज्ञाहीन होकर जलते रहते हैं। वह स्थान नारकों को अपने पूर्वकृतपापकर्मवश अवश्य ही मिलता है, उष्णस्पर्शमय वह स्थान स्वभाव से ही अतिदुःखद होता है। एक पलक मारने जितना समय भी यहाँ सुख में नहीं बीतता। सदैव दुःख ही दुःख भोगते रहना पड़ता है।

अत्यन्त शीतस्पर्श से बचने का उपाय भी कितना दुःखद ? नारकी जीव नरक के भयंकर दुःसह शीत के दुःख से बचने के लिए अत्यन्त प्रदीप्त सुतप्त अग्नि के पास जाते हैं। परन्तु वह आग तो अत्यन्त दाहक होती है। बेचारे गये थे सुख की आशा से, किन्तु वहाँ पहले से भी अधिक दुःख मिलता है, वे नरक की उस प्रचण्ड (तीव्रताप युक्त) आग में जलने लगते हैं, जरा भी सुख नहीं पाते। फिर ऊपर से नरकपाल उन तपे हुए नारकों को और अधिक ताप तरह-तरह से देते रहते हैं। यही तथ्य शास्त्रकार ने ३१६ सू० गा० में व्यक्त किया है—**"तंहि च ते···गाढं सुतत्तं अगणिं वयंति··· तह वी तवेंति।"**

सदैव पूर्णतया उष्ण नरकस्थान : दुःखों से परिपूर्ण—नारकों के आवासस्थान का कोई भी कोना ऐसा नहीं होता, जो गर्म न हो। समूचा स्थान सदैव उष्ण रहता है। उसमें नरक के जीव सदा सिकते रहते हैं। उस स्थान का तापमान बहुत अधिक होता है। वहाँ का सारा वायुमण्डल तापयुक्त

एवं दुःखमय होता है। सुख उन्हें कहीं ढूंढे भी नहीं मिलता, क्योंकि नरकभूमि का स्वभाव ही दुःख देना है। यह दुःखद स्थान नारकों को गाढबन्धन (निधत्त-निकाचितरूप बन्धन) से बद्ध कर्मों के वश मिलता है। यही बात सू० गा० ३२० के पूर्वार्द्ध में स्पष्ट बताई है—**'सदा कसिणं पुण घम्मट्ठाणं गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं।'**

वैतरणी नदी की तीक्ष्ण जलधारा का स्पर्श कितना दुःखदायी ?—वैतरणी नरक की मुख्य विशाल नदी है। उसमें रक्त के समान खारा और गर्म जल बहता रहता है। उसकी जलधारा उस्तरे के समान बड़ी तेज है। उस तीक्ष्ण धारा के लग जाने से नारकों के अंग कट जाते हैं। यह नदी बहुत ही गहन एवं दुर्गम है। नारकी जीव अपनी गर्मी और प्यास को मिटाने हेतु इस नदी में कूदते हैं, तो उन्हें भयंकर दुःखों का सामना करना पड़ता है। कई बार बैलों को आरा भौंककर चलाये जाने या भाले से बींधकर चलाये जाने की तरह नारकों को सताकर इस नदी में कूदने और इसे पार करने को बाध्य कर दिया जाता है। कितना दारुण दुःख है—तीक्ष्ण स्पर्श का और विवशता का। इसी तथ्य को शास्त्रकार व्यक्त करते हैं—**'जइ ते सुया वेयरणी ······खुर इवतिक्खसोया ··· ·· सत्तिसु हम्ममाणा।'**

परमाधार्मिक कृत दुःख और भी भयंकर—जब से कोई जीव नरक में जाता हैं, तभी से परमाधार्मिक असुर उसके पीछे भूत की तरह लग जाते हैं, और तीसरे नरक तक वे आयु पूर्ण होने तक उसके पीछे लगे रहते हैं, वे तरह-तरह से उस नारक को यातनाएँ देते रहते हैं। वे परमाधार्मिक १५ प्रकार के हैं, जिनका परिचय अध्ययन के प्राथमिक में दिया गया है। नरक में नारकी जीव के उत्पन्न होते ही वे मारो, काटो, जला दो, तोड़ दो आदि शब्दों से नारक को भयभीत और संज्ञाशून्य कर देते हैं। शास्त्रकार ने इन नरकपालों द्वारा नारकों को दिये जाने वाले दुःख की संक्षिप्त झांकी इस उद्देशक की सू० गा० ३०५, ३०७, ३०८, ३०९, ३१२, ३१३, ३१४, ३१६, ३१७, ३१८, ३२१, ३२२ तथा ३२४ में दी है।[४]

संक्षेप में इनका परिचय इस प्रकार है—(१) नरक में उत्पन्न होते ही नारक को ये भयंकर शब्दों से भयभीत कर देते हैं, (२) वैतरणी नदी में बलात् कूदने और तैरने को बाध्य कर देते हैं। (३) नौका पर चढ़ते समय नारकों के गले में कील भौंककर स्मृति रहित कर देते हैं, (४) लम्बे शूलों और त्रिशूलों से बींधकर जमीन पर पटक देते हैं, (५) नारकों के गले में शिलाएँ बाँधकर अगाध जल में डुबो देते हैं, (६) तपी हुई रेत, या भाड़ की तरह तपी हुई आग में डालकर पकाते हैं, फेरते हैं, (७) चारों दिशाओं में चार अग्नियाँ लगाकर नारकों को तपाते हैं, (८) नारकों के हाथ पैर बांधकर उन्हें कुल्हाड़े से काटते हैं, (९) नारकों का सिर चूर-चूरकर देते हैं, अंग मल से फूल जाता है। (१०) पीड़ा से छटपटाते हुए नारकों को उलट-पलट करके जीवित मछली की तरह लोहे की कड़ाही में पकाते हैं, (११) नारकी जीवों को बार-बार तीव्र वेग से पीड़ित करते हैं। (१२) पापी परमाधा-मिक नारकों के विविध प्राण—अंगोपांग काटकर अलग-अलग कर देते हैं, (१३) पापात्मा परमा-धार्मिक असुर पूर्वजन्म में नारकों द्वारा किये गए दण्डनीय पापकर्मों को याद दिलाकर उनके पाप-कर्मानुसार दण्ड देते हैं। (१४) नरकपालों की मार खाकर हैरान नारक मल-मूत्रादि वीभत्स रूपों से पूर्ण नरक में गिरते हैं, (१५) नारकों के शरीर को बेड़ी आदि बंधनों में जकड़ कर उनके अंगोपांग को तोड़ते-मरोड़ते हैं, मस्तक में छेद करके पीड़ा देते हैं, (१६) नारकों के नाक, कान और ओठ को

---

[४] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १२८ से १३३ तक के आधार पर

उस्तरे से काट डालते हैं। (१७) जीभ एक बित्ताभर बाहर खींचकर उसमें तीखे शूल भौंककर अत्यन्त दुःख देते हैं। (१८) जिन कटे हुए अंगों से रक्त, मवाद और मांस चूते रहते हैं, उन पर ये असुर खार छिड़कते रहते हैं, (१९) रक्त और मवाद से भरी कुम्भियों में डालकर आर्तनाद करते हुए नारकों को पकाते हैं, (२०) पिपासाकुल नारकों को ये बलात् गर्म किया हुआ सीसा और तांबा पिलाते हैं।

ये और इस प्रकार की विविध यातनाएँ परमाधार्मिक नरकपाल नारकों को देते रहते हैं। उन्हें नारकों को दुःख देने में आनन्द आता है। वे नारकों को उनके पूर्वजन्म कृत पापकर्मों का इस प्रकार स्मरण दिलाते हैं—'मूर्ख ! तू बड़े हर्ष के साथ प्राणियों का मांस निर्दयतापूर्वक काट-काटकर खाता था, उनका रक्त पीता था, तथा मदिरापान एवं परस्त्री गमन आदि कुकर्म करता था। अपने किये हुए पापकर्मों को याद कर अब उन पापकर्मों का फल भोगते समय क्यों रोता-चिल्लाता है ?

न भस्मीभूत, न मृत, चिरकाल तक दुःखित—जब उन नारकों को नरकपाल आग में डालते हैं, उनके अंग तोड़फोड़ डालते हैं, उन्हें इतने जोर से मारते-पीटते, शूलों से बींधते काटते-छेदते हैं, तब वे भस्मीभूत या मृत हो जाते होंगे ? इस शंका के समाधानार्थ शास्त्रकार सू० गा० ३१५ में कहते हैं—"**नो चेव ते तत्थ मसीभवंति दुक्खी इह दुक्कडेण।**" इसका आशय यह है कि इतनी वर्णनातीत अनुपमेय वेदना का अनुभव करते हुए भी जब तक अपने कर्मों का फल भोग शेष रहता है, या आयुष्य बाकी रहता है, तब तक वे न तो भस्म होते हैं और न ही वे मरते हैं। जिस नारक का जितना आयुष्य है उतने समय तक नरक के तीव्र से तीव्र दुःख उन्हें भोगने ही पड़ते हैं।[५]

पाठान्तर और व्याख्या—**'कोलेहि विज्झंति'**—चूर्णिकार के अनुसार—**'कोलो नाम गलओ'** कोल मछली पकड़ने वाले कांटे या किसी अस्त्र विशेष का नाम है। तदनुसार अर्थ होता है—मछली पकड़ने वाले कांटों से या अस्त्र विशेष से बींध डालते हैं, वृत्तिकार के अनुसार पाठान्तर है—**कीलेहि विज्झंति**—अर्थ किया गया है—**'कीलेषु कण्ठेषु विध्यन्ति'**—कण्ठों में (कीलें) चुभो देते हैं। **'सजीव मच्छे व अओकवल्ले'**—जीती हुई मछली की तरह लोह की कड़ाही में; चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**'सज्जोव्व मच्छे व अओकवल्ले'**। **'सज्जोमच्छे'**के चूर्णिकार ने दो अर्थ किये हैं—(१) जीता हुआ मत्स्य, और (२) सद्यः तत्काल मरा हुआ मत्स्य। उसकी तरह लोह के कड़ाह में तड़फ़ड़ाता हुआ। **तहि च ते लोलण-संपगाढे**—वृत्तिकार के अनुसार—नारकों की हलचल से भरे (व्याप्त) उस महा-यातना स्थान नरक में वे (नारक), चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**'तहिं पि ते लोलुअसंपगाढे'**—दुःख से चंचल—लोलुप नामक उस नरक में अत्यन्त गाढ़—निरन्तर यानी उस लोलुय नरक में भी ठसाठस भरे हुए वे नारक। **'सरहं दुहेंति'**—वृत्तिकार के अनुसार नारकों को वे सोत्साह दुःख देते हैं। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**'सहरिसं दुहंति'**—अर्थ होता है—सहर्ष दुःख देते है। **'अंदूसु'**—बेड़ियो में। **तलसंपुडव्व**—वृत्तिकार के अनुसार हवा से प्रेरित ताल (ताड़) के पत्तों के ढेर की तरह। चूर्णिकार सम्मत पाठ है—**तलसंपुडच्च**—हथेली से बंधी हुई या हाथों में ली हुई अर्चा यानी देह (यहाँ शरीर को अर्चा कहा गया है) वाले। **पपयंति** (पपयंति)—जोर से गिराते हैं। वृत्तिकार सम्मत पाठान्तर है—**पयंति**—**प्रपचति**—अच्छी तरह से पकाते हैं।[६]

---

[५] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १२८ से १३३ तक का सारांश

[६] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १२८ से १३३ तक

(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ५५ से ५७

नरक में नारक क्या खोते क्या पाते ?

३२५. अप्पेण अप्पं इह वंचइत्ता, भवाहमे पुव्व सते सहस्से ।
चिट्ठंति तत्था बहुकूरकम्मा, जहा कडे कम्मे तहा सि भारे ॥२६॥

३२६. समज्जिणित्ता कलुसं अणज्जा, इट्ठेहि कंतेहि य विप्पहूणा ।
ते दुब्भिगंधे कसिणे य फासे, कम्मोवगा कुणिमे आवसंति ॥२७॥

३२५. इस मनुष्यभव में स्वयं ही स्वयं की वंचना करके तथा पूर्वकाल में सैकड़ों और हजारों अधम (व्याध आदि नीच) भवों को प्राप्त करके अनेक क्रूरकर्मी जीव उस नरक में रहते हैं। पूर्वजन्म में जिसने जैसा कर्म किया है, उसके अनुसार ही उस नारक को वेदनाएँ (भार) प्राप्त होती हैं।

३२६. अनार्य पुरुप पाप (कलुप) उपार्जन करके इष्ट और कान्त (प्रिय) (रूपादि विषयों) से रहित (वंचित) होकर कर्मो के वश हुए दुर्गन्धयुक्त, अशुभ स्पर्श वाले तथा मांस (रुधिर आदि) से परिपूर्ण कृष्ण (काले रूप वाले) नरक में आयुपूर्ण होने तक निवास करते हैं।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—नरक में नारक क्या खोते, क्या पाते ?—प्रस्तुत सूत्रगाथा द्वय में इस उद्देशक का उपसंहार करके शास्त्रकार ने नरक में नारकीय जीवों के द्वारा खोने-पाने का संक्षेप में वर्णन किया है।

दोनों सूत्रगाथाओं में पूर्वकृत कर्मों के अनुसार नारकों के लाभ-हानि के निम्नोक्त तथ्य प्रकट किए गये हैं—(१) मनुष्यजन्म में जो लोग जरा-सी सुखप्राप्ति के लिए हिंसादि पापकर्म करके दूसरों को नहीं, अपने आपको ही वंचित करते, (२) वे उसी के फलस्वरूप सैकड़ों हजारों वार शिकारी, कसाई, आदि नीच योनियों में जन्म लेकर तदनन्तर यातना स्थान-रूप नरक में निवास करते हैं, (३) जिसने जिस अध्यवसाय से जैसे जघन्य-जघन्यतर-जघन्यतम पापकर्म पूर्वजन्मों में किये हैं, तदनुसार ही उसे नरक में वैसी ही वेदनाएँ मिलती हैं। (४) वे अनार्य पुरुष अपने थोड़े-से सुखलाभ के लिए पाप-कर्मों का उपार्जन करते हैं।(५) उसके फलस्वरूप नरक में इष्ट, कान्त, मनोज्ञ रूप, रस गन्ध स्पर्श आदि विषयों से वंचित रहते हैं और अनिष्ट रूप, रस, गन्ध स्पर्श आदि प्राप्त करके अपनी पूरी आयु तक नरक में दुःख भोगते रहते हैं।

जहा कडं कम्मं तहासि भारे—इस पंक्ति का आशय यह है कि 'जैसा जिसका कर्म, वैसा ही फल' के सिद्धान्तानुसार नरक में नारकों को पीड़ा भोगनी पड़ती है। उदाहरणार्थ—जो लोग पूर्वजन्म में मांसाहारी थे, उन्हें नरक में उनका अपना ही मांस काटकर आग में पकाकर खिलाया जाता है, जो लोग मांस का रस पीते थे, उन्हें अपना ही मवाद एवं रक्त पिलाया जाता है, अथवा सीसा गर्म करके पिलाया जाता है तथा जो मच्छीमार बहेलिये आदि थे, उन्हें उसी प्रकार से मारा काटा एवं छेदा जाता है—जो असत्यवादी थे, उन्हें उनके पूर्वजन्म के दुष्कृत्यों को याद दिलाकर उनकी जिह्वा काटी जाती है, जो पूर्वजन्म में परद्रव्यापहारक चोर, लुटेरे डाकू आदि थे, उनके अंगोपांग काटे जाते हैं, जो

परस्त्रीगामी थे उनका अण्डकोष काटा जाता है, तथा शाल्मलिवृक्ष (अत्यन्त कठोर स्पर्श वाला) का आलिंगन कराया जाता है, जो लोग महापरिग्रही थे या तीव्र कषाय वाले थे, उन्हें अपने दुष्कर्मों का स्मरण कराकर वैसा ही दुःख दिया जाता है।

इट्ठ हि कंतेहि य विप्पहूणा—इस पंक्ति के दो अर्थ वृत्तिकार करते हैं—(१) इष्ट एवं कमनीय शब्दादि विषयों से रहित (वंचित) होकर वे नरक में रहते हैं, अथवा (२) जिनके लिए उन्होंने पापकर्म किये थे, उन इष्ट माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि से तथा कान्त (कमनीय) विषयों से, रहित होकर वे एकाकी नरक में आयुपर्यन्त रहते हैं।[७]

पाठान्तर और व्याख्या—भवाहमे पुव्वसते सहस्से—वृत्तिकार के अनुसार—बहुत-से भवों में जो अधम—मच्छीमार कसाई पारधि आदि नीच भव हैं, उन्हें पूर्वजन्मों में सैकड़ों हजारों वार पाकर विषय सम्मुख एवं सुकृत विमुख होकर या भागकर। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**'भवाहमे पुव्वा सतसहस्से'** सैकड़ों-हजारों पूर्व तक यानी तैतीस सागरोपम तक भवों में अधम-निकृष्ट भव पाकर या भोगकर।[८]

।। प्रथम उद्देशक समाप्त ।।

□□

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

तीव्र वेदनाएँ और नारकों के मन पर प्रतिक्रिया

३२७. अहावरं सासयदुक्खधम्मं तं भे पवक्खामि जहातहेणं।
बाला जहा दुक्कडकम्मकारी, वेदेंति कम्माइं पुरेकडाइं ।।१।।

३२८. हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं, उदरं विकत्तंति खुरासिएहिं।
गेण्हेत्तु बालस्स विहन्न देहं, वद्धं थिरं पिट्ठतो उद्धरंति ।।२।।

३२९. बाहू पकत्तंति य मूलतो से, थूलं वियासं मुहे आडहंति।
रहंसि जुत्तं सरयंति बालं, आरुस्स विज्झंति तुदेण पट्ठे ।।३।।

३३०. अयं व तत्तं जलितं सजोतिं, ततोवमं भूमिमणोक्कमंता।
ते डज्झमाणा कलुणं थणंति, उसुचोदिता तत्तजुगेसु जुत्ता ।।४।।

---

[७] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १३४

[८] सूयगडंग सुत्तं (मूलपाठ टिप्पण) पृ० ५८
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १३४

३३१. बाला बला भूमिमणोक्कमंता, पविज्जलं लोहपहं व तत्तं ।
जंसीऽभिदुग्गंसि पवज्जमाणा, पेसे व दंडेहिं पुरा करेंति ॥५॥

३३२. ते संपगाढंसि पवज्जमाणा, सिलाहिं हम्मंतिऽभिपातिणीहिं ।
संतावणी नाम चिरट्ठितीया, संतप्पति जत्थ असाहुकम्मा ॥६॥

३३३. कंदूसु पक्खिप्प पयंति बालं, ततो विडड्ढा पुणउप्पतंति ।
ते उड्ढकाएहिं पखज्जमाणा, अवरेहिं खज्जंति सणप्फएहिं ॥७॥

३३४. समूसितं नाम विधूमठाणं, जं सोगतत्ता कलुणं थणंति ।
अहो सिरं कट्टु विगत्तिऊणं, अयं व सत्थेहिं समोसवेंति ॥८॥

३३५. समूसिया तत्थ विसूणियंगा, पक्खीहिं खज्जंति अयोमुहेहिं ।
संजीवणी नाम चिरट्ठितीया, जंसि पया हम्मति पावचेता ॥९॥

३३६. तिक्खाहिं सुलाहिं भितावयंति, वसोवगं सोअरियं व लद्धुं ।
ते सूलविद्धा कलुणं थणंति, एगंतदुक्खं दुहओ गिलाणा ॥१०॥

३३७. सदा जलं ठाण निहं महंतं, जंसी जलंती अगणी अकट्ठा ।
चिट्ठंती तत्था बहुकूरकम्मा, अरहस्सरा केइ चिरट्ठितीया ॥११॥

३३८. चिता महंतीउ समारभित्ता, छुब्भंति ते तं कलुणं रसंतं ।
आवट्टति तत्थ असाहुकम्मा, सप्पि जहा पतितं जोतिमज्झे ॥१२॥

३३९. सदा कसिणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं ।
हत्थेहिं पाएहि य बंधिऊणं, सत्तुं व दंडेहिं समारभंति ॥१३॥

३४०. भंजंति बालस्स वहेण पट्ठिं, सीसं पि भिंदंति अयोघणेहिं ।
ते भिन्नदेहा व फलगावतट्ठा, तत्ताहिं आराहिं णियोजयंति ॥१४॥

३४१. अभिजुंजिया रुद्द असाहुकम्मा, उसुचोदिता हत्थिवहं वहंति ।
एगं दुरुहित्तु दुए तयो वा, आरुस्स विज्झंति कक्काणओ से ॥१५॥

३४२. बाला बला भूमि अणोक्कमंता, पविज्जलं कंटइलं महंतं ।
विबद्ध तप्पेहिं विवण्णचित्ते, समीरिया कोट्ट बलिं करेंति ॥१६॥

३४३. वेतालिए नाम महब्भितावे, एगायते पव्वतमंतलिक्खे ।
हम्मंति तत्था बहुकूरकम्मा, परं सहस्साण मुहुत्तगाणं ॥१७॥

३४४. संवाहिया दुक्कडिणो थणंति, अहो य रातो परितप्पमाणा ।
एगंतकूडे नरए महंते, कूडेण तत्था विसमे हता उ ।।१८।।

३४५. भंजंति णं पुव्वमरी सरोसं, समुग्गरे ते मुसले गहेतुं ।
ते भिन्नदेहा रुहिरं वमंता, ओमुद्धगा धरणितले पडंति ।।१९।।

३४६. अणासिता नाम महासियाला, पगब्भिणो तत्थ सयायकोवा ।
खज्जंति तत्था वहुकूरकम्मा, अदूरया संकलियाहि वद्धा ।।२०।।

३४७. सदाजला नाम नदी भिदुग्गा, पविज्जला लोहविलीणतत्ता ।
जंसी भिदुग्गंसि पवज्जमाणा, एगाइयाऽणुक्कमणं करेंति ।।२१।।

३२७. इसके पश्चात् शाश्वत (सतत) दुःख देने के स्वभाव वाले नरक के सम्वन्ध में आपको मैं अन्य वातें यथार्थरूप से कहूँगा कि दुष्कृत (पाप) कर्म करने वाले अज्ञानी जीव किस (जिस) प्रकार पूर्व (जन्म में) कृत स्वकर्मों का फल भोगते हैं।

३२८. परमाधार्मिक असुर नारकीय जीवों के हाथ और पैर वाँधकर तेज उस्तरे और तलवार के द्वारा उनका पेट फाड़ डालते हैं। तथा उस अज्ञानी जीव की (लाठी आदि के प्रहार से) क्षत विक्षत देह को पकड़कर उसकी पीठ की चमड़ी जोर से उधेड़ लेते हैं।

३२९. वे नरकपाल नारकीय जीव की भुजा को मूल से काट लेते हैं तथा उनका मुख फाड़कर उसमें लोहे के वड़े-वड़े तपे हुए गोले डालकर जलाते हैं। (फिर) एकान्त में उनके जन्मान्तरकृत कर्म का स्मरण कराते हैं, तथा अकारण ही कोप करके चावुक आदि से उनकी पीठ पर प्रहार करते हैं।

३३०. तपे हुए लोह के गोले समान, ज्योति-सहित जलती हुई तप्त भूमि की उपमायोग्य भूमि पर चलते हुए वे नारकी जीव जलते हुए करुण क्रन्दन करते हैं। लोहे का नोकदार आरा भोंककर (चलने के लिए) प्रेरित किये हुए तथा गाड़ी के तप्त जुए में जुते (जोते) हुए वे नारक (करुण विलाप करते हैं।)

३३१. अज्ञानी नारक जलते हुए लोहमय मार्ग के समान तपी हुई तथा (रक्त और मवाद के कारण) थोड़े पानी वाली (कीचड़ से भरी) भूमि पर परमाधार्मिकों द्वारा वलात् चलाये जाने से (बुरी तरह रोते-चिल्लाते हैं।) (नारकी जीव) जिस (कुम्भी या शाल्मलि आदि) दुर्गम स्थान पर (परमाधार्मिकों द्वारा) चलाये जाते हैं, (जव वे ठीक से नहीं चलते हैं, तव) (कुपित होकर) डंडे आदि मारकर वैल की तरह उन्हें आगे चलाते हैं।

३३२. तीव्र (गाढ़) वेदना से भरे नरक में पड़े हुए वे (नारकी जीव) सम्मुख गिरने वाली शिलाओं के (द्वारा) नीचे दवकर मर जाते हैं। सन्तापनी (संताप देने वाली) यानी कुम्भी (नामक नरक भूमि) चिरकालिक स्थिति वाली है, जहाँ दुष्कर्मी-पापकर्मी नारक (चिरकाल तक) संतप्त होता रहता है।

३३३. (नरकपाल) अविवेकी नारक को गेंद के समान आकार वाली (नरक-कुम्भी) में डालकर पकाते हैं, जलते (चने की तरह भूने जाते) हुए वे नारकी जीव वहाँ से फिर ऊपर उछल जाते हैं, जहां वे द्रोणकाक नामक (विक्रिया-जात) कौओं द्वारा खाये जाते हैं, (वहाँ से दूसरी ओर भागने पर) दूसरे (सिंह, व्याघ्र आदि) नरक वाले हिंस्र पशुओं द्वारा खाये जाते हैं।

३३४. (नरक में) ऊँची चिता के समान आकार वाला (समुच्छ्रित) धूम रहित अग्नि का एक स्थान है, जिस (स्थान) को (पाकर) शोक संतप्त नारकी जीव करुणस्वर में विलाप करते हैं। (नरकपाल) (नारक के) सिर को नीचा करके उसके शरीर को लोहे की तरह शस्त्रों से काटकर टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं।

३३५. उस नरक में अधोमुख करके ऊपर लटकाए हुए तथा शरीर की चमड़ी उधेड़ ली गई है, ऐसे नारकी जीवों को लोहे की तीखी चोंच वाले (काकगृध्र आदि) पक्षीगण खा जाते हैं। जहाँ यह पापात्मा नारकीय प्रजा मारी-पीटी जाती है, किन्तु संजीवनी (मरण-कष्ट पाकर भी आयु शेष रहने तक जलाए रखने वाली) नामक नरक भूमि होने से वह (नारकीय प्रजा) चिरस्थिति वाली होती है।

३३६. वशीभूत हुए श्वापद (जंगली जानवर) के समान प्राप्त हुए नारकी जीव को परमाधार्मिक तीखे शूलों से (वींधकर) मार गिराते हैं। शूल में बींधे हुए, भीतर और बाहर दोनों ओर से ग्लान—उदास, एवं एकान्त दुःखी नारकीय जीव करुण क्रन्दन करते हैं।

३३७. (वहाँ) सदैव जलता हुआ एक महान् प्राणिघातक स्थान है, जिसमें बिना काष्ठ (लकड़ी) की आग जलती रहती है। जिन्होंने पूर्वजन्म में बहुत क्रूर (पाप) कर्म किये हैं, वे कतिपय नारकीय जीव वहाँ चिरकाल तक निवास करते हैं और जोर-जोर से गला फाड़कर रोते रहते हैं।

३३८. परमाधार्मिक बड़ी भारी चिता रचकर उसमें करुण रुदन करते हुए नारकीय जीव को फेंक देते हैं। जैसे आग में पड़ा हुआ घी पिघल जाता है, वैसे ही उस (चिता की अग्नि) में पड़ा हुआ पापकर्म नारक भी द्रवीभूत हो जाता है।

३३९. फिर वहाँ सदैव सारा का सारा जलता रहने वाला एक गर्म स्थान है, जो नारक जीवों को निधत्त, निकाचित आदि रूप से बद्ध पाप कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होता है जिसका स्वभाव अतिदुःख देना है। उस दुःखपूर्ण नरक में नारक के हाथ और पैर बांधकर शत्रु की तरह नरकपाल डंडों से पीटते हैं।

३४०. अज्ञानी नारक जीव की पीठ लाठी आदि से मार-मार तोड़ देते हैं और उसका सिर भी लोहे के घन से चूर-चूर कर देते हैं। शरीर के अंग-अंग चूर कर दिए गये वे नारक तपे हुए आरे से काष्ठफलक (लकड़ी के तख्ते) की तरह चीरकर पतले कर दिये जाते हैं, फिर वे गर्म सीसा पीने आदि कार्यों में प्रवृत्त किये जाते हैं।

३४१. नरकपाल पापकर्मा नारकीय जीवों के पूर्वकृत जीव हिंसादि रौद्र पापकार्यों का स्मरण कराकर बाण मारकर प्रेरित करके हाथी के समान भार वहन कराते हैं। उनकी पीठ पर एक, दो या

तीन नारकियों को चढ़ाकर उन्हें चलने के लिए प्रेरित करते हैं। (बीच-बीच में) क्रुद्ध होकर तीखा नोकदार शस्त्र उनके मर्मस्थान में चुभोते हैं।

३४२. बालक के समान पराधीन बेचारे नारकी जीव नरकपालों द्वारा बलात् कीचड़ से भरी और काँटों से परिपूर्ण विस्तृत भूमि पर चलाये जाते हैं। पापकर्म से प्रेरित नरकपाल अनेक प्रकार के बन्धनों से बांधे हुए विषण्ण—(या विवर्ण—उदास) चित्त या संज्ञाहीन (मूर्च्छित) नारक जीवों को खण्डशः काट-काट कर नगरवलि के समान इधर-उधर फेंक देते हैं।

३४३. आकाश में बड़े भारी ताप से युक्त एक ही शिला से बनाया हुआ अतिविस्तृत वैतालिक—वैक्रिय पर्वत है। उस पर्वत पर रहने वाले अतिक्रूरकर्मा नारकी जीव हजारों मुहूर्तों से अधिक काल तक परमाधार्मिकों के द्वारा मारे जाते हैं।

३४४. निरन्तर पीड़ित किये जाते हुए दुष्कर्म किए हुए पापात्मा नारक दिन-रात परिताप (दुःख) भोगते हुए (संतप्त हो) रोते रहते हैं। उस एकान्त कूट (दुःखोत्पत्ति स्थान), विस्तृत और विषम (ऊबड़-खाबड़ या कठिन) नरक में पड़े हुए प्राणी गले में फाँसी डालकर मारे जाते समय केवल रोदन करते हैं।

३४५. मुद्गर और मूसल हाथ में लेकर नरकपाल पहले के शत्रु के समान रोष के साथ नारकीय जीवों के अंगों को तोड़-फोड़ देते हैं। जिनकी देह टूट गई है, ऐसे नारकीय जीव रक्त वमन करते हुए अधोमुख होकर जमीन पर गिर पड़ते हैं।

३४६. उस नरक में सदा क्रोधित और क्षुधातुर बड़े ढीठ विशालकाय सियार रहते हैं। वे वहाँ रहने वाले जन्मान्तर में बहुत पाप (क्रूर) कर्म किये हुए तथा जंजीरों में बंधे हुए निकट में स्थित नारकों को खा जाते हैं।

३४७. (नरक में) सदाजला नाम की अत्यन्त दुर्गम (गहन या विषम) नदी है, जिसका जल क्षार, मवाद और रक्त से मलिन रहता है, अथवा वह भारी कीचड़ से भरी है, तथा वह आग पिघले हुए तरल लोह के समान अत्यन्त उष्ण जल वाली है उस अत्यन्त दुर्गम नदी में पहुँचे हुए नारक जीव (बेचारे) अकेले-असहाय और अरक्षित (होकर) तैरते हैं।

विवेचन—नरक में मिलने वाली तीव्र वेदनाएँ और नारकों के मन पर प्रतिक्रिया—प्रस्तुत २१ सूत्रगाथाओं (सू० गा० ३२७ से ३४७ तक) में नारकों को नरक में दी जाने वाली एक से एक बढ़कर यातनाओं का वर्णन है, साथ ही नारकों के मन पर होने वाली प्रतिक्रियाओं का भी निरूपण किया गया है। यद्यपि नारकीय जीवों को मिलने वाली ये सब यंत्रणाएँ मुख्यतया शारीरिक होती हैं, किन्तु नारकों के मन पर इन यन्त्रणाओं का गहरा प्रभाव पड़ता है, जो आँखों से आँसुओं के रूप में और वाणी से रुदन विलाप और रक्षा के लिए पुकार के रूप में प्रकट होता है। नारकों को ये सब यातनाएँ और भयंकर वेदनाएँ उनके पूर्वजन्म में किए हुए पापकर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होती हैं, इसलिए नरकों को यातना स्थान कहना योग्य ही है। वास्तव में पूर्वजन्मकृत पापकर्मों के फलभोग के ही ये स्थान हैं। इसीलिए शास्त्रकार ने नरक को **सासयदुक्खधम्मं**—'सतत दुःख देने के स्वभाव वाला' कहा है।[1]

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति भाषानुवाद सहित भा० २ पृ० १३ का सारांश

परमाधार्मिकों द्वारा दी जाने वाली यातनाएँ—नारकों को नरकपालों द्वारा दी जाने वाली यंत्रणाएँ मुख्यतया इस प्रकार हैं—(१) हाथ-पैर बांधकर तेज धार वाले उस्तरे व तलवार से पेट काटते हैं, (२) घायल शरीर को पकड़ कर उसकी पीठ की चमड़ी उधेड़ते हैं, (३) भुजाएँ जड़ से काटते हैं, (४) मुँह फाड़कर उसमें तपा हुआ लोह गोलक डालकर जला डालते हैं, (५) पूर्वजन्म कृत पापकर्मों का एकान्त में स्मरण कराकर गुस्से में आकर उनकी पीठ पर चाबुक फटकारते हैं, (६) लोहे के गोले के समान तपी हुई भूमि पर चलाते हैं, (७) गाड़ी के तपे हुए जुए में जोतकर तथा आरा भोंककर चलाते हैं, (८) जलते हुए लोहपथ के समान तप्त एवं रक्त-मवाद के कारण कीचड़ वाली भूमि पर जबरन चलाते हैं, जहाँ रुका कि नरकपाल डंडे आदि से मारकर आगे चलाते हैं, (९) सम्मुख गिरती हुई शिलाओं के नीचे दबकर मर जाते हैं, (१०) संतापनी नामक नरक-कुम्भी में रखकर चिरकाल तक संताप भोगते हैं, (११) गेंद के आकार वाली कन्दुकुम्भी में डालकर नारक को पकाते हैं। (१२) वहाँ से ऊपर उछलते ही द्रोणकाक उन्हें नोचकर खा जाते हैं, शेष बचे हुए नारकों को सिंह-व्याघ्र आदि जंगली जानवर खा जाते हैं। (१३) चिता के समान ऊँची अग्नि में अत्यन्त पीड़ा पाते हैं, जहाँ क्रूर नरकपाल उनका सिर नीचा करके उनके शरीर को लोह की तरह शस्त्र से काट कर टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं, (१४) शरीर की चमड़ी उधेड़ कर औंधे लटकाए हुए नारकों को लोहे की तीखी चोंच वाले पक्षी नोच-नोचकर खाते हैं, (१५) हिंस्र पशु की तरह नारकीय जीव के मिलते ही वे तीखे शूलों से बांधकर उन्हें मार गिराते हैं, (१६) सदैव बिना लकड़ी के जलता हुआ एक प्राणिघातक स्थान है, जहाँ नारक चिरकाल तक रहकर पीड़ा पाते हैं।। (१७) बहुत बड़ी चिता रच कर करुण विलाप करते हुए नारक को उसमें भौंक देते हैं। (१८) सदैव पूरे के पूरे गर्म रहने वाले अतिदुःखमय नरक स्थान में हाथ-पैर बांधकर शत्रु की तरह मारते-पीटते हैं। (१९) लाठी आदि से मार-मारकर पीठ तोड़ देते हैं, लोहे के भारी घन से सिर फोड़ देते हैं, उनके शरीर चूर-चूर कर देते हैं, फिर लकड़ी के तख्ते को चीरने की तरह गर्म आरों से चीर देते हैं, तब खौलता हुआ सीसा आदि पीने को बाध्य करते हैं, (२०) नारक के पूर्वकृत रौद्र पापकर्मों का स्मरण करा कर उससे हाथी की तरह भारवहन कराया जाता है, एक दो या तीन नारकों को उसकी पीठ पर चढाकर चलाया जाता है, न चलने पर उसके मर्मस्थान में तीखा नोकदार आरा आदि चुभोया जाता है। (२१) परवश नारकों को कीचड़ से भरी एवं कंटीली विस्तीर्ण भूमि पर बलात् चलाया जाता है, (२२) विविध बंधनों से बांधे हुए संज्ञाहीन नारकों के टुकड़े-टुकड़े करके उन्हें नगरबलि की तरह इधर-उधर फेंक देते हैं। (२३) वैतालिक (वैक्रियक) नामक एक-शिलानिर्मित आकाशस्थ महाकाय पर्वत बड़ा गर्म रहता है, वहाँ नारकों को चिरकाल तक मारा-पीटा जाता है। (२४) उनके गले में फांसी का फंदा डालकर दम घोटा जाता है, (२५) मुद्गरों और मूसलों से रोषपूर्वक पूर्वशत्रुवत् नारकों के अंग-भंग करते हैं, शरीर टूट जाने पर वे औंधे मुँह रक्तवमन करते हुए गिर जाते हैं। (२६) नरक में सदा खूंख्वार, भूखे, ढीठ तथा महाकाय गीदड़ रहते हैं, जो जंजीरों से बंधे हुए निकटस्थ नारकों को खाते रहते हैं। (२७) सदाजला नामक विषम या गहन दुर्गम नदी है, जिसका पानी रक्त, मवाद, एवं खार के कारण मैला व पंकिल है, उसके पिघले हुए तरल लोह के समान अत्यन्त उष्ण जल में नारक अकेले अरक्षित होकर तैरते हैं।

इन और प्रथम उद्देशक में कथित, यातनाओं के अतिरिक्त अन्य सेंकड़ों प्रकार की यातनाएँ

नरकगत जीव पाते हैं और उन्हें रो-रोकर सहन करते हैं, क्योंकि उन्हें सहे बिना और कोई चारा नहीं है।[2]

निष्कर्ष यह है कि दिन-रात नाना दुःखों और चिन्ताओं से सन्तप्त पापकर्मा नारकों के पास उन दुःखों से बचने का कोई उपाय नहीं होता, अज्ञान के कारण न वे समभाव पूर्वक उन दुःखों को सहन कर सकते हैं, और न ही उन दुःख का अन्त करने के लिए वे आत्महत्या करके मर सकते हैं, क्योंकि नारकीय जीवों का आयुष्य निरूपक्रमी होता है, उनकी अकाल मृत्यु नहीं होती। वे पूरा आयुष्य भोग कर ही मरते हैं, बीच में नहीं। यही कारण है कि वे इतने-इतने भयंकर दारुण दुःखों और यातनाओं के समय, या यों कहें कि इतनी-इतनी वार मारे, काटे, पीटे और अंग-भंग किये जाने पर मरना चाहते हुए भी नहीं मर सकते। सिवाय रोने-धोने, करुण-क्रन्दन, विलाप, चीत्कार या पुकार करने के उनके पास कोई चारा नहीं। परन्तु उनकी करुण पुकार, प्रार्थना, विलाप या रोदन सुनकर कोई भी उनकी सहायता या रक्षा करने नहीं आता, न ही कोई सहानुभूति के दो शब्द कहता है, किसी को उनकी दयनीय दशा देखकर दया नहीं आती, प्रत्युत परमाधार्मिक असुर उन्हें रोने पीटने पर और अधिक क्रूर बनकर अधिकाधिक यातनाएँ देते हैं। उनके पूर्व जन्मकृत पापकर्मो की याद दिलाकर उन्हें लगातार एक पर एक यातनाएँ देते रहते हैं, जो उन्हें विवश होकर भोगनी पड़ती हैं।[3]

एक प्रश्न उठता है कि नरक में नारकी जीव का शरीर चूर-चूर कर दिया जाता है, उनकी चमड़ी उधेड़ दी जाती है, मृत शरीर की तरह उन्हें औंधे मुंह लटका दिया जाता है, वे अत्यन्त पीसे, काटे, और छीले जाते हैं, फिर भी मरते क्यों नहीं? इसका समाधान सू० गा० ३३५ के उत्तरार्द्ध द्वारा करते हैं—**'संजीवणी नाम चिरट्ठितिया।'** अर्थात्—नरक की भूमि का नाम संजीवनी भी है। वह संजीवनी औषधि के समान जीवन देने वाली है, जिसका रहस्य यह है कि मृत्यु-सा दुःख पाने पर भी आयुष्यबल शेष होने के कारण वहाँ नारक चूर-चूर कर दिये जाने या पानी की तरह शरीर को पिघाल दिये जाने पर भी मरते नहीं, अपितु पारे के समान बिखर कर पुनः मिल जाते हैं।[4] नारकी की उत्कृष्ट आयु ३३ सागरोपम काल की है। इसीलिए शास्त्रकार नरकभूमि को **'चिरस्थितिका'** (अत्यन्त दीर्घकालिक स्थिति वाली) कहते हैं।

इसलिए नारकी जीव के मन पर उन भयंकर दुःखों की तीव्र प्रतिक्रिया होने पर भी वे कुछ कर नहीं सकते, विवश होकर मन मसोसकर पीड़ाएँ भोगते जाते हैं।

पाठान्तर और व्याख्या—उदरं विकत्तंति खुरासिएहिं—वृत्तिकार के अनुसार—उस्तरा, तलवार आदि के अनेक प्रकार के तीखे शस्त्रों से उनका पेट फाड़ देते हैं। चूर्णिकार के अनुसार— **'असिता**

---

[2] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १३५ से १३९ तक का संक्षिप्त सार

[3] (क) सूत्रकृतांग मूलपाठ टिप्पण (जम्बूविजयजी) पृ. ५८ से ६२ तक
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १३७ का सारांश
(घ) 'औपपातिक चरमदेहोत्तमपुरुषाऽसंख्येय वर्षाऽऽयुषोऽनपवर्त्यायुषः'—तत्वार्थ सूत्र अ० २ सू० ५३

[4] (क) 'संजीवणा-संजीवन्तीति संजीविनः सर्वे एव नरकाः संजीवणा। —सूत्रकृ० चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ५९
(ख) 'संजीवनी-जीवनदात्री नरकभूमिः'—सूत्रकृ० शीलांकवृत्ति पत्रांक १३७

णिसिता तिण्हा अथवा ण सिता मुण्डा इत्यर्थः'—असित यानि तेज, तीक्ष्ण अथवा मुंड—नंगे, यानी बंद नहीं, खुले; शस्त्रों से उनका पेट फाड़ देते हैं। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर भी है—**'उदराइं फोडेंति खुरेहिं तेसिं'**—छुरी से उनके उदर फोड़ (फाड़) देते हैं। **विहन्नदेहं**—वृत्तिकार के अनुसार—**विविधं हतं पीडितं देहम्**—विविध रूप से हत-पीड़ित—क्षतविक्षत देह को। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**विहण्ण देहं**—अर्थ किया गया है—**विहण्णेति विहणित्ता देह**—देह को विशेष रूप से क्षतविक्षत (घायल) करके। **वद्धं**—"वध्रं चर्मशकलम्"—वर्ध कहते हैं चमड़ी के टुकड़े को। **थूलं**—बड़े भारी लोह के गोले आदि को। **जुत्तं सरयंति**—युक्तियुक्त—नारकों के अपने-अपने दण्ड रूप दुःख के अनुरूप (उपयुक्त) पूर्वकृत पाप का स्मरण कराते हैं। जैसे कि—गर्म किया हुआ सीसा पिलाते समय वे याद दिलाते हैं कि 'तू खूब मद्य पीता था न ?' **'आरुस्स विज्झंति'**—वृत्तिकार के अनुसार—अकारण ही भयंकर कोप करके······पीठ में चाबुक आदि के द्वारा ताड़ना करते हैं। चूर्णिकार समस्त पाठान्तर है—**आरुब्भ विधंति**—अर्थात् उसकी पीठ पर चढ़कर आरा आदि नोंकदार शस्त्र बींध (भोंक) देते हैं। **'पविज्जलं'** वृत्तिकार के अनुसार—**'रुधिरपूयादिना पिच्छिलां'**—रक्त और मवाद आदि होने के कारण पिच्छिल-कीचड़ वाली भूमि पर। चूर्णिकार के अनुसार—**विविधेण प्रज्वलं नाम पिच्छिलेण पूयसोणिएण अणुलित्ततला, विगतं ज्वलं विज्जलं, विज्जलां।** अर्थात्— विविध प्रकार से प्रज्वल यानी पिच्छिल, मवाद और रक्त से जिसका तल अनुलिप्त हो, ऐसी अथवा जलरहित होने से वि-जल। जल के नाम पर उसमें मवाद और खून होते हैं, इसलिए पंकिल भूमि।

वृत्तिकारसम्मत—**'निपातिणीहिं'** के वदले **'अभिपातिभीहिं'** पाठ अधिक संगत प्रतीत होता है, अर्थ होता है—सम्मुख गिरने वाली शिलाओं से। **'निपातिणीहिं'** का अर्थ भी वही किया गया है। **'ततो विडड्ढा पुणरुप्पतंति'**—वृत्तिकार के अनुसार—उस पाकस्थान से जलते हुए वे इस तरह ऊपर उछलते हैं, जिस तरह भाड़ में भूंजे जाते हुए चने उछलते हैं। चूर्णिकार के अनुसार पाठान्तर और अर्थ इस प्रकार है—वे अज्ञानी नारक भय से भुजियों (पकौड़ों) की तरह जलते (पकते) हुए कूद जाते हैं। **जं सोगतत्ता**—वृत्तिकार—जिस पर पहुँचकर वे शोकसंतप्त नारक। चूर्णिकारसम्मत दो पाठान्तर हैं—**'जंसि विउवक्कंता'** और **'जंसो वियंता'**—प्रथम का अर्थ है—जिस पर विविध प्रकार से ऊपर चलते हुए वे नारक, द्वितीय का अर्थ है—**'यत्र उवियंता—छुभमाना इत्यर्थः** जहाँ क्षुब्ध होते हुए या छूते हुए नारक। **'सो अरियं व लद्धं'**—सूअर आदि को पाकर जैसे मारते हैं, वैसे ही नारकी जीव को पाकर। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर हैं······"(१) सोवरिया व······और (२) सावरिया व" प्रथम पाठान्तर का अर्थ है—(१) **शौवरिका इव वशोपगं महिषं वधयंति**—जैसे कसाई वशीभूत भैंसे का वध कर डालते हैं, द्वितीय पाठान्तर का अर्थ है—**'शाबरिया—शाबराः—म्लेच्छजातयः, ते यथा विधंति······तथा।** शवर (म्लेच्छजातीय) लोग जैसे वन्य पशु को पाते ही तीर आदि से बींध डालते हैं, वृत्तिकार-सम्मत पाठान्तर है—**सावयंयं व लद्धं**—वश में हुए श्वापद—वन्य कालपृष्ठ सूअर आदि को स्वतन्त्र रूप से पाकर सताते हैं, तद्वत्······। **निहं**—प्राणिघातस्थान। **'चिट्ठंती तत्था बहुकूरकम्मा'**—अति-क्रूर कर्मा पापी नारक वहाँ स्वकृत-पापफल भोगने के लिए रहते हैं। वृत्तिकारसम्मत पाठान्तर है—**चिट्ठंती बद्धा बहुकूरकम्मा**—अति क्रूर कर्मा······ बंधे हुए रहते हैं।

फलगावतट्ठा—काष्ठ फलक (पाटिये) की तरह दोनों ओर से करवत आदि से छीले हुए या कृश (पतले) किये हुए। आचारांग सूत्र में **फलगावतट्ठी** पाठ कई जगह आता है,[५] परन्तु वहाँ

---

[५] 'फलगावतट्ठी'—आचा० प्र० श्रु० विवेचन सू० १९८, २२४, २२८-पृ० २३१, २७८, २८७ में देखें।

निष्कम्प दशा सुस्थिरता आदि सन्दर्भ में होने से उपर्युक्त अर्थ ही ठीक है। **अभिजु जिया रुद्द असाहुकम्मा**—वृत्तिकार के अनुसार इसके दो अर्थ हैं—(१) रौद्रकर्मणि अभियुज्ज—व्यापार्य, यदि वा रौद्र सत्त्वोपघातकार्यं, अभियुज्य—स्मारयित्वा। अर्थात् जिन्होंने पूर्वजन्म में दुष्कर्म किये हैं, उन्हें रौद्र-हिंसादि भयंकर कार्य में प्रेरित करके या नियुक्त करके अथवा रौद्र—(पूर्वजन्मकृत) प्राणिघात वगैरह कर्म का स्मरण कराकर। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**रोद्ध असाधु कम्मा (म्मी)**—अर्थ किये हैं—**'रौद्रादीनि कर्माणि असाधूनि येषां ते'**—अर्थात् जिन्होंने पूर्वजन्म में रौद्र-भयंकर खराब कर्म (पाप) किये हैं उन्हें। **हत्थिवहं वहंति**—वृत्तिकार के अनुसार जैसे हाथी पर चढ़कर उससे भार-वहन कराते हैं, वैसे ही नारकों से भी सवारी ढोने का काम लेते हैं। अथवा जैसे हाथी भारी भार वहन कराता है, वैसे ही नारक से भी भारी भारवहन कराते हैं। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**हत्थितुल्लं वहंति** नारक हाथी की तरह भार ढोते हैं, अथवा नारकों को हस्तिरूप (वैक्रिय शक्ति से) बनाकर उनसे भारवहन कराते हैं। **'आरुस्स विज्झंति ककाणओ से'**—अत्यन्त कोप करके उनके मर्मस्थान को नोकदार शस्त्र से वींध देते हैं। या चावुक आदि के प्रहार से उन्हें सताते हैं। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**'आरुब्भ विधंति किकाणतो से'**—अर्थ किया गया है—नारक पर चढ़कर, क्यों नहीं ढोता? यों रोषपूर्वक कहकर उसकी कृकाटिका—गर्दन नोकदार शस्त्र से बींध देते हैं। **कोट्ट बलिं करेंति**—वृत्तिकार के अनुसार—कूटकर टुकड़े-टुकड़े करके वलि कर देते हैं, या नगरबलि की तरह इधर-उधर फेंक देते हैं। अथवा कोट्टवलि यानी नगरवलि कर देते हैं। लगभग यही अर्थ चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर **'कुट्ट (कोट्ट) बलि करेंति'** के अनुसार है। **परं सहस्साण मुहुत्तगाणं**—सहस्रसंख्यक मुहूर्त्त से पर—प्रकृष्ट (अधिक) काल तक। चूर्णिकार—परं सहस्राणामिति परं सहस्र भ्योऽनेकानि सहस्राणीत्यर्थः। अर्थात्—हजारों पर से यानी अनेक सहस्र मुहूर्त्तों तक—लम्बे समय तक। **सयायकोवा**—वृत्तिकार के अनुसार—सदावकोपाः—नित्यकुपित। चूर्णिकार के अनुसार–भक्षण करके सदा अतृप्त रहते हैं, अथव सदा अकोप्य-अनिवार्य या अप्रतिषेध्य अर्थात् सदैव निवारण नहीं किये जा सकते।[६]

नरक में सतत दुःख प्राप्त और उससे बचने के उपाय

३४८. एयाइं फासाइं फुसंति बालं, निरंतरं तत्थ चिरट्ठितीयं।
ण हम्ममाणस्स तु होति ताणं, एगो सयं पच्चणुहोति दुक्खं ॥२२॥

३४९. जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तहेव आगच्छति संपराए।
एगंतदुक्खं भवमज्जिणित्ता, वेदेंति दुक्खी तमणंतदुक्खं ॥२३॥

३५०. एताणि सोच्चा णरगाणि धीरे, न हिंसते कंचण सव्वलोए।
एगंतदिट्ठी अपरिग्गहे उ, बुज्झिज्ज लोगस्स वसं न गच्छे ॥२४॥

---

[६] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १३५ से १३९ तक के अनुसार
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ५८ से ६२ तक

३५१. एवं तिरिक्खे मणुयामरेसुं, चतुरंतऽणंतं तदणुव्विवागं।
स सव्वमेयं इति वेदयित्ता, कंखेज्ज कालं धुवमाचरंतो ॥२५॥ त्ति बेमि।

॥ णिरयविभत्ती पंचमं अज्झयणं सम्मत्तं ॥

३४८. वहाँ (नरक में) चिरकाल तक की स्थिति (आयुष्य) वाले अज्ञानी नारक को ये (पूर्वगाथाओं में कहे गए) स्पर्श (दुःख) निरन्तर पीड़ित (स्पर्श) करते रहते है। पूर्वोक्त दुःखों से आहत होते (मारे जाते) हुए नारकी जीव का (वहाँ) कोई भी रक्षक (त्राण) नहीं होता। वह स्वयं अकेला ही उन दुःखों को भोगता है।

३४९. (जिस जीव ने) जो व जैसा कर्म पूर्वजन्म (पूर्व) में किया है, वही संसार—दूसरे भव में आता है। जिन्होंने एकान्तदुःख रूप नरकभव का कर्म उपार्जन किया (बांधा) है, वे (एकान्त) दुःखी जीव अनन्तदुःख रूप उस नरक (रूप फल) को भोगते हैं।

३५०. बुद्धिशील धीर व्यक्ति इन नरकों (के वर्णन) को सुनकर समस्त लोक में किसी (भी प्राणी) की हिंसा न करे, किन्तु) एकान्त (एकमात्र) (जीवादि तत्त्वों, आत्मतत्त्व या सिद्धान्त पर) दृष्टि (विश्वास रखता हुआ), परिग्रहरहित होकर लोक (अशुभ कर्म करने और उसका फल भोगने वाले जीवलोक) को समझे (अथवा कषायलोक का स्वरूप जाने) किन्तु कदापि उनके वश में (अधीन) न हो, अर्थात् उनके प्रवाह में न वहे।

३५१. (पापकर्मी पुरुष की पूर्वगाथाओं में जैसी गति बताई है) इसी तरह तिर्यञ्चों, मनुष्यों और देवों में भी जाननी चाहिए। चार गति रूप अनन्त संसार है, उन चारों गतियों में कृतकर्मों के अनुरूप विपाक (कर्मफल) होता है, इस प्रकार जानकर बुद्धिमान पुरुष मरणकाल की प्रतीक्षा या समीक्षा करता हुआ ध्रुव (मोक्षमार्ग, संयम या धर्मपथ) का सम्यक् आचरण करे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—नरक में प्राप्त होने वाले दुःख तथा उनसे बचने के लिए उपाय—प्रस्तुत चार गाथाओं में से प्रस्तुत उद्देशक तथा अध्ययन का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार ने प्रारम्भ की दो सूत्र-गाथाओं (३४८, ३४९) में नारकीय जीव को कैसे-कैसे, कितने-कितने दुःख कब तक और मिलते हैं? उन दुःखों से उस समय कोई छुटकारा हो सकता है या नहीं? उन दुःखों में कोई हिस्सेदार हो सकता है या नहीं? उन दुःखों से कोई भगवान् देवी या देव शक्ति उसे बचा सकती है या नहीं?, इन रहस्यों का उद्घाटन इस प्रकार किया है—

नरक में पूर्वोक्त तीनों प्रकार के दुःख प्राप्त होते हैं—इस अध्ययन के प्रथम और द्वितीय उद्देशक में पूर्वगाथाओं में उक्त सभी प्रकार के दुःख नारकों को नरक में मिलते हैं, उन दुःखों में से कई दुःख परमाधार्मिककृत होते हैं, कई क्षेत्रजन्य होते हैं और कई दुःख नारकों द्वारा परस्पर-उदीरित होते हैं। इन दुःखों में लेशमात्र भी कमी नहीं होती।

अपनी-अपनी भवस्थिति तक सतत दुःखों का तांता—समस्त संसारी जीवों में नारकों की स्थिति (सर्वार्थ सिद्ध विमान को छोड़कर) सर्वाधिक लम्बी होती है। शास्त्रानुसार सातों नरकों की उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः १, ३, ७, १०, १७, २२ और ३३ सागरोपम काल की है। इसलिए जिस

नारक की जितनी उत्कृष्ट स्थिति का आयुष्यबन्ध है, उतनी स्थिति तक उसे दुःखागाररूप नरक में रहना पड़ता है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। अतः नारकों को दुःख भी उत्कृष्ट प्राप्त होते हैं, और वे दुःख भी निरन्तर प्राप्त होते रहते हैं। कोई भी पल ऐसा नहीं रहता, जिसमें उन्हें दुःख न मिलता हो। इसीलिए शास्त्रकार सू० गा० ३४८ के पूर्वार्द्ध में कहते हैं—**'एआइं फासाइं'....'निरंतरं तत्थ चिरट्ठितीयं।'**

जिस समय नारकों पर दुःख पर दुःख वरसते रहते हैं, उस समय उनका कोई त्राता, शरण-दाता रक्षक या सहायक नहीं होता, कोई भी प्राणी, यहाँ तक कि उन नारकों के निकटवर्ती परमाधार्मिक असुर भी उन्हें शरण, सहायता देना या बचाना तो दूर रहा, जरा-सी सान्त्वना भी नहीं देते प्रत्युत वे उसकी पुकार पर और रुष्ट होकर उस पर वरस पड़ते हैं। उस दुःखपीड़ित दयनीय अवस्था में कोई भी उनके आंसू पोंछने वाला नहीं होता।

एक वात और है—प्रायः नारकों की तामसी बुद्धि पर अज्ञान, मोह एवं मिथ्यात्व का आवरण इतना जवर्दस्त रहता है कि उन्हें उक्त दारुण दुःख को समभाव से सहने या भोगने का विचार ही नहीं आता, किन्तु कोई क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव वहाँ हो, तो वह उन दुःखों को समभाव से सह या भोग सकता है, इस कारण ऐसे नारकों को दुःख का वेदन कम होता है, परन्तु दुःख तो उतना का उतना मिलता है या दिया जाता है, जितना उसके पूर्वकृत पापकर्मानुसार वंधा हुआ (निश्चित) है। निष्कर्ष यह कि प्रत्येक नारक के निकाचित रूप से पाप कर्म वंधा होने से वीच में दुःख को घटाने या मिटाने का कोई उपाय संवर-निर्जरा या समभाव के माध्यम से कामयाव नहीं होता। उतना (निर्धारित) दुःख भोगे बिना कोई छुटकारा नहीं। यह आशय भी इस पंक्ति से ध्वनित होता है।

दुःख भोगने में कोई सहायक या हिस्सेदार नहीं—जिन नारकों ने पूर्वजन्म में अपने परिवार या प्रियजनों के लिए अतिभयंकर दुष्कर्म किये, अब नरक में उनका दुष्कर्मों का फल भोगते समय उन नारकों का कोई हिस्सेदार नहीं रहता जो उनके दुःख को बांट ले, न ही कोई सहायक होता है, जो उनके बदले स्वयं उन दुःख को भोग ले बल्कि स्वयं अकेला वह उन दारुण दुःखों को विवश होकर भोगते समय पूर्वजन्मकृत दुष्कर्मों का स्मरण करके इस प्रकार पश्चात्ताप करता है—

'मया परिजनस्यार्थं कृतं कर्म सुदारुणम्।
एकाकी तेन दह्योऽहं, गतास्ते फलभोगिनः।'

—"हाय! मैंने अपने परिवार के लिए अत्यन्त भयंकर दुष्कर्म किये, किन्तु फल भोगते समय मैं अकेला यहाँ दुःख से संतप्त हो रहा हूँ इस समय सुखरूप फल भोगने वाले वे सब पारिवारिक जन मुझे अकेला छोड़कर चले गए।" इसी रहस्य का उद्घाटन शास्त्रकार करते हैं—**'एगो सयं पच्चणुहोति दुक्खं।'** अर्थात्—जीव सदैव स्वयं अकेला ही दुःख का अनुभव करता (भोगता) है।[१७]

नरक में एकान्तदुःखरूप फल चिरकाल तक क्यों?—प्रश्न होता है—क्या किसी ईश्वर देव-देवी या शक्ति द्वारा नारकों को एकान्तदुःखरूप नरक मिलता है या और कोई कारण है? जैनदर्शन के कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से शास्त्रकार इसका समाधान करते हैं—**'जं जारिसं पुव्व......आगच्छति संपराए'**—आशय यह है कि जिस प्राणी ने पूर्वजन्म में जैसे तीव्र, मन्द, मध्यम अनुभाग (रस) वाले

---

[१७] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १४०-१४१ का सार

तथा जघन्य मध्यम उत्कृष्टस्थिति वाले कर्म किये हैं, उसे अपने अगले भव या जन्म में उसी तरह का फल मिलता है। अर्थात्—तीव्र, मन्द या मध्यम जैसे अध्यवसायों (परिणामों) से जो कर्म बांधे गए हैं, तदनुसार उनकी स्थिति बंधकर तीव्र, मन्द या मध्यम विपाक (फल) उत्पन्न करते हुए वे उदय में आते हैं। इस प्रकार यह कर्म सिद्धान्त इतना अकाट्य है कि इसमें किसी भी ईश्वर, देवी या देव शक्ति के हस्तक्षेप की, या किसी के पक्षपात की, अथवा किसी को कुछ कहने की गुंजाइश ही नहीं रहती।

नरक दुःखों से बचने के लिए उपाय—पिछली दो सूत्रगाथाओं (३५०-३५१) में नरक गति तथा अन्य गतियों में मिलने वाले भयंकर दुःखों से बचने के लिए क्या करे और क्या न करे, इसका स्पष्ट मार्गदर्शन शास्त्रकार ने दिया है। इन दोनों सूत्रगाथाओं द्वारा नौ प्रेरणासूत्र फलित होते हैं—(१) पूर्वगाथाओं में उक्त नरक दुःखों का वर्णन सुनकर धीर पुरुष नरक गमन के कारणों से बचने का उपाय सोचे, (२) समग्र लोक में किसी भी जीव की हिंसा न करे, (३) परिग्रह रहित हो, ('उ' शब्द से परिग्रह के अतिरिक्त मृषावाद, अदत्तादान एवं मैथुनसेवन से विरत होने की प्रेरणा भी परिलक्षित होती है), (४) एकमात्र आत्मतत्त्व या जीवादि तत्त्वों पर दृष्टि या श्रद्धा रखे, (५) अशुभ कर्म करने तथा उसका फल भोगने वाले जीवलोक को स्वरूपतः जाने, (६) किन्तु उस लोक के अधीन न हो, प्रवाहवश न बने। (७) चातुर्गतिरूप अनन्त संसार और चारों गतियों में कृतकर्मों के अनुरूप फल आदि का वस्तुस्वरूप जाने, (८) मोक्ष दृष्टि रखकर संयम या धर्म का आचरण करे, (९) मरण (पण्डितमरण) के काल (अवसर) की आकांक्षा (मनोरथ) करे।[६]

ईश्वरादि कोई भी शक्ति घोर पापी को नरक से बचा नहीं सकती—इस लोक में घोर पापकर्म करने वाले कुछ व्यक्ति यह सोचते हैं कि हम चाहे जितना पापकर्म कर लें, खुदा गॉड, ईश्वर या पैगम्बर या किसी शक्ति आदि से अन्तिम समय में प्रार्थना, मिन्नत, प्रशंसा, स्तुति, निवेदन, पाप-स्वीकृति (confess) या खुशामद आदि करने मात्र से हमारे सब पाप माफ हो जाएँगे, और हमें पाप से मुक्ति मिल जाने से नरक (दोजख) में नहीं जाना पड़ेगा। इस प्रकार पापकर्मों को करते हुए भी तथा उनका त्याग या आलोचना-प्रायश्चित्तादि से उनकी शुद्धि किये बिना ही हम पूर्वोक्त उपाय से नरक-गमन से या नरकादि के दुःखों से बच जाएंगे। परन्तु यह निरी भ्रान्ति है, इसी भ्रान्ति का निराकरण करने हेतु शास्त्रकार सू० गा० ३५० द्वारा स्पष्ट कहते हैं—**'एताणि सोच्चा णरगाणि.... वसं न गच्छे।'** अगर नरकगति के कारणभूत दुष्कर्मों या हिंसादि पापकर्मों का त्याग नहीं किया जाएगा तो कोई भी शक्ति घोरपापी को नरक-गमन से या नरकदुःखों से नहीं बचा सकेगी।[७]

तिर्यञ्चादि गतियों में भी नारकीयदुःखमय वातावरण—कई लोग यह सोचते हैं कि इतने घोर दुःख तो नरकगति में ही मिलते हैं, दूसरी गतियों में नहीं। यह भी एक भ्रान्ति है, जो कई धर्म-सम्प्रदायों में चलती है। पूर्वकृत अशुभ कर्म जब उदय में आते हैं तो नरक के अतिरिक्त तिर्यंचादि गतियों में भी तीव्र-दुःख मिलते हैं। तिर्यंचगति में परवश होकर भयंकर दुःख उठाना पड़ता है, मनुष्यगति में इष्ट-वियोग, अनिष्टसंयोग, रोग, शोक, पीड़ा, मनोवेदना, अपमान, निर्धनता, क्लेश,

---

[६] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १४० के आधार पर

[७] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १४०-१४१ का सारांश

राजदण्ड, चिन्ता आदि नाना दुःखों से वास्ता पड़ता है और देवगति में भी ईर्ष्या, कलह, ममत्वजनित दुःख, वियोगदुःख, नीचजातीय देवों में उत्पत्ति आदि अनेकों दुःख हैं। मतलब यह है कि नरकगति की तरह तिर्यञ्च, मनुष्य या देवगति में भी दुःखमय वातावरण प्रत्यक्ष देखा जाता है। इसी आशय से शास्त्रकार कहते हैं—**"एवं तिरिक्खे मणुयामरेसु… इति वेदयित्ता…।"** इसका आशय यह है कि चारों गतियों में भावनरक की प्राप्ति या नारकीय दुःखमय वातावरण सम्भव है, इसलिए चतुर्गति-पर्यन्त अनन्त संसार को दुःखमय समझो। इन चारों गतियों के कारणों[८] तथा चारों गतियों में कृत-कर्मों के अनुरूप विपाक (कर्मफल) को समझे। तथा मृत्युपर्यन्त इस प्रकार की संसार दृष्टि के चक्कर में न आकर एकमात्र ध्रुव यानी मोक्ष दृष्टि रखकर संयमाचरण करे तथा पण्डितमरण के अवसर की प्रतीक्षा करे।

पाठान्तर और व्याख्या—धुवमाचरंतो—ध्रुव अर्थात् मोक्ष या संयम; उसका अनुष्ठान करता हुआ। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**धुतमाचरंति**—"धूयतेऽनेन कर्म इति धुतं चारित्र-मित्युक्तम्। आचार इति क्रियायोगे, आचरन्, आचरंतो वा चरणमिति।" अर्थात्—जिससे कर्म धुना—नष्ट किया जाय, उसे धुनचारित्र कहते हैं। उसका आचरण करता हुआ अर्थात् क्रियान्वित करता हुआ।[९] **कंखेज्ज कालं**—काल की आकांक्षा करे। इसका रहस्य आचारांग सूत्र की वृत्ति के अनुसार है—पण्डितमरण के काल (अवसर) की प्रतीक्षा करे।[१०]

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

॥ निरय (नरक) विभक्ति : पंचम अध्ययन सम्पूर्ण ॥

---

[८] (क) "चउहिं ठाणेहिं जीवा तिरिक्खजोणिय (आउय) त्ताए कम्मं पागरेंति, तंजहा—
१. माइल्लताए, २. नियडिल्लताए, ३. अलियवयणेणं, ४. कुडतुल्ल-कूडमाणेणं।"
(ख) "चउहिं ठाणेहिं जीवा मणुस्साउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तंजहा—
१. पगति भद्दत्ताए, २. पगति विणीययाए, ३. साणुक्कोसयाए, ४. अमच्छरिताए।"
(ग) "चउहिं ठाणेहिं जीवा देवाउयत्ताए कम्मं पगरेंति तंजहा—
१. सरागसंजमेणं, २. संजमासंजमेणं, ३. वालतवोकम्मेणं, ४. अकामणिज्जराए।"
—ठाणं, स्था० ४, उ० ४, सू० ६२९, ६३०, ६३१

[९] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १४१
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ६२

[१०] देखिये आचारांग मूल विवेचन प्र० श्रु० सू० ११६, अ० ३, उ० २, पृ० १०० में 'कालकंखी' शब्द का विवेचन

महावीरस्तव (वीरस्तुति)-छठा अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांगसूत्र (प्र० श्रु०) के छठे अध्ययन का नाम 'महावीरस्तव' (वीरस्तुति) है[1]।

☐ पूर्णता का आदर्श सम्मुख रहे बिना अपूर्ण साधक का आगे बढ़ना कठिन होता है, इसलिए इस अध्ययन की रचना की गई है ताकि अपूर्ण साधक पूर्णता के आदर्श के सहारे कर्मबन्धन के मिथ्यात्वादि कारणों से दूर रहकर शुद्ध संयम तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप मोक्षमार्ग पर शीघ्रगति से बढ़कर पूर्ण (ध्रुव या मोक्ष) को प्राप्त कर सके।

☐ पहले से लेकर पांचवें अध्ययन तक कहीं मिथ्यात्व से, कहीं अविरति (हिंसा, असत्य, परिग्रह, अब्रह्मचर्य) आदि से, कहीं प्रमाद—(उपसर्गों के सहन करने या जीतने में होने वाली असावधानी) से, कहीं कषाय (द्वेष, लोभ, ईर्ष्या, क्रोध, अभिमान, माया आदि) से होने वाले कर्मबन्धन और उनसे छूटने का निरूपण है, कहीं घोर पापकर्मबन्ध से प्राप्त नरक और उसके दुःखों का व उनसे बचने के उपाय सहित वर्णन है। अतः इस छठे अध्ययन में कर्मबन्धनों और उनके कारणों से विरत; उपसर्गों और परीषहों के समय पर्वतसम अडोल रहने वाले स्थिरप्रज्ञ, भव्यजीवों को प्रतिबोध देनेवाले, स्वयं मोक्षमार्ग में पराक्रम करके प्रबल कर्मबन्धनों को काटने वाले श्रमण शिरोमणि तीर्थंकर महावीर की स्तुति के माध्यम से मुमुक्षु साधक के समक्ष उनका आदर्श प्रस्तुत करना इस अध्ययन का उद्देश्य है। ताकि स्तुति के माध्यम से भगवान् महावीर के आदर्श जीवन का स्मरण करके साधक आत्मबल प्राप्त कर सके तथा उन्होंने जिस प्रकार संसार पर विजय पाई थी, उसी प्रकार विजय पाने का प्रयत्न करे।[2]

☐ श्रमण भगवान् महावीर का मूल नाम तो, 'वर्धमान' था, लेकिन अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों और परीषहों से अपराजित, कष्टसहिष्णु तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, त्याग में अद्भुत पराक्रम एवं आध्यात्मिक वीरता के कारण उनकी ख्याति 'वीर' अथवा 'महावीर' के रूप में हुई है।[2]

---

[1] इसका प्रचलित नाम वृत्तिकार सम्मत 'वीरस्तुति' है। —सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति अनुवाद भाग २, पृ० २४७

[2] (क) वीरस्तुति (उपाध्याय अमरमुनि) के आधार पर, पृ० २
(ख) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ८५ उत्तरार्द्ध

☐ 'वीर' शब्द के निक्षेप दृष्टि से ६ अर्थ निर्युक्तिकार ने बताए हैं—(१) नामवीर, (२) स्थापना-वीर, (३) द्रव्यवीर, (४) क्षेत्रवीर, (५) कालवीर और (६) भाववीर। नाम-स्थापना वीर सुगम है। 'द्रव्यवीर' वह है जो द्रव्य के लिए युद्धादि में वीरता दिखाता है, अथवा जो द्रव्य-वीर्यवान हो। तीर्थंकर अनन्त बल-वीर्य युक्त होते हैं, चक्रवर्ती भी सामान्य मनुष्यों या राजाओं आदि से बढ़कर बल-वीर्यवान होते हैं। इसलिए ये द्रव्यवीर कहे जा सकते हैं। अपने क्षेत्र में अद्भुत पराक्रम दिखाने वाला 'क्षेत्रवीर' है। जो अपने युग या काल में अद्भुत पराक्रमी होता है अथवा काल (मृत्यु) पर विजय पा लेता है, वह कालवीर है। भाववीर वह है, जिसकी आत्मा राग-द्वेष, क्रोधादि कषाय, पंचेन्द्रिय-विषय, काम, मोह, मान तथा उपसर्ग, परीषह आदि पर परम विजय प्राप्त कर लेती है।[४]

☐ यहाँ 'वीर' शब्द से मुख्यतया 'भाववीर' ही विवक्षित है। महती भाववीरता के गुणों के कारण यहाँ 'महावीर' शब्द व्यक्तिवाचक होते हुए भी गुणवाचक है।

☐ आभूषण, चन्दन, पुष्पमाला आदि सचित्त-अचित्त द्रव्यों द्वारा अथवा शरीर के विविध अंगों के नमन, संकोच तथा वाचा-स्फुरण आदि द्रव्यों से जो स्तुति की जाती है, वह द्रव्यस्तुति है, और विद्यमान गुणों का उत्कीर्तन, गुणानुवाद आदि हृदय से किया जाता है, वहाँ भावस्तुति है। प्रस्तुत में तीर्थंकर महावीर की भावस्तुति ही विवक्षित है। यही **'महावीरस्तव'** का भावार्थ है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में भगवान् महावीर स्वामी के ज्ञानादि गुणों के सम्बन्ध में श्री जम्बूस्वामी द्वारा उठाए हुए प्रश्न का गणधर श्री सुधर्मास्वामी द्वारा स्तुति सूचक शब्दों में प्रतिपादित गरिमा-महिमा-मण्डित सांगोपांग समाधान है।[५]

☐ उद्देशक रहित प्रस्तुत अध्ययन में २९ सूत्रगाथाओं द्वारा भगवान् महावीर के अनुपम धर्म, ज्ञान, दर्शन, अहिंसा, अपरिग्रह, विहारचर्या, निश्चलता, क्षमा, दया, श्रुत, तप, चारित्र, काषाय-विजय, ममत्व एवं वासना पर विजय, पापमुक्तता, अद्भुत त्याग आदि उत्तमोत्तम गुणों का भावपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। साथ ही अष्टविध कर्मक्षय के लिए उनके द्वारा किये गये पुरुषार्थ,

---

३. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भा० १ पृ० १४६

४. (क) सूत्र कृ० निर्युक्ति गा० ८३, ८४

(ख) सूत्र कृ० शी० वृत्ति पत्रांक १४२

(ग) जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ।
पंचेंदियाणि कोहं, माणं मायं, तेहव लोहं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं॥

५. (क) सूत्र कृ० निर्युक्ति गा० ८५ पूर्वार्द्ध

प्राणियों की गति-आगति, स्वभाव, शरीर, कर्म आदि के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान, अनन्त-ज्ञानादि सम्पन्नता आदि का भी वर्णन है।

☐ महावीर को श्रेष्ठता के लिए संसार के श्रेष्ठ माने जाने वाले सुमेरु, चन्द्र, सूर्य, स्वयम्भूरमण समुद्र, देवेन्द्र, शंख आदि पदार्थों से उपमा दी गई है। तथा निर्वाणवादियों, साधुओं, मुनियों, तपस्वियों, सुज्ञानियों, शुक्लध्यानियों, धर्मोपदेशकों, अध्यात्मा विद्या के पारगामियों, चारित्रवानों एवं प्रभावकों में सर्वश्रेष्ठ एवं अग्रणी नेता माना गया है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन सूत्रगाथा ३५२ से प्रारम्भ होकर ३८० पर समाप्त होता है।[६]

☐☐

---

[६] सूयगडंग सुत्त मूलपाठ-टिप्पण-सहित पृ० ६३ से ६७ तक का सारांश

महावीरत्थवो (वीरत्थुइ) : छट्ठं अज्झयणं

महावीरस्तव (वीरस्तुति) : छठा अध्ययन

भगवान् महावीर के सम्बन्ध में जिज्ञासा

३५२. पुच्छिसु णं समणा माहणा य, अगारिणो य परतित्थिया य ।
से के इणेगंतहियं धम्ममाहु, अणेलिसं साधुसमिक्खयाए ॥१॥

३५३. कहं च णाणं कह दंसणं से, सीलं कहं नातसुतस्स आसी ।
जाणासि णं भिक्खु जहातहेणं, अहासुतं बूहि जहा णिसंतं ॥२॥

३५२. श्रमण और ब्राह्मण (माहन), क्षत्रिय आदि सद्गृहस्थ (अगारी) और अन्यतीर्थिक (शाक्य आदि) ने पूछा कि वह कौन है, जिसने एकान्त हितरूप अनुपम धर्म; अच्छी तरह सोच-विचार कर कहा है ?

३५३. उन ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर का ज्ञान कैसा था ? उनका दर्शन कैसा था ? तथा उनका शील (यम-नियम का आचरण) किस प्रकार का था ? हे मुनिपुङ्गव ! आप इसे यथार्थ रूप से जानते हैं, (इसलिए) जैसा आपने सुना है, जैसा निश्चय किया है, (वैसा) हमें कहिए ।

विवेचन—भगवान् महावीर के उत्तम गुणों के सम्बन्ध में जिज्ञासा—प्रस्तुत सूत्रगाथाद्वय (३५२-३५३) में श्री जम्बूस्वामी द्वारा अपने गुरुदेव श्री सुधर्मास्वामी से भगवान् महावीर स्वामी के उत्तमोत्तम गुणों एवं आदर्शों के सम्बन्ध में सविनय पूछे गए प्रश्न अंकित हैं। मुख्यतया चार प्रश्न उठाए गए हैं—(१) एकान्तहितकर अनुपम धर्म के सम्प्ररूपक कौन हैं ? (२) ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर का ज्ञान कैसा था ? (३) उनका दर्शन कैसा था ? और (४) उनका शील कैसा था ?

जिज्ञासाओं के स्रोत—श्री जम्बूस्वामी स्वयं तो भगवान् महावीर स्वामी के आदर्श जीवन के सम्बन्ध में जानते ही थे, फिर उनके द्वारा ऐसी जिज्ञासाएँ प्रस्तुत करने का क्या अर्थ है ? इसी के समाधानार्थ शास्त्रकार यहाँ स्पष्ट करते हैं—**'पुच्छिसु णं समणा माहणा य, अगारिणो या परतित्थिआ य ।'** आशय यह है कि जम्बूस्वामी से श्रमण भगवान् महावीर की वाणी सुनी होगी, उस पर से कुछ मुमुक्षु श्रमणों आदि ने जम्बूस्वामी से ऐसे प्रश्न किये होंगे, तभी उन्होंने श्री सुधर्मास्वामी के समक्ष ये जिज्ञासाएँ प्रस्तुत की हैं। इसलिए इन जिज्ञासाओं के स्रोत श्रमण, ब्राह्मण आदि थे ।[1]

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १४२ के आधार पर

पाठान्तर एवं कठिन शब्दों की व्याख्या—**साधुसमिक्खयाए**—वृत्तिकार के अनुसार—(साधु) सुन्दररूप से समीक्षा—पदार्थ के यथार्थ तत्व (स्वरूप) का निश्चय करके अथवा समत्वदृष्टिपूर्वक। चूर्णिकार सम्मत पाठान्तर है—**साधुसमिक्खदाए**, अर्थ किया है—केवलज्ञान के प्रकाश में सम्यक् रूप से देखकर। **'कहं च णाणं'**—वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—(१) भगवान् ने इतना विशुद्धज्ञान कहाँ से या कैसे प्राप्त किया था? (२) भगवान् महावीर का ज्ञान—विशेष अर्थ को प्रकाशित करने वाला बोध—कैसा था? **'कहं दंसणं से?'** वृत्तिकार ने इसके भी दो अर्थ किये हैं—(१) विश्व के समस्त चराचर या सजीव-निर्जीव पदार्थों को देखने या उनकी यथार्थ वस्तु स्थिति पर विचार करने की उनकी दृष्टि (दर्शन) कैसी थी? (२) उनका दर्शन—सामान्य रूप से अर्थ को प्रकाशित करने वाला बोध—कैसा था? **सीलं**—यम-(महाव्रत), नियम—(समिति-गुप्ति आदि के पोषक नियम, त्याग, तप आदि) रूप शील—आचार। **नातसुतस्स**—ज्ञातृवंशीय[2] क्षत्रियों के पुत्र का।[3] **अगारिणो**—वृत्तिकार के अनुसार—क्षत्रिय आदि गृहस्थ। चूर्णिकार के अनुसार—**'अकारिणस्तु क्षत्रिय-विट्-शूद्राः'** अकारी का अर्थ है—क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। **माहणा**—वृत्तिकार के अनुसार ब्राह्मण—ब्रह्मचर्यादि अनुष्ठान में रत। चूर्णिकार के अनुसार—**'माहणाः—श्रावका ब्राह्मणजातीया वा'** अर्थात्—माहन का अर्थ है—श्रावक या ब्राह्मणजातीय।[4]

अनेक गुणों से विभूषित भगवान् महावीर की महिमा

३५४. खेयण्णए से कुसले आसुपन्ने[5], अणंतणाणी य अणंतदंसी।
जसंसियो चक्खुपहे ठियस्स, जाणाहि धम्मं च धिइं च पेहा ॥३॥

३५५. उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा।
से णिच्चणिच्चेहि समिक्ख पण्णे, दीवे व धम्मं समियं उदाहु ॥४॥

३५६. से सव्वदंसी अभिभूय णाणी, निरामगंधे धिइमं ठितप्पा।
अणुत्तरे सव्वजगंसि विज्जं, गंथा अतीते अभए अणाऊ ॥५॥

३५७. से भूतिपण्णे अणिएयचारी, ओहंतरे धीरे अणंतचक्खू।
अणुत्तरं तप्पइ सूरिए वा, वइरोयणिंदे व तमं पगासे ॥६॥

३५८. अणुत्तरं धम्ममिणं, जिणाणं णेया मुणी कासवे आसुपण्णे।
इंदे व देवाण महाणुभावे, सहस्सनेता दिवि णं विसिट्ठे ॥७॥

---

[2] वैशाली (वसाढ़ जि. मुजफ्फरपुर) के जैथरिया भूमिहार 'ज्ञातृ' ही हैं। आज भी उस प्रदेश के लाखों जैथरिया-काश्यप गोत्री हैं। ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय लिच्छवी गणतंत्रियों की शाखा थे।

—अर्थागम (हिन्दी) प्रथम खण्ड पृ. १९३

[3] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १४२-१४३
(ख) सूयगडंगसुत्तं चूर्णि (मूलपाठ-टिप्पण) पृ. ६३

[4] सूयगडंगसुत्तं कतिपय विशिष्ट टिप्पण (जम्बूविजयजी सम्पादित) पृ. ३६५

[5] शीलांक टीका में—"खेयण्णए से कुसले महेसी" पाठान्तर है।

३५९. से पण्णया अक्खये सागरे वा, महोदधी वा वि अणंतपारे ।
अणाइले वा अकसायि मुक्के, सक्के व देवाहिपती जुतीमं ।।८।।

३६०. से वीरिएणं पडिपुण्णवीरिए, सुदंसणे वा णगसव्वसेट्ठे ।
सुरालए वा वि मुदागरे से, विरायतेऽणेगगुणोववेते ।।९।।

३५४. भगवान् महावीर खेदज्ञ (संसार के प्राणियों के दुःख के ज्ञाता) थे, कर्मों के उच्छेदन में कुशल थे, आशुप्रज्ञ (सदा सर्वत्र उपयोगवान्) थे, अनन्तज्ञानी (सर्वज्ञ) और अनन्तदर्शी (सर्वदर्शी) थे। वे उत्कृष्ट यशस्वी (सुर, असुर और मानवों के यश से बढ़कर यश वाले) थे, जगत् के नयनपथ में स्थित थे, उनके धर्म (स्वभाव या श्रुत-चारित्ररूप धर्म) को तुम जानो (समझो) और (धर्मपालन में) उनकी धीरता को देखो।

३५५. ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् दिशाओं में, जो त्रस और स्थावर प्राणी (रहते) हैं, उन्हें नित्य (जीवद्रव्य की दृष्टि से) और अनित्य (पर्याय-परिवर्तन की दृष्टि से) दोनों प्रकार का जानकर उन (केवलज्ञानी भगवान्) ने दीपक या द्वीप के तुल्य सद्धर्म का सम्यक् कथन किया था।

३५६. वे (वीरप्रभु) सर्वदर्शी थे, चार ज्ञानों को पराजित करके केवलज्ञान सम्पन्न बने थे, निरामगन्धी (मूल-उत्तरगुणों से विशुद्ध चारित्र पालक) थे, (परीषहोपसर्गों के समय निष्कम्प रहने के कारण) धृतिमान थे, स्थितात्मा थे (आत्मस्वरूप में उनकी आत्मा स्थित थी), समस्त जगत् में वे (सकल पदार्थों के वेत्ता होने से) सर्वोत्तम विद्वान् थे (सचित्तादि रूप बाह्य और कर्मरूप आभ्यन्तर) ग्रन्थ से अतीत (रहित) थे, अभय (सात प्रकार के भयों से रहित) थे तथा अनायु (चारों गतियों के आयुष्यबन्ध से रहित) थे।

३५७. वे भूतिप्रज्ञ (अतिशय प्रवृद्ध या सर्वमंगलमयी अथवा विश्व-रक्षामयी प्रज्ञा से सम्पन्न), अनियताचारी (अप्रतिबद्धविहारी), ओघ (संसार-सागर) को पार करने वाले, धीर (विशालबुद्धि से सुशोभित) तथा अनन्तचक्षु (अनन्तज्ञेय पदार्थों को केवलज्ञान रूप नेत्र से जानते) थे। जैसे सूर्य सबसे अधिक तपता है, वैसे ही भगवान् सबसे अधिक उत्कृष्ट तप करते थे, अथवा ज्ञानभानु से सर्वाधिक देदीप्यमान थे। वैरोचनेन्द्र (प्रज्वलित अग्नि) जैसे अन्धकार मिटाकर प्रकाश करता है, वैसे ही भगवान् अज्ञानान्धकार मिटाकर पदार्थों का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित करते थे।

३५८. आशुप्रज्ञ काश्यप गोत्रीय, मुनिश्री वर्धमान स्वामी ऋषभदेव आदि जिनवरों के इस अनुत्तर (सबसे प्रधान) धर्म के नेता हैं। जैसे स्वर्ग (देव) लोक में इन्द्र हजारों देवों में महाप्रभावशाली, नेता एवं (रूप, बल, वर्ण आदि में सबसे) विशिष्ट (प्रधान) है, इसी तरह भगवान् भी सबसे अधिक प्रभावशाली, सबके नेता और सबसे विशिष्ट हैं।

३५९. वह (भगवान्) समुद्र के समान प्रज्ञा से अक्षय हैं, अथवा वह स्वयम्भूरमण महासागर के समान प्रज्ञा से अनन्तपार (अपरम्पार) हैं, जैसे समुद्रजल निर्मल (कलुषतारहित) है, वैसे ही भगवान् का ज्ञान भी (ज्ञानावरणीय कर्ममल से सर्वथा रहित होने से) निर्मल है, तथा वह कषायों से सर्वथा

रहित, एवं घाति कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त हैं, (इसी तरह) भगवान् इन्द्र के समान देवाधिपति हैं तथा द्युतिमान (तेजस्वी) हैं।

३६०. वह (भगवान् महावीर) वीर्य से परिपूर्णवीर्य हैं, पर्वतों में सर्वश्रेष्ठ सुदर्शन (सुमेरु) पर्वत के समान, वीर्य से तथा अन्य गुणों से सर्वश्रेष्ठ हैं। जैसे देवालय (स्वर्ग) वहाँ के निवासियों को अनेक (प्रशस्त रूप-रस-गन्धस्पर्श प्रभावादि) गुणों से युक्त होने से मोदजनक है, वैसे ही अनेक गुणों से युक्त भगवान् भी (पास में आने वाले के लिए) प्रमोदजनक होकर विराजमान हैं।

विवेचन—अनेक गुणों से विभूषित भगवान् महावीर की महिमा—प्रस्तुत ७ सूत्रगाथाओं (३५४ से ३६० तक) में श्री सुधर्मास्वामी द्वारा पूर्वजिज्ञासा के समाधान के रूप में भगवान् महावीर के सर्वोत्तम विशिष्ट गुणों का उत्कीर्तन किया गया है। वे विशिष्ट गुण क्रमशः इस प्रकार प्रतिपादित हैं—(१) खेदज्ञ या क्षेत्रज्ञ, (२) कुशल, (३) आशुप्रज्ञ, (४) अनन्तज्ञानी, (५) अनन्तदर्शी, (६) उत्कृष्ट यशस्वी, (७) विश्वनयनपथ में स्थित, (९) प्रशंसनीय धर्म तथा धैर्यवान, (१०) उन्होंने द्वीप या दीप के तुल्य धर्म का कथन लोक के समस्त त्रस-स्थावर जीवों को नित्य-अनित्य जानकर किया, (११) सर्वदर्शी, (१२) केवलज्ञानसम्पन्न, (१३) निर्दोष चारित्रपालक (निरामगन्धी), (१४) धृतिमान, (१५) स्थितात्मा, (१६) जगत् के सर्वोत्तम विद्वान्, (१७) बाह्याभ्यन्तर ग्रन्थों से अतीत, (१८) अभय, (१९) अनायु (आयुष्यबन्ध रहित), (२०) भूतिप्रज्ञ, (२१) अप्रतिबद्ध विचरणशील, (२२) संसार सागर पारंगत, (२३) धीर, (२४) अनन्तचक्षु, (२५) सूर्यवत् सर्वाधिक तपनशील, (२६) प्रज्ज्वलित अग्निवत् अज्ञान तिमिर-निवारक, एवं पदार्थ स्वरूप प्रकाशक, (२७) आशुप्रज्ञमुनि, (२८) पूर्वजन प्ररूपित अनुत्तरधर्म के नेता, (२९) स्वर्ग में हजारों देवों में महाप्रभावशाली, नेता एवं विशिष्ट इन्द्र के समान सर्वाधिक प्रभावशाली, नेता एवं विशिष्ट, (३०) समुद्रवत् प्रज्ञा से अक्षय, (३१) स्वयम्भूरमण-महोदधि के समान गम्भीरज्ञानीय प्रज्ञा से अनन्तपार, (३२) समुद्र के निर्मल जलवत् सर्वथा निर्मल ज्ञान-सम्पन्न, (३३) अकषायी, (३४) घाति कर्मबन्धनों से मुक्त (३५) इन्द्र के समान देवाधिपति, (३६) तेजस्वी, (३७) परिपूर्णवीर्य, (३८) पर्वतों में सर्वश्रेष्ठ सुमेरुवत् गुणों में सर्वश्रेष्ठ, (३९) अनेक प्रशस्त गुणों से युक्त होने से स्वर्गवत् प्रमोदजनक।[५]

कठिन शब्दों की व्याख्या—खेयण्णए—इसके तीन अर्थ हैं—(१) **खेदज्ञ**—संसारी प्राणियों के कर्मविपाकज दुःखों के ज्ञाता, (२) यथार्थ आत्मस्वरूप परिज्ञान होने से **आत्मज्ञ—(क्षेत्रज्ञ)**[६] तथा (३) क्षेत्र—आकाश (लोकालोक रूप) के स्वरूप परिज्ञाता। **'जाणाहि धम्मं च धिइं च पेहा'**—(१) भगवान् के अनुत्तर धर्म को जानो और धर्मपालन में धृति को देखो, (२) भगवान् का जैसा धर्म, जैसी धृति या प्रेक्षा है, उसे तुम यथार्थरूप में जान लो। (३) अथवा यदि तुम उनके धर्म, और धृति को जानते हो तो हमें बतलाओ। **दीवेव धम्मं**—(१) प्राणियों को पदार्थ का स्वरूप प्रकाशित (प्रकट) करने से दीप के समान, (२) अथवा संसार समुद्र में पड़े हुए प्राणियों को सदुपदेश देने से उनके लिए आश्वासनदायक या आश्रयदाता द्वीप के समान धर्म का।[७]

---

[५] सूत्रकृतांग (मूलपाठ टिप्पणयुक्त) पृ० ६३-६४ का सारांश

[६] तुलना करें—*भगवद्गीता के क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोग* नामक १३वें अध्याय में प्रतिपादित 'क्षेत्रज्ञ' के वर्णन से।

[७] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १४३ से १४६ तक
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ६३-६४

पर्वतश्रेष्ठ सुमेरु के समान गुणों में सर्वश्रेष्ठ महावीर

३६१. सयं सहस्साण उ जोयणाणं, तिगंडे से पंडगवेजयंते ।
से जोयणे णवणवते सहस्से, उड्ढुस्सिते हेट्ठ सहस्समेगं ॥ १० ॥

३६२. पुट्ठे णभे चिट्ठति भूमिए ठिते, जं सूरिया अणुपरियट्टयंति ।
से हेमवण्णे बहुणंदणे य, जंसी रतिं वेदयंती महिंदा ॥ ११ ॥

३६३. से पव्वते सद्दमहप्पगासे, विरायती कंचणमट्ठवण्णे ।
अणुत्तरे गिरिसु य पव्वदुग्गे, गिरीवरे से जलिते व भोमे ॥ १२ ॥

३६४. महीइ मज्झम्मि ठिते णगिंदे, पण्णायते सूरिय सुद्धलेस्से ।
एवं सिरीए उ स भूरिवण्णे, मणोरमे जोयति अच्चिमाली ॥ १३ ॥

३६५. सुदंसणस्सेस जसो गिरिस्स, पवुच्चती महतो पव्वतस्स ।
एतोवमे समणे नायपुत्ते, जाती-जसो-दंसण-णाणसीले ॥ १४ ॥

३६१. वह सुमेरुपर्वत सौ हजार (एक लाख) योजन ऊँचा है। उसके तीन कण्ड (विभाग) हैं। उस पर सर्वोच्च पण्डकवन पताका की तरह सुशोभित है। वह निन्यानवे हजार योजन ऊँचा उठा है, और एक हजार योजन नीचे (भूमि में) गड़ा है।

३६२. वह सुमेरुपर्वत आकाश को छूता हुआ पृथ्वी पर स्थित है। जिसकी सूर्यगण परिक्रमा करते हैं। वह सुनहरे रंग का है, और अनेक नन्दनवनों से युक्त (या बहुत आनन्ददायक) है। उस पर महेन्द्रगण आनन्द अनुभव करते हैं।

३६३. वह पर्वत (सुमेरु, मन्दर, मेरु, सुदर्शन, सुरगिरि आदि) अनेक नामों से महाप्रसिद्ध है, तथा सोने की तरह चिकने शुद्ध वर्ण से सुशोभित है। वह मेखला आदि या उपपर्वतों के कारण सभी पर्वतों में दुर्गम है। वह गिरिवर मणियों और औषधियों से प्रकाशित भूप्रदेश की तरह प्रकाशित रहता है।

३६४. वह पर्वतराज पृथ्वी के मध्य में स्थित है तथा सूर्य के समान 'शुद्ध तेज' वाला प्रतीत होता है। इसी तरह वह अपनी शोभा से अनेक वर्ण वाला और मनोरम है, तथा सूर्य की तरह (अपने तेज से दसों दिशाओं को) प्रकाशित करता है।

३६५. महान् पर्वत सुदर्शनगिरि का यश (पूर्वोक्त प्रकार से) बताया जाता है, ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर को भी इसी पर्वत से उपमा दी जाती है। (जैसे सुमेरुपर्वत अपने गुणों के कारण समस्त पर्वतों में श्रेष्ठ है, इसी तरह) भगवान् भी जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शील में सर्वश्रेष्ठ हैं।

विवेचन—पर्वतश्रेष्ठ सुमेरु के समान गुणों में सर्वश्रेष्ठ महावीर—प्रस्तुत पांच सूत्रों में भगवान् को पर्वतराज सुमेरु से उपमा दी गई है। सुमेरुपर्वत की उपमा भगवान् के साथ इस प्रकार

घटित होती है—जैसे सुमेरुपर्वत ऊर्ध्व, अधः और मध्य तीनों लोकों से स्पृष्ट है, वैसे ही भगवान् का प्रभाव भी त्रिलोक में व्याप्त था। जैसे सुमेरु तीन विभाग से सुशोभित है—भूमिमय, स्वर्णमय, वैडूर्यमय, वैसे ही भगवान् भी सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय से सुशोभित थे। सुमेरुशिखर पर पताकावत् पण्डकवन सुशोभित है, वैसे वीर प्रभु भी तीर्थंकर नामक शीर्षस्थ पद से सुशोभित थे। सूर्यगण आदि सदैव सुमेरु के चारों ओर परिक्रमा देते हैं, वैसे भगवान् के भी चारों ओर देव तथा चक्रवर्ती आदि सम्राट् भी प्रदक्षिणा देते थे, उनका उपदेश सुनने के लिए उत्सुक रहते थे। सुमेरु स्वर्णवर्ण का है, भगवान् भी स्वर्ण-सम कान्ति वाले थे। सुमेरु ऊर्ध्वमुखी है, वैसे ही भगवान् के अहिंसादि सिद्धान्त भी सदैव ऊर्ध्वमुखी थे। सुमेरु के नन्दनवन में स्वर्ग से देव और इन्द्रादि आकर आनन्दानुभव करते हैं, भगवान् के समवसरण में सुर-असुर, मानव, तिर्यञ्च आदि सभी प्राणी आकर आनन्द और शान्ति का अनुभव करते थे। सुमेरुपर्वत अनेक नामों से सुप्रसिद्ध है, वैसे ही भगवान् भी वीर, महावीर, वर्धमान, सन्मति, वैशालिक, ज्ञातपुत्र, त्रिशलानन्दन आदि नामों से सुप्रसिद्ध थे। सुमेरु की कन्दरा से उठने वाली देवों की कोमल ध्वनि दूर-दूर गूंजती रहती है, वैसे वीरप्रभु की अतीव ओजस्वी, सारगर्भित, दिव्यध्वनि भी दूर-दूर श्रोताओं को सुनाई देती थी, सुमेरुपर्वत अपनी ऊँची-ऊँची मेखलाओं एवं उपपर्वतों के कारण दुर्गम है, वैसे भगवान् भी प्रमाण, नय, निक्षेप अनेकान्त (स्याद्वाद) की गहन भंगावलियों के कारण तथा गौतम आदि अनेक दिग्गज विद्वान् अन्तेवासियों के कारण वादियों के लिए दुर्गम एवं अजेय थे। जैसे सुमेरुगिरि अनेक तेजोमय तरु समूह से देदीप्यमान है, वैसे ही भगवान् भी अनन्तगुणों से देदीप्यमान थे। जैसे सुमेरु, पर्वतों का राजा है, वैसे भगवान् महावीर भी त्यागी, तपस्वी साधु-श्रावकगण के राजा थे, यानी संघनायक थे। सुमेरुपर्वत से चारों ओर प्रकाश की उज्ज्वल किरणें निकलकर सर्वदिशाओं को आलोकित करती रहती हैं, वैसे ही भगवान् के ज्ञानालोक की किरणें भी सर्वत्र फैलकर लोक-अलोक सबको आलोकित करती थी, कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं, जो उनके अनन्त ज्ञानालोक से उद्भासित न होता हो। जैसे सुमेरुपर्वत ठीक भूमण्डल के मध्य में है, वैसे ही भगवान् भी धर्म-साधकों की भक्ति-भावनाओं के मध्यविन्दु थे। पर्वतराज सुमेर जैसे लोक यशस्वी कहलाता है, वैसे ही जिनराज भगवान् तीनों लोकों में महायशस्वी थे। जिस प्रकार मेरुगिरि अपने गुणों के कारण पर्वतों में श्रेष्ठ हैं, वैसे ही भगवान् भी अपनी जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शील आदि सद्गुणों में सर्वश्रेष्ठ थे। इसी आशय से शास्त्रकार कहते हैं—**'एतोवमे समणे नायपुत्ते ·· जाति-जसो-दंसण-णाण-सीले।'**[८]

विविध उपमाओं से भगवान् की श्रेष्ठता

३६६. गिरीवरे वा निसहाऽऽयताणं, रुयगे व सेट्ठे वलयायताणं।
ततोवमे से जगभूतिपण्णे, मुणीण मज्झे तमुदाहु पण्णे ॥१५॥

३६७. अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता, अणुत्तरं झाणवरं झियाई।
सुसुक्कसुक्कं अपगंडसुक्कं, संखेंदु वेगंतवदातसुक्कं ॥१६॥

---

[८] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्र १४७-४८ का सार

३६८. अणुत्तरग्गं परमं महेसी, असेसकम्मं स विसोहइत्ता ।
सिद्धिं गतिं साइमणंत पत्ते, नाणेण सीलेण य दंसणेण ।।१७।।

३६९. रुक्खेसु णाते जह सामली वा, जंसी रतिं वेदयंती सुवण्णा ।
वणेसु या नंदणमाहु सेट्ठे, णाणेण सीलेण य भूतिपन्ने ।।१८।।

३७०. थणियं व सद्दाण अणुत्तरे तु, चंदो व ताराण महाणुभागे ।
गंधेसु या चंदणमाहु सेट्ठे, सेट्ठे मुणीणं अपडिण्णमाहु ।।१९।।

३७१. जहा सयंभू उदहीण सेट्ठे, णागेसु या धरणिंदमाहु सेट्ठे ।
खोतोदए वा रसवेजयंते, तवोवहाणे मुणिवेजयंते ।।२०।।

३७२. हत्थीसु एरावणमाहु णाए, सीहे मियाणं सलिलाण गंगा ।
पक्खीस या गरुले वेणु देवे, णिव्वाणवादीणिह, णायपुत्ते ।।२१।।

३७३. जोहेसु णाए जह वीससेणे, पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहु ।
खत्तीण सेट्ठे जह दंतवक्के, इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे ।।२२।।

३७४. दाणाण सेट्ठं अभयप्पदाणं, सच्चेसु या अणवज्जं वदंति ।
तवेसु या उत्तमबंभचेरं, लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते ।।२३।।

३७५. ठिईण सेट्ठा लवसत्तमा वा, सभा सुधम्मा व सभाण सेट्ठा ।
निव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा, ण णायपुत्ता परमत्थि णाणी ।।२४।।

३६६. जैसे लम्बे पर्वतों में निषधपर्वत श्रेष्ठ है तथा वलयाकार (चूड़ी के आकार के) पर्वतों में रुचक पर्वत श्रेष्ठ है, वही उपमा जगत् में सबसे अधिक प्रज्ञावान् भगवान् महावीर की है। प्राज्ञपुरुषों ने मुनियों (के मध्य) में श्रमण महावीर को श्रेष्ठ कहा है।

३६७. भगवान् महावीर ने अनुत्तर (संसारतारक सर्वोत्तम) धर्म का उपदेश देकर सर्वोत्तम श्रेष्ठ ध्यान—शुक्लध्यान की-साधना की (भगवान् का) वह ध्यान अत्यन्त शुक्ल वस्तुओं के समान शुक्ल था, दोषरहित शुक्ल था, शंख और चन्द्रमा (आदि शुद्ध श्वेत पदार्थों) के समान एकान्त शुद्ध श्वेत (शुक्ल) था।

३६८. महर्षि महावीर ने (विशिष्ट क्षायिक) ज्ञान, शील (चारित्र) और दर्शन (के बल) से समस्त (ज्ञानावरणीय आदि) कर्मों का विशोधन (सर्वथा क्षय) करके सर्वोत्तम (अनुत्तर लोकाग्रभाग में स्थित) सादि अनन्त परम सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त की।

३६९. जैसे वृक्षों में (देवकुरुक्षेत्र स्थित) शाल्मली (सेमर) वृक्ष ज्ञात (जगत्-प्रसिद्ध) है, जहाँ

(भवनपतिजाति के) सुपर्ण (कुमार) देव आनन्द का अनुभव करते हैं, अथवा जैसे वनों में नन्दनवन (देवों के क्रीड़ास्थान) को श्रेष्ठ कहते हैं, इसी तरह ज्ञान और चारित्र में प्रभूतज्ञानी (अनन्तज्ञानी) भगवान् महावीर को सबसे प्रधान (सर्वश्रेष्ठ) कहते हैं।

३७०. शब्दों में जैसे मेघ गर्जन प्रधान है, तारों में जैसे महाप्रभावशाली चन्द्रमा श्रेष्ठ है, तथा सुगन्धों में जैसे चन्दन (सुगन्ध) को श्रेष्ठ कहा है, इसी प्रकार मुनियों में कामनारहित (इहलोक-परलोक के सुख की आकांक्षा सम्बन्धी प्रतिज्ञा से रहित) भगवान् महावीर को श्रेष्ठ कहा है।

३७१. जैसे समुद्रों में स्वयंम्भूरमण समुद्र श्रेष्ठ है, नागों (नागकुमार देवों) में धरणेन्द्र को श्रेष्ठ कहा है, एवं इक्षुरसोदक समुद्र जैसे रसवाले समस्त समुद्रों की पताका के समान प्रधान है, इसी तरह विशिष्ट (प्रधान) तपोविशेष (या उपधानतप) के कारण (विश्व की त्रिकालावस्था के ज्ञाता) मुनिवर भगवान् महावीर समग्रलोक की पताका के समान मुनियों में सर्वोपरि हैं।

३७२. हाथियों में (इन्द्रवाहन) ऐरावत हाथी को प्रधान कहते हैं; मृगों में मृगेन्द्र (सिंह) प्रधान है, जलों-नदियों में गंगानदी प्रधान है, पक्षियों में वेणुदेव 'गरुड़पक्षी' मुख्य है, इसी प्रकार निर्वाणवादियों में—मोक्षमार्ग नेताओं में ज्ञातृपुत्र भगवान् महावीर प्रमुख थे।

३७३. जैसे योद्धाओं में प्रसिद्ध विश्वसेन (चक्रवर्ती) या विष्वक्सेन (वासुदेव श्री कृष्ण) श्रेष्ठ है, फूलों में जैसे अरविन्द कमल को श्रेष्ठ कहते हैं और क्षत्रियों में जैसे दान्तवाक्य (चक्रवर्ती) या दन्तवक्त्र (दन्तवक्र राजा) श्रेष्ठ है, वैसे ही ऋषियों में वर्धमान महावीर श्रेष्ठ हैं।

३७४. (जैसे) दानों में अभयदान श्रेष्ठ है, सत्य वचनों में निष्पाप (जो परपीड़ा-उत्पादक न हो) सत्य (वचन) को श्रेष्ठ कहते हैं, तपों में ब्रह्मचर्य उत्तम तप है, इसी प्रकार लोक में उत्तम श्रमण ज्ञातृपुत्र महावीर-स्वामी हैं।

३७५. जैसे समस्त स्थिति (आयु) वालों में सात लव की स्थिति वाले पंच अनुत्तर विमानवासी देव श्रेष्ठ हैं, जैसे सुधर्मासभा समस्त सभाओं में श्रेष्ठ है, तथा सब धर्मों में जैसे निर्वाण (मोक्ष) श्रेष्ठ धर्म है, इसी तरह (ज्ञानियों में) ज्ञातृपुत्र महावीर से बढ़कर (श्रेष्ठ) कोई ज्ञानी नहीं है।

विवेचन—विविध उपमाओं से भगवान् की श्रेष्ठता—प्रस्तुत १० सूत्रगाथाओं (सू० गा० ३६६ से ३७५ तक) में विविध पदार्थों से उपमित करके भगवान् महावीर की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। संसार के सर्वश्रेष्ठ माने जाने वाले पदार्थों से उपमा देकर भगवान् की विभिन्न विशेषताओं, महत्ताओं और श्रेष्ठताओं का निम्नोक्त प्रकार से निरूपण है।[९]

(१) सर्वाधिक प्राज्ञ भगवान् महावीर मुनियों में श्रेष्ठ हैं, जैसे दीर्घाकार पर्वतों में निषध और वलयाकार पर्वतों में रुचक है। (२) भगवान् का सर्वोत्तम ध्यान शुक्लध्यान है, जो शंख, चन्द्र आदि अत्यन्त शुक्ल वस्तुओं के समान विशुद्ध और सर्वथा निर्मल था। (३) भगवान् ने क्षायिक ज्ञानादि के

---

[९] सूयगडंगसुत्तं मूलपाठ (टिप्पणयुक्त) पृ० ६५-६६ का सारांश

बल से सर्वकर्मों का क्षय करके परमसिद्धि—आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था—प्राप्त की। (४) भगवान् ज्ञान और चारित्र में सर्वश्रेष्ठ हैं, जैसे वृक्षों में देवकुरु क्षेत्र का शाल्मलीवृक्ष तथा वनों में नन्दनवन श्रेष्ठ माना जाता है। (५) मुनियों में लौकिक सुखाकांक्षा की प्रतिज्ञा (संकल्प-निदान) से रहित भगवान् महावीर श्रेष्ठ हैं, जैसे कि ध्वनियों में मेघध्वनि, तारों में चन्द्रमा और सुगन्धित पदार्थों में चन्दन श्रेष्ठ कहा जाता है, (६) तपःसाधना के क्षेत्र में सर्वोपरि मुनिवर महावीर हैं, जैसे समुद्रों में स्वयम्भूरमण, नागदेवों में धरणेन्द्र एवं रसवाले समुद्रों में इक्षुरसोदक समुद्र श्रेष्ठ माना जाता है, (७) निर्वाणवादियों में भगवान् महावीर प्रमुख हैं, जैसे हाथियों में ऐरावत, मृगों में सिंह, नदियों में गंगानदी तथा पक्षियों में गरुड़पक्षी प्रधान माना जाता है। (८) ऋषियों में वर्धमान महावीर श्रेष्ठ हैं, जैसे योद्धाओं में विश्वसेन या विष्वक्सेन,[10] फूलों में अरविन्द, क्षत्रियों दान्तवाक्य या दन्तवक्र[11] श्रेष्ठ माना जाता है, (९) तीनों लोकों में उत्तम ज्ञातपुत्र श्रमण महावीर हैं, जैसे कि दानों में अभयदान सत्यों में निरवद्य सत्य और तपों में ब्रह्मचर्य उत्तम माना जाता है। (१०) समस्त ज्ञानियों में ज्ञातपुत्र महावीर सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी हैं, जैसे कि स्थिति वालों में लवसप्तम अर्थात् अनुत्तर विमानवासी देव, सभाओं में सुधर्मासभा एवं धर्मों में निर्वाण श्रेष्ठ धर्म है। यों त्रिविध उपमाओं से भगवान् महावीर की श्रेष्ठता सिद्ध की गई है।

भगवान् महावीर की विशिष्ट उपलब्धियाँ

३७६. पुढोवमे धुणइ विगयगेही, न सन्निहिं कुव्वति आसुपण्णे।
तररिउं समुद्दं व महाभवोघं, अभयंकरे वीरे अणंतचक्खू ॥२५॥

३७७. कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा।
एयाणि वंता अरहा महेसी, ण कुव्वति पावं ण कारवेती ॥२६॥

३७८. किरियाकिरियं वेणइयाणुवायं, अण्णाणियाणं पडियच्च ठाणं।
से सव्ववायं इइ वेयइत्ता, उवट्ठिते संजम दीहरायं ॥२७॥

३७९. से वारिया इत्थि सराइभत्तं, उवहाणवं दुक्खखयट्ठयाए।
लोगं विदित्ता आरं परं च, सव्वं पभू वारिय सव्ववारं ॥२८॥

---

[10] 'वीससेणे' इसके संस्कृत में दो रूप होते हैं—"विश्वसेनः, विष्वक्सेन।" वृत्तिकार ने प्रथम रूप मानकर विश्वसेन का अर्थ चक्रवर्ती किया है, जबकि चूर्णिकार ने दोनों रूप मानकर प्रथम का अर्थ—चक्रवर्ती और द्वितीय का वासुदेव किया है। देखिए अमरकोश प्रथम काण्ड में—

विष्णुर्नारायणो कृष्णो वैकुण्ठो विष्टरश्रवाः।
पीताम्बरोऽच्युतः शार्ङ्गी विष्वक्सेनो जनार्दनः।

[11] दंतवक्के—चूर्णि और वृत्ति में 'दान्तवाक्य' का अर्थ चक्रवर्ती किया गया है। भागवत् पुराण (दशमस्कन्ध के ७८वें अध्याय) में श्रीकृष्ण की फूफी के पुत्र गदाधारी 'दन्तवक्त्र' का उल्लेख मिलता है। महाभारत के आदिपर्व (१/६१/५७) में 'दन्तवक्त्र' तथा सभापर्व (२/२८/३) में 'दन्तवक्र' राजा का उल्लेख है।

३७६. भगवान् महावीर पृथ्वी के समान (समस्त प्राणियों के लिए आधारभूत) हैं। वे (आठ प्रकार के) कर्ममलों को दूर करने वाले हैं। वे (बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों में) गृद्धि (आसक्ति) से रहित हैं। वे आशुप्रज्ञ (धन-धान्य आदि पदार्थों का) संग्रह (सन्निधि) नहीं करते हैं। अथवा वे (क्रोधादि विकारों की) सन्निधि (निकटता-लगाव) नहीं करते। (चातुर्गतिक) महान् संसार समुद्र को समुद्र के समान पार करके (भगवान् निर्वाण के निकट पहुँचे हैं।) वे अभयंकर (दूसरों को भय न देने वाले, न ही स्वयं भय पाने वाले) हैं; वीर (कर्म-विदारण करने के कारण) हैं और अनन्त चक्षु (ज्ञानी) हैं।

३७७. महर्षि महावीर क्रोध, मान और माया तथा चौथा लोभ (आदि) इन (समस्त) अध्यात्म (अन्तर) दोषों का वमन (परित्याग) करके अर्हन्त (पूज्य, विश्ववन्द्य, तीर्थंकर) बने हैं। वे न स्वयं पापाचरण करते हैं और न दूसरों से कराते हैं।

३७८. भगवान् महावीर क्रियावाद, अक्रियावाद, (विनय) वैनयिकों के वाद और (अज्ञानिकों के अज्ञान) वाद के पक्ष को सम्यक् रूप से जानकर तथा समस्त वादों (के मन्तव्य) को समझ कर आजीवन (दीर्घरात्र तक) संयम में उत्थित (उद्यत) रहे।

३७९. वे वीरप्रभु रात्रि-भोजन सहित स्त्रीसंसर्ग का त्यागकर दुःखों के (कारणभूत कर्मों के) क्षय के लिए (सदा) विशिष्ट तप में उद्यत रहते थे। उन्होंने इहलोक और परलोक को जानकर सब प्रकार के पापों का सर्वथा त्याग कर दिया था।

विवेचन—भगवान् महावीर की विशिष्ट उपलब्धियाँ—प्रस्तुत चार सूत्रगाथाओं (३७६ से ३७९ तक) में भगवान् महावीर के जीवन की विशिष्ट उपलब्धियों का निरूपण शास्त्रकार ने किया है। वे विशिष्ट उपलब्धियाँ ये हैं—(१) पृथ्वी के समान वे प्राणियों के आधारभूत हो गए, (२) अष्टविध कर्मों का क्षय करने वाले हुए, (३) बाह्याभ्यन्तर पदार्थों में गृद्धि-रहित हो गए, (४) वे धन-धान्यादि पदार्थों का संग्रह या क्रोधादि विकारों का सान्निध्य नहीं करते थे, (५) संसारसमुद्र को पार करके निर्वाण के निकट पहुंच गए, अभयंकर, (७) वीर तथा (८) अनन्तचक्षु हो गए। (९) क्रोध, मान, माया, लोभ आदि आन्तरिक (आध्यात्मिक) विकारों का त्याग करके महर्षि एवं अर्हन्त हो गए, (१०) अब हिंसादि पापों का आचरण न तो वे स्वयं करते हैं, न कराते हैं। (११) क्रियावाद आदि समस्त वादों को[१२] स्वयं जानकर दूसरों को समझाते। (१२) जीवनपर्यन्त शुद्ध संयम में उद्यत रहे, (१३) अपने जीवन और शासन में उन्होंने रात्रि-भोजन और स्त्रीसंसर्ग (अब्रह्मचर्य) वर्जित किया, (१४) दुःख के कारणभूत कर्मों के क्षय के लिए वे सदैव विशिष्ट तपःसाधना करते रहे, (१५) इहलोक-परलोक (चातुर्गतिक संसार) के स्वरूप और कारणों को जानकर उन्होंने सब प्रकार के पापों का सर्वथा निवारण कर दिया।[१३]

पाठान्तर और व्याख्या—उवट्ठिते संजम दीहरायं—दीर्घरात्र तक यावज्जीवन संयम में उत्थित रहे, चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**'उवट्ठिते सम्म स दीहरायं'**—वे जीवनपर्यन्त मोक्ष के लिए

---

[१२] क्रियावादी, अक्रियावादी विनयवादी और अज्ञानवादी के ३६३ भेदों तथा उनके स्वरूप का विश्लेषण समवसरण (१२वें) अध्ययन में यथास्थान किया जाएगा। —सम्पादक

[१३] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १५१ का सारांश

सम्यक्रूप से उपस्थित-उद्यत रहे। **'आरं परं (पारं) च'**—आरं—इहलोक अथवा मनुष्यलोक, पारं (परं)—परलोक या नारकादिलोक। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**'अपरं परं च'** अर्थ प्रायः समान है।[१४]

फलश्रुति

३८०. सोच्चा य धम्मं अरहंतभासियं, समाहितं अट्ठपओवसुद्धं।
तं सद्दहंता य जणा अणाऊ, इंदा व देवाहिव आगमिस्संति ॥२९॥
—त्ति बेमि।

॥ महावीरत्थवो छट्ठं अज्झयणं सम्मत्तं ॥

३८०. श्री अरिहन्तदेव द्वारा भाषित, सम्यक् रूप से उक्त युक्तियों और हेतुओं से अथवा अर्थों और पदों से शुद्ध (निर्दोष) धर्म को सुनकर उस पर श्रद्धा (श्रद्धापूर्वक सम्यक् आचरण) करने वाले व्यक्ति आयुष्य (कर्म) से रहित—मुक्त हो जाएँगे, अथवा इन्द्रों की तरह देवों का आधिपत्य प्राप्त करेंगे। —यह मैं कहता हूँ।

विवेचन—फलश्रुति—प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार इस अन्तिम गाथा में भ० महावीर द्वारा प्ररूपित श्रुत-चारित्ररूप धर्म का श्रवण, श्रद्धान एवं आचरण करने वाले साधकों को उसकी फलश्रुति बताते हैं—**सोच्चा य धम्मं····आगमिस्संति।**

॥ महावीरस्तव षष्ठ अध्ययन समाप्त ॥

---

[१४] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १५१
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ६७

कुशील परिभाषित (कुशील परिभाषा)
सप्तम अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग सूत्र (प्र० श्रु०) के सप्तम अध्ययन का नाम कुशील-परिभाषित या कुशील परिभापा[1] है।

☐ 'शील' शब्द स्वभाव, उपशमप्रधान चारित्र, सदाचार, ब्रह्मचर्य आचार-विचार आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। चेतन अथवा अचेतन, जिस द्रव्य का जो स्वभाव है, या वस्त्र-भोजनादि के विषय में जिसका जो स्वभाव (प्रकृति) वन गया है, उसे द्रव्य शील कहते हैं।

☐ भाव शील दो प्रकार का है—ओघ शील और आभीक्ष्ण्य शील। सामान्यतया जो शील—आचार-विचार (अच्छा या बुरा) पालन किया जाता है, उसे ओघ भावशील कहते हैं, परन्तु वही शील निरन्तर क्रियान्वित किया जाता है, तब वह आभीक्ष्ण्य भाव शील कहलाता है।

☐ क्रोधादि कषाय, चोरी, परनिन्दा, कलह अथवा अधर्म में प्रवृत्ति अप्रशस्त भावशील है, और अहिंसादि धर्म के विषय में, सम्यग्ज्ञान, विशिष्ट तप, सम्यग्दर्शन आदि के विषय में प्रवृत्ति प्रशस्त भावशील है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में आचार-विचार के अर्थ में भावशील को लेकर सुशील और कुशील शब्द विवक्षित है। जिसका शील प्रशंसनीय है, शुद्ध है, धर्म और अहिंसादि से अविरुद्ध है लोकनिन्द्य नहीं है, वह सुशील है, और इसके विपरीत कुशील है।

☐ वैसे तो कुशील के अगणित प्रकार सम्भव हैं, परन्तु यहाँ उन सबकी विवक्षा नहीं है।[2]

☐ प्रस्तुत अध्ययन में तो मुख्यतया साधुओं की सुशीलता और कुशीलता को लेकर ही विचार किया गया है। वृत्तिकार के अनुसार ध्यान, स्वाध्याय आदि तथा धर्मपालन के आधार रूप शरीर रक्षणार्थ मुख्यतया आहार प्रवृत्ति को छोड़कर साधुओं की और कोई प्रवृत्ति नहीं। अप्रासुक एवं उद्गमादि दोषयुक्त आहार सेवन करना अहिंसा और साधुधर्म की दृष्टि से विरुद्ध है। अतः जो सचित्त जल, अग्नि, वनस्पति आदि का सेवन करते हैं, इतना ही नहीं, अपने धर्मविरुद्ध आचार को स्वर्ग-मोक्षादि का कारण बताते हैं, वे कुशील हैं।

---

[1] वृत्तिकार के अनुसार अध्ययन का नाम 'कुशीलपरिभाषा' है। —सू० कृ० मूलपाठ टिप्पण पृ० ६७

[2] (क) सूत्रकृतांगनिर्युक्ति गा० ८६-८७, ८८
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १५३-१५४

☐ जो प्रासुक एवं अचित्तसेवी हैं, अप्रासुक एवं दोषयुक्त आहार सेवन नहीं करते, वे सुशील हैं।

☐ निर्युक्तिकार ने कुछ कुशीलों के नाम गिनाये हैं। वे कुशील परतीर्थिक भी हैं, स्वयूथिक भी। स्वयूथिक भी जो पार्श्वस्थ, अवसन्न, स्वच्छन्द आदि हैं, वे कुशील हैं।[3]

☐ अतः ऐसे कुशीलों के सम्बन्ध में सभी पहलुओं से किया गया भाषण या निरूपण, साथ ही कुशील के अनुष्ठान के दुर्गतिगमनादि परिणामों का प्रतिपादन कुशील परिभाषा या कुशील परिभाषित अध्ययन का विषय है।

☐ उद्देशकरहित प्रस्तुत अध्ययन में ३० गाथाओं तथा ऐसे स्वतीर्थिक-परतीर्थिक कुशीलों का वर्णन किया गया है, जिनका शील (आचार विचार) अहिंसा, सत्य, संयम, अपरिग्रहवृत्ति या ब्रह्मचर्य के अनुकूल नहीं है, जो सरलभाव से अपने दोषों को स्वीकार एवं भूलों का परिमार्जन करके अपने पूर्वग्रह पर दृढ़ रहते हैं, शिथिल या कुत्सित एवं साधुधर्म विरुद्ध आचार-विचार को सुशील बताते हैं। साथ ही इसमें बीच-बीच में सुशील का भी वर्णन किया गया है।[4]

☐ साधक को सुशील और कुशील का अन्तर समझाकर कुशीलता से बचाना और सुशीलता के लिए प्रोत्साहित करना इस अध्ययन का उद्देश्य है।

☐ यह अध्ययन सूत्र गाथा ३८१ से प्रारम्भ होकर ४१० पर पूर्ण होता है।

☐☐

---

३. (क) अफासुयपडिसेविय णामं भुज्जो य सीलवादी य।
फासुं वयंति सीलं अफासुया मो अभुंजंता ॥८९॥
जह णाम गोयमा चंडीदेवगा, वारिभद्दगा चेव।
जे अग्गिहोत्तवादी जलसोयं जेय इच्छंति ॥९०॥ —सूत्र० निर्युक्ति

—गौतम (मसग जातीय पाषंडी या गोव्रतिक) चण्डीदेवक, वारिभद्रक, अग्निहोत्रवादी, ज़लशौचवादी (भागवत) आदि कुशील के उदाहरण हैं।

(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १५४

४. सूत्रकृतांग चूर्णि पृ० १५१, पत्र ४

सत्तमं अज्झयणं : 'कुसीलपरिभासियं'

कुशीलपरिभाषित (कुशीलपरिभाषा) : सातवाँ अध्ययन

कुशीलकृत जीवहिंसा और उसके दुष्परिणाम

३८१. पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ, तण-रुक्ख-बीया य तसा य पाणा ।
जे अंडया जे य जराउ पाणा, संसेयया जे रसयाभिधाणा ।। १ ।।

३८२. एताइं कयाइं पवेदियाइं, एतेसु जाण पडिलेह सायं[1] ।
एतेहिं कायेहि य आयदंडे, एतेसु या विप्परियासुविंति[2] ।। २ ।।

३८३. जातीवहं अणुपरियट्टमाणे, तस-थावरेहिं विणिघायमेति ।
से जाति-जाती बहूकूरकम्मे, जं कुव्वती मिज्जति तेण बाले ।। ३ ।।

३८४. अस्सि च लोगे अदुवा परत्था, सतग्गसो वा तह अन्नहा वा ।
संसारमावन्न परं परं ते, बंधंति वेयंति य दुण्णियाइं ।। ४ ।।

३८१-३८२. पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, तृण, वृक्ष, बीज और त्रस प्राणी तथा जो अण्डज हैं, जो जरायुज प्राणी हैं, जो स्वेदज (पसीने से पैदा होने वाले) और रसज (दूध, दही आदि रसों की विकृति से पैदा होने वाले) प्राणी हैं । इन (पूर्वोक्त) सबको सर्वज्ञ वीतरागों ने जीवनिकाय (जीवों के काय शरीर) बताए हैं । इन (पूर्वोक्त पृथ्वीकायादि प्राणियों) में सुख की इच्छा रहती है, इसे समझ लो और इस पर कुशाग्र बुद्धि से विचार करो ।

जो इन जीवनिकायों का उपमर्दन-पीड़न करके (मोक्षाकांक्षा रखते हैं, वे) अपनी आत्मा को दण्डित करते हैं, वे इन्हीं (पृथ्वीकायादि जीवों) में विविध रूप में शीघ्र या बार-बार जाते (या उत्पन्न होते) हैं ।

३८३. प्राणि-पीड़क वह जीव एकेन्द्रिय आदि जातियों में बार-बार परिभ्रमण (जन्म, जरा, मरण आदि का अनुभव करता हुआ) करता हुआ त्रस और स्थावर जीवों में उत्पन्न होकर कायदण्ड

---

[1] तुलना कीजिए—'भूतेहिं जाण पडिलेह सातं' —आचारांग विवेचन प्र० श्रु० अ०-२,, उ-२, सू० ११२, पृ० ९४

[2] तुलना कीजिए—'विप्परियासमुवेति' —आचा०-विवेचन प्र० श्रु० अ० २, उ० ३, सू० ७७, ७९, ८२, पृ० ५१

विपाकज कर्म के कारण विघात (नाश) को प्राप्त होता है। वह अतिक्रूरकर्मा अज्ञानी जीव वार-वार जन्म लेकर जो कर्म करता है, उसी से मरण-शरण हो जाता है।

३८४. इस लोक में अथवा परलोक में, एक जन्म में अथवा सैकड़ों जन्मों में वे कर्म कर्त्ता को अपना फल देते हैं, अथवा जिस प्रकार वे कर्म किये हुए हैं, उसी प्रकार या दूसरे प्रकार से भी अपना फल देते हैं। संसार में परिभ्रमण करते हुए वे कुशील जीव उत्कट से उत्कट (वड़े से वड़ा) दुःख भोगते हैं और आर्त्तध्यान करके फिर कर्म वाँधते हैं, और अपनी दुर्नीति (पाप) युक्त कर्मों का फल भोगते रहते हैं।

विवेचन—कुशील कृत जीवहिंसा और उसके दुष्परिणाम—प्रस्तुत चार सूत्रगाथाओं में शास्त्रकार ने कुशील के सन्दर्भ में निम्नलिखित तथ्यों का उद्घाटन किया है—(१) संसारी जीवों के मुख्य दो प्रकार हैं—स्थावर और त्रस। स्थावर के ५ भेद—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। तृण, वृक्ष आदि वनस्पति के अन्तर्गत हैं। ये सव एकेन्द्रिय और तद्रूप शरीर वाले होते हैं। ये त्रसजीव हैं। अण्डज, जरायुज स्वेदज, और रसज। त्रसजीव द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक होते हैं। इन सव को आत्मवत् जानो। (२) कुशील व्यक्ति विविध रूपों में स्थावर और त्रसजीवों का उत्पीड़न करके अपनी आत्मा को ही दण्डित करता है, (३) वह इन्हीं जीवों में वार-वार उत्पन्न होता है, और जन्म, जरा, मृत्यु आदि दुःखों का अनुभव करता हुआ विनष्ट होता है। (४) कर्म कर्त्ता को इस जन्म में या अगले जन्मों में, इस लोक या परलोक में, उसी रूप में या दूसरे रूप में अपना फल दिये विना नहीं रहते। (५) कुशील जीव कर्मानुसार संसार में परिभ्रमण करते हुए उत्कट से उत्कट दुःख भोगते हैं, (६) कर्मफल भोगते समय वे आर्त्तध्यान करके फिर कर्म वांध लेते हैं, फिर उन दुष्कर्मों का फल भोगते हैं।

निष्कर्ष यह है कि कुशील जीवों को पीड़ित करके अपनी आत्मा को ही पीड़ित (दण्डित) करता है।[1]

कठिन शब्दों की व्याख्या—आयदंडे—आत्मदण्ड—आत्मा दण्डित की जाती है। आयतदण्ड-रूप मानने पर अर्थ होता है—दीर्घकाल तक दण्डित होते हैं। **विप्परियासुविंति**—(इन्हीं पृथ्वीकायादि जीवों में) विविध—अनेक प्रकार से, चारों ओर से शीघ्र ही जाते हैं, वार-वार उत्पन्न होते हैं, (२) अथवा विपर्यास यानी विपरीतता या अदला-वदली को प्राप्त होते हैं, सुखार्थीजन सुख के लिए जीवसमारम्भ करते हैं, परन्तु उन्हें उस आरम्भ से दुःख ही प्राप्त होता है, अथवा कुतीर्थिकजन मोक्ष के लिए जीवों के द्वारा जो आरम्भादि क्रिया करते हैं, उन्हें उससे संसार ही मिलता है, मोक्ष नहीं। **जाइवहं**—इसके दो रूप होते हैं—जातिपथ और जातिवध। जातिपथ का अर्थ—एकेन्द्रियादि जातियों का पथ। जातिवध का अर्थ—जाति-उत्पत्ति, वध—मरण, अर्थात् जन्म और मरण। **अणुपरियट्टमाणे**—दो अर्थ—प्रथम अर्थ के अनुसार पर्यटन-परिभ्रमण करता हुआ, दूसरे के अनुसार—जन्ममरण का वार-वार अनुभव करता हुआ।[2]

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १५४-१५५ का सारांश

[2] (क) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा०) पृ० ६८

(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १५४-१५५

कुशीलों द्वारा स्थावर जीवों की हिंसा के विविध रूप

३८५. जे मायरं च पियरं चं हेच्चा, समणव्वदे अगणि समारभेज्जा ।
अहाहु से लोगे कुसीलधम्मे, भूताइं जे हिंसति आतसाते ॥५॥

३८६. उज्जालओ पाण तिवातएज्जा, निव्वावओ अगणि तिवातइज्जा ।
तम्हा उ मेहावि समिक्ख धम्मं, ण पंडिते अगणि समारभेज्जा ॥६॥

३८७. पुढवी वि जीवा आउ वि जीवा, पाणा य संपातिम संपयंति ।
संसेदया कट्ठसमस्सिता य, एते दहे अगणि समारभंते ॥७॥

३८८. हरिताणि भूताणि विलंबगाणि, आहारदेहाइं पुढो सिताइं ।
जे छिंदती आतसुहं पडुच्चा, पागब्भि पाणे बहुणं तिवाती ॥८॥

३८९. जाइं च वुड्ढि च विणासयंते, बीयादि अस्संजय आयदंडे ।
अहाहु से लोए अणज्जधम्मे, बीयादि जे हिंसति आयसाते ॥९॥

३८५. जो अपने माता और पिता को छोड़कर श्रमणव्रत को धारण करके अग्निकाय का समारम्भ करता है, तथा जो अपने सुख के लिए प्राणियों की हिंसा करता है, वह लोक में कुशील धर्म वाला है, ऐसा (सर्वज्ञ पुरुषों ने) कहा है ।

३८६. आग जलाने वाला व्यक्ति प्राणियों का घात करता है और आग बुझाने वाला व्यक्ति भी अग्निकाय के जीवों का घात करता है । इसलिए मेधावी (मर्यादाशील) पण्डित (पाप से निवृत्त साधक) (अपने) (श्रुतचारित्ररूप श्रमण) धर्म का विचार करके अग्निकाय का समारम्भ न करे ।

३८७. पृथ्वी भी जीव है, जल भी जीव है तथा सम्पातिम (उड़ने वाले पतंगे आदि) भी जीव है जो आग में पड़ (कर मर) जाते हैं । और भी पसीने से उत्पन्न होने वाले जीव एवं काठ (लकड़ी आदि इन्धन) के आश्रित रहने वाले जीव होते हैं । जो अग्निकाय का समारम्भ करता है, वह इन (स्थावर-त्रस) प्राणियों को जला देता है ।

३८८. हरी दूब अंकुर आदि भी (वनस्पतिकायिक) जीव हैं, वे भी जीव का आकार धारण करते हैं । वे (मूल, स्कन्ध, शाखा, पत्ते, फल, फूल आदि अवयवों के रूप में) पृथक्-पृथक् रहते हैं । जो व्यक्ति अपने सुख की अपेक्षा से तथा अपने आहार (या आधार-आवास) एवं शरीर-पोषण के लिए इनका छेदन-भेदन करता है, वह धृष्ट पुरुष बहुत-से प्राणियों का विनाश करता है ।

३८९. जो असंयमी (गृहस्थ या प्रव्रजित) पुरुष अपने सुख के लिए बीजादि (विभिन्न प्रकार के बीज वाले अन्न एवं फलादि) का नाश करता है, वह (बीज के द्वारा) जाति (अंकुर की उत्पत्ति) और (फल के रूप में) वृद्धि का विनाश करता है । (वास्तव में) वह व्यक्ति (हिंसा के उक्त पाप द्वारा)

अपनी ही आत्मा को दण्डित करता है। संसार में तीर्थकरों या प्रत्यक्षदर्शियों ने उसे अनार्यधर्मी (अनाड़ी या अधर्मसंसक्त) कहा है।

विवेचन—कुशीलों द्वारा स्थावर जीवों की हिंसा के विविध रूप—प्रस्तुत ५ सूत्रगाथाओं (३८५ से ३८९ तक) द्वारा शास्त्रकार ने कुशीलधर्मा कौन है? वह किसलिए और किस-किस रूप में अग्निकायिक, पृथ्वीकायिक, अप्कायिक एवं वनस्पतिकायिक जीवों का घात करता है? इसका विशद निरूपण किया है।

भूताइं जे हिंसति आतसाते—इस पंक्ति का आशय यह है कि जो अपनी सुख-सुविधा के लिए, परलोक में सुख मिलेगा, या स्वर्ग अथवा मोक्ष का सुख मिलेगा, इस हेतु से, अथवा धर्मसम्प्रदाय परम्परा या रीतिरिवाज के पालन से यहां सभी प्रकार का सुख मिलेगा, इस लिहाज से अग्नि, जल, वनस्पति, पृथ्वी आदि के जीवों की हिंसा करते हैं। अथवा स्वर्गप्राप्ति की कामना से विविध अग्निहोम या पंचाग्निसेवनतप आदि क्रियाएँ करते हैं, फल, फूल आदि वनस्पतिकाय का छेदन-भेदन करते हैं, वे सब कुशीलधर्मा हैं।[3]

अग्नि जलाने और बुझाने में अनेक स्थावर-त्रस जीवों की हिंसा—जो व्यक्ति इह लौकिक या पारलौकिक किसी भी प्रयोजन से अग्नि जलाता है, वह अग्निकायिक जीवों की हिंसा करता ही है, अग्नि जहाँ जलाई जाती है, वहां की पृथ्वी के जीव भी आग की तेज आँच से नष्ट हो जाते हैं, अग्नि बुझाने से अग्निकाय के जीवों का घात तो होता ही है, साथ ही बुझाने के लिए सचित्त पानी का प्रयोग किया जाता है, तब या भोजन पकाने में जलकायिक जीव नष्ट हो जाते हैं, कंडे लकड़ी आदि में कई त्रस जीव बैठे रहते हैं, वे भी आग से मर जाते हैं, पतंगे आदि कई उड़ने वाले जीव भी आग में भस्म हो जाते हैं। इस प्रकार आग जलाने और बुझाने में अनेक जीवों की हिंसा होती है, इसी बात को शास्त्रकार ने ३८६-३८७ इन दो सूत्रगाथाओं द्वारा व्यक्त किया है—**"उज्जालओ……अगणि समारभेज्जा। पुढवी पि जीवा…अगणि समारभंते।"**[4]

वृत्तिकार ने भगवती सूत्र का प्रमाण प्रस्तुत करके सिद्ध किया है कि भले ही व्यक्ति आग जलाने में महाकर्म युक्त और बुझाने में अल्पकर्मयुक्त होता है, परन्तु दोनों ही क्रियाओं में षट्कायिक आरम्भ होता है।[5] **विलंबगाणि**—जो जीव का आकार धारण कर लेते हैं।

कुशील द्वारा हिंसाचरण का कटु विपाक

३९०. गब्भाइ मिज्जंति बुयाऽबुयाणा, णरा परे पंचसिहा कुमारा।
जुवाणगा मज्झिम थेरगा य, चयंति ते आउखए पलीणा ॥१०॥

३९१. संबुज्झहा जंतवो माणुसत्तं, दट्ठुं भयं बालिसेणं अलंभो।
एगंतदुक्खे जरिते व लोए, सकम्मुणा विप्परियासुवेति ॥११॥

---

[3] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १५६ के आधार पर

[4] वही, पत्रांक १५६-५७ के आधार पर

[5] भगवतीसूत्र शतक ७, सूत्र २२७-२२८ (अंगसुत्ताणि भाग २)

३९०. (देवी-देवों की अर्चा या धर्म के नाम पर अथवा सुख-वृद्धि आदि किसी कारण से हरित वनस्पति का छेदन-भेदन करने वाले) मनुष्य गर्भ में ही मर जाते हैं, तथा कई तो स्पष्ट बोलने तक की वय में और कई अस्पष्ट बोलने तक की उम्र में ही मर जाते हैं। दूसरे पंचशिखा वाले मनुष्य कुमार-अवस्था में ही मृत्यु के गाल में चले जाते हैं, कई युवक होकर तो कई मध्यम (प्रौढ़) उम्र के होकर अथवा बूढ़े होकर चल बसते हैं। इस प्रकार बीज आदि का नाश करने वाले प्राणी (इन अवस्थाओं में से किसी भी अवस्था में) आयुष्य क्षय होते ही शरीर छोड़ देते हैं।

३९१. हे जीवो! मनुष्यत्व या मनुष्यजन्म की दुर्लभता को समझो। (नरक एवं तिर्यंच योनि के भय को देखकर एवं विवेकहीन पुरुष को उत्तम विवेक का अलाभ (प्राप्ति का अभाव) जानकर बोध प्राप्त करो। यह लोक ज्वरपीड़ित व्यक्ति की तरह एकान्त दुःखरूप[६] है अपने (हिंसादि पाप) कर्म से सुख चाहने वाला जीव सुख के विपरीत (दुःख) ही पाता है।

विवेचन—कुशील द्वारा हिंसाचरण का कटु विपाक—प्रस्तुत गाथाद्वय में दो विभिन्न पहलुओं से कुशीलाचरण का दुष्परिणाम बताया गया है। सूत्रगाथा ३९० में कहा गया है कि जो वनस्पतिकायिक आदि प्राणियों का आरम्भ अपने किसी भी प्रकार के सुखादि की वांछा से प्रेरित होकर करता है, वह उसके फलस्वरूप गर्भ से लेकर वृद्धावस्था तक में कभी भी मृत्यु के मुख में चला जाता है। सूत्रगाथा ३९१ में सामान्य रूप से कुशीलाचरण का फल सुखाशा के विपरीत दुःख प्राप्ति बतलाया गया है तथा संसार को एकान्तदुःखरूप समझकर नरक-तिर्यंचगति में बोधि-अप्राप्ति के भय का विचार करके बोधि प्राप्त करने का निर्देश दिया गया है।[७]

पाठान्तर और व्याख्या—'**····जरिते व लोए**'—वृत्तिकार के अनुसार—लोक को ज्वरग्रस्त की तरह समझो। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—'**जरिए हु लोगे**' लोक को (विविध दुःखों की भट्टी में) ज्वलित की तरह या ज्वरग्रस्त की तरह ज्वलित समझो।[८] '**मज्झिम थेरगाए**' के बदले '**मज्झिम पोरुसा य**' पाठान्तर है। अर्थ है—पुरुषों की चरमावस्था को प्राप्त।

मोक्षवादी कुशीलों के मत और उनका खण्डन

३९२. इहेगे मूढा पवदंति मोक्खं, आहारसंपज्जणवज्जणेणं।
एगे य सीतोदगसेवणेणं, हुतेण एगे पवदंति मोक्खं ॥१२॥

३९३. पाओसिणाणादिसु णत्थि मोक्खो, खारस्स लोणस्स अणासएणं।
ते मज्ज मंसं लसुणं च भोच्चा, अन्नत्थ वासं परिकप्पयंति ॥१३॥

---

[६] देखिये—जम्म दुक्खं जरा दुक्खं रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो जत्थ कीसंति पाणिणो ॥
—उत्तरा० अ० १९/१५

[७] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १५८ का सारांश

[८] जरित्तेति 'आलित्तेणं भंते! लोए, पलित्तेणं भंते लोए' अथवा ज्वरित इव ज्वलितः।
—सूत्र कृ० चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ७०

३९४. उदगेण चे सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पातं उदगं फुसंता।
उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी, सिज्झिसु पाणा बहवे दगंसि ॥१४॥

३९५. मच्छा य कुम्मा य सिरीसिवा, मग्गू य उट्टा दगरक्खसा य।
अट्ठाणमेयं कुसला वदंति, उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति ॥१५॥

३९६. उदगं जती कम्ममलं हरेज्जा, एवं सुहं इच्छामेत्तता वा।
अंधव्व णेयारमणुस्सरित्ता, पाणाणि चेवं विणिहंति मंदा ॥१६॥

३९७. पावाइं कम्माइं पकुव्वतो हि, सिओदगं तु जइ तं हरेज्जा।
सिज्झिसु एगे दगसत्तघाती, मुसं वयंते जलसिद्धिमाहु ॥१७॥

३९८. हुतेण जे सिद्धिसुदाहरंति, सायं च पातं अगणिं फुसंता।
एवं सिया सिद्धि हवेज्ज तम्हा, अगणिं फुसंताण कुकम्मिणं पि ॥१८॥

३९९. अपरिक्ख दिट्ठं ण हु एव सिद्धी, एहिंति ते घातमबुज्झमाणा।
भूतेहिं जाण पडिलेह सातं, विज्जं गहाय तस-थावरेहिं ॥१९॥

४००. थणंति लुप्पंति तसंति कम्मी, पुढो जगा परिसंखाय भिक्खू।
तम्हा विदू विरते आयगुत्ते, दट्ठुं तसे य पडिसाहरेज्जा ॥२०॥

३९२. इस जगत् में अथवा मोक्षप्राप्ति के विषय में कई मूढ़ इस प्रवाद का प्रतिपादन करते हैं कि आहार का रस-पोषक-नमक खाना छोड़ देने से मोक्ष प्राप्त होता है, और कई शीतल (कच्चे जल के सेवन से तथा कई (अग्नि में घृतादि द्रव्यों का) हवन करने से मोक्ष (की प्राप्ति) बतलाते हैं।

३९३. प्रातःकाल में स्नानादि से मोक्ष नहीं होता, न ही क्षार (खार) या नमक खाने से मोक्ष होता है। वे (अन्यतीर्थी मोक्षवादी) मद्य, माँस और लहसुन खाकर (मोक्ष से) अन्यत्र (संसार में) अपना निवास बना लेते हैं।

३९४. सायंकाल और प्रातःकाल जल का स्पर्श (स्नानादि क्रिया के द्वारा) करते हुए जो जल-स्नान से सिद्धि (मोक्ष प्राप्ति) बतलाते हैं, (वे मिथ्यावादी हैं)। यदि जल के (बार-बार) स्पर्श से मुक्ति (सिद्धि) मिलती तो जल में रहने वाले बहुत-से जलचर प्राणी मोक्ष प्राप्त कर लेते।

३९५. (यदि जलस्पर्श से मोक्ष प्राप्ति होती तो) मत्स्य, कच्छप, सरीसृप (जलचर सर्प), मद्गू तथा उष्ट्र नामक जलचर और जलराक्षस (मानवाकृति जलचर) (आदि जलजन्तु सबसे पहले मुक्ति प्राप्त कर लेते, परन्तु ऐसा नहीं होता।) अतः जो जलस्पर्श से मोक्षप्राप्ति (सिद्धि) बताते हैं, मोक्षतत्त्व-पारंगत (कुशल) पुरुष उनके इस कथन को अयुक्त कहते हैं।

३९६. जल यदि कर्म-मल का हरण-नाश कर लेता है, तो वह इसी तरह शुभ-पुण्य का भी हरण

कर लेगा। (अतः जल कर्ममल हरण कर लेता है, यह कथन) इच्छा (कल्पना) मात्र है। मन्दबुद्धि-लोग अज्ञानान्ध नेता का अनुसरण करके इस प्रकार (जलस्नान आदि क्रियाओं) से प्राणियों का घात करते हैं।

३९७. यदि पापकर्म करने वाले व्यक्ति के उस पाप को शीतल (सचित्त) जल (जलस्नानादि) हरण कर ले, तब तो कई जलजन्तुओं का घात करने वाले (मछुए आदि) भी मुक्ति प्राप्त कर लेंगे। इसलिए जो जल (स्नान आदि) से सिद्धि (मोक्ष प्राप्ति) बतलाते हैं, वे मिथ्यावादि हैं।

३९८. सायंकाल और प्रातःकाल अग्नि का स्पर्श करते हुए जो लोग (अग्निहोत्रादि कर्मकाण्डी) अग्नि में होम करने से सिद्धि (मोक्षप्राप्ति या सुगतिगमनरूप स्वर्गप्राप्ति) बतलाते हैं, वे भी मिथ्यावादी हैं। यदि इस प्रकार (अग्निस्पर्श से या अग्निकार्य करने) से सिद्धि मिलती हो, तब तो अग्नि का स्पर्श करने वाले (हलवाई, रसोइया, कुम्भकार, लुहार, स्वर्णकार आदि) कुकर्मियों (आरम्भ करने वालों, आग जलाने वालों) को भी सिद्धि प्राप्त हो जानी चाहिए।

३९९. जलस्नान और अग्निहोत्र आदि क्रियाओं से सिद्धि मानने वाले लोगों ने परीक्षा किये बिना ही इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार सिद्धि नहीं मिलती। वस्तुतत्त्व के बोध से रहित वे लोग घात (संसार भ्रमणरूप अपना विनाश) प्राप्त करेंगे। अध्यात्मविद्यावान् (सम्यग्ज्ञानी) यथार्थ वस्तुस्वरूप का ग्रहण (स्वीकार) करके यह विचार करे कि त्रस और स्थावर प्राणियों के घात से उन्हें सुख कैसे होगा ? यह (भलीभाँति) समझ ले।

४००. पापकर्म करने वाले प्राणी पृथक्-पृथक् रुदन करते हैं, (तलवार आदि के द्वारा) छेदन किये जाते हैं, त्रास पाते हैं। यह जानकर विद्वान् भिक्षु पाप से विरत होकर आत्मा का रक्षक (गोप्ता या मन-वचन-काय-गुप्ति से युक्त) बने। वह त्रस और स्थावर प्राणियों को भलीभाँति जानकर उनके घात की क्रिया से निवृत्त हो जाए।

विवेचन—मोक्षवादी कुशीलों के मत और उनका खण्डन—प्रस्तुत ९ सूत्रगाथाओं में विविध मोक्षवादी कुशीलों के मत का निरूपण और उनका खण्डन किया है। साथ ही यह भी बताया है कि सुशील एवं विद्वान् साधु को प्राणहिंसाजनित क्रियाओं से मोक्ष-सुख-प्राप्ति की आशा छोड़कर इन क्रियाओं से दूर रहना चाहिए।

आहार-रसपोषक लवणत्याग से मोक्ष कैसे नहीं ?—रस पर विजय पाने से सब पर विजय पा ली; इस दृष्टि से सर्वरसों के राजा लवणपञ्चक (सैन्धव, सौवर्चल, विड्, रोम और सामुद्र इन पांच रसों) को छोड़ देने से रसमात्र का त्याग हो जाता है। अतः लवण (रस) परित्याग से मोक्ष निश्चित है। किसी प्रति में **'आहारसंपज्जण वज्जणेणं'** के बदले **'आहारओ पंचकवज्जणेण'** पाठ भी मिलता है, तदनुसार अर्थ किया गया है—आहार में से इन पांच (लहसुन, प्याज, ऊँटनी का दूध, गौमांस और मद्य) वस्तुओं के त्याग से मोक्ष मिलता है। यह लवणरसत्याग से मोक्षवादियों का कथन है।

शास्त्रकार सूत्रगाथा ३९२ में इसका निराकरण करते हुए कहते हैं—**'……णत्थि मोक्खो, खारस्स लोणस्स अणासएणं'**। इस पंक्ति का आशय यह है कि केवल नमक न खाने से ही मोक्षप्राप्ति नहीं होती, ऐसा सम्भव होता तो जिस देश में लवण नहीं होता, वहाँ के निवासियों को मोक्ष मिल

जाना चाहिए; क्योंकि वे द्रव्यतः लवणत्यागी हैं, परन्तु ऐसा होता नहीं। भावतः लवणत्याग कर देने मात्र से भी मोक्ष नहीं होता, क्योंकि लवणत्याग के पीछे रसपरित्याग का आशय हो, तब तो दुग्ध, दधि, घृत, शर्करा (या मिष्ठान्न) आदि वस्तुएँ भी रसोत्पादक हैं, उनका भी भाव से त्याग होना चाहिए, लेकिन बहुत-से लवण-त्यागी स्वादलोलुपतावश मद्य, मांस लहसुन आदि तामसिक पदार्थों का निस्संकोच सेवन करते हैं, तब उन्हें मोक्ष कैसे होगा? बल्कि जीवहिंसाजन्य पदार्थों के सेवन से संसार में ही निवास होगा। वास्तव में देखा जाए तो मोक्ष तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र की भावपूर्वक साधना से होता है।

सचित्त जल-शौच से मोक्ष कैसे नहीं?—वारिभद्रक आदि भागवत जलशौचवादियों का कथन है कि जल में जैसे वस्त्र, शरीर, अंगोपांग आदि के बाह्यमल की शुद्धि करने की शक्ति है, वैसे आन्तरिक मल को दूर करने की भी शक्ति है। इसलिए शीतल जल का स्पर्श (स्नानादि) मोक्ष का कारण है।

इसका निराकरण शास्त्रकार ने चार गाथाओं (सू० गा० ३९४ से ३९७ तक) द्वारा पांच अकाट्य युक्तियों से किया है—(१) केवल सचित्त जलस्पर्श कर्मक्षयरूप मोक्ष का कारण नहीं है बल्कि सचित्त जलसेवन से जलकायिक एवं तदाश्रित त्रस जीवों का उपमर्दन होता है, अतः जीवहिंसा से मोक्ष कदापि सम्भव नहीं है, (२) जल में बाह्यमल को भी पूर्णतः साफ करने की शक्ति नहीं है, आन्तरिक कर्ममल को साफ करने की शक्ति तो उसमें हो ही कैसे सकती है? आन्तरिक पापमल का नाश तो भावों की शुद्धि से ही हो सकता है। भावों की शुद्धि से रहित व्यक्ति चाहे जितना जलस्नान करे उससे उसके पापमल का नाश नहीं हो सकता। यदि शीतल जलस्नान ही पाप को मिटा देता है, तब तो जलचर प्राणियों का सदैव घात करने वाले एवं जल में ही अवगाहन करने वाले पापी मछुए या पापकर्म करने वाले अन्य प्राणी जलस्नान करके शीघ्र मोक्ष पा लेंगे, उनके सभी पापकर्म धुल जायेंगे। फिर तो नरकलोक आदि संसार में कोई भी पापी नहीं रहेगा। परन्तु ऐसा होना असम्भव है। (३) यदि जलस्नान से ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है, तब तो मनुष्य दूर रहे, मत्स्य आदि समस्त जलचर प्राणियों को शीघ्र मोक्ष प्राप्त हो जाएगा, क्योंकि वे तो चौवीसों घंटे जल में ही रहते हैं। अतएव यह मान्यता मिथ्या और अयुक्त है। (४) जल जैसे पाप (अशुभ कर्ममल) का हरण करता है, वैसे पुण्य (शुभ कर्ममल) का भी हरण कर डालेगा। तब तो जल से पाप की तरह पुण्य भी धुलकर साफ हो जाएगा और एक दिन मोक्ष के लिए किये जाने वाले अनुष्ठानों को भी वह धोकर साफ कर देगा। ऐसी स्थिति में जलस्पर्श मोक्षसाधक होने के बदले मोक्षबाधक सिद्ध होगा। (५) जितना अधिक जलस्पर्श होगा, उतना ही अधिक जलकायिक तथा तदाश्रित अनेक त्रसप्राणियों का घात होगा।

अग्निहोत्र क्रिया से मोक्ष क्यों नहीं?—अग्निहोत्री मीमांसक आदि का कथन है कि अग्नि जैसे बाह्य द्रव्यों को जला डालती है, वैसे ही उसमें घी आदि होमने से वह आन्तरिक पापकर्मों को भी जला देती है। जैसा कि श्रुतिवाक्य है—स्वर्ग की कामना करने वाला अग्निहोत्र करे। स्वर्गप्राप्ति के अतिरिक्त वैदिक लोग निष्काम भाव से किये जाने वाले अग्निहोत्र आदि कर्म को मोक्ष का भी प्रयोजक मानते हैं। इस युक्तिविरुद्ध मन्तव्य का खण्डन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—**'एवं सिया सिद्धि····कुकम्मिणं पि।'** इसका आशय यह है कि यदि अग्नि में द्रव्यों के डालने से या अग्निस्पर्श से मोक्ष मिलता हो, तब तो आग जलाकर कोयला बनाने वाले, कुम्भकार, लुहार, सुनार, हलवाई आदि सभी अग्निकाय का आरम्भ करनेवालों को मोक्ष मिल जाएगा। परन्तु न तो इन अग्निकायारम्भजीवियों को

मोक्ष मिल सकता है, और न ही अग्निस्पर्शवादियों को, क्योंकि दोनों ही अग्निकायिक जीवों का घात करते हैं। जीवघातकों का संसार में ही वास या भ्रमण हो सकता है, मोक्ष में नहीं। कर्मों को जलाने की शक्ति अग्नि में नहीं है, सम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक किये जाने वाले तप में है। उसी की साधना से मोक्षप्राप्ति हो सकती है।[८]

इस कुशील आचार एवं विचार से, सुशील आत्मरक्षक विद्वान् साधु को बचना चाहिए, क्योंकि जीवहिंसाजनक इन कर्मकाण्डों से नरकादि गतियों में नाना दुःख उठाने पड़ते हैं। इस प्रकार गाथाद्वय (३९९-४००) द्वारा शास्त्रकार ने सावधान किया है। अपरिक्ख दिट्ठं—बिना ही परीक्षा किये इस दर्शन (जलस्पर्श-अग्निहोत्रादि से मोक्षवाद) का स्वीकार किया है।[९]

कुशील साधक की आचारभ्रष्टता

४०१. जे धम्मलद्धं वि णिहाय भुंजे, वियडेण साहट्टु य जो सिणाति।
जो धावति लूसयती व वत्थं, अहाहु से णागणियस्स दूरे ॥२१॥

४०२. कम्मं परिण्णाय दगंसि धीरे, वियडेण जीवेज्ज य आदिमोक्खं।
से बीय-कंदाति अभुंजमाणे, विरते सिणाणादिसु इत्थियासु ॥२२॥

४०३. जे मायरं पियरं च हेच्चा, गारं तहा पुत्त पसुं धणं च।
कुलाइं जे धावति साउगाइं, अहाऽऽहु से सामणियस्स दूरे ॥२३॥

४०४. कुलाइं जे धावति साउगाइं, आघाति धम्मं उदराणुगिद्धे।
अहाहु से आयरियाण सतंसे, जे लावइज्जा असणस्स हेउं ॥२४॥

४०५. निक्खम्म दीणे परभोयणम्मि, मुहमंगलिओदरियाणुगिद्धे।
नीवारगिद्धे व महावराहे, अदूर एवेहति घातमेव ॥२५॥

४०६. अन्नस्स पाणस्सिहलोइयस्स, अणुप्पियं भासति सेवमाणे।
पासत्थयं चेव कुसीलयं च, निस्सारिए होति जहा पुलाए ॥२६॥

४०१. जो (स्वयूथिक साधुनामधारी) धर्म (श्रमण की औद्देशिक आदि दोषरहित धर्ममर्यादा) से प्राप्त आहार को भी संचय (अनेक दिनों तक रख) करके खाता है, तथा अचित्त जल से (अचित्त स्थान में भी) अंगों का संकोच करके जो स्नान करता है और जो अपने वस्त्र को (विभूषा के लिए) धोता है तथा (श्रृंगार के लिए) छोटे वस्त्र को बड़ा और बड़े को (फाड़कर) छोटा करता है, वह निर्ग्रन्थ भाव (संयमशीलता) से दूर है, ऐसा (तीर्थंकरों और गणधरों ने) कहा है।

---

[८] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १५८ से १६१

[९] सूत्रकृतांग चूर्णि (मूलपाठ टिप्पण) पृ० ७१

४०२. (अत:) धीर साधक जलस्नान में कर्मबन्ध जानकर आदि (संसार) से मोक्षपर्यन्त प्रासुक (अचित्त) जल से प्राण धारण करे, तथा वह बीज, कन्द आदि (अपरिणत-अप्रासुक आहार) का उपभोग न करे एवं स्नान आदि (शृंगार-विभूषा कर्म) से तथा स्त्री आदि (समस्त मैथुनकर्म) से विरत रहे।

४०३. जो साधक माता और पिता को तथा घर, पुत्र, पशु और धन (आदि सब) को छोड़कर (प्रव्रजित होकर स्वादलोलुपतावश) स्वादिष्ट भोजन वाले घरों में दौड़ता है, वह श्रमणभाव से दूर है, यह तीर्थंकरों ने कहा है।

४०४. उदर भरने में आसक्त जो साधक स्वादिष्ट भोजन (मिलने) वाले घरों में जाता है, तथा (वहाँ जाकर) धर्मकथा (धर्मोपदेश) करता है, तथा जो साधु भोजन के लोभ से अपने गुणों का बखान करता है, वह भी आचार्य या आर्य के गुणों के शतांश के समान है, ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है।

४०५. जो व्यक्ति (घरबार, धन-धान्य आदि छोड़कर) साधुदीक्षा के लिए घर से निकलकर दूसरे (गृहस्थ) के भोजन (स्वादिष्ट आहार) के लिए दीन बन कर भाट की तरह मुखमांगलिक (चापलूस) हो जाता है, वह चावल के दानों में आसक्त बड़े सूअर की तरह उदरभरण में आसक्त होकर शीघ्र ही विनाश को प्राप्त होता है।

४०६. अन्न और पान अथवा वस्त्र आदि इहलौकिक पदार्थ के लिए सेवक की तरह आहारादि दाता के अनुकूल प्रिय भाषण करता है (ठकुरसुहाती बात करता है) वह धीरे-धीरे पार्श्वस्थभाव (आचारशैथिल्य) और कुशीलता (दूषितसंयमित्व) को प्राप्त हो जाता है। (और एक दिन) वह भूमि के समान नि:सार-नि:सत्त्व (संयमप्राण से रहित—थोथा) हो जाता है।

विवेचन—कुशील साधक की आचारभ्रष्टता—प्रस्तुत छह सूत्रगाथाओं (४०१ से ४०६ तक) द्वारा कुशील साधु की आचारभ्रष्टता का परिचय एवं सुशील धीर साधक को इससे बचने का कुछ स्पष्ट निर्देश दिया गया है।

आचारभ्रष्टता के विविध रूप—प्रस्तुत ६ गाथाओं में से पांच गाथाओं में कुशील साधक की आचारभ्रष्टता के दस रूप बताये गए हैं—(१) धर्मप्राप्त आहार का संचय करके उपभोग करना, (२) विभूषा की दृष्टि से प्रासुक जल से भी अंग संकोच करके स्नान करना, (३) विभूषा के लिए वस्त्र धोकर उजला बनाना, (४) शृंगार के लिए छोटे वस्त्र को बड़ा और बड़े को फाड़कर छोटा बनाना, (५) संयम ग्रहण करने के बाद मनोबलहीन एवं रसलोलुप बनकर स्वादिष्ट भोजन मिलने वाले घरों में बार-बार जाना, (६) उदरभरण में आसक्त होकर स्वादिष्ट भोजन प्राप्त होने वाले घरों में जाकर धर्मकथा करना, (७) स्वादिष्ट भोजन के लोभवश अपनी ओर आकर्षित करने हेतु अपने गुणों का अत्युक्तिपूर्वक बखान करना, (८) गृहस्थ से स्वादुभोजन लेने हेतु दीनता दिखलाना, (९) उदरपोषणासक्त बनकर मुखमांगलिकता करना, (१०) अन्न, पान और अन्य वस्त्रादि आवश्यकताओं के लिए सेवक की तरह दाता के अनुरूप प्रिय-मधुर बोलना।

आचारभ्रष्ट के विशेषण—ऐसे आचारभ्रष्ट साधक को प्रस्तुत गाथाओं में निर्ग्रन्थत्व (नग्नत्व) से दूर, श्रमणत्व से दूर, आचार्य या आर्य गुणों का शतांश, पाशस्थ या पार्श्वस्थ, कुशील एवं नि:सार कहा गया है।

सुशील धीर साधक के लिए ५ निर्देश—(१) जलस्नान में कर्मबन्ध जानकर उसका परित्याग करे, (२) प्रासुक (विकट) जल से संसार से विमुक्तिपर्यन्त जीवन निर्वाह करे, (३) बीज, कंद आदि अशस्त्रपरिणत सचित्त वनस्पति का उपभोग न करे, (४) स्नान, अभ्यंगन, उद्वर्तन आदि शरीर-विभूषाक्रियाओं से विरत हो, (५) स्त्रीसंसर्ग आदि से भी दूर रहे।[10]

कठिन शब्दों की व्याख्या—धम्मलद्धं वि णिहाय भुंजे—दो अर्थ फलित होते हैं—(१) भिक्षादोषरहित धर्मप्राप्त आहार का संग्रह करके खाता है, (२) धर्मलब्ध आहार को छोड़कर अन्य स्वादिष्ट (अशुद्ध) आहार-सेवन करता है। लूसयतीव वत्थं—विभूषार्थ वस्त्र को छोटा या बड़ा (विकृत) करता है। आदिमोक्खं—दो अर्थ—(१) आदि—संसार, उससे मोक्ष तक, (२) धर्मकारणों का आदिभूत-शरीर, उसकी विमुक्ति (छूटने) तक।[11]

सुशील साधक के लिए आचार विचार के विवेकसूत्र

४०७. अण्णातपिंडेणऽधियासएज्जा, नो पूयणं तवसा आवहेज्जा।
सद्देहिं रूवेहिं असज्जमाणे, सव्वेहिं कामेहिं विणीय गेहिं ॥२७॥

४०८. संव्वाइं संगाइं अइच्च धीरे, सव्वाइं दुक्खाइं तितिक्खमाणे।
अखिले अगिद्धे अणिएयचारी, अभयंकरे भिक्खू अणाविलप्पा ॥२८॥

४०९. भारस्स जाता मुणि भुंजएज्जा, कंखेज्ज पावस्स विवेग भिक्खू।
दुक्खेण पुट्ठे धुयमातिएज्जा, संगामसीसे व परं दमेज्जा ॥२९॥

४१०. अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी, समागमं कंखति अंतगस्स।[12]
णिद्धूय कम्मं ण पवंचुवेति, अक्खक्खए वा सगडं ति बेमि ॥३०॥

॥ कुसीलपरिभासियं-सत्तमं अज्झयणं सम्मत्तं ॥

४०७. सुशील साधु अज्ञातपिण्ड (अपरिचित घरों से लाये हुए भिक्षान्न) से अपना निर्वाह करे, तपस्या के द्वारा अपनी पूजा-प्रतिष्ठा की इच्छा न करे, शब्दों और रूपों में अनासक्त रहता हुआ तथा समस्त काम-भोगों से आसक्ति हटाकर (शुद्ध संयम का पालन करे।)

४०८. धीर साधक सर्वसंगों (सभी आसक्तिपूर्ण सम्बन्धों) से अतीत (परे) होकर सभी परीषहोपसर्गजनित शारीरिक मानसिक दुःखों को (समभावपूर्वक) सहन करता हुआ (विशुद्ध संयम का तभी पालन कर पाता है जब वह) अखिल (ज्ञान-दर्शन-चारित्र से पूर्ण) हो, अगृद्ध (विषयभोगों में अनासक्त)

---

[10] १०. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १६१ से १६३ तक का सारांश

[11] ११. (क)) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ७२-७३
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १६१-१६२

[12] १२. तुलना—"अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी कालोवणीते कंखेज्ज कालं" —आचारांगसूत्र १०८, पृ० २३२

हो, अनियतचारी (अप्रतिबद्धविहारी) और अभयंकर (जो न स्वयं भयभीत हों और न दूसरों को भयभीत करे) तथा जिसकी आत्मा विषय-कषायों से अनाविल (अनाकुल) हो।

४०९. मुनि पंचमहाव्रतरूप संयम भार की यात्रा (निर्वाह) के लिए आहार करे। भिक्षु अपने (पूर्वकृत) पाप का त्याग करने की आकांक्षा करे। परीषहोपसर्गजनित दुःख (पीड़ा) का स्पर्श होने पर धुत संयम या मोक्ष का ग्रहण (स्मरण अथवा ध्यान) करे। जैसे योद्धा संग्राम के शीर्ष (मोर्चे) पर डटा रहकर शत्रु-योद्धा का दमन करता है, वैसे ही साधु भी कर्मशत्रुओं के साथ युद्ध में डटा रहकर उनका दमन करे।

४१०. साधु परीषहों और उपसर्गों से प्रताड़ित (पीड़ित) होता हुआ भी (उन्हें सहन करे।), जैसे लकड़ी का तख्ता दोनों ओर से छिल जाने पर राग-द्वेष नहीं करता, वैसे ही बाह्य और आभ्यन्तर तप से कष्ट पाता हुआ भी साधक राग-द्वेष न करे। वह अन्तक (मृत्यु) के (समाधि-पूर्वक) समागम की प्रतीक्षा (कांक्षा) करे। जैसे अक्ष (गाड़ी की धुरी) टूट जाने पर गाड़ी आगे नहीं चलती, वैसे ही कर्मक्षय कर देने पर जन्म, मरण, राग, शोक आदि प्रपंच की गाड़ी भी आगे नहीं चलती।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—सुशील साधक के लिए आचार-विचार के विवेकसूत्र—प्रस्तुत चार सूत्रगाथाओं (४०७ से ४१० तक) में सुशील साधक के लिए आचार-विचार सम्बन्धी १९ विवेकसूत्र प्रस्तुत किये गए हैं—(१) अज्ञातपिण्ड द्वारा निर्वाह करे, (२) तपस्या के साथ पूजा-प्रतिष्ठा की कामना न करे, (३) मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दों एवं रूपों पर रागद्वेष से संसक्त न हो, (४) इच्छा-मदनरूप समस्त कामों (कामविकारों-मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों) के प्रति आसक्ति हटाकर रागद्वेष न करे। (५) सर्वसंगों से दूर रहे, (६) परीषहोपसर्गजनित समस्त दुःखों को समभाव से सहन करे, (७) ज्ञान-दर्शन-चारित्र से परिपूर्ण हो, (८) विषयभोगों में अनासक्त रहे, (९) अप्रतिबद्धविहारी हो, (१०) अभयंकर हो, (११) विषय-कषायों से अनाकुल रहे, (१२) संयमयात्रा निराबाध चलाने के लिए ही आहार करे, (१३) पूर्वकृत पापों का त्याग करने की इच्छा करे, (१४) परीषहोपसर्गजनित दुःख का स्पर्श होने पर संयम या मोक्ष (धुत) में ध्यान (स्मरण) रखे (१५) संग्राम के मोर्चे पर सुभट की तरह कर्मशत्रु का दमन करे, (१६) परीषहोपसर्गों से प्रताड़ित साधक उन्हें सहन करे, (१७) जैसे लकड़ी के तख्ते को दोनों ओर से छीलने पर वह राग-द्वेष नहीं करता, वैसे ही बाह्य और आभ्यन्तर तप से दोनों ओर से कष्ट पाता हुआ भी साधक राग-द्वेष न करे, (१८) सहज भाव से समाधिपूर्वक समागम की आकांक्षा (प्रतीक्षा) करे, (१९) धुरी टूट जाने पर गाड़ी आगे नहीं चलती, वैसे ही कर्मों के सर्वथा क्षय हो जाने पर जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक आदि प्रपंच की गाड़ी आगे नहीं चलती।

निष्कर्ष—पूर्वोक्त आचार-विचार युक्त सुशील सर्वथा कर्मक्षय करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

पाठान्तर और व्याख्या—'सद्देहि रूवेहि····विणीय गेहिं' के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'अण्णे य पाणे य अणाणुगिद्धो, सव्वेसु कामेसु णियत्तएज्जा'** अर्थ होता है—अन्न और पान में अनासक्त रहे, समस्त कामभोगों पर नियन्त्रण करे। **'अणिए अ चारी'** के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'ण सिलोगकामी'** अर्थात्—प्रशंसाकांक्षी न हो।

॥ कुशील परिभाषित सप्तम अध्ययन समाप्त ॥

वीर्य—अष्टम अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग सूत्र (प्र० श्रु०) के अष्टम अध्ययन का नाम 'वीर्य' है।

☐ वीर्य शब्द शक्ति, सामर्थ्य, पराक्रम, तेज, दीप्ति, अन्तरंग शक्ति, आत्मबल, शरीरस्थित एक धातु—शुक्र आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है।[1]

☐ निर्युक्तिकार ने शक्ति अर्थ में द्रव्य वीर्य के मुख्य दो प्रकार बताए हैं—सचित्त द्रव्य वीर्य और अचितद्रव्य वीर्य। इसी तरह क्षेत्रवीर्य, कालवीर्य और भाववीर्य भी बताए हैं।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में भाववीर्य का निरूपण है। वीर्य शक्तियुक्त जीव की विविध वीर्य संम्बन्धी लब्धियाँ भाववीर्य हैं। वह मुख्यतया ५ प्रकार का है—मनोवीर्य, वाग्वीर्य, कायवीर्य, इन्द्रियवीर्य और आध्यात्मिकवीर्य। जीव अपनी योगशक्ति द्वारा मनोयोग्य पुद्गलों को मन के रूप से, भाषायोग्य पुद्गलों को भाषा के रूप में, काययोग्य पुद्गलों को काया के रूप में और श्वासोच्छ्वास के योग्य पुद्गलों को श्वासोच्छ्वास के रूप में परिणत करता है तब वह मनोवीर्य, वाग्वीर्य, कायवीर्य तथा इन्द्रियवीर्य कहलाता है। ये चारों ही वीर्य सम्भववीर्य और सम्भाव्यवीर्य के रूप में दो-दो प्रकार के होते हैं।

☐ आध्यात्मिक वीर्य आत्मा की आन्तरिक शक्ति से उत्पन्न सात्त्विकबल है। आध्यात्मिक वीर्य अनेक प्रकार का होता है। 'वीर्य प्रवाद' नामक पूर्व में उसके अगणित प्रकार बताए गए हैं। निर्युक्तिकार ने आध्यात्मिक वीर्य में मुख्यतया दस प्रकार बताए हैं—

☐ (१) उद्यम (ज्ञानोपार्जन तपश्चरण आदि में आन्तरिक उत्साह), (२) धृति (संयम और चित्त में स्थैर्य), (३) धीरत्व (परीषहों और उपसर्गों के समय अविचलता), (४) शौण्डीर्य (त्याग की उत्साहपूर्ण उच्चकोटि की भावना), (५) क्षमाबल, (६) गाम्भीर्य (अद्भुत साहसिक या चामत्कारिक कार्य करके भी अहंकार न आना, या परीषहोपसर्गों से न दबना), (७) उपयोगबल (निराकार उपयोग (दर्शन), एवं साकार उपयोग (ज्ञान) रखकर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव रूप स्वविषयक निश्चय करना, (८) योगबल (मन, वचन और काया से व्यापार करना) (९) तपोबल (बारह प्रकार के तप में पराक्रम करना, खेदरहित तथा उत्साहपूर्वक तप करना) और, (१०) संयम में पराक्रम (१७ प्रकार के संयम के पालन में तथा अपने संयम को निर्दोष रखने में पराक्रम करना)।

---

[1] पाइअ-सद्द-महण्णवो पृ० ८१४

☐ भाववीर्य के अन्तर्गत आने वाले उपर्युक्त सभी वीर्य तीन कोटि के होते हैं—पण्डितवीर्य, बालपण्डितवीर्य और बालवीर्य। पण्डितवीर्य संयम में पराक्रमी निर्मल साधुतासम्पन्न सर्वविदित साधुओं का होता है, बालपण्डितवीर्य व्रतधारी संयमासंयमी देशविरतिश्रावक का होता है और बालवीर्य असंयमपरायण हिंसा आदि से अविरत या व्रतभंग करने वाले का होता है।[2]

☐ शास्त्रकार ने अकर्मवीर्य और सकर्मवीर्य इन दो कोटियों में समग्र भाववीर्य को समाविष्ट किया है। अकर्मवीर्य को कर्मक्षयजनित पण्डितवीर्य और सकर्मवीर्य को कर्मोदयनिष्पन्न बालवीर्य कहा गया है। अकर्मवीर्य का 'अकर्म' शब्द अप्रमाद एवं संयम का तथा सकर्मवीर्य का 'कर्म' शब्द प्रमाद एवं असंयम का सूचक है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में सकर्मवीर्य का परिचय देते हुए कहा गया है कि जो लोग प्राणघातक शास्त्रास्त्रविद्या, शास्त्र या मंत्र सीखते हैं, मायावी हैं, कामभोगासक्त एवं असंयमी हैं, वे संसारपरिभ्रमण करते हैं, दुःखी होते हैं, इसी पकार 'अकर्मवीर्य' का विवेचन करते हुए कहा गया है कि पण्डित अपने वीर्य का सदुपयोग करते हैं, संयम में लगाते हैं। आध्यात्म बल (धर्मध्यान आदि) से समस्त पापप्रवृत्तियों, मन और इन्द्रिय को, दुष्ट अध्यवसायों तथा भाषा के दोषों को रोक (सँवरकर) लेते हैं। संयमप्रधान पण्डितवीर्य ज्यों-ज्यों बढ़ता है, त्यों-त्यों संयम बढ़ता है, पूर्णसंयमी बनने पर उससे निर्वाणरूप शाश्वत सुख मिलता है। अध्ययन के अन्त में पण्डितवीर्य सम्पन्न साधक की तपस्या, भाषा, ध्यान एवं चर्या आदि का निर्देश किया गया है।[3]

☐ प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य साधक को '**सकर्मवीर्य**' से हटाकर '**अकर्मवीर्य**' की ओर मोड़ना है।

☐ उद्देशक रहित इस अध्ययन में २६ (चूर्णि के अनुसार २७) गाथाएँ हैं।

☐ यह अध्ययन सूत्रगाथा ४११ से प्रारम्भ होकर ४३६ पर समाप्त होता है।

☐☐

---

२. (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ९१ से ९७ तक

(ख) सूत्रकृ० शी० वृत्ति पत्रांक १६५ से १६७ तक का सारांश

३. (क) सूयगडंगसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण युक्त) पृ० ७४ से ७८ तक का सारांश

(ख) जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भा० १ पृ० १४९

वीरियं : अट्ठमं अज्झयणं

वीर्य : अष्टम अध्ययन

वीर्य का स्वरूप और प्रकार

४११. दुहा चेयं सुयक्खायं, वीरियं ति पवुच्चति ।
किं नु वीरस्स वीरत्तं, केण वीरो त्ति वुच्चति ॥१॥

४१२. कम्ममेगे पवेदेंति, अकम्मं वा वि सुव्वता ।
एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, जेहिं दिस्संति मच्चिया ॥२॥

४१३. पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं ।
तब्भावादेसतो वा वि, बालं पंडितमेव वा ॥३॥

४११. यह जो वीर्य कहलाता है, वह (तीर्थंकर आदि ने) श्रुत (शास्त्र) में दो प्रकार का कहा है। (प्रश्न होता है—) वीर पुरुष का वीरत्व क्या है ? और वह किस कारण से वीर कहलाता है ?

४१२. (श्री सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामी आदि से कहते हैं—) हे सुव्रतो ! कई लोग कर्म को वीर्य कहते हैं अथवा कई अकर्म को वीर्य कहते हैं। मर्त्यलोक के प्राणी इन्हीं दो भेदों (स्थानों) में देखे जाते हैं।

४१३. (तीर्थंकर आदि ने) प्रमाद को कर्म कहा है, तथा इसके विपरीत अप्रमाद को अकर्म (कहा है) । इन दोनों (कर्म अथवा प्रमाद तथा अकर्म) की सत्ता (अस्तित्व) की अपेक्षा से बालवीर्य अथवा पण्डितवीर्य (का व्यवहार) होता है।

विवेचन—तीर्थंकरोक्त वीर्य : स्वरूप और प्रकार—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओं में से प्रथम गाथा में श्री सुधर्मा स्वामी से प्रश्न किया गया है—भगवान् महावीर द्वारा उक्त दो प्रकार के वीर्य का स्वरूप (वीर पुरुष का वीरत्व) क्या है, वह किन कारणों (किन-किन वीर्यों) से वीर कहलाता है ? द्वितीय गाथा में कहा गया है—एकान्त कर्म प्रयत्न से निष्पादित और अकर्म को वीर्य बताने वाले अन्य लोगों का मत प्रदर्शित करके, इन्हीं दो (कर्म और अकर्म) में से तीर्थंकरोक्त दृष्टि से कारण में कार्य का उपचार करके औदयिक भावनिष्पन्न अष्टविध कर्मजन्य को सकर्मवीर्य तथा जो कर्मोदय निष्पन्न न होकर जीव का वीर्यान्तरायजनित सहज वीर्य हो, उसे अकर्मवीर्य बताया है। सारे संसार के जीवों का वीर्य इन्हीं दो भेदों में विभक्त है। इसके पश्चात् तृतीय गाथा में तीर्थंकरोक्त द्विविध वीर्य को विशेष

स्पष्ट करने की दृष्टि से दोनों की शास्त्रीय संज्ञा बता दी है। कारण में कार्य का उपचार करके प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहा गया है, अर्थात् प्रमादजनित कर्मों से युक्त जीव का कार्य बालवीर्य और अप्रमाद जनित अकर्मयुक्त जीव का कार्य पण्डितवीर्य है।[1]

पाठान्तर और व्याख्या—'कम्ममेगे पवेदेंति अकम्मं वावि सुव्वता' के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—'कम्ममेवं पभासंति अकम्मं वावि सुव्वता।' अर्थात्—इस प्रकार सुव्रत—तीर्थंकर कर्म को वीर्य कहते हैं और अकर्म को भी।[2]

दोनों वीर्यों का आधार : प्रमाद और अप्रमाद—जिसके कारण प्राणिवर्ग अपना आत्मभान भूलकर उत्तम अनुष्ठान से रहित हो जाता है, उसे 'प्रमाद' कहते हैं। वह पांच प्रकार का है—मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा। तीर्थंकरों ने प्रमाद को कर्मबन्धन का एक विशिष्ट कारण बताया है। प्रमाद के कारण जीव आत्मभाव रहित होकर कर्म बाँधता है, वह अपनी सारी शक्ति (वीर्य) धर्म-विपरीत, अधर्म या पापयुक्त कार्यों में लगाकर कर्मबन्धन करता रहता है। इसलिए प्रमादयुक्त सकर्मा जीव का जो भी क्रियानुष्ठान होता है, उसे बालवीर्य कहा है। इसके विपरीत प्रमादरहित पुरुष के कार्य के पीछे सतत आत्मभान, जागृति एवं विवेक होने के कारण उसके कार्य में कर्मबन्धन नहीं होता, वह अपनी सारी शक्ति अप्रमत्त होकर कर्मक्षय करने, हिंसादि आस्रवों तथा कर्मबन्ध के कारणों से दूर रहने एवं स्व-भावरमण में लगाता है। इसलिए ऐसे अप्रमत्त एवं अकर्मा साधक के पराक्रम को पण्डितवीर्य कहा है। निष्कर्ष यह है कि बालवीर्य और पण्डितवीर्य का मुख्य आधार क्रमशः प्रमाद और अप्रमाद है।[3]

बालजनों का सकर्मवीर्य : परिचय और परिणाम

४१४. सत्थमेगे सुसिक्खंति, अतिवायाय पाणिणं।
एगे मंते अहिज्जंति, पाणभूयविहेडिणो ॥४॥

४१५. माइणो कट्टु मायाओ, कामभोगे समारभे।
हंता छेत्ता पकत्तित्ता, आयसायाणुगामिणो ॥५॥

४१६. मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अंतसो।
आरतो परतो यावि, दुहा वि य असंजता ॥६॥

४१७. वेराइं कुव्वती वेरी, ततो वेरेहिं रज्जती।
पावोवगा य आरंभा, दुक्खफासा य अंतसो ॥७॥

४१८. संपरागं णियच्छंति, अत्तदुक्कडकारिणो।
रोग-दोसस्सिया बाला, पावं कुव्वंति ते बहुं ॥८॥

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १६७-१६८ का सारांश

[2] सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ७४

[3] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १६८ का सारांश

४१९. एतं सकम्मविरियं, बालाणं तु पवेदितं।
एत्तो अकम्मविरियं पंडियाणं सुणेह मे ॥९॥

४१४. कई लोग प्राणियों का वध करने के लिए तलवार आदि शस्त्र (चलाना) अथवा धनुर्वेद आदि शास्त्र सीखते हैं। कई अज्ञजीव प्राणियों और भूतों के घातक (कष्टदायक) मंत्रों को पढ़ते हैं।

४१५. माया करने वाले व्यक्ति माया (छल-कपट) करके कामभोगों में प्रवृत्त होते हैं। अपने सुख के पीछे अन्धी दौड़ लगाने वाले वे लोग प्राणियों को मारते, काटते और चीरते हैं।

४१६. असंयमी व्यक्ति मन से, वचन से और काया से अशक्त होने पर भी (लौकिक शास्त्रों की उक्ति मानकर) इस लोक और परलोक दोनों के लिए दोनों तरह से (स्वयं प्राणिवध करके और दूसरों से कराके) जीवहिंसा करते हैं।

४१७. प्राणिघातक, वैरी (शत्रु) बनकर अनेक जन्मों के लिए (जीवों से) वैर बाँध लेता (करता) है, फिर वह नये वैर में संलग्न हो जाता है। (वास्तव में) जीवहिंसा (आरम्भ) पाप की परम्परा चलाती है। (क्योंकि हिंसादिजनित) पापकर्म अन्त (विपाक-फलभोगकाल) में अनेक दुःखों का स्पर्श कराते हैं।

४१८. स्वयं दुष्कृत (पाप) करने वाले जीव साम्परायिक कर्म बाँधते हैं, तथा वे अज्ञानी जीव राग और द्वेष का आश्रय लेकर बहुत पाप करते हैं।

४१९. (पूर्वार्द्ध) यह अज्ञानी जनों का सकर्मवीर्य (बालवीर्य) कहा गया है।....'

विवेचन—बालजनों का सकर्मवीर्य : परिचय और परिणाम—इन षट्सूत्रगाथाओं में सकर्मवीर्य का प्रयोग प्रमादी-अज्ञजनों द्वारा कैसे-कैसे और किन-किन प्रयोजनों से किया जाता है? इसका परिचय और इसका दुष्परिणाम प्रस्तुत किया गया है।

ये सकर्मवीर्य कैसे ?—पूर्वोक्त गाथाओं में बताए हुए जितने भी पराक्रम हैं, वे सभी सकर्मवीर्य या बालवीर्य इसलिए हैं, कि ये प्राणिघातक हैं, प्राणिपीड़ादायक हैं, कषायवर्द्धक हैं, वैरपरम्परावर्द्धक हैं, रागद्वेषवर्द्धक हैं, पापकर्मजनक हैं।[४]

'सत्थं' शब्द के विभिन्न आशय—वृत्तिकार ने 'सत्थं' शब्द के दो संस्कृत रूपान्तर किये हैं—शस्त्र और शास्त्र। तलवार आदि शस्त्र तो प्राणिघातक हैं ही, निम्नोक्त शास्त्र भी प्राणिविघातक हैं—(१) धनुर्वेद (जिसमें जीव मारने का लक्ष्यवेध किया जाता है), (२) आयुर्वेद—जिसमें कतिपय रोगों का निवारण प्राणियों के रक्त, चर्बी, हड्डी, मांस एवं रस आदि से किया जाता है, (३) दण्ड—नीतिशास्त्र (जिसमें अपराधी को शूली या फांसी पर चढ़ाने की विधि होती है), (४) अर्थशास्त्र (कौटिल्य)—जिसमें धन लेने के लिए दूसरों को ठगने का उपाय बताया गया हो, (५) कामशास्त्र (जिसमें मैथुन प्रवृत्ति सम्बन्धी अशुभ विचार है)। इन सभी शास्त्रों का आश्रय लेकर अज्ञजन विविध पापकर्मों में प्रवृत्त होकर पापकर्म का बन्ध करते हैं।

---

[४] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १६८-१६९ का सारांश

प्राणिविघातक मंत्र—जो अथर्ववेदीय मंत्र अश्वमेध, नरमेध, सर्वमेध आदि जीववधप्रेरक यज्ञों के निमित्त पढ़े जाते हैं, अथवा जो प्राणियों के मारण, मोहन, उच्चाटन आदि के लिए पढ़े जाते हैं, वे सब मंत्र प्राणिविघातक हैं ।[५]

पाठान्तर एवं व्याख्यान्तर—**'कामभोगे समारभे'** के वदले पाठान्तर है—**आरंभाय तिउट्टइ**—अर्थात्—वहुत-से भोगार्थी जीव तीनों (मन, वचन और काया) से आरम्भ में या आरम्भार्थ प्रवृत्त होते हैं । **'संपरायं णियच्छंति'** वृत्तिकारसम्मत इस पाठ और व्याख्या के वदले चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर और व्याख्यान्तर—**संपरागं णिय(ग)च्छंति**—सम्पराग यानी संसार को प्राप्त करते हैं । **'अत्तदुक्कडकारिणो'**—वृत्तिकारसम्मत इस पाठ और व्याख्या के वदले चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर एवं व्याख्यान्तर—*'अत्ता दुक्कडकारिणो'*—आर्त्त अर्थात् विषय-कषाय से आर्त्त (पीड़ित) होकर दुष्कृत (पाप) कर्म करने वाले ।[६]

पण्डित (अकर्म) वीर्य-साधना के प्रेरणासूत्र

४२०. दविए बंधणुम्मुक्के, सव्वतो छिण्णबंधणे ।
पणोल्ल पावगं कम्मं, सल्लं कंतति अंतसो ।।१०।।

४२१. णेयाउयं सुयक्खातं, उवादाय समीहते ।
भुज्जो भुज्जो दुहावासं, असुभत्तं तहा तहा ।।११।।

४२२. ठाणी विविहठाणाणि, चइस्संति न संसओ ।
अणितिए अयं वासे, णायएहि य सुहीहि य ।।१२।।

४२३. एवमायाय मेहावी, अप्पणो गिद्धिमुद्धरे ।
आरियं अवसंपज्जे सव्वधम्ममकोवियं ।।१३।।

४२४. सहसम्मुइए णच्चा, धम्मसारं सुणेत्तु वा ।
समुवट्ठिते अणगारे, पच्चक्खायपावए ।।१४।।

---

५. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति में उद्धृत अन्य ग्रन्थों के प्रमाण—
(क) मुष्टिनाऽऽच्छादेयल्लक्ष्यं मुष्टौ दृष्टिं निवेशयेत् ।
हतं लक्ष्यं विजानीयाद्यदि मूर्धा न कम्पते ॥
(ख) षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि ।
अश्वमेधस्यवचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥ —सूत्र० शी० वृत्ति पत्रांक १६८

६. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १६९
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ. ७५

४२५. जं किंचुवक्कमं जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो ।
तस्सेव अंतरा खिप्पं, सिक्खं सिक्खेज्ज पंडिते ॥१५॥

४२६. जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे ।
एवं पावाइं मेधावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥१६॥

४२७. साहरे हत्थ-पादे य, मणं सव्वेंदियाणि य ।
पावगं च परीणामं, भासादोसं च तारिसं ॥१७॥

४२८. अणु माणं च मायं च, तं परिण्णाय पंडिए ।
सातागारवणिहुते, उवसंतेऽणिहे चरे ॥१८॥

४२९. पाणे य णाइवातेज्जा, अदिण्णं पि य णादिए ।
सादियं ण मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमतो ॥१९॥

४३०. अतिक्कमं ति वायाए, मणसा वि ण पत्थए ।
सव्वतो संवुडे दंते, आयाणं सुसमाहरे ॥२०॥

४३१. कडं च कज्जमाणं च, आगमेस्सं च पावगं ।
सव्वं तं णाणुजाणंति, आयगुत्ता जिइंदिया ॥२१॥

४१९. (उत्तरार्द्ध) अब यहाँ से पण्डितों (उत्तम विज्ञ साधुओं) के अकर्मवीर्य के सम्बन्ध में मुझसे सुनो ।

४२०. पण्डित (अकर्म) वीर्य पुरुष द्रव्य (भव्य-मुक्तिगमन योग्य अथवा द्रव्यभूत-अकपायी) होता है, कषायात्मक बन्धनों से उन्मुक्त होता है । जो सब प्रकार से कषायात्मक बन्धन काट चुका है, तथा वह पापकर्मों (पापकर्म के कारणभूत आश्रवों) को हटाकर अपने शल्य-तुल्य शेप कर्मों को भी सर्वथा काट देता है ।

४२१. (पण्डितवीर्य) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्ष के प्रति ले जाने वाला है, ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है । (पण्डितवीर्य सम्पन्न साधक) इसे ग्रहण करके मोक्ष (ध्यान, स्वाध्याय आदि मोक्ष साधक अनुष्ठानों) के लिए सम्यक् उद्यम करता है । (पण्डित साधक धर्मध्यानारोहण के लिए यों अनुप्रेक्षा करे—) (बालवीर्य अतीत और भविष्य के अनन्त भावों तक) वार-वार दुःख का आवास हं । बालवीर्यवान् ज्यों-ज्यों नरकादि दुःखस्थानों में भटकता है, त्यों-त्यों उसका अध्यवसाय अशुद्ध होते जाने से अशुभ कर्म ही बढ़ता है ।

४२२. “……नि:सन्देह उच्च स्थानों (देवलोक में इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिश आदि तथा मनुष्यलोक में चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि पदों) पर स्थित सभी जीव एक दिन (आयुष्य क्षय

होते ही) अपने-अपने (विविध) स्थानों को छोड़ देंगे। ज्ञातिजनों और सुहृद्‌जनों के साथ जो संवास है, वह भी अनियत-अनित्य है।"[७]

४२३. इस (पूर्वोक्त) प्रकार से विचार करके मेधावी साधक इन सबके प्रति अपनी गृद्धि (आसक्ति) हटा दे तथा समस्त (अन्य) धर्मों से अदूषित (अकोपित) आर्यों (तीर्थंकरों) के इस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक मोक्षमार्ग को स्वीकार (आश्रय) करे।

४२४. सन्मति (निर्मल बुद्धि) से धर्म के सार (परमार्थतत्त्व) को जानकर अथवा सुनकर धर्म के सारभूत चारित्र के या आत्मा के ज्ञानादि निज गुणों के उपार्जन में उद्यत अनगार (पण्डितवीर्य-सम्पन्न व कर्मक्षय के लिए कटिबद्ध साधक) पाप(-युक्त अनुष्ठान) का त्याग कर देता है।

४२५. पण्डित (वीर्य सम्पन्न) साधु यदि किसी प्रकार अपनी आयु का उपक्रम (क्षय-कारण) जाने तो उस उपक्रमकाल के अन्दर (पहले से) ही शीघ्र संलेखना रूप या भक्तपरिज्ञा एवं इंगितमरण आदि रूप पण्डितमरण की शिक्षा का प्रशिक्षण ले—ग्रहण करे।

४२६. जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने शरीर में छिपा लेता है, इसी प्रकार से मेधावी (मर्यादावान् पण्डित) पापों (पापरूप कार्यों) को अध्यात्म (सम्यग् धर्मध्यानादि की) भावना से समेट ले (संकुचित कर दे)।

४२७. पादपोपगमन, इंगितमरण या भक्त परिज्ञादि रूप अनशन काल या अन्तकाल में पण्डित साधक कछुए की तरह अपने हाथ-पैरों को समेट ले (समस्त व्यापारों से रोक ले), मन को अकुशल (बुरे) संकल्पों से रोके, इन्द्रियों को (अनुकूल-प्रतिकूल विषयों में रागद्वेष छोड़कर) संकुचित कर ले। (इहलोक-परलोक में सुख प्राप्ति की कामना रूप) पापमय परिणाम का तथा वैसे (पापरूप) भाषा-दोष का त्याग करे।

४२८. पण्डित साधक थोड़ा-सा भी अभिमान और माया न करे। मान और माया का अनिष्ट फल जानकर सद्-असद् विवेकी साधक साता (सुख सुविधाप्राप्ति के) गौरव (अहंकार) में उद्यत न हो तथा उपशान्त एवं निःस्पृह अथवा माया रहित (अनिह) होकर विचरण करे।

४२९. वह प्राणियों का घात न करे तथा अदत्त (बिना दिया हुआ पदार्थ) भी ग्रहण न करे एवं माया-मृषावाद न करे, यही जितेन्द्रिय (वश्य) साधक का धर्म है।

४३०. प्राणियों के प्राणों का अतिक्रम (पीड़न) (काया से करना तो दूर रहा) वाणी से भी न करे, तथा मन से भी न चाहे तथा बाहर और भीतर सब ओर से संवृत (गुप्त) होकर रहे, एवं इन्द्रियों का दमन करता हुआ साधु आदान (मोक्षदायक सम्यग्दर्शनादि रूप संयम) की तत्परता के साथ समाराधना करे।

---

७. सूत्रगाथा ४२१ के उत्तरार्द्ध एवं ४२२ में धर्मध्यानारोहण में अवलम्बन के लिए क्रमशः संसार (संसारदुःखस्वरूप की) अनुप्रेक्षा, और अनित्यानुप्रेक्षा विहित है। ४२२वीं गाथा में पठित दो 'य' कार से अशरण आदि शेष अनुप्रेक्षाओं का आलम्बन सूचित किया गया है। —सूत्र० कृ० शी० वृत्ति पत्रांक १७०-१७१

४३१. (पाप से) आत्मा के गोप्ता (रक्षक) जितेन्द्रिय साधक किसी के द्वारा (अतीत में) किया हुआ, (वर्तमान में) किया जाता हुआ और भविष्य में किया जाने वाला जो पाप है, उस सबका (मन-वचन-काया से) अनुमोदन-समर्थन नहीं करते।

विवेचन—पण्डित (अकर्म) वीर्य साधना के प्रेरणा सूत्र—प्रस्तुत १३ सूत्रगाथाओं (सू० गा० ४१९ से ४३१ तक) में पण्डितवीर्य की साधना के लिए २८ प्रेरणासूत्र फलित होते हैं—(१) वह भव्य (मोक्षगमन योग्य) हो, (२) अल्पकषायी हो, (३) कषायात्मक बन्धनों से उन्मुक्त हो, (४) पापकर्म के कारणभूत आश्रवों को हटाकर और कषायात्मक बन्धनों को काटकर शल्यवत् शेष कर्मों को काटने के लिए उद्यत रहे। (५) मोक्ष की ओर ले जाने वाले (नेता) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के लिए पुरुषार्थ करे, (६) ध्यान, स्वाध्याय आदि मोक्षसाधक अनुष्ठानों में सम्यक् उद्यम करे, (७) धर्मध्यानारोहण के लिए वालवीर्य की दुःख-प्रदता एवं अशुभ कर्मवन्धकारणता का तथा सुगतियों में भी उच्च स्थानों एवं परिजनों के साथ संवास की अनित्यता का अनुप्रेक्षण करे, (८) इस प्रकार के चिन्तनपूर्वक इन सबके प्रति अपनी आसक्ति या ममत्वबुद्धि हटा दे, (९) सर्वधर्ममान्य इस आर्य (रत्नत्रयात्मक मोक्ष) मार्ग को स्वीकार करे, (१०) पवित्र बुद्धि से धर्म के सार को जान-सुनकर आत्मा के ज्ञानादि गुणों के उपार्जन में उद्यम करे, (११) पापयुक्त अनुष्ठान का त्याग करे, (१२) अपनी आयु का उपक्रम किसी प्रकार से जान जाए तो यथाशीघ्र संलेखना रूप या पण्डित मरणरूप शिक्षा ग्रहण करे, (१३) कछुआ जैसे अंगों का संकोच कर लेता है, वैसे ही पण्डितसाधक पापरूप कार्यों को सम्यक् धर्मध्यानादि की भावना से संकुचित कर ले, (१४) अनशनकाल में समस्त व्यापारों से अपने हाथ-पैरों को, अकुशल संकल्पों से मन को रोक ले तथा इन्द्रियों को अनुकूल-प्रतिकूल विषयों में राग-द्वेष छोड़कर संकुचित कर ले, (१५) पापरूप परिणाम वाली दुष्कामनाओं का तथा पापरूप भाषादोष का त्याग करे, (१६) लेशमात्र भी अभिमान और माया न करे, (१७) इनके अनिष्ट फल को जानकर सुखप्राप्ति के गौरव में उद्यत न हो, (१८) उपशान्त तथा निःस्पृह या मायारहित होकर विचरण करे, (१९) वह प्राणिहिंसा न करे, (२०) अदत्त ग्रहण न करे, (२१) मायासहित असत्य न बोले, (२२) प्राणियों के प्राणों का उत्पीड़न काया से ही नहीं, वचन और मन से भी न करे, (२३) बाहर और अन्दर से संवृत (गुप्त) होकर रहे, (२४) इन्द्रिय-दमन करे, (२५) मोक्षदायक सम्यग्दर्शनादिरूप संयम की आराधना करे, (२६) पाप से आत्मा को बचाए, (२७) जितेन्द्रिय रहे और (२८) किसी के द्वारा अतीत में किये हुए, वर्तमान में किया जाते हुए और भविष्य में किये जाने वाले पाप का मन-वचन-काया से अनुमोदन भी न करे।[८]

कठिन शब्दों की व्याख्या—दविए—वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किये हैं—(१) **द्रव्य**—भव्य (मुक्तिगमनयोग्य), (२) **द्रव्यभूत**—अकषायी, और (३) वीतरागवत् अल्पकषायी वीतराग। यद्यपि छठे सातवें गुणस्थान (सरागधर्म) में स्थित साधक सर्वथा कषायरहित नहीं होता, तथापि अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय न होने से तथा संज्वलन कषाय का भी तीव्र उदय न होने से वह अकषायी वीतराग के समान ही होता है। **नेयाउयं**—वृत्तिकार ने दो अर्थ किये हैं—नेता—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग अथवा श्रुतचारित्ररूप

---

[८] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १७० से १७३ तक का सारांश

होते ही) अपने-अपने (विविध) स्थानों को छोड़ देंगे। ज्ञातिजनों और सुहृद्जनों के साथ जो संवास है, वह भी अनियत-अनित्य है।"७

४२३. इस (पूर्वोक्त) प्रकार से विचार करके मेधावी साधक इन सबके प्रति अपनी गृद्धि (आसक्ति) हटा दे तथा समस्त (अन्य) धर्मों से अदूषित (अकोपित) आर्यों (तीर्थंकरों) के इस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक मोक्षमार्ग को स्वीकार (आश्रय) करे।

४२४. सन्मति (निर्मल बुद्धि) से धर्म के सार (परमार्थतत्त्व) को जानकर अथवा सुनकर धर्म के सारभूत चारित्र के या आत्मा के ज्ञानादि निज गुणों के उपार्जन में उद्यत अनगार (पण्डितवीर्य-सम्पन्न व कर्मक्षय के लिए कटिवद्ध साधक) पाप(-युक्त अनुष्ठान) का त्याग कर देता है।

४२५. पण्डित (वीर्य सम्पन्न) साधु यदि किसी प्रकार अपनी आयु का उपक्रम (क्षय-कारण) जाने तो उस उपक्रमकाल के अन्दर (पहले से) ही शीघ्र संलेखना रूप या भक्तपरिज्ञा एवं इंगितमरण आदि रूप पण्डितमरण की शिक्षा का प्रशिक्षण ले—ग्रहण करे।

४२६. जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने शरीर में छिपा लेता है, इसी प्रकार से मेधावी (मर्यादावान् पण्डित) पापों (पापरूप कार्यों) को अध्यात्म (सम्यग् धर्मध्यानादि की) भावना से समेट ले (संकुचित कर दे)।

४२७. पादपोपगमन, इंगितमरण या भक्त परिज्ञादि रूप अनशन काल या अन्तकाल में पण्डित साधक कछुए की तरह अपने हाथ-पैरों को समेट ले (समस्त व्यापारों से रोक ले), मन को अकुशल (बुरे) संकल्पों से रोके, इन्द्रियों को (अनुकूल-प्रतिकूल विषयों में रागद्वेष छोड़कर) संकुचित कर ले। (इहलोक-परलोक में सुख प्राप्ति की कामना रूप) पापमय परिणाम का तथा वैसे (पापरूप) भाषा-दोष का त्याग करे।

४२८. पण्डित साधक थोड़ा-सा भी अभिमान और माया न करे। मान और माया का अनिष्ट फल जानकर सद्-असद् विवेकी साधक साता (सुख सुविधाप्राप्ति के) गौरव (अहंकार) में उद्यत न हो तथा उपशान्त एवं निःस्पृह अथवा माया रहित (अनिह) होकर विचरण करे।

४२९. वह प्राणियों का घात न करे तथा अदत्त (विना दिया हुआ पदार्थ) भी ग्रहण न करे एवं माया-मृषावाद न करे, यही जितेन्द्रिय (वश्य) साधक का धर्म है।

४३०. प्राणियों के प्राणों का अतिक्रम (पीड़न) (काया से करना तो दूर रहा) वाणी से भी न करे, तथा मन से भी न चाहे तथा बाहर और भीतर सब ओर से संवृत (गुप्त) होकर रहे, एवं इन्द्रियों का दमन करता हुआ साधु आदान (मोक्षदायक सम्यग्दर्शनादि रूप संयम) की तत्परता के साथ समाराधना करे।

---

७. सूत्रगाथा ४२१ के उत्तरार्द्ध एवं ४२२ में धर्मध्यानारोहण में अवलम्बन के लिए क्रमशः संसार (संसारदुःखस्वरूप की) अनुप्रेक्षा, और अनित्यानुप्रेक्षा विहित है। ४२२वीं गाथा में पठित दो 'य' कार से अशरण आदि शेष अनुप्रेक्षाओं का आलम्बन सूचित किया गया है। —सूत्र० कृ० शी० वृत्ति पत्रांक १७०-१७१

४३१. (पाप से) आत्मा के गोप्ता (रक्षक) जितेन्द्रिय साधक किसी के द्वारा (अतीत में) किया हुआ, (वर्तमान में) किया जाता हुआ और भविष्य में किया जाने वाला जो पाप है, उस सबका (मन-वचन-काया से) अनुमोदन-समर्थन नहीं करते ।

विवेचन—पण्डित (अकर्म) वीर्य साधना के प्रेरणा सूत्र—प्रस्तुत १३ सूत्रगाथाओं (सू० गा० ४१९ से ४३१ तक) में पण्डितवीर्य की साधना के लिए २८ प्रेरणासूत्र फलित होते हैं—(१) वह भव्य (मोक्षगमन योग्य) हो, (२) अल्पकषायी हो, (३) कषायात्मक बन्धनों से उन्मुक्त हो, (४) पापकर्म के कारणभूत आश्रवों को हटाकर और कषायात्मक बन्धनों को काटकर शल्यवत् शेष कर्मों को काटने के लिए उद्यत रहे । (५) मोक्ष की ओर ले जाने वाले (नेता) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के लिए पुरुषार्थ करे, (६) ध्यान, स्वाध्याय आदि मोक्षसाधक अनुष्ठानों में सम्यक् उद्यम करे, (७) धर्मध्यानारोहण के लिए वालवीर्य की दुःख-प्रदता एवं अशुभ कर्मबन्धकारणता का तथा सुगतियों में भी उच्च स्थानों एवं परिजनों के साथ संवास की अनित्यता का अनुप्रेक्षण करे, (८) इस प्रकार के चिन्तनपूर्वक इन सबके प्रति अपनी आसक्ति या ममत्वबुद्धि हटा दे, (९) सर्वधर्ममान्य इस आर्य (रत्नत्रयात्मक मोक्ष) मार्ग को स्वीकार करे, (१०) पवित्र बुद्धि से धर्म के सार को जान-सुनकर आत्मा के ज्ञानादि गुणों के उपार्जन में उद्यम करे, (११) पापयुक्त अनुष्ठान का त्याग करे, (१२) अपनी आयु का उपक्रम किसी प्रकार से जान जाए तो यथाशीघ्र संलेखना रूप या पण्डित मरणरूप शिक्षा ग्रहण करे, (१३) कछुआ जैसे अंगों का संकोच कर लेता है, वैसे ही पण्डितसाधक पापरूप कार्यों को सम्यक् धर्मध्यानादि की भावना से संकुचित कर ले, (१४) अनशनकाल में समस्त व्यापारों से अपने हाथ-पैरों को, अकुशल संकल्पों से मन को रोक ले तथा इन्द्रियों को अनुकूल-प्रतिकूल विषयों में राग-द्वेष छोड़कर संकुचित कर ले, (१५) पापरूप परिणाम वाली दुष्कामनाओं का तथा पापरूप भाषादोष का त्याग करे, (१६) लेशमात्र भी अभिमान और माया न करे, (१७) इनके अनिष्ट फल को जानकर सुखप्राप्ति के गौरव में उद्यत न हो, (१८) उपशान्त तथा निःस्पृह या मायारहित होकर विचरण करे, (१९) वह प्राणिहिंसा न करे, (२०) अदत्त ग्रहण न करे, (२१) मायासहित असत्य न बोले, (२२) प्राणियों के प्राणों का उत्पीड़न काया से ही नहीं, वचन और मन से भी न करे, (२३) बाहर और अन्दर से संवृत (गुप्त) होकर रहे, (२४) इन्द्रिय-दमन करे, (२५) मोक्षदायक सम्यग्दर्शनादिरूप संयम की आराधना करे, (२६) पाप से आत्मा को बचाए, (२७) जितेन्द्रिय रहे और (२८) किसी के द्वारा अतीत में किये हुए, वर्तमान में किया जाते हुए और भविष्य में किये जाने वाले पाप का मन-वचन-काया से अनुमोदन भी न करे ।[८]

कठिन शब्दों की व्याख्या—दविए—वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किये हैं—(१) **द्रव्य**—भव्य (मुक्तिगमनयोग्य), (२) **द्रव्यभूत**—अकषायी, और (३) वीतरागवत् अल्पकषायी वीतराग । यद्यपि छठे सातवें गुणस्थान (सरागधर्म) में स्थित साधक सर्वथा कषायरहित नहीं होता, तथापि अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय न होने से तथा संज्वलन कषाय का भी तीव्र उदय न होने से वह अकषायी वीतराग के समान ही होता है । **नेयाउयं**—वृत्तिकार ने दो अर्थ किये हैं—नेता—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग अथवा श्रुतचारित्ररूप

---

[८] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १७० से १७३ तक का सारांश

धर्म, जो मोक्ष की ओर ले जाने वाला है। **सव्वधम्ममकोवियं**—इसके दो अर्थ वृत्तिकार ने किये हैं—(१) सभी कुतीर्थिक धर्मों द्वारा अकोपित-अदूषित (२) सभी धर्मों-अनुष्ठानरूप स्वभावों से जो अगोपित—प्रकट है। **सिक्खं सिक्खेज्ज**—शिक्षा से यथावत् मरणविधि जानकर आसेवनशिक्षा से उसका अभ्यास करे।[९]

पाठान्तर और व्याख्या—**'अणुमाणं····पंडिए'** (गा० ४२८) के बदले पाठान्तर है—**'अइमाणं च····परिण्णाय पण्डिए'**, अर्थ होता है—अतिमान और अतिमाया, ये दोनों दुःखावह होते हैं, यह जानकर पण्डित-साधक इनका परित्याग करे। आशय यह है—सरागावस्था में कदाचित् मान या माया का उदय हो जाए, तो भी उस उदयप्राप्त मान या माया का विफलीकरण कर दे। इसी पंक्ति के स्थान में दो पाठान्तर मिलते हैं—(१) **'सुयं मे इहमेगेसि एयं वीरस्स वीरियं'** तथा (२) **'आयतट्ठं सुआदाय एयं वीरस्स वीरियं**।[१०] **प्रथम पाठान्तर का भावार्थ**—जिस बल से संग्राम में शत्रुसेना पर विजय प्राप्त की जाती है, वह परमार्थ रूप से वीर्य नहीं है, अपितु जिस बल से काम-क्रोधादि आन्तरिक रिपुओं पर विजय प्राप्त की जाती है, वही वास्तव में वीर-महापुरुष का वीर्य है, यह वचन मैंने इस मनुष्यजन्म में या संसार में तीर्थंकरों से सुना है। **द्वितीय पाठान्तर का भावार्थ**—आयत यानी मोक्ष। आयतार्थ—मोक्षरूप अर्थ या मोक्ष रूप प्रयोजन साधक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मार्ग। उसको सम्यक् प्रकार से ग्रहण करके जो धृतिबल से काम-क्रोधादि पर विजय पाने के लिए पराक्रम करता है, यही वीर का वीर्य है।[११]

अशुद्ध और शुद्ध पराक्रम ही बालवीर्य और पण्डितवीर्य

४३२. जे याऽबुद्धा महाभागा वीरा असम्मत्तदंसिणो।
असुद्धं तेसि परक्कंतं, सफलं होइ सव्वसो॥२२॥

४३३. जे य बुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत्तदंसिणो।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं, अफलं होति सव्वसो॥२३॥

४३४. तेसिं पि तवोऽसुद्धो, निक्खंता जे महाकुला।
जं नेवऽन्ने वियाणंति, न सिलोगं पवेदए॥२४॥

---

९. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १७०-१७१
(ख) सिद्धान्त सूत्र—"किं सक्का वोत्तुं जे सरागधम्मंमि कोइ अकसायी।
संते वि जो कसाए निगिण्हइ, सोऽवि तत्तुल्लो॥" —सू० कृ० वृत्ति प० १७० में उद्धृत

१०. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १७२
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० १७६

११. गाथा संख्या १८ से आगे १९वीं गाथा चूर्णि में अधिक है, वह इस प्रकार है....
"उड्ढमधे तिरियं दिसासु जे पाणा तस-थावरा।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, संतिनिव्वाणमाहितं॥"
यह गाथा इसी सूत्र के तृतीय अध्ययन (सू० २४४) में तथा ११वें अध्ययन (सू० ५०७) में मिलती है।

४३२. जो व्यक्ति अबुद्ध (धर्म के वास्तविक तत्त्व से अनभिज्ञ) हैं, किन्तु जगत् में महाभाग महापूज्य या लोकविश्रुत) (माने जाते) हैं, एवं शत्रुसेना (या प्रतिवादी) को जीतने में वीर (वाग्वीर) हैं, तथा असम्यक्त्वदर्शी (मिथ्यादृष्टि) हैं, उन (सम्यक्तत्त्व परिज्ञानरहित) लोगों का तप, दान, अध्ययन, यमनियम आदि में किया गया पराक्रम (वीर्य) अशुद्ध है, उनका सबका सब पराक्रम कर्मबन्धरूप फलयुक्त होता है।

४३३. जो व्यक्ति पदार्थ के सच्चे स्वरूप के ज्ञाता (बुद्ध) हैं, महाभाग (महापूज्य) हैं, कर्मविदारण करने में सहिष्णु या ज्ञानादि गुणों से विराजित (वीर) हैं तथा सम्यक्त्वदर्शी (सम्यग्दृष्टि-परमार्थतत्त्वज्ञ) हैं, उनका तप, अध्ययन, यम, नियम आदि में समस्त पराक्रम शुद्ध और सर्वथा कर्मबन्धरूप फल से रहित (निरनुबन्ध) (सिर्फ कर्मक्षय के लिए) होता है।

४३४. जो महाकुलोत्पन्न व्यक्ति प्रव्रजित होकर पूजा-सत्कार के लिए तप करते हैं, उनका तप (रूप पराक्रम) भी शुद्ध नहीं है। जिस तप को अन्य (दानादि में श्रद्धा रखने या श्राद्ध-श्रावक आदि) व्यक्ति न जानें, (इस प्रकार से गुप्त तप आत्मार्थी को करना चाहिए।) और न ही (अपने मुख से) अपनी प्रशंसा करनी चाहिए।[१२]

विवेचन—अशुद्ध और शुद्ध पराक्रम ही बालवीर्य और पण्डितवीर्य—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओं में शास्त्रकार अशुद्ध और शुद्ध पराक्रम के आधार पर बालवीर्य और पण्डितवीर्य का अन्तर समझाते हैं। तीनों गाथाओं पर से भगवान् महावीर की त्रिविध शुद्धि की स्पष्ट दृष्टि परिलक्षित होती है—(१) साधन भी शुद्ध हो, (२) साध्य भी शुद्ध हो, (३) साधक भी शुद्ध हो। साधक चाहे जितना प्रसिद्ध हो; लोक-पूजनीय हो, परन्तु यदि उसकी दृष्टि सम्यक् नहीं है, वह परमार्थ तत्त्व से अनभिज्ञ है तो वह अशुद्ध है। उसके द्वारा तप, दान, अध्ययन, यम, नियम आदि शुद्ध कहलाने वाले साधनों के लिए किया जाने वाला पराक्रम, भले ही वह मोक्ष रूप शुद्ध साध्य को लक्ष्य में रखकर किया गया हो, अशुद्ध ही है, वह कर्मबन्धन से मोक्ष दिलाने वाला न होकर कर्मबन्ध रूप (संसार) फल का दायक होगा। इसके विपरीत जो व्यक्ति परमार्थ तत्त्व का ज्ञाता (प्रबुद्ध) है, लोकप्रसिद्ध पूजनीय भी है, सम्यग्दृष्टि है, वह शुद्ध है, उसके द्वारा मोक्षरूप शुद्ध साध्य को लक्ष्य में रखकर कर्मक्षयहेतु से तप, अध्ययन, यम नियमादि शुद्ध साधनों के विषय में किया जाने वाला पराक्रम शुद्ध है, वह कर्मबन्धरूप फल (संसार) का नाशक एवं मोक्षदायक होगा। अशुद्ध पराक्रम बालवीर्य का और शुद्ध पराक्रम पण्डितवीर्य का द्योतक है। तीसरी गाथा (सू० गा० ४३४) में भी अशुद्ध साध्य को लक्ष्य में रखकर महाकुलीन प्रव्रजित साधक द्वारा तपस्यारूप शुद्ध साधन के लिए किया जाने वाला पराक्रम अशुद्ध बताया गया है, क्योंकि जो तपस्या मोक्षरूप साध्य की उपेक्षा करके केवल इहलौकिक-पारलौकिक सुखाकांक्षा, स्वार्थसिद्धि, प्रशंसा, प्रसिद्धि या पूजा आदि को लक्ष्य में रखकर की जाति है, उस तपस्वी का वह पराक्रम अशुद्ध, कर्मबन्धकारक, संसार-फलदायक होता है, वह कर्मनिर्जरा (कर्मक्षय) रूप मोक्ष नहीं दिलाता।[१३] दशवैकालिक सूत्र में इहलौकिक-पारलौकिक कामना, एवं कीर्ति आदि की लालसा

---

[१२] चूर्णि में इसके आगे एक गाथा अधिक मिलती है—

"तेसिं तु तवो सुद्धो निक्खंता जे महाकुला।
अवमाणिते परेण तु ण सिलोगं वयंति ते॥"—अर्थ स्पष्ट है।

[१३] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १७४ पर से

से तपश्चरण का निषेध है, सिर्फ निर्जरार्थ (कर्मक्षयार्थ) तप का विधान है।[१४]

अबुद्धा—इसकी दो व्याख्याएँ वृत्तिकार ने की हैं—(१) जो व्यक्ति अबुद्ध है अर्थात्—धर्म के परमार्थ से अनभिज्ञ हैं, वे व्याकरणशास्त्र, शुष्कतर्क आदि के ज्ञान से बड़े अहंकारी बनकर अपने आपको पण्डित मानते हैं, किन्तु उन्हें यथार्थ वस्तुतत्त्व का बोध न होने के कारण अबुद्ध हैं। (२) अथवा बालवीर्यवान् व्यक्तियों को अबुद्ध कहते हैं।[१५]

बालजनों का पराक्रम—अनेक शास्त्रों के पण्डित एवं त्यागादि गुणों के कारण लोकपूज्य एवं वाणीवीर होते हुए सम्यक्तत्त्वज्ञान से रहित मिथ्यादृष्टि बालजन ही हैं। उनके द्वारा तप, दान अध्ययन आदि में किया गया कोई भी पराक्रम आत्मशुद्धिकारक नहीं होता, प्रत्युत कर्मबन्धकारक होने से आत्मा को अशुद्ध बना देता है। जैसे कुवैद्य की चिकित्सा से रोगनाश न होकर उलटे रोग में वृद्धि होती है, वैसे ही उन अज्ञानी मिथ्यादृष्टिजनों की तप आदि समस्त क्रियाएँ भव-भ्रमणरोग के नाश के बदले भवभ्रमण में वृद्धि करती हैं।[१६]

पण्डितवीर्य-साधना का आदर्श

४३५. अप्पपिंडासि पाणासि, अप्पं भासेज्जा सुव्वते।
खंतेऽभिनिव्वुडे दंते, वीतगेही सदा जते ॥२५॥

४३६. झाणजोगं समाहट्टु, कायं विउसेज्ज सव्वसो।
तितिक्खं परमं णच्चा, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥२६॥—त्ति बेमि

॥ वीरियं : अट्ठमं अज्झयणं सम्मत्तं ॥

४३५. सुव्रत (महाव्रती) साधु उदरनिर्वाह के लिए थोड़ा-सा आहार करे, तदनुसार थोड़ा जल पीए; इसी प्रकार थोड़ा बोले। वह सदा क्षमाशील, (या कष्टसहिष्णु), लोभादि से रहित, शान्त, दान्त, (जितेन्द्रिय) एवं विषय भोगों में अनासक्त रहकर सदैव सर्व प्रवृत्तियों में यतना करे अथवा संयम पालन में प्रयत्न (पुरुषार्थ) करे।

---

[१४] तुलना कीजिए—'नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो कित्ति-वन्न-सद्द-सिलो गट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा; नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा। —दशवैकालिक सूत्र अ० ९ उ० ४ सू० ४

[१५] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १७४
(ख) शास्त्रावगाह-परिघट्टन तत्परोऽपि।
नैवाऽबुधः समभिगच्छति वस्तुतत्त्वम् ॥

[१६] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १७४
(ख) सम्यग्दृष्टि का समस्त अनुष्ठान संयम-तपःप्रधान होता है, उनका संयम अनाश्रव (संवर) रूप और तप निर्जरा फलदायक होता है। कहा भी है—'संजमे अणण्हयफले तवे वोदाणफले।'

४३६. साधु ध्यानयोग को सम्यक् प्रकार से ग्रहण करके पूर्ण रूप से काया का व्युत्सर्ग करे (अनिष्ट प्रवृत्तियों से शरीर को रोके)। परीषहोपसर्ग सहनरूप तितिक्षा को प्रधान (सर्वोत्कृष्ट) साधना समझकर मोक्ष पर्यन्त संयम-पालन में पराक्रम करे। —यह मैं कहता हूँ।

विवेचन—पण्डितवीर्य-साधना का आदर्श—अध्ययन का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार ने सूत्रगाथाद्वय द्वारा पण्डितवीर्य की साधना का आदर्श प्रस्तुत किया है।

साधक के पास मन, वचन और काया, ये तीन बड़े साधन हैं, इन तीनों में बहुत बड़ी शक्ति है। परन्तु अगर वह मन की शक्ति को विपयोपभोगों की प्राप्ति के चिन्तन, कषाय या राग-द्वेष-मोह आदि में या दुःसंकल्प, दुर्ध्यान आदि करने में लगा देता है तो वह आत्मा के उत्थान की ओर गति करने के वजाय पतन की ओर गति करता है। इसी प्रकार वचन की शक्ति को कर्कश, कठोर, हिंसाजनक, पीड़ाकारी, सावद्य, निरर्थक, असत्य या कपटमय वाणी बोलने में लगाता है, वाणी का समीचीन उपयोग नहीं करता है तो भी वह अपनी शक्ति बालवीर्य साधना में लगाता है, काया को भी केवल खाने-पीने, पुष्ट बनाने, सजाने संवारने, या आहार-पानी, वस्त्र, मकान आदि पदार्थों के अधिकाधिक उपभोग में लगाता है, तो भी वह अपनी शक्ति का अपव्यय करता है। इसलिए शास्त्रकार पण्डितवीर्य साधक के समक्ष उसके त्याग-तप-प्रधान जीवन के अनुरूप एक आदर्श की झांकी प्रस्तुत करते हैं। एक आचार्य भी इसी आदर्श का समर्थन करते हैं—"जो साधक थोड़ा आहार करता है, थोड़ा बोलता है, थोड़ी निद्रा लेता है, अपने संयम के उपकरण और साधन बहुत ही कम रखता है, उसे देवता भी प्रणाम करते हैं।"[१७] एक ओर साधक को धर्मपालन के लिए शरीर को स्वस्थ एवं सक्षम रखना है, दूसरी ओर संयम, तप और त्याग का भी अधिकाधिक अभ्यास करना है, इस दृष्टि से निम्नोक्त तथ्य गाथाद्वय में से प्रतिफलित होते हैं—

(१) साधक अल्पतम आहार, अल्प पानी, अल्प निद्रा, अल्प भाषण; अल्प उपकरण एवं साधन से जीवननिर्वाह करे; वह द्रव्य-भाव से उनोदरी तप का अभ्यास करे।

(२) शरीर से चलने फिरने, उठने-बैठने, सोने-जागने, खाने-पीने आदि की जो भी प्रवृत्ति करनी है, वह भी निरर्थक न की जाए जो भी प्रवृत्ति की जाए, वह दशवैकालिक सूत्र के निर्देशानुसार सदैव यतनापूर्वक ही की जाए।[१८]

---

[१७] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १७४-१७५ के आधार पर
(ख) 'थोवाहारो थोवभणिओ अ जो होइ थोवनिद्दे य।
थोवोवहि-उवकरणो तस्स हु देवा वि पणमंति ॥' —सू० कृ० शी० वृत्ति में उद्धृत पत्रांक १७५

[१८] सदा जते (जए)—तुलना करें—
(क) जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुंजतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ ॥ —दशवैका० अ० ४/८
(ख) यतं चरे यतं तिट्ठे, यतं अच्छे यतं सये।
मतं समिञ्जए भिक्खु यतमेनं पसारए ॥ —सुत्तपिटक खुद्दकनिकाय इतिवुत्तक पृ० २६२
(ग) सूयगडंग चूर्णि मू० पा० टिप्पण पृ० ३६६

(३) पाँचों इन्द्रियों का उपयोग भी अनासक्तिपूर्वक अत्यन्त अल्प किया जाए, इन्द्रियों के मनोज्ञअमनोज्ञ विषयों पर रागद्वेष न किया जाए, इन्द्रियों का दमन किया जाए।

(४) काया से ममत्व का व्युत्सर्ग किया जाए, उसे सभी प्रकार से बुरी प्रवृत्तियों से रोका जाए। केवल संयमाचरण में लगाया जाए।

(५) काया इतनी कष्टसहिष्णु बना ली जाए कि प्रत्येक परीषह और उपसर्ग समभाव पूर्वक सह सके। तितिक्षा को ही इस साधना में प्रधान समझे।

(६) मन को क्षमाशील, कषायादि रहित, विषय-भोगों में अनासक्त, इहलौकिक-पारलौकिक निदानों (सुखाकांक्षाओं), यश, प्रसिद्धि, प्रशंसा आदि की लालसा से दूर रखना है।

(७) मन-वचन-काया को समस्त व्यापारों से रोककर मन को पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इन चारों प्रकार के ध्यानों में से किसी एक के द्वारा धर्मध्यान या शुक्लध्यान के अभ्यास में लगाना है।

(८) सारी शक्तियां जीवनपर्यन्त आत्मरमणता या मोक्ष-साधना में लगानी है।

पण्डितवीर्य की साधना में शरीर गौण होता है, आत्मा मुख्य। अतः शरीर की भक्ति छोड़कर ऐसे साधक को आत्म-भक्ति पर ही मुख्यतया ध्यान देना चाहिए। तभी उसकी शक्ति सफल हो सकेगी, उसका समग्र जीवन भी पण्डितवीर्य की साधना में लगेगा और उसकी मृत्यु भी इसी साधना (पण्डित-मरण की साधना) में होगी।[१९]

वीतगेही—इसके दो अर्थ किये गए हैं—(१) विषयों की आकांक्षारहित (२) चूर्णिकार के अनुसार—निदानादि में गृद्धि से विमुक्त, जो परिपूर्ण होने पर न तो राग (मोह) करता है और न ही किसी पदार्थ को पाने की आकांक्षा करता है।[२०]

॥ वीर्य : अष्टम अध्ययन समाप्त ॥

---

१९. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १७५

२०. (क) सूयगडंग चूर्णि मू० पा० टिप्पण ७८

(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १७५

धर्म : नवम अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग सूत्र (प्र० श्रु०) के नवम अध्ययन का नाम 'धर्म' है।

☐ धर्म शब्द शुभकर्म, कर्तव्य, कुशल अनुष्ठान, सुकृत, पुण्य, सदाचार, स्वभाव, गुण, पर्याय, धर्मास्तिकाय, द्रव्य, मर्यादा, रीति, व्यवहार आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है।[1]

☐ निर्युक्तिकार ने नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव की दृष्टि से धर्म के चार निक्षेप किये हैं। नाम और स्थापना धर्म तो सुगम हैं। द्रव्यधर्म सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्य के स्वभाव अर्थ में है। अथवा षड्द्रव्यों में जो जिसका स्वभाव है, वह उसका द्रव्य धर्म है। इसके अतिरिक्त कुल, ग्राम, नगर, राष्ट्र आदि से सम्बधित जो गृहस्थों के नियमोपनियम, मर्यादाएँ, कर्त्तव्य अथवा दायित्व के रूप में कुलधर्म, ग्रामधर्म आदि हैं उन्हें तथा अन्नपुण्य आदि नौ प्रकार के पुण्य हैं, उन्हें भी द्रव्यधर्म समझना चाहिए।

☐ भावधर्म के दो प्रकार हैं—लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक धर्म दो प्रकार के हैं—गृहस्थों का और पाषण्डियों का। लोकोत्तर धर्म सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र के भेद से तीन प्रकार का है। निर्युक्तिकार के अनुसार प्रस्तुत अध्ययन में भावधर्म का ही अधिकार है, क्योंकि वही वस्तुतः धर्म है।[2]

☐ प्रस्तुत अध्ययन में ज्ञान-दर्शन-चारित्रसम्पन्न साधु के लिए वीतरागप्ररूपित लोकोत्तर धर्म (आचार-विचार) का निरूपण किया गया है। विशेषतः षड्जीवनिकाय के आरम्भ, परिग्रह आदि में ग्रस्त व्यक्ति इह-परलोक में दुःखमुक्त नहीं हो सकते, इसलिए साधु को परमार्थ (मोक्षमार्ग) का विचार करके निर्ममत्व, निरारम्भ, निरहंकार, निरपेक्ष एवं निष्परिग्रह होकर संयम धर्म में उद्यम करने का निर्देश किया गया है, तथा मृषावाद, मैथुन, परिग्रह, अदत्तादान, माया, लोभ, क्रोध, मान आदि को तथा शोभा के लिए प्रक्षालन, रंजन, वस्तीकर्म, विरेचन,

---

१. पाइअ-सद्द-महण्णवो पृ० ४८५

२. (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ९९ से १०१,
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १७५-१७६

वमन, अंजन, गन्ध, माल्य, स्नान, दन्त-प्रक्षालन, वस्तु-परिग्रह (संग्रह), हस्तकर्म, औद्देशिक आदि दोषयुक्त आहारसेवन, रसायन-सेवन, मर्दन, ज्योतिषप्रश्न, सांसारिक बातें, शय्यातरपिण्ड ग्रहण, द्यूतक्रीड़ा, कर्मविरुद्ध कथन, जूता, छाता, पंखे से हवा करना, गृहस्थ पात्र-वस्त्र-सेवन, कुर्सी-पलंग का उपयोग, गृहस्थ के घर में बैठना, उनका कुशल पूछना, पूर्वक्रीड़ितस्मरण, यश-कीर्ति, प्रशंसा, वन्दन-पूजन, असंयमोत्पादक अशन-पान तथा भाषादोष साधु के संयम धर्म को दूषित करने वाले आचार-व्यवहार के त्याग का उपदेश है।[३]

☐ उद्देशकरहित इस अध्ययन की कुल ३६ (चूर्णि के अनुसार १७) गाथाएँ हैं।

☐ यह अध्ययन सूत्रगाथा ४३७ से प्रारम्भ होकर ४७२ पर समाप्त होता है।

☐☐

---

[३] (क) सूयगडंग सुत्तं (मूलपाठ टिप्पण) पृ० ७९ से ८४ तक का सारांश
(ख) जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास भाग १, पृ० १४९-१५०

धम्मे-नवमं अज्झयणं

धर्म : नवम अध्ययन

जिनोक्त श्रमणधर्माचरण—क्यों और कैसे ?

४३७. कतरे धम्मे अक्खाते माहणेण मतीमता ।
अंजुं धम्मं अहातच्चं जिणाणं तं सुणेह मे ॥१॥

४३८. माहणा खत्तिया वेस्सा, चंडाला अदु बोक्कसा[1] ।
एसिया वेसिया सुद्दा, जे य आरंभणिस्सिता ॥२॥

४३९. परिग्गहे निविट्ठाणं, वेरं तेसिं पवड्ढई ।
आरंभसंभिया कामा, न ते दुक्खविमोयगा ॥३॥

४४०. आघातकिच्चमाधातुं नायओ विसएसिणो ।
अन्ने हरंति तं वित्तं, कम्मी कम्मेहिं कच्चति ॥४॥

४४१. माता पिता ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा ।
णालं ते तव ताणाए, लुप्पंतस्स सकम्मुणा[2] ॥५॥

४४२. एयमट्ठं सपेहाए, परमट्ठाणुगामियं ।
निम्ममो निरहंकारो, चरे भिक्खू जिणाहितं ॥६॥

---

[1] तुलना करें—"खत्तिया माहणा वेस्सा सुद्दा चण्डालपुक्कसा ॥
—सुत्तपिटक खुद्दकनिकाय जातकपालि भा०-१, पृ० ११९

[2] तुलना—(क) उत्तराध्ययन सूत्र अ० ६/३ में यह गाथा प्रायशः मिलती है ।
(ख) 'नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा'—आचा० प्र० श्रु० सू० ६४, ६६, ६७, ८१
—आचारांग विवेचनयुक्त प्र० श्रु० अ० २, उ० १, ४, पृ० ४१, ४३, ४४, ४५

४४३. चेच्चा वित्तं च पुत्ते य, णायओ य परिग्गहं।
चेच्चाण अंतगं सोयं निरवेक्खो परिव्वए ॥७॥

४३७. केवलज्ञानसम्पन्न, महामाहन (अहिंसा के परम उपदेष्टा) भगवान् महावीर स्वामी ने कौनसा धर्म बताया है ? जिनवरों के (द्वारा उपदिष्ट) उस सरल धर्म को यथार्थ रूप से मुझसे सुनो।

४३८-४३९. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चाण्डाल अथवा वोक्कस (अवान्तर जातीय वर्णसंकर), एषिक (शिकारी, हस्तितापस अथवा कन्दमूलादि भोजी पाषण्डी), वैशिक (माया-प्रधानकलाजीवी-जादूगर) तथा शूद्र और जो भी आरम्भ में आसक्त जीव हैं, एवं जो विविध परिग्रह में मूर्च्छित हैं, उनका दूसरे प्राणियों के साथ वैर बढ़ता है। वे काम-भोग में प्रवृत्त (विषयलोलुप) जीव आरम्भ से परिपूर्ण (आरम्भमग्न) हैं। वे दुःखों से या दुःखरूप कर्मों से मुक्त नहीं हो सकते।

४४०. विषय (सांसारिक) सुख के अभिलाषी ज्ञातिजन या अन्य लोग दाहसंस्कार आदि मरणोत्तर (—आघात) कृत्य करके मृतक व्यक्ति के उस धन को हरण कर (ले) लेते हैं, परन्तु नाना पापकर्म करके धन संचित करने वाला वह मृत व्यक्ति अकेला अपने पापकर्मों के फलस्वरूप दुःख भोगता है।

४४१. अपने पापकर्म से संसार से पीड़ित होते हुए तुम्हारी रक्षा करने में माता, पिता, पुत्रवधू, पत्नी, भाई और औरस (सगे) पुत्र (आदि) कोई भी समर्थ नहीं होते।

४४२. स्वकृत पाप से दुःख भोगते हुए प्राणी की रक्षा कोई नहीं कर सकता, इस बात को तथा परमार्थ रूप मोक्ष या संयम के अनुगामी (कारण) सम्यग्दर्शनादि हैं, इसे सम्यक् जान-देख कर ममत्वरहित एवं निरहंकार (सर्वमदरहित) होकर भिक्षु जिनोक्त धर्म का आचरण करे।

४४३. धन और पुत्रों को तथा ज्ञातिजनों और परिग्रह का त्याग करके अन्तर के शोक-संताप को छोड़कर साधक निरपेक्ष (निस्पृह) होकर संयमपालन में प्रगति करे।

विवेचन—जिनोक्त श्रमण धर्माचरण : क्यों और कैसे करें ?—प्रस्तुत सात सूत्रगाथाओं में विभिन्न पहलुओं से यह बताया गया है कि जिनोक्त श्रमण धर्म का पालन क्यों और कैसे करना चाहिए ?

चार मुख्य कारणों से श्रमण धर्म का स्वीकार एवं पालन श्रेयस्कर—(१) जो मानव चाहे वह ब्राह्मण, क्षत्रिय या चांडाल आदि कोई भी हों, आरम्भ-परिग्रहासक्त हैं, उनका प्राणियों के साथ दीर्घकाल तक वैर बढ़ता जाता है, (२) विषय-सुख-लोलुप आरम्भमग्न जीव दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता। (३) ज्ञातिजन व्यक्ति की मरणोत्तर क्रिया करके पापकर्म द्वारा संचित उसका धन ले लेते हैं, किन्तु उन कृतपापों का फल उसे अकेले ही भोगना पड़ता है, (४) पापकर्म के फलस्वरूप पीड़ित होते हुए व्यक्ति को उसके स्वजन बचा नहीं सकते।

इन सब बातों पर दीर्घ दृष्टि से विचार कर पूर्वोक्त चारों अनिष्टों से बचने के लिए व्यक्ति को सांसारिक गार्हस्थ्य प्रपंचों में न फंसकर जिनोक्त मोक्षमार्ग रूप (संयम) धर्म में प्रव्रजित होना तथा उसी का पालन करना श्रेयस्कर है।

श्रमण धर्म का पालन कैसे करें ?—इसके लिए साधक (१) ममत्वरहित हो, (२) अहंकार शून्य हो, (३) धन, धाम, परिग्रह, स्त्री-पुत्रादि आदि तथा ज्ञातिजनों के प्रति ममत्व का त्याग करे,

(४) सांसारिक भोगों से निरपेक्ष-निःस्पृह रहे, (५) अपने द्वारा त्यक्त सजीव निर्जीव पदार्थों के सम्बन्ध में अन्तर में शोक (चिन्ता) न करे।[1]

पाठान्तर और व्याख्याएं—**'चेच्चाण अंतगं सोयं'**—वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किये हैं—(१) अन्तर में ममत्वरूप दुष्परित्याज्य शोक को छोड़कर, (२) संयमी जीवन का अन्त—विनाश करने वाला मिथ्यात्वादि पंचाश्रवस्रोत अथवा शोक (चिन्ता) छोड़कर, (३) आत्मा में व्याप्त होने वाले-आन्तरिक शोक-संताप को छोड़कर। इसके बदले पाठान्तर है—**'चिच्चा णणंतगं सोयं'** इसके भी दो अर्थ वृत्तिकार ने किये हैं—(१) जिसका अन्त कदापि नहीं होता, ऐसे अनन्तक उस कर्माश्रवस्रोत या (२) स्वदेहादि के प्रति होने वाले शोक को छोड़कर। चूर्णिकारसम्मत पाठान्तर है—**'चेच्च ण अत्तगं सोतं'**—अर्थात्—आत्मा में होने वाले श्रोत कर्माश्रवद्वारभूत स्रोत को छोड़कर अथवा अज्ञान, अविरति और मिथ्यात्व के अनन्त पर्यायों को छोड़कर। **निरवेक्खो**—'निरपेक्ष' का आशय यह है कि साधु जिन सजीव निर्जीव वस्तुओं पर से ममत्व छोड़ चुका है, उनसे या उनकी कोई भी या किसी भी प्रकार की अपेक्षा-आशा न रखे।[2] एक आचार्य ने कहा है—जिन साधकों ने परपदार्थों या परिग्रह की अपेक्षा रखी वे ठगा गए, जो उनसे निरपेक्ष रहे, वे निर्विघ्नता से संसार सागर को पार कर गए। जो साधक भोगों की अपेक्षा रखते हैं, वे घोर संसारसमुद्र में डूब जाते हैं, जो भोगों से निरपेक्ष रहते हैं, वे सुखपूर्वक संसाररूपी अटवी को पार कर लेते हैं।[3]

मूलगुणगत-दोष त्याग का उपदेश

४४४. पुढवाऽऽऊ अगणि वाऊ तण रुक्ख सबीयगा।
अंडया पोय-जराऊ-रस-संसेय-उब्भिया ॥८॥

४४५. एतेहिं छहिं काएहिं, तं विज्जं परिजाणिया।
मणसा कायवक्केणं, णारंभी ण परिग्गही ॥९॥

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १७७-१७८ के आधार पर

२. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १७८
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ८०

३. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १७८
(ख) छलिया अवयक्खंता, निरावयक्खा गया अविग्घेणं।
तम्हा पवयणसारे निरावयक्खेण होयव्वं ॥१॥
भोगे अवयक्खंता पडंति संसारसायरे घोरे।
भोगेहिं निरवयक्खा, तरंति संसारकंतारं ॥२॥
—सूत्रकृ० शीलांकवृत्ति पत्रांक १७८ में उद्धृत

४४६. मुसावायं बहिद्धं च, उग्गहं च अजाइयं ।
सत्थादाणाइं लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया ।।१०।।

४४४-४४५. पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा हरित तृण, वृक्ष और बीज आदि वनस्पति एवं अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज तथा उद्भिज्ज आदि त्रसकाय, ये सब षट्कायिक जीव हैं। विद्वान् साधक इन छह कायों से इन्हें (ज्ञपरिज्ञा से) जीव जानकर, (प्रत्याख्यान परिज्ञा से) मन, वचन और काया से न इनका आरम्भ (वध) करे और न ही इनका परिग्रह करे ।

४४६. मृषावाद, मैथुनसेवन, परिग्रह (अवग्रह या उद्ग्रह), अदत्तादान, ये सब लोक में शस्त्र के समान हैं और कर्मबन्ध के कारण हैं। अतः विद्वान् मुनि इन्हें जानकर त्याग दे ।

विवेचन—श्रमण धर्म में मूल गुण-गत दोष-वर्जन—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओं (४४४ से ४४६ तक) में साधु के अहिंसादि पंचमहाव्रतरूप मूलगुणों के दोषों—हिंसा, असत्य आदि के त्याग करने का उपदेश है ।[४]

षड्जीवनिकाय का वर्णन—दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग आदि आगमों में विस्तृत रूप से किया गया है। पृथ्वीकाय आदि प्रत्येक के भी सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त आदि कई भेद तथा प्रकार हैं। प्रस्तुत शास्त्र में भी पहले इसी से मिलता-जुलता पाठ आ चुका है।

षट्कायिक जीवों का भेद-प्रभेद सहित निरूपण करने के पीछे शास्त्रकार का यही आशय है कि जीवों को भेद-प्रभेदसहित जाने बिना उनकी रक्षा नहीं की जा सकती ।[५]

कठिन शब्दों की व्याख्या—**बहिद्धं**—मैथुनसेवन, **उग्गहं**—परिग्रह, **अजाइया**—अदत्तादान । अथवा '**बहिद्धं**' का अर्थ मैथुन और परिग्रह है तथा '**उग्गहं अजाइया**' का अर्थ अदत्तादान है । '**पोयया**'—पोतरूप से पैदा होने वाले जीव, जैसे—हाथी, शरभ आदि । '**उब्भिया**'—उद्भिज्ज जीव, जैसे—मेंढक, टिड्डी, खंजरीट आदि ।[६]

उत्तरगुण-गत-दोष त्याग का उपदेश

४४७. पलिउंचणं भयणं च, थंडिल्लुस्सयणाणि य ।
धूणाऽऽदाणाइं लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया ।।११।।

---

४. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १७८-१७९ का सारांश

५. देखिये—(अ) दशवैकालिक सूत्र का 'छज्जीवणिया' नामक चतुर्थ अध्ययन
(आ) उत्तराध्ययन सूत्र का 'जीवाजीवविभत्ति' नामक ३६वां अध्ययन
(इ) आचारांग सूत्र प्र० श्रु० का 'शस्त्रपरिज्ञा' नामक प्रथम अध्ययन
(ई) सूत्रकृतांग प्र० श्रु० का 'कुशील-परिभाषा' नामक ७वें अध्ययन की प्रथम गाथा

६. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १७९

४४८. धोयणं रयणं चेव, वत्थीकम्म विरेयणं।
वमणंजण पलिमंथं, तं विज्जं परिजाणिया ।।१२।।

४४९. गंध मल्ल सिणाणं च, दंतपक्खालणं तहा।
परिग्गहित्थि कम्मं च, तं विज्जं परिजाणिया ।।१३।।

४५०. उद्देसियं कीयगडं, पामिच्चं चेव आहडं।
पूतिं अणेसणिज्जं च, तं विज्जं परिजाणिया ।।१४।।

४५१. आसूणिमक्खिरागं च, गिद्धु वघायकम्मगं।
उच्छोलणं च कक्कं च, तं विज्जं परिजाणिया ।।१५।।

४५२. संपसारी कयकिरिओ, पसिणायतणाणि य।
सागारियपिंडं च, तं विज्जं परिजाणिया ।।१६।।

४५३. अट्ठापदं ण सिक्खेज्जा, वेधादीयं च णो वदे।
हत्थकम्मं विवादं च, तं विज्जं परिजाणिया ।।१७।।

४५४. पाणहाओ य छत्तं च, णालियं वालवीयणं।
परकिरियं अन्नमन्नं च, तं विज्जं परिजाणिया ।।१८।।

४५५. उच्चारं पासवणं हरितेसु ण करे मुणी।
वियडेण वा वि साहट्टु, णायमेज्ज कयाइ वि ।।१९।।

४५६. परमत्ते अन्नपाणं च, ण भुंजेज्जा कयाइ वि।
परवत्थमचेलो वि, तं विज्जं परिजाणिया ।।२०।।

४५७. आसंदी पलियंके य, णिसिज्जं च गिहंतरे।
संपुच्छणं च सरणं च, तं विज्जं परिजाणिया ।।२१।।

४५८. जसं कित्तिं सिलोगं च, जा य वंदणपूयणा।
सव्वलोयंसि जे कामा, तं विज्जं परिजाणिया ।।२२।।

४५९. जेणेहं णिव्वहे भिक्खू, अन्न-पाणं तहाविहं।
अणुप्पदाणमन्नेसिं, तं विज्जं परिजाणिया ।।२३।।

४६०. एवं उदाहु निग्गंथे, महावीरे महामुणी।
अणंतणाणदंसी से, धम्मं देसितवं सुतं ।।२४।।

४४७. माया (परिकुञ्चन-वक्रताकारिणी क्रिया) और लोभ (भजन) तथा क्रोध और मान को नष्ट कर डालो (धुन दो); क्योंकि ये सब (कषाय) लोक में कर्मबन्ध के कारण हैं, अत: विद्वान् साधक ज्ञपरिज्ञा से जानकर, प्रत्याख्यानपरिज्ञा से इनका त्याग करे।

४४८. (विभूषा की दृष्टि से) हाथ, पैर और वस्त्र आदि धोना तथा उन्हें रंगना, वस्तिकर्म करना (एनिमा वगैरह लेना), विरेचन (जुलाब) लेना, दवा लेकर वमन (कै) करना, आखों में अंजन (काजल आदि) लगाना; ये (और ऐसे अन्य) शरीरसज्जादि संयमविघातक (पलिमंथकारी) हैं, इनके (स्वरूप और दुष्परिणाम) को जानकर विद्वान् साधु इनका त्याग करे।

४४९. शरीर में सुगन्धित पदार्थ लगाना, पुष्पमाला धारण करना, स्नान करना, दांतों को धोना—साफ करना, परिग्रह (सचित्त परिग्रह—द्विपद, चतुष्पद या धान्य आदि, अचित्त परिग्रह—सोने-चाँदी आदि के सिक्के, नोट, सोना-चांदी, रत्न, मोती आदि या इनके आभूषणादि पदार्थ रखना स्त्रीकर्म (देव, मनुष्य या तिर्यञ्च स्त्री के साथ मैथुन-सेवन) करना, इन अनाचारों को विद्वान् मुनि (कर्मबन्ध एवं संसार का कारण) जानकर परित्याग करे।

४५०. औद्देशिक (साधु के उद्देश्य से गृहस्थ द्वारा तैयार किया गया दोषयुक्त क्रीतकृत—खरीदकर लाया या लाकर बनाया हुआ), पामित्य (दूसरे से उधार लिया हुआ), आहृत (साधु के स्थान पर सामने लाया हुआ), पूतिकर्म (आधाकर्मी आहारमिश्रित दूषित) और अनैषणीय (एषणा दोषों से दूषित) आहार को अशुद्ध और संसार का कारण जानकर विद्वान् मुनि त्याग करे।

४५१. घृतादि या शक्तिवर्द्धक रसायन आदि का सेवन करना आँखों में (शोभा के लिए) अंजन लगाना, रसों या शब्दादि विषयों में गृद्ध (आसक्त) होना, प्राणिउपघातक कर्म करना, (या दूसरों के कार्य बिगाड़ना), हाथ-पैर आदि धोना, शरीर में कल्क (उबटन पीठी या क्रीम स्नो जैसा सुगन्धित पदार्थ लगाना; इन सबको विद्वान् साधु संसार-भ्रमण एवं कर्मबन्धन के कारण जानकर इनका परित्याग करे।

४५२. असंयमियों के साथ सांसारिक वार्तालाप (या सांसारिक बातों का प्रचार-प्रसार) करना, घर को सुशोभित करने आदि असंयम कार्यो की प्रशंसा करना, ज्योतिष सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देना और शय्यातर (सागारिक) का पिण्ड (आहार) ग्रहण करना विद्वान् साधु इन सब को संसार का कारण जानकर त्याग दे।

४५३. साधु अष्टापद (जुआ, शतरंज आदि खेलना) न सीखे, धर्म की मर्यादा (लक्ष्यवेध-) से विरुद्ध वचन न बोले तथा हस्तकर्म अथवा कलह करके हाथापाई न करे और न ही शुष्क निरर्थक विवाद (वाक्कलह) करे इन सबको संसार-भ्रमण का कारण जानकर इनका त्याग करे।

४५४. जूता पहनना, छाता लगाना, जूआ खेलना, मोरपिच्छ, ताड़ आदि के पंखे से हवा करना, परक्रिया (गृहस्थ आदि से पैर दबवाना) अन्योन्यक्ति या (साधुओं का परस्पर में ही काम करना); इन सबको विद्वान् साधक कर्मबन्धजनक जानकर इनका परित्याग करे।

४५५. मुनि हरी वनस्पति (हरियाली) वाले स्थान में मल-मूत्र-विसर्जन न करे, तथा बीज

आदि सचित्त वनस्पति को हटाकर अचित्त जल से भी कदापि आचमन (मुख या शरीर शुद्धि या मलद्वारशुद्धि) न करे ।

४५६. गृहस्थ के वर्तन (परपात्र) में कदापि आहार-पानी का सेवन न करे; साधु अचेल (वस्त्ररहित या जीर्ण वस्त्र वाला) होने पर भी परवस्त्र (गृहस्थ का वस्त्र) धारण न करे। विद्वान् मुनि ऐसा करना कर्मवन्धजनक जानकर उसका परित्याग करे ।

४५७. साधु खाट पर और पलंग पर न वैठे, न ही सोए। गृहस्थ के घर के भीतर या दो घरों के बीच (छोटी संकरी गली) में न वैठे, गृहस्थ के घर के समाचार, कुशल-क्षेम आदि न पूछे अथवा अपने अंगों को (शोभा की दृष्टि से) न पोंछे तथा अपनी पूर्वकामक्रीड़ा का स्मरण न करे। विद्वान् साधु इन्हें श्रमणधर्मभंगकारक समझकर इनका परित्याग करे ।

४५८. यश, कीर्ति, श्लोक (प्रशंसा) तथा जो वन्दना और पूजा-प्रतिष्ठा है, तथा समग्रलोक में जो काम-भोग हैं, इन्हें विद्वान् मुनि संयम के अपकारी समझकर इनका त्याग करे ।

४५९. इस जगत् में जिस (अन्न, जल आदि पदार्थ) से साधु के संयम का निर्वाह हो सके वैसा ही आहार-पानी ग्रहण करे। वह आहार-पानी असंयमी को न देना अनर्थकर (असंयमवर्द्धक) जानकर तत्त्वज्ञ मुनि नहीं देवे। (संयम दूषित या नष्ट हो जाए) उस प्रकार का अन्न जल अन्य साधकों को न दे। उसे संयम-विघातक जानकर साधु उसका त्याग करे ।

४६०. अनन्तज्ञानी, अनन्तदर्शी, निर्ग्रन्थ महामुनि श्रमण भगवान् महावीर ने इस प्रकार चारित्रधर्म और श्रुतधर्म का उपदेश दिया है ।

विवेचन—उत्तरगुणगत-दोषत्याग का उपदेश—सूत्रगाथा ४४७ से लेकर ४६० तक श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रदत्त श्रमणों के चारित्र धर्म को दूषित करने वाले उत्तरगुणगत-दोषों के त्याग का उपदेश है। इन सभी गाथाओं के अन्तिम चरण में **'तं विज्जं परिजाणिया'** कहकर शास्त्रकार ने उनके त्याग का उपदेश दिया है। उसका आशय व्यक्त करते हुए वृत्तिकार कहते हैं—उस अनाचरणीय संयमदूषक कृत्य को ज्ञपरिज्ञा से कर्मवन्ध का एवं संसार-परिभ्रमण का कारण जानकर विद्वान् साधक प्रत्याख्यान परिज्ञा से उसका त्याग करे। इनमें से साधु के लिए अधिकांश अनाचारों (अनाचीर्णों) का वर्णन है जिनका दशवैकालिक एवं आचारांग आदि शास्त्रों में यत्र तत्र उल्लेख हुआ है ।[७]

---

[७] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १७९ से १८२ तक का सारांश
(ख) तुलना—(अ) दशवैकालिक अ०. ३, गाथा १, २, ३, ४, ५
(आ) दशवै० अ० ६, गा० ४९ से ६७ तक
(ग) णो धोएज्जा, णो रएज्जा, णो धोतरत्ताइं वत्थाइं धारेज्जा····।
—आचारांग प्र० श्रु० विवेचन अ० ८, उ० ४, सू० २१४, पृ० २६१
(घ) णो दंतपक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा, णो अंजणं णो वमणं ··।
—सू० कृ० द्वितीय श्रुत० सूत्र ६८१
(ङ) तुलना करिए—'सेय्यथिदं-अट्ठपदं····सेय्यथिदं-आसंदिं पल्लंकं····मालागंधविलेपनं····चित्रुपाहनं अञ्जनं···· वाल-विजनिं·······मंडनविभूसनट्ठानानुयोगा पटिविरतो·······।
—सुत्तपिटक दीर्घनिकाय ब्रह्मजालसुत्त पृ० ८।९

कठिन शब्दों की व्याख्या—धूणाऽऽदाणाइं—कर्मों को ग्रहण करने के कारण अथवा कर्मों को जन्म देने वाले। **आसूणि**—वृत्ति और चूर्णि में इसकी दो व्याख्याएँ मिलती हैं—(१) जिस घृतपान आदि पौष्टिक या शक्ति वर्द्धक आहारविशेष से या भस्म पारा आदि रसायन विशेष के सेवन से शरीर हृष्टपुष्ट होता हो, (२) श्वान-सी तुच्छ प्रकृति का साधक जरा-सी आत्म-श्लाघा या प्रशंसा से फूल (सूज) जाता हो, गर्वस्फीत हो जाता हो। **कयकिरिओ**—(आरम्भजनित) गृहनिर्माणादि बहुत सुन्दर किया है अथवा असंयतों के साथ विवाह-सगाई कामभोग आदि वासना एवं मोह में वृद्धि करने वाली बातें करना या इस प्रकार के असंयम कार्य की प्रशंसा करना। **पसिणायतणाणि**—दो व्याख्याएँ—(१) ज्योतिषसम्बन्धी प्रश्नादि के उत्तर; आयतन—प्रकट करना-बताना। (२) संसारी लोगों के परस्पर व्यवहार, मिथ्याशास्त्र अथवा प्रश्न के सम्बन्ध में यथार्थ बातें बताकर निर्णय देना। **सागारियपिंडं**—तीन अर्थ—(१) सागारिक—शय्यातर का पिण्ड (आहार) अथवा (२) सागारिक पिण्ड यानी सूतकगृहपिण्ड या (३) निन्द्य—जुगुप्सित दुराचारी का पिण्ड। **अट्ठापदं न सिक्खेज्जा**—तीन व्याख्याएँ—(१) जिस पद-शास्त्र से धन, धान्य, सोना आदि प्राप्त किया जा सके, ऐसे शास्त्र का अध्ययन न करे, (२) द्यूतक्रीड़ा विशेष न सीखे, (३) अर्थ यानी धर्म या मोक्ष में आपद्‌कर—प्राणि-हिंसा की शिक्षा देने वाला शास्त्र न सीखे, न ही दूसरों को सिखाए और न पूर्वशिक्षित ऐसे शास्त्र की आवृत्ति या अभ्यास करे। **वेधादीयं**—तीन अर्थ—(१) वेध का अर्थ है सद्‌धर्म के अनुकूलत्व और अतीत का अर्थ है—उससे रहित यानी सद्‌धर्मविरुद्ध, (२) अधर्मप्रधान, (३) वेध का अर्थ वस्त्रवेध—जुए, सट्‌टे, अंक आदि जैसे किसी द्यूत विशेष से सम्बन्धित बातें न बताए। **वियडेण वा वि साहट्‌टु**—विकट—विगतजीव—प्रासुक जल से, बीज या हरियाली (हरी वनस्पति) को हटाकर।

'परमत्ते अन्न पाणं च'—पर [गृहस्थ] के पात्र में अन्नपानी का सेवन न करे। स्थविरकल्पी साधु के लिए गृहस्थ का पात्र परपात्र है, उसमें आहार करने या पेय पदार्थ पीने से पहले या पीछे गृहस्थ द्वारा उसे सचित्त जल से धोये जाने कदाचित् चुराये जाने या गिरकर टूट जाने की आशंका रहती है। इसलिए यह साध्वाचार-विरुद्ध है। स्थविरकल्पी साधु के लिए हाथ की अंजलि में खाना-पीना भी परपात्र में खाना-पीना है, वह भी निषिद्ध है, क्योंकि स्थविरकल्पी साधु-साध्वियों की अंजलि छिद्रयुक्त होती है, उसमें आहार-पानी आदि नीचे गिर जाने से अयत्ना होने की सम्भावना है। जिनकल्पी के लिए हाथ की अंजलि-स्वपात्र है, लकड़ी आदि के पात्र या गृहस्थ के पात्र में खाना-पीना परपात्र भोजन करना है। इसी तरह **'परवत्थमचेलो वि'**—स्थविरकल्पी साधु के लिए गृहस्थ के वस्त्र परवस्त्र हैं—और जिनकल्पी के लिए दिशाएँ ही वस्त्र हैं, इसलिए सूत आदि से बने सभी वस्त्र परवस्त्र हैं। परवस्त्र का उपयोग करने में वे ही पूर्वोक्त खतरे हैं। **आसंदी पलियंके य**—आसंदी—वर्तमान युग में आरामकुर्सी या स्प्रिंगदार कुर्सी अथवा लचीली छोटी खाट तथा नीवार वाला स्प्रिंगदार लचीला पलंग। इन पर सोने बैठने या लेटने से कामोत्तेजना होने की तथा छिद्रों में बैठे हुए जीवों की विराधना होने की आशंका है; इसलिए इनका उपयोग वर्जित किया गया है। **निसिज्जं च गिहंतरे**—गृहान्तराल में बैठना ब्रह्मचर्य-विराधना की आशंका या लोकशंका अथवा अशोभा की दृष्टि से निषिद्ध किया है। **संपुच्छणं**—दो अर्थ मूलार्थ में दिये जा चुके हैं। इसी तरह के सांसारिक पूछ-ताछ से अपना स्वाध्याय, ध्यान-साधना का अमूल्य समय व्यर्थ में नष्ट होता है।

जे णेहं निव्वहे—तीन अर्थ—(१) द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से जिस शुद्ध अन्न-जल से, अथवा दुर्भिक्ष, रोग, आतंक आदि कारणों से किंचित् अशुद्ध अन्न-जल से इस लोक में इस संयमयात्रादि का निर्वाह हो, अथवा (२) वैसा ही अन्न-जल संयम का निर्वाह करने के लिए दूसरों को दे। (३) जिस कार्य के करने से अर्थात् असंयमी गृहस्थ आदि को आहार देने से साधु का संयम दूषित हो, वैसा कार्य साधु न करे।[८]

साधुधर्म के भाषाविवेकसूत्र

४६१. भासमाणो न भासेज्जा, णेय वंफेज्ज मम्मयं।
मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा, अणुवियि वियागरे ॥२५॥

४६२. तत्थिमा तइया भासा, जं वइत्ताऽणुतप्पई।
जं छन्नं तं न वत्तव्वं, एसा आणा नियंठिया ॥२६॥

४६३. होलावायं सहीवायं, गोयावायं च नो वदे।
तुमं तुमं ति अमणुण्णं, सव्वसो तं ण वत्तए ॥२७॥

४६१. किसी बोलते हुए के बीच में न बोले। (अथवा भाषा समिति से युक्त) साधु (धर्मोपदेश या धर्म सम्बन्धी) भाषण करता हुआ भी भाषण न करने वाले (मौनी) के समान है। साधु मर्मस्पर्शी भाषा न बोले; वह मातृस्थान-माया (कपट) प्रधान वचन का त्याग करे। (जो कुछ भी बोले, पहले उस सम्बन्ध में) सोच-विचार कर बोले।

४६२. चार प्रकार की भाषाओं में जो तृतीत भाषा (सत्या-मृषा) है, उसे साधु न बोले, तथा जिसे बोलने के बाद पश्चात्ताप करना पड़े, ऐसी भाषा भी न बोले। जिस बात को सब लोग छिपाते (गुप्त रखते) हैं अथवा जो क्षण (हिंसा) प्रधान भाषा हो वह भी नहीं बोलनी चाहिए। यह निर्ग्रन्थ (भगवान् महावीर) की आज्ञा है।

४६३. साधु निष्ठुर या नीच सम्बोधन से किसी को पुकारकर (होलावाद) न करे। सखी मित्र आदि कह कर सम्बोधित करके (सखिवाद) न करे तथा गोत्र का नाम लेकर (चाटुकारिता की दृष्टि से) किसी को पुकार कर (गोत्रवाद) न बोले। रे, तू, इत्यादि तुच्छ शब्दों से किसी को सम्बोधित न करे, तथा जो अप्रिय-अमनोज्ञ वचन हो, उन्हें साधु सर्वथा (बिलकुल) न कहे अथवा वैसा दुर्व्यवहार (वर्त्तन) साधु सर्वथा न करे।

विवेचन—भाषा विवेक सूत्र—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओं (सूत्र० गा० ४६१ से ४६३) में यह विवेक बताया गया है कि साधु को कैसी भाषा बोलनी चाहिए, कैसी नहीं? **भासमाणो न भासेज्जा**—वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ प्रस्तुत किये हैं—(१) दीक्षा ज्येष्ठ (रत्नाधिक) साधु किसी से बात कर रहा हो, उस समय अपना पाण्डित्य प्रदर्शन करने या बड़े की लघुता प्रकट करने की दृष्टि से बीच में

---

[८] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १७९ से १८१ तक (ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ८०,८१,८२

न बोले, क्योंकि ऐसा करने से बड़ों की आशातना और अपने अभिमान की अभिव्यक्ति होती है। अथवा (२) जो साधु वचन-विभाग को जानने में निपुण है, जो वाणी के बहुत से प्रकारों को जानता है, वह दिनभर बोलता हुआ न बोलने वाले (वचनगुप्ति युक्त-मौनी) के समान है, क्योंकि वह भाषा-समिति का ध्यान रखकर बोलता है, वह धर्मोपदेश, धर्म-पथ प्रेरणा, धर्म में स्थिरता के लिए मार्ग-दर्शन देते समय पूर्ण सतर्क होकर वाणीप्रयोग करता है।[९]

णेव वंफेज्ज मम्मयं—दो अर्थ—(१) बोला हुआ वचन चाहे सत्य हो या असत्य, किन्तु यदि वह किसी के मन में चुभने या पीड़ा पहुँचाने वाला हो तो उसे न बोले, अथवा (२) 'यह मेरा है' ऐसा सोचकर किसी के प्रति पक्षपात युक्त (मामक) वचन न कहे।

मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा—दो अर्थ—(१) कपट प्रधान (संदिग्ध, छलयुक्त, द्व्यर्थक) वचन का त्याग करे, अथवा (२) दूसरों को ठगने या धोखा देने के लिए साधु मायाचार या दम्भ न करे।[१०]

निर्ग्रन्थ-आज्ञा से सम्मत एवं असम्मत भाषा—दशवैकालिक, आचारांग आदि शास्त्रों में चार प्रकार की भाषा बताई है—(१) सत्या, (२) असत्या, (३) सत्या-मृषा और (४) असत्या-मृषा। इन चारों में से असत्य भाषा तो वर्जनीय है ही, तीसरी भाषा—सत्यामृषा (कुछ झूठी, कुछ सच्ची भाषा) भी वर्जित है। जैसे किसी साधक ने अनुमान से ही निश्चित रूप से कह दिया—'इस गाँव में बीस बच्चों का जन्म या मरण हुआ है।' ऐसा कहने में संख्या में न्यूनाधिक होने से यह वचन सत्य और मिथ्या दोनों से मिश्रित है। असत्यामृषा (व्यवहार) भाषा भी भाषासमिति युक्त बोलने का विधान है। इन तीनों भाषाओं के अतिरिक्त प्रथम भाषा सर्वथा सत्य होते हुए भी निम्नोक्त कारणों से साधु के लिए निषिद्ध बताई गई है—

(१) जिस वचन को कहने से किसी को दुःख, पीड़ा, उद्वेग, भय, चिन्ता, आघात, मर्मान्तिक वेदना, अपमानदंश, मानसिक क्लेश पैदा हो।

(२) जो कर्कश, कठोर, वध-प्रेरक, छेदन-भेदन कारक, अमनोज्ञ एवं ताड़न-तर्जनकारक हो, अर्थात् हिंसा-प्रधान हो।

(३) जो भाषा मोह-ममत्वजनक हो, जिस भाषा में स्वत्व मोह के कारण पक्षपात हो।

(४) जो भाषा बाहर से सत्य प्रतीत हो, परन्तु भीतर से दम्भ या छल-कपट से भरी हो।

(५) जो भाषा हिंसादि किसी पाप में श्रोता को प्रेरित करती (सावद्य) हो, जैसे—"इसे मारो-पीटो," "चोरी करो", आदि वचन।

---

[९] 'वयणविहत्तीकुसलोवगयं बहु विहं वियाणंतो।
दिवसं पि भासमाणो साहू वयगुत्तयं पत्तो॥'

[१०] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १८२-१८३
(ख) तुलना करें—(अ) दशवैकालिक अ० ७ गा० ६ से २० तक
(आ) आचारांग विवेचन द्वि० श्रु०, सू० ५२४ से ५२८ तक, पृ० २१७

(६) जो भाषा सत्य होते हुए भी किसी को अपमानित, तिरस्कृत या बदनाम करने अथवा नीचा दिखाने, उपहास करने या अपना अहंकार प्रदर्शित करने की दृष्टि से बोली जाए। या जो ऐ नीच, रे दुष्ट, तू चोर है, काना है, पापी है! आदि तुच्छ वचन रूप हो।

(७) जिस भाषा की तह में चाटुकारिता, दीनता या स्व-हीनता भरी हो।

(८) जो भाषा सत्य होते हुए भी मन में सन्देहास्पद हो, द्वयर्थक हो, निश्चयकारी हो, या जो भाषा सहसा अविचारपूर्वक बोली गई हो।

(९) जिस भाषा के बोलने से बाद में पश्चात्ताप हो अथवा बोलने के पश्चात् उसके फलस्वरूप जन्म-जन्मान्तर तक संताप (पीड़ा) पाना पड़े।

(१०) जिस बात को सभ्य लोग प्रयत्नपूर्वक छिपाते हैं, उसे प्रकट करने वाली, या किसी की गुप्त बात प्रकट करने वाली हो, इस प्रकार की सब भाषा निषिद्ध है।[११]

लोकोत्तर धर्म के कतिपय आचारसूत्र

४६४. अकुसीले सया भिक्खू, णो य संसग्गियं भए।
सुहरूवा तत्थुवस्सग्गा पडिबुज्झेज्ज ते विदू ॥२८॥

४६५. णण्णत्थ अंतराएणं, परगेहे ण णिसीयए।
गामकुमारियं किड्डं, नातिवेलं हसे मुणी ॥२९॥

४६६. अणुस्सुओ उरालेसु, जयमाणो परिव्वए।
चरियाए अप्पमत्तो, पुट्ठो तत्थऽहियासते ॥३०॥

४६७. हम्ममाणो न कुप्पेज्जा, वुच्चमाणो न संजले।
सुमणो अहियासेज्जा, ण य कोलाहलं करे ॥३१॥

४६८. लद्धे कामे ण पत्थेज्जा, विवेगे एसमाहिए।
आरियाइं सिक्खेज्जा, बुद्धाणं अंतिए सया ॥३२॥

---

११. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १८२-१८३ का तात्पर्य
(ख) चार प्रकार की भाषा के लिए देखें—दशवैकालिक अ० ७ गा० १ से ४ तक तथा आचारांग द्वि० श्रु० विवेचन सू० ५२४ पृ० २१७
(ग) पुव्वं बुद्धीए पेहित्ता पच्छा वक्कमुदाहरे।
अचक्खुओ व नेतारं बुद्धिमन्नेइ ते गिरा॥ —दशवै० निर्युक्ति गा० २९३

४६९. सुस्सूसमाणो उवासेज्जा, सुप्पण्णं सुतवस्सियं ।
वीरा जे अत्तपण्णेसी, धितिमंता जितिंदिया ।।३३।।

४७०. गिहे दीवमपस्संता, पुरिसादाणिया नरा ।
ते वीरा बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीवितं ।।३४।।

४७१. अगिद्धे सद्द-फासेसु, आरंभेसु अणिस्सिते ।
सव्वेतं समायातीतं, जमेतं लवितं बहुं ।।३५।।

४७२. अतिमाणं च मायं च, तं परिण्णाय पंडिते ।
गारवाणि य सव्वाणि, निव्वाणं संधए मुणि ।।३६।। त्ति बेमि ।

।। धम्मो नवमं अज्झयणं सम्मत्तं ।।

४६४. साधु सदैव अकुशील बनकर रहे, तथा कुशीलजनों या दुराचारियों के साथ संसर्ग न रखे, क्योंकि उसमें (कुशीलों की संगति में) भी सुखरूप (अनुकूल) उपसर्ग रहते हैं, अतः विद्वान् साधक इस तथ्य को भलीभाँति जाने तथा उनसे सावधान (प्रतिबुद्ध-जागृत) रहे ।

४६५. किसी (रोग, अशक्ति, आतंक आदि) अन्तराय के बिना साधु गृहस्थ के घर में न बैठे । ग्राम-कुमारिका क्रीड़ा (ग्राम के लड़के-लड़कियों का खेल) न खेले, एवं मर्यादा का उल्लंघन करके न हंसे ।

४६६. मनोहर (उदार) शब्दादि विषयों में साधु अनुत्सुक रहे (किसी प्रकार की उत्कण्ठा न रखे । यदि शब्दादि विषय अनायास ही सामने आ जाएँ तो यतनापूर्वक आगे बढ़ जाए या संयम में यत्नपूर्वक गमन करे, भिक्षाटन आदि साधुचर्या में प्रमाद न करे, तथा परीषहों और उपसर्गों से पीड़ित (स्पृष्ट) होने पर उन्हें (समभावपूर्वक) सहन करे ।

४६७. लाठी, डंडे आदि से मारा-पीटा जाने पर साधु (मारने वाले पर) कुपित न हो, किसी के द्वारा गाली आदि अपशब्द कहे जाने पर क्रोध न करे, जले-कुढ़े नहीं, किन्तु प्रसन्न मन से उन्हें (चुपचाप) सहन करे, किसी प्रकार का कोलाहल न करे ।

४६८. साधु (अनायास) प्राप्त होने वाले काम-भोगों की अभिलाषा न करे, ऐसा करने पर (ही उसे निर्मल) विवेक उत्पन्न हो गया, यों कहा ज़ाता है । (इसके लिए) साधु आचार्यों या ज्ञानियों (बुद्धजनों) के सदा निकट (अन्तेवासी) रहकर आर्यों के धर्म या कर्त्तव्य अथवा मुमुक्षुओं द्वारा आचर्य (आचरणीय) ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप धर्म सदा सीखे, (उसका अभ्यास करे) ।

४६९. स्व परसमय (स्व-पर धर्म सिद्धान्तों) के ज्ञाता एवं उत्तम तपस्वी गुरु की सेवा-शुश्रूषा करता हुआ साधु उनकी उपासना करे । जो साधु कर्मों को विदारण करने में समर्थ वीर हैं, आप्त (वीतराग) पुरुष की केवलज्ञानरूप प्रज्ञा या आत्मप्रज्ञा का अन्वेषण करते हैं, धृतिमान् हैं और जितेन्द्रिय हैं, वे ही ऐसा आचरण करते हैं ।

४७०. गृहवास में श्रुतज्ञानरूपी दीप का या सर्वज्ञोक्त चारित्ररूपी द्वीप का लाभ न देख जो मनुष्य प्रव्रज्या धारण करके मुमुक्षुपुरुषों द्वारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्ष के योग्य (पुरुषदानीय) बन जाते हैं, वे वीर कर्मबन्धनों से विमुक्त हो जाते हैं, फिर वे असंयमी जीवन की आकांक्षा नहीं करते।

४७१. साधु मनोज्ञ शब्द (रूप, रस, गन्ध) एवं स्पर्श में आसक्त (गृद्ध) न हो, सावद्य आरम्भ-जनित कार्यों से अनिश्रित (असम्बद्ध) रहे। इस अध्ययन के प्रारम्भ से लेकर यहाँ तक जो बहुत सी बातें निषिद्ध रूप से कही गई हैं, वे सब जिनागम (सिद्धान्त) से विरुद्ध (समयातीत) हैं, अथवा जो बातें विधान रूप से कही गई हैं, वे सब कुतीर्थिकों के सिद्धान्तों से विरुद्ध, लोकोत्तर उत्तम धर्मरूप हैं।

४७२. पण्डित मुनि अतिमान और माया, तथा ऋद्धि-रस-सातारूप सभी गौरवों को (संसार-कारण) जानकर उनका परित्याग करे और स्वयं को (समस्त कर्मक्षय रूप) निर्वाह की साधना से जोड़े या निर्वाण को ही पाने की अभिलाषा रखे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—लोकोत्तर (श्रमण) धर्म के कतिपय आचारसूत्र—सूत्रगाथा ४६४ से ४७२ तक नौ गाथाओं द्वारा मुनिधर्म के कुछ विशिष्ट आचारसूत्रों का उल्लेख किया है—(१) साधु न तो स्वयं कुशील बने और न ही कुशीलजनों से सम्पर्क रखे, (२) कुशीलजनसंसर्ग से होने वाले अनुकूल उपसर्गों से सावधान रहे, (३) अकारण गृहस्थ के घर में न बैठे, (४) बच्चों के खेल में भाग न ले, (५) मर्यादा का अतिक्रमण करके न हंसे, (६) मनोज्ञ शब्दादि विषयों में कोई उत्कण्ठा न रखे, अनायास प्राप्त हों तो भी यतनापूर्वक आगे बढ़ जाए, उन पर संयम रखे, (७) साधुचर्या में अप्रमत्त रहे (८) परीषहोपसर्गों से पीड़ित होने पर उन्हें समभाव से सहे, (९) प्रहार करने वाले पर क्रुद्ध न हो, न ही उसे अपशब्द कहे, न ही मन में कुढ़े, बल्कि प्रसन्न मन से चुपचाप सहन करे, (१०) उपलब्ध हो सकने वाले काम-भोगों की लालसा न करे, (११) आचार्यादि के चरणों में रहकर सदा आर्य धर्म सीखे, विवेकसम्पन्न बने, (१२) स्व-परसिद्धान्तों के सुज्ञाता उत्तम तपस्वी गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा एवं उपासना करे, (१३) कर्मक्षय करने में वीर बने, (१४) आप्त पुरुषों की केवलज्ञानरूप प्रज्ञा का या आत्मप्रज्ञा का अन्वेषक बने, (१५) धृतिमान् हो, (१६) जितेन्द्रिय हो, (१७) गृहवास में उत्कृष्ट ज्ञान-दर्शन-चारित्र का लाभ न देखकर मुनि धर्म में दीक्षित साधु असंयमी जीवन की आकांक्षा न करे बल्कि वीरतापूर्वक कर्मबन्धनों से मुक्त बने, (१८) मनोज्ञ शब्दादि में आसक्त न हो, (१९) सावद्य आरम्भजनित कार्यों से असम्बद्ध रहे (२०) सिद्धान्तविरुद्ध सब आचरणों से दूर रहे, (२१) मान, माया, एवं सर्व प्रकार के गौरव को संसार का कारण जानकर परित्याग करे, और (२२) निर्वाण रूप लक्ष्य का सन्धान करे।

ये ही वे मौलिक आचार सूत्र हैं, जिन पर चलकर मुनि अपने श्रमण धर्म को उज्ज्वल एवं परिष्कृत बनाता है।[१२]

---

१२. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १८३ व १८४ का सारांश

कुशीलों की संगति से सुखभोगेच्छारूप उपसर्ग—कुशील व्यक्ति अपनी संगति में आने वाले सुविहित साधक को वहकाते हैं—"अजी! आप शरीर को साफ और सशक्त रखिये। शरीर सुदृढ़ होगा तभी आप धर्मपालन कर सकेंगे। शरीर साफ रखने से मन भी साफ रहेगा। शरीर को बलवान् बनाने हेतु आधाकर्मी, औद्देशिक पौष्टिक आहार मिलता हो तो लेने में क्या आपत्ति है? पैरों की रक्षा के लिए जूते पहन लेने या वर्षा गर्मी से सुरक्षा के लिए छाता लगा लेने में कौन-सा पाप है? शरीररक्षा करना तो पहला धर्म है। अतः निरर्थक कष्टों से बचाकर धर्माधाररूप शरीर की रक्षा करनी चाहिए।"

कभी-कभी वे आकर्षक युक्तियों से सुसाधक को प्रभावित कर देते हैं—"आजकल तो पंचम काल है, हीनसंहनन है, इतनी कठोर क्रिया करने और इतने कठोर परीषहों और उपसर्गों को सहने की शक्ति कहाँ है? अतः समयानुसार अपनी आचारसंहिता बना लेनी चाहिए, आदि आदि।"

अल्प पराक्रमी साधक कुशीलों के आकर्षक वचनों से प्रभावित हो, धीरे-धीरे उनके समान ही सुकुमार सुखशील बन जाते हैं। इसीलिए इन उपसर्गों को सुखरूप कहा है। ये उपसर्ग पहले तो बहुत सुखद, सुहावने और मोहक लगते हैं, परन्तु वाद में ये संयम की जड़ों को खोखली कर देते हैं। साधु को ये उपसर्ग पराश्रित, इन्द्रियविषयों का दास और असंयमनिष्ठ बना देते हैं।[१३]

अकारण गृहस्थ के घर में बैठने से हानि—अकारण गृहस्थ के घर पर बैठने से किसी को साधु के चारित्र में शंका हो सकती है, किसी अन्य सम्प्रदाय का साधुद्वेषी व्यक्ति साधु पर मिथ्या दोषारोपण भी कर सकता है। दशवैकालिक सूत्र में तीन कारणों से गृहस्थ के घर पर बैठना कल्पनीय वताया है—(१) वृद्धावस्था के कारण अशक्त हो, (२) कोई रोग ग्रस्त हो या अचानक कोई चक्कर आदि रोग खड़ा हो जाए (३) या दीर्घतपस्वी हो।[१४]

मर्यादातिक्रान्त हास्य : कर्मबन्ध का कारण—कभी-कभी हंसी-मजाक या हंसना कलह का कारण बन जाता है। इसीलिए आगम में हास्य और कुतूहल को कर्मों के बन्ध का कारण वताया है। उत्तराध्ययन एवं भगवती सूत्र में भी हास्य और क्रीड़ा को साधु के लिए वर्जित कर्म बन्धकारक वताया है।[१५]

"लद्धे कामे ण पत्थेज्जा"—इस पंक्ति के दो अर्थ फलित होते हैं—(१) दीर्घकालीन साधना के फलस्वरूप उपलब्ध काम-भोगों-सुख-साधनों का प्रयोग या उपयोग करने की अभिलाषा न करे, (२)

---

[१३] सूत्रकृतांग शी० वृत्ति प० १८३

[१४] (क) सूत्रकृतांग शी० वृत्ति पत्रांक १८३
(ख) दशवैकालिक उ० ६ गा० ५७ से ६० तक

[१५] (क) सूत्रकृतांग शी० वृत्ति पत्रांक १८३
(ख) 'हासं कीडं च वज्जए'—उत्तरा अ० १, गा० ९
(ग) 'जीवेणं भंते! हसमाणे वा उस्सूयुमाणे वा कइ कम्मपगडीयो वंधइ?'
'गोयमा! सत्तविहवंधए वा अट्ठविहवंधए वा।' —भगवती शतक ५, सूत्र ७१ (अंगसुत्ताणि)

अनायास प्राप्त लब्धियों का सिद्धियों से भी लाभ उठाने की मन में इच्छा न करे। प्राप्त शक्तियों या उपलब्धियों को वज्रस्वामीवत् विवेकपूर्वक पचाए।[१६]

गुरु की शुश्रूषा और उपासना में अन्तर—यह है कि शुश्रूषा—गुरु के आदेश-निर्देशों को सुनने की इच्छा है, उसका फलितार्थ है— गुरु की सेवा-वैयावृत्य करके उनके मन को प्रसन्न करना, उनके आदेशों का पालन करना, जबकि उपासना गुरुचरणों में बैठकर ज्ञान-दर्शन-चरित्र की आराधना करना है, गुरु के शरीर की नहीं, गुणों की उपासना करना ही वास्तविक उपासना है। जैसे कि कहा है—"गुरु की उपासना करने से साधक ज्ञान का भाजन बनता है, ज्ञान-दर्शन-चारित्र में स्थिरतर हो जाता है। वे धन्य हैं जो जीवनपर्यन्त गुरुकुलवास नहीं छोड़ते।"[१७]

।। धर्म : नवम अध्ययन समाप्त ।।

---

[१६] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १८४

[१७] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति० १८४

(ख) "नाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्तेय।
धन्ना आवकहाए गुरुकुलवासं न मुञ्चति।
—सू० कृ० शी० वृत्ति पत्रांक १८५ में उद्धृत

समाधि–दशम अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग सूत्र (प्र० श्रु०) के दसवें अध्ययन का गुणनिष्पन्न नाम 'समाधि' है ।

☐ समाधि शब्द चित्त की स्वस्थता, सात्त्विक सुखशान्ति, सन्तुष्टि, मनोदुःख का अभाव, आनन्द, प्रमोद, शुभध्यान, चित्त की एकाग्रतारूप ध्यानावस्था, समता, रागादि से निवृत्ति, आत्म-प्रसन्नता आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है ।

☐ निर्युक्तिकार ने नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप से ६ प्रकार से समाधि का निक्षेप किया है । नाम समाधि और स्थापना समाधि सुगम है । द्रव्यसमाधि मुख्यतया चार प्रकार से होती है—(१) जिस द्रव्य के खाने-पीने से शान्ति प्राप्त हो, (२) मनोज्ञ शब्दादि विषयों की प्राप्ति होने पर श्रोत्रादि इन्द्रियों की तुष्टि हो, (३) परस्पर विरोधी दो या अनेक द्रव्यों के मिलाने से स्वाद की वृद्धि (पुष्टि) होती हो अथवा (४) तराजू पर जिस वस्तु को चढ़ाने से दोनों पलड़े समान हों । क्षेत्रसमाधि वह है—जिस क्षेत्र में रहने से शान्ति-समाधि प्राप्त हो, काल-समाधि का अर्थ—जिस ऋतु, मास या काल में शान्ति प्राप्त हो । भावसमाधि का अर्थ है—चित्त की स्वस्थता, शान्ति, एकाग्रता, समता, संतुष्टि, प्रसन्नता आदि या जिन ज्ञानादि गुणों द्वारा समाधि लाभ हो ।[2]

☐ प्रस्तुत अध्ययन में भावसमाधि (आत्मप्रसन्नता) के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है, भावसमाधि ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप रूप है । दशवैकालिक सूत्र में विनयसमाधि, श्रुतसमाधि, तपःसमाधि और आचारसमाधि का (प्रत्येक के चार-चार भेद सहित) उल्लेख है, ये भी भावसमाधि के अन्तर्गत हैं । दशाश्रुतस्कन्ध के अनुसार उक्त बीस असमाधि स्थानों से दूर रहना भी भाव-समाधि है । सम्यक्चारित्र में स्थित साधक चारों भावसमाधियों में आत्मा को स्थापित कर लेता है ।[3]

---

१. पाइअ-सद्द-महण्णवो पृ० ८७०

२. (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० १०३ से १०६ तक
   (ख) सूत्र कृ० शी० वृत्ति पत्रांक १८६-१८७

३. (क) दशवैकालिक सूत्र अ० ९, उद्देशक चार में ४ प्रकार की समाधियों का वर्णन ।
   (ख) दशाश्रुतस्कन्ध प्रथम दशा में २० प्रकार के समाधि स्थान । —आयारदशा पृ० १
   (ग) दशाश्रुतस्कन्ध में चित्त समाधि प्राप्त होने के १० स्थान (कारण) —आयारदशा पृ० ३४

☐ प्रस्तुत अध्ययन में शास्त्रकार ने श्रमण को चारित्रसमाधि के लिए किसी प्रकार का संचय न करना, समस्त प्राणियों के साथ आत्मवत् व्यवहार करना, आरम्भादि प्रवृत्तियों में हाथ-पैर आदि को संयत रखना, निदान न करना, हिंसा, चौर्य अब्रह्मचर्य आदि पापों से दूर रहना, अप्रतिवद्ध विचरण, आत्मवत् प्रेक्षण, एकत्वभावना, क्रोधादि से विरति, सत्यरति, कामना रहित तपश्चरण, तितिक्षा, वाग्गुप्ति, शुद्धलेश्या, स्त्री संसर्गनिवृत्ति, धर्मरक्षा के विचारपूर्वक पापविरति निरपेक्षता, कायव्युत्सर्ग, जीवन-मरणाकांक्षा रहित होना आदि समाधि प्राप्ति के उपायों का तथा समाधि भंग करने वाला स्त्रीसंसर्ग, परिग्रह-ममत्व, भोगाकांक्षा आदि प्रवृत्तियों से दूर रहने का निर्देश किया है । तथा ज्ञान-समाधि एवं दर्शनसमाधि के लिए शंका, कांक्षा आदि से तथा एकान्त क्रियावाद एवं एकान्त अक्रियावाद से भी दूर रहना आवश्यक बताया है ।[४]

☐ इस अध्ययन का उद्देश्य साधक को सभी प्रकार की असमाधियों तथा असमाधि उत्पन्न करने वाले कारणों से दूर रखकर चारों प्रकार की भाव समाधि में प्रवृत्त करना है ।

☐ चारों प्रकार की भावसमाधि की फलश्रुति वृत्तिकार के शब्दों में—(१) दर्शन-समाधि में स्थित साधक का अन्तःकरण जिन-प्रवचन में रंगा होने से वह कुबुद्धि या कुदर्शन-रूपी अन्धड़ से विचलित नहीं होता, (२) ज्ञान-समाधि द्वारा साधक ज्यों-ज्यों नवीन-नवीन शास्त्रों का अध्ययन करता है, त्यों-त्यों अतीव रसप्राप्ति, मोक्ष प्राप्ति की श्रद्धा में वृद्धि एवं आत्म-प्रसन्नता होती है । (३) चारित्रसमाधि में स्थित मुनि विषयसुख निःस्पृह, निष्किञ्चन एवं निरपेक्ष होने से परम शान्ति पाता है । (४) तपःसमाधि में स्थित मुनि उत्कट तप करता हुआ भी घबराता नहीं, न ही क्षुधा-तृणा आदि परीषहों से उद्विग्न होता है, तथा ध्यानादि आभ्यन्तर तप में लीन साधक मुक्ति का-सा आनन्द (आत्मसुख) प्राप्त कर लेता है, फिर वह सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से पीड़ित नहीं होता ।[५]

☐ प्रस्तुत अध्ययन उद्देशक रहित है और इसमें कुल २४ गाथाएँ हैं ।

☐ यह अध्ययन सूत्रगाथा ४७३ से प्रारम्भ होकर ४९६ में पूर्ण होता है ।

◆ ◆

---

४. (क) सूयगडंग सुत्तं (मूलपाठ टिप्पण) पृ० ८५ से ८९ तक का सारांश
(ख) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा० १ पृ० १५०

५. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १८७

समाही : दसम अज्झयणं

समाधि : दशम अध्ययन

समाधिप्राप्त साधु की साधना के मूलमन्त्र

४७३. आघं मइमं अणुवीति धम्मं, अंजू समाहिं तमिणं सुणेह ।
अपडिण्णे भिक्खू तु समाहिपत्ते, अणियाणभूते सुपरिव्वएज्जा ।।१।।

४७४. उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा ।
हत्थेहि पाएहि य संजमेत्ता, अदिण्णमन्नेसु य नो गहेज्जा ।।२।।

४७५. सुअक्खातधम्मे वितिगिच्छतिण्णे, लाढे चरे आयतुले पयासु ।
आयं न कुज्जा इह जीवियट्ठी, चयं न कुज्जा सुतवस्सि भिक्खू ।।३।।

४७६. सव्विदियऽभिनिव्वुडे पयासु, चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के ।
पासाहि पाणे य पुढो वि सत्ते, दुक्खेण अट्टे परिपच्चमाणे ।।४।।

४७७. एतेसु बाले य पकुव्वमाणे, आवट्टती कम्मसु पावएसु ।
अतिवाततो कीरति पावकम्मं, निउंजमाणे उ करेति कम्मं ।।५।।

४७८. आदीणभोई वि करेति पावं, मंता तु एगंतसमाहिमाहु ।
बुद्धे समाहीय रते विवेगे, पाणातिपाता विरते ठितप्पा ।।६।।

४७९. सव्वं जगं तू समयाणुपेही, पियमप्पियं कस्सइ नो करेज्जा ।
उट्ठाय दीणे तु पुणो विसण्णे, संपूयणं चेव सिलोयकामी ।।७।।

४८०. आहाकडं चेव निकाममीणे, निकामसारी य विसण्णमेसी ।
इत्थीसु सत्ते य पुढो य बाले, परिग्गहं चेव पकुव्वमाणे ।।८।।

४८१. वेराणुगिद्धे णिचयं करेति, इतो चुते से दुहमट्ठदुग्गं ।
तम्हा तु मेधावि समिक्ख धम्मं, चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के ।।९।।

४८२. श्रायं न कुज्जा इह जीवितट्ठी, असज्जमाणो य परिव्वएज्जा ।
णिसम्मभासी य विणीय गिद्धि, हिंसण्णितं वा ण कहं करेज्जा ॥१०॥

४८३. आहाकडं वा ण णिकामएज्जा, णिकामयंते य ण संथवेज्जा ।
धुणे उरालं अणुवेहमाणे, चेच्चाण सोयं अणपेक्खमाणे ॥११॥

४८४. एगत्तमेव अभिपत्थएज्जा, एवं पमोक्खो ण मुसं ति पास ।
एसप्पमोक्खो अमुसे वरे वी, अकोहणे सच्चरते तवस्सी ॥१२॥

४८५. इत्थीसु या आरत मेहुणा उ, परिग्गहं चेव अकुव्वमाणे ।
उच्चावएसु विसएसु ताई, णिस्संसयं भिक्खू समाहिपत्ते ॥१३॥

४८६. अरतिं रतिं च अभिभूय भिक्खू, तणाइफासं तह सीतफासं ।
उण्हं च दंसं च हियासएज्जा, सुब्भिं च दुब्भिं च तितिक्खएज्जा ॥१४॥

४८७. गुत्तो वईए य समाहिपत्ते, लेसं समाहट्टु परिव्वएज्जा ।
गिहं न छाए ण वि छावएज्जा, संमिस्सभावं पजहे पयासु ॥१५॥

४७३. मतिमान् (केवलज्ञानी) भगवान् महावीर ने (केवलज्ञान से) जानकर सरल समाधि (मोक्ष-दायक) धर्म कहा है (हे शिष्यो !) उस धर्म को तुम मुझ से सुनो। भिक्षु अप्रतिज्ञ (तप की ऐहिक-पारलौकिक फलाकांक्षा से रहित) है, अनिदानभूत (विषयसुख प्राप्तिरूप निदान अथवा कर्मबन्ध के आदिकारणों (आश्रवों) या दुःखकारणरूप हिंसादि निदान या संसार के कारणरूप निदान से रहित है, अथवा अनिदान संसारकारणाभावरूप सम्यग्ज्ञानादि युक्त है, वही समाधिप्राप्त है। ऐसा मुनि शुद्ध संयम में पराक्रम करे।

४७४. ऊँची-नीची और तिरछी दिशाओं में जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं, अपने हाथों और पैरों को संयम में रखकर (अथवा उनके हाथ-पैरों को बांधकर) किसी भी प्रकार से पीड़ा नहीं देनी चाहिए, (या हिंसा नहीं करनी चाहिए), तथा दूसरों के द्वारा न दिये हुए पदार्थ को ग्रहण नहीं करना चाहिए।

४७५. श्रुत और चारित्र-धर्म का अच्छी तरह प्रतिपादन करने वाला तथा वीतरागप्ररूपित धर्म में विचिकित्सा-शंका से ऊपर उठा हुआ—पारंगत, प्रासुक आहार-पानी तथा एषणीय अन्य उपकरणादि से अपना जीवन-यापन करने वाला, उत्तम तपस्वी एवं भिक्षाजीवी साधु पृथ्वीकाय आदि प्राणियों के प्रति आत्मतुल्य (होकर) विचरण (-विचार) करे, या व्यवहार करे। इस लोक में चिरकाल तक (संयमी जीवन) जीने की इच्छा से आय (धन की आमदनी-कमाई या आश्रवों की आय-वृद्धि) न करे, तथा भविष्य के लिए (धन-धान्य आदि का) संचय न करे। आय-वृद्धि) न करे, तथा भविष्य के लिए (धन-धान्य आदि का) संचय न करे।

होकर साधु (संयम पथ पर) विचरण करे। एवं यह देखे कि प्राणी इस संसार में दुःख (असाता-वेदनीयोदयरूप अथवा स्वकृत अष्टविधकर्मरूप दुःख) से आर्त्त (पीड़ित) और सब प्रकार से संतप्त हो (अथवा आर्त्तध्यान करके मन-वचन-काया से संतापानुभव कर) रहे हैं।

४७७. अज्ञानी जीव इन (पूर्वोक्त पृथ्वीकाय आदि) प्राणियों को छेदन-भेदन-उत्पीड़न आदि के रूप में कष्ट देकर अत्यन्त पापकर्म करता हुआ (उनके फलस्वरूप) इन्हीं पृथ्वीकायादि योनियों में बार-बार जन्म लेता है, और उसी रूप में पीड़ित होता है। प्राणातिपात स्वयं करने से प्राणी ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का उपार्जन करता है, तथा दूसरों को प्राणातिपातादि पापकर्मों में प्रेरित करके भी पाप (कर्मों का बन्ध) करता है।

४७८. जो साधक दीनवृत्ति (कंगाल भिखारी की तरह या पिण्डोलक की तरह) से भोजन प्राप्त करता है, वह भी पाप करता है। यह जानकर तीर्थंकरों ने एकान्त (भावरूप ज्ञानादि) समाधि का उपदेश दिया है। इसलिए प्रबुद्ध (विचारशील तत्त्वज्ञ) स्थितात्मा (स्थिर बुद्धि) साधक भाव-समाधि और विवेक में रत होकर प्राणातिपात से विरत रहे।

४७९. साधु समस्त जगत् (प्राणिसमूह) को समभाव से देखे। वह किसी का भी प्रिय (रागभाव प्रेरित व्यवहार) या अप्रिय (द्वेषभावप्रेरित व्यवहार) न करे। कोई व्यक्ति प्रव्रजित होकर (परीषहों एवं उपसर्गों की बाधा आने पर) दीन और विषण्ण हो जाता है अथवा विषयार्थी होकर पतित हो जाता है, कोई अपनी प्रशंसा का अभिलाषी होकर वस्त्रादि से सत्कार (पूजा) चाहता है।

४८०. जो (व्यक्ति प्रव्रजित होकर) आधाकर्म आदि दोषदूषित आहार की अत्यन्त लालसा करता है, तथा जो वैसे आहार के लिये निमन्त्रण आदिपूर्वक इधर-उधर खूब भटकता है, वह (पार्श्वस्थ आदि कुशीलों के) विषण्ण भाव को प्राप्त करना चाहता है। तथा जो स्त्रियों में आसक्त होकर उनके अलग-अलग हास्य, विलास, भाषण आदि में अज्ञानी (सद्-असद्-विवेक रहित) की तरह मोहित हो जाता है, वह (स्त्रियों की प्राप्ति के लिए) परिग्रह (धनादि का संग्रह) करता हुआ पापकर्म का संचय करता है।

४८१. जो व्यक्ति (हिंसादि करके) प्राणियों के साथ जन्म-जन्मान्तर तक वैर बांधता है, वह पापकर्म का निचय (वृद्धि) करता है। वह यहाँ (इस लोक) से च्युत हो (मर) कर परमार्थतः दुर्गम नरकादि दुःख स्थानों में जन्म लेता है। इसलिए मेधावी (मर्यादावान् विवेकी) मुनि (सम्पूर्णसमाधि-गुणमूलक-श्रुत-चारित्ररूप) धर्म का सम्यक् विचार या स्वीकार करके बाह्याभ्यन्तरसंगों (बन्धनों) से समग्र रूप से विमुक्त होकर मोक्ष (संयम) पथ में विचरण करे।

४८२. साधु इस लोक में चिरकाल तक जीने की इच्छा से आय (द्रव्योपार्जन या कर्मोपार्जन) न करे तथा स्त्री-पुत्र आदि में अनासक्त रहकर संयम में पराक्रम करे। साधु पूर्वापर विचार करके कोई बात कहे। (शब्दादि विषयों से) आसक्ति हटा ले तथा हिंसायुक्त कथा (उपदेश) न कहे।

४८३. (समाधिकामी) साधु आधाकर्मी आहार की कामना न करे, और न ही आधाकर्मी आहार की कामना करने वाले के साथ परिचय (संसर्ग) करे। (उत्कट तप से कर्मनिर्जरा होती है, इस प्रकार की) अनुप्रेक्षा करता हुआ साधु औदारिक शरीर को कृश करे (धुने)। शरीर (को पुष्ट

या सशक्त बनाने) की अपेक्षा न रखता हुआ साधु (तपस्या से कृश हुए) शरीर का शोक (चिन्ता) छोड़कर संयम में पराक्रम करे।

४८४. साधु एकत्व भावना का अध्यवसाय करे। ऐसा करने से वह संग से मुक्त होता है, फिर उसे कर्मपाश (या संसार बन्धन) नहीं छूते। यह (एकत्वभावनारूप) संगत-मुक्ति मिथ्या नहीं, सत्य है, और श्रेष्ठ भी है। जो साधु क्रोध रहित, सत्य में रत एवं तपस्वी है, (वही समाधिभाव को प्राप्त है।)

४८५. जो साधक स्त्री विषयक मैथुन से निवृत्त है, जो परिग्रह नहीं करता, एवं नाना प्रकार के विषयों में राग-द्वेषरहित होकर आत्मरक्षा या प्राणिरक्षा करता है, निःसन्देह वह भिक्षु समाधि प्राप्त है।

४८६. (समाधिकामी) साधु संयम में अरति (खेद) और असंयम में रति (रुचि) को जीतकर तृणादि स्पर्श, शीतस्पर्श, उष्णस्पर्श और दंश-मशक-स्पर्श (परीषह) को (अक्षुब्ध होकर समभाव से) सहन करे, तथा सुगन्ध-दुर्गन्ध (एवं आक्रोश, वध आदि परीषहों को भी (समभाव से राग-द्वेष रहित होकर) सहन करे।

४८७. जो साधु वचन से गुप्त (मौनव्रती या धर्मयुक्त भाषी) रहता है, वह भाव समाधि को प्राप्त है (ऐसा समाधिस्थ) सा (अशुद्ध कृष्णादि लेश्याओं को छोड़कर) शुद्ध तैजस आदि लेश्याओं को ग्रहण करके संयम पालन में पराक्रम करे तथा स्वयं घर को न छाए, न ही दूसरों से छवाए, (न ही गृहादि को संस्कारित करे।) एवं प्रव्रजित साधु पचन-पाचन आदि गृह कार्यों को लेकर गृहस्थों से, विशेषत: स्त्रियों से मेलजोल (सम्पर्क या मिश्रभाव) न करे।

विवेचन—समाधि प्राप्त साधु की साधना के मूल मन्त्र—मोक्षदायक समाधि प्राप्त करने की साधना के लिए प्रस्तुत १५ सूत्र गाथाओं में से निम्नलिखित मूल मन्त्र फलित होते हैं—(१) समाधि प्राप्ति के लिए साधु अप्रतिज्ञ (इह-परलोक सम्बन्धी फलाकांक्षा से रहित) तथा अनिदान (विषय-सुख प्राप्ति रूप निदान से रहित) होकर शुद्ध संयम में पराक्रम करे, (२) सर्वत्र सर्वदा त्रस-स्थावर प्राणियों पर संयम रखे, उन्हें पीड़ा न पहुंचाए, (३) अदत्तादान से दूर रहे, (४) वीतराग प्ररूपित श्रुत-चारित्र रूप धर्म में संशयरहित हो। (५) प्रासुक आहार-पानी एवं एषणीय उपकरणादि से अपना जीवन निर्वाह करे, (६) समस्त प्राणियों के प्रति आत्मवत् व्यवहार करे, (७) चिरकाल तक जीने की आकांक्षा से न तो आय करे, न ही पदार्थों का संचय करे, (८) स्त्रियों से सम्बद्ध पंचेन्द्रिय विषयों में प्रवृत्त होने से अपनी इन्द्रियों को रोके, जितेन्द्रिय बने, (९) बाह्य-आभ्यन्तर सभी सम्बन्धों से मुक्त होकर संयम में विचार करे, (१०) पृथ्वीकायिकादि प्राणियों को दुःख से आर्त्त और आर्त्तध्यान से संतप्त देखे, (११) पृथ्वीकायादि प्राणियों को छेदन-भेदन एवं उत्पीड़न आदि से कष्ट पहुंचाने वाले जीवों को उनके पापकर्म के फलस्वरूप उन्हीं योनियों में बार-बार जन्म लेकर पीड़ित होना पड़ता है, प्राणातिपात से ज्ञानावरणीयादि पापकर्मों का बन्ध होता है। अतः समाधिकामी साधु इनसे दूर रहे। (१२) तीर्थंकरों ने भाव समाधि का उपदेश इसी उद्देश्य से किया है कि साधक न तो दीनवृत्ति से भोजन प्राप्त करे न ही असन्तुष्ट होकर, क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में अशुभ (पाप) कर्म बंधता है। (१३) भावसमाधि के लिए साधक तत्त्वज्ञ, स्थिरबुद्धि विवेकरत एवं प्राणातिपात आदि से विरत हो, (१४) समाधि प्राप्ति के लिए साधु समस्त जगत् को समभाव से देखे, रागभाव अथवा द्वेषभाव से प्रेरित होकर न तो किसी का प्रिय बने, न ही किसी का अप्रिय, किसी की भलाई-बुराई के प्रपंच में

न पड़े, (१५) प्रव्रजित साधु दीन, विषण्ण, पतित और प्रशंसा एवं आदर-सत्कार का अभिलाषी न बने, (१६) आधाकर्मादि दोष दूषित आहार की लालसा न करे, न ही वैसे आहार के लिए घूमे, अन्यथा वह विषण्ण भाव को प्राप्त हो जाएगा। (१७) स्त्रियों से सम्बन्धित विविध विषयों में आसक्त होकर स्त्री प्राप्ति के लिए धनादि संग्रह करता है, वह पाप कर्म का संचय करके असमाधि पाता है। (१८) जो प्राणियों के साथ वैर बांधता है, वह उस पापकर्म के फलस्वरूप यहाँ से मरकर नरकादि दुःख स्थानों में जन्म लेता है, इसलिए मेधावी मुनि को समाधि-धर्म का सम्यक् विचार करके इन पापों या ग्रन्थों से मुक्त होकर संयमाचरण करना चाहिए। (१९) चिरकाल तक जीने की इच्छा से धन या कर्म की आय न करे, अपितु धन, धाम, स्त्री-पुत्र आदि में अनासक्त रह कर संयम में पराक्रम करे। (२०) कोई बात कहे तो सोच-विचार कर कहे, (२१) शब्दादि विषयों से आसक्ति हटा ले, (२२) हिंसात्मक उपदेश न करे, (२३) आधाकर्मी आदि दोषयुक्त आहार की न तो कामना करे और न ही ऐसे दोषयुक्त आहार से संसर्ग रखे, (२४) कर्मक्षय के लिए शरीर को कृश करे, शरीर स्वभाव की अनुप्रेक्षा करता हुआ शरीर के प्रति निरपेक्ष एवं निश्चिन्त हो जाए। (२५) एकत्व भावना ही संगमोक्ष का कारण है, यही भाव समाधि का प्रधान कारण है, (२६) भाव समाधि के लिए साधु क्रोध से विरत, सत्य में रत एवं तपश्चर्या परायण रहे। (२७) जो साधु स्त्री सम्बन्धी मैथुन से विरत रहता है, परिग्रह नहीं करता और विविधि विषयों से स्व-पर की रक्षा करता है, निःसंदेह वह समाधि प्राप्त है। (२८) जो साधु अरति और रति पर विजयी बनकर तृण स्पर्श, शीतोष्ण स्पर्श, दंशमशक स्पर्श, सुगन्ध-दुर्गन्ध प्राप्ति आदि परीषहों को समभाव से सहन कर लेता है, वह भी समाधि प्राप्त है। (२९) जो साधु वचनगुप्ति से युक्त हो, शुद्ध लेश्या से युक्त होकर संयम में पराक्रम करता है, न तो घर बनाता है, न बनवाता है और गृहस्थी के विशेषतः स्त्री सम्बन्धी गृहकार्यों से सम्पर्क नहीं रखता, वह भी समाधि प्राप्त है।[1] निःसंदेह समाधिकामी साधु के लिए ये मूल मन्त्र बड़े उपयोगी हैं।

पाठान्तर और व्याख्या—**'परिपच्चमाणे'**—के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'परितप्पमाणे'**—व्याख्या है—परितप्त होते हुए प्राणियों को। **'ठितप्पा'** के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'ठितच्चा'**—व्याख्या है—स्थिर अर्चा-लेश्या-मनोवृत्ति वाला। **'णिकामभीणे'** के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'णियायमीणे'**—व्याख्या है—**'णियायणा'**—अर्थ है—निमन्त्रण ग्रहण करता है, वह 'णियायमीणे'। **'निकामसारी'** के बदले पाठान्तर है—**'निकामचारी'**—व्याख्या है—आधाकर्मादि दोषयुक्त आहार का निकाम-अत्यधिक सेवन करता है या स्मरण करता है। **'जीवितट्ठी'**—दो व्याख्याएँ—(१) इस लोक में जीवित यानी काम-भोग, यशकीर्ति इत्यादि चाहने वाला, (२) इस संसार में असंयमी जीवन जीने का अभिलाषी। **चेच्चाण सोयं**—(१) शोक—चिन्ता छोड़कर अथवा (२) श्रोत-गृह-स्त्री-पुत्र-धनादि रूप प्रवाह को छोड़कर। **'ईत्थीसु'**—देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी तीनों प्रकार की स्त्रियों में। **'णिस्संसयं'**—(१) निःसंशयं-निःसन्देह अथवा (२) निःसंश्रय—विषयों का संश्रय-संसर्ग न करने वाला साधु।[2]

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १८७ से १९२ तक का सारांश

[2] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १८७ से १९२

(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ८५ से ८७

भावसमाधि से दूर लोगों के विविध चित्र

४८८. जे केइ लोगंसि उ अकिरियाया, अण्णेण पुट्ठा धुतमादिसंति ।
आरंभसत्ता गढिता य लोए, धम्मं न याणंति विमोक्खहेउं ।।१६।।

४८९. पुढो य छंदा इह माणवा उ, किरियाकिरीणं च पुढो य वायं ।
जायस्स बालस्स पकुव्व देहं[1] पवड्ढती वेरमसंजतस्स ।।१७।।

४९०. आउक्खयं चेव अबुज्झमाणे, ममाति से साहसकारि मंदे ।
अहो य रातो परितप्पमाणे, अट्टे सुमूढे अजरामर व्व ।।१८।।

४९१. जहाहि वित्तं पसवो य सव्वे, जे बांधवा जे य पिता य मित्ता ।
लालप्पती सो वि य एइ मोहं, अन्ने जणा तं सि हरंति वित्तं ।।१९।।

४८८. इस लोक में जो (सांख्य) लोग आत्मा को अक्रिय (अकर्ता, कूटस्थनित्य) मानते हैं, और दूसरे के द्वारा पूछे जाने पर मोक्ष (धूत—आत्मा के मोक्ष में अस्तित्व) का प्रतिपादन करते हैं, वे सावद्य आरम्भ में आसक्त और विषय-भोगों में गृद्ध लोग मोक्ष के कारणभूत धर्म को नहीं जानते ।

४८९. इस लोक में मनुष्यों की रुचि भिन्न-भिन्न होती है, इसलिए कोई क्रियावाद को मानते हैं और कोई अक्रियावाद को। कोई जन्मे हुए बालक के शरीर को खण्डशः काटकर अपना सुख मानते हैं। वस्तुतः असंयमी व्यक्ति का प्राणियों के साथ वैर बढ़ता है।

४९०. आरम्भ में आसक्त पुरुष आयुष्य-क्षय को नहीं समझता, किन्तु वह मूढ़ (मन्द) सांसारिक पदार्थों पर ममत्व रखता हुआ पापकर्म करने का साहस करता है। वह दिन-रात चिन्ता से संतप्त रहता है। वह मूढ़ स्वयं को अजर-अमर के समान मानता हुआ अर्थों (धन आदि पदार्थों) में मोहित-आसक्त रहता है।

४९१. समाधिकामी व्यक्ति धन और पशु आदि सब पदार्थों का (ममत्व) त्याग करे। जो बान्धव और प्रिय मित्र हैं, वे वस्तुतः कुछ भी उपकार नहीं करते, तथापि मनुष्य इनके लिए शोकाकुल होकर विलाप करता है और मोह को प्राप्त होता है। (उसके मर जाने पर) उनके (द्वारा अत्यन्त क्लेश से उपार्जित) धन का दूसरे लोग ही हरण कर लेते हैं।

विवेचन—भावसमाधि से दूर लोगों के विविध चित्र—प्रस्तुत चार सूत्रगाथाओं में उन लोगों का चित्र शास्त्रकार ने प्रस्तुत किया है, जो वस्तुतः भाव समाधि से दूर हैं, किन्तु भ्रमवश स्वयं को समाधि प्राप्त (सुखमग्न) मानते हैं। वे क्रमशः चार प्रकार के हैं—(१) **दर्शन समाधि से दूर**—आत्मा को निष्क्रिय (अकर्ता) मानकर भी उसके द्वारा घटित न हो सकने वाले शाश्वत समाधि रूप मोक्ष का कथन करते हैं, (२) **ज्ञान-समाधि से दूर**—मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र रूप धर्म को नहीं जानते, अपितु आरम्भासक्ति एवं विषयभोग गृद्धि रूप अधर्म को ही मोक्ष का कारणभूत धर्म जान कर उसी में रचे-पचे रहते हैं, (३) **दर्शन-समाधि से दूर**—क्रियावादी और अक्रियावादी।

---

[1] पाठान्तर—जायाए बालस्स पगब्भणाए।

एकान्तक्रियावादी स्त्री, भोगोपभोग्य पदार्थों एवं विषयभोग आदि की उपभोग क्रिया को समाधि (सुख) कारक मानते हैं, उक्त पदार्थों के ज्ञान को नहीं। एकान्त अक्रियावादी आत्मा को अकर्ता मानकर तत्काल जन्मे हुए बालक के शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके उसमें आनन्द (समाधि) मानते हैं। किन्तु वस्तुतः दूसरों को पीड़ा देने वाली पापक्रिया आत्मा को अक्रिय मानने-कहने मात्र से टल नहीं जाती, प्राणियों के साथ वैरवर्द्धक उस पाप का फल भोगना ही पड़ता है। (४) **चारित्र-समाधि से दूर**—अपने आपको आयुष्य क्षयरहित अमर मानकर रात-दिन धन, सांसारिक पदार्थ, स्त्री-पुत्र आदि पर ममत्व करके उन्हीं की प्राप्ति, रक्षा, वृद्धि आदि की चिन्ता में मग्न रहते हैं, ऐसे लोग समाधि (सुख-शान्ति) के मूलभूत कारण (त्याग, वैराग्य, संयम, तप, नियम आदि रूप चारित्र) से दूर रहते हैं। मरने पर उनके द्वारा पाप से उपार्जित धनादि पदार्थों को दूसरे ही लोग हड़प जाते हैं, न तो इहलोक में उन्हें समाधि प्राप्त होती है, न ही परलोक में वे समाधि पाते हैं।[3]

पाठान्तर और व्याख्या—**'धुतमादिसंति'**—के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'धुतमादियंति'** व्याख्या है—'धुत' अर्थात् वैराग्य की प्रशंसा करते हैं। **'जायस्स बालस्स पकुव्व देह'** के बदले यहाँ युक्ति एवं प्रसंग से संगत पाठान्तर है—**'जायाए बालस्स पगब्भणाए'** व्याख्या की गई है—हिंसादि पापकर्मों में प्रवृत्त अनुकम्पारहित अज्ञ (बाल) व्यक्ति की जो (हिंसावाद में) प्रगल्भता—धृष्टता उत्पन्न हुई, उससे उसका प्राणियों के साथ वैर ही बढ़ता है। **'साहसकारी'** के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'सहस्सकारी'**, व्याख्या दो प्रकार से की गई है—(१) स-हर्ष हिंसादि पाप करता है, (२) सहस्रों (हजारों) पापों को करता है। **'जहाहि वित्तं'** के बदले पाठान्तर है—**'जधा हि (य)'**, व्याख्या दो प्रकार से है—(१) 'वित्तं' आदि पदार्थों का त्याग करके, (२) जैसे कि धन आदि पदार्थ।[4]

समाधि प्राप्ति के लिए प्रेरणासूत्र

४९२. सीहं जहा खुड्डमिगा चरंता, दूरे चरंती परिसंकमाणा।
एवं तु मेधावि समिक्ख धम्मं, दूरेण पावं परिवज्जएज्जा ॥२०॥

४९३. संबुज्झमाणे तु णरे मतीमं, पावातो अप्पाण निवट्टएज्जा।
हिंसप्पसूताइं दुहाइं मंता, वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥२१॥

४९४. मुसं न बूया मुणि अत्तगामी, णिव्वाणमेयं कसिणं समाहिं।
सयं न कुज्जा न वि कारवेज्जा, करेंतमन्नं पि य नाणुजाणे ॥२२।

---

[3] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्र १९३ का सार

[4] (क) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ८७-८८
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १९३

४९५. सुद्धे सिया जाए न दूसएज्जा, अमुच्छिते ण य अज्झोववण्णे ।
धितिमं विमुक्के ण य पूयणट्ठी, न सिलोयकामी य परिव्वएज्जा ।।२३।।

४९६. निक्खम्म गेहाउ निरावकंखी, कायं विओसज्ज नियाणछिण्णे ।
नो जीवितं नो मरणाभिकंखी, चरेज्ज भिक्खू वलया विमुक्के ।।२४।।
—त्ति बेमि ।

।। समाही : दसमं अज्झयणं सम्मत्तं ।।

४९२. जैसे वन में विचरण करते हुए मृग आदि छोटे-छोटे जंगली पशु सिंह (के द्वारा मारे जाने) की शंका करते हुए दूर से ही (बचकर) चलते हैं, इसीप्रकार मेधावी साधक (समाधि रूप) धर्म का विचार करके (असमाधि प्राप्त होने की शंका से) पाप को दूर से ही छोड़कर विचरण करे।

४९३. भाव-समाधि से या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप धर्म को समझने वाला (विहितानुष्ठान में प्रवृत्ति करता हुआ) सुमतिमान् पुरुष (हिंसा-असत्यादि रूप) पापकर्म से स्वयं को निवृत्त करे। हिंसा से उत्पन्न अशुभ कर्म नरकादि यातना स्थानों में अत्यन्त दुःखोत्पादक हैं, लाखों जन्मों तक प्राणियों के साथ वैर परम्परा बाँधने वाले हैं, इसीलिए ये महान् भयजनक हैं।

४९४. आप्तगामी (आप्त-सर्वज्ञों के द्वारा प्ररूपित मोक्ष मार्ग पर चलने वाला), अथवा आत्महित गामी (आत्म-निःश्रेयसकामी) मुनि असत्य न बोले। इसी तरह वह मृषावाद-विरमण तथा दूसरे महाव्रतों के स्वयं अतिचार (दोष) न करे (लगाए), दूसरे के द्वारा अतिचार-सेवन न कराए तथा अतिचारसेवी का (मन, वचन, काया और कर्म से) अनुमोदन न करे (उसे अच्छा न जाने)। यही निर्वाण (परम शान्ति रूप मोक्ष) तथा सम्पूर्ण भाव-समाधि (कहा गया) है।

४९५. उद्गम, उत्पाद और एषणादि दोषों से रहित शुद्ध आहार प्राप्त होने पर साधु उस पर राग-द्वेष करके चारित्र को दूषित न करे। मनोज्ञ सरस आहार में भी मूर्च्छित न हो, न ही बार-बार उस आहार को पाने की लालसा करे। भाव-समाधिकामी साधु धृतिमान् एवं बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से विमुक्त बने। वह अपनी पूजा-प्रतिष्ठा एवं कीर्ति का अभिलाषी न होकर शुद्ध संयम में पराक्रम करे।

४९६. समाधिकामी साधु अपने घर से निकल कर (दीक्षा लेकर) अपने जीवन के प्रति निरपेक्ष (निराकांक्षी) हो जाए, तथा शरीर-संस्कार-चिकित्सा आदि न करता हुआ शरीर का व्युत्सर्ग करे एवं अपने तप के फल की कामना रूप निदान का मूलोच्छेद कर दे। साधु न तो जीवन की आकांक्षा करे और न ही मरण की। वह संसार-वलय (जन्म-मरण के चक्र अथवा कर्मबन्धन या सांसारिक झंझटों के चक्कर) से विमुक्त होकर संयम या मोक्ष रूप समाधि पथ पर विचरण करे।
—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—विविध समाधि प्राप्ति के लिए प्रेरणा सूत्र—प्रस्तुत पांच सूत्रगाथाओं द्वारा शास्त्रकार ने इस अध्ययन का उपसंहार करते हुए विविध समाधियों की प्राप्ति के लिए कुछ प्रेरणा सूत्र प्रस्तुत किये हैं, जिनके अनुसार चलना भाव समाधिकामियों के लिए अनिवार्य है। इस पंचसूत्री में

मुख्यतया आचार समाधि एवं तप:समाधि की प्राप्ति के लिए प्रेरणा सूत्र हैं। समाधि प्राप्ति के ये प्रेरणा सूत्र इस प्रकार हैं—**मूल-गुण रूप आचार समाधि प्राप्ति के लिए**—(१) समाधि धर्म की रक्षा के लिए हिंसादि पापों का सर्वथा त्याग करे, (२) समाधि-मर्मज्ञ साधु हिंसादि पापकर्मों से निवृत्त हो जाए, क्योंकि हिंसा से उत्पन्न पापकर्म नरकादि दु:खों के उत्पादक, वैरानुबन्धी और महाभयजनक हैं। (३) आप्तगामी साधु मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप से असत्य आदि पापों का आचरण न करे।

उत्तरगुण रूप आचार समाधि के लिए—(१) निर्दोष आहार प्राप्त होने पर भी मनोज्ञ के प्रति राग और अमनोज्ञ के प्रति द्वेष करके चारित्र को दूषित न करे, (२) उस आहार में भी न तो मूर्च्छित हो, न ही उसे बार-बार पाने की लालसा रखे, (३) धृतिमान हो, (४) पदार्थों के ममत्व या संग्रह से मुक्त हो, (५) पूजा-प्रतिष्ठा और कीर्ति की कामना न करे, (६) सहजभाव से शुद्ध संयम-पालन में समुद्यत रहे।

तप समाधि प्राप्ति के लिए—(१) दीक्षा ग्रहण करके साधु अपने जीवन के प्रति निरपेक्ष होकर रहे (असंयमी जीवन जीने की आकांक्षा न रखे), (२) शरीर को संस्कारित एवं पुष्ट न करता हुआ काय व्युत्सर्ग करे, (३) तपश्चर्यादि के फल की आकांक्षा (निदान) को मन से निकाल दे, (४) न जीने की इच्छा करे, न ही मरने की, (५) संसार चक्र (कर्मवन्ध) के कारणों से या माया से विमुक्त रहकर संयम में पराक्रम करे।[५]

पाठान्तर और व्याख्या—**'वेराणुबंधीणि महब्भयाणि'** के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'णेव्वाणभूते व परिव्वएज्जा'**, व्याख्या इस प्रकार है—"जैसे युद्ध आदि से निर्वृत—लौटा हुआ पुरुष व्यापार-रहित होने से किसी की हिंसा करने में प्रवृत्त नहीं होता, वैसे ही सावद्य कार्य से रहित पुरुष भी किसी की हिंसा न करता हुआ संयम में पुरुषार्थ करे।"[६]

।। समाधि : दशम अध्ययन समाप्त ।।

---

[५] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १९३ से १९५ तक का सारांश

[६] (क) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ८८
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १९४

मार्ग—एकादश अध्ययन

प्राथमिक

☐ प्रस्तुत सूत्रकृतांग (प्र० श्रु०) के ग्यारहवें अध्ययन का नाम 'मार्ग' है।

☐ निर्युक्तिकार ने 'मार्ग' के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से छह निक्षेप किये हैं। नाम-स्थापना मार्ग सुगम है। द्रव्यमार्ग विभिन्न प्रकार के होते हैं, जैसे—फलकमार्ग, लतामार्ग, आन्दोलकमार्ग, वेत्रमार्ग, रज्जुमार्ग, दवन (वाहन) मार्ग, कीलमार्ग (ठुकी हुई कील के संकेत से पार किया जाने वाला) पाशमार्ग, बिल (गुफा) मार्ग, अजादिमार्ग, पक्षिमार्ग, छत्रमार्ग, जलमार्ग आकाशमार्ग आदि। इसी तरह क्षेत्रमार्ग (जो मार्ग ग्राम, नगर, खेत, आदि जिस क्षेत्र में जाता है, वह) तथा कालमार्ग (जिस काल में मार्ग बना, वह) है, भावमार्ग वह है, जिससे आत्मा को समाधि या शान्ति प्राप्त हो।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में 'भावमार्ग' का निरूपण है। वह दो प्रकार का है—प्रशस्त और अप्रशस्त। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रशस्त भावमार्ग है। संक्षेप में इसे संयममार्ग या श्रमणाचारमार्ग कहा जा सकता है। अप्रशस्त भावमार्ग मिथ्यात्व, अविरति और अज्ञान आदि पूर्वक की जाने वाली प्रवृत्ति है।[1] प्रशस्त भावमार्ग को ही तीर्थंकर-गणधरादि द्वारा प्रतिपादित तथा यथार्थ वस्तुस्वरूपप्रतिपादक होने से सम्यग्मार्ग या सत्यमार्ग कहा गया है। इसके विपरीत अन्यतीर्थिकों या कुमार्गग्रस्त पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील आदि स्वयूथिकों द्वारा सेवित मार्ग अप्रशस्त है, मिथ्यामार्ग है। प्रशस्त मार्ग तप, संयम आदि प्रधान समस्त प्राणिवर्ग के लिए हितकर, सर्वप्राणिरक्षक, नवतत्त्वस्वरूपप्रतिपादक, एवं अष्टादश, सहस्रशीलगुणपालक साधुत्व के आचार-विचार से ओत-प्रोत है।

☐ निर्युक्तिकार ने इसी सत्य (मोक्ष) मार्ग के १३ पर्यायवाचक शब्द बताए हैं—(१) पंथ, (२) मार्ग (आत्मपरिमार्जक), (३) न्याय (विशिष्ट स्थानप्रापक), (४) विधि (सम्यग्दर्शन एवं ज्ञान का युगपत् प्राप्ति-कारक), (५) धृति (सम्यग्दर्शनादि से युक्त चारित्र में स्थिर रखने वाला, (६) सुगति (सुगतिदायक), (७) हित (आत्मशुद्धि के लिए हितकर), (८) सुख (आत्मसुख का कारण), (९) पथ्य (मोक्षमार्ग के लिए अनुकूल), (१०) श्रेय (११वें गुणस्थान के चरम समय में

---

[1] (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० १०७ से ११० तक
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १९६

मोहादि उपशान्त होने से श्रेयस्कर), (११) निवृत्ति (संसार से निवृत्ति का कारण), (१२) निर्वाण (चार घातिकर्मक्षय होकर केवलज्ञान प्राप्त होने से), और (१३) शिव (शैलेशी अवस्था प्राप्तिरूप १४वें गुणस्थान के अन्त में मोक्षपदप्रापक)।[2]

☐ निर्युक्तिकार ने भावमार्ग की मार्ग के साथ तुलना करते हुए ४ भंग (विकल्प) बताए हैं। क्षेम, अक्षेम, क्षेमरूप और अक्षेमरूप। जिस मार्ग में चोर, सिंह व्याघ्र आदि का उपद्रव न हो, वह क्षेम तथा जो मार्ग काँटे, कंकड़, गड्ढे, पहाड़, उवड़खावड़ पगडंडी आदि से रहित, सम तथा, वृक्ष फल, फूल, जलाशय आदि से युक्त हो वह क्षेमरूप होता है। इससे विपरीत क्रमशः अक्षेम और अक्षेमरूप होता है।[3] इसकी चतुर्भंगी इस प्रकार है—१. कोई मार्ग क्षेम और क्षेमरूप, २. कोई मार्ग क्षेम है, क्षेमरूप नहीं, ३. कोई मार्ग क्षेम नहीं, किन्तु क्षेमरूप है, ४. कोई मार्ग न तो क्षेम होता है, न क्षेमरूप होता है। इसी प्रकार प्रशस्त-अप्रशस्त भावमार्ग पर चलने वाले पथिक की दृष्टि से भी क्षेम, क्षेमरूप आदि ४ विकल्प (भंग) होते हैं—(१) जो संयमपथिक सम्यग्ज्ञानादि मार्ग से युक्त (क्षेम) तथा द्रव्यलिंग (साधुवेष) से भी युक्त (क्षेमरूप) हैं, (२) जो ज्ञानादि मार्ग से तो युक्त (क्षेम) हैं, किन्तु द्रव्यलिंगयुक्त (क्षेमरूप) नहीं, (३) तृतीय भंग में निह्नव है, जो अक्षेम किन्तु क्षेमरूप और (४) चतुर्थ भंग में अन्यतीर्थिक एवं गृहस्थ हैं, जो अक्षेम और अक्षेमरूप हैं।[3] साधु को क्षेम और क्षेमरूम मार्ग का ही अनुयायी होना चाहिए।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में आहारशुद्धि, सदाचार, संयम, प्राणातिपात-विरमण आदि का प्रशस्त भावमार्ग के रूप में विवेचन है तथा दुर्गतिदायक अप्रशस्तमार्ग के प्ररूपक प्रवादकों (क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी एवं अज्ञानवादी कुल ३६३) से बचकर रहने तथा प्राणप्रण से मोक्षमार्ग पर दृढ़ रहने का निर्देश है। दानादि कुछ प्रवृत्तियों के विषय में प्रत्यक्ष पूछे जाने पर श्रमण को न तो उनका समर्थन (प्रशंसा) करना चाहिए और न ही निषेध। दसवें अध्ययन में निरूपित भावसमाधि का वर्णन इस अध्ययन में वर्णित भावमार्ग से मिलता-जुलता है।[4]

☐ दुर्गति-फलदायक अप्रशस्त भावमार्ग से बचाना और सुगति फलदायक प्रशस्त भावमार्ग की ओर साधक को मोड़ना इस अध्ययन का उद्देश्य है।[5]

☐ उद्देशकरहित इस अध्ययन की गाथा संख्या ३८ है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन सूत्रगाथा संख्या ४९७ से प्रारम्भ होकर सू० गा० ५३४ पर पूर्ण होता है।

☐☐

---

[2] (क) सूत्र कृ० निर्युक्ति गा० ११२ से ११५ तक (ख) सूत्र कृ० शी० वृत्ति पत्रांक १९७

[3] (क) सूत्र कृ० निर्युक्ति गा० १११ (ख) सूत्र कृ० शी० वृत्ति पत्रांक १९६

[4] (क) सूयगडंगसुत्तं (मूलपाठ टिप्पण) पृ० ९० से ९५ तक का सारांश
(ख) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा० १, पृ० १५१

[5] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १९६

मग्गो : एगारसमं अज्झयणं

मार्ग : ग्यारहवाँ अध्ययन

मार्गसम्बन्धी जिज्ञासा, महत्त्व और समाधान

४९७. कयरे मग्गे अक्खाते, माहणेण मतीमता ।
जं मग्गं उज्जु पावित्ता, ओहं तरति दुत्तरं ॥१॥

४९८. तं मग्गं अणुत्तरं सुद्धं, सव्वदुक्खविमोक्खणं ।
जाणासि णं जहा भिक्खू, तं णे बूहि महामुणी ॥२॥

४९९. जइ णे केइ पुच्छिज्जा, देवा अदुव माणुसा ।
तेसिं तु कतरं मग्गं, आइक्खेज्ज कहाहि णे ॥३॥

५००. जइ वो केइ पुच्छिज्जा, देवा अदुव माणुसा ।
तेसिमं पडिसाहेज्जा, मग्गसारं सुणेह मे ॥४॥

५०१. अणुपुव्वेण महाघोरं, कासवेण पवेदियं ।
जमादाय इओ पुव्वं, समुद्दं व ववहारिणो ॥५॥

५०२. अतरिंसु तरंतेगे, तरिस्संति अणागता ।
तं सोच्चा पडिवक्खामि, जंतवो तं सुणेह मे ॥६॥

४९७. अहिंसा के परम उपदेष्टा (महामाहन) केवलज्ञानी (विशुद्ध मतिमान्) भगवान् महावीर ने कौन-सा मोक्षमार्ग बताया है? जिस सरल मार्ग को पाकर दुस्तर संसार (ओघ) को मनुष्य पार करता है?

४९८. हे महामुने! सब दुःखों से मुक्त करने वाले शुद्ध और अनुत्तर (सर्वश्रेष्ठ) उस मार्ग को आप जैसे जानते हैं, (कृपया) वह हमें बताइए।

४९९. यदि कोई देव अथवा मनुष्य हमसे पूछे तो हम उनको कौन-सा मार्ग बताएँ? (कृपया) यह हमें बताइए।

५००. यदि कोई देव या मनुष्य तुमसे पूछे तो उन्हें यह (आगे कहा जाने वाला) मार्ग बतलाना चाहिए। वह साररूप मार्ग तुम मुझसे सुनो।

५०१-५०२. काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित उस अतिकठिन मार्ग को मैं क्रमशः बताता हूँ। जैसे समुद्र मार्ग से विदेश में व्यापार करने वाले व्यापारी समुद्र को पार कर लेते हैं, वैसे ही इस मार्ग का आश्रय लेकर इससे पूर्व बहुत-से जीवों ने संसार-सागर को पार किया है, वर्तमान में कई भव्यजीव पार करते हैं, एवं भविष्य में भी बहुत-से जीव इसे पार करेंगे। उस भाव-मार्ग को मैंने तीर्थंकर महावीर से सुनकर (जैसा समझा है) उस रूप में मैं आप (जिज्ञासुओं) को कहूँगा। हे जिज्ञासुजीवो! उस मार्ग (सम्बन्धी वर्णन) को आप मुझसे सुनें।

विवेचन—मार्ग सम्बन्धी जिज्ञासा, महत्त्व और समाधान की तत्परता—प्रस्तुत छह सूत्रगाथाओं में से तीन सूत्रगाथाओं में श्री जम्बूस्वामी आदि द्वारा गणधर श्री सुधर्मास्वामी से संसार-सागरतारक, सर्वदुःख-विमोचक, अनुत्तर, शुद्ध, सरल तीर्थंकर-महावीरोक्त भावमार्ग से सम्बन्धित प्रश्न पूछा गया है, साथ ही यह भी बताने का अनुरोध किया गया है, कोई सुलभबोधि संसारोद्विग्न देव या मानव उस सम्यग्मार्ग के विषय में हमसे पूछें तो हम क्या उत्तर दें? इसके बाद की तीन सूत्रगाथाओं में उक्त मार्ग का माहात्म्य बताकर उस सारभूत मार्ग के सम्बन्ध में जिज्ञासा का समाधान करने की तैयारी श्री सुधर्मास्वामी ने बताई है।

कठिन शब्दों की व्याख्या—'पडिसाहिज्जा'—प्रत्युत्तर देना चाहिए। **'मग्गसारं'**—मार्ग का परमार्थ।[1]

अहिंसामार्ग

५०३. पुढवीजीवा पुढो सत्ता, आउजीवा तहाऽगणी।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तण रुक्ख सबीयगा ॥७॥

५०४. अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया।
इत्ताव ताव जीवकाए, नावरे विज्जती काए ॥८॥

५०५. सव्वाहि अणुजुत्तीहिं, मतिमं पडिलेहिया।
सव्वे अकंतदुक्खा य, अतो सव्वे न हिंसया ॥९॥

५०६. एयं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसति कंचणं।
अहिंसा समयं चेव, एतावंतं विजाणिया ॥१०॥

५०७. उड्ढं अहे तिरियं च, जे केइ तस-थावरा।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, संति निव्वाणमाहियं ॥११॥

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक १९८-१९९ पर से।

५०८. पभू दोसे निराकिच्चा, ण विरुज्झेज्ज केणइ ।
मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अंतसो ।। १२ ।।

५०३. पृथ्वी जीव है, पृथ्वी के आश्रित भी पृथक्-पृथक् जीव हैं, जल एवं अग्नि भी जीव है, वायुकाय के जीव भी पृथक्-पृथक् हैं तथा हरित तृण, वृक्ष और बीज (के रूप में वनस्पतियाँ) भी जीव हैं ।

५०४. इन (पूर्वोक्त पाँच स्थावर जीव निकाय) के अतिरिक्त (छठे) त्रसकाय वाले जीव होते हैं । इस प्रकार तीर्थंकरों ने जीव के छह निकाय (भेद) बताए हैं । इतने ही (संसारी) जीव के भेद हैं । इसके अतिरिक्त संसार में और कोई जीव (का मुख्य प्रकार) नहीं होता ।

५०५. बुद्धिमान पुरुष सभी अनुकूल (संगत) युक्तियों से (इन जीवों में जीवत्व) सिद्ध करके भलीभाँति जाने-देखे कि सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय है (सभी सुखलिप्सु हैं), अतः किसी भी प्राणी की हिंसा न करे ।

५०६. ज्ञानी पुरुष के ज्ञान का यही सार—निष्कर्ष है कि वह किसी भी जीव की हिंसा नहीं करता । अहिंसा प्रधान शास्त्र का भी इतना ही सिद्धान्त या उपदेश जानना चाहिए ।

५०७. ऊपर, नीचे और तिरछे (लोक में) जो कोई त्रस और स्थावर जीव हैं, सर्वत्र उन सबकी हिंसा से विरति (निवृत्ति) करना चाहिए । (इस प्रकार) जीव को शान्तिमय निर्वाण-मोक्ष (की प्राप्ति कही गई) है ।

५०८. इन्द्रियविजेता साधक दोषों का निवारण करके किसी भी प्राणी के साथ जीवनपर्यन्त मन से, वचन से या काया से वैर विरोध न करे ।

विवेचन—अहिंसा का मार्ग—इन छह सूत्रगाथाओं में मोक्षमार्ग के सर्वप्रथम सोपान—अहिंसा के विधिमार्ग का निम्नोक्त सात पहलुओं से प्रतिपादन किया गया है—(१) त्रस-स्थावररूप षट्काय में जीव (चेतना) का अस्तित्व है, (२) किसी भी जीव को दुःख प्रिय नहीं है, (३) हिंसा से जीव को दुःख होता है, अतः किसी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए । (४) ज्ञानी पुरुष के ज्ञान का सार अहिंसा है । (५) अहिंसाशास्त्र का भी इतना ही सिद्धान्तसर्वस्व है कि लोक में जो कोई त्रस या स्थावर जीव हैं, साधक उनकी हिंसा से सदा सर्वत्र विरत हो जाए । (६) अहिंसा ही शान्तिमय निर्वाण की कुंजी है, (७) अतः मोक्ष-मार्गपालनसमर्थ व्यक्ति को अहिंसा के सन्दर्भ में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योगरूप दोषों को दूरकर किसी भी प्राणी के साथ मन-वचन-काया से जीवन भर वैर-विरोध नहीं करना चाहिए ।[2]

एषणासमिति मार्ग-विवेक

५०९. संवुडे से महापण्णे, धीरे दत्तेसणं चरे ।
एसणासमिए णिच्चं, वज्जयंते अणेसणं ।। १३ ।।

---

[2] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २०० का सारांश

५१०. भूयाइं समारंभ, समुद्दिस्स य जं कडं।
तारिसं तु ण गेण्हेज्जा, अन्नं पाणं सुसंजते ।। १४ ।।

५११. पूतिकम्मं ण सेवेज्जा, एस धम्मे वुसीमतो।
जं किंचि अभिकंखेज्जा, सव्वसो तं ण कप्पते ।। १५ ।।

५०९. वह साधु महान् प्राज्ञ, अत्यन्त धीर और अत्यन्त संवृत (आश्रवद्वारों का या इन्द्रिय-विषयों का निरोध किया हुआ) है, जो दूसरे (गृहस्थ) के द्वारा दिया हुआ एषणीय आहारादि पदार्थ ग्रहण करता है, तथा जो अनेषणीय आहारादि को वर्जित करता हुआ सदा (गवेषणा, ग्रहणैषणा एवं ग्रासैषणारूप त्रिविध) एषणाओं से सम्यक् प्रकार से युक्त रहता है।

५१०. जो आहार-पानी प्राणियों (भूतों) का समारम्भ (उपमर्दन) करके साधुओं को देने के उद्देश्य से बनाया गया है, वैसे (दोषयुक्त) आहार और पानी को सुसंयमी साधु ग्रहण न करे।

५११. पूतिकर्मयुक्त (शुद्ध आहार में आधाकर्म आदि दोषयुक्त आहार के एक कण से भी मिश्रित) आहार का सेवन साधु न करे। तथा शुद्ध आहार में भी यदि अशुद्धि की शंका हो जाए तो वह आहार भी साधु के लिए सर्वथा ग्रहण करने योग्य (कल्पनीय) नहीं है। शुद्ध संयमी साधु का यही धर्म है।

विवेचन—एषणासमिति-मार्ग-विवेक—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओं में विशुद्ध आहारादि ग्रहण करने का मार्ग बताया गया है।

एषणासमिति से शुद्ध आहार क्यों और कैसे?—साधु की आवश्यकताएँ बहुत सीमित होती हैं, थोड़ा-सा आहार-पानी और कुछ वस्त्र-पात्रादि उपकरण। भगवान् महावीर कहते हैं कि इस थोड़ी-सी आवश्यकता की पूर्ति वह अपने अहिंसादि महाव्रतों को सुरक्षित रखते हुए एषणासमिति का पालन करते हुए, निर्दोष भिक्षावृत्ति से करे। यदि एषणासमिति की उपेक्षा करके प्राणि-समारम्भ करके साधु के उद्देश्य से निर्मित या अन्य आधाकर्म आदि त्रिविध एषणा दोषों से युक्त, अकल्पनीय-अनेषणीय आहार-पानी साधु ग्रहण करेगा तो उसका अहिंसाव्रत दूषित हो जाएगा, बार-बार गृहस्थ वर्ग भक्तिवश वैसा आहार-पानी देने लगेगा, इससे आरम्भजनित हिंसा का दोष लगेगा, गलत परम्परा भी पड़ेगी। यदि छल-प्रपंच करके आहारादि पदार्थ प्राप्त करेगा तो सत्यव्रत को क्षति पहुँचेगी, यदि किसी से जवर्दस्ती या दबाव से छीनकर या बिना दिये ही कोई आहारादि पदार्थ ले लिया तो अचौर्य-महाव्रत भंग हो जाएगा, और स्वाद-लोलुपतावश लालसापूर्वक अतिमात्रा में आहारपानी संग्रह कर लिया तो ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह महाव्रत को भी क्षति पहुँचेगी। इसीलिए शास्त्रकार एषणासमिति से शुद्ध आहार ग्रहण करने पर जोर देते हैं।[3]

छान्दोग्य उपनिषद् में भी कहा गया है—"आहार शुद्ध होने पर अन्तःकरण (मन, बुद्धि, हृदय) शुद्ध होंगे, अन्तःकरण शुद्धि होने पर स्मृति निश्चल और प्रखर रहेगी, आत्मस्मृति की स्थिरता

---

[3] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २०१ का सारांश

उपलब्ध हो जाने पर समस्त ग्रन्थियों से मुक्ति (छुटकारा) हो जाती है।"[४] इसका फलितार्थ यह है कि जब साधु एषणादि दोषयुक्त दुष्पाच्य, गरिष्ठ अशुद्ध आहार ग्रहण एवं सेवन करेगा, तब उसकी बुद्धि एवं आत्मस्मृति कुण्ठित, सुस्त हो जाएगी, सात्त्विक विचार करने की स्फूर्ति नहीं रहेगी। फलतः अनेक अन्य दोषों के उत्पन्न होने की सम्भावना है। इसी दृष्टि से शास्त्रकार ने शुद्ध आहार में एक कण भी अशुद्ध आहार का मिला हो, या अशुद्ध आहार की शंका हो तो उसे ग्रहण या सेवन करने का निषेध किया है, क्योंकि अशुद्ध आहार संयम-विघातक. कर्मग्रन्थियों के भेदन में रुकावट डालने वाला एवं मोक्षमार्ग में विघ्नकारक हो जाता है।

इसी दृष्टि से शास्त्रकार ने एषणासमिति को मार्ग बताकर उसे साधुधर्म बताया है।[५]

भाषा-समिति-मार्ग-विवेक

५१२. ठाणाइं संति सड्ढीणं, गामेसु णगरेसु वा।
अत्थि वा णत्थि वा धम्मो ? अत्थि धम्मो त्ति णो वदे ॥१६॥

५१३. अत्थि वा णत्थि वा पुण्णं ?, अत्थि पुण्णं ति णो वदे।
अहवा णत्थि पुण्णं ति, एवमेयं महब्भयं ॥१७॥

५१४. दाणट्ठयाए जे पाणा, हम्मंति तस-थावरा।
तेसिं सारक्खणट्ठाए, तम्हा अत्थि त्ति णो वए ॥१८॥

५१५. जेसिं तं उवकप्पेंति, अण्ण-पाणं तहाविहं।
तेसिं लाभंतरायं ति, तम्हा णत्थि त्ति णो वए ॥१९॥

५१६. जे य दाणं पसंसंति, वहमिच्छंति पाणिणं।
जे य णं पडिसेहंति, वित्तिच्छेयं करेंति ते ॥२०॥

५१७. दुहओ वि ते ण भासंति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो।
आयं रयस्स हेच्चाणं, णिव्वाणं पाउणंति ते ॥२१॥

५१२-५१३. ग्रामों या नगरों में धर्म श्रद्धालु श्रावकों के स्वामित्व के स्थान साधुओं को ठहरने के लिए प्राप्त होते हैं। वहां कोई धर्मश्रद्धालु हिंसामय कार्य करे तो आत्मगुप्त (अपने को पापप्रवृत्ति से बचाने वाला) जितेन्द्रिय साधु उस हिंसा का अनुमोदन न करे।

---

[४] "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः; स्मृति लम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।"
—छान्दोग्योपनिषद् खण्ड १६ अ० ७ सू० २

[५] (क) सूत्रकृतांग शिलांकवृत्ति पत्रांक २०१
(ख) 'एस धम्मे वुसीमतो'—सूत्र कृ० मू० पा० टिप्पण पृ० ९२

यदि कोई साधु से पूछे कि इस (पूर्वोक्त प्रकार के आरम्भजन्य) कार्य में पुण्य है या नहीं ? तब साधु पुण्य है, यह न कहे अथवा पुण्य नहीं होता, यह कहना भी महाभयकारक है ।

५१४-५१५. अन्न या पानी आदि के दान के लिए जो त्रस और स्थावर अनेक प्राणी मारे जाते हैं, उनकी रक्षा करने के हेतु से साधु उक्त कार्य में पुण्य होता है, यह न कहे । किन्तु जिन जीवों को दान देने के लिये तथाविध (आरम्भपूर्वक) अन्नपान बनाया जाता है, उनको (उन वस्तुओं के) लाभ होने में अन्तराय होगा, इस दृष्टि से साधु उस कार्य में पुण्य नहीं होता ऐसा भी न कहे ।

५१६. जो दान (सचित्त पदार्थों के आरम्भ से जनित वस्तुओं के दान) की (आरम्भक्रिया करते समय) प्रशंसा करते हैं, वे (प्रकारान्तर से) प्राणियों के वध की इच्छा (अनुमोदना) करते हैं, जो दान का निषेध करते हैं, वे वृत्ति-छेदन (प्राणियों की जीविका का नाश) करते हैं ।

५१७. अतः (हिंसा रूप आरम्भ से जन्य वस्तुओं के) दान में 'पुण्य होता है' या 'पुण्य नहीं होता' ये दोनों बातें साधु नहीं कहते । ऐसे (विषय में मौन या तटस्थ रहकर या निरवद्य भाषण के द्वारा) कर्मों की आय (आश्रव) को त्यागकर निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं ।

विवेचन—भाषा-समिति-मार्ग-विवेक—प्रस्तुत सूत्रगाथाओं में अहिंसा महाव्रती साधु को अहिंसा व्रत की सुरक्षा के लिए भाषा-समिति का विवेक बताया गया है ।

भाषा-विवेक सम्बन्धी गाथाओं का हार्द—साधु पूर्ण अहिंसाव्रती है, वह मन-वचन-काया से न स्वयं हिंसा कर या करा सकता है, न ही हिंसा का अनुमोदन कर सकता है और यह भी स्वाभाविक है कि धर्म का उत्कृष्ट पालक एवं मार्गदर्शक होने के नाते ग्रामों या नगरों में धर्म श्रद्धालु लोगों द्वारा बनवाए हुए धर्मशाला, पथिकशाला, जलशाला, अन्नशाला आदि किसी स्थान में वे लोग साधु को ठहराएँ । वहाँ कोई व्यक्ति दान-धर्मार्थ किसी चीज को आरम्भपूर्वक तैयार करना चाहे या कर रहे हों, उस सम्बन्ध में साधु से पूछें कि हमारे इस कार्य में पुण्य है या नहीं ?

साधु के समक्ष इस प्रकार का धर्म संकट उपस्थित होने पर वह क्या उत्तर दे ? शास्त्रकार ने इस सम्बन्ध में भाषा-समिति से अनुप्राणित धर्म मार्ग का विवेक बताया है, कि साधु यह देखे कि उस दानार्थ तैयार की जाने वाली वस्तु में त्रस-स्थावर प्राणियों की हिंसा अनिवार्य है, या हिंसा हुई है, ऐसी स्थिति में यदि वह उस कार्य को पुण्य है, ऐसा कहता है या उसकी प्रशंसा करता है तो उन प्राणियों की हिंसा के अनुमोदन का दोष उसे लगता है, इसलिए उक्त आरम्भजनित कार्य में 'पुण्य है', ऐसा न कहे । साथ ही वह ऐसा भी न कहे कि 'पुण्य नहीं होता है' क्योंकि श्रद्धालु व्यक्ति साधु के मुंह से 'पुण्य नहीं होता है', ऐसे उद्‌गार सुनकर उनको उक्त वस्तुओं का दान देने से रुक जाएगा । फलत: जिन लोगों को उन वस्तुओं का लाभ मिलना था, वह नहीं मिल पाएगा, उनके जीविका में बहुत बड़ा अन्तराय आ जाएगा । सम्भव है, वे लोग उन वस्तुओं के न मिलने से भूखे-प्यासे मर जाएँ । इसीलिए शास्त्रकार स्पष्ट मार्ग-दर्शन देते हैं—**'दुहओ वि तेण भासंति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ।'** अर्थात्—साधु ऐसे समय में पुण्य होता है, या नहीं होता, इस प्रकार दोनों तरफ की बात न कहे, तटस्थ रहे । इस कारण भी शास्त्रकार ५१६ वीं सूत्रगाथा में स्पष्ट कर देते हैं । साधु के द्वारा आरम्भजनित उक्त दान की प्रशंसा करना या पुण्य कहना आरम्भक्रियाजनित प्राणिवध को अपने पर ओढ़ लेना है, अथवा

अनुकम्पा बुद्धि से दिये जाने वाले उक्त दान करने से लाभ मिलने वाले प्राणियों का वृत्तिच्छेद—आजीविका-भंग है। वृत्तिच्छेद करना भी एक प्रकार की हिंसा है।

प्रश्न होता है—एक ओर शास्त्रकार उन दानादि शुभकार्यों की प्रशंसा करने या उनमें पुण्य बताने का निषेध करते हैं, दूसरी ओर वे उन्हीं शुभकार्यों का निषेध करने या पुण्य न बताने का भी निषेध करते हैं; ऐसा क्यों? क्या इस सम्बध में साधु को 'हाँ' या 'ना' कुछ भी नहीं कहना चाहिए?

वृत्तिकार इस विषय में स्पष्टीकरण करते हैं कि इस सम्बन्ध में किसी के पूछने पर मौन धारण कर लेना चाहिए, यदि कोई अधिक आग्रह करे तो साधु को कहना चाहिए कि हम लोगों के लिए ४२ दोष वर्जित आहार लेना कल्पनीय है, अतः ऐसे विषय में कुछ कहने का मुमुक्षु साधुओं का अधिकार नहीं है।

किन्तु शास्त्रकार ने सूत्रगाथा ५१७ के उत्तरार्द्ध में स्वयं एक विवेक सूत्र प्रस्तुत किया है—**'आयं रयस्स हेच्चा··· पाउणंति।'** इसका रहस्यार्थ यह है कि जिस शुभकार्य में हिंसा होती हो या होने वाली हो, उसकी प्रशंसा करने या उसे पुण्य कहने से हिंसा का अनुमोदन होता है, तथा हिंसा-जनित होते हुए भी जिस शुभकार्य का लाभ दूसरों को मिलता हो, उसका निषेध करने या उसमें पाप बताने से वृत्तिच्छेद रूप लाभान्तराय कर्म का बन्ध होता है। इस प्रकार दोनों ओर से होने वाले कर्मबन्धन को मौन से या निरवद्य भाषण से टालना चाहिए।[६]

इससे यह फलितार्थ निकलता है कि जिस दानादि शुभकार्य के पीछे कोई हिंसा नहीं होने वाली है, अथवा नहीं हो रही है, ऐसी अचित्त प्रासुक आरम्भरहित वस्तु का कोई दान करना चाहे अथवा कर रहा हो, और साधु से उस सम्बन्ध में कोई पूछे तो उसमें उसके शुभपरिणामों (भावों) की दृष्टि से साधु 'पुण्य' कह सकता है और अनुकम्पा बुद्धि से दिये जाने वाले दान का निषेध तो उसे कदापि नहीं करना है, क्योंकि शास्त्र में अनुकम्पा दान का निषेध नहीं है। भगवती सूत्र की टीका में भी स्पष्ट कहा है कि "जिनेश्वरों ने अनुकम्पा दान का तो कदापि निषेध नहीं किया है।" ऐसे निरवद्य भाषण द्वारा साधु कर्मागमन को भी रोक सकता है और उचित मार्ग-दर्शन भी कर सकता है। यही भाषा-विवेक सम्बन्धी इन गाथाओं का रहस्य है।[७]

पाठान्तर और व्याख्या—**'अत्थि वा णत्थि वा धम्मो अत्थि धम्मो त्ति णो वदे'** के स्थान पर वृत्तिकार सम्मत पाठान्तर है—**"हणंत णाणुजाणेज्जा आयगुत्ते जिइंदिए'** इसकी व्याख्या वृत्तिकार करते हैं—कोई धर्मश्रद्धालु धर्मबुद्धि से कुआ खुदाने, जलशाला या अन्नसत्र बनाने की परोपकारिणी,

---

[६] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २०१ से २०३ तक का सारांश

(ख) "·········पृष्टैः सद्‌भिर्मौनं समाश्रयणीयम् निर्बन्धे त्वस्माकं द्विचत्वारिंशद्दोपवर्जित आहारः कल्पते, एवंविधे विषये मुमुक्षुणामधिकार एव नास्तीति ॥" —सूत्र कृ० शी० वृत्ति पत्रांक २०२

(ग) "·····तमायं रजसो मौनेनाऽनवद्यभाषणेन वा हित्वा-त्यक्त्वा ते अनवद्यभाषिणो निर्वाणं···प्राप्नुवन्ति।" —सूत्र कृ० शी० वृत्ति पत्रांक २०२

[७] (क) सद्धर्ममण्डनम् (द्वितीय संस्करण) पृ० ९३ से ९८ तक का निष्कर्ष

(ख) 'अणुकंपादाणं पुण जिणेहिं न कयाइ पडिसिद्धं।' —भगवती सूत्र श० ८ उ० ६, सू० ३३१ की टीका

किन्तु प्राणियों की उपमर्दन-कारिणी क्रियाएं करने के सम्बन्ध में साधु से पूछे कि इस कार्य में धर्म है या नहीं ? अथवा न पूछे तो भी उसके लिहाज या भय से आत्म-गुप्त (आत्मा की पाप से रक्षा करने वाला) जितेन्द्रिय साधु उस व्यक्ति के प्राणिहिंसा युक्त (सावद्य) कार्य का अनुमोदन न करे, न ही उस कार्य में अनुमति दे। **'अत्थि वा णत्थि वा पुण्णं ?'** के बदले पाठान्तर है—**तहा गिरं समारब्भ**। इन दोनों का भावार्थ समान है।[८]

निर्वाणमार्ग : माहात्म्य एवं उपदेष्टा

५१८. णेव्वाणपरमा बुद्धा, णक्खत्ताणं व चंदिमा।
तम्हा सया जते दंते, निव्वाणं संधते मुणी ॥२२॥

धर्म द्वीप

५१९. वुज्झमाणाण पाणाणं, किच्चंताण सकम्मुणा।
आघाति साहु तं दीवं, पतिट्ठेसा पवुच्चती ॥२३॥

५२०. आयगुत्ते सया दंते, छिण्णसोए अणासवे।
जे धम्मं सुद्धमक्खाति, पडिपुण्णमणेलिसं ॥२४॥

५१८. जैसे (अश्विनी आदि २७) नक्षत्रों में चन्द्रमा (सौन्दर्य, सौम्यता परिमाण एवं प्रकाश-रूप गुणों के कारण) प्रधान है, वैसे ही निर्वाण को ही प्रधान (परम) मानने वाले (परलोकार्थी) तत्त्वज्ञ साधकों के लिए (स्वर्ग, चक्रवर्तित्व, धन आदि को छोड़कर) निर्वाण ही सर्वश्रेष्ठ (परम पद) है। इसलिए मुनि सदा दान्त (मन और इन्द्रियों का विजेता) और यत्नशील (यतनाचारी) होकर निर्वाण के साथ ही सन्धान करे, (मोक्ष को लक्ष्यगत रखकर ही सभी प्रवृत्ति करे।)

५१९. (मिथ्यात्व, कषाय एवं प्रमाद आदि संसार-सागर के स्रोतों के प्रवाह (तीव्रधारा) में बहाकर ले जाते हुए तथा अपने (कृत) कर्मों (के उदय) से दुःख पाते हुए प्राणियों के लिए तीर्थंकर उसे (निर्वाणमार्ग को) उत्तम (विश्रामभूत एवं आश्वासनदायक) द्वीप परहितरत बताते हैं। (तत्त्वज्ञ पुरुष) कहते हैं कि यही (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्वाणमार्ग ही) मोक्ष का प्रतिष्ठान (संसार-भ्रमण से विश्रान्ति रूप स्थान या मोक्षप्राप्ति का आधार) है।

५२०. मन-वचन-काया द्वारा आत्मा की पाप से रक्षा करने वाला (आत्मगुप्त), सदा दान्त, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि संसार के स्रोतों का अवरोधक (छेदक), एवं आश्रवरहित जो साधक है, वही इस परिपूर्ण, अनुपम एवं शुद्ध (निर्वाण मार्गरूप) धर्म का उपदेश करता है।

विवेचन—निर्वाणमार्ग : माहात्म्य एवं उपदेष्टा—प्रस्तुत सूत्रगाथात्रयी द्वारा शास्त्रकार ने निर्वाणमार्ग के सम्बन्ध में चार तथ्य प्रस्तुत किये हैं—(१) तत्त्वज्ञ साधक नक्षत्रों में चन्द्रमा की तरह

---

[८] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २०१
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० ९२

सभी स्थानों या पदों में निर्वाणपथ को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, (२) मुनि को सदैव दान्त एवं यत्नशील रहकर निर्वाण को केन्द्र में रखकर सभी प्रवृत्तियाँ करनी चाहिए, (३) निर्वाण-मार्ग ही मिथ्यात्व कषायादि संसारस्रोतों के तीव्र प्रवाह में बहते एवं स्वकृतकर्म से कष्ट पाते हुए प्राणियों के लिए आश्वासन—आश्रयदायक श्रेष्ठ द्वीप है; यही मोक्षप्राप्ति का आधार है। (४) आत्मगुप्त, दान्त, छिन्नस्रोत और आस्रवनिरोधक साधक ही इन परिपूर्ण अद्वितीय निर्वाणमार्गरूप शुद्ध धर्म का व्याख्यान करता है।

पाठान्तर—**'णेव्वाणपरमा'** के बदले वृत्तिकार सम्मत पाठान्तर है—**'निव्वाणं परमं'**—व्याख्या समान है।[९]

अन्यतीर्थिक समाधि रूप शुद्ध भावमार्ग से दूर

५२१. तमेव अविजाणंता, अबुद्धा बुद्धमाणिणो।
बुद्धा मो त्ति य मण्णंता, अंतए ते समाहिए ॥२५॥

५२२. ते य बीओदगं चेव, तमुद्दिस्सा य जं कडं।
भोच्चा झाणं झियायंति, अखेतण्णा असमाहिता ॥२६॥

५२३. जहा ढंका य कंका य, कुलला मग्गुका सिही।
मच्छेसणं झियायंति, झाणं ते कलुसाधमं ॥२७॥

५२४. एवं तु समणा एगे, मिच्छद्दिट्ठि अणारिया।
विसएसणं झियायंति, कंका वा कलुसाहमा ॥२८॥

५२५. सुद्धं मग्गं विराहित्ता, इहमेगे उ दुम्मती।
उम्मग्गगता दुक्खं, घंतमेसंति ते तधा ॥२९॥

५२६. जहा आसाविर्णि नावं, जातिअंधे दुरूहिया।
इच्छती पारमागंतुं, अंतरा य विसीयती ॥३०॥

५२७. एवं तु समणा एगे, मिच्छद्दिट्ठि अणारिया।
सोयं कसिणमावण्णा, आगंतारो महब्भयं ॥३१॥

---

[९] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २०१
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ९१

५२१. उसी (प्रतिपूर्ण अनुपम निर्वाणमार्गरूप धर्म) को नहीं जानते हुए अविवेकी (अबुद्ध) होकर भी स्वयं को पण्डित मानने वाले अन्यतीर्थिक हम ही धर्मतत्त्व का प्रतिबोध पाए हुए हैं, यों मानते हुए सम्यग्दर्शनादिरूप भाव समाधि से दूर हैं।

५२२. वे (अन्यतीर्थिक) बीज और सचित्त जल का तथा उनके उद्देश्य (निमित्त) से जो आहार बना है, उसका उपभोग करके (आर्त्त) ध्यान करते हैं, क्योंकि वे अखेदज्ञ (उन प्राणियों के खेद—पीड़ा से अनभिज्ञ या धर्मज्ञान में अनिपुण) और असमाधियुक्त हैं।

५२३-५२४. जैसे ढंक, कंक, कुरर, जलमुर्गा और शिखी नामक जलचर पक्षी मछली को पकड़कर निगल जाने का बुरा विचार (कुध्यान) करते हैं, उनका वह ध्यान पापरूप एवं अधम होता है।

इसी प्रकार कई तथाकथित मिथ्यादृष्टि एवं अनार्य श्रमण विषयों की प्राप्ति (अन्वेषणा) का ही ध्यान करते हैं, अतः वे भी ढंक, कंक आदि प्राणियों की तरह पाप भावों से युक्त एवं अधम हैं।

५२५. इस जगत् में कई दुर्बुद्धि व्यक्ति तो शुद्ध (निर्वाण रूप) भावमार्ग की विराधना करके उन्मार्ग में प्रवृत्त होते हैं। वे अपने लिए दुःख (अष्टविध कर्मरूप या असातावेदनीयोदय रूप दुःख) तथा अनेक बार घात (विनाश—मरण) चाहते हैं या ढूंढते हैं।

५२६-५२७. जैसे कोई जमान्ध पुरुष छिद्र वाली नौका पर चढ़कर नदी पार जाना चाहता है, परन्तु वह बीच (मझधार) में ही डूब जाता है।

इसी तरह कई मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण कर्मों के आश्रव रूप पूर्ण भाव स्रोत में डूबे हुए होते हैं। उन्हें अन्त में नरकादि दुःख रूप महाभय पाना पड़ेगा।

विवेचन—समाधि रूप शुद्ध भाव (निर्वाण) मार्ग से दूर—प्रस्तुत सात सूत्रगाथाओं में अन्यतीर्थिकों को कतिपय कारण बताते हुए शुद्ध भाव (निर्वाण) मार्ग से दूर सिद्ध किया है। वे कारण ये हैं—(१) निर्वाणमार्ग के कारण हैं—सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र। परन्तु वे धर्म और मोक्ष के वास्तविक बोध से दूर हैं, फिर भी अपने आपको वे तत्त्वज्ञ मानते हैं, (२) अगर उन्हें जीव-अजीव का सम्यग्ज्ञान होता तो वे सचित्त बीज, कच्चे पानी या औद्देशिक दोषयुक्त आहार का सेवन न करते, जिनमें कि जीवहिंसा होती है। इसलिए वे जीवों की पीड़ा से अनभिज्ञ अथवा धर्मज्ञान में अनिपुण हैं। (३) अपने संघ के लिए आहार बनवाने तथा उसे प्राप्त करने के लिए अहर्निश चिन्तित आर्त्तध्यानयुक्त रहते हैं। जो लोग ऐहिक सुख की कामना करते हैं; धन, धान्य आदि परिग्रह रखते हैं तथा मनोज्ञ आहार, शय्या, आसन आदि रागवर्द्धक वस्तुओं का उपभोग करते हैं, उनसे त्यागवर्द्धक शुभ ध्यान कैसे होगा? [१०] अतः धर्मध्यान रूप समाधि मार्ग से वे दूर हैं। (४) जलचर मांसाहारी पक्षियों के दुर्ध्यान की तरह वे

---

[१०] (क) सूत्रकृतांगसूत्र शीलांकवृत्ति पत्रांक २०२-२०३

(ख) कहा भी है—ग्राम-क्षेत्र-गृहादीनां गवां प्रेष्यजनस्य च।

यस्मिन् परिग्रहो दृष्टो, ध्यानं तत कुतः शुभम्॥

—सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २०४ में उद्धृत

हिंसादि हेय बातों से दूर न होने से अनार्य हैं। वे सम्यग्दर्शन रहित होने के कारण विषय प्राप्ति का ही दुर्ध्यान करते हैं, (५) सम्यग्दर्शनादि धर्म रूप जो निर्दोष मोक्ष मार्ग है, उससे भिन्न कुमार्ग की प्ररूपणा करने तथा सांसारिक राग के कारण बुद्धि कलुषित और मोह-दूषित होने से सन्मार्ग की विराधना करके कुमार्गाचरण करने के कारण वे शुद्ध भाव मार्ग से दूर हैं, (६) छिद्र वाली नौका में बैठा हुआ जन्मान्ध व्यक्ति नदी पार न होकर मझधार में डूब जाता है, इसी प्रकार आश्रव रूपी छिद्रों से युक्त कुदर्शनादि युक्त कुधर्म नौका में बैठे होने के कारण वे भी संसार सागर के पार न होकर बीच में ही डूब जाते हैं।

भावमार्ग की साधना

५२८. इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेदितं।
तरे सोयं महाघोरं, अत्तत्ताए परिव्वए॥ ३२॥

५२९. विरते गामधम्मेहिं, जे केइ जगती जगा।
तेसिं अत्तुवमायाए, थामं कुव्वं परिव्वए॥ ३३॥

५३०. अतिमाणं च मायं च, तं परिण्णाय पंडिते।
सव्वमेयं निराकिच्चा, निव्वाणं संधए मुणी॥ ३४॥

५३१. संधते साहुधम्मं च, पावं धम्मं णिराकरे।
उवधाणवीरिए भिक्खू, कोहं माणं न पत्थए॥ ३५॥

५३२. जे य बुद्धा अतिक्कंता, जे य बुद्धा अणागता।
संति तेसिं पतिट्ठाणं, भूयाणं जगती जहा॥ ३६॥

५३३. अह णं वतमावण्णं, फासा उच्चावया फुसे।
ण तेसु विणिहण्णेज्जा, वातेणेव महागिरी॥ ३७॥

५३४. संवुडे से महापण्णे, धीरे दत्तेसणं चरे।
निव्वुडे कालमाकंखी, एवं केवलिणो मयं॥ ३८॥ —त्ति बेमि।

॥ मग्गो : एगारसमं अज्झयणं सम्मत्तं॥

५२८. काश्यपगोत्रीय भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित इस (दुर्गति निवारक मोक्षप्रापक सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र रूप) धर्म को ग्रहण (स्वीकार) करके शुद्ध मार्ग साधक साधु महाघोर (जन्म-मरणादि दीर्घकालिक दुःखपूर्ण) संसार सागर को पार करे तथा आत्मरक्षा के लिए संयम में पराक्रम करे।

५२९. साधु ग्राम धर्मों (शब्दादि विषयों) से निवृत्त (विरत) होकर जगत् में जो कोई (जीवितार्थी) प्राणी हैं, उन सुखप्रिय प्राणियों को आत्मवत् समझ कर उन्हें दुःख न पहुँचाए, उनकी रक्षा के लिए पराक्रम करता हुआ संयम-पालन में प्रगति करे।

५३०. पण्डित मुनि अति-(चारित्र विघातक) मान और माया (तथा अति लोभ और क्रोध) को (संसारवृद्धि का कारण) जानकर इस समस्त कषाय समूह का निवारण करके निर्वाण (मोक्ष) के साथ आत्मा का सन्धान करे (अथवा मोक्ष का अन्वेषण करे)।

५३१. (मोक्ष मार्ग परायण) साधु क्षमा आदि दशविध श्रमण धर्म अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप उत्तम धर्म के साथ मन-वचन-काया को जोड़े अथवा उत्तर धर्म में वृद्धि करे। तथा जो पाप धर्म (हिंसादि पाप का उपादान कारण अथवा पापयुक्त स्वभाव) है उसका निवारण करे। भिक्षु तपश्चरण (उपधान) में पूरी शक्ति लगाए तथा क्रोध और अभिमान को जरा भी सफल न होने दे।

५३२. जो बुद्ध (केवलज्ञानी) अतीत में हो चुके हैं, और जो बुद्ध भविष्य में होंगे, उन सबका आधार (प्रतिष्ठान) शान्ति ही (कषाय-मुक्ति या मोक्ष रूप भाव मार्ग) है, जैसे कि प्राणियों का जगती (पृथ्वी) आधार है।

५३३. अनगार धर्म स्वीकार करने के पश्चात् साधु को नाना प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल परीषह और उपसर्ग स्पर्श करे तो साधु उनसे जरा भी विचलित न हो, जैसे कि महावात से महागिरिवर मेरु कभी विचलित नहीं होता।

५३४. आश्रवद्वारों का निरोध (संवर) किया हुआ वह महाप्राज्ञ धीर साधु दूसरे (गृहस्थ) के द्वारा दिया हुआ एषणीय-कल्पनीय आहार को ही ग्रहण (सेवन) करे। तथा शान्त (उपशान्त कषाय-निर्वृत्त) रहकर (अगर काल का अवसर आए तो) काल (पण्डितमरण या समाधिमरण) की आकांक्षा (प्रतीक्षा) करे; यही केवली भगवान् का मत है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—मोक्ष-साधन साधु-धर्म रूप भाव मार्ग की साधना—प्रस्तुत ७ सूत्रगाथाओं में साधु धर्म रूप भाव मार्ग की साधना के सन्दर्भ में कुछ सूत्र प्रस्तुत किये गए हैं—(१) भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित साधु धर्म को स्वीकार करके महाघोर संसार-सागर को पार करे, (२) आत्मा को पाप से बचाने के लिए संयम में पराक्रम करे, (३) साधु धर्म पर दृढ़ रहने के लिए इन्द्रिय-विषयों से विरत हो जाए, (४) जगत् के समस्त प्राणियों को आत्मतुल्य समझ कर उनकी रक्षा करता हुआ संयम में प्रगति करे, (५) चारित्र विनाशक, अभिमान आदि कषायों को संसार वर्द्धक जानकर उनका निवारण करे, (६) एकमात्र निर्वाण के साथ अपने मन-वचन-काया को जोड़ दे (७) साधु धर्म को ही केन्द्र में रखकर प्रवृत्ति करे, (८) तपश्चर्या में अपनी शक्ति लगाए, (९) क्रोध और मान को न बढ़ाए, अथवा सार्थक न होने दे, (१०) भूत और भविष्य में जो भी बुद्ध (सर्वज्ञ) हुए हैं या होंगे, उन सबके जीवन और उपदेश का मूलाधार शान्ति (कषाय-मुक्ति) रही है, रहेगी। (११) भावमार्ग रूप व्रत को स्वीकार करने के बाद परीषह या उपसर्ग आने पर साधु सुमेरु पर्वत की तरह संयम में अविचल रहे, (१२) साधक गृहस्थ द्वारा प्रदत्त एषणीय आहार सेवन करे तथा शान्त रह कर अन्तिम समय में समाधिमरण की प्रतीक्षा करे।

यह साधु धर्म रूप भाव मार्ग प्रारम्भ से लेकर अन्तिम समय तक की साधना है।[११]

॥ मार्ग : ग्यारहवाँ अध्ययन समाप्त ॥

---

[११] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २०५-२०६

समवसरण : द्वादश अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग सूत्र (प्र० श्रु०) के बारहवें अध्ययन का नाम 'समवसरण' है।

☐ समवसरण शब्द के—एकत्रमिलन, मेला, समुदाय, साधु समुदाय, विशिष्ट अवसरों पर अनेक साधुओं के एकत्रित होने का स्थान, तीर्थंकर देव की परिषद् (धर्मसभा), धर्म-विचार, आगम-विचार, आगम आदि अर्थ होते हैं।[1]

☐ निर्युक्तिकार ने निक्षेप दृष्टि से समवसरण के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए इसके नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, ये ६ निक्षेप किये हैं। नाम और स्थापना तो सुगम है। सचित्त, अचित्त या मिश्र द्रव्यों का समवसरण—एकत्रीकरण या मिलन द्रव्य समवसरण है। जिस क्षेत्र या जिस काल में समवसरण होता है, उसे क्रमशः क्षेत्र समवसरण और काल समवसरण कहते हैं। भाव समवसरण है—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक आदि भावों का संयोग।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में देवकृत तीर्थंकर देव-समवसरण विवक्षित नहीं है, अपितु विविध प्रकार के वादों (मतों) और मतप्रवर्त्तकों का सम्मेलन अर्थ ही समवसरण पर से अभीष्ट है। निर्युक्तिकार ने इसे भावसमवसरण में परिगणित किया है। अर्थात्—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी या भेद सहित इन चारों वादों (मतों) की (एकान्तदृष्टि) के कारण भूल वताकर जिस सुमार्ग में इन्हें स्थापित किया जाता है, वह भावसमवसरण है। प्रस्तुत अध्ययन में इन चार मतों (वादों) का उल्लेख है।

☐ जो जीवादि पदार्थों का अस्तित्व मानते हैं, वे क्रियावादी हैं, इसके विपरीत जो जीवादि पदार्थ का अस्तित्व नहीं मानते, वे अक्रियावादी हैं।[2] जो ज्ञान को नहीं मानते, वे अज्ञानवादी और जो विनय से ही मोक्ष मानते हैं, वे विनयवादी हैं। निर्युक्तिकार ने क्रियावादी के १८०, अक्रियावादी

---

१. पाइअ-सद्द-महण्णवो पृ० ८७६

२. (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ११६ से ११८

(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २०८ से २१०

के ८४, अज्ञानवादी के ६७ और विनयवादी के ३२, यों कुल ३६३ भेदों की संख्या बताई है। वृत्तिकार ने इन चारों वादों के ३६३ भेदों को नामोल्लेखपूर्वक पृथक्-पृथक् बताया है। ये चारों वाद एकान्तवादी स्वाग्रही होने से मिथ्या हैं, सापेक्ष दृष्टि से मानने पर सम्यक् हो सकते हैं।

☐ पूर्वोक्त चारों स्वेच्छानुसार कल्पित एकान्त मतों (वादों) में जो परमार्थ है, उसका निश्चय करके समन्वयपूर्वक सम्मेलन (समवसरण) करना ही इस अध्ययन का उद्देश्य है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में कुल २३ गाथाएँ हैं।
यह अध्ययन सूत्रगाथा ५३५ से प्रारम्भ होकर ५५६ पर पूर्ण होता है।

☐☐

समोसरणं : बारसमं अज्झयणं

समवसरण : बारहवाँ अध्ययन

चार समवसरण : परतीर्थिक मान्य चार धर्मवाद

५३५. चत्तारि समोसरणाणिमाणि, पावादुया जाइं पुढो वयंति ।
किरियं अकिरियं विणयं ति तइयं, अण्णाणमाहंसु चउत्थमेव ॥१॥

५३५. परतीर्थिक मतवादी (प्रावादुक) जिन्हें पृथक्-पृथक् बतलाते हैं, वे चार समवसरण—वाद या सिद्धान्त ये हैं—क्रियावाद, अक्रियावाद, तीसरा विनयवाद और चौथा अज्ञानवाद ।

विवेचन—चार समवसरण : परतीर्थिक-मान्य चार धर्मवाद—शास्त्रकार ने अध्ययन के प्रारम्भ में प्रतिपाद्य विषय सूचित कर दिया है । विश्व में प्रधानतः चार प्रकार के सिद्धान्त उस युग में प्रचलित थे, जिनमें सभी एकान्तवादों का समावेश हो जाता है । अन्य दार्शनिक (मतवादी) एकान्त रूप से एक-एक को पृथक्-पृथक् मानते थे ।

इन सबका स्वरूप शास्त्रकार स्वयं यथास्थान बताएँगे ।

एकान्त अज्ञानवाद-समीक्षा

५३६. अण्णाणिया ता कुसला वि संता, असंथुया णो वितिगिछतिण्णा ।
अकोविया आहु अकोवियाए, अणाणुवीयीति मुसं वदंति ॥२॥

५३६. वे अज्ञानवादी अपने आपको (वाद में) कुशल मानते हुए भी संशय से रहित (विचिकित्सा को पार किये हुए) नहीं हैं । अतः वे असंस्तुत (असम्बद्ध भाषी या मिथ्यावादी होने से अप्रशंसा पात्र) हैं । वे स्वयं अकोविद (धर्मोपदेश में अनिपुण) हैं और अपने अकोविद (अनिपुण—अज्ञानी) शिष्यों को उपदेश देते हैं । वे (अज्ञान पक्ष का आश्रय लेकर) वस्तुतत्व का विचार किये विना ही मिथ्याभाषण करते हैं ।

विवेचन—एकान्त अज्ञानवाद समीक्षा—प्रस्तुत सूत्रगाथा में एकान्त अज्ञानवाद की संक्षिप्त समीक्षा की गई है ।

अज्ञानवाद स्वरूप और प्रकार—शास्त्रकार ने अज्ञानवाद की सर्वप्रथम समीक्षा इसलिए की है कि उसमें ज्ञान के अस्तित्व से इन्कार करके समस्त पदार्थों का अपलाप किया जाता है, अतः यह अत्यन्त विपरीतभाषी है। अज्ञानवादी वे हैं, जो अज्ञान को ही कल्याणकारी मानते हैं।

अज्ञानवादियों के ६७ भेद इस प्रकार हैं—जीवादि ९ तत्त्वों को क्रमशः लिखकर उनके नीचे ये ७ भंग रखने चाहिए—(१) सत्, (२) असत्, (३) सदसत्, (४) अवक्तव्य, (५) सदवक्तव्य, (६) असत्वक्तव्य, और (७) सद्-असद्-अवक्तव्य। जैसे—जीव सत् है, यह कौन जानता है? और यह जानने से भी क्या प्रयोजन है? इसी प्रकार क्रमशः असत् आदि शेष छहों भंग समझ लेने चाहिए। जीवादि ९ तत्त्वों में प्रत्येक के साथ सात भंग होने से कुल ६३ भंग हुए। फिर ४ भंग ये और मिलाने से ६३+४=६७ भेद हुए। चार भंग ये हैं—(१) सत् (विद्यमान) पदार्थ की उत्पत्ति होती है, यह कौन जानता है, और यह जानने से भी क्या लाभ? इसी प्रकार असत् (अविद्यमान), सदसती (कुछ विद्यमान और कुछ अविद्यमान), और अवक्तव्यभाव के साथ भी इसी तरह का वाक्य जोड़ने से ४ विकल्प होते हैं।

अज्ञानवादी कुशल या अकुशल—अज्ञानवादी अपने आपको कुशल (चतुर) मानते हैं। वे कहते हैं कि हम सब तरह से कुशल-मंगल हैं, क्योंकि हम व्यर्थ ही किसी से न तो बोलते हैं, न ज्ञान बघारते हैं, चुपचाप अपने आप में मस्त रहते हैं। ज्ञानवादी अपने-अपने अहंकार में डूबे हैं, परस्पर लड़ते हैं, एक-दूसरे पर आक्षेप करते हैं, वे वाक्कलह से असंतुष्ट और क्षेम कुशल रहित रहते हैं।

इसका निराकरण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—**"अण्णाणिया ता कुसला वि संता…"** इसका आशय यह है कि अज्ञानवादी अपने आपको कुशल मानते हैं, किन्तु अज्ञान के कारण कोई जीव कुशल-मंगल नहीं होता। अज्ञान के कारण ही तो जीव नाना दुःखों से पीड़ित है, बुरे कर्म करके वह दुर्गति और नीच योनि में जाता है। नरक में कौन-से ज्ञानी हैं? अज्ञानी ही तो हैं। फिर वे परस्पर लड़ते-झगड़ते क्यों हैं? क्यों इतना दुःख पाते हैं? उन्हें कुशल क्षेम क्यों नहीं है? और तिर्यंचयोनि के जीव भी तो अज्ञानी हैं। वे अज्ञानवश ही तो पराधीन हैं। परवशता एवं अज्ञान के कारण ही उन्हें भूख-प्यास सर्दी-गर्मी आदि के दुःख उठाने पड़ते हैं। अज्ञान में डूबे हैं, तभी तो वे किसी क्षेत्र में प्रगति नहीं कर सकते। अज्ञानी मानव बहुत ही पिछड़े, अन्धविश्वासी, तथा सामाजिक, धार्मिक या अध्यात्मिक क्षेत्र में अप्रगतिशील रहते हैं, अनेक प्रकार के दुःख उठाते हैं। इसलिए अज्ञानवादियों के जीवन में कुशल-क्षेम नहीं है, पशु से भी गया बीता जीवन होता है अज्ञानी का।

अज्ञानवादी असम्बद्धभाषी एवं संशयग्रस्त—अज्ञानवादी अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन ज्ञान से करते हैं लेकिन ज्ञान को कोसते हैं। ज्ञान के बिना पदार्थों का यथार्थ स्वरूप कैसे समझा जा सकता है? इसलिए वे महाभ्रान्ति के शिकार एवं असम्बद्धभाषी हैं।

अज्ञान का पर्युदास नञ् समास के अनुसार अर्थ किया जाए तो होता है एक ज्ञान से भिन्न, ज्ञान के सदृश दूसरा ज्ञान। इससे तो दूसरे ज्ञान को ही कल्याण साधन मानलिया, अज्ञानवाद कहाँ सिद्ध हुआ? प्रसज्य नञ् समास के अनुसार अज्ञान का अर्थ होता है—ज्ञान का निषेध या अभाव। यह प्रत्यक्ष से विरुद्ध है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान द्वारा पदार्थ का स्वरूप जान कर प्रवृत्ति करने वाला कार्यार्थी पुरुष अपने कार्य को सिद्ध करता हुआ प्रत्यक्ष देखा जाता है। इसलिए ज्ञान का अभाव

कितना असत्य है। फिर ज्ञानाभाव (अज्ञान) अभाव रूप होने से तुच्छ, रूपरहित एवं शक्ति रहित हुआ, वह कैसे कल्याणकर होगा ? अतः ज्ञान कल्याण साधन है, अज्ञान नहीं।

परस्पर विरुद्धभाषी अज्ञानवादी या ज्ञानवादी—अज्ञानवादियों का कथन है कि सभी ज्ञानवादी पदार्थ का स्वरूप परस्पर विरुद्ध बताते हैं इसलिए वे यथार्थवादी नहीं हैं। जैसे—कोई आत्मा को सर्वव्यापी, कोई असर्वव्यापी, कोई हृदयस्थित, कोई उसे ललाटस्थित और कोई उसे अंगूठे के पर्व के तुल्य मानता है कोई आत्मा को नित्य और अमूर्त तथा कोई अनित्य और मूर्त मानता है। परस्पर एकमत नहीं किसका कथन प्रमाणभूत माना जाए, किसका नहीं ? जगत् में कोई अतिशयज्ञानी (सर्वज्ञ) भी नहीं, जिसका कथन प्रमाणभूत माना जाए। सर्वज्ञ हो तो भी असर्वज्ञ (अल्पज्ञ) उसे जान नहीं सकता, और सर्वज्ञ को जानने का उपाय भी सर्वज्ञ बने बिना नहीं जान सकता। यही कारण है कि सर्वज्ञ के अभाव में असर्वज्ञों (ज्ञानवादियों) को वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान न होने से वे पदार्थों का स्वरूप परस्पर विरुद्ध बताते हैं।

इन सब आक्षेपों का उत्तर यह है कि अज्ञानवादी स्वयं मिथ्यादृष्टि हैं। सम्यग्ज्ञान से रहित हैं, वे संशय और भ्रम से ग्रस्त हैं। वास्तव में परस्पर या पूर्वापर विरुद्ध अर्थ बताने वाले लोग असर्वज्ञ के आगमों को मानते हैं परन्तु इससे समस्त सिद्धान्तों को आँच नहीं आती। सर्वज्ञप्रणीत आगमों को मानने वाले वादियों के वचनों में परस्पर या पूर्वापर विरोध नहीं आता। क्योंकि जहाँ पूर्वापर या परस्पर विरुद्ध कथन होगा, वहाँ सर्वज्ञता ही नहीं होती। सर्वज्ञता के लिए ज्ञान पर आया हुआ आवरण सर्वथा दूर हो जाना तथा असत्य या परस्पर असम्बद्ध या विरुद्ध भाषण के कारणभूत जो राग, द्वेष, मोह आदि हैं, उनका सर्वथा नष्ट हो जाना अवश्यम्भावी है। सर्वज्ञ में इन दोषों का सर्वथा अभाव होने से उसके वचन सत्य हैं, परस्पर विरुद्ध नहीं हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वज्ञ सिद्ध न होने पर भी उसके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। 'सम्भव' और 'अनुमान' प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है, क्योंकि सर्वज्ञ असम्भव है, ऐसा कोई सर्वज्ञता बाधक प्रमाण नहीं है, और न ही प्रत्यक्ष प्रमाण में सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध होता है, न ही सर्वज्ञाभाव के साथ कोई अव्यभिचारी हेतु है। सर्वज्ञाभाव के साथ किसी का सादृश्य न होने से उपमान प्रमाण से भी सर्वथाभाव सिद्ध नहीं होता। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सर्वथाभाव सिद्ध न होने से अर्थापत्ति प्रमाण से भी सर्वथाभाव सिद्ध नहीं होता। आगम प्रमाण से भी सर्वथाभाव सिद्ध नहीं होता क्योंकि सर्वज्ञ का अस्तित्व बताने वाला आगम विद्यमान है। स्थूलदर्शी पुरुष का ज्ञान सर्वज्ञ तक नहीं पहुंचाता, इस कारण भी सर्वज्ञ का अभाव नहीं कहा जा सकता। सर्वज्ञ के अस्तित्व का बाधक कोई प्रमाण नहीं मिलता, बल्कि सर्वज्ञसाधक प्रमाण ही मिलते हैं, इसलिए सर्वज्ञ न मानना अज्ञानवादियों का मिथ्या कथन है।

फिर सर्वज्ञ प्रणीत आगमों को मानने वाले सभी एकमत से आत्मा को सर्व शरीर व्यापी मानते हैं, क्योंकि आत्मा का गुण चैतन्य समस्त शरीर, किन्तु स्वशरीर पर्यन्त ही देखा जाता है। अतः सर्वज्ञ प्रणीत आगम ज्ञानवादी परस्पर विरुद्धभाषी नहीं हैं।

अज्ञानवादी धर्मोपदेश में सर्वथा अनिपुण—शास्त्रकार कहते हैं—अज्ञानवादी अज्ञानवाद का आश्रय लेकर बिना विचारे असम्बद्ध भाषण करते हैं, इसलिए उनमें यथार्थ ज्ञान नहीं है। जो यथार्थ ज्ञानी होता है—वह विचारपूर्वक बोलता है, इसीलिए तो अज्ञानवादियों में मिथ्याभाषण की प्रवृत्ति है। वे धर्म का उपदेश अपने अनिपुण शिष्यों को देते हैं, तो ज्ञान के द्वारा ही देते हैं, फिर भी वे कहते हैं—अज्ञान से ही कल्याण होता है। परन्तु अज्ञान से कल्याण होना तो दूर रहा, उलटे नाना कर्मबन्धन होने से जीव नाना दुःखों से पीड़ित होता है। इसलिए अज्ञानवाद अपने आप में एक मिथ्यावाद है।[1]

एकान्त-विनयवाद की समीक्षा

५३७. सच्चं असच्चं इति चिंतयंता, असाहु साहु त्ति उदाहरंता।
जेमे जणा वेणइया अणेगे, पुट्ठा वि भावं विणइंसु नाम ॥३॥

५३८. अणोवसंखा इति ते उदाहु, अट्ठे स ओभासति अम्ह एवं।

५३७. जो सत्य है, उसे असत्य मानते हुए तथा जो असाधु (अच्छा नहीं) है, उसे साधु (अच्छा) बताते हुए ये जो बहुत-से विनयवादी लोग हैं, वे पूछने पर भी (या न पूछने पर) अपने भाव (अभिप्राय या परमार्थ) के अनुसार विनय से ही स्वर्ग-मोक्ष प्राप्ति (या सर्वसिद्धि) बताते हैं।

५३८. (पूर्वार्द्ध) वस्तु के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान न होने से व्यामूढमति वे विनयवादी ऐसा कहते हैं। वे कहते हैं—हमें अपने प्रयोजन (स्व-अर्थ) की सिद्धि इसी प्रकार से (विनय से) ही दीखती है।....

विवेचन—एकान्त विनयवाद की समीक्षा—प्रस्तुत गाथाओं में एकान्त विनयवाद की संक्षिप्त झांकी दी गई है।

विनयवाद का स्वरूप और प्रकार—विनयवादी वे हैं जो विनय को ही सिद्धि का मार्ग मानते हैं। वे कहते हैं—विनय से ही स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है। वे गधे से लेकर गाय तक, चाण्डाल से लेकर ब्राह्मण तक एवं जलचर, खेचर, स्थलचर, उरपरिसर्प एवं भुजपरिसर्प आदि सभी प्राणियों को विनयपूर्वक नमस्कार करते हैं।

निर्युक्तिकार ने विनयवाद के ३२ भेद बताए हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) देवता, (२) राजा, (३) यति, (४) ज्ञाति, (५) वृद्ध, (६) अधम, (७) माता और (८) पिता। इन आठों का मन से, वचन से, काया से और दान से विनय करना चाहिए। इस प्रकार ८×४=३२ भेद विनयवाद के हुए।[2]

विनयवादी : सत्यासत्य विवेकरहित—इसके तीन कारण हैं—(१) जो प्राणियों के लिए हितकर है, सत्य है, वह मोक्ष या संयम है, किन्तु विनयवादी इसे असत्य बताते हैं, (२) सम्यग्ज्ञान-दर्शन-

---

[1] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २११ से २४१ का सारांश (ख) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ११९

[2] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २०८ (ख) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ११९

चरित्र मोक्ष का वास्तविक मार्ग है, परन्तु विनयवादी उसे असत्य कहते हैं, (३) केवल विनय से मोक्ष नहीं होता, तथापि विनयवादी केवल विनय से ही मोक्ष मानकर असत्य को सत्य मानते हैं।

विनयवादियों में सत् और असत् का विवेक नहीं होता। वे अपनी सद्-असद्विवेकशालिनी बुद्धि का प्रयोग न करके विनय करने की धुन में अच्छे-बुरे, सज्जन-दुर्जन, धर्मात्मा-पापी, सुबुद्धि-दुर्बुद्धि, सुज्ञानी-अज्ञानी, आदि सभी को एक सरीखा मानकर सबको वन्दन-नमन, मान-सम्मान, दान आदि देते हैं। देखा जाए तो यथार्थ में वह विनय नहीं है, विवेकहीन प्रवृत्ति है।

जो साधक विशिष्ट धर्माचरण अर्थात्—साधुत्व की क्रिया नहीं करता, उस असाधु को विनयवादी केवल वन्दन-नमन आदि औपचारिक विनय क्रिया करने मात्र से साधु मान लेते हैं, धर्म के परीक्षक नहीं। वे औपचारिक विनय से ही धर्मोत्पत्ति मान लेते हैं, धर्म की परीक्षा नहीं करते।

विनयवाद के गुण-दोष की मीमांसा—विनयवादी सम्यक् प्रकार से वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जाने बिना ही मिथ्याग्रह एवं मत-व्यामोह से प्रेरित होकर कहते हैं—"हमें अपने सभी प्रयोजनों की सिद्धि विनय से होती प्रतीत है, विनय से ही स्वर्ग व मोक्ष की प्राप्ति होती है।" यद्यपि विनय चारित्र का अंग है, परन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना, विवेक-विकल विनय चारित्ररूप मोक्ष मार्ग का अंगभूत विनय नहीं है। अगर विनयवादी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप विनय की विवेकपूर्वक आराधना-साधना करें, साथ ही आध्यात्मिक मार्ग में आगे बढ़े हुए जो अरिहन्त या सिद्ध परमात्मा हैं, अथवा पंच महाव्रत धारी निर्ग्रन्थ चारित्रात्मा हैं, उनकी विनय-भक्ति करें तो उक्त मोक्ष मार्ग के अंगभूत-विनय से उन्हें स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु इसे ठुकरा कर अध्यात्मविहीन, अविवेकयुक्त एवं मताग्रहगृहीत एकान्त औपचारिक विनय से स्वर्ग या मोक्ष बतलाना उनका एकान्तर दुराग्रह है, मिथ्यावाद है।[3]

विविध एकान्त अक्रियावादियों की समीक्षा

····लवावसंकी य अणागतेहिं, णो किरियमाहंसु अकिरियआया ॥४॥

५३९. सम्मिस्सभावं सगिरा गिहीते, से मुम्मुई होति अणाणुवादी।
इमं दुपक्खं इममेगपक्खं, आहंसु छलायतणं च कम्मं ॥५॥

५४० ते एवमक्खंति अबुज्झमाणा, विरूवरूवाणि अकिरियाता।
जमादिदित्ता बहवो मणूसा, भमंति संसारमणोवतग्गं ॥६॥

५४१. णाइच्चो उदेति ण अत्थमेति, ण चंदिमा वड्ढती हायती वा।
सलिला ण संदंति ण वंति वाया, वंझे णियते कसिणे हु लोए ॥७॥

---

[3] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २१३-२१४ का तात्पर्य

५४२. जहा य अंधे सह जोतिणा वि, रूवाइं णो पस्सति हीणनेत्ते ।
संतं पि ते एवमकिरियआता, किरियं ण पस्संति निरुद्धपण्णा ।।८।।

५४३. संवच्छरं सुविणं लक्खणं च, निमित्तं देइं उप्पाइयं च ।
अट्ठंगमेतं बहवे अहित्ता, लोगंसि जाणंति अणागताइं ।।९।।

५४४. केई निमित्ता तहिया भवंति, केसिंचि तं विप्पडिएति णाणं ।
ते विज्जभावं अणहिज्जमाणा, आहंसु विज्जापलिमोक्खमेव ।।१०।।

५३८. (उत्तरार्द्ध) तथा लव यानी कर्मबन्ध की शंका करने वाले अक्रियावादी भविष्य और भूतकाल के क्षणों के साथ वर्तमानकाल का कोई सम्बन्ध (संगति) न होने से क्रिया (और तज्जनित कर्मबन्ध) का निषेध करते हैं।

५३९. वे (पूर्वोक्त अक्रियावादी) अपनी वाणी से स्वीकार किये हुए पदार्थ का निषेध करते हुए मिश्रपक्ष को (पदार्थ के अस्तित्व और नास्तित्व दोनों से मिश्रित विरुद्धपक्ष को) स्वीकार करते हैं। वे स्याद्वादियों के कथन का अनुवाद करने (दोहराने) में भी असमर्थ होकर अति मूक हो जाते हैं। वे इस पर-मत को द्विपक्ष-प्रतिपक्ष युक्त तथा स्वमत को प्रतिपक्षरहित बताते हैं। एवं स्याद्वादियों के हेतु वचनों का खण्डन करने के लिए वे छलयुक्त वचन एवं कर्म (व्यवहार) का प्रयोग करते हैं।

५४०. वस्तुतत्त्व को न समझने वाले वे अक्रियावादी नाना प्रकार के शास्त्रों का कथन (शास्त्रवचन प्रस्तुत) करते हैं। जिन शास्त्रों का आश्रय लेकर बहुत-से मनुष्य अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करते हैं।

५४१. सर्वशून्यतावादी (अक्रियवादी) कहते हैं कि न तो सूर्य उदय होता है, और न ही अस्त होता है तथा चन्द्रमा (भी) न तो बढ़ता है और न घटता है, एवं नदी आदि के जल बहते नहीं और न हवाएँ चलती हैं। यह सारा लोक अर्थशून्य (बन्ध्य या मिथ्या) एवं नियत (निश्चित-अभाव) रूप है।

५४२. जैसे अन्धा मनुष्य किसी ज्योति (दीपक आदि के प्रकाश) के साथ रहने पर भी नेत्रहीन होने से रूप को नहीं देख पाता; इसी तरह जिनकी प्रज्ञा ज्ञानावरण के कारण रुकी हुई है, वे बुद्धिहीन अक्रियावादी सम्मुख विद्यमान क्रिया को भी नहीं देखते।

५४३. जगत् में बहुत-से लोग ज्योतिषशास्त्र (संवत्सर) स्वप्नशास्त्र, लक्षणशास्त्र, निमित्त-शास्त्र, शरीर पर प्रादुर्भूत—तिल-मष आदि चिह्नों का फल बताने वाला शास्त्र, तथा उल्कापात दिग्दाह, आदि का फल बताने वाला शास्त्र, इन अष्टांग (आठ अंगों वाले) निमित्त शास्त्रों को पढ़ कर भविष्य की बातों को जान लेते हैं।

५४४. कई निमित्त तो सत्य (तथ्य) होते हैं और किन्हीं-किन्हीं निमित्तवादियों का वह ज्ञान विपरीत (अयथार्थ) होता है। यह देखकर विद्या का अध्ययन न करते हुए अक्रियावादी विद्या से परिमुक्त होने—त्याग देने को ही कल्याणकारक कहते हैं।

विवेचन—अक्रियावादी की समीक्षा—प्रस्तुत सात सूत्रगाथाओं द्वारा शास्त्रकार ने एकान्त अक्रियावादियों द्वारा मान्य अक्रियावाद के स्वरूप का प्रतिपादन किया है।

अक्रियावाद : स्वरूप और भेद—एकान्तरूप से जीव आदि पदार्थों का जिस वाद में निषेध किया जाता है, तथा उसकी क्रिया, आत्मा कर्मबन्ध, कर्मफल आदि जहाँ बिलकुल नहीं माने जाते, उसे अक्रियावाद कहते हैं।

अक्रियावाद के ८४ भेद होते हैं, वे इस प्रकार हैं—जीव आदि ७ पदार्थों को क्रमशः लिखकर उसके नीचे (१) स्वतः और (२) परतः ये दो भेद स्थापित करने चाहिए। फिर उन ७×२=१४ ही पदों के नीचे (१) काल (२) यदृच्छा, (३) नियति, (४) स्वभाव, (५) ईश्वर और (६) आत्मा इन ६ पदों को रखना चाहिए। जैसे—जीव स्वतः यदृच्छा से नहीं है, जीव परतः काल से नहीं है, जीव स्वतः यदृच्छा से नहीं है, जीव परतः यदृच्छा से नहीं है, इसी तरह नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा के साथ भी प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं। यों जीवादि सातों पदार्थों के सात, स्वतः परतः के प्रत्येक के दो और काल आदि के ६ भेद मिलाकर कुल ७×२=१४×६=८४ भेद हुए।[४]

एकान्त अक्रियावाद के गुण-दोष की मीमांसा—एकान्त अक्रियावादी मुख्यतया तीन हैं—लोकायतिक, बौद्ध और सांख्य। **अक्रियावादी लोकायतिक** के मत में आत्मा ही नहीं है, तो उसकी क्रिया कहाँ से होगी और उस क्रिया से उत्पन्न कर्मबन्ध भी कहाँ से होगा? फिर भी लोक व्यवहार में जैसे मुट्ठी का बांधना और खोलना उपचार मात्र से माना जाता है, वैसे ही लोकायतिक मत में उपचार मात्र से आत्मा में बद्ध और मुक्त का व्यवहार माना जाता है।

अक्रियावादी बौद्ध—ये सभी पदार्थों को क्षणिक मानते हैं, क्षणिक पदार्थों में क्रिया का होना सम्भव नहीं है, अतः वे भी अक्रियावादी हैं। वे जो पांच स्कन्ध मानते हैं, वह भी आरोपमात्र से, परमार्थरूप से नहीं। उनका मन्तव्य यह है कि जब सभी पदार्थ क्षणिक हैं, क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं, तब न तो अवयवी का पता लगता है, और न ही अवयव का। इसलिए क्षणिकवाद के अनुसार भूत और भविष्य के साथ वर्तमान क्षण का कोई सम्बन्ध नहीं होता, सम्बन्ध न होने से क्रिया नहीं होती और क्रिया न होने से क्रियाजनित कर्मबन्ध भी नहीं होता। इस प्रकार बौद्ध अक्रियावादी हैं। तात्पर्य यह है कि बौद्ध कर्मबन्ध की आशंका से आत्मादि पदार्थों का और उनकी क्रिया का निषेध करते हैं।

अक्रियावादी सांख्य—आत्मा को सर्वव्यापक होने के कारण अक्रिय मानते हैं। इस कारण वे भी वस्तुतः अक्रियावादी हैं।

लोकायतिक पदार्थ का निषेध करके भी पक्ष को सिद्ध करने के लिए पदार्थ का अस्तित्व प्रकारान्तर से मान लेते हैं। अर्थात् पदार्थ का निषेध करते हुए भी वे उसके अस्तित्व का प्रतिपादन कर बैठते हैं। जैसे—वे जीवादि पदार्थों का अभाव बताने वाले शास्त्रों का अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए शास्त्र के कर्ता आत्मा को, तथा उपदेश के साधनरूप शास्त्र को एवं जिसे उपदेश दिया जाता

---

[४] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २०८
(ख) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ११९

है, उस शिष्य को तो अवश्य स्वीकार करते हैं, क्योंकि इनको माने विना उपदेश आदि नहीं हो सकता। परन्तु सर्वशून्यतावाद में ये तीनों पदार्थ नहीं आते। इसलिए लोकायतिक परस्पर विरुद्ध मिश्रपक्ष का आश्रय लेते हैं। वे पदार्थ नहीं है, यह भी कहते हैं, दूसरी ओर उसका अस्तित्व भी स्वीकार करते हैं।

वौद्ध मत के सर्वशून्यतावाद के अनुसार कोई (परलोक में) जाने वाला सम्भव नहीं, कोई क्रिया, गतियाँ और कर्मबन्ध भी सम्भव नहीं है, फिर भी वौद्धशासन में ६ गतियाँ मानी गई हैं। जब गमन करने वाला कोई आत्मा ही नहीं है, तब गमन क्रिया, फलित गतियाँ कैसी? फिर वौद्ध मान्य ज्ञान से अभिन्न ज्ञान सन्तान भी क्षणविध्वंसी होने के कारण स्थिर नहीं हैं। क्रिया न होने के कारण अनेक गतियों का होना सम्भव नहीं, वौद्ध आगमों में सभी कर्मों को अवन्धन माना है, फिर भी तथागत बुद्ध का ५०० बार जन्मग्रहण करना बताते हैं। जब कर्मवन्धन नहीं तो जन्म ग्रहण कैसे होगा? बौद्ध ग्रन्थगत एक श्लोक में बताया है—''माता-पिता को मारकर एवं बुद्ध के शरीर से रक्त निकालकर अर्हद्वध करके तथा धर्मस्तूप को नष्ट करने से मनुष्य अवीचिनरक में जाता है,''[५] यह भी कर्मवन्धन के बिना कैसे सम्भव है? यदि सर्वशून्य है तो ऐसे शास्त्रों की रचना कैसे युक्तिसंगत हो सकती है? यदि कर्मवन्धन कारण नहीं है, तो प्राणियों में जन्म-मरण, रोग, शोक उत्तम-मध्यम-अधम आदि विभिन्नताएँ किस कारण से दृष्टिगोचर होती हैं? यह कर्म का फल प्रतीत होता है। इन सब पर से जीव का अस्तित्व, उसका कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं उसका कर्म से युक्त होना सिद्ध होता है, फिर भी बौद्ध सर्वशून्यतावाद को मानते हैं। यह स्पष्ट ही बौद्धों द्वारा मिश्रपक्ष का स्वीकार करना है। अर्थात् एक ओर वे कर्मों का पृथक्-पृथक् फल मानते हैं, दूसरी ओर वे सर्वशून्यतावाद के अनुसार सभी पदार्थों का नास्तित्व बताते हैं।

सांख्य अक्रियावादी आत्मा को सर्वव्यापी मानकर भी प्रकृति के वियोग से उसका मोक्ष मानते हैं। जब मोक्ष मानते हैं तो बन्धन अवश्य मानना पड़ेगा। जब आत्मा का वन्धमोक्ष होता है तो उनके ही वचनानुसार आत्मा का क्रियावान् होना भी स्वीकृत हो जाता है, क्योंकि क्रिया के विना वन्ध और मोक्ष कदापि सम्भव नहीं होते। अतः सांख्य भी मिश्रपक्षाश्रयी हैं, वे आत्मा को निष्क्रिय सिद्ध करते हुए अपने ही वचन से उसे क्रियावान् कह बैठते हैं।

अक्रियावादियों के सर्वशून्यतावाद का निराकरण—अक्रियावादियों के द्वारा सूर्य के उदय-अस्त का चन्द्र के वृद्धि-ह्रास, जल एवं वायु की गति का किया गया निषेध प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध हैं। ज्योतिष आदि अष्टांगनिमित्त आदि शास्त्रों के पढ़ने से भूत या भविष्य की जानकारी मनुष्यों को होती है, वह किसी न किसी पदार्थ की सूचक होती है, सर्वशून्यतावाद को मानने पर यह घटित नहीं हो सकता। इस पर से शून्यतावादी कहते हैं कि ये विद्याएँ सत्य नहीं हैं, हम तो विद्याओं के पढ़े विना ही लोकालोक के पदार्थों को जान लेते हैं; यह कथन भी मिथ्या एवं पूर्वापरविरुद्ध है।

प्रत्यक्ष दृश्यमान वस्तु को भी स्वप्न, इन्द्रजाल या मृगमरीचिका-सम बताकर उसका अत्यन्ताभाव घोषित करना भी युक्ति-प्रमाणविरुद्ध है।

---

[५] ''मता-पितरौ हत्वा, बुद्धशरीरे च रुधिरमुत्पात्य।
अर्हद्वधं च कृत्वा, स्तूपं भित्वा, आवीचिनरकं यान्ति॥''—सू० शी०वृत्ति पत्रांक २१५ में उद्धृत बौद्ध ग्रन्थोक्ति

छलायतणं च कम्मं—इसकी दूसरी व्याख्या वृत्तिकार ने इस प्रकार की है—अथवा जिसके षट् आयतन—उपादानकारण आश्रवद्वाररूप हैं, अथवा श्रोत्रादि इन्द्रिय नोइन्द्रिय (मन) रूप हैं, वह कर्म षडायतनरूप है, इस प्रकार बौद्ध कहते हैं। बौद्धग्रन्थ सुत्तपिटक, संयुक्त निकाय में षडायतन (सलायतन) का उल्लेख है।[६]

पाठान्तर और व्याख्या—**वंझो णियते** के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—'**वंझे य णितिए**' वन्ध्य का अर्थ है—शून्य, '**णितिए**' का अर्थ है—नित्यकाल। लोक नित्य एवं सर्वशून्य है।[७]

एकान्त क्रियावाद और सम्यक् क्रियावाद एवं उसके प्ररूपक

५४५. ते एवमक्खंति समेच्च लोगं, तहा तहा समणा माहणा य।
सयंकडं णण्णकडं च दुक्खं, आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं ॥ ११ ॥

५४६. ते चक्खु लोगंसिह णायगा तु, मग्गाऽणुसासंति हितं पयाणं।
तहा तहा सासयमाहु लोए, जंसी पया माणव ! संपगाढा ॥ १२ ॥

५४७. जे रक्खसावा जमलोइया वा, जे वा सुरा गंधव्वा य काया।
आगासगामी य पुढोसिया य, पुणो पुणो विप्परियासुवेंति ॥ १३ ॥

५४८. जमाहु ओहं सलिलं अपारगं, जाणाहि णं भवगहणं दुमोक्खं।
जंसी विसन्ना विसयंगणाहिं, दुहतो वि लोयं अणुसंचरति ॥ १४ ॥

५४५. वे श्रमण (शाक्यभिक्षु) और माहन (ब्राह्मण) अपने-अपने अभिप्राय के अनुसार लोक को जानकर उस-उस क्रिया के अनुसार फल प्राप्त होना बताते हैं। तथा (वे यह भी कहते हैं कि) दुःख स्वयंकृत (अपना ही किया हुआ) होता है, अन्यकृत नहीं। परन्तु तीर्थंकरों ने विद्या (ज्ञान) और चरण (चारित्र-क्रिया) से मोक्ष कहा है।

५४६. इस लोक में तीर्थंकर आदि नेत्र के समान हैं, तथा वे (शासन) नायक (धर्म नेता या प्रधान) हैं। वे प्रजाओं के लिए हितकर ज्ञानादि रूप मोक्षमार्ग की शिक्षा देते हैं। इस चतुर्दश-

---

[६] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २१४ से २१८ तक का सारांश
(ख) 'वद्धा मुक्ताश्च कथ्यन्ते, मुष्टि-ग्रन्थि-कपोतकाः।
न चान्ये द्रव्यतः सन्ति, मुष्टि-ग्रन्थि-कपोतकाः ॥'
—सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति में उद्धृत

[७] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २१६
(ख) तुलना—'अविज्जपच्चया····नामरूपपच्चया **सलायतनं**··· पटिच्च समुप्पादो। ····कतमं च, भिक्खवे, **सलायतनं** ? चक्खायतनं, सोतायतनं, घाणायतनं, जिव्हायतनं, कायायतनं मनायतनं। इदं वुच्चति, भिक्खवे, **सलायतनं**।
—सुत्तपिटक संयुत्त निकाय पालि (भा० २) पृ० ३-५

रज्ज्वात्मक या पंचास्तिकायरूप लोक में जो-जो वस्तु जिस-जिस प्रकार से द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से शाश्वत है उसे उसी प्रकार से उन्होंने कही है । अथवा यह जीवनिकायरूप लोक (संसार) जिन-जिन मिथ्यात्व आदि कारणों से जैसे-जैसे शाश्वत (सुदृढ़ या सुदीर्घ) होता है, वैसे-वैसे उन्होंने बताया है, अथवा जैसे-जैसे राग-द्वेष आदि या कर्म की मात्रा में अभिवृद्धि होती है, वैसे-वैसे संसाराभिवृद्धि होती है, यह उन्होंने कहा है, जिस संसार में (नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव के रूप में) प्राणिगण निवास करते हैं ।

५४७. जो राक्षस हैं, अथवा यमलोकवासी (नारक) हैं, तथा जो चारों निकाय के देव हैं, या जो देव गन्धर्व हैं, और पृथ्वीकाय आदि षड्जीवनिकाय के हैं तथा जो आकाशगामी हैं एवं जो पृथ्वी पर रहते हैं, वे सब (अपने किये हुए कर्मों के फलस्वरूप) बार-बार विविध रूपों में (विभिन्न गतियों में) परिभ्रमण करते रहते हैं ।

५४८. तीर्थंकरों गणधरों आदि ने जिस संसार सागर को स्वयम्भूरमण समुद्र के जल की तरह अपार (दुस्तर) कहा है, उस गहन संसार को दुर्मोक्ष (दुःख से छुटकारा पाया जा सके, ऐसा) जानो, जिस संसार में विषयों और अंगनाओं में आसक्त जीव दोनों ही प्रकार से (स्थावर और जंगम-रूप अथवा आकाशाश्रित एवं पृथ्वी-आश्रित रूप से अथवा वेषमात्र से प्रव्रज्याधारी होने और अविरति के कारण, एक लोक से दूसरे लोक में भ्रमण करते रहते हैं ।

विवेचन—एकान्त क्रियावाद और सम्यक् क्रियावाद एवं उसके प्ररूपक—प्रस्तुत चार सूत्रों में क्रियावाद की गूढ़ समीक्षा की गई है ।

एकान्त क्रियावाद : स्वरूप और भेद—एकान्त क्रियावादी वे हैं, जो एकान्तरूप से जीव आदि पदार्थों का अस्तित्व मानते हैं, तथा ज्ञानरहित केवल दीक्षा आदि क्रिया से ही मोक्षप्राप्ति मानते हैं । वे कहते हैं कि माता-पिता आदि सब हैं, शुभकर्म का फल भी मिलता है, पर मिलता है केवल क्रिया से ही । जीव जैसी-जैसी क्रियाएँ करता है, तदनुसार उसे नरक-स्वर्ग आदि के रूप में कर्मफल मिलता है । संसार में सुख-दुःखादि जो कुछ भी होता है, सब अपना किया हुआ होता है, काल, ईश्वर आदि दूसरों का किया हुआ नहीं होता ।[८]

निर्युक्तिकार ने क्रियावाद के १८० भेद बताए हैं । वे इस प्रकार से हैं—सर्वप्रथम जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष, इन नौ पदार्थों को क्रमशः स्थापित करके उसके नीचे 'स्वतः' और 'परतः' ये दो भेद रखने चाहिए । इसी तरह उनके नीचे 'नित्य' और 'अनित्य' इन दो भेदों की स्थापना करनी चाहिए । उसके नीचे क्रमशः काल, स्वभाव, नियति, ईश्वर और आत्मा इन ५ भेदों की स्थापना करनी चाहिए । जैसे—(१) जीव स्वतः विद्यमान है, (२) जीव परतः (दूसरे से) उत्पन्न होता है, (३) जीव नित्य है, (४) जीव अनित्य है, इन चारों भेदों को क्रमशः काल आदि पांचों के साथ लेने से बीस भेद (४ × ५ = २०) होते हैं, इसी प्रकार अजीवादि शेष ८ के प्रत्येक के बीस-बीस भेद समझने चाहिए । यों नौ ही पदार्थों के २० × ९ = १८० भेद क्रियावादियों के होते हैं ।[९]

---

[८] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २१८

[९] (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० ११९ (ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २१८

एकान्त क्रियावाद की गुण-दोष समीक्षा—एकान्त क्रियावादियों के मन्तव्य के सम्बन्ध में शास्त्रकार कहते हैं कि क्रियावादियों का यह कथन किसी अंश तक ठीक है कि क्रिया से मोक्ष होता है, तथा आत्मा (जीव) और सुख आदि का अस्तित्व है, परन्तु उनकी एकान्त प्ररूपणा यथार्थ नहीं है। यदि एकान्तरूप से पदार्थों का अस्तित्व माना जाएगा तो वे कथञ्चित् (परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से) नहीं हैं, यह कथन घटित नहीं हो सकेगा, जो कि सत्य है। वस्तु में एकान्त अस्तित्व मानने पर सर्ववस्तुएँ सर्ववस्तुरूप हो जाएंगी। इस प्रकार जगत् के समस्त व्यवहारों का उच्छेद हो जाएगा अतः प्रत्येक वस्तु कथञ्चित् अपने-अपने स्वरूप से है, परस्वरूप से नहीं है, ऐसा मानना चाहिए।

एकान्त क्रिया से मोक्ष नहीं होता, उसके साथ ज्ञान सम्यग्ज्ञान होना चाहिए। ज्ञान रहित क्रिया मात्र से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। सभी क्रियाएँ ज्ञान के साथ फल देती हैं। दशवैकालिक सूत्र में **'पढमं नाणं तओ दया'** की उक्ति इसी तथ्य का संकेत है। अतः ज्ञान निरपेक्ष क्रिया से या क्रिया निरपेक्ष ज्ञान से मोक्ष नहीं होता, इसीलिये शास्त्रकार स्पष्ट कहते हैं—तीर्थंकरों ने ज्ञान और क्रिया दोनों से मोक्ष कहा है।

सम्यक् क्रियावाद और उसके मार्गदर्शक—सूत्रगाथा ५४६ से ५४८ तक में सम्यक् क्रियावाद और उसके मार्गदर्शक का निरूपण किया है, इनसे चार तथ्य फलित होते हैं—(१) लोक शाश्वत भी है, और अशाश्वत भी है, (२) चारों गतियों के जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार सुख दुःख पाते हैं तथा स्वतः संसार में परिभ्रमण करते हैं, काल, ईश्वर आदि से प्रेरित होकर नहीं। (३) संसार-सागर स्वयम्भूरमण समुद्र के समान दुस्तर है, (४) तीर्थंकर लोकचक्षु हैं, वे धर्मनायक हैं, सम्यक् क्रियावाद के मार्गदर्शक हैं, उन्होंने संसार और मोक्ष का यथार्थ स्वरूप बताकर सम्यक् क्रियावाद की प्ररूपणा की है, अथवा जीव-अजीव आदि नौ तत्त्वों के अस्तित्व-नास्तित्व की काल आदि पांच कारणों के समवसरण (समन्वय) की सापेक्ष प्ररूपणा की है। इसलिए वे इस भाव—समवसरण के प्ररूपक हैं।[10]

सम्यक् क्रियावाद और क्रियावादियों के नेता

५४९. ण कम्मुणा कम्म खवेंति बाला, अकम्मुणा उ कम्म खवेंति धीरा।
मेधाविणो लोभमयावतीता, संतोसिणो णो पकरेंति पावं ॥१५॥

५५०. ते तीत-उप्पण्ण-मणागताइं, लोगस्स जाणंति तहागताइं।
णेतारो अण्णेसि अणण्णणेया, बुद्धा हु ते अंतकडा भवंति ॥१६॥

५५१. ते णेव कुव्वंति ण कारवेंति, भूताभिसंकाए दुगुंछमाणा।
सया जता विप्पणमंति धीरा, विण्णत्तिवीरा य भवंति एगे ॥१७॥

---

[10] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २१८ से २२० तक का सारांश

५४९. अज्ञानी जीव (बाल) सावद्य (पापयुक्त) कर्म करके अपने कर्मों का क्षय नहीं कर सकते। अकर्म के द्वारा (आश्रवों--कर्म के आगमन को रोक कर, अतन्त: शैलेशी अवस्था में) धीर (महासत्त्व) साधक कर्म का क्षय करते हैं। मेधावी साधक लोभमय (परिग्रह) कार्यों से अतीत (दूर) होते हैं, वे सन्तोषी होकर पाप कर्म नहीं करते।

५५०. वे वीतराग पुरुष प्राणिलोक (पंचास्तिकायात्मक या प्राणिसमूह रूप लोक) के भूत, वर्तमान एवं भविष्य (के सुख-दु:खादि वृत्तान्तों) को यथार्थ रूप में जानते हैं। वे दूसरे जीवों के नेता हैं, परन्तु उनका कोई नेता नहीं है। वे ज्ञानी पुरुष (स्वयंबुद्ध, तीर्थंकर, गणधर आदि) संसार (जन्म-मरण) का अन्त कर देते हैं।

५५१. वे (प्रत्यक्षज्ञानी या परोक्षज्ञानी तत्त्वज्ञ पुरुष) प्राणियों के घात की आशंका (डर) से पापकर्म से घृणा (अरुचि) करते हुए स्वयं हिंसादि पापकर्म नहीं करते, न ही दूसरों से पाप (हिंसादि) कर्म कराते हैं। वे धीर पुरुष सदैव संयत (पापकर्म से निवृत्त) रहते हुए संयमानुष्ठान की ओर झुके रहते हैं। परन्तु कई अन्यदर्शनी ज्ञान (विज्ञप्ति) मात्र से वीर बनते हैं, क्रिया से नहीं।

विवेचन—सम्यक् क्रियावाद और क्रियावादियों के नेता—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओं में सम्यक् क्रियावाद के सम्बन्ध में पांच रहस्य प्रस्तुत किये गए हैं—(१) क्रियावाद के नाम पर पापकर्म (दुष्कृत्य) करने वाले कर्म क्षय करके मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते, (२) कर्मों का सर्वथा क्षय करने हेतु महाप्राज्ञ साधक सावद्य-निरवद्य सभी कर्मों के आगमन को रोक कर अन्त में सर्वथा अक्रिय (योग-रहित) अवस्था में पहुँच जाते हैं। अर्थात् कथञ्चित् सम्यक् अक्रियावाद को भी अपनाते हैं। (३) ऐसे मेधावी साधक लोभमयी क्रियाओं से सर्वथा दूर रहकर यथालाभ सन्तुष्ट होकर पाप युक्त क्रिया नहीं करते। (४) ऐसे सम्यक् क्रियावादियों के नेता या तो स्वयंबुद्ध होते हैं, या सर्वज्ञ होते हैं, उनका कोई नेता नहीं होता। वे लोक के अतीत, अनागत एवं वर्तमान वृत्तान्तों को यथावस्थित रूप से जानते हैं, और संसार के कारणभूत कर्मों का अन्त कर देते हैं। (५) ऐसे महापुरुष पाप कर्मों से घृणा करते हुए प्राणिवध की आशंका से (क्रियावाद के नाम पर) न तो स्वयं पापकर्म करते हैं, न दूसरों से करवाते हैं। वे सदैव पापकर्म से निवृत्त रहते हुए संयमानुष्ठान में प्रवृत्त रहते हैं, यही उनका ज्ञानयुक्त सम्यक् क्रियावाद है, जबकि अन्यदर्शनी ज्ञान मात्र से ही वीर बनते हैं, सम्यक् क्रिया से दूर रहते हैं।[११]

सम्यक् क्रियावाद का प्रतिपादक और अनुगामी

५५२. डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे, ते आततो पासति सव्वलोए।
उवेहती लोगमिणं महंतं, बुद्धऽप्पमत्तेसु परिव्वएज्जा ॥१८॥

५५३. जे आततो परतो यावि णच्चा, अलमप्पणो होति अलं परेसिं।
तं जोतिभूतं च सताऽऽवसेज्जा, जे पाउकुज्जा अणुवीयि धम्मं ॥१९॥

---

[११] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २२० से २२१ का निष्कर्ष

५५४. अत्ताण जो जाणति जो य लोगं, आगइं च जो जाणइऽणागइं च ।
जो सासयं जाणइ असासयं च, जाती मरणं च जणोववातं ।।२०।।

५५५. अहो वि सत्ताण विउट्टणं च, जो आसवं जाणति संवरं च ।
दुक्खं च जो जाणति निज्जरं च, सो भासितुमरिहति किरियवादं ।।२१।।

५५६ सद्देसु रूवेसु असज्जमाणे, गंधेसु रसेसु अदुस्समाणे ।
णो जीवियं णो मरणाभिकंखी, आदाणगुत्ते वलयाविमुक्के ।।२२।।
—त्ति बेमि ।

।। समोसरणं : बारसमं अज्झयणं सम्मत्तं ।।

५५२. इस समस्त लोक में छोटे-छोटे (कुन्थु आदि) प्राणी भी हैं और बड़े-बड़े (स्थूल शरीर वाले हाथी आदि) प्राणी भी हैं । सम्यक्वादी सुसाधु उन्हें अपनी आत्मा के समान देखता-जानता है । 'यह प्रत्यक्ष दृश्यमान विशाल (महान्) प्राणिलोक कर्मवश दुःख रूप है'; इस प्रकार की उत्प्रेक्षा (अनुप्रेक्षा—विचारणा) करता हुआ वह तत्त्वदर्शी पुरुष अप्रमत्त साधुओं से दीक्षा ग्रहण करे—प्रव्रजित हो ।

५५३. जो सम्यक् क्रियावादी साधक स्वयं अथवा दूसरे (तीर्थंकर, गणधर आदि) से जीवादि पदार्थों को जानकर अन्य जिज्ञासुओं या मुमुक्षुओं को उपदेश देता है, जो अपना या दूसरों का उद्धार या रक्षण करने में समर्थ है, जो जीवों की कर्म परिणति का अथवा सद्धर्म (श्रुत चारित्र रूप धर्म या क्षमादि-दशविध श्रमण धर्म एवं श्रावक धर्म) का विचार करके (तदनुरूप) धर्म को प्रकट करता है, उस ज्योतिःस्वरूप (तेजस्वी) मुनि के सान्निध्य में सदा निवास करना चाहिए ।

५५४-५५५. जो आत्मा को जानता है, जो लोक को तथा जीवों की गति और अनागति (सिद्धि) को जानता है, इसी तरह शाश्वत (मोक्ष) और अशाश्वत (संसार) को तथा जन्म-मरण एवं प्राणियों के नाना गतियों में गमन को जानता है; तथा अधोलोक (नरक आदि) में भी जीवों को नाना प्रकार की पीड़ा होती है, यह जो जानता है, एवं जो आश्रव (कर्मों के आगमन) और संवर (कर्मो के निरोध) को जानता है तथा जो दुःख (बन्ध) और निर्जरा को जानता है, वही सम्यक् क्रियावादी साधक क्रियावाद को सम्यक् प्रकार से बता सकता है ।

५५६. सम्यग्वादी साधु मनोज्ञ शब्दों और रूपों में आसक्त न हो, न ही अमनोज्ञ गन्ध और रस के प्रति द्वेष करे । तथा वह (असंयमी जीवन) जीवन जीने की आकांक्षा न करे, और न ही (परीषहों और उपसर्गो से पीड़ित होने पर) मृत्यु की इच्छा करे । किन्तु संयम (आदान) से सुरक्षित (गुप्त) और माया से विमुक्त होकर रहे ।
—ऐसा मैं कहता हूँ ।

विवेचन—सम्यक् क्रियावाद का प्रतिपादक और अनुगामी—प्रस्तुत पांच सूत्रगाथाओं में सम्यक् क्रियावाद के प्ररूपक एवं अनुगामी की अर्हताएँ बताई गई हैं । मुख्य अर्हताएँ ये हैं—(१) जो

लोक में स्थित समस्त छोटे-बड़े प्राणियों को आत्मवत् जानता-देखता है, (२) जो आत्म जागरण के समय विशाल लोक की अनुप्रेक्षा करता है कि 'यह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से विशाल अन्तरहित लोक कर्मवश जन्म-मरण-जरा-रोग-शोक आदि नाना दुःख रूप है।' (३) जो तत्त्वदर्शी पुरुष अप्रमत्त साधुओं से दीक्षा ग्रहण करता है, (४) जीवादि नौ पदार्थों को प्रत्यक्षदर्शी या परोक्षदर्शी से जानकर दूसरों को उपदेश देता है, (५) जो स्व-पर-उद्धार या रक्षण करने में समर्थ है, (६) जो जिज्ञासु के समक्ष अनुरूप सद्धर्म का विचार करके प्रकट करता है, (७) सम्यक् क्रियावाद के अनुगामी को उसी तेजस्वी मुनि के उसी तेजस्वी मुनि के सान्निध्य में रहना चाहिए, (८) जो आत्मा जीवों की गति-आगति, मुक्ति तथा मोक्ष का (शाश्वतता) और संसार (अशाश्वतता) का रहस्य जानता है जो अधोलोक के जीवों के दुःखों को जानता है, आश्रव, संवर, पुण्य-पाप बन्ध एवं निर्जरा को जानता है, वही क्रियावाद का सम्यक् निरूपण कर सकता है। (९) ऐसे सम्यक् क्रियावादी साधु को पंचेन्द्रिय विषयों में आसक्ति एवं द्वेष नहीं रखना चाहिए, उसे जीवन-मरण की भी आकांक्षा नहीं रखनी चाहिए, उसे आदान (मिथ्यात्वादि द्वारा गृहीत कर्म या विषय कषायों के ग्रहण) से आत्मा को बचाना और माया से मुक्त रहना चाहिए।

संक्षेप में, जो साधक आत्मवाद, लोकवाद एवं कर्मवाद को जानता है या नौ तत्वों का सर्वकर्म-विमुक्ति रूप मोक्ष के सन्दर्भ में स्वीकार करता है, वही वस्तुतः क्रियावाद का ज्ञाता एवं उपदेष्टा है।[१२]

॥ समवसरण : बारहवां अध्ययन सम्पूर्ण ॥

---

[१२] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २२२ से २२३ तक का सारांश

याथातथ्य—त्रयोदश अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग (प्र० श्रु०) के तेरहवें अध्ययन का नाम याथातथ्य या यथातथ्य है।

☐ यथातथ्य का अर्थ है—यथार्थ, वास्तविक, परमार्थ अथवा जैसा हो, वैसा।

☐ निर्युक्तिकार ने 'तथ्य' शब्द के मुख्यतया चार निक्षेप किये हैं—नाम तथ्य और स्थापना तथ्य सुगम है। सचित्तादि पदार्थों में से जिस पदार्थ का जैसा स्वभाव या स्वरूप हो, उसे द्रव्य की प्रधानता को लेकर द्रव्य तथ्य कहते हैं, जैसे पृथ्वी का लक्षण कठिनता, जल का द्रवत्व। तथा मनुष्यों आदि का जैसा मार्दव आदि स्वभाव है, तथा गोशीर्ष चन्दनादि द्रव्यों का जैसा स्वभाव है, उसे द्रव्यतथ्य कहते हैं। भाव तथ्य औदयिक आदि ६ भावों की यथार्थता को भाव तथ्य जानना चाहिए अथवा आत्मा में रहने वाला 'भावतथ्य' चार प्रकार का है—१. 'ज्ञानतथ्य' (पांच ज्ञानों द्वारा वस्तु का यथार्थ स्वरूप जानना), २. 'दर्शन तथ्य' (जीवादि तत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा करना), ३. 'चारित्रतथ्य' (१७ प्रकार के संयम और १२ प्रकार के तप का शास्त्रोक्तरीति से पालन करना) और ४. विनयतथ्य (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और उपचार रूप से ४२ प्रकार से विनय की यथायोग्य आराधना करना)।

☐ अथवा प्रशस्त और अप्रशस्त भावतथ्य में से प्रस्तुत अध्ययन में प्रशस्त भावतथ्य का अधिकार है। निर्युक्तिकार की दृष्टि में प्रशस्त भावतथ्य का तात्पर्य है—सुधर्मास्वामी आदि आचार्यों की परम्परा से जिस सूत्र का सर्वज्ञोक्त जो अर्थ या व्याख्यान है, सरलता, जिज्ञासा बुद्धि एवं निरभिमानता के साथ उसी प्रकार से अर्थ और व्याख्या करना, तदनुसार वैसा ही आचरण-अनुष्ठान करना यथातथ्य है, किन्तु परम्परागत सूत्रार्थ और व्याख्यान के विपरीत कपोलकल्पित कुतर्क-मद से विकृत अर्थ और व्याख्यान करना अयथातथ्य है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में पूर्वोक्त भाव तथ्य की दृष्टि से साधुओं का प्रशस्त ज्ञानादि तथ्यरूप शील का तथा असाधुओं के इससे विपरीत शील (स्वभाव एवं स्वरूप) का वर्णन किया गया है। यथातथ्य वर्णन होने के कारण इस अध्ययन को 'याथातथ्य' कहा गया है।

- अथवा इस अध्ययन की प्रथम गाथा में 'आहत्तहियं' (यथातथ्य) शब्द का प्रयोग हुआ है, इस आदिपद को लेकर इस अध्ययन का नाम 'याथातथ्य' दिया गया है।[1]
- प्रस्तुत अध्ययन में २३ गाथाओं द्वारा साधुओं के गुण-दोषों की वास्तविक स्थिति पर प्रकाश डाला गया है।
- यथातथ्य व्याख्यान और तदनुसार आचरण से साधक को संसार सागर पार करने योग्य बनाना इस अध्ययन का उद्देश्य है।
- प्रस्तुत अध्ययन सूत्रगाथा ५५७ से प्रारम्भ होकर ५७६ पर समाप्त होता है।

□□

---

[1] (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० १२२ से १२६ तक
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २३०-२३१
(ग) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा० १ पृ० १५३

आहत्तहियं : तेरसमं अज्झयणं

याथातथ्य : तेरहवाँ अध्ययन

समस्त यथातथ्य-निरूपण का अभिवचन

५५७. आहत्तहियं तु पवेयइस्सं, नाणप्पकारं पुरिसस्स जातं।
सतो य धम्मं असतो असीलं, संतिं असंतिं करिस्सामि पाउं ॥१॥

५५७. मैं (सुधर्मास्वामी) याथातथ्य—यथार्थ तत्त्व को बताऊंगा, तथा ज्ञान के प्रकार (सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र के रहस्य) को प्रकट करूँगा, एवं पुरुषों (प्राणियों) के अच्छे बुरे गुणों को कहूँगा। तथा उत्तम साधुओं के शील और असाधुओं के कुशील का एवं शान्ति (मोक्ष) और अशान्ति (संसार) का स्वरूप भी प्रकट करूँगा।

विवेचन—याथातथ्य के निरूपण का अभिवचन—अध्ययन की इस प्रारम्भिक गाथा में, समग्र अध्ययन में प्रतिपाद्य विषयों के यथातथ्य निरूपण का श्रीसुधर्मास्वामी का अभिवचन अंकित किया किया गया है। प्रस्तुत गाथा में चार विषयों के यथार्थ निरूपण का अभिवचन है—

(१) ज्ञानादि (सम्यग्ज्ञान, दर्शन, और चारित्र) का रहस्य।

(२) सत्पुरुष और असत्पुरुष के प्रशस्त-अप्रशस्त गुण, धर्म, स्वभाव आदि का निरूपण।

(३) सुसाधुओं के शील, सदाचार, सदनुष्ठान और कुसाधुओं के कुशील, अनाचार और असदनुष्ठान का स्वरूप,

(४) सुसाधुओं को समस्तकर्मक्षयरूप शान्ति (मुक्ति) की प्राप्ति और कुसाधुओं को जन्म-मरणरूप अशान्ति (संसार) की प्राप्ति का रहस्य व कारण।

पाठान्तर—'पुरिसस्स जातं' के बदले पाठान्तर है—'पुरिसस्स भावं'। अर्थ के अनुसार यह पाठ संगत है।[1]

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २३२ का सारांश

कुसाधु के कुशील एवं सुसाधु के शील का यथातथ्य-निरूपण

५५८. अहो य रातो य समुट्ठितेहिं, तहागतेहिं पडिलब्भ धम्मं ।
समाहिमाघातमझोसयंता, सत्थारमेव फरुसं वयंति ॥२॥

५५९. विसोहियं ते अणुकाहयंते, जे आतभावेण वियागरेज्जा ।
श्रट्ठाणिए होति बहूगुणाणं, जे णाणसंकाए मुसं वदेज्जा ॥३॥

५६०. जे यावि पुट्ठा पलिउंचयंति, श्रादाणमट्ठं खलु वंचयंति ।
असाहुणो ते इह साधुमाणी, मायण्णि एसिंति अणंतघंतं ॥४॥

५६१. जे कोहणे होति जगट्ठभासी, विश्रोसियं जे उ उदीरएज्जा ।
अंधे व से दंडपहं गहाय, अविश्रोसिए घासति पावकम्मी ॥५॥

५६२. जे विग्गहीए श्रन्नायभासी, न से समे होति अझंझपत्ते ।
ओवायकारी य हिरीमणे य, एगतंदिट्ठी य अमाइरूवे ॥६॥

५६३. से पेसले सुहुमे पुरिसजाते, जच्चण्णिए चेव सुउज्जुयारे ।
बहुं पि अणुसासिते जे तहच्चा, समे हु से होति अझंझपत्ते ॥७॥

५६४. जे आवि अप्पं वसुमं ति मंता, संखाय वादं अपरिच्छ कुज्जा ।
तवेण वा हं सहिते त्ति मंता, अण्णं जणं पस्सति बिंबभूतं ॥८॥

५६५. एगंतकूडेण तु से पलेति, ण विज्जती मोणपदंसि गोते ।
ज माणणट्ठेण विउक्कसेज्जा, वसुमण्णतरेण अबुज्झमाणे ॥९॥

५६६. जे माहणे जातिए खत्तिए वा, तह उग्गपुत्ते तह लेच्छती वा ।
जे पव्वइते परदत्तभोई, गोत्ते ण जे थब्भति माणबद्धे ॥१०॥

५६७. ण तस्स जाती व कुलं व ताणं, णण्णत्थ विज्जा-चरणं सुचिण्णं ।
णिक्खम्म जे सेवतिऽगारिकम्मं, ण से पारए होति विमोयणाए ॥११॥

५५८. दिन-रात सम्यक् रूप से सदनुष्ठान करने में उद्यत श्रुतधरों तथा तथागतों (तीर्थंकरों से श्रुत-चारित्र) धर्म को पाकर तीर्थंकरों श्रादि द्वारा कथित समाधि (सम्यग्दर्शनादि मोक्षपद्धति) का सेवन न करने वाले कुसाधु (जामालि, बोटिक श्रादि निह्नव) अपने प्रशास्ता धर्मोपदेशक (श्राचार्य या तीर्थंकरादि) को कठोर शब्द (कुवाक्य) कहते हैं ।

५५९. वे स्वमताग्रहग्रस्त कुसाध (जामालि गोष्ठामाहिल आदि निह्नववत्) विविध प्रकार से शोधित (कुमार्ग-प्ररूपणा से निवारित) इस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्षमार्ग (जिनमार्ग) की आचार्य परम्परागत व्याख्या से विपरीत प्ररूपणा करते हैं। जो व्यक्ति अहंकार वश आत्मभाव से (अपनी रुचि या कल्पना से) आचार्य परम्परा के विपरीत सूत्रों का अर्थ करते हैं, वे बहुत-से ज्ञानादि सद्गुणों के स्थान (भाजन) नहीं होते। वे (अल्पज्ञान गर्वित होकर) वीतराग के ज्ञान में शंका करके मिथ्याभाषण करते हैं।

५६०. जो कुसाधु पूछने पर अपने आचार्य या गुरु आदि का नाम छिपाते हैं, वे आदान रूप अर्थ (ज्ञानादि अथवा मोक्षरूप पदार्थ) से अपने आपको वञ्चित करते हैं। वे वस्तुतः इस जगत् में या धार्मिक जगत् में असाधु होते हुए भी स्वयं को साधु मानते हैं, अतः मायायुक्त वे व्यक्ति अनन्त (बहुत) वार विनाश (या संसारचक्र) को प्राप्त करेंगे।

५६१. जो कषाय-फल से अनभिज्ञ कुसाधु, प्रकृति से क्रोधी है, अविचारपूर्वक बोलता (परदोषभाषी) है, जो उपशान्त हुए कलह को फिर उभारता (जगाता) रहता है, वह पापकर्मी एवं सदैव कलह ग्रस्त व्यक्ति (चातुर्गतिक संसार में यातनास्थान पाकर) वार-वार उसी तरह पीड़ित होता है, जिस तरह छोटी संकडी पगडंडी पकड़ कर चलने वाला (सुमार्ग से अनभिज्ञ) अंधा (कांटों, हिंस्र पशुओं आदि से) पीड़ित होता है।

५६२. जो साधक कलहकारी है, अन्याययुक्त (न्याय-विरुद्ध) वोलता है, वह (रागद्वेषयुक्त होने के कारण) सम—मध्यस्थ नहीं हो सकता, वह कलहरहित भी नहीं होता (अथवा वह अकलह प्राप्त सम्यग्दृष्टि के समान नहीं हो सकता)। परन्तु सुसाधु उपपातकारी (गुरुसान्निध्य में रहकर उनके निर्देशानुसार चलने वाला) या उपायकारी (सूत्रोपदेशानुसार उपाय—प्रवृत्ति करने वाला) होता है, वह अनाचार सेवन करते गुरु आदि से लज्जित होता है, जीवादि तत्वों में उसकी दृष्टि (श्रद्धा) स्पष्ट या निश्चित होती है; तथा वह माया-रहित व्यवहार करता है।

५६३. भूल होने पर आचार्य आदि के द्वारा अनेक वार अनुशासित होकर (शिक्षा पाकर) भी जो अपनी लेश्या (अर्चा-चित्तवृत्ति) शुद्ध रखता है, वह सुसाधक मृदुभाषी या विनयादिगुणयुक्त है। वही सूक्ष्मार्थदर्शी है, वही वास्तव में संयम में पुरुषार्थी है, तथा वही उत्तम जाति से समन्वित और साध्वाचार में ही सहज-सरल-भाव से प्रवृत्त रहता है। वही सम (निन्दा-प्रशंसा में रोष-तोष रहित मध्यस्थ) है, और अकषाय-प्राप्त (अक्रोधी या अमायी) है (अथवा वही सुसाधक वीतराग पुरुषों के समान अझंझा प्राप्त है)।

५६४-५६५. जो अपने आपको संयम एवं ज्ञान का धनी मानकर अपनी परीक्षा किये विना ही किसी के साथ वाद छेड़ देता है, अथवा अपनी प्रशंसा करता है, तथा मैं महान् तपस्वी हूँ; इस प्रकार के मद से मत्त होकर दूसरे व्यक्ति को जल में पड़े हुए चन्द्रमा के प्रतिविम्व की तरह निरर्थक तुच्छ देखता—समझता है।

वह मदलिप्त साधु एकान्तरूप से मोहरूपी कूटपाश में फँस कर संसार में परिभ्रमण करता है, तथा जो सम्मान प्राप्ति के लिए संयम, तपस्या, ज्ञान आदि विविध प्रकार का मद करता है, वह समस्त

आगम-वाणी के त्राता आधारभूत (गोत्र) मौनीन्द्र (सर्वज्ञ वीतराग) के पद-मार्ग में अथवा मौनपद (संयमपथ) में स्थित नहीं है। वास्तव में संयम लेकर जो ज्ञानादि का मद करता है, वह परमार्थतः सर्वज्ञ-मार्ग को नहीं जानता—वह मूढ़ है।

५६६. जो ब्राह्मण है अथवा क्षत्रिय जातीय है, तथा उग्र (वंशीय क्षत्रिय-) पुत्र है, अथवा लिच्छवी (गण का क्षत्रिय) है, जो प्रव्रजित होकर परदत्तभोजी (दूसरे-गृहस्थ के द्वारा दिया हुआ आहार सेवन करने वाला) है, जो अभिमान योग्य स्थानों से पूर्व सम्बन्धित होकर भी अपने (उच्च) गोत्र का मद नहीं करता, वही सर्वज्ञोक्त याथातथ्य चारित्र में प्रवृत्त साधु है।

५६७. भलीभांति आचरित (सेवित) ज्ञान (विद्या) और चारित्र (चरण) के सिवाय (अन्य) साधक की जाति अथवा कुल (दुर्गति से) उसकी रक्षा नहीं कर सकते। जो प्रव्रज्या लेकर फिर गृहस्थ कर्म (सावद्य कर्म, आरम्भ) का सेवन करता है वह कर्मों से विमुक्त होने में समर्थ नहीं होता।

विवेचन—कुसाधु के कुशील और सुसाधु के सुशील का यथातथ्य निरूपण—प्रस्तुत १० सूत्र-गाथाओं में कुसाधुओं और सुसाधुओं के कुशील एवं सुशील का यथार्थ निरूपण किया गया है।

कुसाधुओं के कुशील का यथातथ्य इस प्रकार है—(१) अहर्निश सदनुष्ठान में उद्यत श्रुतधरों या तीर्थंकरों से श्रुतचारित्र धर्म को पाकर उनके द्वारा कथित समाधि का सेवन नहीं करते (२) अपने उपकारी प्रशास्ता की निन्दा करते हैं, (३) वे इस विशुद्ध सम्यग्दर्शनादि युक्त जिन मार्ग की परम्परागत व्याख्या से विपरीत प्ररूपणा करते हैं; (४) अपनी स्वच्छन्दकल्पना से सूत्रों का विपरीत अर्थ करते हैं, (५) वीतराग सर्वज्ञ के ज्ञान में कुशंका करके मिथ्याभाषण करते हैं, (६) वे पूछने पर आचार्य या गुरु का नाम छिपाते हैं, अतः मोक्षरूप फल से स्वयं को वंचित करते हैं, (७) वे धार्मिक जगत् में वस्तुतः असाधु होते हुए भी स्वयं को मायापूर्वक सुसाधु मानते हैं, (८) वे प्रकृति से क्रोधी होते हैं, (९) बिना सोचे विचारे बोलते हैं, या परदोषभाषी हैं, (१०) वे उपशान्त कलह को पुनः उभारते हैं, (११) वे सदैव कलहकारी व पापकर्मी होते हैं, (१२) न्याय विरुद्ध बोलते हैं, (१३) ऐसे कुसाधु सम (रागद्वेष रहित या मध्यस्थ अथवा सम्यग्दृष्टि के समान नहीं) हो पाते। (१४) अपने आपको महाज्ञानी अथवा सुसंयमी मान कर बिना ही परीक्षा किये अपनी प्रशंसा करते हैं, (१५) मैं बहुत बड़ा तपस्वी हूँ, यह मानकर दूसरों को तुच्छ मानते हैं, (१६) वह अहंकारी साधु एकान्तरूप से मोहरूपी कुपाश में फँसकर संसार परिभ्रमण करता है, वह सर्वज्ञ प्रभु के मार्ग या पद में स्थित नहीं है, (१७) जो संयमी होकर सम्मान-सत्कार पाने के लिए ज्ञान, तप, लाभ आदि का मद करता है, वह मूढ़ है, परमार्थ से अनभिज्ञ है। (१८) जिनमें ज्ञान और चारित्र नहीं है, जाति, कुल आदि उनकी रक्षा नहीं कर सकते, अतः प्रव्रज्या ग्रहण कर जो जाति, कुल आदि का मद करता है, एवं गृहस्थ के कर्मों (सावद्यकर्मों) का सेवन करता है, वह असाधु अपने कर्मों का क्षय करने में समर्थ नहीं होता।[२]

---

[२] (क) सूत्रकृतांक शीलांकवृत्ति पत्रांक २३२ से २३५
(ख) सूत्र० गाथा ५५८ से ५६२, ५६४ से ५६७ तक

सुसाधुओं के सुशील का याथातथ्य—इस प्रकार है—(१) सुसाधु गुरु के सान्निध्य में रहकर उनके निर्देशानुसार प्रवृत्ति करता है, और सूत्रोपदेशानुसार प्रवृत्ति करता है, (२) वह अनाचार सेवन करने में गुरु आदि से लज्जित होता है, (३) जीवादि तत्त्वों पर उसकी श्रद्धा दृढ़ होती है, (४) वह मायारहित व्यवहार करता है, (५) भूल होने पर आचार्यादि द्वारा अनुशासित होने पर भी अपनी चित्तवृत्ति शुद्ध रखता है, (६) वह मृदुभाषी या विनयादि गुणों से युक्त होता है, (७) वह सूक्ष्मार्थदर्शी एवं पुरुषार्थी होता है (८) वह साध्वाचार में सहजभाव से प्रवृत्त रहता है, (९) वह निन्दा-प्रशंसा में सम रहता है, (१०) अकषायी होता है अथवा वीतराग पुरुष के समान अझंझाप्राप्त है, (११) जो ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि उच्च जाति का पूर्वाश्रमी होकर भी उच्च गोत्र का मद नहीं करता, वही याथातथ्य चारित्र में प्रवृत्त सुसावु है, (१२) जो प्रव्रजित होकर परदत्तभोजी होकर किसी प्रकार का जातिमद नहीं करता।[3]

साधु की ज्ञानादि साधना में तथ्य-अतथ्य विवेक

५६८. णिक्किंचणे भिक्खू सुलूहजीवी, जे गारवं होति सिलोयगामी।
आजीवमेयं तु अवुज्झमाणे, पुणो पुणो विप्परियासुवेति ॥१२॥

५६९. जे भासवं भिक्खु सुसाधुवादी, पडिहाणवं होति विसारए य।
आगाढपण्णे सुविभावितप्पा, अण्णं जणं पण्णसा परिभवेज्जा ॥१३॥

५७०. एवं ण से होति समाहिपत्ते, जे पण्णसा भिक्खु विउक्कसेज्जा।
अहवा वि जे लाभमयावलित्ते, अण्णं जणं खिंसति बालपण्णे ॥१४॥

५७१. पण्णामयं चेव तवोमयं च, णिण्णामए गोयमयं च भिक्खू।
आजीवगं चेव चउत्थमाहु, से पंडिते उत्तमपोग्गले से ॥१५॥

५७२. एताइं मदाइं विगिंच धीरे, ण ताणि सेवंति सुधीरधम्मा।
ते सव्वगोत्तावगता महेसी, उच्चं अगोत्तं च गतिं वयंति ॥१६॥

५७३. भिक्खू मुयच्चा तह दिट्ठधम्मे, गामं च णगरं च अणुप्पविस्सा।
से एसणं जाणमणेसणं च, अण्णस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे ॥१७॥

५६८. जो भिक्षाजीवी साधु अकिंचन-अपरिग्रही है, भिक्षान्न से उदर पोषण करता है, रूखा-सूखा अन्त-प्रान्त आहार करता है। फिर भी यदि वह अपनी ऋद्धि, रस और साता (सुख सामग्री) का गर्व (गौरव) करता है, तथा अपनी प्रशंसा एवं स्तुति की आकांक्षा रखता है, तो उसके ये सब

---

[3] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २३४-२३५
(ख) सूत्र० गा० ५६२, ५६३, ५६६

(अकिंचनता, रूक्षजीविता और भिक्षाजीविता आदि) गुण केवल उसकी आजीविका के साधक हैं। परमार्थ को न जानने वाला वह अज्ञानी पुनः-पुनः विपर्यास—जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक आदि उपद्रवों को प्राप्त होता है।

५६९-५७०. जो भिक्षु भाषाविज्ञ है—भाषा के गुण-दोष का विचार करके बोलता है, तथा हित-मित-प्रिय भाषण करता है, औत्पत्तिकी आदि बुद्धियों से सम्पन्न है, और शास्त्रपाठों की सुन्दर व्याख्या एवं अनेक अर्थ करने में विशारद (निपुण) है, सत्य-तत्त्व निष्ठा में जिसकी प्रज्ञा आगाढ़ (गड़ी हुई) है, धर्म-भावना से जिसका हृदय अच्छी तरह भावित (रंगा हुआ) है, वही सच्चा साधु है, परन्तु इन गुणों से युक्त होने पर भी जो इन गुणों के मद से ग्रस्त होकर दूसरों का अपनी बुद्धि से तिरस्कार करता है, (वह उक्त गुणों पर पानी फेर देता है)।

जो भिक्षु प्रज्ञावान् होकर अपनी जाति, बुद्धि आदि का गर्व करता है, अथवा जो लाभ के मद से अवलिप्त (मत्त) होकर दूसरों की निन्दा करता है, या उन्हें झिड़कता है, वह बालबुद्धि मूर्ख समाधि प्राप्त नहीं कर पाता।

५७१-५७२. भिक्षु प्रज्ञा का मद, तपोमद, गोत्र का मद और चौथा आजीविका का मद मन से निकाल दे—हटा दे। जो ऐसा करता है, वही पण्डित और उत्तम आत्मा है।

धीर पुरुष इन (पूर्वोक्त सभी) मदों (मद स्थानों) को संसार के कारण समझकर आत्मा से पृथक् कर दे। सुधीरता (बुद्धि से सुशोभित) के धर्म-स्वभाव वाले साधु इन जाति आदि मदों का सेवन नहीं करते। वे सब प्रकार के गोत्रों से रहित महर्षिगण, नाम-गोत्रादि से रहित सर्वोच्च मोक्ष गति को प्राप्त होते हैं।

५७३. मृतार्च (शरीर के स्नान-विलेपनादि संस्कारों से रहित अथवा प्रशस्त-मुदित लेश्या वाला) तथा धर्म को जाना-देखा हुआ भिक्षु ग्राम और नगर में (भिक्षा के लिए) प्रवेश करके (सर्वप्रथम) एषणा और अनैषणा को अच्छी तरह जानता हुआ अन्न-पान में आसक्त न होकर (शुद्ध भिक्षा ग्रहण करे)।

विवेचन—साधु की ज्ञानादि साधना में तथ्य-अतथ्य-विवेक—प्रस्तुत ६ सूत्रगाथाओं में ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि की यथातथ्य साधना से सम्पन्न साधु में कहाँ और कितना अतथ्य और तथ्य प्रविष्ट हो सकता है? परिणाम सहित ये दोनों चित्र बहुत ही सुन्दर ढंग से शास्त्रकार द्वारा प्रस्तुत किये गए हैं।

उच्च साधु : परन्तु अतथ्य का प्रवेश—(१) एक साधु सर्वथा अकिञ्चन है, भिक्षान्न से निर्वाह करता है, भिक्षा में भी रूखा-सूखा आहार प्राप्त करके प्राण धारण करता है, इतना उच्चाचारी होते हुए भी यदि वह अपनी ऋद्धि (लब्धि या भक्तों के जमघट का ठाटबाट), रस और साता (सुख-सुविधा) का गर्व करता है, अपनी प्रशंसा और प्रसिद्धि की आकांक्षा करता है तो उपर्युक्त गुण अतथ्य हो जाते हैं। (२) एक साधु बहुभाषाविद् है, सुन्दर उपदेश देता है, प्रतिभा सम्पन्न है, शास्त्र विशारद है, सत्यग्राही प्रज्ञा से सम्पन्न है, धर्म-भावना से अन्तःकरण रंगा हुआ है, इतने गुणों से युक्त होने पर भी

गुणों के मद से ग्रस्त एवं जाति, बुद्धि और लाभ आदि के मद से लिप्त होकर दूसरों का तिरस्कार करता है, दूसरों की निन्दा करता है, उन्हें झिड़कता है, तो उसके ये गुण अतथ्य हो जाते हैं, वह साधक समाधिभ्रष्ट हो जाता है।[४]

सामान्य साधु : तथ्य का प्रवेश—(१) जो भिक्षु प्रज्ञा, तप, गोत्र एवं आजीविका का मद मन से निकाल देता है, वही उच्च कोटि का महात्मा और पण्डित है, (२) जो धीर पुरुष सभी मदों को संसार का कारण समझकर उन्हें आत्मा से पृथक् कर देते हैं, जरा भी मद का सेवन नहीं करते, वे सब प्रकार के गोत्रों से रहित उच्चकोटि के महर्षि हैं, वे गोत्रादिरहित सर्वोच्च मोक्ष गति को प्राप्त होते हैं, (३) जो भिक्षु ग्राम या नगर में भिक्षार्थ प्रवेश करते ही सर्वप्रथम एषणा-अनेषणा का भलीभाँति विचार करता है, तदनन्तर आहार-पानी में आसक्त न होकर शुद्ध भिक्षा ग्रहण करता है, वह प्रशस्त लेश्या सम्पन्न एवं धर्मविज्ञ साधु है। ये तीनों सामान्य साधु भी याथातथ्य प्रवेश होने के कारण उच्चकोटि के बन जाते हैं।[५]

सुसाधु द्वारा यथातथ्य धर्मोपदेश के प्रेरणासूत्र

५७४. अरतिं रतिं च अभिभूय भिक्खू, बहूजणे वा तह एगचारी।
एगंतमोणेण वियागरेज्जा, एगस्स जंतो गतिरागती य ॥१८॥

५७५. सयं समेच्चा अदुवा वि सोच्चा, भासेज्ज धम्मं हितदं पयाणं।
जे गरहिया सणियाणप्पओगा, ण ताणि सेवंति सुधीरधम्मा ॥१९॥

५७६. केसिंचि तक्काइ अबुज्झभावं खुड्डं पि गच्छेज्ज असद्दहाणे।
आयुस्स कालातियारं वघातं, लद्धाणुमाणे य परेसु अट्ठे ॥२०॥

५७७. कम्मं च छंदं च विगिंच धीरे, विणएज्ज उ सव्वतो आयभावं।
रूवेहिं लुप्पंति भयावहेहिं, विज्जं गहाय तसथावरेहिं ॥२१॥

५७८. न पूयणं चेव सिलोयकामी, पियमप्पियं कस्सवि णो कहेज्जा।
सव्वे अणट्ठे परिवज्जयंते, अणाउले या अकसाइ भिक्खू ॥२२॥

५७४. साधु संयम में अरति (अरुचि) और असंयम में रति (रुचि) को त्याग कर बहुत से साधु-जनों के साथ रहता हो या अकेला रहता हो, जो बात मौन (मुनि धर्म या संयम) से सर्वथा

---

[४] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २३५, २३६
(ख) सूयगडंग (मू० पा० टिप्पण) सू० गा० ५६८ से ५७० तक पृ० १०२

[५] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २३७, २३८
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टि०) सू० गा० ५७१ से ५७३ तक पृ० १०३-१०४

अविरुद्ध-संगत हो, वही कहे। (यह ध्यान रखे कि) प्राणी अकेला ही परलोक जाता है, और अकेला ही आता (परलोक से आगति करता) है।

५७५. स्वयं जिनोक्त धर्म सिद्धान्त (चतुर्गतिक संसार उसके मिथ्यात्वादि कारण तथा समस्त कर्मक्षय रूप मोक्ष, एवं उसके सम्यग्दर्शनादि धर्म रूप कारण आदि) को भलीभाँति जानकर अथवा दूसरे से सुनकर प्रजाओं (जनता) के लिए हितकारक धर्म का उपदेश दे। जो कार्य निन्द्य (गर्हित) हैं, अथवा जो कार्य निदान (सांसारिक फलाकांक्षा) सहित किये जाते हैं, सुधीर वीतराग धर्मानुयायी साधक उनका सेवन नहीं करते।

५७६. किन्हीं लोगों के भावों (अभिप्रायों) को अपनी तर्कबुद्धि से न समझा जाए तो वे उस उपदेश पर श्रद्धा न करके क्षुद्रता (क्रोध-आक्रोश-प्रहारादि) पर भी उतर सकते हैं तथा वे (उपदेश देने वाले की दीर्घकालिक) आयु को भी (आघात पहुँचा कर) घटा सकते हैं (उसे मार भी सकते हैं)। इसलिए साधु (पहले) अनुमान से दूसरों का अभिप्राय (भाव) जानकर फिर धर्म का उपदेश दे।

५७७. धीर साधक श्रोताओं के कर्म (जीविका, व्यवसाय या आचरण) एवं अभिप्राय को सम्यक् प्रकार से जानकर (विवेक करके) धर्मोपदेश दे। (उपदेश द्वारा) (श्रोताओं के जीवन में प्रविष्ट) आय भाव को (मिथ्यात्वादि दुष्कर्मों की आय-वृद्धि को अथवा अनादिकालाभ्यस्त मिथ्यात्वादि आत्मभाव को) सर्वथा या सब ओर से दूर करे। तथा उन्हें यह समझाए कि स्त्रियों के (बाहर से सुन्दर दिखाई देने वाले) रूप से (उसमें आसक्त जीव) विनष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार विद्वान् (धर्मोपदेशाभिज्ञ) साधक श्रोताओं (दूसरों) का अभिप्राय जानकर त्रस-स्थावरों के लिए हितकर धर्म का उपदेश करे।

५७८. साधु (धर्मोपदेश के द्वारा) अपनी पूजा (आदर-सत्कार) और श्लाघा (कीर्ति-प्रसिद्धि या प्रशंसा) की कामना न करे, तथा उपदेश सुनने न सुनने या सुनकर आचरण करने न करने वाले पर प्रसन्न या अप्रसन्न होकर किसी का प्रिय (भला) या अप्रिय (बुरा) न करे (अथवा किसी पर राग या द्वेष न करे)। (पूर्वोक्त) सभी अनर्थों (अहितकर बातों) को छोड़ता हुआ साधु आकुलता-रहित एवं कषाय-रहित धर्मोपदेश दे।

विवेचन—सुसाधु द्वारा यथातथ्य धर्मोपदेश के प्रेरणासूत्र—प्रस्तुत पांच सूत्रगाथाओं में सुसाधुओं द्वारा मुनिधर्म की मर्यादा में अबाधक यथातथ्य धर्मोपदेश करने या धर्मयुक्त मार्ग दर्शन देने के कतिपय प्रेरणासूत्र अंकित किये हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) संयम में अरति और असंयम में रति पर विजय पाकर साधु एकान्ततः वही बात कहे, जो मुनिधर्म या संयम से अविरुद्ध या संगत हो, भले ही वह बहुत से साथी साधुओं के साथ रहता हो या अकेला हो।

(२) वह धर्म का महत्त्व बताने हेतु प्रेरणा करे कि जीव अकेला ही कर्म करता है, अकेला ही उसका फल भोगता है, अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरकर परलोक में जाता है, धर्म के सिवाय उसका कोई सहायक नहीं है।

(३) चतुर्गतिक संसार, उसमें परिभ्रमण के मिथ्यात्वादि हेतु कर्मबन्ध, समस्त कर्मक्षयरूप मोक्ष, उसके सम्यग्दर्शनादि कारण आदि सबको सम्यक् जानकर तथा आचार्यादि से सुनकर साधु जनहित-कारक धर्म का उपदेश करे ।

(४) जो कार्य निन्द्य एवं निदान युक्त किये जाते हैं, वीतराग-धर्मानुगामी सुधीर साधक न तो उनका स्वयं आचरण करे, और न ही दूसरों को ऐसे अकरणीय कार्यों की प्रेरणा दे ।

(५) साधु उपदेश देने से पहले श्रोता या परिषद् के अभिप्रायों को अपनी तर्कबुद्धि एवं अनुमान से भली-भांति जान ले, तत्पश्चात् ही उपदेश दे अन्यथा उपदेशक पर अश्रद्धा करके वे क्षुद्रता पर उतर सकते हैं, उस पर पालक द्वारा स्कन्दक मुनिवत् मरणान्तक प्रहारादि भी कर सकते हैं ।

(६) धीर साधक श्रोताओं के कर्म (आचरण या व्यवसाय) एवं अभिप्राय: का समीचीन विचार करके त्रस-स्थावर जीवों के लिए हितकर धर्म का उपदेश दे ।

(७) वह इस प्रकार का उपदेश दे, जिससे श्रोताओं के मिथ्यात्वादि-जनित कर्म दूर हों, जैसे—बाहर से सुन्दर दिखाई देने वाले नारीरूप में आसक्त जीव विनष्ट हो जाते हैं, इत्यादि बातें श्रोताओं के दिमाग में युक्तिपूर्वक ठसाने से उनकी विषयों के प्रति आसक्ति दूर हो सकती है ।

(८) साधु अपनी पूजा, सत्कार प्रशंसा, कीर्ति या प्रसिद्धि आदि प्राप्त करने की दृष्टि से धर्मोपदेश न दे ।

(९) उपदेश सुनने न सुनने अथवा उपदेश के अनुसार आचरण करने न करने वाले पर प्रसन्न या अप्रसन्न होकर या राग या द्वेष से प्रेरित होकर साधु किसी का इष्ट (प्रिय) या अनिष्ट न करे, अथवा श्रोता को प्रिय लगने वाली स्त्रीविकथा, राजविकथा, भोजनविकथा, देशविकथा अथवा सावद्यप्रवृत्ति प्रेरक कथा न करे, न ही किसी समूह को अप्रिय लगने वाली, उस समूह के देव, गुरु की कटु शब्दों में आलोचना, निन्दा, मिथ्या आक्षेप आदि से युक्त कथा करे ।

(१०) पूर्वोक्त सभी अनर्थों का परित्याग करके साधु शान्त, अनाकुल, एवं कषाय-रहित होकर धर्मोपदेश दे ।[६]

साधु धर्म का यथातथ्यरूप में प्राणप्रण से पालन करे

५७९. आहत्तहियं समुपेहमाणे सव्वेहि पाणेहि निहाय दंडं ।
नो जीवियं नो मरणाभिकंखी, परिव्वएज्जा वलयाविमुक्के ।।२३।।

।। आहत्तहियं : तेरसमं अज्झयणं सम्मत्तं ।।

---

[६] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २३८-२३९

५७९. साधु यथातथ्य धर्म को (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म को स्व-पर सिद्धान्त को यथातथ्यरूप में) भली-भाँति जानता-देखता हुआ समस्त प्राणियों को दण्ड देना (प्राण-हनन करना) छोड़कर अपने जीवन एवं मरण की आकांक्षा न करे, तथा माया से विमुक्त होकर संयमाचरण में उद्यत रहे।

विवेचन—साधुधर्म का यथातथ्य रूप में प्राणप्रण से पालन करे—प्रस्तुत सूत्र अध्ययन का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार किसी भी मूल्य पर यथातथ्यरूप में सम्यग्दर्शनादि रूप धर्म का पालन करने, उसी का चिन्तन-मनन करने और जीवन-मरण की आकांक्षा न करते हुए निश्छल भाव से उसी का अनुसरण करने का निर्देश करते हैं। वृत्तिकार इस सम्वन्ध में स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि धर्म, मार्ग, समवसरण आदि पिछले अध्ययनों में कथित सम्यक्त्व, चारित्र एवं ज्ञान के तत्त्वों पर सूत्रानुसार यथातथ्य चिन्तन, मनन, एवं आचरण करे। प्राण जाने का अवसर आए तो भी यथातथ्य धर्म का अतिक्रमण न करे। असंयम के साथ या प्राणिवध करके चिरकाल तक जीने की आकांक्षा न करे तथैव परीषह उपसर्ग आदि से पीड़ित होने पर शीघ्र मृत्यु की आकांक्षा न करे।[७]

।। यथातथ्य : तेरहवाँ अध्ययन समाप्त ।।

□□

---

[७] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २४० का सार

ग्रन्थ : चतुर्दश अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग सूत्र (प्र० श्रु०) के चौदहवें अध्ययन का नाम 'ग्रन्थ' है।

☐ ग्रन्थ शब्द गांठ, पुस्तक एवं वाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

☐ निर्युक्तिकार के अनुसार ग्रन्थ शब्द का अर्थ वाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह हैं। बाह्यग्रन्थ के मुख्य १० प्रकार हैं—(१) क्षेत्र, (२) वस्तु, (३) धन-धान्य, (४) ज्ञातिजन, मित्र तथा द्विपद—चतुष्पद जीव, (५) वाहन, (६) शयन, (७) आसन, (८) दासी-दास, (९) स्वर्ण-रजत, और (१०) विविध साधन-सामग्री। इन वाह्य पदार्थों में मूर्च्छा रखना ही वास्तव में ग्रन्थ है। आभ्यन्तर ग्रन्थ के मुख्य १४ प्रकार हैं—(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया, (४) लोभ, (५) राग (मोह), (६) द्वेष, (७) मिथ्यात्व, (८) काम (वेद), (९) रति (असंयम में रुचि) (१०) अरति (संयम में अरुचि), (११) हास्य, (१२) शोक, (१३) भय और (१४) जुगुप्सा।

☐ उत्तराध्ययन सूत्र के क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय अध्ययन के अनुसार जो इन दोनों प्रकार के ग्रन्थों का त्याग कर देता है, जिसे इन द्विविध ग्रन्थों से लगाव, आसक्ति या रुचि नहीं है, तथा निर्ग्रन्थ मार्ग की प्ररूपणा करने वाले आचारांग आदि ग्रन्थों का जो अध्ययन, प्रशिक्षण करते हैं, वे निर्ग्रन्थ-शिष्य कहलाते हैं।

☐ निर्ग्रन्थ-शिष्य को गुरु के पास रहकर ज्ञपरिज्ञा से वाह्य आभ्यन्तर ग्रन्थों को जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्यागना चाहिए। इत्यादि ग्रन्थविषयक प्रेरणा मुख्य होने से इस अध्ययन का नाम 'ग्रन्थ' रखा गया है। अथवा इस अध्ययन के प्रारम्भ में गंथं (ग्रन्थ) शब्द का प्रयोग होने से इसका नाम 'ग्रन्थ' है।[1]

☐ शिष्य दो प्रकार के होते हैं—दीक्षाशिष्य और शिक्षाशिष्य। जो दीक्षा देकर शिष्य बनाया जाता है, वह दीक्षाशिष्य कहलाता है, तथा जो शैक्ष आचार्य आदि से पहले आचरण या (इच्छा,

---

१. (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा १२७ से १३१ तक
(ख) सूत्र कृ० शी० वृत्ति पत्रांक २४१

मिच्छा, तहक्कार आदि) की शिक्षा लेता है, वह शिक्षाशिष्य कहलाता है। शिष्य की तरह आचार्य या गुरु भी दो प्रकार के होते हैं—दीक्षागुरु और शिक्षागुरु। अतः इस अध्ययन में मुख्यतया यह बताया गया है कि ग्रन्थ-त्यागी शिक्षा शिष्य (शैक्षिक) और शिक्षागुरु कैसे होने चाहिए ? उन्हें कैसी प्रवृत्ति करनी चाहिए ? उनके दायित्व-और कर्तव्य क्या-क्या हैं ? इन सब तथ्यों का २७ गाथाओं द्वारा इस अध्ययन में निरूपण किया गया है।[२]

☐ यह अध्ययन ५८० सूत्रगाथा से प्रारम्भ होकर सूत्रगाथा ६०६ पर समाप्त होता है।

☐☐

---

[२] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २४१
(ख) जैन साहित्य का बृहद इतिहास भा० १ पृ० १५४

गंथो : चउद्दसमं अज्झयणं

ग्रन्थ : चतुर्दश अध्ययन

ग्रन्थ त्यागी के लिए गुरुकुलवास का महत्त्व और लाभ

५८०. गंथं विहाय इह सिक्खमाणो, उट्ठाय सुबंभचेरं वसेज्जा।
ओवायकारी विणयं सुसिक्खे, जे छेए विप्पमादं न कुज्जा ॥१॥

५८१. जहा दियापोतमपत्तजातं, सावासगा पविउं मण्णमाणं।
तमचाइयं तरुणमपत्तजातं, ढंकादि अव्वत्तगमं हरेज्जा ॥२॥

५८२. एवं तु सेहं पि अपुट्ठधम्मं, निस्सारियं वुसिमं मण्णमाणा।
दियस्स छावं व अपत्तजातं, हरिंसु णं पावधम्मा अणेगे ॥३॥

५८३. ओसाणमिच्छे मणुए समाहिं, अणोसिते णंतकरे ति णच्चा।
ओभासमाणो दवियस्स वित्तं, ण णिक्कसे वहिया आसुपण्णे ॥४॥

५८४. जे ठाणओ या सयणासणे या, परक्कमे यावि सुसाधुजुत्ते।
समितीसु गुत्तीसु य आयपण्णे, वियागरते य पुढो वदेज्जा ॥५॥

५८०. इस लोक में वाह्य-आभ्यन्तर ग्रन्थ—परिग्रह का त्याग करके प्रव्रजित होकर मोक्षमार्ग-प्रतिपादक शास्त्रों के ग्रहण, (अध्ययन), और आसेवन-(आचरण) रूप में गुरु से सीखता हुआ साधक सम्यक्‌रूप से ब्रह्मचर्य (नवगुप्ति सहित ब्रह्मचर्य या संयम में) स्थित रहे अथवा गुरुकुल में वास करे। आचार्य या गुरु के सान्निध्य में अथवा उनकी आज्ञा में रहता हुआ शिष्य विनय का प्रशिक्षण ले। (संयम या गुरु-आज्ञा के पालन में) निष्णात साधक (कदापि) प्रमाद न करे।

५८१-५८२. जैसे कोई पक्षी का वच्चा पूरे पंख आये विना अपने आवासस्थान (घोंसले) से उड़कर अन्यत्र जाना चाहता है, वह तरुण-(वाल) पक्षी उड़ने में असमर्थ होता है। थोड़ा-थोड़ा पंख फड़फड़ाते देखकर ढंक आदि मांस-लोलुप पक्षी उसका हरण कर लेते हैं और मार डालते हैं।

इसी प्रकार जो साधक अभी श्रुत-चारित्र धर्म में पुष्ट—परिपक्व नहीं है, ऐसे शैक्ष (नवदीक्षित शिष्य) को अपने गच्छ (संघ) से निकला या निकाला हुआ तथा वश में आने योग्य जानकर अनेक पाषण्डी परतीर्थिक पंख न आये हुए पक्षी के बच्चे की तरह उसका हरण कर लेते (धर्म भ्रष्ट कर देते) हैं।

५८३. गुरुकुल में निवास नहीं किया हुआ साधकपुरुष अपने कर्मों का अन्त नहीं कर पाता, यह जानकर गुरु के सान्निध्य में निवास और समाधि की इच्छा करे। मुक्तिगमनयोग्य (द्रव्यभूत-निष्कलंक चारित्रसम्पन्न) पुरुष के आचरण (वृत्त) को अपने सदनुष्ठान से प्रकाशित करे। अतः आशुप्रज्ञ साधक गच्छ से या गुरुकुलवास से बाहर न निकले।

५८४. गुरुकुलवास से साधक स्थान—(कायोत्सर्ग), शयन (शय्या-संस्तारक, उपाश्रय-शयन आदि) तथा आसन, (आसन आदि पर उपवेशन-विवेक, गमन-आगमन, तपश्चर्या आदि) एवं संयम में पराक्रम के (अभ्यास) द्वारा सुसाधु के समान आचरण करता है। तथा समितियों और गुप्तियों के विषय में (अभ्यस्त होने से) अत्यन्त प्रज्ञावान् (अनुभवी) हो जाता है, वह समिति-गुप्ति आदि का यथार्थस्वरूप दूसरों को भी बताता है।

विवेचन—ग्रन्थत्यागी नव प्रव्रजित के लिए गुरुकुलवास का महत्त्व और लाभ—प्रस्तुत पांचसूत्रों में साधु के लिए गुरुकुलवास का महत्त्व और लाभ निम्नोक्त पहलुओं से बताया गया है—(१) नवदीक्षित साधु को ग्रहणशिक्षा और आसेवन शिक्षा से निपुण होने के लिए गुरुकुल में रहना आवश्यक है, (२) गुरु या आचार्य के सान्निध्य में रह कर आज्ञा पालन विनय; सेवा-शुश्रुषा आदि का सम्यक् प्रशिक्षण ले। (३) आचार्य के आदेश-निर्देश या संयम के पालन में प्रमाद न करे। (४) पंख आए बिना ही उड़ने के लिए मचलने वाले पक्षी के बच्चे को मांस-लोलुप ढंकादि पक्षी धर दबाते हैं, वैसे ही गुरु के सान्निध्य में शिक्षा पाए बिना ही गच्छनिर्गत अपरिपक्व साधक को अकेला विचरण करते देख अन्यतीर्थिक लोग बहकाकर मार्गभ्रष्ट कर सकते हैं। (५) गुरुकुलवास न करने वाला स्वच्छन्दाचारी साधक कर्मों का अन्त नहीं कर पाता, (६) अतः साधक अनेक गुण वर्द्धक गुरुकुलवास में रहकर समाधि प्राप्त करे। (७) पवित्र पुरुष के आचरण को अपने सदनुष्ठान से प्रकाशित करे, (८) गुरुकुलवास से साधक कायोत्सर्ग, शयन, आसन, गमनागमन, तपश्चरण, जप, संयम-नियम, त्याग आदि साध्वाचार में सुसाधु (परिपक्व साधु) के उपयुक्त बन जाता है। वह समिति गुप्ति आदि के अभ्यास में दीर्घदर्शी, अनुभवी और यथार्थ उपदेष्टा बन जाता है।[1]

दो प्रकार की शिक्षा—गुरु या आचार्य के सान्निध्य में रह कर दो प्रकार की शिक्षा प्राप्त की जाती है—(१) ग्रहण शिक्षा और (२) आसेवन शिक्षा। ग्रहण शिक्षा में शास्त्रों और सिद्धान्तों के अध्ययन और रहस्य का ग्रहण किया जाता है आसेवन शिक्षा में महाव्रत, समिति, गुप्ति, ध्यान, कायोत्सर्ग, जप, तप, त्याग, नियम आदि चारित्र का अभ्यास किया जाता है। वास्तव में इन दोनों प्रकार की शिक्षाओं से साधु का सर्वांगीण विकास हो जाता है।[2]

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २४२-२४३ का सारांश

[2] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २४१

'सुवंभचेरं वसेज्जा'—आचारांग सूत्र के अनुसार ब्रह्मचर्य में निवास करने के चार अर्थ फलित होते हैं—(१) ब्रह्म (आत्मा या परमात्मा) में विचरण करना, (२) मैथुनविरति—सर्वेन्द्रिय-संयम, (३) सदाचार और (४) गुरुकुल में वास।

'ठाणओ'—में ठाण, (स्थान) शब्द भी पारिभाषिक है। स्थान शब्द भी आचारांग के अनुसार यहां कायोत्सर्ग अर्थ में है।[3]

गुरुकुलवासी साधु द्वारा शिक्षा-ग्रहण-विधि

५८५. सद्दाणि सोच्चा अदु भेरवाणि, अणासवे तेसु परिव्वएज्जा।
निद्दं च भिक्खू न पमाय कुज्जा, कहंकहं पी वितिगिच्छतिण्णे ॥६॥

५८६. डहरेण वुड्ढेणऽणुसासिते ऊ, रातिणिएणावि समव्वएणं।
सम्मं तगं थिरतो णाभिगच्छे, णिज्जंतए वा वि अपारए से ॥७॥

५८७. विउट्ठितेणं समयाणुसिट्ठे डहरेण वुड्ढेण व चोइतेतु।
अच्चुट्ठिताए घडदासिए वा, अगारिणं वा समयाणुसिट्ठे ॥८॥

५८८. ण तेसु कुज्झे ण य पव्वहेज्जा, ण यावि किंचि फरुसं वदेज्जा।
तहा करिस्सं ति पडिस्सुणेज्जा, सेयं खु मेयं ण पमाद कुज्जा ॥९॥

५८९. वणंसि मूढस्स जहा अमूढा, मग्गाणुसासंति हितं पयाणं।
तेणावि मज्झं इणमेव सेयं, जं मे बुहा सम्मऽणुसासयंति ॥१०॥

५९०. अह तेण मूढेण अमूढगस्स, कायव्व पूया सविसेसजुत्ता।
एतोवमं तत्थ उदाहु वीरे, अणुगम्म अत्थं उवणेति सम्मं ॥११॥

५९१. णेया जहा अंधकारंसि राओ, मग्गं ण जाणाइ अपस्समाणं।
से सूरियस्स अब्भुग्गमेणं, मग्गं विजाणाति पगासियंसि ॥१२॥

५९२. एवं तु सेहे वि अपुट्ठधम्मे, धम्मं न जाणाति अबुज्झमाणे।
से कोविए जिणवयणेण पच्छा, सूरोदए पासति चक्खुणेव ॥१३॥

५९३. उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा।
सया जते तेसु परिव्वएज्जा, मणप्पदोसं अविकंपमाणे ॥१४॥

---

[3] देखिए आचा० द्वि० श्रु० अ० २ उ० १ सू० ४१२ में 'ठाणे वा सेज्जं वा....' का विवेचन तथा प्र० श्रु० के सूत्र १४३ में 'वसित्ता बंभचेरं' पद का विवेचन।

५९४. कालेण पुच्छे समियं पयासु, आइक्खमाणो दवियस्स वित्तं ।
तं सोयकारी य पुढो पवेसे, संखा इमं केवलियं समाहिं ॥१५॥

५९५. अस्सिं सुठिच्चा तिविहेण तायी, एतेसु या संति निरोहमाहु ।
ते एवमक्खंति तिलोगदंसी, ण भुज्जमेतं ति पमायसंगं ॥१६॥

५९६. णिसम्म से भिक्खु समीहमट्ठं, पडिभाणवं होति विसारते या ।
आयाणमट्ठी वोदाण मोणं, उवेच्च सुद्धेण उवेति मोक्खं ॥१७॥

५८५. ईर्यासमिति आदि से युक्त साधु मधुर या भयंकर शब्दों को सुनकर उनमें मध्यस्थ—रागद्वेष रहित होकर संयम में प्रगति करे, तथा निद्रा-प्रमाद एवं विकथा—कषायादि प्रमाद न करे। (गुरुकुल निवासी अप्रमत्त) साधु को कहीं किसी विषय में विचिकित्सा—शंका हो जाए तो वह (गुरु से समाधान प्राप्त करके) उससे पार (निश्शंक) हो जाए।

५८६. गुरु सान्निध्य में निवास करते हुए साधु से किसी विषय में प्रमादवश भूल हो जाए तो अवस्था और दीक्षा में छोटे या बड़े साधु द्वारा अनुशासित (शिक्षित या निवारित) किये जाने पर अथवा भूल सुधारने के लिए प्रेरित किये जाने पर जो साधक उसे सम्यक्तया स्थिरतापूर्वक स्वीकार नहीं करता, वह संसार-समुद्र को पार नहीं कर पाता।

५८७-५८८. साध्वाचार के पालन में कहीं भूल होने पर परतीर्थिक, अथवा गृहस्थ द्वारा आर्हत् आगम विहित आचार की शिक्षा दिये जाने पर या अवस्था में छोटे या वृद्ध के द्वारा प्रेरित किये जाने पर, यहाँ तक कि अत्यन्त तुच्छ कार्य करने वाली घटदासी (घड़ा भरकर लाने वाली नौकरानी) द्वारा अकार्य के लिए निवारित किये जाने पर अथवा किसी के द्वारा यह कहे जाने पर कि "यह कार्य तो गृहस्थाचार के योग्य भी नहीं है, साधु की तो बात ही क्या है ?"

इन (पूर्वोक्त विभिन्न रूप से) शिक्षा देने वालों पर साधु क्रोध न करे, (परमार्थ का विचार करके) न ही उन्हें दण्ड आदि से पीड़ित करे, और न ही उन्हें पीड़ाकारी कठोर शब्द कहे; अपितु 'मैं भविष्य में ऐसा (पूर्वऋषियों द्वारा आचरित) ही करूँगा' इस प्रकार (मध्यस्थवृत्ति से) प्रतिज्ञा करे, (अथवा अपने अनुचित आचरण के लिए 'मिच्छामि दुक्कड़' के उच्चारणपूर्वक आत्म-निन्दा के द्वारा उससे निवृत हो) साधु सही समझे कि इसमें (प्रसन्नतापूर्वक) अपनी भूल स्वीकार करके उससे निवृत्त होने में) मेरा ही कल्याण है। ऐसा समझकर वह (फिर कभी वैसा) प्रमाद न करे।

५८९. जैसे यथार्थ और अयथार्थ मार्ग को भली-भाँति जानने वाले व्यक्ति घोर वन में मार्ग भूले हुए दिशामूढ़ व्यक्ति को कुमार्ग से हटा कर जनता के लिए हितकर मार्ग बता देते (शिक्षा देते) हैं, इसी तरह मेरे लिए भी यही कल्याणकारक उपदेश है, जो ये वृद्ध, बड़े या तत्त्वज्ञ पुरुष (बुधजन) मुझे सम्यक् अच्छी शिक्षा देते हैं।

५९० उस मूढ (प्रमादवश मार्गभ्रष्ट) पुरुष को उस अमूढ (मार्गदर्शन करने या जाग्रत करने वाले पुरुष) का उसी तरह विशेष रूप से (उसका परम उपकार मानकर) आदर-सत्कार (पूजा) करना

चाहिए, जिस तरह मार्गभ्रष्ट पुरुष सही मार्ग पर चढ़ाने और बताने वाले व्यक्ति की विशेष सेवा-पूजा आदर सत्कार करता है। इस विषय में वीर प्रभु ने यही उपमा (तुलना) बताई है। अतः पदार्थ (परमार्थ) को समझकर प्रेरक के उपकार (उपदेश) को हृदय में सम्यक्‌रूप से स्थापित करे।

५९१-५९२. जैसे अटवी आदि प्रदेशों से भलीभाँति परिचित मार्गदर्शक (नेता) भी अंधेरी रात्रि में कुछ भी न देख पाने के कारण मार्ग को भली-भाँति नहीं जान पाता; परन्तु वही पुरुष (मार्गदर्शक) सूर्य के उदय होने से चारों ओर प्रकाश फैलने पर मार्ग को भलीभाँति जान लेता है।

इसी तरह धर्म में अनिपुण—अपरिपक्व शिष्य भी सूत्र और अर्थ को नहीं समझता हुआ धर्म (श्रमणधर्म तत्त्व) को नहीं जान पाता; किन्तु वही अवोध शिष्य एक दिन जिनवचनों के अध्ययन-अनुशीलन से विद्वान् हो जाता है। फिर वह धर्म को इस प्रकार स्पष्ट जान लेता है जिस प्रकार सूर्योदय होने पर आँख के द्वारा व्यक्ति घट-पट आदि पदार्थों को स्पष्ट जान-देख लेता है।

५९३. गुरुकुलवासी एवं जिनवचनों का सम्यक् ज्ञाता साधु ऊँची, नीची और तिरछी दिशाओं में जो भी त्रस और स्थावर प्राणी रहते हैं, उनकी हिंसा जिस प्रकार से न हो, उस प्रकार की यतना (यत्न) करे तथा संयम में पुरुषार्थ करे एवं उन प्राणियों पर लेशमात्र भी द्वेष न करता हुआ संयम में निश्चल रहे।

५९४. गुरुकुलवासी साधु (प्रश्न करने योग्य) अवसर देख कर सम्यग्ज्ञान सम्पन्न आचार्य से प्राणियों के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे। तथा मोक्षगमन योग्य (द्रव्य) सर्वज्ञ वीतराग प्रभु के आगम (ज्ञान-धन) को वताने वाले आचार्य की पूजा-भक्ति करे। आचार्य का आज्ञाकारी शिष्य उनके द्वारा उपदिष्ट केवलिप्ररूपित सम्यग्ज्ञानादिरूप समाधि को भलीभाँति जानकर उसे हृदय में स्थापित करे।

५९५. इसमें (गुरुकुलवास काल में) गुरु से जो उपदेश सुना और हृदय में भलीभाँति अवधारित किया, उस समाधिभूत मोक्षमार्ग में अच्छी तरह स्थित होकर मन-वचन-काया से कृत, कारित और अनुमोदित रूप से स्व-पर-त्राता (अपनी आत्मा का और अन्य प्राणियों का रक्षक) बना रहे। इन समिति-गुप्ति आदि रूप समाधिमार्गो में स्थिर हो जाने पर सर्वज्ञों ने शान्तिलाभ और कर्म-निरोध (समस्त कर्मक्षय) वताया है। वे त्रिलोकदर्शी महापुरुष कहते हैं कि साधु को फिर कभी प्रमाद का संग नहीं करना चाहिए।

५९६. गुरुकुलवासी वह साधु उत्तम साधु के आचार को सुनकर अथवा स्वयं अभीष्ट अर्थ—मोक्ष रूप अर्थ को जानकर गुरुकुलवास से प्रतिभावान् एवं सिद्धान्त विशारद (स्वसिद्धान्त का सम्यग्ज्ञाता होने से श्रोताओं को यथार्थ-वस्तु-तत्त्व के प्रतिपादन में निपुण) हो जाता है। फिर सम्यग्ज्ञान आदि से अथवा मोक्ष से प्रयोजन रखने वाला (आदानार्थी) वह साधु तप (व्यवदान) और मौन (संयम) को (ग्रहण रूप एवं आसेवन रूप शिक्षा द्वारा) उपलब्ध करके शुद्ध (निरुपाधिक उद्गमादि दोष रहित) आहार से निर्वाह करता हुआ समस्त कर्मक्षयरूप मोक्ष को प्राप्त करता है।

विवेचन—गुरुकुलवासी साधु द्वारा शिक्षा-ग्रहण विधि—प्रस्तुत १२ सूत्रगाथाओं द्वारा शास्त्रकार ने विभिन्न पहलुओं से गुरुकुलवासी साधु द्वारा ली जाने वाली शिक्षा की विधि वताई है। शिक्षा

ग्रहण विधि के निम्नलिखित प्रेरणा सूत्र इन गाथाओं से फलित होते हैं—(१) गुरुकुलवासी साधु विषय, निद्रा, विकथा, कषाय आदि प्रमादों को पास में न फटकने दे, (२) गृहीत महाव्रतों के पालन आदि किसी विषय में शंका या भ्रान्ति हो तो गुरुकृपा से साधक उससे पार हो जाए, (३) प्रमादवश साधुचर्या में कहीं भूल हो जाए और उसे कोई दीक्षा ज्येष्ठ, वयोवृद्ध या लघु साधक अथवा समवयस्क साधक सुधारने के लिए प्रेरित करें या शिक्षा दें तो गुरुकुलवासी साधु उसे सम्यक् प्रकार से स्थिरता के साथ स्वीकार कर ले, किन्तु प्रतिवाद न करे, अन्यथा वह संसार के प्रवाह में वह जाएगा, उसे पार नहीं कर सकेगा, (४) साध्वाचारपालन में कहीं त्रुटि हो जाने पर गृहस्थ या मिथ्यादृष्टि जैनागम-विहित आचार की दृष्टि से शिक्षा दे, अथवा कोई लघुवयस्क या वृद्ध कुत्सिताचार में प्रवृत्त होने पर सावधान करे, यही नहीं, तुच्छ कार्य करने वाली घटदासी भी किसी अकार्य से रोके, अथवा कोई यह कहे कि यह कार्य गृहस्थ योग्य भी नहीं है, ऐसी स्थिति में गुरुकुलवासी साधु उन पर क्रोध, प्रहार, आक्रोश या पीड़ाजनक शब्द-प्रयोग न करे, अपितु प्रसन्नतापूर्वक अपनी भूल स्वीकार करे, (५) उन बुधजनों या हितैषियों की शिक्षा को अपने लिए श्रेयस्कर समझे, (६) उनको उपकारी मानकर उनका आदर-सत्कार करे, (७) गुरुकुलवास में विधिवत् शिक्षा ग्रहण न करने से धर्म में अनिपुण शिष्य सूत्र, अर्थ एवं श्रमणधर्म के तत्त्व को नहीं जानता, जबकि गुरु शिक्षा-प्राप्त वही साधक जिन-वचनों के अध्ययन से विद्वान् होकर सभी पदार्थों का यथार्थ स्वरूप स्पष्टतः जान लेता है, (८) गुरुकुलवासी साधक किसी भी प्राणी की हिंसा न हो, इस प्रकार से यतना करे, प्राणियों पर जरा भी द्वेष न करता हुआ संयम (पंच महाव्रतादि रूप) में निश्चल रहे, (९) योग्य अवसर देखकर वह आचार्य से प्राणियों के सम्बन्ध में पूछे, (१०) आगम ज्ञानोपदेष्टा आचार्य की सेवा-भक्ति करे, उनके द्वारा उपदिष्ट सम्यग्दर्शनादि रूप समाधि को हृदयंगम करे, (११) गुरुकुलवास काल में गुरु से जो कुछ सुना, सीखा, हृदयंगम किया, उस समाधिभूत मोक्ष-मार्ग में स्थित होकर त्रिकरण त्रियोग से स्व-पर-त्राता बने। (१२) समिति-गुप्ति आदि रूप समाधिमार्गों में स्थिर हो जाने से गुरुकुलवासी साधक को शान्तिलाभ और समस्त कर्मक्षय का लाभ होता है, यदि वह कदापि प्रमादासक्त न हो, (१३) गुरुकुलवासी साधक उत्तम साध्वाचार या मोक्षरूप अर्थ को जान-सुनकर प्रतिभावान् एवं सिद्धान्त विशारद बन जाता है, (१४) फिर वह मोक्षार्थी साधक तप एवं संयम को उपलब्ध करके शुद्ध आहार से निर्वाह करता हुआ मोक्ष प्राप्त कर लेता है।[५]

निष्कर्ष—गुरुकुलवास करने वाले साधक का सर्वांगीण जीवन-निर्माण एवं विकास तभी हो सकता है, जब वह गुरुकुलवास में अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति एवं चर्या को गुरु के अनुशासन में करे, अप्रमत्त होकर अपनी भूल सुधारता हुआ बाह्य-आभ्यन्तर तप, संयम तथा क्षमा, मार्दव आदि श्रमणधर्म का अभ्यास करे। गुरुकुलवासकालीन शिक्षा में अनुशासन, प्रशिक्षण, उपदेश, मार्गदर्शन, अध्ययन, अनुशीलन आदि प्रक्रियाओं का समावेश है।

पाठान्तर और व्याख्या—**'तेणावि'** के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'तेणेव मे'**; व्याख्या की गयी है—उस असत कार्य करने वाले द्वारा प्रेरित किये जाने पर भी कुपित नहीं होना चाहिए। **'दवियस्स'** के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'दविअस्स'**; व्याख्या की गई है—**दविअ**—(द्वि-वीत)

---

[५] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २४४ से २४७ तक का सारांश

का अर्थ है—दोनों से राग और द्वेष से रहित। 'समीहमट्ठं' के बदले वृत्तिकारसम्मत पाठान्तर है—'समीहियट्ठं; अर्थात्—सम्+ईहित+अभीष्ट=मोक्ष रूप अर्थ को। 'सुद्धेण उवेतिमोक्खं' के बदले पाठान्तर है—'सुद्धे न उवेतिमारं'—तप, संयम आदि से आत्मा शुद्ध होने पर या शुद्ध मार्ग का आश्रय लेने पर साधक मार अर्थात् संसार को अथवा मृत्यु को नहीं प्राप्त करता।[६]

गुरुकुलवासी साधु द्वारा भाषा-प्रयोग के विधि-निषेध सूत्र

५९७. संखाय धम्मं च वियागरेंति, बुद्धा हु ते अंतकरा भवंति।
ते पारगा दोण्ह वि मोयणाए, संसोधितं पण्हमुदाहरंति ॥१८॥

५९८. नो छादते नो वि य लूसएज्जा, माणं ण सेवेज्ज पगासणं च।
ण यावि पण्णे परिहास कुज्जा, ण याऽऽसिसावाद वियागरेज्जा ॥१९॥

५९९. भूताभिसंकाए दुगुंछमाणो, ण णिव्वहे मंतपदेण गोत्तं।
ण किंचि मिच्छे मणुओ पयासु, असाहुधम्माणि ण संवदेज्जा ॥२०॥

६००. हासं पि णो संधये पावधम्मं, ओए तहियं फरुसं वियाणे।
नो तुच्छए नो व विकंथतिज्जा, अणाइले या अकसाइ भिक्खू ॥२१॥

६०१. संकेज्ज याऽसंकितभाव भिक्खू, विभज्जवादं च वियागरेज्जा।
भासादुगं धम्म समुट्ठितेहिं, वियागरेज्जा समया सुपण्णे ॥२२॥

६०२. अणुगच्छमाणे वितहं भिजाणे, तहा तहा साहु अकक्कसेणं।
ण कत्थती भास विहिंसएज्जा, निरुद्धगं वा वि न दीहएज्जा ॥२३॥

६०३. समालवेज्जा पडिपुण्णभासी, निसामिया समिया अट्ठदंसी।
आणाए सुद्धं वयणं भिउंजे, भिसंधए पावविवेग भिक्खू ॥२४॥

६०४. अहाबुइयाइं सुसिक्खएज्जा, जएज्ज य णातिवेलं वदेज्जा।
से दिट्ठिमं दिट्ठि ण लूसएज्जा, से जाणति भासिउं तं समाहिं ॥२५॥

६०५. अलूसए णो पच्छण्णभासी, णो सुत्तमत्थं च करेज्ज ताई।
सत्थारभत्ती अणुवीति वायं, सुयं च सम्मं पडिवातएज्जा ॥२६॥

---

[६] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २४५ से २४७ तक
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० १०७-१०८

६०६. से सुद्धसुत्ते उवहाणवं च, धम्मं च जे विंदति तत्थ तत्थ ।
आदेज्जवक्के कुसले वियत्ते, से अरिहति भासिउं तं समाहिं ॥२७॥
त्ति बेमि ।

॥ गंथो : चउद्दसमं अज्झयणं सम्मत्तं ॥

५९७. (गुरुकुलवासी होने से धर्म में सुस्थित, बहुश्रुत, प्रतिभावान् एवं सिद्धान्त विशारद) साधु सद्बुद्धि से (स्व-पर-शक्ति को, पर्षदा को या प्रतिपाद्य विषय को सम्यक्तया जान कर) दूसरे को श्रुतचारित्र-रूप धर्म का उपदेश देते हैं (धर्म की व्याख्या करते हैं)। वे बुद्ध-त्रिकालवेत्ता होकर जन्म-जन्मान्तर-संचित कर्मों का अन्त करने वाले होते हैं, वे स्वयं और दूसरों को कर्मपाश से अथवा ममत्वरूपी बेड़ी से मुक्त (छुड़ा) करके संसार-पारगामी हो जाते हैं। वे सम्यक्तया सोच-विचार कर (प्रश्नकर्ता कौन है ? यह किस पदार्थ को समझ सकता है, मैं किस विषय का प्रतिपादन करने में समर्थ हूँ ? इन बातों की भली-भाँति परीक्षा करके) प्रश्न का संशोधित (पूर्वापर अविरुद्ध) उत्तर देते हैं।

५९८. साधु प्रश्नों का उत्तर देते समय शास्त्र के यथार्थ अर्थ को न छिपाए (अथवा वह अपने गुरु या आचार्य का नाम या अपना गुणोत्कर्ष बताने के अभिप्राय से दूसरों के गुण न छिपाए), अपसिद्धान्त का आश्रय लेकर शास्त्रपाठ की तोड़-मरोड़कर व्याख्या न करे, (अथवा दूसरों के गुणों को दूषित न करे), तथा वह मैं ही सर्वशास्त्रों का ज्ञाता और महान् व्याख्याता हूँ, इस प्रकार मान—गर्व न करे, न ही स्वयं को बहुश्रुत एवं महातपस्वी रूप से प्रकाशित करे अथवा अपने तप, ज्ञान, गुण आदि को प्रसिद्ध न करे। प्राज्ञ (श्रुतधर) साधक श्रोता (मन्द बुद्धि व्यक्ति) का परिहास भी न करे, और न ही (तुम पुत्रवान्, धनवान् या दीर्घायु हो इत्यादि इस प्रकार का) आशीर्वादसूचक वाक्य कहे।

५९९. प्राणियों के विनाश की आशंका से तथा पाप से घृणा करता हुआ साधु किसी को आशीर्वाद न दे, तथा मंत्र आदि के पदों का प्रयोग करके गोत्र (वचनगुप्ति या वाक्संयम अथवा मौन) को निःसार न करे, (अथवा साधु राजा आदि के साथ गुप्त मंत्रणा करके या राजादि को कोई मंत्र देकर गोत्र—प्राणियों के जीवन का नाश न कराए) साधु पुरुष धर्मकथा या शास्त्रव्याख्यान करता हुआ जनता (प्रजा) से द्रव्य या किसी पदार्थ के लाभ, सत्कार या भेंट, पूजा आदि की अभिलाषा न करे, असाधुओं के धर्म (वस्तुदान, तर्पण आदि) का उपदेश न करे (अथवा असाधुओं के धर्म का उपदेश करने वाले को सम्यक् न कहे, अथवा धर्मकथा करता हुआ साधु असाधु-धर्मी—अपनी प्रशंसा, कीर्ति, प्रसिद्धि आदि की इच्छा न करे)।

६००. जिससे हँसी उत्पन्न हो, ऐसा कोई शब्द या मन-वचन-काया का व्यापार न करे, अथवा साधु किसी के दोषों को प्रकट करने वाली, पापबन्ध के स्वभाववाली बातें हँसी में न कहे। वीतरागता में ओतप्रोत (रागद्वेष रहित) साधु दूसरों के चित्त को दुःखित करने वाले कठोर सत्य को भी पापकर्मबन्धकारक जानकर न कहे। साधु किसी विशिष्ट लब्धि, सिद्धि या उपलब्धि अथवा पूजा-प्रतिष्ठा को पाकर मद न करे, न ही अपनी प्रशंसा करे अथवा दूसरे को भलीभाँति जाने-परखे बिना उसकी अतिप्रशंसा न करे। साधु व्याख्यान या धर्मकथा के अवसर पर लाभादि निरपेक्ष (निर्लोभ) एवं सदा कषायरहित होकर रहे।

६०१. सूत्र और अर्थ के सम्बन्ध में शंकारहित होने पर भी, 'मैं ही इसका अर्थ जानता हूँ, दूसरा नहीं,' इस प्रकार का गर्व न करे, अथवा अशंकित होने पर भी शास्त्र के गूढ़ शब्दों की व्याख्या करते समय शंका (अन्य अर्थ की सम्भावना) के साथ कहे, अथवा स्पष्ट (शंका रहित) अर्थ को भी इस प्रकार न कहे, जिससे श्रोता को शंका उत्पन्न हो तथा पदार्थों की व्याख्या विभज्यवाद से सापेक्ष दृष्टि से अनेकान्त रूप से करे। धर्माचरण करने में समुद्यत साधुओं के साथ विचरण करता हुआ साधु दो भाषाएँ (सत्या और असत्यामृषा) बोले। सुप्रज्ञ (स्थिरबुद्धि सम्पन्न) साधु धनिक और दरिद्र दोनों को समभाव से धर्म कहे।

६०२. पूर्वोक्त दो भाषाओं का आश्रय लेकर शास्त्र या धर्म की व्याख्या करते हुए साधु के कथन को कोई व्यक्ति यथार्थ समझ लेता है, और कोई मन्दमति व्यक्ति उसे अयथार्थ रूप में (विपरीत) समझता है, (ऐसी स्थिति में) साधु उस विपरीत समझने वाले व्यक्ति को जैसे-जैसे समीचीन हेतु, युक्ति उदाहरण एवं तर्क आदि से वह समझ सके, वैसे-वैसे हेतु आदि से अकर्कश (कटुतारहित—कोमल) शब्दों में समझाने का प्रयत्न करे। किन्तु जो ठीक नहीं समझता है, उसे तू मूर्ख है, दुर्बुद्धि है, जड़मति है, इत्यादि तिरस्कारसूचक वचन कहकर उसके मन को दु:खित न करे, तथा प्रश्नकर्ता की भाषा को असम्बद्ध बता कर उसकी विडम्बना न करे, छोटी-सी (थोड़े शब्दों में कही जा सकने वाली बात को व्यर्थ का शब्दाडम्बर करके विस्तृत न करे।

६०३. जो बात संक्षेप में न समझाई जा सके उसे साधु विस्तृत (परिपूर्ण) शब्दों में कह कर समझाए। गुरु से सुनकर पदार्थ को भलीभाँति जानने वाला (अर्थदर्शी) साधु आज्ञा से शुद्ध वचनों का प्रयोग करे। साधु पाप का विवेक रखकर निर्दोष वचन बोले।

६०४. तीर्थकर और गणधर आदि ने जिस रूप में आगमों का प्रतिपादन किया है, गुरु से उनकी अच्छी तरह शिक्षा ले, (अर्थात्—ग्रहण शिक्षा द्वारा सर्वज्ञोक्त आगम का अच्छी तरह ग्रहण करे और आसेवना शिक्षा द्वारा उद्युक्त विहारी होकर तदनुसार आचरण करे) (अथवा दूसरों को भी सर्वज्ञोक्त आगम अच्छी तरह सिखाए)। वह सदैव उसी में प्रयत्न करे। मर्यादा का उल्लंघन करके अधिक न बोले। सम्यक्दृष्टिसम्पन्न साधक सम्यक्दृष्टि को दूषित न करे (अथवा धर्मोपदेश देता हुआ साधु किसी सम्यक्दृष्टि की दृष्टि को (शंका पैदा करके) बिगाड़े नहीं। वही साधक उस (तीर्थकरोक्त सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपश्चरणरूप) भाव समाधि को कहना जानता है।

६०५. साधु आगम के अर्थ को दूषित न करे, तथा वह सिद्धान्त को छिपा कर न बोले। स्व-पर-त्राता साधु सूत्र और अर्थ को अन्यथा न करे। साधु शिक्षा देने वाले (प्रशास्ता-गुरु) की भक्ति का ध्यान रखता हुआ सोच-विचार कर कोई बात कहे, तथा साधु ने गुरु से जैसा सुना है, वैसा ही दूसरे के समक्ष सिद्धान्त या शास्त्रवचन का प्रतिपादन करे।

६०६. जिस साधु का सूत्रोच्चारण, सूत्रानुसार प्ररूपण एवं सूत्राध्ययन शुद्ध है, जो शास्त्रोक्त तप (उपधान तप) का अनुष्ठान करता है, जो श्रुत-चारित्ररूप धर्म को सम्यक्रूप से जानता या प्राप्त करता है अथवा जो उत्सर्ग के स्थान पर उत्सर्ग-मार्ग की और अपवाद-मार्ग के स्थान

पर अपवाद की प्ररूपणा करता है, या हेतुग्राह्य अर्थ की हेतु से और आगमग्राह्य अर्थ की आगम से अथवा स्व-समय की स्व-समय रूप में एवं पर-समय की पर-समय रूप में प्ररूपणा करता है, वही पुरुष ग्राह्यवाक्य है (उसी की बात मानने योग्य है) तथा वही शास्त्र का अर्थ तदनुसार आचरण करने में कुशल होता है। वह अविचारपूर्वक कार्य नहीं करता। वही ग्रन्थमुक्त साधक सर्वज्ञोक्त समाधि की व्याख्या कर सकता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—गुरुकुलवासी साधु द्वारा भाषा-प्रयोग के विधि-निषेध सूत्र—प्रस्तुत अध्ययन का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार ने दस सूत्रगाथाओं में गुरुकुलवासी साधु द्वारा किये जाने वाले भाषा प्रयोग के कतिपय विधि-निषेध-सूत्र प्रस्तुत किये हैं। वे इस प्रकार फलित होते हैं—(१) साधु स्वशक्ति, परिषद या व्यक्ति तथा प्रतिपाद्य विषय को सम्यक्तया जानकर धर्म का उपदेश दे, (२) वह ऐसा धर्मोपदेश दे जिससे स्व-पर को कर्मपाश से मुक्त कर सके, (३) प्रश्न से सम्बन्धित बातों का भलीभांति पर्यालोचन करके उसका पूर्वापर-अविरुद्ध, संगत उत्तर दे, (४) प्रश्नों का उत्तर देते समय शास्त्र के यथार्थ अर्थ को या गुरु के नाम को अथवा गुणी के गुण को न छिपाए (५) शास्त्र की सिद्धान्तविरुद्ध व्याख्या न करे, (६) न तो वह सर्वशास्त्रज्ञता का गर्व करे, न स्वयं को बहुश्रुत या महातपस्वी के रूप में प्रसिद्ध करे, (७) वह मंदबुद्धि श्रोता का परिहास न करे, (८) किसी प्रकार का आशीर्वाद न दे, क्योंकि उसके पीछे प्राणियों के विनाश या पापवृद्धि की सम्भावना है, (९) विविध हिंसाजनक मंत्र-प्रयोग करके अपने वाक् संयम को दूषित न करे, (१०) धर्मकथा करके जनता से किसी पदार्थ के लाभ, सत्कार या पूजा-प्रतिष्ठा आदि की आकांक्षा न करे (११) असाधु-धर्मों का उपदेश न करे, न ही वैसा उपदेश देने वाले की प्रशंसा करे, (१२) हास्यजनक कोई भी चेष्टा न करे, क्योंकि हँसी प्रायः दूसरों को दुःखित करती है, जो पाप बन्ध का कारण है, (१३) तथ्यभूत बात होते हुए भी वह किसी के चित्त को दुःखित करने वाली हो तो न कहे। किसी विशिष्ट उपलब्धि को पाकर साधु अपनी प्रशंसा न करे, (१४) व्याख्यान के समय किसी लाभ आदि से निरपेक्ष (निःस्पृह) एवं कषायरहित होकर रहे, (१५) सूत्रार्थ के सम्बन्ध में निःशंकित होने पर भी गर्व प्रकट न करे, अथवा शास्त्र के गूढ़ शब्दों की व्याख्या करते समय अशंकित होते हुए भी अन्य अर्थों की सम्भावना व्यक्त करे, (१६) पदार्थों की व्याख्या विभज्यवाद (नय, निक्षेप, स्याद्वाद, प्रमाण आदि के) द्वारा पृथक्-पृथक् विश्लेषण-पूर्वक करे, (१७) साधु दो ही भाषाओं का प्रयोग करे सत्या और असत्यामृषा, (१८) राग-द्वेषरहित होकर सधन-निर्धन को समभाव से धर्म-कथन करे, (१९) विधिपूर्वक शास्त्र या धर्म की व्याख्या करते हुए भी कोई व्यक्ति उसे विपरीत समझता है तो साधु उसे मूढ़, जड़बुद्धि या मूर्ख कहकर झिड़के नहीं, न ही अपमानित, विडम्बित या दुःखित करे, (२०) अल्प शब्दों में कही जा सकने वाली बात को व्यर्थ वा शब्दाडम्बर करके विस्तृत न करे, (२१) किन्तु संक्षेप में कहने से समझ में आ सके ऐसी बात को विस्तृत रूप से कहे, (२२) गुरु से सुनकर पदार्थों को भलीभाँति जानकर साधु आज्ञा-शुद्ध वचनों का प्रयोग करे (२३) पाप का विवेक रखकर निर्दोष वचन बोले, (२४) तीर्थंकरोक्त आगमों की व्याख्या पहले गुरु से भली-भाँति जाने और अभ्यस्त करके दूसरों को उसी विधि से समझाए, (२५) अधिकांश समय शास्त्र-स्वाध्याय में रत रहे, (२६) मर्यादातिक्रमण करके अधिक न बोले, (२७) साधु धर्मोपदेश देता हुआ किसी की सम्यग्दृष्टि को अपसिद्धान्त प्ररूपणा करके दूषित या

विचलित न करे, (२८) आगम के अर्थ को दूषित न करे, (२९) सिद्धान्त को छिपाकर न बोले, (३०) आत्मत्राता साधु सूत्र एवं अर्थ या प्रश्न को अन्यथा (उलट-पुलट) न करे, (३१) शिक्षादाता प्रशास्ता की सेवा भक्ति का ध्यान रखे, (३२) सम्यक्तया सोच-विचार कर कोई बात कहे, (३३) गुरु से जैसा सुना है, दूसरे के समक्ष वैसे ही सिद्धान्त या शास्त्र-वचन की प्ररूपणा करे (३४) सूत्र का उच्चारण, अध्ययन, एवं प्ररूपणा शुद्ध करे, (३५) शास्त्र-विहित तपश्चर्या की प्रेरणा करे, (३६) उत्सर्ग-अपवाद, हेतुग्राह्य-आज्ञाग्राह्य या स्वसमय-परसमय आदि धर्म का या शास्त्र वाक्य को यथायोग्य स्थापित-प्रतिपादित करता है, वही ग्राह्यवाक्य, शास्त्र का अर्थ करने में कुशल एवं सुविचारपूर्वक भाषण करने वाला है, वही सर्वज्ञोक्त समाधि की व्याख्या कर सकता है।[७]

गुरुकुलवासी साधक उभयशिक्षा प्राप्त करके भाषा के प्रयोग में अत्यन्त निपुण हो जाता है।

पाठान्तर और व्याख्या—**'संकेज्ज याऽसंकितभाव भिक्खू'** के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'संकेज्ज वा संकितभाव भिक्खू'**, व्याख्या यों है—यदि किसी विषय में वह शंकित है, किसी शास्त्रवाक्य के अर्थ में शंका है तो वह शंकात्मक रूप से इस प्रकार प्रतिपादन करे कि मेरी समझ में इसका यह अर्थ है, इससे आगे जिन भगवान् जानें, **'तत्त्वं केवलिगम्यम्'**। **'अणाइलो'** के बदले पाठान्तर है—**'अणाउलो'**, व्याख्या यों है—साधु व्याख्यान या धर्मकथा के समय आकुल-व्याकुल न हो।[८]

विभज्जवादं च वियागरेज्जा—व्याख्याएँ—(१) विभाज्यवाद का अर्थ है—भजनीयवाद। किसी विषय में शंका होने पर भजनीयवाद द्वारा यों कहना चाहिए—मैं तो ऐसे मानता हूँ, परन्तु इस विषय में अन्यत्र भी पूछ लेना। (२) विभज्यवाद का अर्थ है—स्याद्वाद-अनेकान्तवाद-सापेक्षवाद। (३) विभज्यवाद का अर्थ है—पृथक अर्थ निर्णयवाद। (४) सम्यक् प्रकार से अर्थों का नय, निक्षेप आदि से विभाग-विश्लेषण करके पृथक् करके कहे, जैसे—द्रव्यार्थिकनय से नित्यवाद को, तथा पर्यायार्थिकनय से अनित्यवाद को कहे।

सुत्तपिटक अंगुत्तरनिकाय में भी 'विभज्जवाद' का उल्लेख आता है।[९]

।। ग्रन्थ : चौदहवाँ अध्ययन समाप्त ।।

* * *

---

[७] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २४७ से २५१ का सारांश

[८] (क) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० १०९
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २४९

[९] (क) सूत्रकृतांग मूलपाठ टिप्पण, तृतीय परिशिष्ट पृ० ३६८।
(ख) तुलना—न खो, भंते, भगवा सब्बं तपं गरहितं····भगवा गरहंतो पसंसितब्बं, पसंसन्तो 'विभज्जवादो' भगवा। न सो भगवा एत्थ एकंसवादोदित।
—सुत्तपिटक अंगुत्तरनिकाय पृ० २५३

जमतीत (यमकीय)-पंचदश अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग सूत्र (प्र० श्रु०) के पन्द्रहवें अध्ययन का नाम 'जमतीत' (यमकीय) है।

☐ इस अध्ययन के दो नाम और मिलते हैं—आदान अथवा आदानीय, एवं शृंखला अथवा संकलिका।

☐ 'जमतीत' नाम इसलिए पड़ा है कि इस अध्ययन का आदि शब्द 'जमतीतं' (जं+अतीतं) है। अथवा इस अध्ययन में 'यमक' अलंकार का प्रयोग हुआ है, इसलिए इस अध्ययन का नाम 'यमकीय' है, जिसका आर्ष प्राकृत रूप 'जमईयं' या 'जमतीत' होता है।

☐ वृत्तिकार के अनुसार इस अध्ययन को 'संकलिका' अथवा शृंखला' कहना चाहिए। इस अध्ययन में अन्तिम और आदि पद का संकलन हुआ है, इसलिये इसका नाम 'संकलिका' है। अथवा प्रथम पद्य का अन्तिम शब्द एवं द्वितीय पद्य का आदि शब्द शृंखला की कड़ी की भाँति जुड़े हुए हैं। अर्थात् उन दोनों की कड़ियाँ एक समान हैं।[1]

☐ आदान या आदानीय नाम रखने के पीछे निर्युक्तिकार का मन्तव्य यह है कि इस अध्ययन में जो पद प्रथम गाथा के अन्त में है, वही पद अगली गाथा के प्रारम्भ में आदान (ग्रहण) किया गया है। यही लक्षण आदानीय का है।

☐ कार्यार्थी पुरुष जिस वस्तु को ग्रहण करता है, उसे आदान कहते हैं। धन का या धन के द्वारा द्विपद—चतुष्पद आदि का ग्रहण करना द्रव्य-आदान है। भाव-आदान दो प्रकार का है—प्रशस्त और अप्रशस्त। क्रोधादि का उदय या मिथ्यात्व, अविरति आदि कर्मबन्ध के आदान रूप होने से अप्रशस्त भावादान है, तथा मोक्षार्थी द्वारा उत्तरोत्तर गुणश्रेणी के योग्य विशुद्ध अध्यवसाय को ग्रहण करना या समस्त कर्म क्षय करने हेतु विशिष्ट सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ग्रहण करना प्रशस्त भाव-आदान है।

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २५२

☐ इस अध्ययन में इसी प्रशस्त भाव—आदान के सन्दर्भ में विवेक की दुर्लभता, संयम के सुपरिणाम, भगवान् महावीर या वीतराग पुरुष का स्वभाव, संयमी पुरुष की जीवन पद्धति, विशाल चरित्र सम्पन्नता आदि का निरूपण है।[2]

☐ इस अध्ययन में कुल पच्चीस गाथाएँ हैं, जो यमकालंकार युक्त एवं शृंखलावत् हैं।

☐ प्रस्तुत अध्ययन सूत्रगाथा ६०७ से प्रारम्भ होकर ६३१ सूत्रगाथा पर पूर्ण होता है।

☐☐

---

[2] (क) सूत्रकृतांगनिर्युक्ति गा० १३२ से १३६ तक
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २५२-२५३
(ग) जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भा० १, पृ० १५५

जमतीतं : पण्णरसमं अज्झयणं

यमकीय (जमतीत)—पन्द्रहवाँ अध्ययन

अनुत्तरज्ञानी और तत्कथित भावनायोगसाधना

६०७. जमतीतं पडुप्पण्णं, आगमिस्सं च णायगो।
सव्वं मण्णति तं ताती, दंसणावरणंतए ॥१॥

६०८. अंतए वितिगिछाए, से जाणति अणेलिसं।
अणेलिसस्स अक्खाया, ण से होति तहिं तहिं ॥२॥

६०९. तहिं तहिं सुयक्खायं, से य सच्चे सुयाहिए।
सदा सच्चेण संपण्णे, मेत्ति भूतेहिं कप्पते ॥३॥

६१०. भूतेहिं न विरुज्झेज्जा, एस धम्मे वुसीमओ।
वुसीमं जगं परिण्णाय, अस्सि जीवितभावणा ॥४॥

६११. भावणाजोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया।
नावा व तीरसंपत्ता, सव्वदुक्खा तिउट्टति ॥५॥

६०७. जो पदार्थ (अतीत में) हो चुके हैं, जो पदार्थ वर्तमान में विद्यमान हैं और जो पदार्थ भविष्य में होने वाले हैं, उन सबको दर्शनावरणीय कर्म का सर्वथा अन्त करने वाले जीवों के त्राता—रक्षक, धर्मनायक तीर्थंकर जानते-देखते हैं।

६०८. जिसने विचिकित्सा (संशय) का सर्वथा अन्त (नाश) कर दिया है, वह (घातिचतुष्टय का क्षय करने के कारण) अतुल (अप्रतिम) ज्ञानवान् हैं। जो पुरुष सबसे बढ़कर वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन करने वाला है, वह उन-उन (बौद्धादि दर्शनों) में नहीं होता।

६०९. (श्री तीर्थंकरदेव ने) उन-उन (आगमादि स्थानों) में जो (जीवादि पदार्थों का) अच्छी तरह से कथन किया है, वही सत्य है और वही सुभाषित (स्वाख्यात) है। अतः सदा सत्य से सम्पन्न होकर प्राणियों के साथ मैत्री भावना रखनी चाहिए।

६१०. प्राणियों के साथ वैर-विरोध न करे, यही तीर्थंकर का या सुसंयमी का धर्म है। सुसंयमी साधु (त्रस-स्थावर रूप) जगत् का स्वरूप सम्यक्रूप से जानकर इस वीतराग-प्रतिपादित धर्म में जीवित भावना (जीव-समाधानकारिणी पच्चीस या बारह प्रकार की भावना) करे।

६११. भावनाओं के योग (सम्यक्प्रणिधान रूप योग) से जिसका अन्तरात्मा शुद्ध हो गया है, उसकी स्थिति जल में नौका के समान (संसार समुद्र को पार करने में समर्थ) कही गई है। किनारे पर पहुँची हुई नौका विश्राम करती है, वैसे ही भावनायोग-साधक भी संसार समुद्र के तट पर पहुँचकर समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।

विवेचन—अनुत्तरज्ञानी और तत्कथित भावनायोग-साधना—प्रस्तुत पाँच सूत्रगाथाओं में शास्त्रकार ने मुख्यतया दो तथ्यों को अभिव्यक्त किया है—(१) अनुपम ज्ञानवान् तीर्थंकर का माहात्म्य और (२) उनके द्वारा कथित भावनायोग की साधना।

अनुपम ज्ञानी तीर्थंकर के और अन्यदर्शनी के ज्ञान में अन्तर—तीर्थंकर ज्ञानवरणीयादि घातिकर्म चतुष्टय का क्षय करने के कारण त्रिकालज्ञ हैं, द्रव्य-पर्याय सहित सर्व पदार्थ के ज्ञाता हैं, उन्होंने संशय-विपर्यय—अनध्यवसायरूप मिथ्या ज्ञान का अन्त कर दिया है, इसलिए उनके सदृश पूर्णज्ञान किसी तथागत बुद्ध आदि अन्य दार्शनिक का नहीं है, क्योंकि अन्य दार्शनिकों के घातिकर्म-चतुष्टय का सर्वथा क्षय न होने से वे त्रिकालज्ञ नहीं होते, और न ही द्रव्य-पर्याय सहित सर्व पदार्थज्ञ होते हैं। यदि वे (अन्यतीर्थिक) त्रिकालज्ञ होते तो वे कर्मबन्ध एवं कर्म से सर्वथा मोक्ष के उपायों को जानते, हिंसादि कर्मबन्ध कारणों से दूर रहते, उनके द्वारा मान्य या रचित आगमों में एक जगह प्राणि-हिंसा का निषेध होने पर भी जगह-जगह आरम्भादि जनित हिंसा का विधान किया गया है। ऐसा पूर्वापर विरोध न होता। इसके अतिरिक्त कई दार्शनिक द्रव्य को ही मानते हैं, कई (बौद्ध आदि) पर्याय को ही मानते हैं, तब वे 'तीर्थंकर सदृश सर्वपदार्थज्ञाता' कैसे कहे जा सकते हैं? कई दार्शनिक कहते हैं—'कीड़ों की संख्या का ज्ञान कर लेने से क्या लाभ? अभीष्ट वस्तु का ज्ञान ही उपयोगी है।' उन लोगों का ज्ञान भी पूर्णतया अनावृत नहीं है, तथा जैसे उन्हें कीट-संख्या का परिज्ञान नहीं है, वैसे दूसरे पदार्थों का ज्ञान न होना भी सम्भव है। अतः उनका ज्ञान तीर्थंकर की तरह अबाधित नहीं है। ज्ञानबाधित और असम्भव होने से सर्वज्ञता एवं सत्यवादिता दूषित होती है।[1]

सर्वज्ञ वीतराग ही सत्य के प्रतिपादक—अन्य दर्शनी पूर्वोक्त कारणों से सर्वज्ञ न होने से वे सत्य (यथार्थ) वक्ता नहीं हो सकते, क्योंकि उनके कथन में अल्पज्ञता के कारण राग, द्वेष, पक्षपात, मोह आदि अवश्यम्भावी हैं, फलतः उनमें पूर्ण सत्यावदिता एवं प्राणिहितैषिता नहीं होती, जबकि सर्वज्ञ तीर्थंकर राग-द्वेष-मोहादि विकाररहित होने से वे सत्यवादी हैं, जीवादि पदार्थों का यथार्थ

---

[1] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २५४
(ख) सर्वं पश्यतु वा मा वा, तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु।
कीटसंख्या परिज्ञानं, तस्य नः क्वोपयुज्यते॥

(पूर्ण सत्य) प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि मिथ्या भाषण के कारण हैं—रागादि; वे तीर्थंकर देव में बिलकुल नहीं हैं। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि उन्होंने आगमों में यत्र-तत्र जो भी प्रतिपादन किया है, वह सब सत्य (प्राणियों के लिए हितकर) है, सुभाषित है।[2]

सर्वज्ञोक्त उपदेश भी हितैषिता से परिपूर्ण—सर्वज्ञ तीर्थंकर सर्वहितैषी होते हैं, उनका वचन भी सर्वहितैषिता से पूर्ण होता है। उनका कोई भी कथन प्राणिहित के विरुद्ध नहीं होता। इसके प्रमाण के रूप में उनके द्वारा कथित सर्वभूत मैत्री भावना तथा अन्य (बारह या पच्चीस) जीवित भावना और उनकी संसार-सागरतारिणी महिमा तथा उनसे मोक्ष-प्राप्ति आदि हैं। मैत्री आदि भावनाओं की साधना के लिए प्राणियों के साथ वैर-विरोध न करना, समग्र प्राणिजगत् का स्वरूप (सुखाभिलाषिता, जीवितप्रियता आदि) जानकर मोक्षकारिणी या जीवनसमाधिकारिणी भावना आदि के सम्बन्ध में दिया गया उपदेश प्रस्तुत है।[3]

विमुक्त, मोक्षाभिमुख और संसारान्तकर साधक कौन ?

६१२. तिउट्टति तु मेधावी, जाणं लोगं सि पावगं ।
तिउट्टंति पावकम्माणि, नवं कम्ममकुव्वओ ।।६।।

६१३. अकुव्वतो णवं नत्थि, कम्मं नाम विजाणइ ।
विन्नाय से महावीरे, जेण जाति ण मिज्जती ।।७।।

६१४. न मिज्जति महावीरे, जस्स नत्थि पुरेकडं ।
वाऊ व जालमच्चेति, पिया लोगंसि इत्थिओ ।।८।।

६१५. इत्थिओ जे ण सेवंति, आदिमोक्खा हु ते जणा ।
ते जणा बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीवितं ।।९।।

६१६. जीवितं पिट्ठतो किच्चा, अंतं पावंति कम्मुणा ।
कम्मुणा संमुहीभूया, जे मग्गणुसासति ।।१०।।

---

२. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २५४
(ख) वीतरागा हि सर्वज्ञाः, मिथ्या न ब्रुवते वचः ।
यस्मात्तस्माद् वचस्तेषां तथ्यं भूतार्थ दर्शनम् ।।

३. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २५५-२५६
(ख) द्वादशानुप्रेक्षा (भावना) इस प्रकार हैं—अनित्याशरण-संसारैकत्वाशुचित्वास्रव-संवर-निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्यात-स्वतत्त्वचिन्तनमनुप्रेक्षाः ।—तत्त्वार्थसूत्र, अ० ९, सूत्र ७
(ग) पाँच महाव्रतों की २५ भावनाएँ हैं, जिनका विवरण पहले प्रस्तुत किया जा चुका है।

६१७. अणुसासणं पुढो पाणे, वसुमं पूयणासते ।
अणासते जते दंते, दढे आरयमेहुणे ।।११।।

६१८. णीवारे य न लीएज्जा, छिन्नसोते अणाइले ।
अणाइले सया दंते, संधिं पत्ते अणेलिसं ।।१२।।

६१९. अणेलिसस्स खेतण्णे, ण विरुज्झेज्ज केणइ ।
मणसा वयसा चेव, कायसा चेव चक्खुमं ।।१३।।

६२०. से हु चक्खू मणुस्साणं, जे कंखाए तु अंतए ।
अंतेण खुरो वहती, चक्कं अंतेण लोट्टति ।।१४।।

६२१. अंताणि धीरा सेवंति, तेण अंतकरा इहं ।
इह माणुस्सए ठाणे, धम्माराहिउं णरा ।।१५।।

६१२. लोक में पापकर्म (के स्वरूप) को जानने वाला मेधावी (साधुमर्यादा में स्थित या सद्-असद् विवेकी साधु) (सभी बन्धनों से) छूट जाता है; क्योंकि नया कर्म (बन्धन) न करने वाले पुरुष के सभी पापकर्म (बन्धन) टूट जाते हैं ।

६१३. जो पुरुष कर्म (मन-वचन-काया से व्यापारक्रिया) नहीं करता, उसके नवीन (ज्ञानावरणीयादि) कर्मबन्ध नहीं होता । वह (कर्म मुमुक्षु साधक) अष्टविध कर्मों को विशेषरूप से जान लेता है, फिर वह (कर्म विदारण करने में) महावीर पुरुष (भगवत्प्रतिपादित समग्र कर्मविज्ञान को) जानकर, ऐसा पुरुषार्थ करता है, जिससे न तो वह (संसार में कभी) जन्म लेता है और न ही मरता है ।

६१४. जिसके पूर्वकृत कर्म नहीं है, वह महावीर साधक जन्मता-मरता नहीं है । जैसे हवा अग्नि की ज्वाला का उल्लंघन कर जाती है, वैसे ही इस लोक में महान् अध्यात्मवीर साधक मनोज्ञ (प्रिय) स्त्रियों (स्त्रीसम्बन्धी काम-भोगों) को उल्लंघन कर जाता है, अर्थात् वह स्त्रियों के वश में नहीं होता ।

६१५. जो साधकजन स्त्रियों का सेवन नहीं करते, वे सर्वप्रथम मोक्षगामी (आदिमोक्ष) होते हैं । समस्त (कर्म) बन्धनों से मुक्त वे साधुजन (असंयमी) जीवन जीने की आकांक्षा नहीं करते ।

६१६. ऐसे वीर साधक जीवन को पीठ देकर (पीछे करके) कर्मों का अन्त (क्षय) प्राप्त करते हैं । जो साधक (संयमानुष्ठान द्वारा) मोक्ष मार्ग पर आधिपत्य (शासन) कर लेते हैं, अथवा मुमुक्षुओं को मोक्षमार्ग में अनुशासित (शिक्षित) करते हैं, वे विशिष्ट कर्म (धर्म के आचरण) से मोक्ष के सम्मुख हो जाते हैं ।

६१७. उन (मोक्षाभिमुख साधकों का) अनुशासन (धर्मोपदेश) भिन्न-भिन्न प्राणियों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है । वसुमान् (संयम का धनी), पूजा-प्रतिष्ठा में अरुचि रखनेवाला, आशय (वासना) से रहित, संयम में प्रयत्नशील, दान्त (जितेन्द्रिय) स्वकृत प्रतिज्ञा पर दृढ़ एवं मैथुन से सर्वथा विरत साधक ही मोक्षाभिमुख होता है ।

६१८. सूअर आदि प्राणियों को प्रलोभन देकर फँसाने और मृत्यु के मुख में पहुँचाने वाले चावल के दाने के समान स्त्री-प्रसंग या क्षणिक विषय लोभ में साधक लीन (ग्रस्त) नहीं होता। जिसने विषय भोगरूप आश्रव-द्वारों को बन्द (नष्ट) कर दिया है, जो रागद्वेष मल से रहित—स्वच्छ है, सदा दान्त है, विषय-भोगों में प्रवृत्त या आसक्त न होने से अनाकुल (स्थिरचित्त) है, वही व्यक्ति अनुपम भावसन्धि—मोक्षभिमुखता को प्राप्त है।

६१९. अनीदृश (जिसके सदृश दूसरा कोई उत्तम पदार्थ नहीं है उस) संयम या तीर्थंकरोक्त धर्म का जो मर्मज्ञ (खेदज्ञ) है, वह किसी भी प्राणी के साथ मन, वचन और काया से वैर-विरोध न करे (अर्थात् सबके साथ त्रिकरण-त्रियोग से मैत्रीभाव रखे), वही परमार्थत: चक्षुष्मान् (दिव्य तत्त्वदर्शी) है।

६२०. जो साधक भोगाकांक्षा (विषय-तृष्णा) का अन्त करने वाला या अन्त (पर्यन्त) वर्ती है, वही मनुष्यों का चक्षु (भव्य जीवों का नेत्र) सदृश(मार्गदर्शक या नेता) है। जैसे उस्तरा (या छुरा) अन्तिम भाग (सिरे) से कार्य करता है, रथ का चक्र भी अन्तिम भाग (किनारे) से चलता है, (इसी प्रकार विषय-कषायात्मक मोहनीय कर्म का अन्त ही संसार का अन्त करता है)।

६२१. विषय-सुखाकांक्षा रहित बुद्धि से सुशोभित (धीर) साधक अन्त-प्रान्त आहार का सेवन करते हैं। इसी कारण वे संसार का अन्त कर देते हैं। इस मनुष्यलोक में या यहाँ (आर्य क्षेत्र में) मनुष्य भव में दूसरे धर्म की आराधना करके संसार का अन्त करते हैं।

विवेचन—कर्मबन्धनविमुक्त, मोक्षाभिमुख एवं संसारान्तकर साधक कौन और कैसे ?—प्रस्तुत दस सूत्रगाथाओं में शास्त्रकार ने मुख्यतया चार तथ्य प्रस्तुत किये हैं—

(१) कर्मबन्धन से विमुक्त कौन होता है ?
(२) मोक्षाभिमुख साधक कौन होता है ?
(३) संसार का अन्तकर्ता साधक कौन होता है ?
(४) ये तीनों किस-किस प्रकार की साधना से उस योग्य बनते हैं।

वस्तुत: ये तीनों परस्पर सम्बद्ध हैं। जो कर्मबन्धन से मुक्त होता है, वही मोक्षाभिमुख होता है, जो मोक्षाभिमुख होता है, वह संसार का अन्त अवश्य करता है।

कर्मबन्धन से मुक्त एवं मोक्षभिमुखी होने के लिए अनिवार्य शर्तें—मोक्षाभिमुखता के लिए साधक—(१) अपने जीवन के प्रति निरपेक्ष होकर ही अष्टविधकर्मों का क्षय करने में उद्यत होता है। (२) विशिष्ट तप, संयम आदि के आचरण से मोक्ष के अभिमुख हो जाता है, (३) मोक्षमार्ग पर अधिकार कर लेता है, (४) वह संयमनिष्ठ हो जाता है, (५) पूजा, सत्कार, प्रतिष्ठा आदि में रुचि नहीं रखता, (६) विषयवासना से दूर रहता है, (७) संयम में पुरुषार्थ करता है, (८) इन्द्रिय और मन को वश में कर लेता है, (९) महाव्रत आदि की कृतप्रतिज्ञा पर दृढ़ रहता है, (१०) मैथुन-सेवन से विरत रहता है। (११) विषयभोगों के प्रलोभन में नहीं फँसता, (१२) कर्मों के आश्रवद्वार बन्द कर देता है, (१३) वह राग-द्वेषादि मल से रहित—स्वच्छ होता है, (१४) विषय-भोगों से विरक्त होकर अनाकुल स्थिरचित्त होता है, (१५) अनुपम संयम या अनुत्तर वीतराग-धर्म का मर्मज्ञ होने से वह मन-वचन-काया से किसी भी प्राणी के साथ वैर-विरोध नहीं करता। (१६) संसार का अन्त

करने वाला साधक परमार्थदर्शी (दिव्यनेत्रवान्) होता है, (१७) वह समस्त कांक्षाओं का अन्त कर देता है, (१८) मोहनीय आदि घाती कर्मों का अन्त करके ही वह संसार के अन्त (किनारे) तक या मोक्ष के अन्त (सिरे) तक पहुँच जाता है। (१९) वह परीषहों और उपसर्गों को सहने में धीर होता है, (२०) वह अन्त-प्रान्त आहारादि का सेवन करता है, (२१) वह मनुष्य जन्म में दृढ़तापूर्वक धर्माराधना करता है।[४]

पाठान्तर और व्याख्या—**जण जाति ण मिज्जती** के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'जेण आजाइ ण मज्जते'**, अर्थ होता है—सर्वकर्मक्षय होने पर न तो पुनः संसार में आता है, और न संसार सागर में डूबता है। **'न मिज्जती'** के बदले वृत्तिकार ने **'ण भिज्जति'** पाठ भी माना है। दोनों का मूलार्थ में उक्त अर्थ से भिन्न अर्थ भी वृत्तिकार ने किया है—(१) जाति से यह नारक है, यह तिर्यञ्च है, इस प्रकार का परिगणन नहीं होता, (२) जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि से परिपूर्ण नहीं होता। चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'ण मज्जते'**—अर्थात्—संसारसागर में नहीं डूबता।[५]

मोक्ष-प्राप्ति किसको सुलभ, किसको दुर्लभ ?

६२२. निट्ठितट्ठा व देवा वा उत्तरीए इमं सुतं।
सुतं च मेतमेगेसिं, अमणुस्सेसु णो तहा ॥१६॥

६२३. अंतं करेंति दुक्खाणं, इहमेगेसि आहितं।
आघायं पुण एगेसिं, दुल्लभेऽयं समुस्सए ॥१७॥

६२४. इतो विद्धंसमाणस्स, पुणो संबोहि दुल्लभा।
दुल्लभा उ तहच्चा णं, जे धम्मट्ठ वियागरे ॥१८॥

६२२. मैंने (सुधर्मास्वामी ने) लोकोत्तर प्रवचन (तीर्थंकर भगवान् की धर्मदेशना) में यह (आगे कही जाने वाली) बात सुनी है कि मनुष्य ही सम्यग्दर्शनादि की आराधना से कर्मक्षय करके निष्ठितार्थ—कृतकृत्य होते हैं, (मोक्ष प्राप्त करते हैं) अथवा (कर्म शेष रहने पर) सौधर्म आदि देव बनते हैं। यह (मोक्ष-प्राप्ति—कृतकृत्यता) भी किन्हीं विरले मनुष्यों को ही होती है, मनुष्ययोनि या गति से भिन्न योनि या गतिवाले जीवों को मनुष्यों की तरह कृतकृत्यता या सिद्धि प्राप्त नहीं होती, ऐसा मैंने तीर्थंकर भगवान् से साक्षात् सुना है।

६२३. कई अन्यतीर्थिकों का कथन है कि देव ही समस्त दुःखों का अन्त करते हैं, मनुष्य नहीं, (परन्तु ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि) इस आर्हत्-प्रवचन में तीर्थंकर, गणधर आदि का कथन है कि यह समुन्नत मानव-शरीर या मानव-जन्म (समुच्छ्रय) मिलना अथवा मनुष्य के बिना यह समुच्छ्रय-धर्मश्रवणादि रूप अभ्युदय दुर्लभ है, फिर मोक्ष पाना तो दूर की बात है।

---

[४] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २५६ का सारांश

[५] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २५६
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ११२

६२४. जो जीव इस मनुष्यभव (या शरीर) से भ्रष्ट हो जाता है, उसे पुनः जन्मान्तर में सम्बोधि (सम्यग्दृष्टि) की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है। जो साधक धर्मरूप पदार्थ की व्याख्या करते हैं, अथवा धर्मप्राप्ति के योग्य हैं, उनकी तथाभूत अर्चा (सम्यग्दर्शनादि प्राप्ति के योग्य शुभ लेश्या—अन्तःकरण-परिणति, अथवा सम्यग्दर्शन-प्राप्तियोग्य तेजस्वी मनुष्यदेह) (जिन्होंने पूर्वजन्म में धर्म-बीज नहीं बोया है, उन्हें) प्राप्त होनी अतिदुर्लभ है।

विवेचन—मोक्षप्राप्ति किसको सुलभ, किसको दुर्लभ ?—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओं में से प्रारम्भ की दो गाथाओं में यह बताया गया है कि समस्त कर्मों का क्षय, सर्वदुःखों का अन्त मनुष्य ही कर सकते हैं, वे ही सिद्धगति प्राप्त करके कृतकृत्य होते हैं। अन्य देवादि गति वालों को मोक्ष-प्राप्ति सुलभ नहीं। क्योंकि उनमें सच्चारित्र परिणाम नहीं होता। तीसरी गाथा में यह बताया गया है कि मोक्षप्राप्ति के लिए अनिवार्य सम्बोधि तथा सम्बोधि-प्राप्ति की अन्तर् में परिणति (लेश्या) का प्राप्त होना उन लोगों के लिए दुर्लभ है, जो मनुष्यजन्म पाकर उसे निरर्थक गँवा देते हैं, जो मानव-जीवन में धर्मबीज नहीं बो सके। निष्कर्ष यह है कि मोक्षप्राप्ति की समग्र सामग्री उन्हीं जीवों के लिए सुलभ है, जो मनुष्यजन्म पाकर सम्यग्दृष्टि सम्पन्न होकर धर्माचरण करते हैं।[६]

कठिन शब्दों की व्याख्या—उत्तरीए—वृत्तिकार के अनुसार अर्थ किया जा चुका है। चूर्णिकार के अनुसार अर्थ है—उत्तरीक स्थानों में—अनुत्तरौपपातिक देवों में उत्पन्न होते हैं। **'धम्मट्ठ वियागरे'** के बदले चूर्णिसम्मत पाठ है—**'धम्मट्ठी विदितपरापरा'**—अर्थ किया गया है—धर्मार्थीजन पर—यानी श्रेष्ठ जैसे कि मोक्ष या मोक्षसाधन, तथा अपर—यानी निकृष्ट, जैसे मिथ्यादर्शन, अविरति आदि, इन दोनों पर-अपर को ज्ञात (विदित) कर चुके हैं।[७]

मोक्ष प्राप्त पुरुषोत्तम और उसका शाश्वत स्थान

६२५. जे धम्मं सुद्धमक्खंति, पडिपुण्णमणेलिसं।
अणेलिसस्स जं ठाणं, तस्स जम्मकहा कुतो ॥१९॥

६२६. कुतो कयाइ मेधावी, उप्पज्जंति तहागता।
तहागता य अपडिण्णा चक्खु लोगस्सऽणुत्तरा ॥२०॥

६२५. जो महापुरुष प्रतिपूर्ण, अनुपम शुद्ध धर्म की व्याख्या करते हैं, वे सर्वोत्तम (अनुपम) पुरुष के (समस्त द्वन्द्वों से उपरमरूप) स्थान को प्राप्त करते हैं, फिर उनके लिए जन्म लेने की तो बात ही कहाँ ?

---

[६] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २५८-२५९

[७] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक २५८
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ११३-११४

६२६. इस जगत् में फिर नहीं आने के लिये मोक्ष में गए हुए (तथागत) मेधावी (ज्ञानी) पुरुष क्या कभी फिर उत्पन्न हो सकते हैं ? (कदापि नहीं)। अप्रतिज्ञ (निदान-रहित) तथागत—तीर्थंकर, गणधर आदि लोक (प्राणिजगत्) के अनुत्तर (सर्वोत्कृष्ट) नेत्र (पथप्रदर्शक) हैं।

विवेचन—मोक्षप्राप्त पुरुषोत्तम और उनका शाश्वत स्थान—प्रस्तुत सूत्रगाथाद्वय में मोक्षप्राप्त पुरुषोत्तम का स्वरूप बताकर संसार में उनके पुनरागमन का निराकरण किया गया है।

धर्म के विशेषणों की व्याख्या—शुद्ध—समस्त उपाधियों से रहित होने से विशुद्ध है, **प्रतिपूर्ण**—जिसमें विशाल (आयत) चारित्र होने से अथवा जो यथाख्यात चारित्र रूप होने से परिपूर्ण है। **अनीदृश**—अनुपम—अनुत्तर। **धम्मं अक्खंति**—धर्म का प्रतिपादन करते हैं, स्वयं आचरण भी करते हैं।[८]

संसार-पारंगत साधक की साधना के विविध पहलू

६२७. अणुत्तरे य ठाणे से, कासवेण पवेदिते।
जं किच्चा णिव्वुडा एगे, निट्ठं पावंति पंडिया ॥२१॥

६२८. पंडिए वीरियं लद्धुं, निग्घाया य पवत्तगं।
धुणे पुव्वकडं कम्मं, नवं चावि न कुव्वति ॥२२॥

६२९. न कुव्वती महावीरे, अणुपुव्वकडं रयं।
रयसा संमुहीभूता कम्मं हेच्चाण जं मतं ॥२३॥

६३०. जं मतं सव्वसाहूणं, तं मयं सल्लकत्तणं।
साहइत्ताण तं तिण्णा, देवा वा अभविंसु ते ॥२४॥

६३१. अभविंसु पुरा वीरा, आगमिस्सा वि सुव्वता।
दुण्णिबोहस्स मग्गस्स, अंतं पादुकरा तिण्णे ॥२५॥ —त्ति बेमि ॥

॥ जमतीतं : पण्णरसमं अज्झयणं सम्मत्तं ॥

६२७. काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर ने बताया है कि वह अनुत्तर (सबसे प्रधान) स्थान संयम है, जिस (संयम) का पालन करके कई महासत्त्व साधक निर्वाण को प्राप्त होते हैं। वे पण्डित (पाप से निवृत्त) साधक निष्ठा (संसार चक्र का अन्त, या सिद्धि की पराकाष्ठा) प्राप्त कर लेते हैं।

६२८. पण्डित (सद्-असद्-विवेकज्ञ) साधक समस्त कर्मों के निघात (निर्जरा) के लिए प्रवर्तक (अनेकभवदुर्लभ) पण्डितवीर्य (या सुसंयमवीर्य अथवा तपोवीर्य) को प्राप्त करके पहले के अनेक भवों में किये हुए कर्मों का क्षय कर डाले और नवीन कर्मबन्ध न करे।

---

[८] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २५९

६२९. दूसरे प्राणी जैसे मिथ्यात्वादि क्रम से पाप करते हैं, वैसे कर्मविदारण करने में महावीर साधक नहीं करता; क्योंकि पाप कर्म पूर्वकृत पाप के प्रभाव से ही किये जाते हैं परन्तु उक्त महावीर पुरुष सुसंयम के आश्रय से पूर्वकृत कर्मों को रोकता है, और अष्टविधकर्मों का त्याग करके मोक्ष के सम्मुख होता है।

६३०. जो समस्त साधुओं को मान्य है, उस पापरूप शल्य या पापरूप शल्य से उत्पन्न कर्म को काटने वाले संयम की साधना करके अनेक जीव (संसार सागर से) तिरे हैं, अथवा जिनके समस्त कर्म क्षय नहीं हुए हैं, वे वैमानिक देव हुए हैं।

६३१. पूर्वकाल में अनेक वीर (कर्मविदारण-समर्थ) हुए हैं, भविष्य में भी अनेक सुव्रती पुरुष होंगे—वे दुर्निबोध—दुःख से प्राप्त होने वाले (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप) मार्ग के अन्त (चरमसीमा) तक पहुँच कर, दूसरों के समक्ष भी उसी मार्ग को प्रकाशित (प्रदर्शित) करके तथा स्वयं उस सन्मार्ग पर चलते हुए संसार सागर को पार हुए हैं, होंगे और हो रहे हैं। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—संसारपारंगत साधना की साधना के विविध पहलू—प्रस्तुत पांच सूत्रगाथाओं से संसार-सागर पारंगत साधक की साधना के विविध पहलू फलित होते हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) जिनोपदिष्ट अनुत्तर संयम का पालन करके कई निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं, संसार चक्र का अन्त कर देते हैं, (२) समस्त कर्मक्षय के लिए पण्डित वीर्य को प्राप्त करके अनेक नव संचित कर्मों को नष्ट कर दे और नवीन कर्मों को उपार्जित न करे, (३) कर्मविदारण-समर्थ साधक नवीन पापकर्म नहीं करता, बल्कि पूर्वकृत कर्मों को तप, संयम के बल से काट देता है, (४) पाप-कर्म को काटने के लिए साधक संयम की साधना करके संसार सागर से पार हो जाता है, या वैमानिक देव बन जाता है, (५) तीनों काल में ऐसे महापुरुष होते हैं, जो रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग की साधना करके उसकी पराकाष्ठा पर पहुंच कर दूसरों के समक्ष भी वही मार्ग प्रदर्शित करके संसार सागर को पार कर लेते हैं।[९]

पाठान्तर और व्याख्या—**'णिव्वुडा'** के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'णिव्वुता'**; अर्थ होता है—पापकर्मो से निवृत्त। **'संमुहीभूता'**—चूर्णिकार के अनुसार अर्थ है—सम्मुख हुए। **'वीरा'** के बदले कहीं-कहीं **'धीरा'** पाठ है, जिसका अर्थ होता है—परीषहोपसर्ग सहकर कर्म काटने में सहिष्णु धृतिमान।[१०]

।। जमतीत (यमकीय) : पन्द्रहवाँ अध्ययन समाप्त ।।

---

९. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २६० का सारांश

१०. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २३०
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टि०) पृ० ११४ से ११५

गाथा : षोडश अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग सूत्र (प्र० श्रु०) के सोलहवें अध्ययन का नाम 'गाथा' है।

☐ गाथा-शब्द गृह, अध्ययन, ग्रन्थ-प्रकरण, छन्द विशेष, आर्या गीति, प्रशंसा, प्रतिष्ठा, निश्चय आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है।[1]

☐ निर्युक्तिकार के अनुसार नाम, स्थापना के अतिरिक्त द्रव्यगाथा और भावगाथा, यों चार निक्षेप होते हैं। पुस्तकों में या पन्नों पर लिखी हुई गाथा (प्राकृत भाषा में पद्य) द्रव्यगाथा है। 'गाथा' के प्रति क्षायोपशमिक भाव से निष्पन्न साकारोपयोग—भावगाथा है। क्योंकि समग्र श्रुत (शास्त्र) क्षयोपशमभाव में और साकारोपयोग-युक्त माना जाता है, श्रुत में निराकारोपयोग सम्भव नहीं है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन द्रव्यगाथा से सम्बन्धित है। निर्युक्तिकार और वृत्तिकार ने प्रस्तुत अध्ययन को द्रव्यगाथा की दृष्टि से गाथा कहने के पीछे निम्नोक्त विश्लेषण प्रस्तुत किया है—(१) जिसका उच्चारण मधुर, कर्णप्रिय एवं सुन्दर हो, वह मधुरा (मधुर शब्द निर्मिता) गाथा है, (२) जो मधुर अक्षरों में प्रवृत्त करके गाई या पढ़ी जाए, वह भी गाथा है, (३) जो गाथा (सामुद्र) छन्द में रचित मधुर प्राकृत शब्दावली से युक्त हो, वह गाथा है, (४) जो छन्दोबद्ध न होकर भी गद्यात्मक गेय पाठ हो, इस कारण इसका नाम भी गाथा है, (५) जिसमें बहुत-सा अर्थ-समूह एकत्र करके समाविष्ट किया गया हो अर्थात्—पूर्वोक्त १५ अध्ययनों में कथित अर्थों (तथ्यों) को पिण्डित—एकत्रित करके प्रस्तुत अध्ययन में समाविष्ट किये जाने से इस अध्ययन का नाम 'गाथा' रखा गया है, अथवा (६) पूर्वोक्त १५ अध्ययनों में साधुओं के जो क्षमा आदि गुण विधि-निषेधरूप में बताए गए हैं, वे इस सोलहवें अध्ययन में एकत्र करके प्रशंसात्मक रूप में कहे जाने के कारण इस अध्ययन को 'गाथा' एवं 'गाथा षोडशक' भी कहते हैं।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में श्रमण, माहन, भिक्षु और निर्ग्रन्थ का स्वरूप पृथक्-पृथक् गुणनिष्पन्न-निर्वचन करके प्रशंसात्मकरूप से बताया गया है।[2]

यह अध्ययन समस्त अध्ययनों का सार है, गद्यात्मक है तथा सूत्र संख्या ६३२ से प्रारम्भ होकर ६३७ पर समाप्त होता है। ☐☐

---

१. पाइअ-सद्द-महण्णवो, पृष्ठ २९३

२. (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० १३७ से १४१ तक (ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २६१-२६२

गाथा : सोलसमं अज्झयणं

गाथा : षोडश अध्ययन

माहण-श्रमण–परिभाषा-स्वरूप

६३२. अहाह भगवं—एवं से दंते दविए वोसट्ठकाए ति वच्चे माहणे ति वा १ समणे ति वा २, भिक्खू ति वा ३, णिग्गंथे ति वा ४।

६३३. पडिआह—भंते ! कहं दंते दविए वोसट्ठकाए ति वच्चे माहणे ति वा समणे ति वा भिक्खू ति वा णिग्गंथे ति वा ? तं नो बूहि महामुणी !

६३२. पूर्वोक्त पन्द्रह अध्ययन कहने के वाद भगवान् ने कहा—इस प्रकार (पन्द्रह अध्ययनों में उक्त) अर्थो-गुणों से युक्त जो साधक दान्त (इन्द्रियों और मन को वश में कर चुका) है, द्रव्य (भव्य—मोक्षगमनयोग्य) है, जिसने शरीर के प्रति ममत्व त्याग दिया है, उसे माहन, श्रमण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ कहना चाहिए।

६३३. शिष्य ने प्रतिप्रश्न किया—भंते ! पूर्वोक्त पन्द्रह अध्ययनों में कथित अर्थों-गुणों से युक्त जो साधक दान्त है, भव्य है, शरीर के प्रति जिसने ममत्व का व्युत्सर्ग कर दिया है, उसे क्यों माहण, श्रमण भिक्षु या निर्ग्रन्थ कहना चाहिए ? हे महामुने ! कृपया यह हमें बताइए।

विवेचन—माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ : स्वरूप और प्रतिप्रश्न—प्रस्तुत सूत्र में सुधर्मास्वामी ने अपने शिष्यों के समक्ष पूर्वोक्त १५ अध्ययनों में कथित साधुगुणों से युक्त साधक को भगवान् द्वारा माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ कहे जाने का उल्लेख किया तो शिष्यों ने जिज्ञासावश प्रतिप्रश्न किया कि क्यों और किस अपेक्षा से उन्हें माहन आदि कहा जाए ?

इस प्रश्न के सामाधानार्थ अगले सूत्रों में इन चारों का क्रमशः लक्षण बताया गया है।

दान्त—जो साधक इन्द्रियों और मन का दमन करता है, उन्हें पापाचरण या सावद्यकार्य में प्रवृत्त होने से रोकता है, यहाँ तक कि अपनी इन्द्रियों और मन को इतना अभ्यस्त कर लेता है कि वे कुमार्ग में जाते ही नहीं।

व्युत्सृष्टकाय—जो शरीर को सजाने-संवारने, पुष्ट करने, शृंगारित करने आदि सब प्रकार के शरीर-संस्कारों और शरीर के प्रति ममत्व का त्याग कर चुका हो।[1]

माहन स्वरूप

६३४. इति विरतसव्वपावकम्मे पेज्ज-दोस-कलह-अब्भक्खाण-पेसुन्न-परपरिवाय-अरतिरति-मायामोस-मिच्छादंसणसल्ले विरए समिते सहिते सदा जते णो कुज्झे णो माणी माहणे ति वच्चे।

६३४. पूर्वोक्त पन्द्रह अध्ययनों में जो उपदेश दिया है, उसके अनुसार आचरण करने वाला जो साधक समस्त पापकर्मों से विरत है, जो किसी पर राग या द्वेष नहीं करता, जो कलह से दूर रहता है, किसी पर मिथ्या दोषारोपण नहीं करता, किसी की चुगली नहीं करता, दूसरों की निन्दा नहीं करता, जिसकी संयम में अरुचि (अरति) और असंयम में रुचि (रति) नहीं है, कपट-युक्त असत्य नहीं बोलता (दम्भ नहीं करता), अर्थात् अठारह ही पापस्थानों से विरत होता है, पाँच समितियों से युक्त और ज्ञान-दर्शन-चारित्र से सम्पन्न है, सदैव षड्जीवनिकाय की यतना—रक्षा करने में तत्पर रहता है अथवा सदा इन्द्रियजयी होता है, किसी पर क्रोध नहीं करता, न अभिमान करता है, इन गुणों से सम्पन्न अनगार 'माहन' कहे जाने योग्य है।

विवेचन—'माहन' का स्वरूप—किन गुणों से युक्त व्यक्ति को 'माहन' कहा जाना चाहिए? इसका निरूपण प्रस्तुत सूत्र में किया गया है।

'माहन' का अर्थ और उक्त लक्षण—'माहन' पद मा+हन इन दो शब्दों से बनता है, अर्थ होता है—'किसी भी प्राणी का हनन मत करो'; इस प्रकार का उपदेश जो दूसरों को देता है, अथवा जो स्वयं त्रस-स्थावर, सूक्ष्म-बादर, किसी भी प्राणी की किसी प्रकार से हिंसा (हनन) नहीं करता। हिंसा दो प्रकार की होती है—द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। राग, द्वेष, कषाय, या असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रहवृत्ति आदि सब भावहिंसा के अन्तर्गत हैं। भावहिंसा द्रव्यहिंसा से बढ़कर भयंकर है। 'माहन' दोनों प्रकार की हिंसा से विरत होता है। माहन को यहाँ भगवान् ने अठारह पापस्थानों से विरत बताया है, इसका अर्थ है, वह भावहिंसा के इन मूल कारणों से विरत रहता है। फिर माहन को पंच समिति एवं त्रिगुप्ति से युक्त बताया है, इसका तात्पर्य है, वह असत्य, चोरी आदि भावहिंसाओं से रक्षा करने वाली समिति-गुप्ति से युक्त है। फिर सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयसम्पन्न माहन हिंसा निवारण के अमोघ उपायभूत मार्ग से सुशोभित है। हिंसा से सर्वथा निवृत्त माहन षड्जीवनिकाय की रक्षा के लिए सदैव यत्नवान होता ही है। क्रोध और अभिमान—ये दो भावहिंसा के प्रधान जनक हैं। माहन क्रोधादि भावहिंसाजनक कषायों से दूर रहता है। ये सब गुण 'माहन' के अर्थ के साथ सुसंगत हैं, इसलिए उक्त गुणों से सम्पन्न साधक को माहन कहना युक्तियुक्त है।

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २६२

श्रमण स्वरूप

६३५. एत्थ वि समण अणिस्सिते अणिदाणे आदाणं च अतिवायं च मुसावायं च वहिद्धं च कोहं च माणं च मायं च लोभं च पेज्जं च दोसं च इच्चेवं जतो आदाणातो अप्पणो पदोसहेतुं ततो तओ आदाणातो पुव्वं पडिविरते > विरते पाणाइवायाओ < दंते दविए वोसट्ठकाए समणे त्ति वच्चे ।

६३५. जो साधु पूर्वोक्त विरति आदि गुणों से सम्पन्न है, उसे यहाँ (इस सूत्र में) कहे जाने वाले गुणों से भी सम्पन्न होना चाहिए। जो साधक अनिश्रित (शरीर आदि किसी भी पर-पदार्थ में आसक्त या आश्रित नहीं) है; अनिदान (अपने तप-संयम के फल के रूप में किसी भी प्रकार के इह-पारलौकिक सुख-भोगाकांक्षा से रहित) है, तथा कर्मवन्ध के कारणभूत प्राणातिपात, मृषावाद, मैथुन और परिग्रह (उपलक्षण से अदत्तादान) से रहित है, तथा क्रोध मान, माया, लोभ, राग और द्वेष नहीं करता। इस प्रकार जिन-जिन कर्मवन्ध के आदानों—कारणों से इहलोक-परलोक में आत्मा की हानि होती है, तथा जो-जो आत्मा के लिए द्वेष के कारण हों, उन-उन कर्मवन्ध के कारणों से पहले से ही निवृत्त है, एवं जो दान्त, भव्य (द्रव्य) तथा शरीर के प्रति ममत्व से रहित है, उसे श्रमण कहना चाहिए।

विवेचन—श्रमण का स्वरूप—प्रस्तुत सूत्रगाथा में यह बताया गया है कि 'किन विशिष्ट गुणों से सम्पन्न होने पर साधक को श्रमण कहा जा सकता है।'

'श्रमण' का निर्वचन और लक्षण—प्राकृतभाषा के 'समण' शब्द के संस्कृत में तीन रूपान्तर होते हैं—श्रमण, शमन और समन। श्रमण का अर्थ है—जो मोक्ष (कर्ममोक्ष) के लिए स्वयं श्रम करता है, तपस्या करता है। शमन का अर्थ है—जो कषायों का उपशमन करता है, और समन का अर्थ है—जो प्राणिमात्र पर समभाव रखता है, अथवा शत्रु-मित्र पर जिसका मन सम—राग-द्वेषरहित—है। इन अर्थों के प्रकाश में जब हम प्रस्तुत सूत्रोक्त श्रमण के लक्षण को कसते हैं तो वह पूर्णतः खरा उतरता है। श्रमण का पहला लक्षण 'अनिश्रित' बताया है, वह इसलिए कि श्रमण किसी देव आदि का आश्रित बनकर नहीं जीता, वह तप-संयम में स्वश्रम (पुरुषार्थ) के बल पर आगे बढ़ता है। श्रमण जो भी तप करता है, वह कर्मक्षय के उद्देश्य से ही करता है। निदान करने से कर्मक्षय नहीं होता, इसलिए श्रमण का लक्षण 'अनिदान' बताया गया है। श्रमण संयम और तप में जितना पराक्रम करता है, वह कर्मक्षय के लिए करता है, अतः प्राणातिपात आदि जिन-जिन से कर्मवन्ध होता है, उनका वह शमन (विरति) करता है, उनसे दूर रहता है। क्रोधादि कषायों एवं रागद्वेष आदि का शमन करता है। राग, द्वेष, मोह आदि के कारणों से दूर रहकर 'समन' समत्व में स्थित रहता है।

निष्कर्ष यह है **'अणिस्सिए'** से लेकर **'वोसट्ठकाए'** तक श्रमण के जितने गुण या लक्षण बताये हैं, वे सब 'समण' शब्द के तीनों रूपों में आ जाते हैं। इसलिए उक्त गुणविशिष्ट साधक को 'श्रमण' कहा जाता है।

भिक्षु-स्वरूप

६३६. एत्थ वि भिक्खू अणुन्नए नावणए णामए दंते दविए वोसट्ठकाए संविधुणीय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अज्झप्पजोगसुद्धादाणे उवट्ठिते ठितप्पा संखाए परदत्तभोई भिक्खु त्ति वच्चे।

६३६. 'माहन' और 'श्रमण' की योग्यता के लिए जितने गुण पूर्वसूत्रों में वर्णित हैं, वे सभी यहाँ वर्णित भिक्षु में होने आवश्यक हैं। इसके अतिरिक्त ये विशिष्ट गुण भी भिक्षु में होने चाहिए—वह अनुन्नत (निरभिमान) हो, (गुरु आदि के प्रति) विनीत हो, (अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि के प्रति विनयशील हो), किन्तु भाव से अवनत (दीन मन वाला) न हो, नामक (विनय से अष्ट प्रकार से अपनी आत्मा को नमाने वाला, अथवा सबके प्रति नम्र व्यवहार वाला) हो, दान्त हो, भव्य हो, कायममत्वरहित हो, नाना प्रकार के परीषहों और उपसर्गों का समभावपूर्वक सामना करके सहने वाला हो, अध्यात्मयोग (धर्मध्यान) से जिसका चारित्र (आदान) शुद्ध हो, जो सच्चारित्र-पालन में उद्यत-उपस्थित हो, जो स्थितात्मा (स्थितप्रज्ञ, अथवा जिसकी आत्मा अपने शुद्ध भाव में स्थित है, या मोक्षमार्ग में स्थिरचित्त) हो तथा संसार की असारता जानकर जो परदत्तभोजी (गृहस्थ द्वारा प्रदत्त आहार से निर्वाह करने वाला) है; उस साधु को 'भिक्षु' कहना चाहिए।

विवेचन—भिक्षु का स्वरूप—प्रस्तुत सूत्र में भिक्षु के विशिष्ट गुणों का निरूपण करते हुए उसका स्वरूप बताया गया है।

भिक्षु का अर्थ और सूत्रोक्त लक्षण—भिक्षु का सामान्य अर्थ होता है—भिक्षाजीवी। परन्तु त्यागी भिक्षु न तो भीख माँगने वाला होता है, न ही पेशेवर भिखारी, और न ही भिक्षा से पेट पालकर अपने शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाकर, आलसी एवं निकम्मा बनकर पड़े रहना उसका उद्देश्य होता है। आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार उसकी भिक्षा न तो पौरुषघ्नी होती है और न ही आजीविका, वह सर्वसम्पत्करी होती है। अर्थात्—भिक्षु अहर्निश तप-संयम में, स्वपर-कल्याण में अथवा रत्नत्रय-रूप मोक्षमार्ग की साधना में पुरुषार्थ के लिए भिक्षा ग्रहण करता है।

इस विशिष्ट अर्थ के प्रकाश में जब हम प्रस्तुत सूत्रोक्त भिक्षु के विशिष्ट गुणात्मक स्वरूप की समीक्षा करते हैं तो भिक्षु के लिए बताए हुए सभी विशिष्ट गुण यथार्थ सिद्ध होते हैं। निर्ग्रन्थ भिक्षु का एक विशिष्ट गुण है—'परदत्तभोजी'। इस गुण का रहस्य यह है कि भिक्षु अहिंसा की दृष्टि से न तो स्वयं भोजन पकाता या पकवाता है, न ही अपरिग्रह की दृष्टि से भोजन का संग्रह करता है, न भोजन खरीदता या खरीदवाता है, न खरीदा हुआ लेता है। इसी प्रकार अचौर्य की दृष्टि से गृहस्थ के यहाँ बने हुए भोजन को बिना पूछे उठाकर न लाता या ले लेता है, न छीनकर, चुराकर या लूटकर लेता है। वह निरामिषभोजी गृहस्थवर्ग के यहाँ उसके स्वयं के लिए बनाये हुए आहार में से भिक्षा के नियमानुसार गृहस्थ द्वारा प्रसन्नतापूर्वक दिया गया थोड़ा सा एषणीय, कल्पनीय और अचित्त पदार्थ लेता है।

भिक्षु के अन्य चार विशिष्ट गुण यहाँ बताये गये हैं—(१) **अनुन्नत,** (२) **नावनत,** (३) **विनीत या नामक** और (४) **दान्त**। अनुन्नत आदि चारों गुण इसलिए आवश्यक हैं कि कोई साधक जब भिक्षा को अपना अधिकार या आजीविका का साधन बना लेता है, तब उसमें अभिमान आ जाता है, वह उद्धत होकर गृहस्थों (अनुयायियों) पर धौंस जमाने लगता है, भिक्षा न देने पर श्राप या अनिष्ट कर देने का भय दिखाता है, या भिक्षा देने के लिए दबाव डालता है अथवा दीनता-हीनता या करुणता दिखाकर भोजन लेता है, अथवा भिक्षा न मिलने पर अपनी नम्रता छोड़कर गाँव, नगर या उस गृहस्थ को कोसने या अपशब्दों से धिक्कारने लगता है, अथवा अपनी जिह्वा आदि पर संयम न रखकर सरस, स्वादिष्ट, पौष्टिक वस्तु की लालसावश सम्पन्न घरों में ताक-ताक कर जाता है, अंगारादि दोषों का सेवन कर अपनी जितेन्द्रियता को खो बैठता है। अतः भिक्षु का अनुन्नत, नावनत (अदीन), नामक (विनीत या नम्र) और दान्त होना परम आवश्यक है।

ये चार गुण भिक्षा-विधि में तो लक्षित होते ही हैं, इसके अतिरिक्त साधक के जीवन में प्रत्येक क्षेत्र में इन गुणों की प्रतिच्छाया आनी चाहिए। क्योंकि जीवन में सर्वत्र सर्वदा ही ये गुण आवश्यक हैं।

इसी दृष्टि से आगे **'व्युत्सृष्टकाय'**, **'संख्यात'** **'स्थितात्मा'** और **'उपस्थित'** ये चार विशिष्ट भिक्षु के गुण बताये हैं। इन गुणों का क्रमशः रहस्य यह है कि (१) भिक्षु अपने शरीर पर ममत्व रखकर उसी को हृष्ट-पुष्ट एवं बलिष्ठ बनाने में न लग जाए, किन्तु शरीर पर ममत्व न रखकर कल्पनीय, एषणीय, सात्त्विक यथाप्राप्त आहार से निर्वाह करे। (२) साधु अपने शरीर के स्वभाव का चिन्तन करे कि इसे जितना भी भरा जाता है, वह मल के रूप में निकल जाता है, अतः दोषयुक्त, पौष्टिक, स्वादिष्ट एवं अत्यधिक आहार से पेट भरने की अपेक्षा एषणीय, कल्पनीय, सात्त्विक, अल्पतम आहार से भरकर काम क्यों न चला लूं? मैं शरीर को लेकर पराधीन, परवश न बनूँ। (३) स्थितात्मा होकर भिक्षु अपने आत्मभावों में, या मोक्षमार्ग में स्थिर रहे, आत्मगुण-चिन्तन में लीन रहे, खाने-पीने आदि पदार्थों को पाने और सेवन करने का चिन्तन न करे। (४) भिक्षु अपने सच्चारित्र पालन में उद्यत रहे, उसी का ध्यान रखे, चिन्तन करे, अपने शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं के चिन्तन में मन को प्रवृत्त न करे।

अन्तिम दो विशेषण भिक्षु की विशेषता सूचित करते हैं—(१) अध्यात्म-शुद्धादान और (२) नाना परीषहोपसर्गसहिष्णु। कई भिक्षु भिक्षा न मिलने या मनोऽनुकल न मिलने पर आर्त्तध्यान या रौद्रध्यान करने लगते हैं, यह भिक्षु का पतन है, उसे धर्मध्यानादिरूप अध्यात्मयोग से अपने चारित्र को शुद्ध रखने, रत्नत्रयाराधना-प्रधान चिन्तन करने का प्रयत्न करना चाहिए। साथ ही भिक्षाटन के या भिक्षु के विचरण के दौरान कोई परीषह या उपसर्ग आ पड़े तो उस समय मन में दैन्य या संयम से पलायन का विचार न लाकर उस परीषह या उपसर्ग को समभाव से सहन करना ही भिक्षु का गुण है।

वास्तव में, ये गुण भिक्षु में होंगे, तभी वह सच्चे अर्थ में भिक्षु कहलाएगा।

निर्ग्रन्थ-स्वरूप

६३७. एत्थ वि णिग्गंथे एगे एगविऊ बुद्धे संछिण्णसोते सुसंजते सुसमिते सुसामाइए आयवायपत्ते य विदू दुहतो वि सोयपलिच्छिण्णे णो पूया-सक्कार-लाभट्ठी धम्मट्ठी धम्मविदू णियागपडिवण्णे समियं चरे दंते दविए वोसट्ठकाए निग्गंथे त्ति वच्चे।
से एवमेव जाणह जमहं भयंतारो त्ति बेमि।

।। गाहा : सोलसमं अज्झयणं सम्मत्तं ।।

।। पढमो सुयक्खंधो सम्मत्तो ।।

६३७. पूर्वसूत्र में बताये गये भिक्षुगुणों के अतिरिक्त निर्ग्रन्थ में यहाँ वर्णित कुछ विशिष्ट गुण होने आवश्यक हैं—जो साधक एक (द्रव्य से सहायकरहित अकेला और भाव से रागद्वेषरहित एकाकी आत्मा) हो, जो एकवेत्ता (यह आत्मा परलोक में एकाकी जाता है, इसे भली-भाँति जानता हो या एकमात्र मोक्ष या संयम को ही जानता) हो, जो बुद्ध (वस्तुतत्त्वज्ञ) हो, जो संच्छिन्न स्रोत (जिसने आस्रवों के स्रोत—द्वार बन्द कर दिये) हो, जो सुसंयत (निष्प्रयोजन शरीर क्रिया पर नियन्त्रण रखता हो, अथवा इन्द्रिय और मन पर संयम रखता) हो, जो सुसमित (पांच समितियों से युक्त) हो, जो सुसामायिक युक्त (शत्रु-मित्र आदि पर समभाव रखता) हो, जो आत्मवाद-प्राप्त (आत्मा के नित्यानित्य आदि समग्र स्वरूप का यथार्थ रूप से ज्ञाता) हो, जो समस्त पदार्थों के स्वभाव को जानता हो, जिसने द्रव्य और भाव दोनों तरह से संसारागमन स्रोत (मार्ग) को बन्द कर दिया हो, जो पूजा, सत्कार एवं द्रव्यादि के लाभ का अभिलाषी नहीं हो, जो एकमात्र धर्मार्थी और धर्मवेत्ता हो, जिसने नियाग (मोक्षमार्ग या सत्संयम) को सब प्रकार से स्वीकार (प्राप्त) कर लिया हो, जो समत्व में विचरण करता हो। इस प्रकार का जो साधु दान्त, भव्य हो और काया से आसक्ति हटा चुका हो, उसे निर्ग्रन्थ कहना चाहिए।

अतः आप लोग इसी तरह समझें, जैसा मैंने कहा है, क्योंकि भय से जीवों के त्राता सर्वज्ञ तीर्थंकर आप्त पुरुष अन्यथा नहीं कहते। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—निर्ग्रन्थ का स्वरूप—प्रस्तुत सूत्र में विभिन्न पहलुओं से निर्ग्रन्थ का स्वरूप बताया गया है।

निर्ग्रन्थ का अर्थ और विशिष्ट गुणों की संगति—निर्ग्रन्थ वह कहलाता है, जो बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थों से रहित हो। सहायकता या रागद्वेषयुक्तता, सांसारिक सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों को अपने मान कर उनसे सुख-प्राप्ति या स्वार्थ-पूर्ति की आशा रखना, वस्तुतत्त्व की अनभिज्ञता, आस्रव द्वारों को न रोकना, मन और इन्द्रियों पर असंयम—परवशता, शत्रु-मित्र आदि पर राग-द्वेषादि विषम-भाव, आत्मा के सच्चे स्वरूप को न जानकर शरीरादि को ही आत्मा समझना, द्रव्य-भाव से संसार-स्रोत को खुला रखना, पूजा, सत्कार, या द्रव्य आदि के लाभ की आकांक्षा करना आदि वे ग्रन्थियाँ हैं, जिनसे निर्ग्रन्थता समाप्त हो जाती है। बाह्य-आभ्यन्तर गाँठें निर्ग्रन्थ जीवन को खोखला बना देती

हैं। इसीलिए शास्त्रकार ने निर्ग्रन्थ के लिए एक, एकवित्, बुद्ध, संच्छिन्नस्रोत, सुसंयत, सुसमित, सुसामायित, आत्मवाद-प्राप्त, स्रोतपरिच्छिन्न, अपूजा-सत्कार-लाभार्थी, आदि विशिष्ट गुण अनिवार्य बताये है। क्योंकि एक आदि गुणों के तत्त्वों का परिज्ञान होने पर ही संग, संयोग, सम्बन्ध, सहायक सुख-दुःख-प्रदाता आदि की ग्रन्थि टूटती हैं। साथ ही विधेयात्मक गुणों के रूप में धर्मार्थी, धर्मवेत्ता, नियाग-प्रतिपन्न, समत्वचारी, दान्त, भव्य एवं व्युत्सृष्टकाय आदि विशिष्ट गुणों का विधान भी किया है जो राग-द्वेष, वैर, मोह, हिंसादि पापों की ग्रन्थि से बचाएगा। अतः वास्तव में निर्ग्रन्थत्व के इन गुणों से सुशोभित साधु ही निर्ग्रन्थ कहलाने का अधिकारी है।

इस प्रकार माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ के उत्तरोत्तर विशिष्ट गुणात्मक स्वरूप भगवान् महावीर ने बताये हैं। ये सब भिन्न-भिन्न शब्द और विभिन्न प्रवृत्ति निमित्तक होते हुए भी कथंचित् एकार्थक हैं, परस्पर अविनाभावी हैं।

आप्त पुरुष के इस कथन की सत्यता में संदेह नहीं—प्रस्तुत अध्ययन एवं श्रुतस्कन्ध का उपसंहार करते हुए श्री सुधर्मास्वामी श्री जम्बूस्वामी आदि शिष्यवर्ग से अपने द्वारा उक्त कथन की सत्यता को प्रमाणित करते हुए कहते हैं कि मेरे पूर्वोक्त कथन की सत्यता में किसी प्रकार की शंका न करें, क्योंकि मैंने वीतराग, आप्त, सर्वजीवहितैषी, भयत्राता, तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट बातें ही कही हैं। वे अन्यथा उपदेश नहीं करते।[२]

।। गाहा (गाथा) : षोडश अध्ययन समाप्त ।।

।। सूत्रकृतांग प्रथम श्रुतस्कन्ध सम्पूर्ण ।।

□□

---

[२] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २६५ पर से

सूत्रकृतांगसूत्र : द्वितीय श्रुतस्कन्ध

□

परिचय

□ सूत्रकृतांग सूत्र के इस द्वितीय श्रुतस्कन्ध को निर्युक्तिकार और वृत्तिकार ने 'महाध्ययन' भी कहा है, जिसके दो कारण बताए हैं—(१) इस श्रुतस्कन्ध के अध्ययन बहुत बड़े-बड़े हैं (२) प्रथम श्रुतस्कन्ध में उक्त संक्षिप्त विषय इन अध्ययनों में दृष्टांत देकर विस्तारपूर्वक वर्णित हैं ।[1]

□ द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात अध्ययन हैं। इन के नाम इस प्रकार हैं—(१) पुण्डरीक, (२) क्रियास्थान, (३) आहारपरिज्ञा (४) प्रत्याख्यानक्रिया (५) आचारश्रुत या आगारश्रुत (६) आर्द्रकीय, और (७) नालन्दीय ।

□ इन सात अध्ययनों में से 'आचारश्रुत' और 'आर्द्रकीय' ये दो अन्ययन पद्यरूप हैं, शेष पांच अध्ययन गद्यरूप हैं। आहारपरिज्ञा में केवल चार पद्य हैं, शेष समग्र अध्ययन गद्यमय है। निर्युक्तिकार इन सात अध्ययनों को क्रमशः १७वें अध्ययन से २३वें अध्ययन तक मानते हैं ।[2]

□□

---

[1] (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० १४२-१४३
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २६७

[2] सूत्रकृतांग निर्युक्तिगाथा २२

पौण्डरीक : प्रथम अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांगसूत्र (द्वि० श्रु०) के प्रथम अध्ययन का नाम 'पौण्डरीक' है।

☐ पुण्डरीक शब्द श्वेत शतपत्र (सौ पंखुड़ियों वाले उत्तम श्वेत कमल), तथा पुण्डरीक नामक एक राजा (जो उत्तम संयमनिष्ठ साधु बना) के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

☐ निर्युक्तिकार ने पुण्डरीक के नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, गणन, संस्थान और भाव, ये आठ निक्षेप किये हैं, नामपुण्डरीक तथा स्थापनापुण्डरीक सुगम हैं। द्रव्यपुण्डरीक सचित्त-अचित्त, मिश्र तीन प्रकार के होते हैं।

☐ द्रव्यपुण्डरीक का अर्थ है—सचित्तादि द्रव्यों में जो श्रेष्ठ, उत्तम, प्रधान, प्रवर, एवं ऋद्धिमान् हो। इस दृष्टि से नरकगति को छोड़ कर शेष तीनों गतियों में जो-जो सुन्दर या श्रेष्ठ पदार्थ हो, उसे पुण्डरीक और निकृष्ट को कण्डरीक समझना चाहिए। जलचल, स्थलचर, खेचर, उरपरिसर्प एवं भुजपरिसर्प में स्वभाव से या लोकानुश्रुति से जो प्रवर व प्रधान हैं, वे द्रव्यपुण्डरीक हैं। मनुष्यों में अरिहन्त, चक्रवर्ती, चारणश्रमण, विद्याधर, हरिवंशादि उच्चकुलोत्पन्न तथा ऋद्धिसम्पन्न आदि द्रव्यपौण्डरीक हैं। चारों निकायों के देवों में इन्द्र, सामानिक आदि प्रधान होने से पौण्डरीक है। इसी प्रकार अचित्त एवं मिश्र द्रव्य पौण्डरीक समझ लेने चाहिए।

☐ देवकुरु आदि शुभ प्रभाव, एवं भाव वाले क्षेत्र क्षेत्रपौण्डरीक हैं।

☐ भवस्थिति की दृष्टि से अनुत्तरौपपातिक देव तथा कायस्थिति की दृष्टि से एक, दो, तीन या सात-आठ भवों के अनन्तर मोक्ष पाने वाले शुभ एवं शुद्धाचार से युक्त मनुष्य कालपौण्डरीक हैं।

☐ परिकर्म, रज्जु आदि से लेकर वर्ग तक दस प्रकार के गणित में रज्जुगणित प्रधान होने से वह गणनपौण्डरीक है।

☐ छह संस्थानों में समचतुरस्र संस्थान श्रेष्ठ होने से संस्थानपौण्डरीक है।

☐ औदयिक से लेकर सान्निपातिक तक छह भावों में से जिस-जिस भाव में जो प्रधान या प्रवर हों, वे भावपौण्डरीक हैं, शेष भावकण्डरीक हैं। जैसे कि औदयिक भाव में तीर्थंकर, अनुत्तरौपपातिक देव, तथा श्वेत शतपत्रवाला कमल हैं, इसी तरह अन्य भावों में भी जो श्रेष्ठ हैं, वे भावपौण्डरीक हैं। अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में, ज्ञानादिविनय में तथा धर्मध्यानादि अध्यात्म में जो श्रेष्ठ मुनि हैं, वे भावतः पौण्डरीक हैं, शेष कण्डरीक हैं।

☐ प्रस्तुत अध्ययन में सचित्त तिर्यञ्चयोनिक एकेन्द्रिय वनस्पतिकायिक श्वेतकमलरूप द्रव्य-पौण्डरीक का अथवा औदयिक भाववर्ती वनस्पतिकायिक श्वेतशतपत्र रूप भावपौण्डरीक का, तथा सम्यग्दर्शन, चारित्र, विनय-अध्यात्मवर्ती सुसाधु-श्रमण रूप भावपौण्डरीक का वर्णन है।[1]

---

[1] (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा० १४४-१५७ तक
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २६८-२६९ का सारांश

☐ पुण्डरीक नामक श्वेतकमल से उपमा देकर वर्णन किया गया है, अथवा आदि में पौण्डरीक नाम ग्रहण किया गया है, इस कारण इस अध्ययन का 'पौण्डरीक' नाम रखा गया है ।[1]

☐ एक विशाल पुष्करिणी में मध्य में एक पुण्डरीक कमल खिला है, उसे प्राप्त करने के लिए पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा से क्रमशः चार व्यक्ति आए । चारों ही पुष्करिणी के गाढ़ कीचड़ में फंस गए, पुण्डरीक को पाने में असफल रहे । अन्त में एक निःस्पृह संयमी श्रमण आया । उसने पुष्करिणी के तट पर ही खड़े रह कर पुण्डरीक को पुकारा और वह उसके हाथ में आ गया ।

प्रस्तुत रूपक का सार यह है—संसार पुष्करिणी के समान है, उसमें कर्मरूपी पानी और विषयभोगरूपी कीचड़ भरा है । अनेक जनपद चारों ओर खिले कमलों के सदृश हैं । मध्य में विकसित श्वेत पुण्डरीक कमल राजा के सदृश है । पुष्करिणी में प्रवेश करने वाले चारों पुरुष क्रमशः तज्जीव-तच्छरीरवादी, पंचभूतवादी, ईश्वरकारणवादी और नियतिवादी हैं । ये चारों ही विषयभोगरूप पंक में निमग्न हो कर पुण्डरीक को पाने में असफल रहे । अन्त में जिनप्रणीत-धर्मकुशल श्रमण आया । तट धर्मतीर्थ रूप है । श्रमण द्वारा कथित शब्द धर्मकथा सदृश हैं और पुण्डरीक कमल का उठना निर्वाण के समान है । जो अनासक्त, निःस्पृह और सत्य-अहिंसादि महाव्रतों के निष्ठापूर्वक पालक हैं, वे ही निर्वाण को प्राप्त कर सकते हैं, जो विपरीत सावद्य आचार-विचारवाले हैं, वे निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकते । यही प्रथम अध्ययन के उपमायुक्त वर्णन का सार है ।[2]

☐ प्रस्तुत अध्ययन में पुष्करिणी में पुण्डरीक कमल-प्राप्ति की उपमा देकर यह भी संकेत किया गया है कि जो लोग प्रव्रज्याधारी हो कर भी विषयपंक में निमग्न हैं, वे स्वयं संसारसागर को पार नहीं कर सकते, तब दूसरों को कैसे पार पहुंचा सकेंगे ?

☐ गद्यमय इस अध्ययन का मूल उद्देश्य विषयभोग से या विपरीत आचार-विचार से निवृत्त करके मुमुक्षु जीवों को मोक्षमार्ग में प्रवृत्त करना है ।

☐ इस अध्ययन के कुछ शब्द और वाक्य आचारांग के शब्दों एवं वाक्यों से मिलते-जुलते हैं ।

☐ यह महाऽध्ययन सूत्र ६३८ से प्रारम्भ होकर सूत्र ६९३ पर समाप्त होता है ।

☐☐

---

[1] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २७१
(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० १२१

[2] (क) जैनागमसाहित्य : मनन और मीमांसा पृ० ८६, ८७
(ख) जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भा० १, पृ० १५७-१५८

पोंडरीयं : पढमं अज्झयणं

पौण्डरीक : प्रथम अध्ययन

पुष्करिणी और उसके मध्य में विकसित पुण्डरीक का वर्णन

६३८. सुयं मे आउसंतेण भगवता एवमक्खायं—इह खलु पोंडरीए णामं अज्झयणे, तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते—से जहाणामए पोक्खरणी सिया बहुउदगा बहुसेया बहुपुक्खला लद्धट्ठा पुंडरीगिणी पासादिया दरिसणीया अभिरूवा पडिरूवा।

तीसे णं पुक्खरणीए तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे पउमवरपोंडरिया बुइया अणुपुव्वट्ठिया ऊसिया रुइला वण्णमंता गंधमंता रसमंता फासमंता पासादीया दरिसणीया अभिरूवा पडिरूवा।

तीसे णं पुक्खरणीए बहुमज्झदेसभाए एगे महं पउमवरपोंडरीए बुइए अणुपुव्वट्ठिए ऊसिते रुइले वण्णमंते गंधमंते रसमंते फासमंते पासादीए दरिसणिए अभिरूवे पडिरूवे।

सव्वावंति च णं तीसे पुक्खरणीए तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे पउमवरपुंडरीया बुइया अणुपुव्वट्ठिता जाव पडिरूवा। सव्वावंति च णं तीसे पुक्खरणीए बहुमज्झदेसभागे एगे महं पउमवरपोंडरीए बुइते अणुपुव्वट्ठिते जाव पडिरूवे।

६३८. (श्रीसुधर्मास्वामी श्रीजम्बूस्वामी से कहते हैं) हे आयुष्मन् ! मैंने सुना है—'उन भगवान् ने ऐसा कहा था'—इस आर्हत प्रवचन में पौण्डरीक नामक एक अध्ययन है, उसका यह अर्थ—भाव उन्होंने बताया—कल्पना करो कि जैसे—कोई पुष्करिणी (कमलों वाली बावड़ी) है, जो अगाध जल से परिपूर्ण है, बहुत कीचड़वाली है, (अथवा बहुत से श्वेत पद्म होने तथा स्वच्छ जल होने से अत्यन्त श्वेत है), बहुत पानी होने से अत्यन्त गहरी है अथवा बहुत-से कमलों से युक्त है। वह पुष्करिणी (कमलों वाली इस) नाम को सार्थक करनेवाली या यथार्थ नाम वाली, अथवा जगत् में लब्धप्रतिष्ठ है। वह प्रचुर पुण्डरीकों—श्वेतकमलों से सम्पन्न है। वह पुष्करिणी देखने मात्र से चित्त को प्रसन्न करनेवाली, दर्शनीय, प्रशस्तरूपसम्पन्न, अद्वितीयरूपवाली (अत्यन्त मनोहर) है।

उस पुष्करिणी के देश-देश (प्रत्येक देश) में, तथा उन-उन प्रदेशों में—यत्र-तत्र बहुत-से उत्तमोत्तम पौण्डरीक (श्वेतकमल) कहे गए हैं; जो क्रमशः ऊँचे उठे (उभरे) हुए हैं। वे पानी और कीचड़ से ऊपर उठे हुए हैं। अत्यन्त दीप्तिमान् हैं, रंग-रूप में अतीव सुन्दर हैं, सुगन्धित हैं, रसों से युक्त हैं, कोमल स्पर्शवाले हैं, चित्त को प्रसन्न करनेवाले, दर्शनीय, अद्वितीय रूपसम्पन्न एवं सुन्दर हैं।

उस पुष्करिणी के ठीक बीचोंबीच (मध्य भाग में) एक बहुत बड़ा तथा कमलों में श्रेष्ठ

पौण्डरीक (श्वेत) कमल स्थित वताया गया है। वह भी उत्तमोत्तम क्रम से विलक्षण रचना से युक्त है, तथा कीचड़ और जल से ऊपर उठा हुआ है, अथवा बहुत ऊँचा है। वह अत्यन्त रुचिकर या दीप्तिमान् है, मनोज्ञ है, उत्तम सुगन्ध से युक्त है, विलक्षण रसों से सम्पन्न है, कोमलस्पर्श युक्त है, अत्यन्त आह्लादक दर्शनीय, मनोहर और अतिसुन्दर है।

(निष्कर्ष यह है) उस सारी पुष्करिणी में जहाँ-तहाँ, इधर-उधर सभी देश-प्रदेशों में बहुत से उत्तमोत्तम पुण्डरीक (श्वेत कमल) भरे पड़े (वताए गए) हैं। वे क्रमशः उतार-चढ़ाव से सुन्दर रचना से युक्त हैं, जल और पंक से ऊपर उठे हुए, काफी ऊँचे, विलक्षण दीप्तिमान् उत्तम वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श से युक्त तथा पूर्वोक्त गुणों से सम्पन्न अत्यन्त रूपवान् एवं अद्वितीय सुन्दर हैं।

उस समग्र पुष्करिणी के ठीक वीच में एक महान् उत्तमपुण्डरीक (श्वेतकमल) वताया गया है, जो क्रमशः उभरा हुआ यावत् (पूर्वोक्त) सभी गुणों से सुशोभित बहुत मनोरम है।

विवेचन—पुष्करिणी और उसके मध्य में विकसित पुण्डरीक का वर्णन—प्रस्तुत सूत्र में शास्त्रकार ने संसार का मोहक स्वरूप सरलता से समझाने और उसके आकर्षण से ऊपर उठकर साधक को मोक्ष के अभिमुख करने के लिए पुष्करिणी और पुण्डरीक के रूपक का अवलम्बन लिया है।

पुष्करिणी के विस्तृत वर्णन के पीछे दो मुख्य रहस्य प्रतीत होते हैं—

(१) पुष्करिणी की विशालता एवं व्यापकता से संसार की भी व्यापकता (चतुर्गतिपर्यन्त तथा अनन्तकालपर्यन्त) और विशालता (चतुर्दशरज्जुपरिमित) को साधक समझले।

(२) जैसे इसमें विविध कमल, उनकी स्वाभाविक सजावट, उनकी वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श की उत्तमता आदि चित्ताकर्षक एवं मनोहारी होने से व्यक्ति उन्हें पाने के लिए ललचाता है, वैसे ही जगत् के विविध विषयों और चित्ताकर्षक भोगोपभोगयोग्य पदार्थों की बाह्य सुन्दरता, मोहकता आदि देख कर अपरिपक्व साधक सहसा ललचा जाता है। इसी प्रकार पुण्डरीक कमल के छटादार वर्णन के पीछे दो प्रेरणाएँ प्रतीत होती हैं—(१) पुण्डरीक के समान संसार के विषयभोगरूपी पंक एवं कर्म-जल से ऊपर उठकर संयमरूप श्वेतकमल को ग्रहण करे; और (२) मोक्ष-प्राप्ति के लिए संसार की मोहमाया से ऊपर उठकर साधक श्रेष्ठ पुण्डरीकसम सम्यग्दर्शनादि रूप धर्म को अपनाए।[1]

'सव्वावंति' पद से पुष्करिणी और पौण्डरीक कमल के वर्णन को संक्षेप में दोहराने के पीछे शास्त्रकार का आशय पुष्करिणी और पौण्डरीक दोनों के चित्ताकर्षक वर्णन का निष्कर्ष वताना प्रतीत होता है। वृत्तिकार का आशय तो मूलार्थ में दिया जा चुका है। चूर्णिकार का आशय यह है—"सभी मृणाल, नाल, पत्र, केसर, किंजल्क (कली) से युक्त अनुक्रम से प्राप्त, अथवा जहाँ-तहाँ उतार-चढ़ाव से उभरे हुए पुण्डरीक कमल।"[2]

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २७१ पर से

२. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २७२ पर से

(ख) सूयगडंग चूर्णि (मू० पा० टिप्पण) पृ० १२२

श्रेष्ठ पुण्डरीक को पाने में असफल चार पुरुष

६३९. अह पुरिसे पुरत्थिमातो दिसातो आगम्म तं पुक्खरणीं तीसे पुक्खरणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वट्ठितं ऊसियं जाव पडिरूवं ।

तए णं से पुरिसे एवं वदासी—अहमंसि पुरिसे खेत्तण्णे कुसले पंडिते वियत्ते मेधावी अबाले मग्गत्थे मग्गविदू मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खेस्सामि त्ति कट्टु इति वच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरणिं, जाव जावं च णं अभिक्कमे ताव तावं च णं महंते उदए, महंते सेए, पहीणे तीरं, अप्पत्ते पउमवरपोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा पोक्खरणीए सेयंसि विसण्णे पढमे पुरिसज्जाए ।

६३९. अब कोई पुरुष पूर्वदिशा से उस पुष्करिणी के पास आकार उस पुष्करिणी के तीर (किनारे) पर खड़ा होकर उस महान् उत्तम एक पुण्डरीक को देखता है, जो क्रमशः (उतार-चढ़ाव के कारण) सुन्दर रचना से युक्त तथा जल और कीचड़ से ऊपर उठा हुआ एवं यावत् (पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त) बड़ा ही मनोहर है ।

इसके पश्चात् उस श्वेतकमल को देखकर उस पुरुष ने (मन ही मन) इस प्रकार कहा—"मैं पुरुष हूँ, खेदज्ञ (क्षेत्रज्ञ या निपुण) हूँ, कुशल (हित में प्रवृत्ति एवं अहित से निवृत्ति करने में निपुण) हूँ, पण्डित (पाप से दूर, धर्मज्ञ या देशकालज्ञ), व्यक्त (बाल-भाव से निष्क्रान्त-वयस्क अथवा परिपक्व-बुद्धि), मेधावी (बुद्धिमान्) तथा अवाल (बालभाव से निवृत्त—युवक) हूँ । मैं मार्गस्थ (सज्जनों द्वारा आचरित मार्ग पर स्थित हूँ, मार्ग का ज्ञाता हूँ, मार्ग की गति एवं पराक्रम का (जिस मार्ग से चलकर जीव अपने अभीष्टदेश में पहुँचता है, उसका) विशेषज्ञ हूँ । मैं कमलों में श्रेष्ठ इस पुण्डरीक कमल को (उखाड़कर) बाहर निकाल लूँगा । इस इच्छा से यहाँ आया हूँ—यह कहकर वह पुरुष उस पुष्करिणी में प्रवेश करता है । वह ज्यों-ज्यों उस पुष्करिणी में आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसमें अधिकाधिक गहरा पानी और कीचड़ का उसे सामना करना पड़ता है । अतः वह व्यक्ति तीर से भी हट चुका और श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल के पास भी नहीं पहुँच पाया । वह न इस पार का रहा, न उस पार का । अपितु उस पुष्करिणी के बीच में ही गहरे कीचड़ में फंस कर अत्यन्त क्लेश पाता है । यह प्रथम पुरुष की कथा है ।

६४०. अहावरे दोच्चे पुरिसज्जाए ।

अह पुरिसे दक्खिणातो दिसातो आगम्म तं पुक्खरिणीं तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वट्ठितं जाव पडिरूवं, तं च एत्थ एगं पुरिसजातं पासति पहीणं तीरं, अपत्तं पउमवरपोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा पोक्खरणीए सेयंसि विसण्णं ।

तए णं से पुरिसे तं पुरिसं एवं वदासी—अहो णं इमे पुरिसे अखेयण्णे अकुसले अपंडिते अवियत्ते अमेहावी बाले णो मग्गत्थे णो मग्गविऊ णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू जं णं एस पुरिसे 'खेयन्ने कुसले

जाव पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खेस्सामि,' णो य खलु एतं पउमवरपोंडरीयं एवं उन्निक्खेयव्वं जहा णं एस पुरिसे मन्ने ।

अहमंसि पुरिसे खेयण्णे कुसले पंडिए वियत्ते मेहावी अवाले मग्गत्थे मग्गविऊ मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि त्ति कट्टु इति वच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरणिं, जाव जावं च णं अभिक्कमे ताव तावं च णं महंते उदए महंते सेए, पहीणे तीरं, अप्पत्ते पउमवरपोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा सेयंसि विसण्णे दोच्चे पुरिसजाते ।

६४०. अब दूसरे पुरुष का वृत्तान्त वताया जाता है ।

(पहले पुरुष के कीचड़ में फंस जाने के वाद) दूसरा पुरुष दक्षिण दिशा से उस पुष्करिणी के पास आकर उस (पुष्करिणी) के दक्षिण किनारे पर ठहर कर उस श्रेष्ठ पुण्डरीक को देखता है, जो विशिष्ट क्रमवद्ध रचना से युक्त है, यावत् (पूर्वोक्त) विशेषणों से युक्त) अत्यन्त सुन्दर है । वहाँ (खड़ा-खड़ा) वह उस (एक) पुरुष को देखता है, जो किनारे से वहुत दूर हट चुका है, और उस प्रधान श्वेत-कमल तक पहुँच नहीं पाया है; जो न इधर का रहा है, न उधर का, वल्कि उस पुष्करिणी के वीच में ही कीचड़ में फंस गया है ।

तदनन्तर दक्षिण दिशा से आये हुए इस दूसरे पुरुष ने उस पहले पुरुष के विपय में कहा कि—"अहो ! यह पुरुष खेदज्ञ (मार्गजनित खेद-परिश्रम को जानता) नहीं है, (अथवा इस क्षेत्र का अनुभवी नहीं है), यह अकुशल है, पण्डित नहीं है, परिपक्व बुद्धिवाला तथा चतुर नहीं है, यह अभी वाल—अज्ञानी है । यह सत्पुरुषों के मार्ग में स्थित नहीं है, न ही यह व्यक्ति मार्गवेत्ता है । जिस मार्ग से चलकर मनुष्य अपने अभीष्ट उद्देश्य को प्राप्त करता है, उस मार्ग की गतिविधि तथा पराक्रम को यह नहीं जानता । जैसा कि इस व्यक्ति ने यह समझा था कि मैं वड़ा खेदज्ञ या क्षेत्रज्ञ हूँ, कुशल हूँ, यावत् पूर्वोक्त विशेषताओं से युक्त हूँ, मैं इस पुण्डरीक को उखाड़कर ले आऊँगा, किन्तु यह पुण्डरीक इस तरह उखाड़ कर नहीं लाया जा सकता जैसा कि यह व्यक्ति समझ रहा है ।"

"मैं खेदज्ञ (या क्षेत्रज्ञ) पुरुष हूँ, मैं इस कार्य में कुशल हूँ, हिताहित विज्ञ हूँ, परिपक्ववुद्धि-सम्पन्नप्रौढ़ हूँ, तथा मेधावी हूँ, मैं नादान वच्चा नहीं हूँ, पूर्वज सज्जनों द्वारा आचरित मार्ग पर स्थित हूँ, उस पथ का ज्ञाता हूँ, उस मार्ग की गतिविधि और पराक्रम को जानता हूँ । मैं अवश्य ही इस उत्तम श्वेतकमल को उखाड़कर वाहर निकाल लाऊँगा, (मैं ऐसी प्रतिज्ञा करके ही यहाँ आया हूँ) यों कह कर वह द्वितीय पुरुष उस पुष्करिणी में उतर गया । ज्यों-ज्यों वह आगे वढ़ता गया, त्यों-त्यों उसे अधिकाधिक जल और अधिकाधिक कीचड़ मिलता गया । इस तरह वह भी किनारे से दूर हट गया और उस प्रधान पुण्डरीक कमल को भी प्राप्त न कर सका । यों वह न इस पार का रहा और न उस पार का रहा । वह पुष्करिणी के वीच में कीचड़ में फंसकर रह गया और दुःखी हो गया । यह दूसरे पुरुष का वृत्तान्त है ।

६४१. अहावरे तच्चे पुरिसजाते ।

अह पुरिसे पच्चत्थिमाओ दिसाओ आगम्म तं पुक्खरणिं तीसे पुक्खरिणीए तीरे ठिच्चा पासति

तं महं एगं पउमवरपुंडरीयं अणुपुव्वट्ठियं जाव पडिरूवं, ते तत्थ दोण्णि पुरिसज्जाते पासति पहीणे तीरं, अप्पत्ते पउमवरपोंडरीयं, णो हव्वाए णो पाराए, जाव सेयंसि निसण्णे।

तते णं से पुरिसे एवं वदासी—अहो णं इमे पुरिसा अखेत्तन्ना अकुसला अपंडिया अवियत्ता अमेहावी बाला णो मग्गतथा णो मग्गविऊ णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, जं णं एते पुरिसा एवं मण्णे 'अम्हेतं पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खेस्सामो,' णो य खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एवं उण्णिक्खेतव्वं जहा णं एए पुरिसा मण्णे।

अहमंसि पुरिसे खेतन्ने कुसले पंडिते वियत्ते मेहावी अबाले मग्गथे मग्गविऊ मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खेस्सामि इति वच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरणिं, जाव जावं च णं अभिक्कमे ताव तावं च णं महंते उदए महंते सेए जाम अंतरा सेयंसि निसण्णे तच्चे पुरिसजाए।

६४१. इसके पश्चात् तीसरे पुरुष का वर्णन किया जाता है।

दूसरे पुरुष के पश्चात् तीसरा पुरुष पश्चिम दिशा से उस पुष्करिणी के पास आ कर उस के किनारे खड़ा हो कर उस एक महान् श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल को देखता है, जो विशेष रचना से युक्त यावत् पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त अत्यन्त मनोहर है। वह वहाँ (उस पुष्करिणी में) उन दोनों पुरुषों को भी देखता है, जो तीर से भ्रष्ट हो चुके और उस उत्तम श्वेतकमल को भी नहीं पा सके, तथा जो न इस पार के रहे और न उस पार के रहे, अपितु पुष्करिणी के अधबीच में अगाध कीचड़ में ही फंस कर दुःखी हो गए थे।

इसके पश्चात् उस तीसरे पुरुष ने उन दोनों पुरुषों के लिए इस प्रकार कहा—"अहो ! ये दोनों व्यक्ति खेदज्ञ या क्षेत्रज्ञ नहीं हैं, कुशल भी नहीं हैं, न पण्डित हैं, न ही प्रौढ़—परिपक्वबुद्धिवाले हैं, न ये बुद्धिमान् हैं, ये अभी नादान बालक-से हैं, ये साधु पुरुषों द्वारा आचरित मार्ग पर स्थित नहीं हैं, तथा जिस मार्ग पर चल कर जीव अभीष्ट को सिद्ध करता है, उसे ये नहीं जानते। इसी कारण ये दोनों पुरुष ऐसा मानते थे कि हम इन उत्तम श्वेतकमल को उखाड़ कर बाहर निकाल लाएंगे, परन्तु इस उत्तम श्वेतकमल को इस प्रकार उखाड़ लाना सरल नहीं, जितना कि ये दोनों पुरुष मानते हैं।"

"अलबत्ता मैं खेदज्ञ (क्षेत्रज्ञ), कुशल, पण्डित, परिपक्वबुद्धिसम्पन्न, मेधावी, युवक, मार्गवेत्ता, मार्ग की गतिविधि और पराक्रम का ज्ञाता हूँ। मैं इस उत्तम श्वेतकमल को बाहर निकाल कर ही रहूँगा, मैं यह संकल्प करके ही यहाँ आया हूँ।" यों कह कर उस तीसरे पुरुष ने पुष्करिणी में प्रवेश किया और ज्यों-ज्यों उसने आगे कदम बढ़ाए, त्यों-त्यों उसे बहुत अधिक पानी और अधिकाधिक कीचड़ का सामना करना पड़ा। अतः वह तीसरा व्यक्ति भी वहीं कीचड़ में फंसकर रह गया और अत्यन्त दुःखी हो गया। वह न इस पार का रहा और न उस पार का। यह तीसरे पुरुष की कथा है।

६४२. अहावरे चउत्थे पुरिसजाए।

अह पुरिसे उत्तरातो दिसातो आगम्म तं पुक्खरणिं तीसे पुक्खरणीए तीरे ठिच्चा पासति एगं

पउमवरपोंडरीयं अणुपुव्वट्ठितं जाव पडिरूवं। ते तत्थ तिण्णि पुरिसजाते पासति पहीणे तीरं अप्पत्ते जाव सेयंसि निसण्णे।

तते णं से पुरिसे एवं वदासी—अहो णं इमे पुरिसा अखेत्तण्णा जाव णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, जण्णं एते पुरिसा एवं मण्णे—अम्हेतं पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खिस्सामो। णो खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एवं उण्णिक्खेयव्वं जहा णं एते पुरिसा मण्णे।

अहमंसि पुरिसे खेयण्णे जाव मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, अहमेयं पउमवरपोंडरीयं उण्णिक्खिस्सामि इति वच्चा से पुरिसे अभिक्कमे तं पुक्खरणिं, जाव जावं च णं अभिक्कमे ताव तावं च णं महंते उदए महंते सेते जाव विसण्णे चउत्थे पुरिसजाए।

६४२. एक-एक करके तीन पुरुषों के वर्णन के बाद अब चौथे पुरुष का वर्णन किया जाता है।

तीसरे पुरुष के पश्चात् चौथा पुरुष उत्तर दिशा से उस पुष्करिणी के पास आ कर, किनारे खड़ा हो कर उस एक महान् उत्तम श्वेतकमल को देखता है, जो विशिष्ट रचना से युक्त यावत् (पूर्वोक्त विशेषणों से विशिष्ट) मनोहर है। तथा वह वहाँ (उस पुष्करिणी में) उन तीनों पुरुषों को भी देखता है, जो तीर से बहुत दूर हट चुके हैं और श्वेतकमल तक भी नहीं पहुंच सके हैं अपितु पुष्करिणी के बीच में ही कीचड़ में फंस गए हैं।

तदनन्तर उन तीनों पुरुषों (को देख कर उन) के लिए उस चौथे पुरुष ने इस प्रकार कहा—'अहो! ये तीनों पुरुष खेदज्ञ (क्षेत्रज्ञ) नहीं हैं, यावत् (पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त) मार्ग की गतिविधि एवं पराक्रम के विशेषज्ञ नहीं हैं। इसी कारण ये लोग समझते हैं कि 'हम उस श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल को उखाड़ कर ले आएंगे, किन्तु यह उत्तम श्वेतकमल इस प्रकार नहीं निकाला जा सकता, जैसा कि ये लोग मान रहे हैं।

"मैं खेदज्ञ पुरुष हूँ यावत् उस मार्ग की गतिविधि और पराक्रम का विशेषज्ञ हूँ। मैं इस प्रधान श्वेतकमल को उखाड़ कर ले आऊंगा इसी अभिप्राय से मैं कृतसंकल्प हो कर यहाँ आया हूँ।" यों कह कर वह चौथा पुरुष भी पुष्करिणी में उतरा और ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता गया त्यों-त्यों उसे अधिकाधिक पानी और अधिकाधिक कीचड़ मिलता गया। वह पुरुष उस पुष्करिणी के बीच में ही भारी कीचड़ में फंस कर दुःखी हो गया। अब न तो वह इस पार का रहा, न उस पार का। इस प्रकार चौथे पुरुष का भी वही हाल हुआ।

विवेचन—श्रेष्ठ पुण्डरीक को पाने में असफल चार व्यक्ति—प्रस्तुत चार सूत्रों में पूर्वसूत्रवर्णित पुष्करिणी के मध्य में विकसित एक श्रेष्ठ पुण्डरीक को पाने के लिए जी-तोड़ प्रयत्न करके असफल हुए चार व्यक्तियों की रूपक कथा है।

यद्यपि चारों व्यक्तियों की पुष्करिणी के तट पर आने, पुष्करिणी को एवं उसके ठीक बीच में स्थित श्रेष्ठ श्वेतकमल को देखने की चेष्टाओं तथा तदनन्तर उस श्वेतकमल को पाने के लिए किये जाने वाले प्रयत्न तथा उसमें मिलने वाली विफलता का वर्णन लगभग समान है। परन्तु चारों

व्यक्तियों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण किया जाय तो चारों के मनोभावों और तदनुसार उनकी चेष्टाओं में थोड़ा-थोड़ा अन्तर जान पड़ता है। वह अन्तर इस प्रकार है—

(१) चारों व्यक्ति चार अलग-अलग दिशाओं से आए थे।

(२) प्रथम व्यक्ति ने उस पुष्करिणी को सर्वप्रथम देखा और उस उत्तम श्वेतकमल को पाने में उसकी दृष्टि सर्वप्रथम केन्द्रित हुई। उसके पश्चात् क्रमशः दूसरा, तीसरा और चौथा व्यक्ति आया।

(३) अपने से पूर्व असफल व्यक्ति को क्रमशः दूसरा, तीसरा और चौथा व्यक्ति कोसता है और अपने पौरुष, कौशल और पाण्डित्य की डींग हांकता है।

(४) चारों ही व्यक्तियों ने गर्वोद्धत होकर अपना मूल्यांकन गलत किया, अपने से पूर्व असफल होने वाले व्यक्तियों की असफलता से कोई प्रेरणा नहीं ली। फलतः चारों ही अपने प्रयास में विफल हुए।

उत्तम श्वेतकमल को पाने में सफल : निःस्पृह भिक्षु

६४३. अह भिक्खू लूहे तीरट्ठी खेयण्णे कुसले पंडिते वियत्ते मेहावी अबाले मग्गत्थे मग्गविदू मग्गस्स गतिपरक्खमण्णू अन्नतरीओ दिसाओ अणुदिसाओ वा आगम्म तं पुक्खरणीं तीसे पुक्खरणीए तीरे ठिच्चा पासति तं महं एगं पउमवरपोंडरीयं जाव पडिरूवं, ते य चत्तारि पुरिसजाते पासति पहीणे तीरं अप्पत्ते जाव अंतरा पोक्खरणीए सेयंसि विसण्णे।

तते णं से भिक्खू एवं वदासी—अहो णं इमे पुरिसा अखेतण्णा जाव णो मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू जं णं एते पुरिसा एवं मन्ने 'अम्हेयं पउमवरपोंडरीयं उन्निक्खिस्सामो', णो य खलु एयं पउमवरपोंडरीयं एवं उन्नक्खेतव्वं जहा णं एते पुरिसा मन्ने, अहमंसी भिक्खू लूहे तीरट्ठी खेयण्णे जाव मग्गस्स गतिपरक्कमण्णू, अहमेयं पउमवर-पोंडरीयं उन्निक्खिस्सामि त्ति कट्टु इति वच्चा से भिक्खू णो अभिक्कमे तं पुक्खरणिं, तीसे पुक्खरणीए तीरे ठिच्चा सद्दं कुज्जा—"उप्पताहि खलु भो पउमवरपोंडरीया! उप्पताहि खलु भो पउमवरपोंडरीया! अह से उप्पतिते पउमवरपोंडरीए।"

६४३. इसके पश्चात् राग-द्वेषरहित (रूक्ष-अस्निग्ध घड़े के समान कर्ममल-लेपरहित), संसार-सागर के तीर (उस पार जाने का इच्छुक खेदज्ञ या क्षेत्रज्ञ, यावत् (पूर्वोक्त सभी विशेषणों से युक्त) मार्ग की गति और पराक्रम का विशेषज्ञ तथा निर्दोष भिक्षामात्र से निर्वाह करने वाला साधु किसी दिशा अथवा विदिशा से उस पुष्करिणी के पास आ कर उस (पुष्करिणी) के तट पर खड़ा हो कर उस श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल को देखता है, जो अत्यन्त विशाल यावत् (पूर्वोक्त गुणों से युक्त) मनोहर है और वहाँ वह भिक्षु उन चारों पुरुषों को भी देखता है, जो किनारे से बहुत दूर हट चुके हैं, और उत्तम श्वेतकमल को भी नहीं पा सके हैं। जो न तो इस पार के रहे हैं, न उस पार के, जो पुष्करिणी के बीच में ही कीचड़ में फंस गए हैं।

इसके पश्चात् उस भिक्षु ने उन चारों पुरुषों के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा—अहो! ये चारों व्यक्ति खेदज्ञ नहीं हैं, यावत् (पूर्वोक्त विशेषणों से सम्पन्न) मार्ग की गति एवं पराक्रम से अनभिज्ञ हैं।

इसी कारण ये लोग यों समझने लगे कि "हम लोग इस श्रेष्ठ श्वेतकमल को निकाल कर ले जाएँगे, परन्तु यह उत्तम श्वेतकमल इस प्रकार नहीं निकाला जा सकता, जैसा कि ये लोग समझते हैं।"

"मैं निर्दोष भिक्षाजीवी साधु हूँ, राग-द्वेष से रहित (रूक्ष—निःस्पृह) हूँ। मैं संसार सागर के पार (तीर पर) जाने का इच्छुक हूँ, क्षेत्रज्ञ (खेदज्ञ) हूँ यावत् जिस मार्ग से चल कर साधक अपने अभीष्ट साध्य की प्राप्ति के लिए पराक्रम करता है, उसका विशेषज्ञ हूँ। मैं इस उत्तम श्वेतकमल को (पुष्करिणी से बाहर) निकालूंगा, इसी अभिप्राय से यहाँ आया हूँ।" यों कह कर वह साधु उस पुष्करिणी के भीतर प्रवेश नहीं करता, वह उस (पुष्करिणी) के तट पर खड़ा-खड़ा ही आवाज देता है—"हे उत्तम श्वेतकमल ! वहाँ से उठकर (मेरे पास) आ जाओ, आ जाओ !" यों कहने के पश्चात् वह उत्तम पुण्डरीक उस पुष्करिणी से उठकर (या बाहर निकल कर) आ जाता है।

विवेचन—उत्तम श्वेतकमल को पाने में सफल : निःस्पृह भिक्षु—प्रस्तुत सूत्र में पूर्वोक्त चारों विफल व्यक्तियों की चेष्टाओं और मनोभावों का वर्णन करने के पश्चात् पाँचवें सफल व्यक्ति का वर्णन किया गया है।

पूर्वोक्त चारों पुरुषों के द्वारा पुष्करिणी एवं उसके मध्य में स्थित उत्तम पुण्डरीक को देखने और पांचवें इस राग-द्वेषरहित निःस्पृह भिक्षु को देखने में दृष्टिकोण का अन्तर है। पूर्वोक्त चारों व्यक्ति राग, द्वेष, मोह और स्वार्थ से आक्रान्त थे, अहंकारग्रस्त थे, जब कि निःस्पृह भिक्षु राग-द्वेष मोह से दूर हैं। न इसके मन में स्वार्थ, पक्षपात, लगाव या अहंकार है, न किसी से घृणा और ईर्ष्या है।

प्रश्न होता है—शास्त्रकार ने उन चारों पुरुषों की परस्पर निन्दा एवं स्वप्रशंसा की तुच्छ प्रकृति का जिन शब्दों में वर्णन किया है, उन्हीं शब्दों में इस पांचवें साधु-पुरुष का वर्णन किया है, फिर उनमें और इस भिक्षु में क्या अन्तर रहा ? पांचों के लिए एक-सरीखी वाक्यावली प्रयुक्त करने से तो ये समान प्रकृति के मानव प्रतीत होते हैं, केवल उनके और भिक्षु के प्रयासों और उसके परिणाम में अन्तर है।

इसका युक्तियुक्त समाधान भिक्षु के लिए प्रयुक्त **'लूहे** (राग-द्वेष-रहित) **'तीरट्ठी'** आदि विशेषणों से ध्वनित हो जाता है। जो साधु राग, द्वेष, मोह, स्वार्थ आदि विकारों से दूर है और संसार किनारा पाने का इच्छुक है, उसकी दृष्टि और चेष्टा में एवं रागादिविकारग्रस्त लोगों की दृष्टि और चेष्टा में रातदिन का अन्तर होगा, यह स्वाभाविक है। इसलिए भले ही इस भिक्षु के लिए पूर्वोक्त चारों असफल पुरुषों के समान वाक्यावली का प्रयोग किया गया है परन्तु इसकी दृष्टि और भावना में पर्याप्त अन्तर है। रागी-द्वेषी के जिन शब्दों में दूसरे के प्रति तिरस्कार और अवहेलना छिपी होती है, वीतराग के उन्हीं शब्दों से करुणा का विमल स्रोत प्रवाहित होता है। वीतराग साधु श्वेतकमल के बाह्य सौन्दर्य के नहीं, आन्तरिक सौन्दर्य के दर्शन करता है, साथ ही अपनी शुद्ध निर्विकार अनन्त ज्ञानादि गुण युक्त आत्मा से तुलना करता है। तदनन्तर वह उन चारों असफल व्यक्तियों पर दृष्टिपात करता है, उन पर वह तटस्थ दृष्टि से समभावपूर्वक चिन्तन करता है, मन ही मन उनके प्रति दयाभाव से प्रेरित होकर कहता है—"बेचारे ये अज्ञानी पुरुष इस उत्तम श्वेतकमल को तो पा नहीं सके और इस पुष्करिणी के तट से बहुत दूर हट कर बीच में ही गाढ़ कीचड़ में फंस कर

रह गए। इसके पीछे रहस्य यह मालूम होता है—ये बेचारे इसे प्राप्त करने के उपाय, श्रम या मार्ग को नहीं जानते, न इस कार्य को करने में कुशल विचारक एवं विद्वान् हैं।"

तत्पश्चात् वह भिक्षु चारों की हुई इस दुर्दशा के कारणों पर विचार करके उससे बहुत बड़ी प्रेरणा लेता है। वह अपने अन्तर्मन में पहले तटस्थदृष्टि से सोचता है कि कहीं मैं तो इनके जैसा ही नहीं हूँ। अन्तर्निरीक्षण के बाद वह इस निर्णय पर आता है कि जिन कारणों से ये लोग पुण्डरीक को पाने में असफल रहे, उन कारणों से मैं दूर ही रहूँगा।" फिर उसने अपनी अन्तरात्मा में डुबकी लगा कर यह भी जानने का प्रयत्न किया कि मुझमें इस श्रेष्ठ कमल को पाने की योग्यता, आत्म-शक्ति एवं दृढ़विश्वास है या नहीं, जिसके बल पर मैं इस श्वेतकमल को अपने पास बुला सकूँ। और वह इस निश्चय पर पहुँचा कि मैं एक निःस्पृह भिक्षाजीवी साधु हूँ, मेरे मन में स्वार्थ, द्वेष, घृणा, द्रोह, मोह आदि नहीं है, मैं मोक्षतट पर पहूँचने को इच्छुक हूँ। इसलिए मेरा आत्मविश्वास है कि मैं मोक्ष-सम, दुष्प्राप्य इस श्वेतकमल को अवश्य ही प्राप्त कर सकूँगा।" और इसी आत्मविश्वास एवं आत्मशक्ति से प्रेरित होकर वह भिक्षु पुष्करिणी में प्रविष्ट न हो कर उसके तट पर खड़ा होकर ही उक्त श्वेतकमल को अपने निकट बुलाने में समर्थ हो सका।

शास्त्रकार ने इस रहस्य को यहां नहीं खोला है कि वह उत्तम श्वेतकमल पुष्करिणी से बाहर कैसे निकाल कर आ गया ? यहां तो रूपक के द्वारा इतना ही बताया गया है कि पुष्करिणी के मध्य में स्थित श्वेतकमल को पाने में कौन असफल रहे, कौन सफल ? अगले सूत्रों में इन दृष्टान्तों को घटित किया गया है।

दृष्टान्तों के दार्ष्टान्तिक की योजना

६४४. किट्टिते णाते समणाउसो ! अट्ठे पुण से जाणितव्वे भवति।

भंते ! त्ति समणं भगवं महावीरं निग्गंथा य निग्गंथीओ य वंदंति नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वदासी—किट्टिते नाए समणाउसो ! अट्ठं पुण से ण जाणामो।

समणाउसो ! त्ति समणे भगवं महावीरे ते य बहवे निग्गंथा य निग्गंथीओ य आमंतित्ता एवं वदासी—हंता समणाउसो ! आइक्खामि विभावेमि किट्टेमि पवेदेमि सअट्ठं सहेउं सनिमित्तं भुज्जो भुज्जो उवदंसेमि।

६४४. (श्रमण भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं—) "आयुष्मान् श्रमणो ! तुम्हें मैंने यह दृष्टान्त (ज्ञात) कहा है; इसका अर्थ (भाव) तुम लोगों को जानना चाहिए।"

'हाँ, भदन्त !" कह कर साधु और साध्वी श्रमण भगवान् महावीर को वन्दना और नमस्कार करते हैं। वन्दना-नमस्कार करके भगवान् महावीर से इस प्रकार कहते हैं—"आयुष्मन् श्रमण भगवन् ! आपने जो दृष्टान्त बताया उसका अर्थ (रहस्य) हम नहीं जानते।"

(इस पर) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने उन बहुत-से निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थिनियों को सम्बोधित करके इस प्रकार कहा—'आयुष्मान् श्रमण-श्रमणियो ! मैं इसका अर्थ (रहस्य) बताता हूँ, अर्थ स्पष्ट (प्रकट) करता हूँ। पर्यायवाची शब्दों द्वारा उसे कहता हूँ, हेतु और दृष्टान्तों द्वारा हृदयंगम कराता हूँ; अर्थ, हेतु और निमित्त सहित उस अर्थ को बार-बार बताता हूँ।"

६४५. से वेमि—लोयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! सा पुक्खरणी वुइता, कम्मं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से उदए वुइते, कामभोगा य खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से सेए वुइते, जण-जाणवयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! ते वहवे पउमवरपुंडरीया वुइता, रायाणं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से एगे महं पउमवरपोंडरीए वुइते, अन्नउत्थिया य खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! ते चत्तारि पुरिसजाता वुइता, धम्मं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से भिक्खू वुइते, धम्मतित्थं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से तीरे वुइए, धम्मकहं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से सद्दे वुइते, नेव्वाणं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से उप्पाते वुइते, एवमेयं च खलु मए अप्पाहट्टु समणाउसो ! से एवमेयं वुइतं ।

६४५. (सुनो,) उस अर्थ को मैं कहता हूँ—"आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी इच्छा से मान कर (मात्र रूपक के रूप में कल्पना कर) इस लोक को पुष्करिणी कहा है । और हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी कल्पना से विचार करके कर्म को इस पुष्करिणी का जल कहा है । आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी कल्पना से स्थिर करके काम भोगों को पुष्करिणी का कीचड़ कहा है । आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी दृष्टि से चिन्तन करके आर्य देशों के मनुष्यों और जनपदों (देशों) को पुष्करिणी के बहुत से श्वेतकमल कहा है । आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी इच्छा से अपने मन में निश्चित करके राजा को उस पुष्करिणी का एक महान् श्रेष्ठ श्वेतकमल (पुण्डरीक) कहा है । और हे आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी इच्छा से मानकर अन्यतीर्थिकों को उस पुष्करिणी के कीचड़ में फंसे हुए चार पुरुष वताया है । आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी बुद्धि से चिन्तन करके धर्म को वह भिक्षु वताया है । आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी इच्छा से अपने आप सोचकर धर्मतीर्थ को पुष्करिणी का तट वताया है । और आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपनी आत्मा में निश्चित करके धर्मकथा को उस भिक्षु का वह शब्द (आवाज) कहा है । आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने अपने मन में स्थिर करके निर्वाण (समस्त कर्मक्षयरूप मोक्ष या सिद्धशिला स्थान) को श्रेष्ठ पुण्डरीक का पुष्करिणी से उठ कर वाहर आना कहा है । (संक्षेप में) आयुष्मान् श्रमणो ! मैंने इस (पूर्वोक्त) प्रकार से अपनी आत्मा में निश्चय करके (यत्किञ्चित् साधर्म्य के कारण) इन पुष्करिणी आदि को इन लोक आदि के दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत किया है ।

विवेचन—दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक की योजना—प्रस्तुत दो सूत्रों में से प्रथम सूत्र में श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमण-श्रमणियों की जिज्ञासा देखकर उनको दृष्टान्तों का अर्थघटन करके वताने का आश्वासन दिया है, द्वितीय सूत्र में महावीर प्रभु ने अपनी केवलज्ञानरूपी प्रज्ञा द्वारा निश्चित करके पुष्करिणी आदि दृष्टान्तों का विविध पदार्थों से उपमा देकर इस प्रकार अर्थघटन किया है—

(१) पुष्करिणी चौदह रज्जू-परिमित विशाल लोक है । जैसे पुष्करिणी में अगणित कमल उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं, वैसे ही लोक में अगणित प्रकार के जीव स्व-स्वकर्मानुसार उत्पन्न-विनष्ट होते रहते हैं । पुष्करिणी अनेक कमलों का आधार होती है, वैसे ही मनुष्यलोक भी अनेक मानवों का आधार है ।

(२) पुष्करिणी का जल कर्म है । जैसे पुष्करिणी में जल के कारण कमलों की उत्पत्ति होती है, वैसे ही आठ प्रकार के स्वकृत कर्मों के कारण मनुष्यों की उत्पत्ति होती है ।

(३) काम-भोग पुष्करिणी का कीचड़ है। जैसे कीचड़ में फंसा हुआ मानव अपना उद्धार करने में असमर्थ हो जाता है, वैसे ही काम-भोगों में फंसा मानव भी अपना उद्धार नहीं कर सकता। ये दोनों ही समानरूप से बन्धन के कारण हैं। एक बाह्य बन्धन है, दूसरा आन्तरिक बन्धन।

(४) आर्यजन और जानपद बहुसंख्यक श्वेतकमल हैं। पुष्करिणी में नानाप्रकार के कमल होते हैं, वैसे ही मनुष्यलोक में नानाप्रकार के मानव रहते हैं। अथवा पुष्करिणी कमलों में सुशोभित होती है, वैसे ही मनुष्यों और उनके देशों से मानवलोक सुशोभित होता है।

(५) जैसे पुष्करिणी के समस्त कमलों में प्रधान एक उत्तम और विशाल श्वेतकमल है, वैसे ही मनुष्यलोक के सभी मनुष्यों में श्रेष्ठ और सब पर शासनकर्ता नरेन्द्र होता है, वह शीर्षस्थ एवं स्व-पर-अनुशास्ता होता है, जैसे कि पुष्करिणी में कमलों का शीर्षस्थ, श्रेष्ठ पुण्डरीक है।

(६) अविवेक के कारण पुष्करिणी के कीचड़ में फंस जाने वाले जैसे वे चार पुरुष थे, वैसे ही संसाररूपी पुष्करिणी के काम-भोगरूपी कीचड़ या मिथ्यामान्यताओं के दलदल में फँस जाने वाले चार अन्यतीर्थिक हैं, जो पुष्करिणी-पंकमग्न पुरुषों की तरह न तो अपना उद्धार कर पाते हैं, न ही प्रधान श्वेतकमलरूप शासक का उद्धार कर सकते हैं।

(७) अन्यतीर्थिक गृहत्याग करके भी सत्संयम का पालन नहीं करते, अतएव वे न तो गृहस्थ ही रहते हैं, न साधुपद—मोक्षपद प्राप्त कर पाते हैं। वे बीच में फंसे पुरुषों के समान न इधर के न उधर के रहते हैं—उभयभ्रष्ट ही रह जाते हैं।

(८) जैसे बुद्धिमान पुरुष पुष्करिणी के भीतर न घुस कर उसके तट पर से ही आवाज देकर उत्तम श्वेतकमल को बाहर निकाल लेता है, वैसे ही राग-द्वेषरहित साधु काम-भोगरूपी दलदल से युक्त संसारपुष्करिणी में न घुसकर संसार के धर्मतीर्थरूप तट पर खड़ा (तटस्थ—निर्लिप्त) होकर धर्मकथारूपी आवाज देकर श्वेतकमलरूपी राजा-महाराजा आदि को संसाररूपी पुष्करिणी से बाहर निकाल लेते हैं।

(९) जैसे जल और कीचड़ का त्याग करके कमल बाहर (उनसे ऊपर उठ) आता है, इसी प्रकार उत्तम पुरुष अपने अष्टविध कर्मरूपी जल और काम-भोगरूपी कीचड़ का त्याग करके निर्वाण-पद को प्राप्त कर लेते हैं। श्वेतकमल का ऊपर उठकर बाहर आना ही निर्वाण पाना है।

धर्मश्रद्धालु राजा आदि के मस्तिष्क में अन्यतीर्थिकों द्वारा स्वधर्म प्रवेश का तरीका

६४६. इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संति एगतिया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेण लोगं तं उववन्ना, तं जहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे ह्रस्समंता वेगे, सुवण्णा वेगे दुवण्णा वेगे, सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे।

तेसिं च णं महं एगे राया भवति महाहिमवंतमलयमंदरमहिंदसारे अच्चंतविसुद्धरायकुल वंसप्पसूते निरंतररायलक्खणविरातियंगमंगे बहुजणबहुमाणपूतिते सव्वगुणसमिद्धे खत्तिए मुदिए मुद्धाभिसित्ते माउं पिउं सुजाए दयप्पत्ते सीमंकरे सीमंधरे खेमंकरे खेमंधरे मणुस्सिदे जणवदपिया जणवदपुरोहिते सेउकरे केउकरे णरपवरे पुरिसवरे पुरिससीहे पुरिसआसीविसे पुरिसवरपोंडरीए

पुरिसवरगंधहत्थी अड्ढे दित्ते वित्ते वित्थिण्णविउलभवण-सयणा-ऽऽसण-जाण-वाहणाइण्णे बहुधण-बहुजातरूव-रयए आग्रोगपओगसंपउत्ते विच्छड्डियपउरभत्त-पाणे वहुदासी-दास-गो-महिस-गवेलगप्पभूते पडिपुण्णकोस-कोट्ठागाराउहधरे बलवं दुब्बलपच्चामित्ते ओहयकंटकं निहयकंटकं मलियकंटकं उद्धियकंटकं अकंटयं ओहयसत्तू निहयसत्तू मलियसत्तू उद्धियसत्तू निज्जियसत्तू पराइयसत्तू ववगय-दुब्भिक्खमारिभयविप्पमुक्कं रायवण्णओ जहा उववाइए जाव पसंतडिंबडमरं रज्जं पसासेमाणे विरहति।

६४६. (श्रमण भगवान् महावीर कहते हैं—) इस मनुष्यलोक में पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं में उत्पन्न कई प्रकार के मनुष्य होते हैं, जैसे कि—उन मनुष्यों में कई आर्य (क्षेत्रार्य आदि) होते हैं अथवा कई अनार्य (धर्म से दूर, पापी, निर्दय, निरनुकम्प, क्रोधमूर्ति, असंस्कारी) होते हैं, कई उच्चगोत्रीय होते हैं, कई नीचगोत्रीय। उनमें से कोई भीमकाय (लम्बे और सुदृढ़ शरीर वाले) होते हैं, कई ठिगने कद के होते हैं। कोई (सोने की तरह) सुन्दर वर्ण वाले होते हैं तो कोई बुरे (काले कलूटे) वर्ण वाले। कोई सुरूप (सुन्दर अंगोपांगों से युक्त) होते हैं तो कोई कुरूप (बेडौल, अपंग) होते हैं।

उन मनुष्यों में (विलक्षण कर्मोदय से) कोई एक राजा होता है। वह (राजा) महान् हिमवान् मलयाचल, मन्दराचल तथा महेन्द्र पर्वत के समान सामर्थ्यवान् अथवा वैभववान् होता है। वह अत्यन्त विशुद्ध राजकुल के वंश में जन्मा हुआ होता है। उसके अंग राजलक्षणों से सुशोभित होते हैं। उसकी पूजा-प्रतिष्ठा अनेक जनों द्वारा बहुमानपूर्वक की जाती है, वह गुणों से समृद्ध होता है, वह क्षत्रिय (पीड़ित प्राणियों का त्राता—रक्षक) होता है। वह सदा प्रसन्न रहता है। वह राजा राज्याभिषेक किया हुआ होता है। वह अपने माता-पिता का सुपुत्र (अंगजात) होता है। उसे दया प्रिय होती है। वह सीमंकर (जनता की सुव्यवस्था के लिए सीमा—नैतिक, धार्मिक मर्यादा स्थापित-निर्धारित करने वाला) तथा सीमंधर (स्वयं उस मर्यादा का पालन करने वाला) होता है। वह क्षेमंकर (जनता का क्षेम-कुशल करने वाला) तथा क्षेमन्धर (प्राप्त योगक्षेम का वहन—रक्षण करने वाला) होता है। वह मनुष्यों में इन्द्र, जनपद (देश या प्रान्त) का पिता और जनपद का पुरोहित (शान्तिरक्षक) होता है। वह अपने राज्य या राष्ट्र की सुख-शान्ति के लिए सेतुकर (नदी, नहर, पुल बांध आदि का निर्माण कराने वाला) और केतुकर (भूमि, खेत, बगीचे आदि की व्यवस्था करने वाला) होता है। वह मनुष्यों में श्रेष्ठ, पुरुषों में वरिष्ठ, पुरुषों में सिंहसम, पुरुषों में आसीविष सर्प समान, पुरुषों में श्रेष्ठ पुण्डरीकतुल्य, पुरुषों में श्रेष्ठ मत्तगन्धहस्ती के समान होता है। वह अत्यन्त धनाढ्य, दीप्तिमान् (तेजस्वी) एवं प्रसिद्ध पुरुष होता है। उसके पास विशाल विपुल भवन, शय्या आसन, यान (विविध पालकी आदि) तथा वाहन (घोड़ा-गाड़ी, रथ आदि सवारियाँ एवं हाथी, घोड़े आदि) की प्रचुरता रहती है। उसके कोष (खजाने) प्रचुर धन, सोना, चाँदी आदि से भरे रहते हैं। उसके यहाँ प्रचुर द्रव्य की आय होती है और व्यय भी बहुत होता है। उसके यहाँ से बहुत से लोगों को पर्याप्त मात्रा में भोजन-पानी दिया जाता है। उसके यहां बहुत-से दासी-दास, गाय, बैल, भैंस, बकरी आदि पशु रहते हैं। उसके धान्य का कोठार अन्न से, धन के कोश (खजाने) प्रचुर द्रव्य से और आयुधागार विविध शस्त्रास्त्रों से भरा रहता है। वह शक्तिशाली होता है। वह अपने शत्रुओं को दुर्बल बनाए रखता है। उसके राज्य में कंटक—चोरों, व्यभिचारियों, लुटेरों तथा उपद्रवियों एवं दुष्टों का नाश

कर दिया जाता है, उनका मानमर्दन कर दिया जाता है, उन्हें कुचल दिया जाता है, उनके पैर उखाड़ दिये जाते हैं, जिससे उसका राज्य निष्कण्टक (चोर आदि दुष्टों से रहित) हो जाता है। उसके राज्य पर आक्रमण करने वाले शत्रुओं को नष्ट कर दिया जाता है, उन्हें खदेड़ दिया जाता है, उनका मानमर्दन कर दिया जाता है, अथवा उनके पैर उखाड़ दिये जाते हैं, उन शत्रुओं को जीत लिया जाता है, उन्हें हरा दिया जाता है। उसका राज्य दुर्भिक्ष और महामारी आदि के भय से विमुक्त होता है। यहाँ से लेकर "जिसमें स्वचक्र-परचक्र का भय शान्त हो गया है, ऐसे राज्य का प्रशासन—पालन करता हुआ वह राजा विचरण करता है," यहाँ तक का पाठ औपपातिकसूत्र में वर्णित पाठ की तरह समझ लेना चाहिए।

६४७. तस्स णं रण्णो परिसा भवति—उग्गा उग्गपुत्ता भोगा भोगपुत्ता इक्खागा इक्खागपुत्ता नाया नायपुत्ता कोरव्वा कोरव्वपुत्ता भडा भडपुत्ता माहणा माहणपुत्ता लेच्छई लेच्छईपुत्ता पसत्थारो पसत्थपुत्ता सेणावती सेणावतिपुत्ता।

तेसिं च णं एगतिए सड्ढी भवति, कामं तं समणा य माहणा य पहारेंसु गमणाए, तत्थऽन्नतरेणं धम्मेणं पण्णत्तारो वयमेतेणं धम्मेणं पण्णवइस्सामो, से ए वमायाणह भयंतारो जहा मे एस धम्मे सुयक्खाते सुपण्णत्ते भवति।

६४७. उस राजा की परिषद् (सभा) होती है। उसके सभासद ये होते हैं—उग्रकुल में उत्पन्न उग्रपुत्र, भोगकुल में उत्पन्न भोग तथा भोगपुत्र इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न तथा इक्ष्वाकुपुत्र, ज्ञातकुल में उत्पन्न तथा ज्ञातपुत्र, कुरुकुल में उत्पन्न—कौरव, तथा कौरवपुत्र, सुभटकुल में उत्पन्न तथा सुभट-पुत्र, ब्राह्मणकुल में उत्पन्न तथा ब्राह्मणपुत्र, लिच्छवी नामक क्षत्रियकुल में उत्पन्न तथा लिच्छवीपुत्र, प्रशास्तागण (मंत्री आदि बुद्धिजीवी वर्ग) तथा प्रशास्तृपुत्र (मंत्री आदि के पुत्र) सेनापति और सेनापतिपुत्र।

इनमें से कोई एक धर्म से श्रद्धालु होता है। उस धर्म-श्रद्धालु पुरुष के पास श्रमण या ब्राह्मण (माहन) धर्म प्राप्ति की इच्छा से जाने का निश्चय (निर्धारण) करते हैं। किसी एक धर्म की शिक्षा देने वाले वे श्रमण और ब्राह्मण यह निश्चय करते हैं कि हम इस धर्मश्रद्धालु पुरुष के समक्ष अपने इस (अभीष्ट) धर्म की प्ररूपणा करेंगे। वे उस धर्मश्रद्धालु पुरुष के पास जाकर कहते हैं—हे संसारभीरु धर्मप्रेमी ! अथवा भय से जनता के रक्षक महाराज ! मैं जो भी उत्तम धर्म की शिक्षा आप को दे रहा हूँ उसे ही आप पूर्वपुरुषों द्वारा सम्यक्प्रकार से कथित और सुप्रज्ञप्त (सत्य) समझें।"

विवेचन—धर्मश्रद्धालु राजा आदि के मस्तिष्क में अन्यतीर्थिकों द्वारा स्वधर्म-प्रवेश का तरीका—प्रस्तुत सूत्रद्वय (सू. सं. ६४६-६४७) में शास्त्रकार अनेक विशेषणों से युक्त राज्य और उसकी राज्यसभा के क्षत्रिय, मंत्री, ब्राह्मण आदि विविध सभासदों का विस्तार से निरूपण करते हैं, तत्पश्चात् इनमें से किसी-किसी धर्म श्रद्धालु के मस्तिष्क में अन्यतीर्थिक श्रमण-ब्राह्मण अपने धर्म की मान्यता ठसाने का किस प्रकार से उपक्रम करते हैं, वह संक्षेप में बताते हैं। शास्त्रकार इस विस्तृत पाठ में चार तथ्यों का वर्णन करते हैं—

(१) पूर्वादि दिशाओं से समागत आर्य-अनार्य आदि नाना प्रकार के पुरुषों का वर्णन।

(२) उन सबके शास्ता—राजा का वर्णन।

(३) उक्त राजा की परिषद् के विभिन्न सभासदों का वर्णन।

(४) इनमें से किसी धर्मश्रद्धालु को अन्यतीर्थिकों द्वारा स्वधर्मानुसार बनाने के उपक्रम का वर्णन।

प्रथमपुरुष : तज्जीव-तच्छरीरवादी का वर्णन

६४८. तं जहा—उड्ढं पादतला[1] अहुं केसग्गमत्थया तिरियं तयपरियंते जीवे, एस आयपज्जवे कसिणे, एस जीवे जीवति, एस मए णो जीवति, सरीरे चरमाणे चरती, विणट्ठम्मि य णो चरति, एतंतं जीवितं भवति, आदहणाए परेहिं णिज्जति, अगणिझामिते सरीरे कवोतवण्णाणि अट्ठीणि भवंति, आसंदीपंचमा पुरिसा गामं पच्चागच्छंति। एवं असतो असंविज्जमाणे।

६४८. वह धर्म इस प्रकार है—पादतल (पैरों के तलवे) से ऊपर और मस्तक के केशों के अग्रभाग से नीचे तक तथा तिरछा—चमड़ी तक जो शरीर है, वही जीव है। यह शरीर ही जीव का समस्त पर्याय (अवस्था विशेष अथवा पर्यायवाची शब्द) है। (क्योंकि) इस शरीर के जीने तक ही यह जीव जीता रहता है, शरीर के मर जाने पर यह नहीं जीता, शरीर के स्थित (टिके) रहने तक ही यह जीव स्थित रहता है और शरीर के नष्ट हो जाने पर यह नष्ट हो जाता है। इसलिए जब तक शरीर है, तभी तक यह जीवन (जीव) है। शरीर जब मर जाता है तब दूसरे लोग उसे जलाने के लिए ले जाते हैं, आग से शरीर के जल जाने पर हड्डियाँ कपोत वर्ण (कबूतरी रंग) की हो जाती हैं। इसके पश्चात् मृत व्यक्ति को श्मशान भूमि में पहुँचाने वाले जघन्य (कम से कम) चार पुरुष मृत शरीर को ढोने वाली मंचिका (अर्थी) को लेकर अपने गांव में लौट आते हैं। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीर से भिन्न कोई जीव नामक पदार्थ नहीं है, क्योंकि वह शरीर से भिन्न प्रतीत नहीं होता। (अतः जो लोग शरीर से भिन्न जीव का अस्तित्व नहीं मानते, उनका यह-पूर्वोक्त सिद्धान्त ही युक्ति युक्त समझना चाहिए।)

६४९. जेसि तं सुयक्खायं भवति—'अन्नो भवति जीवो अन्नं सरीरं' तम्हा ते एवं नो विप्पडिवेदेंति—अयमाउसो! आता दीहे ति वा ह्रस्से ति वा परिमंडले ति वा वट्टे ति वा तंसे ति वा चउरंसे ति वा छलंसे ति वा अट्ठंसे ति वा आयते ति वा किण्हे ति वा णीले ति वा लोहिते ति वा हालिद्दे ति वा सुक्किले ति वा सुब्भिगंधे ति वा दुब्भिगंधे ति वा तित्ते ति वा कडुए ति वा कसाए ति वा अंबिले ति वा महुरे ति वा कक्खडे ति वा मउए ति वा गरुए ति वा लहुए ति वा सिते ति वा उसिणे ति वा णिद्धे ति वा लुक्खे ति वा। एवमसतो असंविज्जमाणे।

६४९. जो लोग युक्तिपूर्वक यह प्रतिपादन करते हैं कि जीव पृथक् है और शरीर पृथक् है वे इस प्रकार (जीव और शरीर को) पृथक् पृथक् करके नहीं बता सकते कि—यह आत्मा दीर्घ (लम्बा) है, यह ह्रस्व (छोटा या ठिगना) है, यह चन्द्रमा के समान परिमण्डलाकार है, अथवा गेंद की तरह गोल है, यह त्रिकोण है, या चतुष्कोण है, या यह षट्कोण या अष्टकोण है, यह आयत

---

[1] तुलना—"उड्ढं पायतला अहे केसग्गमत्थका एस आता पज्जवे…… अफले कल्लापाणवए। तम्हा एतं सम्मं तिवेमि—उड्ढं पायतला…………एस मडे णो (जीवति) एतं तं (जीवितं भवति)।"

—इसिभासियाइं १९, उक्कलज्झयण पृ० ३९

(चौड़ा) है, यह काला है अथवा नीला है, यह लाल है या पीला है या यह श्वेत है; यह सुगन्धित है या दुर्गन्धित है, यह तिक्त (तीखा) है या कड़वा है अथवा कसैला, खट्टा या मीठा है; अथवा यह कर्कश है या कोमल है अथवा भारी (गुरु) है या हलका (लघु) अथवा शीतल है या उष्ण है, स्निग्ध है अथवा रूक्ष है।

इसलिए जो लोग जीव को शरीर से भिन्न नहीं मानते, उनका मत ही युक्तिसंगत है।

६५०. जेसिं तं सुयक्खायं भवति 'अन्नो जीवो अन्नं सरीरं', तम्हा ते णो एवं उवलभंति—

(१) से जहानामए केइ पुरिसे कोसीतो[1] असिं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा—अयमाउसो! असी, अयं कोसीए, एवमेव णत्थि केइ अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेति—अयमाउसो! आता, अयं सरीरे।

(२) से जहाणामए केइ पुरिसे मुंजाओ इसीयं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा—अयमाउसो! मुंजो, अयं इसीया, एवामेव नत्थि केति उवदंसेत्तारो अयमाउसो! आता इदं सरीरे।

(३) से जहाणामए केति पुरिसे मंसाओ अट्ठिं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा—अयमाउसो! मंसे, अयं अट्ठी, एवामेव नत्थि केइ उवदंसेत्तारो—अयमाउसो! आया, इदं सरीरं।

(४) से जहानामए केति पुरिसे करतलाओ आमलकं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा—अयमाउसो! करतले, अयं आमलए, एवामेव णत्थि केति उवदंसेत्तारो—अयमाउसो! आया, इदं सरीरं।

(५) से जहानामए केइ पुरिसे दहीओ णवणीयं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा—अयमाउसो! नवनीतं, अयं दही, एवामेव नत्थि केति उवदंसेत्तारो जाव सरीरं।

(६) से जहानामए केति पुरिसे तिलेहिंतो तेल्लं अभिनिव्वट्टेत्ताणं उवदंसेज्जा—अयमाउसो! तेल्ले, अयं पिण्णाए, एवामेव जाव सरीरं।

(७) से जहानामए केइ पुरिसे उक्खूतो खोतरसं अभिनिव्वट्टित्ताणं उवदंसेज्जा—अयमाउसो! खोतरसे, अयं चोए, एवमेव जाव सरीरं।

(८) से जहानामए केइ पुरिसे अरणीतो अग्गिं अभिनिव्वट्टेत्ताणं उवदंसेज्जा—अयमाउसो! अरणी, अयं अग्गी, एवामेव जाव सरीरं। एवं असतो असंविज्जमाणे।

जेसिं तं सुयक्खातं भवति तं जहा—'अन्नो जीवो अन्नं सरीरं' तम्हा तं मिच्छा।

६५०. जिन लोगों का यह कथन है कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है, वे इस प्रकार से जीव को उपलब्ध (प्राप्त) नहीं करा पाते—(१) जैसे—कि कोई व्यक्ति म्यान से तलवार को बाहर

---

[1] तुलना—"सेय्यथापि, महाराज! पुरिसो मुञ्जम्हा ईसिका पताहेय्य। तस्स एवमस्स अयं मुंजो, अयं ईसिका ……………तस्स एवमस्स—अयं असि अयं कोसि………… मनोमयं काय अभिनिम्मनाय चित्तं अभिनीहरति अभिनिन्नामेति।"
—सुत्तपिटक दीघनिकाय (पालि) भा. १ सामञ्ञफलसुत्तं पृ. ६८

निकाल कर दिखलाता हुआ कहता है—आयुष्मन् ! यह तलवार है, और यह म्यान है। इसी प्रकार कोई पुरुष ऐसा नहीं है, जो शरीर से जीव को पृथक् करके दिखला सके कि 'आयुष्मन् ! यह तो आत्मा है और यह (उससे भिन्न) शरीर है।'

(२) जैसे कि कोई पुरुष मुंज नामक घास से इषिका (कोमलस्पर्श वाली शलाका) को बाहर निकाल कर अलग-अलग बतला देता है कि 'आयुष्मन् ! यह तो मुंज है, और यह इषिका है।' इसी प्रकार ऐसा कोई उपदर्शक पुरुष नहीं है, जो यह बता सके कि 'आयुष्मन् ! यह आत्मा है और यह (उससे पृथक्) शरीर है।'

(३) जैसे कोई पुरुष मांस से हड्डी को अलग-अलग करके बतला देता है कि 'आयुष्मन् ! यह मांस है और यह हड्डी है।" इसी तरह कोई ऐसा उपदर्शक पुरुष नहीं है, जो शरीर से आत्मा को अलग करके दिखला दे कि 'आयुष्मन् ! यह तो आत्मा है और यह शरीर है।'

(४) जैसे कोई पुरुष हथेली से आँवले को बाहर निकाल कर दिखला देता है कि 'आयुष्मन् यह हथेली (करतल) है और यह आँवला है।' 'इसी प्रकार कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो शरीर से आत्मा को पृथक् करके दिखा दे कि 'आयुष्मन् ! यह आत्मा है, और यह (उससे पृथक्) शरीर है।'

(५) जैसे कोई पुरुष दही से नवनीत (मक्खन) को अलग निकाल कर दिखला देता है कि 'आयुष्मन् ! यह नवनीत है और यह दही है।' इस प्रकार कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो शरीर से आत्मा को पृथक् करके दिखला दे कि 'आयुष्मन् ! यह तो आत्मा है और यह शरीर है।'

(६) जैसे कोई पुरुष तिलों से तेल निकाल कर प्रत्यक्ष दिखला देता है कि 'आयुष्मन् ! यह तेल है और यह उन तिलों की खली है,' वैसे कोई पुरुष ऐसा नहीं है, जो शरीर को आत्मा से पृथक् करके दिखा सके कि 'आयुष्मन् ! यह आत्मा है और यह उससे भिन्न शरीर है।'

(७) जैसे कि कोई पुरुष ईख से उसका रस निकाल कर दिखा देता है कि 'आयुष्मन् ! यह ईख का रस है और यह उसका छिलका है;' इसी प्रकार ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो शरीर और आत्मा को अलग-अलग करके दिखला दे कि 'आयुष्मन् ! यह आत्मा है और यह शरीर है।'

(८) जैसे कि कोई पुरुष अरणि की लकड़ी से आग निकाल कर प्रत्यक्ष दिखला देता है कि—'आयुष्मन् ! यह अरणि है और यह आग है,' इसी प्रकार कोई व्यक्ति ऐसा नहीं है जो शरीर और आत्मा को पृथक् करके दिखला दे कि 'आयुष्मन् ! यह आत्मा है और यह उससे भिन्न शरीर है।'

इसलिए आत्मा शरीर से पृथक् उपलब्ध नहीं होती, यही बात युक्तियुक्त है। इस प्रकार (विविध युक्तियों से आत्मा का अभाव सिद्ध होने पर भी) जो पृथगात्मवादी (स्वदर्शनानुरागवश) बार-बार प्रतिपादन करते है, कि आत्मा अलग है, शरीर अलग है, पूर्वोक्त कारणों से उनका कथन मिथ्या है।

६५१. से हंता हणह खणह छणह दहह पयह आलुंपह विलुंपह सहसक्कारेह विपरामुसह, एत्ताव ताव जीवे, णत्थि परलोए, ते णो एवं विप्पडिवेदेंति, तं जहा— किरिया इ वा अकिरिया इ वा सुक्कडे ति वा दुक्कडे ति वा कल्लाणे ति वा पावए ति वा साहू ति वा असाहू ति वा सिद्धि ति वा असिद्धि ति

वा निरए ति वा अनिरए ति वा।

एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं सभारंभंति भोयणाए।

६५१. इस प्रकार शरीर से भिन्न आत्मा को न मानने वाले तज्जीवतच्छरीरवादी लोकायतिक आदि स्वयं जीवों का (निःसंकोच) हनन करते हैं, तथा (दूसरों को भी उपदेश देते हैं)—इन जीवों को मारो, यह पृथिवी खोद डालो, यह वनस्पति काटो, इसे जला दो, इसे पकाओ, इन्हें लूट लो या इनका हरण कर लो, इन्हें काट दो या नष्ट कर दो, बिना सोचे विचारे सहसा कर डालो, इन्हें पीडित (हैरान) करो इत्यादि। इतना (शरीरमात्र) ही जीव है, (परलोकगामी कोई जीव नहीं होने से) परलोक नहीं है।" (इसलिए यथेष्ट सुख भोग करो।) वे शरीरात्मवादी आगे कही जाने वाली बातों को नहीं मानते जैसे कि—सत्क्रिया या असत्क्रिया, सुकृत या दुष्कृत, कल्याण (पुण्य) या पाप, भला बुरा, सिद्धि या असिद्धि, नरक या स्वर्ग आदि।

इस प्रकार वे शरीरात्मवादी अनेक प्रकार के कर्मसमारम्भ करके विविध प्रकार के कामभोगों का सेवन (उपभोग) करते हैं अथवा विषयों का उपभोग करने के लिए विविध प्रकार के दुष्कृत्य करते हैं।

६५२. एवं पेगे पागब्भिया निक्खम्म मामगं धम्मं पण्णवेंति तं सद्दहमाणा तं पत्तियमाणा तं रोएमाणा साधु सुयक्खाते समणे ति वा माहणे ति वा कामं खलु आउसो! तुमं पूययामो, तं जहा—असणेण वा पाणेण वा खाइमेण वा साइमेण वा वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा, तत्थेगे पूयणाए समाउट्टिंसु, तत्थेगे पूयणाए निगामइंसु।

६५२. इस प्रकार शरीर से भिन्न आत्मा न मानने की धृष्टता करने वाले कोई नास्तिक अपने मतानुसार प्रव्रज्या धारण करके 'मेरा ही धर्म सत्य है,' ऐसी प्ररूपणा करते हैं। इस शरीरात्मवाद में श्रद्धा रखते हुए, उस पर प्रतीति करते हुए, उसमें रुचि रखते हुए कोई राजा आदि उस शरीरात्मवादी से कहते हैं—'हे श्रमण या ब्राह्मण! आपने हमें यह तज्जीव-तच्छरीरवाद रूप उत्तम धर्म बता कर बहुत ही अच्छा किया, हे आयुष्मन्! (आपने हमारा उद्धार कर दिया) अतः हम आपकी पूजा (सत्कार-सम्मान) करते हैं, जैसे कि—हम अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य अथवा वस्त्र, पात्र, कम्बल अथवा पाद-प्रोञ्छन आदि के द्वारा आपका सत्कार-सम्मान करते हैं।' यों कहते हुए कई राजा आदि उनकी पूजा में प्रवृत्त होते हैं, अथवा वे शरीरात्मवादी अपनी पूजा-प्रतिष्ठा में प्रवृत्त हो जाते हैं, और उन स्वमतस्वीकृत राजा आदि को अपनी पूजा-प्रतिष्ठा के लिए अपने मत-सिद्धान्त में दृढ़ (पक्के या कट्टर) कर देते हैं।

६५३. पुव्वामेव तेसिं णायं भवति—समणा भविस्सामो अणगारा अकिंचणा अपुत्ता अपसू परदत्तभोइणो भिक्खुणो पावं कम्मं णो करिस्सामो समुट्ठाए ते अप्पणा अप्पडिविरया भवंति, सयमाइयंति अन्ने वि आदियावेंति अन्नं पि आतियंतं समणुजाणंति, एवामेव ते इत्थिकामभोगेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिता अज्झोववन्ना लुद्धा रागदोसत्ता, ते णो अप्पाणं समुच्छेदेंति, नो परं समुच्छेदेंति, नो अण्णाइं पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं समुच्छदेंति, पहीणा पुव्वसंयोगं, आयरियं मग्गं असंपत्ता, इति ते

णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसण्णा । इति पढमे पुरिसज्जाते तज्जीव-तस्सरीरिए आहिते ।

६५३. इन शरीरात्मवादियों ने पहले तो वह प्रतिज्ञा की होती है कि 'हम अनगार (घरबार के त्यागी), अकिंचन (द्रव्यादि-रहित) अपुत्र (पुत्रादि के त्यागी) अपशु (पशु आदि के स्वामित्व से रहित), परदत्तभोजी (दूसरों के द्वारा दिये गए भिक्षान्न पर निर्वाह करने वाले) भिक्षु एवं श्रमण (शम सम एवं श्रम-तप की साधना करने वाले) बनेंगे, अब हम पापकर्म (सावद्य कार्य) नहीं करेंगे'; ऐसी प्रतिज्ञा के साथ वे स्वयं दीक्षा ग्रहण करके (प्रव्रजित होकर) पाप कर्मों (सावद्य आरम्भसमारम्भादि कार्यों) से विरत (निवृत्त) नहीं होते, वे स्वयं परिग्रह को ग्रहण (स्वीकार) करते हैं, दूसरे से ग्रहण कराते हैं और परिग्रह ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करते (अच्छा समझते) हैं, इसी प्रकार वे स्त्री तथा अन्य कामभोगों में आसक्त (मूर्च्छित), गृद्ध, उनमें अत्यधिक इच्छा और लालसा से युक्त, लुब्ध (लोभी), राग-द्वेष के वशीभूत एवं आर्त्त (चिन्तातुर) रहते हैं । वे न तो अपनी आत्मा को संसार से या कर्म-पाश (बन्धन) से मुक्त कर पाते हैं, न वे दूसरों को मुक्त कर सकते हैं, और न अन्य प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्वों को मुक्त कर सकते हैं । वे (उक्त शरीरात्मवादी प्रथम असफल पुरुष के समान अपने स्त्री-पुत्र, धन धान्य आदि पूर्वसंयोग गृहावास या ज्ञातिजनवास) से प्रभ्रष्ट (प्रहीन) हो चुके हैं, और आर्यमार्ग (सम्यग्दर्शनादियुक्त मोक्षमार्ग) को नहीं पा सके हैं । अतः वे न तो इस लोक के होते हैं, और न ही पर लोक के होते हैं, (किन्तु उभयलोक के सदनुष्ठान से भ्रष्ट होकर) वीच में कामभोगों—(के कीचड़) में आसक्त हो (फंस) जाते हैं ।

इस प्रकार प्रथम पुरुष तज्जीव-तच्छरीरवादी कहा गया है ।

विवेचन—प्रथम पुरुष : तज्जीव-तच्छरीरवादी का वर्णन—सूत्रसंख्या ६४८ से ६५३ तक छह सूत्रों द्वारा शास्त्रकार ने कई पहलुओं से तज्जीव-तच्छरीरवादी—पूर्वोक्त प्रथम पुरुष—का वर्णन किया है । वे पहलू इस प्रकार हैं—

(१) अन्यतीर्थिकों में से प्रथम अन्यतीर्थिक द्वारा अपने राजा आदि धर्मश्रद्धालुओं के समक्ष तज्जीव-तच्छरीरवादरूप स्वधर्म के स्वरूप का निरूपण ।

(२) उनके द्वारा जीव-शरीर-पृथक्वादियों पर **प्रथम आक्षेप**—शरीर से आत्मा को वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, आकार-प्रकार आदि के रूप में पृथक् करके स्पष्टतया बतला नहीं सकते ।

(३) **द्वितीय आक्षेप**—जीव और शरीर को निम्नोक्त पदार्थों के सदृश पृथक्-पृथक् करके उपलब्ध नहीं करा सकते—(१) तलवार और म्यान की तरह, (२) मुंज और इषिका की तरह, (३) मांस और हड्डी की तरह, (४) हथेली और आँवले की तरह, (५) दही और मक्खन की तरह, (६) तिल की खली और तेल की तरह, (७) ईख के रस और उसके छिलके की तरह, (८) अरणि की लकड़ी और आग की तरह ।

(४) तज्जीव-तच्छरीरवादियों के द्वारा जीव-अजीव, परलोक आदि न माने जाने के कारण जीवहिंसा, चोरी, लूट आदि की निरंकुश प्रवृत्ति करने-कराने का वर्णन ।

(५) उनके द्वारा सत्क्रिया—असत्क्रिया, सुकृत-दुष्कृत, कल्याण-पाप, सिद्धि-असिद्धि, धर्म-अधर्म आदि न माने जाने के कारण किये जाने वाले विविध आरम्भकार्य एवं कामभोग-सेवन के लिए विविध दुष्कृत्यों का वर्णन ।

(६) 'मेरा ही धर्म सत्य है'—ऐसी हठाग्रहपूर्वक प्ररूपणा।

(७) राजा आदि अनुयायियों द्वारा तज्जीव-तच्छरीवादियों के प्रति श्रद्धा-प्रतीति-रुचि-पूर्वक प्रकट की जाने वाली कृतज्ञता एवं पूजा—भक्तिभावना और उसकी आसक्ति में फंस जाने वाले तज्जीव-तच्छरीरवादी।

(८) शरीरात्मवादियों द्वारा पूर्वगृहीत महाव्रतों एवं त्याग-नियमादि की प्रतिज्ञा के भंग का वर्णन।

(९) इस प्रकार पूर्वोक्त प्रथमपुरुषवत् तज्जीव-तच्छरीरवादी उभय भ्रष्ट होकर कामभोग के कीचड़ में फंस कर रह जाते हैं। वे गृहवासादि पूर्वसंयोगों को भी छोड़ चुके होते हैं, लेकिन आर्य-धर्म नहीं प्राप्त कर पाते। तदनुसार वे संसारपाश से स्व-पर को मुक्त नहीं कर पाते।

निष्कर्ष—पूर्वदिशा से पुष्करिणी के तट पर आये हुए और प्रधान श्वेतकमल को पाने के लिए लालायित, किन्तु पुष्करिणी के बीच में ही कीचड़ एवं पानी में फंसकर रह जाने वाले प्रथम पुरुष की तरह तज्जीव-तच्छरीरवादी भी संसार के तट पर आते हैं, मोक्षमार्ग को पाने के लिए एवं आतुर कृत-प्रतिज्ञ साधुवेषी तज्जीव-तच्छरीरवाद की मान्यता एवं तदनुसार सांसारिक विषयभोगरूपी कीचड़ में फंस जाते हैं, वे उस समय गृहस्थाश्रम और साधुजीवन दोनों से भ्रष्ट हो जाने से वे स्वपर का उद्धार करने में असमर्थ हो जाते हैं।

द्वितीय पुरुष : पाञ्चमहाभूतिक : स्वरूप विश्लेषण

६५४. अहावरे दोच्चे पुरिसज्जाते पंचमहब्भूतिए त्ति आहिज्जति।

इह खलु पाईणं वा ४ संतेगतीया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेणं लोयं उववण्णा, तं जहा—आरिया वेगे एवं जाव दुरूवा वेगे। तेसिं च णं महं एगे राया भवती महया० एवं चेव णिरवसेसं जाव सेणावतिपुत्ता। तेसिं च णं एगतीए सड्ढी भवति, कामं तं समणा य माहणा पहारिंसु गमणाए। तत्थऽण्णयरेणं धम्मेणं पन्नत्तारो वयमिमेणं धम्मेणं पन्नवइस्सामो, से एवमायाणह भयंतारो! जहा मे एस धम्मे सुअक्खाए सुपण्णत्ते भवति।

६५४. पूर्वोक्त प्रथम पुरुष से भिन्न दूसरा पुरुष पञ्चमहाभूतिक कहलाता है।

इस मनुष्यलोक की पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं में मनुष्य रहते हैं। वे क्रमशः नाना रूपों में मनुष्यलोक में उत्पन्न होते हैं, जैसे कि—कोई आर्य होते हैं, कोई अनार्य। इसी तरह पूर्वसूत्रोक्त वर्णन के अनुसार कोई कुरूप आदि होते हैं। उन मनुष्यों में से कोई एक महान् पुरुष राजा होता है। वह राजा पूर्वसूत्रोक्त विशेषणों (महान् हिमवान् आदि) से युक्त होता है और उसकी राजपरिषद् भी पूर्वसूत्रोक्त सेनापतिपुत्र आदि से युक्त होती है। उन सभासदों में से कोई पुरुष धर्मश्रद्धालु होता है। वे श्रमण और माहन उसके पास जाने का निश्चय करते हैं। वे किसी एक धर्म की शिक्षा देने वाले अन्यतीर्थिक श्रमण और माहन (ब्राह्मण) राजा आदि से कहते हैं—"हम आपको उत्तम धर्म की शिक्षा देंगे।" (इसके पश्चात् वे कहते हैं)—'हे भयत्राताओ! प्रजा के भय का अन्त करने वालो! मैं जो भी उत्तम धर्म का उपदेश आपको दे रहा हूँ, वही पूर्वपुरुषों द्वारा सम्यक्प्रकार से कथित और सुप्रज्ञप्त (सत्य) है।"

६५५. इह खलु पंच महब्भूता जेहिं नो कज्जति किरिया ति वा अकरिया ति वा सुकडे ति वा दुक्कडे ति वा कल्लाणे ति वा पावए ति वा साहू ति वा असाहू ति वा सिद्धी ति वा असिद्धि ति वा णिरए ति वा अणिरए ति वा अवि यंतसो तणमातमवि ।

६५५. इस जगत् में पंचमहाभूत ही सब कुछ हैं । जिन से हमारी क्रिया या अक्रिया, सुकृत अथवा दुष्कृत, कल्याण या पाप, अच्छा या बुरा, सिद्धि या असिद्धि, नरकगति या नरक के अतिरिक्त अन्यगति; अधिक कहाँ तक कहें, तिनके के हिलने जैसी क्रिया भी (इन्ही पंचमहाभूतों से) होती है ।

६५६. तं च पदुद्देसेणं पुढोभूतसमवातं जाणेज्जा, तं जहा—पुढवी एगे महब्भूते, आऊ दोच्चे महब्भूते, तेऊ तच्चे महब्भूते, वाऊ चउत्थे महब्भूते, आगासे पंचमे महब्भूते । इच्चेते पंच महब्भूता अणिम्मिता अणिम्मेया अकडा णो कित्तिमा णो कडगा अणादिया अणिधणा अवंझा अपुरोहिता सतंता सासता ।

६५६. उस भूत-समवाय (समूह) को पृथक्-पृथक् नाम से जानना चाहिए । जैसे कि—पृथ्वी एक महाभूत है, जल दूसरा महाभूत है, तेज (अग्नि) तीसरा महाभूत है, वायु चौथा महाभूत है और आकाश पांचवाँ महाभूत है । ये पांच महाभूत किसी कर्त्ता के द्वारा निर्मित (बनाये हुए) नहीं हैं, न ही ये किसी कर्त्ता द्वारा बनवाए हुए (निर्मापित) हैं, ये किये हुए (कृत) नहीं हैं, न ही ये कृत्रिम (बनावटी) हैं, और न ये अपनी उत्पत्ति के लिए किसी की अपेक्षा रखते हैं । ये पांचों महाभूत आदि एवं अन्त रहित हैं तथा अवन्ध्य—अवश्य कार्य करने वाले हैं । इन्हें कार्य में प्रवृत्त करने वाला कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, ये स्वतंत्र एवं शाश्वत (नित्य) हैं ।

६५७. आयछट्ठा पुण एगे, एवमाहु—सतो णत्थि विणासो, असतो णत्थि संभवो ।[1] **एताव ताव जीवकाए, एताव ताव अत्थिकाए, एताव ताव सव्वलोए, एतं मुहं लोगस्स कारणयाए, अवि यंतसो तणमातमवि ।**

से किणं किणावेमाणे, हणं घातमाणे, पयं पयावेमाणे, अवि अंतसो पुरिसमवि विक्किणित्ता घायइत्ता, एत्थ वि जाणाहि—णत्थि एत्थ दोसो ।

६५७. कोई (सांख्यवादी) पंचमहाभूत और छठे आत्मा को मानते हैं । वे इस प्रकार कहते हैं कि सत् का विनाश नहीं होता और असत् की उत्पत्ति नहीं होती । (वे पंचमहाभूतवादी कहते हैं—) "इतना ही (यही) जीव काय है, इतना ही (पंचभूतों का अस्तित्वमात्र ही) अस्तिकाय है, इतना ही (पंचमहाभूतरूप ही) समग्र जीवलोक है । ये पंचमहाभूत ही लोक के प्रमुख कारण (समस्तकार्यों में व्याप्त) हैं, यहाँ तक कि तृण का कम्पन भी इन पंचमहाभूतों के कारण होता है ।"

(इस दृष्टि से आत्मा असत् या अकिञ्चित्कर होने से) 'स्वयं खरीदता हुआ, दूसरे से खरीद कराता हुआ, एवं प्राणियों का स्वयं घात करता हुआ तथा दूसरे से घात कराता हुआ, स्वयं पकाता और दूसरों से पकवाता हुआ (उपलक्षण से इन सब असदनुष्ठानों का अनुमोदन करता हुआ), यहाँ

---

१. तुलना—'नासती विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः ।' —भगवद्गीता अ. २, श्लो. १६.

तक कि किसी पुरुष को (दास आदि के रूप में) खरीद कर घात करने वाला पुरुष भी दोष का भागी नहीं होता क्योंकि इन सब (सावद्य) कार्यों में कोई दोष नहीं है, यह समझ लो।"

६५८. ते णो एतं विप्पडिवेदेंति, तं जहा—किरिया ति वा जाव अणिरए ति वा। एवामेव ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारंभंति भोयणाए। एवामेव ते अणारिया विप्पडिवण्णा तं सद्दहमाणा पत्तियमाणा जाव इति ते णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसण्णा।

दोच्चे पुरिसज्जाए पंचमहब्भूतिए त्ति आहिते।

६५८. वे (पंचमहाभूतवादी) क्रिया से लेकर नरक से भिन्न गति तक के (पूर्वोक्त) पदार्थों को नहीं मानते। इस प्रकार वे नाना प्रकार के सावद्य कार्यों के द्वारा कामभोगों की प्राप्ति के लिए सदा आरम्भ-समारम्भ में प्रवृत्त रहते हैं। अतः वे अनार्य (आर्यधर्म से दूर), तथा विपरीत विचार वाले हैं। इन पंचमहाभूतवादियों के धर्म (दर्शन) में श्रद्धा रखने वाले एवं इनके धर्म को सत्य मानने वाले राजा आदि (पूर्वोक्त प्रकार से) इनकी पूजा-प्रशंसा तथा आदर सत्कार करते हैं, विषयभोग-सामग्री इन्हें भेंट करते हैं। इस प्रकार सावद्य अनुष्ठान में भी अधर्म न मानने वाले वे पंचमहाभूतवादी स्त्री सम्बन्धी कामभोगों में मूर्च्छित होकर न तो इहलोक के रहते हैं और न ही परलोक के। उभयभ्रष्ट होकर पूर्ववत् बीच में ही कामभोगों में फंस कर कष्ट पाते हैं।

यह दूसरा पुरुष पाञ्चमहाभूतिक कहा गया है।

विवेचन—द्वितीय पाञ्चमहाभूतिक पुरुष : स्वरूप विश्लेषण—सूत्रसंख्या ६५४ से ६५८ तक पांच सूत्रों द्वारा शास्त्रकार ने पाञ्चमहाभूतिक वाद का स्वरूप, उसको स्वीकार करने वाले तथा उसकी मोक्ष प्राप्ति में असफलता का प्रतिपादन विविध पहलुओं से किया है। वे इस प्रकार हैं—

(१) सर्वप्रथम पूर्वसूत्रोक्त वर्णन भूमिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

(२) पंच महाभूतों का महात्म्य—सारा संसार, संसार की सभी क्रियाएं, जगत् की उत्पत्ति स्थिति और नाश आदि पंचमहाभूतों के ही कारण हैं।

(३) पंचमहाभूतों का स्वरूप—ये अनादि, अनन्त, अकृत, अनिर्मित, अकृत्रिम, अप्रेरित, स्वतंत्र, काल, ईश्वर, आत्मा आदि से निरपेक्ष, स्वयं समस्तक्रियाएं करने वाले हैं।

(४) इसलिए क्रिया-अक्रिया, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, आत्मा-परमात्मा आदि वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं है।

(५) सांख्यदर्शन के मतानुसार पंचमहाभूतों के अतिरिक्त छठा आत्मा भी है। पर वह निष्क्रिय है, अकर्ता है। इसलिए अच्छा या बुरा फल उसे नहीं मिलता। अतः दोनों ही प्रकार के पांचभूतवादियों के मतानुसार हिंसा, असत्य आदि में कोई दोष नहीं है।

(६) ऐसा मानकर वे निःसंकोच स्वयं कामभोगों या सावद्यकार्यों में प्रवृत्त होते रहते हैं। फिर उन्होंने जिन राजा आदि धर्म श्रद्धालुओं को पक्के भक्त बनाए हैं, वे भी विविध प्रकार से उनकी पूजा-प्रतिष्ठा करके उनके लिए विषयभोगसामग्री जुटाते हैं।

(७) फलतः वे इस लोक से भी भ्रष्ट हो जाते हैं और परलोक से भी। वे संसार को पार

नहीं कर पाते, अधबीच में ही कामभोगों के कीचड़ में फंस जाते हैं। श्वेतकमल के समान निर्वाण पाना तो दूर रहा, वे न तो अपना उद्धार कर सकते हैं, न दूसरों का ही।

तृतीय पुरुष : ईश्वरकारणवादी-स्वरूप और विश्लेषण

६५९. अहावरे तच्चे पुरिसज्जाते ईसरकारणिए त्ति आहिज्जइ। इह खलु पादीणं वा ४ संतेगतिया मणुस्सा भवंति अणुपुव्वेणं लोयं उववन्ना, तं जहा—आरिया वेगे जाव तेसिं च णं महंते एगे राया भवति जाव सेणावतिपुत्ता। तेसिं च णं एगतीए सड्ढी भवति, कामं तं समणा य माहणा य पहारिंसु गमणाए जाव जहा मे एस धम्मे सुअक्खाए सुपण्णत्ते भवति।

६५९. दूसरे पाञ्चमहाभूतिक पुरुष के पश्चात् तीसरा पुरुष 'ईश्वरकारणिक' कहलाता है। इस मनुष्यलोक में पूर्व आदि दिशाओं में कई मनुष्य होते हैं, जो क्रमशः इस लोक में उत्पन्न हैं। जैसे कि उनमें से कोई आर्य होते हैं, कोई अनार्य इत्यादि। प्रथम सूत्रोक्त सब वर्णन यहाँ जान लेना चाहिए। उनमें कोई एक श्रेष्ठ पुरुष महान् राजा होता है, यहाँ से लेकर राजा की सभा के सभासदों (सेनापतिपुत्र) तक का वर्णन भी प्रथम सूत्रोक्त वर्णनवत् समझ लेना चाहिए। इन पुरुषों में से कोई एक धर्मश्रद्धालु होता है। उस धर्मश्रद्धालु के पास जाने का तथाकथित श्रमण और ब्राह्मण (माहन) निश्चय करते हैं। वे उसके पास जाकर कहते हैं—हे भयत्राता महाराज! मैं आपको सच्चा धर्म सुनाता हूँ, जो पूर्वपुरुषों द्वारा कथित एवं सुप्रज्ञप्त है, यावत् आप उसे ही सत्य समझें।

६६०. इह खलु धम्मा पुरिसादीया पुरिसोत्तरिया पुरिसप्पणीया पुरिसपज्जोइता पुरिसअभिसमण्णागता पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।[1]

[१] से जहानामए गंडे सिया सरीरे जाते सरीरे वुड्ढे सरीरे अभिसमण्णागते सरीरमेव अभिभूय चिट्ठति। एवामेव धम्मा वि पुरिसादीया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।

[२] से जहाणामए अरई सिया सरीरे जाया सरीरे अभिसंवुड्ढा सरीरे अभिसमण्णागता सरीरमेव अभिभूय चिट्ठति। एवामेव धम्मा पुरिसादीया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।

[३] से जहाणामए वम्मिए सिया पुढवीजाते पुढवीसंवुड्ढे पुढवीअभिसमण्णागते पढवीमेव अभिभूय चिट्ठति। एवामेव धम्मा वि पुरिसादीया जाव अभिभूय चिट्ठंति।

[४] से जहाणामए रुक्खे सिया पुढवीजति पुढविसंवुड्ढे पुढविअभिसमण्णागते पुढविमेव अभिभूय चिट्ठति। एवामेव धम्मा वि पुरिसाइया जाव अभिभूय चिट्ठंति।

[५] से जहानामए पुक्खरणी सिया पुढविजाता जाव पुढविमेव अभिभूय चिट्ठति। एवामेव धम्मा वि पुरिसादीया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।

---

[1] तुलना—'…पुरिसादीया धम्मा……से जहानामते अरतीमिया……एवामेव धम्मा वि पुरिसादीया जाव चिट्ठंति। एवं गंडे वम्मीके थूभे रुक्खे, वणसंडे, पुक्खरिणी……उदगपुक्खले……अगणिकाए सिया अरणीय जाते……एवामेव धम्मावि पुरिसादीया तं चेव।……" **इसिभासियाइं**—अ. २२, पृ. ४३।

[६] से जहाणामए उदगपोक्खले सिया उदगजाए जाव उदगमेव अभिभूय चिट्ठति । एवामेव धम्मा वि जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति ।

[७] स जहाणामए उदगवुव्वुए सिया उदगजाए जाव उदगमेव अभिभूय चिट्ठति । एवामेव धम्मा वि पुरिसाईया जाव पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति ।

६६०. इस जगत् में जितने भी चेतन—अचेतन धर्म (स्वभाव या पदार्थ) हैं, वे सब पुरुपादिक हैं—ईश्वर या आत्मा (उनका) आदि कारण है; वे सव पुरुषोत्तरिक हैं—ईश्वर या आत्मा ही सव पदार्थों का कार्य है, अथवा ईश्वर ही उनका संहारकर्ता है, सभी पदार्थ ईश्वर द्वारा प्रणीत (रचित) हैं, ईश्वर से ही उत्पन्न (जन्मे हुए) हैं, सभी पदार्थ ईश्वर द्वारा प्रकाशित हैं, सभी पदार्थ ईश्वर के अनुगामी हैं, ईश्वर का आधार लेकर टिके हुए हैं।

(१) जैसे किसी प्राणी के शरीर में हुआ फोड़ा (गुमड़ा) शरीर से ही उत्पन्न होता है शरीर में ही वढ़ता है, शरीर का ही अनुगामी वनता है और शरीर का ही आधार लेकर टिकता है, इसी तरह सभी धर्म (पदार्थ) ईश्वर से ही उत्पन्न होते हैं, ईश्वर से ही वृद्धिगत होते हैं, ईश्वर के ही अनुगामी हैं, ईश्वर का आधार लेकर ही स्थित रहते हैं।

(२) जैसे अरति (मन का उद्वेग) शरीर से ही उत्पन्न होती है, शरीर में ही वढ़ती है, शरीर की अनुगामिनी वनती :है, और शरीर को ही मुख्य आधार वना करके पीड़ित करती हुई रहती है, इसी तरह समस्त पदार्थ ईश्वर से ही उत्पन्न, उसी से वृद्धिगत और उसी के आश्रय से स्थित हैं।

(३) जैसे वल्मीक (कीटविशेषकृत मिट्टी का स्तूप या दीमकों के रहने की बांबी) पृथ्वी से उत्पन्न होता है, पृथ्वी में ही वढ़ता है, और पृथ्वी का ही अनुगामी है तथा पृथ्वी का ही आश्रय लेकर रहता है, वैसे ही समस्त पदार्थ (धर्म) भी ईश्वर से ही उत्पन्न हो कर उसी में लीन होकर रहते हैं।

(४) जैसे कोई वृक्ष मिट्टी से ही उत्पन्न होता है, मिट्टी से ही उसका संवर्द्धन होता है, मिट्टी का ही अनुगामी वनता है, और मिट्टी में ही व्याप्त होकर रहता है, वैसे ही सभी पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न, संवर्द्धित और अनुगामिक होते हैं और अन्त में उसी में व्याप्त हो कर रहते हैं।

(५) जैसे पुष्करिणी (वावड़ी) पृथ्वी से उत्पन्न (निर्मित) होती है, और यावत् अन्त में पृथ्वी में ही लीन होकर रहती है, वैसे ही सभी पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न होते हैं और अन्त में उसी में ही लीन हो कर रहते हैं।

(६) जैसे कोई जल का पुष्कर (पोखर या तालाव) हो, वह जल से ही उत्पन्न (निर्मित) होता है, जल से ही वढ़ता है, जल का ही अनुगामी होकर अन्त में जल को ही व्याप्त करके रहता है, वैसे ही सभी पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न संवर्द्धित एवं अनुगामी होकर उसी में विलीन होकर रहते हैं।

(७) जैसे कोई पानी का बुद्बुद् (बुलबुला) पानी से उत्पन्न होता है, पानी से ही बढ़ता है, पानी का ही अनुगमन करता है और अन्त में पानी में ही विलीन हो जाता है, वैसे ही सभी पदार्थ ईश्वर से उत्पन्न होते हैं और अन्त में उसी में व्याप्त (लीन) होकर रहते हैं।

६६१. जं पि य इमं समणाणं णिग्गंथाणं उद्दिट्ठं वियंजियं दुवालसंगं गणिपिडगं, तं जहा—आयारो जाव दिट्ठिवातो, सव्वमेयं मिच्छा, ण एतं तहितं, ण एयं आहत्तहितं। इमं सच्चं, इमं तहितं, इमं आहत्तहितं, ते एवं सण्णं कुव्वंति, ते एवं सण्णं संठवेंति, ते एवं सण्णं सोवट्ठवयंति, तमेवं ते तज्जातियं दुक्खं णातिउट्टंति सउणी पंजरं जहा।

६६१. यह जो श्रमणों-निर्ग्रन्थों द्वारा कहा हुआ, रचा हुआ या प्रकट किया हुआ द्वादशाङ्ग गणिपिटक (आचार्यों का या गणधरों का ज्ञानपिटारा—ज्ञानभण्डार) है, जैसे कि—आचारांग, सूत्रकृतांग से लेकर दृष्टिवाद तक, यह सब मिथ्या है, यह तथ्य (सत्य) नहीं है और न ही यह यथातथ्य (यथार्थ वस्तुस्वरूप का बोधक) है, (क्योंकि यह सब ईश्वरप्रणीत नहीं है), यह जो हमारा (ईश्वरकर्तृत्ववाद या आत्माद्वैतवाद है) यह सत्य है, यह तथ्य है, यह यथातथ्य (यथार्थ रूप से वस्तुरूप प्रकाश) है। इस प्रकार वे (ईश्वरकारणवादी या आत्माद्वैतवादी) ऐसी संज्ञा (मान्यता या विचारधारा) रखते, (या निश्चत करते) हैं; वे अपने शिष्यों के समक्ष भी इसी मान्यता की स्थापना करते हैं, वे सभा में भी वे इसी मान्यता से सम्बन्धित युक्तियाँ मताग्रहपूर्वक उपस्थित (प्रस्तुत) करते हैं। जैसे पक्षी पिंजरे को नहीं तोड़ सकता वैसे ही वे (पूर्वोक्तवादी) अपने ईश्वर—कर्तृत्ववाद या आत्माद्वैतवाद को अत्यन्ताग्रह के कारण नहीं छोड़ सकते, अतः इस मत के स्वीकार करने से उत्पन्न (तज्जातीय) दुःख (दुःख के कारणभूत कर्मसमूह) को नहीं तोड़ सकते।

६६२. ते णो [एतं] विप्पडिवेदेंति तं जहा—किरिया इ वा जाव अणिरए ति वा। एवामेव ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारंभित्ता भोयणाए एवामेव ते अणारिया विप्पडिवण्णा, तं सद्दहमाणा जाव इति ते णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसण्णा।

तच्चे पुरिसज्जाते इस्सरकारणिए त्ति आहिते।

६६२. वे (ईश्वरकारणवादी या आत्माद्वैतवादी स्वमताग्रहग्रस्त होने से) इन (आगे कहे जाने वाली) बातों को नहीं मानते जैसे कि—पूर्वसूत्रोक्त[1] क्रिया से लेकर अनिरय (नरक से अतिरिक्त गति) तक हैं। वे नाना प्रकार के पापकर्मयुक्त (सावद्य) अनुष्ठानों के द्वारा कामभोगों के उपभोग के लिए अनेक प्रकार के कामभोगों का आरम्भ करते हैं। वे अनार्य (आर्यधर्म से दूर) हैं, वे विपरीत मार्ग को स्वीकार किये हुए हैं, अथवा भ्रम में पड़े हुए हैं। इस प्रकार के ईश्वरकर्तृत्ववाद में श्रद्धा-प्रतीति रखने वाले वे धर्मश्रद्धालु राजा आदि उन मतप्ररूपक साधकों की पूजा-भक्ति करते हैं, इत्यादि पूर्वोक्त वर्णन के अनुसार वे ईश्वरकारणवादी न तो इस लोक के होते हैं न परलोक के। वे उभयभ्रष्ट लोग बीच में ही कामभोगों में फंस कर दुःख पाते हैं।

विवेचन—ईश्वरकारणवादी तृतीयपुरुष : स्वरूप और विश्लेषण—प्रस्तुत चार सूत्रों (सूत्र संख्या ६५९ से ६६२ तक) में ईश्वरकारणवाद तथा आत्माद्वैतवाद का स्वरूप, प्रतिपक्ष पर आक्षेप एवं दुष्परिणाम पर शास्त्रकार ने विभिन्न पहलुओं से प्रतिपादन किया है।

---

[1] देखिए सूत्र ६५५ और उसका अर्थ

ईश्वरकारणवाद का मन्तव्य—प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के तृतीय उद्देशक में स्पष्ट कर दिया गया है, पाठक वही देखें।

आत्माद्वैतवाद का स्वरूप—भी प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में बता दिया गया है। संक्षेप में उनका मन्तव्य यह है कि सारे विश्व में एक ही आत्मा है, वही प्रत्येक प्राणी में स्थित है। वह एक होता हुआ भी विभिन्न जलपात्रों के जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र के समान प्रत्येक जीव में भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। जैसे मिट्टी से बने हुए सभी पात्र मृण्मय कहलाते है, तन्तु द्वारा बने हुए सभी वस्त्र तन्तुमय कहलाते हैं, इसी प्रकार समस्त विश्व आत्मा द्वारा निर्मित होने से आत्ममय है।

इन चतुःसूत्री में निम्नोक्त तथ्यों का निरूपण किया गया है—(१) ईश्वरकारणवादी अथवा आत्माद्वैतवादी पुरुष का परिचय, (२) ईश्वरकारणवाद या आत्माद्वैतवाद का स्वरूप (३) ईश्वरकारणवाद या आत्माद्वैतवाद को सिद्ध करने के लिए प्रतिपादित ७ उपमाएं (क) शरीर में उत्पन्न फोड़े की तरह, (ख) शरीरोत्पन्न अरतिवत् (ग) पृथ्वी से उत्पन्न वल्मीकवत् (घ) पृथ्वीसमुत्पन्न वृक्षवत् (ङ) पृथ्वी से निर्मित पुष्करिणीवत्, (च) जल से उत्पन्न पुष्करवत् (छ) जल से उत्पन्न बुद्‌बुदवत्। (४) ईश्वर कर्तृत्ववाद विरोधी श्रमणनिर्ग्रन्थों का द्वादशांगी गणिपिटक ईश्वरकृत न होने से मिथ्या होने का आक्षेप और स्ववाद की सत्यता का प्रतिपादन, (५) ईश्वरकारणवादी या आत्माद्वैतवादी पूर्वसूत्रोक्तवत् क्रिया-अक्रिया से लेकर नरकादि गतियों को नहीं मानते। (६) अपने मिथ्यावाद के आश्रय से पापकर्म एवं कामभोगों का निःसंकोच सेवन, (७) अनार्य एवं विप्रतिपन्न ईश्वरकारणवादियों या आत्माद्वैतवादियों की दुर्दशा का पूर्ववत् वर्णन।

आत्माद्वैतवाद भी युक्तिविरुद्ध—इस जगत् में जब एक आत्मा के सिवाय दूसरी वस्तु है ही नही तब फिर मोक्ष के लिए प्रयत्न, शास्त्राध्ययन आदि सब बातें व्यर्थ ही सिद्ध होंगी, सारे जगत् के जीवों का एक आत्मा मानने पर सुखी-दुःखी, पापी-पुण्यात्मा आदि प्रत्यक्षदृश्यमान् विचित्रताएं सिद्ध नही होंगी, एक के पाप से सभी पापी और एक की मुक्ति से सबकी मुक्ति माननी पड़ेगी, जो कि आत्माद्वैतवादी को अभीष्ट नहीं है।[४]

चतुर्थ पुरुष : नियतिवादी : स्वरूप और विश्लेषण

६६३. अहावरे चउत्थे पुरिसजाते णियतिवातिए त्ति आहिज्जति। इह खलु पाईणं वा ४ तहेव जाव सेणावतिपुत्ता वा, तेसिं च णं एगतिए सड्ढी भवति, कामं तं समणा य माहणा य संपहारिंसु गमणाए जाव जहा मे एस धम्मे सुअक्खाते सुपण्णत्ते भवति।

६६३. तीन पुरुषों का वर्णन करने के पश्चात् अब नियतिवादी नामक चौथे पुरुष का वर्णन किया जाता है। इस मनुष्यलोक में पूर्वादि दिशाओं के वर्णन से लेकर राजा और राजसभा के सभासद सेनापतिपुत्र तक का वर्णन प्रथम पुरुषोक्त पाठ के समान जानना चाहिए। पूर्वोक्त राजा और उसके सभासदों में से कोई पुरुष धर्मश्रद्धालु होता है। उसे धर्मश्रद्धालु जान कर (धर्मोपदेशार्थ) उसके निकट जाने का श्रमण और ब्राह्मण निश्चय करते हैं। यावत् वे उसके पास जाकर कहते हैं—"मैं आपको पूर्वपुरुषकथित और सुप्रज्ञप्त (सत्य) धर्म का उपदेश करता हूँ (उसे आप ध्यान से सुनें)।"

---

[४] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २८४ से २८७ तक का सारांश

६६४. इह खलु दुवे पुरिसा भवंति—एगे पुरिसे किरियमाइक्खति, एगे पुरिस णोकिरियमाइक्खति। जे य पुरिसे किरियमाइक्खइ, जे य पुरिसे णोकिरियमाइक्खइ, दो वि ते पुरिसा तुल्ला एगट्ठा कारणमावन्ना।

बाले पुण एवं विप्पडिवेदेति कारणमावन्ने, तं जहा—जोऽहमंसी दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पिड्डामि वा परितप्पामि वा अहं तमकासी, परो वा जं दुक्खति वा सोयइ वा जूरइ वा तिप्पइ वा पिड्डइ वा परितप्पइ वा परो एतमकासि, एवं से बाले सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेति कारणमावन्ने।

मेधावी पुण एवं विप्पडिवेदेति कारणमावन्ने—अहमंसि दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पिड्डामि वा, परितप्पामि वा, णो अहमेतमकासि परो वा जं दुक्खति वा जाव परितप्पति वा नो परो एयमकासि। एवं से मेहावी सकारणं वा परकारणं वा एवं विप्पडिवेदेति कारणमावन्ने।

६६४. इस लोक में (या दार्शनिक जगत् में) दो प्रकार के पुरुष होते हैं—एक पुरुष क्रिया का कथन करता है, (जबकि) दूसरा क्रिया का कथन नहीं करता, (क्रिया का निषेध करता है)। जो पुरुष क्रिया का कथन करता है और जो पुरुष क्रिया का निषेध करता है, वे दोनों ही नियति के अधीन होने से समान हैं, तथा वे दोनों एक ही अर्थ वाले और एक ही कारण (नियतिवाद) को प्राप्त हैं।

ये दोनों ही अज्ञानी (बाल) हैं, अपने सुख और दुःख के कारणभूत काल, कर्म तथा ईश्वर आदि को मानते हुए यह समझते हैं कि मैं जो कुछ भी दुःख पा रहा हूँ, शोक (चिन्ता) कर रहा हूँ, दुःख से आत्मनिन्दा (पश्चात्ताप) कर रहा हूँ, या शारीरिक बल का नाश कर रहा हूँ, पीड़ा पा रहा हूँ, या संतप्त हो रहा हूँ, वह सब मेरे किये हुए कर्म (कर्मफल) हैं, तथा दूसरा जो दुःख पाता है, शोक करता है, आत्मनिन्दा करता है, शारीरिक बल का क्षय करता है, अथवा पीड़ित होता है या संतप्त होता है, वह सब उसके द्वारा किये हुए कर्म (कर्मफल) हैं। इस कारण वह अज्ञजीव (काल, कर्म, ईश्वर आदि को सुख-दुःख का कारण मानता हुआ) स्वनिमित्तक (स्वकृत) तथा परनिमित्तक (परकृत) सुखदुःखादि को अपने तथा दूसरे के द्वारा कृत कर्मफल समझता है, परन्तु एकमात्र नियति को ही समस्त पदार्थों का कारण मानने वाला पुरुष तो यह समझता है कि 'मैं जो कुछ दुःख भोगता हूँ, शोकमग्न होता हूँ या संतप्त होता हूँ, वे सब मेरे किये हुए कर्म (कर्मफल) नहीं हैं, तथा दूसरा पुरुष जो दुःख पाता है, शोक आदि से संतप्त—पीड़ित होता है, वह भी उसके द्वारा कृतकर्मों का फल नहीं है, (अपितु यह सब नियति का प्रभाव है)। इस प्रकार वह बुद्धिमान् पुरुष अपने या दूसरे के निमित्त से प्राप्त हुए दुःख आदि को यों मानता है कि ये सब नियतिकृत (नियति के कारण से हुए) हैं, किसी दूसरे के कारण से नहीं।

६६५. से बेमि—पाईणं वा ४ जे तसथावरा पाणा ते एवं संघायमावज्जंति, ते एवं परियायमावज्जंति, ते एवं विवेगमावज्जंति, ते एवं विहाणमागच्छंति, ते एवं संगइ यंति। उवेहाए णो एयं विप्पडिवेदेंति, तं जहा—किरिया ति वा जाव णिरए ति वा अणिरए ति वा। एवं ते विरूवरूवेहिं कम्मसमारंभेहिं विरूवरूवाइं कामभोगाइं समारभंति भोयणाए। एवामेव ते अणारिया विप्पडिवण्णा तं सद्दहमाणा जाव इति ते णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसण्णा।

चउत्थे पुरिसजाते णियइवाइए त्ति आहिए।

६६५. अतः मैं (नियतिवादी) कहता हूँ कि पूर्व आदि दिशाओं में रहने वाले जो त्रस एवं स्थावर प्राणी हैं, वे सब नियति के प्रभाव से ही औदारिक आदि शरीर की रचना (संघात) को प्राप्त करते हैं, वे नियति के कारण ही बाल्य, युवा और वृद्ध अवस्था (पर्याय) को प्राप्त करते हैं, वे नियतिवशात् ही शरीर से पृथक् (मृत) होते हैं, वे नियति के कारण ही काना, कुबड़ा आदि नाना प्रकार की दशाओं को प्राप्त करते हैं, नियति का आश्रय लेकर ही नाना प्रकार के सुख-दुःखों को प्राप्त करते हैं।"

(श्री सुधर्मास्वामी श्री जम्बूस्वामी से कहते हैं—) इस प्रकार नियति को ही समस्त अच्छे-बुरे कार्यों का कारण मानने की कल्पना (उत्प्रेक्षा) करके (निःसंकोच एवं कर्मफल प्राप्ति से निश्चिन्त होने से) नियतिवादी आगे कही जाने वाली बातों को नहीं मानते—क्रिया, अक्रिया से लेकर प्रथम सूत्रोक्त नरक और नरक से अतिरिक्त गति तक के पदार्थ। इस प्रकार वे नियतिवाद के चक्र में पड़े हुए लोग नाना प्रकार के सावद्यकर्मों का अनुष्ठान करके काम-भोगों का उपभोग करते हैं, इसी कारण (नियतिवाद में श्रद्धा रखने वाले) वे (नियतिवादी) अनार्य हैं, वे भ्रम में पड़े हैं। वे न तो इस लोक के होते हैं और न परलोक के, अपितु काम-भोगों में फंस कर कष्ट भोगते हैं।

यह चतुर्थपुरुष नियतिवादी कहलाता है।

६६६. इच्चेते चत्तारि पुरिसजाता णाणापन्ना णाणाछंदा णाणासीला णाणादिट्ठी णाणारुई णाणारंभा णाणज्झवसाणसंजुत्ता पहीणपुव्वसंजोगा आरियं मग्गं असंपत्ता, इति ते णो हव्वाए णो पाराए, अंतरा कामभोगेसु विसण्णा।

६६६. इस प्रकार ये पूर्वोक्त चार पुरुष भिन्न-भिन्न बुद्धि वाले, विभिन्न अभिप्राय वाले, विभिन्न शील (आचार) वाले, पृथक्-पृथक् दृष्टि (दर्शन) वाले, नाना रुचि वाले, अलग-अलग आरम्भ धर्मानुष्ठान वाले तथा विभिन्न अध्यवसाय (पुरुषार्थ) वाले हैं। इन्होंने माता-पिता आदि गृहस्थाश्रमीय पूर्वसंयोगों को तो छोड़ दिया, किन्तु आर्यमार्ग (मोक्षपथ) को अभी तक पाया नहीं है। इस कारण वे न तो इस लोक के रहते हैं और न ही परलोक के होते हैं, किन्तु बीच में ही (सांसारिक) काम-भोगों में ग्रस्त होकर कष्ट पाते हैं।

विवेचन—चतुर्थ पुरुष : नियतिवादी—स्वरूप और विश्लेषण—

प्रस्तुत चार सूत्रों में से प्रथम तीन सूत्रों में चतुर्थ पुरुष नियतिवादी के सम्बन्ध में कुछ तथ्यों का तथा चतुर्थ सूत्र में पूर्वोक्त चारों पुरुषों द्वारा आर्यमार्ग पाने में असफलता का निरूपण है।

नियतिवाद के सम्बन्ध में यहाँ निम्नोक्त तथ्य प्रतिफलित होते हैं—

(१) नियतिवाद के प्ररूपक और उनके अनुगामी।
(२) क्रियावादी और अक्रियावादी दोनों ही नियति के प्रभाव में।
(३) एकान्त-नियतिवादविरोधी सुखदुःखादि स्व-स्वकृतकर्मफलानुसार मानते हैं।
(४) नियतिवादी सुखदुःखादि को स्वकृतकर्मफल न समझकर नियतिकृत मानते हैं।
(५) नियति के प्रभाव से शरीर-रचना, बाल्य, युवा आदि अवस्थाएँ या विविध विरूपताएँ प्राप्त होती हैं।

(६) भगवान् महावीर का मन्तव्य—एकान्तनियतिवादी नियति को समस्त कार्यों की उत्तरदायी मानकर निःसंकोच सावद्यकर्म एवं कामभोग सेवन करके उक्त कर्मवन्ध के फलस्वरूप संसार में ही फंसे रहकर नाना कष्ट पाते हैं।[1]

एकान्त नियतिवाद-समीक्षा—नियतिवाद का मन्तव्य यह है कि मनुष्यों को जो कुछ भी भला-बुरा, सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण आदि प्राप्त होना नियत निश्चित है, वह उसे अवश्य ही प्राप्त होता है। जो होनहार नहीं है, वह नहीं होता और जो होनहार है, वह हुए विना नहीं रहता।[2] अपने-अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए समानरूप से प्रयत्न करने पर भी किसी के कार्य की सिद्धि होती है, किसी के कार्य की नहीं, उसमें नियति ही कारण है। नियति को छोड़कर काल, ईश्वर, कर्म आदि को कारण मानना अज्ञान है। नियतिवादी मानता है कि स्वयं को या दूसरों को प्राप्त होने वाले सुःख-दुःखादि स्वकृतकर्म के फल नहीं हैं, वे सव नियतिकृत हैं, जवकि अज्ञानी लोग प्राप्त सुख-दुखादि को ईश्वरकृत, कालकृत या स्वकर्मकृत मानते हैं। शुभ कार्य करने वाले दुःखी और अशुभ कार्य करने वाले सुखी दृष्टिगोचर होते हैं, इनमें नियति की ही प्रवलता है। क्रियावादी जो सत्क्रिया करता है, या अक्रियावादी जो अक्रिया का प्रतिपादन या असत्क्रिया (दुःखजनक क्रिया) में प्रवृत्ति करता है. वह सव नियति की ही प्रेरणा से। जीव स्वाधीन नहीं है, नियति के वश है। सभी प्राणी नियति के अधीन हैं।

यह एकान्तनियतिवाद युक्तिविरुद्ध है। नियति उसे कहते हैं, जो वस्तुओं को अपने-अपने स्वभाव में नियत करती है। ऐसी स्थिति में नियति को अपने (नियति के) स्वभाव में नियत करने वाली दूसरी नियति की, और दूसरी को स्व-स्वभाव में नियत करने के लिए तीसरी नियति की आवश्यकता रहेगी, यों अनवस्था दोष आयेगा। यदि यह कहें कि नियति अपने स्वभाव में स्वतः नियत रहती है, तो यह क्यों नहीं मान लेते कि सभी पदार्थ अपने-अपने स्वभाव में स्वतः नियत रहते हैं, उन्हें स्व-स्वभाव में नियत करने के लिए नियति नामक किसी दूसरे पदार्थ की आवश्यकता नहीं रहती।

नियति नियत स्वभाववाली होने के कारण जगत् में प्रत्यक्ष दृश्यमान विचित्रता एवं विविधरूपता को उत्पन्न नहीं कर सकती, यदि वह विचित्र जगत् की उत्पत्ति करने लगेगी तो स्वयं विचित्र स्वभाव वाली हो जाएगी, एक स्वभाव वाली नहीं रह सकेगी। अतः जगत् में दृश्यमान विचित्रता के लिए कर्म को मानना ही उचित है। प्राणिवर्ग अपने-अपने कर्मों की विभिन्नता के कारण ही भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं। स्वकृत कर्मों का फल माने विना जगत् की विचित्रता सिद्ध नहीं हो सकती। अगर नियति को विचित्र स्वभाववाली मानते हैं तो वह कर्म ही है, जिसे नियतिवादी 'नियति' शब्द से कहते हैं। दोनों के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं रहता। वास्तव में, जिस प्रकार वृक्षों का मूल सींचने से उनकी शाखाओं में फल लगते हैं, उसी प्रकार इस जन्म में किये हुए कर्मों का फल भोग आगामी काल में होता है। मनुष्य पूर्वजन्म में शुभाशुभ कर्म संचित करता है,

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २८८-२८९ का सारांश

[2] प्राप्तव्यो नियतिवलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति, न भाविनोऽस्ति नाशः॥

—सूत्रकृ. शी. वृत्ति. प. २८८ में उद्धृत

उसके अनुसार स्व-स्वकृत कर्मपरिणाम को सुर या असुर कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता है।[1] कर्म का फल नियत है, अवश्यम्भावी है, उसे न मानकर एकमात्र नियति को सबका कारण मानना मिथ्या है।

एकान्तनियतिवादी अपने शुभाशुभ कर्मों का दायित्व स्वयं पर न लेकर नियति पर डाल देता है, इसके कारण वह पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरकादि परलोक, सुकृत-दुष्कृत, शुभाशुभफल आदि का चिन्तन छोड़कर निःसंकोच सावद्य अनुष्ठानों एवं काम-भोगों में प्रवृत्त हो जाता है। इस प्रकार नियतिवादी उभयलोक से भ्रष्ट हो जाता है, जब कि कर्म को मानने वाला अशुभकर्मों से दूर रहेगा, तथा कर्मक्षय करने का पुरुषार्थ करेगा और एक दिन सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष को प्राप्त कर सकेगा।

चारों कोटि के पुरुष : मिथ्यावाद प्ररूपक—पृथक्-पृथक् बुद्धि, अभिप्राय, रुचि, दृष्टि, शील, आरम्भ और निश्चयवाले ये चारों पुरुष एकान्तवादी तथा अपने-अपने मताग्रह के कारण अधर्म को भी धर्म समझने वाले हैं, इस कारण ये चारों मिथ्यावादप्ररूपक हैं। अतः ये स्वकृतकर्मफलानुसार संसार के काम-भोगरूपी कीचड़ में फंस कर दुःखी होते हैं।

भिक्षावृत्ति के लिए समुद्यत भिक्षु के लिए वैराग्योत्पादकपरिज्ञानसूत्र

६६७. से वेमि पाईणं वा ४ संतेगतिया मणुस्सा भवंति; तं जहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे हस्समंता वेगे, सुवण्णा वेगे दुवण्णा वेगे, सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे। तेसिं च णं खेत्त-वत्थूणि परिग्गहियाणि भवंति, तं जहा—अप्पयरा वा भुज्जतरा वा। तेसिं च णं जण-जाणवयाइं परिग्गहियाइं भवंति, तं जहा—अप्पयरा वा भुज्जयरा वा। तहप्पकारेहिं कुलेहिं आगम्म अभिभूय एगे भिक्खायरियाए समुट्ठिता, सतो वा वि एगे णायओ य उवकरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता। असतो वा वि एगे नायओ य उवकरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता।

६६७. (श्री सुधर्मास्वामी श्री जम्बूस्वामी से कहते हैं—) मैं ऐसा कहता हूँ कि पूर्व आदि चारों दिशाओं में नाना प्रकार के मनुष्य निवास करते हैं, जैसे कि कोई आर्य होते हैं, कोई अनार्य होते हैं, कोई उच्चगोत्रीय और कोई नीचगोत्रीय होते हैं, कोई मनुष्य लम्बे कद के (ऊँचे) और कोई ठिगने कद के (ह्रस्व) होते हैं, किसी के शरीर का वर्ण सुन्दर होता है, किसी का असुन्दर होता है, कोई सुरूप होते हैं, कोई कुरूप। उनके पास (अपने स्वामित्व के थोड़े या बहुत) खेत और मकान आदि होते हैं, उनके अपने जन (परिवार, कुल आदि के लोग) तथा जनपद (देश) परिगृहीत (अपने स्वामित्व के) होते हैं, जैसे कि किसी का परिग्रह थोड़ा और किसी का अधिक। इनमें से कोई पुरुष पूर्वोक्त कुलों में जन्म लेकर विषय-भोगों की आसक्ति छोड़कर भिक्षावृत्ति धारण करने के लिए (दीक्षाग्रहण हेतु) उद्यत होते हैं। कई विद्यमान ज्ञातिजन (स्वजन), अज्ञातिजन (परिजन) तथा उपकरण (विभिन्न भोगोपभोग-साधन या धन-धान्यादि वैभव) को छोड़कर भिक्षावृत्ति धारण करने

---

[1] यदिह क्रियते कर्म, तत्परत्रोपभुज्यते, मूलसिक्तेषु वृक्षेषु फलं शाखासु जायते ॥ १ ॥
यदुपात्तमन्यजन्मनि शुभाशुभं वा स्वकर्मपरिणत्या, तच्छक्यमन्यथा नो कर्तुं देवासुरैरपि हि ॥ २ ॥
—सू० कृ० शी० वृत्ति पृ० २८९ में उद्धृत

(प्रव्रजित होने) के लिए समुद्यत होते हैं, अथवा कई अविद्यमान ज्ञातिजन, अज्ञातिजन एवं उपकरण का त्याग करके भिक्षावृत्ति धारण करने के लिए समुद्यत होते हैं।

६६८. जे ते सतो वा असतो वा णायओ य उवकरणं च विप्पजहाय भिक्खायरियाए समुट्ठिता पुव्वामेव तेहिं णातं भवति, तं जहा—इह खलु पुरिसे अण्णमण्णं ममट्ठाए एवं विप्पडिवेदेति, तं जहा—खेत्तं से, वत्थुं मे, हिरण्णं मे, सुवण्णं मे, धणं मे, धण्णं मे, कंसं मे, दूसं मे, विपुल-धण-कणग-रयण-मणि-मोत्तिय-संख-सिल-प्पवाल-रत्त-रयण-संतसार-सावतेयं मे, सद्दा मे, रूवा मे, गंधा मे, रसा मे, फासा मे, एते खलु मे कामभोगा, अहमवि एतेसिं।

६६८. जो विद्यमान अथवा अविद्यमान ज्ञातिजन, अज्ञातिजन एवं उपकरण का त्याग करके भिक्षांचर्या (साधुदीक्षा) के लिए समुत्थित होते हैं, इन दोनों प्रकार के ही साधकों को पहले से ही यह ज्ञात होता है कि इस लोक में पुरुषगण अपने से भिन्न वस्तुओं (पर-पदार्थो) को उद्देश्य करके झूठमूठ ही ऐसा मानते हैं कि ये मेरी हैं, मेरे उपभोग में आएँगी, जैसे कि—यह खेत (या जमीन) मेरा है, यह मकान मेरा है, यह चाँदी मेरी है, यह सोना मेरा है, यह धन मेरा है, धान्य मेरा है, यह कांसे के बर्तन मेरे हैं, यह बहुमूल्य वस्त्र या लोह आदि धातु मेरा है, यह प्रचुर धन (गाय, भैंस आदि पशु) यह बहुत-सा कनक, ये रत्न, मणि, मोती, शंखशिला, प्रवाल (मूंगा), रक्तरत्न (लाल), पद्मराग आदि उत्तमोत्तम मणियाँ और पैतृक नकद धन, मेरे हैं, ये कर्णप्रिय शब्द करने वाले वीणा, वेणु आदि वाद्य-साधन मेरे हैं, ये सुन्दर और रूपवान पदार्थ मेरे हैं, ये इत्र, तेल आदि सुगन्धित पदार्थ मेरे हैं, ये उत्तमोत्तम स्वादिष्ट एवं सरस खाद्य पदार्थ मेरे हैं, ये कोमल-कोमल स्पर्श वाले गद्दे, तोशक आदि. पदार्थ मेरे हैं। ये पूर्वोक्त पदार्थ-समूह मेरे कामभोग के साधन हैं, मैं इनका योगक्षेम (अप्राप्त को प्राप्त करने और प्राप्त की रक्षा) करने वाला हूँ, अथवा उपभोग करने में समर्थ हूँ।"

६६९. से मेहावी पुव्वामेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा, तं जहा—इह खलु मम अण्णयरे दुक्खे रोगायंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे अकंते अप्पिए असुभे अमणुण्णे अमणामे दुक्खे णो सुहे, से हंता भयंतारो कामभोगा! इमं मम अण्णतरं दुक्खं रोगायंकं परियाइयह अणिट्ठं अकंतं अप्पियं असुभं अमणुण्णं अमणामं दुक्खं णो सुहं, ताहं दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पिड्डामि वा परितप्पामि वा, इमाओ मे अण्णतरातो दुक्खातो रोगायंकातो पडिमोयह अणिट्ठातो अकंतातो अप्पियाओ असुहाओ अमणुन्नाओ अमणामाओ दुक्खाओ णो सुहातो। एवामेव नो लद्धपुव्वं भवति।

६६९. वह (प्रव्रजित अथवा प्रव्रज्या लेने का इच्छुक) मेधावी साधक स्वयं पहले से ही (इनका उपभोग करने से पूर्व ही) यह भलीभाँति जान ले कि "इस संसार में जब मुझे कोई राग या आतंक उत्पन्न होता है, जो कि मुझे इष्ट नहीं है, कान्त (मनोहर) नहीं है, प्रिय नहीं है, अशुभ है, अमनोज्ञ है, अधिक पीड़ाकारी (मनोव्यथा पैदा करने वाला) है, दुःखरूप है, सुखरूप नहीं है, (तब यदि मैं प्रार्थना करूं कि) हे भय का अन्त करने वाले मेरे धनधान्य आदि कामभोगो! मेरे इस अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, अतीव दुःखद, दुःखरूप या असुखरूप रोग, आतंक आदि को तुम बांट कर ले लो; क्योंकि मैं इस पीड़ा, रोग या आतंक से बहुत दुःखी हो रहा हूँ, मैं चिन्ता या शोक से व्याकुल हूँ, इनके कारण मैं बहुत चिन्ताग्रस्त हूँ, मैं अत्यन्त पीड़ित हो रहा हूँ, मैं बहुत ही

वेदना पा रहा हूँ, या अतिसंतप्त हूँ । अतः तुम सब मुझे इस अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, अवमान्य, दुःखरूप या असुखरूप मेरे किसी एक दुःख से या रोगातंक से मुझे मुक्त करा दो।" तो वे (धनधान्यादि कामभोग) पदार्थ उक्त प्रार्थना सुनकर दुःखादि से मुक्त करा दें, ऐसा कभी नहीं होता ।

६७०. इह खलु कामभोगा णो ताणाए वा सरणाए वा, पुरिसे वा एगता पुव्विं कामभोगे विप्पजहति, कामभोगा वा एगता पुव्विं पुरिसं विप्पजहंति, अन्ने खलु कामभोगा अन्नो अहमंसि, से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं कामभोगेहिं मुच्छामो ? इति संखाए णं वयं कामभोगे विप्पजहिस्सामो ।

६७०. इस संसार में वास्तव में, (अत्यन्त परिचित वे धन-धान्यादि परिग्रह विशेष तथा शब्दादि) काम-भोग दुःख से पीड़ित उस व्यक्ति की रक्षा करने या शरण देने में समर्थ नहीं होते । इन काम-भोगों का उपभोक्ता किसी समय तो (दुःसाध्यव्याधि, जराजीर्णता, या अन्य शासनादि का उपद्रव या मृत्युकाल आने पर) पहले से ही स्वयं इन काम-भोग पदार्थों को (बरतना) छोड़ देता है, अथवा किसी समय (द्रव्यादि के अभाव में) (विषयोन्मुख) पुरुष को काम-भोग (ये कामभोग्य साधन) पहले ही छोड़ (कर चल) देते हैं । इसलिए ये काम-भोग मेरे से भिन्न हैं, मैं इनसे भिन्न हूँ । फिर हम क्यों अपने से भिन्न इन काम-भोगों (धन धान्यादि तथा ज्ञातिजनादि परिग्रह-विशेष तथा शब्दादि कामभोग्य पदार्थों) में मूर्च्छित—आसक्त हों । इस प्रकार इन सबका ऐसा स्वरूप जानकर (अव) हम इन कामभोगों का परित्याग कर देंगे ।

६७१. से मेहावी जाणेज्जा बाहिरंगमेतं, इणमेव उवणीततरागं, तं जहा—माता मे, पिता मे, भाया मे, भज्जा में, भगिणी में, पुत्ता मे, धूता मे, नत्ता मे, सुण्हा मे, पेसा मे, सुही मे, सयण-संगंथ-संथुता मे, एते खलु मे णायओ, अहमवि एतेसिं ।

६७१. (इस प्रकार वह विवेकशील) बुद्धिमान् साधक (निश्चितरूप से) जान ले, ये सब काम-भोगादिपदार्थ बहिरंग—बाह्य हैं, मेरी आत्मा से भिन्न (परभाव) हैं । (सांसारिक दृष्टि वाले मानते हैं कि) इनमें तो मेरे निकटतर ये ज्ञातिजन (स्वजन) हैं—जैसे कि (वह कहता है—) "यह मेरी माता है, मेरा पिता है, मेरा भाई है, मेरी बहन है, मेरी पत्नी है, मेरे पुत्र हैं, मेरी पुत्री है, ये मेरे दास (नौकर-चाकर) हैं, यह मेरा नाती है, मेरी पुत्र-वधू है, मेरा मित्र है, ये मेरे पहले और पीछे के स्वजन एवं परिचित सम्वन्धी हैं । ये मेरे ज्ञातिजन हैं और मैं भी इनका आत्मीय जन हूँ ।"

६७२. से मेहावी पुव्वामेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा—इह खलु मम अण्णतरे दुक्खे रोगातंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे जाव दुक्खे नो सुहे, से हंता भयंतारो णायओ इमं ममऽण्णतरं दुक्खं रोगायंकं परिआदियध[1] अणिट्ठं जाव नो सुहं, ता हं[2] दुक्खामि वा जाव परितप्पामि वा, इमातो मं

---

[1] तुलना—'न तस्स दुक्खं विभयंति नाइओ, न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा ।
एक्को सयं पच्चणु होइ दुक्खं, कत्तारमेवं अणुजाइ कम्मं ॥
—उत्तराध्ययन, अ. १३ गा. २३

[2] पाठान्तर है—'ताऽहं', 'माऽहं' । ताऽहं होने पर व्याख्या में थोड़ा परिवर्तन हो जाता है ।

अन्नयरातो दुक्खातो रोगायंकातो पडिमोएह अणिट्ठाओ जाव णो सुहातो । एवामेव णो लद्धपुव्वं भवति ।

६७२. (किन्तु उक्त शास्त्रज्ञ) बुद्धिमान साधक को स्वयं पहले से ही सम्यक् प्रकार से जान लेना चाहिए कि इस लोक में मुझे किसी प्रकार का कोई दुःख या रोग-आतंक (जो कि मेरे लिए अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय यावत् दुःखदायक है) पैदा होने पर मैं अपने ज्ञातिजनों से प्रार्थना करूँ कि हे भय का अन्त करने वाले ज्ञातिजनो ! मेरे इस अनिष्ट, अप्रिय यावत् दुःखरूप या असुखरूप दुःख या रोगातंक को आप लोग बराबर बांट लें, ताकि मैं इस दुःख से दुःखित, चिन्तित, यावत् अतिसंतप्त न होऊँ । आप सब मुझे इस अनिष्ट यावत् उत्पीड़क दुःख या रोगातंक से मुक्त करा (छुटकारा दिला) दें । इस पर वे ज्ञातिजन मेरे दुःख और रोगातंक को बाँट कर ले लें, या मुझे इस दुःख या रोगातंक से मुक्त करा दें, ऐसा कदापि नहीं होता ।

६७३. तेसिं वा वि भयंताराणं मम णाययाणं अण्णयरे दुक्खे रोगातंके समुप्पजेज्जा अणिट्ठे जाव नो सुहे, से हंता अहमेतेसिं भयंताराणं णाययाणं इमं अण्णतरं दुक्खं रोगातंकं परियाइयामि अणिट्ठं जाव णो सुहं, मा मे दुक्खंतु वा जाव परितप्पंतु वा, इमाओ णं अण्णतरातो दुक्खातो रोगातंकातो परिमोएमि अणिट्ठातो जाव नो सुहातो । एवामेव णो लद्धपुव्वं भवति ।

६७३. अथवा भय से मेरी रक्षा करने वाले उन मेरे ज्ञातिजनों को ही कोई दुःख या रोग उत्पन्न हो जाए, जो अनिष्ट, अप्रिय यावत् असुखकर हो, तो मैं उन भयत्राता ज्ञातिजनों के अनिष्ट, अप्रिय यावत् असुखरूप उस दुःख या रोगातंक को बांट कर ले लूं, ताकि वे मेरे ज्ञातिजन दुःख न पाएँ यावत् वे अतिसंतप्त न हों, तथा मैं उन ज्ञातिजनों को उनके किसी अनिष्ट यावत् असुखरूप दुःख या रोगातंक से मुक्त कर दूँ, ऐसा भी कदापि नहीं होता ।

६७४. अण्णस्स दुक्खं अण्णो नो परियाइयति, अन्नेण कडं कम्मं अन्नो नो पडिसंवेदेति, पत्तेयं जायति, पत्तेयं मरइ, पत्तेयं चयति, पत्तेयं उववज्जति, पत्तेयं झंझा, पत्तेयं सण्णा, पत्तेयं मण्णा, एवं विण्णू, वेदणा, इति खलु णातिसंयोगा णो ताणाए वा णो सरणाए वा, पुरिसो वा एगता पुव्वि णातिसंयोगे विप्पजहति, नातिसंयोगा वा एगता पुव्वि पुरिसं विप्पजहंति, अन्ने खलु णातिसंयोगा अन्नो अहमंसि, से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं णातिसंयोगेहिं मुच्छामो ? इति संखाए णं वयं णातिसंयोगे विप्पजहिस्सामो ।

६७४. (क्योंकि) दूसरे के दुःख को दूसरा व्यक्ति बाँट कर नहीं ले सकता । दूसरे के द्वारा कृत कर्म का फल दूसरा नहीं भोग सकता । प्रत्येक प्राणी अकेला ही जन्मता है, आयुष्य क्षय होने पर अकेला ही मरता है, प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही (धन-धान्य-हिरण्य-सुवर्णादि परिग्रह, शब्दादि विषयों या माता-पितादि के संयोगों का) त्याग करता है, अकेला ही प्रत्येक व्यक्ति इन वस्तुओं का उपभोग या स्वीकार करता है, प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही झंझा (कलह) आदि कषायों को ग्रहण करता है, अकेला ही पदार्थों का परिज्ञान (संज्ञान) करता है, तथा प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही मनन-चिन्तन करता है, प्रत्येक व्यक्ति अकेला ही विद्वान् होता है, (उसके बदले में दूसरा कोई विद्वान् नहीं बनता), प्रत्येक व्यक्ति

अपने-अपने सुख-दुःख का वेदन (अनुभव) करता है। अतः पूर्वोक्त प्रकार से (अन्यकृत कर्म का फल अन्य नहीं भोगता, तथा प्रत्येक व्यक्ति के जन्म-जरा-मरणादि भिन्न-भिन्न हैं इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञानिजनों का संयोग दुःख से रक्षा करने या पीड़ित मनुष्य को शान्ति या शरण देने में समर्थ नहीं है। कभी (क्रोधादिवश या मरणकाल में) मनुष्य स्वयं ज्ञातिजनों के संयोग को पहले ही छोड़ देता है अथवा कभी ज्ञातिसंयोग भी मनुष्य के दुर्व्यवहार-दुराचरणादि देखकर) मनुष्य को पहले छोड़ देता है। अतः (मेधावी साधक यह निश्चित जान ले कि) 'ज्ञातिजनसंयोग मेरे से भिन्न हैं, मैं भी ज्ञातिजन संयोग से भिन्न हूँ।' तब फिर हम अपने से पृथक् (आत्मा से भिन्न) इन ज्ञातिजनसंयोग में क्यों आसक्त हों ? यह भलीभाँति जानकर अब हम ज्ञाति-संयोग का परित्याग कर देंगे।

६७५. से मेहावी जाणेज्जा वाहिरगमेतं,[1] इणमेव उवणीयतरागं, तं जहा—हत्था मे, पाया मे, वाहा मे, ऊरू मे, सीसं मे, उदरं मे, सीलं मे, आउं मे, बलं मे, वण्णो मे, तया मे, छाया मे, सोयं मे, चक्खुं मे, घाणं मे, जिब्भा मे, फासा मे, ममाति। जंसि वयातो परिजूरति तं जहा—आऊओ बलाओ वण्णाओ तताओ छाताओ सोताओ जाव फासाओ, सुसंधीता संधी विसंधी भवति, वलितरंगे गाते भवति, किण्हा केसा पलिता भवंति, तं जहा—जं पि य इमं सरीरगं उरालं आहारोवचियं एतं पि य मे अणुपुव्वेणं विप्पजहियव्वं भविस्सति।

६७५—परन्तु मेधावी साधक को यह निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि ज्ञातिजनसंयोग तो वाह्य वस्तु (आत्मा से भिन्न—परभाव) है ही, इनसे भी निकटतर सम्बन्धी ये सब (शरीर के सम्बन्धित अवयवादि) हैं, जिन पर प्राणी ममत्व करता है, जैसे कि—ये मेरे हाथ हैं, ये मेरे पैर हैं, ये मेरी वाँहें हैं, ये मेरी जांघें हैं, यह मेरा मस्तक है, यह मेरा शील (स्वभाव या आदत) है, इसी तरह मेरी आयु, मेरा वल, मेरा वर्ण (रंग), मेरी चमड़ी (त्वचा) मेरी छाया (अथवा कान्ति) मेरे कान, मेरे नेत्र, मेरी नासिका, मेरी जिह्वा, मेरी स्पर्शेन्द्रिय, इस प्रकार प्राणी 'मेरा-मेरा' करता है। (परन्तु याद रखो) आयु अधिक होने पर ये सव जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं। जैसे कि (वृद्ध होने के साथ-साथ मनुष्य) आयु से, वल से, त्वचा से, कान से, तथा स्पर्शेंद्रियपर्यन्त सभी शरीर सम्बन्धी पदार्थों से क्षीण—हीन हो जाता है। उसकी सुघटित (गठी हुई) दृढ़ सन्धियाँ (जोड़) ढीली हो जाती हैं, उसके शरीर की चमड़ी सिकुड़ कर नसों के जाल से वेष्टित (तरंगरेखावत्) हो जाती है। उसके काले केश सफेद हो जाते हैं, यह जो आहार से उपचित (वृद्धिगत) औदारिक शरीर है, वह भी क्रमशः अवधि (आयुष्य) पूर्ण होने पर छोड़ देना पड़ेगा।

६७६. एयं संखाए से भिक्खू भिक्खायरियाए समुट्ठिते दुहतो लोगं जाणेज्जा, तं जहा—जीवा चेव अजीवा चेव, तसा चेव, थावरा चेव।

६७६. यह जान कर भिक्षाचर्या स्वीकार करने हेतु प्रव्रज्या के लिए समुद्यत साधु लोक को दोनों प्रकार से जान ले, जैसे कि—लोक जीवरूप है और अजीवरूप है, तथा त्रसरूप है और स्थावररूप है।

---

[1] पाठान्तर—वाहिरए ताव एस संजोगू —चूर्णि

विवेचन—भिक्षावृत्ति के लिए समुद्यत भिक्षु के लिए वैराग्योत्पादक परिज्ञानसूत्र—प्रस्तुत दशसूत्रों (सू. सं. ६६७ से ६७६ तक) में आत्मा से भिन्न समस्त सांसारिक सजीव-निर्जीव पदार्थों एवं काम-भोगों से विरक्त होकर प्रव्रजित होने की भूमिका के कतिपय परिज्ञानसूत्र प्रस्तुत किये हैं।

वे इस प्रकार हैं—

(१) आर्य-अनार्य आदि अनेक प्रकार के मनुष्यों में से कई क्षेत्र, वास्तु तथा जन (ज्ञातिजन आदि) एवं जानपद का थोड़ा या बहुत परिग्रह रखते हैं।

(२) उनमें से तथाकथित कुलों में जन्मे कुछ व्यक्ति प्रव्रजित होने के लिए तत्पर होते हैं।

(३) उनमें से कई विद्यमान और कई अविद्यमान स्वजन, परिजन एवं भोगोपभोग साधनों को छोड़ कर दीक्षाग्रहण करने के लिए उद्यत होते हैं।

(४) उन्हें यह जान लेना चाहिए कि सांसारिक दृष्टि वाले क्षेत्र-वास्तु आदि परिग्रह एवं शब्दादि काम-भोगों को अपना और स्वयं को उनका समझते हैं।

(५) वह दीक्षाग्रहण से पूर्व ही यह जान ले कि ये कामभोग किसी अनिष्ट दुःख या रोग के होने पर प्रार्थना करने पर भी उस दुःख या रोगातंक को बांट लेने या उससे छुड़ाने में समर्थ नहीं होते, न ही रक्षण एवं शरणप्रदान में समर्थ होते हैं।

(६) बल्कि कभी तो मनुष्य रोगादि कारणवश स्वयं इन कामभोगों को पहले छोड़ देता है, या कभी ये मनुष्य को छोड़ देते हैं।

(७) अतः ये कामभोग मुझ से भिन्न हैं, मैं इनसे भिन्न हूँ, इस परिज्ञान को लेकर कामभोगों में मूर्च्छित न होकर उनका परित्याग करने का संकल्प करता है।

(८) वह मेधावी साधक यह जान ले कि कामभोग तो प्रत्यक्ष बाह्य हैं, परन्तु इनसे भी निकटतर माता-पिता आदि ज्ञातिजन हैं, जिन पर मनुष्य ममत्व करता है, ज्ञातिजनों को अपना और अपने को ज्ञातिजनों का मानता है।

परन्तु वह मेधावी दीक्षाग्रहण से पूर्व ही यह जान ले कि ये ज्ञातिजन भी किसी अनिष्ट, दुःख या रोगातंक के आ पड़ने पर प्रार्थना करने पर भी उस अप्रिय दुःख या रोगातंक को बांट लेने या उससे छुड़ाने में समर्थ नहीं होते, न ही वे त्राण या शरण प्रदान कर सकते हैं। और न ही वह मनुष्य उन ज्ञातिजनों की प्रार्थना पर उनपर आ पड़े हुए अनिष्ट दुःख या रोगातंक को बांट कर ले सकता है, न उससे उन्हें छुड़ा सकता है।

(९) कारण यह है कि दूसरे का दुःख न तो दूसरा ले सकता है, न ही अन्यकृत कर्म का फल अन्य भोग सकता है। जीव अकेला जन्मता, मरता है, परिग्रहादि संचय करता है, उनका उपभोग करता है, व्यक्ति अकेला ही कषाय करता है, अकेला ही ज्ञान प्राप्त करता है, अकेला ही चिन्तन-मनन, अकेला ही विद्वान् होता है, अकेला ही सुख-दुःखानुभव करता है, इसलिए ज्ञातिजन रक्षा करने या शरण देने में समर्थ नहीं हो सकते। कभी तो किसी कारणवश मनुष्य पहले ही अपने ज्ञातिजनों को छोड़ देता है, कभी वे उसे पहले छोड़ देते हैं। इसलिए ज्ञातिजन मुझ से भिन्न हैं, मैं ज्ञातिजन से भिन्न हूँ, फिर क्यों ज्ञातिजनों के साथ आसक्तिसम्बन्ध रखूं? यह जान कर ही वह ज्ञातिजनों के प्रति आसक्तियुक्त संयोग को छोड़ने का संकल्प करता है।

(१०) ज्ञातिजन तो प्रत्यक्षत: भिन्न प्रतीत होते हैं, उनसे भी निकटतर ये शरीरसम्बन्धित हाथ पैर आदि अवयव अथवा आयु, बल, वर्ण, कान्ति आदि पदार्थ हैं, जिन पर मनुष्य ममत्व करता है। यद्यपि वय से वृद्ध होने पर उसके इन सब अंगों या शरीरसम्बद्ध पदार्थों का ह्रास हो जाता है तथा एक दिन आहारादि से संवर्धित इस शरीर को छोड़कर जाना पड़ता है।

(११) यह जान कर भिक्षावृत्ति के लिए समुत्थित वह भिक्षु जीव (आत्मा) और अजीव (आत्मबाह्य) का, तथा त्रस और स्थावर जीवों का सम्यक् परिज्ञान कर लेता है।

निष्कर्ष यह है कि इन्हीं परिज्ञानगर्भित वैराग्योत्पादक सूत्रों के आधार पर वह प्रव्रजित होने वाला साधक दीक्षाग्रहण से पूर्व क्षेत्र, वास्तु आदि परिग्रहों, शब्दादि काम-भोगों, ज्ञातिजनों तथा शरीर सम्बन्धित पदार्थों से अवश्य ही विरक्त हो जाता है।[1]

गृहस्थवत् आरम्भपरिग्रहयुक्त श्रमण-माहन और इन दोनों से मुक्त निर्ग्रन्थ भिक्षु

६७७. (१) इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समण-माहणा सारंभा सपरिग्गहा, जे इमे तस-थावरा पाणा ते सयं समारंभंति, अण्णेण वि समारंभावेंति, अण्णं पि समारंभंतं समणुजाणंति।

(२) इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समण-माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, जे इमे कामभोगा सचित्ता वा अचित्ता वा ते सयं चेव परिगिण्हंति, अण्णेण वि परिगिण्हावेंति, अण्णं पि परिगिण्हंतं समणुजाणंति।

(३) इह खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समणा माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, अहं खलु अणारंभे अपरिग्गहे। जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समण-माहणा वि सारंभा सपरिग्गहा, एतेसिं चेव निस्साए बंभचेरं चरिस्सामो, कस्स णं तं हेउं ? जहा पुव्वं तहा अवरं, जहा अवरं तहा पुव्वं। अंजू चेते अणुवरया अणवट्ठिता पुणरवि तारिसगा चेव।

६७७. (१) इस लोक में गृहस्थ आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं, (क्योंकि गृहकार्यों को करने में उन्हें आरम्भ करना तथा धन-धान्यादि का परिग्रह भी रखना पड़ता है), कई श्रमण और ब्राह्मण (माहन) भी आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं, (क्योंकि वे भी गृहस्थ की तरह कई सावद्यक्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं, धन-धान्य, मकान, खेत आदि परिग्रह भी रखते हैं) वे गृहस्थ तथा श्रमण और ब्राह्मण इन त्रस और स्थावर प्राणियों का स्वयं आरम्भ करते हैं, दूसरे के द्वारा भी आरम्भ कराते हैं और आरम्भ करते हुए अन्य व्यक्ति को अच्छा मानते-अनुमोदन करते हैं।

(२) इस जगत् में गृहस्थ तो आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते ही हैं, कई श्रमण एवं माहन भी आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं। ये गृहस्थ तथा श्रमण और माहन (ब्राह्मण) सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार के काम-भोगों को स्वयं ग्रहण करते हैं, दूसरे से भी ग्रहण कराते हैं तथा ग्रहण करते हुए का अनुमोदन करते हैं।

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक २९२ से २९४ तक का सारांश.

(३) इस जगत् में गृहस्थ आरम्भ और परिग्रह से युक्त होते हैं, कई श्रमण और ब्राह्मण भी आरम्भ परिग्रह से युक्त होते है। (ऐसी स्थिति में आत्मार्थी संयमी भिक्षु विचार करता है—) मैं (आर्हत् धर्मानुयायी मुनि) आरम्भ और परिग्रह से रहित हूँ। जो गृहस्थ हैं, वे आरम्भ और परिग्रह-सहित हैं ही, कोई-कोई श्रमण (शाक्य भिक्षु) तथा माहन भी आरम्भ-परिग्रह में लिप्त हैं। अतः आरम्भ-परिग्रह युक्त पूर्वोक्त गृहस्थवर्ग एवं श्रमण-माहनों के आश्रय से मैं ब्रह्मचर्य (मुनिधर्म) का आचरण करूंगा। (प्रश्न—१) आरम्भ-परिग्रह-सहित रहने वाले गृहस्थवर्ग और कतिपय श्रमण-ब्राह्मणों के निश्राय में ही जब रहना है, तब फिर इनका त्याग करने का क्या कारण है? (उत्तर—) गृहस्थ जैसे पहले आरम्भ-परिग्रह-सहित होते हैं, वैसे पीछे भी होते हैं, एवं कोई-कोई श्रमण माहन प्रव्रज्या धारण करने से पूर्व जैसे आरम्भ-परिग्रहयुक्त होते हैं, इसी तरह बाद में भी आरम्भ-परिग्रह में लिप्त रहते हैं। इसलिए ये लोग सावद्य आरम्भ-परिग्रह से निवृत्त नहीं हैं, अतः शुद्ध संयम का आचरण करने के लिए, शरीर टिकाने के लिए इनका आश्रय लेना अनुचित नहीं है।

६७८. जे खलु गारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगतिया समण-माहणा सारंभा सपरिग्गहा, दुहतो पावाइं इति संखाए दोहिं वि अंतेहिं अदिस्समाणे[1] इति भिक्खू रीएज्जा।

से बेमि-पाईणं वा ४। एवं से परिण्णातकम्मे, एवं से विवेयकम्मे, एवं से वियंतकारए भवतीति मक्खातं।

६७८. आरम्भ-परिग्रह से युक्त रहने वाले जो गृहस्थ हैं, तथा जो सारम्भ सपरिग्रह श्रमण-माहन हैं, वे इन दोनों प्रकार (आरम्भ एवं परिग्रह) की क्रियाओं से या राग और द्वेष से अथवा पहले और पीछे या स्वतः और परतः पापकर्म करते रहते हैं। ऐसा जानकर साधु आरम्भ और परिग्रह अथवा राग और द्वेष दोनों के अन्त से (विहीनता से) इनसे अदृश्यमान (रहित) हो इस प्रकार संयम में प्रवृत्ति करें।

इसलिए मैं कहता हूँ—पूर्व आदि (चारों) दिशाओं से आया हुआ जो (पूर्वोक्त विशेषताओं से युक्त) भिक्षु आरम्भ-परिग्रह से रहित है, वही कर्म के रहस्य को जानता है, इस प्रकार वह कर्म बन्धन से रहित होता है तथा वही (एक दिन) कर्मों का अन्त करने वाला होता है, यह श्री तीर्थंकरदेव ने कहा है।

विवेचन—गृहस्थवत् आरंभ-परिग्रह युक्त श्रमण-माहन और इन दोनों से मुक्त निर्ग्रन्थभिक्षु— प्रस्तुत दोनों सूत्रों में गृहस्थ के समान आरम्भपरिग्रह-दोषलिप्त श्रमण-माहनों की दशा और निर्ग्रन्थ भिक्षु की स्थिति का अन्तर बतलाया गया है। निम्नोक्त चार तथ्य इसमें से फलित होते हैं—

(१) गृहस्थ के समान सारम्भ और सपरिग्रह श्रमण एवं माहन त्रस-स्थावर प्राणियों का आरम्भ करते, कराते और अनुमोदन करते हैं।

(२) गृहस्थवत् आरम्भ परिग्रहयुक्त श्रमण एवं माहन सचित्त-अचित्त काम-भोगों को ग्रहण करते, कराते तथा अनुमोदन करते हैं।

---

[1] तुलना—'दोहिं अंतेहिं अदिस्समाणे....' —आचारांग विवेचन अ. ३, सू. १११, पृ. ९१
'दोहिं वि अंतेहिं अदिस्समाणेहिं....' —आचारांग विवेचन अ. ३, सू. १२३, पृ. १०५
'उभो अंते अनुपगम्म मज्झेन तथागतो धम्मं देसेति....'।
—सुत्तपिटक संयुक्तनिकाय पालि भाग २, पृ. ६६

(३) गृहस्थ की तरह कतिपय श्रमणों एवं माहनों को आरम्भ परिग्रह युक्त देखकर आत्मार्थी निर्ग्रन्थ भिक्षु विचार करता है—"मैं स्वयं निरारम्भ निष्परिग्रह रहकर इन सारम्भ-सपरिग्रह गृहस्थों एवं श्रमण-माहनों के आश्रय से अपने मुनिधर्म (तप-संयम) का निर्वाह करूँगा, किन्तु मैं इनकी तरह पहले (दीक्षा से पूर्व) और पीछे (दीक्षा के बाद) आरम्भ परिग्रह में लिप्त तथा पापकर्मजनक राग-द्वेष या इनकी क्रियाओं से दूर—अदृश्य, अलिप्त रह कर संयम में प्रवृत्ति करूंगा।"

(४) निर्ग्रन्थ साधु आरम्भ-परिग्रहवान् गृहस्थों एवं श्रमण-माहनों से दूर रहता है—उनके संसर्ग का त्याग करता है, तथापि उनके आश्रय-निश्रा से मुनिधर्म के पालन का विचार क्यों करता है ? इस प्रश्न का समाधान मूल पाठ में ही कर दिया गया है। वह यह कि वे तो आरम्भ-परिग्रह में लिप्त हैं ही, निरवद्य भिक्षा के लिए निर्ग्रन्थ साधु उनका आश्रय ले तो भी वे आरम्भ-परिग्रह करेंगे, न ले तो भी करेंगे अतः संयमपालन के लिए शरीर टिकाना आवश्यक है तो पहले से ही आरम्भ-परिग्रह में लिप्त गृहस्थों और ऐसे श्रमण-माहनों का आश्रय लेने में कोई दोष नहीं है। इस कारण साधु इनका त्याग करके भी इनके आश्रय से निर्दोष संयम का पालन करते हैं।

(५) जो आत्मार्थी भिक्षु आरम्भ-परिग्रह से रहित होता है, वह कर्म-रहस्यज्ञ होता है, वह कर्मबन्धन के कारणों से दूर रहता है, और एक दिन कर्मों का सर्वथा अन्त कर देता है।[1]

पंचम पुरुष : अनेकगुणविशिष्ट भिक्षु—स्वरूप और विश्लेषण

६७९. तत्थ खलु भगवता छज्जीवणिकाया हेऊ पण्णत्ता, तंजहा—पुढविकायिया जाव तसकायिया। से जहानामए मम अस्सायं दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा आउडिज्जमाणस्स वा हम्ममाणस्स वा तज्जिज्जमाणस्स वा ताडिज्जमाणस्स वा परिताविज्जमाणस्स वा किलामिज्जमाणस्स वा उद्दविज्जमाणस्स वा जाव लोमुक्खणणमातमवि हिंसाकरं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि, इच्चेवं जाण सव्वे पाणा जाव सत्ता दंडेण वा जाव कवालेण वा आउडिज्जमाणा वा हम्ममाणा वा तज्जिज्जमाणा वा ताडिज्जमाणा वा परियाविज्जमाणा वा किलामिज्जमाणा वा उद्दविज्जमाणा वा जाव लोमुक्खणणमातमवि हिंसाकरं दुक्खं भयं पडिसंवेदेंति। एवं णच्चा सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता णं हंतव्वा, णं अज्जावेयव्वा, ण परिघेत्तव्वा, न परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा।

६७९. सर्वज्ञ भगवान् तीर्थंकर देव ने षट्जीवनिकायों (सांसारिक प्राणियों) को कर्मबन्ध के हेतु बताये हैं। जैसे कि—पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक षट्जीवनिकाय हैं। जैसे कोई व्यक्ति मुझे डंडे से, हड्डी से, मुक्के से, ढेले या पत्थर से, अथवा घड़े के फूटे हुए ठीकरे आदि से मारता है, अथवा चाबुक आदि से पीटता है, अथवा अंगुली दिखाकर धमकाता है, या डाँटता है, अथवा ताड़न करता है, या सताता—संताप देता है, अथवा क्लेश करता है, अथवा उद्विग्न करता है, या उपद्रव करता है, या डराता है, तो मुझे दुःख (असाता) होता है, यहाँ तक कि मेरा एक रोम भी उखाड़ता है तो मुझे मारने जैसा दुःख और भय का अनुभव होता है। इसी तरह सभी जीव, सभी भूत, ससस्त प्राणी और सर्व सत्त्व, डंडे, मुक्के, हड्डी, चाबुक अथवा ठीकरे से मारे जाने या पीटे जाने, अँगुली दिखाकर धमकाए या डाँटे जाने, अथवा ताड़न किये जाने, सताये जाने, हैराने किये जाने, या

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २९५-२९६ का सारांश

उद्विग्न (भयभीत) किये जाने से, यहाँ तक कि एक रोम मात्र के उखाड़े जाने से वे मृत्यु का-सा कष्ट एवं भय महसूस करते हैं।

ऐसा जान कर समस्त प्राण, जीव, भूत और सत्त्व की हिंसा नहीं करनी चाहिए, उन्हें बलात् अपनी आज्ञा का पालन नहीं कराना चाहिए, न उन्हें बलात् पकड़ कर या दास-दासी आदि के रूप में खरीद कर रखना चाहिए, न ही किसी प्रकार का संताप देना चाहिए और न उन्हें उद्विग्न (भयभीत) करना चाहिए।

६८०. से बेमि—जे य अतीता जे य पडुप्पण्णा जे य आगमेस्सा अरहंता भगवंता सव्वे ते एवमाइक्खंति, एवं भासेंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति—सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा, एस धम्मे धुवे णितिए सासते, समेच्च लोगं खेतन्नेहिं पवेदिते।

६८०. इसलिए (वही बात) मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूँ—भूतकाल में (ऋषभदेव आदि) जो भी अर्हन्त (तीर्थंकर) हो चुके, वर्तमान में जो भी (सीमन्धरस्वामी आदि) तीर्थंकर हैं, तथा जो भी भविष्य में (पद्मनाभ आदि) होंगे; वे सभी अर्हन्त भगवान् (परिषद् में) ऐसा ही उपदेश देते हैं; ऐसा ही भाषण करते (कहते) हैं, ऐसा ही (हेतु, दृष्टान्त, युक्ति आदि द्वारा) बताते (प्रज्ञापन करते) हैं, और ऐसी ही प्ररूपणा करते हैं कि—किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व की हिंसा नहीं करनी चाहिए, न ही बलात् उनसे आज्ञा-पालन कराना चाहिए, न उन्हें बलात् दास-दासी आदि के रूप में पकड़ कर या खरीद कर रखना चाहिए, न उन्हें परिताप (पीड़ा) देना चाहिए, और न उन्हें उद्विग्न (भयभीत या हैरान) करना चाहिए। यही धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत (सदैव स्थिर रहने वाला) है। समस्त लोक को केवल-ज्ञान के प्रकाश में जान कर जीवों के खेद (पीड़ा) को या क्षेत्र को जानने वाले श्री तीर्थंकरों ने इस धर्म का प्रतिपादन किया है।

६८१. एवं से भिक्खू विरते पाणातिवातातो जाव विरते परिग्गहातो। णो दंतपक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा, णो अंजणं, णो वमणं, णो धूमं तं (णो धूमणेत्तं) पि आविए।

६८१. इस प्रकार वह भिक्षु प्राणातिपात (हिंसा) से लेकर परिग्रह-पर्यन्त पाँचों आश्रवों से विरत (निवृत्त) हो, दतौन आदि दाँत साफ करने वाले पदार्थों से दाँतों को साफ न करे, शोभा के लिए आँखों में अंजन (काजल) न लगाए, दवा लेकर वमन न करे, तथा अपने वस्त्रों या आवास-स्थान को धूप आदि से सुगन्धित न करे और खाँसी आदि रोगों की शान्ति के लिए धूम्रपान न करे।

६८२. से भिक्खू अकिरिए अलूसए अकोहे अमाणे अमाए अलोभे उवसंते परिनिव्वुडे। णो आसंसं पुरतो करेज्जा—इमेण मे दिट्ठेण वा सुएण वा मुएण वा विण्णाएण वा इमेण वा सुचरिय तव-नियम-बंभचेरवासेणं इमेण वा जायामातावुत्तिएणं धम्मेणं इतो चुते पेच्चा देवे सिया, कामभोगा वसवत्ती, सिद्धे वा अदुक्खमसुभे, एत्थ वि सिया, एत्थ वि णो सिया।

६८२. वह भिक्षु सावद्यक्रियाओं से रहित, जीवों का अहिंसक, क्रोधरहित, निर्मानी (अभिमानरहित) अमायी, निर्लोभी, उपशान्त एवं परिनिर्वृत-समाधियुक्त होकर रहे।

वह अपनी क्रिया से इहलोक-परलोक में काम-भोगों की प्राप्ति की आकांक्षा न करे, (जैसे कि)—यह (इतना) जो ज्ञान मैंने जाना-देखा है, सुना है अथवा मनन किया है, एवं विशिष्ट रूप से अभ्यस्त-अर्जित किया है, तथा यह जो मैंने तप, नियम, ब्रह्मचर्य आदि चारित्र का सम्यक् आचरण किया है, एवं मोक्षयात्रा का तथा (धर्मपालन के कारणभूत) शरीर-निर्वाह के लिए अल्पमात्रा में शुद्ध आहार ग्रहणरूप धर्म का पालन किया है; इन सब सुकार्यों के फलस्वरूप यहाँ से शरीर छोड़ने के पश्चात् परलोक में मैं देव हो जाऊँ, समस्त काम-भोग मेरे अधीन (वशवर्ती) हो जाएँ, मैं अणिमा आदि सिद्धियों से युक्त हो जाऊँ, अथवा मैं विद्यासिद्ध बन जाऊँ, एवं सब दुःखों तथा अशुभकर्मों से रहित हो जाऊँ (अथवा दुःखरूप अशुभकर्मों और सुख रूप शुभकर्मो से रहित हो जाऊँ); क्योंकि विशिष्ट-तपश्चर्या आदि के होते हुए भी कभी अणिमादि सिद्धि प्राप्त हो जाती है, कभी नहीं भी होती (किन्तु ऐसी फलाकांक्षा नहीं करनी चाहिए)।

६८३. से भिक्खू सद्देहिं, अमुच्छिए, रूवेहिं, अमुच्छिए, गंधेहिं अमुच्छिए, रसेहिं अमुच्छिए, फासेहिं अमुच्छिए, विरए कोहाओ माणाओ मायाओ लोभाओ पेज्जाओ दोसाओ कलहाओ अब्भक्खाणाओ पेसुण्णाओ परपरिवायातो अरतीरतीओ मायामोसाओ मिच्छादंसणसल्लाओ, इति से महता आदाणाओ उवसंते उवट्ठिते पडिविरते।

६८३. जो भिक्षु मनोज्ञ शब्दों, रूपों, गन्धों, रसों, एवं कोमल स्पर्शों में अमूर्च्छित (अनासक्त) रहता है, तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, (प्रेय), द्वेष, कलह, अभ्याख्यान (दोषारोपण), पैशुन्य (चुगली), परपरिवाद (परनिन्दा), संयम में अरति, असंयम में रति, मायामृषा (कपटसहित असत्य-दम्भ) एवं मिथ्यादर्शन रूप शल्य से विरत रहता है; इस कारण से वह भिक्षु महान् कर्मो के आदान (बन्ध) से रहित हो जाता है, वह सुसंयम में उद्यत हो जाता (रहता) है, तथा पापों से विरत-निवृत्त हो जाता है।

६८४. से भिक्खू जे इमे तस-थावरा पाणा भवंति ते णो सयं समारंभति, णो वऽण्णेहिं समारंभावेति, अण्णे समारभंते वि न समणुजाणइ, इति से महता आदाणातो उवसंते उवट्ठिते पडिविरते।

६८४. जो ये त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उनका वह भिक्षु स्वयं समारम्भ (हिंसाजनक व्यापार या प्रवृत्ति) नहीं करता, न वह दूसरों से समारम्भ कराता है, और न ही समारम्भ करते हुए व्यक्ति का अनुमोदन करता है। इस कारण से वह साधु महान् कर्मों के आदान (बन्धन) से मुक्त हो जाता है, शुद्ध संयम में उद्यत रहता है तथा पाप कर्मों से निवृत्त हो जाता है।

६८५. से भिक्खू जे इमे कामभोगा सचित्ता वा अचित्ता वा ते णो सयं परिगिण्हति, नेवऽण्णेण परिगिण्हावेति, अण्णं परिगिण्हंतं पि ण समणुजाणइ, इति से महया आदाणातो उवसंते उवट्ठिते पडिविरते।

६८५. जो ये सचित्त या अचित्त काम-भोग (के साधन) हैं, वह भिक्षु स्वयं उनका परिग्रह

नहीं करता, न दूसरों से परिग्रह कराता है, और न ही उनका परिग्रह करने वाले व्यक्ति का अनुमोदन करता है। इस कारण से वह भिक्षु महान् कर्मों के आदान (ग्रहण या बन्ध) से मुक्त हो जाता है, शुद्धसंयम-पालन में उपस्थित करता है, और पापकर्मों से विरत हो जाता है।

६८६. से भिक्खू जं पि य इमं संपराइयं कम्मं कज्जइ णो तं सयं करेति, नेवऽन्नेणं कारवेति, अन्नं पि करेंतं णाणुजाणति, इति से महता आदाणातो उवसंते उवट्ठिते पडिविरते।

६८६. जो यह साम्परायिक (संसारपरिभ्रमण का हेतु कषाययुक्त) कर्म-बन्ध (सांसारिकजनों द्वारा) किया जाता है, उसे भी वह भिक्षु स्वयं नहीं करता, न दूसरों से कराता है, और न ही साम्परायिक कर्म-बन्धन करते हुए व्यक्ति का अनुमोदन करता है। इस कारण वह भिक्षु महान् कर्नों के बन्धन (आदान) से मुक्त हो जाता है, वह शुद्ध संयम में रत और पापों से विरत रहता है।

६८७. से भिक्खू जं पुण जाणेज्जा असणं वा ४ अस्सिंपडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारंभ समुद्दिस्स कीतं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टुद्देसिय चेतियं सिता तं णो सयं भुंजइ, णो वऽन्नेणं भुंजावेति, अन्नं पि भुंजंतं ण समणुजाणइ, इति से महता आदाणासो उवसंते उवट्ठिते पडिविरते से भिक्खू।

६८७. यदि वह भिक्षु यह जान जाए कि अमुक श्रावक ने किसी निष्परिग्रह साधर्मिक साधु को दान देने के उद्देश्य से प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों का आरम्भ करके आहार बनाया है, अथवा खरीदा है, या किसी से उधार लिया है, अथवा बलात् छीन कर (अपहरण करके) लिया है, अथवा उसके स्वामी से पूछे बिना ही ले लिया (उसके स्वामित्व का नहीं) है अथवा साधु के सम्मुख लाया हुआ है, अथवा साधु के निमित्त से बनाया हुआ है, तो ऐसा सदोष आहार वह न ले। कदाचित् भूल से ऐसा सदोष आहार ले लिया हो तो स्वयं उसका सेवन न करे, दूसरे साधुओं को भी वह आहार न खिलाए, और न ऐसा सदोष आहार-सेवन करने वाले को अच्छा समझे। इस प्रकार के सदोष आहारत्याग से वह भिक्षु महान् कर्मों के बन्धन से दूर रहता है, वह शुद्ध संयम पालन में उद्यत और पाप कर्मों से विरत रहता है।

६८८. अह पुणेवं जाणेज्जा, तं जहा—विज्जति तेसिं परक्कमे जस्सट्ठाते चेतितं सिया, तंजहा—अप्पणो से, पुत्ताणं, धूयाणं, सुण्हाणं, धाईणं, णाईणं, राईणं, दासाणं, दासीणं कम्मकराणं, कम्मकरीणं, आदेसाए, पुढो पहेणाए सामासाए, पातरासाए, सण्णिधिसंणिचए कज्जति इहमेगेसिं माणवाणं भोयणाए। तत्थ भिक्खू परकड-परणिट्ठितं उग्गमुप्पायणेसणासुद्धं सत्थातीतं सत्थपरिणामितं अविहिंसितं एसियं वेसियं सामुदाणियं पण्णमसणं कारणट्ठा पमाणजुत्तं अक्खोवंजण-वणलेवणभूयं संजमजातामातावुत्तियं बिलमिव पन्नगभूतेणं अप्पाणेणं आहारं आहारेज्जा, तंजहा—अन्नं अन्नकाले, पाणं पाणकाले, वत्थं वत्थकाले, लेणं लेणकाले, सयणं सयणकाले।

६८८. यदि साधु यह जान जाए कि गृहस्थ ने जिनके लिए आहार बनाया है वे साधु नहीं, अपितु दूसरे हैं; जैसे कि गृहस्थ ने अपने पुत्रों के लिए अथवा पुत्रियों, पुत्रवधुओं के लिए, धाय के

लिए, ज्ञातिजनों के लिए, राजन्यों, दास, दासी, कर्मकर, कर्मकरी (स्त्री) तथा अतिथि के लिए, या किसी दूसरे स्थान पर भेजने के लिए या रात्रि में खाने के लिए अथवा प्रातः नाश्ते के लिए आहार बनाया है, अथवा इस लोक में जो दूसरे मनुष्य हैं, उनको भोजन देने के लिए उसने आहार का अपने पास संचय किया है; ऐसी स्थिति में साधु दूसरे के द्वारा दूसरों के लिए बनाये हुए तथा उद्गम, उत्पाद और एषणा दोष से रहित शुद्ध एवं अग्नि आदि शस्त्र द्वारा परिणत होने से प्रासुक (अचित्त) बने हुए एवं अग्नि आदि शस्त्रों द्वारा निर्जीव किये हुए अहिंसक (हिंसादोष से रहित) तथा एषणा (भिक्षा-वृत्ति) से प्राप्त तथा साधु के वेषमात्र से प्राप्त, सामुदायिक भिक्षा (माधुकरी वृत्ति) से प्राप्त, प्राज्ञ—गीतार्थ के द्वारा ग्राह्य (कल्पनीय) वैयावृत्य आदि ६ कारणों में से किसी कारण से साधु के लिए ग्राह्य प्रमाणोपेत; एवं गाड़ी को चलाने के लिए उसकी धुरी में दिये जाने वाले तेल तथा घाव पर लगाये गए लेप (मल्हम) के समान केवल संयमयात्रा के निर्वाहार्थ ग्राह्य अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य-रूप चतुर्विध आहार का बिल में प्रवेश करते हुए साँप के समान स्वाद लिये बिना ही सेवन करे। जैसे कि वह भिक्षु अन्नकाल में अन्न (आहार) का, पानकाल में पान (पेय पदार्थ) का, वस्त्र (परिधान) काल में वस्त्र का, मकान (में प्रवेश या निवास के) समय में मकान (आवास-स्थान) का, शयनकाल में शय्या का ग्रहण एवं सेवन (उपभोग) करता है।

६८९. से भिक्खू मातण्णे अण्णतरं दिसं वा अणुदिसं वा पडिवण्णे धम्मं आइक्खे विभए किट्टे उवट्ठितेसु वा अणुवट्ठितेसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेदए। संतिविरतिं उवसमं निव्वाणं सोयवियं अज्जवियं मद्दवियं लाघवियं अणतिवातियं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूताणं जाव सत्ताणं अणुवीइ किट्टए धम्मं।

६८९. वह भिक्षु (आहार, उपधि, शयन, स्वाध्याय, ध्यान आदि प्रत्येक चर्या की) मात्रा एवं विधि का ज्ञाता होकर किसी दिशा या अनुदिशा में पहुँचकर, धर्म का व्याख्यान करे, (धर्मतत्त्व के अनुरूप कर्त्तव्य का यथायोग्य) विभाग करके प्रतिपादन करे, धर्म के फल का कीर्तन—कथन करे। (परहितार्थ प्रवृत्त) साधु (भली भांति सुनने के लिए) उपस्थित (तत्पर) (शिष्यों या श्रावकों को) अथवा अनुपस्थित (कौतुकादिवश आगत-धर्म में अतत्पर) श्रोताओं को (स्व-पर-कल्याण के लिये) धर्म का प्रतिपादन करे।

(धर्मधुरन्धर) साधु (समस्त क्लेशोपशमरूप) के लिए विरति (विषय-कषायों या आश्रवों से) निवृत्ति (अथवा शान्ति—क्रोधादि कषायविजय, शान्ति-प्रधान विरति—प्राणातिपातादि से निवृत्ति), उपशम (इन्द्रिय और मन का शमन अथवा राग द्वेषाभावजनित उपशमन), निर्वाण (समस्त द्वन्द्वोपरमरूप या सर्वकर्मक्षयरूप मोक्ष), शौच (निर्लोभता), आर्जव (सरलता), मार्दव (कोमलता), लाघव (लघुता—हलकापन) तथा समस्त प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व के प्रति अहिंसा आदि धर्मों के अनुरूप (या प्राणियों के हितानुरूप) विशिष्ट चिन्तन करके धर्मोपदेश दे।

६९०. से भिक्खू धम्मं किट्टमाणे णो अन्नस्स हेउं धम्मं आइक्खेज्जा, णो पाणस्स हेउं धम्मं आइक्खेज्जा, णो वत्थस्स हेउं धम्मं आइक्खेज्जा,[1] णो लेणस्स हेउं धम्मं आइक्खेज्जा, णो सयणस्स

---

[1] तुलना—"ण कहेज्जा धम्मकहं वत्थपत्तादिहेदुं।" —मूलाराधना विजयोदयावृत्ति, पृ. ६१२

हेउं धम्मं आइक्खेज्जा, णो अन्नेसिं विरूव-रूवाणं कामभोगाणं हेउं धम्ममाइक्खेज्जा, अगिलाए धम्ममाइक्खिज्जा, णण्णत्थ कम्मणिज्जरट्ठयाए धम्मं आइक्खेज्जा।

६९०. धर्मोपदेश करता हुआ साधु अन्न (विशिष्ट सरस-स्वादिष्ट आहार) के लिए धर्मकथा न करे, पान (विशिष्ट पेय पदार्थ) के लिए धर्मव्याख्यान न करे, तथा सुन्दर वस्त्र प्राप्ति के लिए धर्मोपदेश न करे, न ही सुन्दर आवासस्थान (मकान) के लिए धर्मकथन करे, न विशिष्ट शयनीय पदार्थों की प्राप्ति (शय्या) के लिए धर्मोपदेश करे, तथा दूसरे विविध प्रकार के काम-भोगों (भोग्य-पदार्थों) की प्राप्ति के लिए धर्म कथा न करे। प्रसन्नता (अग्लानभाव) से धर्मोपदेश करे। कर्मों की निर्जरा (आत्मशुद्धि) के उद्देश्य के सिवाय अन्य किसी भी फलाकांक्षा से धर्मोपदेश न करे।

६९१. इह खलु तस्स भिक्खुस्स अंतियं धम्मं सोच्चा णिसम्म उट्ठाय वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिता, जे तस्स भिक्खुस्स अंतियं धम्मं सोच्चा णिसम्म सम्मं उट्ठाणेणं उट्ठाय वीरा अस्सिं धम्मे समुट्ठिता, ते एवं सव्वोवगता, ते एवं सव्वोवरता, ते एवं सव्वोवसंता, ते एवं सव्वत्ताए परिनिव्वुडे त्ति बेमि।

६९१. इस जगत् में उस (पूर्वोक्तगुण विशिष्ट) भिक्षु से धर्म को सुन कर, उस पर विचार करके (मुनिधर्म का आचरण करने के लिए) सम्यक् रूप से उत्थित (उद्यत) वीर पुरुष ही इस आर्हत धर्म में उपस्थित (दीक्षित) होते हैं। जो वीर साधक उस भिक्षु से (पूर्वोक्त) धर्म को सुन-समझ कर सम्यक् प्रकार से मुनिधर्म का आचरण करने के लिए उद्यत होते हुए इस (आर्हत) धर्म में दीक्षित होते हैं, वे सर्वोपगत हो जाते हैं (सम्यग्दर्शनादि समस्त मोक्षकारणों के निकट पहुँच जाते हैं), वे सर्वोपरत (समस्त पाप स्थानों से उपरत) हो जाते हैं, वे सर्वोपशान्त (कषायविजेता होने से सर्वथा उपशान्त) हो जाते हैं, एवं वे समस्त कर्मक्षय करके परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं। यह मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूँ।

६९२. एवं से भिक्खू धम्मट्ठी धम्मविदू नियागपडिवण्णे, से जहेयं बुतियं, अदुवा पत्ते पउमवरपोंडरीयं अदुवा अपत्ते पउमवरपोंडरीयं।

६९२. इस प्रकार (पूर्वोक्तविशेषण युक्त) वह भिक्षु धर्मार्थी (धर्म से ही प्रयोजन रखने वाला) धर्म का ज्ञाता और नियाग (संयम या मोक्ष) को प्राप्त होता है।

ऐसा भिक्षु, जैसा कि (इस अध्ययन में) पहले कहा गया था, पूर्वोक्त पुरुषों में से पांचवाँ पुरुष है। वह (भिक्षु) श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल के समान निर्वाण को प्राप्त कर सके अथवा उस श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल को (मति, श्रुत, अवधि एवं मनःपर्याय ज्ञान तक ही प्राप्त होने से) प्राप्त न कर सके, (वही सर्वश्रेष्ठ पुरुष है)।

६९३. एवं से भिक्खू परिण्णातकम्मे परिण्णायसंगे परिण्णायगिहवासे उवसंते समिते सहिए सदा जते। सेयं वयणिज्जे तंजहा— समणे ति वा माहणे ति वा खंते ति वा दंते ति वा गुत्ते ति वा मुत्ते

ति वा इसी ति वा मुणी ति वा कती ति वा विदू ति वा भिक्खू ति वा लूहे ति वा तीरट्ठी ति वा चरण-करणापारविदु त्ति बेमि ।

।। पोंडरीयं : पढमं अज्झयणं सम्मत्तं ।।

६९३. इस प्रकार का भिक्षु कर्म (कर्म के स्वरूप, विपाक एवं उपादान) का परिज्ञाता, संग (बाह्य-आभ्यन्तर-सम्बन्ध) का परिज्ञाता तथा (निःसार) गृहवास का परिज्ञाता (मर्मज्ञ) हो जाता है। वह (इन्द्रिय और मन के विषयों का उपशमन करने से) उपशान्त, (पंचसमितियों से युक्त होने से) समित, (हित से या ज्ञानादि से युक्त होने से) सहित एवं सदैव यतनाशील अथवा संयम में प्रयत्नशील होता है।

उस साधक को इस प्रकार (आगे कहे जाने वाले विशेषणों में से किसी भी एक विशेषयुक्त शब्दों से) कहा जा सकता है, जैसे कि—वह श्रमण है, या माहन (प्राणियों का हनन मत करो, ऐसा उपदेश करने वाला या ब्रह्मचर्यनिष्ठ होने से ब्राह्मण) है, अथवा वह क्षान्त (क्षमाशील) है, या दान्त (इन्द्रियमनोवशीकर्ता) है अथवा गुप्त (तीन गुप्तियों से गुप्त) है, अथवा मुक्त (मुक्तवत्) है, तथा महर्षि (विशिष्ट तपश्चरणयुक्त) है, अथवा मुनि (जगत् की त्रिकालावस्था पर मनन करने वाला) है, अथवा कृती (पुण्यवान्—सुकृती या परमार्थपण्डित), तथा विद्वान् (अध्यात्मविद्यावान्) है, अथवा भिक्षु (निरवद्यभिक्षाजीवी) है, या वह रूक्ष (अन्ताहारी-प्रान्ताहारी) है, अथवा तीरार्थी (मोक्षार्थी) है, अथवा चरण-करण (मूल-उत्तर गुणों) के रहस्य का पारगामी है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—पंचमपुरुष : अनेकगुणविशिष्ट भिक्षु—स्वरूप और विश्लेषण—प्रस्तुत १५ सूत्रों (सू. सं. ६७९ से ६९३ तक) में उत्तम पुण्डरीक कमल को प्राप्त करने के योग्य निर्ग्रन्थ भिक्षु की विशेषताओं एवं अर्हताओं का सर्वांगीण विश्लेषण किया गया है। उक्त भिक्षु की अर्हताएं संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) वह भिक्षु अपने आप को कसौटी बना कर षट्कायिक जीवों के हिंसाजनित दुःख और भय का अनुभव करता है, और किसी भी प्राणी की, किसी भी प्रकार हिंसा नहीं करता, क्योंकि अतीत-अनागत और वर्तमान में जितने भी तीर्थंकर हुए हैं, होंगे या हैं, उन सब महापुरुषों ने सर्वप्राणि—अहिंसारूप शाश्वत धर्म का प्रतिपादन किया है।

(२) प्राणातिपात की तरह वह भिक्षु मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से भी सर्वथा विरत हो जाता है।

(३) इस धर्म (अहिंसादि रूप) की रक्षा के लिए भिक्षु शोभा की दृष्टि से दन्तप्रक्षालन, अंजन, वमन-विरेचन, धूप और धूम्रपान नहीं करता।

(४) वह भिक्षु सावद्यक्रियाविरत, अहिंसक, अकषायी, उपशान्त एवं परिनिर्वृत्त होता है।

(५) वह अपने समाराधित ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, नियम, संयम एवं ब्रह्मचर्यरूप धर्म से इहलौकिक या पारलौकिक किसी भी प्रकार की फलाकांक्षा नहीं करता; न ही काम-भोगों, सिद्धियों की प्राप्ति की या दुःख एवं अशुभ की अप्राप्ति की वाञ्छा करता है।

(६) निम्नोक्त गुणों के कारण भिक्षु महान् कर्मबन्धन से दूर (उपशान्त) शुद्धसंयम में उद्यत एवं पापकर्मों से निवृत्त होता है—

(अ) पंचेन्द्रियविषयों विषयों में अनासक्त होने से।

(आ) अठारह ही पापस्थानों से विरत होने से।

(इ) त्रस-स्थावरप्राणियों के आरम्भ का कृत-कारित-अनुमोदित रूप से त्याग करने से।

(ई) सचित्त-अचित्त काम-भोगों के परिग्रह का कृत-कारित-अनुमोदित रूप से त्याग करने से।

(उ) साम्परायिक कर्मबन्ध का कृत-कारित-अनुमोदित रूप से त्याग करने से।

(ऊ) वह षट्कायिक जीव समारम्भजनित उद्गमादि दोषयुक्त आहार ग्रहण न करे, कदाचित् भूल से ग्रहण कर लिया गया हो तो उसका सेवन स्वयं न करने, न कराने और सेवनकर्ता को अच्छा न समझने पर।

(७) यदि यह ज्ञात हो जाए कि साधु के निमित्त से नहीं, अपितु किसी दूसरे के निमित्त से; अन्यप्रयोजनवश गृहस्थ ने आहार बनाया है और वह आहार उद्गम, उत्पादना और एषणादि दोषों से रहित, शुद्ध, शस्त्रपरिणत, प्रासुक, हिंसादि दोषरहित, साधु के वेष, वृत्ति, कल्प तथा कारण की दृष्टि से ग्राह्य है तो वह भिक्षु उसे प्रमाणोपेत ग्रहण करे और गाड़ी की धुरी में तेल या घाव पर लेप के समान उसे साँप के द्वारा बिल-प्रवेश की तरह अस्वादवृत्ति से सेवन करे।

(८) वह भिक्षु आहार, वस्त्रादि उपधि, वसति, शयन, स्वाध्याय, ध्यान आदि प्रत्येक वस्तु की मात्रा, कालमर्यादा और विधि का ज्ञाता होता है और तदनुरूप ही आहारादि का उपयोग करता है।

(९) धर्मोपदेश देते समय निम्नलिखित विवेक का आश्रय ले—

(अ) वह जहाँ कहीं भी विचरण करे, सुनने के लिए धर्म में तत्पर या अतत्पर, श्रोताओं को शुद्ध धर्म का तथा उसके फल आदि का स्व-पर-हितार्थ ही कथन करे।

(आ) वह भिक्षु शान्ति, विरति, उपशम, निर्वाण, शौच, आर्जव, मार्दव, लाघव, समस्त प्राणियों के प्रति अहिंसा आदि धर्मों का प्राणिहितानुरूप विशिष्ट चिन्तन करके उपदेश दे।

(इ) वह साधु अन्न, पान, वस्त्र, आवासस्थान, शयन तथा अन्य अनेकविध काम-भोगों की प्राप्ति के हेतु धर्मोपदेश न करे।

(ई) प्रसन्नतापूर्वक एकमात्र कर्मनिर्जरा के उद्देश्य से धर्मोपदेश करे।

(१०) जो पूर्वोक्त विशिष्ट गुणसम्पन्न भिक्षु से धर्म सुन समझ कर श्रमणधर्म में प्रव्रजित होकर इस धर्म के पालन हेतु उद्यत हुए हैं, वे वीरपुरुष सर्वोपगत, सर्वोपरत, सर्वोपशान्त एवं सर्वतः परिनिर्वृत्त होते हैं।

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक २९८ से ३०२ का सारांश

(११) वह भिक्षु कर्म, संग और गृहवास का मर्मज्ञ होता है, सदा उपशान्त, समित, सहित एवं संयत रहता है। वही भिक्षु धर्मार्थी, धर्मवेत्ता, संयमप्राप्त तथा प्रस्तुत अध्ययन में वर्णित गुणों से सम्पन्न होता हैं। वह उस उत्तम पुण्डरीक को प्राप्त करे या न करे परन्तु प्राप्त करने योग्य हो जाता है।

(१२) उसे श्रमण कहें, या माहन (ब्राह्मण) कहें, क्षान्त, दान्त, गुप्त, मुक्त, ऋषि, मुनि, यति, कृती, विद्वान्, भिक्षु, रूक्ष, तीरार्थी अथवा चरण-करण-पारवेत्ता कहें, वही पूर्वोक्त पुरुषों में योग्य सर्वश्रेष्ठ पंचम पुरुष है।

।। पौण्डरीक : प्रथम अध्ययन समाप्त ।।

□□

क्रियास्थान : द्वितीय अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग सूत्र (द्वि. श्रु.) के द्वितीय अध्ययन का नाम 'क्रियास्थान' है।

☐ सामान्यतया क्रिया का अर्थ है—हलन, चलन, स्पन्दन, कम्पन आदि प्रवृत्ति या व्यापार।

☐ जैनतार्किकों ने इसके दो भेद किये हैं—द्रव्यक्रिया और भावक्रिया। सचेतन-अचेतन द्रव्यों की प्रयोगत: (प्रयत्नपूर्वक) एवं विस्रसात: (सहजरूप में) उपयोगपूर्विका एवं अनुपयोगपूर्विका, अक्षिनिमेषमात्रादि समस्त क्रियाएं द्रव्यक्रियाएं हैं।

भावप्रधानक्रिया भावक्रिया है, जो ८ प्रकार की होती हैं—

(१) **प्रयोगक्रिया** (मनोद्रव्यों की स्फुरणा के साथ जहाँ मन, वचन, काया की क्रिया से आत्मा का उपयोग होता है, वहाँ मन:प्रयोग, वचनप्रयोग, कायप्रयोग क्रिया है),

(२) **उपायक्रिया** (घटपटादिनिर्माण के लिए उपायों का प्रयोग),

(३) **करणीयक्रिया** (जो वस्तु जिस द्रव्य सामग्री से वनाई जाती है उसके लिए उसी वस्तु का प्रयोग करना),

(४) **समुदानक्रिया** (समुदायरूप में स्थित जिस क्रिया को ग्रहण कर प्रथमगुणस्थान से दशम गुणस्थान तक के जीव द्वारा प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेशरूप से अपने में स्थापित करना),

(५) **ईर्यापथक्रिया** (उपशान्तमोह से लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होने वाली क्रिया),

(६) **सम्यक्त्वक्रिया** (जिस क्रिया से जीव सम्यग्दर्शनयोग्य ७७ कर्म प्रकृतियों को बांधता है),

(७) **सम्यङ्मिथ्यात्वक्रिया** (जिस क्रिया से जीव सम्यक्त्व-मिथ्यात्वयोग्य ७४ कर्म प्रकृतियाँ बांधता है) तथा

(८) **मिथ्यात्वक्रिया** (जिस क्रिया से जीव तीर्थंकरप्रकृति एवं आहारकद्वय को छोड़ कर ११७ कर्म प्रकृतियाँ बाँधता है)।

☐ इन द्रव्य-भावरूप क्रियाओं का जो स्थान अर्थात् प्रवृत्ति-निमित्त है उसे क्रियास्थान कहते हैं। विविध प्रकार की प्रवृत्तियों के विविध (निमित्त) कारण होने से क्रियास्थान विविध हैं।

☐ सामान्यतया यह माना जाता है, कि क्रिया से कर्मवन्ध होता है। परन्तु इस अध्ययन में उक्त क्रियास्थानों से कई क्रियावानों के कर्मवन्ध होता है, कई क्रियावान् कर्ममुक्त होते हैं। इसी लिए प्रस्तुत अध्ययन में दो प्रकार के क्रियास्थान वताए गए हैं—धर्मक्रियास्थान और अधर्मक्रियास्थान।

- अर्थदण्डप्रत्ययिक से लेकर लोभप्रत्ययिक क्रियास्थान तक १२ अधर्मक्रियास्थान हैं, और तेरहवाँ ऐर्यापथप्रत्ययिकक्रियास्थान धर्मक्रियास्थान है। इस प्रकार क्रियास्थानों का वर्णन होने से इस अध्ययन का नाम **'क्रियास्थान'** है।
- कर्मबन्धन से मुक्त होने के लिए कर्मक्षयाकांक्षी साधक पहले १२ प्रकार के अधर्मक्रियास्थानों को जान कर उनका त्याग करदे तथा तेरहवें धर्मक्रियास्थान को मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करने हेतु अपनाये, यही प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य है।[1]
- जैन दृष्टि से रागद्वेषजन्य प्रत्येक प्रवृत्ति (क्रिया) हिंसा रूप होने से कर्मबन्ध का कारण होती है।
- सूत्रसंख्या ६९४ से प्रारम्भ होकर सूत्रसंख्या ७२१ पर यह अध्ययन पूर्ण होता है।

□□

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३०४

किरियाठाणं : बीयं अज्झयणं

क्रियास्थान : द्वितीय अध्ययन

संसार के समस्त जीव तेरह क्रियास्थानों में

६९४. सुतं मे आउसंतेणं भगवता एवमक्खातं—

इह खलु किरियाठाणे णाम अज्झयणे, तस्स णं अयमट्ठे—इह खलु संजूहेणं दुवे ठाणा एवमाहिज्जंति, तंजहा—धम्मे चेव अधम्मे चेव, उवसंते चेव अणुवसन्ते चेव।

तत्थ णं जे से पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे तस्स णं अयमट्ठे—इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहा—आरिया वेगे, अणारिया वेगे, उच्चागोता वेगे, णीयागोता वेगे, कायमंता वेगे, ह्रस्समंता वेगे, सुवण्णा वेगे, दुवण्णा वेगे, सुरूवा वेगे, दुरूवा वेगे।

तेसिं च णं इमं एतारूवं दंडसमादाणं संपेहाए, तंजहा—णेरइएसु तिरिक्खजोणिएसु माणुसेसु देवेसु जे यावन्ने तहप्पगारा पाणा विण्णू वेयणं वेदेंति तेसिं पि य णं इमाइं तेरस किरियाठाणाइं भवंतीति अक्खाताइं,[1] तंजहा—अट्ठादंडे १ अणट्ठादंडे २ हिंसादंडे ३ अकम्हादंडे ४ दिट्ठिविपरियासियादंडे ५ मोसवत्तिए ६ अदिन्नादाणवत्तिए ७ अज्झत्थिए ८ माणवत्तिए ९ मित्तदोसवत्तिए १० मायावत्तिए ११ लोभवत्तिए १२ इरियावहिए १३।

६९४. हे आयुष्मन् ! मैंने सुना है; उन आयुष्मान् श्रमण भगवान् महावीर ने इस प्रकार कहा था—

"इस (जैनशासन या निर्ग्रन्थ प्रवचन) में 'क्रियास्थान' नामक अध्ययन कहा गया है, उसका अर्थ यह है—इस लोक में सामान्य रूप से (या संक्षेप में) दो स्थान इस प्रकार बताये जाते हैं, एक धर्मस्थान और दूसरा अधर्मस्थान, अथवा एक उपशान्त स्थान और दूसरा अनुपशान्त स्थान।

इन दोनों स्थानों में से प्रथम अधर्मपक्ष का जो विभंग (विकल्प) है उसका अर्थ (अभिप्राय) इस प्रकार कहा गया है—'इस लोक में पूर्व आदि छहों दिशाओं में अनेकविध मनुष्य रहते हैं, जैसे कि कई आर्य होते हैं, कई अनार्य, अथवा कई उच्चगोत्रीय होते हैं, कई नीचगोत्रीय अथवा कई लम्बे कद के और कई ठिगने (छोटे) कद के या कई उत्कृष्ट वर्ण के और कई निकृष्ट वर्ण के अथवा कई सुरूप और कई कुरूप होते हैं।

उन आर्य आदि मनुष्यों में यह (आगे कहे जाने वाला) दण्ड हिंसादिपापोपादान संकल्प) का समादान—ग्रहण देखा जाता है, जैसे कि—नारकों में, तिर्यञ्चों में, मनुष्यों में और देवों में, अथवा जो

---

[1] तुलना—इमाइं तेरस किरियाठाणाइं·······ते अट्ठडंडे अणट्ठाडंडे·······ईरियावहिए।

—आवश्यक चूर्णि, प्रतिक्रमणाध्ययन पृ. १२७

इसी प्रकार के (सुवर्ण-दुर्वर्ण आदि रूप) विज्ञ (समझदार) प्राणी हैं, वे सुख-दुःख का वेदन करते हैं, उनमें अवश्य ही ये तेरह प्रकार के क्रियास्थान होते हैं, ऐसा श्री तीर्थंकर देव ने कहा है। वे क्रियास्थान इस प्रकार हैं—(१) अर्थदण्ड, (२) अनर्थदण्ड, (३) हिंसादण्ड, (४) अकस्मात् दण्ड, (५) दृष्टिविपर्यासिदण्ड, (६) मृषाप्रत्ययिक, (७) अदत्तादानप्रत्ययिक, (८) अध्यात्मप्रत्ययिक, (९) मानप्रत्ययिक (१०) मित्रद्वेषप्रत्ययिक (११) मायाप्रत्ययिक, (१२) लोभ-प्रत्ययिक और (१३) ईर्यापथिक।

विवेचन—संसार के समस्त जीव : तेरह क्रियास्थानों में—प्रस्तुत सूत्र में श्री सुधर्मास्वामी श्रीतीर्थंकर भगवान् महावीर के श्रीमुख से सुने हुए १३ क्रियास्थानों का उल्लेख श्री जम्बूस्वामी के समक्ष करते हैं। इस सम्वन्ध में शास्त्रकार ने निम्नलिखित तथ्यों का निरूपण किया है—

(१) सामान्य रूप से दो स्थान—धर्मस्थान और अधर्मस्थान अथवा उपशान्तस्थान और अनुपशान्तस्थात।

(२) अधर्मस्थान के अधिकारी—आर्य-अनार्य आदि मनुष्य।

(३) चारों गतियों के विज्ञ (चेतनाशील) एवं सुख-दुःख-वेदनशील जीवों में तेरह कर्मबन्ध कारणभूत क्रियास्थानों का अस्तित्व।

(४) तेरह क्रियास्थानों का नामोल्लेख।

क्रियास्थान—किसी क्रिया या प्रवृत्ति का स्थान यानी कारण, निमित्तकारण क्रियास्थान कहलाता है। संक्षेप में, क्रिया जिस निमित्त से हुई हो उसे क्रियास्थान कहते हैं।

दण्डसमादान—दण्ड कहते हैं—हिंसादिपापोपादानरूप संकल्प को, जिससे जीव दण्डित (पीडित) होता है, उसका समादान यानी ग्रहण दण्डसमादान है।[1]

वेयणं वेदंति की व्याख्या—इसके दो अर्थ बताए गए हैं। तदनुसार अनुभव और ज्ञान की दृष्टि से वृत्तिकार ने यहाँ चतुर्भंगी बताई है—(१) संज्ञी वेदना का अनुभव करते हैं, जानते भी हैं, (२) सिद्ध भगवान् जानते हैं, अनुभव नहीं करते (३) असंज्ञी अनुभव करते हैं, जानते नहीं और (४) अजीव न अनुभव करते हैं, न जानते हैं। यहाँ प्रथम और तृतीय भंग वाले जीवों का अधिकार है, द्वितीय और चतुर्थ यहाँ अप्रासंगिक हैं।[2]

क्रियास्थानों द्वारा कर्मबन्ध—इन तेरह क्रियास्थानों के द्वारा कर्मबन्ध होता है, इनके अतिरिक्त कोई क्रियास्थान नहीं, जो कर्मबन्धन का कारण हो। इसलिए समस्त संसारी प्राणी इन तेरह क्रियास्थानों में समा जाते हैं।[3]

शास्त्रकार एवं वृत्तिकार स्वयं इन तेरह क्रियास्थानों का अर्थ एवं व्याख्या आगे यथास्थान करेंगे।

---

[1] १. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३०४-३०५ का सारांश

[2] २. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३०४

[3] ३. वही, पत्रांक ३०५

प्रथमक्रियास्थान—अर्थदण्डप्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण

६९५. पढमे दंडसमादाणे । अट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिज्जति से । जहानामए केइ पुरिसे आतहेउं वा णाइहेउं वा अगारहेउ वा परिवारहेउं वा मित्तहेउं वा णागहेउं वा भूतहेउं वा जक्खहेउं वा तं दंडं तस थावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरति, अण्णेण वि णिसिरावेति, अण्णं पि णिसिरंतं समणुजाणति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे ति आहिज्जति, पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिए आहिते ।[1]

३९५—प्रथम दण्डसमादान अर्थात् क्रियास्थान अर्थदण्डप्रत्ययिक कहलाता है । जैसे कि कोई पुरुष अपने लिए, अपने ज्ञातिजनों के लिए, अपने घर या परिवार के लिए, मित्रजनों के लिए अथवा नाग, भूत और यक्ष आदि के लिए स्वयं त्रस और स्थावर जीवों को दण्ड देता है (प्राणिसंहारकारिणी क्रिया करता है); अथवा (पूर्वोक्त कारणों से) दूसरे से दण्ड दिलवाता है; अथवा दूसरा दण्ड दे रहा हो, उसका अनुमोदन करता है । ऐसी स्थिति में उसे सावद्यक्रिया के निमित्त से पापकर्म का बन्ध होता है । यह प्रथम दण्डसमादान अर्थदण्डप्रत्ययिक कहा गया है ।

विवेचन—प्रथम क्रियास्थान—अर्थदण्डप्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण—प्रस्तुत सूत्र में शास्त्रकार ने तेरह क्रियास्थानों में से अर्थदण्डप्रत्ययिक नामक प्रथम क्रियास्थान का स्वरूप, प्रवृत्ति-निमित्त एवं उसकी परिधि का विलेषण किया है ।

अर्थदण्ड—हिंसा आदि दोषों से युक्त प्रवृत्ति, फिर चाहे वह किसी भी प्रयोजन से, किसी के भी निमित्त की जाती हो, अर्थदण्ड है ।

अर्थदण्डप्रत्ययिक क्रियास्थान : भ० महावीर की दृष्टि में—कई मतवादी सार्थक क्रियाओं से जनित दण्ड (हिंसादि) को पापकर्मबन्धकारक नहीं मानते थे, किन्तु भगवान् महावीर की दृष्टि में वह पाप-कर्मबन्ध का कारण है । इसीलिए शास्त्रकार स्पष्ट कर देते हैं कि जो पुरुष अपने या किसी भी दूसरे प्राणी के लिए अथवा नाग भूत-यक्षादि के निमित्त त्रस स्थावरप्राणियों की हिंसा करता, करवाता और अनुमोदन करता है, उसे उस सावद्यक्रिया के फलस्वरूप अर्थदण्डप्रत्ययिक पाप कर्म का बन्ध होता है ।

पुरिसे—यहाँ पुरुष शब्द उपलक्षण से चारों गतियों के सभी प्राणियों के लिए प्रयुक्त है ।[2]

द्वितीय क्रियास्थान—अनर्थदण्डप्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण

६९६. (१) अहावरे दोच्चे दंडसमादाणे अणट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिज्जति । से जहानामए केइ पुरिसे जे इमे तसा पाणा भवंति ते णो अच्चाए णो अजिणाए णो मंसाए णो सोणियाए एवं हिययाए पित्ताए वसाए पिच्छाए पुच्छाए वालाए सिंगाए विसाणाए दंताए दाढाए णहाए ण्हारुणीए अट्ठीए अट्ठिमिंजाए, णो हिंसिसु मे त्ति, णो हिंसंति मे त्ति, णो हिंसिस्संति मे त्ति, णो पुत्तपोसणयाए णो पसुपोसणयाए णो अगारपरिवूहणताए णो समण-माहणवत्तियहेउं, णो तस्स सरीरगस्स किंचि वि

---

१. तुलना—पढमे दंडसमादाणे अट्ठाडंडवत्तिए……त्ति आहिते ।'—आवश्यकचूर्णि प्रतिक्रमणाध्ययन, पृ. १२७

२. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३०६ का सारांश

परियादित्ता भवति, से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता उज्झिउं बाले वेरस्स आभागी भवति, अणट्ठादंडे ।

(२) से जहाणामए केइ पुरिसे जे इमे थावरा पाणा भवंति, तंजहा—इक्कडा इ वा कढिणा इ वा जंतुगा इ वा परता इ वा मोरका इ वा तणा इ वा कुसा इ वा कुच्चक्का इ वा पव्वगा ति वा पलालए इ वा, ते णो पुत्तपोसणयाए णो पसुपोसणयाए णो अगारपोसणयाए णो समण-माहणपोसणयाए, णो तस्स सरीरगस्स किंचि वि परियादित्ता भवति, से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंइपत्ता उद्दवइत्ता उज्झिउं बाले वेरस्स आभागी भवति, अणट्ठादंडे ।

(३) से जहाणामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा दहंसि वा दगंसि वा दवियंसि वा वलयंसि वा णूमंसि वा गहणंसि वा गहणविदुग्गंसि वा वणंसि वा वणविदुग्गंसि वा तणाइं ऊसविय ऊसविय सयमेव अगणिकायं णिसिरति, अण्णेण वि अगणिकायं णिसिरावेति, अण्णं पि अगणिकायं णिसिरंतं समणुजाणति, अणट्ठादंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, दोच्चे दंडसमादाणे अणट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिते ।

६९६. इसके पश्चात् दूसरा दण्डसमादानरूप क्रियास्थान अनर्थदण्ड प्रत्ययिक कहलाता है ।

(१) जैसे कोई पुरुप ऐसा होता है, जो इन त्रसप्राणियों को न तो अपने शरीर की अर्चा (रक्षा या संस्कार) के लिए अथवा अर्चा-पूजा के लिए मारता है, न चमड़े के लिए, न ही मांस के लिए और न रक्त के लिए मारता है । एवं हृदय के लिए, पित्त के लिए, चर्बी के लिए, पिच्छ (पंख) पूंछ, वाल, सींग, विपाण, दाँत, दाढ़, नख, नाड़ी, हड्डी और हड्डी की मज्जा (रग) के लिए नहीं मारता । तथा इसने मुझे या मेरे किसी सम्बन्धी को मारा है, अथवा मार रहा है या मारेगा, इसलिए नहीं मारता एवं पुत्रपोषण, पशुपोषण तथा अपने घर की मरम्मत एवं हिफाजत (अथवा विशाल वनाने) के लिए भी नहीं मारता, तथा श्रमण और माहन (ब्राह्मण) के जीवन निर्वाह के लिए, एवं उनके या अपने शरीर या प्राणों पर किञ्चित् उपद्रव न हो अतः परित्राणहेतु भी नहीं मारता, अपितु निष्प्रयोजन (विना किसी अर्थ या निमित्त के) ही वह मूर्ख (बाल) प्राणियों को दण्ड देता हुआ उन्हें (दण्ड आदि से) मारता है, उनके (कान नाक आदि) अंगों का छेदन करता है, उन्हें शूल आदि से भेदन करता है, उन प्राणियों के अंगों को अलग-अलग करता है, उनकी आँखें निकालता है, चमड़ी उधेड़ता है, उन्हें डराता-धमकाता है, अथवा परमाधार्मिकवत् अकारण ही नाना उपायों से उन्हें पीड़ा पहुँचाता है, तथा प्राणों से रहित भी कर देता है । वह सद्विवेक का त्याग करके या अपना आपा (होश) खोकर (अविचारपूर्वक कार्य करने वाला) तथा निष्प्रयोजन त्रस प्राणियों को उत्पीड़ित (दण्डित) करने वाला वह मूढ़ प्राणियों के साथ (जन्म-जन्मान्तरानुबन्धी) वैर का भागी वन जाता है ।

(२) कोई पुरुष ये जो स्थावर प्राणी हैं, जैसे कि इक्कड़, कठिन, जन्तुक, परक, मयूरक, मुस्ता (मोथा), तृण (हरीघास), कुश, कुच्छक, (कर्चक) पर्वक और पालाल (पराल) नामक विविध वनस्पतियाँ होती हैं, उन्हें निरर्थक दण्ड देता है । वह इन वनस्पतियों को पुत्रादि के पोषणार्थ या पशुओं के पोषणार्थ, या गृहरक्षार्थ, अथवा श्रमण एवं माहन (ब्राह्मण) के पोषणार्थ दण्ड नहीं देता, न

ही ये वनस्पतियाँ उसके शरीर की रक्षा के लिए कुछ काम आती हैं, तथापि वह अज्ञ निरर्थक ही उनका हनन, छेदन, भेदन, खण्डन, मर्दन, उत्पीड़न करता है, उन्हें भय उत्पन्न करता है, या जीवन से रहित कर देता है और (जन्मजन्मान्तर तक) उन प्राणियों के साथ वैर का भागी बन जाता है।

(३) जैसे कोई पुरुष (सद-असद्विवेकविकल होकर) नदी के कच्छ (किनारे) पर, द्रह (तालाब या झील) पर, या किसी जलाशय में, अथवा तृणराशि पर, तथा नदी आदि द्वारा घिरे हुए स्थान में, अन्धकारपूर्ण स्थान में अथवा किसी गहन—दुष्प्रवेशस्थान में, वन में या घोर वन में, पर्वत पर या पर्वत के किसी दुर्गम स्थान में तृण या घास को बिछा-बिछा या फैला-फैला कर अथवा ऊँचा ढेर करके, स्वयं उसमें आग लगाता (जला कर डालता) है, अथवा दूसरे से आग लगवाता है, अथवा इन स्थानों पर आग लगाते (या जलाते) हुए अन्य व्यक्ति का अनुमोदन—समर्थन करता है, वह पुरुष निष्प्रयोजन प्राणियों को दण्ड देता है। इस प्रकार उस पुरुष को व्यर्थ ही (अग्निकायिक तथा तदाश्रित अन्य त्रसादि) प्राणियों के घात के कारण सावद्य (पाप) कर्म का बन्ध होता है।

यह दूसरा अनर्थदण्डप्रत्ययिक क्रियास्थान कहा गया है।

विवेचन—द्वितीय क्रियास्थान अनर्थदण्डप्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण—प्रस्तुत सूत्र में शास्त्रकार निरर्थक प्राणिघातजनित क्रियास्थान का विभिन्न पहलुओं से निरूपण करते हैं। वे पहलू ये हैं—

(१) वह द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के त्रस प्राणियों की निरर्थक ही विविध प्रकार से प्राणहिंसा करता, करवाता व अनुमोदन करता है,

(२) वह स्थावरजीवों की—विशेषतः वनस्पतिकायिक एवं अग्निकायिक जीवों की निरर्थक ही विविध प्रकार से—पर्वतादि विविध स्थानों में, छेदन-भेदनादि रूप में हिंसा करता, करवाता व अनुमोदन करता है,

(३) वह शरीरसज्जा, चमड़े, मांसादि के लिए हिंसा नहीं करता,

(४) किसी प्राणी द्वारा मारने की आशंका से उसका वध नहीं करता,

(५) वह पुत्र पशु, गृह आदि के संवर्द्धनार्थ हिंसा नहीं करता, किन्तु किसी भी प्रयोजन के बिना निरर्थक त्रस जीवों का घात करता है।

अनर्थदण्डप्रत्ययिक क्रियास्थान—किसी भी प्रयोजन के बिना केवल आदत, कौतुक, कुतूहल मनोरंजन आदि से प्रेरित होकर किसी भी त्रस या स्थावर जीव की किसी भी रूप में की जाने वाली हिंसा (दण्ड) के निमित्त से जो पाप कर्मबन्ध होता है, उसे अनर्थदण्ड-प्रत्ययिक क्रियास्थान कहते हैं। भगवान् महावीर की दृष्टि में अर्थदण्ड-प्रत्ययिक की अपेक्षा अनर्थदण्ड-प्रत्ययिक क्रियास्थान अधिक पापकर्मबन्धक है।[1]

तृतीय क्रियास्थान-हिंसादंडप्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण

६९७. अहावरे तच्चे दंडसमादाणे हिंसादंडवत्तिए त्ति आहिज्जति। से जहाणामए केइ

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३०७ का सारांश

पुरिसे ममं वा मंमि वा अन्नं वा अन्नि वा हिंसिसु वा हिंसइ वा हिंसिस्सइ वा तं दंडं तस-थावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरति, अण्णेण वि णिसिरावेति, अन्नं पि णिसिरंतं समणुजाणति, हिंसादंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जइ, तच्चे दंडसमादाणे हिंसादंडवत्तिए ति आहिते।

६९७. इसके पश्चात् तीसरा क्रियास्थान हिंसादण्डप्रत्ययिक कहलाता है। जैसे कि कोई पुरुष त्रस और स्थावर प्राणियों को इसलिए स्वयं दण्ड देता है कि इस (त्रस या स्थावर) जीव ने मुझे या मेरे सम्बन्धी को तथा दूसरे को या दूसरे के सम्बन्धी को मारा था, मार रहा है या मारेगा अथवा वह दूसरे से त्रस और स्थावर प्राणी को वह दण्ड दिलाता है, या त्रस और स्थावर प्राणी को दण्ड देते हुए दूसरे पुरुष का अनुमोदन करता है। ऐसा व्यक्ति प्राणियों को हिंसारूप दण्ड देता है। उस व्यक्ति को हिंसाप्रत्ययिक सावद्यकर्म का बन्ध होता है।

अतः इस तीसरे क्रियास्थान को हिंसादण्डप्रत्ययिक कहा गया है।

विवेचन—तृतीय क्रियास्थान : हिंसादण्डप्रत्ययिक—स्वरूप और विश्लेषण—प्रस्तुत सूत्र में हिंसा दण्डप्रत्ययिक क्रियास्थान क्या है, वह कैसे होता है इसका दिग्दर्शन कराया गया है।

हिंसादण्डप्रत्ययिक क्रियास्थान मुख्यतया हिंसा प्रधान होता है। यह त्रैकालिक और कृतकारिक और अनुमोदित तीनों प्रकार से होता है। जैसे (१) कई व्यक्ति अपने सम्बन्धी की हत्या का बदला लेने के लिए क्रुद्ध होकर सम्बन्धित व्यक्तियों को मार डालते हैं, जैसे—परशुराम ने अपने पिता की हत्या से क्रुद्ध होकर कार्तवीर्य को मार डाला था। (२) भविष्य में मेरी हत्या कर डालेगा, इस आशंका से कोई व्यक्ति सम्बन्धित व्यक्ति को मार या मरवा डालते हैं, जैसे—कंस ने देवकी के पुत्रों को मरवा डालने का उपक्रम किया था। कई व्यक्ति सिंह, सर्प या बिच्छू आदि प्राणियों का इसलिए वध कर डालते हैं कि ये जिंदा रहेंगे तो मुझे या अन्य प्राणियों को मारेंगे। (३) कई व्यक्ति वर्तमान में कोई किसी को मार रहा है तो उस पर मारने को टूट पड़ते हैं। ये और इस प्रकार की क्रिया हिंसाप्रवृत्तिनिमित्तक होती हैं जो पाप कर्मबन्ध का कारण होने से हिंसादण्डप्रत्ययिक क्रियास्थान कहलाती हैं।[1]

चतुर्थ क्रियास्थान—अकस्माद्दण्डप्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण

६९८. (१) अहावरे चउत्थे दंडसमादाणे अकस्माद् दंडवत्तिए आहिज्जति। से जहाणामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा जाव वणविदुग्गंसि वि मियवित्तिए मियसंकप्पे मियपणिहाणे मियवहाए गंता एते मिय ति काउं अन्नयरस्स मियस्स वधाए उसुं आयामेत्ता णं णिसिरेज्जा, से मियं वहिस्सामि त्ति कट्टु तित्तिरं वा वट्टगं वा चडगं वा लावगं वा कवोतगं वा कविं वा कविंजलं वा विधित्ता भवति; इति खलु से अण्णस्स अट्ठाए अण्णं फुसए, अकस्माद्दंडे।

(२) से जहाणामए केइ पुरिसे सालीणि वा वीहीणि वा कोद्दवाणि वा कंगूणि वा परगाणि वा रालाणि वा णिलिज्जमाणे अन्नयरस्स तणस्स वहाए सत्थं णिसिरेज्जा, से सामगं मयाणगं मुगुंदगं वीहिरूसितं कालेसुतं तणं छिंदिस्सामि त्ति कट्टु सालिं वा वीहिं वा कोद्दवं वा कंगुं वा परगं वा रालयं

---

[1] सूत्रकृतांक शीलांकवृत्ति पत्रांक ३०८ का सारांश

वा छिंदित्ता भवइ, इति खलु से अन्नस्स अट्ठाए अन्नं फुसति, अकस्मात् दंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, चउत्थे दंडसमादाणे अकस्मात् दंडवत्तिए त्ति आहिते ।

६९८. इसके बाद चौथा क्रियास्थान अकस्माद् दण्डप्रत्ययिक कहलाता है ।

(१) जैसे कि कोई व्यक्ति नदी के तट पर अथवा द्रह (झील) पर यावत् किसी घोर दुर्गम जंगल में जा कर मृग को मारने की प्रवृत्ति करता है, मृग को मारने का संकल्प करता है, मृग का ही ध्यान रखता है मृग का वध करने के लिए चल पड़ता है, 'यह मृग है' यों जान कर किसी एक मृग को मारने के लिए वह अपने धनुष पर बाण को खींच कर चलाता है, किन्तु उस मृग को मारने का आशय होने पर भी उसका वाण लक्ष्य (वध्यजीवमृग) को न लग कर तीतर, बटेर (बतक), चिड़िया, लावक, कबूतर, बन्दर या कपिंजल पक्षी को लग कर उन्हें बींध डालता है । ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति दूसरे के लिए प्रयुक्त दण्ड से दूसरे का घात करता है, वह दण्ड इच्छा न होने पर भी अकस्मात् (सहसा) हो जाता है इसलिए इसे अकस्माद्दण्ड (प्रत्ययिक) क्रियास्थान कहते हैं ।

(२) जैसे कोई पुरुष शाली, व्रीहि, कोद्रव (कोदों), कंगू, परक और राल नामक धान्यों (अनाजों) को शोधन (साफ) करता हुआ किसी तृण (घास) को काटने के लिए शस्त्र (हंसिया या दांती) चलाए, और 'मैं श्यामाक, तृण और कुमुद आदि घास को काटूं' ऐसा आशय होने पर भी (लक्ष्य चूक जाने से) शाली, व्रीहि, कोद्रव, कंगू, परक और राल के पौधों का ही छेदन कर बैठता है । इस प्रकार अन्य वस्तु को लक्ष्य करके किया हुआ दण्ड (प्राणिहिंसा) अन्य को स्पर्श करता है । यह दण्ड भी घातक पुरुष का अभिप्राय न होने पर भी अचानक हो जाने के कारण अकस्माद्दण्ड कहलाता है । इस प्रकार अकस्मात् (किसी जीव को) दण्ड देने के कारण उस घातक पुरुष को (उसके निमित्त से) सावद्यकर्म का बन्ध होता है । अतः यह चतुर्थ क्रियास्थान अकस्माद्दण्ड प्रत्ययिक कहा गया है ।

विवेचन—चतुर्थ क्रियास्थान : अकस्माद्दण्डप्रत्ययिक—स्वरूप और विश्लेषण—प्रस्तुत सूत्र में शास्त्रकार ने चतुर्थ क्रियास्थान के रूप में अकस्माद्दण्डप्रत्ययिक क्रियास्थान क्या है, वह कैसे-कैसे हो जाता है, इसे दो दृष्टान्तों द्वारा समझाया है—(१) किसी मृग को मारने के अभिप्राय से चलाये गये शस्त्र से अन्य किसी प्राणी (तीतर आदि) का घात हो जाने पर, (२) किसी घास को काटने के अभिप्राय से चलाये गए औजार से किसी पौधे के कट जाने पर ।[1]

पंचम क्रियास्थानः दृष्टि विपर्यासदण्डप्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण

६९९. (१) अहावरे पंचमे दंडसमादाणे दिट्ठीविप्परियासियादंडे त्ति आहिज्जति । से जहाणामए केइ पुरिसे माईहिं वा पिईहिं वा भातीहिं वा भगिणीहिं वा भज्जाहिं वा पुत्तेहिं वा धूताहिं वा सुण्हाहिं वा सद्धिं संवसमाणे मित्तं अमित्तमिति मन्नमाणे मित्ते हयपुव्वे भवति दिट्ठीविप्परियासियादंडे ।

(२) से जहा वा केइ पुरिसे गामघायंसि वा णगरघायंसि वा खेड० कब्बड० मडंबघातंसि वा दोणमुहघायंसि वा पट्टणघायंसि वा आसमघातंसि वा सन्निवेसघायंसि वा निगमघायंसि वा रायहाणि-

---

[1] १. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३०९ का सारांश

घायंसि वा अतेणं तेणमिति मन्नमाणे अतेणे हयपुव्वे भवइ, दिट्ठीविपरियासियादंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, पंचमे दंडसमादाणे दिट्ठीविप्परियासियादंडे त्ति आहिते ।

६९९. इसके पश्चात् पांचवां क्रियास्थान दृष्टिविपर्यासदण्डप्रत्ययिक कहलाता है ।

(१) जैसे कोई व्यक्ति अपने माता, पिता, भाइयों, बहनों, स्त्री, पुत्रों, पुत्रियों या पुत्रवधुओं के साथ निवास करता हुआ अपने उस मित्र (हितैषीजन) को (गलतफहमी से) शत्रु (विरोधी या अहितैषी) समझ कर मार देता है, इसको दृष्टिविपर्यासदण्ड कहते हैं, क्योंकि यह दण्ड दृष्टिभ्रमवश होता है ।

(२) जैसे कोई पुरुष ग्राम, नगर, खेड, कब्बड, मण्डप, द्रोण-मुख, पत्तन, आश्रम, सन्निवेश, निगम अथवा राजधानी पर घात के समय किसी चोर से भिन्न (अचोर) को चोर समझ कर मार डाले तो वह दृष्टिविपर्यासदण्ड कहलाता है ।

इस प्रकार जो पुरुष अहितैषी या दण्ड्य के भ्रम से हितैषी जन या अदण्ड्य प्राणी को दण्ड दे बैठता है, उसे उक्त दृष्टिविपर्यास के कारण सावद्यकर्मबन्ध होता है। इसलिए दृष्टिविपर्यास दण्डप्रत्ययिक नामक पंचम क्रियास्थान बताया गया है ।

विवेचन—पंचम क्रियास्थान-दृष्टिविपर्यासदण्ड-प्रत्ययिक—स्वरूप और विश्लेषण—प्रस्तुत सूत्र में दृष्टिविपर्यासवश होने वाले दण्डसमादान (क्रियास्थान) को दो दृष्टान्तों द्वारा समझाया गया है—(१) हितैषी पारिवारिक जनों में से किसी को भ्रमवश अहितैषी (शत्रु) समझ कर दंड देना, (२) ग्राम, नगर आदि में किसी उपद्रव के समय चोर, हत्यारे आदि दण्डनीय व्यक्ति को ढूंढने के दौरान किसी अदण्डनीय को भ्रम से दण्डनीय समझ कर दंड देना ।[1]

छठा क्रियास्थान—मृषावादप्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण

७००. अहावरे छट्ठे किरियाठाणे मोसवत्तिए त्ति आहिज्जति । से जहानामए केइ पुरिसे आयहेउं वा नायहेउं वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा सयमेव मुसं वयति, अण्णेण वि मुसं वदावेति, मुसं वयंतं पि अण्णं समणुजाणति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, छट्ठे किरियाठाणे मोसवत्तिए त्ति आहिते ।

७००. इसके पश्चात् छठे क्रियास्थान का वर्णन है, जो मृषाप्रत्ययिक कहलाता है । जैसे कि कोई पुरुष अपने लिए, ज्ञातिवर्ग के लिए, घर के लिए अथवा परिवार के लिए स्वयं असत्य बोलता है, दूसरे से असत्य बुलवाता है, तथा असत्य बोलते हुए अन्य व्यक्ति का अनुमोदन करता है; ऐसा करने के कारण उस व्यक्ति को असत्य प्रवृत्ति-निमित्तक पाप (सावद्य) कर्म का बन्ध होता है । इसलिए यह छठा क्रियास्थान मृषावादप्रत्ययिक कहा गया ।

विवेचन—छठा क्रियास्थान : मृषावादप्रत्ययिक—स्वरूप—प्रस्तुत सूत्र में मृषावाद प्रत्ययिक क्रियास्थान का स्वरूप बताया गया है। यह क्रियास्थान मन, वचन, काय से किसी भी प्रकार का असत्याचरण करने, कराने एवं अनुमोदन से होता है ।

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३०९ का सारांश

अन्तर—इसके पूर्व जो पांच क्रियास्थान कहे गए हैं, उनमें प्रायः प्राणियों का घात होता है, इसलिए उन्हें शास्त्रकार ने 'दण्डसमादान' कहा है, परन्तु छठे से ले कर तेरहवें क्रियास्थान तक के भेदों में प्रायः प्राणिघात नहीं होता, इसलिए इन्हें 'दण्डसमादान' न कह कर 'क्रियास्थान' कहा है।[1]

सप्तम क्रियास्थान—अदत्तादान प्रत्ययिक : स्वरूप और विश्लेषण

७०१. अहावरे उत्तमे किरियाठाणे अदिण्णादाणवत्तिए त्ति आहिज्जति। से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा जाव परिवारहेउं वा सयमेव अदिण्णं आदियति, अण्णेण वि अदिण्णं आदियावेति, अदिण्णं आदियंतं अण्णं समणुजाणति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, सत्तमे किरियाठाणे अदिण्णादाणवत्तिए त्ति आहिते।

७०१. इसके पश्चात् सातवाँ क्रियास्थान अदत्तादानप्रत्ययिक कहलाता है। जैसे कोई व्यक्ति अपने लिए, अपनी ज्ञाति के लिए तथा अपने घर और परिवार के लिए अदत्त—वस्तु के स्वामी के द्वारा न दी गई वस्तु को स्वयं ग्रहण करता है, दूसरे से अदत्त को ग्रहण कराता है, और अदत्त ग्रहण करते हुए अन्य व्यक्ति का अनुमोदन करता है, तो ऐसा करने वाले उस व्यक्ति को अदत्तादान-सम्बन्धित सावद्य (पाप) कर्म का वन्ध होता है। इसलिए इस सातवें क्रियास्थान को अदत्तादानप्रत्ययिक कहा गया है।

विवेचन—सप्तम क्रियास्थान : अदत्तादानप्रत्ययिक—स्वरूप और कारण—प्रस्तुत सूत्र में अदत्तादान से सम्बन्धित कृत-कारित-अनुमोदितरूप क्रियास्थान का स्वरूप बताया गया है।

अदत्तादान—वस्तु के स्वामी या अधिकारी से विना पूछे उसके विना दिये या उसकी अनुमति, सहमति या इच्छा के विना उस वस्तु को ग्रहण कर लेना, उस पर अपना अधिकार या स्वामित्व जमा लेना, उससे छीन, लूट या हरण पर लेना अदत्तादान, स्तेन या चोरी है।[2]

अष्टम क्रियास्थान—अध्यात्मप्रत्ययिक क्रियास्थान : स्वरूप और विश्लेषण

७०२. अहावरे अट्ठमे किरियाठाणे अज्झत्थिए त्ति आहिज्जति। से जहाणामए केइ पुरिसे, से णत्थि णं केइ किंचि विसंवादेति, सयदेति, सयमेव हीणे दीणे दुट्ठे दुम्मणे ओहयमणसंकप्पे चिंतासोगसागरसंपविट्ठे करतलपल्हत्थमुहे अट्टज्झाणोवते भूमिगतदिट्ठीए झियाति, तस्स णं अज्झत्थिया असंसइया चत्तारि ठाणा एवमाहिज्जंति, तं०—कोहे माणे माया लोभे, अज्झत्थमेव कोह-माण-माया-लोहा, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे ति आहिज्जति, अट्ठमे किरियाठाणे अज्झत्थिए त्ति आहिते।

७०२. इसके बाद आठवाँ अध्यात्मप्रत्ययिक क्रियास्थान कहा गया है। जैसे कोई ऐसा (चिन्ता एवं भ्रम से ग्रस्त) पुरुष है, किसी विसंवाद (तिरस्कार या क्लेश) के कारण, दुःख उत्पन्न करने वाला कोई दूसरा नहीं है फिर भी वह स्वयमेव हीन भावनाग्रस्त, दीन, दुश्चिन्त (दुःखित चित्त) दुर्मनस्क, उदास होकर मन में अस्वस्थ (बुरा) संकल्प करता रहता है, चिन्ता और शोक के सागर में

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३०९ के अनुसार

[2] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३१० का सारांश

डूबा रहता है, एवं हथेली पर मुंह रख कर (उदासीन मुद्रा में) पृथ्वी पर दृष्टि किये हुए आर्त्तध्यान करता रहता है। निःसन्देह उसके हृदय में संचित चार कारण हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। वस्तुतः क्रोध, मान, माया और लोभ (आत्मा—अन्तकरण में उत्पन्न होने के कारण) आध्यात्मिक भाव हैं। इस प्रकार अध्यात्मभाव के कारण सावद्यकर्म का बन्ध होता है। अतः आठवें क्रियास्थान को अध्यात्मप्रत्ययिक कहा गया है।

विवेचन—आठवाँ क्रियास्थान : अध्यात्मप्रत्ययिक : स्वरूप और कारण—प्रस्तुत सूत्र में शास्त्रकार ने अध्यात्मप्रत्ययिक क्रियास्थान का स्वरूप समझाते हुए चार तथ्य प्रस्तुत किये हैं—(१) अन्तःकरण (आत्मा) से प्रादुर्भूत होने के कारण इसे अध्यात्मप्रत्ययिक कहते हैं, (२) मनुष्य अपने चिन्ता, संशयग्रस्त दुर्मन के कारण ही हीन, दीन, दुश्चिन्त, हो कर आर्त्तध्यान में प्रवृत्त होता है, (३) इस अध्यात्मक्रिया के पीछे क्रोधादि चार कारण होते हैं। (४) इसलिए आत्मा में उत्पन्न होने वाले क्रोधादि चार के कारण जो क्रिया होती है, उसके निमित्त से पापकर्म बन्ध होता है।[1]

नौवां क्रियास्थान—मानप्रत्ययिक : स्वरूप, कारण, परिणाम

७०३. अहावरे णवमे किरियाठाणे माणवत्तिए त्ति आहिज्जई। से जहाणामए केइ पुरिसे जातिमदेण वा कुलमदेण वा बलमदेण वा रूवमएण वा तवमएण वा सुयमदेण वा लाभमदेण वा इस्सरियमदेण वा पण्णामदेण वा अन्नतरेण वा मदट्ठाणेणं मत्ते समाणे परं हीलेति निंदति खिंसति गरहति परिभवइ अवमण्णेति, इत्तरिए अयमंसि अप्पाणं समुक्कसे, देहा चुए कम्मबितिए अवसे पयाति, तंजहा गब्भातो गब्भं, जम्मातो जम्मं, मारातो मारं, णरगाओ णरगं, चंडे थद्धे चवले माणी यावि भवति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, णवमे किरियाठाणे माणवत्तिए त्ति आहिते।

७०३. इसके पश्चात् नौवां क्रियास्थान मानप्रत्ययिक कहा गया है। जैसे कोई व्यक्ति जातिमद, कुलमद, रूपमद, तपोमद, श्रुत (शास्त्रज्ञान) मद, लाभमद, ऐश्वर्यमद एवं प्रज्ञामद, इन आठ मदस्थानों में से किसी एक मद-स्थान से मत्त हो कर दूसरे व्यक्ति की अवहेलना (अवज्ञा) करता है, निन्दा करता है, उसे झिड़कता है, या घृणा करता है, गर्हा करता है, दूसरे को नीचा दिखाता (पराभव करता) है, उसका अपमान करता है। (वह समझता है—) यह व्यक्ति हीन (योग्यता, गुण आदि में मुझ से न्यून) है, मैं विशिष्ट जाति, कुल, बल आदि गुणों से सम्पन्न हूँ, इस प्रकार अपने आपको उत्कृष्ट मानता हुआ गर्व करता है।

इस प्रकार जाति आदि मदों से उन्मत्त पुरुष आयुष्य पूर्ण होने पर शरीर को (यहीं) छोड़ कर कर्ममात्र को साथ ले कर विवशतापूर्वक परलोक प्रयाण करता है। वहाँ वह एक गर्भ से दूसरे गर्भ को, एक जन्म से दूसरे जन्म को, एक मरण से दूसरे मरण को और एक नरक से दूसरे नरक को प्राप्त करता है। परलोक में वह चण्ड (भयंकर क्रोधी, अतिरौद्र), नम्रतारहित चपल, और अतिमानी होता है।

इस प्रकार वह व्यक्ति उक्त अभिमान (मद) की क्रिया के कारण सावद्यकर्मबन्ध करता है। यह नौवां क्रियास्थान मानप्रत्ययिक कहा गया है।

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३१० का सारांश

विवेचन—नौवाँ क्रियास्थान : मानप्रत्ययिक—स्वरूप, कारण और परिणाम—प्रस्तुत सूत्र में मानप्रत्ययिक क्रियास्थान के सन्दर्भ में शास्त्रकार तीन तथ्यों को सूचित करते हैं—

(१) मान की उत्पत्ति के स्रोत—आठमद

(२) मानक्रिया का प्रत्यक्ष रूप—दूसरों की अवज्ञा, निन्दा, घृणा, पराभव, अपमान आदि तथा दूसरे को जाति आदि से हीन और स्वयं को उत्कृष्ट समझना।

(३) जाति आदि वश मानक्रिया का दुष्परिणाम—दुष्कर्मवश चिरकाल तक जन्म-मरण के चक्र में भ्रमण, प्रकृति अतिरौद्र, अतिमानी, चंचल और नम्रतारहित।[1]

दसवाँ क्रियास्थान—मित्रदोषप्रत्ययिक : स्वरूप, कारण और दुष्परिणाम

७०४. अहावरे दसमे किरियाठाणे मित्तदोसवत्तिए त्ति आहिज्जति, से जहाणामए केइ पुरिसे मातीहिं वा पितीहिं वा भाईहिं वा भगिणीहिं वा भज्जाहिं वा पुत्तेहिं वा धूयाहिं वा सुण्हाहिं वा सद्धिं संवसमाणे तेसिं अन्नतरंसि अहालहुगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं वत्तेति, तंजहा—सीतोदगवियडंसि वा कायं ओबोलित्ता भवति, उसिणोदगवियडेण वा कायं ओसिंचित्ता भवति, अगणिकाएण वा कायं उड्डहित्ता भवति, जोत्तेण वा वेत्तेण वा णेत्तेण वा तया वा कसेण वा छिवाए वा लयाए वा पासाइं उद्दालेत्ता भवति, दंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा कायं आउट्टित्ता भवति; तहप्पकारे पुरिसजाते संवसमाणे दुम्मणा भवंति, पवसमाणे सुमणा भवंति, तहप्पकारे पुरिसजाते दंडपासी दंडगुरुए दंडपुरक्खडे अहिए इमंसि लोगंसि अहिते परंसि लोगंसि संजलणे कोहणे पिट्ठिमंसि यावि भवति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, दसमे किरियाठाणे मित्तदोसवत्तिए त्ति आहिते।

७०४. इसके बाद दसवाँ क्रियास्थान मित्र दोषप्रत्ययिक कहलाता है। जैसे—कोई (प्रभुत्व सम्पन्न) पुरुष माता, पिता, भाइयों, बहनों, पत्नी, कन्याओं, पुत्रों अथवा पुत्रवधुओं के साथ निवास करता हुआ, इनसे कोई छोटा-सा भी अपराध हो जाने पर स्वयं भारी दण्ड देता है, उदाहरणार्थ—सर्दी के दिनों में अत्यन्त ठंडे पानी में उन्हें डुबोता है; गर्मी के दिनों में उनके शरीर पर अत्यन्त गर्म (उबलता हुआ) पानी छींटता है, आग से उनके शरीर को जला देता है या गर्म दाग देता है, तथा जोत्र से, बेंत से, छड़ी से, चमड़े से, लता से या चाबुक से अथवा किसी प्रकार की रस्सी से प्रहार करके उसके बगल (पार्श्वभाग) की चमड़ी उधेड़ देता है, तथैव डंडे से, हड्डी से, मुक्के से, ढेले से ठीकरे या खप्पर से मार-मार कर उसके शरीर को ढीला (जर्जर) कर देता है। ऐसे (अतिक्रोधी) पुरुष के घर पर रहने से उसके सहवासी परिवारिकजन दुःखी रहते हैं, ऐसे पुरुष के परदेश प्रवास करने से वे सुखी रहते हैं। इस प्रकार का व्यक्ति जो (हरदम) डंडा बगल में दबाये रखता है, जरा से अपराध पर भारी दण्ड देता है, हर बात में दण्ड को आगे रखता है अथवा दण्ड को आगे रख कर बात करता है, वह इस लोक में तो अपना अहित करता ही है परलोक में भी अपना अहित करता है। वह प्रतिक्षण ईर्ष्या से जलता रहता है, बात-बात में क्रोध करता है, दूसरों की पीठ पीछे निन्दा करता है, या चुगली खाता है।

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३११ का सारांश

इस प्रकार के (महादण्डप्रवर्त्तक) व्यक्ति को हितैषी (मित्र) व्यक्तियों को महादण्ड देने की क्रिया के निमित्त से पापकर्म का बन्ध होता है। इसी कारण इस दसवें क्रियास्थान को 'मित्रदोष-प्रत्ययिक' कहा गया है।

विवेचन—दसवाँ क्रियास्थान : मित्रदोषप्रत्ययिक—स्वरूप, कारण और दुष्परिणाम—प्रस्तुत सूत्र में मित्रदोषप्रत्ययिक क्रियास्थान के सन्दर्भ में शास्त्रकार पाँच तथ्यों को प्रस्तुत करते हैं—(१) मित्र के समान हितैषी सहवासी स्वजन-परिजनों में से किसी के जरा-से दोष पर कोई जबर्दस्त व्यक्ति उसे भारी दण्ड देता है, इस कारण इसे मित्रदोषप्रत्ययिक कहते हैं। (२) उक्त प्रभुत्वसम्पन्न व्यक्ति द्वारा सहवासी स्वजन—परिजनों को गुरुतरदण्ड देने की प्रक्रिया का निरूपण। (३) ऐसे महादण्ड प्रवर्त्तक पुरुष की निन्द्य एवं तुच्छ प्रकृति का वर्णन। (४) इहलोक और परलोक में उसका अहितकर दुष्परिणाम। (५) मित्रजनों के दोष पर महादण्ड देने की क्रिया के निमित्त से पापकर्म का बन्ध।[1]

ग्यारहवाँ क्रियास्थान—मायाप्रत्ययिक : स्वरूप, प्रक्रिया और परिणाम

७०५. अहावरे एक्कारसमे किरियाठाणे मायावत्तिए त्ति आहिज्जत्ति, जे इमे भवंति—गुढायारा तमोकासिया उलूगपत्तलहुया, पव्वयगुरुया, ते आरिया वि संता अणारियाओ भासाओ विउज्जंति, अन्नहा संतं अप्पाणं अन्नहा मन्नंति, अन्नं पुट्ठा अन्नं वागरेंति, अन्नं आइक्खियव्वं अन्नं आइक्खंति। से जहाणामए केई पुरिसे अंतोसल्ले तं सल्लं णो सयं णीहरति, णो अन्नेण णीहरावेति, णो पडिविद्धंसेति, एवामेव निण्हवेति, अविउट्टमाणे अंतो अंतो रियाति, एवामेव माई मायं कट्टु णो आलोएति णो पडिक्कमति णो णिंदति णो गरहति णो विउट्टति णो विसोहति णो अकरणयाए अब्भुट्ठेति णो अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जति, मायी अस्सिं लोए पच्चायाइ, मायी परंसि लोए पच्चायाति निंदं गहाय पसंसते, णिच्चरति, ण नियट्टति, णिसिरिय दंडं छाएति, मायी असमाहड-सुहलेसे यावि भवति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जइ, एक्कारसमे किरियाठाणे मायावत्तिए त्ति आहिते।

७०५. ग्यारहवाँ क्रियास्थान है, जिसे मायाप्रत्ययिक कहते हैं। ऐसे व्यक्ति, जो किसी को पता न चल सके, ऐसे गूढ आचार (आचरण) वाले होते हैं, लोगों को अंधेरे में रख कर कायचेष्टा या क्रिया (काम) करते हैं, तथा (अपने कुकृत्यों के कारण) उल्लू के पंख के समान हलके होते हुए भी अपने आपको पर्वत के समान बड़ा भारी समझते हैं, वे आर्य्य (आर्यदेशोत्पन्न) होते हुए भी (स्वयं को छिपाने के लिए) अनार्यभाषाओं का प्रयोग करते हैं, वे अन्य रूप में होते हुए भी स्वयं को अन्यथा (साधु पुरुष के रूप में) मानते हैं; वे दूसरी बात पूछने पर (वाचालतावश) दूसरी बात का व्याख्यान करने लगते हैं, दूसरी बात कहने के स्थान पर (अपने अज्ञान को छिपाने के लिए) दूसरी बात का वर्णन करने पर उतर जाते हैं। (उदाहरणार्थ—) जैसे किसी (युद्ध से पलायित) पुरुष के अन्तर में शल्य (तीर या नुकीला कांटा) गड़ गया हो, वह उस शल्य को (वेदनासहन में भीरुता प्रदर्शित न हो, इसलिए या पीड़ा के डर से) स्वयं नहीं निकालता न किसी दूसरे से निकलवाता है, और न

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३१३ का सारांश

(चिकित्सक के परामर्शानुसार किसी उपाय से) उस शल्य को नष्ट करवाता है, प्रत्युत निष्प्रयोजन ही उसे छिपाता है, तथा उसकी वेदना से अंदर ही अंदर पीड़ित होता हुआ उसे सहता रहता है, इसी प्रकार मायी व्यक्ति भी माया (कपट) करके उस (अन्तर में गड़े हुए) मायाशल्य को निन्दा के भय से स्वयं (गुरुजनों के समक्ष) आलोचना नहीं करता, न उसका प्रतिक्रमण करता है, न (आत्मसाक्षी से) निन्दा करता है, न (गुरुजन समक्ष) उसकी गर्हा करता है, (अर्थात्, उक्त मायाशल्य को न तो स्वयं निकलता है, और न दूसरों से निकलवाता है।) न वह उस (मायाशल्य) को प्रायश्चित्त आदि उपायों से तोड़ता (मिटाता) है, और न उसकी शुद्धि करता है, उसे पुनः न करने के लिए भी उद्यत नहीं होता, तथा उस पापकर्म के अनुरूप यथायोग्य तपश्चरण के रूप में प्रायश्चित्त भी स्वीकार नहीं करता।

इस प्रकार मायी इस लोक में (मायी रूप में) प्रख्यात हो जाता है, (इसलिए) अविश्वसनीय हो जाता है; (अतिमायी होने से) परलोक ने (अधम यातना स्थानों—नरक तिर्यञ्चगतियों में) भी पुनः पुनः जन्म-मरण करता रहता है। वह (नाना प्रपञ्चों से वंचना करके) दूसरे की निन्दा करता है, दूसरे से घृणा करता है, अपनी प्रशंसा करता है, निश्चिन्त हो कर बुरे कार्यों में प्रवृत्त होता है, असत् कार्यों से निवृत्त नहीं होता, प्राणियों को दण्ड दे कर भी उसे स्वीकारता नहीं, छिपाता है (दोष ढँकता है)। ऐसा मायावी शुभ लेश्याओं को अंगीकार भी नहीं करता।

ऐसी मायी पुरुष पूर्वोक्त प्रकार की माया (कपट) युक्त क्रियाओं के कारण पाप (सावद्य) कर्म का बन्ध करता है। इसीलिए ग्यारहवें क्रियास्थान को मायाप्रत्ययिक कहा गया है।

विवेचन—ग्यारहवाँ क्रियास्थान : मायाप्रत्ययिक—स्वरूप, मायाप्रक्रिया और दुष्परिणाम— प्रस्तुत सूत्र में शास्त्रकार मायाप्रत्ययिक क्रियास्थान का निरूपण करते हुए मुख्यतया चार तथ्य प्रस्तुत करते हैं—

(१) मायाप्रत्ययिक क्रियास्थान का मूलाधार—मायाचारियों द्वारा अपनाई जाने वाली माया की विविध प्रक्रियाएं।

(२) मायाचारी की प्रकृति का सोदाहरण वर्णन—मायाशल्य को अन्त तक अन्तर से न निकालने का स्वभाव।

(३) मायाप्रधान क्रिया का इहलौकिक एवं पारलौकिक दुष्फल—कुगतियों में पुनः पुनः गमनागमन, एवं कुटिल दुर्वृत्तियों से अन्त तक पिण्ड न छूटना।

(४) मायिक क्रियाओं के कारण पापकर्म का बन्ध एवं मायाप्रत्ययिक क्रियास्थान नाम की सार्थकता।[1]

बारहवाँ क्रियास्थान—लोभप्रत्ययिक : अधिकारी, प्रक्रिया और परिणाम

७०६. अहावरे बारसमे किरियाठाणे लोभवत्तिए ति आहिज्जति, तंजहा—जे इमे भवंति आरण्णिया आवसहिया गामंतिया कण्हुईराहस्सिया, णो बहुसंजया, णो बहुपडिविरया, सव्वपाण-भूत-जीव-सत्तेहिं, ते अप्पणा सच्चामोसाइं एवं विउंजंति-अहं ण हंतव्वो अन्ने हंतव्वा, अहं ण

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३१३-३१४ का सारांश

अज्जावेतव्वो अन्ने अज्जावेयव्वा, अहं ण परिघेत्तव्वो अन्ने परिघेत्तव्वा, अहं ण परितावेयव्वो अन्ने परितावेयव्वा, अहं ण उद्दवेयव्वो अन्ने उद्दवेयव्वा, एवामेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिता गरहिता अज्झोववण्णा जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं अप्पयरो वा भुज्जयरो वा भुंजित्तु भोगभोगाइं कालमासे कालं किच्चा अन्नतरेसु आसुरिएसु किव्वसिएसु ठाणसु उववत्तारो भवंति, ततो विप्पमुच्चमाणा भुज्जो भुज्जो एलमूयत्ताए तमूयत्ताए जाइमूयत्ताए पच्चायंति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जे त्ति आहिज्जति, दुवालसमे किरियाठाणे लोभवत्तिए त्ति आहिते । इच्चेताइं दुवालस किरियाठाणाइं दविएणं समणेणं वा महाणेणं व सम्मं सुपरिजाणियव्वाइं[1] भवंति ।

७०६. इसके पश्चात् वारहवाँ क्रियास्थान है, जिसे लोभप्रत्ययिक कहा जाता है। वह इस प्रकार है—ये जो वन में निवास करने वाले (आरण्यक) हैं, जो कुटी वना कर रहते (आवसथिक) हैं, ग्राम के निकट डेरा डालकर (ग्राम के आश्रय से अपना निर्वाह करने हेतु) रहते (ग्रामान्तिक) हैं, कई (गुफा, वन आदि) एकान्त (स्थानों) में निवास करते हैं, अथवा कोई रहस्यमयी गुप्त क्रिया करते (राहस्यिक) हैं। ये आरण्यक आदि न तो सर्वथा संयत (सर्वसावद्य अनुष्ठानों से निवृत्त) हैं और हिंसा से स्वयं विरत नहीं हैं। वे (आरण्यकादि) स्वयं कुछ सत्य और कुछ मिथ्या (सत्यमिथ्या) (अथवा सत्य होते हुए भी जीवहिंसात्मक होने से मृषाभूत) वाक्यों का प्रयोग करते हैं जैसे कि—मैं ब्राह्मण होने से) मारे जाने योग्य नहीं हूँ, अन्य लोग (शूद्र होने से) मारे जाने योग्य (मारे जा सकते) हैं, मैं (वर्णों में उत्तम ब्राह्मणवर्णीय होने से) आज्ञा देने (आज्ञा में चलाने) योग्य नहीं हूँ, किन्तु दूसरे (शूद्रादिवर्णीय) आज्ञा देने योग्य हैं, मैं (दास-दासी आदि के रूप में खरीद कर) परिग्रहण या निग्रह करने योग्य, नहीं हूँ, दूसरे (शूद्रादिवर्णीय) परिग्रह या निग्रह करने योग्य हैं, मैं संताप देने योग्य नहीं हूँ, किन्तु अन्य जीव सन्ताप देने योग्य हैं, मैं उद्विग्न करने या जीवरहित करने योग्य नहीं हूँ दूसरे प्राणी उद्विग्न, भयभीत या जीवरहित करने योग्य हैं।'

इस प्रकार परमार्थ से अनभिज्ञ वे अन्यतीर्थिक स्त्रियों और शब्दादि कामभोगों में आसक्त (मूर्च्छित), गृद्ध (विषयलोलुप) सतत विषयभोगों में ग्रस्त, गर्हित एवं लीन रहते हैं।

वे चार, पाँच, छह या दस वर्ष तक थोड़े या अधिक काम-भोगों का उपभोग करके मृत्यु के समय मृत्यु पा कर असुरलोक में किल्विषी असुर के रूप में उत्पन्न होते हैं। उस आसुरी योनि से (आयुक्षय होने से) विमुक्त होने पर (मनुष्यभव में भी) वकरे की तरह मूक, जन्मान्ध (द्रव्य से अन्ध एवं भाव से अज्ञानान्ध) एवं जन्म से मूक होते हैं। इस प्रकार विषय-लोलुपता की क्रिया के कारण लोभप्रत्ययिक पाप (सावद्य) कर्म का वन्ध होता है।

इसीलिए वारहवें क्रियास्थान को लोभप्रत्ययिक कहा गया है।

इन पूर्वोक्त वारह क्रियास्थानों (के स्वरूप) को मुक्तिगमनयोग्य (द्रव्य-भव्य) श्रमण या माहन को सम्यक् प्रकार से जान लेना चाहिए, और इनका त्याग करना चाहिए।

---

[1] पाठान्तर—'सुपरिजाणियव्वाइं' के वदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—'सुपडिलेहियव्वाणि'—अर्थ होता है—'इनके हेयत्व, ज्ञेयत्व, उपादेयत्व का सम्यक् प्रतिलेखन—समीक्षापूर्वक विचार कर लेना चाहिए।'

विवेचन—बारहवाँ क्रियास्थान : लोभप्रत्ययिक—अधिकारी, लोभप्रक्रिया एवं दुष्परिणाम— प्रस्तुत सूत्र में लोभप्रत्ययिक क्रियास्थान के सन्दर्भ में शास्त्रकार पाँच तथ्यों को प्रस्तुत करते हैं—

(१) लोभप्रत्यया क्रिया के अधिकारी—आरण्यक आदि।

(२) वे विषयलोलुपतावश प्राणातिपात, मृषावाद आदि से सर्वथा विरत नहीं होते, कतिपय उदाहरणों सहित वर्णन।

(३) लोभक्रिया का मूलाधार—स्त्रियों एवं शब्दादि कामभोगों में आसक्ति, लालसा, वासना एवं अन्वेषणा।

(४) विषयभोगों की लोलुपता का दुष्फल—आसुरी किल्विषिक योनि में जन्म, तत्पश्चात् एलक-मूकता, जन्मान्धता, जन्ममूकता की प्राप्ति।

(५) विषयलोभ की पूर्वोक्त प्रक्रिया के कारण पापकर्मबन्ध और तदनुसार लोभप्रत्ययिक क्रियास्थान नाम की सार्थकता।[1]

'णोबहुसंजया'—जो अधिकांशत: संयमी नहीं हैं, इसका तात्पर्य यह है कि वे तापस आदि प्राय: त्रसजीवों का दण्डसमारम्भ नहीं करते, किन्तु एकेन्द्रियोपजीवी रूप में तो वे प्रसिद्ध हैं, इसलिए स्थावर जीवों का दण्डसमारम्भ करते ही हैं।[2]

'णो बहुपडिविरया'—जो अधिकांशत: प्राणातिपात आदि आश्रवों से विरत नहीं हैं। अर्थात् जो प्राणातिपातविरमण आदि सभी व्रतों के धारक नहीं हैं किन्तु द्रव्यत: कतिपय व्रतधारक हैं, भावत: सम्यग्दर्शन-ज्ञान रूप कारणों के अभाव में जरा भी सम्यक्व्रत (चारित्र) के धारक नहीं हैं।

भोगभोगाइं—इसका भावार्थ यह है कि स्त्री सम्बन्धी भोग होने पर शब्दादि भोग अवश्यम्भावी होते हैं, इसलिए शब्दादि भोग भोग-भोग कहलाते हैं।[3]

आसुरिएसु—जिन स्थानों में सूर्य नहीं है, वे आसुरिक स्थान हैं।[4]

तेरहवाँ क्रियास्थान : ऐर्यापथिक : अधिकारी, स्वरूप, प्रक्रिया एवं सेवन

७०७. अहावरे तेरसमे किरियाठाणे इरियावहिए त्ति आहिज्जति, इह खलु अत्तत्ताए संवुडस्स अणगारस्स इरियासमियस्स भासासमियस्स एसणासमियस्स आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमियस्स उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्लपारिट्ठावणियासमियस्स मणसमियस्स वइसमियस्स कायसमियस्स मणगुत्तस्स वइगुत्तस्स कायगुत्तस्स गुत्तस्स गुत्तिंदियस्स गुत्तबंभचारिस्स आउत्तं गच्छमाणस्स आउत्तं चिट्ठमाणस्स आउत्तं णिसीयमाणस्स आउत्तं तुयट्टमाणस्स आउत्तं भुंजमाणस्स आउत्तं भासमाणस्स आउत्तं वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं गेण्हमाणस्स वा णिक्खिवमाणस्स वा जाव चक्खुपम्हणिवातमवि अत्थि वेमाया सुहुमा किरिया इरियावहिया नामं कज्जति, सा पढमसमए बद्धा पुट्ठा,

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३१४-३१५ का सारांश

[2] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३१४

[3] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३१५

[4] 'आसुरिएसु—…… जेसु सूरो नत्थिट्ठाणेसु'—सूत्रकृतांग (चूर्णि मू० पा० टि०) पृ० १६३

बितीयसमए वेदिता, ततियसमए णिज्जिण्णा, सा बद्धा पुट्ठा उदीरिया वेदिया णिज्जिण्णा सेयकाले अकम्मं चावि भवति, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं असावज्जे त्ति आहिज्जति, तेरसमे किरियाठाणे इरियावहिए त्ति आहिते।

से बेमि—जे य अतीता जे य पडुप्पन्ना जे य आगमिस्सा अरहंता भयवंता सव्वे ते एताइं चेव तेरस किरियाठाणाइं भासिसु वा भासंति वा भासिस्संति वा पण्णविंसु वा पण्णवेंति वा पण्णविस्संति वा, एवं चेव तेरसमं किरियाठाणं सेविंसु वा सेवंति वा सेविस्संति वा।

७०७. इसके पश्चात् तेरहवाँ क्रियास्थान है, जिसे ऐर्यापथिक कहते हैं। इस जगत् में या आर्हतप्रवचन में जो व्यक्ति अपने आत्मार्थ (आत्मभाव) के लिए उपस्थित एवं समस्त परभावों या पापों से (मन-वचन-काया से) संवृत (निवृत्त) है तथा घरबार आदि छोड़कर अनगार (मुनिधर्म में प्रव्रजित) हो गया है, जो ईर्यासमिति से युक्त है, सावद्य भाषा नहीं बोलता, इसलिए जो भाषासमिति से युक्त है, जो एषणासमिति का पालन करता है, जो पात्र, उपकरण आदि के ग्रहण करने और रखने की (आदान-निक्षेप) समिति से युक्त है, जो लघु नीति, बड़ी नीति, थूक, कफ, नाक के मैल आदि के परिष्ठापन की (उच्चारादि परिष्ठापन) समिति से युक्त है, जो मनसमिति, वचनसमिति, कायसमिति से युक्त है, जो मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति से गुप्त है, जिसकी इन्द्रियाँ गुप्त (विषयों से सुरक्षित या वश में) हैं, जिसका ब्रह्मचर्य नौ गुप्तियों से गुप्त (सुरक्षित) है, जो साधक उपयोग (यतना) सहित गमन करता है, उपयोगपूर्वक खड़ा होता है, उपयोगपूर्वक बैठता है, उपयोगसहित करवट बदलता है, यतनापूर्वक भोजन करता है, यतना के साथ बोलता है, उपयोगपूर्वक वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन आदि को ग्रहण करता है और उपयोगपूर्वक ही इन्हें रखता-उठाता है, यहाँ तक कि आँखों की पलकें भी उपयोगसहित झपकाता है।

ऐसे (पूर्वोक्त अर्हताओं से युक्त) साधु में विविध मात्रा (प्रकार) वाली सूक्ष्म ऐर्यापथिकी क्रिया होती है, जिसे वह करता है। उस ऐर्यापथिकी क्रिया का प्रथम समय में बन्ध और स्पर्श होता है, द्वितीय समय में उसका वेदन (अनुभव, फलभोग) होता है, तृतीय समय में उसकी निर्जरा होती है। इस प्रकार वह ईर्यापथिकी क्रिया क्रमशः बद्ध, स्पृष्ट, उदीरित (उदीरणा की जाती है), वेदित (वेदन का विषय) और निर्जीर्ण होती (निर्जरा की जाती) है। फिर आगामी (चतुर्थ) समय में वह अकर्मता को प्राप्त (कर्मरहित) होती है।

इस प्रकार वीतराग पुरुष के पूर्वोक्त ईर्यापथिक क्रिया के कारण असावद्य (निरवद्य) कर्म का (त्रिसमयात्मक) बन्ध होता है। इसीलिए इस तेरहवें क्रियास्थान को ऐर्यापथिक कहा गया है। (श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं—) मैं कहता हूँ कि भूतकाल में जितने तीर्थंकर हुए हैं, वर्तमान काल में जितने तीर्थंकर हैं, और भविष्य में जितने भी तीर्थंकर होंगे, उन सभी ने इन तेरह क्रियास्थानों का कथन किया है, करते हैं तथा करेंगे, इसी प्रकार भूतकाल तीर्थंकरों ने इन्हीं १३ क्रियास्थानों की प्ररूपणा की है, वर्तमान तीर्थंकर करते हैं तथा भविष्यकालिक तीर्थंकर इन्हीं की प्ररूपणा करेंगे। इसी प्रकार प्राचीन तीर्थंकरों ने इसी तेरहवें क्रियास्थान का सेवन किया है, वर्तमान तीर्थंकर इसी का सेवन करते हैं और भविष्य में होने वाले तीर्थंकर भी इसी का सेवन करेंगे।

विवेचन—तेरहवाँ क्रियास्थान : ऐर्यापथिक—अधिकारी, स्वरूप, प्रक्रियाप्ररूपण एवं सेवन—प्रस्तुत सूत्र में शास्त्रकार ने ऐर्यापथिक क्रियास्थान के सन्दर्भ में छह तथ्यों का निरूपण किया है—

(१) ऐर्यापथिक क्रियावान् की अर्हताएँ—समिति, गुप्ति, इन्द्रियगुप्ति, तथा ब्रह्मचर्यगुप्ति वस्त्रादि से सम्पन्न।

(२) ऐर्यापथिक क्रिया का स्वरूप—गति, स्थिति, पार्श्वपरिवर्तन, भोजन, भाषण और आदान-निक्षेप यहाँ तक कि पक्ष्मनिपात (पलक झपकना) आदि समस्त सूक्ष्म क्रियाएं उपयोगपूर्वक करना।

(३) ऐर्यापथिक क्रिया की क्रमशः प्रक्रिया—त्रिसमयिक, बद्ध-स्पृष्ट, वेदित, निर्जीर्ण, तत्पश्चात् अक्रिय (कर्मरहित)।

(४) ऐर्यापथिक असावद्य क्रिया के निमित्त से होने वाला त्रिसमयवर्ती शुभकर्मबन्धन, ऐर्यापथिक क्रियास्थान नाम की सार्थकता।

(५) त्रैकालिक तीर्थंकरों द्वारा इन्हीं तेरह क्रियास्थानों का कथन और प्ररूपण।

(६) त्रैकालिक तीर्थंकरों द्वारा मात्र तेरहवें क्रियास्थान का ही सेवन।[1]

ऐर्यापथिकी क्रिया और उसका अधिकारी—क्रियाएँ गुणस्थान की दृष्टि से मुख्यतया दो कोटि की हैं—साम्परायिक क्रिया और ऐर्यापथिकी क्रिया। पहले गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थानवर्ती तक के जीवों में साम्परायिक क्रिया का बन्ध होता है, ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीवों के ऐर्यापथिक क्रिया का बन्ध होता है। पहले गुणस्थान से दसवें गुणस्थान तक मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, इन पांचों में कोई न कोई अवश्य विद्यमान रहता है, और कषाय जहाँ तक है, वहाँ तक साम्परायिक क्रिया का बन्ध होता है। दसवें गुणस्थान से आगे तेरहवें गुणस्थान तक कषाय का उदय नहीं रहता सिर्फ योग विद्यमान रहता है। इसलिए योगों के कारण वहाँ केवल सातावेदनीय कर्म का प्रदेशबन्ध होता है, स्थितिबन्ध नहीं, क्योंकि स्थितिबन्ध वहीं होता है जहाँ कषाय है।

ऐर्यापथिकी क्रिया इतनी सूक्ष्म है कि प्रथम समय में इसका बन्ध और स्पर्श होता है, दूसरे समय में वेदन और तीसरे समय में निर्जरा हो जाती है, इस दृष्टि से निष्कषाय वीतराग पुरुष को भी सयोगावस्था तक इस क्रिया का बन्ध होता है। केवलज्ञानी सयोगावस्था में सर्वथा निश्चल निष्कम्प नहीं रह सकते, क्योंकि मन, वचन, काया के योग उनमें विद्यमान हैं। और ऐर्यापथिक क्रिया इतनी सूक्ष्म है कि धीरे से पलक गिराने पर यह क्रिया लग जाती है।

ऐर्यापथिक क्रिया प्राप्त करने की अर्हताएँ—शास्त्रकार ने यहाँ ऐर्यापथिक क्रिया के अधिकारी साधक की मुख्य पाँच अर्हताएँ प्रस्तुत की हैं—

(१) आत्मत्व—आत्मभाव में स्थित एवं विषय-कषायों आदि परभावों से विरत।

(२) सांसारिक शब्दादि वैषयिक सुखों से विरक्त, एकमात्र आत्मिक सुख के लिए प्रयत्नशील।

(३) गृहवास तथा माता-पिता आदि का एवं धन-सम्पत्ति आदि संयोग का ममत्व त्याग कर अनगारधर्म में प्रव्रजित, अप्रमत्त भाव से अनगार-धर्मपालन में तत्पर।

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३१६-३१७ तक का सारांश

(४) प्रत्येक प्रवृत्ति में समिति से युक्त, तथा यतनाशील।

(५) मन, वचन, काया और इन्द्रियों की गुप्ति से युक्त, नवगुप्तियुक्त ब्रह्मचर्यनिष्ठ।

इस दृष्टि से प्रस्तुत मूलपाठ में वर्णित सुविहित साधु में मिथ्यात्त्व, अविरति न होने पर भी कदाचित् प्रमाद एवं कषाय की सूक्ष्ममात्रा रहती है, इसलिए सिद्धान्ततः ऐर्यापथिक क्रिया न लग कर साम्प्रदायिक क्रिया लगती है।

जिस साधु में प्रस्तुत सूत्रोक्त अर्हताएँ नहीं हैं, वह वीतराग अवस्था को निकट भविष्य में प्राप्त नहीं कर सकता और वीतराग अवस्था प्राप्त किये बिना कोई भी आत्मा ऐर्यापथिक क्रिया को प्राप्त नहीं कर सकता।[1]

अधर्मपक्ष नामक प्रथम स्थान के विकल्प

७०८. अदुत्तरं च णं पुरिसविजयविभंगमाइक्खिस्सामि।

इह खलु नाणापण्णाणं नाणाछंदाणं नाणासीलाणं नाणादिट्ठीणं नाणारुईणं नाणारंभाणं नाणाज्झवसाणसंजुत्ताणं नाणाविहं पावसुयज्झयणं एवं भवति, तंजहा—भोम्मं उप्पायं सुविणं अंतलिक्खं अंगं सरलक्खणं वंजणं इत्थिलक्खणं पुरिसलक्खणं हयलक्खणं गयलक्खणं गोणलक्खणं मिंढलक्खणं कुक्कुडलक्खणं तित्तिरलक्खणं वट्टगलक्खणं लावगलक्खणं चक्कलक्खणं छत्तलक्खणं चम्मलक्खणं दंडलक्खणं असिलक्खणं मणिलक्खणं कागिणिलक्खणं सुभगाकरं दुब्भगाकरं गब्भकरं मोहणकरं आहव्वणिं पागसासणिं दव्वहोमं खत्तियविज्जं चंदचरियं सूरचरियं सुक्कचरियं बहस्सइचरियं उक्कापायं दिसोदाहं मियचक्कं वायसपरिमंडलं पंसुवुट्ठिं केसवुट्ठिं मंसवुट्ठिं रुहिरवुट्ठिं वेतालिं अद्धवेतालिं ओसोवणिं तालुग्घाडणिं सोवागिं सावरिं दामिलिं कालिंगिं गोरिं गंधारिं ओवतणिं उप्पतणिं जंभणिं थंभणिं लेसणिं आमयकरणिं विसल्लकरणिं पक्कमणिं अंतद्धाणिं आयमणिं एवमादिआओ विज्जाओ अन्नस्स हेउं पउंजंति, पाणस्स हेउं पउंजंति, वत्थस्स हेउं पउंजंति, लेणस्स हेउं पउंजंति, सयणस्स हेउं पउंजंति, अन्नेसिं वा विरूप-रूवाणं कामभोगाण हेउं पउंजंति, तेरिच्छं ते विज्जं सेवंति, अणारिया विप्पडिवन्ना ते कालमासे कालं किच्चा अण्णतराइं आसुरियाइं किब्बिसियाइं ठाणाइं उववत्तारो भवंति, ततो वि विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयताए तमअंधयाए पच्चायंति।

७०८. इसके पश्चात् पुरुषविजय (जिस-जिस विद्या से कतिपय अल्पसत्त्व पुरुषगण अनर्थानु-

---

[1] (क) **ईरणमीर्या तस्यास्तया वा पन्था ईर्यापथस्तत्रभवमीर्यापथिकम्।** अर्थात्—गमनागमनादि करना ईर्या है, उसका या उसके सहारे से पथ का उपयोग करना ईर्यापथ है। ईर्यापथ से होने वाली क्रिया ईर्यापथिक है। यह इसका शब्दव्युत्पत्तिनिमित्त है। प्रवृत्तिनिमित्त इस प्रकार है—**सर्वत्रोपयुक्तस्याकषायस्य समीक्षित मनोवाक्कायक्रियस्य या क्रिया, तया यत्कर्म तदीर्यापथिकेत्युच्यते।**' अर्थात्—जो साधक सर्वत्रोपयोगयुक्त हो, अकषाय हो, मन-वचन-काया की क्रिया भी देखभालकर करता हो, उसकी (कायिक) क्रिया ईर्यापथ-क्रिया है, उससे जो कर्म बंधता है, उसे ईर्यापथिका कहते हैं। —सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३१६

(ख) देखिये '**केवली णं भंते! अस्सि समयंसि जेसु आगासपएसेसु**' इत्यादि वर्णन।
—सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३१६

बन्धी विजय प्राप्त करते हैं) अथवा पुरुषविचय (पुरुषगण विज्ञानद्वारा जिसका विचय—अन्वेषण करते हैं) के विभंग (विभंगज्ञानवत् ज्ञानविशेष या विकल्पसमूह) का प्रतिपादन करूंगा।

इस मनुष्यक्षेत्र में या प्रवचन में (विचित्र क्षयोपशम होने से) नाना प्रकार की प्रज्ञा, नाना अभिप्राय, नाना प्रकार के शील (स्वभाव) विविध (पूर्वोक्त ३६३ जैसी) दृष्टियों, (आहारविहारादि में) अनेक रुचियों (कृषि आदि) नाना प्रकार के आरम्भ तथा नाना प्रकार के अध्यवसायों से युक्त मनुष्यों द्वारा (अपनी-अपनी रुचि, दृष्टि आदि के अनुसार) अनेकविध पापशास्त्रों (सावद्यकार्यों में प्रवृत्त करने वाले ग्रन्थों) का अध्ययन किया जाता है। वे (पापशास्त्र) इस प्रकार हैं—(१) भौम (भूकम्प आदि तथा भूमिगत जल एवं खनिज पदार्थों की शिक्षा देने वाला शास्त्र), (२) उत्पात (किसी प्रकार के प्राकृतिक उत्पात-उपद्रव की एवं उसके फलाफल की सूचना देने वाला शास्त्र), (३) स्वप्न (स्वप्नों के प्रकार एवं उनसे शुभाशुभ फल बताने वाला शास्त्र), (४) अन्तरिक्ष (आकाश में होने वाले मेघ, विद्युत, नक्षत्र आदि की गतिविधि का ज्ञान कराने वाला शास्त्र), (५) अंग (नेत्र, भृकुटि, भुजा आदि अंगों के स्फुरण का फल बताने वाला शास्त्र), (६) स्वर (कौआ, सियार एवं पक्षी आदि की आवाजों का फल बताने वाला स्वर-शास्त्र अथवा स्वरोदय शास्त्र), (७) लक्षण (नर-नारियों के हाथ, पैर आदि अंगों में बने हुए यव, मत्स्य, चक्र, पद्म, श्रीवत्स आदि रेखाओं या चिह्नों का फल बताने वाला शास्त्र), (८) व्यञ्जन (मस, तिल आदि का फल बताने वाला शास्त्र), (९) स्त्रीलक्षण (विविध प्रकार की स्त्रियों का लक्षणसूचक शास्त्र), (१०) पुरुषलक्षण (विविध प्रकार के पुरुषों के लक्षणों का प्रतिपादक शास्त्र), (११) हयलक्षण (घोड़ों के लक्षण बताने वाला शालिहोत्र शास्त्र), (१२) गजलक्षण (हाथियों के लक्षण का प्रतिपादक पालकाप्य शास्त्र), (१३) गोलक्षण (विविध प्रकार के गोवंशों का लक्षणसूचक शास्त्र), (१४) मेषलक्षण (भेड़ या मेंढे के लक्षणों का सूचक शास्त्र), (१५) कुक्कुटलक्षण (मुर्गों के लक्षण बताने वाला शास्त्र), (१६) तित्तिरलक्षण (नाना प्रकार के तीतरों के लक्षण बताने वाला शास्त्र), (१७) वर्तकलक्षण (बटेर या बत्तख के लक्षणों का सूचक शास्त्र), (१८) लावकलक्षण (लावक पक्षी के लक्षणों का प्रतिपादक शास्त्र), (१९) चक्रलक्षण (चक्र के या चकवे के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र), (२०) छत्रलक्षण (छत्र के लक्षणों का सूचक शास्त्र), (२१) चर्मलक्षण (चर्मरत्न के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र), (२२) दण्डलक्षण (दण्ड के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र), (२३) असिलक्षण (तलवार के लक्षणों का प्रतिपादक शास्त्र), (२४) मणिलक्षण (विविध मणियों-रत्नों के लक्षणों का प्रतिपादक शास्त्र), (२५) काकिनी-लक्षण (काकिणीरत्न या कौड़ी के लक्षणों को बताने वाला शास्त्र), (२६) सुभगाकर (कुरूप को सुरूप या सुभग बनाने वाली विद्या), (२७) दुर्भगाकर (सुरूप या सुभग को कुरूप या दुर्भग बना देने वाली विद्या), (२८) गर्भकरी (गर्भ रक्षा करने के उपाय बताने वाली विद्या), (२९) मोहनकरी (पुरुष या स्त्री को मोहित करने वाली अथवा कामोत्तेजन (मोह=मैथुन) पैदा करने वाली बाजीकरण करने वाली अथवा व्यामोह—मतिभ्रम पैदा करने वाली विद्या), (३०) आथर्वणी (तत्काल अनर्थ उत्पन्न करने वाली या जगत् का ध्वंस करने वाली विद्या), (३१) पाकशासन (इन्द्रजाल विद्या), (३२) द्रव्यहोम (मारण, उच्चाटन आदि करने के लिए मन्त्रों के साथ मधु, घृत आदि द्रव्यों की होमविधि बताने वाली विद्या), (३३) क्षत्रियविद्या (क्षत्रियों की शस्त्रास्त्रचालन एवं युद्ध आदि की विद्या), (३४) चन्द्रचरित (चन्द्रमा की गति आदि को बताने वाला शास्त्र), (३५) सूर्यचरित (सूर्य की गति-चर्या को बताने वाला शास्त्र), (३६) शुक्रचरित (शुक्रतारे की गति-चर्या को वताने वाला शास्त्र), (३७) बृहस्पतिचरित (बृहस्पति

गुरु की चाल को बताने वाला शास्त्र), (३८) उल्कापात (उल्कापात का सूचक शास्त्र), (३९) दिग्दाह (दिशादाह का सूचक शास्त्र), (४०) मृगचक्र (ग्रामादि में प्रवेश के समय मृगादि पशुओं के दर्शन का शुभाशुभफल बताने वाला शास्त्र), (४१) वायसपरिमण्डल (कौए आदि पक्षियों के बोलने का शुभाशुभफल बताने वाला शास्त्र), (४२) पांसुवृष्टि (धूलिवर्षा का फलनिरूपक शास्त्र), (४३) केशवृष्टि (केशवर्षा का फलप्रतिपादक शास्त्र), (४४) मांसवृष्टि (मांसवर्षा का फलसूचक शास्त्र), (४५) रुधिरवृष्टि (रक्त-वर्षा का फल-निरूपक शास्त्र), (४६) वैताली (वैतालीविद्या, जिसके प्रभाव से अचेतन काष्ठ में भी चेतना-सी आ जाती है), (४७) अर्द्धवैताली (वैताली विद्या की विरोधिनी विद्या, अथवा जिस विद्या के प्रभाव से उठाया हुआ दण्ड गिरा दिया जाए), (४८) अवस्वापिनी (जागते मनुष्य को नींद में सुला देने वाली विद्या), (४९) तालोद्घाटिनी (तालों को खोल देने वाली विद्या), (५०) श्वपाकी (चाण्डालों की विद्या), (५१) शाबरीविद्या, (५२) द्राविड़ी विद्या, (५३) कालिंगी विद्या, (५४) गौरीविद्या, (५५) गान्धारी विद्या, (५६) अवपतनी (नीचे गिरा देने वाली विद्या), (५७) उत्पतनी (ऊपर उठा—उड़ा देने वाली विद्या), (५८) जृम्भणी (जमुहाई लेने सम्बन्धी अथवा मकान, वृक्ष या पुरुष को कंपा (हिला) देने वाली विद्या), (५९) स्तम्भनी (जहाँ का तहाँ रोक देने—थमा देने वाली विद्या), (६०) श्लेषणी (हाथ पैर आदि चिपका देने वाली विद्या), (६१) आमयकरणी (किसी प्राणी को रोगी या ग्रहग्रस्त बना देने वाली विद्या), (६२) विशल्यकरणी शरीर में प्रविष्ट शल्य को निकाल देने वाली विद्या, (६३) प्रक्रमणी (किसी प्राणी को भूत-प्रेत आदि की बाधा—पीड़ा उत्पन्न कर देने वाली विद्या, (६४) अन्तर्धानी (जिस विद्या से अंजनादि प्रयोग करके मनुष्य अदृश्य हो जाए) और (६५) आयामिनी (छोटी वस्तु को बड़ी बना कर दिखाने वाली विद्या) इत्यादि (इन और ऐसी ही) अनेक विद्याओं का प्रयोग वे (परमार्थ से अनभिज्ञ अन्यतीर्थिक या गृहस्थ अथवा स्वतीर्थिक द्रव्यलिंगी साधु) भोजन (अन्न) और पेय पदार्थों के लिए, वस्त्र के लिए, आवास-स्थान के लिए, शय्या की प्राप्ति के लिए तथा अन्य नाना प्रकार के काम-भोगों की (सामग्री की) प्राप्ति के लिए करते हैं। वे इन (स्व-परहित के या सदनुष्ठान के) प्रतिकूल वक्र विद्याओं का सेवन करते हैं। वस्तुत: वे विप्रतिपन्न (मिथ्यादृष्टि से युक्त विपरीत बुद्धि वाले) एवं (भाषार्य तथा क्षेत्रार्य होते हुए भी अनार्यकर्म करने के कारण) अनार्य ही हैं।

वे (इन मोक्षमार्ग-विघातक विद्याओं का अध्ययन और प्रयोग करके) मृत्यु का समय आने पर मर कर आसुरिक किल्विषिक स्थान में उत्पन्न होते हैं। वहाँ से आयु पूर्ण होते ही देह छूटने पर वे पुन: पुन: ऐसी योनियों में जाते हैं जहाँ वे बकरे की तरह मूक, या जन्म से अंधे, या जन्म से ही गूंगे होते हैं।

७०९. से एगतिओ आयहेउं वा णायहेउं वा अगारहेउं वा परिवारहेउं वा नायगं वा सहवासियं वा णिस्साए अदुवा अणुगामिए १, अदुवा उवचरए २, अदुवा पाडिपहिए ३, अदुवा संधिच्छेदए ४, अदुवा गंठिच्छेदए ५, अदुवा उरब्भिए ६, अदुवा सोवरिए ७, अदुवा वागुरिए ८, अदुवा साउणिए ९, अदुवा मच्छिए १०, अदुवा गोपालए ११, अदुवा गोघायए १२, अदुवा सोणइए १३, अदुवा सोवणियंतिए १४।

से एगतिओ अणुगामियभावं पडिसंधाय तमेव अणुगमियाणुगमिय हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेति, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति १।

से एगतिओ उवचरगभावं पडिसंधाय तमेव उवचरित २ हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेति, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति २ ।

से एगतिओ पाडिपहियभावं पडिसंधाय तमेव पडिपहे ठिच्चा हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता आहारं आहारेति, इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ३ ।

से एगतिओ संधिच्छेदगभावं पडिसंधाय तमेव संधिं छेत्ता भेत्ता जाव इति से महता पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति ४ ।

से एगतिओ गंठिच्छेदगभावं पडिसंधाय तमेव गंठिं छेत्ता भेत्ता जाव इति से महया पावेहिं कम्मेहिं अप्पाणं उवक्खाइत्ता भवति ५ ।

से एगतिओ उरब्भियभावं पडिसंधाय उरब्भं वा अण्णतरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति ६ । एसो अभिलावो सव्वत्थ ।

से एगतिओ सोयरियभावं पडिसंधाय महिसं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति ७ ।

से एगतिओ वागुरियभावं पडिसंधाय मिगं वा अण्णतरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति ८ ।

से एगतिओ साउणियभावं पडिसंधाया सउणिं वा अण्णतरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति ९ ।

से एगतिओ मच्छियभावं पडिसंधाय मच्छं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति १० ।

से एगतिओ गोघातगभावं पडिसंधाय गोणं वा अण्णतरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति ११ ।

से एगतिओ गोपालगभावं पडिसंधाय तमेव गोणं वा परिजविय परिजविय हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति १२ ।

से एगतिओ सोवणियभावं पडिसंधाय सुणगं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति १३ ।

से एगतिओ सोवणियंतियभावं पडिसंधाय मणुस्सं वा अन्नयरं वा तसं पाणं हंता जाव आहारे आहारेति, इति से महता पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति १४ ।

७०९. कोई पापी मनुष्य अपने लिए अथवा अपने ज्ञातिजनों के लिए अथवा कोई अपना घर बनाने के लिए या अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए अथवा अपने नायक या परिचित जन तथा सहवासी या पड़ौसी के लिए निम्नोक्त पापकर्म का आचरण करने वाले बनते हैं—(१) अनुगामिक (धनादि हरण के लिए किसी व्यक्ति के पीछे लग जाने वाला) बनकर, अथवा (२) उपचरक (पाप-

कृत्य करने के लिए किसी का सेवक) बनकर, या (३) प्रातिपथिक (धनादि हरणार्थ मार्ग में चल रहे पथिक का सम्मुखगामी पथिक) बनकर, अथवा (४) सन्धिच्छेदक (सेंध लगाकर घर में प्रवेश करके चोरी करनेवाला) बनकर, अथवा (५) ग्रन्थिच्छेदक (किसी की गांठ या जेब काटनेवाला) बनकर अथवा (६) औरभ्रिक (भेड़ चरानेवाला) बनकर, अथवा (७) शौकरिक (सूअर पालनेवाला) बनकर, या (८) वागुरिक (पारधी—शिकारी) बनकर, अथवा (९) शाकुनिक (पक्षियों को जाल में फंसानेवाला बहेलिया) बनकर, अथवा (१०) मात्स्यिक (मछुआ—मच्छीमार) बनकर, या (११) गोपालक बनकर, या (१२) गोघातक (कसाई) बनकर, अथवा (१३) श्वपालक (कुत्तों को पालनेवाला) बनकर, या (१४) शौवान्तिक (शिकारी कुत्तों द्वारा पशुओं का शिकार करके उनका अन्त करनेवाला) बनकर।

(१) कोई पापी पुरुष (ग्रामान्तर जाते हुए किसी धनिक के पास धन जानकर) उसका पीछा करने की नीयत से साथ में चलने की अनुकूलता समझा कर उसके पीछे-पीछे चलता है, और अवसर पा कर उसे (डंडे आदि से) मारता है, (तलवार आदि से) उसके हाथ-पैर आदि अंग काट देता है, (मुक्के आदि प्रहारों से) उसके अंग चूर-चूर कर देता है, (केश आदि खींच कर या घसीट कर) उसकी विडम्बना करता है, (चाबुक आदि से) उसे पीड़ित कर या डरा-धमका कर अथवा उसे जीवन से रहित करके (उसका धन लूट कर) अपना आहार उपार्जन करता है।

इस प्रकार वह महान् (क्रूर) पाप कर्मों के कारण (महापापी के नाम से) अपने आपको जगत् में प्रख्यात कर देता है।

(२) कोई पापी पुरुष किसी धनवान् की अनुचरवृत्ति, सेवकवृत्ति स्वीकार करके (विश्वास में लेकर) उसी (अपने सेव्य स्वामी) को मार-पीट कर, उसका छेदन, भेदन, एवं प्रहार करके, उसकी विडम्बना और हत्या करके उसका धनहरण कर अपना आहार उपार्जन करता है।

इस प्रकार वह महापापी व्यक्ति बड़े-बड़े पापकर्म करके महापापी के रूप में अपने आपको प्रख्यात कर लेता है।

(३) कोई पापी जीव किसी धनिक पथिक को सामने से आते देख उसी पथ पर मिलता है, तथा प्रातिपथिक भाव (सम्मुख आकर पथिक को लूटने की वृत्ति) धारण करके पथिक का मार्ग रोक कर (धोखे से) उसे मारपीट, छेदन, भेदन करके तथा उसकी विडम्बना एवं हत्या करके उसका धन, लूट कर अपना आहार-उपार्जन करता है। इस प्रकार महापापकर्म करने से वह अपने आपको महापापी के नाम से प्रसिद्ध करता है।

(४) कोई पापी जीव (धनिकों के घरों में सेंध लगा कर, धनहरण करने की वृत्ति स्वीकार कर तदनुसार) सेंध डाल कर उस धनिक के परिवार को मार-पीट कर, उसका छेदन, भेदन, ताड़न और प्रहार करके; उसे डरा-धमका कर, या उसकी विडम्बना और हत्या करके उसके धन को चुरा कर अपनी जीविका चलाता है। इस प्रकार का महापाप करने के कारण वह स्वयं को महापापी के नाम से प्रसिद्ध करता है।

(५) कोई पापी व्यक्ति धनाढ्यों के धन की गांठ काटने का धंधा अपना कर धनिकों की गांठ काटता रहता है। (उस सिलसिले में) वह (उस गांठ के स्वामी को) मारता-पीटता है, उसका छेदन-भेदन, एवं उस पर ताड़न-तर्जन करके तथा उसकी विडम्बना और हत्या करके उसका धन

हरण कर लेता है, और इस तरह अपना जीवन-निर्वाह करता है। इस प्रकार के महापाप के कारण वह स्वयं को महापापी के रूप में विख्यात कर लेता है।

(६) कोई पापात्मा भेड़ों का चरवाहा वन कर उन भेड़ों में से किसी को या अन्य किसी भी त्रस प्राणी को मार-पीट कर, उसका छेदन-भेदन-ताड़न आदि करके तथा उसे पीड़ा देकर या उसकी हत्या करके अपनी आजीविका चलाता है। इस प्रकार का महापापी उक्त महापाप के कारण जगत् में स्वयं को महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर लेता है।

(७) कोई पापकर्मा जीव सूअरों को पालने का या कसाई का धन्धा अपना कर भैंसे, सूअर या दूसरे त्रस प्राणी को मार-पीट कर, उनके अंगों का छेदन-भेदन करके, उन्हें तरह-तरह से यातना देकर या उनका वध करके अपनी आजीविका का निर्वाह करता है। इस प्रकार का महान् पाप-कर्म करने के कारण संसार में वह अपने आपको महापापी के नाम से विख्यात कर लेता है।

(८) कोई पापी जीव शिकारी का धंधा अपना कर मृग या अन्य किसी त्रस प्राणी को मार-पीट कर, छेदन-भेदन करके, जान से मार कर अपनी जीविका उपार्जन करता है। इस प्रकार के महापापकर्म के कारण जगत् में वह स्वयं को महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर लेता है।

(९) कोई पापात्मा वहेलिया वन कर पक्षियों को जाल में फंसाकर पकड़ने का धंधा स्वीकार करके पक्षी या अन्य किसी त्रस प्राणी को मारकर, उसके अंगों का छेदन भेदन करके, या उसे विविध यातनाएँ देकर उसका वध करके उससे अपनी आजीविका कमाता है। वह इस महान् पापकर्म के कारण विश्व में स्वयं को महापापी के नाम से प्रख्यात कर लेता है।

(१०) कोई पापकर्मजीवी मछुआरा बनकर मछलियों को जाल में फंसा कर पकड़ने का धंधा अपना कर मछली या अन्य त्रस जलजन्तुओं का हनन, छेदन-भेदन, ताड़न आदि करके तथा उन्हें अनेक प्रकार से यातनाएँ देकर, यहाँ तक कि प्राणों से रहित करके अपनी आजीविका चलाता है। अतः वह इस महापाप कृत्य के कारण जगत् में स्वयं को महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर लेता है।

(११) कोई पापात्मा गोवंशघातक (कसाई) का धंधा अपना कर गाय, वैल या अन्य किसी भी त्रस प्राणी का हनन, छेदन, भेदन, ताड़न आदि करके उसे विविध यातनाएँ देकर, यहाँ तक कि उसे जीवनरहित करके उससे अपनी जीविका कमाता है। परन्तु ऐसे निन्द्य महापापकर्म करने के कारण जगत् में वह अपने आपको महापापी के रूप में प्रसिद्ध कर लेता है।

(१२) कोई व्यक्ति गोपालन का धंधा स्वीकार करके (कुपित होकर) उन्हीं गायों या उनके वछड़ों को टोले से पृथक् निकाल-निकाल कर वार-वार उन्हें मारता-पीटता तथा भूखे रखता है, उनका छेदन-भेदन आदि करता है, उन्हें कसाई को वेच देता है, या स्वयं उनकी हत्या कर डालता है, उससे अपनी रोजी-रोटी कमाता है। इस प्रकार के महापापकर्म करने से वह स्वयं महापापियों की सूची में प्रसिद्धि पा लेता है।

(१३) कोई अत्यन्त नीचकर्मकर्ता व्यक्ति कुत्तों को पकड़ कर पालने का धंधा अपना कर उनमें से किसी कुत्ते को या अन्य किसी त्रस प्राणी को मार कर, उसके अंगभंग करके या उसे यातना देकर, यहाँ तक कि उसके प्राण लेकर उससे अपनी आजीविका कमाता है। वह उक्त महापाप के कारण जगत् में स्वयं को महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर लेता है।

(१४) कोई पापात्मा शिकारी कुत्तों को रख कर श्वपाक (चाण्डाल) वृत्ति अपनाकर ग्राम आदि के अन्तिम सिरे पर रहता है और पास से गुजरने वाले मनुष्य या प्राणी पर शिकारी कुत्ते छोड़ कर उन्हें कटवाता है, फड़वाता है, यहाँ तक कि जान से मरवाता है। वह इस प्रकार का भयंकर पापकर्म करने के कारण महापापी के रूप में प्रसिद्ध हो जाता है।

७१०. से एगतिओ परिसामज्झातो उट्ठित्ता अहमेयं हंछामि त्ति कट्टु तित्तिर वा वट्टगं वा लावगं वा कवोयगं वा कविं वा कविंजलं वा अण्णयरं वा तसं पाणं हंता जाव उवक्खाइत्ता भवति।

से एगतिओ केणइ आदाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं[1] अदुवा सुराथालएणं[2] गाहावतीणं वा गाहावइपुत्ताण वा सयमेव अगणिकाएणं सस्साइं झामेति, अण्णेण वि अगणिकाएणं सस्साइं झामावेति, अगणिकाएणं सस्साइं झामंतं पि अण्णं समणुजाणति, इति से महता पावेहिं कम्मेहिं अत्ताणं उववखाइत्ता भवति।

से एगतिओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावतीण वा गाहावइपुत्ताण वा उट्टाण वा गोणाण वा घोडगाण वा गद्दभाण वा सयमेव घूराओ कप्पेति, अण्णेण वि कप्पावेति, कप्पंतं पि अण्णं समणुजाणति, इति से महया जाव भवति।

से एगतिओ केणइ आदाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावतीणं वा गाहावतिपुत्ताणं वा उट्टसालाओ वा गोणसालाओ वा घोडगसालाओ वा गद्दभसालाओ वा कंटगबोंदियाए पडिपेहित्ता सयमेव अगणिकाएणं झामेति, अण्णेण वि झामावेति, झामेतं पि अन्नं समणुजाणइ, इति से महया जाव भवति।

से एगतिओ केणइ आयाणेणं विरुद्धे समाणे अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं गाहावतीणं वा गाहावइपुत्ताणं वा कुंडलं वा गुणं वा मणिं वा मोत्तियं वा सयमेव अवहरति, अन्नेण वि अवहरावेति, अवहरंतं पि अन्नं समणुजाणति, इति से महया जाव भवति।

---

[1] **खलदाणेणं**—चूर्णिसम्मत अर्थ—**खलकेदाणं खलभिक्खं तदूण दिण्णं, ण दिण्णं, तेण विरुद्धो**—अर्थात्—तुच्छ वस्तु
की भिक्षा दी, या कम दी, या नहीं दी, इस कारण विरुद्ध—प्रतिकूल होकर। वृत्तिसम्मत अर्थ—**खलस्य कुथितादि**
विशिष्टस्य दानम्, खलके वाऽल्पधान्यादेर्दानं खलदानम् तेन कुपितः। अर्थात् सड़ी-गली, तुच्छ आदि खराब
वस्तु का दान, अथवा दुष्ट—खल देखकर अल्पधान्य आदि का दान देना खलदान है, इसके कारण कुपित
होकर।

[2] **सुराथालएणं**—चूर्णिसम्मत अर्थ—**थालगेण सुरा पिज्जति, तत्थ परिवाडीए आवेट्ठस्स वारो ण दिण्णो, उट्ठवितो**
वा, तेण विरुद्धो। अर्थात्—सुरापान करने के पात्र (प्याली) से सुरा (मदिरा) पी जा सकती है, अतः
मदिरापान के समय पंक्ति में बैठे हुए उस व्यक्ति की सुरापान करने की बारी नहीं आने दी या उसे पंक्ति में
से उठा दिया, इस अपमान के कारण विरुद्ध होकर, वृत्तिसम्मत अर्थ—**सुरायाःस्थालकं कोशकादि, तेन**
विवक्षितलाभाभावात् कुपितः। अर्थात्—सुरापान करने का स्थालक—चषक—(प्याला) आदि पात्र, उससे
अभीष्ट लाभ न होने से कुपित होकर।

—सूत्रकृतांग (मूलपाठ टिप्पण युक्त) पृ. १६९

से एगइओ केणइ आदाणेणं विरुद्धे समाण अदुवा खलदाणेणं अदुवा सुराथालएणं समणाण वा माहणाण वा छत्तगं वा दंडगं वा भंडगं वा मत्तगं वा लट्ठिगं वा भिसिगं वा चेलगं वा चिलिमिलिंगं वा चम्मगं वा चम्मच्छेदणगं वा चम्मकोसं वा सयमेव अवहरति जाव समणुजाणति इति से महया जाव उवक्खाइत्ता भवति ।

से एगतिओ णो वितिगिंछइ, तं०—गाहावतीण वा गाहावतिपुत्ताण वा सयमेव अगणिकाएणं ओसहीओ झामेति जाव अण्णं पि झामेंतं समणुजाणति इति से महया जाव भवति ।

से एगतिओ णो वितिगिंछति, तं०—गाहावतीण वा गाहावतिपुत्ताण वा उट्टाण वा गोणाण वा घोडगाण वा गद्दभाण वा सयमेव घूराओ कप्पेति, अण्णेण वि कप्पावेति, अण्णं पि कप्पेंतं समणुजाणति ।

से एगतिओ णो वितिगिंछति, तं०—गाहावतीण वा गाहावतिपुत्ताण वा उट्टसालाओ वा जाव गद्दभसालाओ वा कंटकबोंदियाए पडिपेहित्ता सयमेव अगणिकाएणं झामेति जाव समणुजाणति ।

से एगतिओ णो वितिगिंछति, [तं०—] गाहावतीण वा गाहावतिपुत्ताण वा कोण्डलं वा जाव मोट्टियं वा सयमेव अवहरति जाव समणुजाणति ।

से एगतिओ णो वितिगिंछति, [तं०—] समणाण वा माहणाण वा दंडगं वा जाव चम्मच्छेदणगं वा सयमेव अवहरति जाव समणुजाणति, इति से महता जाव उवक्खाइत्ता भवति ।

से एगतिओ समणं वा माहणं जा दिस्सा णाणाविधेहिं पावकम्मेहिं अत्ताणं उवक्खाइत्ता भवति, अदुवा णं अच्छराए अप्फालेत्ता भवति, अदुवा णं फरुसं वदित्ता भवति, कालेण वि से अणुपविट्ठस्स असणं वा पाणं वा जाव णो दवावेत्ता भवति, जे इमे भवंति वोण्णमंता भारोक्कंता अलसगा वसलगा किमणगा समणगा पव्वयंती ते इणमेव जीवितं धिज्जीवितं संपडिबूहंति, नाइं ते पारलोइ [य] स्स अट्ठस्स किंचि वि सिलिस्संति, ते दुक्खंति ते सोयंति ते जूरंति ते तिप्पंति ते पिट्टं (ड्डं) ति ते परितप्पंति ते दुक्खण-सोयण-जूरण-तिप्पण-पिट्ट (ड्ड) ण-परितप्पण-वह-बंधण-परिकिलेसातो अपडिविरता भवंति, ते महता आरंभेणं ते महया समारंभेणं ते महता आरंभसमारंभेणं विरूविरूवेहिं पावकम्मकिच्चेहिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजित्तारो भवंति, तंजहा—अन्नं अन्नकाले, पाणं पाणकाले, वत्थं वत्थकाले, लेणं लेणकाले, सयणं सयणकाले, सपुव्वावरं च णं ण्हाते कतबलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सिरसा ण्हाते कंठेमालकडे आविद्धमणिसुवण्णे कप्पितमालामउली पडिबद्धसरीरे वग्घारियसोणिसुत्तगमल्लदामकलावे अहतवत्थपरिहिते चंदणोक्खित्तगायसरीरे महति महालियाए कूडागारसालाए महतिमहालयंसि सीहासणंसि इत्थीगुम्मसंपरिवुडे, सव्वरातिएणं जोइणा झियायमाणेणं महताहतनट्ट-गीत-वाइय-तंती-तल-ताल-तुडिय-घण-मुइंगपडुप्पवाइतरवेणं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरति, तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि पंच जणा अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति, भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो ! किं आहरेमो ? किं उवणेमो ? किं आवि ट्ठवेमो ! किं भे हिय इच्छितं ? किं भे आसगस्स सदइ ? तमेव पासित्ता

अणारिया एवं वदंति—देवे खलु अयं पुरिसे, देवसिणाए खलु अयं पुरिसे, देवजीवणिज्जे खलु अयं पुरिसे, अण्णे वि णं उवजीवंति, तमेव पासित्ता आरिया वदंति—अभिक्कंतकूरकम्मे खलु अयं पुरिसे अतिधुन्ने अतिआतरक्खे दाहिणगामिए[1] नेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साणं[2] दुल्लभबोहिए यावि भविस्सइ ।

इच्चेयस्स ठाणस्स उट्ठिता वेगे अभिगिज्झंति, अणुट्ठिता वेगे अभिगिज्झंति, अभिझंझाउरा अभिगिज्झंति, एस ठाणे अणारिए अकेवले अप्पडिपुण्णे अणेआउए असंसुद्धे असल्लगत्तणे असिद्धिमग्गे अमुत्तिमग्गे अनिव्वाणमग्गे अणिज्जाणमग्गे असव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू । एस खलु पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिते ।

७१०. (१) कोई व्यक्ति सभा में खड़ा होकर प्रतिज्ञा करता है—'मैं इस प्राणी को मारूँगा । तत्पश्चात् वह तीतर, बतख, लावक, कबूतर, कपिजल या अन्य किसी त्रसजीव को मारता है, छेदन-भेदन करता है, यहाँ तक कि उसे प्राणरहित कर डालता है । अपने इस महान् पापकर्म के कारण वह स्वयं को महापापी के नाम से प्रख्यात कर देता है ।

(२) कोई (प्रकृति से क्रोधी) पुरुष किसी (अनिष्ट शब्दरूप आदि आदान) कारण से अथवा सड़े गले, या थोड़ा-सा हलकी किस्म का अन्न आदि दे देने से अथवा किसी दूसरे पदार्थ (सुरास्थालकादि) से अभीष्ट लाभ न होने से (अपने स्वामी गृहपति आदि से) विरुद्ध (नाराज या कुपित) हो कर उस गृहपति के या गृहपति के पुत्रों के खलिहान में रखे शाली, व्रीहि, जो, गेहूँ आदि धान्यों को स्वयं आग लगाकर जला देता अथवा दूसरे से आग लगवा कर जलवा देता है, उन (गृहस्थ एवं गृहस्थ के पुत्रों) के धान्य को जलानेवाले (दूसरे व्यक्ति को) अच्छा समझता है । इस प्रकार के महापापकर्म के कारण जगत् में वह अपने आपको महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर देता है ।

(३) कोई (असहिष्णु) पुरुष अपमानादि प्रतिकूल शब्दादि किसी कारण (आदान) से, अथवा सड़ेगले या तुच्छ या अल्प अन्नादि के देने से या किसी दूसरे पदार्थ (सुराथालक आदि) से अभीष्ट लाभ न होने से उस गृहस्थ या उसके पुत्रों पर कुपित (नाराज या विरुद्ध) होकर उनके ऊँटों, गायों-बैलों, घोड़ों, गधों के जंघा आदि अंगों को स्वयं (कुल्हाड़ी आदि से) काट देता है, दूसरों से उनके अंग कटवा देता है, जो उन गृहस्थादि के पशुओं के अंग काटता है, उसे अच्छा समझता है ।

इस महान् पापकर्म के कारण वह जगत् में अपने आपको महापापी के रूप में प्रसिद्ध कर देता है ।

(४) कोई (अतिरौद्र) पुरुष किसी अपमानादिजनक शब्दादि के कारण से, अथवा किसी गृहपतिद्वारा खराब या कम अन्न दिये जाने अथवा उससे अपना इष्ट स्वार्थ-सिद्ध न होने से उस पर अत्यंत बिगड़ कर उस गृहस्थ की अथवा उसके पुत्रों की उष्ट्रशाला, गोशाला, अश्वशाला अथवा गर्दभशाला

---

१. दाहिणगामिए, नेरइए कण्हपक्खिए—दाक्षिणात्य नरक, तिर्यञ्च मनुष्य और देवों से उत्पन्न होने वाला दक्षिणगामी, नैरयिक और कृष्णपक्षी होता है । सिद्धान्तानुसार-दिशाओं में दक्षिण दिशा; गतियों में नरकगति; पक्षों में कृष्णपक्ष अप्रशस्त माने जाते हैं ।—शी. वृत्ति २२५

२. आगमिस्साणं—आगामी तीर्थंकरों के तीर्थ में मनुष्यभव पाकर दुर्लभबोधि होता है ।—सू.चू. (मू.पा.टि.) पृ.१७३

को काँटों की शाखाओं (डालियों) से ढक कर स्वयं उसमें आग लगाकर जला देता है, दूसरों से जलवा देता है या जो उनमें आग लगाकर जला देने वाले को अच्छा समझता है। इस प्रकार के महापाप के कारण वह स्वयं को महापापी के नाम से विख्यात कर देता है।

(५) कोई (अत्यन्त उग्र) व्यक्ति किसी भी प्रतिकूल शब्दादि के कारण, अथवा गृहपति द्वारा खराब, तुच्छ या अल्प अन्न आदि दिये जाने से अथवा उससे अपने किसी मनोरथ की सिद्धि न होने से उस पर क्रुद्ध होकर उसके या उसके पुत्रों के कुण्डल, मणि या मोती को स्वयं हरण करता है, दूसरे से हरण कराता है, या हरण करनेवाले को अच्छा जानता है।

इस प्रकार महापाप के कारण जगत् में वह महापापी के रूप में स्वयं को प्रसिद्ध कर देता है।

(६) कोई (द्वेषी) पुरुष श्रमणों या माहनों के किसी भक्त से सड़ा-गला, तुच्छ या घटिया या थोड़ा-सा अन्न पाकर अथवा मद्य की हंडिया न मिलने से या किसी अभीष्ट स्वार्थ के सिद्ध न होने से अथवा किसी भी प्रतिकूल शब्दादि के कारण उन श्रमणों या माहनों के विरुद्ध (शत्रु) होकर उनका छत्र, दण्ड, उपकरण, पात्र, लाठी, आसन, वस्त्र, पर्दा (चिलिमिली या मच्छरदानी), चर्म, चर्म-छेदनक (चाकू) या चर्मकोश (चमड़े की थैली) स्वयं हरण कर लेता है, दूसरे से हरण करा लेता है, अथवा हरण करने वाले को अच्छा जानता है। इस प्रकार (अपहरण रूप) महापाप के कारण वह स्वयं को महापापी के रूप में प्रसिद्ध कर देता है।

(७) कोई-कोई व्यक्ति तो (अपने कुकृत्य के इहलौकिक पारलौकिक फल का) जरा भी विचार नहीं करता, जैसे कि वह अकारण ही गृहपति या उनके पुत्रों के अन्न आदि को स्वयमेव आग लगाकर भस्म कर देता है, अथवा वह दूसरे से आग लगवाकर भस्म करा देता है, या जो आग लगाकर भस्म करता है, उसे अच्छा समझता है। इस प्रकार महापापकर्म उपार्जन करने के कारण जगत् में वह महापापी के रूप में बदनाम हो जाता है।

(८) कोई-कोई व्यक्ति अपने कृत दुष्कर्मो के फल का किंचित् भी विचार नहीं करता, जैसे कि—वह अकारण ही किसी गृहस्थ या उसके पुत्रों के ऊँट, गाय, घोड़ों या गधों के जंघादि अंग स्वयं काट डालता है, या दूसरे से कटवाता है, अथवा जो उनके अंग काटता है, उसकी प्रशंसा एवं अनुमोदना करता है। अपनी इस पापवृत्ति के कारण वह महापापी के नाम से जगत् में पहिचाना जाता है।

(९) कोई व्यक्ति ऐसा होता है, जो स्वकृतकर्मो के परिणाम का थोड़ा-सा विचार नहीं करता, जैसे कि वह (किसी कारण के विना ही अपनी दुष्टप्रकृतिवश) किसी गृहस्थ या उनके पुत्रों की उष्ट्रशाला, गोशाला, घुड़साल या गर्दभशाला को सहसा कंटीली झाड़ियों या डालियों से ढक कर स्वयं आग लगाकर उन्हें भस्म कर डालता है, अथवा दूसरे को प्रेरित करके भस्म करवा डालता है, या जो उनकी उक्त शालाओं को इस प्रकार आग लगाकर भस्म करता है, उसको अच्छा समझता है।

(१०) कोई व्यक्ति पापकर्म करता हुआ उसके फल का विचार नहीं करता। वह अकारण ही गृहपति या गृहपतिपुत्रों के कुण्डल, मणि, या मोती आदि को स्वयं चुरा लेता है, या दूसरों से चोरी करवाता है, अथवा जो चोरी करता है, उसे अच्छा समझता है।

(११) कोई (पापकर्म में धृष्ट) व्यक्ति स्वकृत दुष्कर्मों के फल का जरा भी विचार नहीं करता। वह अकारण ही (श्रमणादि-द्वेषी बनकर) श्रमणों या माहनों के छत्र, दण्ड, कमण्डलु, भण्डोपकरणों से लेकर चर्मछेदनक एवं चर्मकोश तक साधनों का स्वयं अपहरण कर लेता है, औरों से अपहरण करता है और जो अपहरण करता है, उसे अच्छा समझता है।

इस प्रकार की महती पापवृत्ति के कारण वह जगत् में स्वयं को महापापी के नाम से प्रसिद्ध कर देता है।

(१२) ऐसा कोई (पापसाहसी) व्यक्ति श्रमण और माहन को देखकर उनके साथ अनेक प्रकार के पापमय व्यवहार करता है और उस महान् पापकर्म के कारण उसकी प्रसिद्धि महापापी के रूप में हो जाती है। अथवा वह (मिथ्यात्वग्रस्त व्यक्ति साधुदर्शन को अपशकुन मान कर साधु को अपने सामने से हटाने के लिए) चुटकी बजाता है अथवा (ओ ओदनमुण्ड! व्यर्थकाय-क्लेश-परायण! दुर्बुद्धे! हट सामने से) इस प्रकार के कठोर वचन बोलता है। भिक्षाकाल में भी अगर साधु उसके यहाँ दूसरे भिक्षुओं के पीछे भिक्षा के लिए प्रवेश करता है, तो भी वह साधु को स्वयं आहारादि नहीं देता दूसरा, कोई देता हो तो (विद्वेषवश) उसे यह कह कर भिक्षा देने से रोक देता है—ये पाखण्डी (घास और लकड़ी का) बोझा ढोते थे या नीच कर्म करते थे, कुटुम्ब के या बोझे के भार से (घबराए हुए) थे। ये बड़े आलसी हैं, ये शूद्र (वृषल) हैं, दरिद्र (कृपण, निकम्मे बेचारे एवं दीन) हैं, (कुटुम्ब पालन में असमर्थ होने से सुखलिप्सा से) ये श्रमण एवं प्रव्रजित हो गए हैं। वे (साधुद्रोही) लोग इस (साधुद्रोहमय) जीवन को जो वस्तुतः धिग्जीवन है, (उत्तम बता कर) उलटे इसकी प्रशंसा करते हैं। वे साधुद्रोहजीवी मूढ़ परलोक के लिए भी कुछ भी साधन नहीं करते; वे दुःख पाते हैं, वे शोक पाते हैं, वे पश्चात्ताप करते हैं, वे क्लेश पाते हैं, वे पीड़ावश छाती-माथा कूटते हैं, सन्ताप पाते हैं, वे दुःख शोक पश्चात्ताप, क्लेश, पीड़ावश सिर पीटने आदि की क्रिया, संताप, वध, बन्धन आदि परिक्लेशों से कभी निवृत्त नहीं होते। वे महारम्भ और महासमारम्भ नाना प्रकार के पाप कर्मजनक कुकृत्य करके उत्तमोत्तम (उदार=प्रधान) मनुष्य सम्बन्धी भोगों का उपभोग करते हैं। जैसे कि—वह आहार के समय (सरस स्वादिष्ट) आहार का, पीने के समय (उत्तम) पेय पदार्थो का, वस्त्र परिधान के समय वस्त्रों का, आवास के समय (सुन्दर सुसज्जित) आवासस्थान (भवन) का, शयन के समय (उत्तम—कोमल) शयनीय पदार्थों का उपभोग करते हैं। वह प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल स्नान करते हैं फिर देव-पूजा के रूप में बलिकर्म करते चढ़ावा चढ़ाते हैं, देवता की आरती करके मंगल के लिए स्वर्ण, चन्दन, दही, अक्षत और दर्पण आदि मांगलिक पदार्थों का स्पर्श करते हैं, फिर प्रायश्चित के लिए शान्तिकर्म करते हैं। तत्पश्चात् सशीर्ष स्नान करके कण्ठ में माला धारण करते हैं। वह मणियों (रत्नों) और सोने (के आभूषणों) को अंगों में पहनता है, (फिर) सिर पर पुष्पमाला से युक्त मुकुट धारण करता है। (युवावस्था के कारण) वह शरीर से सुडौल एवं हृष्ट-पुष्ट होता है। वह कमर में करधनी (कन्दोरा) तथा वक्षस्थल पर फूलों की माला (गजरा) पहनता है। बिलकुल नया और स्वच्छ वस्त्र पहनता है। अपने अंगों पर चन्दन का लेप करता है। इस प्रकार सुसज्जित होकर अत्यन्त ऊँचे विशाल प्रासाद (कूटागारशाला) में जाता है। वहाँ वह बहुत बड़े भव्य सिंहासन पर बैठता है। वहाँ (शृंगारित व वस्त्राभूषणों से सुसज्जित) युवतियाँ (दासी आदि अन्य परिवार सहित) उसे घेर लेती हैं। वहाँ सारी रातभर दीपक आदि का प्रकाश जगमगाता रहता है। फिर वहाँ बड़े जोर से नाच, गान, वाद्य, वीणा, तल, ताल, त्रुटित, मृदंग तथा करतल आदि की, ध्वनि होने लगती

है। इस प्रकार उत्तमोत्तम (उदार) मनुष्यसम्बन्धी भोगों का उपभोग करता हुआ वह पुरुष अपना जीवन व्यतीत करता है। वह व्यक्ति जब किसी एक नौकर को आज्ञा देता है तो चार-पाँच मनुष्य बिना कहे ही वहाँ आकर सामने खड़े हो जाते हैं, (और हाथ जोड़कर पूछते हैं—) "देवों के प्रिय ! कहिए, हम आपकी क्या सेवा करें ? क्या लाएँ, क्या भेंट करें ?, क्या-क्या कार्य करें ? आपको क्या हितकर है, क्या इष्ट (इच्छित) है ? आपके मुख को कौन-सी वस्तु स्वादिष्ट लगती है ? बताइए।"

उस पुरुष को इस प्रकार सुखोपभोगमग्न देखकर अनार्य (शुद्धधर्माचरण से दूर = अनाड़ी) लोग यों कहते हैं—यह पुरुष तो सचमुच देव है ! यह पुरुष तो देवों से भी श्रेष्ठ (स्नातक) है। यह मानव तो देवों का-सा जीवन जी रहा है (अथवा देवों के समान बहुत-से लोगों के जीवन का आधार है)। इसके आश्रय से अन्य लोग भी आनन्दपूर्वक जीते हैं।

किन्तु इस प्रकार (भोगविलास में डूबे हुए) उसी व्यक्ति को देख कर आर्य पुरुष (विवेकी—धर्मिष्ठ) कहते हैं—यह पुरुष तो अत्यन्त क्रूर कर्मों में प्रवृत्त है, अत्यन्त धूर्त है (अथवा संसार-भ्रमणकारी धूर्तों = कर्मों से अतिग्रस्त है), अपने शरीर की यह बहुत रक्षा (हिफाजत) करता है, यह दक्षिण-दिशावर्ती नरक के कृष्णपक्षी नारकों में उत्पन्न होगा। यह भविष्य में दुर्लभबोधि प्राणी होगा।

कई मूढ़ जीव मोक्ष के लिए उद्यत (साधुधर्म में दीक्षित) होकर भी इस (पूर्वोक्त) स्थान (विषय सुखसाधन) को पाने के लिए लालायित हो जाते हैं। कई गृहस्थ (अनुत्थित—संयम में अनुद्यत) भी इस (अतिभोगग्रस्त) स्थान (जीवन) को पाने की लालसा करते रहते हैं। कई अत्यन्त विषयसुखान्ध या तृष्णान्ध मनुष्य भी इस स्थान के लिए तरसते हैं।

(वस्तुत) यह स्थान अनार्य (अनार्य आचरणमय होने से आर्यपुरुषों द्वारा अनाचरणीय) है, केवलज्ञान-रहित (या अशुद्ध) है, परिपूर्णसुखरहित (सद्गुण युक्त न होने से अपूर्ण—तुच्छ) है, सुन्याय-वृत्ति से रहित है, संशुद्धि-पवित्रता से रहित है, मायादि शल्य को काटने वाला नहीं है, यह सिद्धि (मोक्ष) मार्ग नहीं है, यह मुक्ति (समस्त कर्मक्षयरूप मुक्ति) का मार्ग नहीं है, यह निर्वाण का मार्ग नहीं है, यह निर्याण (संसारसागर से पार होने) का मार्ग नहीं है, यह सर्वदुःखों का नाशक मार्ग नहीं है, यह एकान्त मिथ्या और असाधु स्थान है।

यही अधर्मपक्षनामक प्रथम स्थान का विकल्प (विभंग) है, ऐसा (तीर्थंकरदेव ने) कहा है।

विवेचन—अधर्मपक्षनामक प्रथम स्थान के विकल्प—प्रस्तुत तीन लम्बे सूत्रपाठों (७०८ से ७१० तक) में शास्त्रकार अधर्मपक्षनामक प्रथम स्थान के सम्बन्ध में विभिन्न पहलुओं से विस्तार-पूर्वक मुख्यतया पन्द्रह विकल्प प्रस्तुत करते हैं—

(१) अधर्मपक्षीय लोगों द्वारा अपनाई जानेवाली सावद्य विद्याएँ।
(२) उनके द्वारा अपनाए जाने वाले पापमय व्यवसाय।
(३) उनके पापमय क्रूर आचार-विचार एवं व्यवहार।
(४) उनकी विषयसुखभोगमयी चर्या।
(५) उनके विषयों में अनार्यों एवं आर्यों के अभिप्राय।
(६) अधर्मपक्षीय अधिकारी और स्थान का स्वरूप।

सावद्य विद्याएँ—अधर्मपक्षीय लोग अपनी-अपनी रुचि, दृष्टि या मनोवृत्ति के अनुसार भौम

से लेकर आयामिनी तक ६४ प्रकार की सावद्य (पापमय) विद्याओं का तथा उनके प्रतिपादक शास्त्रों, ग्रन्थों आदि का अध्ययन करते हैं।[1]

पापमय व्यवसाय—कई अधर्मपक्षीय लोग अपने तथा परिवार आदि के लिए आनुगामिक से लेकर शौवान्तिक तक १४ प्रकार के व्यवसायिकों में से कोई एक बन कर अपना पापमय व्यवसाय चलाते हैं। वे इन पापमय व्यवसायों को अपनाने के कारण जगत् में महापापी के नाम से प्रसिद्ध हो जाते हैं।

पापमय क्रूर आचार-विचार और व्यवहार—इन अधर्मपक्षीय लोगों के पापमय आचार विचार और व्यवहार के सम्बन्ध में सूत्रसंख्या ७१० में ग्यारह विकल्प प्रस्तुत किये है। वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—(१) सभा में किसी पंचेन्द्रिय प्राणी को मारने का संकल्प करके उसे मारना, (२) किसी व्यक्ति से किसी तुच्छकारणवश रुष्ट होकर अनाज के खलिहान में आग लगा या लगवा कर जला देना, (३) असहिष्णु बनकर किसी के पशुओं को अंगभंग करना या करा देना, (४) अतिरौद्र बनकर किसी की पशुशाला को झाड़ियों से ढक कर आग लगा या लगवा देना। (५) कुपित होकर किसी के कुण्डल, मणि आदि बहुमूल्य पदार्थों का हरण करना-कराना (६) अभीष्ट स्वार्थ सिद्ध न होने से क्रुद्ध होकर श्रमणों या माहनों के उपकरण चुराना या चोरी करवाना (७) अकारण ही किसी गृहस्थ की फसल में आग लगा या लगवा देना, (८) अकारण ही किसी के पशुओं का अंगभंग करना या करा देना। (९) अकारण ही किसी व्यक्ति की पशुशाला में कटीली झाड़ियों से ढक कर आग लगा या लगवा देना, (१०) अकारण ही किसी गृहस्थ के बहुमूल्य आभूषण या रत्न आदि चुरा लेना या चोरी करवाना, (११) साधु-द्रोही दुष्टमनोवृत्ति-वश साधुओं का अपमान, तिरस्कार करना, दूसरो के समक्ष उन्हें नीचा दिखाना, बदनाम करना आदि नीच व्यवहार करना, इन सब पापकृत्यों का भयंकर दुष्परिणाम उन्हें भोगना पड़ता है।

उनकी विषयसुखभोगमयी चर्या—इसी सूत्र (७१०) में उन अधर्मपक्षीय लोगों के प्रातःकाल से लेकर रात्रि के शयनकाल तक की भोगी-विलासी जीवनचर्या का वर्णन भी किया गया है।

उनके विषय में अनार्यों और आर्यो का अभिप्राय—अनार्य लोग उनकी भोगमग्न जिंदगी देख कर उन्हें देवतुल्य देव से भी श्रेष्ठ, आश्रितों का पालक आदि बताते है, आर्यलोग उनकी वर्तमान विषय सुखमग्नता के पीछे हिंसा आदि महान् पापों का परिणाम देखकर इन्हें क्रूरकर्मा, धूर्त, शरीर-पोषक, विषयों के कीड़े आदि बताते हैं।

अधर्मपक्ष के अधिकारी—शास्त्रकार ने तीन कोटि के व्यक्ति बताए है—(१) प्रव्रजित होकर इस विषयसुखसाधनमय स्थान को पाने के लिए लालायित, (२) इस भोगग्रस्त अधर्म स्थान को पाने की लालसा करनेवाले गृहस्थ और (३) इस भोगविलासमय जीवन को पाने के लिए तरसने वाले तृष्णान्ध या विषयसुखभोगान्ध व्यक्ति।

अधर्मपक्ष का स्वरूप—इस अधर्मपक्ष को एकान्त अनार्य, अकेवल, अपरिपूर्ण आदि तथा एकान्त मिथ्या और अहितकर बताया गया है।[2]

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३१८ से ३२६ तक का सारांश

[2] वही, पत्रांक ३१८ से ३२६ तक का निष्कर्ष

धर्मपक्ष नामक द्वितीय स्थान के विकल्प

७११. अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जति—इह खलु पाईणं वा पडीणं वा उदीणं वा दाहिणं वा संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तंजहा—आरिया वेगे अणारिया वेगे, उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे, कायमंता वेगे ह्रस्समंता वेगे, सुवण्णा वेगे दुवण्णा वेगे, सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे, तेसिं च णं खेत्तवत्थूणि परिग्गहियाणि भवंति, एसो आलावगो तहा णेतव्वो जहा पोंडरीए[1] जाव सव्वोवसंता सव्वताए परिनिव्वुड त्ति बेमि। एस ठाणे आरिए केवले जाव[2] सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू, दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिते।

७११. इसके पश्चात् द्वितीय स्थान धर्मपक्ष का विकल्प इस प्रकार कहा जाता है—इस मनुष्यलोक में पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं में अनेक प्रकार के मनुष्य रहते हैं, जैसे कि—कई आर्य होते हैं, कई अनार्य अथवा कई उच्चगोत्रीय होते हैं, कई नीचगोत्रीय, कई विशालकाय (लम्बे कद के) होते हैं, कई ह्रस्वकाय (छोटे-नाटे कद के) कई अच्छे वर्ण के होते हैं, कई खराब वर्ण के अथवा कई सुरूप (अच्छे डीलडौल के) होते हैं, कई कुरूप (बेडौल या अंगविकल)। उन मनुष्यों के खेत और मकान परिग्रह होते हैं। यह सब वर्णन जैसे 'पौण्डरीक' के प्रकरण में किया गया है, वैसा ही यहाँ (इस आलापक में) समझ लेना चाहिए। यहाँ से लेकर—'जो पुरुष समस्त कषायों से उपशान्त हैं, समस्त इन्द्रिय भोगों से निवृत्त हैं, वे धर्मपक्षीय हैं, ऐसा मैं (सुधर्मास्वामी) कहता हूँ'—यहाँ तक उसी (पौण्डरीक प्रकरणगत) आलापक के समान कहना चाहिए। यह (द्वितीय) स्थान आर्य है, केवलज्ञान की प्राप्ति का कारण है, (यहाँ से लेकर) 'समस्त दुःखों का नाश करनेवाला मार्ग है' (यावत्—तक)। यह एकान्त सम्यक् और उत्तम स्थान है।

इस प्रकार धर्मपक्षनामक द्वितीय स्थान का विचार प्रतिपादित किया गया है।

विवेचन—धर्मपक्षनामक द्वितीय स्थान के विकल्प—प्रस्तुत सूत्र में धर्मपक्षनामक द्वितीय स्थान के स्वरूप की झांकी दी गई है। तीन विकल्पों द्वारा इसका विवरण प्रस्तुत किया गया है—

धर्मपक्ष के अधिकारी—इस सूत्र में सर्वप्रथम धर्मपक्ष के अधिकारीगण के कतिपय नाम गिनाए हैं, इन सबका निष्कर्ष यह है कि सभी दिशाओं, देशों, आर्य-अनार्यवंशों, समस्त रंग-रूप, वर्ण एवं जाति में उत्पन्न जन धर्मपक्ष के अधिकारी हो सकते हैं। इस पर किसी एक विशिष्ट वर्ण, जाति वंश, देश आदि का अधिकार नहीं है। हाँ, इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि अनार्यदेशोत्पन्न या अनार्यवंशज व्यक्तियों में जो दोष बताये गए हैं, उन दोषों से रहित उत्तम आचार में प्रवृत्त, धर्मिष्ठजन ही धर्मपक्ष के अधिकारी होंगे।[3]

धर्मपक्षीय व्यक्तियों की अर्हताएँ—पौण्डरीक अध्ययन में जो अर्हताएँ दुर्लभ पुण्डरीक को

---

[1] यहाँ 'जहा पोंडरीए' से 'परिग्गहियाणि भवंति'—से आगे पुण्डरीक अध्ययन के सूत्र संख्या ६६७ के 'तंजहा—अप्पयरा वा भुज्जयरा वा' से लेकर सूत्र संख्या ६९१ के 'ते एवं सव्वोवरता' तक का सारा पाठ समझ लेना चाहिए।

[2] यहाँ 'जाव' शब्द से **पडिपुणे** से लेकर **'सव्वदुक्खपहीणमग्गे'** तक का पाठ समझ लेना चाहिए।

[3] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३२६ के आधार पर।

प्राप्त करने वाले भिक्षु की प्रतिपादित की गई हैं, वे सब अर्हताएँ धर्मपक्षीय साधक में होनी आवश्यक हैं। यहाँ तक कि उसके समस्त कषाय उपशान्त होते हैं तथा वह समस्त इन्द्रियविषयों की आसक्ति से निवृत्त होता है।

धर्मपक्ष-स्थान का रूप—यह पक्ष पूर्वोक्त अधर्मपक्षनामक प्रथम स्थान से ठीक विपरीत है। अर्थात्—यह स्थान आर्य, केवल, प्रतिपूर्ण, नैयायिक, संशुद्ध, शल्यकर्तन, सिद्धिमार्ग, मुक्तिमार्ग, निर्वाणमार्ग, निर्याणमार्ग, सर्वदुःख-प्रहीणमार्ग है। एकान्त सम्यक् है, श्रेष्ठ है।[1]

तृतीयस्थान : मिश्रपक्ष का अधिकारी एवं स्वरूप

७१२. अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभंगे एवमाहिज्जति—जे इमे भवंति आरण्णिया गामणियंतिया कण्हुइराहस्सिता जाव[2] ततो विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमूयत्ताए पच्चायंति, एस ठाणे अणारिए अकेवले जाव[3] असव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू, एस खलु तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभंगे एवमाहिते।

७१२. इसके पश्चात् तीसरे स्थान मिश्रपक्ष का विकल्प (विभंग) इस प्रकार कहा जाता है—(इसके अधिकारी वे हैं) जो ये आरण्यक (वन में रहने वाले तापस) हैं, यह जो ग्राम के निकट झोंपड़ी या कुटिया बनाकर रहते हैं, अथवा किसी गुप्त (रहस्यमय) क्रिया का अनुष्ठान करते हैं, या एकान्त में रहते हैं, यावत् (वे पूर्वोक्त आचार-विचार वाले शब्दादि काम-भोगों में आसक्त होकर कुछ वर्षों तक उन विषयभोगों का उपभोग करके आसुरी किल्विषी योनि में उत्पन्न होते हैं) फिर वहाँ से देह छोड़कर इस लोक में बकरे की तरह मूक के रूप में या जन्मान्ध (द्रव्य से अन्ध एवं अज्ञानान्ध) के रूप में आते (जन्म लेते) हैं। (वे जिस मार्ग का आश्रय लेते हैं, उसे 'मिश्रस्थान' कहते हैं।) यह स्थान अनार्य (आर्यपुरुषों द्वारा अनाचरणीय) है, केवलज्ञान-प्राप्ति से रहित है, यहाँ तक कि (पूर्वोक्त पाठानुसार) यह समस्त दुःखों से मुक्त करानेवाला मार्ग नहीं है। यह स्थान एकान्त मिथ्या और बुरा (असाधु) है।

इस प्रकार यह तीसरे मिश्रस्थान का विचार (विभंग) कहा गया है।

विवेचन—तृतीय स्थानः मिश्रपक्ष का अधिकारी एवं स्वरूप—प्रस्तुत सूत्र में मिश्रित पक्ष के स्वरूप तथा उसके अधिकारी का निरूपण किया गया है।

मिश्रपक्ष—इस स्थान को मिश्रपक्ष इसलिए कहा गया है कि इसमें न्यूनाधिक रूप में पुण्य और पाप दोनों रहते हैं। इस पक्ष में पाप की अधिकता, और पुण्य की यत्किञ्चित् स्वल्प मात्रा रहती है। वृत्तिकार कहते हैं कि यद्यपि इसके अधिकारी मिथ्यादृष्टि होते हैं, और वे अपनी दृष्टि के अनुसार हिंसा आदि से निवृत्ति करते हैं, तथापि मिथ्यात्व युक्त होने—अशुद्ध होने से ऊषर भूमि पर वर्षा की तरह या नये-नये पित्तप्रकोप में शर्करा-मिश्रित दुग्धपान की तरह विवक्षित अर्थ (मोक्षार्थ)

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३२६ का सारांश

[2] यहाँ 'जाव' शब्द से 'णोबहुसंजया' से 'उववत्तारो भवंति' तक का सारा पाठ सूत्र ७०६ के अनुसार समझें।

[3] यहाँ 'जाव' शब्द से 'अकेवले' से लेकर 'असव्वदुक्खपहीणमग्गे' तक का पाठ सूत्र ७९० के अनुसार समझें।

को सिद्ध नहीं करते, अतः उसकी निवृत्ति निरर्थक है। मिथ्यात्व के तीव्र प्रभाव के कारण मिश्रपक्ष को अधर्म ही समझना चाहिए।

अधिकारी—इसके अधिकारी कन्दमूलफलभोजी तापस आदि हैं। ये किसी पापस्थान से किञ्चित् निवृत्त होते हुए भी इनकी बुद्धि प्रबलमिथ्यात्व से ग्रस्त रहती है। इनमें से कई उपवासादि तीव्र कायक्लेश के कारण देवगति में जाते हैं, परन्तु वहाँ अधम आसुरी योनि में उत्पन्न होते हैं।[1]

प्रथमस्थान : अधर्मपक्ष : वृत्ति, प्रवृत्ति एवं परिणाम

७१३. अहावरे पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जति—इह खलु पाईणं वा ४ संतेगतिया मणुस्सा भवंति महिच्छा महारंभा[2] महापरिग्गहा अधम्मिया अधम्माणुया[3] अधम्मिट्ठा अधम्मक्खाई अधम्मपायजीविणो अधम्मपलोइणो अधम्मलज्जणा अधम्मसीलसमुदायारा अधम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति। हण छिंद भिंद विगत्तगा लोहितपाणी चंडा रुद्दा खुद्दा साहसिया उक्कंचण-वंचण-माया-णियडि-कूड-कवड-सातिसंपओगबहुला दुस्सीला दुव्वता दुप्पडियाणंदा असाधू सव्वातो पाणातिवायाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए जाव सव्वातो परिग्गहातो अप्पडिविरया जावज्जीवए, सव्वातो कोहातो जाव मिच्छादंसणसल्लातो अप्पडिविरया, सव्वातो ण्हाणुम्मद्दण-वण्णग-विलेवण-सद्द-फरिस-रस-रूव-गंध-मल्लालंकारातो अप्पडिविरता जावज्जीवाए, सव्वातो सगड-रह-जाण-जुग्ग-गिल्लि-थिल्लि-सीय-संदमाणिया-सयणा-ऽऽसण-जाण-वाहण-भोग-भोयणपवित्थरविहीतो अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वातो कय-विक्कय-मास-ऽद्धमास-रूवगसंववहाराओ अप्पडिविरता जावज्जीवाए, सव्वातो हिरण्ण-सुवण्ण-धण-धण्ण-मणि-मोत्तिय-संख-सिल-प्पवालाओ अप्पडिविरया, सव्वातो कूडतुल-कूडमाणाओ अप्पडिविरया, सव्वातो आरंभसमारंभातो अप्पडिविरया सव्वातो करण-कारावणातो अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वातो पयण-पयावणातो अप्पडिविरया, सव्वातो कुट्टण-पिट्टण-तज्जण-तालण-वह-बंधपरिकिलेसातो अप्पडिविरता जावज्जीवाए, जे यावऽण्णे तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरितावणकरा जे अणारिएहिं कज्जंति ततो वि अप्पडिविरता जावज्जीवाए।

से जहाणामए केइ पुरिसे कलम-मसूर-तिल-मुग्ग-मास-णिप्फाव-कुलत्थ-आलिसंदग-पलिमंथ-गमादिएहिं अयते कूरे मिच्छादंडं पउंजति, एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाते तित्तिर-वट्टग-लावग-कवोत-कविंजल-मिय-महिस-वराह-गाह-गोह-कुम्म-सिरीसिवमादिएहिं अयते कूरे मिच्छादंडं पउंजति।

जा वि य से बाहिरिया परिसा भवति, तंजहा—दासे ति वा पेसे ति वा भयए ति वा भाइल्ले ति वा कम्मकरए ति वा भोगपुरिसे ति वा तेसिं पि य णं अन्नयरंसि अहालहुसगंसि अवराहंसि सयमेव

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३२७

२. देखिये दशाश्रुतस्कन्ध में उल्लिखित अक्रियावादी के वर्णन से तुलना—'....महिच्छे महारम्भे.......आगमेस्साणं दुल्लभबोधिते यावि भवति, से तं अकिरियावादी भवति।' —दशाश्रुत. अ. ६ प्रथम उपासक प्रतिमावर्णन

३. तुलना—'अधम्मिया अधम्माणुया...... अधम्मेणा चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहंरित।' —औपपातिक सूत्र सं. ४१

गरुयं दंडं निव्वत्तेई, तंजहा—इमं दंडेह, इमं मुंडेह, इमं तज्जेह, इमं तालेह, इमं अदुयबंधणं करेह, इमं नियलबंधणं करेह, इमं हडिबंधणं करेह, इमं चारगबंधणं करेह, इमं नियलजुयलसंकोडियमोडियं करेह, इमं हत्थच्छिण्णयं करेह, इमं पायच्छिण्णयं करेह, इमं कण्णच्छिण्णयं[1] करेह, सीस-मुहच्छिण्णयं करेह, इमं नक्क-उट्ठच्छिण्णयं करेह, वेगच्छच्छिण्णयं करेह, हिययुप्पाडिययं करेह, इमं णयणुप्पाडिययं करेह, इमं दसणुप्पाडिययं करेह, इमं वसणुप्पाडिययं करेह, जिब्भुप्पाडिययं करेह, ओलंबितयं करेह, उल्लंबिययं करेह, घंसियं करेह, घोलियं करेह, सूलाइअयं करेह, सूलाभिण्णयं करेह, खारवत्तियं करेह, वब्भवत्तियं करेह, दब्भवत्तियं करेह, सीहपुच्छियगं करेह, वसहपुच्छियगं कडग्गिदड्ढयं कागणिमंस-खावितयं भत्तपाणनिरुद्धयं करेह, इमं जावज्जीवं वहबंधणं करेह, इमं अण्णतरेणं असुभेणं कुमारेणं मारेह।

जा वि य से अब्भितरिया परिसा भवति, तंजहा-माता ती वा पिता ती वा भाया ती वा भगिणी ति वा भज्जा ति वा पुत्ता इ वा धूता इ वा सुण्हा ति वा, तेसिं पि य णं अन्नयरंसि अहालहुसगंसि अवराहंसि सयमेव गरुयं गंडं वत्तेति, सीओदगवियडंसि ओबोलेत्ता भवति जहा मित्तदोसवत्तिए जाव अहिते परंसि लोगंसि, ते दुक्खंति सोयंति जूरंति तिप्पंति पिड्डंति परितप्पंति ते दुक्खण-सोयण-जूरण-तिप्पण-पिट्ट (ड्डु) ण-परितप्पण-वह वंधणपरिकिलेसातो अपडिविरया भवंति।

एवामेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिता अज्झोववन्ना जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं भुंजित्तु भोगभोगाइं पसवित्ता वेरायतणाइं संचिणित्ता बहूणि कूराणि कम्माइं उस्सण्णं संभारकडेण कम्मुणा से जहाणामए अयगोले ति वा सेलगोले ति वा उदगंसि पक्खित्ते समाणे उदगतलमतिवतित्ता अहे धरणितलपइट्ठाणे भवति, एवामेव तहप्पगारे पुरिसजाते वज्जबहुले धुन्नबहुले पंकबहुले वेरबहुले अप्पत्तियबहुले दंभबहुले णियडिबहुले साइबहुले अयसबहुले उस्सण्णं तसपाणघाती कालमासे कालं किच्चा धरणितलमतिवतित्ता अहे णरगतलपतिट्ठाणे भवति।

ते णं णरगा अंतो वट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिता णिच्चंधकारतमसा ववगयगह-चंद-सूर-नक्खत्त-जोतिसपहा मेद-वसा-मंस-रुहिर-पूयपडलचिक्खल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा काऊअगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा णरगा, असुभा णरएसु वेदणाओ, नो चेव णं नरएसु नेरइया णिद्दायंति वा पयलायंति वा सायं वा रतिं वा धितिं वा मतिं वा उवलभंति, ते णं तत्थ उज्जलं विपुलं पगाढं कडुयं कक्कसं चंडं दुक्खं दुग्गं तिव्वं दुरहियासं णिरयवेदणं पच्चणुभवमाणा विहरंति।

से जहाणामते रुक्खे सिया पव्वतग्गे जाते मूले छिन्ने अग्गे गरुए जतो निन्नं जतो विसमं जतो दुग्गं ततो पवडति, एवामेव तहप्पगारे पुरिसजाते गब्भातो गब्भं, जम्मातो जम्मं, माराओ मारं णरगातो णरगं, दुक्खातो दुक्खं, दाहिणगामिए णेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साणं दुल्लभबोहिए यावि भवति,

---

[1] तुलना—कण्णच्छिण्णका णक्कछिण्णका ......णयणुप्पाडियगा ...।

—औपपातिक सूत्र सं. ३८

एस ठाणे अणारिए अकेवले जाव असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू। पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिते।

७१३. इसके पश्चात् प्रथम, स्थान जो अधर्मपक्ष है, उसका विश्लेषणपूर्वक विचार इस प्रकार किया जाता है—इस मनुष्यलोक में पूर्व आदि दिशाओं में कई मनुष्य ऐसे होते हैं, जो (कौटुम्बिक जीवन बितानेवाले) गृहस्थ होते हैं, जिनकी बड़ी-बड़ी इच्छाएं (महत्त्वाकांक्षाएं) होती हैं, जो महारम्भी एवं महापरिग्रही होते हैं। वे अधार्मिक (अधर्माचरण करने वाले), अधर्म का अनुसरण करने या अधर्म की अनुज्ञा देने वाले, अधर्मिष्ठ (क्रूरतायुक्त अधर्म प्रधान, अथवा जिन्हें अधर्म ही इष्ट है), अधर्म की ही चर्चा करनेवाले, अधर्मप्राय: जीवन जीनेवाले, अधर्म को ही देखनेवाले, अधर्म-कार्यों में ही अनुरक्त, अधर्ममय शील (स्वभाव) और आचार (आचरण) वाले एवं अधर्म (पाप) युक्त धंधों से अपनी जीविका (वृत्ति) उपार्जन करते हुए जीवनयापन करते हैं। (उदाहरणार्थ—वे सदैव इस प्रकार की आज्ञा देते रहते हैं—) इन (प्राणियों) को (डंडे आदि से) मारो, इनके अंग काट डालो, इनके टुकड़े-टुकड़े कर दो (या इन्हें शूल आदि में बींध दो)। वे प्राणियों की चमड़ी उधेड़ देते हैं, प्राणियों के खून से उनके हाथ रंगे रहते हैं, वे अत्यन्त चण्ड (क्रोधी), रौद्र (भयंकर) और क्षुद्र (नीच) होते हैं, वे पाप कृत्य करने में अत्यन्त साहसी होते हैं, वे प्राय: प्राणियों को ऊपर उछाल कर शूल पर चढ़ाते हैं, दूसरों को धोखा देते हैं, माया (छल-कपट) करते हैं, बकवृत्ति से दूसरों को ठगते हैं, दम्भ करते हैं (कहते कुछ और तथा करते कुछ और हैं), वे तौल-नाप में कम देते हैं, वे धोखा देने के लिए देश, वेष और भाषा बदल लेते हैं। 'वे दु:शील (दुराचारी या दुष्टस्वभाववाले), दुष्ट-व्रती (मांसभक्षण, मदिरापान आदि बुरे नियम वाले) और कठिनता से प्रसन्न किये जा सकने वाले (अथवा दुराचरण या दुर्व्यवहार करने में आनन्द मानने वाले) एवं दुर्जन होते हैं। जो आजीवन सब प्रकार की हिंसाओं से विरत नहीं होते यहाँ तक कि समस्त असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह से जीवनभर निवृत्त नहीं होते। जो क्रोध से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह ही पाप स्थानों से जीवन भर निवृत्त नहीं होते। वे आजीवन समस्त स्नान, तैल-मर्दन, सुगन्धित पदार्थों का लगाना (वर्णक), सुगन्धित चन्दनादि का चूर्ण लगाना, विलेपन करना, मनोहर कर्ण शब्द, मनोज्ञ रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का उपभोग करना पुष्पमाला एवं अलंकार धारण करना, इत्यादि सब (उपभोग-परिभोगों) का त्याग नहीं करते, जो समस्त गाड़ी (शकट), रथ, यान (जलयान, आकाशयान—विमान, घोड़ागाड़ी आदि स्थलयान) सवारी, डोली, आकाश की तरह अधर रखी जाने वाली सवारी (पालकी) आदि वाहनों तथा शय्या, आसन, वाहन, भोग और भोजन आदि (परिग्रह को विस्तृत करने (बढ़ाते रहने) की विधि (प्रक्रिया) को जीवन भर नहीं छोड़ते, जो सब प्रकार के क्रय-विक्रय तथा माशा, आधा माशा और तोला आदि व्यवहारों से जीवनभर निवृत्त नहीं होते, जो सोना, चांदी, धन, धान्य, मणि, मोती, शंख, शिला, प्रवाल (मूंगा) आदि सब प्रकार के (बहूमूल्य) पदार्थों के) संग्रह से जीवन भर निवृत्त नहीं होते, जो सब प्रकार के खोटे तौल-नाप (कम तोलने—कम नापने, खोटे बाँट या गज मीटर आदि रखने) को आजीवन नहीं छोड़ते, जो सब प्रकार के आरम्भ-समारम्भों का जीवनभर त्याग नहीं करते। वे सभी प्रकार के (सावद्य=पापयुक्त) दुष्कृत्यों को करने-कराने से जीवनभर निवृत्त नहीं होते, जो सभी प्रकार की पचन-पाचन (स्वयं अन्नादि पकाने तथा दूसरों से पकवाने) आदि (सावद्य) क्रियाओं से आजीवन निवृत्त नहीं होते, तथा जो जीवनभर प्राणियों को कूटने, पीटने, धमकाने, प्रहार करने, वध करने और बाँधने तथा उन्हें सब प्रकार से

क्लेश (पीड़ा) देने से निवृत्त नहीं होते, ये तथा अन्य प्रकार के (परपीड़ाकारी) सावद्य कर्म हैं, जो वोधिवीजनाशक हैं, तथा दूसरे प्राणियों को संताप देने वाले हैं, जिन्हें क्रूर कर्म करनेवाले अनार्य करते हैं, उन (दुष्कृत्यों) से जो जीवनभर निवृत्त नहीं होते, (इन सब पुरुषों को एकान्त अधर्मस्थान में स्थित जानना चाहिए।)

जैसे कि कई अत्यन्त क्रूर पुरुष चावल, (या कलाई, गवार), मसूर, तिल, मूंग, उड़द, निष्पाव (एक प्रकार का धान्य या वालोर) कुलत्थी, चंवला, परिमंथक (धान्यविशेष, काला चना) आदि (के हरे पौधों या फसल) को अपराध के विना (अकारण) व्यर्थ (निष्प्रयोजन) ही दण्ड देते (हनन करते) हैं। इसी प्रकार तथाकथित अत्यन्त क्रूर पुरुष तीतर, बटेर (या वत्तख), लावक, कबूतर, कपिंजल, मृग, भैंसे, सूअर, ग्राह (घड़ियाल या मगरमच्छ), गोह, कछुआ, सरीसृप (जमीन पर सरक कर चलने वाले) आदि प्राणियों को अपराध के विना व्यर्थ ही दण्ड देते हैं।

उन (क्रूर पुरुषों) की जो वाह्य परिषद् होती है, जैसे दास, या संदेशवाहक (प्रेष्य) अथवा दूत, वेतन या दैनिक वेतन पर रखा गया नौकर, (उपज का छठाभाग लेकर) बटाई (भाग) पर काम करने वाला अन्य काम-काज करने वाला (कर्मकर) एवं भोग की सामग्री देने वाला, इत्यादि।

इन लोगों में से किसी का जरा-सा भी अपराध हो जाने पर ये (क्रूरपुरुष) स्वयं उसे भारी दण्ड देते हैं। जैसे कि—इस पुरुष को दण्ड दो या डंडे से पीटो, इसका सिर मूंड दो, इसे डांटो—फटकारो, इसे लाठी आदि से पीटो, इसकी बाँहें पीछे को बाँध दो, इसके हाथ-पैरों में हथकड़ी और वेड़ी डाल दो, उसे हाडीवन्धन में दे दो, इसे कारागार में वंद कर दो, इसे हथकड़ी-वेड़ियों से जकड़ कर इसके अंगों को सिकोड़कर मरोड़ दो, इसके हाथ काट डालो, इसके पैर काट दो, इसके कान काट लो, इसका सिर और मुंह काट दो, इसके नाक-ओठ काट डालो, इसके कंधे पर मार कर आरे से चीर डालो, इसके कलेजे का मांस निकाल लो, इसकी आँखें निकाल लो, इसके दाँत उखाड़ दो इसके अण्डकोश उखाड़ दो, इसकी जीभ खींच लो, इसे उल्टा लटका दो, इसे ऊपर या कुंए में लटका दो, इसे जमीन पर घसीटो, इसे (पानी में) डुवो दो या घोल दो, इसे शूली में पिरो दो, इसके शूल चुभो दो, इसके टुकड़े-टुकड़े कर दो, इसके अंगों को घायल करके उस पर नमक छिड़क दो, इसे मृत्युदण्ड दे दो, (या चमड़ी उधेड़ कर उसे वंट कर रस्सा-सा वना दो), इसे सिंह की पूंछ में बाँध दो (या चमड़ी काट कर सिंह पुच्छ काट वना दो) या उसे बैल की पूंछ के साथ बाँध दो, इसे दावाग्नि में झौंक कर जला दो, (अथवा इसके चटाई लपेट कर आग से जला दो), इसका माँस काट कर कौओं को खिला दो, इस को भोजन-पानी देना वंद कर दो, इसे मार-पीट कर जीवनभर कैद में रखो, इसे इनमें से किसी भी प्रकार से बुरी मौत मारो, (या इसे बुरी तरह से मार-मार कर जीवनरहित कर दो)।

इन क्रूर पुरुषों की जो आभ्यन्तर परिषद होती है, वह इस प्रकार है जैसे कि—माता, पिता भाई, वहन, पत्नी, पुत्र, पुत्री, अथवा पुत्रवधू आदि। इनमें से किसी का जरा-सा भी अपराध होने पर वे क्रूरपुरुष उसे भारी दण्ड देते हैं। वे उसे शर्दी के दिनों में ठंडे पानी में डाल देते हैं। जो-जो दण्ड मित्रद्वेषप्रत्ययिक क्रियास्थान में कहे गए हैं, वे सभी दण्ड वे इन्हें देते हैं। वे ऐसा करके स्वयं अपने परलोक का अहित करते (शत्रु वन जाते) हैं। वे (क्रूरकर्मा पुरुष) अन्त में दुःख पाते हैं, शोक करते हैं, पश्चात्ताप करते हैं, (या विलाप करते हैं), पीड़ित होते हैं, संताप पाते हैं, वे दुःख, शोक, विलाप (या पश्चात्ताप) पीड़ा, संताप, एवं वध-वंध आदि क्लेशों से निवृत्त (मुक्त) नहीं हो पाते।

इसी प्रकार वे अधार्मिक पुरुष स्त्रीसम्बन्धी तथा अन्य विषयभोगों में मूर्च्छित, गृद्ध, अत्यन्त आसक्त (रचे-पचे, या ग्रस्त) तथा तल्लीन हो कर पूर्वोक्त प्रकार से चार, पाँच या छह या अधिक से अधिक दस वर्ष तक अथवा अल्प या अधिक समय तक शब्दादि विषयभोगों का उपभोग करके प्राणियों के साथ वैर का पुंज बांध करके, बहुत-से क्रूरकर्मों का संचय करके पापकर्म के भार से इस तरह दब जाते हैं, जैसे कोई लोहे का गोला या पत्थर का गोला पानी में डालने पर पानी के तल (सतह) का अतिक्रमण करके भार के कारण (नीचे) पृथ्वीतल पर बैठ जाता है, इसी प्रकार (पापकर्मों के भार से दबा हुआ) अतिक्रूर पुरुष अत्यधिक पाप से युक्त पूर्वकृत कर्मो से अत्यन्त भारी, कर्मपंक से अतिमलिन, अनेक प्राणियों के साथ वैर बाँधा हुआ, (या कुविचारों से परिपूर्ण), अत्यधिक अविश्वासयोग्य, दम्भ से पूर्ण, शठता या वंचना में पूर्ण, देश, वेष एवं भाषा को बदल कर धूर्तता करने में अतिनिपुण, जगत् में अपयश के काम करने वाला, तथा त्रसप्राणियों के घातक; भोगों के दलदल में फंसा हुआ वह पुरुष आयुष्यपूर्ण होते ही मरकर रत्नप्रभादि भूमियों को लाँघ कर नीचे के नरकतल में जाकर स्थित होता है।

वे नरक अन्दर से गोल और बाहर से चौकोन (चतुष्कोण) होते हैं, तथा नीचे उस्तरे की धार के समान तीक्ष्ण होते हैं। उनमें सदा घोर अन्धकार रहता है। वे ग्रह चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र और ज्योतिष्कमण्डल की प्रभा (प्रकाश) से रहित हैं। उनका भूमितल मेद, चर्बी, मांस, रक्त, और मवाद की परतों से उत्पन्न कीचड़ से लिप्त है। वे नरक अपवित्र, सड़े हुए मांस से युक्त, अतिदुर्गन्ध पूर्ण और काले हैं। वे सधूम अग्नि के समान वर्ण वाले, कठोर स्पर्श वाले और दुःसह्य हैं। इस प्रकार नरक बड़े अशुभ हैं और उनकी वेदनाएं भी बहुत अशुभ हैं। उन नरकों में रहने वाले नैरयिक न कभी निद्रासुख प्राप्त करते हैं, न उन्हें प्रचलानिद्रा आती है, और न उन्हें श्रुति (धर्मश्रवण), रति (किसी विषय में रुचि) धृति (धैर्य) एवं मति (सोचने विचारने की बुद्धि) प्राप्त होती है। वे नारकीय जीव वहाँ कठोर, विपुल, प्रगाढ़, कर्कश, प्रचण्ड (उग्र), दुर्गम्य, दुःखद, तीव्र, दुःसह वेदना भोगते हुए अपना समय (आयुष्य) व्यतीत करते हैं।

जैसे कोई वृक्ष पर्वत के अग्रभाग में उत्पन्न हो, उसकी जड़ काट दी गई हो, वह आगे से भारी हो, वह जिधर नीचा होता है, जिधर विषम होता है, जिधर दुर्गम स्थान होता है, उधर ही गिरता है, इसी प्रकार गुरुकर्मा पूर्वोक्त पापिष्ठ पुरुष एक गर्भ से दूसरे गर्भ को, एक जन्म से दूसरे जन्म को, एक मरण से दूसरे मरण को, एक नरक से दूसरे नरक को तथा एक दुःख से दूसरे दुःख को प्राप्त करता है।

वह दक्षिणगामी नैरयिक, कृष्णपाक्षिक तथा भविष्य में दुर्लभ-बोधि होता है।

अतः यह अधर्मपक्षीय प्रथम स्थान अनार्य है, केवलज्ञानरहित है, यावत् समस्त दुःखों का नाशक मार्ग नहीं है। यह स्थान एकान्त मिथ्या एवं बुरा (असाधु) है।

इस प्रकार अधर्मपक्षनामक प्रथम स्थान का विचार किया गया है।

विवेचन—प्रथमस्थान : अधर्मपक्ष : वृत्ति, प्रवृत्ति एवं परिणाम—प्रस्तुत सूत्र में अधर्मपक्षी के अधिकारी—गृहस्थ की मनोवृत्ति, उसकी प्रवृत्ति और उसके परिणाम पर विचार प्रस्तुत किया है।

वृत्ति-प्रवृत्ति—अधर्मपक्ष के अधिकारी विश्व में सर्वत्र हैं। वे बड़ी-बड़ी आकांक्षाएँ रखते हैं, महारम्भी, महापरिग्रही एवं अधर्मिष्ठ होते हैं। अठारह ही पापस्थानों में लिप्त रहते हैं। स्वभाव

से निर्दय, दम्भी, धोखेबाज, दुराचारी, छलकपट-निपुण, अतिक्रोधी, अतिमानी, अतिसाहसी एवं अतिरौद्र होते हैं। छोटी-छोटी बात पर क्रुद्ध होकर अपने स्वजनों एवं अनुचरों को भयंकर बड़ा से बड़ा दण्ड दे बैठते हैं। वे पंचेन्द्रिय विषयों में गाढ आसक्त एवं काम-भोगों में लुब्ध रहते हैं।

परिणाम—वे इहलोक में सदा दुःख, शोक, संताप, मानसिक क्लेश, पीड़ा, पश्चात्ताप आदि से घिरे रहते हैं, तथा यहाँ अनेक प्राणियों के साथ वैर बाँध कर, अधिकाधिक विषयभोगों का उपभोग करके कूटकर्म संचित करके परलोक में जाते हैं। वहाँ नीचे की नरक भूमि में उनका निवास होता है, जहाँ निद्रा, धृति, मति, रति, श्रुति, बोधि आदि सब लुप्त हो जाती हैं। असह्य वेदनाओं और यातनाओं में ही उसका सारा लम्बा जीवन व्यतीत होता है। उसके पश्चात् भी चिरकाल तक वह संसार में परिभ्रमण करता है।[1]

द्वितीय स्थान—धर्मपक्ष : अधिकारी, वृत्ति, प्रवृत्ति, सुपरिणाम

७१४. अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ—इह खलु पाईणं वा ४ संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तं जहा—अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुगा धम्मिट्ठा जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति, सुसीला सुव्वता सुप्पडियाणंदा सुसाहू सव्वातो पाणातिवायातो पडिविरता जावज्जीवाए जाव जे यावऽण्णे तहप्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरितावणकरा कज्जंति ततो वि पडिविरता जावज्जीवाए।

से जहानामए[2] अणगारा भगवंतो इरियासमिता भासासमिता एसणासमिता आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमिता उच्चार-पासवण-खेल-सिंघाण-जल्लपारिट्ठावणियासमिता मणसमिता वइसमिता कायसमिता मणगुत्ता वइगुत्ता कायगुत्ता[3] गुत्ता गुत्तिंदिया गुत्तबंभचारी अकोहा अमाणा अमाया अलोभा संता पसंता उवसंता परिणिव्वुडा अणासवा अगंथा छिन्नसोता निरुवलेवा कंसपाई व मुक्कतोया, संखो इव णिरंगणा, जीवो इव अप्पडिहयगती, गगणतलं पि व निरालंबणा, वायुरिव अपडिबद्धा, सारदसलिलं व सुद्धहियया, पुक्खरपत्तं व निरुवलेवा, कुम्मो इव गुत्तिंदिया, विहग इव विप्पमुक्का, खग्गविसाणं व एगजाया, भारंडपक्खी व अप्पमत्ता, कुंजरो इव सोंडीरा, वसभो इव जातत्थामा, सीहो इव दुद्धरिसा, मंदरो इव अप्पकंपा, सागरो इव गंभीरा, चंदो इव सोमलेसा, सूरो इव दित्ततेया, जच्चकणगं व जातरूवा, वसुंधरा इव सव्वफासविसहा, सुहुतहुयासणो विव तेयसा जलंता।

णत्थि णं तेसिं भगवंताणं कत्थइ पडिबंधे भवति, से य पडिबंधे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—अंडए ति वा पोयए इ वा उग्गहिए ति वा पग्गहिए ति वा, जण्णं जण्णं दिसं इच्छंति तण्णं तण्णं दिसं अप्पडिबद्धा सुइब्भूया लहुब्भूया अणुप्पग्गंथा संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति।

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३२८ से ३३१ तक का निष्कर्ष

[2] तुलना—औपपातिक सूत्र में यह पाठ प्रायः समान है।—औप सू. १७

[3] पाठान्तर—गुत्तागुत्तेंदिया गुप्तानि शब्दादिषु रागादिनिरोधात्, अगुप्तानि च आगमश्रवणेर्यासमित्यादिषु अनिरोधादिन्द्रियाणि येषां ते।" अर्थात्—रागादि का निरोध होने से शब्दादि में जिनकी इन्द्रियाँ गुप्त हैं, तथा आगमश्रवण, ईर्यासमिति आदि में निरोध न होने से जिनकी इन्द्रियाँ अगुप्त हैं।

—औपपातिक सू० वृत्ति पृ० ३५

तेसिं णं भगवंता णं इमा एतारूवा जायामायावित्ती होत्था, तं जहा—चउत्थे भत्ते, छट्ठे भत्ते अट्ठमे भत्ते, दसमे भत्ते, दुवालसमे भत्ते, चोद्दसमे भत्ते, अद्धमासिए भत्ते, मासिए भत्ते, दोमासिए भत्ते, तेमासिए भत्ते चउम्मासिए भत्ते, पंचमासिए भत्ते, छम्मासिए भत्ते, अदुत्तरं च णं उक्खित्तचरगा णिक्खित्तचरगा उक्खित्तणिक्खित्तचरगा अंतचरगा पंतचरगा लूहचरगा समुदाणचरगा संसट्ठचरगा असंसट्ठचरगा तज्जातसंसट्ठचरगा दिट्ठलाभिया अदिट्ठलाभिया पुट्ठलाभिया अपुट्ठलाभिया भिक्खलाभिया अभिक्खलाभिया अण्णातचरगा अन्नगिलातचरगा ओवणिहिता संखादत्तिया परिमितपिंडवातिया सुद्धेसणिया अंताहारा पंताहारा अरसाहारा विरसाहारा लहाहारा तुच्छाहारा अंतजीवी पंतजीवी पुरिमड्ढिया आयंबिलिया निव्विगतिया अमज्ज-मंसासिणो णो णियामरसभोई ठाणादीता पडिमट्ठादी णेसज्जिया वीरासणिया दंडायतिया लगंडसाईणो आयावगा अवाउडा अकंडुया अणिट्ठुहा धुतकेस-मंसु-रोम-नहा सव्वगायपडिकम्मविप्पमुक्का चिट्ठंति।

ते णं एतेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति, बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता आबाहंसि उप्पण्णंसि वा अणुप्पण्णंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खाइंति, [बहूइं भत्ताइं] पच्चक्खित्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, बहूणि भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता जस्सट्ठाए कीरति नग्गभावे मुंडभावे अण्हाणगे अदंतवणगे अछत्तए अणोवाहणए भूमिसेज्जा फलगसेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोए बंभचेरवासे परघरपवेसे लद्धावलद्ध-माणावमाणणाओ हीलणाओ निंदणाओ खिंसणाओ गरहणाओ तज्जणाओ तालणाओ उच्चावया गामकंटगा बावीसं परीसहोवसग्गा अहियासिज्जंति तमट्ठं आराहेंति, तमट्ठं आराहित्ता चरमेहिं उस्सासनिस्सासेहिं अणंतं अणुत्तरं निव्वाघातं निरावरणं कसिणं पडिपुण्णं केवलवरणाण-दंसणं समुप्पाडेंति, समुप्पाडित्ता ततो पच्छा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति, एगच्चा पुण एगे गंतारो भवंति, अवरे पुण पुव्वकम्मावसेसेणं कालमासे कालं किच्चा अण्णतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तं जहा—महिड्ढीएसु महज्जुतिएसु महापरक्कमेसु महाजसेसु महब्बलेसु महाणुभावेसु महासोक्खेसु, ते णं तत्थ देवा भवंति महिड्ढिया महज्जुतिया जाव महासुक्खा हारविराइतवच्छा कडगतुडितथंभितभुया सं (अं ?) गयकुंडलमट्ठगंडतलकण्णपीढधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमालामउलिमउडा कल्लाणगपवरवत्थपरिहिता कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा भासरबोंदी पलंबवणमालाधरा दिव्वेणं रूवेणं दिव्वेणं वण्णेणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघाएणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुतीए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए दस दिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा गतिकल्लाण ठितिकल्लाणा आगमेस्सभद्दया[1] वि भवंति, एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साधू। दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिते।

७१४. इसके पश्चात् दूसरे धर्मपक्ष का विवरण इस प्रकार है—

इस मनुष्यलोक में पूर्व आदि दिशाओं में कई पुरुष ऐसे होते हैं, जो अनारम्भ

---

[1] आगमेसि भद्देति—'आगमेसभवग्गहणेसिज्झंति'—भविष्य भव में मनुष्य ग्रहण करके सिद्ध होते हैं।

—सू० चू० (मू. पा. टि.) पृ० १८७

(आरम्भरहित), अपरिग्रह (परिग्रहविरत) होते हैं, जो धार्मिक होते हैं, धर्मानुसार प्रवृत्ति करते हैं या धर्म की अनुज्ञा देते हैं, धर्म को अपना इष्ट मानते हैं, या धर्मप्रधान होते हैं, धर्म की ही चर्चा करते हैं, धर्ममयजीवी, धर्म को ही देखने वाले, धर्म में अनुरक्त, धर्मशील तथा धर्माचारपरायण होते हैं, यहाँ तक कि वे धर्म से ही अपनी जीविका उपार्जन करते हुए जीवनयापन करते हैं, जो सुशील, सुव्रती, शीघ्रसुप्रसन्न होने वाले (सदानन्दी) और उत्तम सुपुरुष होते हैं। जो समस्त प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक जीवनभर विरत रहते हैं। जो स्नानादि से आजीवन निवृत्त रहते हैं, समस्त गाड़ी, घोड़ा, रथ आदि वाहनों से आजीवन विरत रहते हैं, क्रय-विक्रय पचन, पाचन सावद्यकर्म करने-कराने, आरम्भ-समारम्भ आदि से आजीवन निवृत्त रहते हैं, स्वर्ण-रजत धनधान्यादि सर्वपरिग्रह से आजीवन निवृत्त रहते हैं, यहाँ तक कि वे परपीड़ाकारी समस्त सावद्य अनार्य कर्मो से यावज्जीवन विरत रहते हैं।

वे धार्मिक पुरुष अनगार (गृहत्यागी) भाग्यवान् होते हैं। वे ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदान भाण्डमात्र निक्षेपणासमिति, उच्चार-प्रस्रवण-खेल-जल्ल-सिंघाण-परिष्ठापनिका समिति, इन पाँच समितियों से युक्त होते हैं तथा मनःसमिति, वचनसमिति, कायसमिति, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति से भी युक्त होते हैं। वे अपनी आत्मा को पापों से गुप्त (सुरक्षित) रखते हैं, अपनी इन्द्रियों को विषयभोगों से गुप्त (सुरक्षित) रखते हैं, और ब्रह्मचर्य का पालन नौ गुप्तियों सहित करते हैं। वे क्रोध, मान, माया और लोभ से रहित होते हैं। वे शान्ति तथा उत्कृष्ट (बाहर भीतर की) शान्ति से युक्त और उपशान्त होते हैं। वे समस्त संतापों से रहित, आश्रवों से रहित, बाह्य-आभ्यन्तर-परिग्रह से रहित होते हैं, इन महात्माओं ने संसार के स्रोत (प्रवाह) का छेदन कर दिया है, ये कर्ममल के लेप से रहित होते हैं। वे जल के लेप से रहित कांसे की पात्री (वर्तन) की तरह कर्ममल के लेप से रहित होते हैं। जैसे शंख कालिमा (अंजन) से रहित होता है, वैसे ही ये महात्मा रागादि के कालुष्य से रहित होते हैं। जैसे जीव की गति कहीं नहीं रुकती, वैसे ही उन महात्माओं की गति कहीं नहीं रुकती। जैसे गगनतल बिना अवलम्बन के ही रहता है, वैसे ही ये महात्मा निरवलम्बी (किसी व्यक्ति या धन्धे का अवलम्बन लिये बिना) रहते हैं। जैसे वायु को कोई रोक नहीं सकता, वैसे ही, ये महात्मा भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के प्रतिबन्ध से रहित (अप्रतिबद्ध) होते हैं। शरद्काल के स्वच्छ पानी की तरह उनका हृदय भी शुद्ध और स्वच्छ होता है। कमल का पत्ता जैसे जल के लेप से रहित होता है, वैसे ही ये भी कर्म मल के लेप से दूर रहते हैं, वे कछुए की तरह अपनी इन्द्रियों को गुप्त-सुरक्षित रखते हैं। जैसे आकाश में पक्षी स्वतन्त्र (मुक्त) विहारी होता है, वैसे ही वे महात्मा समस्त ममत्वबन्धनों से रहित होकर आध्यात्मिक आकाश में स्वतन्त्रविहारी होते हैं। जैसे गेंडे का एक ही सींग होता है, वैसे ही वे महात्मा भाव से राग-द्वेष रहित अकेले ही होते हैं। वे भारण्डपक्षी की तरह अप्रमत्त (प्रमादरहित) होते हैं। जैसे हाथी वृक्ष को उखाड़ने में समर्थ होता है, वैसे ही वे मुनि कषायों को निर्मूल करने में शूरवीर एवं दक्ष होते हैं। जैसे बैल भारवहन करने में समर्थ होता है, वैसे ही वे मुनि संयम भार को वहन करने में समर्थ होते हैं। जैसे सिंह दूसरे पशुओं से दबता एवं हारता नहीं, वैसे ही वे महामुनि परीषहों और उपसर्गों से दबते और हारते नहीं। जैसे मन्दर पर्वत कम्पित नहीं होता वैसे ही वे महामुनि कष्टों, उपसर्गों और भयों से नहीं कांपते। वे समुद्र की तरह गम्भीर होते हैं, (हर्षशोकादि से व्याकुल नहीं होते।) उनकी प्रकृति (या मनोवृत्ति) चन्द्रमा के समान सौम्य एवं शीतल होती है;

उत्तम जाति के सोने में जैसे मल (दाग) नहीं लगता, वैसे ही उन महात्माओं के कर्ममल नहीं लगता। वे पृथ्वी के समान सभी (परीषह, उपसर्ग आदि के) स्पर्श सहन करते हैं। अच्छी तरह होम (अथवा प्रज्वलित) की हुई अग्नि के समान वे अपने तेज से जाज्वल्यमान रहते हैं। उन अनगार भगवन्तों के लिए किसी भी जगह प्रतिवन्ध (रुकावट) नहीं होता। वह प्रतिवन्ध चार प्रकार से होता है, जैसे कि—अण्डे से उत्पन्न होने वाले हंस, मोर आदि पक्षियों से (अथवा अण्डज यानी पट्सूत्रज—रेशमी वस्त्र का), पोतज (हाथी आदि के वच्चों से अथवा वच्चों का अथवा पोतक=वस्त्र का) अवग्रहिक (वसति, पट्टा—चौकी आदि का) तथा औपग्रहिक (दण्ड, आदि उपकरणों का) होता है। (उन महामुनियों के विहार में ये चारों ही प्रतिवन्ध नहीं होते)। वे जिस-जिस दिशा में विचरण करना चाहते हैं, उस-उस दिशा में अप्रतिवद्ध (प्रतिवन्ध रहित) शुचिभूत (पवित्र-हृदय अथवा श्रुतिभूत-सिद्धान्त प्राप्त) लघुभूत (परिग्रहरहित होने से हलके) अपनी त्यागवृत्ति के अनुरूप (औचित्य के अनुसार किन्तु अपुण्यवश नही) अणु (सूक्ष्म) ग्रन्थ (परिग्रह) से भी दूर (अथवा अनल्प-ग्रन्थ यानी विपुल आगमज्ञान-आत्मज्ञानरूप भावधन से युक्त) होकर संयम एवं तप से अपनी आत्मा को भावित (सुवासित) करते हुए विचरण करते हैं।

उन अनगार भगवन्तों की इस प्रकार की संयम यात्रा के निर्वाहार्थ यह वृत्ति (प्रवृत्ति) होती है, जैसे कि—वे चतुर्थभक्त (उपवास) करते हैं, षष्ठभक्त (वेला), अष्टमभक्त (तेला), दशमभक्त (चौला) द्वादशभक्त (पचौला), चतुर्दश भक्त (छह उपवास) अर्द्धमासिक भक्त (पन्द्रह दिन का उपवास) मासिक भक्त (मासक्षमण), द्विमासिक (दो महीने का) तप, त्रिमासिक (तीन महीने का) तप, चातुर्मासिक (चार महीने का) तप, पंचमासिक (पाँच मास का) तप, एवं षाण्मासिक (छह महीने का) तप, इसके अतिरिक्त भी कोई निम्नोक्त अभिग्रहों में (से किसी अभिग्रह के धारक भी होते हैं) जैसे कई हंडिया (वर्तन) में से (एक वार में) निकाला हुआ आहार लेने को चर्या (उत्क्षिप्तचरक) वाले होते हैं, कई हंडिया (वर्तन) में से निकालकर फिर हंडिया या थाली आदि में रक्खा हुआ आहार ग्रहण करने लेने की चर्या वाले (उत्क्षिप्त-निक्षिप्तचरक) होते हैं, कोई शेष वचा हुआ (अन्त) आहार लेने की अभिग्रह वाले, कोई फेंक देने लायक (प्रान्त) आहार लेने के अभिग्रह वाले, कई रूक्ष आहार ग्रहण करने के अभिग्रह वाले, कोई सामुदानिक (छोटे-वड़े अनेक घरों से सामुदायिक भिक्षाचरी करते हैं, कई भरे हुए (संसृष्ट) हाथ से दिये हुए आहार को ग्रहण करते हैं कई न भरे हुए (असंसृष्ट) हाथ से आहार लेते हैं, कोई जिस अन्न या शाक आदि से चम्मच या हाथ भरा हो, उसी हाथ या चम्मच से उसी वस्तु को लेने का अभिग्रह करते हैं, कोई देखे हुए आहार को लेने का अभिग्रह करते हैं, कोई पूछ कर ही आहार लेते हैं, और कई पूछे विना आहार ग्रहण करते हैं। कोई भिक्षा की तरह की तुच्छ या अविज्ञात भिक्षा ग्रहण करते हैं, और कोई अतुच्छ या ज्ञात भिक्षा ग्रहण करते हैं। कोई अज्ञात-अपरिचित घरों से आहार लेते हैं, कोई आहार के विना ग्लान होने पर ही आहार ग्रहण करते हैं। कोई दाता के निकट रखा हुआ आहार ही ग्रहण करते हैं, कई दत्ति की संख्या (गिनती) करके आहार लेते हैं, कोई परिमित आहार ग्रहण करते हैं, कोई शुद्ध (भिक्षा-दोषों से सर्वथा रहित) आहार की गवेषणा करके आहार लेते हैं, वे अन्ताहारी प्रान्ताहारी होते हैं, कई अरसाहारी एवं कई विरसाहारी (नीरस-स्वादरहित वस्तु का आहार करने वाले) होते हैं, कई रूखा-सूखा आहार करने वाले तथा कई तुच्छ आहार करने वाले होते हैं।

कोई अन्त या प्रान्त आहार से ही अपना जीवन निर्वाह करते हैं, कोई पुरिमड्ढ तप (अपराह्न काल में आहार सेवन) करते हैं, कोई आयम्बिल तपश्चरण करते हैं, कोई निर्विगयी (जिस तप में घी, दूध, दही, तेल, मीठा आदि विगइयों का सेवन न किया जाए) तप करते हैं, वे मद्य और मांस का सेवन कदापि नहीं करते, वे अधिक मात्रा में सरस आहार का सेवन नहीं करते, कई कायोत्सर्ग (स्थान में स्थित रहते हैं, कई प्रतिमा धारण करके कायोत्सर्गस्थ रहते हैं, कई उत्कट आसन से बैठते हैं कई आसनयुक्त भूमि पर ही बैठते हैं, कई वीरासन लगा कर बैठते हैं, कई डंडे की तरह आयत—लम्बे होकर लेटते हैं, कई लगंडशायी होते हैं (लक्कड़ की तरह टेढे होकर) सोते हैं। कई बाह्य प्रावरण (वस्त्रादि के आवरण) से रहित होकर रहते हैं, कई कायोत्सर्ग में एक जगह स्थित होकर रहते हैं (अथवा शरीर की चिन्ता नहीं करते)। कई शरीर को नहीं खुजलाते, वे थूक को बाहर नहीं फेंकते। (इस प्रकार औपपातिक सूत्र में अनगार के जो गुण बताए हैं, उन सबको यहां समझ लेना चाहिए)। वे सिर के केश, मूंछ, दाढी, रोम और नख की कांट-छाँट (साज-सज्जा) नहीं करते, तथा अपने सारे शरीर का परिकर्म (धोना, नहाना, तेलादि लगाना, संवारना आदि) नहीं करते।

वे महात्मा इस प्रकार उग्रविहार करते हुए बहुत वर्षों तक श्रमणपर्याय का पालन करते हैं। रोगादि अनेकानेक बाधाओं के उपस्थित होने या न होने पर वे चिरकाल तक आहार का त्याग करते हैं। वे अनेक दिनों तक भक्त प्रत्याख्यान (संथारा) करके उसे पूर्ण करते हैं। अनशन (संथारे) को पूर्णतया सिद्ध करके जिस प्रयोजन से उन महात्माओं द्वारा नग्नभाव, मुण्डित भाव, अस्नान भाव, अदन्तधावन (दांत साफ न करना), छाते और जूते का उपयोग न करना, भूमिशयन, काष्ठफलक-शयन, केशलुंचन, ब्रह्मचर्य-वास (या ब्रह्मचर्य=गुरुकुल में निवास), भिक्षार्थ परगृह-प्रवेश आदि कार्य किये जाते हैं, तथा जिसके लिए लाभ और अलाभ (भिक्षा में कभी आहार प्राप्त होना, कभी न होना) मान-अपमान, अवहेलना, निन्दा, फटकार, तर्जना (झिड़कियां), मार-पीट, (ताड़ना), धमकियाँ तथा ऊँची-नीची बातें, एवं कानों को अप्रिय लगने वाले अनेक कटुवचन आदि बावीस प्रकार के परिषह एवं उपसर्ग समभाव से सहे जाते हैं, (तथा जिस उद्देश्य से वे महामुनि साधुधर्म में दीक्षित हुए थे) उस उद्देश्य (लक्ष्य) की आराधना कर लेते हैं। उस उद्देश्य की आराधना (सिद्धि) करके अन्तिम श्वासोच्छ्वास में अनन्त, अनुत्तर, निर्व्याघात, (निराबाध), निरावरण, सम्पूर्ण और प्रतिपूर्ण केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लेते हैं। केवलज्ञान-केवलदर्शन उपार्जित करने के पश्चात् वे सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, सर्व कर्मों से मुक्त होते हैं; परिनिर्वाण (अक्षय शान्ति) को प्राप्त कर लेते हैं, और समस्त दुःखों का अन्त कर देते हैं।

कई महात्मा एक ही भव (जन्म) में संसार का अन्त (मोक्ष प्राप्त) कर लेते हैं। दूसरे कई महात्मा पूर्वकर्मों के शेष रह जाने के कारण मृत्यु का अवसर आने पर मृत्यु प्राप्त करके किसी देवलोक में देवरूप में उत्पन्न होते हैं। जैसे कि—महान् ऋद्धि वाले, महाद्युति वाले, महापराक्रमयुक्त महायशस्वी, महान् बलशाली महाप्रभावशाली और महासुखदायी जो देवलोक हैं, उनमें वे देवरूप में उत्पन्न होते हैं, वे देव महाऋद्धि सम्पन्न, महाद्युतिसम्पन्न यावत् महासुखसम्पन्न होते हैं। उनके वक्षःस्थल हारों से सुशोभित रहते हैं, उनकी भुजाओं में कड़े, बाजूबन्द आदि आभूषण पहने होते हैं, उनके कपोलों पर अंगद और कुण्डल लटकते रहते हैं। वे कानों में कर्णफूल धारण किये होते हैं। उनके हाथ विचित्र आभूषणों से युक्त रहते हैं। वे सिर पर विचित्र मालाओं से सुशोभित मुकुट धारण

करते हैं। वे कल्याणकारी तथा सुगन्धित उत्तम वस्त्र पहनते हैं, तथा कल्याणमयी श्रेष्ठ माला और अंग-लेपन धारण करते हैं। उनका शरीर प्रकाश से जगमगाता रहता है। वे लम्बी वनमालाओं को धारण करने वाले देव होते हैं। वे अपने दिव्य रूप, दिव्य वर्ण, दिव्यगन्ध, दिव्य स्पर्श, दिव्य संहनन, दिव्य संस्थान, तथा दिव्य ऋद्धि, द्युति, प्रभा, छाया (कान्ति), अर्चा (वृत्ति) तेज और लेश्या से दसों दिशाओं को आलोकित करते हुए, चमकाते हुए कल्याणमयी गति और स्थिति वाले तथा भविष्य में भद्रक होने वाले देवता बनते हैं।

यह (द्वितीय) स्थान आर्य है, यावत् यह समस्त दुःखों को नष्ट करने वाला मार्ग है। यह स्थान एकान्त (सर्वथा) सम्यक् और बहुत अच्छा (सुसाधु) है।

इस प्रकार दूसरे स्थान—धर्मपक्ष का विचार प्रतिपादित किया गया है।

विवेचन—द्वितीय स्थान—धर्मपक्ष का अधिकारी, वृत्ति, प्रवृत्ति और सुपरिणाम—प्रस्तुत सूत्र (७१४) में उत्तमोत्तम आचार विचारनिष्ठ अनगार को धर्मपक्ष का अधिकारी बताकर उसकी वृत्ति प्रवृत्ति आदि का विश्लेषण करते हुए, अन्त में उसकी सुन्दर फलश्रुति दी गई है।

विशिष्ट अनगार की वृत्ति को २१ पदार्थों से उपमित किया गया है। जैसे कि (१) कांस्यपात्र, (२) शंख, (३) जीव, (४) गगनतल, (५) वायु, (६) शारदसलिल, (७) कमलपत्र, (८) कच्छप, (९) विहग, (१०) खड्गी (गेंडे) का सींग, (११) भारण्डपक्षी, (१२) हाथी, (१३) वृषभ, (१४) सिंह, (१५) मन्दराचल, (१६) सागर, (१७) चन्द्रमा, (१८) सूर्य, (१९) स्वर्ण, (२०) पृथ्वी और (२१) प्रज्वलित अग्नि।

प्रवृत्ति—अनगारों की प्रवृत्ति के रूप में प्रारम्भिक साधना से लेकर अन्तिम श्वासोच्छ्वास तक की तप, त्याग एवं संयम की साधना का विश्लेषण किया गया है। अप्रतिबद्धता, विविध तपश्चर्या, विविध अभिग्रहयुक्त भिक्षाचरी, आहार-विहार की उत्तमचर्या, शरीरप्रतिकर्म-विरक्ति और परीषहोपसर्गसहन, तथा अन्तिम समय में संल्लेखना-संथारा-पूर्वक आमरण अनशन; ये अनगार की प्रवृत्ति के मुख्य अंग हैं।

सुपरिणाम—धर्मपक्षीय अधिकारी की वृत्ति-प्रवृत्ति के दो सुपरिणाम शास्त्रकार ने अंकित किये हैं—(१) या तो वह केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं परिनिर्वृत्त होता है, (२) या फिर महाऋद्धि आदि से सम्पन्न देव होता है।

तृतीय स्थान—मिश्रपक्ष : अधिकारी, वृत्ति, प्रवृति और परिणाम

७१५. अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिज्जति—इह खलु पाईणं वा ४ संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तं जहा—अप्पिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया जाव धम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति। सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा साहू, एगच्चातो पाणातिवायातो पडिविरता जावज्जीवाए एगच्चातो अप्पडिविरता, जाव जे यावऽण्णे तहप्पकारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरितावणकरा कज्जंति ततो वि एगच्चातो पडिविरता एगच्चातो अप्पडिविरता।

से जहाणामए समणोवासगा भवंति अभिगयजीवा-ऽजीवा[1] उवलद्धपुण्ण-पावा आसव-संवर-वेयण-णिज्जर-किरिया-ऽहिकरण-बंध-मोक्खकुसला असहिज्जदेवा-[2]ऽसुर-नाग-सुवण्ण-जक्ख-रक्खस-किन्नर-किंपुरिस-गरुल-गंधव्व-महोरगादीएहिं देवगणेहिं निग्गंथातो पावयणातो अणतिक्कमणिज्जा[3] इणमो निग्गंथे पावयणे निस्संकिता निक्कंखिता निव्वितिगिछा लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छिट्ठा विणिच्छियट्ठा अभिगतट्ठा अट्ठिमिंजपेम्माणुरागरत्ता 'अयमाउसो ! निग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे' ऊसितफलिहा अवंगुतदुवारा अचियत्तंतेउरघरपवेसा[4] चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा समणे निग्गंथे फासुएसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं वत्थ-पडिग्गह-कंबल-पायपुंछणेणं ओसहभेसज्जेणं पीढ-फलग-सेज्जासंथारएणं पडिलाभेमाणा बहूहिं सीलव्वत-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहिं अहापरिग्गहितेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ।

ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं समणोवासपरियागं पाउणंति, पाउणित्ता आबाधंसि उप्पण्णंसि वा अणुप्पण्णंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खाइंति, बहूइं भत्ताइं पच्चक्खाइत्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेंति, बहूइं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता आलोइयपडिक्कंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तं जहा—महिड्ढिएसु महज्जुतिएसु जाव महासुक्खेसु, सेसं तहेव जाव एस ठाणे आरिए जाव एगंतसम्मे साहू । तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिए ।

इसके पश्चात् तृतीय स्थान, जो मिश्रपक्ष है, उसका विभंग (विकल्प) इस प्रकार प्रतिपादित किया है—इस मनुष्यलोक में पूर्व आदि दिशाओं में कई मनुष्य होते हैं, जैसे कि—वे अल्प इच्छा वाले, अल्पारम्भी और अल्पपरिग्रही होते हैं। वे धर्माचरण करते हैं, धर्म के अनुसार प्रवृत्ति करते हैं (अथवा धर्म की अनुज्ञा देते हैं), यहाँ तक कि (यावत्) धर्मपूर्वक अपनी जीविका चलाते हुए जीवन-यापन करते हैं। वे सुशील, सुव्रती सुगमता से प्रसन्न हो जाने वाले और साधु (साधनाशील सज्जन) होते हैं। एक ओर वे किसी (स्थूल एवं संकल्पी) प्राणातिपात से जीवनभर विरत होते हैं तथा दूसरी

---

[1] तुलना—"अभिगमजीवाऽजीवा ... ...भावेमाणा विहरंति ।"
—भगवतीसूत्र श—२, उ. ५, औपपातिक, सू. ४१

[2] पाठान्तर—असंहज्जदेवा,....असंहरणिज्जा जधा वातेहिं मेरु न तु तधा वातपडागाणि सक्कंति विप्परिणावेतुं
देवेहिं वि, किंपुण माणुसेहिं ? अर्थात्—जैसे प्रचण्ड वायु के द्वारा मेरु चलित नहीं किया जा सकता, वैसे ही
वे (श्रमणोपासक) देवों के द्वारा भी विचलित नहीं किये जा सकते, मनुष्यों की तो बात ही क्या ? देखें भगवती
५।२ वृत्ति में—आपत्ति आदि में भी देव सहाय की अपेक्षा नहीं करने वाले ।

[3] अणतिक्कमणिज्ज—जधा कस्सइ सुसीलस्स गुरु अणतिकमणिज्जे, एवं तेसिं अरहंता साधुणो सीलाई वा
अणतिकमणिज्जाइं णिस्संकिताइं । जैसे किसी सुशील व्यक्ति का गुरु अपने सिद्धान्त का अतिक्रमण नहीं करता,
वैसे ही उनके आर्हतोपासक श्रावक शील सिद्धान्त या निर्ग्रन्थ प्रवचन का अतिक्रमण नहीं करते ।
—सूत्र चू. (मू. पा. टि.) पृ. १८७, १८८

[4] चियत्तंतेउरघरदारप्पवेसी–चियत्तोत्ति लोकानां प्रीतिकर एव अन्तः वा गृहे वा प्रवेशो यस्य स तथा,....अति
धार्मिकतया सर्वत्राऽनाशंकनीयोऽसाविति भावः । अर्थात्—जिसका प्रवेश अन्तःपुर में, हर घर में, द्वार में लोगों
को प्रीतिकार था । अर्थात्—वह सर्वत्र निःशंक प्रवेश कर सकता था । —औपपातिक वृत्ति ४०/१००

और किसी (सूक्ष्म एवं आरम्भी) प्राणातिपात से निवृत्त नहीं होते, (इसी प्रकार मृषावाद, अदत्तादान मैथुन और परिग्रह से कथंचित् स्थूलरूप से) निवृत्त और कथंचित् (सूक्ष्म रूप से) अनिवृत्त होते हैं। ये और इसी प्रकार के अन्य बोधिनाशक एवं अन्य प्राणियों को परिताप देने वाले जो सावद्यकर्म (नरकादिगमन के कारणभूत यंत्रपीड़नादि कर्मादानरूप पापव्यवसाय) हैं उनसे निवृत्त होते हैं, दूसरी ओर कतिपय (अल्पसावद्य) कर्मों—व्यवसायों से वे निवृत्त नहीं होते।

जैसा कि उनके नाम से विदित है, (इस मिश्रस्थान के अधिकारी) श्रमणोपासक (श्रमणों के उपासक-श्रावक) होते हैं, जो जीव और अजीव के स्वरूप के ज्ञाता पुण्य-पाप के रहस्य को उपलब्ध किये हुए, तथा आश्रव, संवर, वेदना, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बन्ध एवं मोक्ष के ज्ञान में कुशल होते हैं। वे श्रावक असहाय होने पर भी देव, असुर, नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किम्पुरुष, गरुड़, गन्धर्व, महोरग आदि देव गणों (से सहायता की अपेक्षा नहीं रखते) और इन के द्वारा दबाव डाले जाने पर भी निर्ग्रन्थ प्रवचन का उल्लंघन नहीं करते। वे श्रावक इस निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति निःशंकित, निष्कांक्षित, एवं निर्विचिकित्स (फलाशंका से रहित) होते हैं। वे सूत्रार्थ के ज्ञाता, उसे समझे हुए, और गुरु से पूछे हुए होते हैं, (अतएव) सूत्रार्थ का निश्चय किये हुए तथा भली भाँति अधिगत किए होते हैं। उनकी हड्डियाँ और रगें (मज्जाएँ) उसके प्रति अनुराग से रंजित होती हैं। (किसी के पूछने पर वे श्रावक कहते हैं—'आयुष्मन्! यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सार्थक (सत्य) है, परमार्थ है, शेष सब अनर्थक हैं।' वे स्फटिक के समान स्वच्छ और निर्मल हृदय वाले होते हैं (अथवा वे अपने घर में प्रवेश करने की टाटी (फलिया) खुली रखते हैं), उनके घर के द्वार भी खुले रहते हैं; उन्हें राजा के अन्तःपुर के समान दूसरे घर में प्रवेश अप्रीतिकर-अरुचिकर लगता है, वे श्रावक चतुर्दशी, अष्टमी, पूर्णिमा आदि पर्वतिथियों में प्रतिपूर्ण पौषधोपवास का सम्यक् प्रकार से पालन करते हुए तथा श्रमण निर्ग्रन्थों को प्रासुक एषणीय अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोंछन, औषध, भैषज्य, पीठ, फलक, शय्या-संस्तारक, तृण (घास) आदि भिक्षारूप में देकर बहुत लाभ लेते हुए, एवं यथाशक्ति यथारुचि स्वीकृत किये हुए बहुत से शीलव्रत, गुणव्रत, अणुव्रत, त्याग, प्रत्याख्यान, पौषध और उपवास आदि तपःकर्मों द्वारा (बहुत वर्षों तक) अपनी आत्मा को भावित (वासित) करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं।

वे इस प्रकार के आचरणपूर्वक जीवनयापन (विचरण) करते हुए बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक पर्याय (श्रावकव्रतों का) पालन करते हैं। यों श्रावकव्रतों की आराधना करते हुए रोगादि कोई बाधा उत्पन्न होने पर या न होने पर भी बहुत लम्बे दिनों तक का भक्त-प्रत्याख्यान (अनशन) करते हैं। वे चिरकाल तक का भक्त प्रत्याख्यान (अनशन) करके उस अनशन-संथारे को पूर्ण (सिद्ध) करके करते हैं। उस अवमरण अनशन (संथारे) को सिद्ध करके अपने भूतकालीन पापों की आलोचना एवं प्रतिक्रमण करके समाधिप्राप्त होकर मृत्यु (काल) का अवसर आने पर मृत्यु प्राप्त करके किन्हीं (विशिष्ट) देवलोकों में से किसी एक में देवरूप में उत्पन्न होते हैं। तदनुसार वे महाऋद्धि, महाद्युति, महाबल, महायश यावत् महासुख वाले देवलोकों में महाऋद्धि आदि से सम्पन्न देव होते हैं। शेष बातें पूर्वपाठानुसार जान लेनी चाहिए। यह (तृतीय मिश्रपक्षीय) स्थान आर्य (आर्यों द्वारा सेवित), एकान्त सम्यक् और उत्तम है।

तीसरा जो मिश्रस्थान है, उसका विचार इस प्रकार निरूपित किया गया है।

७१६. अविरतिं पडुच्च बाले आहिज्जति, विरतिं पडुच्च पंडिते आहिज्जति, विरताविरतिं पडुच्च बालपंडिते आहिज्जइ, तत्थ णं जा सा सव्वतो अविरती एस ठाणे आरंभट्ठाणे अणारिए जाव असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू, तत्थ तत्थ णं जा सा सव्वतो विरती एस ठाणे अणारंभट्ठाणे, एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू, तत्थ णं जा सा सव्वतो विरताविरती एस ठाणे आरंभाणारंभट्ठाणे, एस ठाणे आरिए जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू ।

इस तृतीय स्थान का स्वामी अविरति की अपेक्षा से बाल, विरति की अपेक्षा से पण्डित और विरता-विरति की अपेक्षा से बालपण्डित कहलाता है ।

इन तीनों स्थानों में से समस्त पापों से अविरत होने का जो स्थान है, वह आरम्भस्थान है, अनार्य है, यावत् समस्त दुःखों का नाश न करने वाला एकान्त मिथ्या और बुरा (असाधु) है । इनमें से जो दूसरा स्थान है, जिसमें व्यक्ति सब पापों से विरत होता है, वह अनारम्भ स्थान एवं आर्य है, यावत् समस्त दुःखों का नाशक है, एकान्त सम्यक् एवं उत्तम है । तथा इनमें से जो तीसरा (मिश्र) स्थान है, जिसमें सब पापों से कुछ अंश में विरति और कुछ अंश में अविरति होती है, वह आरम्भ-नो आरम्भ स्थान है । यह स्थान भी आर्य है, यहाँ तक कि सर्वदुःखों का नाश करने वाला, एकान्त सम्यक् एवं उत्तम (स्थान) है ।

विवेचन—तृतीय स्थान—मिश्रपक्ष : अधिकारी, वृत्ति, प्रवृत्ति और परिणाम—प्रस्तुत दो सूत्रों में तृतीय स्थान के अधिकारी के स्वरूप, एवं उसकी वृत्ति-प्रवृत्ति का निरूपण करते हुए अन्त में इसका परिणाम बताकर तीनों स्थानों की पारस्परिक उत्कृष्टता-निकृष्टता भी सूचित कर दी है ।

अधिकारी—मिश्र स्थान का अधिकारी श्रमणोपासक होता है, जो सामान्यतया धार्मिक एवं धर्मनिष्ठ होने के साथ-साथ अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही, अल्प इच्छा वाला, प्राणातिपात आदि पांचों पापों से देशतः विरत होता है ।

वृत्ति—जीवादि तत्त्वों का ज्ञाता, मार्गानुसारी के गुणों से सम्पन्न निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति दृढ़ श्रद्धालु एवं धर्म सिद्धान्तों का सम्यग्ज्ञाता होता है । वह सरल स्वच्छ हृदय एवं उदार होता है ।

प्रवृत्ति—पर्वतिथियों में परिपूर्ण पोषधोपवास करता है, यथाशक्ति व्रत, नियम, त्याग, तप प्रत्याख्यानादि अंगीकार करता है, श्रमणों को ग्राह्य एषणीय पदार्थों का दान देता है । चिरकाल तक श्रावकवृत्ति में जीवनयापन करके अन्तिम समय में संल्लेखना-संथारापूर्वक अनशन करता है, आलोचना, प्रतिक्रमण करके समाधिपूर्वक मृत्यु का अवसर आने पर शरीर का व्युत्सर्ग कर देता है ।

परिणाम—वह विशिष्ट ऋद्धि, द्युति आदि से सम्पन्न देवलोकों में से किसी में देवरूप में उत्पन्न होता है ।

शास्त्रकार ने इसे भी द्वितीय स्थान की तरह आर्य एकान्त सम्यक् और उत्तम स्थान बताया है ।[1]

दो स्थानों में सबका समावेश : क्यों, कैसे और दोनों की पहचान क्या ?

७१७. एवामेव समणुगम्ममाणा समणुगाहिज्जमाणा इमेहिं चेव दोहिं ठाणेहिं समोयरंति,

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३३५-३३६ का निष्कर्ष

तं जहा—धम्मे चेव अधम्मे चेव, उवसंते चेव अणुवसंते चेव। तत्थ णं जे से पढमस्स ठाणस्स अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिते, तस्स णं इमाइं तिण्णि तेवट्ठाइं पावाउयसताइं भवंतीति अक्खाताइं; तं जहा—किरियावादीणं अकिरियावादीणं अण्णाणियवादीणं वेणइयवादीणं, ते वि निव्वाणमाहंसु, ते वि पलिमोक्खमाहंसु, ते वि लवंति सावगा,[1] ते वि लवंति सावइत्तारो।

७१७. (संक्षेप में) सम्यक् विचार करने पर ये तीनों पक्ष दो ही स्थानों में समाविष्ट हो जाते हैं—जैसे कि धर्म में और अधर्म में, उपशान्त और अनुपशान्त में। पहले जो अधर्मस्थान का विचार पूर्वोक्त प्रकार से किया गया है, उसमें इन ३६३ प्रावादुकों (मतवादियों) का समावेश हो जाता है, यह पूर्वाचार्यों ने कहा है। वे (चार कोटि के प्रावादुक) इस प्रकार हैं—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी। वे भी 'परिनिर्वाण' का प्रतिपादन करते हैं; वे भी मोक्ष का निरूपण करते हैं; वे भी अपने श्रावकों को धर्मोपदेश करते हैं (उनसे आलाप करते हैं) वे भी अपने धर्म को सुनाते हैं।

७१८. ते सव्वे पावाउया[2] अधिकरा धम्माणं नाणापण्णा नाणाछंदा नाणासीला नाणादिट्ठी नाणारुई नाणारंभा नाणाज्झवसाणसंजुत्ता एगं महं मंडलिबंधं किच्चा सव्वे एगओ चिट्ठंति, पुरिसे य सागणियाणं इंगालाणं पातिं बहुपडिपुण्णं अयोमएणं संडासएणं गहाय ते सव्वे पावाउए आइगरे धम्माणं नाणापण्णे जाव नाणाज्झवसाणसंजुत्ते एवं वदासी—हं भो पावाउया आदियरा धम्माणं णाणापण्णा जावऽज्झवसाणसंजुत्ता! इमं ता तुब्भे सागणियाणं इंगालाणं पातिं बहुपडिपुण्णं गहाय मुहुत्तगं मुहुत्तगं पाणिणा धरेह, णो य हु संडासगं संसारियं कुज्जा, णो य हु अग्गिथंभणियं कुज्जा[3], णो य हु साहम्मियवेयावडियं[4] कुज्जा, णो य हु परधम्मियवेयावडियं कुज्जा, उज्जुया णियागपडिवन्ना[5] अमायं कुव्वमाणा पाणिं पसारेह, इति वच्चा से पुरिसे तेसिं पावादुयाणं तं सागणियाणं इंगालाणं पातिं बहुपडिपुण्णं अओमएणं संडासतेणं गहाय पाणिसु णिसिरति, तते णं ते पावाउया आदिगरा धम्माणं नाणापन्ना जाव नाणा-

---

[1] ते वि लवंति सावगा—चूर्णिकार प्रश्न उठाते हैं, लोग उनके पास क्यों सुनने व शरण लेने जाते हैं? इसका उत्तर है—मिथ्यापद के प्रभाव से। आदि तीर्थंकर (अपने मत प्रवर्तकत्व की दृष्टि से) कपिलादि श्रावकों को धर्मोपदेश देते हैं, उनके शिष्य भी परम्परा से धर्मश्रवण कराते हैं। धर्म श्रवण करने वाले 'श्रावक' या 'श्राव इतर' कहलाते हैं।

[2] पावातिया-'शास्तार इत्यर्थः, तद्धि शास्तुं भृशं वदन्तीति प्रावादुकाः' प्रवदनशीला—सूत्र कृ. चूर्णि (सू. पा.टि.) पृ. १९० । अर्थात्—प्रावादिक का अर्थ है—शास्ता, वे अपने अनुयायियों पर शासन-अनुशासन करने के लिए बहुत बोलते हैं, इसलिए वे प्रावादुक हैं। अथवा प्रवदनशील होने से प्रावादिक हैं।

[3] 'णो य अग्गिथंभणियं कुज्जा'—णो अग्गिथंभणविज्जाए आदिच्चमंतेहिं अग्गी थंभिज्जह—अर्थात्—अग्निस्तम्भन विद्या से या आदित्यमंत्रों से अग्निस्तम्भन न करें।

[4] 'णो ···साधम्मियवेयावडियं'—'पासंडियस्स थंभेति, परपासंडितस्स वि परिचएण थंभेइ'—अर्थात्—'साधर्मिक स्वतीर्थिक व्रतधारी इस आग को न रोके, न ही परपाषण्डी (अन्यतीर्थिक व्रतधारी) परिचयवश उस अग्नि को रोके।

[5] णिकायपडिवण्णा (पाठान्तर)—सवहसाविता इत्यर्थः। अर्थात्—शपथ लेकर प्रतिज्ञाबद्ध हुए।

—सूत्र कृ. चूर्णि (मू. पा. टि.) पृ. १९१

ज्झवसाणसंजुत्ता पाणिं पडिसाहरेति, तते णं से पुरिसे ते सव्वे पावाउए आदिगरे धम्माणं जाव नाणा-ज्झवसाणसंजुत्ते एवं वदासी—हं भो पावाउया आदियरा धम्माणं जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ता ! कम्हा णं तुब्भे पाणिं पडिसाहरह ?, पाणी नो डज्झेज्जा दड्ढे किं भविस्सइ ?, दुक्खं-दुक्खं ति मण्णमाणा पडिसाहरह, एस तुला, एस पमाणे, एस समोसरणे, पत्तेयं तुला, पत्तेयं पमाणे, पत्तेयं समोसरणे ।

७१८. वे (पूर्वोक्त ३६३) प्रावादुक अपने-अपने धर्म के आदि-प्रवर्त्तक हैं। नाना प्रकार की वुद्धि (प्रज्ञा), नाना अभिप्राय, विभिन्न शील (स्वभाव), विविध दृष्टि, नानारुचि, विविध आरम्भ और विभिन्न निश्चय रखने वाले वे सभी प्रावादुक (स्वधर्मशास्ता) (किसी समय) एक स्थान में मंडलीवद्ध होकर वैठे हों, वहाँ कोई पुरुष आग के अंगारों से भरी हुई किसी पात्री (वर्तन) को लोहे की संडासी से पकड़ कर लाए और नाना प्रकार की प्रज्ञा, अभिप्राय, शील, दृष्टि, रुचि, आरम्भ, और निश्चय वाले, धर्मों के आदि प्रवर्तक उन प्रावादुकों से कहे—"अजी ! नाना प्रकार की बुद्धि आदि तथा विभिन्न निश्चय वाले धर्मों के आदिप्रवर्तक प्रावादुको ! आप लोग आग के अंगारों से भरी हुई (इस) पात्री को लेकर थोड़ी-थोड़ी देर (मुहूर्त्त-मुहूर्त्त भर) तक हाथ मे पकड़े रखें, (इस दौरान) संडासी की (वहुत) सहायता न लें और न ही आग को बुझाएँ या कम करें, (इस आग से) अपने साधार्मिकों की (अग्निदाह को उपशान्त करने के रूप में) वैयावृत्य (सब या उपकार) भी न कीजिए, न ही अन्य धर्म वालों की वैयावृत्य कीजिए, किन्तु सरल और मोक्षाराधक (नियागप्रतिपन्न) बनकर कपट न करते हुए अपने हाथ पसारिए।' यों कहकर वह पुरुष आग के अंगारों से पूरी भरी हुई उस पात्री को लोहे की संडासी से पकड़कर उन प्रावादुकों के हाथ पर रखे। उस समय धर्म के आदि प्रवर्तक तथा नाना प्रज्ञा, शील अध्यवसाय आदि से सम्पन्न वे सब प्रावादुक अपने हाथ अवश्य ही हटा लेंगे।" यह देखकर वह पुरुष नाना प्रकार की प्रज्ञा, अध्यवसाय आदि से सम्पन्न, धर्म के आदि प्रवर्तक उन प्रावादुकों से इस प्रकार कहे—'अजी ! नाना प्रज्ञा और निश्चय आदि वाले, धर्म के आदि-कर प्रावादुको ! आप अपने हाथ को क्यों हटा रहे हैं ?' "इसीलिए कि हाथ न जले !" (हम पूछते हैं—) हाथ जल जाने से क्या होगा ? यही कि दुःख होगा। यदि दुःख के भय से आप हाथ हटा लेते हैं तो यही वात आप सबके लिए अपने समान मानिए, यही (युक्ति) सबके लिए प्रमाण मानिए यही धर्म का सार-सर्वस्व समझिए। यही बात प्रत्येक के लिए तुल्य (समान) समझिए, यही युक्ति प्रत्येक के लिए प्रमाण मानिए, और इसी (आत्मौपत्य सिद्धान्त) को प्रत्येक के लिए धर्म का सार-सर्वस्व (समवसरण) समझिए।

७१९. तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति जावेवं परूवेंति—'सव्वे पाणा जाव सत्ता हंतव्वा अज्जावेतव्वा परिघेत्तव्वा परितावेयव्वा किलामेतव्वा उद्दवेतव्वा,' ते आगंतु छेयाए, ते आगंतु भेयाए, ते आगंतु जाति-जरा-मरण-जोणिजम्मण-संसार-पुणब्भव-गब्भवास-भवपवंचकलंकलीभागिणो भविस्संति, ते बहूणं दंडणाणं बहूणं मुंडणाणं तज्जणाणं तालणाणं अंदुबंधणाणं जाव घोलणाणं माइ-मरणाणं पितिमरणाणं भाइमरणाणं भगिणीमरणाणं भज्जामरणाणं पुत्तमरणाणं धूयमरणाणं सुण्हा-मरणाणं दारिद्दाणं दोहग्गाणं अप्पियसंवासाणं पियविप्पओगाणं बहूणं दुक्खदोमणसाणं आभागिणो भविस्संति, अणादियं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं भुज्जो-भुज्जो अणुपरियट्टिस्संति, ते नो सिज्झिस्संति नो बुज्झिस्संति जाव नो सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति, एस तुला, एस पमाणे, एस समोसरणे, पत्तेयं तुला, पत्तेयं पमाणे, पत्तेयं समोसरणे ।

७१९. (परमार्थतः आत्मौपम्यमयी अहिंसा ही धर्म सिद्ध होने पर भी) धर्म के प्रसंग में जो श्रमण और माहन ऐसा कहते हैं, यावत ऐसी प्ररूपणा करते हैं कि समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों का हनन करना चाहिए उन पर आज्ञा चलाना चाहिए, उन्हें दास-दासी आदि के रूप में रखना चाहिए, उन्हें परिताप (पीड़ा) देना चाहिए, उन्हें क्लेश देना चाहिए, उन्हें उपद्रवित (भयभीत) करना चाहिए। ऐसा करने वाले वे भविष्य में 'अपने शरीर को छेदन-भेदन आदि पीड़ाओं का भागी बनाते हैं। वे भविष्य में जन्म, जरा, मरण, विविध योनियों में उत्पत्ति फिर संसार में पुनः जन्म गर्भवास, और सांसारिक प्रपंच (अरहट्टघटिका न्यायेन संसारचक्र) में पड़कर महाकष्ट के भागी होंगे। वे घोर दण्ड के भागी होंगे। वे बहुत ही मुण्डन, तर्जन, ताड़न, खोड़ी बन्धन के यहाँ तक कि घोले (पानी में डुबोए) जाने के भागी होंगे। तथा माता, पिता, भाई, भगिनी, भार्या, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू आदि मरण दुःख के भागी होंगे। (इसी प्रकार) वे दरिद्रता, दुर्भाग्य अप्रिय व्यक्ति के साथ निवास, प्रियवियोग, तथा बहुत-से दुःखों और वैमनस्यों के भागी होंगे। वे आदि-अन्तरहित तथा दीर्घकालिक (या दीर्घमध्य वाले) चतुर्गतिक संसार रूप घोर जंगल में बार-बार परिभ्रमण करते रहेंगे। वे सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त नहीं होंगे, न ही बोध को प्राप्त होंगे, यावत् सर्वदुःखों का अन्त नहीं कर सकेंगे। (जैसे सावद्य अनुष्ठान करने वाले अन्यतीर्थिक सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकते, वैसे ही सावद्यानुष्ठानकर्ता स्वयूथिक भी सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकते, वे भी पूर्वोक्त अनेक दुःखों के भागी होते हैं। यह कथन सबके लिए तुल्य है, यह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध है (कि दूसरों को पीड़ा देने वाले चोर, जार आदि प्रत्यक्ष ही दण्ड भोगते नजर आते हैं), (समस्त आगमों का) यही सारभूत विचार है। यह (सिद्धान्त) प्रत्येक प्राणी के लिए तुल्य है, प्रत्येक के लिए यह प्रमाण सिद्ध है, तथा प्रत्येक के लिए (आगमों का) यही सारभूत विचार है।

७२०. तत्थ णं जे ते समण-माहणा एवं आइक्खंति जाव परूवेंति—सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेत्तव्वा ण उद्दवेयव्वा, ते णो आगंतुं छेयाए, ते णो आगंतु भेयाए, ते णो आगंतुं जाइ-जरा-मरण-जोणिजम्मण-संसार-पुणब्भव-गब्भवास-भवपवंचकलंकलीभागिणो भविस्संति, ते णो बहूणं दंडणाणं जाव णो बहूणं दुक्खदोमणसाणं आभागिणो भविस्संति, अणातियं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतं संसारकंतारं भुज्जो-भुज्जो णो अणुपरियट्टिस्संति,[२] ते सिज्झिस्संति जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति।

७२०. परन्तु धर्म-विचार के प्रसंग में जो सुविहित श्रमण एवं माहन यह कहते हैं कि-समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को नहीं मारना चाहिए, उन्हें अपनी आज्ञा में नहीं चलाना एवं उन्हें बलात् दास-दासी के रूप में पकड़ कर गुलाम नहीं बनाना चाहिए, उन्हें डराना-धमकाना या पीड़ित नहीं करना चाहिए, वे महात्मा भविष्य में छेदन-भेदन आदि कष्टों को प्राप्त नहीं करेंगे, वे जन्म, जरा, मरण, अनेक योनियों में जन्म-धारण, संसार में पुनः पुनः जन्म, गर्भवास तथा संसार के अनेकविध प्रपंच के कारण नाना दुःखों के भाजन नहीं होंगे। तथा वे आदि-अन्तरहित, दीर्घकालिक मध्यरूप चतुर्गतिक संसाररूपी घोर वन में बार-बार भ्रमण नहीं करेंगे। (अन्त में) वे सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त करेंगे, केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त कर बुद्ध और मुक्त होंगे, तथा समस्त दुःखों का सदा के लिए अन्त करेंगे।

विवेचन—दो स्थानों में सबका समावेश : क्यों कैसे और दोनों की पहचान क्या ?—प्रस्तुत चार सूत्रों में धर्म और अधर्म दो स्थानों में पूर्वोक्त तीनों स्थानों का विशेषत: ३६३ प्रावादुकों का अधर्मपक्ष ये युक्तिपूर्वक समावेश किया गया है, साथ ही अन्त में धर्मस्थान और अधर्मस्थान दोनों की मुख्य पहचान बताई गई है।

धर्म और अधर्म दो ही पक्षों में सबका समावेश कैसे ?—पूर्वसूत्रों में उक्त तीन पक्षों का धर्म और अधर्म, इन दो पक्षों में ही समावेश हो जाता है, जो मिश्रपक्ष है, वह धर्म और अधर्म, इन दोनों से मिश्रित होने के कारण इन्ही दो के अन्तर्गत है। इसी शास्त्र में जिन ३६३ प्रावादुकों का उल्लेख किया गया था, उनका समावेश भी अधर्मपक्ष में हो जाता है, क्योंकि ये प्रावादुक धर्मपक्ष से रहित और मिथ्या हैं।

मिथ्या कैसे ? धर्मपक्ष से रहित कैसे ?—यद्यपि बौद्ध, सांख्य, नैयायिक और वैशेषिक ये चारों मोक्ष या निर्वाण को एक या दूसरी तरह से मानते हैं, अपने भक्तों को धर्म की व्याख्या करके समझाते हैं, किन्तु वे सब बातें मिथ्या, थोथी एवं युक्तिरहित हैं। जैसे कि बौद्ध दर्शन की मान्यता है—ज्ञानसन्तति के अतिरिक्त आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है। ज्ञानसन्तति का अस्तित्व कर्मसन्तति के प्रभाव से है, जो संसार कहलाता है। कर्मसन्तति के नाश के साथ ही ज्ञानसंतति का नाश हो जाता है। अत: मोक्षावस्था में आत्मा का कोई अस्तित्व न होने से ऐसे नि:सार मोक्ष या निर्वाण के लिए प्रयत्न भी वृथा है। इसी प्रकार सांख्यदर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है, ऐसी स्थिति में जीव के संसार और मोक्ष दोनों ही संगत नहीं होते, कूटस्थ आत्मा चातुर्गतिक संसार में परिणमन गमन (संसरण) कर नहीं सकती, न ही आत्मा के स्वाभाविक गुणों (स्वभाव) में सदैव परिणमन रूप मोक्ष प्राप्त कर सकती है। इसी प्रकार नैयायिक और वैशेषिक की मोक्ष और आत्मा को मान्यता युक्तिहीन एवं एकान्ताग्रह युक्त होने से दोनों ही मिथ्या हैं।

इन प्रावादुकों को अधर्मस्थान में इसलिए भी समाविष्ट किया गया है कि इनका मत परस्पर विरुद्ध है, क्योंकि वे सब प्रावादुक अपने-अपने मत के प्रति अत्याग्रही, एकान्तवादी होते हैं, इस कारण सांख्य, वैशेषिक, नैयायिक, बौद्ध आदि मतवादियों का मत युक्तिविरुद्ध व मिथ्या है। आगे शास्त्रकार इन ३६३ मतवादियों के अधर्मपक्षीय सिद्ध हेतु शास्त्रकार धधकते अंगारों से भरा बर्तन हाथ में कुछ समय तक लेने का दृष्टान्त देकर समझाते हैं। जैसे विभिन्न दृष्टि वाले प्रावादुक अंगारों से भरे बर्तन को हाथ में लेने से इसलिए हिचकिचाते हैं कि उससे उन्हें दु:ख होता है और दु:ख उन्हें प्रिय नहीं है। इसी प्रकार सभी प्राणियों को दु:ख अप्रिय एवं सुख प्रिय लगता है। ऐसी आत्मौपम्य रूप अहिंसा जिसमें हो, वही धर्म है। इस बात को सत्य समझते हुए भी देवपूजा, यज्ञयाग आदि कार्यो में तथा धर्म के निमित्त प्राणियों का वध करना (हिंसा करना) पाप न मानकर धर्म मानते हैं। इस तरह श्राद्ध के समय रोहित मत्स्य का वध तथा देवयज्ञ में पशुवध करना धर्म का अंग मानते हैं। इस प्रकार हिंसा धर्म का समर्थन और उपदेश करने वाले प्रावादुक अधर्मपक्ष की ही कोटि में आते हैं। इन मुख्य कारणों से ये प्रावादुक तथाकथित श्रमण-ब्राह्मण धर्मपक्ष से रहित हैं। निर्ग्रन्थ श्रमण-ब्राह्मण एकान्त धर्मपक्ष से युक्त हैं। क्योंकि अहिंसा ही धर्म का मुख्य अंग है, जिसका वे सर्वथा सार्वत्रिक रूप से स्वयं पालन करते-कराते हैं, दूसरों को उपदेश भी उसी का देते हैं। वे सब प्रकार की हिंसा का सर्वथा निषेध करते हैं। वे किसी के साथ भी वैरविरोध, घृणा, द्वेष, मोह या कलह नहीं रखते।

निष्कर्ष—जिस मत या मतानुयायी में अहिंसा धर्म नहीं है, हिंसा का प्रतिपादन धर्म आदि के नाम से है, वह अधर्म स्थान की कोटि में आता है, जब कि जिस मत या मतानुयायी में अहिंसा धर्म सर्वांग-रूप में व्याप्त है, हिंसा का सर्वथा निषेध है, वह धर्मस्थान की कोटि में आता है। यही धर्मस्थान और अधर्मस्थान की मुख्य पहचान है।

परिणाम—शास्त्रकार ने अधर्मस्थान और धर्मस्थान दोनों के अधिकारी व्यक्तियों को अपने-अपने शुभाशुभ विचार-अविचार से सदाचार-कदाचर सद्व्यवहार-दुर्व्यवहार आदि के इहलौकिक-पारलौकिक फल भी बताए हैं, एक अन्तिम लक्ष्य (सिद्धि, बोधि, मुक्ति, परिनिर्वाण सर्वदुःखनिवृत्ति) प्राप्त कर लेता है, जबकि दूसरा नहीं।

तेरह ही क्रियास्थानों का प्रतिफल

७२१. इच्चेतेहिं बारसहिं किरियाठाणेहिं वट्टमाणा जीवा नो सिज्झिसु [नो] बुज्झिसु जाव नो सव्वदुक्खाणं अंतं करेंसु वा करेंति वा करिस्संति वा। एतम्मि चेव तेरसमे किरियाठाणे वट्टमाणा जीवा सिज्झिसु बुज्झिसु मुच्चिसु परिणिव्वाइंसु सव्वदुक्खाणं अंतं करिंसु वा करेंति वा करिस्संति वा। एवं से भिक्खू आतट्ठी आतहिते आतगुत्ते[1] आयजोगी आतपरक्कमे आयरक्खिते आयाणुकंपए आयनिप्फेडए आयाणमेव पडिसाहरेज्जासि त्ति बेमि।

॥ किरियाठाणंः बितियं अज्झयणं सम्मत्तं ॥

७२१. इन (पूर्वोक्त) बारह क्रियास्थानों में वर्तमान जीव अतीत में सिद्ध नहीं हुए, बुद्ध नहीं हुए, मुक्त नहीं हुए यावत् सर्व-दुःखों का अन्त न कर सके, वर्तमान में भी वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, यावत् सर्वदुःखान्तकारी नहीं होते और न भविष्य में सिद्ध बुद्ध, मुक्त यावत् सर्वदुःखान्तकारी होंगे। परन्तु इस तेरहवें क्रियास्थान में वर्तमान जीव अतीत, वर्तमान एवं भविष्य में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त यावत् सर्वान्तिकृत् हुए हैं, होते हैं और होंगे।

इस प्रकार (बारह क्रियास्थानों का त्याग करने वाला) वह आत्मार्थी, आत्महिततत्पर, आत्मगुप्त (आत्मा को पाप से बचाने वाला), आत्मयोगी, आत्मभाव में पराक्रमी, आत्मरक्षक (आत्मा की संसाराग्नि से रक्षा करने वाला), आत्मानुकम्पक (आत्मा पर अनुकम्पा करने वाला), आत्मा का जगत् से उद्धार करने वाला उत्तम साधक (भिक्षु) अपनी आत्मा को समस्त पापों से निवृत्त करे।—प्रति ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—क्रियास्थानों का प्रतिफल—प्रस्तुत सूत्र में इस अध्ययन का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार ने पूर्वोक्त १३ क्रियास्थानों का संक्षेप में प्रतिफल दिया है, ताकि हेय-हेय-उपादेय का साधक विवेक कर सके।

तेरहवाँ क्रियास्थान भी कब ग्राह्य, या त्याज्य भी?—प्रस्तुत सूत्र में १२ क्रियास्थानों को

---

[1] 'अप्पगुत्ता'-ण परपच्चएण। आत्मगुप्त—स्वतः आत्मरक्षा करने वाले की दृष्टि से प्रयुक्त है।—"आत्मनैव संजम-जोए जुंजति, सयमेवपरक्कमंति" अर्थात्—अपने आप ही संयम योग में जुटाता है, स्वयमेव पराक्रम करता है।

—सू. चू. (मू. पा. टि.) पृ. १९३

संसार के तथा तेरहवें क्रियास्थान को मोक्ष का कारण बताने का आशय है—१२ क्रियास्थान तो मुमुक्षु के लिए त्याज्य और तेरहवाँ ग्राह्य समझा जाए। परन्तु सिद्धान्तानुसार तेरहवाँ क्रियास्थान ग्राह्य अन्त में होने पर भी एवंभूत आदि शुद्ध नयों की अपेक्षा से त्याज्य है। तेरहवें क्रियास्थान में स्थित जीव को सिद्धि, मुक्ति या निर्वाण पाने की बात औपचारिक है। वास्तव में देखा जाए तो, जब तक योग रहते हैं, (१३वें गुणस्थान तक) तब तक भले ही ईर्यापथ क्रिया हो, जीव को मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण या सिद्धि नहीं मिल सकती। इसलिए, यहाँ १३वें क्रियास्थान वाले को मोक्ष या मुक्ति की प्राप्ति होती है, इस कथन के पीछे शास्त्रकार का तात्पर्य यह कि १३वाँ क्रियास्थान प्राप्त होने पर जीव को मोक्ष, मुक्ति या निर्वाण आदि अवश्यमेव प्राप्त हो जाता है। मोक्षप्राप्ति में १३वाँ क्रियास्थान उपकारक है। जिन्होंने १२ क्रियास्थानों को छोड़कर १३वें क्रियास्थान का आश्रय ले लिया, वे एक दिन अवश्य ही सिद्ध, बुद्ध, मुक्त यावत् सर्वदुःखान्तकृत् बने हैं, बनते हैं, और बनेंगे, किन्तु १२ क्रिया स्थानों का आश्रय लेने वाले कदापि सिद्ध, बुद्ध, मुक्त नहीं हुए, न होते, न होंगे।[1]

॥ क्रियास्थानः द्वितीय अध्ययन समाप्त ॥

□□

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३४१ का निष्कर्ष

आहारपरिज्ञा : तृतीय अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग (द्वि. श्रु.) के तृतीय अध्ययन का नाम 'आहारपरिज्ञा' है ।

☐ शरीरधारी प्राणी को आहार ग्रहण करना अनिवार्य होता है, उसके बिना शरीर की स्थिति सम्भव नहीं है । साधु-साध्वियों को भी आहार-ग्रहण करना आवश्यक होता है । वे दोषरहित शुद्ध कल्पनीय आहार से ही अपने शरीर की रक्षा करें, अशुद्ध अकल्पनीय से नहीं, तथा कवलाहार के अतिरिक्त भी अन्य किस किस आहार से शरीर को पोषण मिलता है, अन्य जीवों के आहार की पूर्ति कैसे और किस प्रकार के आहार से होती है ? इस प्रकार जीवों के आहार के सम्बन्ध में साधकों को विविध परिज्ञान कराने के कारण इस अध्ययन का नाम **'आहारपरिज्ञा'** रखा गया है ।

☐ मुख्यतया आहार के दो भेद हैं—द्रव्याहार एवं भावाहार । **द्रव्याहार** सचित्त, अचित्त और मिश्र तीन प्रकार का है ।

☐ प्राणिवर्ग क्षुधा वेदनीय कर्मोदय से जब किसी वस्तु का आहार करता है, वह भावाहार है। समस्त प्राणी तीन प्रकार से भावाहार ग्रहण करते हैं—**ओज-आहार, रोम-आहार** और **प्रक्षेपाहार** ।

☐ जब तक औदारिक रूप में दृश्यमान शरीर उत्पन्न नहीं होता, (किन्हीं आचार्यों के मत से जब तक इन्द्रिय, प्राण, भाषा और मन की उत्पत्ति नहीं होती), तब तक तैजस-कार्मण एवं मिश्र शरीर द्वारा ग्रहण किया जाने वाला आहार **ओज-आहार** है । शरीर की रचना पूर्ण होने के बाद बाहर की त्वचा (स्पर्शेन्द्रिय) से या रोमकूप से प्राणियों द्वारा ग्रहण किया जाने वाला आहार **रोमाहार** या **लोमाहार** है । मुख-जिह्वा आदि द्वारा जो कवल (कौर), बूंद, कण, कतरे आदि के रूप में आहार ग्रहण किया जाता है, उसे **प्रक्षेपाहार** (कवलाहार) कहते हैं ।

☐ अपर्याप्त जीवों का ओज आहार, देवों-नारकों का रोमाहार, तथा अन्य पर्याप्त जीवों का प्रेक्षपाहार होता है । केवली अनन्तवीर्य होते हुए भी उनमें पर्याप्तित्व, वेदनीयोदय, आहार को पचाने वाला तैजस् शरीर और दीर्घायुष्कता होने से उनका कवलाहार करना युक्तिसिद्ध है ।

☐ चार अवस्थाओं में जीव आहार नहीं करता—(१) विग्रहगति के समय, (२) केवली समुद्घात के तीसरे, चौथे, पांचवें समय में, (३) शैलेशी अवस्था प्राप्त अयोगी केवली (४) सिद्धि प्राप्त आत्मा ।

☐ बीजकायों के आहार की चर्चा से अध्ययन का प्रारम्भ होकर क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा त्रसजीवों में पंचेन्द्रिय देव-नारकों के आहार की चर्चा छोड़कर मनुष्य एवं तिर्यंच के आहार की चर्चा की गई है। साथ ही प्रत्येक जीव की उत्पत्ति, पोषण, संवर्द्धन आदि की पर्याप्त चर्चा की है।

☐ आहार प्राप्ति में हिंसा की सम्भावना होने से साधु वर्ग को संयम नियमपूर्वक निर्दोष शुद्ध आहार ग्रहण करने पर जोर दिया गया है।[1]

☐ यह अध्ययन सूत्र ७२२ से प्रारम्भ होकर सूत्र ७४६ पर पूर्ण होता है।

☐☐

---

[1] (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा. १६९ से १७३ तक
(ख) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३४२ से ३४६ तक का सारांश

आहारपरिण्णा : तइयं अज्झयणं

आहारपरिज्ञा : तृतीय अध्ययन

अनेकविध वनस्पतिकायिक जीवों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि एवं आहार की प्रक्रिया—

७२२. सुयं मे आउसंतेणं भगवता एवमक्खातं-इह खलु आहारपरिण्णा णाम अज्झयणे, तस्स णं अयमट्ठे-इह खलु पाईणं वा ४ सव्वातो सव्वावंति लोगंसि चत्तारि वीयकाया एवमाहिज्जंति, तं जहा—अग्गबीया मूलबीया पोरबीया खंधबीया ।

७२२. आयुष्मन् ! मैंने सुना है, उन भगवान् श्री महावीर स्वामी ने कहा था—इस तीर्थंकर देव के शासन (निर्ग्रन्थ-प्रवचन) में आहारपरिज्ञा नामक एक अध्ययन है, जिसका अर्थ (भाव) यह है—इस समग्र लोक में पूर्व आदि दिशाओं तथा ऊर्ध्व.आदि विदिशाओं में सर्वत्र चार प्रकार के बीज काय वाले जीव होते हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—अग्रबीज, मूलबीज, पर्वबीज एवं स्कन्धबीज ।

७२३. (१) तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इह एगतिया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा पुढविवक्कमा । तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवकम्म[1] (वक्कमा) णाणाविहजोणियासु पुढवीसु रुक्खत्ताए विउट्टंति । ते जीवा तासिं णाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सतिसरीरं नाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति, परिविद्धत्थं तं सरीरगं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं[2] संतं सव्वप्पणताए आहारेंति । अवरे वि य णं तेसि पुढविजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा नाणावण्णा नाणागंधा नाणारसा नाणाफासा नाणासंठाणसंठिया नाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विता ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंतीति मक्खायं ।

(२) अहावरं पुरक्खातं—इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तवक्कमा कम्मोवगा कम्मनिदाणेणं तत्थवक्कमा पुढविजोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं पुढविजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढवीसरीरं आउसरीरं तेउसरीरं वाउसरीरं वणस्सइसरीरं, णाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति, परिविद्धत्थं तं सरीरगं पुव्वाहारियं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं सव्वप्पणाए आहारं आहारेंति । अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा नाणावण्णा नाणागंधा नाणारसा

---

[1] 'तत्यवक्कमा'—तत्रोत्पत्तिस्थान उपक्रम्य आगत्य—उस उत्पत्तिस्थान-योनि में आकर ।

[2] सारूविकडं ति समानरूवकडं, वृक्षत्वेन परिणामितमित्यर्थः—चूर्णि स्वरूपतां नीतं सत् तन्यमयतां प्रतिपद्यते ।

—शी. वृत्ति. सूत्र क्र. मू. पा. टि. पृ. १९५

नाणाफासा नाणासंठाणसंठिया नाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विता, ते जीवा कम्मोववन्ना भवंतीति मक्खायं।

(३) अहावरं पुरक्खायं इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा(मा) कम्मोवगा कम्मनिदाणेणं तत्थवक्कमा रुक्खजोणिएसु रुक्खेसु रुक्खत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउ० तेउ० वाउ० वणस्सतिसरीरं, नाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति परिविद्धत्थं तं सरीरगं पुव्वाहारितं तयाहारियं विपरिणयं सारूविकडं संतं। अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा जाव ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंतीति मक्खायं।

(४) अहावरं पुरक्खायं—इहेगतिया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तवक्कमा कम्मोवगा कम्मनिदाणेणं तत्थवक्कम्मा(मा) रुक्खजोणिएसु रुक्खेसु मूलत्ताए कंदत्ताए खंधत्ताए तयत्ताए सालत्ताए पवालत्ताए पत्तत्ताए पुप्फत्ताए फलत्ताए बीयत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं आउ० तेउ० वाउ० वणस्सति०, नाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सरीरं अचित्तं कुव्वंति, परिविद्धत्थं तं सरीरगं जाव सारूविकडं संतं, अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं मूलाणं कंदाणं खंधाणं तयाणं सालाणं पवालाणं जाव बीयाणं सरीरा नाणावण्णा नाणागंधा जाव नाणविहसरीरपोग्गलविउव्विया, ते जीवा कम्मोववण्णगा भवंतीति मक्खायं।

७२३. (१) उन बीज-कायिक जीवों में जो जिस प्रकार के बीज से, जिस-जिस अवकाश (उत्पत्ति स्थान अथवा भूमि, जल, काल, आकाश और बीज के संयोग) से उत्पन्न होने की योग्यता रखते हैं, वे उस उस बीज से तथा उस-उस अवकाश में उत्पन्न होते हैं। इस दृष्टि से कई बीज-कायिक जीव पृथ्वीयोनिक होते हैं, पृथ्वी पर (उस बीज और अवकाश से) उत्पन्न होते हैं, उसी पर स्थित रहते हैं और उसी पर उनका विकास होता है।

इसलिए पृथ्वीयोनिक, पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले और उसी पर स्थित रहने व बढ़ने वाले वे जीव (बीज-कायिक प्राणी) कर्म के वशीभूत होकर तथा कर्म के निदान (आदिकारण) से आकर्षित होकर वहीं (पृथ्वी पर ही) वृद्धिगत होकर नाना प्रकार की योनि वाली पृथ्वियों पर वृक्ष रूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव नाना जाति की योनियों वाली पृथ्वियों के स्नेह (स्निग्धता) का आहार करते हैं। वे जीव (स्वशरीर सन्निकृष्ट) पृथ्वी शरीर अप्-शरीर (भौम या आकाशीय जल के शरीर) तेजःशरीर, (अग्नि की राख आदि) वायु-शरीर और वनस्पति-शरीर का आहार करते हैं। तथा वे पृथ्वी जीव नाना-प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के शरीर को अचित्त (प्रासुक) कर देते हैं। वे आदि के अत्यन्त विध्वस्त (पूर्व जीव से मुक्त) उस शरीर को कुछ प्रासुक कुछ परितापित कर देते हैं, वे (वनस्पतिजीव) उन (पृथ्वीकायादि) के पूर्व-आहारित (पृथ्वीकायादि से उत्पत्ति के समय उनका जो आहार किया था, और स्वशरीर के रूप में परिणत) किया था, उसे अब भी (उत्पत्ति के बाद भी) त्वचास्पर्श द्वारा आहार करते हैं, तत्पश्चात् उन्हें स्वशरीर के रूप में विपरिणत करते हैं।

और उक्त विपरिणामित शरीर को स्व स्वरूप (स्वसमान रूप) कर लेते हैं। इस प्रकार वे सर्व दिशाओं से आहार करते हैं।

उन पृथ्वीयोनिक वृक्षों के दूसरे (मूल, शाखा, प्रशाखा, पत्र, पुष्प, फलादि के रूप में बने हुए) शरीर भी अनेक वर्ण, अनेक गन्ध, नाना रस, नाना स्पर्श के तथा नाना संस्थानों से संस्थित एवं नाना प्रकार के शारीरिक पुद्गलों (रस, वीर्य आदि) से विकुर्वित होकर बनते हैं। वे जीव कर्मों के उदय (एकेन्द्रिय जाति, स्थावरनाम, वनस्पति योग्य आयुष्य आदि कर्मों के उदय) के अनुसार स्थावरयोनि में उत्पन्न होते हैं, ऐसा तीर्थंकरों ने कहा है।

(२) इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने पहले (वनस्पतिकाय का दूसरा भेद) बताया है, कि कई सत्त्व (वनस्पतिकायिक जीव) वृक्ष में ही उत्पन्न होते हैं, अतएव वे वृक्षयोनिक होते हैं, वृक्ष में स्थित रह कर वहीं वृद्धि को प्राप्त होते हैं। (पूर्वोक्त प्रकार से) वृक्षयोनिक, वृक्ष में उत्पन्न, उसी में स्थिति और वृद्धि को प्राप्त करने वाले कर्मों के उदय के कारण वे (वनस्पतिकाय के अंगभूत) जीव कर्म से आकृष्ट होकर पृथ्वीयोनिक वृक्षों में वृक्षरूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव उन पृथ्वीयोनिक वृक्षों से उनके स्नेह (स्निग्धता) का आहार करते हैं, तथा वे जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के शरीर का आहार करते हैं। वे नाना प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के शरीर को अचित्त (प्रासुक) कर डालते हैं। वे परिविध्वस्त (प्रासुक) किये हुए एवं पहले आहार किये हुए, तथा त्वचा द्वारा आहार किये हुए पृथ्वी आदि शरीरों को विपरिणामित (पचा) कर अपने अपने समान स्वरूप में परिणत कर लेते हैं। वे सर्व दिशाओं से आहार लेते हैं। उन वृक्षयोनिक वृक्षों के नाना वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले, अनेक प्रकार के संस्थानों (अवयवरचनाओं) से युक्त दूसरे शरीर भी होते हैं, जो अनेक प्रकार के शारीरिक (शरीरगत रस, वीर्य आदि) पुद्गलों से विकुर्वित (विरचित) होते हैं। वे जीव कर्म के उदय के अनुरूप ही पृथ्वीयोनिक वृक्षों में उत्पन्न होते हैं, यह श्रीतीर्थंकर देव ने कहा है।

(३) इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकायिक जीवों का अन्य भेद बताया है। इसी वनस्पतिकायवर्ग में कई जीव वृक्षयोनिक होते हैं, वे वृक्ष में उत्पन्न होते हैं, वृक्ष में ही स्थिति एवं वृद्धि को प्राप्त होते हैं। वृक्ष में उत्पन्न होने वाले, उसी में स्थित रहने और उसी में संवृद्धि पाने वाले वृक्षयोनिक जीव कर्म के वशीभूत होकर कर्म के ही कारण उन वृक्षों में आकर वृक्षयोनिक जीवों में वृक्षरूप से उत्पन्न होते हैं। वे जीव उन वृक्षयोनिक वृक्षों के स्नेह (स्निग्धता) का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीरों का भी आहार करते हैं। वे त्रस और स्थावर प्राणियों के शरीर को अचित्त (प्रासुक) कर देते हैं। परिविध्वस्त (प्रासुक) किये हुए तथा पहले आहार किये हुए और पीछे त्वचा के द्वारा आहार किये हुए पृथ्वी आदि के शरीरों को पचा कर अपने रूप में मिला लेते हैं। उन वृक्षयोनिक वृक्षों के नाना वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले दूसरे शरीर (मूल, कन्द, स्कन्धादि) होते हैं। वे जीव कर्मोदय वश वृक्षयोनिक वृक्षों में उत्पन्न होते हैं, यह तीर्थंकर देव ने कहा है।

(४) श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकायिक जीवों के और भेद भी बताए हैं। इस वनस्पतिकायवर्ग में कई जीव वृक्षयोनिक होते हैं, वे वृक्ष में ही उत्पन्न होते हैं, वृक्ष में ही स्थित रहते हैं, वृक्ष में ही संवर्द्धित होते रहते हैं। वे वृक्षयोनिक जीव उसी में उत्पन्न, स्थित एवं संवृद्ध होकर कर्मोदयवश

उन-उन कर्मों के कारण वृक्षों में आते हैं और वृक्षयोनिक वृक्षों में मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा (छाल) शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल एवं वीज के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव उन वृक्षयोनिक वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीर का आहार करते हैं। वे जीव नाना प्रकार के त्रस और स्थावर जीवों के (सचित्त शरीर में से रस खींच कर उनके) शरीर को अचित्त कर देते हैं। फिर प्रासुक (परिविध्वस्त) हुए उनके शरीरों को पचा कर अपने समान रूप में परिणत कर डालते हैं। उन वृक्षयोनिक मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज रूप जीवों के और भी शरीर होते हैं, जो नाना वर्ण, गन्ध, रस, एवं स्पर्श वाले तथा नाना प्रकार के पुद्गलों से वने हुए होते हैं। ये जीव कर्मोदयवश ही वहाँ उत्पन्न होते हैं, यह श्रीतीर्थंकरदेव ने कहा है।

७२४. (१) अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता रुक्खजोणिया रुक्खसंभवा रुक्खवक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तवक्कमा कम्मोवगा कम्मनिदाणेणं तत्थवक्कमा रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं अज्झोरुहित्ताते विउट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं रुक्खाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव सारूविकडं संतं, अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झोरुहाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं।

(२) अहावरं पुरक्खायं—इहेगतिया सत्ता अज्झोरुहजोणिया[1] अज्झोरुहसंभवा जाव कम्मनिदाणेणं तत्थवक्कमा रुक्खजोणिएसु अज्झोरुहेसु अज्झोरुहत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झोरुहाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव सारूविकडं संतं, अवरे वि य णं तेसिं अज्झोरुहजोणियाणं अज्झोरुहाणं सरीरा नाणावण्णा जाव मक्खायं।

(३) अहावरं पुरक्खायं—इहेगतिया सत्ता अज्झोरुहजोणिया अज्झोरुहसंभवा जाव कम्मनिदाणेणं तत्थवक्कमा अज्झोरुहजोणिएसु अज्झोरुहेतु अज्झोरुहित्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं अज्झोरुहजोणियाणं अज्झोरुहाणं सिणेहमाहारेंति, [ते जीवा आहारेंति] पुढविसरीरं जाव सारूविकडं संतं, अवरे वि य णं तेसिं अज्झोरुहजोणियाणं [अज्झोरुहाणं] सरीरा नाणावण्णा जाव मक्खायं।

(४) अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता अज्झोरुहजोणिया अज्झोरुहसंभवा जाव कम्मनिदाणेणं तत्थवक्कमा अज्झोरुहजोणिएसु अज्झोरुहेसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं अज्झोरुहजोणियाणं अज्झोरुहाणं सिणेहमाहारेंति जाव अवरे वि य णं तेसिं अज्झोरुहजोणियाणं मूलाणं जाव बीयाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं।

७२४. (१) श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकाय के अन्य भेद भी बताए हैं। इस वनस्पतिकाय जगत् में कई वृक्षयोनिक जीव वृक्ष में ही उत्पन्न होते हैं, वृक्ष में ही स्थित रहते एवं बढ़ते हैं। इस प्रकार उसी में उत्पन्न, स्थित और संवर्धित होने वाले वे वृक्षयोनिक जीव कर्मोदयवश तथा कर्म के कारण ही वृक्षों में आकर उन वृक्षयोनिक वृक्षों में 'अध्यारूह' वनस्पति के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे (अध्यारूह) जीव वृक्षयोनिक वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी से लेकर वनस्पति तक के शरीर का भी आहार करते हैं। यहाँ तक कि वे उन्हें अचित्त, प्रासुक एवं

---

[1] (क) अज्झारोहा—रुक्खस्स उवरिं अन्नो रुक्खो ¨ चूर्णि।

(ख) वृक्षेपु उपर्युपरि अध्यारोहन्तीत्यध्यारुहा: —शीलांकवृत्ति

परिणामित करके अपने स्वरूप में मिला लेते हैं। उन वृक्षयोनिक अध्यारूह वनस्पति के नाना प्रकार के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शवाले तथा अनेकविध रचनावाले एवं विविध पुद्गलों से बने हुए दूसरे शरीर भी होते हैं। वे अध्यारूह वनस्पति जीव स्वकर्मोदयवश कर्मप्रेरित होकर ही वहाँ उस रूप में उत्पन्न होते हैं, ऐसा श्रीतीर्थंकरदेव ने कहा है।

(२) श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकाय के और भी भेद कहे हैं। इस वनस्पतिकायजगत् में अध्यारूहयोनिक जीव अध्यारूह में ही उत्पन्न होते हैं, उसी में स्थित रहते, एवं संवर्द्धित होते हैं। वे जीव कर्मोदय के कारण ही वहाँ आकर वृक्षयोनिक अध्यारूह वृक्षों में अध्यारूह के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव उन वृक्षयोनिक अध्यारूहों के स्नेह का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी से लेकर वनस्पतिक के शरीर का आहार करते हैं। वे त्रस और स्थावर जीवों के शरीर से रस खींच कर उन्हें अचित्त कर डालते हैं, फिर उनके परिविध्वस्त शरीर को पचा कर अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। उन अध्यारूहयोनिक अध्यारूह वनस्पतियों के अनेक वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शवाले, नाना संस्थानवाले, अनेकविध पुद्गलों से बने हुए और भी शरीर होते हैं, वे जीव अपने पूर्वकृत कर्मों के प्रभाव से ही अध्यारूहयोनिक अध्यारूहों में उत्पन्न होते हैं, ऐसा तीर्थंकर प्रभु ने कहा है।

(३) श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकाय के और भी भेदों का प्रतिपादन पहले किया है। इस वनस्पतिकायिक जगत् में कई अध्यारूहयोनिक प्राणी अध्यारूह वृक्षों में ही उत्पन्न होते हैं, उन्हीं में उनकी स्थिति और संवृद्धि होती है। वे प्राणी तथाप्रकार के कर्मोदयवश वहाँ आते हैं और अध्यारूहयोनिक वृक्षों में अध्यारूह रूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव अध्यारूहयोनिक अध्यारूह वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीरों का भी आहार करते हैं। तथा वे जीव त्रस और स्थावरप्राणियों के शरीर से रस खींच कर उन्हें अचित्त प्रासुक एवं विपरिणामित करके अपने स्वरूप में परिणत कर लेते हैं। उन अध्यारूहयोनिक अध्यारूह वृक्षों के नाना वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थानों से युक्त, विविध पुद्गलों से रचित दूसरे शरीर भी होते हैं। स्वकृतकर्मोदयवश ही वहाँ उत्पन्न होते हैं, ऐसा श्रीतीर्थंकर भगवान् के कहा है।

(४) श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकाय के और भी भेदों का निरूपण किया है। इस वनस्पतिकायजगत् में कई जीव अध्यारूहयोनिक होते हैं। वे अध्यारूह वृक्षों में उत्पन्न होते हैं, तथा उन्हीं में स्थित रहते हैं और बढ़ते हैं। वे अपने पूर्वकृत कर्मों से प्रेरित होकर अध्यारूह वृक्षों में आते हैं और अध्यारूहयोनिक अध्यारूह वृक्षों के मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल एवं बीज के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे (पूर्वोक्त) जीव उन अध्यारूहयोनिक अध्यारूह वृक्षों के स्नेह का आहार करते हैं। तदतिरिक्त वे पृथ्वी से लेकर वनस्पति तक के शरीरों का भी आहार करते हैं। वे जीव त्रस और स्थावर जीवों के शरीर से रस खींच कर उन्हें अचित्त कर देते हैं। प्रासुक हुए उस शरीर को वे विपरिणामित करके अपने स्वरूप में परिणत कर लेते हैं। उन अध्यारूहयोनिक वृक्षों के मूल से लेकर बीज तक के जीवों के नाना वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श एवं संस्थान से युक्त, अनेक प्रकार के पुद्गलों से रचित अन्य शरीर भी होते हैं। वे (पूर्वोक्त सभी जीव) स्व-स्वकर्मोदयवश ही इनमें उत्पन्न होते हैं, ऐसा तीर्थंकर भगवान् ने कहा है।

७२५. (१) आहवरं पुरक्खातं इहेगतिया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा जाव णांणाविह-

जोणियासु पुढवीसु तणत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं नाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति जाव ते जीवा कम्मोववन्ना भवंतीति मक्खायं।

(२) एवं पुढविजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति जाव मक्खायं।

(३) एवं तणजोणिएसु तणेसु तणत्ताए विउट्टंति जाव मक्खायं।

(४) एवं तणजोणिएसु तणेसु मूलत्ताए जाव बीयत्ताए विउट्टंति, ते जीवा जाव एवमक्खायं।

७२५. (१) श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकायिक जीवों के और भेद भी बताए हैं। इस वनस्पतिकायिक जगत् में कई प्राणी पृथ्वीयोनिक होते हैं, वे पृथ्वी से ही उत्पन्न होते हैं, पृथ्वी में ही स्थित होकर उसी में संवर्धन पाते हैं। इस प्रकार पृथ्वी में ही उत्पन्न, स्थित एवं संवृद्ध वे जीव स्वकर्मोदयवश ही नाना प्रकार की जाति (योनि) वाली पृथ्वियों पर तृणरूप में उत्पन्न होते हैं। वे तृण के जीव उन नाना जाति वाली पृथ्वियों के स्नेह (स्निग्धरस) का आहार करते हैं। वे पृथ्वी से लेकर वनस्पति तक के शरीरों का आहार करते हैं। त्रस-स्थावर जीवों के शरीरों को अचित्त, प्रासुक एवं स्वरूप में परिणत कर लेते हैं। वे जीव कर्म से प्रेरित होकर ही पृथ्वीयोनिक तृण के रूप में उत्पन्न होते हैं, इत्यादि सब वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए। यह सब श्रीतीर्थंकर प्रभु ने कहा है।

(२) इसी प्रकार कई (वनस्पतिकायिक) जीव पृथ्वीयोनिक तृणों में तृण रूप से उत्पन्न होते हैं, वहीं स्थित रहते, एवं संवृद्ध होते हैं। वे पृथ्वीयोनिक तृणों के शरीर का आहार करते हैं, इत्यादि समस्त वर्णन पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

(३) इसी तरह कई (वनस्पतिकायिक) जीव तृणयोनिक तृणों में (स्वकृतकर्मोदयवश) तृणरूप में उत्पन्न होते हैं, वहीं स्थित एवं संवृद्ध होते हैं। वे जीव तृणयोनिक तृणों के शरीर का ही आहार ग्रहण करते हैं। शेष सारा वर्णन पहले की तरह यहाँ भी समझ लेना चाहिए।

(४) इसी प्रकार कई (वनस्पतिकायिक) जीव तृणयोनिक तृणों में मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल एवं बीजरूप में (कर्मोदयवश) उत्पन्न होते हैं, वहीं स्थित रहते एवं संवृद्ध होते हैं। वे उन्हीं तृणयोनिक तृणों का आहार करते हैं। इन जीवों का शेष समस्त वर्णन भी पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

७२६. एवं ओसहीण वि चत्तारि आलावगा (४)।

७२६. इसी प्रकार ओषधिरूप में उत्पन्न (वनस्पतिकायिक) जीवों के भी चार आलापक [(१) नानाविध पृथ्वीयोनिक पृथ्वियों में औषधि विविध अन्नादि की पकी हुई फसल के रूप में, (२) पृथ्वीयोनिक औपधियों में औषधि के रूप में, (३) औषधियोनिक औषधियों में औषध के रूप में, एवं (४) औपधियोनिक औपधियों में (मूल से लेकर बीज तक के रूप में उत्पत्ति)] और उनका सारा वर्णन भी पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

७२७. एवं हरियाण वि चत्तारि आलावगा (४)।

७२७. इसी प्रकार हरितरूप में उत्पन्न वनस्पतिकायिक जीवों के भी चार आलापक [(१) नानाविध पृथ्वीयोनिक पृथ्वियों पर हरित के रूप में, (२) पृथ्वीयोनिक हरितों में हरित के रूप में,

(३) हरित योनिक हरितों में हरित (अध्यारूह) के रूप में, एवं (४) हरितयोनिक हरितों में मूल से लेकर बीज तक के रूप में] एवं उनका सारा वर्णन भी पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

७२८. अहावरं पुरक्खायं—इहेगतिया सत्ता पुढविजोणिया पुढविसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थवक्कमा नाणाविहजोणियासु पुढवीसु आयत्ताए वायत्ताए कायत्ताए कुहणत्ताए[1] कंदुकत्ताए उव्वेहलियत्ताए निव्वेहलियत्ताए सछत्ताए सज्झत्ताए छत्तगत्ताए वासाणियत्ताए कूरत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं नाणाविहजोणियाणं पुढवीणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं पुढविजोणियाणं आयाणं जाव कुराणं सरीरा नाणावण्णा जाव मक्खातं एक्को चेव आलावगो (१), सेसा तिण्णि नत्थि।

७२८. श्रीतीर्थंकरदेव ने वनस्पतिकाय के और भी भेद बताए हैं। इस वनस्पतिकाय जगत् में कई जीव पृथ्वीयोनिक होते हैं, वे पृथ्वी से उत्पन्न होते हैं, पृथ्वी पर ही रहते और उसी पर ही विकसित होते हैं। वे पूर्वोक्त पृथ्वीयोनिक वनस्पतिजीव स्व-स्वकर्मोदयवश कर्म के कारण ही वहाँ आकर उत्पन्न होते हैं। वे नाना प्रकार की योनि (जाति) वाली पृथ्वियों पर आर्य वाय, काय, कूहण, कन्दुक, उपेहणी, निर्वेहणी, सछत्रक, छत्रक, वासानी एवं कूर नामक वनस्पति के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे (पूर्वोक्त) जीव उन नानाविध योनियों वाली पृथ्वियों के स्नेह का आहार करते हैं, तथा वे जीव पृथ्वीकाय आदि छहों काय के जीवों के शरीर का आहार करते हैं। पहले उनसे रस खींच कर वे उन्हें अचित्त-प्रासुक कर देते हैं, फिर उन्हें अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। उन पृथ्वीयोनिक (विविध पृथ्वियों से उत्पन्न) आर्यवनस्पति से लेकर कूरवनस्पति तक के जीवों के विभिन्न वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आकार-प्रकार और ढांचे वाले तथा विविध पुद्गलों से रचित दूसरे शरीर भी होते हैं। इन जीवों का एक ही आलापक होता है, शेष तीन आलापक नहीं होते।

७२९. अहावरं पुरक्खातं—इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थवक्कमा णाणाविहजोणिएसु उदएसु रुक्खत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं उदगजोणियाणं रुक्खाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं, जहा पुढविजोणियाणं रुक्खाणं चत्तारि गमा [४] अज्झोरुहाण वि तहेव [४], तणाणं ओसहीणं हरियाणं चत्तारि आलावगा भाणियव्वा एक्केक्के [४, ४, ४]।

७२९. श्रीतीर्थंकरप्रभु ने वनस्पतिकाय के और भी भेदों का निरूपण किया है। इस वनस्पतिकायजगत् में कई उदकयोनिक (जल में उत्पन्न होने वाली) वनस्पतियाँ होती हैं, जो जल में ही उत्पन्न होती हैं, जल में ही रहती और उसी में बढ़ती हैं। वे उदकयोनिक वनस्पति जीव पूर्वकृत कर्मोदयवश-कर्मों के कारण ही उनमें आते हैं और नाना प्रकार की योनियों (जातियों) वाले उदकों (जलकायों) में वृक्षरूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव नानाप्रकार के जाति वाले जलों के स्नेह का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पतिकाय के शरीरों का भी

---

[1] तुलना—"कुहणा अणेगविहा पन्नत्ता, तं० आए काए कुहणे… कुरए।" —प्रज्ञापनासूत्र प्रथम पद

आहार करते हैं। उन जलयोनिक वृक्षों के विभिन्न वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श एवं संस्थान वाले तथा विविध पुद्गलों से रचित दूसरे शरीर भी होते हैं। वे जीव स्वकर्मोदयवश ही जलयोनिक वृक्षों में उत्पन्न होते हैं। जैसे पृथ्वीयोनिक वृक्ष के चार भेदों के प्रत्येक के चार-चार आलापक बताए गए थे, वैसे ही यहाँ जलयोनिक वृक्षों के भी चार भेदों (वृक्ष, अध्यारूह वृक्ष, तृण और हरित) के भी प्रत्येक के चार-चार आलापक कहने चाहिए।

७३०. अहावरं पुरक्खायं—इहेगत्तिया सत्ता उदगजोणिया उदगसंभवा जाव कम्मणियाणेणं तत्थवक्कमा णाणाविहजोणिएसु उदएसु[1] उदगत्ताए अवगत्ताए पणगत्ताए सेवालत्ताए कलंबुगत्ताए हढत्ताए कसेरुयत्ताए कच्छ०भाणियत्ताए उप्पलत्ताए पउमत्ताए कुमुदत्ताए नलिणत्ताए सुभग० सोगंधियत्ताए पोंडरिय० महापोंडरिय० सयपत्त० सहस्सपत्त० एवं कल्हार० कोकणत० अरविंदत्ताए तामरसत्ताए भिस० भिसमुणाल० पुक्खलत्ताए पुक्खलत्थिभगत्ताए विउंट्टति, ते जीवा तेसिं नाणाविहजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं जाव पुक्खलत्थिभगाणं सरीरा नाणावण्णा जाव मक्खायं, एक्को चेव आलावगो [१]।

७३०. श्रीतीर्थंकर भगवान् ने वनस्पतिकाय के और भेद भी वताए हैं। इस वनस्पतिकाय-जगत् में कई जीव उदकयोनिक होते हैं, जो जल में उत्पन्न होते हैं, वहीं रहते और वहीं संवृद्धि पाते हैं। वे जीव अपने पूर्वकृत कर्मो के कारण ही तथारूप वनस्पतिकाय में आते हैं और वहाँ वे अनेक प्रकार की योनि (जाति) के उदकों में उदक, अवक, पनक (काई), शैवाल, कलम्बुक, हड, कसेरुक, कच्छभाणितक, उत्पल, पद्म, कुमुद, नलिन, सुभग, सौगन्धिक, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, शतपत्र, सहस्रपत्र, कल्हार, कोकनद, अरविन्द, तामरस, भिस, मृणाल, पुष्कर, पुष्कराक्षिभग के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव नाना जाति वाले जलों के स्नेह का आहार करते हैं, तथा पृथ्वीकाय आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं। उन जलयोनिक वनस्पतियों के उदक से लेकर पुष्कराक्षिभग तक जो नाम वताए गए हैं, उनके विभिन्न वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संस्थान (अवयवरचना) से युक्त एवं नानाविध पुद्गलों से रचित दूसरे शरीर भी होते हैं। वे सभी जीव स्व-कृतकर्मानुसार ही इन जीवों में उत्पन्न होते हैं, ऐसा तीर्थंकरदेव ने कहा है। इसमें केवल एक ही आलापक होता है।

७३१. [१] अहावरं पुरक्खायं—इहेगतिया सत्ता तेहिं चेव पुढवि-जोणिएहिं रुक्खेहिं रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं, रुक्खजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं [३], रुक्खजोणिएहिं अज्झोरुहेहिं, अज्झोरुहजोणिएहिं अज्झोरुहेहिं, अज्झोरुहजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं [३], पुढविजोणिएहिं तणेहिं, तणजोणिएहिं तेणेहिं, तणजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं [३], एवं ओसहीहिं तिण्णि आलावगा [३], एवं हरिएहिं वि तिण्णि आलावगा [३], पुढविजोणिएहिं आएहिं काएहिं जाव कूरेहिं [१], उदगजोणिएहिं रुक्खेहिं, रुक्खजोणिएहिं रुक्खेहिं, रुक्खजोणिएहिं मूलेहिं जाव बीएहिं [३], एवं

---

[1] तुलना—"जलरुहा अणेगविहा पन्नत्ता, तं—उदए अवए पणए""पोक्खलत्थिभए""।"

—प्रज्ञापनासूत्र प्रथम पद

अज्झोरुहेहिं वि तिण्णि [३], तणेहिं वि तिण्णि आलावगा [३], ओसहीहिं वि तिण्णि [३], हरितेहिं वि तिण्णि [३], उदगजोणिएहिं उदएहिं अवएहिं जाव पुक्खलत्थिभएहिं [१] तसपाणत्ताए विउट्टंति।

[२] ते जीवा तेसिं पुढविजोणियाणं उदगजोणियाणं रुक्खजोणियाणं अज्झोरुहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहिजोणियाणं हियजोणियाणं रुक्खाणं अज्झोरुहाणं तणाणं ओसहीणं हरियाणं मूलाणं जाव बीयाणं आयाणं कायाणं जाव कुराणं उदगाणं अवगाणं जाव पुक्खलत्थिभगाणं सिणेहमारेंति। ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं रुक्खजोणियाणं अज्झोरुहजोणियाणं तणजोणियाणं ओसहिजोणियाणं हरियजोणियाणं मूलजोणियाणं कंदजोणियाणं जाव बीयजोणियाणं आयजोणियाणं कायजोणियाणं जाव कूरजोणियाणं उदगजोणियाणं अवगजोणियाणं जाव पुक्खलत्थिभगजोणियाणं तसपाणाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं।

७३१. (१) श्रीतीर्थंकरदेव ने जीवों के अन्य भेद भी बताए हैं—इस वनस्पतिकायिक जगत् में कई जीव-पृथ्वीयोनिक वृक्षों में, कई वृक्षयोनिक वृक्षों में, कई वृक्षयोनिक मूल से लेकर बीजपर्यन्त अवयवों में, कई वृक्षयोनिक अध्यारूह वृक्षों में, कई अध्यारूह योनिक अध्यारूहों में, कई अध्यारूह-योनिक मूल से लेकर बीजपर्यन्त अवयवों में, कई पृथ्वीयोनिक तृणों से, कई तृणयोनिक तृणों में, कई तृणयोनिक मूल से लेकर बीजपर्यन्त अवयवों में, इसी तरह औषधि और हरितों के सम्बन्ध में तीन-तीन आलापक कहे गए हैं, (कई उनमें); कई पृथ्वीयोनिक आर्य, काय से लेकर कूट तक के वनस्पति-कायिक अवयवों में, 'कई उदकयोनिक वृक्षों में, वृक्षयोनिक वृक्षों में, तथा' वृक्षयोनिक मूल से लेकर बीज तक के अवयवों में, इसी तरह अध्यारूहों, तृणों, औषधियों और हरितों में (पूर्वोक्तवत् तीन-तीन आलापक कहे गए हैं, (उनमें), तथा कई उदकयोनिक उदक, अवक से लेकर पुष्कराक्षिभगों में त्रस-प्राणी के रूप में उत्पन्न होते हैं।

(२) वे जीव उन पृथ्वीयोनिक वृक्षों के, जलयोनिक वृक्षों के, अध्यारूहयोनिक वृक्षों के, एवं तृणयोनिक, औषधियोनिक, हरितयोनिक वृक्षों के तथा वृक्ष, अध्यारूह, तृण, औषधि, हरित, एवं मूल से लेकर बीज तक के, तथा आर्य, काय से लेकर कूट वनस्पति तक के एवं उदक अवक से लेकर पुष्कराक्षिभग वनस्पति तक के स्नेह का आहार करते हैं। वे जीव पृथ्वी आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं। उन वृक्षयोनिक, अध्यारूहयोनिक, तृणयोनिक, औषधियोनिक, हरितयोनिक, मूल योनिक, कन्दयोनिक, से लेकर बीजयोनिक पर्यन्त, तथा आर्य, काय से लेकर कूटयोनिकपर्यन्त, एवं अवक अवकयोनि से लेकर पुष्कराक्षिभगयोनिकपर्यन्त त्रसजीवों के[1] नाना वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श एवं संस्थान से युक्त तथा विविध पुद्‌गलों से रचित दूसरे शरीर भी होते हैं। ये सभी जीव स्वस्वकर्मानुसार ही अमुक-अमुक रूप में अमुकयोनि में उत्पन्न होते हैं। ऐसा तीर्थंकरदेव ने कहा है।

विवेचन—अनेकविध वनस्पतिकायिक जीवों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि और आहार की प्रक्रिया—प्रस्तुत दस सूत्रों (७२२ से ७३१ तक) में शास्त्रकार ने वनस्पतिकाय जीव के बीज, वृक्ष आदि भेदों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि तथा आहार की प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन किया है।

---

[1] देखें—विवेचन.

वनस्पतिकायिक जीवों के मुख्य प्रकार—वनस्पतिकायिक जीवों के यहाँ मुख्यतया निम्नोक्त भेदों का उल्लेख है—बीजकायिक, पृथ्वीयोनिकवृक्ष वृक्षयोनिकवृक्ष, वृक्षयोनिकवृक्षों में वृक्ष, वृक्षयोनिक वृक्षों से उत्पन्न मूल आदि से लेकर बीज तक, वृक्षयोनिक वृक्षों से उत्पन्न अध्यारूह, वृक्षयोनिक अध्यारूहों में उत्पन्न अध्यारूह, अध्यारूहयोनिकों में उत्पन्न अध्यारूह, अध्यारूहयोनिक अध्यारूहों में उत्पन्न मूल से लेकर बीज तक अवयव, अनेकविध पृथ्वीयोनिक तृण, पृथ्वीयोनिक तृणों में उत्पन्न, तृण, तृणयोनिक तृणों में उत्पन्न तृण, तृणयोनिक तृणों के मूल से लेकर बीज तक अवयव, तथा औषधि हरित, अनेकविध पृथ्वी में उत्पन्न आर्य, वाय से लेकर कूट तक की वनस्पति, उदकयोनिक वृक्ष, (अध्यारूह, तृण औषधि तथा हरित आदि), अनेकविधउदकयोनि में उत्पन्न उदक से लेकर पुष्कराक्षिभग तक की वनस्पति आदि ।

बीजकायिक जीव चार प्रकार के होते हैं—अग्रबीज (जिसके अग्रभाग में बीज हो, जैसे—तिल, ताल, आम, गेहूँ, चावल आदि), मूलबीज, (जो मूल से उत्पन्न होते हैं, जैसे—अदरक आदि), पर्वबीज (जो पर्व से उत्पन्न होते हैं, जैसे—ईख आदि) और स्कन्धबीज (जो स्कन्ध से उत्पन्न होते हैं, जैसे सल्लकी आदि) ।

उत्पत्ति के कारण—पूर्वोक्त विविध प्रकार की वनस्पतियों की योनि (मुख्य उत्पत्तिस्थान) भिन्न-भिन्न हैं । पृथ्वी, वृक्ष, जल बीज आदि में से जिस वनस्पति की जो योनि है, वह वनस्पति उसी योनि से उत्पन्न कहलाती है । वृक्षादि जिस वनस्पति के लिए जो प्रदेश उपयुक्त होता है, उसी प्रदेश में वह (वृक्षादि वनस्पति) उत्पन्न होती है, अन्यत्र नहीं, तथा जिसकी उत्पत्ति के लिए जो काल, भूमि जल, आकाशप्रदेश और बीज आदि अपेक्षित है, उनमें से एक के भी न होने पर वह उत्पन्न नहीं होता । तात्पर्य यह है कि वनस्पतिकायिक विविध प्रकार के जीवों की उत्पत्ति के लिए भिन्न-भिन्न काल, भूमि, जल, बीज आदि तो बाह्य निमित्त कारण हैं ही, साथ ही अन्तरंग कारण कर्म भी एक अनिवार्य कारण है । कर्म से प्रेरित होकर ही विविध वनस्पतिकायिक जीव नानाविध योनियों में उत्पन्न होता है । कभी यह पृथ्वी से वृक्ष के रूप में उत्पन्न होती है, कभी पृथ्वी से उत्पन्न हुए वृक्ष से वृक्ष के रूप में उत्पन्न होती है, कभी वृक्षयोनिक वृक्ष के रूप में उत्पन्न होती है और कभी वृक्षयोनिक वृक्षों से मूल, कन्दफल, मूल, त्वचा, पत्र, बीज, शाखा, बेल, स्कन्ध आदि रूप में उत्पन्न होती है । इसी तरह कभी वृक्षयोनिक वृक्ष से अध्यारूह आदि चार रूपों में उत्पन्न होती है । कभी नानायोनिक पृथ्वी से तृणादि चार रूपों में, कभी औषधि आदि चार रूपों में, तथा कभी हरित आदि चार रूपों में उत्पन्न होती है । कभी वह विविधयोनिक पृथ्वी से सीधे आर्य, वाय से लेकर कूट तक की वनस्पति के रूप में उत्पन्न होती है । कभी वह उदकयोनिक उदक में वृक्ष आदि चार रूपों में उत्पन्न होती है, कभी उदक से सीधे ही उदक, अवक से लेकर पुष्कराक्षिभग नाम के वनस्पति के रूप में उत्पन्न होती है । यद्यपि पहले जिन के चार-चार आलापक बताए गए थे, उनके अन्तिम उपसंहारात्मक सूत्र (७३१) में तीन-तीन आलापक बताए गए हैं । इसका तत्त्व केवलिगम्य है ।

अध्यारूह—वृक्ष आदि के ऊपर एक के बाद एक चढ़कर जो उग जाते हैं[1] उन्हें अध्यारूह

---

१. (क) सूत्रकृ. शी. वृत्ति, पत्रांक ३४९ से ३५२ तक का निष्कर्ष

(ख) 'रुक्खजोणिएसु रुक्खेसु अज्झारुहत्ताए····—'रुहं जन्मनि, अहियं आरुहंति ति अज्झारोहा । रुक्खस्स उवरिं अन्नो रुक्खो ।'—चूर्णि । वृक्षेषु उपर्युपरि अध्यारोहन्तीति अध्यारूहाः, वृक्षोपरिजातावृक्षा इत्यभिधीयन्ते ।—शी. वृत्ति.

कहते हैं। इन अध्यारूहों की उत्पत्ति वृक्ष, तृण, औषधि एवं हरित आदि के रूप में यहाँ बताई गई है।

स्थिति, संवृद्धि, एवं आहार की प्रक्रिया—प्रस्तुत सूत्रों में पूर्वोक्त विविध वनस्पतियों की उत्पत्ति एवं संवृद्धि का वर्णन किया गया है, उसका प्रधान प्रयोजन है—इनमें जीव (आत्मा) का अस्तित्व सिद्ध करना। यद्यपि बौद्ध दर्शन में इन स्थावरों को जीव नहीं माना जाता, तथापि जीव का जो लक्षण है—उपयोग, वह इन वृक्षादि में भी परिलक्षित होता है। यह प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि जिधर आश्रय मिलता है, उसी ओर लता जाती है। तथा विशिष्ट अनुरूप आहार मिलने पर वनस्पति की वृद्धि और न मिलने पर कृशता-म्लानता आदि देखी जाती है। इन सब कार्यकलापों को देखते हुए वनस्पति में जीवत्व सिद्ध होता है। चूंकि आहार के बिना किसी जीव की स्थिति एवं संवृद्धि (विकास) हो नहीं सकते। इसलिए आहार की विविध प्रक्रिया भी बताई है। जो वनस्पतिकायिक जीव जिस पृथ्वी आदि की योनि में उत्पन्न होता है वह उसी में स्थित रहता है, और उसी से संवर्धन पाता है। मुख्यतया वह उसी के स्नेह (स्निग्धरस) का आहार करता है। इसके अतिरिक्त वह पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं वनस्पतिकाय के शरीर का आहार करता है। पूर्वोक्त वनस्पतिकायिक जीव जब अपने से संसृष्ट या सन्निकट किसी त्रस या स्थावर जीवों का आहार करते हैं, तब वे पूर्वभुक्त त्रस या स्थावर के शरीर को उसका रस चूसकर परिविध्वस्त (अचित्त) कर डालते हैं।[1] तत्पश्चात् त्वचा द्वारा भुक्त पृथ्वी आदि या त्रस शरीर को वे अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। यही समस्त वनस्पतिकायिक जीवों के आहार की प्रक्रिया है। साथ ही यह भी जान लेना चाहिए कि जो वनस्पति जिस प्रकार के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श वाले जल, भूमि आदि का आहार लेती है, उसी के अनुसार उसका वर्णादि बनता है, या आकार-प्रकार आदि बनता है। जैसे आम एक ही प्रकार की वनस्पति होते हुए भी विभिन्न प्रदेश की मिट्टी, जल, वायु एवं बीज आदि के कारण विभिन्न प्रकार के वर्णादि से युक्त, विविध आकार-प्रकार से विशिष्ट नाना शरीरों को धारण करता है। इसी प्रकार अन्य वनस्पतियों के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए।

स्नेह—प्रस्तुत प्रकरण में स्नेह शब्द का अर्थ शरीर का सार, या स्निग्धतत्व। जिसे अमुक-अमुक वनस्पतिकायिक जीव पी लेता है, या ग्रहण कर लेता है।[2]

नानाविध मनुष्यों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि एवं आहार की प्रक्रिया

७३२. अहावरं पुरक्खायं—णाणाविहाणं मणुस्साणं, तंजहा—कम्मभूमगाणं अकम्मभूमगाणं अंतरदीवगाणं आरियाणं मिलक्खूणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावकासेणं इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडाए जोणीए एत्थ णं मेहुणवत्तिए नामं संयोगे समुप्पज्जति, ते दुहतो वि सिणेहं[3] संचिणंति,

---

[1] इस प्रकार अनेक वृक्ष व वनस्पतियां पाई जाती हैं जो मनुष्य व अन्य त्रस प्राणियों को अपने निकट आने पर खींच कर उनका आहार कर लेते हैं।

[2] 'सिणेहो णाम सरीरसारो, तं आपिवंति'—चूर्णि : स्नेहं स्निग्धभावमाददते।—शी. वृत्ति सूत्र. मू. पा. टिप्पण, पृ. १९५

[3] 'ते दुहतो वि सिणेहं'—सिणेहो नामा अन्योऽन्यगात्र संस्पर्शः। यदा पुरुषस्नेहः शुक्रान्तः नार्योदरमनुप्रविश्य नार्योजसा सह संयुज्यते तदा सो सिणेहो क्षीरोदकवत् अण्णमण्णं 'संचिणति' गृह्णातीत्यर्थः।' अर्थात्—स्नेह का अर्थ पुरुष और स्त्री के परस्पर गात्रसंस्पर्श से जनित पदार्थ।……जब पुरुष का स्नेह—शुक्र नारी के उदर में प्रविष्ट होकर नारी के ओज (रज) के साथ मिलता है, तब वह स्नेह दूध और पानी की तरह परस्पर एकरस हो जाता है, उसी स्नेह को गर्भस्थ जीव सर्वप्रथम ग्रहण करता है। सूत्र कृ. चू. (मू. पा. टि.) पृ. २०२

संचिणित्ता तत्थ णं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए णपुंसगत्ताए विउट्टंति, ते जीवा मातुओयं पितुसुक्कं तं तदुभयं संसट्ठं कलुसं किब्बिसं तप्पढमयाए आहारमाहारेंति, ततो पच्छा जं से माता णाणाविहाओ रसविगईओ[1] आहारमाहारेलि ततो एगदेसेणं ओयमाहारेंति, अणुपुव्वेणं वुड्ढा पलिपागमणुचिन्ना ततो कायातो अभिनिव्वट्टमाणा इत्थि वेगता जणयंति पुरिसं वेगता जणयंति णपुंसगं वेगता जणयंति ते जीवा डहरा समाणा मातुं खीरं सप्पि आहारेंति, अणुपुव्वेणं वुड्ढा ओयणं कुम्मासं तस-थावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव सारूविकडं संतं, अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं मणुस्साणं अंतरदीवगाणं आरियाणं मिलक्खूणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खायं।

७३२. इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने अनेक प्रकार के मनुष्यों का स्वरूप बतलाया है। जैसे कि—कई मनुष्य कर्मभूमि में उत्पन्न होते हैं, कई अकर्मभूमि में और कई अन्तर्द्वीपों (५६ अन्तर्द्वीपों) में उत्पन्न होते हैं। कोई आर्य हैं, कोई म्लेच्छ (अनार्य)। उन जीवों की उत्पत्ति अपने अपने बीज और अपने-अपने अवकाश के अनुसार होती है। इस उत्पत्ति के कारणरूप पूर्वकर्मनिर्मित योनि में स्त्री पुरुष का मैथुनहेतुक संयोग उत्पन्न होता है। (उस संयोग के होने पर) उत्पन्न होने वाले वे जीव तैजस् और कार्मण शरीर द्वारा) दोनों के स्नेह का आहार (ग्रहण) करते हैं, तत्पश्चात् वे जीव वहाँ स्त्रीरूप में, पुरुषरूप में और नपुंसकरूप में उत्पन्न होते हैं। सर्वप्रथम (वहाँ) वे जीव माता के रज (शोणित) और पिता के वीर्य (शुक्र) का, जो परस्पर मिले हुए (संसृष्ट) कलुष (मलिन) और घृणित होते हैं, ओज-आहार करते हैं। उसके पश्चात् माता, जिन अनेक प्रकार की सरस वस्तुओं का आहार करती है, वे जीव उसके एकदेश (अंश) का ओज आहार करते हैं। क्रमशः (गर्भ की) वृद्धि एवं परिपाक को प्राप्त वे जीव माता के शरीर से निकलते हुए कोई स्त्रीरूप में, कोई पुरुषरूप में और कोई नपुंसकरूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव बालक होकर माता के दूध और घी का आहार करते हैं। क्रमशः बड़े हो कर वे जीव चावल, कुलमाष (उड़द या थोड़ा भीजा हुआ मूंग) एवं त्रस-स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति के शरीर का आहार करते हैं। फिर वे उनके शरीर को अचित करके उन्हें अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। उन कर्मभूमिज, अकर्मभूमिज, अन्तर्द्वीपज, आर्य और म्लेच्छ आदि अनेकविध मनुष्यों के शरीर नानावर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श एवं संस्थान वाले नाना पुद्गलों से रचित होते हैं। ऐसा तीर्थंकरदेव ने कहा है।

विवेचन—मनुष्यों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि एवं आहार की प्रक्रिया—प्रस्तुत सूत्र में अनेक प्रकार के मनुष्यों की उत्पत्ति, आदि की प्रक्रिया का निरूपण किया गया है।

नारक और देव से पहले मनुष्यों के आहारादि का वर्णन क्यों?—त्रस जीवों के ४ भेद हैं—नारक, देव, तिर्यञ्च और मनुष्य। इन चारों में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। इसके अतिरिक्त

---

[1] **रसविगईओ**—'रसविगई थीखीरादिआओ णव विग्गइओ।' अर्थात् माता के दूध आदि ९ विग्गई (विकृतियाँ) कहलाती हैं। भगवती सूत्र (१/७/६१) में कहा है—'जंसे माया नाणाविहाओ रसविगइओ आहार माहारेइ'—वह माता नाना प्रकार की रसविकृतियाँ आहार के रूप में ग्रहण करती हैं।

—सूत्र. कृ. चू. (मू. पा. टि) पृ. २०२

देव और नारक अल्पज्ञों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देते, अनुमान—आगम से जाने जाते हैं, इस कारण देव एवं नारक को छोड़ कर यहाँ सर्वप्रथम मनुष्य के आहारादि का वर्णन किया गया है।

देव और नारकों का आहार—नारक जीव अपने पापकर्मों का फल भोगने वाले जीव हैं, जबकि देव प्रायः अपने शुभकर्मों का फल भोगने वाले जीव हैं। नारकजीवों का आहार एकान्त अशुभपुद्गलों का होता है, जबकि देवों का आहार शुभपुद्गलों का होता है। देव और नारक दोनों ही ओज आहार को ग्रहण करते हैं, कवलाहार नहीं करते। ओज-आहार दो प्रकार का होता है—पहला अनाभोगकृत, जो प्रतिसमय होता रहता है, दूसरा आभोगकृत जो जघन्य चतुर्थभक्त से लेकर उत्कृष्ट ३३ हजार वर्ष में होता है।

मनुष्य की उत्पत्ति की प्रक्रिया—जब स्त्री और पुरुष का सुरतसुखेच्छा से संयोग होता है, तब जीव अपने कर्मानुसार स्त्री के गर्भ में उत्पन्न होता है। वह संयोग उस जीव की उत्पत्ति का कारण उसी तरह होता है, जिस तरह दो अरणि की लकड़ियों का संयोग (घर्षण) अग्नि की उत्पत्ति का कारण होता है। उत्पन्न होने वाला जीव कर्मप्रेरित होकर तेजस-कार्मणशरीर के द्वारा पुरुष के शुक्र और स्त्री के शोणित (रज) के आश्रय से उत्पन्न होता है।

स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक की उत्पत्ति का रहस्य—शास्त्रकार ने इसके रहस्य के लिए दो मुख्य कारण बताए हैं—*यथाबीज एवं यथावकाश*। इसका आशय बताते हुए वृत्तिकार कहते हैं—बीज कहते हैं—पुरुष के वीर्य और स्त्री के रज को। सामान्यतया स्त्री, पुरुष या नपुंसक की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न बीज के अनुसार होती है। स्त्री का रज और पुरुष का वीर्य दोनों अविध्वस्त हो, यानी संतानोत्पत्ति की योग्यता वाले हों—दोषरहित हों, और रज की अपेक्षा वीर्य की मात्रा अधिक हो तो पुरुष की, रज की मात्रा अधिक और वीर्य की मात्रा कम हो तो स्त्री की, एवं दोनों समान मात्रा में हों तो नपुंसक की उत्पत्ति होती है।

५५ वर्ष से कम उम्र की स्त्री एवं ७० वर्ष से कम उम्र के पुरुष की अविध्वस्तयोनि संतानोत्पत्ति का कारण मानी जाती है। इसके अतिरिक्त शुक्र-शोणित भी १२ मुहूर्त तक ही संतानोत्पत्ति की शक्ति रखते हैं, तत्पश्चात् वे शक्तिहीन एवं विध्वस्तयोनि हो जाते हैं।

इस भिन्नता का दूसरा कारण बताया है—**'यथावकाश'** अर्थात्—माता के उदर, कुक्षि आदि के अवकाश के अनुसार स्त्री, पुरुष या नपुंसक होता है। सामान्यतया माता की दक्षिण कुक्षि से पुरुष की एवं वामकुक्षि से स्त्री की तथा दोनों ही कुक्षि से नपुंसक की उत्पत्ति होती है।

उसके अतिरिक्त स्त्री, पुरुष या नपुंसक होने का सबसे प्रधान कारण प्राणी का स्वकृत कर्म है। ऐसा सिद्धान्त नहीं है कि स्त्री मरकर अगले जन्म में स्त्री ही हो, पुरुष मर कर पुरुष ही हो। यह सब कर्माधीन है। कर्मानुसार ही वैसे बीज और वैसे अवकाश का संयोग मिलता है।[1]

स्थिति, वृद्धि एवं आहार की प्रक्रिया—स्त्री की कुक्षि में प्रविष्ट होकर वह प्राणी स्त्री द्वारा आहार किये हुए पदार्थों के स्नेह का आहार करता है। उस स्नेह के रूप में प्राप्त माता के आहारांश का आहार करता हुआ, वह बढ़ता है। माता के गर्भ (उदर) से निकल कर वह बालक पूर्वजन्म के अभ्यासवश आहार लेने की इच्छा से माता का स्तनपान करता है उसके पश्चात् वह

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३५३-३५४ का सारांश।

कुछ और वड़ा होने पर स्तनपान छोड़ कर दूध, दही, घृत, चावल, रोटी आदि पदार्थों का आहार करता है। इसके वाद अपने आहार के योग्य त्रस या स्थावर प्राणियों का आहार करता है। भुक्त-पदार्थों को वह पचाकर अपने रूप में मिला लेता है। मनुष्यों के शरीर में जो रस, रक्त, मांस, मेद (चर्वी), हड्डी, मज्जा और शुक्र में सात धातु पाए जाते हैं, वे भी उनके द्वारा किये गए आहारों से उत्पन्न होते हैं; जिनसे मनुष्यों के नाना प्रकार के शरीर बनते हैं।

पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि एवं आहार की प्रक्रिया—

७३३. अहावरं पुरक्खायं—णाणाविहाणं जलचरपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं, तंजहा—मच्छाणं[1] जाव सुंसुमाराणं, तेसिं च णं अहावीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य कम्म० तहेव जाव ततो एगदेसेणं ओयमाहारेंति अणुपुव्वेणं वुड्डा पलिपागमणुचिण्णा ततो कायातो अभिनिव्वट्टमाणा अंडं वेगता जणयंति, पोयं वेगता जणयंति, से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थि वेगया जणयंति पुरिसं वेगया जणयंति नपुंसगं वेगया जणयंति, ते जीवा डहरा समाणा आउसिणेहमाहारेंति अणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सतिकायं तस थावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं जलचरपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं मच्छाणं जाव सुंसुमाराणं सरीरा नाणावण्णा जाव मक्खायं।

७३३. इसके पश्चात् तीर्थंकरदेव ने अनेक प्रकार के पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जलचरों का
वर्णन इस प्रकार किया है, जैसे कि—मत्स्यों से लेकर सुंसुमार तक के जीव पंचेन्द्रियजलचर तिर्यञ्च
हैं। वे जीव अपने-अपने वीज और अवकाश के अनुसार स्त्री और पुरुष का संयोग होने पर स्व-
स्वकर्मानुसार पूर्वोक्त प्रकार के गर्भ में उत्पन्न (प्रविष्ट) होते हैं। फिर वे जीव गर्भ में माता के आहार
के एकदेश को (आंशिक रूप से) ओज-आहार के रूप में ग्रहण करते हैं। इस प्रकार वे क्रमशः वृद्धि
को प्राप्त हो कर गर्भ के परिपक्व होने (गर्भावस्था पूर्ण होने) पर माता की काया से वाहर निकल
(पृथक् हो) कर कोई अण्डे के रूप में होते हैं, तो कोई पोत के रूप में होते हैं। जब वह अंडा फूट
जाता है तो कोई स्त्री (मादा) के रूप में, कोई पुरुष (नर) के रूप में और कोई नपुंसक के रूप में
उत्पन्न होते हैं। वे जलचर जीव वाल्यावस्था में आने पर जल के स्नेह (रस) का आहार करते हैं।
तत्पश्चात् क्रमशः वड़े होने पर वनस्पतिकाय तथा त्रस-स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं। (इसके
अतिरिक्त) वे जीव पृथ्वी आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं, एवं उन्हें पचा कर क्रमशः अपने
रूप में परिणत कर लेते हैं। उन मछली, मगरमच्छ, कच्छप, ग्राह और घड़ियाल आदि सुंसुमार तक
के जलचर पंचेन्द्रियतिर्यञ्च जीवों के दूसरे भी नाना वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले, नाना आकृति
एवं अवयव रचना वाले तथा नाना पुद्गलों से रचित अनेक शरीर होते हैं, यह श्री तीर्थंकरदेव ने
कहा है।

७३४. अहावरं पुरक्खायं—नाणाविहाणं चउप्पयथलचरपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं, तंजहा—एगखुराणं दुखुराणं गंडीपदाणं सणप्फयाणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य

---

[1] तुलना—"जलचर पंचिंदिय तिरिक्ख जोणिया —मच्छा, कच्छा— सुंसुमारा।"—प्रज्ञापनासूत्र, पद १

कम्म० जाव मेहुणपत्तिए नामं संजोगे समुप्पज्जति, ते दुहतो सिणेहं [संचिणंति, संचिणित्ता] तत्थ णं जीवा इत्थित्ताए पुरिसत्ताए जाव विउट्टंति, ते जीवा माउं ओयं पिउं सुक्कं एवं जहा मणुस्साणं जाव इत्थि वेगता जणयंति पुरिसं पि नपुंसगं पि, ते जीवा डहरा समाणा मातुं खीरं सप्पि आहारेंति अणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सतिकायं तसथावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं णाणाविहाणं चउप्पथलचरपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं एगखुराणं जाव सणप्फयाणं सरीरा नाणावण्णा जावमक्खायं ।

७३४. इसके पश्चात् श्री तीर्थंकरदेव ने अनेकजाति वाले स्थलचर चतुष्पद (चौपाये) तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय के सम्बन्ध में वताया है, जैसे कि—कई स्थलचर चौपाये पशु एक खुर वाले, कई दो खुर वाले, कई गण्डीपद (हाथी आदि) और कई (सिंह आदि) नखयुक्त पद वाले होते हैं। वे जीव अपने-अपने वीज और अवकाश के अनुसार उत्पन्न होते हैं। स्त्री-पुरुष (मादा और नर) का कर्मानुसार परस्पर सुरत-संयोग होने पर वे जीव चतुष्पद स्थलचरजाति के गर्भ में आते हैं। वे माता और पिता दोनों के स्नेह का पहले आहार करते हैं। उस गर्भ में वे जीव स्त्री, पुरुष या नपुंसक के रूप में होते हैं। वे जीव (गर्भ में) माता के ओज (रज) और पिता के शुक्र का आहार करते हैं। शेष सव वातें पूर्ववत् मनुष्य के समान समझ लेनी चाहिए। इनमें कोई स्त्री (मादा) के रूप में, कोई नर के रूप में और कोई नपुंसक के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव वाल्यावस्था में माता के दूध और घृत का आहार करते हैं। क्रमशः वड़े होकर वे वनस्पतिकाय का तथा दूसरे त्रस-स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे प्राणी पृथ्वी आदि के शरीर का भी आहार करते हैं। फिर वे आहार किये हुए पदार्थों को पचा कर अपने शरीर के रूप में परिणत कर लेते हैं। उन अनेकविध जाति वाले स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक चतुष्पद जीवों के विविध वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, आकार एवं रचना वाले दूसरे अनेक शरीर भी होते हैं, यह श्री तीर्थंकरप्रभु ने कहा है।

७३५. अहावरं पुरक्खाय—नाणाविहाणं उरपरिसप्पथलचरपंचिदियतिरिक्खजोणियाणं, तंजहा—अहीणं अयगराणं आसालियाणं, महोरगाणं, तेसिं च णं अहावीएणं, अहावगासेणं इत्थीए पुरिस० जाव एत्थ णं मेहुण० एतं चेव, नाणत्तं अंडं वेगता जणयंति, पोयं वेगता जणयंति, से अंडे उब्भिज्जमाणे इत्थि वेगता जणयंति पुरिसं पि नपुंसगं पि, ते जीवा डहरा समाणा वाउकायमाहारेंति अणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सतिकायं तस-थावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरेवि य णं तेसिं णाणाविहाणं उरपरिसप्पथलचरतिरिक्खपंचिदिय० अहीणं जाव महोरगाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खातं ।

७३५. इसके पश्चात् श्री तीर्थंकरदेव ने अनेक प्रकार की जाति वाले उरपरिसर्प (छाती के वल सरक कर चलने वाले), स्थलचर, पंचेन्द्रिय, तिर्यञ्चयोनिक जीवों का वर्णन किया है। जैसे कि सर्प, अजगर, आशालिक (सर्पविशेष) और महोरग (वड़े सांप) आदि उरःपरिसर्प स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीव हैं। वे जीव अपने-अपने उत्पत्तियोग्य वीज और अवकाश के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। इन प्राणियों में भी स्त्री और पुरुष का परस्पर मैथुन नामक संयोग होता है, उस संयोग के होने पर कर्मप्रेरित प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार अपनी-अपनी नियत योनि में उत्पन्न होते हैं। शेष वातें पूर्ववत् समझ लेनी चाहिए। उनमें से कई अंडा देते हैं, कई वच्चा (पोत द्वारा) उत्पन्न

करते हैं। उस अण्डे के फूट जाने पर उसमें से कभी स्त्री (मादा) होती है, कभी नर पैदा होता है, और कभी नपुंसक होता है। वे जीव वाल्यावस्था में वायुकाय (हवा) का आहार करते हैं। क्रमशः वड़े होने पर वे वनस्पतिकाय तथा अन्य त्रस-स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी के शरीर से लेकर वनस्पति के शरीर का भी आहार करते हैं, फिर उन्हें पचाकर अपने शरीर के रूप में परिणत कर लेते हैं। उन (पूर्वोक्त) उरःपरिसर्प स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों के अनेक वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, आकृति एवं संस्थान (रचना) वाले अन्य अनेक शरीर भी होते हैं, ऐसा श्रीतीर्थंकरप्रभु ने कहा है।

७३६. अहावरं पुरक्खायं—नाणाविहाणं भुयपरिसप्पथलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, तंजहा—[1] 'गोहाणं नउलाणं सेहाणं सरडाणं सल्लाणं संरथाणं खोराणं घरकोइलियाणं विस्संभराणं मूसगाणं मंगुसाणं पयलाइयाणं विरालियाणं जोहाणं चाउप्पाइयाणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए पुरिसस्स य जहा उरपरिसप्पाणं तहा भाणियव्वं जाव सारूविकडं संतं, अवरे वि य णं तेसिं नाणाविहाणं भुयपरिसप्पपंचिंदियथलयरतिरिक्खाणं तं गोहाणं जाव मक्खातं।

७३६. इसके पश्चात् भुजा के सहारे से पृथ्वी पर चलने वाले (भुजपरिसर्प) अनेक प्रकार के स्थलचर पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीवों के विषय में श्री तीर्थंकर भगवान् ने कहा है। जैसे कि—गोह, नेवला, सेह, सरट, सल्लक, सरथ, खोर, गृहकोकिला (घरोली-छिपकली), विषम्भरा, मूषक (चूहा), मंगुस, पदलातिक, विडालिक, जोध और चातुष्पद आदि भुजपरिसर्प हैं। उन जीवों की उत्पत्ति भी अपने-अपने बीज और अवकाश के अनुसार होती है। उरःपरिसर्पजीवों के समान ये जीव भी स्त्री पुरुष-संयोग से उत्पन्न होते हैं। शेष सब बातें पूर्ववत् जान लेनी चाहिए। ये जीव भी अपने किये हुए आहार को पचाकर अपने शरीर में परिणत कर लेते हैं। गोह से लेकर चातुष्पद तक (पूर्वोक्त) उन अनेक जाति वाले भुजपरिसर्प स्थलचर तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय जीवों के नाना वर्णादि को लेकर अनेक शरीर होते हैं, ऐसा श्रीतीर्थंकरदेव ने कहा है।

७३७—अहावरं पुरक्खातं—णाणाविहाणं खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं, तंजहा—चम्मपक्खीणं लोमपक्खीणं समुग्गपक्खीणं विततपक्खीणं, तेसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए जहा उरपरिसप्पाणं, नाणत्तं ते जीवा डहरगा समाणा माउं-गात्तसिणेहं[2] आहारेंति अणुपुव्वेणं वुड्ढा वणस्सतिकायं तस-थावरे य पाणे, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं नाणाविहाणं खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चम्मपक्खीणं जाव मक्खातं।

७३७. इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने अनेक प्रकार की जाति वाले आकाशचारी (खेचर)

---

[1] तुलना—भुजपरिसप्पा अणेगविहा… नउला सेहा……जाहा चउप्पाइया…।"—प्रज्ञापनासूत्र पद १

[2] "माउगात्तसिणेहं'—"सोपक्खिणी अंडगाणि…काएण पेल्लिऊण अच्छति। एवं गातुम्हाए फुसंति, सरीरं च निव्वत्तेति।" अर्थात्—वह पक्षिणी (मादा पक्षी) अण्डों पर अपने पंखों को फैला कर बैठती है और अपने शरीर की उष्मा (गर्मी) के स्पर्श से आहार देकर बच्चे (अण्डे) को सेती है, जिससे वह क्रमशः बढ़ता है—परिपक्व होता है। —सूत्र कृ. चूर्णि (मू. पा. टि) २०५.

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों के विषय में कहा है। जैसे कि—चर्मपक्षी, लोमपक्षी, समुद्गपक्षी तथा विततपक्षी आदि खेचर तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय होते हैं। उन प्राणियों की उत्पत्ति भी उत्पत्ति के योग्य बीज और अवकाश के अनुसार होती है और स्त्री-पुरुष (मादा और नर) के संयोग से इनकी उत्पत्ति होती है। शेष बातें उरःपरिसर्प जाति के पाठ के अनुसार जान लेनी चाहिए। वे प्राणी गर्भ से निकल कर बाल्यावस्था प्राप्त होने पर माता के शरीर के स्नेह का आहार करते हैं। फिर क्रमशः बड़े होकर वनस्पतिकाय तथा त्रस-स्थावर प्राणियों का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं और उन्हें पचाकर अपने शरीर रूप में परिणत कर लेते हैं। इन अनेक प्रकार की जाति वाले चर्मपक्षी आदि आकाशचारी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च जीवों के और भी अनेक प्रकार के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, आकार एवं अवयवरचना वाले शरीर होते हैं, यह श्रीतीर्थंकर देव ने कहा है।

विवेचन—पंचेन्द्रियतिर्यंचों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि एवं आहार की प्रक्रिया—प्रस्तुत पांच सूत्रों में पांच प्रकार के तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि एवं आहारादि की प्रक्रिया का निरूपण किया गया है। पंचेन्द्रियतिर्यञ्च के ५ प्रकार ये हैं—जलचर, स्थलचर, उरःपरिसर्प, भुजपरिसर्प और खेचर। इन पांचों के प्रत्येक के कतिपय नाम भी शास्त्रकार ने बताए हैं। शेष सारी प्रक्रिया प्रायः मनुष्यों की उत्पत्ति आदि की प्रक्रिया के समान है। अन्तर इतना ही है कि प्रत्येक की उत्पत्ति अपने-अपने बीज और अवकाश के अनुसार होती है, तथा प्रथम आहार-ग्रहण में अन्तर है—

(१) जलचर जीव सर्वप्रथम जन्म लेते ही अप्काय का स्नेह का आहार करते हैं।
(२) स्थलचर जीव सर्वप्रथम माता-पिता के स्नेह का (ओज) आहार करते हैं।
(३) उरःपरिसर्प जीव सर्वप्रथम वायुकाय का आहार करते हैं।
(४) भुजपरिसर्प जीव उरःपरिसर्प के समान वायुकाय का आहार करते हैं।
(५) खेचर जीव माता के शरीर की गर्मी (स्निग्धता) का आहार करते हैं।

शेष सब प्रक्रिया प्रायः मनुष्यों के समान है।[1]

स्थलचर—एक खुरवाले घोड़े गधे आदि, दो खुर वाले—गाय, भैंस आदि, गंडीपद (फलकवत् पैर वाले) हाथी गैंडा आदि, नखयुक्त पंजे वाले—सिंह बाघ आदि होते हैं।

खेचर—चर्मपक्षी-चमचेड़, वल्गूली आदि, रोमपक्षी-हंस, सारस, बगुला आदि, विततपक्षी और समुद्र पक्षी-ढाई द्वीप से बाहर पाये जाते हैं।[2]

विकलेन्द्रिय त्रसप्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि और आहार की प्रक्रिया

७३८. अहावरं पुरक्खातं—इहेगतिया सत्ता नाणाविहजोणिया नाणाविहसंभवा नाणाविहवक्कमा तज्जोणिया तस्संभवा तव्वक्कमा कम्मोवगा कम्मनिदाणेणं तत्थवक्कमा नाणाविहाण तसथावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अणुसूयत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं नाणाविहाणं

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३५५-३५६ का सारांश

[2] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३५५

तसथावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि त णं तेसिं तस-थावरजोणियाणं अणुसूयाणं सरीरा नानावण्णा जावमक्खातं।

एवं दुरूवसंभवत्ताए।[1] एवं खुरुदुगत्ताए[2]। अहावरं पुरक्खायं—इहेगइया सत्ता नाणाविह० जाव कम्म० खुरुदुगत्ताए वक्कमंति।

७३८. इसके पश्चात् श्री तीर्थंकर देव ने (अन्य जीवों की उत्पत्ति और आहार के सम्बन्ध में) निरूपण किया है। इस जगत् में कई प्राणी नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न होते हैं। वे अनेक प्रकार की योनियों में स्थित रहते हैं, तथा विविध योनियों में आकर संवर्द्धन पाते हैं। नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न, स्थित और संवर्द्धित वे जीव अपने पूर्वकृत कर्मानुसार उन कर्मों के ही प्रभाव से विविध योनियों में आकर (विकलेन्द्रिय त्रस के रूप में) उत्पन्न होते हैं। वे प्राणी अनेक प्रकार के त्रस स्थावर-पुद्गलों के सचित्त या अचित्त शरीरों में उनके आश्रित होकर रहते हैं। वे जीव अनेकविध त्रस-स्थावर प्राणियों के स्नेह का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी से लेकर वनस्पति तक के शरीरों का भी आहार करते हैं। उन त्रस-स्थावर योनियों से उत्पन्न, और उन्हीं के आश्रित रहने वाले प्राणियों के विभिन्न वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले, विविध संस्थान (आकार तथा रचना) वाले और भी अनेक प्रकार के शरीर होते हैं, यह श्री तीर्थंकरदेव ने कहा है।

इसी प्रकार विष्ठा और मूत्र आदि में कुरूप विकलेन्द्रिय प्राणी उत्पन्न होते हैं और गाय भैंस आदि के शरीर में चर्मकीट उत्पन्न होते हैं।

विवेचन—विकलेन्द्रिय त्रस प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि और आहार की प्रक्रिया— प्रस्तुत सूत्र में विकलेन्द्रिय प्राणियों की स्थिति आदि के सम्बन्ध में निरूपण किया गया है।

विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति के स्रोत—मनुष्यों एवं तिर्यञ्च पंचेन्द्रियों के सचित्त शरीर में पसीने आदि में जूं, लीख, चींचड़ (चर्मकील) आदि सचित्त शरीर संस्पर्श से खटमल आदि पैदा होते हैं, तथा मनुष्य के एवं विकलेन्द्रिय प्राणियों के अचित्त शरीर (कलेवर) में कृमि आदि उत्पन्न हो जाते हैं। सचित्त अग्निकाय तथा वायुकाय से भी विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होती है। वर्षाऋतु में गर्मी के कारण जमीन से कुंथुआ आदि संस्वेदज तथा मक्खी, मच्छर आदि प्राणियों की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार जल से भी अनेक विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होती है। वनस्पतिकाय से भ्रमर आदि

---

[1] दुरूवसंभवत्ताए—जिनका विरूप रूप हो, ऐसे कृमि आदि के रूप में। अथवा पाठान्तर है—'दुरुतत्ताए विउट्टंति'—दुरूतंनाम मुत्तपुरीसादी सरीरावयवा तत्थ सचित्तेसु मणुस्साण ताव पोट्टेसु समिगा, गंडोलगा, कोट्ठाओ अ संभवन्ति संजायन्ते····भणिता दुरूतसंभवा' दुरूत कहते हैं मूत्र मल आदि शरीर निःसृत अंगभूत तत्त्वों को तथा सचित्त मनुष्यों के पेट में तथा अन्य अवयवों में गिंडोलिए, केंचुए, कृमि, कोष्ठ आदि उत्पन्न होते हैं।

—सूत्र कृ. चूर्णि (मू. पा. टि.) पृ. २०६

[2] खुरुदुगत्ताए—····खुरूड्डगा नाम जीवंताण चेव गोमहिसादीणं चम्मस्स अंतो सम्मुच्छंति। अर्थात्—खुरुदुग या खुरुड्डग उन्हें कहते हैं, जो जीवित गाय-भैंसों की चमड़ी पर सम्मूच्छिमरूप से उत्पन्न होते हैं।

—सूत्र कृ. चूर्णि, (मू. पा. टि.) पृ. २०६

विकलेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं। पंचेन्द्रिय प्राणियों के मलमूत्र, मवाद आदि में भी विकलेन्द्रिय जीव पैदा हो जाते हैं। सचित्त-अचित्त वनस्पतियों में भी घुण, कीट आदि उत्पन्न हो जाते हैं। ये जीव जहां-जहां उत्पन्न होते हैं, वहां-वहां के पार्श्ववर्ती या आश्रयदायी सचित्त या अचित्त प्राणियों के शरीरों से उत्पन्न मल, मूत्र, पसीना, रक्त, जल, मवाद आदि का ही आहार करते हैं।[1]

अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय और पृथ्वीकाय के आहारादि का निरूपण

७३९. अहावरं पुरक्खातं—इहेगतिया सत्ता नाणाविहजोणिया जाव कम्मनिदाणेणं तत्थवक्कमा नाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा तं सरीरगं वातसंसिद्ध वातसंगहितं वा वा वातपरिगतं उड्ढं वातेसु उड्ढभागी भवइ अहे वातेसु अहेभागी भवइ तिरियं वाएसु तिरियभागी भवइ, तंजहा—ओसा हिमए महिया करए हरतणुए सुद्धोदए। ते जीवा तेसिं नाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति, [ते जीवा आहारेंति] पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं तस-थावर जोणियाणं ओसाणं जाव सुद्धोदगाणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खातं।

७३९. इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने अन्यान्य प्राणियों के आहारादि का प्रतिपादन किया है। इस जगत् में नानाविध योनियों में उत्पन्न होकर कर्म से प्रेरित वायुयोनिक जीव अप्काय में आते हैं। वे प्राणी वहाँ अप्काय में आ कर अनेक प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के सचित्त तथा अचित्त शरीर में अप्कायरूप में उत्पन्न होते हैं। वह अप्काय वायु से बना हुआ (संसिद्ध) या वायु से संग्रह किया हुआ अथवा वायु के द्वारा धारण किया हुआ होता है। अतः वह (जल) ऊपर का वायु हो तो ऊपर, नीचे का वायु हो तो नीचे और तिरछा वायु हो तो तिरछा जाता है। उस अप्काय के कुछ नाम ये हैं—ओस, हिम (बर्फ), मिहिका (कोहरा या धुंध), ओला (गड़ा), हरतनु और शुद्ध जल। वे जीव अनेक प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियों के स्नेह का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं। तथा पूर्वभुक्त त्रस-स्थावरीय आहार को पचा कर अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। उन त्रस-स्थावरयोनि समुत्पन्न अवश्याय (ओस) से लेकर शुद्धोदकपर्यन्त जलकायिक जीवों के अनेक वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संस्थान, आकार-प्रकार आदि के और भी अनेक शरीर होते हैं, ऐसा श्रीतीर्थंकरदेव ने कहा है।[1]

७४०. अहावरं पुरक्खातं—इहेगतिया तत्ता उदगजोणिया जाव कम्मनियाणेणं तत्थवक्कमा तस-थावरजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं तस-थावर जोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं तस-थावरजोणियाणं उदगाणं सरीरा नाणावण्णा जाव मक्खायं।

७४०. इसके अनन्तर श्रीतीर्थंकरप्रभु ने अप्काय से उत्पन्न होने वाले विविध जलकायिक जीवों का स्वरूप बताया है। इस जगत् में कितने ही प्राणी जल से उत्पन्न होते हैं, जल में ही रहते

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३५७ का सारांश

हैं, और जल में ही बढ़ते हैं। वे अपने पूर्वकृतकर्म के प्रभाव से जल में आते हैं और जल में जलरूप से उत्पन्न होते है। वे जीव उन त्रस-स्थावर योनिक जलों के स्नेह का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे पृथ्वी आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं; तथा उन्हें पचा कर अपने शरीर के रूप में परिणत कर लेते हैं। उन त्रस-स्थावरयोनिक उदकों के अनेक वर्णादि वाले दूसरे शरीर भी होते हैं, ऐसा श्री तीर्थंकरप्रभु ने कहा है।

७४१. अहावरं पुरक्खातं—इहेगतिया सत्ता उदगजोणियाणं जाव कम्मनिदाणेणं तत्थवक्कमा उदगजोणिएसु उदएसु उदगत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सरीरा नाणावण्णा जाव मक्खातं।

७४१. इसके पश्चात् श्री तीर्थंकरदेव ने जलयोनिक जलकाय के स्वरूप का निरूपण किया है। इस जगत् में कितने ही जीव उदकयोनिक उदकों में अपने पूर्वकृत कर्मों के वशीभूत होकर आते हैं तथा उदकयोनिक उदकजीवों में उदकरूप में जन्म लेते हैं। वे जीव उन उदकयोनिक उदकों के स्नेह का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे पृथ्वी आदि शरीरों का भी आहार ग्रहण करते हैं और उन्हें अपने स्वरूप में परिणत कर लेते हैं। उन उदकयोनिक उदकों के अनेक वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श एवं संस्थान वाले और भी शरीर होते हैं, ऐसा श्री तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित है।

७४२. अहावरं पुरक्खातं—इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया जाव कम्मनिदाणेणं तत्थवक्कमा उदगजोणिएसु उदगेसु तसपाणत्ताए विउट्टंति ते जीवा तेसिं उदगजोणियाणं उदगाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं उदगजोणियाणं तसपाणाणं सरीरा नाणावण्णा जाव मक्खातं।

७४२. इसके पश्चात् श्री तीर्थंकरदेव ने पहले उदकयोनिक त्रसकाय के स्वरूप का निरूपण किया था कि इस संसार में अपने पूर्वकृत कर्म के उदय से उदकयोनिक उदकों में आकर उनमें त्रस प्राणी के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव उन उदकयोनि वाले उदकों के स्नेह का आहार करते है। इसके अतिरिक्त वे पृथ्वी आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं। उन उदकयोनिक त्रसप्राणियों के नाना वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से अन्य अनेक शरीर भी होते हैं, यह तीर्थंकरप्रभु ने बताया है।

७४३—अहावरं पुरक्खातं—इहेगतिया सत्ता नाणाविहजोणिया जाव कम्मनियाणेणं तत्थवक्कमा णाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा अगणिकायत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं णाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं तस-थावरजोणियाणं अगणीणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खातं। सेसा तिण्णि आलावगा जहा उदगाणं।

७४३. इसके पश्चात् श्री तीर्थंकरदेव ने जीवों के आहारादि के सम्बन्ध में अन्य बातों की

भी प्ररूपणा की है। इस संसार में कितने ही जीव पूर्वजन्म में (कृतकर्मवश) नानाविध योनियों में उत्पन्न होकर वहाँ किये हुए कर्मोदयवशात् नाना प्रकार के त्रसस्थावर प्राणियों के सचित्त तथा अचित्त शरीर में अग्निकाय के रूप में उत्पन्न होते हैं। वे जीव उन विभिन्न प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियों के स्नेह का आहार करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जीव पृथ्वी आदि के शरीरों का भी आहार करते हैं। उन त्रस-स्थावरयोनिक अग्निकायों के दूसरे और भी शरीर बताये गये हैं, जो नाना वर्ण, गन्ध रस, स्पर्श और संस्थान आदि के होते हैं। शेष तीन आलापक (बोल) उदक के आलापकों के समान समझ लेने चाहिए।

७४४. अहावरं पुरक्खायं—इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मणिदाणेणं तत्थवक्कमा णाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा वाउक्कायत्ताए विउट्टंति, जहा अगणीणं तहा भाणियव्वा चत्तारि गमा।

७४४. इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने अन्य (जीवों के आहारादि के सम्बन्ध में) कुछ बातें बताई हैं। इस संसार में कितने ही जीव पूर्वजन्म में नाना प्रकार की योनियों में आकर वहाँ किये हुए अपने कर्म के प्रभाव से त्रस और स्थावर प्राणियों के सचित्त या अचित्त शरीरों में वायुकाय के रूप में उत्पन्न होते हैं। यहाँ भी वायुकाय के सम्बन्ध में शेष बातें तथा चार आलापक अग्निकाय के आलापकों के समान कह देने चाहिए।

७४५. अहावरं पुरक्खातं—इहेगतिया सत्ता णाणाविहजोणिया जाव कम्मनिदाणेणं तत्थवक्कमा णाणाविहाणं तस-थावराणं पाणाणं सरीरेसु सचित्तेसु वा अचित्तेसु वा पुढवित्ताए सक्करत्ताए वालुयत्ताए, इमाओ गाहाओ अणुगंतव्वाओ—

पुढवी य सक्करा वालुगा य उवले सिला य लोणूसे।[1]
अय तउय तंब सीसग रुप्प सुवण्णे य वइरे य॥१॥

हरियाले हिंगुलए मणोसिला सासगंजण पवाले।
अब्भपडलऽब्भवालुय बादरकाए मणिविहाणा॥२॥

गोमेज्जए य रुयए अंके फलिहे य लोहियक्खे य।
मरगय मसारगल्ले भुयमोयग इंदणीले य॥३॥

चंदण गेरुय हंसगब्भ पुलए सोगंधिए य बोधव्वे।
चंदप्पभ वेरुलिए जलकंते सूरकंते य॥४॥

एताओ एतेसु भाणियव्वाओ गाहासु (गाहाओ) जाव सूरकंतत्ताए विउट्टंति, ते जीवा तेसिं

---

[1] तुलना करें—'पुढवी य सक्करा⋯सूरकंतेय। एए खरपुढवीए नामा छत्तीसइं होंति।'

—आचारांग निर्युक्ति गाथा ७३ से ७६ तथा प्रज्ञापना पद १

—उत्तराध्ययन अ. २६। गा. ७३ से ७६ तक

णाणाविधाणं तस-थावराणं पाणाणं सिणेहमाहारेंति, ते जीवा आहारेंति, पुढविसरीरं जाव संतं, अवरे वि य णं तेसिं तस-थावरजोणियाणं पुढवीणं जाव सूरकंताणं सरीरा णाणावण्णा जाव मक्खातं, सेसा तिण्णि आलावगा जहा उदगाणं ।

७४५. इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकर भगवान् ने (इस सम्बन्ध में) और भी बातें बताई हैं । इस संसार में कितने ही जीव नानाप्रकार की योनियों में उत्पन्न होकर उनमें अपने किये हुए कर्म के प्रभाव से पृथ्वीकाय में आकर अनेक प्रकार के त्रस-स्थावरप्राणियों के सचित्त या अचित्त शरीरों में पृथ्वी, शर्करा (कंकर) या वालू के रूप में उत्पन्न होते हैं । इस विषय में इन गाथाओं के अनुसार इसके भेद जान लेने चाहिए—

पृथ्वी, शर्करा (कंकर) वालू (रेत), पत्थर, शिला (चट्टान), नमक, लोहा, रांगा (कथीर), तांवा, चांदी, शीशा, सोना और वज्र (हीरा), तथा हड़ताल, हींगलू, मनसिल, सासक, अंजन, प्रवाल (मूंगा), अभ्रपटल (अभ्रक), अभ्रवालुका, ये सव पृथ्वीकाय के भेद हैं । गोमेदक रत्न, रुचकतरत्न, अंकरत्न, स्फटिकरत्न, लोहिताक्षरत्न, मरकतरत्न, मसारगल्ल, भुजपरिमोचकरत्न तथा इन्द्रनीलमणि, चन्दन, गेरुक, हंसगर्भ, पुलक, सौगन्धिक, चन्द्रप्रभ, वैडूर्य, जलकान्त, एवं सूर्यकान्त, ये मणियों के भेद हैं । इन (उपर्युक्त) गाथाओं में उक्त जो मणि, रत्न आदि कहे गए हैं, उन (पृथ्वी से लेकर सूर्यकान्त तक की योनियों) में वे जीव उत्पन्न होते हैं । (उस समय) वे जीव अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर प्राणियों के स्नेह का आहार करते हैं । (इसके अतिरिक्त) वे जीव पृथ्वी आदि शरीरों का भी आहार करते हैं । उन त्रस और स्थावरों से उत्पन्न पृथ्वी से लेकर सूर्यकान्तमणि-पर्यन्त प्राणियों के दूसरे शरीर भी नाना वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संस्थान आदि की अपेक्षा से बताए गए हैं । शेष तीन आलापक जलकायिक जीव के आलापकों के समान ही समझ लेने चाहिए ।[1]

विवेचन—अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, और पृथ्वीकाय के आहारादि का निरूपण—प्रस्तुत ७ सूत्रों (७३९ से ७४५ तक) में वनस्पतिकाय के अतिरिक्त शेष चार स्थावरजीवों की उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि एवं आहारादि की प्रक्रिया का निरूपण किया गया है ।

अप्काय के चार आलापक—अप्कायिक जीवों के शास्त्रकार ने चार आलापक बताकर उनकी उत्पत्ति, आहार आदि की प्रक्रिया पृथक्-पृथक् रूप से बताई है । जैसे कि—

(१) **वायुयोनिक अप्काय**—मेंढक आदि त्रस तथा नमक और हरित आदि स्थावर प्राणियों के सचित्त-अचित्त नानाविध शरीरों में वायुयोनिक अप्काय के रूप में जन्म धारण करते हैं । इनकी स्थिति, संवृद्धि और प्राथमिक आहारग्रहण का आधार वायुकाय है ।

(२) **अप्योनिक अप्काय**—जो पूर्वकृतकर्मानुसार एक अप्काय में ही दूसरे अप्काय के रूप में उत्पन्न होते हैं, वे अप्योनिक अप्काय कहलाते हैं । जैसे शुद्ध पानी से बर्फ के रूप में अप्काय उत्पन्न होता है । शेष सव प्रक्रिया पूर्ववत् है ।

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३५७-३५८ का सरांश

(३) **त्रसस्थावरयोनिक अप्काय**—ये प्राणी त्रस और स्थावरों में उत्पन्न होते हैं। इनकी भी शेष समस्त प्रक्रिया पूर्ववत् है।

(४) **उदकयोनिक उदकों में उत्पन्न त्रसकाय**—उदकयोनिक उदक पानी, बर्फ आदि में कीड़े आदि के रूप में कई जीव उत्पन्न हो जाते हैं। वे उसी प्रकार के होते हैं।

अग्निकाय और वायुकाय की उत्पत्ति के चार-चार आलापक—(१) त्रसस्थावरयोनिक अग्निकाय (२) वायुयोतिक अग्निकाय, (३) अग्नियोनिक अग्निकाय और (४) अग्नियोनिक अग्नि में उत्पन्न त्रसकाय। इसी प्रकार (१) त्रसस्थावरयोनिक वायुकाय, (२) वायुयोनिक वायुकाय, (३) अग्नियोनिक वायुकाय एवं (४) वायुयोनिक वायुकाय में उत्पन्न त्रसकाय।

त्रसस्थावरों के सचित्त-अचित्त शरीरों से अग्निकाय की उत्पत्ति—हाथी, घोड़ा, भैंस आदि पस्स्पर लड़ते हैं, तब उनके सींगों में से आग निकलती दिखाई देती है। तथा अचित्त हड्डियों की रगड़ से तथा सचित्त-अचित्त वनस्पतिकाय एवं पत्थर आदि में से अग्नि की लपटें निकलती देखी जाती हैं।

पृथ्वीकाय की उत्पत्ति के चार आलापक—पृथ्वीकाय के यहाँ मिट्टी से लेकर सूर्यकान्त रत्न तक अनेक प्रकार बताए हैं। पृथ्वीकाय की उत्पत्ति के सम्बन्ध में चार आलापक—(१) त्रस-स्थावर-प्राणियों के शरीर में उत्पन्न पृथ्वीकाय (२) पृथ्वीकाययोनिक पृथ्वीकाय, (३) वनस्पतियोनिक-पृथ्वीकाय, और (४) पृथ्वीकाययोनिक पृथ्वीकाय में उत्पन्न त्रस।

समुच्चयरूप से सब जीवों की आहारादि प्रक्रिया और आहारसंयम-प्रेरणा

७४६. अहावरं पुरक्खातं—सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता णाणाविहजोणिया णाणाविहसंभवा णाणाविहवक्कमा सरीरजोणिया सरीरसंभवा सरीरवक्कमा सरीरहारा कम्मोवगा कम्मनिदाणा कम्मगतिया कम्मठितिया कम्मुणा चेव विप्परियासुवेंति।

७४६. इसके पश्चात् श्रीतीर्थंकरदेव ने जीवों के आहारादि के सम्बन्ध में और भी बातें कही हैं। समस्त प्राणी, सर्व भूत, सर्व सत्त्व और सर्व जीव नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न होते हैं, वहीं वे स्थित रहते हैं, वहीं वृद्धि पाते हैं। वे शरीर से ही उत्पन्न होते हैं, शरीर में ही रहते हैं, तथा शरीर में ही बढ़ते हैं, एवं वे शरीर का ही आहार करते हैं। वे अपने-अपने कर्म का ही अनुसरण करते हैं, कर्म ही उस-उस योनि में उनकी उत्पत्ति का प्रधान निमित्त कारण है। उनकी गति और स्थिति भी कर्म के अनुसार होती है। वे कर्म के ही प्रभाव से सदैव भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते हुए दुःख के भागी होते हैं।

७४७. सेवमायाणह, सेवमायाणित्ता आहारगुत्ते समिते सहिते सदा जए त्ति बेमि।

७४७. हे शिष्यो! ऐसा ही जानो, और इस प्रकार जानकर सदा आहारगुप्त, ज्ञान-दर्शन-चारित्रसहित, समितियुक्त एवं संयमपालन में सदा यत्नशील बनो।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—समुच्चयरूप से सर्वजीवों की आहारादि प्रक्रिया एवं आहार-संयम प्रेरणा—प्रस्तुत सूत्र द्वय में अध्ययन का उपसंहार करते हुए समुच्चयरूप से सभी जीवों के आहारादि का निरूपण किया गया है। मुख्यतया उत्पत्ति, स्थिति, संवृद्धि, आहार-आदि का मुख्य कारण कर्म है। सभी जीव अपने-अपने कर्म से प्रेरित होकर उत्पन्न होते हैं, ईश्वर, काल आदि की प्रेरणा से नहीं। अतः साधक को आहार के सम्बन्ध में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, संयम एवं आत्माराधना की दृष्टि से विचार करके निर्दोष आहार-सेवन उचित है।[1]

॥ आहारपरिज्ञा : तृतीय अध्ययन समाप्त ॥

□□

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३५९ का सार

प्रत्याख्यान-क्रिया : चतुर्थ अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग (द्वि० श्रु०) के चतुर्थ अध्ययन का नाम 'प्रत्याख्यानक्रिया' है।

☐ आत्मा किसी देव, भगवान् या गुरु की कृपा से अथवा किसी धर्मतीर्थ को स्वीकार करने मात्र से पापकर्मों से मुक्त नहीं हो सकता। केवल त्याग-प्रत्याख्यान के विधि-विधानों की बातें करने मात्र से या कोरा आध्यात्मिक ज्ञान बघारने से भी व्यक्ति पाप कर्म से मुक्त नहीं हो सकता। समस्त पापकर्मों के बन्धन को रोकने एवं मुक्त होने का अचूक उपाय है—'प्रत्याख्यानक्रिया'।

☐ 'प्रत्याख्यान' शब्द का सामान्य अर्थ किसी वस्तु का प्रतिषेध (निषेध) या त्याग करना है। परन्तु यह एक पारिभाषिक शब्द होने से अपने गर्भ में निम्नोक्त विशिष्ट अर्थों को लिये हुए है—

(१) त्याग करने का नियम (संकल्प = निश्चय) करना।

(२) परित्याग करने की प्रतिज्ञा करना।

(३) निन्द्यकर्मों से निवृत्ति करना।

(४) अहिंसादि मूलगुणों एवं सामायिकादि उत्तरगुणों के आचरण में बाधक सिद्ध होने वाली प्रवृत्तियों का यथाशक्ति त्याग करना।[1]

☐ प्रत्याख्यान के मुख्य दो भेद होते हैं—द्रव्यप्रत्याख्यान और भावप्रत्याख्यान। किसी द्रव्य का अविधिपूर्वक निरुद्देश्य छोड़ना या किसी द्रव्य के निमित्त प्रत्याख्यान करना द्रव्यप्रत्याख्यान है। आत्मशुद्धि के उद्देश्य से मूलगुण-उत्तरगुण में बाधक हिंसादि का मन-वचन-काया से यथाशक्ति त्याग करना भावप्रत्याख्यान है। भावप्रत्याख्यान के दो भेद हैं—अन्तःकरण से शुद्ध साधु या श्रावक का मूलगुणप्रत्याख्यान और उत्तरगुणप्रत्याख्यान।

☐ 'प्रत्याख्यान' के साथ 'क्रिया' शब्द जुड़ जाने पर विशिष्ट अर्थ हो जाते हैं—(१) गुरु या गुरुजन से (समाज या परिवार में बड़े) या तीर्थंकर भगवान् की साक्षी से विधिपूर्वक त्याग या नियम स्वीकार करना। अथवा (२) हिंसा आदि निन्द्यकर्मों के त्याग या व्रत, नियम, तप का संकल्प करते समय मन में धारणा करना, वचन से 'वोसिरे-वोसिरे' बोलना और काया से तदनुकूल व्यवहार होना। (३) मूलोत्तरगुणों की साधना में लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमण, आलोचना,

---

[1] (क) पाइअ-सद्द-महण्णवो पृ० ५०७ (ख) जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास भा. १, पृ. १६२

निन्दना, (पश्चात्ताप), गर्हणा (गुरुसाक्षी से) तथा व्युत्सर्ग करना। प्रस्तुत अध्ययन में इस प्रकार की भावप्रत्याख्यानक्रिया के सम्बन्ध में निरूपण है।[1]

☐ प्रस्तुत अध्ययन में सर्वप्रथम अप्रत्याख्यानी आत्मा के पाप के द्वार खुले रहने के कारण सतत पापकर्म का बन्ध होना बताया है, और उसे असंयत, अविरत, पापकर्म का प्रतिघात एवं प्रत्याख्यान न करने वाला, एकान्त बाल, हिंसक आदि बताया है। अन्त में प्रत्याख्यानी आत्मा कौन और कैसे होता है? इस पर प्रकाश डाला गया है।[2]

□□

---

[1] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३६०
(ख) सूत्र कृ. निर्युक्ति गा १७९,१८०
(ग) आवश्यक चूर्णि प्रतिक्रमणाध्ययन

[2] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३६०

पच्चक्खाणकिरिया : चउत्थं अज्झयणं

प्रत्याख्यान-क्रिया : चतुर्थ अध्ययन

अप्रत्यख्यानी आत्मा का स्वरूप और प्रकार

७४७. सुयं मे आउसंतेणं भगवता एवमक्खातं-इह खलु पच्चक्खाणकिरिया नामज्झयणे, तस्स णं अयमट्ठे—आया अपच्चक्खाणी यावि भवति, आया अकिरियाकुसले यावि भवति, आया मिच्छासंठिए यावि भवति, आया एगंतदंडे यावि भवति, आया एगंतबाले यावि भवति, आया एगंतसुत्ते यावि भवति, आया अवियारमण-वयस-काय-वक्के यावि भवति, आया अप्पडिहय-अपच्चक्खायपावकम्मे यावि भवति, एस खलु भगवता अक्खाते असंजते अविरते अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते, से बाले अवियारमण-वयस-काय-वक्के सुविणमवि ण पस्सति, पावे से कम्मे कज्जति ।

७४७. आयुष्मन् ! उन तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी ने ऐसा कहा था—मैंने सुना है। इस निर्ग्रन्थप्रवचन में प्रत्याख्यानक्रिया नामक अध्ययन है। उसका यह अर्थ (भाव) (उन्होंने) बताया है कि आत्मा (जीव) अप्रत्याख्यानी (सावद्यकर्मों का त्याग न करने वाला) भी होता है; आत्मा अक्रियाकुशल (शुभक्रिया न करने में निपुण) भी होता है; आत्मा मिथ्यात्व (के उदय) में संस्थित भी होता है; आत्मा एकान्तरूप से दूसरे प्राणियों को दण्ड देने वाला भी होता है; आत्मा एकान्त (सर्वथा) बाल (अज्ञानी) भी होता है; आत्मा एकान्तरूप से सुषुप्त भी होता है; आत्मा अपने मन, वचन, काया और वाक्य (की प्रवृत्ति) पर विचार न करने वाला (अविचारी) भी होता है। और आत्मा अपने पापकर्मों का प्रतिहत—घात एवं प्रत्याख्यान नहीं करता। इस जीव (आत्मा) को भगवान् ने असंयत (संयमहीन), अविरत (हिंसा आदि से अनिवृत्त), पापकर्म का घात (नाश) और प्रत्याख्यान (त्याग) न किया हुआ, क्रियासहित, संवररहित, प्राणियों को एकान्त (सर्वथा) दण्ड देने वाला, एकान्त बाल, एकान्तसुप्त कहा है। मन, वचन, काया और वाक्य (की प्रवृत्ति) के विचार से रहित वह अज्ञानी, चाहे स्वप्न भी न देखता हो अर्थात् अत्यन्त अव्यक्त विज्ञान से युक्त हो, तो भी वह पापकर्म करता है।

विवेचन—अप्रत्याख्यानी आत्मा का स्वरूप और प्रकार—प्रस्तुत सूत्र में अध्ययन का प्रारम्भ करते हुए शास्त्रकार ने अप्रत्याख्यानी आत्मा के प्रकार और उसके स्वरूप का निरूपण किया है।

'जीव' के बदले 'आत्मा' शब्द का प्रयोग क्यों ? मूलपाठ में 'जीव' शब्द के बदले 'आत्मा' शब्द का प्रयोग करने के पीछे प्रथम आशय यह है कि अप्रत्याख्यानी जीव लगातार एक भव से दूसरे भव में नानाविध गतियों और योनियों में भ्रमण करता रहता है, इस बात को जीव शब्द की अपेक्षा

'आत्मा' शब्द बहुत शीघ्र और अचूक रूप से प्रकट कर सकता है, क्योंकि आत्मा की व्युत्पत्ति है—'जो विभिन्न योनियों-गतियों में सतत गमन करता है।'[1]

दूसरा आशय है—बौद्धदर्शनसम्मत आत्मासम्बन्धी मान्यता का निराकरण करना, क्योंकि बौद्धदर्शन में आत्मा क्षणिक (स्थितिहीन) होने से उसका प्रत्याख्यानी होना सम्भव नहीं हो सकता।

तीसरा आशय है—सांख्यदर्शन में मान्य आत्मा सम्बन्धी मन्तव्य का खण्डन। सांख्यदर्शनानुसार आत्मा उत्पत्ति-विनाश से रहित, स्थिर (कूटस्थ) एवं एकस्वभाव वाला है। ऐसा कूटस्थ स्थिर आत्मा न तो अनेक योनियों में गमन कर सकता है, न ही किसी प्रकार का प्रत्याख्यान।

अप्रत्याख्यानी आत्मा के प्रकार—(१) प्रत्याख्यान से सर्वथा रहित, (२) शुभक्रिया करने में अकुशल, (३) मिथ्यात्व से ग्रस्त, (४) एकान्त प्राणिदण्ड (घात) देने वाला, (६) एकान्त बाल, (६) एकान्त सुप्त, (७) मन, वचन, शरीर और वाक्य (किसी विशेष अर्थ का प्रतिपादक पदसमूह) का प्रयोग करने में विचारशून्य एवं (८) पापकर्म के विघात एवं प्रत्याख्यान (त्याग) से रहित आत्मा अप्रत्याख्यानी है।

अप्रत्याख्यानी आत्मा का स्वरूप—वह असंयमी, हिंसादि से अविरत, पापकर्म का नाश और प्रत्याख्यान न करने वाला, अहर्निशदुष्क्रियारत, संवररहित, एकान्त हिंसक (दण्डदाता), एकान्तबाल एवं एकान्तसुप्त (सुपुप्तचेतनावाला) होता है। ऐसा बालकवत् हिताहितभावरहित एकान्त प्रमादी जीव मन, वचन, काया और वाक्य की किसी प्रवृत्ति में प्रयुक्त करते समय जरा भी विचार नहीं करता कि मेरी इस प्रवृत्ति से दूसरे प्राणियों की क्या दशा होगी? ऐसा जीव चाहे स्वप्न न भी देखे, यानी उनका विज्ञान (चैतन्य) इतना अव्यक्त-गाढ़ सुषुप्त हो, तो भी वह पापकर्म करता रहता है—अर्थात् उसके पापकर्म का बन्ध होता रहता है।

पारिभाषिक शब्दों के भावार्थ—**असंयत**—वर्तमान में सावद्यकृत्यों में निरंकुश प्रवृत्त, **अविरत**—जो अतीत और अनागतकालीन हिंसादि पापों से निवृत्त हो, **अप्रतिहितपापकर्मा**—पूर्वकृत पापकर्मो की स्थिति और अनुभाग को वर्तमान में तप आदि द्वारा कम करके जो उन्हें नष्ट नहीं कर पाता। **अप्रत्याख्यात पापकर्मा**—भावी पापकर्मो का प्रत्याख्यान न करने वाला, **सक्रिय**—सावद्यक्रियाओं से युक्त, **असंवृत**—जो आते हुए कर्मो के निरोधरूप व्यापार से रहित हो। **सुप्त**—भावनिद्रा में सोया हुआ, हिताहित प्राप्ति परिहार के भाव से रहित। **प्रत्याख्यान**—पूर्वकृत दोषों (अतिचारों) की निन्दा (पश्चात्ताप) एवं गर्हा करके भविष्य में उक्त पाप को न करने का संकल्प करना।

किसी समय प्रत्याख्यानी भी—अनादिकाल से जीवमिथ्यात्वादि के संयोग के कारण अप्रत्याख्यानी अवस्था में रहता चला आ रहा है, किन्तु कदाचित् शुभकर्मो के निमित्त से प्रत्याख्यानी भी होता है, इसे प्रकट करने के लिए मूल पाठ में 'अवि' (अपि) शब्द का प्रयोग किया गया है।[2]

---

[1] १. 'अतति सततं (विभिन्न गतिपु योनिपु च) गच्छतीति आत्मा'।

[2] २. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३६१
(ख) आवश्यकसूत्र चूर्णि प्रतिक्रमणाध्ययन

प्रत्याख्यानक्रियारहित सदैव पापकर्मबन्धकर्ता : क्यों और कैसे ?

७४८. तत्थ चोदए पण्णवगं एवं वदासि—असंतएणं मणेणं पावएणं असंतियाए वतीए पावियाए असंतएणं काएणं पावएणं अहणंतस्त अमणक्खस्स अवियारमण-वयस-काय-वक्कस्स सुविणमवि अपस्सतो पावे कम्मे नो कज्जति।

कस्स णं तं हेउं ? चोदग एवं ब्रवीति—अण्णयरेणं मणेणं पावएणं मणवत्तिए पावे कम्मे कज्जति, अण्णयरीए वतीए पावियाए वइवत्तिए पावे कम्मे कज्जति, अण्णयरेणं काएणं पावएणं कायवत्तिए पावे कम्मे कज्जइ। हणंतस्स समणक्खस्स सवियारमण-वयस-आय-वक्कस्स सुविणमवि पासओ एवं गुणंजातीयस्स पावे कम्मे कज्जति।

पुणरवि चोदग एवं ब्रवीति—तत्थ णं जे ते एवामाहंसु 'असंतएणं मणेणं पावएणं असंतियाए वतीए पावियाए असंतएणं काएणं पावएणं अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियारमण-वयस-काय-वक्कस्स सुविणमवि अपस्सतो पावे कम्मे कज्जति', जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु।

७४८. इस विषय में प्रेरक (प्रश्नकर्ता) ने प्ररूपक (उदेशक) से इस प्रकार कहा—पापयुक्त मन न होने पर, पापयुक्त वचन न होने पर, तथा पापयुक्त काया न होने पर जो प्राणियों की हिंसा नहीं करता, जो अमनस्क है, जिसका मन, वचन, शरीर और वाक्य हिंसादि पापकर्म के विचार से रहित है, जो पापकर्म करने का स्वप्न भी नहीं देखता—अर्थात् जो अव्यक्तविज्ञान (चेतना) युक्त है, ऐसे जीव में पापकर्म का बन्ध नहीं होता। किस कारण से उसे पापकर्म का बन्ध नहीं होता ? प्रेरक (प्रश्नकर्त्ता स्वयं) इस प्रकार कहता है—किसी का मन पापयुक्त होने पर ही मानसिक (मन-सम्बन्धी) पापकर्म किया जाता है, तथा पापयुक्त वचन होने पर ही वाचिक (वचन द्वारा) पापकर्म किया जाता है, एवं पापयुक्त शरीर होने पर ही कायिक (काया द्वारा) पापकर्म किया जाता है। जो प्राणी हिंसा करता है, हिंसायुक्त मनोव्यापार से युक्त है, जो जान-बूझ कर (विचारपूर्वक) मन, वचन, काया और वाक्य का प्रयोग करता है, जो स्पष्ट (व्यक्त) विज्ञानयुक्त (वैसा स्वप्नद्रष्टा) भी है। इस प्रकार के गुणों (विशेषताओं) से युक्त जीव पापकर्म करता (बांधता) है।

पुन: प्रेरक (प्रश्नकर्त्ता) इस प्रकार कहता है—'इस विषय में जो लोग ऐसा कहते हैं कि मन पापयुक्त न हो, वचन भी पापयुक्त न हो, तथा शरीर भी पापयुक्त न हो, किसी प्राणी का घात न करता हो, अमनस्क हो, मन, वचन, काया और वाक्य के द्वारा भी (पाप) विचार से रहित हो, स्वप्न में भी (पाप) न देखता हो, यानी अव्यक्तविज्ञान वाला हो, तो भी (वह) पापकर्म करता है।" जो इस प्रकार कहते हैं, वे मिथ्या कहते हैं।"

७४९—तत्थ पण्णवगे चोदगं एवं वदासी—जं मए पुव्वुत्तं 'असंतएणं मणेणं पावएणं असंतियाए वतीए पावियाए असंतएणं काएणं पावएणं अहणंतस्स अमणक्खस्स अवियारमण-वयस-काय-वक्कस्स सुविणमवि अपस्सतो पावे कम्मे कज्जति' तं सम्मं। कस्स णं तं हेउं ? आचार्य आह—तत्थ खलु भगवता छज्जीवनिकाया हेऊ पण्णत्ता, तंजहा—पुढविकाइया जाव तसकाइया। इच्चेतेहिं छहिं जीवनिकाएहिं आया अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे निच्चं पसढविओवातचित्तदंडे, तंजहा—पाणाइवाए

जाव परिग्गहे, कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले। आचार्य आह—तत्थ खलु भगवता वहए दिट्ठंते पण्णत्त, से जहानामए वहए सिया गाहावतिस्स वा गाहावतिपुत्तस्स वा रण्णो वा रायपुरिसस्स वा खणं निदाए पविसिस्सामि खणं लद्धूण वहिस्सामि पहारेमाणे, से किं नु हु नाम से वहए तस्स वा गाहावतिस्स तस्स वा गाहावतिपुत्तस्स तस्स वा रण्णो तस्स वा रायपुरिसस्स खणं निदाए पविसिस्सामि खणं लद्धूण वहिस्सामि पहारेमाणे[1] दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसढविओवातचित्तदंडे भवति ? एवं वियागरेमाणे समियाए वियागरे चोयए-हंता भवति।

आचार्य आह—जहा से वहए तस्स वा गाहावतिस्स तस्स वा गाहावतिपुत्तस्स तस्स वा रण्णो तस्स वा रायपुरिसस्स खणं णिदाए पविसिस्सामि खणं लद्धूण वहिस्सामीति पहारेमाणे दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसढविओवातचित्तदंडे एवामेव बाले वि सव्वेसिं पाणाणं जाव सत्ताणं पिया वा रातो वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसढविओवातचित्तदंडे, तं० पाणाइवाते जाव मिच्छादंसणसल्ले, एवं खलु भगवता अक्खाए अस्संजते अविरते अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते यावि भवति, से बाले अवियारमण-वयस-काय-वक्के सुविणमवि ण पस्सति, पावे य से कम्मे कज्जति। जहा से वहए तस्स वा गाहावतिस्स जाव तस्स वा रायपुरिसस्स पत्तेयं पत्तेयं चित्त समादाए दिया वा राओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसढविओवालचित्तदंडे भवति, एवामेव बाले सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं पत्तेयं पत्तेयं चित्त समादाए दिया वा रातो वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते जाव चित्तदंडे भवइ।

७४९. इस सम्बन्ध में प्रज्ञापक (उत्तरदाता) ने प्रेरक (प्रश्नकार) से इस प्रकार कहा—जो मैंने पहले कहा था कि मन पाप युक्त न हो वचन भी पापयुक्त न हो, तथा काया भी पापयुक्त न हो, वह किसी प्राणी की हिंसा भी न करता हो, मनोविकल हो, चाहे वह मन, वचन, काया और वाक्य का समझ-बूझकर (विचारपूर्वक) प्रयोग न करता हो, और वैसा (पापकारी) स्वप्न भी न देखता हो, अर्थात् अव्यक्त विज्ञान (चेतना) वाला हो, ऐसा जीव भी पापकर्म करता (बांधता) है, वही सत्य है। ऐसे कथन के पीछे कारण क्या है ? आचार्य (प्रज्ञापक) ने कहा—इस विषय में श्री तीर्थंकर भगवान् ने षड्जीवनिकाय कर्मवन्ध के हेतु के रूप में वताए हैं। वे षड्जीवनिकाय पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय पर्यन्त हैं। इन छह प्रकार के जीवनिकाय के जीवों की हिंसा से उत्पन्न पाप को जिस आत्मा ने (तपश्चर्या आदि करके) नष्ट (प्रतिहत) नहीं किया, तथा भावी पाप को प्रत्याख्यान के द्वारा रोका नहीं, वल्कि सदैव निष्ठुरतापूर्वक प्राणियों की घात में चित्त लगाए रखता है, और उन्हें दण्ड देता है तथा प्राणातिपात से लेकर परिग्रह-पर्यन्त तथा क्रोध से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के पापस्थानों से निवृत्त नहीं होता है, (वह चाहे किसी भी अवस्था में हो, अवश्यमेव पापकर्म का वन्ध करता है, यह सत्य है।)

(इस सम्बन्ध में) आचार्य (प्ररूपक) पुनः कहते हैं—इसके विषय में भगवान् महावीर ने वधक (हत्यारे) का दृष्टान्त बताया है—कल्पना कीजिए—कोई हत्यारा हो, वह गृहपति की अथवा

---

[1] नागार्जुनीय सम्मत पाठ—'अप्पणो अक्खणयाए तस्स वा पुरिसस्स छिद्दं अलभमाणे णो वहेइ,....मे से पुरिसे अवसं वहेयव्वे भविस्सइ एवं मणो पहारेमाणे चूर्णि०'—सूत्रकृ. वृत्ति पत्रांक ३६४

गृहपति के पुत्र की अथवा राजा की या राजपुरुष की हत्या करना चाहता है। (वह इसी ताक में रहता है कि) अवसर पाकर मैं घर में प्रवेश करूंगा और अवसर पाते ही (उस पर) प्रहार करके हत्या कर दूँगा। "उस गृहपति की, या गृहपतिपुत्र की, अथवा राजा की या राजपुरुष की हत्या करने हेतु अवसर पाकर घर में प्रवेश करूंगा और अवसर पाते ही प्रहार करके हत्या कर दूँगा;" इस प्रकार (सतत संकल्प-विकल्प करने और मन में निश्चय करने वाला) वह हत्यारा दिन को या रात को, सोते या जागते प्रतिक्षण इसी उधेड़बुन में रहता है, जो उन सबका अमित्र-(शत्रु) भूत है, उन सबसे मिथ्या (प्रतिकूल) व्यवहार करने में जुटा हुआ (संस्थित) है, जो चित्त रूपी दण्ड में सदैव विविध प्रकार से निष्ठुरतापूर्वक घात का दुष्ट विचार रखता है, क्या ऐसा व्यक्ति उन (पूर्वोक्त व्यक्तियों) का हत्यारा कहा जा सकता है, या नहीं?

आचार्यश्री के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर प्रेरक (प्रश्नकर्ता शिष्य) समभाव (माध्यस्थ्य-भाव) के साथ कहता है—"हाँ, पूज्यवर! ऐसा (पूर्वोक्त विशेषणविशिष्ट) पुरुष हत्यारा (हिंसक) ही है।"

आचार्य ने (पूर्वोक्त दृष्टान्त को स्पष्ट करने हेतु) कहा—जैसे उस गृहपति या गृहपति के पुत्र को अथवा राजा या राजपुरुष को मारना चाहने वाला वह वधक पुरुष सोचता है कि मैं अवसर पा कर इसके मकान (या नगर) में प्रवेश करूंगा और मौका (या छिद्र अथवा सुराग) मिलते ही इस पर प्रहार करके वध कर दूँगा; ऐसे कुविचार से वह दिन-रात, सोते-जागते हरदम घात लगाये रहता है, सदा उनका शत्रु (अमित्र) बना रहता है, मिथ्या (गलत) कुकृत्य करने पर तुला हुआ है, विभिन्न प्रकार से उनके घात (दण्ड) के लिए नित्य शठतापूर्वक दुष्टचित्त में लहर चलती रहती है, (वह चाहे घात न कर सके, परन्तु है वह घातक ही।) इसी तरह (अप्रत्याख्यानी) बाल (अज्ञानी) जीव भी समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों का दिन-रात, सोते या जागते सदा वैरी (अमित्र) बना रहता है, मिथ्याबुद्धि से ग्रस्त रहता है, उन जीवों को नित्य निरन्तर शठतापूर्वक हनन करने (दण्ड देने) की बात चित्त में जमाए रखता है, क्योंकि वह (अप्रत्याख्यानी बाल जीव) प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह ही पापस्थानों में ओतप्रोत रहता है। इसीलिए भगवान् ने ऐसे जीव के लिए कहा है कि वह असंयत, अविरत, पापकर्मो का (तप आदि से) नाश एवं प्रत्याख्यान न करने वाला, पापक्रिया से युक्त, संवररहित, एकान्तरूप से प्राणियों को दण्ड देने (हनन करने) वाला, सर्वथा बाल (अज्ञानी) एवं सर्वथा सुप्त भी होता है। वह अज्ञानी जीव चाहे मन, वचन, काया और वाक्य का विचारपूर्वक (पापकर्म में) प्रयोग न करता हो, भले ही वह (पापकर्म करने का) स्वप्न भी न देखता हो, यानी उसकी चेतना (ज्ञान) बिलकुल अस्पष्ट ही क्यों न हो, तो भी वह (अप्रत्याख्यानी होने के कारण) पापकर्म का बन्ध करता रहता है। जैसे वध का विचार करने वाला घातक पुरुष उस गृहपति या गृहपतिपुत्र की, अथवा राजा या राजपुरुष की प्रत्येक की अलग-अलग हत्या करने का दुर्विचार चित्त में लिए हुए अहर्निश, सोते या जागते उसी धुन में रहता है, वह उनका (प्रत्येक का) शत्रु-सा बना रहता है, उसके दिमाग में धोखे देने के दुष्ट (मिथ्या) विचार घर किये रहते हैं, वह सदैव उनकी हत्या करने की धुन में रहता है, शठतापूर्वक प्राणि-दण्ड के दुष्ट विचार ही चित्त में किया करता है, इसी तरह (अप्रत्याख्यानी भी) समस्त प्राणों, भूतों-जीवों और सत्वों के, प्रत्येक के प्रति चित्त में निरन्तर हिंसा के भाव रखने वाला और प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के १८ ही पापस्थानों से अविरत, अज्ञानी जीव दिन-रात, सोते या जागते सदैव उन प्राणियों का शत्रु-सा

बना रहता है, उन्हें धोखे से मारने का दुष्ट विचार करता है, एवं नित्य उन जीवों के शठतापूर्वक (दण्ड) घात की बात चित्त में घोटता रहता है।

स्पष्ट है कि ऐसे अज्ञानी जीव जब तक प्रत्याख्यान नहीं करते, तब तक वे पापकर्म से जरा भी विरत नहीं होते, इसलिए उनके पापकर्म का बन्ध होता रहता है।

विवेचन—प्रत्याख्यान क्रियारहित : सदैव पापकर्मबन्धकर्ता, क्यों और कैसे ?—प्रस्तुत दो सूत्रों में प्रेरक द्वारा अप्रत्याख्यानी के द्वारा सतत पापकर्मबन्ध के सम्बन्ध में उठाए गए प्रश्न का प्ररूपक द्वारा सदृष्टान्त समाधान किया गया है। संक्षेप में प्रश्न और उत्तर इस प्रकार हैं—

प्रश्न—जिस प्राणी के मन-वचन-काया पापयुक्त हों, जो समनस्क हो, जो हिंसा-युक्त मनोव्यापार से युक्त हो, हिंसा करता हो, जो विचारपूर्वक, मन, वचन, काया और वाक्य का प्रयोग करता हो, जो व्यक्तचेतनाशील हो, वैसा प्राणी ही पापकर्म का बन्ध करता है, मगर इसके विपरीत जो प्राणी अमनस्क हो एवं जिसके मन-वचन-काया पापयुक्त न हों, जो विचारपूर्वक इनका प्रयोग न करता हो, अव्यक्त चेतनाशील हो वह भी पापकर्मबन्ध करता है, ऐसा कहना कैसे उचित हो सकता है ?

उत्तर—सैद्धान्तिक दृष्टि से पूर्वोक्त मन्तव्य ही सत्य है, क्योंकि षड्जीवनिकाय की हिंसा से उत्पन्न पाप को जिसने तप आदि द्वारा नष्ट नहीं किया, न भावी पाप को प्रत्याख्यान द्वारा रोका, वह जीव चाहे कैसी भी अवस्था में हो, चाहे उसके मन, वचन, काया पापयुक्त न हों वह अमनस्क हो, अविचारी हो, अस्पष्ट चेतनाशील हो तो भी अप्रत्याख्यानी होने के कारण उसके सतत पापकर्म का बन्ध होता रहता है।

जैसे कोई हत्यारा किसी व्यक्ति का वध करना चाहता है, सोते-जागते, दिन-रात इसी फिराक में रहता है कि कब मौका मिले और कब मैं उसे मारूं। ऐसा शत्रु के समान प्रतिकूल व्यवहार करने को उद्यत हत्यारा चाहे अवसर न मिलने से उस व्यक्ति की हत्या न कर सके, परन्तु कहलाएगा वह हत्यारा ही। उसका हिंसा का पाप लगता रहता है। इसी प्रकार एकान्त अप्रत्याख्यानी जीव द्वारा भी किसी जीव को न मारने का, या पापों का प्रत्याख्यान नहीं किया होने से, भले ही अमनस्क हो, मन-वचन-काया का प्रयोग विचारपूर्वक न करता हो, सुषुप्त चेतनाशील हो, तब भी उसके अठारह ही पापस्थान तथा समस्त जीवों की हिंसा खुली होने से, उसके पापकर्म का बन्ध होता रहता है। प्रत्याख्यान न करने के कारण वह सर्वथा असंयत, अविरत, पापों का तप आदि से नाश एवं प्रत्याख्यान से निरोध न करने वाला, संवररहित, एकान्त प्राणिहिंसक, एकान्त बाल एवं सर्वथा सुप्त होता है।[1]

फलितार्थ—जिन प्राणियों का मन राग-द्वेष से पूर्ण और अज्ञान के आवृत होता है, उनका अन्य समस्त प्राणियों के प्रति दूषित भाव रहता है। इन दूषित भावों से जब तक विरति नहीं होती, तब तक वे प्रत्याख्यान क्रिया नहीं कर पाते, और प्रत्याख्यानक्रिया के अभाव में, वे सभी (एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के) प्राणियों का द्रव्य से चाहे अवसर न मिलने के कारण या अन्य कारणों से) घात न कर पाते हों, किन्तु भाव से तो घातक ही हैं, अघातक नहीं, वे भाव से उन प्राणियों के वैरी हैं।[2]

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३६३-३६४ का सारांश

[2] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३६४ के अनुसार

संज्ञी-असंज्ञी अप्रत्याख्यानी : सदैव पापकर्मरत

७५०. णो इणट्ठे समट्ठे—चोदगो। इह खलु बहवे पाणा जे इमेणं सरीरसमुस्सएणं णो दिट्ठा वा नो सुया वा नाभिमता वा विण्णाया वा जेसिं णो पत्तेयं पत्तेयं चित्त समादाए दिया वा रातो वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूते मिच्छासंठिते निच्चं पसढविओवातचित्तदंडे, तं०—पाणातिवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले।

७५०. प्रेरक (प्रश्नकर्त्ता) ने (इस सम्बन्ध में) एक प्रतिप्रश्न उठाया—(आपकी) पूर्वोक्त बात मान्य नहीं हो सकती। इस जगत् में बहुत-से ऐसे प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व हैं, (जो इतने सूक्ष्म और दूर हैं कि हम जैसे अर्वाग्दर्शी पुरुषों ने) उनके शरीर के प्रमाण को न कभी देखा है, न ही सुना है, वे प्राणी न तो अपने अभिमत (इष्ट) हैं, और न वे ज्ञात हैं। इस कारण ऐसे समस्त प्राणियों में से प्रत्येक प्राणी के प्रति हिंसामय चित्त रखते हुए दिन-रात, सोते या जागते उनका अमित्र (शत्रु बना रहना, तथा उनके साथ मिथ्या व्यवहार करने में संलग्न रहना, एवं सदा उनके प्रति शठतापूर्ण हिंसामय चित्त रखना, सम्भव नहीं है, इसी तरह प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के पापों (पापस्थानों) में ऐसे प्राणियों का लिप्त रहना भी सम्भव नहीं है।

७५१. आचार्य आह—तत्थ खलु भगवता दुवे दिट्ठंता पण्णत्ता, तं जहा—सन्निदिट्ठंते य असण्णिदिट्ठंते य।

(१) से किं तं सण्णिदिट्ठंते? सण्णिदिट्ठंते जे इमे सण्णिपंचिंदिया पज्जत्तगा एतेसिं णं छज्जीवनिकाए पडुच्च तं०—पुढविकायं जाव तसकायं, से एगतिओ पुढविकाएण किच्चं करेति वि कारवेति वि, तस्स णं एवं भवति—एवं खलु अहं पुढविकाएणं किच्चं करेमि वि कारवेमि वि, णो चेव णं से एवं भवति इमेण वा इमेण वा, से य तेणं पुढविकाएणं किच्चं करेइ वा कारवेइ वा, से य ताओ पुढविकायातो असंजयअविरयअपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे यावि भवति, एवं जाव तसकायातो त्ति भाणियव्वं, से एगतिओ छहिं जीवनिकाएहिं किच्चं करेति वि कारवेति वि, तस्स णं एवं भवति—एवं खलु छहिं जीवनिकाएहिं किच्चं करेमि वि कारवेमि वि, णो चेव णं से एवं भवति इमेहिं वा इमेहिं वा, से य तेहिं छहिं जीवनिकाएहिं जाव कारवेति वि, से य तेहिं छहिं जीवनिकाएहिं असंजय अविरय-अपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे, तं०—पाणातिवाते जाव मिच्छादंसणसल्ले, एस खलु भगवता अक्खाते असंजते अविरते अपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सुविणमवि अपस्सतो पावे य कम्मे से कज्जति।

से त्तं सण्णिदिट्ठंतेणं।

(२) से किं तं असण्णिदिट्ठंते? असण्णिदिट्ठंते जे इमे असण्णिणो पाणा, तं—पुढविकाइया जाव वणस्सतिकाइया छट्ठा वेगतिया तसा पाणा, जेसिं णो तक्का ति वा सण्णा ति वा पण्णा इ वा मणो ति वा वई ति वा सयं वा करणाए अण्णेहिं वा कारवेत्तए करेंतं वा समणुजाणित्तए ते वि णं बाला सव्वेसिं पाणाणं जाव सव्वेसिं सत्ताणं दिया वा रातो वा सुत्ते वा जागरमाणे वा अमित्तभूता मिच्छासंठिता निच्चं पसढविओवातचित्तदंडा, तं०—पाणातिवाते जाव मिच्छादंसणसल्ले, इच्चेवं जाण,

णो चेव मणो णो चेव वई पाणाणं जाव सत्ताणं दुक्खणताए सोयणताए जूरणताए तिप्पणताए पिट्टणताए परितप्पणताए ते दुक्खण-सोयण जाव परितप्पण-वह-बंधणपरिकिलेसाओ अप्पडिविरता भवंति। इति खलु ते असण्णिणो वि संता अहोनिसं पाणातिवाते उवक्खाइज्जंति जाव अहोनिसं परिग्गहे उवक्खाइज्जंति जाव मिच्छादंसणसल्ले उवक्खाइज्जंति।

७५१. आचार्य ने (पूर्वोक्त प्रतिप्रश्न का समाधान करते हुए) कहा—इस विषय में भगवान् महावीर स्वामी ने दो दृष्टान्त कहे हैं, जो इस प्रकार हैं—एक संज्ञिदृष्टान्त और दूसरा असंज्ञिदृष्टान्त।

(१) (प्रश्न—) यह संज्ञी का दृष्टान्त क्या है ?

(उत्तर—) संज्ञी का दृष्टान्त इस प्रकार है—जो ये प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक जीव हैं, इनमें पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक षड्जीवनिकाय के जीवों में से यदि कोई पुरुष पृथ्वीकाय से ही अपना आहारादि कृत्य करता है, कराता है, तो उसके मन में ऐसा विचार होता है कि मैं पृथ्वीकाय से अपना कार्य करता भी हूँ और कराता भी हूँ (या अनुमोदन करता हूँ), उसे उस समय ऐसा विचार नहीं होता (या उसके विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि) वह इस या इस (अमुक) पृथ्वी (काय) से ही कार्य करता है, कराता है, सम्पूर्ण पृथ्वी से नहीं। (उसके सम्बन्ध में यही कहा जाता है कि) वह पृथ्वीकाय से ही कार्य करता है और कराता है। इसलिए वह व्यक्ति पृथ्वीकाय का असंयमी, उससे अविरत, तथा उसकी हिंसा का प्रतिघात (नाश) और प्रत्याख्यान किया हुआ नहीं है। इसी प्रकार त्रसकाय तक के जीवों के विषय में कहना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति छहकाया के जीवों से कार्य करता है, कराता भी है, तो वह यही विचार करता (या कहता) है कि मैं छह काया के जीवों से कार्य करता हूँ, कराता भी हूँ। उस व्यक्ति को ऐसा विचार नहीं होता, (या उसके विषय में ऐसा नहीं कहा जाता) कि वह इन या इन (अमुक-अमुक) जीवों से ही कार्य करता और कराता है, (सबसे नहीं); क्योंकि वह सामान्यरूप से उन छहों जीवनिकायों से कार्य करता है और कराता भी है। इस कारण (यही कहा जाता है कि) वह प्राणी उन छहों जीवनिकायों के जीवों की हिंसा से असंयत, अविरत है और उनकी हिंसा आदि से जनित पापकर्मों का प्रतिघात और प्रत्याख्यान किया हुआ नहीं है। इस कारण वह प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के सभी पापों का सेवन करता है। तीर्थंकर भगवान् ने ऐसे प्राणी को असंयत, अविरत, पापकर्मों का (तप आदि से) नाश तथा प्रत्याख्यान से निरोध न करने वाला कहा है। चाहे वह प्राणी स्वप्न भी न देखता हो, अर्थात्—अव्यक्तचेतनाशील हो, तो भी वह पापकर्म (का बन्ध) करता है।

यह है, संज्ञी का दृष्टान्त !

(२) (प्रश्न—) 'वह असंज्ञिदृष्टान्त क्या है ?'

(उत्तर—) असंज्ञी का दृष्टान्त इस प्रकार है—'पृथ्वीकायिक जीवों से लेकर वनस्पतिकायिक जीवों तक पाँच स्थावर एवं छठे जो त्रससंज्ञक अमनस्क जीव हैं, वे असंज्ञी हैं, जिनमें न तर्क है, न संज्ञा है न प्रज्ञा (बुद्धि) है, न मन (मनन करने का साधन) है, न वाणी है, और जो न तो स्वयं कर सकते हैं और न ही दूसरे से करा सकते हैं, और न करते हुए को अच्छा समझ सकते हैं;

तथापि वे अज्ञानी प्राणी भी समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों के दिन-रात सोते या जागते हर समय शत्रु-से बने रहते हैं, उन्हें धोखा देने में तत्पर रहते हैं, उनके प्रति सदैव हिंसात्मक (भावमनोरूप—) चित्तवृत्ति रखते हैं, इसी कारण वे प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह ही पापस्थानों में सदा लिप्त रहते हैं। इस प्रकार यद्यपि असंज्ञी जीवों के मन (द्रव्यमन) नहीं होता, और न ही वाणी होती है, तथापि वे (अप्रत्याख्यानी होने से) समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को दु:ख देने, शोक उत्पन्न करने, विलाप कराने, रुलाने, पीड़ा देने, वध करने, तथा परिताप देने अथवा उन्हें एक ही साथ (सामूहिकरूप से) दु:ख, शोक, विलाप, रुदन, पीड़न, संताप वध-बन्धन, परिक्लेश आदि करने से विरत नहीं होते, अपितु पापकर्म में सदा रत रहते हैं। इस प्रकार वे प्राणी असंज्ञी होते हुए भी अहर्निश प्राणातिपात में प्रवृत्त कहे जाते हैं, तथा मृषावाद आदि से लेकर परिग्रह तक में तथा मिथ्यादर्शनशल्य तक के समस्त पापस्थानों में प्रवृत्त कहे जाते हैं।

७५२. सव्वजोणिया वि खलु सत्ता सण्णिणो होच्चा असण्णियो होंति, असण्णिणो होच्चा सण्णिणो होंति, होज्ज सण्णी अदुवा असण्णी, तत्थ से अविविंचिया अविधूणिया असमुच्छिया अणणुताविया सण्णिकायाओ सण्णिकायं संकमंति १, सण्णिकायाओ वा असण्णिकायं संकमंति २, असण्णिकायाओ वा सण्णिकायं संकमंति ३, असण्णिकायाओ वा असण्णिकायं संकसंति ४।

जे एते सण्णी वा असण्णी वा सव्वे ते मिच्छायारा निच्चं पसढविओवातचित्तदंडा, तं०— पाणातिवाते जाव मिच्छादंसणसल्ले। एवं खलु भगवता अक्खाते असंजए अविरए अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे सकिरिए असंवुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुत्ते, से बाले अवियारमण-वयस-काय-वक्के, सुविणमवि अपासओ पावे य से कम्मे कज्जति।

७५२. सभी योनियों के प्राणी निश्चितरूप से संज्ञी होकर असंज्ञी (पर्याय में उत्पन्न) हो जाते हैं, तथा असंज्ञी होकर संज्ञी (पर्याय में उत्पन्न) हो जाते हैं। वे संज्ञी या असंज्ञी होकर यहाँ पापकर्मों को अपने से अलग (पृथक्) न करके, तथा उन्हें न झाड़कर (तप आदि से उनकी निर्जरा न करके), (प्रायश्चित्त आदि से) उनका उच्छेद न करके तथा (आलोचना-निन्दना-गर्हणा आदि से) उनके लिए पश्चात्ताप न करके वे संज्ञी के शरीर से संज्ञी के शरीर में आते (जन्म लेते) हैं, अथवा संज्ञी के शरीर से असंज्ञी के शरीर में संक्रमण करते (आते) हैं, अथवा असंज्ञीकाय से संज्ञीकाय में संक्रमण करते हैं अथवा असंज्ञी की काया से असंज्ञी की काया में आते (संक्रमण करते) हैं।

जो ये संज्ञी अथवा असंज्ञी प्राणी होते हैं, वे सब मिथ्याचारी और सदैव शठतापूर्ण हिंसात्मक चित्तवृत्ति धारण करते हैं। अतएव वे प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह ही पापस्थानों का सेवन करने वाले हैं। इसी कारण से ही भगवान् महावीर ने इन्हें असंयत, अविरत, पापों का प्रतिघात (नाश) और प्रत्याख्यान न करने वाले, अशुभक्रियायुक्त, संवररहित, एकान्त हिंसक (प्राणियों को दण्ड देने वाले), एकान्त बाल (अज्ञानी) और एकान्त (भावनिद्रा में) सुप्त कहा है। वह अज्ञानी (अप्रत्याख्यानी) जीव भले ही मन, वचन, काया और वाक्य का प्रयोग विचारपूर्वक न करता हो, तथा (हिंसा का) स्वप्न भी न देखता हो,—(अव्यक्तविज्ञानयुक्त हो) फिर भी पापकर्म (का बन्ध) करता रहता है।

विवेचन—असंज्ञी-संज्ञी दोनों प्रकार अप्रत्याख्यानी प्राणी सदैव पापरत—प्रस्तुत तीन सूत्रों में शास्त्रकार ने प्रत्याख्यानरहित सभी प्रकार के प्राणियों को सदैव पापकर्मबन्ध होते रहने का सिद्धान्त दृष्टान्तपूर्वक यथार्थ सिद्ध किया है। इस त्रिसूत्री में से प्रथम सूत्र में प्रश्न उठाया गया है, जिसका दो सूत्रों द्वारा समाधान किया गया है।

प्रेरक द्वारा नये पहलू से उठाया गया प्रश्न—सभी अप्रत्याख्यानी जीव सभी प्राणियों के शत्रु हैं, यह कथन युक्तिसंगत नहीं जँचता; क्योंकि संसार में ऐसे बहुत-से प्राणी हैं, जो देश, काल एवं स्वभाव से अत्यन्त दूर, अतिसूक्ष्म एवं सर्वथा अपरिचित हैं, न तो वे आँखों से देखने में आते हैं, न ही कानों से उनके नाम सुनने में आते हैं, न वे इष्ट होते हैं न ज्ञात होते हैं। अतः उनके साथ कोई सम्बन्ध या व्यवहार न रहने से किसी भी प्राणी की चित्तवृत्ति उन प्राणियों के प्रति हिंसात्मक कैसे बनी रह सकती है? इस दृष्टि से अप्रत्याख्यानी जीव समस्त प्राणियों का घातक कैसे माना जा सकता है? इसी प्रकार जो प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक के पापों के विषय में सर्वथा अज्ञात हैं, वे उन पापों से कैसे लिप्त हो सकते हैं?

यथार्थ समाधान—दो दृष्टान्तों द्वारा—जो प्राणी जिस प्राणी की हिंसा से निवृत्त नहीं, वह वध्य प्राणी भले ही देश-काल से दूर, सूक्ष्म, अज्ञात एवं अपरिचित हो; तो भी, अप्रत्याख्यानी प्राणी उसका घातक ही कहा जायगा। उसकी चित्त वृत्ति उनके प्रति हिंसक ही है। इसी प्रकार जो हिंसादि पापों से विरत नहीं, वह चाहे उन पापों से अज्ञात हो, फिर भी अविरत कहलाएगा, इसलिए उसके उन सब पापकर्मों का बन्ध होता रहेगा। ग्रामघातक व्यक्ति ग्राम से दूर चले गये प्राणियों का भले ही घात न कर पाए, किन्तु है वह उनका घातक ही, क्योंकि उसकी इच्छा समग्र ग्राम के घात की है। अत: अप्रत्याख्यानी प्राणी ज्ञात-अज्ञात सभी प्राणियों का हिंसक है, समस्त पापों में लिप्त है, भले ही वह १८ पापस्थानों में से एक पाप करता हो।

प्रथम दृष्टान्त—एक संज्ञी प्राणी है, उसने पृथ्वीकाय से अपना कार्य करना निश्चित किया है। शेष सब कार्यों के आरम्भ का त्याग कर दिया है। यद्यपि वह पृथ्वीकाय में भी देश-काल से दूरवर्ती समग्र पृथ्वीकाय का आरम्भ नहीं करता, एक देशवर्ती अमुक पृथ्वी विशेष का ही आरम्भ करता है, किन्तु उसके पृथ्वीकाय के आरम्भ या घात का प्रत्याख्यान न होने से समग्र पृथ्वीकाय की हिंसा (आरम्भ) का पाप लगता है, वह अमुक दूरवर्ती पृथ्वीकाय का अनारम्भक या अघातक नहीं, आरम्भक एवं घातक ही कहा जाएगा। इसी प्रकार जिस संज्ञी जीव ने छहों काया के प्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान नहीं किया है, वह अमुक काय के जीव की या देश-काल से दूरवर्ती प्राणियों की हिंसा न करता हुआ भी प्रत्याख्यान न होने से षट्कायिक जीवों का हिंसक या घातक ही है। इसी प्रकार १८ पापस्थानों का प्रत्याख्यान न करने पर उसे १८ ही पापस्थानों का कर्त्ता माना जाएगा, भले ही वह उन पापों को मन, वचन, काया व वाक्य से समझबूझ कर न करता हो।

दूसरा दृष्टान्त—असंज्ञी प्राणियों का है—पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय तक तथा कोई कोई त्रसकाय (द्वीन्द्रिय आदि) तक के जीव असंज्ञी भी होते हैं, वे सम्यग्ज्ञान, विशिष्ट चेतना, या द्रव्य मन से रहित होते हैं। ये सुप्त प्रमत्त या मूच्छित के समान होते हैं। इनमें तर्क, संज्ञा, प्रज्ञा वस्तु की आलोचना करके पहचान करने, मनन करने, शब्दों का स्पष्ट उच्चारण करने तथा शरीर से स्वयं करने, कराने या अनुमोदन करने की शक्ति नहीं होती, इनमें मन, वचन, काय का विशिष्ट

व्यापार नहीं होता। फिर भी ये असंज्ञी प्राणी प्राणिहिंसा एवं अठारह पापस्थानों का प्रत्याख्यान न होने से दूसरे प्राणियों के घात की योग्यता रखते हैं, दूरवर्ती प्राणियों के प्रति भी हिंसात्मक दुष्ट आशय इनमें रहता है, ये प्राणियों को दुःख, शोक, संताप एवं पीड़ा उत्पन्न करने से विरत नहीं कहे जा सकते। पाप से विरत न होने से ये सतत अठारह ही पापस्थानों में लिप्त या प्रवृत्त कहे जाते हैं।

निष्कर्ष—यह है कि प्राणी चाहे संज्ञी हो या असंज्ञी, जो प्रत्याख्यानी नहीं है, वह चाहे जैसी अवस्था में हो, वध्य प्राणी चाहे देश-काल से दूर हो, चाहे वह (वधक) प्राणी स्वयं किसी भी स्थिति में मन-वचन-काया से किसी भी प्राणी की घात न कर सकता हो, स्वप्न में भी घात की कल्पना न आती हो, सुषुप्त चेतनाशील हो या मूर्च्छित हो, तो भी सब प्राणियों के प्रति दुष्ट आशय होने से तथा अठारह पापस्थानों से निवृत्त न होने से उसके सतत पापकर्म का बन्ध होता रहता है।[1]

संज्ञी-असंज्ञी का संक्रमण : एक सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण—शास्त्रकार से सूत्र ७५२ में इस मान्यता का खण्डन किया है कि संज्ञी मर कर संज्ञी ही होते हैं, असंज्ञी असंज्ञी ही। जीवों की गति या योनि कर्माधीन होती है। अतः कर्मों की विचित्रता के कारण—(१) संज्ञी से असंज्ञी भी हो जाता है, (२) असंज्ञी से भी संज्ञी हो जाता है (३) कभी संज्ञी मर कर संज्ञी बन जाता है, (४) और कभी असंज्ञी मर कर पुनः असंज्ञी हो जाता है। इस दृष्टि से देवता सदा देवता ही बने रहेंगे, नारकी सदा नारकी ही, यह सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं है।[2]

संयत, विरत पापकर्म प्रत्याख्यानी कौन और कैसे

७५३. चोदकः—से किं कुव्वं किं कारवं कहं संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे भवति ?।

आचार्य आह—तत्थ खलु भगवता छज्जीवणिकायाया हेऊ पण्णत्ता, तंजहा– पुढविकाइया जाव तसकाइया, से जहानामए मम अस्सातं डंडेण वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा आतोडिज्जमाणस्स वा जाव उद्दविज्जमाणस्स वा जाव लोमुक्खणणमातमवि विहिंसक्कारं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि, इच्चेवं जाण सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता दंडेण वा जाव कवालेण वा आतोडिज्जमाणा वा हम्ममाणा वा तज्जिज्जमाणा वा तालिज्जमाणा वा जाव उद्दविज्जमाणा वा जाव लोमुक्खणणमातमवि विहिंसक्कारं दुक्खं भयं पडिसंवेदेंति, एवं णच्चा सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता ण हंतव्वा जाण ण उद्दवेयव्वा, एस धम्मे धुवे णितिए सासते समेच्च लोगं खेत्तण्णेहिं पवेदिते। एवं से भिक्खू विरते पाणातिवातातो जाव मिच्छादंसणसल्लातो। से भिक्खू णो दंतपक्खालणेणं दंते पक्खालेज्जा, नो अंजणं, णो वमणं, णो धूवणित्तिं पि आइत्ते। से भिक्खू अकिरिए अलूसए अकोहे अमाणे जाव अलोभे उवसंते परिनिव्वुडे।

एस खलु भगवता अक्खाते संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे अकिरिएं संवुडे एगंतपंडिते यावि भवति त्ति बेमि।

॥ पच्चक्खाणकिरिया चउत्थमज्झयणं समत्तं ॥

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३६६ से ३६८ तक का सारांश

[2] वही, पत्रांक ३६९ का सारांश

७५३—(प्रेरक ने पुनः अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की—) मनुष्य क्या करता हुआ, क्या कराता हुआ तथा कैसे संयत, विरत, तथा पापकर्म का प्रतिघात और प्रत्याख्यान करने वाला होता है ?

आचार्य ने (समाधान करते हुए) कहा—इस विषय में तीर्थंकर भगवान् ने षड् जीवनिकायों को (संयम अनुष्ठान का) कारण बताया है। वे छह प्राणिसमूह इस प्रकार हैं—पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक के जीव। जैसे कि किसी व्यक्ति द्वारा डंडे से, हड्डियों से, मुक्कों से, ढेले से या ठीकरे से मैं ताड़न किया जाऊं या पीड़ित (परेशान) किया जाऊं, यहाँ तक कि मेरा केवल एक रोम उखाड़ा जाए तो मैं हिंसाजनित दुःख, भय और असाता का अनुभव करता हूँ, इसी तरह जानना चाहिए कि समस्त प्राणी यावत् सभी सत्त्व डंडे आदि से ठीकरे तक से मारे जाने पर एवं पीड़ित किये जाने पर, यहाँ तक कि एक रोम भी उखाड़े जाने पर हिंसाजनित दुःख और भय का अनुभव करते हैं। ऐसा जानकर समस्त प्राणियों यावत् सभी सत्त्वों को नहीं मारना चाहिए, यहाँ तक कि उन्हें पीड़ित (उपद्रवित) नहीं करना चाहिए। यह (अहिंसा) धर्म ही ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, तथा लोक के स्वभाव को सम्यक् जानकर खेदज्ञ या क्षेत्रज्ञ तीर्थंकरदेवों द्वारा प्रतिपादित है। यह जान कर साधु प्राणातिपात से लेकर मिथ्यादर्शनशल्य तक अठारह ही पापस्थानों से विरत होता है। वह साधु दांत साफ करने वाले काष्ठ आदि से दांत साफ न करे; तथा नेत्रों में अंजन (काजल) न लगाए, न दवा लेकर वमन करे, और न ही धूप के द्वारा अपने वस्त्रों या केशों को सुवासित करे। वह साधु सावद्य-क्रियारहित, हिंसारहित, क्रोध, मान, माया और लोभ से रहित, उपशान्त एवं पाप से निवृत्त होकर रहे।

ऐसे त्यागी प्रत्याख्यानी साधु को तीर्थंकर भगवान् ने संयत, विरत, (हिंसादि पापों से निवृत्त पापकर्मों का प्रतिघातक, एवं प्रत्याख्यानकर्ता, अक्रिय (सावद्य क्रिया से रहित), संवृत्त (संवरयुक्त) और एकान्त (सर्वथा) पण्डित (होता है, यह) कहा है।

(सुधर्मास्वामी बोले—) (जो भगवान् ने कहा है) 'वही मैं कहता हूँ।'

विवेचन—संयत, विरत एवं पापकर्मप्रत्याख्यानी कौन और कैसे ?—प्रस्तुत सूत्र में प्रेरक के द्वारा सुप्रत्याख्यानी के सम्बन्ध में उठाए गए प्रश्न का आचार्यश्री द्वारा दिया गया समुचित समाधान अंकित है।

प्रश्न—कौन व्यक्ति, किस उपाय से, क्या करके संयत, विरत, तथा पापकर्मनाशक एवं प्रत्याख्यानी होता है ?

समाधान के पांच मुद्दे—(१) समस्त प्राणियों को आत्मतुल्य जानकर उनकी किसी भी प्रकार से हिंसा न करे, न कराए, और न ही उसका अनुमोदन करे, (२) प्राणातिपात से मिथ्यादर्शन शल्य तक के अठारह पापों से विरत हो, (३) दन्तमंजन, अंजन, वमन, धूपन आदि अनाचारों का सेवन न करे, (४) वह साधक सावद्यक्रियारहित, अहिंसक, क्रोधादिरहित, उपशान्त और पापपरिनिवृत्त होकर रहे, (५) ऐसा साधु ही संयत, विरत, पापकर्मनाशक, पाप का प्रत्याख्यानी, सावद्यक्रियारहित, संवरयुक्त एवं एकान्त पण्डित होता है, ऐसा तीर्थंकर भगवान् ने कहा है।[1]

॥ प्रत्याख्यान क्रिया : चतुर्थ अध्ययन समाप्त ॥

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३७० का सारांश

अनाचारश्रुत : पंचम अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग (द्वि. श्रु.) के पंचम अध्ययन का नाम 'अनाचारश्रुत' है।

☐ किन्हीं आचार्यों के मतानुसार इस अध्ययन का नाम 'अनगारश्रुत' भी है।[1]

☐ जब तक साधक समग्र अनाचारों (अनाचरणीय बातों) का त्याग करके शास्त्रोक्त ज्ञानाचारादि पंचविध आचारों में स्थिर होकर उनका पालन नहीं करता, तब तक वह रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग का सम्यक् आराधक नहीं हो सकता। जो बहुश्रुत, गीतार्थ, जिनोपदिष्ट सिद्धान्तों का सम्यग्ज्ञाता नहीं है, वह अनाचार और आचार का विवेक नहीं कर सकता, फलतः आचार विराधना कर सकता है। आचारश्रुत का प्रतिपादन पहले किया जा चुका है। किन्तु उक्त आचार का सम्यक् परिपालन हो सके, इसके लिए अनाचार का निषेधात्मक रूप से वर्णन इस अध्ययन में किया गया है। इसी हेतु से इस अध्ययन का नाम 'अनाचारश्रुत' रखा गया है।[2]

☐ प्रस्तुत अध्ययन में दृष्टि, श्रद्धा, प्ररूपणा, मान्यता, वाणी-प्रयोग, समझ आदि से सम्बन्धित अनाचारों का निषेधात्मक निर्देश करते हुए इनसे सम्बन्धित आचारों का भी वर्णन किया गया है।

☐ सर्वप्रथम लोक-अलोक, जीव की कर्मविच्छेदता, कर्मबद्धता, विसदृशता, आधाकर्म दोषयुक्त आहारादि से कर्मलिप्तता, पंचशरीर सदृशता आदि के सम्बन्ध में एकान्त मान्यता या प्ररूपणा को अनाचार बताकर उसका निषेध किया गया है, तत्पश्चात् जीव-अजीव, पुण्य-पापादि की नास्तित्व प्ररूपणा या श्रद्धा को अनाचार बताकर आचार के सन्दर्भ में इनके अस्तित्व की श्रद्धा-प्ररूपणा करने का निर्देश किया गया है। अन्त में साधु के द्वारा एकान्तवाद प्रयोग, मिथ्याधारणा आदि को अनाचार बताकर उसका निषेध किया गया है।[3]

☐ इस अध्ययन का उद्देश्य है—साधु आचार-अनाचार का सम्यग्ज्ञाता होकर अनाचार के त्याग और आचार के पालन में निपुण हो, तथा कुमार्ग को छोड़कर सुमार्ग पर चलने वाले पथिक की तरह समस्त अनाचार-मार्गों से दूर रहकर आचारमार्ग पर चलकर अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करे।

☐ यह अध्ययन सूत्र गा. सं. ७५४ से प्रारम्भ होकर ७८६ में—३३ गाथाओं में समाप्त होता है।

---

१. सूत्रकृतांग शीलांक टीका—अनगारश्रुतमेत्येतन्नामभवति

२. सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा. १८२, १८३

३. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३७०-३७१

अणायारसुत्तं : पंचमं अज्झयणं

अनाचारश्रुत : पंचम अध्ययन

अनाचरणीय का निषेध

७५४. आदाय बंभचेरं च, आसुपण्णे इमं वयिं।
अस्सिं धम्मे अणायारं, नायरेज्ज कयाइ वि ॥१॥

७५४. आशुप्रज्ञ (सत्-असत् को समझने में कुशाग्रबुद्धि) साधक इस अध्ययन के वाक्य तथा ब्रह्मचर्य (ब्रह्म-आत्मा से सम्वन्धित आचार-विचार में विचरण) को धारण करके इस (वीतरागप्ररूपित सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयरूप) धर्म में अनाचार (मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्ररूप अनाचरणीय वातों) का आचरण कदापि न करे।

विवेचन—अनाचरणीय का निषेध—प्रस्तुत सूत्रगाथा में शास्त्रकार ने प्रस्तुत अध्ययन के सारभूत चार तथ्यों की ओर साधकों का ध्यान खींचा है। वे चार तथ्य इस प्रकार हैं—

(१) वीतरागप्ररूपित रत्नत्रयरूप धर्म में प्रव्रजित साधक सत्यासत्य को समझने में कुशाग्र-बुद्धि हो।

(२) प्रस्तुत अनाचारश्रुत अध्ययन के वाक्यों को हृदयंगम करे।

(३) ब्रह्मचर्य (आत्मा से सम्वन्धित-आचार-विचार) को जीवन में धारण करे।

(४) मिथ्यादर्शनादित्रयरूप अनाचरणीय बातों का आचरण कदापि न करे।[1]

ब्रह्मचर्य—प्रस्तुत प्रसंग में ब्रह्मचर्य के तीन अर्थ फलित होते हैं—

(१) सत्य, तप, इन्द्रियनिग्रह एवं सर्वभूतदया, ये चारों ब्रह्म हैं, इनमें विचरण करना।[2]

(२) आत्मा से सम्वन्धित चर्या—आचारविचार।

(३) ब्रह्म (वीतराग परमात्मा) द्वारा प्ररूपित आगमवचन या प्रवचन (अर्थात् जैनेन्द्र प्रवचन)।

अनाचार—प्रस्तुत प्रसंग में अनाचार का अर्थ केवल सम्यक् चारित्रविरुद्ध आचरण ही नहीं है, अपितु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र के विरुद्ध आचरण करना अनाचार है।

धर्म—वीतरागप्ररूपित एवं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग के उपदेशक जैनेन्द्रप्रवचन को ही प्रस्तुत प्रसंग में धर्म समझना चाहिए।

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३७१

२. वही, पत्रांक ३७१ में उद्धृत—

सत्यं ब्रह्म, तपो ब्रह्म, ब्रह्म इन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया ब्रह्म, एतद् ब्रह्मलक्षणम्।

अनाचार के निषेधात्मक विवेकसूत्र

७५५. अणादीयं परिण्णाय, अणवदग्गे ति वा पुणो ।
सासतमसासते यावि, इति दिट्ठिं न धारए ॥२॥
७५६. एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो व विज्जती ।
एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥३॥

७५५-७५६. 'यह (चतुर्दशरज्ज्वात्मक एवं धर्माधर्मादिषट्द्रव्यरूप) लोक अनादि (आदि-रहित) और अनन्त है,' यह जानकर विवेकी पुरुष यह लोक एकान्त नित्य (शाश्वत) है, अथवा एकान्त अनित्य (अशाश्वत) है; इस प्रकार की दृष्टि, एकान्त (आग्रहमयी बुद्धि) न रखे ।

इन दोनों (एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य) पक्षों (स्थानों) से व्यवहार (शास्त्रीय या लौकिक व्यवहार) चल नहीं सकता । अतः इन दोनों एकान्त पक्षों के आश्रय को अनाचार जानना चाहिए ।

७५७. समुच्छिज्जिहिंति सत्थारो, सव्वे पाणा अणेलिसा ।
गंठीगा वा भविस्संति, सासयं ति च णो वदे ॥४॥
७५८. एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जई ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणई ॥५॥

७५७-७५८. प्रशास्ता (शासनप्रवर्तक तीर्थंकर तथा उनके शासनानुगामी सभी भव्य जीव) (एक दिन) भवोच्छेद (कालक्रम से मोक्षप्राप्ति) कर लेंगे । अथवा सभी जीव परस्पर विसदृश (एक समान नहीं) हैं, या सभी जीव कर्मग्रन्थि से बद्ध (ग्रन्थिक) रहेंगे, अथवा सभी जीव शाश्वत (सदा स्थायी एकरूप) रहेंगे, अथवा तीर्थंकर, सदैव शाश्वत (स्थायी) रहेंगे, इत्यादि एकान्त वचन नहीं बोलने चाहिए ।

क्योंकि इन दोनों (एकान्तमय) पक्षों से (शास्त्रीय या लौकिक) व्यवहार नहीं होता । अतः इन दोनों एकान्तपक्षों के ग्रहण को अनाचार समझना चाहिए ।

७५९. जे केति खुड्डुगा पाणा, अदुवा संति महालया ।
सरिसं तेहिं वेरं सि, असरिसं ति य णो वदे ॥६॥
७६०. एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जती ।
एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥७॥

७५९-७६०. (इस संसार में) जो (एकेन्द्रिय आदि) क्षुद्र (छोटे) प्राणी हैं, अथवा जो महाकाय (हाथी, ऊँट, मनुष्य आदि) प्राणी हैं इन दोनों प्रकार के प्राणियों (की हिंसा से, दोनों) के साथ समान ही वैर होता है, अथवा समान वैर नहीं होता; ऐसा नहीं कहना चाहिए ।

क्योंकि इन दोनों ('समान वैर होता है या समान वैर नहीं होता';) एकान्तमय वचनों से व्यवहार नहीं होता । अतः इन दोनों एकान्तवचनों को अनाचार जानना चाहिए ।

७६१. अहाकडाइं भुंजंति अण्णमण्णे[1] सकम्मुणा ।
उवलित्ते ति जाणेज्जा, अणुवलित्ते ति वा पुणो ॥८॥

७६२. एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जती ।
एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥९॥

७६१-७६२. आधाकर्म दोष युक्त आहारादि का जो साधु उपभोग करते हैं, वे दोनों (आधाकर्मदोष युक्त आहारादिदाता तथा उपभोक्ता) परस्पर अपने (पाप) कर्म से उपलिप्त होते हैं, अथवा उपलिप्त नहीं होते, ऐसा जानना चाहिए ।

इन दोनों एकान्त मान्यताओं से व्यवहार नहीं चलता है, इसलिये इन दोनों एकान्त मन्तव्यों का आश्रय लेना अनाचार समझना चाहिए ।

७६३. जमिदं उरालमाहारं, कम्मगं च तमेव य ।
सव्वत्थ वीरियं अत्थि, णत्थि सव्वत्थ वीरियं ॥१०॥

७६४. एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जती ।
एतेहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥११॥

७६३-७६४. यह जो (प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला) औदारिक शरीर है, आहारक शरीर है, और कार्मण शरीर है, तथैव वैक्रिय एवं तैजस शरीर है; ये पांचों (सभी) शरीर एकान्ततः भिन्न नहीं हैं, (एक ही हैं) अथवा ये पांचों सर्वथा भिन्न-भिन्न ही हैं, ऐसे एकान्तवचन नहीं कहने चाहिए । तथा सब पदार्थों में सब पदार्थों की शक्ति (वीर्य) विद्यमान है, अथवा सब पदार्थों में सबकी शक्ति नहीं ही है; ऐसा एकान्तकथन भी नहीं करना चाहिए । क्योंकि इन दोनों प्रकार के एकान्त विचारों से व्यवहार नहीं होता । अतः इन दोनों एकान्तमय विचारों का प्ररूपण करना अनाचार समझना चाहिए ।

विवेचन—आचार के निषेधात्मक विवेकसूत्र—प्रस्तुत दस सूत्रगाथाओं द्वारा शास्त्रकार ने दर्शन-ज्ञान-चारित्रसम्बन्धी अनाचार के निषेधात्मक विवेकसूत्र प्रस्तुत किये हैं । अनाचार का मूल कारण एकान्त एकपक्षाग्रही दृष्टि, वचन, ज्ञान, विचार या मन्तव्य है; क्योंकि एकान्त एकपक्षाग्रह से लोक व्यवहार या शास्त्रीय व्यवहार नहीं चलता । इन सब विवेकसूत्रों का फलितार्थ है—अनेकान्तवाद का आश्रय लेने का निर्देश ।

वे निषेधरूप नौ विवेकसूत्र-इस प्रकार हैं—

(१) लोक एकान्त नित्य है या एकान्त अनित्य, ऐसी एकान्त दृष्टि ।

---

[1] **अण्णमण्णे**—अन्योन्य का अर्थ चूर्णिकार की दृष्टि से—अन्य इति असंयतः, तस्मादन्यः संयतः । अर्थात् अन्य का अर्थ—असंयत-गृहस्थ और उससे अन्य संयत—साधु । दोनों एक दूसरे को लेकर (पाप) कर्म से लिप्त होते है या नहीं होते हैं । —सू. कृ. चूर्णि (मू. पा. टि.) पृ. २१८

(२) सभी प्रशास्ता या भव्य एक दिन भवोच्छेद करके मुक्त हो जाएँगे, (संसार भव्य जीव शून्य हो जाएगा), ऐसा वचन ।
(३) सभी जीव एकान्ततः विसदृश हैं, ऐसा वचन ।
(४) सभी जीव सदा कर्मग्रन्थि से बद्ध रहेंगे, ऐसा एकान्त वचन ।
(५) सभी जीव या तीर्थंकर सदा शाश्वत रहेंगे, ऐसा एकान्त वचन ।
(६) एकेन्द्रियादि क्षुद्र प्राणी की या हाथी आदि महाकाय प्राणी की हिंसा से समान वैर होता है, अथवा समान वैर नहीं होता, ऐसा एकान्त वचन ।
(७) आधाकर्मदोषयुक्त आहारादि का उपभोक्ता और दाता एकान्त रूप से परस्पर पापकर्म से लिप्त होता है, अथवा सर्वथा लिप्त नहीं होता, ऐसा एकान्त वचन ।
(८) औदारिक आदि पांचों शरीर परस्पर अभिन्न हैं, अथवा भिन्न हैं, ऐसा एकान्त कथन ।
(९) सब पदार्थों में सबकी शक्ति है, अथवा नहीं है, ऐसा एकान्त कथन ।

एकान्त दृष्टि या एकान्त कथन से दोष—(१) प्रत्येक पदार्थ द्रव्यरूप[1] से नित्य है, किन्तु पर्यायरूप (विशेषतः) से अनित्य है । एकान्त नित्य या अनित्य मानने पर लोक व्यवहार नहीं होता, जैसे 'लोक में कहा जाता है, यह वस्तु नई है, यह पुरानी है, यह वस्तु अभी नष्ट नहीं हुई, यह नष्ट हो गई है ।' आध्यात्मिक व्यवहार भी नहीं हो सकता, जैसे—आत्मा को एकान्त नित्य (कूटस्थ) मानने पर उसके बन्ध और मोक्ष का तथा विभिन्न गतियों में भ्रमण और एकदिन चतुर्गतिरूप संसार से मुक्त होने का व्यवहार नहीं हो सकता, तथा एकान्त अनित्य (क्षणिक) मानने पर धर्माचरण या साधना का फल किसी को न मिलेगा, यह दोषापत्ति होगी । लोक के सभी पदार्थों को कथंचित् नित्यानित्य मानना ही अनेकान्त सिद्धान्त सम्मत आचार है, जैसे सोना, सोने का घड़ा और स्वर्णमुकुट तीन पदार्थ हैं । सोने के घट को गलवा कर राजकुमार के लिए मुकुट बना तो उसे हर्ष हुआ, किन्तु राजकुमारी को घड़ा नष्ट होने से दुःख; लेकिन मध्यस्थ राजा को दोनों अवस्थाओं में सोना बना रहने से न हर्ष हुआ, न शोक; ये तीनों अवस्थाएँ कथञ्चित् नित्यानित्य मानने पर बनती हैं ।[2]

(२) भविष्यकाल भी अनन्त है और भव्यजीव भी अनन्त हैं, इसलिए भविष्यकाल की तरह भव्य जीवों का सर्वथा उच्छेद कदापि नहीं हो सकता । किसी भव्यजीव विशेष का संसारोच्छेद होता भी है ।

(३) भवस्थकेवली प्रवाह की अपेक्षा से महाविदेह क्षेत्र में सदैव रहते हैं, इसलिए शाश्वत किन्तु व्यक्तिगतरूप से सिद्धि को प्राप्त होते हैं, इस अपेक्षा से वे शाश्वत नहीं हैं । ऐसा ही व्यवहार देखा जाता है ।

(४) सभी जीव समानरूप से उपयोग वाले, असंख्यप्रदेशी और अमूर्त हैं, इस अपेक्षा से वे कथंचित् सदृश हैं, तथा भिन्न-भिन्न कर्म, गति, जाति, शरीर आदि से युक्त होते हैं, इस अपेक्षा से कथंचित् विसदृश भी हैं ।

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३७२ से ३७३ तक का सारांश

[2] "घट-मौलि-सुवर्णार्थी, नाशोत्पाद-स्थितिस्वयम् ।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं, जनो याति सहेतुकम् ।।"

(५) कोई अधिक वीर्यसम्पन्न जीव कर्मग्रन्थि का सर्वथा छेदन कर देते हैं, कोई अल्प-पराक्रमी जीव कर्मग्रन्थि का सर्वथा छेदन नहीं कर पाते। अतः एकान्ततः सभी जीवों को कर्मग्रन्थि से बद्ध कहना अनुचित है; शास्त्रविरुद्ध है।

(६) हिंस्य प्राणी बड़े शरीर वाला हो तो उसकी हिंसा से अधिक कर्मबन्ध होता है और क्षुद्र शरीर वाला हो तो कर्मबन्ध अल्प होता है, यह कथन युक्त नहीं है। कर्मबन्ध की तरतमता हिंसक प्राणी के परिणाम पर निर्भर है। अर्थात् हिंसक प्राणी का तीव्रभाव, महावीर्यता, अल्पवीर्यता की विशेषता से कर्मबन्धजनित वैरबन्ध में विसदृशता (विशेषता) मानना ही न्यायसंगत है। वैरबन्ध का आधार हिंसा है, और हिंसा आत्मा के भावों की तीव्रता-मंदता के अनुसार कर्मबन्ध का कारण बनती है। इसलिए, जीवों की संख्या या क्षुद्रता-विशालता वैरबन्ध का कारण नहीं है। घातक प्राणियों के भावों की अपेक्षा से वैर (कर्म) बन्ध में सादृश्य या असादृश्य होता है।[1]

(७) आधाकर्मी आहार का सेवन एकान्ततः पापकर्म का ही कारण है, ऐसा एकान्तकथन शास्त्रविरुद्ध है। इस सम्बन्ध में आचार्यों का चिन्तन यह है कि "किसी अवस्थाविशेष में शुद्ध और कल्पनीय पिण्ड, शय्या, वस्त्र, पात्र, भैषज आदि भी अशुद्ध एवं अकल्पनीय हो जाते हैं और ये ही अशुद्ध एवं अकल्पनीय पिण्ड आदि किसी अवस्थाविशेष में शुद्ध एवं कल्पनीय हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि किसी विशिष्ट अवस्था में न करने योग्य कार्य भी कर्त्तव्य और करने योग्य कार्य भी अकर्त्तव्य हो जाता है।" किसी देशविशेष या कालविशेष में अथवा किसी अवस्थाविशेष में शुद्ध (दोषरहित) आहार न मिलने पर आहार के अभाव में कई अनर्थ पैदा हो सकते हैं, क्योंकि वैसी दशा में भूख और प्यास से पीड़ित साधक ईर्यापथ का शोधन भलीभाँति नहीं कर सकता, लड़खड़ाते हुए चलते समय उससे जीवों का उपमर्दन भी सम्भव है, यदि वह क्षुधा-पिपासा या व्याधि की पीड़ा से मूर्च्छित होकर गिर पड़े तो त्रसजीवों की विराधना अवश्यम्भावी है, अगर ऐसी स्थिति में वह साधक अकाल में ही कालकवलित हो जाए तो संयम या विरति का नाश हो सकता है, आर्तध्यानवश दुर्गति भी हो सकती है। इसलिए आगम में विधान किया गया—"साधक को हर हालत में किसी भी मूल्य पर संयम की रक्षा करनी चाहिए, परन्तु संयम से भी बढ़कर (संयमपालन के साधनभूत) स्वशरीर की रक्षा करना आवश्यक है।" इसलिए आधाकर्मी आहारादि का सेवन एकान्ततः पापकर्म का कारण है, ऐसा एकान्तकथन नहीं करना चाहिए, तथैव आधाकर्मी आहार आदि के सेवन से पापकर्म का बन्धन नहीं ही होता है, ऐसा एकान्त कथन भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि आधाकर्मी आहारादि के बनाने में प्रत्यक्ष ही षट्कायिक जीवों की विराधना होती है, उससे पापकर्म का बन्ध होता है।

अतः आधाकर्मी आहारादि-सेवन से किसी अपेक्षा से पापबन्ध होता है और किसी अपेक्षा से नहीं भी होता, ऐसा अनेकान्तात्मक कथन ही जैनाचारसम्मत है।

---

१. (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३७२, ३७३

२. (क) किञ्चच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्यं वा, स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्।
पिण्डः, शय्या, वस्त्रं, पात्रं वा भेषजाद्यं वा ॥

(ख) "उत्पद्येत हि साऽवस्था देशकालामयान् प्रति।
यस्यामकार्यं कार्यं स्यात् कर्म कार्यं च वर्जयेत् ॥

(ग) "सव्वत्थ संजमं, संजमाओ अप्पाणमेव रक्खेज्जा।" —सूत्र कृ. शी. वृत्ति प. ३७४ से उद्धृत

(८) औदारिक आदि पांचों शरीरों के कारणों तथा लक्षणादि में भेद होने से उनमें एकान्त अभेद नहीं है। जैसे कि औदारिक शरीर के कारण उदारपुद्गल हैं, कार्मण शरीर के कार्मण वर्गणा के पुद्गल तथा तैजसूशरीर के कारण तेजसवर्गणा के पुद्गल हैं। अतः इसके कारणों में भिन्नता होने से ये एकान्त अभिन्न नहीं हैं, तथैव औदारिक आदि शरीर तैजस और कार्मण शरीर के साथ ही उपलब्ध होते हैं तथा सभी शरीर सामान्यतः पुद्गल परमाणुओं से निर्मित हैं इन कारणों से भी इनमें सर्वथा अभेद मानना उचित नहीं है। इसी प्रकार उनमें एकान्त भेद भी नहीं मानना चाहिए, क्योंकि सभी शरीर एक पुद्गल द्रव्य से निर्मित हैं। अतः अनेकान्त दृष्टि से इन शरीरों में कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद मानना ही व्यावहारिक राजमार्ग है; शास्त्रसम्मत आचार है।

(९) सांख्यदर्शन का मत है—जगत् के सभी पदार्थ प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं, अतः प्रकृति ही सबका उपादान कारण है और वह एक ही है, इसलिए सभी पदार्थ सर्वात्मक हैं, सब पदार्थों में सबकी शक्ति विद्यमान है, यह एक कथन है। दूसरे मतवादियों का कथन है कि देश, काल, एवं स्वभाव का भेद होने से सभी पदार्थ सबसे भिन्न हैं, अपने-अपने स्वभाव में स्थित हैं, उनकी शक्ति भी परस्पर विलक्षण है, अतः सब पदार्थों में सबकी शक्ति नहीं है। इस प्रकार दोनों एकान्त कथन हैं, जो उचित नहीं है। वस्तुतः सभी पदार्थ सत्ता रखते हैं, वे ज्ञेय हैं, प्रमेय हैं, इसलिए अस्तित्व, ज्ञेयत्व, प्रमेयत्व रूप सामान्य धर्म की दृष्टि से भी पदार्थ कथञ्चित् एक हैं, तथा सबके कार्य, गुण, स्वभाव, नाम एवं शक्ति एक दूसरे से भिन्न हैं, इसलिए सभी पदार्थ कथंचित् परस्पर भिन्न भी हैं। अतएव द्रव्य-पर्यायदृष्टि से कथञ्चित् अभेद एवं भेद रूप अनेकान्तात्मक कथन करना चाहिए।

इन विषयों में अथवा अन्य पदार्थों के विषय में एकान्तदृष्टि रखना या एकान्त कथन करना अनाचार है, दोष है।[1]

नास्तिकता और आस्तिकता के आधारभूत संज्ञाप्रधान सूत्र

७६५. णत्थि लोए अलोए वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि लोए अलोए वा, एवं सण्णं निवेसए ॥१२॥

७६५. लोक नहीं है या अलोक नहीं है ऐसी संज्ञा (बुद्धि—समझ नहीं रखनी चाहिए) अपितु लोक है और अलोक (आकाशास्तिकायमात्र) है, ऐसी संज्ञा रखनी चाहिए।

७६६. णत्थि जीवा अजीवा वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि जीवा अजीवा वा, एवं सण्णं निवेसए ॥१३॥

७६६. जीव और अजीव पदार्थ नहीं हैं, ऐसी संज्ञा नहीं रखनी चाहिए, अपितु जीव और अजीव पदार्थ हैं, ऐसी संज्ञा (बुद्धि) रखनी चाहिए।

७६७. णत्थि धम्मे अधम्मे वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि धम्मे अधम्मे वा, एवं सण्णं निवेसए ॥१४॥

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३७५-३७६

७६७. धर्म-अधर्म नहीं है, ऐसी मान्यता नहीं रखनी चाहिए, किन्तु धर्म भी है और अधर्म भी है ऐसी मान्यता रखनी चाहिए।

७६८. णत्थि बंधे व मोक्खे वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि बंधे व मोक्खे वा, एवं सण्णं निवेसए ॥१५॥

७६८. बन्ध और मोक्ष नहीं है, यह नहीं मानना चाहिए, अपितु बन्ध है और मोक्ष भी है, यही श्रद्धा रखनी चाहिए।

७६९. णत्थि पुण्णे व पावे वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि पुण्णे व पावे वा, एवं सण्णं निवेसए ॥१६॥

७६९. पुण्य और पाप नहीं है, ऐसी बुद्धि रखना उचित्त नहीं, अपितु पुण्य भी है और पाप भी है, ऐसी बुद्धि रखना चाहिए।

७७०. णत्थि आसवे संवरे वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि आसवे संवरे वा, एवं सण्णं निवेसए ॥१७॥

७७०. आश्रव और संवर नहीं है, ऐसी श्रद्धा नहीं रखनी चाहिए, अपितु आश्रव भी है, संवर भी है, ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिए।

७७१. णत्थि वेयणा निज्जरा वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि वेयणा निज्जरा वा, एवं सण्णं निवेसए ॥१८॥

७७१. वेदना और निर्जरा नहीं है, ऐसी मान्यता रखना ठीक नहीं है किन्तु वेदना और निर्जरा है, यह मान्यता रखनी चाहिए।

७७२. नत्थि किरिया अकिरिया वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि किरिया अकिरिया वा, एवं सण्णं निवेसए ॥१९॥

७७२. क्रिया और अक्रिया नहीं है, ऐसी संज्ञा नहीं रखनी चाहिए, अपितु क्रिया भी है, अक्रिया भी है, ऐसी मान्यता रखनी चाहिए।

७७३. नत्थि कोहे व माणे वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि कोहे व माणे वा, एवं सण्णं निवेसए ॥२०॥

७७३. क्रोध और मान नहीं हैं, ऐसी मान्यता नहीं रखनी चाहिए, अपितु क्रोध भी है, और मान भी है, ऐसी मान्यता रखनी चाहिए।

७७४. नत्थि माया व लोभे वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि माया व लोभे वा, एवं सण्णं निवेसए ॥२१॥

७७४. माया और लोभ नहीं हैं, इस प्रकार की मान्यता नहीं रखनी चाहिए, किन्तु माया है और लोभ भी है, ऐसी मान्यता रखनी चाहिए।

७७५. णत्थि पेज्जे व दोसे वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि पेज्जे व दोसे वा, एवं सण्णं निवेसए ॥२२॥

७७५. राग और द्वेष नहीं हैं, ऐसी विचारणा नहीं रखनी चाहिए, किन्तु राग और द्वेष हैं, ऐसी विचारणा रखनी चाहिए।

७७६. णत्थि चाउरंते संसारे, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि चाउरंते संसारे, एवं सण्णं निवेसए ॥२३॥

७७६. चार गति वाला संसार नहीं है, ऐसी श्रद्धा नहीं रखनी चाहिए, अपितु चातुर्गतिक संसार (प्रत्यक्षसिद्ध) है, ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिए।

७७७. णत्थि देवो व देवी वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि देवो व देवी वा, एवं सण्णं निवेसए ॥॥२४॥

७७७. देवी और देव नहीं हैं, ऐसी मान्यता नहीं रखनी चाहिए, अपितु देव-देवी हैं, ऐसी मान्यता रखनी चाहिए।

७७८. नत्थि सिद्धी असिद्धी वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि सिद्धी असिद्धी वा, एवं सण्णं निवेसए ॥२५॥

७७८. सिद्धि (मुक्ति) या असिद्धि (अमुक्तिरूप संसार) नहीं है, ऐसी बुद्धि नहीं रखनी चाहिए, अपितु सिद्धि भी है और असिद्धि (संसार) भी है, ऐसी बुद्धि रखनी चाहिए।

७७९. नत्थि सिद्धी नियं ठाणं, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि सिद्धी नियं ठाणं, एवं सण्णं निवेसए ॥२६॥

७७९. सिद्धि (मुक्ति) जीव का निज स्थान (सिद्धशिला) नहीं है, ऐसी खोटी मान्यता नहीं रखनी चाहिए, प्रत्युत सिद्धि जीव का निजस्थान है, ऐसा सिद्धान्त मानना चाहिए।

७८०. नत्थि साहू असाहू वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि साहू असाहू वा, एवं सण्णं निवेसए ॥२७॥

७८०. (संसार में कोई) साधु नहीं है और असाधु नहीं है, ऐसी मान्यता नहीं रखनी चाहिए, प्रत्युत साधु और असाधु दोनों हैं, ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिए।

७८१. नत्थि कल्लाणे पावे वा, णेवं सण्णं निवेसए।
अत्थि कल्लाणे पावे वा, एवं सण्णं निवेसए ॥२८॥

७८१. कोई भी कल्याणवान् (पुण्यात्मा) और पापी (पापात्मा) नहीं है, ऐसा नहीं समझना चाहिए अपितु कल्याणवान् (पुण्यात्मा) एवं पापात्मा दोनों हैं, ऐसी श्रद्धा रखनी चाहिए।

विवेचन—नास्तिकता और आस्तिकता के आधारभूत संज्ञाप्रधान सूत्र—प्रस्तुत १७ सूत्र-गाथाओं में सम्यग्दर्शनाचार विरुद्ध नास्तिकता का निषेध करके उससे सम्मत आस्तिकता का विधान किया गया है, आस्तिकता ही आचार है और नास्तिकता अनाचार। इस दृष्टि से आचाराराधक को निम्नलिखित विषयों सम्बन्धी नास्तिकता को त्यागकर उनके स्वतंत्र अस्तित्व को मानना, जानना और उस पर श्रद्धा करना चाहिए। जो इन पदार्थों के स्वतन्त्र अस्तित्व को नहीं मानते, वे प्राचीन युग की परिभाषा में नास्तिक, जैन धर्म की परिभाषा में मिथ्यात्वी और आगम की भाषा में अनाचारसेवी (दर्शनाचार रहित) हैं। वृत्तिकार ने स्पष्टीकरण करते हुए इस पर प्रकाश डाला है कि कौन दार्शनिक इनके अस्तित्व को मानता है कौन नहीं, साथ ही प्रत्येक के अस्तित्व को विभिन्न प्रमाणों से सिद्ध किया है।[1] मूल में 'संज्ञा' शब्द है, यहाँ वह प्रसंगानुसार समझ, बुद्धि, मान्यता, श्रद्धा, संज्ञान या दृष्टि आदि के अर्थ में प्रयुक्त है।[2] वे १५ संज्ञासूत्र इस प्रकार हैं—

(१) लोक और अलोक—सर्वशून्यतावादी लोक और अलोक दोनों का अस्तित्व नहीं मानते। वे कहते हैं—स्वप्न, इन्द्रजाल और माया में प्रतीत होने वाले पदार्थों की तरह लोक (जगत्) और अलोक सभी मिथ्या है। जगत् के सभी प्रतीयमान दृश्य मिथ्या हैं। अवयवों द्वारा ही अवयवी प्रकाशित होता है। जगत् (लोक या अलोक) के अवयवों का (विशेषतः अन्तिम अवयव=परमाणु का इन्द्रियातीत होने से) अस्तित्व सिद्ध न होने से जगत् रूप अवयवी सिद्ध नहीं हो सकता। परन्तु उनका यह सिद्धान्त भ्रान्तिमूलक एवं युक्ति विरुद्ध है। अतः प्रत्यक्ष दृश्यमान चतुर्दशरज्ज्वात्मक या धर्मादिषड्द्रव्यमय लोक का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है, और जहाँ धर्मास्तिकाय आदि षट्द्रव्य नही हैं, आकाश है, वहाँ अलोक का अस्तित्व है। यह भी अनुमान एवं आगम प्रमाण से सिद्ध है।

(२) जीव और अजीव—पंचमहाभूतवादी जीव (आत्मा) का पृथक् अस्तित्व नहीं मानते। वे कहते हैं—पंचभूतों के शरीर के रूप में परिणत होने पर चैतन्य गुण उन्हीं से उत्पन्न हो जाता है, कोई आत्मा नामक स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। दूसरे आत्माद्वैतवादी (वेदान्ती) अजीव का पृथक् अस्तित्व नहीं मानते, वे कहते हैं—सारा जगत् ब्रह्म (आत्मा) रूप है, चेतन-अचेतन सभी पदार्थ ब्रह्मरूप हैं, ब्रह्म के कार्य हैं। आत्मा से भिन्न जीव-अजीव आदि पदार्थों को मानना भ्रम है। परन्तु ये दोनों मत युक्ति-प्रमाण विरुद्ध हैं। जैनदर्शन का मन्तव्य है—उपयोग लक्षण वाले जीव का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाणों से सिद्ध है, वह अनादि है और पंचमहाभूतों का कार्य नहीं है, जड़ पंचमहाभूतों से चैतन्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। अजीव द्रव्य का भी स्वतन्त्र अस्तित्व प्रत्यक्षादिप्रमाणों से सिद्ध है। यदि जीवादिपदार्थ एक ही आत्मा (ब्रह्म) से उत्पन्न होते तो उनमें परस्पर समानता होती, विचित्रता न होती। घट, पट आदि अचेतन अनन्त पदार्थ चेतनरूप आत्मा के परिणाम या कार्य होते तो, वे भी जीव की तरह स्वतन्त्ररूप से गति आदि कर सकते, परन्तु उनमें ऐसा नहीं देखा जाता। इसके अतिरिक्त संसार में आत्मा एक ही होता तो कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई बद्ध, कोई मुक्त आदि विभिन्न अवस्थाएँ दृष्टिगोचर न होती। एक जीव के सुख से

---

[1] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३७६ (ख) सूत्रकृ. निर्युक्ति गा. १८२.

[2] स्थानांगसूत्र स्थान १०, उ. सू. अभयदेवसूरिटीका।

समस्त जीव सुखी और एक के दुःख से सारे दुःखी हो जाते । प्रत्येक जीव का पृथक्-पृथक् अस्तित्व और अजीव (धर्मास्तिकाय से लेकर पुद्गलास्तिकाय तक) का उससे भिन्न स्वतन्त्र अस्तित्व मानना ही अभीष्ट है ।[1]

(३) धर्म और अधर्म—श्रुत और चारित्र या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र धर्म कहलाते हैं, वे आत्मा के स्वाभाविक परिणाम, स्वभाव या गुण हैं, तथा इनके विपरीत मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग; ये भी आत्मा के ही गुण, परिणाम हैं किन्तु कर्मोपाधिजनित होने से तथा मुक्ति के विरोधी होने से अधर्म कहलाते हैं । धर्म और अधर्म के कारण जीवों की विचित्रता है । इसलिए इन दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व मानना चाहिए । उपर्युक्त कथन सत्य होते हुए भी कई दार्शनिक[2] काल, स्वभाव, नियति या ईश्वर आदि को ही जगत् की सब विचित्रताओं का कारण मान कर धर्म, अधर्म के स्वतन्त्र अस्तित्व को मानने से इन्कार करते हैं । किन्तु काल आदि धर्म अधर्म के साथ ही विचित्रता के कारण होते हैं, इन्हें छोड़ कर नहीं । अन्यथा एक काल में उत्पन्न हुए व्यक्तियों में विभिन्नताएँ या विचित्रताएँ घटित नहीं हो सकतीं । स्वभाव आदि की चर्चा अन्य दार्शनिक ग्रन्थों से जान लेनी चाहिए ।

(४) बन्ध और मोक्ष—कर्मपुद्गलों का जीव के साथ दूध पानी की तरह सम्बद्ध होना बन्ध है और समस्त कर्मों का क्षय होना—आत्मा से पृथक् होना मोक्ष है । बन्ध और मोक्ष का अस्तित्व प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है । इन दोनों के अस्तित्व पर अश्रद्धा व्यक्ति को निरंकुश पापाचार या अनाचार में गिरा देती है । अतः आत्मकल्याणकामी को दोनों पर अश्रद्धा का त्याग कर देना चाहिए । कई दार्शनिक (सांख्यादि) आत्मा-का बन्ध और मोक्ष नहीं मानते । वे कहते हैं—आत्मा अमूर्त है, कर्मपुद्गल मूर्त । ऐसी स्थिति में अमूर्त आत्मा का आकाशवत् कर्मपुद्गलों के साथ बन्ध या लिप्तत्व कैसे हो सकता है ? जब अमूर्त आत्मा बद्ध नहीं हो सकता तो उसके मुक्त (मोक्ष) होने की बात निरर्थक है, बन्ध का नाश ही तो मोक्ष है । अतः बन्ध के अभाव में मोक्ष भी सम्भव नहीं । वस्तुतः यह सिद्धान्त यथार्थ नहीं है । चेतना अमूर्त पदार्थ है, फिर भी मद्य आदि मूर्त पदार्थों के साथ सम्बन्ध होने (सेवन) से. उसमें विकृति स्पष्टतः देखी जा सकती है । इसके अतिरिक्त संसारी आत्मा एकान्ततः अमूर्त नहीं—मूर्त है । अतः उसका मूर्त कर्म पुद्गलों के साथ सम्बन्ध सुसंगत है । जब बन्ध होता है, तो एक दिन उसका अभाव—मोक्ष भी सम्भव है । फिर बन्ध का अस्तित्व न मानने पर संसारी व्यक्ति का सम्यग्दर्शनादि साधना का पुरुषार्थ व्यर्थ हो जाएगा, और मोक्ष न मानने पर साध्य या अन्तिम लक्ष्य की दिशा में पुरुषार्थ नहीं होगा । इसलिए दोनों का अस्तित्व मानना अनिवार्य है ।

(५) पुण्य और पाप—"शुभकर्म पुद्गल पुण्य है और अशुभकर्म पुद्गल पाप ।" इन दोनों का पृथक्-पृथक् स्वतंत्र अस्तित्व है ।[3] कई अन्यतीर्थिक कहते हैं—इस जगत् में पुण्य नामक कोई

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३७६-३७७

[2] नहि कालादिहिंतो केवलएहिंतो जायए किंचि ।
इह मुग्गरंधणाइ वि ता सव्वे समुदिया हेऊ ॥

[3] "पुद्गलकर्म शुभं यत् तत् पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम् ।
यदशुभमथ तत् पापमिति भवति सर्वज्ञनिर्देशात् ॥"

पदार्थ नहीं, एकमात्र पाप ही है। पाप कम हो जाने पर, सुख उत्पन्न करता है, अधिक हो जाने पर दुःख, दूसरे दार्शनिक कहते हैं—जगत् में पाप नाम का कोई पदार्थ नहीं है, एकमात्र पुण्य ही है। पुण्य घट जाता है, तब वह दुःखोत्पत्ति, और बढ़ जाता है तब सुखोत्पत्ति करता है। तीसरे मतवादी कहते हैं—पुण्य या पाप दोनों ही पदार्थ मिथ्या हैं, क्योंकि जगत् की विचित्रता नियति, स्वभाव आदि के कारण से होती है। वस्तुतः ये दार्शनिक भ्रम में हैं, पुण्य और पाप दोनों का नियत सम्बन्ध है, एक का अस्तित्व मानने पर दूसरे का अस्तित्व मानना ही पड़ेगा। यदि सब कुछ नियति या स्वभाव आदि से होने लगे, तो क्यों कोई सत्कार्य में प्रवृत्त होगा ? फिर तो किसी को शुभ-अशुभ क्रिया का फल भी प्राप्त नहीं होगा। परन्तु ऐसा होता नहीं। अतः पुण्य और पाप दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व मानना ही ठीक है।

(६) **आश्रव और संवर**—जिसके द्वारा आत्मा में कर्म आते हैं, अर्थात् जो बन्ध का कारण है, वह (प्राणातिपात आदि) आश्रव है, और उस आश्रव का निरोध करना संवर है। ये दोनों पदार्थ अवश्यम्भावी हैं, शास्त्रसम्मत भी।

किसी दार्शनिक ने आश्रव और संवर दोनों को मिथ्या बताते हुए तर्क उठाया है कि 'यदि आश्रव आत्मा से भिन्न हो तो वह घटपटादि पदार्थों की तरह आत्मा में कर्म बन्ध का कारण नहीं हो सकता। यदि वह आत्मा से अभिन्न हो तो मुक्तात्माओं में भी उसकी सत्ता माननी पड़ेगी, ऐसा अभीष्ट नहीं। अतः आश्रव की कल्पना मिथ्या है। जब आश्रव सिद्ध नहीं हुआ तो उसका निरोधरूप संवर भी नहीं माना जा सकता।

शास्त्रकार ने इसका निराकरण करते हुए कहा—"आश्रव का अस्तित्व न मानने से सांसारिक जीवों की विचित्रता सिद्ध नहीं हो सकती और संवर न मानने से कर्मों का निरोध घटित नहीं हो सकता। अतः दोनों का अस्तित्व मानना ही उचित है। आश्रव संसारी आत्मा से न तो सर्वथा भिन्न है, न सर्वथा अभिन्न। आश्रव और संवर दोनों को आत्मा से कथंचित् भिन्न, कथंचित् अभिन्न मानना ही न्यायोचित है।

(७) **वेदना और निर्जरा**—कर्म का फल भोगना 'वेदना' है और कर्मों का आत्मप्रदेशों से झड़ जाना 'निर्जरा' है।

कुछ दार्शनिक कहते हैं—"ये दोनों पदार्थ नहीं हैं; क्योंकि आचार्यों ने कहा है—'अज्ञानी पुरुष जिन कर्मों का अनेक कोटि वर्षों में क्षय करता है, उन्हें त्रिगुप्तिसम्पन्न ज्ञानीपुरुष एक उच्छ्वास-मात्र में क्षय कर डालता है।'[1] इस सिद्धान्तानुसार सैकड़ों पल्योपम एवं सागरोपम काल में भोगने योग्य कर्मों का भी (बिना भोगे ही) अन्तर्मुहूर्त में क्षय हो जाता है, अतः सिद्ध हुआ कि क्रमशः बद्ध-कर्मों का वेदन (फलभोग) क्रमशः नहीं होता, अतः 'वेदना' नाम का कोई तत्त्व मानने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार वेदना का अभाव सिद्ध होने से निर्जरा का अभाव स्वतः सिद्ध है।"

परन्तु अनेकान्तवादी जैनदर्शन ऐसा नहीं मानता। तपश्चर्या और प्रदेशानुभव के द्वारा कतिपय कर्मों का ही क्षपण होता है, समस्त कर्मों का नहीं। उन्हें तो उदीरणा और उदय के द्वारा

---

[1] "जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुयाहि वासकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ, ऊसासमित्तेण॥"

भोगना (अनुभव-वेदन करना) होता है। इससे वेदना तत्त्व का अस्तित्व सिद्ध होता है। आगम में भी कहा है—'पहले अपने द्वारा कृत दुष्प्रतीकार्य दुष्कर्मों (पापकर्मों) का वेदन (भोग) करके ही मोक्ष होता है, बिना भोगे नहीं।[1] इस प्रकार वेदना का अस्तित्व सिद्ध होने पर निर्जरा का अस्तित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। अतः वेदना और निर्जरा दोनों का अस्तित्व मानना अत्यावश्यक है।

(८) **क्रिया और अक्रिया**—चलना, फिरना आदि क्रिया है और इनका अभाव अक्रिया।

सांख्यमतवादी आत्मा को आकाश के समान व्यापक मान कर उसमें क्रिया का अस्तित्व नहीं मानते। वे आत्मा (पुरुष) को निष्क्रिय कहते हैं।

बौद्ध समस्त पदार्थों को क्षणिक मानते हैं अतः पदार्थों में उत्पत्ति के सिवाय अन्य किसी क्रिया को नहीं मानते।

आत्मा में क्रिया का सर्वथा अभाव मानने पर बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था नहीं हो सकती। न ही वह आत्मा सुख-दुःख का भोक्ता हो सकता है। अतः संयोगावस्था तक आत्मा में क्रिया रहती है, अयोगावस्था में आत्मा अक्रिय हो जाता है।[2]

(९) **क्रोध, मान, माया और लोभ**—अपने या दूसरे पर अप्रीति करना क्रोध है, गर्व करना मान है, कपट को माया और वितृष्णा को लोभ कहते हैं।

इन चारों कषायों का अस्तित्व प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है। दसवें गुण-स्थान तक कषाय आत्मा के साथ रहता है, बाद में आत्मा निष्कषाय हो जाता है।

(१०) **राग और द्वेष**—अपने धन, स्त्री, पुत्र आदि पदार्थों के प्रति जो प्रीति या आसक्ति होती है, उसे प्रेम, या राग कहते हैं। इष्ट वस्तु को हानि पहुँचाने वाले व्यक्ति के प्रति चित्त में अप्रीति या घृणा होना द्वेष है। कई लोगों का मत है कि माया और लोभ इन दोनों में राग या प्रेम तथा क्रोध और मान, इन दोनों में द्वेष गतार्थ हो जाता है फिर इनके समुदायरूप राग या द्वेष को अलग पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि समुदाय अपने अवयवों से पृथक् पदार्थ नहीं है। किन्तु यह मान्यता एकान्ततः सत्य नहीं है; समुदाय (अवयवी) अपने अवयवों से कथञ्चिद् भिन्न तथा कथञ्चिद् अभिन्न होता है। इस दृष्टि से राग और द्वेष दोनों का कथंचित् पृथक् पृथक् अस्तित्व है।

(११) **चातुर्गतिक संसार**—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ये चार गतियाँ हैं। जीव स्व-स्व कर्मानुसार इन चारों गतियों में जन्म-मरण के रूप में संसरण-परिभ्रमण करता रहता है, यही चातुर्गतिक संसार है। यदि चातुर्गतिक संसार न माना जाए तो शुभाशुभकर्म-फल भोगने की व्यवस्था नहीं हो सकती। इसलिए चार गतियों वाला संसार मानना अनिवार्य है। कई लोग कहते हैं—यह संसार कर्मबन्धनरूप तथा जीवों को एकमात्र दुःख देने वाला है, अतः एक ही प्रकार का है।

कई लोग कहते हैं—इस जगत् में मनुष्य और तिर्यञ्च ये दो ही प्रकार के प्राणी दृष्टि-

---

[1] पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं वेइत्ता मोक्खो, णत्थि अवेइत्ता।

—सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३७७ से ३७९ तक से उद्धृत।

[2] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३७९-३८०

गोचर होते हैं, देव और नारक नहीं। अतः संसार दो ही गतियोंवाला है, इन्हीं दो गतियों में सुख-दुःख की न्यूनाधिकता पाई जाती है। अतः संसार द्विगतिक मानना चाहिए, चातुर्गतिक नहीं। परन्तु-यह मान्यता अनुमान और आगम प्रमाणों से खण्डित हो जाती है। यद्यपि नारक और देव अल्पज्ञों छद्मस्थों को प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होते, परन्तु अनुमान और आगम प्रमाण से इन दोनों गतियों की सिद्धि हो जाती है। शास्त्रकार कहते हैं—**'अत्थि चाउरंते संसारे'**। देव उत्कृष्ट पुण्यफल के भोक्ता और नारक उत्कृष्ट पापफल के भोक्ता होते हैं। इसलिए चारों गतियों का अस्तित्व सिद्ध होने से चातुर्गतिक संसार मानना चाहिए।

(१२) **देव और देवी**—यद्यपि चातुर्गतिक संसार में देवगति के सिद्ध हो जाने से देवों और देवियों का भी पृथक् अस्तित्व सिद्ध हो जाता है तथापि कई मतवादी मनुष्यों के अन्तर्गत ही राजा, चक्रवर्त्ती या धनपति आदि पुण्यशाली पुरुष-स्त्री को देव-देवी मानते हैं, अथवा ब्राह्मण या विद्वान् को देव एवं विदुषी को देवी मानते हैं, पृथक् देवगति में उत्पन्न देव या देवी नहीं मानते। उनकी इस भ्रान्त मान्यता का निराकरण करने के लिए शास्त्रकार ने कहा है—देव या देवी का पृथक् अस्तित्व मानना चाहिए—भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक, ये चारों प्रकार के देव पृथक्-पृथक् निकाय के होते हुए भी इन सबका देवपद से ग्रहण हो जाता है। ज्योतिष्कदेव तो प्रत्यक्ष हैं, शेष देव भी अनुमान एवं आगम प्रमाण से सिद्ध हैं।

(१३) **सिद्धि, असिद्धि और आत्मा की स्वस्थान-सिद्धि**—समस्त कर्मों का क्षय हो जाने पर अनन्तज्ञान-दर्शन-वीर्य सुखरूप आत्मस्वरूप की उपलब्धि हो जाना सिद्धि है। इसे मोक्ष या मुक्ति भी कहते हैं। सिद्धि से जो विपरीत हो वह असिद्धि है, यानी शुद्धस्वरूप की उपलब्धि न होना—संसार में परिभ्रमण करना। असिद्धि संसाररूप है, जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है। जब असिद्धि सत्य है, तो उसकी प्रतिपक्षी समस्त कर्मक्षयरूप सिद्धि भी सत्य है क्योंकि सभी पदार्थों का प्रतिपक्षी अवश्य होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपश्चरणरूप मोक्षमार्ग की आराधना करने से समस्त कर्मों का क्षय हो कर जीव को सिद्धि प्राप्त होती है। अतः अनुमान, आगम आदि प्रमाणों से, अंशतः प्रत्यक्षप्रमाण से तथा महापुरुषों द्वारा सिद्धि के लिए प्रवृत्ति करने से सिद्धि सिद्ध होती है। कई दार्शनिक कहते हैं—हिंसा से सर्वथा निवृत्ति किसी भी साधक की नहीं हो सकती, क्योंकि जल, स्थल, आकाश, आदि में सर्वत्र जीवों से पूर्ण लोक में अहिंसक रहना संभव नहीं है। परन्तु हिंसादि आश्रव-द्वारों को रोक कर पांच समिति—त्रिगुप्तिसम्पन्न निर्दोष भिक्षा से जीवननिर्वाह करता हुआ एवं ईर्याशोधनपूर्वक यतना से गमनादिप्रवृत्ति करता हुआ साधु भावशुद्धि के कारण कर्मबन्ध नहीं करता, इस प्रकार के साधु को समस्त कर्मों का क्षय होने से सिद्धि या मुक्ति प्राप्त होती है। असिद्धि का स्वरूप तो स्पष्टतः सिद्ध है, अनुभूति का विषय है। सिद्धि जीव (शुद्ध-मुक्तात्मा) का निज स्थान है। समस्त कर्मों के क्षय होने पर मुक्तजीव जिस स्थान को प्राप्त करता है, वह लोकाग्रभागस्थित सिद्धशिला ही जीव का निजी सिद्धिस्थान है। वहाँ से लौट कर वह पुनः इस असिद्धि (संसार) स्थान में नहीं आता। कर्मबन्धन से मुक्त जीव की ऊर्ध्वगति होती है, वह ऊर्ध्वगति लोक के अग्रभाग तक ही होती है, धर्मास्तिकाय का निमित्त न मिलने से आगे गति

नहीं होती। अतः सिद्धजीव जहाँ स्थित रहते हैं, उसे सिद्धि स्थान कहा जाता है।[1]

कुछ दार्शनिक कहते हैं—मुक्त पुरुष आकाश के समान सर्वव्यापक हो जाते हैं, उनका कोई एक स्थान नहीं होता, परन्तु यह कथन युक्ति-प्रमाणविरुद्ध है। आकाश तो लोक-अलोक दोनों में व्याप्त है। अलोक में तो आकाश के सिवाय कोई पदार्थ रह नहीं सकता, मुक्तात्मा लोकमात्रव्यापक हो जाता है इसमें कोई प्रमाण नहीं। सिद्ध जीव में ऐसा कोई कारण नहीं कि वह शरीरपरिमाण को त्याग कर समस्त लोकपरिमित हो जाए।

(१४) साधु और असाधु—स्व-परहित को सिद्ध करता है, अथवा प्राणातिपात आदि १८ पापस्थानों से विरत होकर सम्यग्दर्शनादिचतुष्टयरूप मोक्षमार्ग की या पंचमहाव्रतों की साधना करता है, वह साधु है! जिसमें साधुता नहीं है, वह असाधु है। अतः जगत् में साधु भी हैं, असाधु भी हैं, ऐसा मानना चाहिए।

कई लोग कहते हैं—"रत्नत्रय का पूर्णरूप से पालन असम्भव होने से जगत् में कोई साधु नहीं हैं। जब साधु ही नहीं तो उसका प्रतिपक्षी साधु भी नहीं हो सकता।" यह मान्यता उचित नहीं है। विवेकी पुरुष को ऐसा नहीं मानना चाहिए। जो साधक सदा यतनापूर्वक समस्त प्रवृत्ति करता है, 'सुसंयमी चारित्रवान् है, शास्त्रोक्तविधि से शुद्ध निर्दोष आहार लेता है, ऐसे सुसाधु से कदाचित् भूल से अनजान में अनेषणीय अशुद्ध आहार ले भी लिया जाए तो भी सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय का अपूर्ण आराधक नहीं, अपनी शुद्ध दृष्टि से वह पूर्ण आराधक हैं, क्योंकि वह शुद्धि बुद्धि से, भावनाशुद्धिपूर्वक शुद्ध समझ कर उस आहार को ग्रहण करता है। इससे वह असाधु नहीं हो जाता, सुसाधु ही रहता है। भक्ष्याभक्ष्य, एषणीय-अनेषणीय, प्रासुक-अप्रासुक आदि का विचार करना राग-द्वेष नहीं, अपितु चारित्रप्रधान मोक्ष का प्रमुख अंग है। इससे साधु की समता (सामायिक) खण्डित नहीं होती।[2]

इस प्रकार साधु का अस्तित्व सिद्ध होने पर उनके प्रतिपक्षी असाधु के अस्तित्व की भी सिद्धि हो जाती है।

(१५) कल्याण और पाप अथवा कल्याणवान् और पापवान्—अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति को कल्याण और हिंसा आदि को पाप कहते हैं, जिसमें ये हों, उन्हें क्रमशः कल्याणवान् तथा पापवान्

---

[1] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३८० से ३८२ तक
(ख) दोषावरणयोर्हानि निःशेपाऽस्त्यतिशायिनी।
क्वचिद् यथा स्वहेतुभ्यो, बहिरन्तर्मलक्षयः॥
(ग) 'कर्मविमुक्तस्योर्ध्वंगतिः'
(घ) लाउ एरंडफले अग्गी धूमे य उसु धणुविमुक्के।
गइ पुव्वपओगेणं एवं सिद्धाण वि गई ओ॥

[2] उच्चालियम्मि पाए ईरियासमियस्स संकमट्ठाए।
वावज्जिज्ज कुलिंगी, मरिज्ज वा तं जोगमासज्ज॥
ण य तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिओ समए।
—सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३८१-३८२ में उद्धृत

कहते हैं। जगत् में कल्याण और पाप दोनों प्रकार वाले पदार्थों का अस्तित्व है। इस प्रत्यक्ष दृश्यमान सत्य को झुठलाया नहीं जा सकता।

वौद्धों का कथन है—जगत् में कल्याण नामक कोई पदार्थ नहीं है, सभी पदार्थ अशुचि और निरात्मक हैं। कल्याण नामक पदार्थ न होने से कोई भी व्यक्ति कल्याणवान् नहीं है। परन्तु ऐसा मानने पर वौद्धों के उपास्यदेव भी अशुचि सिद्ध होंगे जो उन्हें अभीष्ट नहीं है। इसीलिए सभी पदार्थ अशुचि नहीं हैं, न ही निरात्मक हैं, क्योंकि सभी पदार्थ स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से सत् हैं, परद्रव्य-क्षेत्र-कालभाव की अपेक्षा से असत् हैं, ऐसा मानना ठीक है। आत्मद्वैतवादी के मतानुसार आत्मा से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है, सभी पदार्थ आत्म (पुरुष) स्वरूप हैं। इसलिए कल्याण और पाप नाम की कोई वस्तु नहीं है। किन्तु यह प्रत्यक्ष-बाधित है। ऐसा मानने से जगत् की दृश्यमान विचित्रता संगत नहीं हो सकती।

अतः जगत् में कल्याण और पाप अवश्य है, ऐसा अनेकान्तात्मक दृष्टि से मानना चाहिए।

कतिपय निषेधात्मक आचार सूत्र

७८२. कल्लाणे पावए वा वि, ववहारो ण विज्जई।
जं वेरं तं न जाणंति, समणा बालपंडिया ॥२९॥

७८२. यह व्यक्ति एकान्त कल्याणवान् (पुण्यवान्) है, और यह एकान्त पापी है, ऐसा व्यवहार नहीं होता, (तथापि) बालपण्डित (सद्-असद्-विवेक से रहित होते हुए भी स्वयं को पण्डित मानने वाले) (शाक्य आदि) श्रमण (एकान्त पक्ष के अवलम्बन से उत्पन्न होने वाले); वैर (कर्मबन्धन) नहीं जानते।

७८३. असेसं अक्खयं वा वि, सव्वदुक्खे त्ति वा पुणो।
वज्झा पाणा न वज्झ त्ति, इति वायं न नीसरे ॥३०॥

७८३. जगत् के अशेष (समस्त) पदार्थ अक्षय (एकान्त नित्य) हैं, अथवा एकान्त अनित्य हैं, ऐसा कथन (प्ररूपण) नहीं करना चाहिए, तथा सारा जगत् एकान्तरूप से दुःखमय है, ऐसा वचन भी नहीं कहना चाहिए एवं अमुक प्राणी वध्य है, अमुक अवध्य है, ऐसा वचन भी साधु को (मुंह से) नहीं निकालना चाहिए।

७८४. दीसंति समियाचारा, भिक्खुणो साहुजीविणो।
एए मिच्छोवजीवि त्ति, इति दिट्ठिं न धारए ॥३१॥

७८४. साधुतापूर्वक जीने वाले, (शास्त्रोक्त) सम्यक् आचार के परिपालक निर्दोष भिक्षाजीवी साधु दृष्टिगोचर होते हैं, इसलिए ऐसी दृष्टि नहीं रखनी चाहिए कि ये साधुगण कपट से जीविका (जीवननिर्वाह) करते हैं।

७८५. दक्खिणाए पडिलंभो, अत्थि नत्थि त्ति वा पुणो।
ण वियागरेज्ज मेहावी, संतिमग्गं च वूहए ॥३२॥

७८५. मेधावी (विवेकी) साधु को ऐसा (भविष्य-) कथन नहीं करना चाहिए कि दान का

प्रतिलाभ (प्राप्ति) अमुक से होता है, अमुक से नहीं होता, अथवा तुम्हें आज भिक्षालाभ होगा या नहीं ? किन्तु जिससे शान्ति (मोक्षमार्ग) की वृद्धि होती हो, ऐसा वचन कहना चाहिए।

विवेचन—कतिपय निषेधात्मक आचारसूत्र—प्रस्तुत चार सूत्रगाथाओं में साधुओं के लिए भाषासमिति, सत्यमहाव्रत, अहिंसा अनेकान्त आदि की दृष्टि से विभिन्न पहलुओं से कतिपय निषेधात्मक आचारसूत्र प्रस्तुत किये गए हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) किसी भी व्यक्ति को एकान्त पुण्यवान् (कल्याणवान्) अथवा एकान्त पापी नहीं कहना चाहिए।

(२) जगत् के सभी पदार्थ एकान्त नित्य हैं, या एकान्त अनित्य हैं, ऐसी एकान्त प्ररूपणा नहीं करनी चाहिए।

(३) सारा जगत् एकान्तरूप से दुःखमय है, ऐसा नहीं कहना चाहिए।

(४) अमुक प्राणी वध्य (हनन करने योग्य) है, अमुक अवध्य है, ऐसा वचन मुंह से न निकाले।

(५) संसार में साधुतापूर्वक जीने वाले, आचारवान् भिक्षाजीवी साधु (प्रत्यक्ष) दीखते हैं, फिर भी ऐसी दृष्टि न रखे (या मिथ्याधारणा न बना ले) कि ये साधु कपटपूर्वक जीवन जीते हैं।

(६) साधुमर्यादा में स्थित साधु को ऐसी भविष्यवाणी नहीं करनी चाहिए कि तुम्हें अमुक के यहाँ से दान मिलेगा, अथवा आज तुम्हें भिक्षा प्राप्त होगी या नहीं ? वह मोक्षमार्ग का कथन करे।

इनकी अनाचरणीयता का रहस्य—किसी को एकान्ततः पुण्यवान् (या कल्याणवान्) कह देने से उसके प्रति लोग आकर्षित होंगे, सम्भव है, वह इसका दुर्लाभ उठाए। एकान्तपापी कहने से वैर बन्ध जाने की सम्भावना है। जगत् के सभी पदार्थ पर्यायतः परिवर्तनशील हैं, कोई भी वस्तु सदा एक-सी अवस्था में नहीं रहती इसलिए अनेकान्तदृष्टि से पदार्थ को एकान्त नित्य कहने से उसकी विभिन्न अवस्थाएँ नहीं बन सकतीं, एकान्तनित्य (बौद्धों की तरह) कहने से कृतनाश और अकृतप्राप्ति आदि दोष होते हैं। सारा जगत् एकान्तदुःखमय है, ऐसा कह देना भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा कहने से अहिंसादि या रत्नत्रय की साधना करने का उत्साह नहीं रहता, तथा सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय-प्राप्ति से साधक को असीम सुख का अनुभव होता है, इसलिए सत्यमहाव्रत में दोष लगता है। अहिंसाधर्मी साधु हत्यारे, परस्त्रीगामी, चोर, डाकू या उपद्रवी को देखकर यदि यह कहता है कि इन्हें मार डालना चाहिए तो उसका अहिंसा महाव्रत भंग हो जाएगा। यदि सरकार किसी भयंकर अपराधी को भयंकर दण्ड—मृत्युदण्ड (कानून की दृष्टि से) दे रही हो तो उस समय साधु बीच में पंचायती न करे कि इन्हें मारो-पीटो मत, इन्हें दण्ड न दो। यदि वह ऐसा कहता है, तो राज्य या जनता के कोप का भोजन बन सकता है, अथवा ऐसे दण्डनीय व्यक्ति को साधु निरपराध कहता है तो साधु को उसके पापकार्य का अनुमोदन लगता है। अतः साधु ऐसे समय में समभावपूर्वक मध्यस्थ वृत्ति से रहे। अन्यथा, भाषासमिति, अहिंसा, सत्य आदि भंग होने की सम्भावना है। किसी सुसाधु के विषय में गलतफहमी या पूर्वाग्रह से मिथ्याधारणा बना लेने पर (कि यह कपटजीवी है, अनाचारी है, साधुता से दूर है आदि) द्वेष, वैर बढ़ता है, पापकर्मबन्ध होता है, सत्यमहाव्रत में दोष लगता है। इसी प्रकार स्वतीर्थिक या परतीर्थिक साधु के द्वारा दान या

भिक्षा की प्राप्ति के सम्बन्ध में पूछे जाने पर भविष्यवाणी कर देने से यदि उक्त कथन के विपरीत हो गया तो साधु के प्रति अश्रद्धा बढ़ेगी, एकान्त निश्चयकारी भाषा बोलने से भाषासमिति एवं सत्य-महाव्रत में दोष लगेगा। दान प्राप्त न होने का कहने पर प्रश्नकार के मन में अन्तराय, निराशा, दुःख होना सम्भव है। कहने पर प्रश्नार्थी में अपार हर्षवश अधिकरणादि दोषों की सम्भावना है। अतः साधु को प्रश्नकर्त्ता साधु के समक्ष शान्ति-(मोक्ष) मार्ग में वृद्धि हो ऐसा ही कथन करना चाहिए।

एकान्तमार्ग का आश्रय अनाचार की कोटि में चला जाता है।

जिनोपदिष्ट आचारपालन में प्रगति करे

७८६. इच्चेतेहिं ठाणेहिं, जिणदिट्ठेहिं संजए।
धारयंते उ अप्पाणं, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ।।३३।।
—त्ति बेमि ।।

।। अणायारसुयं : पंचमं अज्झयणं समत्तं ।।

७८६. इस प्रकार इस अध्ययन में जिन भगवान् द्वारा उपदिष्ट या उपलब्ध (दृष्ट) स्थानों (तथ्यों) के द्वारा अपने आपको संयम में स्थापित करता हुआ साधु मोक्ष प्राप्त होने तक (पंचाचार पालन में) प्रगति करे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—जिनोपदिष्ट आचारपालन में प्रगति करे—प्रस्तुत गाथा में अध्ययन का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार इस अध्ययन में जिनोपदिष्ट अनाचरणीय मार्गों को छोड़कर आचरणीय पंचाचारपालन मार्गों में प्रगति करने का निर्देश करते हैं।

।। अनाचारश्रुत : पंचम अध्ययन समाप्त ।।

□□

आर्द्रकीय : छठा अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग (द्वि. श्रु.) के छठे अध्ययन का नाम 'आर्द्रकीय' है।

☐ आर्द्रक (भूतपूर्व राजकुमार और वर्तमान में श्रवण भगवान् महावीर की परम्परा में स्वयं दीक्षित मुनि) से सम्बन्धित होने के कारण इस अध्ययन का नाम आर्द्रकीय रखा गया।

☐ निर्युक्तिकार के अनुसार आर्द्रकपुर नगर में, आर्द्रकनामक राजा का पुत्र तथा आर्द्रकवती रानी का अंगजात 'आर्द्रककुमार' बाद में आर्द्रक अनगार हो गया था। आर्द्रक से समुत्थित होने से इस अध्ययन का नाम 'आर्द्रकीय' है।

☐ आर्द्रककुमार ने आर्द्रकपुर[1] नाम अनार्यदेशवर्ती नगर में जन्म लेकर मुनिदीक्षा कैसे ली? और भगवान् महावीर के धर्म का गाढ़ परिचय उसे कैसे हुआ? निर्युक्तिकार के अनुसार वह वृत्तान्त संक्षेप में इस प्रकार है—आर्द्रकपुर नरेश और मगधनरेश श्रेणिक के बीच स्नेहसम्बन्ध था। इसी कारण अभयकुमार से आर्द्रककुमार का परोक्ष परिचय हुआ। आर्द्रककुमार को अभयकुमार ने भव्य और शीघ्रमोक्षगामी समझकर उसके लिए आत्मसाधनोपयोगी उपकरण उपहार में भेजे। उन्हें देखते ही उसे पूर्वजन्म का स्मरण हुआ। आर्द्रककुमार का मन काम-भोगों से विरक्त हो गया। अपने देश से निकलकर भारत पहुँचा। दिव्यवाणी द्वारा मना किये जाने पर भी स्वयं आर्हत-धर्म में प्रव्रजित हो गया। भोगावलीकर्मोदयवश दीक्षा छोड़कर पुनः गृहस्थधर्म में प्रविष्ट होना पड़ा। अवधि पूर्ण होते ही पुनः साधुवेश धारण कर जहाँ भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ पहुँचने के लिए प्रस्थान किया। पूर्वजन्म का स्मरण होने से आर्द्रक को निर्ग्रन्थ महावीर एवं उनके धर्म का बोध हो गया था।

☐ मार्ग में आर्द्रकमुनि की चर्चा किन-किन के साथ, क्या-क्या हुई? यह इस अध्ययन के **'पुराकडं अद्द! इमं सुणेह'** पाठ से आरम्भ होने वाले वाक्य से परिलक्षित होती है। इस वाक्य में उल्लिखित 'अद्द' सम्बोधन से भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस अध्ययन में चर्चित वादविवाद का सम्बन्ध 'आर्द्रक' के साथ है। निर्युक्ति एवं वृत्ति के अनुसार इस अध्ययन में आर्द्रक के साथ पांच मतवादियों के वादविवाद का वर्णन है—(१) गोशालक, (२) बौद्धभिक्षु, (३) वेदवादी ब्राह्मण, (४) सांख्यमतवादी एकदण्डी, और (५) हस्तितापस। आर्द्रकमुनि ने सबको युक्ति, प्रमाण एवं निर्ग्रन्थ सिद्धान्त के अनुसार उत्तर दिया है, जो बहुत ही रोचक शैली में प्रस्तुत किया गया है।[2]

☐ यह अध्ययन सू. गा. ७८७ से प्रारम्भ होकर सू. गा. ८४१ पर समाप्त होता है। ☐☐

---

[1] कुछ विद्वान् आर्द्रकपुर वर्त्तमान 'एडन' को बताते हैं।—सं.

[2] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३८५ से ३८८
(ख) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा. १८७, १९०, १९८, १९९

अद्दइज्जं : छट्ठं अज्झयणं

आर्द्रकीय : छठा अध्ययन

भगवान् महावीर पर लगाए गए आक्षेपों का आर्द्रकमुनि द्वारा परिहार

७८७. पुराकडं अद्द ! इमं सुणेह, एगंतचारी समणे पुरासी ।
से भिक्खुणो उवणेत्ता अणेगे, आइक्खतेण्हं पुढो वित्थरेणं ॥१॥

७८७. (गोशालक ने आर्द्रकमुनि से कहा—) हे आर्द्रक ! महावीर स्वामी ने पहले जो आचरण किया था, उसे मुझ से सुन लो ! पहले वे एकान्त (निर्जन प्रदेश में अकेले) विचरण किया करते थे और तपस्वी थे । अब वे (आप जैसे) अनेक भिक्षुओं को इकट्ठा करके या अपने साथ रख कर पृथक्-पृथक् विस्तार से धर्मोपदेश देते हैं ।

७८८. साऽऽजीविया पट्ठवियाऽथिरेणं, सभागतो गणतो भिक्खुमज्झे ।
आइक्खमाणो बहुजण्णमत्थं, न संधयाती अवरेण पुव्वं ॥२॥

७८८—उस अस्थिर (चंचलचित्त) महावीर ने यह तो अपनी आजीविका बना (स्थापित कर) ली है । वह जो सभा में जाकर अनेक भिक्षुओं के गण के बीच (बैठ कर) बहुत-से लोगों के हित के लिए धर्मोपदेश देते (व्याख्यान करते) हैं, यह उनका वर्त्तमान व्यवहार उनके पूर्व व्यवहार से मेल नहीं खाता; (यह पूर्वापर-विरुद्ध आचरण है) ।

.७८९. एगंतमेव अदुवा वि इण्हि, दोवऽण्णमण्णं न समेंति जम्हा ।
पुव्विं च इण्हिं च अणागतं वा, एगंतमेव पडिसंधयाति ॥३॥

७८९. (पूर्वार्द्ध) इस प्रकार या तो महावीर स्वामी का पहला व्यवहार एकान्त (निर्जन प्रदेश में एकाकी) विचरण ही अच्छा (सम्यक् आचरण) हो सकता है, अथवा इस समय का अनेक लोगों के साथ रहने का व्यवहार ही अच्छा (सम्यक् आचरण) हो सकता है । किन्तु परस्पर-विरुद्ध दोनों आचरण अच्छे नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों में परस्पर मेल नहीं, विरोध है ।

(उत्तरार्द्ध) [गोशालक के आक्षेप का आर्द्रकमुनि ने इस प्रकार समाधान किया—] श्रमण भगवान् महावीर पूर्वकाल में, वर्त्तमान काल में (अब) और भविष्यत्काल में (सदैव) एकान्त का ही अनुभव करते हैं । अतः उनके (पहले के और इस समय के) आचरण में परस्पर मेल है; (विरोध नहीं है) ।

७९०. समेच्च लोगं तस-थावराणं, खेमंकरे समणे माहणे वा ।
आइक्खमाणो वि सहस्समज्झे, एगंतयं साहयति तहच्चे ॥४॥

७९०. बारह प्रकार की तप:साधना द्वारा आत्मशुद्धि के लिए श्रम करने वाले (श्रमण) एवं 'जीवों को मत मारो' का उपदेश देने वाले (माहन) भ० महावीर स्वामी (केवलज्ञान के द्वारा) समग्र लोक को यथावस्थित (सम्यक्) जानकर त्रस-स्थावर जीवों के क्षेम—कल्याण के लिए हजारों लोगों के बीच में धर्मोपदेश (व्याख्यान) करते हुए भी एकान्तवास (रागद्वेषरहित आत्मस्थिति) की साधना कर लेते हैं या अनुभूति कर लेते हैं। क्योंकि उनकी चित्तवृत्ति उसी प्रकार की (सदैव एकरूप) बनी रहती है।

७९१. धम्मं कहेंतस्स उ णत्थि दोसो, खंतस्स दंतस्स जितेंदियस्स।
भासाय दोसे य विवज्जगस्स, गुणे य भासाय णिसेवगस्स ॥५॥

७९१. श्रुत-चारित्ररूप धर्म का उपदेश करने वाले भगवान् महावीर को कोई दोष नहीं होता, क्योंकि क्षान्त (क्षमाशील अथवा परीषहसहिष्णु), दान्त (मनोविजेता) और जितेन्द्रिय तथा भाषा के दोषों को वर्जित करने वाले भगवान् महावीर के द्वारा भाषा का सेवन (प्रयोग) किया जाना गुणकर है; (दोषकारक नहीं)।

७९२. महव्वते पंच अणुव्वते य, तहेव पंचासव संवरे य।
विरतिं इह स्सामणियम्मि पण्णे, लवावसक्की समणे त्ति बेमि ॥६॥

७९२. (घातिक) कर्मों से सर्वथा रहित हुए (लवावसर्पी) श्रमण भगवान् महावीर श्रमणों के लिए पंच महाव्रत तथा (श्रावकों के लिए) पांच अणुव्रत एवं (सर्वसामान्य के लिए) पांच आश्रवों और संवरों का उपदेश देते हैं। तथा (पूर्ण) श्रमणत्व (संयम) के पालनार्थ वे विरति का (अथवा पुण्य का, तथा उपलक्षण से पाप, बंध, निर्जरा एवं मोक्ष के तत्त्वज्ञान का) उपदेश करते हैं, यह मैं कहता हूँ।

विवेचन—भ. महावीर पर लगाए गए आक्षेपों का आर्द्रक मुनि द्वारा परिहार—प्रस्तुत ६ सूत्रगाथाओं में आजीवकमतप्रवर्तक गोशालक द्वारा भगवान् महावीर पर लगाए गए कतिपय आक्षेप और प्रत्येक बुद्ध आर्द्रक मुनि द्वारा दिये गये उनके निवारण का अंकन किया गया है।

आक्षेपकार कौन, क्यों और कब?—यद्यपि मूल पाठ में आक्षेपकार के रूप में गोशालक का नाम कहीं नहीं आता, परन्तु निर्युक्तिकार एवं वृत्तिकार इसका सम्बन्ध गोशालक से जोड़ते हैं, क्योंकि आक्षेपों को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि आक्षेपकार (पूर्वपक्षी) भ० महावीर से पूर्व परिचित होना चाहिए। वह व्यक्ति गोशालक के अतिरिक्त और कोई नहीं है, जो तीर्थंकर महावीर के पवित्र जीवन पर कटाक्ष कर सके। आक्षेप इसलिए किये गये थे, कि आर्द्रकमुनि भ. महावीर की सेवा में जाने से रुक कर आजीवक संघ में आ जाएँ, इसीलिये जब आर्द्रकमुनि भ. महावीर की सेवा में जा रहे थे, तभी उनका रास्ता रोक कर गोशालक ने आर्द्रकमुनि के समक्ष भगवान् महावीर पर दोषारोपण किये।[1]

---

[1] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ३८८ का सारांश (ख) सूत्रकृ. निर्युक्ति गा. १९०
(ग) जैनसाहित्य का बृहत् इतिहास भा. १, पृ. १६५

आक्षेप के पहलू—(१) पहले भ. महावीर जनसम्पर्करहित एकान्तचारी थे, अब वे जनसमूह में रहते हैं, अनेक भिक्षुओं को अपने साथ रखते हैं। (२) पहले वे प्रायः मौन रहते थे, अब वे देव मानव और तिर्यञ्चों की परिषद् में धर्मोपदेश देते हैं। (३) पहले वे तपस्वी जीवन बिताते थे, अब वे उसे नीरस समझ कर छोड़ बैठे हैं, (४) महावीर ने पूर्वापर सर्वथा विरुद्ध आचार अपनी आजीविका चलाने के लिए ही अपनाया है, (५) इस पूर्वापरविरोधी आचार-व्यवहार को अपनाने से महावीर अस्थिरचित्त मालूम होते हैं, वे किसी एक सिद्धान्त पर स्थिर नहीं रह सकते।

अनुकूल समाधान—(१) श्रमण भगवान् महावीर अपनी त्रैकालिक चर्या में सदैव एकान्त का अनुभव करते हैं, अर्थात्—वे एकान्त में हों या जनसमूह में, सर्वत्र एकमात्र अपनी आत्मा (आत्मगुणों) में विचरण करते हैं।

(२) विशाल जनसमूह में उपदेश देने पर भी श्रोताजनों के प्रति वे राग या द्वेष नहीं करते हैं, सबके प्रति उनका समभाव है। पहले वे चतुर्विध घनघाती कर्मों का क्षय करने के लिए वाचिक संयम या मौन रखते थे, एकान्त सेवन करते थे, किन्तु अब घातिकर्मक्षयोपरान्त शेष चार अघातिक कर्मों के क्षय के लिए विशाल समवसरण में धर्मोपदेश की वाचिक प्रवृत्ति करते है। वस्तुतः पूर्वावस्था और वर्तमान अवस्था में कोई अन्तर नहीं है।

(३) न वे सत्कार-सम्मान-पूजा के लिए धर्मोपदेश करते हैं न जीविकानिर्वाह के लिए और न राग-द्वेष से प्रेरित होकर। अतः अस्थिरचित्त बताना अज्ञान है।

(४) सर्वज्ञता-प्राप्त होने से पूर्व वस्तुस्वरूप को पूर्णतया यथार्थ रूप से जाने बिना धर्मोपदेश देना उचित नहीं होता, इसलिए भ० महावीर मौन एकान्तवास करते थे। अब केवलज्ञान प्राप्त होने पर उसके प्रभाव से समस्त त्रस-स्थावर प्राणियों को तथा उनके अधःपतन एवं कल्याण के कारणों को उन्होंने जान लिया है। अतः क्षेमंकर प्रभु पूर्ण समभावपूर्वक सब के क्षेम-कल्याण का धर्मोपदेश देते हैं। कृतकृत्य प्रभु को किसी स्वार्थसाधन से प्रयोजन ही क्या ?

(५) धर्मोपदेश देते समय हजारों प्राणियों के बीच में रहते हुए भी वे भाव से अकेले (राग-द्वेषरहित शुद्ध स्वभाव में, अविकल बने रहते हैं। भगवान् स्वार्थ, रागद्वेष एवं ममत्व से सर्वथा रहित हैं।

(६) भाषा के दोषों का ज्ञान भगवान् में है, इसलिए भाषा संबंधी दोषों से सर्वथा रहित उनकी धर्मदेशना दोषरूप नहीं, गुणवर्धक ही है। वे प्राणियों को पवित्र एवं एकान्त हितकर मार्ग प्रदर्शित करते हैं।

(७) फिर वे वीतराग परम तपस्वी घातिकर्मों से दूर हैं, इसलिए साधु, श्रावक तथा सामान्य जनों को उनकी योग्यता एवं क्षमता के अनुरूप उपदेश देते हैं। अतः उन पर पापकर्म करने का दोषारोपण करना मिथ्या है।[1]

गोशालक द्वारा सुविधावादी धर्म की चर्चा : आर्द्रक द्वारा प्रतिवाद

७९३. सीओदगं सेवउ बीयकायं, आहाय कम्मं तह इत्थियाओ।
एगंतचारिस्सिह अम्ह धम्मे, तवस्सिणो णोऽहिसमेति पावं ॥७॥

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३८९-३९० का सारांश

७९३. (गोशालक ने अपने आजीवक धर्मसम्प्रदाय का आचार समझाने के लिए आर्द्रक मुनि से कहा—) कोई शीतल (कच्चा) जल, बीजकाय, आधाकर्म (युक्त आहारादि) तथा स्त्रियों का सेवन भले ही करता हो, परन्तु जो एकान्त (अकेला निर्जनप्रदेश में) विचरण करनेवाला तपस्वी साधक है, उसे हमारे धर्म में पाप नहीं लगता।

७९४. सीतोदगं या तह बीयकायं, आहाय कम्मं तह इत्थियाओ।
एयाइं जाणं पडिसेवमाणा, अगारिणो अस्समणा भवंति ॥८॥

७९४. (आर्द्रक मुनि ने इस धर्माचार का प्रतिवाद किया—) सचित्त जल, बीजकाय, आधाकर्म (युक्त आहारादि) तथा स्त्रियाँ, इनका सेवन करनेवाला गृहस्थ (घरबारी) होता है, श्रमण (अनगार) नहीं हो सकता।

७९५. सिया य बीओदग इत्थियाओ, पडिसेवमाणा समणा भवंति।
अगारिणो वि समणा भवंतु, सेवंति जं ते वि तहप्पगारं ॥९॥

७९५. यदि बीजकाय, सचित्त जल एवं स्त्रियों का सेवन करने वाले पुरुष भी श्रमण हों तो गृहस्थ भी श्रमण क्यों नहीं माने जाएँगे ? वे भी पूर्वोक्त विषयों का सेवन करते हैं। (तथा वे भी परदेश आदि में अकेले रहते या घूमते हैं, और कुछ तप भी करते हैं।

७९६. जे यावि बीओदगभोति भिक्खू भिक्खं विहं जायति जीवियट्ठी।
ते णातिसंजोगमवि प्पहाय, काओवगाऽणंतकरा भवंति ॥१०॥

७९६. (अतः) जो भिक्षु (अनगार) होकर भी सचित्त, बीजकाय, (सचित्त) जल एवं आधाकर्मदोष युक्त आहारादि का उपभोग करते हैं, वे केवल जीविका (जीवन-निर्वाह) के लिए भिक्षावृत्ति करते हैं। वे अपने ज्ञातिजनों (परिवार आदि) का संयोग छोड़कर भी अपनी काया के ही पोषक हैं, वे अपने कर्मों का या जन्म-मरण रूप संसार का अन्त करने वाले नहीं हैं।

विवेचन—गोशालक द्वारा अपने सुविधावादी धर्म की चर्चा : आर्द्रक मुनि द्वारा प्रतिवाद— प्रस्तुत सूत्रगाथाओं में गोशालक ने प्रथम अपने सुविधावादी भिक्षुधर्म की चर्चा की है, और आर्द्रक मुनि ने इसका युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। उन्होंने सचित्त जलादि सेवन वाले भिक्षुओं को गृहस्थतुल्य, जीविका के लिए भिक्षावृत्ति अपनाने वाले, शरीरपोषक एवं (जीवोपमर्दक आरम्भ में प्रवृत्त होने से) जन्म-मरणरूप संसार का अन्त करने में असमर्थ वताया है।[1]

७९७. इमं वयं तु तुम पाउकुव्वं, पावाइणो गरहसि सव्व एव।
पावाइणो उ पुढो किट्टयंता, सयं सयं दिट्ठि करेंति पाउं ॥११॥

७९७. (गोशालक ने पुनः आर्द्रक से कहा—) हे आर्द्रक ! इस वचन (भिक्षुधर्माचार का खण्डनात्मक प्रतिवाद) को कह कर तुम समस्त प्रावादुकों (विभिन्न धर्म के व्याख्याताओं) की निन्दा

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३९१ का सारांश

करते हो। प्रावादुकगण (धर्मव्याख्याकार) अपने-अपने धर्म सिद्धान्तों की पृथक्-पृथक् व्याख्या (या प्रशंसा) करते हुए अपनी-अपनी दृष्टि या मान्यता प्रकट करते हैं।

७९८. ते अण्णमण्णस्स वि गरहमाणा, अक्खंति उ समणा माहणा य।
सतो य अत्थी असतो य णत्थी, गरहामो दिट्ठि ण गरहमो किंचि ॥१२॥

७९९. ण किंचि रूवेणऽभिधारयामो, सं दिट्ठिमग्गं तु करेमो पाउं।
मग्गे इमे किट्टिते आरिएहिं, अणुत्तरे सप्पुरिसेहिं अंजू ॥१३॥

७९८-७९९. (आर्द्रक मुनि गोशालक से कहते हैं—) वे (अन्यधर्मतीर्थिक) श्रमण और ब्राह्मण परस्पर एक-दूसरे की निन्दा करते हुए अपने-अपने धर्म की प्रशंसा करते हैं। अपने धर्म में कथित अनुष्ठान से ही पुण्य, धर्म या मोक्ष होना कहते हैं, दूसरे धर्म में कथित क्रिया के अनुष्ठान से नहीं।' हम उनकी (इस एकान्त व एकांगी) दृष्टि की निन्दा करते हैं, किसी व्यक्ति विशेष की निन्दा नहीं करते।

हम किसी के रूप, वेष आदि की निन्दा नहीं करते, अपितु हम अपनी दृष्टि (अनेकान्तात्मक दर्शन) से पुनीत मार्ग (यथार्थ वस्तु स्वरूप) को अभिव्यक्त करते हैं। यह मार्ग अनुत्तर (सर्वोत्कृष्ट) है, और आर्य सत्पुरुषों ने इसे ही निर्दोष कहा है।

८००. उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा।
भूयाभिसंकाए दुगुंछमाणा, णो गरहति वुसिमं किंचि लोए ॥१४॥

८००. ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा एवं तिर्यक् (तिरछी-पूर्वादि) दिशाओं में जो जो त्रस या स्थावर प्राणी हैं, उन प्राणियों की हिंसा (की आशंका) से घृणा करने वाले संयमी पुरुष इस लोक में किसी की निन्दा नहीं करते। (अतः वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निरूपण करना निन्दा है नहीं।)

विवेचन—दार्शनिकों के विवाद के सम्बन्ध में गोशालक की दृष्टि का समाधान—प्रस्तुत ४ सूत्रगाथाओं में आर्द्रक परनिन्दा करने का आक्षेप और आर्द्रक द्वारा किया गया स्पष्ट समाधान अंकित है।

गोशालक द्वारा पर-निन्दा का आक्षेप—"विभिन्न दार्शनिक अपनी-अपनी दृष्टि से सचित्त जलादि-सेवन करते हुए धर्म, पुण्य या मोक्ष बताते हैं, परन्तु तुमने उनकी निन्दा करके अपना अहंकार प्रदर्शित किया है।"

आर्द्रक द्वारा समाधान—(१) समभावी साधु के लिए व्यक्तिगत रूप, वेष आदि की निन्दा करना अनुचित है। हम किसी के वेषादि की निन्दा नहीं करते। सत्य मार्ग का कथन करना ही हमारा उद्देश्य है। (२) अन्य धर्मतीर्थिक ही एकान्त दृष्टि से स्वमतप्रशंसा और परमतनिन्दा करते हैं। हम तो अनेकान्तदृष्टि से वस्तुस्वरूप का यथार्थ कथन कर रहे हैं। मध्यस्थभाव से सत्य की अभिव्यक्ति करना निन्दा नहीं है।[1] जैसे नेत्रवान् पुरुष अपनी आँखों से बिल, काँटे, कीड़े और सांप

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति ३९२ का सारांश।

आदि को देख कर उन सबको बचा कर ठीक रास्ते से चलता है, दूसरों को भी बताता है। इसी तरह विवेकी पुरुष कुज्ञान, कुश्रुति, कुमार्ग और कुदृष्टि के दोषों का सम्यक् विचार करके चलता-चलाता है, ऐसा करने में कौन-सी पर-निन्दा है?"[1] (३) वस्तुतः आर्यपुरुषों द्वारा प्रतिपादित सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मोक्षमार्ग ही कल्याण का कारण है, इससे विपरीत त्रस-स्थावर प्राणिहिंसाजनक, अब्रह्मचर्यसमर्थक कोई भी मार्ग हो, वह संसार का अन्तकारक एवं कल्याणकारक नहीं है। ऐसा वस्तु-स्वरूपकथन निन्दा नहीं है।

भीरु होने का आक्षेप और समाधान

८०१. आगंतागारे आरामागारे, समणे उ भीते ण उवेति वासं।
दक्खा हु संती बहवे मणूसा, ऊणातिरित्ता य लवालवा य ॥१५॥

८०२. मेहाविणो सिक्खिय बुद्धिमंता, सुत्तेहि अत्थेहि य निच्छयण्णू।
पुच्छिसु मा णे अणगार एगे, इति संकमाणो ण उवेति तत्थ ॥१६॥

८०१-८०२. (गोशालक ने पुनः आर्द्रकमुनि से कहा—) तुम्हारे श्रमण (महावीर) अत्यन्त भीरु (डरपोक) हैं, इसीलिए तो पथिकागारों (जहाँ बहुत-से आगन्तुक-पथिक ठहरते हैं, ऐसे गृहों) में तथा आरामगृहों (उद्यान में बने हुए घरों) में निवास नहीं करते, (कारण, वे सोचते हैं कि) उक्त स्थानों में बहुत-से (धर्म-चर्चा में) दक्ष मनुष्य ठहरते हैं, जिनमें कोई कम या कोई अधिक वाचाल (लप-लप करने वाले) होते हैं, कोई मौनी होते हैं।

(इसके अतिरिक्त) कई मेधावी, कई शिक्षा प्राप्त, कई बुद्धिमान् औत्पत्तिकी आदि बुद्धियों से सम्पन्न तथा कई सूत्रों और अर्थों के पूर्णरूप से निश्चयज्ञ होते हैं। अतः दूसरे अनगार मुझ से कोई प्रश्न न पूछ बैठें, इस प्रकार की आशंका करते हुए वे (श्रमण भ. महावीर) वहां नहीं जाते।

८०३. नाकामकिच्चा ण य बालकिच्चा, रायाभिओगेण कुतो भएणं।
वियागरेज्जा पसिणं न वावि, सकामकिच्चेणिह आरियाणं ॥१७॥

८०३. (आर्द्रक मुनि ने उत्तर दिया—) भगवान् महावीर स्वामी (प्रेक्षापूर्वक किसी कार्य को करते हैं, इसीलिए) अकामकारी (निरुद्देश्यकार्यकारी) नहीं हैं, और न ही वे बालकों की तरह (अज्ञानपूर्वक एवं अनालोचित) कार्यकारी हैं। वे राजभय से भी धर्मोपदेश नहीं करते, फिर अन्य (लोगों के दबाव या) भय से करने की तो बात ही कहाँ? भगवान् प्रश्न का उत्तर देते हैं और नहीं भी देते। वे इस जगत् में आर्य लोगों के लिए तथा अपने तीर्थंकर नामकर्म के क्षय के लिए धर्मोपदेश करते हैं।

८०४. गंता व तत्था अदुवा अगंता, वियागरेज्जा समियाऽऽसुपण्ण।
अणारिया दंसणतो परित्ता, इति संकमाणो ण उवेति तत्थ ॥१८॥

---

[1] नेत्रैर्निरीक्ष्य विल-कण्टक-कीट सर्पान् सम्यक्पथा व्रजति तान् परिहृत्य सर्वान्।
कुज्ञान-कुश्रुति-कुमार्ग-कुदृष्टि-दोषान्, सम्यक् विचारयत कोऽत्र परापवादः?

—सूत्रकृ. शी. वृत्ति में उद्धृत

८०४. सर्वज्ञ (आशुप्रज्ञ) भगवान् महावीर स्वामी वहाँ (श्रोताओं के पास) जाकर अथवा न जाकर समभाव से धर्मोपदेश करते हैं। परन्तु अनार्य लोग दर्शन से भ्रष्ट होते हैं, इस आशंका से भगवान् उनके पास नहीं जाते।

विवेचन—भीरु होने का आक्षेप और समाधान—प्रस्तुत चार सूत्रगाथाओं (८०१ से ८०४ तक) में से दो गाथाओं में गोशालक द्वारा भगवान् महावीर पर भीरु होने का आक्षेप है, और शेष दो गाथाओं में आर्द्रक मुनि द्वारा अकाट्य युक्तियों द्वारा किया गया समाधान अंकित है।

गोशालक के आक्षेप : महावीर भय एवं राग-द्वेष से युक्त—(१) वे इस भय से सार्वजनिक स्थानों में नहीं ठहरते कि वहाँ कोई योग्य शास्त्रज्ञ विद्वान् कुछ पूछ बैठेगा, तो क्या उत्तर दूंगा?

आर्द्रकमुनि द्वारा समाधान—(१) भगवान् महावीर अकुतोभय हैं और सर्वज्ञ हैं, इसलिए किसी भी स्थान में ठहरने या न ठहरने में उन्हें कोई भय नहीं है। वे न राजा के भय से कोई कार्य करते हैं, न किसी अन्य प्राणी का उन्हें भय है। किन्तु वे निष्प्रयोजन कोई कार्य नहीं करते, और न ही बालकों की तरह बिना विचारे कोई कार्य करते हैं। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं इसलिए उन्हें जिससे दूसरे का उपकार होता दिखता है, वही कार्य वे करते हैं। अपने उपकार से दूसरे का कोई हित होता नहीं देखते वहाँ वे उपदेश नहीं करते। प्रश्नकर्त्ता का उपकार देख कर भगवान् उनके प्रश्न का उत्तर देते हैं, अन्यथा नहीं देते। वे स्वतन्त्र हैं, पूर्वोपार्जित तीर्थंकर नामकर्म का क्षय करने तथा आर्यपुरुषों के उपकार के लिए धर्मोपदेश करते हैं। चाहे चक्रवर्ती हो या दरिद्र, यदि वह भव्य हो, और उपकार होता ज्ञात हो तो वे किसी पक्षपात के बिना वहाँ जा कर भी समभाव से उपदेश देते हैं, अन्यथा, वहाँ रह कर भी उपदेश नहीं देते। इसलिए उनमें राग-द्वेष की गन्ध भी नहीं है।[1]

गोशालक द्वारा प्रदत्त वणिक की उपमा का आर्द्रक द्वारा प्रतिवाद

८०५. पण्णं जहा वणिए उदयट्ठी, आयस्स हेउं पगरेंति संगं।
तउवमे समणे नायपुत्ते, इच्चेव मे होति मती वियक्का ॥१९॥

८०५. (गोशालक ने फिर कहा—) जैसे लाभार्थी (उदयार्थी) वणिक् क्रय-विक्रय के योग्य (पण्य) वस्तु को लेकर आय (लाभ) के हेतु (महाजनों का) संग (सम्पर्क) करता है, यही उपमा श्रमण के लिए (घटित होती) है; ये ही वितर्क (विचार) मेरी बुद्धि में उठते हैं।

८०६. नवं न कुज्जा विहुणे पुराणं, चिच्चाऽमइं तायति साह एवं।
एत्तावया बंभवति त्ति वुत्ते, तस्सोदयट्ठी समणे त्ति बेमि ॥२०॥

८०६. (आर्द्रक मुनि ने उत्तर दिया—) भगवान् महावीर स्वामी नवीन कर्म (वन्ध) नहीं करते, अपितु वे पुराने (बंधे हुए) कर्मो का क्षषण (क्षय) करते हैं। (क्योंकि) षड्जीवनिकाय के त्राता, वे भगवान्) स्वयं यह कहते हैं कि प्राणी कुबुद्धि का त्याग करके ही मोक्ष को प्राप्त करता है।

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३९३ का सारांश

इसी दृष्टि से इसे ब्रह्म-पद या ब्रह्मव्रत (मोक्षव्रत) कहा गया है। उसी मोक्ष के लाभार्थी (उदयार्थी) श्रमण भगवान् महावीर हैं, ऐसा मैं कहता हूँ।

८०७. समारभंते वणिया भूयगामं, परिग्गहं चेव ममायमीणा।
ते णातिसंजोगमविप्पहाय, आयस्स हेउं पकरेंति संगं ॥२१॥

८०७. (और हे गोशालक!) वणिक् (गृहस्थ व्यापारी) प्राणिसमूह (भूतग्राम) का आरम्भ करते हैं, तथा (द्रव्य-) परिग्रह पर ममत्व भी रखते हैं, एवं वे ज्ञातिजनों के साथ ममत्वयुक्त संयोग (सम्बन्ध) नहीं छोड़ते हुए, आय (लाभ) के हेतु दूसरों (संसर्ग न करने योग्य व्यक्तियों) से भी संग करते हैं।

८०८. वित्तेसिणो मेहुणसंपगाढा, ते भोयणट्ठा वणिया वयंति।
वयं तु कामेसु अज्झोववन्ना, अणारिया पेमरसेसु गिद्धा ॥२२॥

८०८. वणिक् धन के अन्वेषक और मैथुन (स्त्रीसम्बन्धी कामभोग) में गाढ़ आसक्त होते हैं, तथा वे भोजन (भोगों) की प्राप्ति के लिए इधर-उधर जाते रहते हैं। अतः हम तो ऐसे वणिकों (व्यापारियों) को काम-भोगों में अत्यधिक आसक्त, प्रेम (राग) के रस (स्वाद) में गृद्ध (ग्रस्त) और अनार्य कहते हैं। (भगवान् महावीर इस प्रकार के स्वहानिकर्ता वणिक् नहीं हैं।)

८०९. आरंभयं चेव परिग्गहं च, अविउस्सिया णिस्सिय आयदंडा।
तेसिं च से उदए जं वयासी, चउरंतणंताय दुहाय णेह ॥२३॥

८०९. (इसी प्रकार) वणिक् आरम्भ और परिग्रह का व्युत्सर्ग (त्याग) नहीं करते, (अपितु) उन्हीं में निरन्तर बधे हुए (आश्रित), रहते हैं और (असदाचारप्रवृत्ति करके) आत्मा को दण्ड देते रहते हैं। उनका वह उदय (-लाभ), जिससे आप उदय (लाभ) बता रहे हैं, वस्तुतः उदय नहीं है बल्कि वह चातुर्गतिक अनन्त संसार (लाभ) या दुःख (रूप लाभ) के लिए होता है। वह (वास्तव में) उदय (लाभ) है ही नहीं, होता भी नहीं।

८१०. णेगंत णच्चंतिय उदये से, वयंति ते दो विगुणोदयंमि।
से उदए सातिमणंतपत्ते तमुद्दयं साहति ताइ णाती ॥२४॥

८१०. पूर्वोक्त सावद्य अनुष्ठान न करने से वणिक् का जो उदय होता है, वह न तो एकान्तिक (सर्वथा या सार्वत्रिक) है और न आत्यन्तिक (सार्वकालिक)। विद्वान् लोग कहते हैं कि जो उदय इन दोनों गुणों (एकान्तिक एवं आत्यन्तिक सुखरूप गुणों से रहित है, उसमें कोई गुण (लाभ या विशेषता) नहीं है। किन्तु उनको (भगवान् महावीर को) जो उदय=लाभ (धर्मोपदेश से प्राप्त निर्जरारूप प्राप्त है, वह आदि और अनन्त है। (ऐसे उदय को प्राप्त आसन्न भव्यों के) त्राता (अथवा तायी=मोक्षगामी) एवं ज्ञातवंशीय या समस्त वस्तुजात के ज्ञाता भगवान् महावीर इसी (पूर्वोक्त) उदय (केवलज्ञानरूप या धर्मदेशना से प्राप्त निर्जरारूप लाभ) का दूसरों को उपदेश करते हैं, या इसकी प्रशंसा करते हैं।

८११. अहिंसयं सव्वपयाणुकंपी, धम्मे ठितं कम्मविवेगहेउं ।
तमायदंडेहिं समायरंता, आबोहिए ते पडिरूवमेयं ॥२५॥

८११. भगवान् प्राणियों की हिंसा से सर्वथा रहित हैं, तथा समस्त प्राणियों पर अनुकम्पा (दया) करते हैं। वे धर्म (शुद्ध-आत्मधर्म) में सदैव स्थित रहते हैं। ऐसे कर्मविवेक (कर्म-निर्जरा) के कारणभूत वीतराग सर्वज्ञ महापुरुष को, आप जैसे आत्मा को दण्ड देने वाले व्यक्ति ही वणिक् के सदृश कहते हैं। यह कार्य आपके (तुम्हारे) अज्ञान के अनुरूप ही है।

विवेचन—गोशालक द्वारा प्रदत्त वणिक् की उपमा का आर्द्रक द्वारा प्रतिवाद—प्रस्तुत सात सूत्रगाथाओं (८०५ से ८११ तक) में से प्रथम गाथा में गोशालक द्वारा भगवान् को दी गई उदयार्थी वणिक् की उपमा अंकित है, शेष छह गाथाओं में आर्द्रकमुनि द्वारा युक्तिपूर्वक उसका प्रतिवाद प्रस्तुत किया गया है।

गोशालक का आक्षेप : श्रमण महावीर लाभार्थी वणिक् तुल्य—जैसे लाभार्थी वणिक् अपना माल लेकर परदेश में जाता है, वहाँ लाभ के निमित्त महाजनों से सम्पर्क करता है, वैसे ही महावीर भी अपनी पूजा-प्रतिष्ठा तथा आहारादि के लाभ के लिए विभिन्न देशों में जाते हैं, वहाँ राजा आदि बड़े-बड़े लोगों से सम्पर्क करते हैं। अतः वे वणिक् तुल्य हैं।

आर्द्रक मुनि द्वारा सयुक्तिक प्रतिवाद—(१) लाभार्थी वणिक् के साथ भ. महावीर की एक देशीय (आंशिक) तुल्यता तो संगत है, क्योंकि भ. महावीर भी जहाँ आत्मिक उपकारादि लाभ देखते हैं, वहाँ उपदेश करते हैं, अन्यथा नहीं। (२) किन्तु लाभार्थी वणिक् के साथ भ. महावीर की सम्पूर्ण तुल्यता निम्नोक्त कारणों से सर्वथा असंगत और अज्ञानमूलक है—(अ) भ. महावीर सर्वज्ञ हैं, वणिक् अल्पज्ञ, सर्वज्ञ होने से भगवान् सर्वसावद्यकार्यों से रहित हैं, इसी कारण वे नये कर्म बन्धन नहीं करते, पूर्वबद्ध (भवोपग्राही) कर्मों की निर्जरा या क्षय करते हैं, तथा कर्मोपार्जन की कुबुद्धि का सर्वथा त्याग करके वे मोक्ष की ओर अग्रसर होते जाते हैं, इस सिद्धान्त का वे प्रतिपादन भी करते हैं। इस दृष्टि से भगवान् मोक्षोदयार्थी—मुक्तिलाभार्थी मोक्षव्रती अवश्य हैं, जबकि अल्पज्ञ वणिक् न तो सावद्यकार्यों से रहित होते हैं, न ही नया कर्मबन्धन रोकते हैं, न पूर्वबद्ध कर्मों के क्षय के लिए प्रयास करते हैं, इस दृष्टि से वणिकों का मुख मोक्ष की ओर नहीं है, न वे इस प्रकार से मोक्षलाभ कर सकते हैं।

(आ) वणिक् व्यापार, गृहकार्य आदि में आरम्भ करके अनेक प्राणियों की हिंसा करते हैं, परिग्रह पर ममत्व रखते हैं, धन एवं स्वार्थ के लिए स्वजनों-परिजनों के साथ आसक्तिमय संसर्ग रखते हैं, जबकि भ. महावीर निरारम्भी एवं निष्परिग्रही हैं, वे किसी के साथ किसी प्रकार का आसक्तिसंयोग नहीं रखते, वे अप्रतिवद्धविहारी हैं। सिर्फ धर्मवृद्धि के लिए उपदेश देते हैं। अतः वणिक् के साथ भगवान् का सादृश्य बताना सर्वथा विरुद्ध है। (इ) वणिक् एकमात्र धन के अभिलाषी, कामासक्त रहते हैं एवं भोजन या भोगों की प्राप्ति के लिए भटकते हैं। इसलिए कामभोग, रागद्वेष, पापकर्म, एवं कंचन-कामिनी के सर्वथा त्यागी मोक्षलाभार्थी भगवान् महावीर ऐसे रागलिप्त, काममूढ़ एवं अनार्य वणिकों के सदृश कैसे हो सकते हैं? (ई) वणिक् सावद्य आरम्भ और परिग्रह को सर्वथा छोड़ नहीं सकते, इस कारण आत्मा को कर्मबन्धन से दण्डित करते रहते हैं। इससे अनन्तकाल तक चतुर्गतिपरिभ्रमण का लाभ होता है, जो वास्तव में आत्महानिकारक होने से लाभ ही नहीं है, जबकि

भ. महावीर इन सबसे सर्वथा दूर होने से स्वपर—आत्मिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं। (उ) वणिक् को होने वाला धनादि लाभ एकान्तिक एवं आत्यन्तिक सुखरूप नहीं होता, इसलिए वह वास्तविक लाभ है ही नहीं, जबकि भ. महावीर को होने वाला दिव्यज्ञान रूप या कर्म निर्जरारूप लाभ एकान्तिक एवं आत्यन्तिक है। केवलज्ञान रूप लाभ सादि-अनन्त है, स्थायी, अनुपम एवं यथार्थ लाभ है। (ऊ) अतः सर्वथा अहिंसक, सर्व जीवों के प्रति अनुकम्पाशील, धर्मनिष्ठ एवं कर्मक्षयप्रवृत्त भगवान् की तुलना हिंसापरायण, निरनुकम्पी, धर्म से दूर एवं कर्मबन्धनप्रवृत्त वणिक् से करना युक्तिविरुद्ध एवं अज्ञानता का परिचायक है।[1]

बौद्धों के अपसिद्धान्त का आर्द्रक द्वारा खण्डन एवं स्वसिद्धान्त-मण्डन

८१२. पिण्णागपिंडीमवि विद्धू सूले, केई पएज्जा पुरिसे इमे त्ति।
अलाउयं वावि कुमारए त्ति, स लिप्पती पाणवहेण अम्हं ॥२६॥

८१२. (शाक्यभिक्षु आर्द्रक मुनि से कहने लगे—) कोई व्यक्ति खली के पिण्ड को 'यह पुरुष है' यों मानकार शूल से बींध कर (आग में) पकाए अथवा तुम्बे को कुमार (बालक) मान कर पकाए, तो हमारे मत में वह प्राणिवध (हिंसा) के पाप से लिप्त होता है।

८१३. अहवा वि विद्धूण मिलक्खु सूले, पिन्नागबुद्धीए णरं पएज्जा।
कुमारगं वा वि अलाउए त्ति, न लिप्पती पाणवहेण अम्हं ॥२७॥

८१३. अथवा वह म्लेच्छ पुरुष मनुष्य को खली समझ कर उसे शूल में बींध कर पकाए, अथवा कुमार को तुम्बा समझ कर पकाए तो वह हमारे मत में प्राणिवध के पाप से लिप्त नहीं होता।

८१४. पुरिसं व विद्धूण कुमारकं वा, सूलंमि केई पए जाततेए।
पिण्णायपिंडी सतिमारुहेत्ता, बुद्धाण तं कप्पति पारणाए ॥२८॥

८१४. कोई पुरुष मनुष्य को या बालक को खली का पिण्ड मान कर उसे शूल में बींध कर आग में डाल कर पकाए तो (हमारे मत में) वह (मांसपिण्ड) पवित्र है, वह बुद्धों के पारणे के योग्य है।

८१५. सिणायगा तु दुवे सहस्से, जे भोयए णितिए भिक्खुगाणं।
ते पुण्णखंधं सुमहऽज्जिणित्ता, भवंति आरोप्प महंतसत्ता ॥२९॥

८१५. जो पुरुष दो हजार स्नातक भिक्षुओं को प्रतिदिन भोजन कराता है, वह महान् पुण्यराशि (पुण्यस्कन्ध) का उपार्जन करके महापराक्रमी (महासत्त्व) आरोप्य नामक देव होता है।

८१६. अजोगरूवं इह संजयाणं, पावं तु पाणाण पसज्झ काउं।
अबोहिए दोण्ह वि तं असाहु, वयंति जे यावि पडिस्सुणंति ॥३०॥

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३९४-३९५ का सारांश

८१६. (आर्द्रक मुनि ने बौद्धभिक्षुओं को प्रत्युत्तर दिया—) आपके इस शाक्यमत में पूर्वोक्त सिद्धान्त संयमियों के लिए अयोग्यरूप है। प्राणियों का (जानबूझ कर) घात करने पर भी पाप नहीं होता, जो ऐसा कहते हैं और जो सुनते या मान लेते हैं; दोनों के लिए अबोधिलाभ का कारण है, और बुरा है।

८१७. उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु, विण्णाय लिंगं तस-थावराणं।
भूयाभिसंकाए दुगुंछमाणे, वदे करेज्जा व कुओ विहऽत्थी ॥३१॥

८१७. 'ऊँची, नीची और तिरछी दिशाओं में त्रस और स्थावर जीवों के अस्तित्व का लिंग (हेतु या चिह्न) जान कर जीवहिंसा की आशंका से विवेकी पुरुष हिंसा से घृणा करता हुआ विचार कर बोले या कार्य करे तो उसे पाप-दोष कैसे हो सकता है ?'

८१८. पुरिसे त्ति विण्णत्ति ण एवमत्थि, अणारिए से पुरिसे तहा हु।
को संभवो ? पिन्नगपिंडियाए, वाया वि एसा बुइया असच्चा ॥३२॥

८१८. खली के पिण्ड में पुरुष-बुद्धि तो मूर्ख को भी नहीं होती। अतः जो पुरुष खली के पिण्ड में पुरुषबुद्धि अथवा पुरुष में खली के पिण्ड की बुद्धि रखता है, वह अनार्य है। खली के पिण्ड में पुरुष की बुद्धि कैसे सम्भव है ? अतः आपके द्वारा कही हुई यह (ऐसी) वाणी भी असत्य है।

८१९. वायाभिओगेण जया वहेज्जा, णो तारिसं वायमुदाहरेज्जा।
अट्ठाणमेयं वयणं गुणाणं, जे दिक्खिते बूयमुरालमेतं ॥३३॥

८१९. जिस वचन के प्रयोग से जीव पापकर्म का उपार्जन करे, ऐसा वचन (भाषादोषगुणज्ञ विवेकी पुरुष को (कदापि नहीं बोलना चाहिए। (प्रव्रजितों के लिए) यह (आपका पूर्वोक्त) वचन गुणों का स्थान नहीं है। अतः दीक्षित व्यक्ति ऐसा निःसार वचन नहीं बोलता।

८२०. लद्धे अहट्ठे अहो एव तुब्भे, जीवाणुभागे सुविचिंतिए य।
पुव्वं समुद्दं अवरं च पुट्ठे, ओलोइए पाणितले ठिते वा ॥३४॥

८२०. अहो बौद्धो ! तुमने ही (संसारभर के) पदार्थों को उपलब्ध कर (जान) लिया है ! ; तुमने ही जीवों के कर्मफल का अच्छी तरह चिन्तन किया है !, तुम्हारा ही यश पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक फैल गया है !, तुमने ही करतल (हथेली) पर रखे हुए पदार्थ के समान इस जगत् को देख लिया है।

८२१. जीवाणुभागं सुविचिंतयंता, आहारिया अण्णविहीए सोही।
न वियागरे छन्नपओपजीवी, एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ॥३५॥

८२१. (जैनशासन के अनुयायी साधक) (कर्मफल-स्वरूप होने वाली) जीवों की पीड़ा का सम्यक् चिन्तन करके आहारग्रहण करने की विधि से (बयालीस दोषरहित) शुद्ध (भिक्षाप्राप्त) आहार स्वीकार करते हैं; वे कपट से जीविका करने वाले बन कर *मायामय* वचन नहीं बोलते। जैनशासन में संयमीपुरुषों का यही धर्म है।

८२२. सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए नितिए भिक्खुयाणं ।
असंजए लोहियपाणि से ऊ, णिगच्छती गरहमिहेव लोए ।।३६।।

८२२. जो व्यक्ति प्रतिदिन दो हजार स्नातक भिक्षुओं को (पूर्वोक्त मांसपिण्ड का) भोजन कराता है, वह असंयमी रक्त से रंगे हाथ वाला पुरुष इसी लोक में निन्दापात्र होता है ।

८२३. थूलं उरब्भं इह मारियाणं, उद्दिट्ठभत्तं च पकप्पइत्ता ।
तं लोणतेल्लेण उवक्खडेत्ता, सपिप्पलीयं पकरेंति मंसं ।।३७।।

८२४. तं भुंजमाणा पिसितं पभूतं, न उवलिप्पामो वयं रएणं ।
इच्चेवमाहंसु अणज्जधम्मा, अणारिया बाल रसेसु गिद्धा ।।३८।।

८२३-८२४. आपके मत में बुद्धानुयायी जन एक बड़े स्थूल भेड़े को मार कर उसे बौद्ध भिक्षुओं के भोजन के उद्देश्य से कल्पित कर (बना कर) उस (भेड़े के मांस) को नमक और तेल के साथ पकाते हैं, फिर पिप्पली आदि द्रव्यों (मसालों) से वघार कर तैयार करते हैं । (यह मांस बौद्ध-भिक्षुओं के भोजन के योग्य समझा जाता है, यही उनके आहारग्रहण की रीति है ।)

अनार्यों के-से स्वभाव वाले अनार्य (कर्मकारक), एवं रसों में गृद्ध (लुब्ध) वे अज्ञानी बौद्ध-भिक्षु कहते हैं कि (इस प्रकार से वना हुआ) बहुत-सा मांस खाते हुए भी हम लोग पापकर्म (रज) से लिप्त नहीं होते ।

८२५. जे यावि भुंजंति तहप्पगारं, सेवंति ते पावमजाणमाणा ।
मणं न एयं कुसला करेंति, वाया वि एसा बुइता तु मिच्छा ।।३९।।

८२५. जो लोग इस प्रकार के मांस का सेवन करते हैं, वे (पुण्य-पाप के) तत्त्व को नहीं जानते हुए पाप का सेवन करते हैं । जो पुरुष कुशल (तत्त्वज्ञान में निपुण) हैं, वे ऐसे मांस खाने की इच्छा भी नहीं करते (मन में भी नहीं लाते) । मांस भक्षण में दोष न होने का कथन भी मिथ्या है ।

८२६. सव्वेसि जीवाणा दयट्ठयाए, सावज्जदोसं परिवज्जयंता ।
तस्संकिणो इसिणो नायपुत्ता, उद्दिट्ठभत्तं परिवज्जयंति ।।४०।।

८२६. समस्त जीवों पर दया करने के लिए, सावद्यदोष से दूर रहने वाले तथा (आहारादि में) सावद्य (पापकर्म) की आशंका (छानबीन) करने वाले, ज्ञातपुत्रीय (भगवान् महावीर स्वामी के शिष्य) ऋषिगण उद्दिष्ट भक्त (साधु के निमित्त आरम्भ करके तैयार किये हुए भोजन) का त्याग करते हैं ।

८२७. भूताभिसंकाए दुगुंछमाणा, सव्वेसि पाणाणमिहायदंडं ।
तम्हा ण भुंजंति तहप्पकारं, एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ।।४१।।

८२७. प्राणियों के उपमर्दन की आशंका से, सावद्य अनुष्ठान से विरक्त रहने वाले निर्ग्रन्थ

श्रमण समस्त प्राणियों को दण्ड देने (हनन करने) का त्याग करते हैं, इसलिए वे (दोषयुक्त) आहारादि का उपभोग नहीं करते। इस जैनशासन में संयमी साधकों का यही परम्परागत धर्म (अनुधर्म) है।

८२८. निग्गंथधम्मम्मि इमा समाही, अस्सि सुठिच्चा अणिहे चरेज्जा।
बुद्धे मुणी सीलगुणोववेते इच्चत्थतं पाउणती सिलोगं ॥४२॥

८२८. इस निर्ग्रन्थधर्म में इस समाधि (आचार-समाधि या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप समाधि) में सम्यक् प्रकार से स्थित हो कर मायारहित होकर इस निर्ग्रन्थ धर्म में जो विचरण करता है, वह प्रबुद्ध मुनि (जगत् की त्रिकालावस्था पर मनन करने—जाने वाला) शील और गुणों से युक्त होकर अत्यन्त पूजा-प्रशंसा (श्लोक को) प्राप्त करता है।

विवेचन—बौद्धों के अपसिद्धान्त का आर्द्रक द्वारा खण्डन एवं स्वसिद्धान्त मण्डन—प्रस्तुत १७ सूत्रगाथाओं में पहली चार गाथाओं में आर्द्रक मुनि के समक्ष बौद्धभिक्षुओं ने जो अपना हिंसायुक्त आचार प्रस्तुत किया है, वह अंकित है। शेष १३ गाथाओं में से कुछ गाथाओं में आर्द्रक मुनि द्वारा बौद्धमत का निराकरण एवं फिर कुछ गाथाओं में जैनेन्द्रसिद्धान्त का समर्थन अंकित है।

बौद्ध भिक्षुओं द्वारा प्रस्तुत चार अपसिद्धान्त—(१) कोई व्यक्ति खली के पिण्ड को पुरुष एवं तुम्बे को कुमार समझ कर उसे शूल से बींध कर पकाए तो प्राणिवध के पाप से लिप्त होता है, (२) कोई व्यक्ति पुरुष को खली का पिण्ड एवं कुमार को तुम्बा समझकर पकाए तो प्राणिवध के पाप से लिप्त नहीं होता, (३) कोई पुरुष मनुष्य या बालक को खली का पिण्ड समझकर आग में पकाए तो वह भोजन पवित्र है और बौद्धभिक्षुओं के लिए भक्ष्य है। और (४) इस प्रकार का (मांस) भोजन तैयार करके जो प्रतिदिन दो हजार भिक्षुओं को खिलाता है, वह महान् पुण्यस्कन्ध उपार्जित करके आरोप्य देव होता है।[1]

आर्द्रकमुनि द्वारा इन अपसिद्धान्तों का खण्डन—(१) प्राणिघातजन्य आहार संयमी साधुओं के लिए अयोग्य है। (२) प्राणिघात से पाप नहीं होता, ऐसा कहने-सुनने वाले दोनों अबोधि बढ़ाते हैं। (३) खली के पिण्ड में पुरुषबुद्धि या पुरुष में खली के पिण्ड की बुद्धि सम्भव नहीं है। अतएव उक्त ऐसा कथन आत्मवंचनापूर्ण और असत्य है। (४) पापोत्पादक भाषा कदापि न बोलनी चाहिए, क्योंकि वह कर्मबन्धजनक होती है। (५) दो हजार भिक्षुओं को जो पूर्वोक्तरीति से प्रतिदिन मांसभोजन कराता है, उसके हाथ रक्तलिप्त होते हैं, वह लोकनिन्द्य है; क्योंकि मांसभोजन तैयार होता है—पुष्ट भेड़े को मार कर नमक-तेल आदि के साथ पका कर मसालों के बघार देने से; वह हिंसाजनक है। (६) जो बौद्धभिक्षु यह कहते हैं कि पूर्वोक्त रीति से गृहस्थ द्वारा तैयार किया हुआ भोजन करते हुए हम पापलिप्त नहीं होते, वे पुण्य-पाप के तत्त्व से अनभिज्ञ, अनार्य प्रकृति अनार्य कर्मी, रसलोलुप एवं स्वपरवञ्चक हैं। अतः मांस हिंसाजनित, रौद्रध्यान का हेतु, अपवित्र, निन्द्य, अनार्यजन सेवित एवं नरकगति का कारण है। मांसभोजी, आत्मद्रोही और आत्म-कल्याणद्वेषी है। वह मोक्षमार्ग का आराधक नहीं है।[2]

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३९६ का सारांश

[2] वही, पत्रांक ३९७ से ३९९ का सारांश

जैनेन्द्र सिद्धान्त का समर्थन—(१) निर्ग्रन्थ भिक्षु समस्त प्राणियों पर दयालु होने से आरम्भ-जनित या हिंसाजनित आहारादि के त्यागी होते हैं। वे सात्त्विक आहार भी उद्गम, उत्पादना एवं एषणा के ४२ दोषों से रहित शुद्ध कल्पनीय ग्रहण करते हैं, इसलिए मांसभोजन तो क्या, उद्दिष्ट भोजन का भी त्याग करते हैं। वे कपटभाषा का (बौद्धों की तरह) प्रयोग करके अभक्ष्य आहारादि नहीं लेते। (२) इस निर्ग्रन्थ धर्म के आचरण के प्रभाव से पदार्थों के यथार्थज्ञाता समस्त द्वन्द्वों से रहित मूलगुण एवं उत्तरगुणों से सम्पन्न साधक दोनों लोकों में प्रशंसनीय बन जाते हैं।

'अणुधम्मो'—इसके दो अर्थ हैं—(१) पहले तीर्थंकर ने इस निर्ग्रन्थ धर्म का आचारण किया, तत्पश्चात् उनके शिष्यगण इसका आचारण करने लगे, इसलिए इस धर्म को अनुधर्म कहते हैं। (२) अथवा यह अणुधर्म है, सूक्ष्मधर्म है, शिरीष पुष्प सम कोमल है, जरा-सा भी अतिचार (दोष) लगने पर नष्ट होने लगता है।

'निग्गंथधम्मो'—निर्ग्रन्थ का अर्थ यहाँ प्रसंगवश किया गया है—"जो सब प्रकार के ग्रन्थों= कपटों से रहित हो, उनका धर्म निर्ग्रन्थ धर्म है।"[1]

पशुवध-समर्थक मांसभोजी ब्राह्मणों को भोजन का फल

८२९. सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णितिए माहणाणं।
ते पुण्णखंधं सुमहऽज्जिणित्ता, भवंति देवा इति वेयवाओ ॥४३॥

८२९. (बौद्ध भिक्षुओं को परास्त करके आर्द्रकमुनि आगे बढ़े तो ब्रह्मणगण उनके पास आ कर कहने लगे—(हे आर्द्रक!) जो पुरुष प्रति-दिन दो हजार स्नातक ब्राह्मणों को भोजन कराता है, वह महान् पुण्यपुञ्ज उपार्जित करके देव होता है, यह वेद का कथन है।

८३०. सिणायगाणं तु दुवे सहस्से, जे भोयए णितिए कुलालयाणं।[2]
से गच्छति लोलुवसंपगाढे, तिव्वाभितावी णरगाभिसेवी ॥४४॥

८३०. (ब्राह्मणों के मन्तव्य का प्रतिकार करते हुए आर्द्रक ने कहा—) क्षत्रिय आदि कुलों में भोजन के लिए घूमने वाले दो हजार स्नातक ब्राह्मणों को जो (दाता) प्रतिदिन भोजन कराता है, वह व्यक्ति मांसलोलुप प्राणियों (पक्षियों) से व्याप्त (प्रगाढ़) नरक में जा कर निवास करता है, जहाँ वह तीव्रतम ताप भोगता रहता है।

८३१. दयावरं धम्म दुगुंछमाणे, वहावहं धम्म पसंसमाणे।
एगं पि जे भोययती असीलं, णिवो णिसं जाति कतो सुरेहिं? ॥४५॥

---

[1] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३९९
(ख) निर्गतः ग्रन्थेभ्यः कपटेभ्यइति निर्ग्रन्थः।—सूत्रकृतांग शी. वृत्ति पत्रांक ३९९ में उद्धृत।

[2] कुलालयाणं—'कुलानि गृहाण्यामिषान्वेषिणार्थिनो नित्यं येऽटन्ति ते कुलाटाः—मार्जाराः, कुलाटा इव कुलाटा ब्राह्मणाः। यदि वा कुलानि क्षत्रियादिगृहाणि तानि नित्यं पिण्डपातान्वेषिणां परतर्कुकाणामालयो येषां निन्द्य-जीविकोपगतानां ते कुलालयाः। —सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४००

८३१. दयाप्रधान धर्म की निन्दा और हिंसाप्रधान धर्म की प्रशंसा करने वाला जो नृप (शासक) एक भी कुशील ब्राह्मण को भोजन कराता है, वह अन्धकारयुक्त नरक में जाता है, फिर देवों (देवलोकों) में जाने की तो बात ही क्या है ?

विवेचन—पशुवध समर्थक मांसभोजी ब्राह्मणों को भोजन : शंका-समाधान—प्रस्तुत तीन सूत्र-गाथाओं में आर्द्रक कुमार के समक्ष ब्राह्मणों के द्वारा प्रस्तुत मन्तव्य एवं आर्द्रक-कुमार द्वारा किया गया उसका प्रतिवाद अंकित है ।

ब्राह्मण-मन्तव्य—'प्रतिदिन दो हजार ब्राह्मणों को भोजन कराने वाला पुण्यशाली व्यक्ति देव बनता है ।'

आर्द्रक द्वारा प्रतिवाद—(१) बिल्लो जैसी वृत्ति वाले तथा मांसादि भोजन के लिए क्षत्रियादि कुलों में घूमने वाले दो हजार शील-विहीन ब्राह्मणों को प्रतिदिन भोजन कराने वाला यजमान मांसलुब्धप्राणियों से परिपूर्ण अप्रतिष्ठान नरक में जाता है। जहाँ परमाधार्मिक नरकपालों द्वारा तीव्र यातना दी जाती है। (२) एक भी कुशील व्यक्ति को भोजन कराने वाला हिंसाप्रधान धर्म का प्रशंसक राजा तामस नरक में जाता है, देवलोक में जाने की बात कहाँ ।[1]

ब्राह्मणों को भोज और नरकगमन का रहस्य—उस युग में ब्राह्मण यज्ञ-यागादि में पशुवध करने की प्रेरणा देते थे, और स्वयं भी प्रायः मांसभोजी थे। मांसभोजन आदि की प्राप्ति के लिए वे क्षत्रिय आदि कुलों में घूमा करते थे। आचार से भी शिथिल हो गए थे। इसलिये ऐसे दाम्भिक ब्राह्मणों को भोजन कराने वाले, मांसमय भोजन करने-कराने वाले व्यक्ति को नरकगामी बताया है। मनुस्मृति आदि वैदिक धर्मग्रन्थों में भी वैडालवृत्तिक हिंसाप्रेरक ब्राह्मणों को भोजन कराने वाले तथा करने वाले दोनों को नरकगामी बताया है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी ऐसे कुमार्गप्ररूपक पशुवधादिप्रेरक ब्राह्मणों को भोजन कराने का फल नरकगति बताया है।[2]

सांख्यमतवादी एकदण्डिकों के साथ तात्त्विक चर्चा

८३२. दुहतो वि धम्मम्मि समुट्ठिया मो, अस्सिं सुठिच्चा तह एसकालं ।
आयारसीले वुइए [ऽ]ह नाणे, ण संपरायंसि विसेसमत्थि ॥४६॥

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४०० का सारांश

[2] (क) 'धर्मध्वजी सदालुब्धः छाद्मिको लोकदम्भकः ।
वैडालवृत्तिकः ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसंधिकः ॥
....ये बकव्रतिनो विप्राः ये च मार्जारलिंगिनः ।
ते पतन्त्यन्धतामिस्रे, तेन पापेन कर्मणा ॥
न वार्य्यपि प्रयच्छेत्तु वैडालव्रतिके द्विजे ।
न बकव्रतिके विप्रेनावेदविदि धर्मवित् ॥....''
—मनुस्मृति अ. ४, श्लोक ९५,९७,९८

(ख) 'ते हि भोजिता कुमार्गप्ररूपण—पशुवधादावेव कर्मोपचय-निबन्धनेऽशुभव्यापारे प्रवर्तन्ते, इत्यसत्प्रवर्तनतस्तद्भोजनस्य नरकगतिहेतुत्वमेव ।' —उत्तराध्ययन अ. १४, गा. १२ टीका

८३३. अव्वत्तरूवं पुरिसं महंतं, सणातणं अक्खयमव्वयं च ।
सव्वेसु भूतेसु वि सव्वतो सो, चंदो व्व ताराहिं समत्तरूवो ।।४७।।

८३२-८३३—(इसके पश्चात् सांख्यमतवादी एकदण्डीगण आर्द्रकमुनि से कहने लगे—) आप और हम दोनों ही धर्म में सम्यक् प्रकार से उत्थित—उद्यत हैं । (हम दोनों) भूत, वर्तमान और भविष्य, तीनों कालों में धर्म में भलीभाँति स्थित हैं । (हम दोनों के मत में) आचारशील पुरुष को ही ज्ञानी कहा गया है । आपके और हमारे दर्शन में 'संसार' (सम्पराय) के स्वरूप में कोई विशेष अन्तर नहीं है । (देखिये, आपके और हमारे मत की तुल्यता—) यह पुरुष (जीवात्मा) अव्यक्तरूप (मन और इन्द्रियों से (अगोचर) है, तथा यह सर्वलोकव्यापी सनातन (नित्य) अक्षय एवं अव्यय है । यह जीवात्मा समस्त भूतों (प्राणियों) में सम्पूर्ण रूप से उसी तरह रहता है, जिस तरह चन्द्रमा समस्त तारागण के साथ सम्पूर्ण रूप से (सम्बन्धित) रहता है ।

८३४. एवं न मिज्जंति न संसरंति, न माहणा खत्तिय वेस पेस्सा ।
कोडा य पक्खी य सिरीसिवा य, नरा य सव्वे तह देवलोगा ।।४८।।

८३४. (आर्द्रक मुनि कहते हैं—)इस प्रकार (आत्मा को एकान्त नित्य एवं सर्वव्यापक) मानने पर (सुखी, दुःखी आदि भेदों की) संगति नहीं हो सकती और जीव का (अपने कर्मानुसार नाना गतियों में) संसरण (गमनागमन) भी सिद्ध नहीं हो सकता । और न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और प्रेष्य (शुद्र) रूप भेद ही सिद्ध हो सकते हैं । तथा कीट, पक्षी, सरीसृप (सर्प-आदि) इत्यादि योनियों की विविधता भी सिद्ध नहीं हो सकती । इसी प्रकार मनुष्य, देवलोक के देव आदि सब गतियाँ भी सिद्ध नहीं होंगी ।

८३५. लोयं अजाणित्तिह केवलेणं, कहेंति जे धम्ममजाणमाणा ।
नासेंति अप्पाण परं च णट्ठा, संसार घोरम्मि अणोरपारे ।।४९।।

८३५. इस लोक को केवलज्ञान के द्वारा न जान कर (वस्तु के सत्यस्वरूप से) अनभिज्ञ जो व्यक्ति धर्म का उपदेश करते हैं, वे स्वयं नष्ट जीव अपने आप का और दूसरे का भी अपार तथा भयंकर (घोर) संसार में नाश कर देते हैं ।

८३६. लोयं विजाणंतिह केवलेणं, पुण्णेण णाणेण समाहिजुत्ता ।
धम्मं समत्तं च कहेंति जे उ, तारेंति अप्पाण परं च तिण्णा ।।५०।।

८३६. परन्तु जो व्यक्ति समाधियुक्त हैं, वे (प्रज्ञ अथवा) पूर्ण केवलज्ञान के द्वारा इस लोक को विविध प्रकार से यथावस्थित रूप से जान पाते हैं, वे ही समस्त (समग्र शुद्ध, सम्यक्) धर्म का प्रतिपादन करते हैं । वे स्वयं संसारसागर से पार हुए पुरुष दूसरों को भी (सदुपदेश देकर) संसार सागर से पार करते हैं ।

८३७. जे गरहितं ठाणमिहावसंति, जे यावि लोए चरणोववेया ।
उदाहडं तं तु समं मतीए, अहाउसो विप्परियासमेव ।।५१।।

८३७. इस लोक में जो व्यक्ति निन्दनीय स्थान का सेवन (निन्द्य आचरण) करते हैं, और जो साधक उत्तम आचरणों से युक्त हैं, उन दोनों के अनुष्ठानों (आचरणों) को असर्वज्ञ व्यक्ति अपनी बुद्धि (अपने मन या मत) से एक समान बतलाते हैं। अथवा हे आयुष्मन्! वे (शुभ आचरण करने वालों को अशुभ आचरण करने वाले और अशुभ आचरण करने वालों को शुभ आचरण करने वाले बताकर) विपरीतप्ररूपणा करते हैं।

विवेचन—सांख्यमतवादी एकदण्डिकों के साथ तात्त्विक चर्चा—प्रस्तुत ६ सूत्रगाथाओं में प्रारम्भ की दो गाथाओं में एकदण्डिकों द्वारा आर्द्रक मुनि को अपने मत में खींचने के उद्देश्य से सांख्य और जैनदर्शन की दोनों दर्शनों में प्रदर्शित की गई समानता की बातें अंकित की गई हैं, श्री आर्द्रक द्वारा तात्त्विक अन्तर के मुद्दे प्रस्तुत करके जैनदर्शन के मौलिक सिद्धान्तों की की गई प्रस्थापना का शेष गाथाओं में उल्लेख है।

एकदण्डिकों द्वारा प्रस्तुत पूर्वपक्ष के मुद्दे (१)—यम-नियम रूप धर्म को दोनों ही मानते हैं, (२) हम और आप धर्म में स्थित हैं, (३) आचारशील (यमनियमादि का आचरणकर्ता) ही उत्कृष्ट ज्ञानी है (४) संसार का आविर्भाव तिरोभावात्मक स्वरूप जैनदर्शन के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त स्वरूप (अथवा द्रव्य) रूप नित्यपर्याय रूप से अनित्य रूप के समान ही है। (५) आत्मा अव्यक्त सर्वलोकव्यापी, नित्य अक्षय अव्यय, सर्वभूतों में सम्पूर्णतः व्याप्त है।

आर्द्रक द्वारा प्रदर्शित दोनों दर्शनों का तात्त्विक अन्तर—(१) धर्म को मानते हुए भी यदि उस धर्म का निरूपण अपूर्णज्ञानी करते हैं, तो वे स्वपर को संसार के गर्त में डालकर विनष्ट करते हैं। (२) सांख्यदर्शन में केवल २५ तत्त्वों के ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति की मान्यता के कारण धर्माचरण रहित केवल तत्त्वज्ञान बघारने वाले तथा धर्माचरणयुक्त तत्त्वज्ञ, दोनों को समान माना जाता है, यह उचित नहीं। (३) सांख्य एकान्तवादी हैं, जैन अनेकान्तवादी। (४) आत्मा को सांख्य सर्वव्यापी मानते हैं, जैन मानते हैं—शरीरमात्रव्यापी। (५) आत्मा सांख्यमतानुसार कूटस्थ नित्य है, जैन मतानुसार कथञ्चित् नित्य, कथञ्चित् अनित्य है। कूटस्थ नित्य या सर्वव्यापी आत्मा आकाशवत् कभी गति नहीं कर सकता, जबकि वह देव, नरक आदि गतियों में गमनागमन करता है, कोई सुखी, कोई दुःखी कोई बालक, कोई युवक आदि अवस्थाभेद योनिभेद या जातिभेद वर्णभेद आदि कूटस्थ नित्य आत्मा में नहीं बन सकते। (६) सांख्यमान्य, संसार के नित्य स्वरूप को भी जैन दर्शन नहीं मानता, वह जगत् को उत्पाद-व्ययसहित ध्रौव्यस्वरूप मानता है। (७) जैन दर्शन केवलज्ञान के बिना मोक्ष नहीं मानता, जबकि सांख्य २५ तत्त्वों के ज्ञानमात्र से ही मोक्ष मान लेता है और वे तत्त्व भी वास्तव में तत्त्व नहीं हैं।[1]

हस्तितापसों का विचित्र अहिंसामत: आर्द्रक द्वारा प्रतिवाद

८३८. संवच्छरेणावि य एगमेगं, बाणेण मारेउ महागयं तु।
सेसाण जीवाण दयट्ठयाए, वासं वयं वित्ति पकप्पयामो ॥५२॥

८३८. (अन्त में हस्तितापस आर्द्रकमुनि से कहते हैं—) हम लोग (अपनी तापसपरम्परा[2]

---

[1] १. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४०१ से ४०३ तक का सारांश

नुसार) शेष जीवों की दया के लिए वर्ष में एक बड़े हाथी को बाण से मार कर वर्षभर उसके मांस से अपना जीवन-यापन करते हैं।

८३९. संवच्छरेणावि य एगमेगं, पाणं हणंता अणियत्तदोसा।
सेसाण जीवाण वहे ण लग्गा, सिया य थोवं गिहिणो वि तम्हा ॥५३॥

८३९. (आर्द्रकमुनि सयुक्तिक प्रतिवाद करते हुए कहते हैं—) जो पुरुष वर्षभर में भी एक (पंचेन्द्रिय) प्राणी को मारते हैं, वे भी दोषों से निवृत्त (रहित) नहीं हैं। क्योंकि ऐसा मानने पर शेष जीवों (क्षेत्र और काल से दूर प्राणियों) के वध में प्रवृत्त (संलग्न) न होने के कारण थोड़े-से (स्वल्प) जीवों को हनन करने वाले गृहस्थ भी दोषरहित क्यों नहीं माने जाएँगे?

८४०. संवच्छरेणावि या एगमेगं, पाणं हणंते समणव्वतेसु।
आयाहिते से पुरिसे अणज्जे, न तारिसा केवलिणो भवंति ॥५४॥

८४०. जो पुरुष श्रमणों के व्रत में स्थित होकर वर्षभर में एक-एक प्राणी (और वह भी पंचेन्द्रिय त्रस) को मारता है, उस पुरुष को अनार्य कहा गया है। ऐसे पुरुष केवलज्ञानी (केवलज्ञान सम्पन्न) नहीं हो पाते।

विवेचन—हस्तितापसों का अहिंसामत: आर्द्रकमुनि द्वारा प्रतिवाद—प्रस्तुत तीन सूत्र-गाथाओं में से प्रथम गाथा में हस्तितापसों की जीवों की न्यूनाधिक संख्या के आधार पर हिंसा के अल्पत्व-बहुत्व की मान्यता अंकित की है, शेष दो गाथाओं में आर्द्रक मुनि द्वारा इस विचित्र मान्यता का निराकरण करके वास्तविक अहिंसा की आराधना का किया गया संकेत अंकित किया है।

हस्तितापसों की मान्यता—अधिक जीवों के वध से अधिक और अल्पसंख्यक जीवों के वध से अल्पहिंसा होती है। वे कहते हैं—कन्दमूल फल आदि खाने वाले, या अनाज खाने वाले साधक बहुत-से स्थावर जीवों तथा उनके आश्रित अनेक जंगम जीवों की हिंसा करते हैं, भिक्षाजीवी साधक भी भिक्षा के लिए घूमते समय चींटी आदि अनेक प्राणियों का उपमर्दन करते हैं, तथा भिक्षा की प्राप्ति-अप्राप्ति में उनका चित्त रागद्वेष से मलिन भी होता है, अतः हम इन सब प्रपंचों से दूर रह कर वर्ष में एक बार सिर्फ एक बड़े हाथी को मार लेते हैं, उसके मांस से वर्ष भर निर्वाह करते हैं। अतः हमारा धर्म श्रेष्ठ है।

अहिंसा की भ्रान्ति का निराकरण—आर्द्रकमुनि अहिंसा संबंधी उस भ्रान्ति का निराकरण दो तरह से करते हैं—(१) हिंसा-अहिंसा की न्यूनाधिकता के मापदण्ड का आधार मृत जीवों की संख्या नहीं है। अपितु उसका आधार प्राणी की चेतना, इन्द्रियाँ, मन, शरीर आदि का विकास एवं मारने वाले की तीव्र-मन्द मध्यम भावना तथा अहिंसाव्रती की किसी भी जीव को न मारने की भावना एवं तदनुसार क्रिया है। अतः जो हाथी जैसे विशालकाय, विकसित चेतनाशील पंचेन्द्रिय प्राणी को मारता है, वह कथमपि घोर हिंसा दोष से रहित नहीं माना जा सकता। (२) वर्षभर में एक महाकाय प्राणी का घात करके निर्वाह करने से सिर्फ एक प्राणी का घात नहीं, अपितु उस प्राणी के आश्रित रहने वाले तथा उसके मांस, रक्त, चर्बी आदि में रहने या उत्पन्न होने वाले अनेक स्थावर-त्रस जीवों का घात होता है। इसीलिए पंचेन्द्रिय जीव का वध करने वाले घोर हिंसक, अनार्य एवं

नरकगामी हैं। वे स्वपर अहितकारी सम्यग् ज्ञान से कोसों दूर हैं। 'अगर अल्प संख्या में जीवों का वध करने वाले को अहिंसा का आराधक कहा जाएगा, तब तो मर्यादित हिंसा करने वाला गृहस्थ भी हिंसादोष रहित माना जाने लगेगा। (३) अहिंसा की पूर्ण आराधना ईर्यासमिति से युक्त भिक्षाचरी के ४२ दोषों से रहित भिक्षा द्वारा यथालाभ सन्तोषपूर्वक निर्वाह करने वाले सम्पूर्ण अहिंसा महाव्रती भिक्षुओं द्वारा ही हो सकती है।[1]

दुस्तर संसार को पार करने का उपाय : रत्नत्रयरूप धर्म

८४१. बुद्धस्स आणाए इमं समाहिं, अस्सि सुठिच्चा तिविहेण तातो।
तरिउं समुद्दं व महाभवोघं आयाणवं धम्ममुदाहरेज्जासि ॥५५॥
—त्ति बेमि ॥

॥ अद्दइज्जं : छट्ठं अज्झयणं सम्मत्तं ॥

८४१. तत्त्वदर्शी केवलज्ञानी भगवान् की आज्ञा से इस समाधियुक्त (शान्तिमय) धर्म को अंगीकार करके तथा इस धर्म में सम्यक् प्रकार से सुस्थित होकर तीनों करणों से समस्त मिथ्यादर्शनों से विरक्ति रखता हुआ साधक अपनी और दूसरों की आत्मा का त्राता बनाता है। अतः महादुस्तर समुद्र की तरह संसारसमुद्र को पार करने के लिए आदान-(सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-)रूप धर्म का निरूपण एवं ग्रहण करना चाहिए।

॥ आर्द्रकीय : छठा अध्ययन समाप्त ॥

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४०३-४०४ का सारांश

नालन्दकीय : सप्तम अध्ययन

प्राथमिक

☐ सूत्रकृतांग सूत्र (द्वि. श्रु.) के सप्तम अध्ययन का नाम 'नालन्दीय' या 'नालन्दकीय' है।

☐ इस अध्ययन का नाम 'नालन्दीय' होने के दो कारण निर्युक्तिकार एवं वृत्तिकार बताते हैं (१) नालन्दा में इस अध्ययन का अर्थ प्रतिपादन होने के कारण, और (२) नालन्दा के निकटवर्त्ती उद्यान में यह घटना या चर्चा निष्पन्न होने के कारण।

☐ नालन्दा के समीप मनोरथ नामक उद्यान में भ. महावीर के पट्टशिष्य गणधर इन्द्रभूति गौतम के साथ पार्श्वापत्यीय निर्ग्रन्थ उदक पेढालपुत्र की जो धर्मचर्चा हुई है, उसका वर्णन इस अध्ययन में होने से इसका नाम 'नालन्दीय' रखा गया है।

☐ नालन्दा उस युग में जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं में प्रसिद्ध (राजगृह की) उपनगरी थी। 'नालन्दा' का अर्थ भी गौरवपूर्ण है—जहाँ श्रमण, ब्राह्मण, परिव्राजक आदि किसी भी भिक्षाचर के लिए दान का निषेध नहीं है। राजा, श्रेणिक तथा बड़े-बड़े सामन्त, श्रेष्ठी आदि नरेन्द्रों का निवास होने के कारण इसका नाम, 'नारेन्द्र' भी प्रसिद्ध हुआ, जो मागधी उच्चारण के अनुसार 'नालेंद' और बाद में ह्रस्व के कारण नालिंद तथा 'इ' का 'अ' होने से नालंद हुआ। भगवान् महावीर के यहाँ १४ वर्षावास होने के कारण, इस उपनगरी के अतिप्रसिद्ध होने के कारण भी इस अध्ययन का नाम 'नालन्दकीय' रखा जाना स्वाभाविक है।[1]

☐ प्रस्तुत अध्ययन में सर्वप्रथम धर्मचर्चास्थल बताने के लिए राजगृह, नालन्दा, श्रमणोपासक लेप गाथापति, उसके द्वारा निर्मित शेषद्रव्या उदकशाला तथा उसके निकटवर्ती हस्तियाम वनखण्ड, तदन्तवर्ती मनोरथ उद्यान का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् श्री गौतमस्वामी और उदक निर्ग्रन्थ की धर्मचर्चा का प्रश्नोत्तर के रूप में वर्णन है। धर्मचर्चा मुख्यतया श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में है, जिसके मुख्य दो मुद्दे उदकनिर्ग्रन्थ की ओर से प्रश्न के रूप में प्रस्तुत किये गए हैं—(१) श्रमणोपासक द्वारा ग्रहण किया जाने वाला त्रसवध प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है, उसका पालन सम्भव नहीं है; क्योंकि त्रस जीव मरकर स्थावर हो जाते हैं, और स्थावर जीव मरकर त्रस। ऐसी स्थिति में त्रसस्थावर का निश्चय करना कठिन होता है। इसलिए क्या त्रस के बदले 'त्रसभूत' शब्द का प्रयोग नहीं होगा? 'त्रसभूत' का अर्थ है—वर्तमान में जो जीव त्रस-पर्याय में है। उसकी हिंसा का प्रत्याख्यान तथा (२) सभी त्रस यदि कदाचित् स्थावर हो जाएँगे तो श्रमणोपासक का त्रसवधप्रत्याख्यान निरर्थक एवं निर्विषय हो जाएगा।" श्री गौतम द्वारा अनेक युक्तियों और दृष्टान्तों द्वारा दोनों प्रश्नों का विस्तार से समाधान किया गया है। अन्त में उदक निर्ग्रन्थ भ. महावीर के चरणों में स्व-समर्पण करके पंचमहाव्रत रूप धर्म स्वीकार कर लेते हैं। यह सब रोचक वर्णन है।[2]

☐ प्रस्तुत अध्ययन सूत्र संख्या ८४२ से प्रारम्भ होकर सू. सं. ८७३ पर समाप्त होता है।

---

१. (क) सूत्र कृ. शी. वृत्ति पत्रांक ४०७ (ख) सूत्र कृ. निर्युक्ति गा. २०४, २०५

२. सूत्र कृ. मूलपाठ टिप्पण (जम्बूविजयजी) पृ. २३४ से २५८ तक

णालंदइज्जं : सत्तमं अज्झयणं

नालन्दकीय : सप्तम अध्ययन

नालन्दानिवासी लेप श्रमणोपासक और उसकी विशेषताएँ

८४२. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नगरे होत्था, रिद्धित्थिमितसमिद्धे जाव[1] पडिरूवे। तस्स णं रायगिहस्स नगरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए, एत्थ णं नालन्दा नामं बाहिरिया होत्था अणेगभवणसयसन्निविट्ठा जाव[2] पडिरूवा।

८४२. धर्मोपदेष्टा तीर्थंकर महावीर के उस काल में तथा उस समय में (उस काल के विभाग विशेष में) राजगृह नाम का नगर था। वह ऋद्ध (धनसम्पत्ति से परिपूर्ण), स्तिमित स्थिर-शासन युक्त अथवा स्वचक्र-परचक्र के भय से रहित) तथा समृद्ध (धान्य, गृह, उद्यान तथा अन्य सुख-सामग्री से पूर्ण) था, यावत् बहुत ही सुन्दर था। (इसका समस्त वर्णन औपपातिक सूत्र के नगरी-वर्णन के अनुसार जान लेना चाहिए)।

उस राजगृह नगर के बाहर उत्तरपूर्व दिशाभाग (ईशान कोण) में नालन्दा नाम की बाहिरिका—उपनगरी (अथवा पाडा या लघु ग्रामटिका) थी। वह अनेक-सैकड़ों भवनों से सुशोभित थी, यावत् (वह प्रासादीय, दर्शनीय, अभिरूप एवं) प्रतिरूप (अतिसुन्दर) थी।

८४३. तत्थ णं नालंदाए बाहिरियाए लेए नामं गाहावती होत्था, अड्ढे दित्ते वित्ते वित्थिण्णविपुलभवणसयणासणजाणवाहणाइण्णे बहुधण-बहुजातरूवरजते आओगपओगसंपउत्ते विच्छड्डितपउरभत्तपाणे बहुदासी-दास-गो-महिस-गवेलगप्पभूते बहुजणस्स अपरिभूते यावि होत्था। से णं लेह गाहावती समणोवासए यावि होत्था अभिगतजीवा-ऽजीवे जाव[3] विहरति।

८४३. उस नालन्दा नामक बाहिरिका (बाह्यप्रदेश) में लेप नामक एक गाथापति गृहपति-गृहस्थ) रहता था, वह बड़ा ही धनाढ्य, दीप्त (तेजस्वी) और प्रसिद्ध था। वह विस्तीर्ण (विशाल)

---

१. यहाँ 'जाव' शब्द से 'पडिरूवे' तक 'राजगृहनगर' का शेष वर्णन औपपातिक सूत्र में वर्णित चम्पानगरी के वर्णन की तरह समझ लेना चाहिए।

२. यहाँ 'जाव' शब्द से 'पडिरूवा' तक का वर्णन यों समझना चाहिए—
'पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा'

३. लेप श्रमणोपासक का वर्णन प्रस्तुत प्रति में 'अभिगतजीवाजीवे' से आगे 'जाव विहरति' करके छोड़ दिया है, किन्तु वृत्तिकार शीलांकाचार्य के समक्ष इसी शास्त्र के क्रियास्थान अध्ययन के ७१५वें सूत्र में वर्णित सारा पाठ था, इसलिये प्रस्तुत मूलार्थ में तदनुसार भावानुवाद किया गया है।

विपुल (अनेक) भवनों, शयन, आसन, यान (रथ, पालकी आदि) एवं वाहनों (घोड़े आदि सवारियों) से परिपूर्ण था। उसके पास प्रचुर धन सम्पत्ति व बहुत-सा सोना एवं चांदी थी। वह धनार्जन के उपायों (आयोगों) का ज्ञाता और अनेक प्रयोगों में कुशल था। उसके यहाँ से बहुत-सा आहार-पानी लोगों को वितरित किया (बांटा) जाता था। वह बहुत-से दासियों, दासों गायों, भैंसों और भेड़-बकरियों का स्वामी था। तथा अनेक लोगों से भी पराभव नहीं पाता था (दबता नहीं था)।

वह लेप नामक गाथापति श्रमणोपासक (निर्ग्रन्थ श्रमणों का उपासक) भी था। वह जीव-अजीव का ज्ञाता था। (पुण्य-पाप का तत्त्व उसे भलीभांति उपलब्ध हो गया था। वह आश्रव-संवर, वेदना, निर्जरा, अधिकरण, बन्ध और मोक्ष के तत्त्वज्ञान में कुशल था। (वह उपासकदशांग सूत्र में वर्णित श्रमणोपासक की विशेषताओं से युक्त था)। वह देवगणों से सहायता नहीं लेता था, न ही देवगण उसे धर्म से विचलित करने में समर्थ थे। वह लेप श्रमणोपासक (निर्ग्रन्थ-प्रवचन में शंकारहित) था, अन्य दर्शनों की आकांक्षा या धर्माचरण की फलाकांक्षा से दूर था, उसे धर्माचरण के फल में कोई सन्देह न था, अथवा गुणी पुरुषों की निन्दा-जुगुप्सा से दूर रहता था। वह लब्धार्थ (निर्ग्रन्थप्रवचन-रूप या सूत्रचारित्ररूप धर्म के वस्तुतत्त्व को उपलब्ध कर चुका) था, वह गृहीतार्थ (मोक्ष-मार्ग रूप अर्थ स्वीकृत कर चुका) था, वह पृष्टार्थ (विद्वानों से पूछ कर तत्त्वज्ञान प्राप्त कर चुका) था, अतएव वह विनिश्चितार्थ (विशेष रूप से पूछ कर अर्थनिश्चय कर चुका) था। वह अभिगृहीतार्थ (चित्त में अर्थ की प्रतीति कर चुका) था। धर्म या निर्ग्रन्थप्रवचन के अनुराग में उसकी हड्डियाँ और नसें (रगें) रंगी हुई थीं। (उससे धर्म के सम्बन्ध में कोई पूछता तो वह यही कहता था—'आयुष्मन्! यह निर्ग्रन्थप्रवचन ही सत्य है, यही परमार्थ है, इसके अतिरिक्त शेष सभी (दर्शन या धर्म लौकिक असर्वज्ञ कल्पित होने से) अनर्थरूप हैं। उसका स्फटिकसम निर्मल यश चारों ओर फैला हुआ था। उसके घर का मुख्यद्वार याचकों के लिए खुला रहता था। राजाओं के अन्तःपुर में भी उसका प्रवेश निषिद्ध नहीं था इतना वह (शील और अर्थ के सम्बन्ध में) विश्वस्त था। वह चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन प्रतिपूर्ण (आहार, शरीर सत्कार, अब्रह्मचर्य एवं व्यापार से निवृत्तिरूप) पोषध का सम्यक् प्रकार से पालन करता हुआ श्रावकधर्म का आचरण करता था। वह श्रमणों-निर्ग्रन्थों को तथाविध शास्त्रोक्त ४२ दोषों से रहित निर्दोष एषणीय अशन-पान-खाद्य-स्वाद्यरूप चतुर्विध के दान से प्रतिलाभित करता हुआ, बहुत से (यथागृहीत) शील (शिक्षाव्रत), गुणव्रत, तथा हिंसादि से विरमणरूप अणुव्रत, तपश्चरण, त्याग, नियम, प्रत्याख्यान एवं पोषधोपवास आदि से) अपनी आत्मा को भावित करता हुआ धर्माचरण में रत रहता था।

८४४. तस्स णं लेयस्स गाहावतिस्स नालंदाए बाहिरियाए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए एत्थ णं सेसदविया नाम उदगसाला होत्था अणेगखंभसयसन्निविट्ठा पासादीया जाव[1] पडिरूवा। तीसे णं सेसदवियाए उदगसालाए उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए, एत्थ णं हत्थिजामे नामं वणसंडे होत्था किण्हे, वण्णओ[2] वणसंडस्स।

---

[1] यहाँ 'जाव' शब्द से 'पासादीया' से 'पडिरूवा' तक का पाठ यों समझना चाहिए—
"....दरिसणिज्जा, अभिरूवा।"

[2] वनखण्ड के 'वर्णक' के लिए देखिए—औपपातिक सूत्र ३ में—
'से णं वणसंडे किण्हे किण्होभासे·······अभिरूवा पडिरूवा" तक पाठ।

८४४. उस लेप गाथापति की वहीं शेषद्रव्या नाम की एक उदकशाला थी, जो राजगृह की वाहिरिका नालन्दा के बाहर उत्तरपूर्व-दिशा में स्थित थी। वह उदकशाला (प्याऊ) अनेक प्रकार के सैकड़ों खंभों पर टिकी हुई, मनोरम एवं अतीव सुन्दर थी। उस शेषद्रव्या नामक उदकशाला के उत्तरपूर्व दिग्विभाग (ईशानकोण) में हस्तियाम नाम का एक वनखण्ड था। वह वनखण्ड (सर्वत्र हराभरा होने से) कृष्णवर्ण-सा था (इसका शेष वर्णन औपपातिक-सूत्र में किये हुए वनखण्ड के वर्णन के समान जान लेना चाहिए।)

विवेचन—नालन्दानिवासी लेप श्रमणोपासक : उसकी विशेषताएँ—उसके द्वारा निर्मित उदकशाला एवं वनखण्ड—प्रस्तुत अध्ययन के प्रारम्भ में भगवान् महावीर के युग के राजगृह नगर और तदन्तर्गत ईशानकोण में स्थित एक विशिष्ट उपनगरी नालन्दा का सजीव वर्णन किया गया है, वास्तव में राजगृह और नालन्दा भगवान् महावीर एवं तथागत बुद्ध दोनों की तपोभूमि एवं साधनाभूमि रही हैं। राजगृह को श्रमणशिरोमणि भगवान् महावीर के चौदह वर्षावासों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वहीं गणधर श्री गौतमस्वामी एवं उदकनिर्ग्रन्थ का संवाद हुआ है।

इसके पश्चात् नालन्दानिवासी गृहस्थ श्रमणोपासक 'लेप' की सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-सम्पदा का शास्त्रकार ने वर्णन किया है। इस वर्णन पर से लेप श्रमणोपासक की निर्ग्रन्थप्रवचन पर दृढ श्रद्धा, धर्मदृढ़ता, आचारशीलता तथा सबके प्रति उदारता एवं गुणग्राहकता का परिचय मिलता है।

लेप श्रमणोपासक के द्वारा बनाई हुई उदकशाला का नाम 'शेषद्रव्या' रखने के पीछे भी उसकी अल्पारम्भी-अल्पपरिग्रही एवं असंग्रहीवृत्ति परिलक्षित होती है; क्योंकि लेप गृहपति ने आवासभवन के निर्माण के बाद बची हुई सामग्री (धनराशि आदि) से उस उदकशाला का निर्माण कराया था, उदकशाला के निकट ही एक वनखण्ड उसने ले लिया था, जिसका नाम 'हस्तियाम' था। महावीरशिष्य गणधर गौतम और पार्श्वापत्य उदकनिर्ग्रन्थ का संवादस्थल यही वनखण्ड रहा है। इसलिए शास्त्रकार को इन दोनों स्थलों का वर्णन करना आवश्यक था।[1]

उदकनिर्ग्रन्थ की जिज्ञासा : गणधरगौतम की समाधानतत्परता

८४५. तंसि च णं गिहपदेसंसि भगवं गोतमे विहरति, भगवं च णं अहे आरामंसि। अहे णं उदए पेढालपुत्ते पासावच्चिज्जे नियंठे मेतज्जे गोत्तेणं जेणेव भगवं गोतमे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता भगवं गोतमं एवं वदासी—आउसंतो गोयमा! अत्थि खलु मे केइ पदेसे पुच्छियव्वे, तं च मे आउसो! अहासुयं अहादरिसियमेव वियागरेहि। सवायं[2] भगवं गोतमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वदासी—अवियाइं आउसो! सोच्चा निसम्म जाणिस्सामो।

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४०७-४०८ का सारांश

२. सवायं—'शोभनवाक् सवाया सा विद्यते यस्यः सद्वाचः। —चूर्णि मू. पा. २३७ पृ.
"सह वादेन सवादः पृष्टः, सद्वाचं वा शोभनभारतीकं वा प्रश्नं पृष्टः।"—सूत्र कृ. शी. वृत्ति पत्रांक ४०९
दोनों का भावार्थ 'मूलार्थ' मे दिया जा चुका है।

८४५. उसी वनखण्ड के गृहप्रदेश में (जहाँ घर बने हुए थे वहाँ) भगवान् गौतम गणधर (भगवान् महावीर के पट्टशिष्य इन्द्रभूति गौतम) ने (ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए) निवास (विहार) किया। (एक दिन) भगवान् गौतम उस वनखण्ड के अधोभाग में स्थित आराम (मनोरथ नामक उद्यान) में (अपने शिष्यसमुदाय सहित) विराजमान थे। इसी अवसर में मेदार्यगोत्रीय एवं भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी का शिष्य-संतान निर्ग्रन्थ उदक पेढालपुत्र जहाँ भगवान् गौतम विराजमान थे, वहाँ उनके समीप आए। उन्होंने भगवान् गौतमस्वामी के पास आकर सविनय यों कहा—"आयुष्मन् गौतम! मुझे आप से कोई प्रदेश (शंकास्पदस्थल या प्रश्न) पूछना है, (उसके सम्बन्ध में) आपने जैसा सुना है, या निश्चित किया है, वैसा मुझे विशेषवाद (युक्ति) सहित कहें।" इस प्रकार विनम्र भाषा में पूछे जाने पर भगवान् गौतम ने उदक पेढालपुत्र से यों कहा—"हे आयुष्मन्! आपका प्रश्न (पहले) सुन कर और उसके गुण-दोष का सम्यक् विचार करके यदि मैं जान जाऊंगा तो उत्तर दूंगा।"

विवेचन—उदकनिर्ग्रन्थ की जिज्ञासा—गणधर गौतम की समाधान-तत्परता—गणधर गौतम के आवास-स्थान पर उदक निर्ग्रन्थ ने आकर कुछ प्रष्टव्यस्थल के सम्बन्ध में बताने के लिए उनसे निवेदन किया, तथा श्री गौतम स्वामो ने उसी सद्भाव से समाधान करने की तैयारी बताई, इसी का वर्णन प्रस्तुत सूत्र में किया गया है।[1]

उदकनिर्ग्रन्थ की प्रत्याख्यानविषयक शंका : गौतमस्वामी द्वारा स्पष्ट समाधान

८४६. (१) सवायं उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वदासी—आउसंतो गोतमा! अत्थि खलु कुमारपुत्तिया नाम समणा निग्गंथा तुब्भागं पवयणं पवयमाणा गाहावतिं समणोवासगं एवं पच्चक्खावेंति—नन्नत्थ अभिजोएणं गाहावतीचरग्गहणविमोक्खणयाए तसेहिं पाणेहिं णिहाय दंडं। एवण्हं पच्चक्खंताणं दुपच्चक्खायं भवति, एवण्हं पच्चक्खावेमाणाणं दुपच्चक्खावियं भवइ एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा अतियरंति सयं पइण्णं, कस्स णं तं हेउं? संसारिया खलु पाणा, थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसावि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरकायातो विप्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति, तसकायातो विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं थावरकायंसि उववण्णाणं ठाणमेयं घत्तं।

(२) एवण्हं पच्चक्खंताणं सुपच्चक्खातं भवति, एवण्हं पच्चक्खावेमाणाणं सुपच्चक्खावियं भवति, एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा णातियरंति सयं पतिण्णं, णण्णत्थ अभिओगेणं गाहावतीचोरग्गहणविमोक्खणताए तसभूतेहिं पाणेहिं णिहाय दंडं। एवमेव सति भासापरक्कमे विज्जमाणे जे ते कोहा वा लोभा वा परं पच्चक्खावेंति, अयं पि णो देसे किं णो णेआउए भवति, अवियाइं आउसो गोयमा! तुब्भं पि एवं एतं रोयति?

८४६. [१] वादसहित अथवा सद्वचनपूर्वक उदक पेढालपुत्र ने भगवान् गौतम स्वामी से इस प्रकार कहा—"आयुष्मन् गौतम! कुमारपुत्र नाम के श्रमण निर्ग्रन्थ हैं, जो आपके प्रवचन का (के अनुसार) उपदेश-प्ररूपण करते हैं। जब कोई गृहस्थ श्रमणोपासक उनके समीप प्रत्याख्यान (नियम)

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ४०९ का सारांश

ग्रहण करने के लिए पहुँचता है तो वे उसे इस प्रकार प्रत्याख्यान कराते हैं—'राजा आदि के अभियोग (दबाव, या विवशीकरण) के सिवाय गाथापति-चोरविमोक्षण-न्याय से त्रस जीवों को दण्ड देने (घात करने) का त्याग है।' परन्तु जो लोग इस प्रकार से प्रत्याख्यान (नियम-ग्रहण) करते हैं, उनका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान (मिथ्याप्रत्याख्यान) हो जाता है; तथा इस रीति से जो प्रत्याख्यान करते हैं, वे भी दुष्प्रत्याख्यान करते हैं; क्योंकि इस प्रकार से दूसरे (गृहस्थ) को प्रत्याख्यान कराने वाले साधक अपनी प्रतिज्ञा का उल्लंघन करते (प्रतिज्ञा में अतिचार-दोष लगाते) हैं। प्रतिज्ञाभंग किस कारण से हो जाता है? (वह भी सुन लें;) (कारण यह है कि) सभी प्राणी संसरणशील (परिवर्तनशील-संसारी) हैं। (इस समय) जो स्थावर प्राणी हैं, वे भविष्य में त्रसरूप में उत्पन्न हो जाते हैं, तथा (इस समय) जो त्रसप्राणी हैं, वे भी (कर्मोदयवश समय पाकर) स्थावररूप में उत्पन्न हो जाते हैं। (तात्पर्य यह है कि) अनेक जीव स्थावरकाय से छूट कर त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं और त्रसकाय से छूट कर स्थावरकाय में उत्पन्न हो जाते हैं। (अत:) त्रसप्राणी जब स्थावरकाय में उत्पन्न होते हैं, तब त्रसकाय के जीवों को दण्ड न देने की प्रतिज्ञा किये उन पुरुषों द्वारा (स्थावरकाय में उत्पन्न होने से) वे जीव घात करने के योग्य (वध्य) हो जाते हैं।

[२] किन्तु जो (गृहस्थ श्रमणोपासक) इस प्रकार (आगे कहे जाने वाली रीति के अनुसार) प्रत्याख्यान करते हैं, उनका वह प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है; तथा इस प्रकार से जो (श्रमण निर्ग्रन्थ) दूसरे (गृहस्थ) को प्रत्याख्यान कराते हैं, वे भी अपनी प्रतिज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते। वह प्रत्याख्यान इस प्रकार है—'राजा आदि के अभियोग को छोड़ कर (आगार रख कर) 'गाथापति चोरग्रहण विमोचन न्याय' से वर्त्तमान में त्रसभूत (त्रसपर्याय में परिणत) प्राणियों को दण्ड देने (घात करने) का त्याग है।' इसी तरह 'त्रस' पद के बाद 'भूत' पद लगा देने से [भाषा में ऐसा पराक्रम (बल) आ जाता है कि उस (प्रत्याख्यान कर्ता) व्यक्ति का प्रत्याख्यान भंग नहीं होता।] ऐसे भाषा पराक्रम के विद्यमान होने पर भी जो क्रोध या लोभ के वश होकर दूसरे को ('त्रस' के आगे 'भूत' पद न जोड़ कर) प्रत्याख्यान कराते हैं, वे अपनी प्रतिज्ञा भंग करते हैं; ऐसा मेरा विचार है। क्या हमारा यह उपदेश (मन्तव्य) न्याय-संगत नहीं है? आयुष्मन् गौतम! क्या आपको भी हमारा यह मन्तव्य रुचिकर लगता है?

८४७. सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वदासी—नो खलु आउसो उदगा! अम्हं एयं एवं रोयति, जे ते समणा वा माहणा वा एवमाइक्खंति जाव परूवेंति नो खलु ते समणा वा निग्गंथा वा भासं भासंति, अणुतावियं खलु ते भासं भासंति, अब्भाइक्खंति खलु ते समणे समणोवासए, जेहिं वि अन्नेहिं पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं संजमयंति ताणि वि ते अब्भाइक्खंति, कस्स णं तं हेतुं? संसारिया खलु पाणा, तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं तसकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं अघत्तं।

८४७. (इस पर) भगवान् गौतम ने उदक पेढालपुत्र निर्ग्रन्थ से सद्भावयुक्तवचन, या वाद (युक्ति या अनेकान्तवाद) सहित इस प्रकार कहा—"आयुष्मन् उदक! हमें आपका इस प्रकार का ('त्रस' पद के आगे 'भूत' पद जोड़कर प्रत्याख्यान कराने का) यह मन्तव्य अच्छा नहीं लगता।

जो श्रमण या माहन इस प्रकार (आपके मन्तव्यानुसार) कहते हैं, उपदेश देते हैं या प्ररूपणा करते हैं वे श्रमण या निर्ग्रन्थ यथार्थ भाषा (भाषासमितियुक्त वाणी) नहीं बोलते, अपितु वे अनुतापिनी (सन्ताप या पश्चात्ताप उत्पन्न करने वाली) भाषा बोलते हैं। वे लोग श्रमणों और श्रमणोपासकों पर मिथ्या दोषारोपण करते हैं, तथा जो (श्रमण या श्रमणोपासक) प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों के विषय में संयम (ग्रहण) करते-कराते हैं, उन पर भी वे दोषारोपण करते हैं। किस कारण से (वह मिथ्या दोषारोपण होता है)? (सुनिये,) समस्त प्राणी परिवर्तनशील (परस्पर जन्म संक्रमण-शील संसारी) होते हैं। त्रस प्राणी स्थावर के रूप में आते हैं, इसी प्रकार स्थावर जीव भी त्रस के रूप में आते हैं। (तात्पर्य यह है—) त्रस जीव त्रसकाय को छोड़कर (कर्मोदयवश) स्थावरकाय में उत्पन्न होते हैं, तथा स्थावर जीव भी स्थावर काय का त्याग करके (कर्मोदयवश) त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं। अत: जब वे त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं, तब वे त्रसजीवघात-प्रत्याख्यानी पुरुषों द्वारा हनन करने योग्य नहीं होते।

विवेचन—उदक निर्ग्रन्थ की प्रत्याख्यान विषयक शंका एवं गौतम स्वामी का समाधान— प्रस्तुत सूत्रद्वय में से प्रथम सूत्र में उदक निर्ग्रन्थ द्वारा अपनी प्रत्याख्यानविषयक शंका तीन भागों में प्रस्तुत की गई है—

(१) अभियोगों का आगार रख कर जो श्रावक त्रसप्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान (त्याग) करते हैं, वे कर्मवशात् उन त्रसजीवों के स्थावर जीव के रूप में उत्पन्न होने पर उनका वध करते हैं, ऐसी स्थिति में वे प्रतिज्ञाभंग करते हैं, उनका प्रत्याख्यान भी दुष्प्रत्याख्यान हो जाता है।

(२) उन गृहस्थ श्रमणोपासकों को उस प्रकार का प्रत्याख्यान करना भी दुष्प्रत्याख्यान है, तथा वे साधक अपनी प्रतिज्ञा का भी अतिक्रमण करते हैं; जो उन श्रमणोपासकों को उस प्रकार से प्रत्याख्यान कराते हैं।

(३) मेरा मन्तव्य है कि 'त्रस' पद के आगे 'भूत' पद को जोड़ कर त्याग कराने से प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है, और इस पद्धति से प्रत्याख्यान कराने वाला भी दोष का भागी नहीं होता। क्या यह प्रत्याख्यानपद्धति न्यायोचित एवं आपको रुचिकर नहीं है?

द्वितीय सूत्र में श्री गौतमस्वामी ने उदकनिर्ग्रन्थ की उपर्युक्त शंका का समाधान भी तीन भागों में किया है—

(१) आपकी प्रत्याख्यान पद्धति हमें पसन्द नहीं है। अरुचि के तीन कारण ध्वनित होते हैं—(१) 'भूत' शब्द का प्रयोग निरर्थक है, पुनरुक्तिदोषयुक्त है, (२) 'भूत' शब्द सदृशार्थक होने से 'त्रससदृश' अर्थ होगा, जो अभीष्ट नहीं, और (३) भूतशब्द उपमार्थक होने से उसी अर्थ का बोधक होगा, जो निरर्थक है।

(२) इस प्रकार की प्ररूपणा करने वाले श्रमण यथार्थ भाषा नहीं बोलते, वे अनुतापिनी भाषा बोलते हैं, प्राणिहिंसा पर संयम करने-कराने वाले श्रमण—श्रमणोपासकों पर मिथ्या दोषारोपण करते हैं।

(३) श्रमणोपासक को उसी प्राणी को मारने का त्याग है, जो वर्तमान में 'त्रस' पर्याय में है, वह जीव भूतकाल में स्थावर रहा हो या वर्तमान में त्रस से स्थावर बन गया हो, उससे

उसका कोई वास्ता नहीं, न उससे उसका व्रतभंग होता है, क्योंकि कर्मवश पर्याय परिवर्तन होता रहता है।[1]

अभियोग—यहाँ अभियोग शब्द बलात् आज्ञा द्वारा या दबाव द्वारा विवश करने के संयोग (योग) के अर्थ में रूढ़ है। श्रावक को व्रत, प्रत्याख्यान, नियम या सम्यक्त्व ग्रहण करते समय इन छह अभियोगों का आगार (छूट) रखा जाता है, जैनागमों में ये छह अभियोग बताये गए हैं—(१) राजाभियोग (२) गणाभियोग, (३) बलाभियोग, (४) देवाभियोग, (५) महत्तराभियोग, (६) आजीविकाभियोग। इसी विवशपरिस्थिति के आगार को छह-छंडी आगार भी कहते हैं।[2]

गृहपति-चोरविमोक्षण न्याय—एक राजा की आज्ञा थी, समस्त नागरिक शाम को ही नगर के बाहर आकर कौमुदीमहोत्सव में भाग लें। जो नगर में ही रह जाएगा, उसे मृत्युदण्ड दिया जाएगा। एक वैश्य के छह पुत्र अपने कार्य की धुन में नगर के बाहर जाना भूल गए। सूर्यास्त होते ही नगर के सभी मुख्यद्वार बन्द कर दिए गए। प्रातःकाल वे छहों वैश्य पुत्र राजपुरुषों द्वारा पकड़ लिए गए। राजा के द्वारा मृत्युदण्ड की घोषणा सुनकर वैश्य अत्यन्त चिन्तित हो उठा। राजा से उसने छहों पुत्रों को दण्डमुक्त करने का अनुरोध किया। जब राजा ऐसा करने को तैयार न हुआ तो उसने क्रमशः पाँच, चार, तीन, दो और अन्त में वंश सुरक्षार्थ एक पुत्र को छोड़ देने की प्रार्थना की। राजा ने उसकी प्रार्थना स्वीकार करके एक पुत्र को छोड़ दिया। यह इस न्याय (दृष्टान्त) का स्वरूप है। दार्ष्टान्तिक यों है—वृद्धवैश्य अपने छहों पुत्रों को राजदण्ड से मुक्त कराना चाहता था, किन्तु जब यह शक्य न हुआ तो अन्त में उसने एक पुत्र को ही छुड़ाकर संतोष माना, इसी तरह साधु सभी प्राणियों (षट्कायिक जीवों) को दण्ड देने का प्रत्याख्यान (त्याग) कराना चाहता है, उसकी इच्छा नहीं है कि कोई भी मनुष्य किसी भी प्राणी का हनन करे; किन्तु जब प्रत्याख्यानकर्त्ता व्यक्ति सभी प्राणियों का घात करना छोड़ना नहीं चाहता या छोड़ने में अपनी असमर्थता अनुभव करता है, तब साधु उससे जितना बन सके उतना ही त्याग कराता है। श्रावक अपनी परिस्थितिवश षट्काय के जीवों में से त्रसकायिक प्राणियों के घात का त्याग (प्रत्याख्यान) कराता है। इसलिए त्रसकायिक जीवों के दण्ड (घात) का (प्रत्याख्यान) करने वाला साधु स्थावर प्राणियों के घात का समर्थक नहीं होता।[2]

उदकनिर्ग्रन्थ की भाषा में दोष—श्री गौतमस्वामी ने विविध भाषादोष की ओर उदक-निर्ग्रन्थ का ध्यान खींचा है—(१) ऐसी भाषा जिनपरम्परानुसारिणी तथा साधु के बोलने योग्य नहीं है, (२) 'त्रसभूत' पद का प्रयोग न करने वाले श्रमणों पर व्यर्थ ही प्रतिज्ञाभंग का दोषारोपण करते हैं, इससे आप उन श्रमणों एवं श्रमणोपासकों के हृदय में अनुताप पैदा करते हैं, (३) बल्कि उन पर कलंक लगा कर उन श्रमण व श्रमणोपासकों को उन-उन प्राणियों के प्रति संयम करने कराने से हतोत्साहित करते हैं, प्रत्याख्यान करने कराने से रोकते हैं, प्राणिसंयम करने वालों को संशय में डालते हैं, उनमें बुद्धिभेद पैदा करते हैं।

---

[1] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४१० से ४१२ तक का सारांश
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मू. पा. टिप्पण) पृ. २३८-२३९

[2] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४११

पाठान्तर और व्याख्यान्तर—'कुमारपुत्तिया नाम समणा' के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर है—**'कम्मारउत्तिया णाम समणोवासगा,'** व्याख्या यों है—जो कर्म (शिल्प) करता है, वह कर्मकार (शिल्पी) है, कर्मकार के पुत्र कर्मकारपुत्र और कर्मकारपुत्र की संतान कर्मकारपुत्रीय हैं, इस नाम के श्रमणोपासक।

'अणुतावियं' के बदले चूर्णिसम्मत पाठान्तर **'अणुगामियं'** है, जिसका अर्थ होता है—'संसारानुगामिनी' **'णो देसे····'** के बदले पाठान्तर—**'णो उवएसे'** है, अर्थ होता है—देश का अर्थ उपदेश है या दृष्टि है। **'णेयाउओ'**—मोक्ष के प्रति ले जाने वाला या न्याययुक्त।[1]

उदकनिर्ग्रन्थ द्वारा पुनः प्रस्तुत प्रश्न और गौतमस्वामी द्वारा प्रदत्त सटीक उत्तर

८४८. सवायं उदय पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वदासी—कयरे खलु आउसंतो गोतमा! तुब्भे वयह तसपाणा तसा आउमण्णहा? सवायं भगवं गोतमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वदासी—आउसंतो उदगा! जे तुब्भे वयह तसभूता पाणा तसभूता पाणा ते वयं वयामो तसा पाणा तसा पाणा, जे वयं वयामो तसा पाणा तसा पाणा, ते तुब्भे वयह तसभूता पाणा तसभूता पाणा, एते संति दुवे ठाणा तुल्ला एगट्ठा, किमाउसो! इमे भे सुप्पणीयतराए भवति तसभूता पाणा, तसभूता पाणा, इमे भे दुप्पणीयतराए भवति—तसा पाणा तसा पाणा? भो एगमाउसो! पडिकोसह, एक्कं अभिणंदह, अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति।

८४८. (इसके पश्चात्) उदक पेढालपुत्र ने (वादसहित या) सद्भावयुक्त वचनपूर्वक भगवान् गौतम से इस प्रकार कहा—"आयुष्मन् गौतम! वे प्राणी कौन-से हैं, जिन्हें आप त्रस कहते हैं? आप त्रस प्राणी को ही त्रस कहते हैं, या किसी दूसरे को?"

इस पर भगवान् गौतम ने भी सद्वचनपूर्वक (या सवाद) उदक पेढालपुत्र से कहा—"आयुष्मन् उदक! जिन प्राणियों को आप त्रसभूत कहते हैं, उन्हीं को हम त्रसप्राणी कहते हैं और हम जिन्हें त्रसप्राणी कहते हैं, उन्हीं को आप त्रसभूत कहते हैं। ये दोनों ही शब्द एकार्थक हैं। फिर क्या कारण है कि आप आयुष्मान् त्रसप्राणी को 'त्रसभूत' कहना युक्तियुक्त (शुद्ध या सुप्रणीततर) समझते हैं, और त्रसप्राणी को 'त्रस' कहना युक्तिसंगत (शुद्ध सुप्रणीततर) नहीं समझते; जबकि दोनों समानार्थक हैं। ऐसा करके आप एक पक्ष की निन्दा करते हैं और एक पक्ष का अभिनन्दन (प्रशंसा) करते हैं। अतः आपका यह (पूर्वोक्त) भेद न्यायसंगत नहीं है।

८४९. भगवं च णं उदाहु—संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवति—नो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगारातो अणगारियं पव्वइत्तए, वयं णं अणुपुव्वेणं गुत्तस्स

---

[1] (क) सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति ४१० से ४१३ तक
(ख) सूत्रकृतांग चूर्णि (मू. पा. टिप्पण) पृ. २३८-२३९

लिसिस्सामो, ते एवं संखं सावेंति, ते एवं संखं ठवयंति, ते एवं संखं सोवाट्ठवयंति—नन्नत्थ अभिजोएणं गाहावतीचोरग्गहणविमोक्खणयाए तसेहिं पाणेहिं निहाय दंडं, तं पि तेसिं कुसलमेव भवति।

८४९. आगे भगवान् गौतमस्वामी ने उदक पेढालपुत्र से कहा—आयुष्मन् उदक ! जगत् में कई मनुष्य ऐसे होते हैं, जो साधु के निकट आ कर उनसे पहले ही इस प्रकार कहते हैं—"भगवन् ! हम मुण्डित हो कर अर्थात्—समस्त प्राणियों को न मारने की प्रतिज्ञा लेकर गृहत्याग करके आगार धर्म से अनगारधर्म में प्रव्रजित होने (दीक्षा लेने) में अभी समर्थ नहीं हैं, किन्तु हम क्रमशः साधुत्व (गोत्र) का अंगीकार करेंगे, अर्थात्—पहले हम स्थूल (त्रस) प्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान करेंगे, उसके पश्चात् सूक्ष्म प्राणातिपात (सर्व सावद्य) का त्याग करेंगे। तदनुसार वे मन में ऐसा ही निश्चय करते हैं और ऐसा ही विचार प्रस्तुत करते हैं। तदनन्तर वे राजा आदि के अभियोग का आगार (छूट) रख कर गृहपति-चोर-विमोक्षणन्याय से त्रसप्राणियों को दण्ड देने का त्याग करते हैं। [प्रत्याख्यान कराने वाले निर्ग्रन्थ श्रमण यह जान कर कि यह व्यक्ति समस्त सावद्यों को नहीं छोड़ता है, तो जितना छोड़े उतना ही अच्छा है, उसे त्रसप्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान कराते हैं।] वह (त्रस-प्राणिवध का) त्याग भी उन (श्रमणोपासकों) के लिए अच्छा (कुशलरूप) ही होता है।

८५०. तसा वि वुच्चंति तसा तससंभारकडेण कम्मुणा, णामं च णं अब्भुवगतं भवति, तसाउयं च णं पलिक्खीणं भवति, तसकायट्ठितीया ते ततो आउयं विप्पजहंति, ते तओ आउयं विप्पजहित्ता थावरत्ताए पच्चायंति। थावरा वि वुच्चंति थावरा थावरसंभारकडेणं कम्मुणा, णामं च णं अब्भुवगतं भवति, थावराउं च णं पलिक्खीणं भवति, थावरकायट्ठितीया ते ततो आउगं विप्पजहंति, ते ततो आउगं विप्पजहित्ता भुज्जो परलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठितीया।

८५०. (द्वीन्द्रिय आदि) त्रस जीव भी त्रस सम्भारकृत कर्म (त्रसनामकर्म के अवश्यम्भावी विपाक) के कारण त्रस कहलाते हैं। और वे त्रसनामकर्म के कारण ही त्रसनाम धारण करते हैं। और जब उनकी त्रस की आयु परिक्षीण हो जाती है तथा त्रसकाय में स्थितिरूप (रहने का हेतुरूप) कर्म भी क्षीण हो जाता है, तब वे उस आयुष्य को छोड़ देते हैं; और त्रस का आयुष्य छोड़ कर वे स्थावरत्व को प्राप्त करते हैं। स्थावर (पृथ्वीकायादि एकेन्द्रिय) जीव भी स्थावरसम्भारकृत कर्म (स्थावरनामकर्म के अवश्यम्भावी विपाक—फलभोग) के कारण स्थावर कहलाते हैं; और वे स्थावर-नामकर्म के कारण ही स्थावरनाम धारण करते हैं और जब उनकी स्थावर की आयु परिक्षीण हो जाती है, तथा स्थावरकाय में उनकी स्थिति की अवधि पूर्ण हो जाती है, तब वे उस आयुष्य को छोड़ देते हैं। वहाँ से उस आयु (स्थावरायु) को छोड़ कर पुनः वे त्रसभाव को प्राप्त करते हैं। वे जीव प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं, वे महाकाय (विशाल शरीर वाले) भी होते हैं और चिरकाल तक स्थिति वाले भी।

विवेचन—उदक निर्ग्रन्थ द्वारा पुनः प्रस्तुत प्रश्न और गौतम स्वामी द्वारा प्रदत्त उत्तर— प्रस्तुत सूत्रत्रय में से प्रथम सूत्र में उदकनिर्ग्रन्थ द्वारा पुनः एक ही प्रश्न दो पहलुओं से प्रस्तुत किया है—(१) त्रस किसे कहते हैं ? (२) त्रसप्राणी को ही या अन्य को ? शेष दोनों सूत्रों में श्री गौतम

स्वामी द्वारा प्रदत्त उत्तर अंकित है—(१) जिसे आप 'त्रसभूत' कहते हैं, उसे ही हम त्रस कहते हैं। अथवा जिसे हम त्रस कहते हैं, उसे ही आप त्रसभूत कहते हैं। दोनों एकार्थक हैं। (२) अतः जो गृहस्थ अपनी शक्ति और परिस्थितिवश सिर्फ त्रसकायघात का प्रत्याख्यान करना चाहता है, और साधु जितने प्राणियों की हिंसा से निवृत्त हो उतना ही अच्छा समझकर त्रस-प्राणिहिंसा का त्याग करता है। ऐसी स्थिति के उस साधु को शेष (स्थावर) प्राणियों के घात का अनुमोदक नहीं कहा जा सकता। (३) त्रस या स्थावर जो भी प्राणी एक दूसरी जाति में उत्पन्न होते हैं, वे अपने-अपने उदय प्राप्त नामकर्म का फल भोगने के लिए अपनी कायस्थिति, आयु आदि क्षीण होने पर कभी त्रसपर्याय को छोड़ कर स्थावरपर्याय में और कभी स्थावरपर्याय को छोड़कर त्रसपर्याय में आते हैं। इससे त्रसजीवों की हिंसा का त्याग किये हुए श्रावक का व्रतभंग नहीं होता।[1]

श्री गौतमस्वामी का स्पष्ट उत्तर—जो प्राणी वर्तमान में त्रसपर्याय में हैं, वे भले ही स्थावर-पर्याय में से आए हों, उनकी हिंसा का त्याग श्रावक करेगा। परन्तु जो त्रस से स्थावर हो गए हैं, उनकी तो पर्याय ही बदल गई है, उनकी हिंसा से श्रावक का उक्त व्रतभंग नहीं होता।[2]

त्रस ही क्यों और कहाँ तक—उदक निर्ग्रन्थ के 'त्रसभूत पद क्यों नहीं? तथा त्रस कहाँ तक कहा जाए?' इन प्रश्नों का उत्तर **'णामं च णं अब्भुवगतं भवति'** तथा **'तसाउयं च णं पलिक्खीणं भवति'** इन दो वाक्यों में आ जाता है। प्रथम उत्तरवाक्य का आशय है—लौकिक और लोकोत्तर दोनों में त्रस नाम ही माना जाता है, त्रसभूत नहीं, तथा जहाँ तक त्रस का आयु (कर्म) क्षीण नहीं हुआ है, वह उत्कृष्ट ३३ सागरोपम तक एकभव की दृष्टि से सम्भव है, वहाँ तक वह त्रस ही रहता है, त्रस-आयु (कर्म) क्षीण होने पर अर्थात् त्रस की कायस्थिति समाप्त हो जाने पर उसकी त्रस-पर्याय बदल सकती है।[3]

उदक की आक्षेपात्मक शंका : गौतम का स्पष्ट समाधान

८५१. सवायं उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वदासी—आउसंतो गोतमा ! नत्थि णं से केइ परियाए जण्णं समणोवासगस्स एगपाणातिवायविरए वि दंडे निक्खित्ते, कस्स णं तं हेतुं ? संसारिया खलु पाणा, थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरकायातो विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं थावरकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं घत्तं।

८५१. (पुनः) उदक पेढालपुत्र ने वाद (युक्ति) पूर्वक भगवान् गौतम स्वामी से इस प्रकार कहा—आयुष्मन् गौतम ! (मेरी समझ से) जीव की कोई भी पर्याय ऐसी नहीं है जिसे दण्ड न दे कर श्रावक अपने एक भी प्राणी के प्राणातिपात से विरतिरूप प्रत्याख्यान को सफल कर सके! उसका कारण क्या है? (सुनिये) समस्त प्राणी परिवर्तनशील हैं, (इस कारण) कभी स्थावर प्राणी भी त्रसरूप में उत्पन्न हो जाते हैं और कभी त्रसप्राणी स्थावररूप में उत्पन्न हो जाते हैं। (ऐसी स्थिति

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४१२-४१३ का सारांश

[2] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४१४ का तात्पर्य

[3] सूत्रकृतांग चूर्णि (मू. पा. टिप्पण) पृ. २४०-२४१

में) वे सबके सब स्थावरकाय को छोड़ कर त्रसकाय में उत्पन्न हो जाते हैं, और कभी त्रसकाय को छोड़ कर स्थावरकाय में उत्पन्न होते हैं। अतः स्थावरकाय में उत्पन्न हुए सभी जीव उन (त्रसकाय-जीववध-त्यागी) श्रावकों के लिए घात के योग्य हो जाते हैं।

८५२. सवायं भगवं गोयमे उदगं पेढालपुत्तं एवं वदासी—णो खलु आउसो! अस्माकं वत्तव्वएणं, तुब्भं चेव अणुप्पवादेणं अत्थि णं से परियाए जंमि समणोवासगस्स सव्वपाणेहिं सव्वभूतेहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे निक्खित्ते, कस्स णं तं हेतुं? संसारिया खलु पाणा, तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति, थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चायंति, तसकायातो विप्पमुच्चमाणा सव्वे थावरकायंसि उववज्जंति, थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायंसि उववज्जंति, तेसिं च णं तसकायंसि उववन्नाणं ठाणमेयं अघत्तं, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया, ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति, ते अप्पतरागा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवति, इति से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जण्णं तुब्भे वा अन्नो वा एवं वदह—णत्थि णं से केइ परियाए जम्मि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते, अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति।

८५२. (इस पर) भगवान् गौतम ने उदक पेढालपुत्र से युक्तिपूर्वक (संवाद) इस प्रकार कहा—आयुष्मन् उदक! हमारे वक्तव्य (मन्तव्य) के अनुसार तो यह प्रश्न ही नहीं उठता (क्योंकि हमारा मन्तव्य यह है कि सबके सब त्रस एक ही काल में स्थावर हो जाते हैं, ऐसा न कभी हुआ है, न होगा और न है।) आपके वक्तव्य (अनुप्रवाद) के अनुसार (यह प्रश्न उठ सकता है,) परन्तु आपके सिद्धान्तानुसार थोड़ी देर के लिए मान लें कि सभी स्थावर एक ही काल में त्रस हो जाएँगे तब) भी वह (एक) पर्याय (त्रसरूप) अवश्य है, जिसके रहते (त्रसघातत्यागी) श्रमणोपासक सभी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों के घात (दण्ड देने) का त्याग सफल होता है। इसका कारण क्या है? (सुनिये,) प्राणिगण परिवर्तनशील हैं, इसलिए त्रस प्राणी जैसे स्थावर के रूप उत्पन्न होते हैं, वैसे ही स्थावर प्राणी भी त्रस के रूप उत्पन्न हो जाते हैं। अर्थात् वे सब त्रसकाय को छोड़ कर स्थावरकाय में उत्पन्न हो जाते हैं, तथैव कभी स्थावरकाय को छोड़ कर सबके सब त्रसकाय में भी उत्पन्न हो जाते हैं। अतः जब वे सब (स्थावरकाय को छोड़ कर एकमात्र) त्रसकाय में उत्पन्न हो जाते हैं, तब वह स्थान (समस्त त्रसकायीय प्राणिवर्ग) श्रावकों के घात-योग्य नहीं होता। वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं। वे विशालकाय भी होते हैं और चिरकाल तक की स्थिति वाले भी। वे प्राणी बहुत हैं, जिनमें श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सफल सुप्रत्याख्यान होता है। तथा (आपके मन्तव्यानुसार उस समय) वे प्राणी (स्थावर) होते ही नहीं जिनके लिए श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नहीं होता। इस प्रकार वह श्रावक महान् त्रसकाय के घात से उपशान्त, (स्व-प्रत्याख्यान में) उपस्थित तथा (स्थूलहिंसा से) प्रतिविरत होता है। ऐसी स्थिति में आप या दूसरे लोग, जो यह कहते हैं कि (जीवों का) एक भी पर्याय नहीं है, जिसको लेकर श्रमणोपासक का एक भी प्राणी के प्राणातिपात (दण्ड देने) से विरतिरूप प्रत्याख्यान यथार्थ एवं सफल (सविषय) हो सके। अतः आपका यह कथन न्यायसंगत नहीं है।

विवेचन—उदक की आक्षेपात्मक शंका; गौतम का स्पष्ट समाधान—प्रस्तुत सूत्रद्वय में से

प्रथम सूत्र में उदक के द्वारा प्रस्तुत आक्षेपात्मक शंका प्रस्तुत की गई है, द्वितीय सूत्र में श्री गौतम स्वामी का स्पष्ट एवं युक्तियुक्त समाधान अंकित है।

प्रत्याख्यान को निर्विषयता एवं निष्फलता का आक्षेप—उदक निर्ग्रन्थ द्वारा किये गए आक्षेप का आशय यह है कि श्रावक के प्रत्याख्यान है त्रस जीवों के हनन का, परन्तु जब सभी त्रसजीव त्रस पर्याय को छोड़कर स्थावरपर्याय में आ जाएँगे, तब उसका पूर्वोक्त प्रत्याख्यान निर्विषय एवं निरर्थक हो जाएगा। जैसे सभी नगर निवासियों के वनवासी हो जाने पर नगरनिवासी को न मारने की प्रतिज्ञा निर्विषय एवं निष्फल हो जाती है, वैसे ही सभी त्रसों के स्थावर हो जाने पर श्रावक की त्रसघात त्याग की प्रतिज्ञा भी निरर्थक एवं निर्विषय हो जाएगी। ऐसी स्थिति में एक भी त्रस पर्याय का प्राणी नहीं रहेगा, जिसे न मारकर श्रावक प्रत्याख्यान को सफल कर सके।[1]

श्री गौतमस्वामी द्वारा स्पष्ट समाधान—दो पहलुओं से दिया गया है—(१) ऐसा त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है कि जगत् के सभी त्रस, स्थावर हो जाएँ, क्योंकि यह सिद्धान्त विरुद्ध है। (२) आपके मन्तव्यानुसार ऐसा मान भी लें तो जैसे सभी त्रस स्थावर हो जाते हैं, वैसे सभी स्थावर भी त्रस हो जाते हैं, इसलिए जब सभी स्थावर त्रस हो जाएँगे, तब श्रावक का त्रसवध-त्याग सर्वप्राणी-वधत्याग विषयक होने से सफल एवं सविषय हो जाएगा। क्योंकि तब संसार में एकमात्र त्रसजीव ही होंगे जिनके वध का त्याग श्रावक करता है। इसलिए आपका यह (निर्विषयता रूप) आक्षेप न्याय-संगत नहीं है।[2]

निर्ग्रन्थों के साथ श्रीगौतमस्वामी के संवाद

८५३. भगवं च णं उदाहु—नियंठा खलु पुच्छियव्वा, आउसंतो नियंठा! इह खलु संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवति—जे इमे मुंडा भवित्ता अगारातो अणगारियं पव्वइया एसिं च णं आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, जे इमे अगारमावसंति एतेसि णं आमरणंताए दंडे णो णिक्खित्ते, केई च णं समणा जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं अप्पतरो वा भुज्जतरो वा देसं दूतिज्जित्ता अगारं वएज्जा? हंता वएज्जा। तस्स णं तं गारत्थं वहमाणस्स से पच्चक्खाणे भग्गे भवति? णेति। एवामेव समणोवासगस्स वि तसेहिं पाणेहिं दंडे णिक्खित्ते, थावरेहिं पाणेहिं दंडे नो णिक्खित्ते, तस्स णं तं थावरकायं वहेमाणस्स से पच्चक्खाणे णो भग्गे भवति, से एवमायाणह णियंठा!, सेवमायाणियव्वं।

८५३. भगवान् गौतम (इसी तथ्य को स्पष्ट करने हेतु) कहते हैं कि मुझे निर्ग्रन्थों से पूछना है—'आयुष्मान् निर्ग्रन्थो! इस जगत् में कई मनुष्य ऐसे होते हैं; वे इस प्रकार वचनबद्ध (प्रतिज्ञाबद्ध) होते हैं कि 'ये जो मुण्डित होकर, गृह त्याग कर अनगार धर्म में प्रव्रजित हैं, इनको आमरणान्त (मरणपर्यन्त) दण्ड देने (हनन करने) का मैं त्याग करता हूँ; परन्तु जो ये लोग गृहवास करते (गृहस्थ) हैं, उनको मरणपर्यन्त दण्ड देने का त्याग मैं नहीं करता। (अब मैं पूछता हूँ कि उन प्रव्रजित श्रमणों

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४१५ का सरांश

[2] वही, पत्रांक ४१६ का सारांश

में से कई श्रमण चार, पाँच, छह या दस वर्ष तक थोड़े या वहुत-से देशों में विचरण करके क्या पुनः गृहवास कर (गृहस्थ वन) सकते हैं।'

निर्ग्रन्थ—"हाँ, वे पुनः गृहस्थ बन सकते हैं।"

भगवान् गौतम—"श्रमणों के घात का त्याग करने वाले उस प्रत्याख्यानी व्यक्ति का प्रत्याख्यान क्या उस गृहस्थ वने हुए (भूतपूर्व श्रमण) व्यक्ति का वध करने से भंग हो जाता है?"

निर्ग्रन्थ—"नहीं, यह बात सम्भव (शक्य) नहीं है, (अर्थात्—साधुत्व को छोड़ कर पुनः गृहवास स्वीकार करने वाले भूतपूर्व श्रमण का वध करने से पूर्वोक्त प्रत्याख्यानी का प्रत्याख्यान भंग नहीं होता)।"

श्री गौतमस्वामी—इसी तरह श्रमणोपासक ने त्रस प्राणियों को दण्ड देने (वध करने) का त्याग किया है, स्थावर प्राणियों को दण्ड देने का त्याग नहीं किया। इसलिए स्थावरकाय में वर्त्तमान (स्थावरकाय को प्राप्त भूतपूर्व त्रस) का वध करने से भी उसका प्रत्याख्यान भंग नहीं होता। निर्ग्रन्थो! इसे इसी तरह समझो, इसे इसी तरह समझना चाहिए।

८५४. भगवं च णं उदाहु नियंठा खलु पुच्छियव्वा—आउसंतो नियंठा! इह खलु गाहावती वा गाहावतिपुत्तो वा तहप्पगारेहिं कुलेहिं आगम्म धम्मसवणवत्तियं उवसंकमेज्जा?, हंता, उवसंकमेज्जा। तेसिं च णं तहप्पगाराणं धम्मे आइक्खियव्वे?, हंता आइक्खियव्वे, किं ते तहप्पगारं धम्मं सोच्चा निसम्म एवं वदेज्जा—[1]'इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं णेयाउयं [सं]-सुद्धं सल्लकत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं निज्जाणमग्गं निव्वाणमग्गं अवितहमविसंधि सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं, एत्थं ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति, तमाणाए तहा गच्छामो तहा चिट्ठामो तहा निसीयामो तहा तुयट्टामो तहा भुंजामो तहा भासामो तहऽब्भुट्ठामो तहा उट्ठाए उट्ठेइत्ता पाणाणं जाव सत्ताणं संजमेणं संजमामो त्ति वदेज्जा? हंता वदेज्जा किं ते तहप्पगारा कप्पंति पव्वावित्तए? हंता कप्पंति। किं ते तहप्पगारा कप्पंति मुंडावेत्तए? हंता कप्पंति। किं ते तहप्पगारा कप्पंति सिक्खावेत्तए? हंता कप्पंति। किं ते तहप्पगारा कप्पंति उवट्ठावेत्तए? हंता कप्पंति। किं ते तहप्पगारा कप्पंति सिक्खावेत्तए? हंता कप्पंति। किं ते तहप्पगारा कप्पंति उवट्ठावेत्तए? हंता कप्पंति। तेसिं च णं तहप्पगाराणं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते? हंता णिक्खित्ते। से णं एतारूवेणं विहारेणं विहरमाणा जाव वासाइं चउप्पंचमाइं छद्दसमाणि वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा देसं दूइज्जित्ता अगारं वएज्जा? हंता वएज्जा। तस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते? णेति। सेज्जेसे जीवे जस्स परेणं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते, सेज्जेसे जीवे जस्स आरेणं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते, सेज्जेसे जीवे जस्स इदाणिं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते भवति, परेणं अस्संजए

---

[1] तुलना—"इणमेव निग्गंथं पावयणं सव्वदुक्खणमंतं करेंति।"
—आवश्यक चूर्णि-प्रतिक्रमणाध्ययन-पृ० २४९

आरेणं संजते, इयाणि अस्संजते, अस्संजयस्स णं सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते भवति, से एवमायाणह णियंठा !, से एवमायाणितव्वं ।

८५४. भगवान् श्री गौतमस्वामी ने आगे कहा कि निर्ग्रन्थों से पूछना चाहिए कि "आयुष्मान् निर्ग्रन्थो ! इस लोक में गृहपति या गृहपतिपुत्र उस प्रकार के उत्तम कुलों में जन्म लेकर धर्म-श्रवण के लिए साधुओं के पास आ सकते हैं ?"

निर्ग्रन्थ—"हाँ, वे आ सकते हैं ।'

श्री गौतमस्वामी—"क्या उन उत्तमकुलोत्पन्न पुरुषों को धर्म का उपदेश करना चाहिए ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, उन्हें धर्मोपदेश किया जाना चाहिए ।'

श्री गौतमस्वामी—क्या वे उस (तथाप्रकार के) धर्म को सुन पर, उस पर विचार करके ऐसा कह सकते हैं कि यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य है, अनुत्तर (सर्वश्रेष्ठ) है, केवलज्ञान को प्राप्त कराने वाला है, परिपूर्ण है, सम्यक् प्रकार से शुद्ध है, न्याययुक्त है, (या मोक्ष की ओर ले जाने वाला है) 'माया-निदान-मिथ्या-दर्शनरूपशल्य को काटने वाला है, सिद्धि का मार्ग है, मुक्तिमार्ग है, निर्याण (मुक्ति) मार्ग है, निर्वाण मार्ग है, अवितथ (यथार्थ या मिथ्यात्वरहित) है, सन्देहरहित है, समस्त दुःखों को नष्ट करने का मार्ग है; इस धर्म में स्थित होकर अनेक जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं, तथा समस्त दुःखों का अन्त करते हैं । अतः हम धर्म (निर्ग्रन्थ-प्रवचन) की आज्ञा के अनुसार, इसके द्वारा विहित मार्गानुसार चलेंगे, स्थित (खड़े) होंगे, बैठेंगे, करवट बदलेंगे, भोजन करेंगे, तथा उठेंगे । उसके विधानानुसार घर बार आदि का त्याग कर समयपालन के लिए अभ्युद्यत होंगे, तथा समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों की रक्षा के लिए संयम धारण करेंगे । क्या वे इस प्रकार कह सकते हैं ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ वे ऐसा कह सकते हैं ।'

श्री गौतमस्वामी—"क्या इस प्रकार के विचार वाले वे पुरुष प्रव्रजित करने (दीक्षा देने) योग्य हैं ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, वे प्रव्रजित करने योग्य हैं ।'

श्री गौतमस्वामी—"क्या इस प्रकार के विचार वाले वे व्यक्ति मुण्डित करने योग्य हैं ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, वे मुण्डित किये जाने योग्य हैं ।'

श्री गौतमस्वामी—"क्या वे वैसे विचार वाले पुरुष (ग्रहणरूप एवं आसेवनारूप) शिक्षा देने के योग्य हैं ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, वे शिक्षा देने के योग्य हैं ।"

श्री गौतमस्वामी—"क्या वैसे विचार वाले साधक महाव्रतारोपण (उपस्थापन) करने योग्य हैं ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, वे उपस्थान योग्य हैं ।'

श्री गौतमस्वामी—"क्या प्रव्रजित होकर उन्होंने समस्त प्राणियों, तथा सर्वसत्त्वों को दण्ड देना (हनन करना) छोड़ दिया ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, उन्होंने सर्वप्राणियों की हिंसा छोड़ दी ।'

श्री गौतमस्वामी—"वे इस प्रकार के दीक्षापर्याय (विहार) में विचरण करते हुए चार, पांच, छह या दस वर्ष तक थोड़े या बहुत-से देशों में विचरण कर क्या पुनः गृहस्थावास में जा सकते हैं ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, वे जा सकते हैं।'

श्री गौतमस्वामी—"क्या वे भूतपूर्व अनगार पुनः गृहस्थ बन जाने पर समस्त प्राणियों यावत् समस्त सत्त्वों को दण्ड देना (हनन करना) छोड़ देते हैं ?"

निर्ग्रन्थ—'नहीं ऐसा नहीं होता; (अर्थात्—वे गृहस्थ बनकर समस्त प्राणियों को दण्ड देना नहीं छोड़ते, बल्कि दण्ड देना प्रारम्भ कर देते हैं।')

श्री गौतमस्वामी—(देखो, निर्ग्रन्थो !) यह जीव वही है, जिसने दीक्षाग्रहण पूर्व समस्त प्राणियों यावत् सत्त्वों को दण्ड देने का त्याग नहीं किया था, यह जीव वही है, जिसने दीक्षाग्रहण करने के पश्चात् समस्त प्राणियों यावत् सर्वसत्त्वों को दण्ड देने का त्याग किया था, एवं यह जीव अब भी वही है, जो इस समय पुनः गृहस्थभाव अंगीकार करके समस्त प्राणियों यावत् सर्वसत्त्वों को दण्ड देने का त्यागी नहीं है। वह पहले असंयमी था, बाद में संयमी हुआ और अब पुनः असंयमी हो गया है। असंयमी जीव समस्त प्राणियों यावत् सर्वसत्त्वों को दण्ड देने (हिंसा) का त्यागी नहीं होता। अतः वह पुरुष इस समय सम्पूर्ण प्राणियों यावत् समस्त तत्त्वों के दण्ड का त्यागी नहीं है। निर्ग्रन्थो ! इसे इसी प्रकार समझो, इसे इसी प्रकार समझना चाहिए।

८५५. भगवं च णं उदाहु णियंठा खलु पुच्छितव्वा—आउसंतो णियंठा ! इह खलु परिव्वाया वा परिव्वाइयाओ वा अन्नयरेहिंतो तित्थाययणेहिंतो आगम्म धम्मसवणवत्तियं उवसंकमेज्जा ? हंता उवसंकमेज्जा। किं तेसिं तहप्पगाराणं धम्मे आइक्खियव्वे ? हंता आइक्खियव्वे। ते चेव जाव उवट्ठावेत्तए। किं ते तहप्पगारा कप्पंति संभुज्जित्तए ? हंता कप्पंति। ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा तहेव जाव वएज्जा। ते णं तहप्पगारा कप्पंति संभुज्जित्तए ? नो तिणट्ठे समट्ठे, सेज्जेसे जीवे जे परेणं नो कप्पति संभुज्जित्तए, सेज्जे से जीवे जे आरेणं कप्पति संभुज्जित्तए, सेज्जेसे जीवे जे इदाणिं णो कप्पति संभुज्जित्तए, परेणं अस्समणे, आरेणं समणे, इदाणिं अस्समणे, अस्समणेणं सद्धिं णो कप्पति समणाणं णिग्गंथाणं संभुज्जित्तए, सेवमायाणह णियंठा ? से एवमायाणितव्वं।

८५५. भगवान् श्री गौतमस्वामी ने (पुनः) कहा—"मुझे निर्ग्रन्थों से पूछना है—आयुष्मान् निर्ग्रन्थो ! (यह बताइए कि) इस लोक में परिव्राजक अथवा परिव्राजिकाएँ किन्हीं दूसरे तीर्थस्थानों (तीर्थायतनों) (में रह कर वहाँ) से चल कर धर्मश्रवण के लिए क्या निर्ग्रन्थ साधुओं के पास आ सकती हैं ?"

निर्ग्रन्थ—'हां, आ सकती हैं।'

श्री गौतमस्वामी—"क्या उन व्यक्तियों को धर्मोपदेश देना चाहिए ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, उन्हें धर्मोपदेश देना चाहिए।'

श्री गौतमस्वामी—"धर्मोपदेश सुन कर यदि उन्हें वैराग्य हो जाए तो क्या वे प्रव्रजित करने, मुण्डित करने, शिक्षा देने या महाव्रतारोहण (उपस्थापन) करने के योग्य हैं ?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, वे प्रव्रजित यावत् महाव्रतारोपण करने योग्य हैं।'

श्री गौतमस्वामी—"क्या दीक्षा ग्रहण किये हुए तथाप्रकार के (उन समान समाचारी वाले) व्यक्तियों के साथ साधु को साम्भोगिक (परस्पर वन्दना, आसन प्रदान, अभ्युत्थान, आहारादि का आदान-प्रदान इत्यादि) व्यवहार करने योग्य है?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, करने योग्य है।'

श्री गौतमस्वामी—"वे दीक्षापालन करते हुए चार, पांच, छह या दस वर्ष तक थोड़े या अधिक देशों में भ्रमण करके क्या पुनः गृहवास में जा सकते है?"

निर्ग्रन्थ—'हाँ, वे जा सकते हैं।'

श्री गौतमस्वामी—"साधुत्व छोड़कर गृहस्थपर्याय में आए हुए वैसे व्यक्तियों के साथ साधु को सांभोगिक व्यवहार रखना योग्य है?"

निर्ग्रन्थ—'नहीं, अब उनके साथ वैसा व्यवहार नहीं रखा जा सकता।'

श्री गौतमस्वामी—"आयुष्मान् निर्ग्रन्थो! वह जीव तो वही है, जिसके साथ दीक्षाग्रहण करने से पूर्व साधु को सांभोगिक व्यवहार करना उचित नहीं होता, और यह वही जीव है, जिसके साथ दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् साधु को सांभोगिक व्यवहार करना उचित (कल्पनीय) होता है, तथा यह वही जीव है, जिसने अब साधुत्व का पालन करना छोड़ दिया है, तब उसके साथ साधु को सांभोगिक व्यवहार रखना योग्य नहीं है। यह जीव पहले गृहस्थ था, तब अश्रमण था, बाद में श्रमण हो गया, और इस समय पुनः अश्रमण है। अश्रमण के साथ श्रमणनिर्ग्रन्थों को सांभोगिक व्यवहार रखना कल्पनीय (उचित) नहीं होता। निर्ग्रन्थो! इसी तरह इसे (यथार्थ) जानो, और इसी तरह इसे जानना चाहिए।"

विवेचन—निर्ग्रन्थों के साथ श्री गौतमस्वामी का संवाद—प्रस्तुत सूत्रत्रय में शास्त्रकार ने तीन दृष्टान्तात्मक संवाद प्रस्तुत किये हैं, जिनके द्वारा श्री गौतमस्वामी ने उदक आदि निर्ग्रन्थों को व्यावहारिक एवं धार्मिक दृष्टि से समझा कर तथा उन्हीं के मुख से स्वीकार करा कर त्रसकायवध-प्रत्याख्यानी श्रावक के प्रत्याख्यान से सम्बन्धित उनकी भ्रान्ति का निराकरण किया है। तीन दृष्टान्तात्मक संवाद संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) प्रथम संवाद का निष्कर्ष—कई मनुष्य ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं—"जो घरबार छोड़ कर अनगार बनेंगे, उनको हमें दण्ड देने (घात करने) का आजीवन त्याग है।" किन्तु गृहत्यागी अनगार बन जाने के बाद यदि वे कालान्तर में पुनः गृहवास करते हैं, तो पूर्वोक्त प्रतिज्ञावान् मनुष्य यदि वर्तमान में गृहस्थपर्यायप्राप्त उस (भूतपूर्व अनगार) व्यक्ति को दण्ड देता है तो उसकी प्रतिज्ञा भंग नहीं होती, वैसे ही जो श्रमणोपासक त्रसवध का प्रत्याख्यान करता है, वह वर्तमान में स्थावरपर्याय को प्राप्त (भूतपूर्व त्रस) प्राणी का वध करता है तो उसका प्रत्याख्यान भंग नहीं होता।

(२) द्वितीय संवाद का निष्कर्ष—कई गृहस्थ विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण करते हैं। दीक्षा ग्रहण से पूर्व उन्होंने समस्त प्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान नहीं किया था, दीक्षाग्रहण के बाद उन्होंने सर्वप्राणिहिंसा का प्रत्याख्यान कर लिया, परन्तु कालान्तर में दीक्षा छोड़ कर पुनः गृहस्थावास में

लौट आने पर उनके समस्त प्राणिहिंसा का प्रत्याख्यान नहीं रहता; इसी प्रकार जिस श्रमणोपासक के त्रसजीवों को हिंसा का प्रत्याख्यान है, उसके स्थावरपर्याय को प्राप्त जीवों का प्रत्याख्यान नहीं था, किन्तु जब वे जीव कर्मवशात् स्थावरपर्याय को छोड़ कर त्रसपर्याय में आ जाते हैं, तब वह उन वर्त्तमान में त्रस जीवों की हिंसा नहीं करता, किन्तु जब वे ही त्रसजीव त्रसपर्याय को छोड़कर पुनः कर्मवश स्थावरपर्याय में आ जाते हैं, तब उसके वह पूर्वोक्त प्रत्याख्यान नहीं रहता। वर्तमान में स्थावरपर्याय प्राप्त जीवों की हिंसा से उसका उक्त प्रत्याख्यान भंग नहीं होता।

(३) तृतीय संवाद का निष्कर्ष—श्रमणदीक्षा ग्रहण करने से पूर्व परिव्राजक-परिव्राजिकागण साधु के लिए सांभोगिक व्यवहारयोग्य नहीं थे, श्रमणदीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् वे साधु के लिए सांभोगिक व्यवहार-योग्य हो चुके; किन्तु कालान्तर में श्रमण-दीक्षा छोड़ कर पुनः गृहवास स्वीकार करने पर वे भूतपूर्व श्रामण्य-दीक्षित वर्तमान में गृहस्थपर्याय में होने से साधु के लिए सांभोगिक व्यवहारयोग्य नहीं रहते, इसी प्रकार जो जीव स्थावरपर्याय को प्राप्त थे, वे श्रमणोपासक के लिए हिंसा के प्रत्याख्यानयोग्य नहीं थे, बाद में कर्मवशात् जब वे स्थावरपर्याय को छोड़ कर त्रसपर्याय में आ जाते हैं, तब वे श्रमणोपासक के लिए हिंसा के प्रत्याख्यानयोग्य हो जाते हैं, किन्तु कालान्तर में यदि कर्मवशात् वे भूतपूर्व त्रस त्रसपर्याय को छोड़कर पुनः स्थावरपर्याय में आ जाते हैं, तो श्रमणोपासक के लिए वे हिंसा के प्रत्याख्यानयोग्य नहीं रहते। अर्थात्—उस समय वे जीव उसके प्रत्याख्यान के विषय नहीं रहते। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रत्याख्यान पर्याय की अपेक्षा से होता है, द्रव्य की अपेक्षा से नहीं। यानी आत्मा (जीव) तो वही होता है किन्तु उसकी पर्याय बदल जाती है। अतः श्रावक का प्रत्याख्यान वर्तमान त्रसपर्याय की अपेक्षा से है।[1]

दृष्टान्तों और युक्तियों द्वारा श्रमणोपासक-प्रत्याख्यान की निर्विषयता का निराकरण

८५६. भगवं च णं उदाहु—संतेगतिया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एतं वुत्तपुव्वं भवति—णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगारातो अणगारियं पव्वइत्तए, वयं णं चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसधं सम्मं अणुपालेमाणा विहरिस्सामो, थूलगं पाणातिवायं पच्चाइक्खिस्सामो, एवं थूलगं मुसावादं थूलगं अदिण्णादाणं थूलगं मेहुणं थूलगं परिग्गहं पच्चाइक्खिस्सामो, इच्छापरिमाणं करिस्सामो, दुविहं तिविहेणं, मा खलु मम अट्ठाए किंचि वि करेह वा कारावेह वा, तत्थ वि पच्चाइक्खिस्सामो, ते अभोच्चा अपिच्चा असिणाइत्ता आसंदिपीढियाओ पच्चोरुभित्ता, ते तहा कालगता किं वत्तव्वं सिया ? सम्मं कालगत त्ति वत्तव्वं सिया। ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया, ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति, ते अप्पयरागा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवति, इति से महयाओ० जण्णं तुब्भे वयह तं चेव जाव अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति।

८५६. भगवान् श्रीगौतमस्वामी ने (प्रकारान्तर से उदकनिर्ग्रन्थ को समझाने के लिए) कहा—"कई श्रमणोपासक बड़े शान्त होते हैं। वे साधु के सान्निध्य में आकर सर्वप्रथम यह कहते हैं—

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४१८ का सारांश

(निर्ग्रन्थ गुरुवर !) हम मुण्डित होकर गृहवास का त्याग कर अनगारधर्म में प्रव्रजित होने में समर्थ नहीं हैं। हम तो चतुर्दशी, अष्टमी और पूर्णमासी के दिन परिपूर्ण पौषधव्रत का सम्यक् अनुपालन (विधि के अनुसार पालन) करेंगे तथा हम स्थूल प्राणातिपात, स्थूल मृषावाद, स्थूल अदत्तादान, स्थूलमैथुन एवं स्थूल परिग्रह का प्रत्याख्यान (त्याग) करेंगे। हम अपनी इच्छा का परिमाण करेंगे। हम ये प्रत्याख्यान दो करण (करूँ नहीं, कराऊँ नहीं) एवं तीन योग (मन-वचन-काया) से करेंगे। (हम जब पौषधव्रत में होंगे, तब अपने कौटुम्बिकजनों से पहले कहेंगे—) "मेरे लिए कुछ भी (पचन-पाचन, स्नान, तेलमर्दन, विलेपन आदि आरम्भ) न करना और न ही कराना" तथा उस पौषध में (सर्वथा दुष्कर) अनुमति का भी प्रत्याख्यान करेंगे। पौषधस्थित वे श्रमणोपासक बिना खाए-पीए (आहार-त्याग पौषध) तथा बिना स्नान किये (शरीरसत्कारत्याग पौषध) एवं आरामकुर्सी, पलंग, या पीठिका आदि से उतर कर (ब्रह्मचर्य-पौषध या व्यापारत्याग-पौषध करके दर्भ के संस्तारक पर स्थित) (ऐसी स्थिति में सम्यक् प्रकार से पौषध का पालन करते हुए) यदि मृत्यु को प्राप्त हो जाएँ तो उनके मरण के विषय के क्या कहना होगा? यही कहना होगा कि वे अच्छी तरह से कालधर्म को प्राप्त हुए। देवलोक में उत्पत्ति होने से वे त्रस ही होते हैं। वे (प्राणधारण करने के कारण) प्राणी भी कहलाते हैं, वे (त्रसनामकर्म का उदय होने से) त्रस भी कहलाते हैं, (एक लाख योजन तक के शरीर की विक्रिया कर सकने के कारण) वे महाकाय भी होते हैं तथा (तैंतीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति होने से) वे चिरस्थितिक भी होते हैं। वे प्राणी संख्या में बहुत अधिक हैं, जिनके विषय में श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी थोड़े हैं, जिनके विषय में श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नहीं होता। इस प्रकार वह श्रमणोपासक महान् त्रसकायिकहिंसा से निवृत्त है। फिर भी आप उसके प्रत्याख्यान को निर्विषय कहते हैं। अतः आपका यह दर्शन (मन्तव्य) न्यायसंगत नहीं है।

८५७. भगवं च णं उदाहु—संतेगतिया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवति, णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगाराओ जाव पव्वइत्तए,[1] णो खलु वयं संचाएमो चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु जाव अणुपालेमाणा विहरित्तए, वयं णं अपच्छिममारणंतियसंलेहणाझूसणाझूसिया भत्तपाणपडियाइक्खिया कालं अणवकंखमाणा विहरिस्सामो, सव्वं पाणातिवायं पच्चाइक्खिस्सामो जाव सव्वं परिग्गहं पच्चाइक्खिस्सामो तिविहं तिविहेणं, मा खलु मम अट्ठाए किंचि वि जाव आसंदिपेढियाओ पच्चोरुहित्ता ते तहा कालगया किं वत्तव्वं सिया? समणा कालगता इति वत्तव्वं सिया। ते पाणा वि वुच्चंति जाव अयं पि भे देसे नो नेयाउए भवति।

८५७. (फिर) भगवान् गौतम स्वामी ने (उदय निर्ग्रन्थ से) कहा—कई श्रमणोपासक ऐसे भी होते हैं, जो पहले से इस प्रकार कहते हैं कि हम मुण्डित होकर गृहस्थावास को छोड़ कर अनगार धर्म में प्रव्रजित होने में अभी समर्थ नहीं हैं, और न ही हम चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा, इन पर्वतिथियों में प्रतिपूर्ण पौषधव्रत का पालन करने में समर्थ हैं। हम तो अन्तिम समय में (मृत्यु का समय आने पर) अपश्चिम-मारणान्तिक संलेखना-संथारा के सेवन से कर्मक्षय करने की-

---

[1] यहाँ इतना अधिक पाठ और पाठान्तर चूर्णि में है—"णो खलु वयं अणुव्वताइ मूलगुणे अणुपालेत्तए, णो खलु उत्तरगुणे, चाउद्दसट्ठमीसु पोसंध अणु. वयण्णं सम्मद्दंसणसारा अपच्छिममारणंतिय,....अणवकंखेमाणा.....।"

आराधना करते हुए आहार-पानी का सर्वथा प्रत्याख्यान (त्याग) करके दीर्घकाल तक जीने की या शीघ्र ही मरने की आकांक्षा न करते हुए विचरण करेंगे। उस समय हम तीन करण और तीन योग से समस्त प्राणातिपात, समस्त मृषावाद, समस्त अदत्तादान, समस्त मैथुन और सर्वपरिग्रह का प्रत्याख्यान (त्याग) करेंगे। (कौटुम्बिकजनों से हम इस प्रकार कहेंगे—) 'हमारे लिए (पचन-पाचनादि) कुछ भी आरम्भ मत करना और न ही कराना।' उस संल्लेखनाव्रत में हम अनुमोदन का भी प्रत्याख्यान करेंगे। इस प्रकार संल्लेखनाव्रत में स्थित साधक बिना खाए-पीए, बिना स्नानादि किये, पलंग आदि आसन से उतर कर सम्यक् प्रकार से संल्लेखना की आराधना करते हुए कालधर्म को प्राप्त हो जाएँ तो उनके मरण (काल) के विषय में क्या कहना होगा? यही कहना होगा कि उन्होंने अच्छी भावनाओं में मृत्यु पाई है। (मर कर वे देवलोकँ में देवरूप में उत्पन्न होंगे, जो कि त्रस हैं) वे प्राणी भी कहलाते हैं, वे त्रस भी कहलाते हैं, वे महाकाय और चिरस्थिति वाले भी होते हैं, इन (त्रसप्राणियों) की संख्या भी बहुत है, जिनकी हिंसा का प्रत्याख्यान श्रमणोपासक करता है, किन्तु वे प्राणी अल्पतर हैं, जिनकी हिंसा का प्रत्याख्यान वह नहीं करता है। ऐसी स्थिति में श्रमणोपासक महान् त्रसकायिक हिंसा से निवृत्त है, फिर भी आप उसके प्रत्याख्यान को निर्विषय बतलाते हैं। अतः आपका यह मन्तव्य न्यायसंगत नहीं है।

८५८. भगवं च णं उदाहु—संतेगतिया मणुस्सा भवंति महिच्छा महारंभा महापरिग्गहा अहम्मिया जाव दुप्पडियाणंदा जाव सव्वातो परिग्गहातो अप्पडिविरता जावज्जीवाए, जेहिं समणोवासगस्स आदाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते; ते ततो आउगं विप्पजहंति, ते चइत्ता भुज्जो सगमादाए दुग्गइगामिणो भवंति, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया, ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति, ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवति, आदाणसो इती से महताउ० जं णं तुब्भे वयह जाव अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति।

८५८. भगवान् श्री गौतमगणधर ने पुनः कहा—इस संसार में कई मनुष्य ऐसे होते हैं, जो बड़ी-बड़ी इच्छाओं (अपरिमित आकांक्षाओं) से युक्त होते हैं, तथा महारम्भी, महापरिग्रही एवं अधार्मिक होते हैं। यहाँ तक कि वे बड़ी कठिनता से प्रसन्न (सन्तुष्ट) किये जा सकते हैं। वे जीवनभर अधर्मानुसारी, अधर्मसेवी अतिहिंसक, अधर्मनिष्ठ यावत् समस्त परिग्रहों से अनिवृत्त होते हैं। श्रमणोपासक ने इन (त्रस) प्राणियों को दण्ड देने का प्रत्याख्यान व्रतग्रहण के समय से लेकर मृत्युपर्यन्त किया है। वे (पूर्वोक्त) अधार्मिक मृत्यु का समय आने पर अपनी आयु (एवं शरीर) का त्याग कर देते हैं और अपने पापकर्म अपने साथ (परलोक में) ले जाकर दुर्गतिगामी होते हैं। (वह दुर्गति नरक या तिर्यञ्च है। अतः वे अधार्मिक नरक या तिर्यञ्चगति में त्रसरूप में उत्पन्न होते हैं) वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं, तथा वे महाकाय और चिरस्थितिक (नरक में ३३ सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति तक होने से) भी कहलाते हैं। ऐसे त्रसप्राणी संख्या में बहुत अधिक हैं, जिनके विषय में श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है, वे प्राणी अल्पतर हैं, जिनके विषय में श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नहीं होता। उन (त्रस) प्राणियों को मारने का प्रत्याख्यान श्रमणोपासक व्रतग्रहण समय से लेकर मरण-पर्यन्त करता है। इस प्रकार से श्रमणोपासक उस महती त्रसप्राणिहिंसा वे विरत हैं,

फिर भी आप श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बतलाते हैं। आपका यह मन्तव्य न्याययुक्त नहीं है।

८५९. भगवं च णं उयाहु—संतेगतिया मणुस्सा भवंति अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुआ जाव सव्वाओ परिग्गहातो पडिविरया जावज्जीवाए जेहिं समणोवासगस्स आदाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते ततो आउगं विप्पजहंति, ते ततो भुज्जो सगमादाए सोग्गतिगामिणो भवंति, ते पाणा वि वुच्चंति जाव णो णेयाउए भवति।

८५९. भगवान् श्री गौतम आगे कहने लगे—इस विश्व में ऐसे भी शान्तिप्रधान मनुष्य होते हैं, जो आरम्भ एवं परिग्रह से सर्वथा रहित हैं, धार्मिक हैं, धर्म का अनुसरण करते हैं या धर्माचरण करने की अनुज्ञा देते हैं। वे सब प्रकार के प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से तीन करण; तीन योग से जीवनपर्यन्त विरत रहते हैं। उन प्राणियों (महाव्रती धर्मिष्ठ उच्च साधकों) को दण्ड देने का श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण करने के दिन से लेकर मरणपर्यन्त प्रत्याख्यान किया है। वे (पूर्वोक्त धर्मिष्ठ उच्च साधक) काल का अवसर आने पर अपनी आयु (देह) का त्याग करते हैं, फिर वे अपने पुण्य (शुभ) कर्मों को साथ लेकर स्वर्ग आदि सुगति को प्राप्त करते हैं, (वे उच्चसाधक श्रमणपर्याय में भी त्रस थे और अब देवादिपर्याय में भी त्रस हैं;) वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं, और महाकाय तथा (देवलोक में) चिरस्थितिक भी होते हैं। (उन्हें भी श्रमणोपासक दण्ड नहीं देता) अतः आपका यह कथन न्यायसंगत नहीं है कि त्रस के सर्वथा अभाव के कारण श्रमणोपासक का उक्त व्रत-प्रत्याख्यान निर्विषय हो जाता है।

८६०. भगवं च णं उदाहु—संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तंजहा—अप्पिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुया जाव एगच्चातो परिग्गहातो अप्पडिविरया जेहिं समणोवासगस्स आयोणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता भुज्जो सगमादाए सोग्गतिगामिणो भवंति, ते पाणा वि वुच्चंति जाव णो णेयाउए भवति।

८६०. भगवान् श्री गौतमस्वामी ने (अपने सिद्धान्त को स्पष्ट समझाने के लिए आगे) कहा—'इस जगत् में ऐसे भी मानव हैं, जो अल्प इच्छा वाले, अल्प आरम्भ और परिग्रह वाले, धार्मिक और धर्मानुसारी अथवा धर्माचरण की अनुज्ञा देने वाले होते हैं, वे धर्म से अपनी जीविका चलाते हैं, धर्माचरण ही उनका व्रत होता है, वे धर्म को ही अपना इष्ट मानते हैं, धर्म करके प्रसन्नता अनुभव करते हैं, वे प्राणातिपात से लेकर परिग्रह तक, एक देश से विरत होते हैं और एक देश से विरत नहीं होते, (अर्थात्—वे स्थूल प्राणातिपात आदि का प्रत्याख्यान करते हैं।) इन (पूर्वोक्त) अणुव्रती श्रमणोपासकों को दण्ड देने का प्रत्याख्यान श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण करने के दिन से मरण-पर्यन्त किया होता है। वे (अणुव्रती) काल का अवसर आने पर अपनी आयु (या देह) को छोड़ते हैं और अपने पुण्यकर्मों को साथ लेकर (परलोक में) सद्‌गति को प्राप्त करते हैं। (इस दृष्टि से वे पहले अणुव्रती मानव थे, तब भी त्रस थे और देवगति में अब देव बने, तब भी त्रस ही हुए) वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस और महाकाय भी कहलाते हैं, तथा चिरस्थितिक भी होते हैं। अतः श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान त्रसजीवों की इतनी अधिक संख्या होने से निर्विषय नहीं है, आपके द्वारा श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्यायसंगत नहीं है।

८६१. भगवं च णं उदाहु—संतेगतिया मणुस्सा भवंति, तं०—आरण्णिया आवसहिया गामणियंतिया कण्हुइरहस्सिया जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, णो बहुसंजया णो बहुपडिविरता पाण-भूत-जीव-सत्तेहिं, ते अप्पणा सच्चामोसाइं एवं विप्पडिवेदेंति—अहं ण हंतव्वे अण्णे हंतव्वा जाव कालमासे कालं किच्चा अण्णयराइं आसुरियाइं किब्बिसाइं जाव उववत्तारो हवंति, ततो विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमोरूवत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति जाव णो णेयाउए भवति।

८६१. भगवान् श्री गौतम ने फिर कहा—"इस विश्व में कई मनुष्य ऐसे भी होते हैं, जो आरण्यक (वनवासी) होते हैं, आवसथिक (कुटी, झोंपड़ी आदि बना कर रहने वाले) होते हैं, ग्राम में जाकर किसी के निमंत्रण से भोजन करते हैं, कोई किसी गुप्त रहस्य के ज्ञाता होते हैं, अथवा किसी एकान्त स्थान में रह कर साधना करते हैं। श्रमणोपासक ऐसे आरण्यक आदि को दण्ड देने (हनन करने) का त्याग, व्रतग्रहण करने के दिन से लेकर मरणपर्यन्त करता है। वे (पूर्वोक्त आरण्यक आदि) न तो संयमी होते हैं और न ही समस्त सावद्य कर्मों से निवृत्त। वे प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों की हिंसा से विरत नहीं होते। वे अपने मन से कल्पना करके लोगों को सच्ची-झूठी बात इस प्रकार कहते हैं—'मुझे नहीं मारना चाहिए, दूसरों को मारना चाहिए; हमें आज्ञा नहीं देनी चाहिए, परन्तु दूसरे प्राणियों को आज्ञा देनी चाहिए; हमें दास आदि बना कर नहीं रखना चाहिए, दूसरों को रखना चाहिए, इत्यादि।' इस प्रकार का उपदेश देने वाले ये लोग मृत्यु का अवसर आने पर मृत्यु प्राप्त करके (अज्ञानतप के प्रभाव से) किसी असुरसंज्ञकनिकाय में किल्विषी देव के रूप उत्पन्न होते हैं। (अथवा प्राणिहिंसा का उपदेश देने के कारण) वे यहाँ से शरीर छोड़ कर या तो बकरे की तरह (तिर्यञ्च योनि में) मूक रूप में उत्पन्न होते हैं, या वे तामस जीव के रूप में (नरकगति में) उत्पन्न होते हैं। (वे चाहे मनुष्य हों, देव हों या नारक, किसी भी अवस्था में त्रसरूप ही होते हैं) अतः वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी, वे महाकाय भी होते हैं और चिरस्थिति वाले भी। वे संख्या में भी बहुत होते हैं। इसलिए श्रमणोपासक का त्रसजीव को न मारने का प्रत्याख्यान निर्विषय है, आपका यह कथन न्याययुक्त नहीं है।"

८६२. भगवं च णं उदाहु—संतेगतिया पाणा दीहाउया जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो जाव णिक्खित्ते, ते पच्छामेव कालं करेंति, करेत्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति, [ते] तसा वि [वुच्चंति], ते महाकाया, ते चिरट्ठितीया, ते दीहाउया, ते बहुतरगा [पाणा] जेहिं समणोवासगस्स आयाण [सो] जाव णो णेयाउए भवति।

८६२. (इसके पश्चात्) भगवान् श्री गौतम ने कहा—'इस संसार में बहुत-से प्राणी दीर्घायु होते हैं, जिनके विषय में श्रमणोपासक व्रतग्रहण करने के दिन से लेकर मरणपर्यन्त दण्ड (हिंसा) का प्रत्याख्यान करता है। इन प्राणियों की मृत्यु पहले ही हो जाती है, और वे यहाँ से मर कर परलोक में जाते हैं। वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी; एवं वे महाकाय और चिरस्थितिक (दीर्घायु) होते हैं। वे प्राणी संख्या में भी बहुत होते हैं, इसलिए श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान इन प्राणियों की अपेक्षा से सुप्रत्याख्यान होता है। इसलिए श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान को निर्विषय कहना न्यायोचित नहीं है।

८६३. भगवं च णं उदाहु—संतेगतिया पाणा समाउश्रा जेहिं समणोवासगस्स श्रायाणसो जाव णिक्खित्ते, ते सममेव कालं करेंति, करेत्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति ते; महाकाया, ते समाउया, ते बहुतरगा जाव णो णेयाउए भवति ।

८६३. भगवान् श्री गौतमस्वामी ने (फिर) कहा—इस जगत् में वहुत-से प्राणी समायुष्क होते हैं, जिनको दण्ड देने (वध करने) का त्याग श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण करने के दिन से लेकर मृत्युपर्यन्त किया है। वे (पूर्वोक्त) प्राणी स्वयमेव मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। मर कर वे परलोक में जाते हैं। वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं श्रौर वे महाकाय भी होते हैं श्रौर समायुष्क भी। तथा ये प्राणी संख्या में वहुत होते हैं, इन प्राणियों के विषय में श्रमणोपासक का श्रहिंसाविषयक प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है। श्रतः श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान को निर्विषयक बताना न्यायसंगत नहीं है।

८६४. भगवं च णं—उदाहु—संतेगतिश्रा पाणा अप्पाउया जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो श्रामरणंताए डंडे जाव णिक्खित्ते, ते पुव्वामेव कालं करेंति, करेत्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते श्रप्पाउया, ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स पच्चक्खायं भवति, ते अप्पा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवति, इती से महया जाव णो णेआउए भवति।

८६४ः भगवान् गौतमस्वामी ने (श्रागे) कहा—इस संसार में कई प्राणी श्रल्पायु होते हैं। श्रमणोपासक व्रतग्रहण करने के दिन से लेकर मृत्युपर्यन्त जिनको दण्ड देने (हनन करने) का त्याग करता है। वे (पूर्वोक्त प्राणी श्रल्पायु होने के कारण) पहले ही मृत्यु को प्राप्त कर लेते हैं। मर कर वे परलोक में जाते हैं। वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं, महाकाय भी होते हैं श्रौर श्रल्पायु भी। जिन प्राणियों के विषय में श्रमणोपासक श्रहिंसाविषयक प्रत्याख्यान करता है, वे संख्या में बहुत हैं, जिन प्राणियों के विषय में श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान नहीं होता, वे संख्या में श्रल्प हैं। इस प्रकार श्रमणोपासक महान् त्रसकाय की हिंसा से निवृत्त है, फिर भी, श्राप लोग उसके प्रत्याख्यान को निर्विषय वताते हैं; श्रतः श्रापका यह मन्तव्य न्यायसंगत नहीं है।

८६५. भगवं च णं उदाहु—संतेगतिया समणोवासगा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवति–णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता जाव पव्वइत्तए, णो खलु वयं संचाएमो चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसधं अणुपालेत्तए णो खलु वयं संचाएमो श्रपच्छिम जाव विहरित्तए, वयं णं सामाइयं देसावकासियं पुरत्था पाईणं पडीणं दाहिणं उदीणं एत्ताव ताव सव्वपाणेहिं जाव सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते सव्वपाण-भूय-जीव-सत्तेहिं खेमंकरे अहमंसि।

(१) तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो श्रामरणंताए दंडे णिक्खित्ते ते ततो श्राउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो श्रामरणंताए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ, ते

पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंती, ते महाकाया, ते चिरट्ठितीया जाव अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति ।

(२) तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो जाव दंडे णिक्खित्ते ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते, ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते चिरट्ठिइया जाव अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति ।

(३) तत्थ जे ते आरेणं तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ परेणं जे तस-थावरपाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए [दंडे णिक्खित्ते] तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खातं भवति, ते पाणा वि जाव अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति ।

(४) तत्थ जे ते आरेणं थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते, ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चखातं भवति, ते पाणा वि जाव अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति ।

(५) तत्थ जे ते आरेणं थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते, ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं चेव जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति ते पाणा वि जाव अयं पि भे णो णेयाउए भवति ।

(६) तत्थ जे ते आरेणं थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए णिक्खित्ते ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ परेणं चेव जे तस-थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति तेसु समणोवासगस्स सुपच्चक्खातं भवति, ते पाणा वि जाव अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति ।

(७) तत्थ जे ते परेणं तस-थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिखित्ते ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं जे तसा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो [आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते] तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति, ते पाणा वि जाव अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति ।

(८) तत्थ जे ते परेणं तस-थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो [आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते] ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं जे थावर पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स [सुपच्चक्खायं भवति], ते पाणा वि जाव अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति ।

(९) तत्थ जे ते परेणं तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो [आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते] ते ततो आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता ते तत्थ परेणं चेव जे तस-थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स श्रायाणसो आमरणंताए [दंडे णिक्खित्ते] तेसु पच्चायंति, तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवति, ते पाणा वि जाव अयं पि भे देसे णो णेयाउए भवति।

८६५. (अन्त में) भगवान् गौतमस्वामी ने कहा—जगत् में कई श्रमणोपासक ऐसे होते हैं, जो इस प्रकार (साधु के समक्ष) प्रतिज्ञाबद्ध होते हैं—(गुरुदेव!) हम मुण्डित होकर घरबार छोड़ कर अनगार धर्म में प्रव्रजित होने में समर्थ नहीं हैं, न हम चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन प्रतिपूर्ण पौषधव्रत का विधि अनुसार पालन करने में समर्थ हैं, और न ही हम अन्तिम समय में अपश्चिममारणान्तिक संलेखना-संथारा की आराधना करते हुए विचरण करने में समर्थ हैं। हम तो सामायिक एवं देशावकाशिक व्रतों को ग्रहण करेंगे, हम प्रतिदिन प्रातःकाल पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा में (अमुक ग्राम, पर्वत, घर या कोस आदि तक के रूप में) गमनागमन की मर्यादा करके या देशावकाशिक मर्यादाओं को स्वीकार करके उस मर्यादा से बाहर के सर्वप्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को दण्ड देना छोड़ देंगे। इस प्रकार हम समस्त प्राणियों, भूतों, जीवों और सत्त्वों के क्षेमंकर होंगे।

(१) ऐसी स्थिति में (श्रमणोपासक के व्रतग्रहण के समय) स्वीकृत मर्यादा के (अन्दर) रहने वाले जो त्रस प्राणी हैं, जिनको उसने अपने व्रतग्रहण के समय से लेकर मृत्युपर्यन्त दण्ड देने का प्रत्याख्यान किया है, वे प्राणी (मृत्यु के समय) अपनी आयु (देह) को छोड़कर श्रमणोपासक द्वारा गृहीत मर्यादा के अन्दर क्षेत्रों (प्रदेशों) में उत्पन्न होते हैं, तब भी श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान उनमें (चरितार्थ होकर) सुप्रत्याख्यान होता है। वे श्रावक की दिशामर्यादा से अन्दर के क्षेत्र में पहले भी त्रस थे, बाद में भी मर्यादा के अन्दर के क्षेत्र में त्रसरूप में उत्पन्न होते हैं, इसलिए वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं। ऐसी स्थिति में श्रमणोपासक के पूर्वोक्त प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना कथमपि न्याययुक्त नहीं है।

(२) श्रमणोपासक द्वारा गृहीत मर्यादा के अन्दर के प्रदेश में रहने वाले जो त्रस प्राणी हैं, जिनको दण्ड देना श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण करने के समय से लेकर मरणपर्यन्त छोड़ दिया है; वे जब आयु (देह) को छोड़ देते हैं और पुनः श्रावक द्वारा गृहीत उसी मर्यादा के अन्दर वाले प्रदेश में स्थावर प्राणियों में उत्पन्न होते हैं; जिनको श्रमणोपासक ने अर्थदण्ड (प्रयोजनवश हनन करने) का त्याग नहीं किया है, किन्तु उन्हें अनर्थ दण्ड (निरर्थक हनन) करने का त्याग किया है। अतः उन (स्थावरप्राणियों) को श्रमणोपासक अर्थ (प्रयोजन) वश दण्ड देता है, अनर्थ (निष्प्रयोजन) दण्ड नहीं देता। वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी कहलाते हैं। वे चिरस्थितिक भी होते हैं। अतः श्रावक का त्रसप्राणियों की हिंसा का और स्थावरप्राणियों की निरर्थक हिंसा का प्रत्याख्यान सविषय एवं सार्थक होते हुए भी उसे निर्विषय बताना न्यायोचित नहीं है।

(३) (श्रमणोपासक द्वारा गृहीत मर्यादा के) अन्दर के प्रदेश में जो त्रस प्राणी हैं, जिनको श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण के समय से लेकर मरणपर्यन्त दण्ड देने का त्याग किया है; वे मृत्यु का समय आने पर अपनी आयु (देह) को छोड़ देते हैं, वहाँ से देह छोड़ कर वे (त्रसप्राणी) निर्धारित-मर्यादा

के बाहर के प्रदेश में, जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उनके उत्पन्न होते हैं, जिनमें से त्रस प्राणियों को तो श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण के समय से लेकर आमरणान्त दण्ड देने का और स्थावर प्राणियों को निरर्थक दण्ड देने का त्याग किया होता है। अतः उन (त्रस-स्थावर) प्राणियों के सम्बन्ध में श्रमणोपासक का (किया हुआ) प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी भी कहलाते हैं यावत् चिरकाल की स्थिति वाले भी होते हैं। अतः श्रावकों के प्रत्याख्यान को निर्विषय कहना न्यायपूर्ण नहीं है।

(४) (श्रमणोपासक द्वारा निर्धारित भूमि के) अन्दर वाले प्रदेश में जो स्थावर प्राणी हैं, श्रमणोपासक ने जिनको प्रयोजनवश (सार्थक) दण्ड देने का त्याग नहीं किया है, किन्तु बिना प्रयोजन के दण्ड (अनर्थदण्ड) देने का त्याग किया है; वे स्थावरप्राणी वहाँ से अपनी आयु (देह) को छोड़ देते हैं, आयु छोड़कर श्रमणोपासक द्वारा स्वीकृत मर्यादा के अन्दर के प्रदेश में जो त्रस प्राणी हैं, जिनको दण्ड देने का श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण के समय से मरणपर्यन्त प्रत्याख्यान कर रखा है, उन (त्रस-प्राणियों) में उत्पन्न होते हैं। तब उन (पूर्वजन्म में स्थावर और वर्तमान जन्म में त्रस) प्राणियों के विषय में किया हुआ श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी भी कहलाते हैं, त्रस भी; यावत् चिरस्थितिक भी होते हैं। अतः त्रस या स्थावर प्राणियों का अभाव मान कर श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्यायसंगत नहीं है।

(५) श्रावक द्वारा स्वीकृत मर्यादा के अन्दर के क्षेत्र में जो स्थावर प्राणी हैं, जिनको सार्थक दण्ड देने का त्याग श्रमणोपासक नहीं करता अपितु वह उन्हें निरर्थक दण्ड देने का त्याग करता है। वे प्राणी आयुष्य पूर्ण होने पर उस शरीर को छोड़ देते हैं, उस शरीर को छोड़कर श्रमणोपासक द्वारा गृहीत मर्यादित भूमि के अन्दर ही जो स्थावर प्राणी हैं, जिनको श्रमणोपासक ने सार्थक दण्ड देना नहीं छोड़ा है, किन्तु निरर्थक दण्ड देने का त्याग किया है, उनमें उत्पन्न होता है। अतः इन प्राणियों के सम्बन्ध में किया हुआ श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान (सफल) होता है। वे प्राणी भी हैं, यहाँ तक कि चिरकाल की स्थिति वाले भी हैं। अतः श्रमणोपासक के (पूर्वोक्त) प्रत्याख्यान को निर्विषय कहना न्याययुक्त नहीं है।

(६) श्रावक द्वारा स्वीकृत मर्यादाभूमि के अन्दर जो स्थावर प्राणी हैं, श्रमणोपासक ने जिन की सार्थक हिंसा का त्याग नहीं किया, किन्तु निरर्थक हिंसा का त्याग किया है, वे स्थावर प्राणी वहाँ से आयुष्यक्षय होने पर शरीर छोड़ कर श्रावक द्वारा निर्धारित मर्यादाभूमि के बाहर जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं; जिनको दण्ड देने का श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण के समय से मरण तक त्याग किया हुआ है, उनमें उत्पन्न होते हैं। अतः उनके सम्बन्ध में किया हुआ श्रमणोपासक का (पूर्वोक्तपद्धति से) प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी भी कहलाते हैं, यहाँ तक कि चिरकाल की स्थिति वाले भी होते हैं। अतः श्रमणोपासक के प्रत्यात्यान को निर्विषय बताना न्याययुक्त नहीं है।

(७) श्रमणोपासक द्वारा निर्धारित मर्यादाभूमि से बाहर जो त्रस-स्थावर प्राणी हैं, जिनको व्रतग्रहण-समय से मृत्युपर्यन्त श्रमणोपासक ने दण्ड देने का त्याग कर दिया है; वे प्राणी आयुक्षीण होते ही शरीर छोड़ देते हैं; शरीर छोड़कर वे श्रमणोपासक द्वारा स्वीकृत मर्यादाभूमि के अन्दर जो त्रस प्राणी हैं, जिनको दण्ड देने का श्रमणोपासक ने व्रतारम्भ से लेकर आयुपर्यन्त त्याग किया हुआ है, उनमें उत्पन्न होते हैं। इन (पूर्वजन्म में त्रस या स्थावर, किन्तु इस जन्म में त्रस) प्राणियों के सम्बन्ध में (किया हुआ) श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान होता है। क्योंकि वे प्राणी भी कहलाते हैं,

त्रस भी तथा महाकाय भी एवं चिरस्थितिक भी होते हैं। अतः आपके द्वारा श्रमणोपासक के उक्त प्रत्याख्यान पर निर्विषयता का आक्षेप न्यायसंगत नहीं है।

(८) श्रमणोपासक द्वारा मर्यादित क्षेत्र के बाहर जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं, जिनको दण्ड देने का श्रमणोपासक ने व्रतग्रहणकाल से लेकर मृत्युपर्यन्त त्याग किया है; वे प्राणी वहाँ से आयुष्य पूर्ण होने पर शरीर छोड़कर श्रावक द्वारा निर्धारित मर्यादित भूमि के अन्दर जो स्थावर प्राणी हैं, जिनको श्रमणोपासक ने प्रयोजनवश दण्ड देने का त्याग नहीं किया है, किन्तु निष्प्रयोजन दण्ड देने का त्याग किया है, उनमें उत्पन्न होते हैं। अतः उन प्राणियों के सम्बन्ध में श्रमणोपासक द्वारा किया हुआ प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है। वे प्राणी भी हैं, यावत् दीर्घायु भी होते हैं। फिर भी आपके द्वारा श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान को निर्विषय कहना न्यायपूर्ण नहीं है।

(९) श्रावक द्वारा निर्धारित मर्यादाभूमि के बाहर त्रस-स्थावर प्राणी हैं, जिनको दण्ड देने का श्रमणोपासक ने व्रतग्रहणारम्भ से लेकर मरणपर्यन्त त्याग कर रखा है; वे प्राणी आयुष्यक्षय होने पर शरीर छोड़ देते हैं। शरीर छोड़कर वे उसी श्रमणोपासक द्वारा निर्धारित भूमि के बाहर ही जो त्रस-स्थावर प्राणी हैं, जिनको दण्ड देने का श्रमणोपासक ने व्रतग्रहण से मृत्युपर्यन्त त्याग किया हुआ है, उन्हीं में पुनः उत्पन्न होते हैं। अतः उन प्राणियों को लेकर श्रमणोपासक द्वारा किया गया प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है। वे प्राणी भी कहलाते हैं, यावत् चिरकाल तक स्थिति वाले भी हैं। ऐसी स्थिति में आपका यह कथन कथमपि न्याययुक्त नहीं कि श्रमणोपासक का (पूर्वोक्त) प्रत्याख्यान निर्विषय है।

८६६. भगवं च णं उदाहु—ण एतं भूयं ण एतं भव्वं ण एतं भविस्सं जण्णं तसा पाणा वोच्छिज्जिस्संति थावरा पाणा भविस्संति, थावरा पाणा वोच्छिज्जिस्संति तसा पाणा भविस्संति, अव्वोच्छिण्णेहिं तस-थावरेहिं पाणेहिं जण्णं तुब्भे वा अण्णो वा एवं वदह—णत्थि णं से केइ परियाए जाव णो णेयाउए भवति।

८६६. (अन्त में) भगवान् गौतम ने कहा—(उदक निर्ग्रन्थ!) भूतकाल में ऐसा कदापि नहीं हुआ, न वर्तमान में ऐसा होता है और न ही भविष्यकाल में ऐसा होगा कि त्रस-प्राणी सर्वथा उच्छिन्न (समाप्त) हो जाएँगे, और सब के सब प्राणी स्थावर हो जाएँगे, अथवा स्थावर प्राणी सर्वथा उच्छिन्न हो जाएँगे और वे सब के सब प्राणी त्रस हो जाएँगे। (ऐसी स्थिति में) त्रस और स्थावर प्राणियों को सर्वथा उच्छेद न होने पर भी आपका यह कथन कि कोई ऐसा पर्याय (जीव की अवस्था) नहीं है, जिसको लेकर श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान (चरितार्थ एवं सफल) हो, यावत् आपका यह मन्तव्य न्यायसंगत नहीं है।

विवेचन—दृष्टान्तों और युक्तियों द्वारा श्रमणोपासक-प्रत्याख्यान की निर्विषयता का निराकरण—प्रस्तुत दस सूत्रों (सू. ८५६ से ८६५ तक) में शास्त्रकार ने श्री गौतमस्वामी द्वारा प्रतिपादित विभिन्न पहलुओं से युक्तियों और दृष्टान्तों द्वारा श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान की निर्विषयता के निराकरण एवं सविषयता की सिद्धि का निरूपण किया है।

इन दस सूत्रों में श्रमणोपासकों के दस प्रकार के प्रत्याख्यानों का क्रमशः उल्लेख

करके उस प्रत्याख्यान की कहाँ-कहाँ किस प्रकार सविषयता एवं सफलता है, उसका प्रतिपादन किया गया है।

(१) कई श्रमणोपासक पाँच अणुव्रतों और प्रतिपूर्ण पौषध का पालन करते हैं। वे समाधिपूर्वक मृत्यु प्राप्त करके देवलोक आदि सुगतियों में जाते हैं। त्रसवध-प्रत्याख्यानी श्रमणोपासक का उनके सम्बन्ध में किया गया हिंसा विषयक प्रत्याख्यान इहलोक और परलोक दोनों जगह सफल होता है, क्योंकि इस लोक में वे त्रस हैं ही, परलोक में भी त्रस होते हैं।

(२) कई श्रमणोपासक अन्तिम समय में संल्लेखना—संथारा करके पांचों आश्रवों का सर्वथा प्रत्याख्यान करते हैं, वे भी मर कर सुगति में जाते हैं, दोनों जगह त्रस होने के नाते त्रसवध-प्रत्याख्यानी श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान उनके विषय में सफल होता है।

(३) कई मनुष्य महारम्भी-महापरिग्रही, तथा पांचों आश्रवों से अविरत होते हैं। वे भी मरकर नरक-तिर्यंच आदि दुर्गतियों में जाते हैं। दोनों जगह त्रस होने के नाते श्रमणोपासक का त्रसवध-प्रत्याख्यान उनके विषय में सफल होता है।

(४) कई मनुष्य निरारम्भी, निष्परिग्रही तथा पंचमहाव्रती होते हैं, वे भी यहाँ से आयुष्य छूटने पर देवलोक में उत्पन्न होते हैं। अतः दोनों जगह त्रस होने के कारण श्रमणोपासक का त्रसवध-प्रत्याख्यान उनके विषय में सफल होता है।

(५) कई मनुष्य अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही तथा देशविरत श्रावक होते हैं। वे भी मरने के बाद स्व-कर्मानुसार सुगतिगामी होते हैं। अतः उभयत्र त्रस होने के कारण श्रमणोपासक का त्रसवध-प्रत्याख्यान उनके विषय में सफल होता है।

(६) कई मनुष्य आरण्यक, आश्रमवासी (कुटीवासी), ग्रामनिमन्त्रिक या राहस्यिक (एकान्तवासी या रहस्यज्ञ) होते हैं, वे अज्ञानतप आदि के कारण मरकर या तो किल्विषिक असुरयोनि में उत्पन्न होते हैं या मूक, अन्ध या बधिर होते हैं, या अजावत् मूक पशु होते हैं। तीनों ही अवस्थाओं में वे त्रस ही रहते हैं। इस कारण श्रमणोपासक का त्रस-वध प्रत्याख्यान उनके विषय में सफल होता है।

(७) कई प्राणी दीर्घायु होते हैं, वे भी मरकर परलोक में जब त्रस प्राणी एवं महाकाय तथा दीर्घायु बनते हैं तब उभयत्र त्रस होने के नाते श्रमणोपासक का त्रसवध-प्रत्याख्यान उनके विषय में सार्थक-सविषय होता है।

(८) कई प्राणी समायुष्क होते हैं, वे भी मरकर परलोक में जब त्रस होते हैं, तब उभयत्र त्रस होने के कारण श्रमणोपासक का त्रसवध-प्रत्याख्यान उनके विषय में सार्थक-सविषय होता है।

(९) कई प्राणी अल्पायु होते हैं, वे भी मरकर परलोक में जब त्रस होते हैं, तब भी उभयत्र त्रस होने से श्रमणोपासक का त्रसवध-प्रत्याख्यान उनके विषय में सार्थक-सविषयक होता है।

(१०) कई श्रमणोपासक ऐसे होते हैं, जो न तो पर्वतिथियों में परिपूर्ण पौषध कर सकते हैं, न ही संल्लेखना-संथारा की आराधना, वे श्रावक का सामाजिक, देशावकाशिक एवं दिशापरिमाण व्रत अंगीकार करके पूर्वादि दिशाओं में निर्धारित भूमि-मर्यादा से बाहर के समस्त त्रस-स्थावर

प्राणियों के वध से निवृत्त हो जाते हैं। ऐसे श्रमणोपासक त्रसवध का तो सर्वत्र और स्थावर-वध का मर्यादित भूमि के बाहर सर्वथा प्रत्याख्यान करते हैं, किन्तु मर्यादित भूमि के अन्दर स्थावर जीवों का सार्थक दण्ड खुला रखकर उसके निरर्थक दण्ड का प्रत्याख्यान करते हैं, उनका युक्त प्रत्याख्यान निम्नोक्त ९ प्रकार के प्राणियों के विषय में सार्थक-सविषयक होता है—

(१) जो मर्यादित भूमि के अन्दर त्रस होते हैं, और मरकर उसी मर्यादित भूमि के अन्दर त्रसरूप में उत्पन्न होते हैं।

(२) जो मर्यादित भूमि के अन्दर त्रस होते हैं, किन्तु मरकर उसी मर्यादित भूमि के अन्दर स्थावर रूप में उत्पन्न होते हैं।

(३) जो मर्यादित भूमि के अन्दर त्रस होते हैं, किन्तु मरकर उस मर्यादित भूमि के बाहर त्रस या स्थावर के रूप में उत्पन्न होते हैं।

(४) जो मर्यादित भूमि के अन्दर स्थावर होते हैं, किन्तु उसी मर्यादित भूमि के अन्दर मरकर त्रस प्राणियों में उत्पन्न होते हैं।

(५) जो मर्यादित भूमि के अन्दर स्थावर होते हैं, और मरकर भी पुनः उसी मर्यादित भूमि के अन्दर स्थावरप्राणियों में उत्पन्न होते हैं।

(६) जो मर्यादित भूमि के अन्दर स्थावर होते हैं, किन्तु मरकर मर्यादित भूमि के बाहर त्रस या स्थावर प्राणियों में उत्पन्न होते हैं।

(७) जो मर्यादित भूमि के बाहर त्रस और स्थावर प्राणी होते हैं, किन्तु मरकर मर्यादित भूमि के अन्दर त्रसप्राणियों में उत्पन्न होते हैं।

(८) जो मर्यादित भूमि के बाहर त्रस और स्थावर प्राणी होते हैं, किन्तु मरकर मर्यादित भूमि के अन्दर स्थावर प्राणियों में उत्पन्न होते हैं।

(९) जो मर्यादित भूमि के बाहर त्रस अथवा स्थावर प्राणी होते हैं, और मर कर पुनः उसी मर्यादित भूमि के अन्दर त्रस अथवा स्थावर प्राणियों में उत्पन्न होते हैं।

प्रतिवाद का निष्कर्ष—(१) श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान के इतने (पूर्वोक्त) सब प्राणी विषय होते हुए भी उसे निर्विषय कहना न्यायसंगत नहीं है, (२) तीन काल में भी सबके सब त्रस एक साथ नष्ट होकर स्थावर नहीं होते, और न ही स्थावर प्राणी तीन काल में कभी एक साथ नष्ट हो कर त्रस होते हैं, (३) त्रस और स्थावर प्राणियों का सर्वथा उच्छेद कदापि नहीं होता।[1]

इन सब पहलुओं से श्री गौतमस्वामी ने उदक निर्ग्रन्थ के द्वारा श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान पर किये गए निर्विषयता के आक्षेप का सांगोपांग निराकरण करके उन्हें निरुत्तर करके स्वसिद्धान्त मानने को बाध्य कर दिया है।[2]

---

[1] सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४२० से ४२४ तक का सारांश

[2] "एवं सो उदओ अणगारो जाधे भगवता गोतमेण बहूंहि हेतुहिं निरुत्तो कतो……।"

—सूत्र कृ. चू. (मू. पा. टि.) पृ. २५४

भगवं च णं उदाहु—'भगवान्' शब्द का अर्थ वृत्तिकार ने गौतमस्वामीपरक किया है, जबकि चूर्णिकार ने 'भगवान्' का अर्थ—'तीर्थंकर' किया है। और 'च' शब्द से उनके शिष्य तथा अन्य तीर्थंकर समझ लेना चाहिए। 'उदाहु' से अभिप्राय है—श्रावक दो प्रकार के होते हैं—साभिग्रह और निरभिग्रह। यहाँ 'साभिग्रह' श्रावक की अपेक्षा से कहा गया है।[1]

'मा खलु मम अट्ठाए···तत्थ वि पच्चाइक्खिस्सामो' का तात्पर्य चूर्णिकार के अनुसार यह है—'मेरे लिए कुछ भी रांधना, पकाना, स्नान, उपमर्दन, विलेपन आदि मत करना, यह बात अपनी पत्नी या अन्य महिला आदि से कहता है। तथा गृहप्रमुख महिला दासियों या रसोई बनाने वाले रसोइयों से ऐसा संदेश देने को कहती है—मत कराना। अथवा सामायिक में स्थित व्यक्ति द्वारा जो अकर्त्तव्य है, उसका भी प्रत्याख्यान करेंगे।[2]

'ते तहा कालगता···सम्मं·······वत्तव्वं सिया' का तात्पर्य—चूर्णिकार के अनुसार इस प्रकार है—वे वैसी पोषधव्रत की स्थिति में शीघ्र प्रभावकारी किसी व्याधि या रोगाक्रमण से, उदरशूल आदि से अथवा सर्पदंश से, अथवा सर्वपौषध में भयंकर तूफान—झंझावात आदि से, या व्याघ्रादि के आक्रमण से, या दीवार के गिरने से कदाचित् कालधर्म को प्राप्त हो जाए तो क्या कहा जाएगा? यही कहा जाएगा कि सम्यक् (समाधिपूर्वक) काल-मृत्यु को प्राप्त हुआ है; यह नहीं कहा जाएगा कि बालमरणपूर्वक मृत्यु हुई है।[3]

'त्रस बहुतर, स्थावर अल्पतर' का रहस्य—वृत्तिकार के अनुसार—उदक निर्ग्रन्थ के कथनानुसार सभी स्थावर जब त्रस के रूप में उत्पन्न हो जाएँगे, तब केवल त्रस ही संसार में रह जाएँगे, जिनके वध का श्रावक प्रत्याख्यान करता है, स्थावरप्राणियों का सर्वथा अभाव हो जाएगा। अल्प शब्द यहाँ अभाववाची है। इस दृष्टि से कहा गया है कि त्रस बहुसंख्यक हैं, स्थावर सर्वथा नहीं हैं, इसलिए श्रावक का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है।[4]

---

१. (क) **'भगवं'** तित्थगरो, **'च'** शब्देन शिष्याः, ये चान्ये तीर्थंकराः'

—सूत्रकृतांग चूर्णि (मू. पा. टिप्पण) पृ. २४५

(ख) **भगवं च णं उदाहु**—गौतमस्वाम्येवाह— सूत्रकृ. शी. वृत्ति

२. (क) **मा खलु मम अट्ठाए किंचि**—रंधण-पयण-ण्हाणुम्मद्दण-विलेवणादि करेध महेलियं अण्णं वा भणति। **कारवेहित्ति**—इस्सरमहिला दासीण महाण सियाण वा संदेसगं देति। तत्थ वि पविस्सामो ति एवं पगारे संदेसए दातव्वे, अथवा यदन्यत् सामाइअकडेणाकर्त्तव्यं तत्थ वि पच्चक्खाणं करिस्सामो।'

—सूत्रकृतांग चूर्णि (मू. पा. टि.) पृ. २४५

(ख) "मदर्थं पचनपाचनादिकं पौषधस्थस्य मम कृते मा कार्षीः, तथा परेण मा कारयत, तत्राऽपि अनुमतावपि सर्वथा यदसम्भवि तत् प्रत्याख्यास्यामः।"

—सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति, पत्रांक ४२०

३. जे पुण ते तथा पोसधिया चेव कालं करेज्ज, आसुक्कार गेलण्णेण सूलादिणा अहिडक्का य, णाणु पोसधकरणेण वा सव्वपोसधे विज्जणीवातादिएण वा वग्घादीण वा कुड्डपडणेण वा ते किं ति वत्तव्वा चेव दंडणिक्खेवो। एवं

—सूत्रकृ. चूर्णि (मू. पा. टिप्पण) पृ. २४५

सम्मं कालगता, न बालमरणेनेत्यर्थः।

—सूत्र कृ. चूर्णि (मू. पा. टि.) पृ. २४६

४. सूत्र कृ. शी. वृत्ति पत्रांक ४१६

कृतज्ञताप्रकाश की प्रेरणा और उदयनिर्ग्रन्थ का जीवनपरिवर्तन

८६७. भगवं च णं उदाहु—आउसंतो उदगा ! जे खलु समणं वा माहणं वा परिभासति मे त्ति मण्णति आगमेत्ता णाणं आगमेत्ता दंसणं आगमेत्ता चरित्तं पावाणं कम्माणं अकरणयाए से खलु परलोगपलिमंथत्ताए चिट्ठइ, जे खलु समणं वा माहणं वा णो परिभासति मे त्ति मण्णति आगमेत्ता णाणं आगमेत्ता दंसणं आगमेत्ता चरित्तं पावाणं अकरणयाए से खलु परलोगविसुद्धीए चिट्ठति ।

८६७. (उदक निर्ग्रन्थ के निरुत्तर होने के बाद) भगवान् गौतम स्वामी ने उनसे कहा—"आयुष्मन् उदक ! जो व्यक्ति श्रमण अथवा माहन की निन्दा करता है वह साधुओं के प्रति मैत्री रखता हुआ भी, ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र को प्राप्त करके भी, हिंसादि पापों तथा तज्जनित पापकर्मों को न करने के लिए उद्यत वह (पण्डितम्मन्य) अपने परलोक के विघात (पलिमंथ या विलोडन) के लिए उद्यत है। (इसके विपरीत) जो व्यक्ति श्रमण या माहन की निन्दा नहीं करता किन्तु उनके साथ अपनी परम मैत्री मानता है तथा ज्ञान प्राप्त करके, दर्शन प्राप्त कर एवं चारित्र पाकर पापकर्मों को न करने के लिए उद्यत है, वह निश्चय ही अपने परलोक (सुगतिरूप या उसके कारणभूत सुसंयमरूप) की विशुद्धि के लिए उद्यत (उत्थित) है।

८६८. तते णं से उदगे पेढालपुत्ते भगवं गोयमं अणाढायमाणे जामेव दिसं पाउब्भूते तामेव दिसं संपहारेत्थ गमणाए ।

८६८. (श्री गौतम स्वामी का तात्त्विक एवं यथार्थ कथन सुनने के) पश्चात् उदक पेढालपुत्र निर्ग्रन्थ भगवान् गौतम स्वामी को आदर दिये बिना ही जिस दिशा से आये थे, उसी दिशा में जाने के लिए तत्पर हो गये।

८६९. भगवं च णं उदाहु—आउसंतो उदगा ! जे खलु तहाभूतस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा निसम्म अप्पणो चेव सुहमाए पडिलेहाए अणुत्तरं जोयक्खेमपयं । लंभिते समाणे सो वि ताव तं आढाति परिजाणति वंदति नमंसति सक्कारेइ सम्माणेइ कल्लाणं मंगलं देवयं चेतियं पज्जुवासति ।

८६९. (उदकनिर्ग्रन्थ की यह चेष्टा जान कर) भगवान् गौतम स्वामी ने (धर्मस्नेहपूर्वक) कहा—"आयुष्मन् उदक ! (श्रेष्ठ शिष्ट पुरुषों का परम्परागत आचार यह रहा कि) जो व्यक्ति (किसी भी) तथाभूत (सुचारित्र) श्रमण या माहन से एक भी आर्य (हेय तत्त्वों से दूर रखने वाला या संसारसागर से पार उतारने वाला) धार्मिक (एवं परिणाम में हितकर) सुवचन सुनकर उसे हृदयंगम करता है और अपनी सूक्ष्म (विश्लेषणकारिणी) प्रज्ञा से उनका भलीभाँति निरीक्षण-परीक्षण (समीक्षण) करके (यह निश्चित कर लेता है) कि 'मुझे इस परमहितैषी पुरुष ने सर्वोत्तम (अनुत्तर) योग (अप्राप्त की प्राप्ति), क्षेम (प्राप्त का रक्षण) रूप पद को उपलब्ध कराया है,' (तब कृतज्ञता के नाते) वह (उपकृत व्यक्ति) भी उस (उपकारी तथा योगक्षेमपद के उपदेशक) का आदर करता है, उसे अपना उपकारी मानता है, उसे वन्दन—नमस्कार करता है, उसका सत्कार—सम्मान करता है, यहाँ तक कि वह उसे कल्याणरूप, मंगलरूप, देवरूप और चैत्यरूप मान कर उसकी पर्युपासना करता है।

८७०. तते णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वदासी—एतेसि णं भंते ! पदाणं पुव्विं अण्णाणयाए असवणयाए अबोहीए अणभिगमेणं अदिट्ठाणं असुयाणं अमुयाणं अविण्णायाणं अणिगूढाणं अव्वोगडाणं अव्वोच्छिण्णाणं अणिसट्ठाणं अणिजूढाणं अणुवधारियाणं एयमट्ठं णो सद्दहितं णो पत्तियं णो रोइयं, एतेसि णं भंते ! पदाणं एण्णि जाणयाए सवणयाए बोहीए जाव उवधारियाणं एयमट्ठं सद्दहामि पत्तियामि रोएमि एवमेयं जहा णं तुब्भे वदह ।

८७०. तत्पश्चात् (गौतम स्वामी के अमृतोपम उद्गार सुनने के पश्चात्) उदक निर्ग्रन्थ ने भगवान् गौतम से कहा—"भगवन् ! मैंने ये (आप द्वारा निरूपित परमकल्याणकर योगक्षेमरूप) पद पहले कभी नहीं जाने थे, न ही सुने थे, न ही इन्हें समझे थे । मैंने इन्हें हृदयंगम नहीं किये, न इन्हें कभी देखे (स्वयंसाक्षात् उपलब्ध थे, न दूसरे से) सुने थे, इन पदों को मैंने स्मरण नहीं किया था, ये पद मेरे लिए अभी तक अज्ञात थे, इनकी व्याख्या मैंने (गुरुमुख से) नहीं सुनी थी, ये पद मेरे लिए गूढ़ थे, ये पद निःसंशय रूप से मेरे द्वारा ज्ञात या निर्धारित न थे, न ही गुरु द्वारा (विस्तृत ग्रन्थ से संक्षेप में) उद्धृत थे, न ही इन पदों के अर्थ की धारणा किसी से की थी । इन पदों में निहित अर्थ पर मैंने श्रद्धा नहीं की, प्रतीति नहीं की, और रुचि नहीं की । भंते ! इन पदों को मैंने अब (आप से) जाना है, अभी आपसे सुना है, अभी समझा है, यहाँ तक कि अभी मैंने इन पदों में निहित अर्थ की धारणा की है या तथ्य निर्धारित किया है; अतएव अब मैं (आपके द्वारा कथित) इन (पदों में निहित) अर्थों में श्रद्धा करता हूँ, प्रतीति करता हूँ, रुचि करता हूँ । यह बात वैसी ही है, जैसी आप कहते हैं ।"

८७१. तते णं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वदासी—सद्दहाहि णं अज्जो !, पत्तियाहि णं अज्जो !, रोएहि णं अज्जो !, एवमेयं जहा णं अम्हे वदामो ।

८७१. तदनन्तर (उदक निर्ग्रन्थ के शुद्धहृदय से निःसृत उद्गार तथा हृदयपरिवर्तन से प्रभावित) श्री भगवान् गौतम उदक पेढालपुत्र से इस प्रकार कहने लगे—आर्य उदक ! जैसा हम कहते हैं, (वह मनःकल्पित नहीं, अपितु सर्वज्ञवचन है अतः) उस पर पूर्ण श्रद्धा रखो । आर्य ! उन पर प्रतीति रखो, आर्य ! वैसी ही रुचि करो ।) आर्य ! मैंने जैसा तुम्हें कहा है, वह (आप्तवचन होने से) वैसा ही (सत्य—तथ्य रूप) है ।

८७२. तते णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वदासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतिए चाउज्जामातो धम्मातो पंचमहव्वतियं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।

८७२. तत्पश्चात् (अपने हृदय परिवर्तन को क्रियान्वित करने की दृष्टि से) उदकनिर्ग्रन्थ ने भगवान् गौतमस्वामी से कहा—"भंते ! अब तो यही इच्छा होती है कि मैं आपके समक्ष चातुर्याम धर्म का त्याग करके प्रतिक्रमणसहित पंच महाव्रतरूप धर्म आपके समक्ष स्वीकार करके (आपका अभिन्न—आचार-विचार में समानधर्मा होकर) विचरण करूँ ।"

८७३. तए णं भगवं गोतमे उदयं पेढालपुत्तं गहाय जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता तए णं से उदए पेढालपुत्ते समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेति, तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेत्ता वंदति नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वदासी—

इच्छामि णं भंते ! तुब्भ अंतियं चाउज्जामातो धम्मातो पंचमहव्वतियं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेहि ।

तते णं से उदए पेढालपुत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए चाउज्जामातो धम्मातो पंचमहव्वतियं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरति त्ति बेमि ।

॥ नालंदइज्जं : सत्तमं अज्झयणं सम्मत्तं ॥

॥ सूयगडंगसुत्तं : बीओ सुयक्खंधो सम्मत्तो ॥

॥ सूयगडंगसुत्तं सम्मत्तं ॥

८७३. इसके बाद (भ. महावीर की परम्परा में अपनी परम्परा के विलीनीकरण की बात सुन कर उदकनिर्ग्रन्थ की सरलता से प्रभावित) भगवान् गौतम उदक पेढालपुत्र को लेकर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहाँ पहुंचे । भगवान् के पास पहुँचते ही उनसे प्रभावित उदक निर्ग्रन्थ ने स्वेच्छा से जीवन परिवर्तन करने हेतु श्रमण भगवान् महावीर की तीन बार दाहिनी ओर से प्रदक्षिणा की, ऐसा करके फिर वन्दना की, नमस्कार किया, वन्दन-नमस्कार के पश्चात् इस प्रकार कहा—"भगवन् ! मैं आपके समक्ष चातुर्यामरूप धर्म का त्याग कर प्रतिक्रमणसहित पंचमहाव्रत वाले धर्म को स्वीकार करके विचरण करना चाहता हूँ ।"

इस पर भगवान् महावीर ने कहा "देवानुप्रिय उदक ! तुम्हें जैसा सुख हो, वैसा करो, परन्तु ऐसे शुभकार्य में प्रतिबन्ध (ढील या विलम्ब) न करो ।"

तभी (परम्परा-परिवर्तन के लिए उद्यत) उदक ने (भगवान् की अनुमति पाकर) चातुर्याम धर्म से श्रमण भगवान् महावीर से सप्रतिक्रमण पंचमहाव्रतरूप धर्म का, अंगीकार किया और (उनकी आज्ञा में) विचरण करने लगा । —ऐसा मैं कहता हूँ ।

विवेचन—कृतज्ञताप्रकाश की प्रेरणा और उदकनिर्ग्रन्थ का जीवन परिवर्तन—प्रस्तुत सात सूत्रों (सू. ८६७ से ८७३ तक) में शास्त्रकार ने उदकनिर्ग्रन्थ के निरुत्तर होने के बाद से लेकर उनके जीवनपरिवर्तन तक की कथा बहुत ही सुन्दर शब्दों में अंकित की है । उदकनिर्ग्रन्थ के जीवनपरिवर्तन तक की कथा में उतार-चढ़ाव की अनेक दशाओं का चित्रण किया गया है—

(१) श्री गौतम स्वामी द्वारा शिष्य पुरुषों के परम्परागत आचार के सन्दर्भ में परमोपकारी श्रमण-माहन के प्रति वन्दनादि द्वारा कृतज्ञताप्रकाश की उदक निर्ग्रन्थ को स्पष्ट प्रेरणा ।

(२) उदक निर्ग्रन्थ द्वारा श्री गौतमस्वामी के सयुक्तिक उत्तरों से प्रभावित होकर कृतज्ञताप्रकाश के रूप में योगक्षेम पदों की अपूर्व प्राप्ति का स्वीकार तथा इन पदों के प्रति श्रद्धा, प्रतीति और रुचि रखने की वाणी द्वारा अभिव्यक्ति ।

(३) श्री गौतमस्वामी द्वारा इन सर्वज्ञकथित पदों की सत्यता पर प्रतीति, रुचि रखने का उदक निर्ग्रन्थ को आत्मीयतापूर्वक परामर्श ।

(४) उदक निर्ग्रन्थ का हृदयपरिवर्तन, तदनुसार उनके द्वारा चातुर्यामधर्म का विसर्जन करके सप्रतिक्रमणपंचमहाव्रतरूप धर्म स्वीकार करने की इच्छा प्रदर्शित करना।

(५) उदक की इस भव्य इच्छा की पूर्ति के लिए श्री गौतमस्वामी द्वारा उन्हें अपने साथ लेकर भगवान् महावीर स्वामी के निकट जाना।

(६) भगवान् महावीर के समक्ष वन्दन-नमस्कार आदि करके उदक द्वारा सप्रतिक्रमण पंचमहाव्रतरूप धर्म स्वीकार करने की अभिलाषा व्यक्त करना।

(७) भगवान् द्वारा स्वीकृति।

(८) उदक द्वारा पंचमहाव्रतरूप धर्म का अंगीकार और भगवान् महावीर के शासन में विचरण।[1] गौतम स्वामी द्वारा उदक निर्ग्रन्थ को कृतज्ञताप्रकाश के लिए प्रेरित करने का कारण—चूर्णिकार के शब्दों में इस प्रकार है—'इस प्रकार भगवान् के द्वारा बहुत-से हेतुओं द्वारा उदक अनगार निरुत्तर कर दिया गया था, तब अन्तर से तो जैसा इन्होंने कहा, वैसा ही (सत्य) है' इस प्रकार स्वीकार करते हुए भी वह बाहर से किसी प्रकार की कायिक या वाचिक चेष्टा से यह प्रकट नहीं कर रहे थे, 'आपने जैसा कहा, वैसा ही (सत्य) है,' बल्कि इससे विरक्त होकर दुविधा में पड़ गये थे। तब भगवान् गौतम ने उन्हें (कृतज्ञताप्रकाश के लिए) ऐसे (मूलपाठ में उक्त) उद्गार कहे।'[2]

॥ नालन्दकीय : सप्तम अध्ययन समाप्त ॥

॥ सूत्रकृतांग—द्वितीय श्रुतस्कन्ध सम्पूर्ण ॥

॥ सूत्रकृतांग सम्पूर्ण ॥

□□

---

१. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ४२४ से ४२७ तक का सारांश

२. "एवं सो उदओ····निरुत्तो कतो,····बाहिरं चेट्ठं ण पउंजत्ति····वीरत्तेण दोण्हिक्को अच्छंति····गोतमे उदगं एवं वदासि।" —सूत्रकृ. चू. (मू. पा. टि.) पृ. २५४।

सूत्रकृतांग

(प्रथम श्रुतस्कंध)

परिशिष्ट

---

१. गाथाओं की अनुक्रमणिका
२. विशिष्ट शब्द सूची
३. स्मरणीय सुभाषित

परिशिष्ट १

गाथाओं की अनुक्रमणिका

गाथा सूत्राङ्क
अंतए वितिगिंछाए ६०८
अंताणि धीरा सेवंति ६२१
अंतं करेंति दुक्खाणं ६२३
अंधो अंधं पहं णिंतो ४६
अकुव्वतो णवं नत्थि ६१३
अकुसीले सया भिक्खू ४६४
अगारमावसंता वि १९
अगिद्धे सद्दफासेसु ४७१
अग्गं वणिएहिं आहियं १४५
अचयंता व लूहेण २०२
अट्ठापदं ण सिक्खेज्जा ४५३
अणागयमपस्संता २३८
अणासिता नाम महासियाला ३४६
अणिहे सहिए सुसंवुडे १४०
अणुगच्छमाणे वितहं भिजाणे ६०२
अणुत्तरग्गं परमं महेसी ३६८
अणुत्तरं धम्ममिणं जिणाणं ३५८
अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता ३६७
अणुत्तरे य ठाणे से ६२७
अणुपुव्वेण महाघोरं ५०१
अणु माणं च मायं च ४२८
अणुसासणं पुढो पाणे ६१७
अणुस्सुओ उरालेसु ४६६
अणेलिसस्स खेतण्णे ६१९

गाथा सूत्राङ्क
अणोवसंखा इति ते उदाहु ५३८
अणंते णितिए लोए ८१
अण्णाणियाण वीमंसा ४४
अण्णाणिया ता कुसला वि संता ५३६
अण्णातपिंडेणऽधियासएज्जा ४०७
अतरिंसु तरंतेगे ५०२
अतिक्कम्मं ति वायाए ४३०
अतिमाणं च मायं च ४७२
अतिमाणं च मायं च ५३०
अत्ताण जो जाणति जो य लोगं ५५४
अदु अंजणिं अलंकारं २८४
अदु कण्ण-णासियाछेज्जं २६८
अदु णातिणं च सुहिणं वा २६०
अदु साविया पवादेण २७२
अद्दक्खुव दक्खुवाहितं १५२
अन्नस्स पाणस्सिहलोइयस्स ४०६
अन्ने अन्नेहिं मुच्छिता १०८
अन्नं मणेण चिंतेंति २७०
अपरिक्ख दिट्ठं ण हु एव सिद्धी ३९९
अपरिमाणं विजाणाति ८२
अप्पपिंडासि पाणासि ४३५
अप्पेगे झुंझियं भिक्खुं १७२
अप्पेगे णायओ दिस्स १८३
अप्पेगे पडिभासंति १७३

गाथा सूत्राङ्क

अप्पेगे पलियंतंसि १७९
अप्पेगे वइं जुंजंसि १७४
अप्पेण अप्पं इह वंचइत्ता ३२५
अब्भागमितंमि वा दुहे १५९
अभविंसु पुरा धीरा ६३१
अभविंसु पुरा वि भिक्खवो १६२
अभजुंजिया रुद्द असाहुकम्मा ३४१
अभुंजिया णमी वेदेही २२६
अमणुण्णसमुप्पादं ६९
अयं व तत्तं जलितं सजोतिं ३३०
अरतिं रतिं च अभिभूय भिक्खू ४८६
अरतिं रतिं च अभिभूय भिक्खू ५७४
अलूसए णो पच्छण्णभासी ६०५
अवि धूयराहिं सुण्हाहिं २५९
अवि हत्थ-पादछेदाए २६७
अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी ४१०
असूरियं नाम महाभितावं ३१०
असंवुडा अणादीयं ७५
अस्सिं च लोए अदुवा परत्था ३८४
अस्सिं सुठिच्चा तिविहेण तायी ५९५
अह णं वतमावण्णं ५३३
अह णं से होति उवलद्धो २८१
अह तत्थ पुणो नमयंती २५५
अह तं तु भेदमावन्नं २७९
अह तं पवेज्ज वज्झं ३५
अह तेण मूढेण अमूढगस्स ५९०
अह ते परिभासेज्जा २१४
अह पास विवेगमुट्ठिए ९६
अह सेऽणुतप्पती पच्छा २५६
अहा वुइयाइं सुसिक्खएजा ६०४
अहावरं पुरक्खायं ५१
अहावरं सासयदुक्खधम्मं ३२७

गाथा सूत्राङ्क

अहावरा तसा पाणा ५०४
अहियप्पाऽहियपण्णाणे ३६
अहिगरणकडस्स भिक्खुणो १२९
अहिमे संति आवट्टा १९५
अहिमे सुहुमा संगा १८२
अहो य रातो य समुट्ठितेहिं ५५८
अहो वि सत्ताण विउट्टणं च ५५५
आउक्खयं चेव अबुज्झमाणे ४९०
आघातकिच्चमाधातुं ४४०
आघायं पुण एगेसिं २८
आघं मइमं अणुवीति धम्मं ४७३
आदीणभोई वि करेति पावं ४७८
आमंतिय ओसवियं वा २५२
आयगुत्ते सया दंते ५२०
आतदंडसमायारा १७८
आयं न कुज्जा इह जीवितट्ठी ४८२
आसंदियं च नवसुत्तं १९२
आसंदी पलियंके य ४५७
आसिले देविले चेव २२७
आसूणिमक्खिरागं च ४५१
आहंसु महापुरिसा २२५
आहत्तहियं तु पवेयइस्सं ५५७
आहत्तहियं समुपेहमाणे ५७९
आहाकडं चेव निकाममीणे ४८०
आहाकडं वा ण णिकामएज्ज ४८३
इंगालरासिं जलियं सजोतिं ३०६
इच्चेयाहिं दिट्ठीहिं ५७
इच्चेवं पडिलेहंति २०८
इच्चेवं णं सुसेहंति १९०
इच्चेवमाहु से वीरे २९९
इणमन्नं तु अण्णाणं ६४
इणमेव खणं वियाणिया १६१

गाथा	सूत्राङ्क
इति कम्मवियालमुत्तमं	१६४
इतो विद्धंसमाणस्स	६२४
इत्थिओ जेणि सेवंति	६१५
इत्थीसु या आरतमेहुणा उ	४८५
इमं च धम्ममादाय	२२३
इमं च धम्ममादाय	२४५
इमं च धम्ममादाय	५२८
इह जीवियमेव पासहा	१५०
इहमेगे उ भासंति	२२०
इहलोग दुहावहं विऊ	१२०
इह संवुडे मुणी जाते	७१
इहेगे मूढा पवदंति मोक्खं	३९२
ईसरेण कडे लोए	६५
उच्चारं पासवणं	४५५
उच्चावयाणि गच्छन्ता	२७
उज्जालओ पाण तिवातएज्जा	३८६
उट्ठितमणगारमेसणं	१०४
उड्ढं अहे तिरियं च	५०७
उड्ढमहे तिरियं वा	२४४
उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु	३५५
उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु	४७४
उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु	५१३
उत्तर मणुयाण आहिया	१३५
उत्तरा महुरुल्लावा	१८६
उदगस्सऽप्पभावेणं	६२
उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति	३९४
उदगं जती कम्ममलं हरेज्जा	३९६
उद्देसियं कीतगडं	४५०
उरालं जगओ जोयं	८४
उवणीतरस्स ताइणो	१२७
उसिणोदगतत्तभोइणो	१२८
उसियावि इत्थिपोसेसु	२६६
एए गंथे विउक्कम्म	६
एए उ तओ आयाणा	५४
एगंतकूडेण तु से पलेति	५६५
एगत्तमेव अभिपत्थएज्जा	४८४
एगे चरे ठाणमासणे	१२२
एताइं कायाइं पवेदियाइं	३८२
एताइं मदाइं विगिंच धीरे	५७२
एताणि सोच्चा णरगाणि धीरे	३५०
एताणुवीति मेधावी	७२
एते ओघं तरिस्संति	२४२
एते जिता भो न सरणं	७६
एते पुव्वं महापुरिसा	२२८
एते पंच महब्भूया	८
एते भो कसिणा फासा	१८१
एते सद्दे अचायंता	१७१
एते संगा मणुस्साणं	१९३
एतेसु बाले य पकुव्वमाणे	४७७
एतेहिं छहिं काएहिं	४४५
एतेहिं तिहिं ठाणेहिं	८७
एतं सकम्मविरियं	४१९
एतं खु णाणिणो सारं	८५
एयं खु णाणिणो सारं	५०६
एयं खु तासु विण्णप्पं	२९६
एयमट्ठं सपेहाए	४४२
एयाइं फासाइं फुसंति बालं	३४८
एरिसा जावई एसा	२१८
एवं उदाहु निग्गंथे	४६०
एवं कामेसणं विदू	१४८
एवं ण से होति समाहिपत्ते	५७०
एवं तक्काए साहिता	४१
एवं तिरिक्खे मणुयामरेसुं	३५१
एवं तुब्भे सरागत्था	२१३
एवं तु समणा एगे	३७

गाथा	सूत्राङ्क
एवं तु समणा एगे	५९
एवं तु समणा एगे	६३
एवं तु समणा एगे	२०६
एवं तु समणा एगे	५२४
एवं तु समणा एगे	५२७
एवं तु सेहं पि अपुट्ठधम्मं	५८२
एवं तु सेहे वि अपुट्ठधम्मे	५९२
एवं निमंतणं लद्धुं	२०३
एवं वहुहिं कयपुव्वं	२९५
एवं भयं ण सेयाए	२९७
एवं मए पुट्ठे महाणुभागे	३०१
एवं मत्ता महंतरं	१४२
एवं लोगंमि ताइणा	१३४
एव विप्पडिवण्णेगे	१७५
एवं समुट्ठिए भिक्खू	२१०
एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी	१६४
एव सेहे वि अप्पुट्ठे	१६७
एवमण्णाणिया नाणं	४३
एवमायाय मेहावी	४२३
एवमेगे उ पासत्था	३२
एवमेगे उ पासत्था	२३७
एवमेगे उ तु पासत्था	२३३
एवमेगे त्ति जंपंति	१०
एवमेगे नियायट्ठी	४७
एवमेगे वितक्काइं	४८
एवमेताइं जंपंता	३१
एहि ताय घरं जामो	१८७
ओजे सदा ण रज्जेज्जा	२७८
ओसाणमिच्छे मणुए समाहिं	५८३
कंदूसु पक्खिप्प पयंति वालं	३३३
कडं च कज्जमाणं च	४३१
कडेसु घासमेसेज्जा	७९
कम्ममेगे पवेदेंति	४१२
कम्मं च छंदं च विविंच धीरे	५७७
कम्मं परिण्णाय दगंसि धीरे	४०२
कतरे धम्मे अक्खाते	४३७
कयरे मग्गे अक्खाते	४९७
कहं च णाणं कहं दंसणं से	३५३
कामेहि य संथवेहि य	९४
कालेण पुच्छे समियं पयासु	५९४
किरियाकिरियं वेणइयाणुवायं	३७८
कुजए अपराजिए जहा	१३३
कुट्ठं अगुरुं तगरुं च	२८५
कुतो कताइ मेधावी	६२६
कुलाइं जे धावति सादुगाइं	४०४
कुव्वंति च कारयं चेव	१३
कुव्वंति पावगं कम्मं	२७४
कुव्वं संथवं ताहिं	२६१
केई निमित्ता तहिया भवति	५४४
केसिंच वंधित्तु गले सिलाओ	३०९
केसिंचि तक्काइ अवुज्झ भाव	५७६
को जाणति विओवातं	२०७
कोलेहिं विज्झंति असाहुकम्मा	३०८
कोहं च माणं च तहेव मायं	३७७
खेयन्नए से कुसले आसुपन्ने	३५४
गंतुं तात पुणोऽऽगच्छे	१८८
गंथं विहाय इह सिक्खमाणो	५८०
गंध मल्ल सिणाणं च	४४९
गब्भाइ मिज्जंति वुयाऽवुयाणा	३९०
गारं पि य आवसे नरे	१५५
गिरीवरे वा निसहाऽऽयताणं	३६६
गिहे दीवमपस्संता	४७०
गुत्तो वईए य समाहिपत्ते	४८७
घडिगं च संडिडिमयं च	२९१
चंदालगं च करगं च	२९०
चत्तारि अगणीओ समारभित्ता	३१२

गाथा	सूत्राङ्क
चत्तारि समोसरणाणिमाणि	५३५
चित्तमंतमचित्तं वा	२
चिता महंतीउ समारभित्ता	३३८
चिरं दूइज्जमाणस्स	२००
चेच्चा वित्तं च पुत्ते य	४४३
चोदिता भिक्खुचज्जाए	२०१
छंदेण पलेतिमा पया	१३२
छण्णं च पसंस णो करे	१३९
छिंदंति बालस्स खुरेण नक्कं	३२१
जइ कालुणियाणि कासिया	१०५
जइ केसियाए मए भिक्खू	२८०
जइ णे केइ पुच्छिज्जा	४९९
जइ ते सुता लोहितपूयपाती	३२३
जइ ते सुता वेतरणीऽभिदुग्गा	३०७
जइ वि य कामेहि लाविया	१०६
जइ वि य णिगिणे किसे चरे	९७
जइ वो कइ पुच्छिज्जा	५००
ज किंचि अणगं तात	१८१
जं किंचि वि पूतिकडं	६०
जं किंचवक्कम जाणे	४२५
जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं	३४१
जं मतं सव्वसाहूणं	६३०
जंसि गुहाए जलणेऽतियट्टे	३११
जतुकुंभे जोतिमुवगूढे	२७३
जत्थऽत्थमिए अणाउले	१२४
जदा हेमंतमासंमि	१६८
जमतीतं पडुप्पण्णं	६०७
जमाहु ओहं सलिलं अपारगं	५४८
जमिणं जगती पुढो जगा	९२
जययं विहराहि जोगवं	९९
जविणो मिगा जहा संता	३२
जसं किंति सिलोगं च	४५८
जंस्सि कुले समुप्पन्ने	४
जहा आसाविणि नावं	५२६
जहा आसाविणि नावं	५८
जहा कुम्मे सअंगाइं	४२६
जहा गंडं पिलागं वा	२३४
जहा ढंका य कंका य	५२३
जहा दियापोतमपत्तजातं	५८१
जहा नदी वेयरणी	२४०
जहा मंधादए नाम	२३५
जहा य अंधे सह जोतिणा वि	५४२
जहा य पुढवीथूभे	९
जहा रुक्खं वणे जायं	१९१
जहा विहंगमा पिंगा	२३६
जहा सयंभू उदहीण सेट्ठे	३७१
जहा संगामकालंमि	२०४
जहाहि वित्तं पसवो व सव्वे	४९१
जाणं काएणऽणाउट्टी	५२
जातिं च वुड्ढिं च विणासयंते	३८९
जातीवहं अणुपरियट्टमाणे	३८३
जाते फले समुप्पन्ने	२९३
जीवितं पिट्ठतो किच्चा	६१६
जुवती समणं बूया उ	२७१
जे आततो परतो यावि णच्चा	५५३
जे आवि अप्पं वसुमं ति मंता	५६४
जे इह आरंभनिस्सिया	१५१
जे इह सायाणुगा णरा	१४६
जे उ संगामकालंमि	२०९
जे एतं णाभिजाणंति	४०
जे एय चरंति आहियं	१३६
जे एयं उंछं अणुगिद्धा	२५८
जे केइ बाला इह जीवियट्ठी	३०२
जे केइ लोगंसि उ अकिरियाया	४८८
जे केति तसा पाणा	८३

गाथा	सूत्राङ्क
जे ओहणे होति जगट्ठभासी	५६१
जे ठाणओ या सयणासणे या	५८४
जेणेहं णिव्वहे भिक्खू	४५९
जे ते उ वाइणो एयं	१४
जे धम्मं सुद्धमक्खंति	६२५
जे धम्मलद्धं वि णिहाय भुंजे	४०१
जे भासवं च भिक्खु सुसाधुवादी	५६९
जे मातरं च पितरं च	२४७
जे मायरं च पियरं च हेच्चा	३८५
जे मायरं च पितरं च हेच्चा	४०३
जे माहणे जातिए खत्तिए वा	५६६
जे य दाणं पसंसंति	५१६
जे य बुद्धा अतिक्कंता	५३२
जे य बुद्धा महाभागा	४३३
जे याऽबुद्धा महाभागा	४३२
जे यावि अणायगे सिया	११३
जे यावि पुट्ठा पलिउंचयंति	५६०
जे यावि बहुस्सुए सिया	९५
जे रक्खसाया जमलोइयाया	५४७
जे विग्गहीए अन्नायभासी	५६२
जे विण्णवणाहिऽज्झोसिया	१४४
जे सिं तं उवकप्पंति	५१५
जेहिं काले परक्कंतं	२३९
जेहिं नारीण संजोगा	२४१
जो तुमे नियमो चिण्णो	१९९
जो परिभवती परं जणं	११२
जोहेसु णाए जह वीससेणे	३७३
झाणजोगं समाहट्टु	४३६
ठाणी विविहठाणाणि	४२२
ठितीण सेट्ठा लवसत्तमा वा	३७५
डहरा वुड्ढा य पासहा	९०
डहरे या पाणे वुड्ढे या पाणे	५५२
डहरेण वुड्ढेणऽणुसासिते ऊ	५८६
ण कम्मुणा कम्म खवेंति बाला	५४९
णण्णत्थ अंतराएणं	४६५
ण तस्स जाती व कुलं व ताणं	५६७
ण तेसु कुज्झे ण य पव्वहेज्जा	५८८
णत्थि पुण्णे व पावे वा	१२
ण य संखयमाहु जीवियं	१५२
न य संखयामाहु जीवियं	१३१
ण वि ता अहमेव लुप्पए	१०१
ण हि णूण पुरा अणुस्सुतं	१४१
णाइच्चो उदेति ण अत्थमेति	५४१
णाणाविहाइं दुक्खाइं	२६
णिक्किंचणे भिक्खू सुलूहजीवी	५६८
णिव्वाणं परमं बुद्धा	५१८
णिसम्म से भिक्खु समीहमट्ठं	५९६
णीवारमेवं बुज्झेज्जा	२७७
णीवारे य न लीएज्जा	६१८
णेयाउयं सुयक्खातं	४२१
णेया जहा अंधकारंसि राओ	५९१
णो आवऽभिकंखे जीवियं	१२६
णो काहिए होज्ज संजए	१३८
णो चेव ते तत्थ मसीभवंति	३१५
णो पीहे णावऽवंगुणे	१२३
तं च भिक्खू परिण्णाय	७७
तं च भिक्खू परिण्णाय	१९४
तं च भिक्खू परिण्णाय	२४३
तं मग्गं अणुत्तरं सुद्धं	४९८
तत्तेण अणुसट्ठा ते	२१७
तत्थ दंडेण संवीते	१८०
तत्थ मंदा विसीयंति	२२९
तत्थिमा ततिया भासा	४६२
तमेगे परिभासंति	२११

गाथा	सूत्राङ्क
तमेव अविजाणंता	६१
तमेव अविजाणंता	५२१
तम्हा उ वज्जए इत्थी	२५७
तम्हा दवि इक्ख पंडिए	१०९
तय सं व जहाति से रयं	१११
तहा गिरं समारंभ	५१३
तहिं च ते लोलणसंपगाढे	३१६
तहिं तहिं सुयक्खायं	६०९
तिउट्टति तु मेधावी	६१२
तिक्खाहिं सूलाहिं भितावयंति	३३६
तिरिया मणुया च दिव्वगा	१२५
तिविहेण वि पाणि मा हणे	१६३
तिव्वं तसे पाणिणो थावरे च	३०३
तुब्भे भुंजह पाएसु	२१५
ते एवमक्खंति अबुज्झमाणा	५४०
ते एवमक्खंति समेच्च लोगं	५४५
ते चक्खु लोगंसिह णायगा तु	५४६
ते णावि० न ते ओहंतरा	२०
ते णावि० न ते गब्भस्स पारगा	२२
ते णावि० न ते जम्मस्स पारगा	२३
ते णावि० न ते दुक्खस्स पारगा	२४
ते णावि० न ते मारस्स पारगा	२५
ते णावि० न ते संसारपारगा	२१
ते णेव कुव्वंति ण कारवेंति	५५१
ते तिप्पमाणा तलसंपुड व्व	३२२
ते तीत-उप्पन्न-मणागताइं	५५०
ते य बीओदगं चेव	५२२
ते संपगाढंसि पवज्जमाणा	३३२
तेसिं पि तवोऽसुद्धो	४३४
ते हम्ममाणा णरए पडंति	३१९
थणंति लुप्पंति तसंति कम्मी	४००
थणियं व सद्दाण अणुत्तरे तु	३७०
थूलं उरब्भं इह मारियाणं	८२३
दविए बंधणुम्मुक्के	४२०
दाणट्ठयाए जे पाणा	५१४
दाणाण सेट्ठं अभयप्पदाणं	३७४
दारूणि सागपागाए	२८२
दुक्खी मोहे पुणो पुणो	१५४
दुहओ ते ण विणस्संति	१६
दुहओ पि ते ण भासंति	५१७
दुह चेयं सुयक्खायं	४११
दूरं अणुपस्सिया मुणी	११५
देवा गंधव्व-रक्खसा	९३
धम्मपण्णवणा जा सा	३८
धम्मपण्णवणा जासा	२१९
धम्मस्स य पारए मुणी	११९
धुणिया कुलियं व लेववं	१०२
धोयणं रयणं चेव	४४८
नंदीचुण्णगाइं पहराहिं	२८६
न कुव्वती महावीरे	६२९
न तं सयकडं दुक्खं	२९
न पूयणं चेव सिलोयकामी	५७८
न भिज्जति महावीरे	६१४
न य संखयमाहु जीवियं	१३१
न सयं कडं ण अन्नेहिं	३०
निक्खम्म गेहाउ निरविकंखी	४९६
निक्खम्म दीणे परभोयणंमि	४०५
निट्ठितट्ठा व देवा वा	६२२
नो छादते नो वि य लूसएज्जा	५२८
नो तासु चक्खु संधेज्जा	२५१
पंच खंधे वयंतेगे	१७
पंडिए वीरियं लद्धुं	६२८
पक्खिप्प तासुं पययंति वाले	३८४
पण्णसमत्ते सदा जए	११६
पण्णामयं चेव तवोमयं च	५७१
पत्तेयं कसिणे आया	११

गाथा	सूत्राङ्क
पभू दोसे निराकिच्चा	५०८
पमायं कम्ममाहंसु	४१३
पयाता सूरा रणसीसे	१६६
परमत्ते अन्नपाणं च	४५६
परिग्गहे निविट्ठाणं	४३९
परिताणियाणि संकंता	३४
पलिउंचणं च भयणं च	४४७
पाओसिणाणादिसु णत्थि मोक्खा	३९३
पागब्भि पाणे बहुणं तिवाती	३०४
पाणहाओ य छत्तं च	४५४
पाणाइवाए वट्टंता	२३२
पाणे य णाइवातेज्जा	४२९
पाणेहि णं पाव विजोजयंति	३१८
पावाइं कम्माइं पकुव्वतो हि	३९७
पासे भिसं निसीयंति	२४९
पिता ते थेरओ तात	१८४
पुच्छिंसु णं समणा माहणा य	३५२
पुच्छिस्स हं केवलियं महेसिं	३००
पुट्ठे गिम्हाभितावेणं	१६९
पुट्ठे णभे चिट्ठति भूमिए ठिते	३६२
पुट्ठो य दंसमसएहिं	१७६
पुढवाऽऽऊ अगणि वाऊ	४४४
पुढवी आउ तेउ य	१८
पुढवीजीवा पुढो सत्ता	५०३
पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ	३८१
पुढवी वि जीवा आऊ वि जीवा	३८७
पुढो य छंदा इह माणवा उ	४८९
पुढोवमे धुणति विगतगेही	३७६
पुत्तं पि ता समारंभ	५५
पुरिसोरम पावकम्मुणा	९८
पूतिकम्मं ण सेवेज्जा	५११
पूयफलं तंबोलं च	२८९
बहवे गिहाइं अवहट्टु	२६३
बहवे पाणा पुढो सिया	११८
बहुगुणप्पगप्पाइं	२२२
बहुजणणमणंमि संवुडे	११७
बालस्स मंदयं बितियं	२७५
बाला बला भूमि अणोक्कमंता पविज्जलं कंटइलं....	३४२
बाला बला भूमि अणोक्कमंता पविज्जलं लोहपहं....	३३१
बाहू पकत्तंति य मूलतो से	३२९
बुज्झिज्ज तिउट्टज्जा	१
भंजंति णं पुव्वमरी सरोसं	३४५
भंजंति बालस्स वहेण पट्ठिं	३४०
भारस्स जाता मुणि भुंजएज्जा	४०९
भावणाजोगसुद्धप्पा	६११
भासमाणो न भासेज्जा	४६१
भिक्खू मुयच्चा तह दिट्ठधम्मे	५७३
भूताभिसंकाए दुगुंछमाणो	५९९
भूतेहिं न विरुज्झेज्जा	६१०
भूयाइं च समारंभ	५१०
मच्छा य कुम्मा य सिरीसिवा य	३९५
मणबंधणेहिं णेगेहिं	२५३
मणसा जे पउस्संति	५६
मणसा वयसा चेव	४१६
महयं पलिगोव जाणिया	१२१
महीय मज्झंमि ठिते णगिंदे	३६४
माइणो कट्टु मायाओ	४१५
मा एयं अवमन्नंता	२३१
मातरं पितरं पोस	१८५
माता पिता ण्हुसा भाया	४४१
माताहिं पिताहिं लुप्पति	९१
मा पच्छ असाहुया भवे	१४९
मा पेह पुरा पणामए	१३७
माहणा खत्तिया वेस्सा	४३८
माहणा समणा एगे	४१
माहणा समणा एगे	६७

गाथा	सूत्राङ्क
मिलक्खु अमिलक्खुस्स	४२
मुसावायं वहिद्धं च	४४६
मुसं न वूया मुणि ग्रत्तगामी	४९४
मुहुत्ताणं मुहुत्तस्स	२०५
राम्रो वि उट्ठिया संता	२९४
रागदोसाभिभूतप्पा	२२१
रायाणो रायमच्चा य	१९६
रुक्खेसु णाते जह सामली वा	३६९
रुहिरे पुणो वच्चसमूसियंगे	३१४
लद्धे कामे ण पत्थेज्जा	४६८
लित्ता तिव्वाभितावेण	२१६
लोगावयं निसामेज्जा	८०
वणंसि मूढस्स जहा अमूढा	५८९
वणे मूढे जधा जंतू	४५
वत्थगंधमलंकारं	१९८
वत्थाणि य मे पडिलेहेहि	२८३
वाहेण जहा व विच्छते	१४७
विउट्ठतेणं समयाणुसेट्ठे	५८७
वित्तं पसवो य णातयो	१५८
वित्तं सोगरिया चेव	५
विबद्धो णातिसंगेहिं	१९२
विरते गामधम्मेहिं	५२९
विरया वीरा समुट्ठिया	१००
विसोहियं ते अणुकाहयंते	५५९
वुज्झमाणाण पाणाणं	५१९
वुसिए य विगयगेही य	८५
वेतालिए नाम महब्भितावे	३४३
वेतालियमग्गमागओ	११०
वेराइं कुव्वती वेरी	४१७
वेराणुगिद्धे णिचयं करेति	४८१
सउणी जह पंसुगुंडिया	१०३
सएहिं परियाएहिं	६८
संकेज्ज याऽसंकितभाव भिक्खू	६०१

गाथा	सूत्राङ्क
संखाय धम्मं च वियागरेंति	५९७
संखाय पेसलं धम्मं	२२४
संखाय पेसलं धम्मं	२४६
संडासगं च फणिहं च	२८८
संतच्छणं नाम महब्भितावं	३१३
संतत्ता केसलोएणं	१७७
संति पंच महब्भूता....आयछट्ठा	१५
संति पंच महब्भूया....पुढवी	७
संतिमे तओ आयाणा	५३
संधते साहुधम्मं च	५३१
संपरागं णियच्छंति	४१८
संपसारी कयकिरिओ	४५२
संवद्धसमकप्पा हु	२१२
संवाहिया दुक्कडिणो थणंति	३४४
संवुज्झमाणे तु णरे मतीमं	४९३
संवुज्झह किं न वुज्झह	८९
संवुज्झहा जंतवो माणुसत्तं	३९१
संलोकणिज्जमणगारं	२७६
संवच्छरं सुविणं लक्खणं च	५४३
संवुडकम्मस्स भिक्खुणो	१४३
संवुडे से महापण्णे	५०९
संवुडे से महापण्णे	५३४
सच्चं असच्चं इति चिंतयंता	५३७
सत्थमेगे सुसिक्खंति	४१४
सदा कसिणं पुण घम्मठाणं	३२०
सदा कसिणं पुण घम्मठाणं	३३९
सदा जलं ठाण निहं महंतं	३३७
सदाजला नाम नदी मिदुग्गा	३४७
सदा दत्तेसणा दुक्खं	१७०
सद्दाणि सोच्चा अदु भेरवाणि	५८५
सद्देसु रूवेसु असज्जमाणे	५५६
सपरिग्गहा य सारंभा	७८
सम अन्नयरम्मि संजमे	११४

गाथा	सूत्राङ्क
समज्जिणित्ता कलुसं श्रणज्जा	३२६
समणं पि दट्ठुदासीणं	२९१
समालवेज्जा पडिपुण्णभासी	६०३
समिते उ सदा साहू	८८
समूसितं नाम विधूमठाणं	३३४
समूसिया तत्थ विसूणितंगा	३३५
सम्मिस्सभावं सगिरा गिहीते	५३९
सयणा-ऽऽसणेण जोगे (ग्गे) ण	२५०
सय तिवायए पाणे	३
सयं दुक्कड च न वयइ	२९५
सयंभुणा कडे लोए	६६
सयं समेच्चा अदुवा वि सोच्चा	५७५
सयं सयं पसंसता	५०
सयं सहस्साण उ जोयणाणु	३६१
सव्वं जगं तू समयाणुपेही	४७९
सव्वं णच्चा अहिट्ठए	१५७
सव्वप्पगं विउक्कस्सं	३९
सव्वाइं संगाइं अइच्च धीरे	४०८
सव्वाहिं श्रणुजुत्तीहिं अचयंता	२२०
सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं मतिमं	५०५
सव्विंदियाभिनिव्वुडे पयासु	४७६
सव्वे सयकम्मकप्पिया	१६०
सहसम्मुइए णच्चा	४२४
साहरे हत्थ-पादे य	४२७
सिद्धा य ते अरोगा य	७४
सीओदगपडिदुगुंछिणो	१३०
सीहं जहा खुद्दमिगा चरंता	४९२
सीहं जहा व कुणिमेणं	२५४
सुअक्खातधम्मे वितिगिच्छतिण्णे	४७५
सुतमेतमेवमेगेसिं	२६९
सुदंसणस्सेस जसो गिरिस्स	३६५
सुद्धं मग्गं विराहित्ता	५२५
सुद्धं रवति परिसाए	२६४
सुद्धे अपावए श्राया	७०
सुद्धे सिया जाए न दूसएज्जा	४९५
सुफणिं च सागपागाए	२८७
सुविसुद्धलेस्से मेधावी	२९८
सुस्सूसमाणो उवासेज्जा	४६९
सुहुमेणं तं परक्कम्म	२४८
सूरं मण्णति अप्पाणं	१६५
से पण्णसा अक्खये सागरे वा	३५९
से पव्वते सद्दमहप्पगासे	३६३
से पेसले सुहुमे पुरिसजाते	५६३
से भूतिपण्णे अणिएयचारी	३५७
से वारिया इत्थि सराइभत्तं	३७९
से वीरिएणं पडिपुण्णवीरिए	३६०
से सव्वदंसी अभिभूय णाणी	३५६
से सुच्चति नगरवहे व सद्दे	३१७
से सुद्धसुते उवहाणवं च	६०६
सेहंति य णं ममाइणो	१०७
से हु चक्खू मणुस्साणं	६२०
सोच्चा भगवाणुसासणं	१५६
सोच्चा य धम्मं अरहंतभासियं	३८०
हणंतं नाणुजाणेज्जा	५१२
हण छिंदह भिंदह णं दहह	३०५
हत्थऽस्स-रह-जाणेहिं	१९७
हत्थीसु एरावणमाहु णाते	३७२
हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं	३२८
हम्ममाणो न कुप्पेज्जा	४६७
हरिताणि भूताणि बिलंवगाणि	३८८
हासं पि णो संधये पावधम्मे	६००
हुतेण जे सिद्धिमुदाहरंति	३९८
होलावायं सहीवायं	४६३

□

परिशिष्ट २

विशिष्ट शब्द सूची

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
अओकवल्ल ३१४
अकक्कस (अकर्कश) ६०२
अकट्ठा (अकाष्ट) ३३७
अकम्म ४१२
अकम्मविरिय ४१९
अकम्मुणा ५४९
अकम्मंस ३९
अकसायि (इ) ३५९, ५७८, ६००
अकामग १८८
अकारओ १३
अकासी (सि) ६७, ११४, ११८, ३४९
अकिरिया ४८८, ५३५
अकुसील ४६४
अकोविया ३८, ४५, ४९, ६१, २०८, ५३६
अकोहण ४८४
अक्कोस २२१
अ (कं) तदुक्खा (अकान्तदुःखा) ८४, ५०५
अक्ख १३३
अक्खक्खय ४१०
अक्खय (अक्षत) ३५९
अक्खाय (त) १४५, २९६, ४३७, ४९७, ६०८
अक्खायारो ७२
अक्खिराग (अक्षि-राग) ४५१
अखिल ४०८

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
अखेतण्ण (अक्षेत्रज्ञ) ५२२
अगणी ३१०, ३१२, ३३७, ३८१, ३८५-३८७ ३९८, ४४४, ५०३
अगार १९, १२०, १९०, १९९, २७७
अगारबंधण २१०
अगारि (अगारिन्) ३५२, ५८७
अगारिकम्म ५६७
अगिद्ध ७९, ४०८, ४७१
अगिलाए २२३, २४५
अगुरु २८५
अगोत्तं (अगोत्र) ५७२
अग्ग १४५, २१८
अचयंता (अशक्नुवत्) २०१, २०२, २२०
अचाइय (,,) १७६, ५८१
अचायंता (,,) १७१
अचित्त २
अचेल ४५६
अच्चिमाली ३६४
अब्भुट्ठिताए ५८७
अजरामर ४९०
अजाणग (अजानत्) १७५
अज्ज (आर्य) १४८
अज्जिणत्ता (अर्जयित्वा) ३४९
अज्झत्थदोसा (अध्यात्मदोषाः) ३७३

विशिष्ट शब्द	सूत्राङ्क
अज्झत्थविसुद्ध	२९९
अज्झप्प (अध्यात्म)	४२६
अज्झप्पजोगसुद्धादाण	६३६
अज्झप्पसंवुड (अध्यात्मसंवृत)	१२२
अझंझपत्ते (अझञ्झ-प्राप्त)	५६२, ५६३
अट्ट (आर्त)	४७६, ४९०
अट्टतरं (आर्ततर)	३२४
अट्टस्सरं (आर्तस्वर)	३२४
अट्ठ	३९, १२९, ४४२, ५३८, ५६०, ५७६, ५९६
अट्ठदुग्ग	३०१, ४८१
अट्ठदंसी	६०३
अट्ठपओवसुद्ध	३८०
अट्ठवण्ण	३६३
अट्ठाण	३९५
अट्ठाणिए (अस्थानिक)	५५९
अट्ठापद	४५३
अट्ठंग (अष्टांग)	५४३
अणगार	१०४, २५४, २५९, २७३, २७६, २९८, ४२४
अणगं (ऋणक)	१८९
अणज्जधम्म (अनार्यधर्म)	३८९
अणज्जा	३२६
अणट्ठे	५७८
अणण्णणेया (अनन्यनेया)	५५०
अणन्नो	१७
अणवज्ज	५६, ३७४
अणाइल (अनाविल)	३५९, ६००, ६१८
अणाउट्ठी (अनाकुट्टी)	५२
अणाउल	१२४, ५७८
अणाऊ (अनायुष्)	३५६, ३८०
अणाउइ	५५४
आणागत (य)	११५, १६३, २०६, २३८, ५०२, ५३२ ५३८, ५४३
अणाणुगिद्ध अननुगृद्ध	५७१
अणाणुवादी	५३९
अणाणुवीयी (अननुवीचि)	५३६
अणादीय	७५
अणायग	११३
अणारिय	३७, ४०, ५९, १७८, २३३, २३७, ५२४ ५२७
अणारंभ	७८
अणाविल	११७
अणाविलप्पा	४०८
अणासणादि	१०२
अणासय(त) (अनाशय)	३९३, ६१७
अणासव (अनास्रव)	५२०, ५८५
अणासिता (अनशित)	५४६
अणिएयचारि	३५७, ४०८
अणियाय	३१
आणिया(दा)ण	१६३, ६३५
अणियाणभूत	४७३
अणिव्वुड	३०४
अणिस्सित	११७, ४७१, ६३५
अणिह (अस्निह)	१०१, १४०, ४२८
अणीतित	४२२
अणु	४२८
अणुक्कमण	३४७
अणुक्कस	७७
अणुगम्म	५९०
अणुगामि	४५
अणिगिद्ध	२५८
अणुजुत्ति (अनुयुक्ति)	२२०, ५०५
अणुतप्प	२५६, ४६२
अणुत्तर	१३४, १३८, १९४, ३५६-३५८, ३६३, ३६७, ३७०, ४९८, ६२६, ६२७
अणुत्तरग्गं	३६८
अणुत्तरदंसी	१६४

विशिष्ट शब्द	सूत्राङ्क
अणुत्तरनाणी	१६४
अणुधम्म (अनुधर्म)	१०२
अणुधम्मचारि	१३५, १६२
अणुन्नए	६३६
अणुपस्सिय (अनुदृश्य)	११५
अणुपाणा	९९
अणुपुव्व	१५५, ५०१
अणुपुव्वकड	६२९
अणुप्पदाण (अनुप्रदान)	४५९
अणुप्पिय (अनुप्रिय)	४०६
अणुभव	२६
अणुभास	४२, ५४६
अणुवज्जे	२४९
अणुविति (वीति, वीयि)	४६१, ४७३
(अनुविविच्य)	५५३, ६०५
अणव्वसा (अनुवश)	२१३
अणुसट्ठ	२१७
अणुसास	४४, १४९, ५८९, ६१६
अणुसासण (अनुशासन)	९९, ६१७
अणुस्सुओ (अनुत्सुक)	४६६
अणुस्सुत	१३५, १४१, २२८
अणेलिस	३५२, ५२०, ६०८, ६१८, ६१९, ६२५
अणेसणं	५०९, ५७३
अणेसणिज्ज	४५०
अणोवदग्ग (अनवदग्र)	५४०
अणोवसंखा (अनुपसंख्या)	५३८
अणोसिते (अनुषित)	५८३
अणंत	२७, ४०, ६३, ८९, ३५१
अणंतग	१६३
अणंतघंतं	५६०
अणंतचक्खू	३५७, ३७६
अणंतणाणदंसी	४६०
अणंतणाणी	३५४

विशिष्ट शब्द	सूत्राङ्क
अणंतदुक्ख	३४१
अणंतपार	३५२
अणंतसो	९७
अण्ण (न्न)	२, ३, १७, २९, ३० इत्यादि
अण्णपाण (अन्नपाण)	२८३, ४८९, ४५६, ५१५
अण्णयर (अण्ण(व)तर)	११४, २५८, ५६५
अण्णाण (अज्ञान)	४८, ६४, ५३५
अण्णाणभयसंविग्ग	३४
अण्णाणिय	४३, ४४, ३७८
अण्णातपिंड (अज्ञातपिंड)	४०७
अतह (अतथ्य)	५६
अतारिमा	१९३
अतिकंडूइतं	२१६
अतिक्कम्मं	४३०
अतिक्कंता	५३२
अतिदुक्खधम्मं	३११, ३२०, ३२९
अतिपास	८१, ८२
अतिमाणं	४७८, ५३०
अतियट्टे	३११
अतियट्ट (अतिवृत्त)	३२९
अतिवात (अतिपात)	४३३
अतिवाय	११४, ६३५
अत्तगामी (आत्मगामी)	४९४
अत्तत्ताए	३१०, ५३८
अत्तदुक्कडकारि	४१८
अत्तपण्णेसी (आत्मप्रज्ञैषी)	४०९
अत्तसमाहिय	५३३
अत्तवमायाए	४३१
अत्थ (अर्थ)	३९०, ५०१
अत्थमिय (अस्तमित)	१३४
अदत्तहारी	४०३
अदिस्समाणस्स	३१३
अदिन्न	१२४, ११९

विशिष्ट शब्द	सूत्राङ्क
अदिन्नादाण	२३२
अदुवा	३, २८, ४६, ४७, ८३ इत्यादि
अदूर	४०५
अदूरगा (या)	१९२, ३४६
अद्दक्खुदंसण	१५३
अद्दक्खुव (अदृष्टवत्)	१५३
अद्दक्खू	१४४
अद्धाण (अध्वन्)	४६
अधम्म	४७
अन्नत्थ	२८०, ३९३
अन्नमन्न (अन्योन्य)	४, २१२, २१३, ४५४
अन्नहा	७३, ३८४
अन्नायभासी	५६२
अन्नोन्नं	१३६
अपडिण्ण (अप्रतिज्ञ)	१३०, २१७, ३७०, ४७३, ६२६
अपत्तजात	५८१, ५८२
अपराजिए	१३३
अपरिग्गह	७८, ३५०
अपरिच्छ (अपरीक्ष्य)	५६४
अपरिमाण	८२
अपस्समाण (अपश्यत्)	५९१
अपस्संता	२३८, ४७०
अपारगा	२१३, ५४८, ५८६
अपावय	७०, ७१
अपुट्ठधम्मं (अपुष्टधर्मा)	५८२, ५९२
अपुट्ठवं (अस्पृष्टत्)	९२
आपगं	१४९, २०६, २९७
अप्पगंऽसुवक्कं	३६७
अप्पणो (णा)	३, ४४, ४८, १७५, ४२३, ४२५, ५५३, ६३५
अप्पत्तिय (अप्रीतिक)	३९
अप्पयाम (अल्पस्याम)	१४७
अप्पपिंडासि	४३५
अप्पभाव	६२
अप्पमत्त	४६६, ५५२
अप्पमायं	४१३
अप्पलीण	७७
अप्पा	१३, १२७, १६५-१६७, २५१, ३२५, ४९३
अप्पियं	२६०, ४७९, ५७८
अप्पुट्ठे	१६७
अप्पोदए	१६९
अप्पं	२३१, ४३५
अबल	१४७; २०६
अबुज्झ	५७६
अबुद्धिया	३१
अबुह (अबुध)	५२, १९५
अबोहिय	४३, १४३
अब्भक्खाण (अभ्याख्यान)	६३४
अभय	३५६
अभयप्पदाण	३७४
अभयंकर	३७६, ४०८
अभिक्खणं	२४९
अभिगच्छ	५४, ५८६
अभितवणाइं	२६७
अभितावा	३००
अभिद्दुत	१६०, २२१
अभिनिव्वुड	१००, १०९, ४३५, ४७६
अभिनूमकड	९५
अभिपत्थएज्जा	४८४
अभिपातिणी	३३२
अभिभूय	३५६, ४८६, ५७४
अभियावन्ना	२९५
अभियागम (अभ्यागम)	६१
अभिहड	२१५, २१८
अभुंजमाण	४०२
अभुंजिया	२२६

विशिष्ट शब्द	सूत्राङ्क	विशिष्ट शब्द	सूत्राङ्क
अवभत्थ	१२६	अवणीयमच्छर	१५६
अमणुण्ण (अमनोज्ञ)	४६३	अवर (अपर)	६५, ७०, ४१३, ५०४
अमणुण्णसमुप्पाद	६९	अवस	१८१
अमणुस्स	६२२	अवहट्टु (अपहृत्य)	२६३
अमतीमता	२४०	अवहाय (अपहाय)	१३४
अमाइरूवे	५६२	अविओसिए	५६१
अमिलक्खु	४२	अवितिण्ण (अवितीर्णं)	९६
अमुच्छित	४९५	अवियत्ता (अव्यक्ता)	३८
अमुसे (अमृषा)	४८४	अवियत्तं	५२
अमूढ	५८९	अविहिंमा	१०२
अमूढग	५९०	अवंगुणे	१२३
अमोक्खाए	२३१	अव्वत्त	१६०
अयमंजू	४८	अव्वत्तगम	५८१
अयहारि	२३१	अव्ववी	३०१
अयोघण	३४०	असच्चं	५३७
अयोमुह	३३५	असज्जमाण	४०७, ४८८, ५५८
अयं	३३०, ३३४	असण	१३०, ४०४
अरति	४८६, ५७४	असद्दहाणे	५३६
अरतिरति	६३४	असमण	१८८
अरविंद	३७३	असमाही	१२८, २९१
अरह (अरहस्)	१८८	असमिक्खा	[illegible]
अरहस्सरा	३०६, ३३७	असम्मत्तदंसिणो	[illegible]
अरहा	१६४	असासत (य) (अशाश्वत)	[illegible]
अरहिताभितावा	३१६	असाहु	[illegible]
अरुयस्स	२१६	असाहुकम्मा	[illegible]
अरोग	७४	असाहुधम्म	[illegible]
अलद्ध	१४८	[illegible]	[illegible]
अलूसए	११६, ६०५	असुभत्तं	[illegible]
अलंकार	११८, २८४	[illegible]	[illegible]
अलंभो	३९१	असुर	[illegible]
अवकप्प	२०६	[illegible]	[illegible]
अवकार	२६९	[illegible]	[illegible]
अवकंख	१०६, २३९	[illegible]	[illegible]

विशिष्ट शब्द	सूत्राङ्क
असेहिय (असैद्धिक)	२९
असो	६७
असं	१६
असंकिणो	३३, ३४, ३७
असंकितभाव	६०१
असंकिय (त)	३३, ३७
असंति	५५७
असंथुया	५३६
असंवुड	७५, ९८, १०८
अस्संजय	५६, ३७४, ३८९
अस्सिं	३८४, ५९५, ६१०
अहगं	२७२
अहातच्चं	४३७
अहाबुइयाइं	६०४
अहावरं	५१, ३२७, ५०४
अहासुतं	३५३
अहाहु	३८५, ३८९, ४०१, ४०३, ४०४
अहिगरण	१२९
अहिगरणकड	१२९
अहिट्ठय	१५७
अहियपण्णाण	३६
अहियप्पा	३६
अहियं	१४९
अहिंसिया	८४
अहे	३५, २४४, २४९, ३०८, ३१०, ३५५, ४७४, ५०७, ५९३
अहेउय	१७
अहो	७३, ३०४, ३३४, ३४४, ४९०, ५५८
आइक्ख	२७१, ४९९, ५९४
आइच्चो (आदित्य)	५४१
आइट्ठो (आदिष्ट)	२६५
आउ	२३८
आउख(क्ख)य	९०, ९४, ३९०, ४९०

विशिष्ट शब्द	सूत्राङ्क
आउक्खेम	४२५
आउजीवा	५०३
आऊ	७, १८, ३८१, ३८७, ४४४
आएस	१६२
आगती	१५९, ५७४
आगाढपण्णे (आगाढप्रज्ञ)	५६९
आगास	७
आगासगामी	५४७
आगंता	९७
आगंतारो	५२७
आगंतुं	५८, ६०, २७७ ५२६
आघातकिच्चं	४४०
आघं (आख्यातवत्)	४७३
आजीव	५६८
आजीवगं	५७१
आण	२८८
आणप्पा	२९२
आणवय	२५३
आणा	४६२
आणीलं (आनील)	२८६
आणुपुव्वी	२५५
आणुभागं	३१५
आततो	५५२, ५५३
आतदंडसमायारा	१७८
आत(य)भाव	५५९, ५७७
आतसा	२५२
आत(य)सात	३८५, ३८९
आतहित	२६२
आतिएज्जा	४०९
आदाण	४४७, ५६०, ६३५
आदाणगुत्त	५५६
आदाय	२२३
आदिए	४२९

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
आदिदित्ता ५४०
आदिमोक्खं ४०२, ६१५
आदीणभोई (आदीनभोजी) ४७८
आदीणियं (आदीनिक) ३०१
आदेज्जवक्क ६०६
आदंसग २८८
आमंतिय २५२
आमलगाइं २८७
आमिसत्थ (आमिषार्थ) ६२
आमोक्खाए ८८, २२४, २४६, २९९, ४३६
आयगतं २७६
आय(त)गुत्त ४००, ४३१, ५१२, ५२०
आयछट्ठा (आत्मषष्ठ) १५
आयताण ३६६
आयतुलं १५४, ४७५
आयदंड १५१, ३८२, ३८९
आयपण्णे (आत्मप्रज्ञ) ५८४
आयपरं १५७
आयरियं (आचरित) ४०४
आयवायपत्ते ६३७
आयसायाणुगामिणो ४१५
आय(त)सुहं ३०३, ३८८
आयहियं(तं) १४०, १६३
आया ११, १५, ७०, ८६, ४३०, ५१७, ५९६
आयाए ३५६
आयाणा ५३, ५४
आयाय ४२३
आयु ५७६
आयं ४७५, ४८२
आर ९६
आरणणा १९
आरतमेहुण (आरतमैथुन) ४८५
आरत(य)मेहुण २४७, ६१७

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
आरतो ४१६
आरा ४४०
आरहिउं ६२१
आरिय २३०, ४२३, ४६८
आरुस्स ३२९
आरं ३७९
आरंभ ३८, ९१, ११०, ११९, २१०, ४१७, ४७१
आरंभणि(नि)स्सिया(ता) १०, १४, १५१, ४३८
आरंभसत्ता ४८८
आरंभसंभिया ४३९
आरंभी ४४५
आव १२६
आवकहा (यावत्कथा) ११४
आवरे ६४
आवस १२०, १५५, ३२६, ५५३
आवसहं (आवसथ) २९१
आवहं ४०७
आसण १२२, १२७, २५०
आसव ५५५
आसाविणि ५८, ५२६
आसिले २२७
आसिसावाद (आशीर्वाद) ५९८
आसु २७३
आसुपण्ण(न्न) ३०१, ३५४, ३५८, ३७६, ५८३
आसुर ७५
आसुरिय १५१
आसूणि (आशूनी) ४५१
आसंदियं २९२
आसंदी (आसन्दी) ४५७
आह १, ६७, १६१
आहडं ४५०
आहत्तहियं (याथातथ्य) ५५७
आहाकडं ४८०, ४८३

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
आहारदेहाइं ३८८
आहारसंपज्जणवज्जण ३९२
इंखिणी १११, ११२
इंगालरासि ३०६
इंति ६२
इंद ३५८, ३८०
इंदिय १४०
इच्छ ५८, २७७, ५२६
इट्ठ ३२६
इत्तरवास (इत्वरवास) १५०
इंत्ताव ताव (एतावत् तावत्) ५०४
इत्थिपोस (स्त्री-पोष) २६६
इत्थिवेदखेतण्णा २६६
इत्थी १८०, १९८, २०३, २०७, २४७, २५० ,२५४ २५७, २५८, २७०, २७३, २८०, २९१, ३७९, ४०२ ४४९, ४८०, ४८५, ६१४, ६१५
इत्थीदोससंकिणो २६१
इत्थीवस २३३
इत्थीवेद २६९
इसी (ऋषि) ३७३
इहलोइय ४०६
इहलोग १२०
इहं ७
ईसर ६५
ईहियं ६०
उंछ १५६, २५८
उक्कस (उत्कर्ष) ८७
उक्कास १३९
उग्गपुत्ते ५६६
उग्गहं ४४६
उच्च ५७२
उच्चार ४५५
उच्चावयं २७, ४८५, ५३३

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
उच्छोलण ४५१
उज्जया २१६
उज्जला १७४
उज्जाणं २०१, २०२
उज्जाल ३८६
उज्जु (ऋजु) ४९७
उड्ढं १४४, २४४, ३१०, ३५५, ४७४, ५०७, ५९३
उण्ह ४८६
उत्तम १३४, १६४
उत्तमपोग्गल ५७१
उत्तमबंभचेर ३७४
उत्तर १३५, १८६
उत्तरीए ६२२
उदग ६१, ६२, २०७, २२५, २२६ ३०९, ३९४, ३९५, ३९६
उदर ३२८
उदराणुगिद्ध ४०४
उदहि ३७१
उदाहर ११६, १२३, ३९४, ३९५, ३९८
उदिण्णकम्मा ३१७
उद्देसिय ४५०
उद्धर ३२८, ४३३
उप्पध ४६
उप्पाइयं ५४३
उब्भिया ४४४
उम्मग्गगता (उन्मार्गगता) ५२५
उम्मद् २८२
उम्मुक्क २३९, ४२०, ४७०
उराल (उदार) ८४, ४६६, ४८३
उवज्जोती २७२
उवट्ठाण ७३
उवधा(हा)णवीरिय १२२, १४०, १५७, ५३१
उवसग्ग १२५, २२४, २४६, ४६४

विशिष्ट शब्द	सूत्राङ्क
उवहाण (उपधान)	२०२
उवहाणव	३६९, ६०६
उवहि (उपधि)	१३७
उवागत	३६
उवायं (उपाय)	२४८
उसिणोदगतत्तभोइ	१२८
उसिया (उषित)	२६६
उसीर (उशीर)	२८५
एगचरं	२५४
एगचारी	५७४
एगता	२५०, २६०
एगतियं	२५४
एगत्त	४८४
एगपक्ख	५३९
एगविऊ	६३६
एगाइया	३४७
एगायते	३४३
एगो	३४८
एगं	३४१, ३६१
एगंतकूड	३४४, ५६५
एगंतदिट्ठी	३५०, ५६२
एगंतदुक्खं	३३६, ३४९, ३९१
एगंतमोणेण	५७४
एगंतलूसगा	१५१
एगंतसमाहि	४७८
एगंतहिय	३५२
एताणुवीति	७२
एरावण (ऐरावण)	३७२
एरिसा (ईदृशा)	२१८
एसण	१०४, ५७३
एसणासमिय	५०९
एसिया	४३८
ओए	२५५, ६००

विशिष्ट शब्द	सूत्राङ्क
ओघ	२४२
ओज	२७८
ओदरियाणुगिद्ध	४०५
ओमाण (अवमाण)	७९
ओमुद्धगा (अवमूर्द्धक)	३४५
ओरम	९८
औरस (औरस्)	४४१
ओवायकारी	५६२, ५८०
ओसवियं (उपशमिय)	२५२
ओसाण (अवसान)	५८३
ओह (ओघ)	५४८
ओहंतरा	२०, ३५७
अंकेसाइणी	२७४
अंजणसलागं	२८७
अंजणि	२८४
अंजू (जु)	४८, ८३, ४३७, ४७३
अंडकड	६७, ५५०
अंत	६१६, ६२०, ६२१, ६२३, ६३१
अंतए	११९, २११, ५२१, ६०८, ६२०
अंतकरा	५९७, ६२१
अंतकाल	३०४
अंतग	४१०, ४४३
अंतरा	५८, ४२५, ५२६
अंतराय	४६५
अंतलिक्ख	३४३
अंतवं	८१
अंतिए	४६८
अंदू	३२०
अंध	४६, ३९६, ५४२, ५६१
अंधकार	५९१
अंधतमं	३१०
कक्क (कल्क)	४५१
कक्कुहयं	२४८

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
कक्ख २४९
कच्चंताण ५१९
कच्चंती २४२, ४४०
कज्जमाण ४३१
कट्ठसमस्सिता ३८७
कड २९, ३०, ६५, ६६, ६८, ७९, ९२, १३३, १३४
१५३, २१५, २७५, ३२५, ४३१, ५१०
कण्ण (कर्ण) ३२१
कण्णणासियाछेज्जं २६८
कत्थ (कुत्र) ६०२
कप्प २५६, ५११, ६०९
कप्पकाल ७५
कम्म ५, ५५, ९२, ९६, १०३, १५३, १८७, २६९
२७०, २७४, ३०२, ३२५, ३२७, ३४९, ३९७
४१०, ४१२, ४१३, ४२०, ४४०, ४४९, ४७७
५४९, ५७७, ६१२, ६१३, ६२८
कम्मचिंतापणट्ठ ५१
कम्मत्ता १७०
कम्ममलं ३६९
कम्मवियाल १६४
कम्मसह ९४
कम्मी ४००, ४४०
कम्मुणा ५४९, ६१६
कम्मोवगता ३१९
कयकिरिए १३८
कयकिरिओ ४५२
कयपुव्व २९५
कयाइ ६८, ४५५, ४५६
कर १२९, १३९, १५६, २६४, २७४, २७५, ३०२
३०८, ३३१, ३४२, ३४७, ४५५, ४६७, ४७७,
४७८, ४७९, ४८१, ४८२, ५१६, ५८८, ६०५,
६२३
करगं २९०

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
कलह ६३४
कलुणविणीय २५३
कलुणं ३०६, ३११, ३३०, ३३४, ३३६, ३३८
कलुसाधम ५२३
कलुसाहमा ५२४
कलुसं (कलुष) ३२६
कलंबुयावालुय ३०९
कस १०२
कसायवयण १७९
कसिण ९, ११, १८१, ३२०, ३२६, ३३९, ४९४,
५२७, ५४१
कहं (कथम्) ४८२
कहंकहं ५८५
काम ६, ९४, १४४, १४६, १४८, १५०, २०३, २३७,
२६०, २७९, २९६, ४०२, ४०७, ४३९, ४५८,
४६८
कामभोग ४१५
काममुच्छिय ९८
कामी १४८
कामेसण १४८
काय ५२, ११०, २४९, २९८, ३८२, ४४५,
४९६, ५०४, ५०८, ५४७, ६१९
कायवक्क ४४५
काल ९४, ११४, २३९, ३५१, ५९४
कालमाकंखी ५३४
कालातियारं ५७६
कालुणिया (कारुणिक) १०५, १९०
कासव ११७, १३५, १६२, १९५, २२३, २४५, ३०१,
३५८, ५०१, ५२८, ६२७
कासवगं २८३
कासिय १०५
कासी २६५
काहिं २६८

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क

किंचण ४१, ८५
किड्डं (क्रीडा) ४६५
किती २१७
कित्ति ४५८
किब्बिसिय ७५
किमी ३१९
किरियवाद ५५५
किरियाकिरियं(रीणं) ३७८, ४८९
किरियावाइदरिसणं ५१
किरियं ५३५, ५३८, ५४२
किवण (कृपण) १४६
किह (कथम्) ६९
कीडापदोस ७०
कीतगडं ४५०
कीव (क्लीव) १८१, १९३
कीस (कस्मात्) १९३
कुओ (तो) १४, ४४, २३४, २३६, ६२६
कुंभी ३२३
कुकम्मि ३९८
कुजए १३३
कुट्ठं २८५
कुणिम (कुणप) २५४, ३२६
कुद्धगामिणी १८०
कुमारा ३९०
कुमारी २५९
कुम्म ३९५, ५२६
कुल ४, २५७, ४०३, ४०४, ५६७
कुलला ५२३
कुलिय १०२
कुसल ३१४, ५३६, ६०६
कुसील २५८, २६३
कुसीलधम्म ३८५
कुसीलयं ४०६
कुहाडहत्था ३१३
कूड (कूट) ३४४
कूरकम्मा ३१२
केयण (केतन) १७७
केली १३३
केवलिय ३००, ५४९
केवली ५३४
केस २८०
केसलोय १७७
कोट्ट ३४२
कोल ३०८
कोलाहल ४६७
कोविय ५९२
कोस २८९
कोहणे ५६१
कोहाकातरियादिपीसणा १००
कोहं ३७७, ५३१, ६३५
कंक (कांक्ष) ६२, ५२३, ५२४
कंखा (कांक्षा) ३०५, ३५१, ४०९, ४१०
कंखा (कांक्षा) ६२०
कंटइलं (कण्टकित) ३४२
कंटग २५७
कंठच्छेदणं २६८
कंडूविणट्ठंगा १७४
कंत ३२६
कंदू ३३३
खज्ज ३३३, ३३५, ३४६
खण २९०
खणजोगिणो १७
खणं १६१
खत्तिय १६८, १९६, ४३८, ५६६
खत्तीण ३७३
खव (क्षय) १०३, ५४९

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
खवितरया १६४
खार ३९३
खारगलणं (क्षार गालनं) २८९
खारपदिद्धितंगा ३२२
खारसिंचणाइं २६७
खिप्पं (क्षिप्र) ४२५
खुड्ड (क्षुद्र) ५७६
खुड्डग २८६
खुड्डमिगा ४९२
खुड्डिय १८४
खुर ३०७, ३२१, ६२०
खुरासिय ३२८
खेयन्न (खेतण्ण) ३५४, ६१९
खोतोदय ३७१
खंत ४३५
खंध १७
गति ५७२
गद्दभा २२९
गब्भ २२, २७
गब्भतथा ९०
गब्भाइ ३९०
गमे १८६
गय २०३
गरहिया ५७५
गरुल ३७२
गवं (गौ) १४७
गाढोवणीयं ३११, ३२०, ३३९
गाढं ३१६
गामकुमारियं (ग्राम कुमारिका) ४६५
गाम १७१, ५१२, ५७३
गामधम्म (ग्राम्यधर्म) १३५, ५२९
गार १५५, ४०३
गारव ४७२, ५६८

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
गिद्ध ९४, २०३, २६०
गिद्धनदा १५०
गिद्धि ४२३, ४८२
गिद्धुवघायकम्मग ४५१
गिम्हाभिताव १६९
गिर ५१३
गिरि ३६३, ३६५
गिरीवर ३६६
गिलाण २१२, २१५, २२३, २४५, ३३६
गिहि २१८
गिहिमत्त (गृह्यमत्र) १३०
गिहं १८१, १८७, २०३, २६३, ४३०, ४८७
गिहंतर ४५७
गुण १८२
गुत्त १५७, ४८७
गुत्ती ५८४
गुलिय (गुलिका) २८४
गुरु १४२
गुहा ३११
गेह ४९६
गेहि ४०७
गोतण्णतरं १११
गोते ५६२
गोतावायं ४६३
गोत्ते ५६६, ५९९
गोयमयं ५७१
गोरहगं (गोरथक) २९०
गंगा ३७२
गंड २३४
गंथ (ग्रन्थ) ६, ५८०
गंथातीत ३५६
गंध २८३, ३७०, ४४९, ५५६
गंधव्व ९३, ५४७

विशिष्ट शब्द	सूत्राङ्क
घडदासिए (घटदासी)	५८७
घडिगं (घटिका)	२९१
घम्मठाणं	३११, ३२०, ३३९
घर	१०६, १८७
घास (ग्रास)	७९
घोररूव	३०२
चक्कं	६२०
चक्खु(क्खू)	२५१, ५४६, ५९२, ६२०, ६२६
चक्खुपह	३५४
चक्खुमं	६१९
चतुरंत	३५१
चयं	४७५
चरग (चरक)	१२४
चरिया (चर्या)	४६६
चरिया-ऽऽसण-सेज्जा	८६
चारि	१७९
चित	२७०
चित्तमंतं (चित्तवत्)	२
चित्तलंकारवत्थगाणि	२७१
चित्ता	३३८
चित्तं	५६
चिरट्ठितीया	३०६, ३३२, ३३५, ३३७, ३४८
चिररायं (चिररात्र)	१५१
चिरं	२००
चेलगोलं	२९१
चोरो	१७९
चंडाल	४३८
चंद	३७०
चंदण	३७०
चंदालगं	२९०
चंदिमा	५१८
छक्काय	५०४
छण्णं(न्नं)	१३९, ४६२
छत्तोवाहणं	२८६
छत्तं	४५४
छन्नपद (क्षणपद)	२४८
छलायतण (षडायतन)	५३९
छहि	४४५
छावं (शाव)	५८२
छेए (छेक)	५८०
छंद	१३२, ४८९, ५७७
छंदाणुवत्तग	१४२
जग(गा)	६७, ८४, ९२, ४००, ४७९, ५२९, ६१०
जगट्ठभासी	५६१
जगती	९२, ५२९, ५३२
जगभूतिपण्ण	३६६
जगसव्वदंसि	१४१
जच्चणीए (जात्यान्वित)	५६३
जणा	२०, २५, ५७, १०४, ११२, १४२, १७०, १८६, ३८०, ४९०, ६१५
जणोववात	५५४
जती	३९६
जतुकुंभ	२७२, २७३
जमतीतं	६०७
जमलोइयाया	५४७
जम्म	२३
जम्मकाह	६२५
जरग्गव	२०२
जरउ(जरायुज)	३८१
जराऊ (,,)	४४४
जरित	३९१
जल	३३७
जलण	८७, ३११
जलसिद्धि	३९७
जलं	३३७, ६११
जविण (जविन्)	३३

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
जसो (यशः) ३६५
जसं ४५८
जसंसि (यशस्विन्) ३५४
जहातहेणं ३१८, ३२७, ३५३
जाणगा(या) १८, २१७
जात(य) ७१, १९१, २९३, ४८९
जाता २९०, ४०९
जातिअंध ५८, ५२६
जाति(ती) ३८९, ५५४, ५६६, ५६७, ६१३
जाति-जरा-मरण १६०
जाति-जाती ३८३
जातीवहं ३८३
जामु १८७
जामो १८७
जायणा १७०
जारिसं ३४९
जाल ६१४
जावते ७७
जिइं(तिं)दिय ४३१, ४६९, ५१२
जिण १६१, ३५८, ४३७
जिणवयण ५९२
जिणवर १६४
जिणसासणपरम्मुहा २३३
जिणाहितं ४४२
जिणोत्तम २७
जित ७६
जिब्भं ३२१
जिया २८, ३०
जीव ३८७
जीवकाय ५०४
जुतीमं (द्युतिमत्) ३४९
जुत्त (युक्त) १५७. ३२९, ३३०
जुवती (युवति) २७१

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
जुवाणगा (युवक) ३९०
जेतं १६५, १६६
जेहिं ४
जोग २५०
जोगवं ९९
जोति २७३, ५४२
जोतिभूतं ५५३
जोतिमज्झ ३३८
जोय ८४
जोयण (योजन) ३६१
जोव्वणं (यौवन) २३८
जोह (योध) ३७३
जंतू(तु) ४५, ४६, ९४, ३९१, ५०२, ५७४
झाण ५२२, ५२३
झाणजोग ४३६
झाणवरं ३६७
झीण (क्षीण) २३८
झुंझिय १७२
टंकण २२१
ठाण २८, ७५, ८७, ९३, १२२, ३३७, ३७८, ४२२, ५१२, ५८४, ६२१, ६२५
ठाणी ४२२
ठितप्पा (स्थितात्मा) ३५६, ४७८, ६३६
डहर ९०, १०४, ५५२, ५८६, ५८७
ढंक ६२, ५२३
ढंकादि ५८१
णक्खत्त ५१८
णगसव्वसेट्ठ ३६०
णगिंद ३६४
णण्णकडं ५४५
णभ ३६२
णमी (नमि) २२६
णय १३७

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
ण(न)र ४, ७४, ९३, ९८, १०८, ११७, १४६, १५५, ३९०, ४७०, ४९३, ६२१
णरगा ३००, ३५०
णाग ३७१
णागणिय ४०१
णाणसंका ५५९
णाणाविह २६
णाणी ८५, २९८, ३५६, ३७५, ५०६
णाणं (नाण) ४१, ४३, ३५३, ३६८, ३६९, ५४४
णातयो(ओ) १५८, १९१
णाति(ति)णं १८०, २६०
णाते ३६९, ३७२, ३७३
णादिए ४२९
णायएहि ४२२
णायपुत्त १६४, ३७२, ३७५
णायगा ५४६
णारंभी ४४५
णालिय ४५४
णालं ४४, ४४१
णावा (नावा) ५८, ३०८, ५२६, ६११
णास २७३
णितो ४६
णिक्किंचणे ५६८
णि(नि)ग्गंथ २५७, ४६०, ६३२, ६३३, ६३७
णिचय ४८१
णिच्चणिच्चेहि ३५५
णिच्चं ५०९
णिच्छवत्थ ४३
णिज्जंतय ५८६
णितिय (नित्य) ८१
णिब्भयं २५४
णिय (निज) ११९
णियते(ए) २१७, ५४१

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
णियय ३१, २७०
णियागपडिवण्णे ६३७
णिराकरे ५३१
णिव्वाणवादी ३७२
णिसम्मभासी ४८२
णिसिज्जं (निषद्या) ४५७
णिसं (निशा) ३०४
णिस्संसय ४८५
णिहोणिसं ३०४
णीवार २७७, ६१८
णूण १४१
णेग २५३
णेतारो (नेतारः) ५५०
णेता(या) ३५८, ५९१
णेयाउयं १०९, ४२१
णेयारं ३९६
णेरइए ३१४
णे(ने)व्वाण ५४, २४४
णंतकरे ५८३
ण्हुसा (स्नुषा) ४४१
तउ ३२४
तओ ५३, ५४
तक्क ४९, ५७६
तगरु २८५
तगं ५८६
तच्छ ३१३
तच्छिय २६७
तज्जातिय २९६
तणफास १७६
तणाइफास ४८६
तणं १२३, ३८१, ४४४, ५०३
ततिया ४६२
तत्तजुग ३३०

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क

तत्ततवोघण २२५
तत्थं ११८
तप्प ३४२, ३५७
तब्भावादेश ४१३
तम १४, १७५, ३५७
तय(त्वक्) १११
तयो ३४१
तरुण १५०, २३७, ५८१
तलसंपुड ३२२
तव ३७४, ४०७, ४३४, ५६४
तवस्सि(स्सी) १०३, १०४, ४८४
तवोमयं ५७१
तवोवहाण ३७१
तसथावरा ५०७, ५१४, ५७७
तहच्चा ५६३, ६२४
तहागय(त) १२८, ५५०, ५५८, ६२६
तहाभूत २८१
तहावेदा २६४
तहिया ५४४, ६००
ताइ(ई)(यी) १२७, १३४, ४८५, ५९५, ६०५
तात(य) १८३, १८९
तारा ३७०
तारागण २२६
तारिसं २०५, ४२७
ताल ९४
तिक्ख (तीक्ष्ण) ३२१, ३३६
तिक्खसोता ३०७
तिगंड ३६१
तिमिसंधयार ३०२
तिरिक्ख (तिर्यंच) ३५१
तिरिया (,,) १२५
तिरयं (तिर्यंच) २१०, २४४, ३१०, ३५५, ४७४, ५०७, ५९३

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क

तिलगकरणि (तिलककरणी) २८७
तिलोगदंसी ५९५
तिव्वभिवेदणा ३१५
तिव्वाभिताव २१९, ३२०
तिव्वं १०, ४५, ९५, ३०३
तिसूलिया (त्रिशूलिका) ३०८
तीत ११५
तीरसंपत्ता ६११
तुच्छए ६००
तुट्ठ (तुष्ट) ३२९
तेऊ (तेजस्) ७, १८
तेजपुट्ठा १७२
तेय १३३, २६७
तेल्लं २८५
तंबतत्तं ३२४
तंवोल २८९
थाम (स्थामन्) ५२९
थावर ८३, २४४, ३०३, ३५५, ३८३, ३९९, ४७४, ५०७, ५९३
थिमित २३५, ५३६
थिर ३२८, ५८६
थूलं ३२९
थेरओ १८४
थेरगा ३९०
थंडिल्लुस्सयण ४४७
दक्खुवाहित १५३
दग २२७, २३५, २३६, ३९४
दगरक्खस ३९५
दगसत्तघाती ३९७
दगाहरणं २८७
दट्ठुं(दट्ठु) १५२, २६०, २६१, ३९१, ४००
दढधम्म १६५
दढे ६१७

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
दत्तेसणा ७९, १७०, ५०९, ५३४
दरिसण १९
दवि १०९
दविओवहाणवं १०३
दविय १०५, ११४, २५६, ४२०, ५८३, ५९४, ६३२, ६३३, ६३५-६३७
दह ३०५, ३८७
दाण ३७४, ५१६
दाणट्ठाए ५१४
दाणि २००
दार १२३
दारगं २९४
दारुण १२९
दारूणि २८२
दावरं १३३
दास २९२, २९५
दासी २५९, २६१
दिट्ठधम्मे ५७३
दिट्ठिमं २२४, २४६, ६०४
दिट्ठी(ट्ठि) ५७, २१९, ६०४
दिट्ठे(ट्ठं) १७६, ३९९
दियस्स (द्विजस्य) ५८२
दियापोत (द्विजपोत) ५८१
दिवि ३५८
दिव्वगा १२५
दिव्वयं १३३
दिसा १५१, ३०५, ३१०, ३५५, ४७४, ५९३
दिस्स(स्सा) १८३, २०६
दीण ४०५, ४७९
दीव ३५५, ४७०, ५१९
दीवायण (द्वैपायन) २२७
दीहरायं (दीर्घरात्र) ३७८
दीहा (दीर्घा) ३०८

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
दुक्कडकम्मकारी ३२७
दुक्कडिणो ३४४
दुक्कडियं ३०१
दुक्कडं २६४, २६५, ३१५
दुक्ख ३१५
दुक्खखयट्ठयाए ३७९
दुक्खफासा ४१७
दुक्खविमोक्खया ३२
दुक्खविमोयगा ४३९
दुक्खि(क्खी) ९३, १५४, ३१५, ३४९
दुक्खं २, १०, २४, २६, २८, २९, ४९, ६९, १४३, १७०, ३४८, ४०८, ४०९, ४७६, ५२५, ५४५, ६२३
दुगुणं २७५
दुण्णिवोह ६३१
दुण्णियाइं ३८४
दुत्तरा २४०
दुत्तरं ४९७
दुपक्ख ६०, २१४, ५३९
दुपणोल्लिया (दुष्प्रणोद्य) १७०
दुप्पतरं ३१०
दुब्बल २०१
दुब्भगा १७०
दुब्भि ४८६
दुब्भिगंध ३२६
दुमोक्खं (दुर्मोक्ष) ५४८
दुम्मति ४८, ५२५
दुरहियासया १८१
दुरुत्तर ९९, १८२
दुरुद्धर १२१
दुरूवस्स ३१९
दुरुवभक्खी (द्रुरुवभक्षिन्) ३१९
दुल्लभ ६२३, ६२४

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
दुल्लभा ८९
दुहावह १२०
दुहावास ४२१
दुही ६२
दुहं १२०, १४०, १५९, १६०, ३०१, ४८१, ४९३
दूरे ४०१, ४०३, ४९२
दूरं ४६, ११५
देव ९३, १५५, ३५८, ३८०, ४९९, ५००
६२२, ६३०
देवउत्त (देवगुप्त-देवोप्त) ६४
देवाहिपती ३५९
देविले २२७
देह १०२, ३२०, ३२८, ४८९, ५४३
देहि ८, १२, ९१
दोण्ह ५९७
दोस २००, २३४, २३६, ५०८, ६३४, ६३५,
दंड १८०, ३१८, ३३१, ३३९, ५७९
दंडपहं ५६१
दंतपक्खालणं २८८, ४४९
दंतवक्क (दंतवक्त्र/दंतवाक्य) ३७३
दंसणं ३५३, ३६८
दंसमसय १७६
दंसं ४८६
धणं ४०३
धम्म ११५, ११६, ११७, ११९, १३४, १३६,
१३८, १४२, १९४, २२३, २२४, २४५,
२४६, २७१, ३५२, ३५४, ३५५, ३५८,
३६७, ३८०, ३८६, ४०४, ४२९, ४३७,
४६०, ४७३, ४८१, ४८८
धम्मट्ठ ६२४
धम्मट्ठि (ट्ठी) १२८, १४०, १५७, ६३७
धम्ममाराहग ४७
धम्मलद्ध ४०१

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
धम्मविऊ (दू) २०, २५, ६३७
धम्मसार ४२४
धम्माऽधम्म ४९
धम्मिय ९५
धरणिद ३७१
धरणितल ३४५
धाउ १८
धाती २५९, २९४
धार १४५
धिइ. ३५४
धिइ(ति)मं ४९५
धितिमंता ४६९
धीर ८१, ८२, २३९, ३५०, ३५७, ४०२,
४०८, ५०९, ५४४, ५४९, ५७७, ६२१
धुण ३७६, ४८३, ६२८
धुत ४२८
धुयं १३९, ४०९
धुवमग्ग २६३
धुवं ९६, १०९, ३५१
धूण ४४७
धूतरय २९९
धूयराहिं २५९
धूयमोह २९९
धोयणं ४४८
नक्कं ३२१
न(ण)गर १७१. ५१२, ५७३
नगरवहे ३१७
नच्चाण २०६
नट्ठसप्पहसब्भाव २१३
नदी २४०, ३४७
न(ण)रय ३०२, ३१९, ३४४
नवग्गह १९२
नवसुत्तं २९२

विशिष्ट शब्द	सूत्राङ्क
नाणप्पकारं	५५७
नाणा	९
नात(ता)	१३६, २०९
नातसुत	३५३
ना(णा)तिवेलं	४६५, ६०४
ना(णा)तिसगं	१९०, १९२, १९३
नाम	२३५, ३०५, ३१०, ३१३, ३३२, ३३४, ३३५, ३४३, ३४६, ३४७, ६१३
नायपुत्त	२७, ३६५, ३७४
नारग	३०५, ३१३
ना(णा)री	२४०, २४१, २६६
नावकंख	४७०, ६१५
निकाममीण	४८०
निकामसारी	४८०
निज्जरं	५५५
निट्ठितट्ठा	६२२
निट्ठं	६२७
निद्दं	५८५
निमित्त	५४३, ५४४
निम्ममो	४४२
नियतिभाव	१६
नियम	१९९
नियाणछिन्न	४९६
नियामित्ता	२२४, २४६
नियायट्ठी	४७
नियंठिया	४६२
निरामगंध	३५६
निरावकंखी	४९६
निरुद्धगं	६०२
निरुद्धपण्णा	५४२
निरंतरं	३४८
निविट्ठाण	४३९
नि(णि)व्वाण	४७२, ४९४, ५०७, ५१७, ५१८, ५२०

विशिष्ट शब्द	सूत्राङ्क
निव्वाणसेट्ठ	३७५
निव्वावओ	३८६
निव्विंद	१५४
निहाय	५७९
निहं	३३७
नीरय	७१
नीवार	२००
नीवारगिद्ध	४०५
नंदण	३६९
नदीचुण्णगाइं	२८६
पडस्स	५६
पक्खिवण्प	३२०, ३२४, ३३३
पक्खी	३७२
पखज्जमाण	३३३
पगब्भिणो	३४६
पगास	१३९, ३५७
पगासणं	५९८
पच्छ	१४९
पच्छण्णभासी	६०५
पच्छा	७१, २३८, २३९, २५६, २७९
पज्जोओ	२८२
पट्ठ	३२९
पट्ठि	२८२ ३४०
पड	३०२, ३१९, ३४५
पडिआह	६३३
पडिपुण्ण	५२०, ६२५
पडिपुण्णभासी	६०३
पडिपुण्णवीरिय	३६०
पडिबंध	१९१
पडिभाणवं	५९६
पडिभास	१७३
पडियच्च	३७८
पडिवक्ख	५०२

विशिष्ट शब्द	सूत्राङ्क
पडिविरत	६३५
पहुप्पण्णं	६०७
पणामए	१३७
पणोल्ल	४२०
पण्णसमत्त	११६
पण्णसा	३५९, ५६९, ५७०
पण्णामयं	५७१
पण्णे	३५५, ३६६, ५९८
पण्ह	५९७
पतिट्ठा	५१९
पतिट्ठाणं	५३२
पत्तेय	११, ११८
पदाण	३१७
पदोसहेतु	६३५
पब्भट्ठा	२६२
पभास	२१४
पभू	३७९, ५०८
पमाय(द)	४१३, ५८५, ५८८
पमायसंगं	५९५
पमोक्खो	४८४, ५४५
पयच्छ	२८४, २८८
पयपास	३५, ३६
पया	१३२, ३३५, ४७५, ४७६, ४८७, ५४६, ५७५, ५८९, ५९४, ५९९
परकिरिया	२९८, ४५४
परक्कम (पराक्रम)	१८८, २४८, ५८४
परक्कंतं (पराक्रान्त)	२३९, ४३२, ४३३
परगेह	४६५
परतित्थिय	३५२
परतो	५१६, ५५३
परत्था	३८४
परदत्तभोई	६३६
परदारभोई (परदत्तभोजी)	५६६

विशिष्ट शब्द	सूत्राङ्क
परधम्मियाण	३०५
परपरिवाय	६३४
परभोयण	४०५
परम	१४५, २३०, ३६८, ४३६, ५१८
परमट्ठाणुगामिय	४४२
परमत्त	४५६
परमत्थि	३७५
परलोग	१२०, १५२
परवत्थ	४५६
पराजयं (पराजय)	२०४
पराजिय (पराजित)	२०५
परिकप्प	३९३
परिग्गह	११९, २३२, ४३९, ४४३, ४४९, ४८०, ४८५
परिग्गही	४४५
परिणाम	४२७
परिताण	३३
परिदेव	१४९
परिभास	२११, २१४
परियाय	६८, ८३
परिविच्छ	११६
परिसा (परिषद्)	२६४
परिहास	५९८
परीसहोवसग्गे	६३६
पलिगोव	१२१
पलिभिंदियाण	२७९
पलिमंथ	४४८
पलियंक (पर्यंक)	४५७
पलियंत (पर्यन्त)	९८, १७९
पलीणा	३९०
पवत्तगं	६२८
पवाद	२७२
पविज्जलं (प्रविज्जल)	३३१, ३४२, ३४७

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
पविट्ठ १७७
पवंच ४१०
पव्वगा १९
पव्वदुग्ग ३६३
पसिणायतणा (प्रश्नायतन) ४५२
पसु (पशु) १५८, २९७, ४०३, ४९१
पसुभूत २९५
पसंस ५०, १३९, ५१६
पह ४६
पाउ (प्रादुः) ५५७
पाउडा १३२, १७५
पाउल्लाइं २९२
पाओसिणाणादि ३९३
पागब्भि (प्रागलभिन्) ३०४, ३८८
पाडिपंथिय १७३
पाण ३, ४१, ८३, १००, ११८, १५४, १५५, २४२
३०४, ३१८, ३५५, ३८१, ३८६, ३८७, ३८८,
३९४, ३९६, ४०६, ४२९, ४७४, ४७६, ५०४,
५१९, ५७९, ५९३, ६१७
२७६
पाणगं
४१४
पाणभूयविहेडिणो
४५४
पाणहाओ
२३२, ६३५
पाणाइवाय
४७८
पाणातिपात
४३५
पाणासि
पाणि ९२, १०१, १६०, १६३, १७२, ३०३, ४१४, ५१६
५१०
पाणं (पान)
२७६, २८२
पात (=पात्र)
१९३
पाताल
३९४, ३९८
पातं (=प्रातः)
पाद(य) २७९, ३१३, ३२८, ३३९, ४२७, ४७४
६३१
पादुकरा
२५६
पायसं

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
पार ५८, ५२६
पारगा २२, २५, ११९, ५९७
पारासर (पाराशर) २२७
पावकम्म ९८, ४७७, ६१२
पावकम्मी ५६१
पावगं ५३, ५४, ५७, २७४, ४२०, ४२७, ४३१,
६१२
३३५
पावचेता
पावधम्मा ५८२, ६००
पावलोग १५१
पावविवेग ६०३
पावसंतत्ता २६८
पावाउया (प्रावादुका) ७२
पावादुया (प्रावादुक) ५३५
४१७
पावोवगा
पास ९६, १०७, १८७, २४९, २५०, २५४, २५५,
४७६, ४८४, ५९२
१३८
पासणित (प्राश्निक)
४०६
पासत्थयं (पार्श्वस्थता)
३२, २३३, २३७
पासत्था
४०
पासवद्धा
४५५
पासवण (प्रस्रवण)
१८५
पिउमातरं
२१२
पिंडवाय
पिट्ठ १९२, २०४, २०९, २२९, २४१,
३२८
१७४
पिंडोलगाहमा (पिंडोलकाधम)
१८५, २४७, ३८५, ४०३
पित(य)रं
९१, १०७, १८४, ४४१,
पिता(या)
४९१
४७९, ५७८, ६१४
पिय
२३४
पिलाग (पिटक)
२२९
पीढसप्पी (पीठसर्पिन्)

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
पुच्छ ३००, ३५२, ४९९, ५००, ५९४
पुट्ठ ५२, ११५, १२३, १४३, १६९, १७६, १८३, २७४, ३०१, ३६२, ४०९, ४६६, ४८८, ५३७, ५६०
पुढवी ७, १८, ३८१, ३८७, ४४४
पुढवीजीवा ५०३
पुढवीयूभ ९
पुढो २८, ३०, ७२, ९२, ११८, १७० ३८८, ४००, ४१६, ४८०, ४८९, ५०३, ५९४, ६१७
पुढोवमे ३७६
पुढोसिया ५४७
पुण(पुणो) २६, २८, ७०, ७५, १०८, १५४, १८८, २५५, २६८, २७७, २७८, ३११, ३१४, ३१७, ३२०, ३३३, ३३९, ४७९. ५१७, ५४७, ६२३, ६२४
पुणरावि ८९
पुण्ण (पुण्य) १२, ५१३
पुण्ण (पूर्ण) २१९
पुत्त ५५, १६६, १८६, ४०३. ४४१, ४४३
पुत्तकारणा १०५
पुत्तदोहलट्ठाए २९२
पुत्तपोसिणो २९३
पुप्फ ३७३
पुरक्खायं ५१
पुरत्था ३००, ३०१
पुरा १३७, १४१, १६२, ३३१, ६३१
पुराकएहिं ३१८
पुराकडं ७४
पुरिस ९८, २६६
पुरिसजातं ५६३
पुरिसादाणिया ४७०
पुरेकड ३२७, ६१४
पुलाए ४०६
पुव्वकडं ६२८
पुव्वमरी ३४५
पुव्वसंजो(यो)ग ७६, २४७
पुव्वं २१९, २२८; ३३९, ६३५
पुव्वि २२५
पूति ४५०
पूतिकड ६०
पूतिकम्म ५११
पूयणकामए (पूजनकाम) २७५
पूयणट्ठी ४९५
पूयणपत्थय १२६
पूय(त)णा १२१, १५४, २३७, २४१
पूयणं (पूजनं) ४०७, ५७८
पूयफलं (पूगफल) २८९
पूया ५९०, ६३७
पेच्च (प्रेत्य) ८९, ९१
पेच्चा (पीत्वा) ११
पेज्जं (प्रेयस) ६३४, ६३५
पेस २८१, ३३१
पेसगपेसय ११३
पेसलं २२४, २४६, ५६३
पेसाय ५३
पेसुन्न (पैशुन्य) ६३४
पेस्स (प्रेष्य) २९५
पेहा (प्रेक्षा) ३५४
पोय (पोत) ४४४
पोस(से) १०७, १८३, १८५
पोसवत्थ (पोषवस्त्र) २४९
पंच ७, १५, १७

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
पंचम ७
पंचसिहा ३९०
पंजर ४९
पंडगवेजयंत ३६१
पंडित(य) ११, १०९, ११४, ११८, १२९, १३४, १४३, ३८६, ४१३ ४१९, ४२५, ४२८, ४७२ ५३०, ५७१, ६२७, ६२८
पंडियमाणिणो ३१, ७३
पंथाणुगामी ४६
पंसगुंडिय १०३
फणिह २८८
फरुस ११५, १८१, ५५८, ५८८, ६००
फल १८०, २९३
फलग ३१३
फलगावतट्ठा (ट्ठी) ३४०, ४१०
फास १८१, ३२६, ३४८, ३९४, ५३३
फंद २५५
वद्ध ३६, २५५, २७९, ३४६
वला ३३१, ३४२
वलि ३४२
वहित्तो ५८३
वहिद्धं ४४६, ६३५
वहु(हू) ११८, १२९, १४२, १४९, २३१, २६३, २९५, ३०४, ३८८, ३९४, ४१८, ४७१, ५४०
बहुकूरकम्मा ३२५, ३३७, ३४३, ३४६, ३८३
वहुगुणप्पगप्पाइं २२२
वहुजणणमण ११७
वहुणंदण ३६२
बहुमाया १३२, २७०
बहुस्सुय ९५

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
वहूगुणाणं ५५९
वहूजणे ५७४
बांधव ४९१
वाल ४, ११, १७, ३१, ७६, १३१, १५८, १७९, १८०, २३३, २६५, २७५, ३००, ३०२, ३०४, ३१२, ४१३, ४१८, ४१९, ४७७, ४८०, ४८९
वालजण १३१, १५२
वालपण्णे ५७०
वालागणीतेयगुणा ३२३
वालिस ३९१
वाहु(हू) २२६, २४९, ३२९
बिंवभूतं ५६४
वितियं २७५
वीओदगं २१५, २२८, ५२२
वीयं १८७, २२७, ३८१
वीयादि ३८९
वुद्ध १९५, ४३३, ४६८, ४७८, ५१८, ५२१, ५९१
वुद्धमाणि ५२१
वुयाऽवुयाणा ३९०
वुहा ५८९
वोक्कसा ४३८
वोहि १६१
वंध १७९, २५४, ३८४
वंधणच्चुत ९४
वंधणुम्मुक्का २३९, ४२०, ४७०, ६१५
वंभउत्त (ब्रह्मोप्त) ६४
वंभचेरे ७२
वंभचेरपराजिय १७७
भगवाणुसासणं १५६
भगवं १६४, ६३२

विशिष्ट शब्द **सूत्राङ्क**

भज्जा (भार्या) ४४१
भत्तपाण ८६
भत्तं (भक्त) २९१
भय ९९, १२७, २०६, २७९, ३९१, ४६४
भयणं ४४७
भयभिन्नसण्णा ३०५
भयाउल (भयाकुल) १६०
भयावह ५७७
भयंतारो (भदन्त) २७०, ६३७
भवगहणं ५४८
भाया ४४१
भार ३२५, ४०९
भारवहा २९३
भारिया १७०, १८६
भाव १६, ५३७, ५७६
भावणाजोगसुद्धप्पा ६११
भावविसोहि ५४
भासादुगं ६०१
भासादोस ४२७
भिक्खाचरिया-अकोविय १६७
भिक्खुचज्जा (भिक्षुचर्या) २०१
भिक्खुभाव १९९
भिक्खू ७७, ७८, ८८, ९५, १०५, १२२, १२६, १२९, १४३, १५६, १६२, १७२, १७९, १८२, १९४, १९६, २१०, २११, २१४, २१८, २२३ इत्यादि
भिदुग्गा ३४७
भिदुग्गं २०७, ३४७
भिन्नकहा २५३
भिन्नदेहा ३४०, ३४५
भिन्नुत्तमंग ३१४

विशिष्ट शब्द **सूत्राङ्क**

भिलिंजाए २५८
भिसं (भृशम्) २४९
भीरु १७१, २०४, २०५
भूत ३८५, ३८८, ३९९, ६०९, ६१०
भूताभिसंका ५५१, ५९९
भूतिपण्ण(न्न) ३५७, ३६९
भूमि ३०६, ३३०, ३३१, ३४२, ३६२
भूमिचर ९३
भूय ५१०, ५३२
भूरिवण्ण ३६४
भेद २७९
भेरव १२४, १२६, ५८५
भोग १९६, १९७, १९८, २७८
भोगकामी २७८
भोम ३६३
भोयणं २६१
मइमं ४७३, ४९३, ५०५
मए २८०
मग्ग २१७, २३०, ४९७, ४९८, ४९९, ५२५, ५४६, ५९१, ६१६, ६३१
मग्गसार ५००
मग्गुका (मद्गुक) ५२३
मग्गू ३९५
मच्चिया (मर्त्य) ४१२
मच्छ ६१, ६३, १६९, १७७, ३१२, ३९५
मच्छेसणं ५२३
मज्ज १११, ११२, १३१, ३९३
मज्झत्थ ८७
मज्झिम ३९०
मज्झे ३६६
मणसा ५३, ५६, ११०, २७०, २९८, ४१६, ४२७, ४३०, ४४५, ५०८, ६१९

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
मणप्पदोसं ५९३
मणबंधण २५३
मणुय ९८, १२५, १३५, ५८३, ५९९
मणुयामर ३५१
मणुस्स (मनुष्य) १९३, २६०, ६२०
मणूसा (मनुष्य) ५४०
मणोरम ३६४
मतीमता ४३७, ४९७
मत्ता १४२
मदाइं ५७२
ममाइणो १०७, ११९
मम्मयं ४६१
मरण १४३, १७६, २०९, ५५४
मरणाभिकंखी ४९६, ५५६, ५७९
मल्ल ४४९
महती २५९
महब्भय ४९३, ५१३, ५२७
महिब्भताव ३१०, ३१३, ३१९, ३४३
महब्भूया(ता) ७, ८, १५
महरिसी (महर्षि) १९७, २२७
महव्वय (महाव्रत) १४५
महाकुला ४३४
महागिरी ५३३
महाघोर ५०१, ५२८
महानागा ४३२, ४३३
महापण्णे ५०९, ५३४
महापुरिस २२५, २२८
महाभवोघं ३७६
महामुणी १२५, ४६०, ४९८, ६३३
महारह १६५
महालय ३०९
महावराह ४०५
महाविंहि १०९
विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
महावीर २७, ४६०, ६१३, ६१४, ६२९
महासढ २६४
महासवा १९४
महासियाला ३४६
महिंद ३६२
महीय ३६४
महुरुल्लावा १८६
महेसि(सी) ६६, १३६, ३००, ३६८, ३७७, ५७२
महोघ १४२
महोदधी ३५९
महं ११२
महंत ३१०, ३३७, ३४२, ३४४
महंतरं १४२
महंताधियपोरुसीया ३२३
महंतिउ ३३८
मा १३७
माइण ४१५
माइल्ल (मायिन्) २६४
माणणट्ठेण ५६५
माणबद्धे ५६६
माणव (मानव) ६, ९०, ४८९, ५४६
माणि(णी) ११६, ६३४
माणुसत्तं ३९१
माणुसा ४९९, ५००
माणुस्सए ६२१
माणं ३७७, ४२८, ५३१, ५९८, ६३५
मात(य)रं १८५, २४७, ३८५, ४०३
माता(य) ९१, १०७, १६६, ४४१
मातिट्ठाण (मातृस्थान) ४६१
मामए १३८
मायण्णि (मात्राज्ञ) ५६०

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
माया ६६, ९७, ३७७, ४१५, ४२८, ४७२, ५३०, ६३५
मायामोस (मायामृषा) ६३४
मार २५, ६६
मालुया २९१
मास ९१
माहण ६, ४१, ६७, ९३, ९५, १०३, १११, ११५, ११६, १३२, १३९, १९६, ३५२, ४३७, ४३८, ४९७, ४६६, ६३२, ६३३, ६३४
मिग(य) (मृग) ३३, ३९, ४०, २५५, २९५, ३७२
मिच्छ ५९९
मिच्छत्त २२१
मिच्छ(च्छा)दिट्ठी ३७, ४०, ५९, २३७, ५२४, ५२७
मिच्छदंसणसल्ल ६३४
मिच्छसंठियभावणा १७८
मित्त (मित्र) ४९१
मिलक्खु(क्खू) ४२, ४३
मिस्सीभाव २३३
मुट्ठि १८०
मुणिवेजयंते ३७१
मुदागर (मुदाकर) ३६०
मुद्धि (मुर्द्धिन) २७९
मुम्मुई ५३९
मुम्मुर ३०९
मुयच्चा (मृतार्चा) ५७३
मुसल ३४५
मुसावाय २३२, २४३, ४४६, ६३५
मुहमंगलि (मुखमांगलिक) ४०५
मुहुत्त २०५

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
मुहुत्तग २३४, ३४३
मुहं २८५, ३२९
मुंड १७४
मूढ ३८, ४५, ३३२, ५८९, ५९०
मूढणेताणुगामि ४५
मूल ३२९
मेत्त (मात्र) ३९६
मेत्ति (मैत्री) ६०९
मेधावी(वि) ५५, ७२, २९८, ४२६, ४८१, ४९२, ५४९, ६१२, ६२६
मेयं (मेदस्) ५८८
मेहावि(वी) ३८६, ४२३
मेहुण २३२
मोक्ख ३९२, ३९३, ५९६
मोक्खविसारद २१४
मोणपद ११३, ११८, ५६५
मोणं ५९६
मोयणा ५९७
मोयमेहाए (मोकमेह) २८९
मोह ९८, १०८, १३२, १५४, २७७, ४९१
मोहणिज्ज १५३
मंत ४१४
मंतपद ५९९
मंदय २७५
मंदा १०, १४, ३५, १६८, १६९, १७१, १७२, १७५, १७७, २०१, २०२, २२५, २२९, २४८, २७७, ३९६, ४९०
मंधादए (मन्धादक) २३५
मंस (मांस) ३९३
याण १६६, ४८८
यंतसो १४७
रओहरणं (रजोहरण) २८३
रक्खण-पोसण २६०

विशिष्ट शब्द	सूत्राङ्क
रक्खसा	९३
रक्खसाय	५४७
रज्ज	२७८, ४१७
रज्जहीणा	१६८
रणसीस (रणशीर्ष)	१६६
रत	४७८
रति	३६२, ३६९, ४८६, ५७४
रयण (रत्न)	४४८
रयं	१०३, १११, ५१७, ६२९
रव	२६४
रस	३२४, ४४४, ५५६
रसवेजयंते	३७१
रहकारु	२५५
रहस्सं (रहस्य-रहसि)	२६४
रहंसि	३२९
राईणिया (राजन्या)	१४५
राओ (रात्रौ)	२९४, ५९१
रागदोसाभिभूतप्पा	२२१
राति (रात्रि)	८९
रातिदियं	३२२
रातिणिय (रात्निक)	५८६
रातो (रात्रि)	२८२, ३४४, ४९०, ५५८
रामगुत्त	२२६
राय	९३, १९६
रायमच्चा (राजामात्य)	१९६
रायिहिं	१२८
रिसी	२२६
रुक्ख (रूक्ष-वृक्ष)	१९१, ३६९, ३८१, ४४४
रुद्द	३०२, ३४१
रुयग	३३६
रुहिर	३१४, ३४५
रूव	१८, ४०१, ५४२, ५५६, ५७७
रोगदोसस्सिय	४१८
रोगवं (रोगत्)	१४४
लक्खण	५४३
लज्ज	११३
लद्ध	१४८, ४६८
लद्धाणुमाणे	५७६
लवसत्तम	३७५
लवावसक्कि	१३०
लवासंकी	५३८
लसुणं	३९३
लाउच्छेदं	२८१
लाढ	४७५
लाभट्ठी	६३७
लाभमयावलित्ते	५७०
लाभंतराय	५१५
लाविय	१०६
लित्त (लिप्त)	२१६
लुत्तपण्णे	३११
लुप्पंत	४४१
लूस	१७२, १७८, ३०३, ४०१, ५९८
लूहं (रूक्ष)	१६७, २०२, २७१
लेच्छती (लिच्छवी)	५६६
लेववं (लेपवत्)	१०२
लोइयं (लौकिक)	१८५
लोउत्तम	३७४
लोए(गे)	९, १२, १४, १५, ४१, ६४, ६६, १७६, १८५, ४८८, ५४१, ५४६
लोगतं	१५५
लोगवाय	८०
लोण (लवण)	३९३
लोद्धकुसुमं (लोध्रकुसुम)	२८४
लोद्धं	२८४
लोभमयावतीत	५४९
लोभं	३७७, ६३५

विशिष्ट शब्द **सूत्राङ्क**

लोमादि १२५
लोय(ग) ६८, १०१, १०७, १३४, १८५, २४०, ३५०, ३७९, ४४६, ४४७, ४८८, ५४३, ५४६, ६१२, ६२६
लोल ३०९
लोलणसंपगाढ ३१६
लोहपहं (लोहपथ) ३३१
लोहविलीणतत्ता ३४७
लोहितपूयपाती ३२३
लोहितपूयपुण्णा ३२३
वइं (वाच्) ५०, १७४
वइगुत्त (वाग्गुप्त) १२२
वइरोयणिंद (वैरोचनेन्द्र) ३५७
वई (वाच्) २१७, २१८, ४८७
वग्गुफलाइं २८१
वघातं (व्याघात) ५७६
वच्चघरगं (वर्चोगृहक) २९०
वच्चसमूसियंगे ३१४
वच्चे ६३२, ६३३, ६३४, ६३५, ६३६, ६३७
वज्जकरा (वर्ज्यकर) २९६
वज्झं (वध्य) ३५
वज्झस्स ३५
वट्टयं (वर्तक) ९०
वणे ४५, १९१, ३६९
वणिय १४५
वतं (व्रत) ५३३
वत्थगंध १९८
वत्थधुवा (वस्त्रधाविन्) २९४
वत्थयं २८६
वत्थीकम्म ४४८
वत्थं २७६, २८३, ४०१
वद्धमाण ३७३
वद्धमंस २६७

विशिष्ट शब्द **सूत्राङ्क**

वद्धं (वर्ध्र) ३२८
वमणंजण ४४८
वयण ६०३
वयसा ११०, १३२, २९८, ४१६, ५०८, ६१९
वयं ४७, १८७, १८९
वयंत १७, ४३
वयि १२३
वर ४८४
वलय २०, ४९६
वलयायताणं ३६६
वलयाविमुक्के ५५६, ५७९
ववहारादी १८९
ववहारी २४२, ५०१
वसवत्ती ७३, २५७
वसु ५६५
वसुमं (वसुमत्) ५६४, ६१७
वसोवगं ३३६
वाइ १४, २०, २५
वाउजीवा ५०३
वाऊ ७, १८, ३८१, ४४४, ६१४
वात(य) ५३३, ५४१
वादं ५६४
वायावीरियं २६३
वारिय (वारितवत्) ३७९
वारिया (वारयित्वा) ३७९
वालवीयण (वालवीजन) ४५४
वाससय १५०
वाहं (व्याध) १९७
वाहच्छिन्न २२९
वाहि-मच्चु-जराकुल २६
विऊ(दू) ७९, १२०, १४८, २७२, ४००, ४६४, ६३७
विओवात (व्यवपात) २०७
विगतगेही ३७६

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
विगयगेही ८६
विज्जभावं ५४४
विज्जा (विद्या) ९, ५०७
विज्जाचरणं ५४५, ५६७
विज्जापलिमोक्ख ५४४
विज्जं (विद्वस्) ७७, १२०, ३५६, ३९९, ४४५, ४५४, ४५६, ४५९, ५७७
विणय ५३५, ५८०
विन्नीय ४०७, ४८२
विण्णत्तिधीरा ५५१
विण्णप्पं (विज्ञाप्य) २९६
विण्णवणाहि (विज्ञापना) १४४
विण्णवणित्थीसु २३४-२३६
वितक्क (वितर्क) ४८
वितहं (वितथ) ६०२
वितिगिंछसमावण्णं २०८
वितिगिच्छतिण्ण ४७५, ४३६, ५८५
वित्त (वृत्त) ५, ११०, १५८, ४४०, ४४३, ४९१, ५८३, ५९४
वित्तिच्छेय (वृत्तिच्छेद) ५१६
विदुमं १२१, १५९
विद्धंसणधम्म १२०
विद्धंसमाण ६२४
विधूणयं २८७
विधूमठाणं ३३४
विपरीयास ८४
विप्पगब्भिय ३२
विप्पमादं (विप्रमाद) ५८०
विबद्ध १९०, १९२, ३४२
विभज्जवाद ६०१
विमण १६९
विमुक्क ४९५, ४९६
विमोक्खहेउ ४८८

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
विमोयणाए ५६७
वियड (विकट) ७१, १३२, ४०१, ४०२, ४५५
वियत्त (व्यक्त) ६०६
वियासं ३२९
विरति ११८, २४४, ५०७
विरतसव्वपावकम्म ६३४
विरम ९१
विरेयण ४४८
विलंबगाणि ३८८
विवण्णचित्त ३४२
विवरीतपण्णसंभूत ८०
विवाद ४५३
विवित्त (विविक्त) १२७, २४७
विविहठाण ४२२
विवेक(ग) ९६, २५६, ४०९, ४६८, ४७८
विसएसणं ५२४
विसएसिणो ४४०
विसण्णमेसी ४८०
विसण्णा (विषण्ण) २४२, ५४८
विसण्णे २७५, ४७९
विसम ६१, १०८, १२४, ३४४
विसमिस्सं २५६
विसमंत ३६
विसय ४३, ४८५
विसयपास (विषयपाश) २७७
विसयंगणाहिं २४८
विसलित्तं २५७
विसारए (विशारदः) ५६६
विसिट्ठ ३५८
विसुद्ध १५६
विसूणितंगा ३३५
विहत्थिमेत्तं (वितस्तिमात्र) ३२१
विहन्न ३२८

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
विहर ९९, १४०, २५१, २५८, २८०
विहारगमण १९७
विहूणिय ३९
वीतगेही ४३५
वीमंसा ४४
वीर १, ९९, १००, १०९, २९९, ३७६, ४११, ४३२, ४३३, ४६९, ४७०
वीरत्तं ४११
वीरिय ३६०, ४११, ६२८
वीससेण ३७३
वुसि(सी)मं ५८२, ६१०
वुसिय (व्युषित) ८६
वुसीमतो(ओ) (वृषिमत्) ४२९, ५११, ६१०
वेगंतवदातसुक्कं ३६७
वेणइया ५३७
वेणइयाणुवायं ३७८
वेणु २१८
वेणुदेव ३७२
वेणुपलासियं (वेणुपलाशिका) २८४
वेणुफलाइं २८५
वेतालिय ३४३
वेतालियमग्ग ११०
वेद २८, ३०, ५२, ३२७, ३४९, ३६२
वेदेही २२६
वेधादीयं (वेधादिक) ४५३
वेय(त)रणी २४०, ३०७
वेयाणुवीइ २६५
वेर ३, ४१०, ४३९, ४८९
वेराणुगिद्ध ४८१
वेराणुबंधि ४९३
वेरी ४१७
वेसालिया ६१, ६३
वेसालीए १६४

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
वेसिया (वैशिक) ४३८
वेस्सा (वैश्य) ४३८
वेहासे (विहायस्) ९६
वोदाण ५९६
वोसट्ठकाए ६३२, ६३३, ६३५, ६३६, ६३७
वंझ (वन्ध्य) ५४१
वंदण १२१
वंदणपूयणा ४५८
सउणी (शकुनि) ४९, १०३
सए (स्वके) ४२६
सअंगाइ ४२६
सकम्मविरिय ४१९
सकम्मुणा ३९१, ४४१, ५१९
सक्क (शक्य) ३५९
सक्कार (सत्कार) ६३७
सगडं (शकट) ४१०
सगा (स्वका) १८४
सगिरा ५३९
सग्घे (श्लाघ्य) १९७
सच्च १५६, ३७४, ५३७, ६०९
सच्चरत ४८४
सजीवमच्छ ३१४
सजोति ३०६, ३३०
सडिंडिम २९१
सड्ढी (श्रद्धी) ३०, ५१२
सढ (शठ) १६०
सणप्फय (सनखपद) ३३३
सणियाणप्पओगा ५७५
सण्णिसेज्जा (सन्निषद्य) २६२
सत(य) ३२५, ३६१
सतग्गसो ३८४
सततं ८७
सतिविप्पहूणा ३०८

विशिष्ट शब्द	सूत्राङ्क
सतंसे	४०४
सत्ता	६, २६०, ४७६, ४८०, ५०३, ५५५
सत्ति (शक्ति)	३०७
सत्तु (शत्रु)	३३९
सत्तोवपातिया	११
सत्थादाणाइं	४४६
सत्थार (शास्ता)	५५८
सत्थारभत्ती	६०५
सत्थं (शस्त्र)	२८६, ३३४, ४१४
सवा(या)	८८, ११३, ११६, ११७, १५७, १६४, १७०, २७८, ३११, ३२०, ३३७, ३३९, ४३५, ४६४, ४६८, ५१८, ५२०, ५९३, ६०९, ६१८, ६३४
सदाजला	३४७
सद्द	१७१, २५२, ३०५, ३१७, ३७०, ४०७, ५५६, ५८५
सद्द-फास	४७१
सद्दमहप्पगास	३६३
सद्धियं (साधर्म्)	२५१
सन्ना (संज्ञा)	९८
सन्नि	३७६
सन्निधाणाए	२८५
सपरिग्गहा	७८
सपरिमाण	८२
सपेहाए	४४२
सप्पि (सर्पिस्)	३३८
सफलं	४३२
सवीयगा	४४४, ५०३
सभा	३७५
सम	११४, १२४, १४४, १४६, २६२, २८५
समण	६, ३७, ४१, ५९, ६३, ६७, १०४, ११४, २०६, २६१, २६२, २७१, २७२, २७८, ३५२, ३५५, ३७४, ५२४, ५२७, ६३२, ६३३, ६३५

विशिष्ट शब्द	सूत्राङ्क
समणव्वदे	३८५
समय	११३, ११५, ११८, १५५, ६०१
समयाणुपेही	४७९
समयाणुसट्ठे	५८७
समयातीतं	४७१
समागम	४१०
समारंभ	५५, ५१०, ५१३
समव्वय(समव्रत)	५८६
समाहि	१३७, ४७३, ४७८, ४९४, ५५८, ५८३, ५९४, ६०४, ६०६
समाहिजोग	२६२
समाहित(य)	११४, १२२, १४०, २११, २२३, २३०, २४५, ३१०, ३८०, ५२१
समाहिपत्त	४१३, ४८५, ४८७, ५७०
समिती	५८४
समीकत	१८९
समीरिय	३४२
समीहत	४२१
समुग्गर	३४५
समुद्द	२४२, ३७६, ५०१
समुद्दिस्स	५१०
समुपेहमाण	५७९
समुप्पाद	६९
समुवट्ठित	४२४
समुरसए	६२३
समुसित्ता(या)	३२३, ३३५
समूसितं	३३४
समोसरण	५३५
सम्मता	२४०
सम्मत्तदंसिणो	४३३
सम्मं (सम्यक्)	१९, ५८६, ५८९, ५९०, ६०५
सय (स्वक)	२६५
सयकम्म (स्वकर्म)	२४२

विशिष्ट शब्द	सूत्राङ्क
सयकम्मकप्पिय	१६०
सयण	१२२, १९८, २५०
सयणासणे	५८४
सयपाणि	२९७
सयायकोवा	३४६
सयं (स्वयं)	३, १०, २९, ३०, ४१, ४३, ५०, ६८, ७२, १८७, ३४८, ४९४
सयं (शतं)	३६१
सयंकड	५४५
सयंभु (स्वयम्भू)	६६
सयंभू (,,)	३७१
सरहं (सरभस्)	३१७
सरण	५७, ७६, १५८, १५९, ३२१, ४५७
सरपादग (शरपातक)	२९०
सरय (शरद्)	७१
सरसंवीत	१८१
सराइभत्तं	३७९
सराइभोयण	१४५
सरागत्था	२१३
सरीर	१२
सरोस	३४५
सलिल	५४१, ५४८
सलिलं	३७२
सल्ल (शल्य)	१२१, ४२०
सल्लकत्तण	६३०
सवातग	१६८
सविसेसजुत्ता	५९०
सव्वगोत्तावगता	५७२
सव्वजगंसि	३५६
सव्वज्जुय	४७
सव्वट्ठ	११७
सव्वतो	४७६, ४८१, ५७७
सव्वत्थ	८२, १५५, १५६, २४४, ५०७

विशिष्ट शब्द	सूत्राङ्क
सव्वदुक्खविमोक्खण	४९८
सव्वदुक्खा	६११
सव्वदंसी	३५६
सव्वधम्म	४२३
सव्वधम्मा	३७५
सव्वप्पग	३९
सव्वफाससह	२९८
सव्वलोय	३५०, ४५८
सव्ववायं	३७८
सव्ववारं	३७९
सव्वासाहु	६३०
सव्वसो	१००, ४३२, ४३३, ४३६, ४६३, ५११
सव्वहा(सर्वथा)	१६
सव्वाणि	४७२
सव्वाहिं	२२०, ४०८, ५०५
सव्विंदिय	४७६
सव्वे	१६, ४१, ७२, ८४, १६०, १९४, ३१८, ४९१, ५०५, ५७९
सव्वेंदियाणि	४२७
सव्वेहि	४०७
सव्वो	१९९
सव्वं	५, १३, ३९, ४१, १५७, १८९, २४१, ३५१, ३७९, ४२०, ४३०, ४३१, ४७९
ससा (स्वसृ)	१८४
सह	२५८, १८०
सहसम्मुइए	४२४
सहस्स	३२५, ३४३, ३६१
सहस्सनेता	३३८
सहस्संतरिय	६०
सहा	१८७
सहिय(त)	१०१, १४०, १४२, १६१, २४७, ६३४
सहीवायं (सखिवाद)	४६३

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
साइमणंत २६८
साउ(दु)गाइं ४०३, ४०४
सागपागाए २८२, २८७
सागर २५९
सागारियपिंड ४५२
सातागारवणिस्सित ५७
सातागारवणिहुत ४२८
सातं(यं) २३०, ३१६, ३८२, ३९४, ३९८, ३९९
सादियं ४२९
साधम्मिणी २७२
साधुमाणी ५६०
साधुसमिक्खयाए ३५२
सामणिय ४०३
सामणेराए २९०
सामली ३६९
सामाइय १२७, १३०, १४१
सायाणुगा १४६
सार ८५, ५०६
सारेंति १३६
सारक्ख ८६
सारक्खणट्ठाए ५१४
सारेह २१२
सारंभा ७८, २१९
सावज्ज ५२
सावासगा ५८१
सासत(य) १५, ७४, ८१, ५४६, ५५४
साहट्ठाण ६३०
साहट्टु ४०१, ४५५
साहरे ४२७
साहस २५१
साहसकारि ४९०
साहुजीवि १९६, २११
साहू ५१९, ५३७

विशिष्ट शब्द सूत्राङ्क
साहेंता ४९
सि ३२५
सिओदग ३९७
सिक्ख ३०३, ४२५, ४५३, ४६८, ५८०
सिक्खं ४२५
सिणाणादि ४०२
सिणाणं ४४९
सिद्ध ७४, १६३, २२८
सिद्धि ७३, ७४, २२५, ३६८, ३९४, ३९५, ३९८, ३९९
सिद्धिपहं १०९
सिया १४, ७६, ९५, ११३, ११८, १७६, १८८, २०९, २३४, २३६, ३९४ इत्यादि
सिरीसिवा(सरीसृप) ९३, १२४, ३९५
सिरं ३०४, ३३४
सिला ३०९, ३३२
सिलोग(य)कामी ४७९, ४९५, ५७८
सिलोग-पूयण १५४
सिलोगं(श्लोकं) ४३४, ४५८
सिलोयगामी ५६८
सिवं १६४
सिसुपाल १६५
सिहीं(शिखी) ५२३
सीउण्हं १३२
सीओदगपडिदुगुंछिणो १३०
सीतफास ४८६
सीतोदगसेवण ३९२
सीतं(शीत) १६८
सीय („) १९५, २७२
सीलं ३५३, ३६८, ३६९, ५५७
सीसं ३२०, ३४०
सीहलिपासग २८८
सीहं २५४, ३७२, ४९२

विशिष्ट शब्द **सूत्राङ्क**
सुअ(य) १४८, २०६, ६०५
सुअक्खातधम्म ४७५
सुअ(य)क्खायं २६९, ४११, ४२१, ६०९
सुउज्जुयारे ५६३
सुक्कं ६२
सुगइ ९१
सुचिण्णं ५६७
सुणी १७२
सुण्हा (श्नुषा) २५९
सुतत्तं ३१६
सुतवस्सि २५८, ४६९, ४७५
सुता ३०७, ३२३
सुतं (श्रुतम्) १६९, ४६०, ६२२
सुतं (श्रुत) ६०५
सुदेसिय १६४
सुदंसण ३६०, ३६५
सुद्दा ४३८
सुधम्मा ३७५
सुधीरधम्मा ५७२, ५७५
सुद्धलेस्स ३६४
सुद्धसुत्त ६०६
सुनिरुद्धदंसण १५३
सुन्नघर १२६
सुन्नागारगत(य) १२५, १२६
सुप्प(प)ण्ण ४६९, ६०१
सुप्पिवासिय ३६९
सुप्पुक्खलग २८९
सुफणि २८७
सुबंभचेरं ५८०
सुब्भि ४८६
सुमणो ४६७
सुमूढ ४९०
सुरक्खिय २५१

विशिष्ट शब्द **सूत्राङ्क**
सुरा ५४७
सुरालय ३६०
सुलभ ८९, ९१, १६१
सुलूहजीवी ५६८
सुवण्ण (सुवर्ण) ३६९
सुविणं (स्वप्न) ५४३
सुविभावितप्पा ५६९
सुविमुक्क २५९
सुविवेग १३९
सुविसुद्धलेस्स २९८
सुव्वत(य) ९१, १५५, १६२, १७९, १९९, २४३, ४१२, ४२५, ६३१
सुव्वती ३१७
सुसमाहरे ४३०
सुसमाहित २४१
सुसमित ६३७
सुसाधुजुत्ते ५८४
सुसाधुवादी ५६९
सुसामाइय ६३७
सुसिक्ख ४१४, ५८०, ६०४
सुसुक्कसुक्कं ३६७
सुसंजत ५१०, ६३७
सुसंवुड ११०, १४०
सुह २८, २९, ३९६
सुहदुक्खसमन्नित ६५
सुहरूवा ४६४
सुहि २६०, ४२२
सुहिरीमणा २९४
सुहुम ११६, १२१, १८२, २४८
सुईसुत्तग (सूची सूत्रकं) २८९
सूतीगो १९२
सूयर २००
सूर १६५-१६७
सूरपुरंगमा २०९

विशिष्ट शब्द	सूत्राङ्क
सूरिय	३५७, ३६२, ३६४, ५९१
सूरोदय	५९२
सूलविद्धा	३३६
सूला	३०८, ३२१, ३३६
सेट्ठ (श्रेष्ठ)	३६६, ३६९, ३७०, ३७१, ३७३-३७५
सेट्ठि (श्रेष्ठी)	९३
सेण (श्येन)	९०
सेयविय (सेव्य)	३०३
सेय	२१६, २१८, २१९, ५८८, ५८९
सेस	१३४
सेसग	१६१
सेहिय (सैद्धिक)	२९
सोगतत्ता	३३४
सोयकारी	५९४
सोयपलिच्छिण्ण	६३७
सोयरा (सोदरा)	१८४
सोयरिया(य) (सौन्दर्य)	५, ३३६
संकलिया (शृंखलिका)	३४६
संकिय(त)	३३, ३७
संखय	१११, ११२, १३१, १५२, २२४, २४६, ५९७
संखा	५९४
संखेंदु	३६७
संग	१८२, १९३, १९४, ४०८
संगतिय (सांगतिक)	३०
संगाम	१६६, १७१
संगामकाल	२०४, २०९
संगामसीस	४०९
संछिण्णसोत	६३७
संजत	८७, १२३, १३८, १५४, १५५
संजम	११४, १४३, ३७८
संजीवणी	३३५
संजोगा	२४१
संडासगं (संदशक)	२८८

विशिष्ट शब्द	सूत्राङ्क
संतच्छणं (संतक्षण)	३१३
संता	३२, ३३, २९४, ५३६
संतावणी (संतापनी)	३३२
संति (=शान्तिम्)	५५७, ५९५
संतिण्ण	१४४
संतिमे	५३
संतोसिणो	५४९
संथरे	१२३
संथव	९४, १२१, १४८, २५९, २६२, २९६, ४८३
संथुत	६६
संधि	२०-२५, ६१८
संपगाढ	३३२, ५४६
संपराय(ग)	३४९, ४१८
संपसारए	१३८
संपसारी	४५२
संपातिम	३८७
संपिट्ठं	२८५
संपुच्छणं	४५७
संपूयणं	४७९
संबद्धसमकप्प	२१२
संवाहिया	३४४
संभम	२२९
संमत	२२८
संमिस्सभाव	४८७, ५३९
संमुहीभूय(त)	६१६, ६२९
संलोकणिज्जं	२७६
संवच्छरं	५४३
संवर	६९, ५५५
संवास	२५६, २७२, २७३, २६९
संविधुणीय	६३६
संवुड	७१, ११०, ११७, १६३, २५४, ४३०, ५०९, ५३४
संवुडकम्म	१४३

विशिष्ट शब्द **सूत्राङ्क**

संवुडचारि ५६
संसग्गि १२८
संसग्गिय ४६४
संसय ४२२
संसार ५०, ५९, ११२, २१३, ३८४, ५४०
संसारचक्कवाल २६
संसारपरिवड्ढणं ५१
संसारपारकंखी ५९
संसारपारगा २१
संसुद्ध ११४
संसेदया ३८७
संसेय ४४४
संसेयया ३८१
हण्णू (हत्नु) ११५
हत्थ ३१३, ३२८, ३३९, ४२७, ४७४
हत्थकम्म ४५३

विशिष्ट शब्द **सूत्राङ्क**

हत्थपादछेदाए २६७
हत्थऽस्स-रह-जाण १९७
हत्थिवहं ३४१
हत्थी १८१, १९२, ३७२
हरिस १२५
हरिसप्पदोस १७८
हासं ६००
हिंड १६०
हिंसप्पसूताइं ४९३
हितदं ५७५
हितं १३४, ५४६, ५८९
हिरण्णं १८९
हिरीमणे (ह्रीमनः) ५६२
हीणनेत्त ५४२
होलावायं ४६२
हंस २९४

□□

परिशिष्ट ३

स्मरणीय सुभाषित

क्रम	गाथा संख्या	सुभाषित
१	४	मामती लुप्पती वाले अन्नमन्नेहिं मुच्छिए।
२	४४	अप्पणो य परं णालं कुतो अण्णेऽणु सासिउं?
३	५८	जहा आसाविणि णावं जाति अंधो दुरूहिया। इच्छेज्जा पारमागंतुं अंतरा य विसीयति ॥
४	५९	एवं तु समणा एगे मिच्छद्दिट्ठी अणारिया। संसारपारकंखी ते संसार अणुपरियट्टंति ॥
५	६९	समुप्पायमयाणंता किह नाहिंति संवरं ॥
६	८५	एवं खु णाणिणो सारं जं न हिंसति किंचणं। अहिंसासमयं चेव इत्तावंतं विजाणिया ॥
७	८९	संबुज्झह किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लभा। णो हूवणमंति राइओ, णो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥
८	९८	पुरिसोरम पाव कम्मुणा।
९	१११	अहऽसेयकरी अन्नेसिं इंखिणी।
१०	११२	जो परिभवती परं जणं, संसारे परियत्तती महं। अदु इंखिणिया उ पाविया, इति संखाय मुणी ण मज्जती ॥
११	११६	पणसमत्ते सदा जए, समिया धम्ममुदाहरे मुणी।
१२	१२१	महयं पलिगोव जाणिया, जा वि य वंदण पूयणा इहं। सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे, विदुमं ता पयहिज्ज संथवं ॥
१३	१२७	सामाइयमाहु तस्स जं, जो अप्पाण भए ण दंसए।
१४	१२९	अहिगरणं न करेज्ज पंडिए।
१५	१३१	न य संखयमाहु जीवियं तह वि य बालजणे पगब्भती।
१६	१४४	जे विण्णवणाहिऽझोसिया, संतिण्णेहि समं वियाहिया।
१७	१४८	कामी कामे ण कामए, लद्धे वा वि अलद्धे कण्हुई।

क्रम	गाथा संख्या	सुभाषित
१८	१४९	मा पच्छ असाहुया भवे, अच्चेही अणुसास अप्पगं।
१९	१५२	ण य संखयमाहु जीवियं।
२०	१५३	अद्दक्खुव दक्खुवाहितं, सद्दहसू अद्दक्खुदंसणा।
२१	१५९	एगस्स गती य आगती, वि दुमं ता सरणं न मन्नती।
२२	१६०	सव्वे सयकम्मकप्पिया।
२३	१६१	इणमेव खणं वियाणिया, णो सुलभं वोहिं च आहितं।
२४	२१६	नातिकंडुइतं सेय अरुयस्सावरज्झती।
२५	२३१	मा एयं अवमन्नंता अप्पेणं लुंपहा वहुं।
२६	२३३	इत्थी वसंगता वाला जिणसासणपरम्मुहा।
२७	२३९	जेहिं काले परक्कंतं न पच्छा परितप्पए। ते धीरा वंधणुम्मुक्का नावकंखंति जीवियं॥
२८	२४०	जहा नदी वेयरणी दुत्तरा इह सम्मता। एवं लोगंसि नारीओ दुत्तरा अमतीमता॥
२९	२४५	कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स अगिलाए समाहिते।
३०	२५४	सीहं जहा व कुणिमेणं णिब्भयमेगरं पासेणं। एवित्थिया उ वंधंति, संवुडं एगतियमणगारं॥
३१	२५७	तम्हा उ वज्जए इत्थी, विसलित्तं व कंटगं णच्चा।
३२	२६३	वायावीरियं कुसीलाणं।
३३	२७०	अन्नं मणेण चिंतेंति, अन्नं वायाइ कम्मुणा अन्नं। तम्हा ण सद्दहे भिक्खू, वहुमायाओ इत्थिओ णच्चा॥
३४	२७५	वालस्स मंदयं वितियं, जं च कडं अवजाणई भुज्जो।
३५	३२५	जहा कडे कम्म तहा सि भारे।
३६	३२७	वाला जहा दुक्कडकम्मकारी, वेदेंति कम्माइं पुरेकडाइं।
३७	३४९	जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तहेव आगच्छति संपराए।
३८	३७४	दाणाण सेट्ठं अभयप्पदाणं, सच्चेसु वा अणवज्जं वदंति। तवेसु वा उत्तम वंभचेर, लोउत्तमे समणे नायपुत्ते॥
३९	३९१	सकम्मुणा विप्परियासुवेति।
४०	३९४	उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी सिज्झिसु पाणा वहवे दगंसि।
४१	४०३	कुलाइं जे धावति साउगाइं, अहाऽऽहु से सामणियस्स दूरे।
४२	४०७	नो पूयणं तवसा आवहेज्जा।
४३	४०९	भारस्स जाता मुणि भुञ्जएज्जा, कंखेज्ज पावस्स विवेग भिक्खू।
४४	४१७	वेराइ कुव्वती वेरी, ततो वेरेहिं रज्जती। पावोवगा य आरंभा, दुक्खफासा य अंतसो॥

क्रम	गाथा संख्या	सुभाषित
४५	४२६	जहा कुम्मे स अंगाइं, सए देहे समाहरे। एवं पावाइं मेधावी, अज्झप्पेण समाहरे॥
४६	४२९	सादियं ण मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमतो।
४७	४३५	अप्पपिंडासि पाणासि अप्पं भासेज्ज सुव्वते॥
४८	४६१	भासमाणो न भासेज्जा, णेव वंफेज्ज मम्मयं।
४९	४६३	होलावायं सहीवायं, गोतावायं च नो वदे।
५०	४६७	हम्ममाणो न कुप्पेज्जा, वुच्चमाणो न संजले।
५१	४६८	सद्दे कामे ण पत्थेज्जा, विवेगे एसमाहिए।
५२	४७८	आधीणभोई वि करेति पावं।
५३	४७९	सव्वं जगं तू समयाणुपेही, पियमप्पियं कस्सइ नो करेज्जा।
५४	४८१	वेराणुगिद्धे णिचयं करेति।
५५	४९४	मुसं न बूया मुणि अत्तगामी।
५६	४९५	न सिलोयकामी य परिव्वएज्जा।
५७	५०६	एयं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसति कंचणं।
५८	५४५	आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं।
५९	५४९	ण कम्मुणा कम्म खवेंति बाला, अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा।
६०	५६४	अण्णं जणं पस्सति बिंबभूतं।
६१	५६७	णिक्खम्म जे सेवतिऽगारिकम्मं, ण से पारए होति विमोयणाए।
६२	५७८	न पूयणं चेव सिलोयकामी पियमप्पियं कस्सति णो कहेज्जा।
६३	५८०	जे छेए विप्पमादं न कुज्जा।
६४	५८५	निद्दं च भिक्खू न पमाय कुज्जा, कहं कहं वी वितिगिच्छतिण्णे।
६५	५८८	ण यावि किंचि फरुसं वदेज्जा, सेयं खु मेयं ण पमाद कुज्जा।
६६	५९८	नो छादते नो वि य लूसएज्जा, माणं ण सेवेज्ज पगासणं च। ण यावि पण्णे परिहास कुज्जा, ण याऽऽसिसावाद वियागरेज्जा॥
६७	६०५	अलूसए णो पच्छण्णभासी, णो सुत्तमत्थं च करेज्ज ताई।
६८	६१०	भूतेहिं न विरुज्झेज्जा, एस धम्मे वुसीमओ।
६९	६११	भावणा जोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया। नावा व तीर संपत्ता, सव्वदुक्खा तिउट्टति॥
७०	६१३	अकुव्वतो णवं नत्थि, कम्मं नाम विजाणइ।
७१	६१५	इत्थिओ जे ण सेवंति, आदिमोक्खा हु ते जणा।
७२	६१९	अणेलिसस्स खेतण्णे, ण विरुज्झेज्ज केणइ।
७३	६२०	से हु चक्खू मणुस्साणं, जे कंखाए तु अंतए।

सूत्रकृतांगसूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध

परिशिष्ट

१—गाथानामकारादिक्रम

गाथा	सूत्राङ्क
अजोग रूपं इह संजयाणं	८१६
अणादीयं परिण्णाय	७५५
असेसं अवक्खंवयं वावि	७८३
अहवा वि विद्धूण मिलक्खु सूले	८१३
अहाकडाइं भुजंति	७६१
अहिंसयं सव्व पयाणुकुंपी	८११
आगंमागारे आरामागारे	८०१
आरंभयं चेव परिग्गहं च	८०९
इच्चेतेहिं ठाणेहिं	७८६
इमं वयं तु तुम पाउकुव्वं	७९७
उड्ढं अहेय तिरियं दिसासु	८००
एएहिं दोहिं ठाणेहिं	७५८
एगंतमेव अदुवा वि इण्हि	७८९
एतेहिं दोहिं ठाणेहिं	७५६, ७५८, ७६०, ७६२, ७६४
एवं न मिज्जंति न संसरंति	८३४
कल्लाणे पावए वावि	७८२
गंता व तत्था अदुवा अगंता	८०४
गोमेज्जए य रुयए अंके	७४५
चंदणं गेरुयं हंसगब्मं	७४५
जमिदं उरालमाहारं	७६३
जे केति खुड्डगा पाणा	७५९
जे गरहितं ठाणमिहा वसंति	८३७
जे यावि वीओदग भोति भिक्खू	७९६
जे यावि भुंजंति तहप्पगारं	८२५
णत्थि आसवे संवरे वा	७७०
णत्थि कल्लाणे पावे वा	७८१
णत्थि किरिया अकिरिया वा	७७२
णत्थि कोहे व माणे वा	७७२
णत्थि चाउंरते संसारे	७७६
णत्थि जीवा अजीवा वा	७६६
णत्थि देवो व देवी वा	७७७
णत्थि धम्मे अधम्मे वा	७६७
णत्थि पुण्णे व पावे वा	७६९
णत्थि पेज्जे व दोसे वा	७७५
णत्थि बंधे व मोक्खे वा	७६८
णत्थि माया व लोभे वा	७७४
णत्थि लोए अलोए वा	७६५
णत्थि साहू असाहू वा	७८०
णत्थि सिद्धी असिद्धी वा	७७८
णत्थि सिद्धी नियं ठाणं	७७९
तं भुंजमाणा पिसितं पभूतं	८२४
ते अण्णमण्णस्स वि गरहमाणा	७९८
दक्खिणाए पडिलंभो	७८५
दयावरं धम्म दुगुंछमाणे	८३१
दीसंति समियाचारा	७८४
दुहतो वि धम्मंमि समुट्ठिया मो	८३२
धम्मं कहंतस्स उ णत्थि दोसो	७९१
नवं न कुज्जा विहुणे पुराणं	८०६
नाकाम किच्चा ण य बाल किच्चा	८०३
निग्गंथ धम्मंमि इम समाही	८२८
पण्णं जहा वणिए उदयट्ठी	८०५
पिण्णागपिंडीमवि विद्ध सूले	८१२
पुढवी य सक्करा वालुगा य	७४५
पुराकडं अद्द ! इमं सुणेह	७८७
पुरिसे त्ति विण्णत्ति ण एवमत्थि	८१८

गाथा	सूत्राङ्क
पुरिसं व वेद्धूण कुमारकं वा	८१४
बुद्धस्स आणाए इमं समाहिं	८४१
भूताभिसंकाए दुगुंछमाणा	८२७
महव्वए पंच अणुव्वए य	७९२
मेहाविणो सिक्खिय बुद्धिमंता	८०२
लद्धे अट्ठे अहो एव तुब्भे	८२०
लोयं अजाणित्तिह केवलेणं	८३५
लोयं विजाणंतिह केवलेण	८३६
वायाभिओगेण जमावहेज्जा	८१९
वित्तेसिणो मेहुण संपगाढा	८०८
संवच्छरेणावि य....पाणं....अणियत ...	८३९
संवच्छरेणावि य....पाणं....समणव्व..	८४०
संवच्छरेणावि य एगमेगं	८३८
सते सते उवट्ठाणे	७३०
समारभंते वणिया भूयगामं	८०७
समेच्च लोगं तस थावराणं	७९०
समुच्छिज्जिहिंति सत्थारो	७५७
सव्वेसिं जीवाण दयट्ठयाए	८२६
साऽऽजीविया पट्ठवियाऽथिरेणं	७८८
सिणायगाणं तु दुवे सहस्सो	८१५, ८२२, ८२९
सियाय बीओदग इत्थियाओ	७९५
सीओदगं सेवउ बीयकायं	७९३
सीतोदगं वा तह बीयकायं	७९४
हरियाले हिंगुलए	७४५

२—विशिष्ट शब्दसूची

विशिष्टशब्दाः **सूत्राङ्काः**

अकम्मभूमगाणं ७३२
अकम्मं ७०७
अकम्हादंडे ६९४
अकस्माद् ६९८
अकिरिए ६८२
अकिरिया ६५१, ६५५
अकिरियाकुसले ७४७
अकिरियावादीणं ७१७
अकुसल ६४०,६४१
अकेवले ७१०, ७१२, ७१३
अकोह ६८२, ७१४
अकंटयं ६४६
अकंते ६६९
अक्खोवंजण-वणलेवणभूयं ६८८
अखेय(त)ण्ण(न्न) ६४०, ६४१, ६४२, ६४३
अगणि ७०४
अगणिकाएण (णं) ७०४, ७१०
अगणिकायत्ताए ७४३
अगणिकायं ६९६
अगणिज्झामिते ६४८
अगणीणं ७४४
अगार ८५३, ८५६
अगारपरिवूहणताए ६९६
अगारपोसणयाए ६९६
अगारहेउं ६९५, ७००, ७०९
अगारिणो ७९४, ७९५
अगिलाए ६९०
अगंता ८०४

विशिष्टशब्दाः **सूत्राङ्काः**

अगंथा ७१४
अग्गबीया ७२२
अग्गि ६५०
अग्गिथंभणयं ७१८
अग्गे ७१३
अघत्तं ८४७, ८५२
अचित्त ६८५, ७३८, ७३९, ७४३, ७४५
अचियत्तंतेउरघरपवेसा ७१५
अच्चीए ७१४
अच्चंतविसुद्धरायकुलवंसप्पसूते ६४६
अच्छराए ७१०
अच्छेज्जं ६८७
अछत्तए ७१४
अजिणाए ६९६
अजीवा ७६६
अजोगरूवं ८१६
अज्जवियं ६८९
अज्जो (आर्य) ८७१
अज्झत्थिए (आध्यात्मिक) ६९४, ७०२
अज्झयणे ६३८, ६९४
अज्झोरुहजोणिएसु ७२४
अज्झोरुहजोणिय (अध्यारोह योनिक) ७२४, ७३१
अज्झोरुहत्ताए ७२४
अज्झोरुहसंभवा ७२४
अज्झोरुहाण (णं) ७२४, ७२९, ७३१
अज्झोरुहेसु ७२४
अज्झोववण्णा (न्ना) ७०६, ७१३, ८०८
अट्टज्झाणोवगते ७०२

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
अट्ठमे ७०२, ४१४
अट्ठाए ८५६, ८५७
अट्ठाण ८१९
अट्ठादण्डवत्तिए ६९५
अट्ठादण्डे ६९६
अट्ठि ६५०, ६७९, ६९६, ७०४, ७५३
अट्ठिमिजपेम्माणुरागरत्ता ७१५
अट्ठिमिजाए ६९६
अट्ठे ६४४, ७१५
अट्ठंसे ६४९
अड्ढे ८४३
अणगार ६५३, ७०७, ७१४, ८०२
अणगारियं ८४८, ८५३, ८५६
अणज्जधम्मा ८२४
अणज्जे ८४०
अणट्ठाए ८६५
अणट्ठादंडे ६९४, ६९६
अणट्ठे ७१५
अणणुताविया ७५२
अणतिवातियं ६८९
अणभिगमेणं ८७०
अणवकंखमाणा ८५७
अणवद(य)ग्ग ७१९, ७२०, ७५५
अणवलित्ते ७६१
अणसणाए ७१४, ७१५
अणागतं ७८९
अणाढायमाणे ८६८
अणातिय ७२०
अणादि(दी)य ६५६, ७५५
अणायारं ७५४, ७५६, ७५८, ७६०, ७६४
अणारिय ६४६, ६६७, ६९४, ७०५, ७१०
७११, ७१२, ८०४, ८१८
अणारंभ ७१३, ७१४, ८५९
अणासव ७१४
अणिगूढाणं ८७०

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
अणिजूढाणं (अनियूंढ) ८७०
अणिज्जाणमग्गे ७१०
अणिट्ठे ६६९
अणिघण ६५६
अणिम्मित (म्मेय) ६५६
अणियत्तदोस ८३९
अणिरए ६५५, ६५८
अणिसट्ठ ६८७, ८७०
अणिहे ८२८
अणुगमियाणुगमिय ७०९
अणुगामिए ७०९
अणुगामियभावं ७०९
अणुट्ठिता ७१०
अणुतावियं ८४७
अणुत्तर ७९९, ८५४, ८६९
अणुदिसातो ६४३
अणुदिसं ६८९
अणुधम्मो ८२१, ८२७
अणुप्पगंथा ७१४
अणुप्पण्णंसि ७१४, ७१५
अणुप्पवादेणं ८५२
अणुवट्ठिता ६७७, ६८९
अणुवधारियाणं ८७०
अणुवरया ६७७
अणुवसंते ६९४
अणुसूयत्ताए-अणुसूयाणं ७३८
अणेआउए ७१०
अणेगभवणसयसन्निविट्ठा ८४२
अणेलिसा ७५७
अणोरपारे ८३५
अणोवाहणए ७१४
अणंतकरा ७९६
अण्णमण्ण ७६१, ७८९
अण्णविहीए ८२१
अण्णणयाए ८७०

विशिष्टशब्दाः	सूत्राङ्काः
अण्णाणियवादीणं	७१७
अण्णातचरगा	७१४
अतिआतरक्खे	७१०
अतिउट्टंति	६६१
अतियरंति	८४६
अतीत	६८०, ७०७
अतेणं	६९९
अत्थी	८१७
अत्थेहि	८०२
अथिर	७८८
अदिट्ठ	८७०
अदिट्ठलाभिया	७१४
अदिण्णादाण	८५६
अदिण्णं	७०१
अदुक्खं	६८२
अदुत्तरं	७०८, ७१४
अदंतवणगे	७१४
अद्धमास	७१३
अद्धमासिए	७१४
अद्धवेतालि	७०८
अधम्मक्खाइ	७१३
अधम्मपक्खस्स	६९४, ७१०, ७१३, ७१७
अधम्मपलोइणो	७१३
अधम्मपायजीविणो	७१३
अधम्मलज्जणा	७१३
अधम्मसीलसमुदायारा	७१३
अधम्माणुया	७१३
अधम्मिया	७१३
अधम्म	६९४, ७१३, ७६७
अनिरए	६५१
अनिव्वाणमग्गे	७१०
अन्नउत्थिया	६४५
अन्नकाले (अन्नकाल)	६८८, ७१०
अन्नगिलातचरगा	७१४
अन्नयर	८५५

विशिष्टशब्दाः	सूत्राङ्काः
अन्न(=अन्न)	६८८, ६९०, ७०८, ७१०
अन्न(अन्य)	६९७
अन्नहा	१०५
अन्नि (अन्याम्)	६९७
अपच्चक्खाणी	७४७
अपच्चक्खायं	८५२, ८५६, ८५८, ८६४
अपच्छिममारणंतियसंलेहणाभूसिया	८५७, ८६५
अपडिवद्धा	७१४
अपडिविरता	७१०
अपत्तियवहुले	७१३
अपरिग्गह	६७७, ७१३, ७१४, ८६०
अपरिभूते	८४३
अपसू	६५३
अपस्सतो	७४८, ७४९, ७५१
अपासओ	७५२
अपुट्ठलाभिया	७१४
अपुत्ता	६५३
अपुरोहिता	६५६
अपेच्चा	८५६
अपंडित	६४०, ६४१
अप्पकंपा	७१४
अप्पडिविरता(या)	७१३, ७१५, ८५८, ८६०
अप्पडिहयगती	७१४
अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे	७४७, ७४९, ७५१
अप्पत(य)र(रा)गा	८५२, ८५६, ८५८
अप्पणा	८६१
अप्पणो	८६९
अप्पतरो	७१३, ८५३, ८५४
अप्प(प)त्त	६३९, ६४०, ६४१, ६४२, ६४३
अप्पपरिग्गहा	७१५, ८६०
अप्पमत्ता	७१४
अप्पयरा	६६७
अप्पाउया	८६४
अप्पाण(णं)	३१४, ७८६, ८३५, ८३६
अप्पारंभा	७१५, ८६०

विशिष्टशब्दाः **सूत्राङ्काः**
अप्पाहट्टु ६४५
अप्पिए ६६९
अप्पिच्छा ७१५, ८६०
अप्पियसंवासाणं ७१९
अबाले ६३९, ६४०, ६४१, ६४३
अबोहिए ८११, ८१६
अबोहीए ८७०
अब्भक्खाणाओ ६८३
अब्भपडल ७४५
अब्भिंतरिया ७१३
अब्भुट्ठामो ८५४
अब्भुवगतं ८५०
अभिओगेणं ८४६
अभिक्कमे ६३६, ६४०, ६४३
अभिक्कंतकूरकम्मे ७१०
अभिक्खलाभिया ७१४
अभिगत(य)जीवाऽजीवा ७१५, ८४३
अभिगतट्ठा ७१५
अभिजोएणं ८४६, ८४८
अभिझंझाउरा ७१०
अभिणंदह ८४८
अभिभूय ६६०
अभिरूवा ६३८
अभिहडं ६८७
अभोच्चा ८५६
अमइं ८०६
अमज्जमंसासिणो ७१४
अमणक्खस्स ७४८, ७४९
अमणामे ६६९
अमणुण्णे ६६९
अमाण ६८२, ७१४
अमाया ७१४
अमायं ७१८
अमित्तभूत ७४९-७५१
अमुच्छिए ६८३
अमुत्तिमग्ग ७१०
अमुयाणं ८७०
अमेहावी ६४०, ६४१
अमोक्खाए ७८६
अय (अयस्) ७४५
अयगराणं ७३५
अयगोले ७१३
अयोमएणं ७१८
अरई ६६०
अरणीतो ६५०
अरतीरतीओ ६८३
अरसाहारा ७१४
अरहंता ६८०, ७०७
अलसगा ७१०
अलाउयं (अलाबुकः) ७१२
अलूसए ६८२
अलोए ७६५
अलोभ ६८२, ७१४
अवएहिं ७३१
अवगजोणियाणं ७३१
अवगाणं ७३१
अवगुत्तदुवारा ७१५
अवरं ८२०
अवाउडा ७१४
अविउस्सिया ८०९
अविण्णायाणं ८७०
अवितह ८५४
अविधूणिया ७५२
अविप्पहाय ८०७
अवियत्त ६४०, ६४१
अवियाइं ८४५, ८४६
अवियारमण-वयस-काय-वक्क ७४७, ७४९, ७५२
अवियं(अं)तसो ६५५, ६५७
अविरए ७५२
अविरतिं ७१६

विशिष्टशब्दाः	सूत्राङ्काः
अविरती	७१६
अविरते	७४७, ७४९, ७५१
अविविंचिया	७५२
अविसंधि	८५४
अवंझा	६५६
अव्वत्तरूवं	८३३
अव्वयं	८३३
अव्वोगडाणं	८७०
अव्वोच्छिण्णो	८६६, ८७०
असच्चा	८१८
असण-पाण-खाइम-साइमेणं	७१५
असणेण	६५२
असण्णिकाय	७५२
असण्णिणो	७५१, ७५२
असण्णिदिट्ठंते	७५१
असमाहडसुहलेसे	७०५
असल्लगत्तणे	७१०
असवणयाए	८७०
असिलक्खणं	७०८
असुभ	६६९, ७१३
असमुच्छिया	७५२
असव्वदुक्खपहीणमग्गे	७१०, ७१२, ७१३, ७१६
असाहु	८१६
असाहू (घू)	६१५, ६५१, ७१०, ७१२, ७१३, ७१६, ७८०
असिणाइत्ता	८५६
असिद्धिमग्गे	७१०
असिद्धी	६५१, ६५५, ७७८
असीलं	८३१
असुभा	७१३
असुयाणं	८७०
असूई	७१३
असेसं	७८३
असंजते(ए)	७४७, ७५१, ७५२, ८२२
असंजयअविरयअपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे	७५१

विशिष्टशब्दाः	सूत्राङ्काः
असंतएणं	७४८, ७४९
असंविज्जमाणे	६४८, ६४९
असंवुडे	७४७, ७४९, ७५२
असंसइया	७०२
असंसट्ठचरगा	७१४
असंसुद्धे	७१०
अस्माकं	८५२
अस्समण	७९४, ८५५
अस्सायं(तं)	६७९, ७५३
अस्सिंपडियाए	६८७
अस्संजते(ए)	७४९, ८५४
अस्संजयस्स	८५४
अहट्ठे	८२०
अहणंतस्स	७४८, ८४९
अहमंसि	८६५
अहतवत्थपरिहिते	७१०
अहम्मिया	८५८
अहाकडाइं	७६१
अहादरिसियमेव	८४५
अहापरिग्गहितेहिं	७१५
अहावीएणं	७२३, ७३२, ७३७
अहारिहं	७०५
अहालहुगंसि	७०४
अहालहुसगंसि	७१३
अहावका(गा)सेणं	७२३, ७३२, ७३७
अहासुहं	८७३
अहिए(ते)	७०४, ७१३
अहिंसयं	८११
अहियासिज्जंति	७१४
अहिसमेति	७९३
अहीणं	७३५
अहे	८००, ८१७
अहेभागी	७३९
अहोनिसं	७५१
आइक्खतेण्हं	७८७

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
आइक्खामि ६४४
आइक्खियव्व ७०५, ८५४, ८५५
आइगरे ७१८
आउए ८४६
आउं ८६०, ८६५
आउत्तं ७०७
आउमण्णहा ८४८
आउयं ८५०, ८५८, ८५९
आउसरीरं ७२३
आउसिणेहं ७३३
आउसो ८३७, ८४५, ८४७, ८५२
आउसंतेणं ६३८, ६९४
आउसंतो ८४१, ८४५, ८४८
८५३-८५५, ८६६, ८६९
आऊ ६५६, ६७५
आएहिं ७३१
आओगपओगसंपउत्ते ६४६, ८४३
आगमि(मे)स्सा ६८०, ७०७
आगमिस्साणं ७१०, ७१३
आगमेस्सभद्दया ७१४
आगमेस्सा ६८०
आगम्म ६४०-६४३, ८५४, ८५५
आगासे ६५६
आगंतागारे ८०१
आगंतुं ७२०
आगंतुं छेयाए ७१९, ७२०
आगंतुं भेयाए ७१९, ७२०
आचार्य ७४९, ७५१, ७५३
आढाति ८६९
आणाए ८४१
आणवेमाणस्स ७१०
आतगुत्ते ७२१
आतट्ठी ७२१
आतपरक्कमे ७२१
आतहिते ७२१
आतहेउं ६९५

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
आता ६५०
आदहणाए ६४८
आदा(या)णसो ८५८-८६२, ८६५
आदाणातो ६८३
आदाणेणं ७१०
आदाय ७५४
आदिकरा ७१८
आदियति ७०१
आदेसाए ६८८
आवाहंसि ७१४
आभागिणो ७१९, ७२०
आभागी ६९६
आमयकरणि ७०८
आमरणंताए ८५३, ८५८, ८५९, ८६०, ८६१
आमलए ६५०
आमलकं ६५०
आयछट्ठा ६५६
आयजीविया ७८८
आयजोगी ७२१
आयजोणियाणं ७३१
आयते ६४९
आयत्ताए ७२८
आयदंड ८०९, ८११, ८२७
आयनिप्फेडए ७२१
आयपज्जवे ६४८
आयमणि ७०८
आयरक्खिते ७२१
आयरियं ६५३
आयस्स ८०५, ८०७
आया ७४७
आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमित(य) ७०७, ७१४
आयाणवं ८४१
आयाणह ८५३, ८५५
आयाणियव्वं ८५३, ८५५
आयाणुकंपए ७२१

आयाणं ७३१
आयामेत्ता ६९८
आयारसीले ८३२
आयारो ६६१
आयावगा ७१४
आयाहिणं ८७३
आयाहिते ८४०
आयंविलिया ७१४
आरण्णिया ७०६, ७१२, ८६१
आरामागारे ८०१
आराहेंति ७१४
आरिए (आर्य) ७१४, ७१५, ७१६
आरिय (आर्य) ६४६, ६६७, ७०५, ७११, ७३२, ८०३
आरेणं ८५४, ८५५
आरोप्प (आरोप्य) ८१५
आरंभट्ठाणे ७१६
आरंभयं ८०९
आरंभसमारंभ ७१०, ७१३
आरंभसमारंभट्ठाणे ७१६
आरंभेणं ७१०
आलावग ७११, ७२८, ७२९, ७४३, ७४६
आलिसंदग ७१३
आलुंपह ६५१
आलोइयपडिक्कंता ७१५
आवसहिया ७०६, ८६१
आवसंति ८३७
आविट्ठवेमो ७१०
आविद्धमणिसुवण्णे ७१०
आसण ७१३
आसमस्स ७१०
आसव-संवर-वेयण-णिज्जर-किरिया-ऽहिकरण-बंध-मोक्खकुसला ७१५
आसालियाणं ७३५
आसुप्पण्णे ७५४
आसुरिएसु ७०६
आसुरियाइं ७०८, ८६१
आसंदिपेढियाओ ८५६, ८५७
आसंसं ६८२
आहट्टुद्दसियं ६८७
आहव्वर्णि ७०८
आहाय कम्मं ७९३, ७९४
आहारगुत्ते ७४७ (७४६)
आहारपरिण्णा ७२२
आहारिया ८२१
आहारेंति ७२३
आहरेमो ७१०
आहारोवचियं ६७५
आहंसु ७४८
इंगालाणं ७१८
इक्कडा ६९६
इक्खागपुत्ता ६४७
इक्खागा ६४७
इच्चत्थतं ८२८
इच्चेवं ७५३
इच्छापरिमाणं ८५६
इच्छामो ८७२,८७३
इड्ढीए ७१४
इणट्ठे ७५०
इन्हिं ७८९
इत्तरिए ७०३
इत्थिकामभोगेहिं ६५३
इत्थिकामेहिं ७१३
इत्थित्ताए ७३२, ७३४
इत्थियाओ ७९३, ७९५
इत्थिलक्खणं ७०८
इत्थीए ७३२-७३५
इत्थिगुम्मसंपरिवुडे ७१०
इदा(या)णिं ८५४, ८५५
इमे ७९९
इरियावहिए ६९४
इरियावहिया ७०७

इरियासमित(य) ७०६, ७१४
इसि ६९३, ८२६
इसीयं ६५०
इस्सरकारणिए ६५९, ६६२
इस्सरियमद ७०३
उक्कापायं ७०८
उक्कंचण ७१३
उक्खित्तचरगा ७१४
उक्खित्तणिक्खित्तचरगा ७१४
उक्खूतो ६५०
उग्गपुत्ता ६४७
उग्गमुप्पायणेसणासुद्धं ६८८
उग्गह(हि)ए ७१४
उग्गा ६४७
उच्चागोता(या) ६४६, ६६७, ६९४
उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणिया-समित (य) ७०६, ७१४
उच्चावया ७१४
उज्जुया ७१८
उज्झितुं ६९६
उट्ठाए ८५४
उड्ढभागी ७३९
उड्ढसालाओ ७१०
उड्ढाण ७१०
उड्ढं ८००, ८१७
उण्णिक्खिस्सामो ६४२, ६४३
उत्तरपुरत्थिमे ८४२, ८४४
उत्तरातो ६४२
उदग (=उदक) ७१३, ७२९, ७४०, ७४१, ७४२
उदग (पेढालपुत्रः) ८४७, ८४८, ८५२, ८६७, ८६९
उदगजाए ६६०
उदगजोणिय ७२९, ७३०, ७४०, ७४१, ७४२
उदगतलमतिवतित्ता ७१३
उदगत्ताए ७३०, ७४०, ७४१
उदगपोक्खले ६६०
उदगबुब्बुए ६६०
उदगसाला ८४४
उदगसंभवा ७२९, ७३०
उदय (उदक) ६३९, ६४०, ६४१, ६४५, ७२९, ७३०, ७३१, ७४०, ७४१, ७४८
उदय ८०९, ८१०
उदय (पेढालपुत्रः) ८४५, ८४७, ८४८, ८५१, ८७०-८७३
उदंयट्ठी ८०५, ८०६
उदरं ६७५
उदसी ६५०
उदाहडं ६३७
उदीणं ६४६, ८६५
उदीरिया ७०७
उद्दय ८१०
उद्दिट्ठभत्तं ८२३, ८२६
उद्धियसत्तू ६४६
उद्धियकंटकं ६४६
उन्निक्खिस्सामि ६३९-६४१, ६४३
उन्निक्खेय(त)व्वं ६४०, ६४१, ६४२, ६४३
उप्पतणि ७०८
उप्पायं ७०८
उब्भिज्जमाणे ६३५, ७३३
उरप्परिसप्पथलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं ७३५, ७३६, ७३७
उरपरिसप्पाणं ७०९
उरब्भिए ७०९
उरब्भियभावं ८२३
उरब्भं (उरभ्र) ७६३
उरालमाहारं ७०५
उलूगपत्तलहुया ७१३
उल्लंवियय ६६७
उवकरणं

उवचरगभावं (उपरवभावं) ७०९
उवचरित्त ७०९
उवजीवणिज्जे ७१०
उवजीवंति ७१८
उवधारियाणं ८७०
उवलद्धपुण्णपावा ७१५
उववन्ना(ण्णा) णं ८४६, ८४७, ८५१, ८५२
उववाइए ६४६
उसिणे ६४९
उसिणोदगवियडेण ७०४
उसुं (इषु) ६९८
उस्सण्णं ७१३
उस्सासनिस्सासेहिं ७१४
ऊरू ६७५
ऊसविय (उच्छ्रित्य) ६९६
ऊसितफलिहा (उच्छ्रितफलका) ७१५
ऊसिया ६३८
एक्कारसमे ७०५
एगखुराणं ७३४
एगच्चा ७१४, ७१५, ८६०
एगजाया ७१४
एगट्ठा ६६४, ८४८
एगदेसेणं ७३२, ७३३
एगपाणाए ८५२
एगपाणातिवायविरए ८४१
एगंतचारी ७८७
एगंतदंडे ७४७, ७४९, ७५२
एगंतवाले ७४७, ७४९, ७५२
एगंतमिच्छे ७१०, ७१२, ७१३, ७१६
एगंतमेव ७८९
एगंतयं ७९०
एगंतसम्मे ७१४, ७१५, ७१६
एगंतसुत्ते ७४७, ७४९, ७५२
एतारूव ७१४, ८५४, ८५५
एताव ६५७
एतावया (एतावता) ८०६
एत्ताव ८६५
एत्थं ८५४
एलमूयत्ताए (एलमूकत्व) ७०६, ७१२, ८६१
एवंगुणजातीयस्स ७४८
एसकालं ८३२
एसणासमित(य) ७०७, ७१४
एसियं ६८८
ओयणं ७३२
ओयं (ओजस्) ७३२, ७३३
ओलोइए ८२०
ओलंबितयं (अवलम्बित) ७१३
ओवणिहिता ७१४
ओवतर्णि ७०८
ओसहभेसज्जेणं ७१५
ओसहि ७१०, ७२६, ७२९, ७३१
ओसहिजोणियाणं ७३१
ओसा ७३९
ओसोवर्णि ७०८
ओहयकंटकं ६४६
ओहयमणसंकप्पे ७०२
ओहयसत्तू ६४६
अकंडुया ७१४
अंके ७४५
अंगं ७०८
अंजणं ६८१
अंजू ६७७, ७९९
अंड ७३३, ७३५
अंडए ७१४
अंतचरगा ७१४
अंतजीवी ७१४
अंतद्धाणि ७०८
अंतरदीवगाणं ७३२
अंतरा ६३९, ६४०, ६४१; ६४३
अंतलिक्खं ७०८
अंताहारा ७१४
अंतिए ६९१, ८६९, ८७२, ८७३

विशिष्टशब्दाः	सूत्राङ्काः
अंतो	७१३
अंतोसल्ले	७०५
अंतं	७२०, ७२१, ८५४
अंदुबंधणाणं	७१९
अंदुयबंधणं (अन्दुकबन्धन)	७१३
अंबिले (आम्ल)	६४९
कक्कसं	८१३
कक्खडफासा (कर्कशस्पर्श)	७१३
कक्खडे	६४९
कच्छ० भाणियत्ताए	७३०
कच्छंसि	६९६, ६९८
कट्ठसेज्जा (काष्ठशय्या)	७१४
कडगतुडितथंभितभुया	७१४
कडगा	६५६
कडग्गिदड्ढयं (कटाग्निदग्धक)	७१३
कडुए	६४९
कडुय	७१३
कढिणा	६९६
कणग	६६८
कण्णच्छिण्णयं	७१३
कण्हपक्खिए	७१०, ७१३
कण्हुइराहुस्सिता(या)	७०६
कतबलिकम्मे	७१०
कब्बड०	६९९
कम्म	६४५, ८५०, ८६७
कम्मकडाए	७३२
कम्मकराणं	६८८, ७१३
कम्मकरीणं	६८८
कम्मगतिया	७४६
कम्मगं	७६३
कम्मठितिया	७४६
कम्मणिज्जरट्ठताए	६९०
कम्मणियाण (निदान)	७२३, ७२४, ७२८, ७२९, ७३०, ७४०, ७४१-७४५
कम्मवितिए	७०३
कम्मभूमगाणं	७३२
कम्मविवेगहेउं	८११
कम्मुणा	७१३, ७४६, ८५०
कम्मे	७४०, ७४८
कम्मोवगा	७३२
कम्मोववण्णगा	७२३
कम्मोववन्ना	७२३, ७२५
कम्मंता	७१३, ७१५
कयकोउयमंगलपायच्छित्ते	७१०
कयरे	८४८
कयविक्कय	७१३
कयाइ	७५४
करए	७३९
करणकारवणातो	७१३
करतल	६५०
करतलपल्हत्थमुहे	७०२
कलम	७१३
कलहाओ	६८३
कलुसं	७३२
कलंबुगत्ताए	७३०
कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा	७१४
कल्लाण	६५१, ६५५, ७८१, ७८२, ८६९
कवड (कपट)	७१३
कवालेण	६७९, ७०४, ७५३
कवि (कपि)	६९८, ७१०
कविजलं	६९८, ७१०, ७१३
कवोत(य)ग	६९८, ७१०, ७१३
कवोतवण्णाणि	६४८
कसाए	६४९
कसिणं	७१४
कसेण	७०४
काऊअगणिवण्णाभा	७१३
काओवगा	७६९

विशिष्टशब्दाः	सूत्राङ्काः
कार्गणिमंसखावितयं	७१३
कागिणिलक्खणं (काकिणी लक्षण)	७०८
कामभोग	७४५
कामेसु	८०८
काय	७०४, ७३१, ७३२, ७४८, ७४९
कायगुत्त	७०७, ७१४
कायजोणियाणं	७३१
कायमंता	६४६, ६६७, ६९४, ७११
कायसमित(य)	७०७, ७१४
कारणट्ठा	६८८
काल	८५७, ८६१-८६४
कालगत(य)	८५६, ८५७
कालमास	७०६, ७१३, ७१४, ८६१
कालेणं	८४२
कालेसुतं	६९८
किंचि	८५६, ८५७
किट्टए	६८९
किणं	६५७
किण्हे	६४९, ८४४
कित्तिमा	६५६
किव्विसिय	७०६, ७०८
किव्विसाइं	८६१
किव्विसं	७३२
किमणगा	७१०
किरिया	६५१, ६५५, ६५८, ७७२
किरियाठाण	६९४, ७००, ७०२, ७०३, ७०५-७०७
किरियं	६६४
किलामिज्जमाणस्स	६७९
कीडा	८३४
कीतं	६८७
कुंजरो	७१४
कुंडल	७१०
कुक्कडलक्खणं	७०८

विशिष्टशब्दाः	सूत्राङ्काः
कुच्चका	६९६
कुट्टण	७१३
कुमारए	८१२
कुमारकं (गं)	८१३, ८१४
कुमारपुत्तिया	८४६
कुमारेण	७१३
कुमुदत्ताए	७३०
कुम्म	७१३, ७१४
कुम्मासं	७३२
कुराणं	७३१
कुल	८५४
कुलत्थ (कुलत्थ)	७१३
कुलमदेण	७०३
कुलालयाणं	८३०
कुसल	६४०, ६४१, ६४३, ८२५, ८४९
कुसा	६९६
कुहणत्ताए (कुहनत्व)	७२८
कूड	७१६
कूडतुल	७१३
कूडमाणाओ	७१३
कूडागारसालाए	७१०
कूरजोणियाणं	७३१
कूरेहिं	७३१
केउकरे	६४६
केवलिणो	८४०
केवलियं	८५४
केवलेणं	८३५, ८३६
केवलवरनाण-दंसणं	७१४
केसग्गमत्थया	६४८
केसलोए	७१४
केसवुट्ठि	७०८
केसा	६७५
कोकणत (कोकनद)	७३०
कोण्डलं	७१०

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
कोद्दवं (कोद्रव) ६९८
कोरव्वपुत्ता ६४७
कोरव्वा ६४७
कोसितो ६५०
कोह ६८३, ७०२, ७१३, ७४९, ७७३, ८४६
कोहणे ७०४
कंगूणि ६९८
कंटका(ग) बोंदियाए (कटक बोंदिया-देशी) ७१०
कंठेमालकडे ७१०
कंदजोणियाणं ७३१
कंदत्ताए ७२३
कंदाणं ७२३
कंदुकत्ताए ७२८
कंबल ६५२, ७०७
कंसपाई ७१४
कंसं ६६८
खग्गविसाणं ७१४
खणह ६५१
खणं ७४९
खत्तिए ६४६
खत्तिय ८३४
खत्तियविज्जं ७०८
खलदाणेणं ७१०
खलु ६७९
खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाण ७३७
खाइमेण ६५२
खारवत्तियं ७१३
खिंसणाओ ७१४
खुड्डगा ७५९
खुद्दा ७१३
खुरप्पसंठणसंठिता ७१३
खुरुदुगत्ताए ७३८
खेत्त(य)ण्ण(न्न) ६३९, ६४०, ६४१ ६४३, ६८०

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
खेतवत्थु(त्थू)णि ६६७, ७११
खेत्तं ६६८
खेमंकरे ६४६, ७९०, ८६५
खेयंधरे ६४६
खोतरस (इक्षुरस) ६५०
खोराणं ७३६
खंत ६९३, ७९१
खंधत्ताए ७२३
खंधवीया ७२२
खंधाणं ७२२
गगणतलं ७१४
गणतो ७८८
गणिपिडगं ६६१
गतिकल्लाणा ७१४
गतिपरक्कमण्णु ६३९, ६४१, ६४३
गद्दभसालाओ ७१०
गद्दभाण ७१०
गब्भ ७१३
गब्भकरं ७०८
गमा ७४४
गयलक्खणं ७०८
गरहणाओ ७१४
गरुए ६४९, ७१३
गरुयं ७०४, ७१३
गहणविदुग्गंसि ६९६
गहणंसि ६९६
गहाय ७१८, ८७३
गहियट्ठा ७१५
गाउसिणं ७३७
गाते ६७५
गामकंटगा (ग्रामकण्टक) ७१४
गामघायंसि ६९९
गामणियंतिया ७१२, ८६१
गामंतिया ७०६

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
गारत्थ (अगारत्थ) ८५३
गाहावइ(ति)पुत्त ७१०, ७४९, ८५४
गाहावति ७१०, ७४९, ८४३, ८४४, ८४६, ८५४
गाहावतीचोरग्गहणविमोक्खणयाए ८४६, ८४९
गिद्धा ७१३, ८०८, ८२४
गिल्लि ७१३
गिहपदेसंसि ८४५
गिहिणो ८३९
गुणे ७१०, ७९१, ८१९
गुत्त ६९३, ७०७, ७१४, ८४९
गुत्तबंभचारि ७०७, ७१४
गुत्तिंदिय ७०७, ७१४
गूढायारा ७०५
गेरुय ७४५
गोघातगभावं ७०९
गोण ७०९, ७१०
गोणलक्खणं ७०८
गोणसालाओ (गोशाला) ७१०
गोत(य)म ८४५, ८४६, ८४८, ८५१, ८५२, ८६८, ८७०-८७३
गोत्तेणं ८४५
गोपालए ७०९
गोपालगभाव ७०९
गोमेज्जए ७४५
गोरि(गौरी) ७०८
गोह (गोधा) ७१३, ७३६
गंठिच्छेदए ७०९
गंठिच्छेदगभावं ७०९
गंठीगा ७५७
गंडीपदाणं ७३४
गंडे ६६०
गंधमंत ६३८
गंधा ६६८, ७१३, ७१४

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
गंधारि ७०८
गंवेहिं ६८३
गंभीरा ७१४
घत्तं ८४६, ८५१
घरकोइलाणं (गृहकोकिला) ७३६
घाणं ६७५
घातमाणे ६५७
घूराओ ७१०
घोडगसालाओ (घोटकशाला) ७१०
घोरम्मि ८३५
घोलणाणं ७१९
चउत्थे ६४२, ६४७, ६९८
चउपंचमाइं ७०६, ७१३, ८५३, ८५४
चउप्पयथलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं ७३४
चउम्मासिए ७१४
चउरंतणंताय ८०९
चउरंस ६४९, ७१३
चउव्विहे ७१४
चक्कलक्खणं ७०८
चक्खु ६७५
चक्खुपम्हणिवातं ७०७
चडगं ६९८
चत्तारि ६४३, ७०२, ७१०
चम्मकोसं ७१०
चम्मगं ७१०
चम्मच्छेदणगं ७१०
चम्मपक्खीणं ७३९
चम्मलक्खणं ७०८
चरणकरणपारविदु (चरण-करण-पारवेत्ता) ६९३
चरणोववेया ८३७
चरित्तं ८६७
चाउद्दसट्ठदिट्ठपुण्णमासिणीसु ७१५, ८५६, ८५७, ८६५
चाउप्पाइयाणं ७३६

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
चाउरंत (चतुरंत) ७२०, ७७६
चाउरंतसंसारकंतारं ७१९
चारगबंधणं ७१३
चाउज्जामातो ८७२, ८७३
चितासोगसागरसंपविट्ठे ७०२
चित्त ७४९, ७५०
चिरट्ठिती(इ)या ८५०, ८५२, ८५६
८५८, ८६२, ८६५
चिलिमलिगं (देशी—परदा) ७१०
चेतियं ६८७, ८६९
चेलगं ७१०
चोए ६५०
चोद(य)ए (चोदक) ७४८, ७४९
चोदग(क) ७४८, ७५०
चोद्दसमे ७१४
चंडा ७१३
चंडं ७१३
चंदचरियं ७०८
चंदण ७४५
चंदणोक्खित्तगायसरीरे ७१०
चंदप्पभ ७४५
चंदो ७१४, ८३३
छज्जीवणि(नि)काय ६७९, ७४९, ७५१
छट्ठे ७१४
छणह ६५१
छत्तगत्ताए ७२८
छत्तगं ७१०
छद्दसमाइं(णि) ७१३, ८५३, ८५४
छन्नपओपजीवी ८२१
छम्मासिए ७१४
छलंसे ६४९
छहिं ७५१
छाताओ ६७५
छाया ६७५

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
छायाए ७१४
छिन्नसोता ७१४
छिवाए ७०४
जए ७४७
जच्चकणगं ७१४
जण-जाणवय ६४५, ६६७
जणवदपिया (जनपदपिता) ६४६
जणवदपुरोहिते ६४६
जणा ७१०
जम्म ७१३
जलचरपंचिंदियतिरिक्खिजोणियाणं ७३३
जहाणा(ना)मए ६३८, ७४९
जाइमूयत्ताए ७०६
जाततेए ८१४
जातत्थामा ७१४
जातरूवा ७१४
जातिमदेण ७०३
जायामातावुत्तिएणं ६८२
जायामायावित्ती (यात्रामात्रावृत्ति) ७१४
जामेव ८६८
जाव-जावं ६३९-६४१
जावज्जीवाए ७१३, ८५८, ८५९
जिणदिट्ठेहिं ७८६
जितेंदियस्स ७९१
जिब्भा ६७५
जिब्भुप्पाडिययं ७१३
जीव ६४८, ६७६, ७१४, ८३८,
८३९, ८५४
जीवनिकाएहिं ७४९, ७५१
जीवाणुभाग ८२०, ८२१
जीवियट्ठी ७१६
जुग्ग (युग्म) ७१३
जुतीए ७१४
जूरण ७१३

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
जूरणताए ७५१
जोइणा ७१०
जोणीए ७३२
जोत्तेण ७०४
जोयक्खेमपय ८६९
जोहाणं ७३६
जंतुगा ६९६
जंभणि ७०८
झंझा (झंझा) ६७४
ठाण ७५६, ७५८, ७६०, ७६४, ७७९, ७८६, ८३७, ८४६, ८४७, ८४८, ८५१, ८५२
ठाणादीता ७१४
ठितिकल्लाणा ७१४
ठित(य) ८११, ८५४
डहरगा ७३७
डहरा ७३२, ७३४, ७३५
णगरघायंसि ६९९
णपुंसगत्ताए ७३२
णपुंसगं ७३२
णयणुप्पाडिययं ७१३
णरग ७०३, ७१३
णरगतलपतिट्ठाणे ७१३
णरगाभिसेवी ८३०
णरं ८१३
णवणीयं ६५०
णवमे ७०३
णहाए ६९६
णाइणं ६८८
णाइहेउं ६९५
णाण ८३६, ८३७
णाणज्झवसाणसंजुत्ता ६६६
णाणाछंदा ६६६
णाणादिट्ठी ६६६

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
णाणापन्ना ६६६
णाणारुई ६६६
णाणारंभा ६६६
णाणावण्णा ७२३, ७२४, ७२९, ७३९, ७४३, ७४५
णाणाविहजोणिएसु ७२९, ७२०
णाणाविहजोणिय ७२३, ७२५, ७४३, ७४५
णाती ८१०
णातिसंजो(यो)गं ६७४, ७९६, ८०६
णाते ६४४
णायओ ६६७, ६७१
णा(ना)यहेउं ७००, ७०९
णिक्खित्तचरगा (निक्षिप्त चरक) ७१४
णिक्खिवमाणस्स ७०७
णिग्गंथ ६६१
णिच्चरति ७०५
णिच्चंधकारतमसा ७१३
णिज्जिणणा ७०७
णितिए ६८०, ८१५, ८२९, ८३०
णिद्धे ६४९
णिप्फाव (निष्पाव) ७१३
णियडि (निकृति) ७१३
णियडिबहुले ७१३
णियतिवातिए ६६३
णियागपडिवन्न (नियागप्रतिपन्न) ७१८
णियामरसभोइ (निकामरसभोजी) ७१४
णि(नि)यंठा ८४५, ८५३, ८५४, ८५५
णिरए ६५५
णिरवसेसं ७५४
णिरंगणा ७१४
णिलिज्जमाणे ६९८
णिस्साए ७०९
णीयागोता(या) ६६७, ६९४, ७११
णीले ६४९

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
णेत्तेण ७०४
णेयाउए (नेर्यात्रिक) ८४८, ८५२, ८५४, ८५६, ८६६
णेसज्जिया (नैषद्यिक) ७१४
णो-किरियं ६६४
णो हव्वाए ६३९, ६४०, ६४१
ण्हाणुम्मद्दणवण्णग ७१३
ण्हारुणीए (स्नायु) ६९६
तउय (त्रपुक) ७४५
तउवमे ८०५
तक्क ७५१
तच्चे ६४१, ६९७
तज्जण ७१३, ७१४, ७१९
तज्जातसंसट्ठचरगा ७१४
तज्जिज्जमाणस्स ६७९
तज्जीव-तस्सरीरिए ६५३
तज्जेह ७१३
तज्जोणिय ७२३-७२५-७३१, ७३८
तण ६९६, ६९८, ७२५, ७२९, ७३१
तणजोणिएसु ७२६
तणत्ताए ७२५
तणमातमवि ६५५, ६५७
तताम्रो ६७५
ततियसमए ७०७
तत्थवकम्म(क्कम) ७२३, ७२४, ७२८, ७२९, ७३०, ७४०-७४५
तत्था ८०४
तदुभयं ७३२
तप्पढमयाए ७३२
तमअंधयाए ७०८
तमोकासिया (तम:काषिक) ७०५
तमोरूवत्ताए ८६१
तयत्ताए (त्यक्त्व) ७२३
तयपरियंते ८४६

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
तया (त्वचा) ६७४, ७०४, ७२३
तयाहारियं ७२३
तरिउं ८४१
तल ७१०
तव ६८२, ७१४
तवोमएण ७०३
तवोकम्मं ७०५, ७१५
तव्वक्कणम्मा(मा) ७२३
तस ६७६, ८४६, ८५१, ८५२, ८५६, ८६३, ८६५
तसकाइ(यि)या ७४९, ७५३, ७७९
तसकाय ७५१, ८४६, ८५१, ८५२
तसकायट्ठितीया ८५०
तसत्ताए ८४६, ८५१, ८५२
तसथावर ६६५, ६८४, ६९५, ६९७, ७२३, ८१७, ८६६
तसथावरजोणियाणं ७३८-७४०, ७४३, ७४५
तसपाणघाती ७१३
तसपाणत्ताए ७३१, ७४२
तसभूता ८४८
तससंभारकडेण ८५०
तसाउयं ८५०
तस्संकिणो ८२६
तस्संभवा ७२३, ७२४, ७३८
तहच्चे ७९०
तहप्पगार ७९५, ८२५, ८५४, ८५५
तहाभूत ८६९
ताई (त्रायी) ८१०
ताडिज्जमाणस्स ६७९
ताणाए ६७४
ताती (त्रायी) ८४१
तामरसत्ताए (तामरसत्व) ७३०
तामेव ८६८
ताराहिं ८३३

विशिष्टशब्दाः **सूत्राङ्काः**
तारिस ८१९, ८४०
तारिसगा (तादृशक्) ६७७
तालतुडियघण ७१०
तालण ७१३, ७१४, ७१९
तालुग्घाडणिं (तालोद्घाटिनी) ७०८
तालेह ७१३
ताव तायं ६४०
तिक्खुत्तो ८७३
तिणट्ठे ८५५
तिण्णा ८३६
तिण्णि ६४२, ७३१
तित्तर ६९८, ७१०, ७१३
तित्तिरलक्खणं ७०८
तित्ते ६४९
तित्थाययण ८५५
तिरिक्खजोणिएसु ६९४
तिरियभागी ७३९
तिरियं ८००, ८१७
तिविहं ८५७
तिविहेणं ८४१, ८५६, ८५७
तिव्वाभितावी ८३०
तिव्वं ७१३
तीरट्ठी ६९३
तुच्छाहारा ७१४
तुब्भं ८५२, ८६६, ८७३
तुब्भागं ८४६
तुला (तुला) ७१८
तुल्ला (तुल्य) ६६४, ८४८
तेउसरीरं ७२३
तेऊ ६५६
तेणं ६९९
तेमासिए ७१४
तेयसा ७१४
तेरस ६९४, ७०७

विशिष्टशब्दाः **सूत्राङ्काः**
तेरसमे ७०७
तेल्ले(ल्लं) ६५०
तंती ७१०
तंब ७४५
तंसे ६४९
थावरकाय ८५१, ८५२
थावरकायट्ठितीया ८५०
थावरत्ताए ८४६, ८४७, ८५०, ८५१, ८५९
थावरसंभारकडेणं ८६५
थावरा ६७६, ८४६, ८५०, ८५१, ८५२
थावराउं ८५०
थिल्लि (देशी०) ७१३
थूल ८२३
थूलगं ८५६
थंभणिं ७०८
दक्खा ८०१
दक्खिण ६४०, ७८५
दड्ढे ७१८
दब्भवत्तियं ७१३
दयट्ठयाए ८२६
दयप्पत्ते ६४६
दयावरं ८३९
दरिसणीया ६३८
दविएणं ७०६
दवियंसि ६९६
दव्वहोमं (द्रव्य होम) ७०८
दसणुप्पाडययं ७१३
दसमे ७१४
दहह ६५१
दहीओ ६५०
दहंसि ६९६
दाढाए ६९६
दामिलिं (द्राविड़ी) ७०८
दारिद्दाणं ७१९

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
दास ६८८, ७१३
दासीणं ६८८
दाहिणगामिए ७१०, ७१३
दाहिणं ६४६, ६६५
दित्ततेया (दीप्त तेजस्) ७१४
दित्ते (दीप्त) ६४६, ८४३
दिट्ठलाभिया ७१४
दिट्ठा ७५०
दिट्ठिवातो ६६१
दिट्ठि ७५५, ७८४, ७९७, ७९८
दिट्ठिविप(प्प)रियासियादंडे ६९४, ६९९
दिट्ठेण ६८२
दिट्ठंत ७४९
दिया (दिवा) ७४९-७५१
दिसा ६४०, ६४१, ६४३, ७१४
८१७
दिसीदाहं ७०८
दिसीभाए ८४२, ८४४
दिसं ६८९, ८६८
दिस्सा ७१०
दीणे ७०२
दीसंति ७८४
दीहमद्धं ७१९, ७२०
दीहे ६४९
दीहाउया ८६२
दुक्कडे ६५१, ६५५
दुक्ख ७१३, ७१८, ७५३
दुक्खण ७१०, ७१३
दुक्खणताए ७५१
दुक्खदोमणसाणं ७१९, ७२०
दुखुराणं ७३४
दुगुंछमाण ८००, ८१७, ८२७, ८३१
दुग्गइगामिणो ८५८
दुग्गं (दुर्गं) ७१३

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
दुट्ठे (दुष्ट) ७०२
दुद्धरिसा(दुर्धर्ष) ७१४
दुपच्चक्खायं-दुपच्चक्खावियं ८४६
दुप्पडियाणंदा ७१३, ८५८
दुप्पणीयतराए (दुष्प्रणीततर) ८४८
दुव्वलपच्चामित्ते ६४६
दुब्भगाकरं ७०८
दुब्भिगंधे ६४९
दुम्मण ७०२, ७०४
दुरहियास (दुरध्यास, दुरधिसह) ७१३
दुरूवसंभवत्ताए ७३८
दुरुवा ६४६, ६६७, ६९४, ७११
दुल्लभवोहिए ७१०, ७१३
दुवण्णा ६४६, ६६७, ६९४, ७११
दुवालसमे ७१४
दुवालसंगं ६६१
दुविहं ८५६
दुवे ७५१
दुव्वत्ता (दुर्वृता) ७१३
दुस्सीला ७१३
दुहत्तो ७३२, ७३४
दुहाय ८०९
दूसं ६६८
देव ६९४, ७१०, ७७७
देवगणेहिं ७१५
देवत्ताए ७१४, ७१५
देवलोएसु ७१४, ७१५
देवयं ८६९
देवलोगा ८३४
देवसिणाए (देवस्नात) ७१०
देवा ८२९
देवाणुप्पिया ७१०, ८७३
देवी ७७७
देसावकासियं ८६५

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
देसे ६३८, ८४६, ८४८, ८५२, ८५३, ८५४, ८५६, ८५७, ८५८, ८६५
दोच्चे ६४०
दोणमुहघायंसि ६९९
दोमसिए ७१४
दोस ६८३, ७७५, ७९१
दोहग्गाणं ७१९
दंडगुरुए ७०४
दंडगं ७१०
दंडणाणं ७१९, ७२०
दंडपासी (दण्डपाशिन्) ७०४
दंडपुरक्खडे (दण्डपुरस्कृत) ७०४
दंडलक्खणं ७०८
दंडवत्तिए ६९७
दंडसमादाण ६९४-६९९
दंडायतिया (दण्डायतिक) ७१४
दंडेण ६७९, ७०४
दंडेह ७१३
दंडं ७१३, ८४६, ८५१-८५४, ८६५
दंत ६९३, ६९६, ७९१
दंतपक्खालणेणं ६८१
दंभबहुले ७१३
दंसण ८०४, ८६७
धण ६६८, ७१३
धण्णं ६६८, ७१३
धम्म ६५२, ६९४, ७५४, ७९१, ८११, ८३१, ८३२, ८३५, ८३६, ८४१, ८५४, ८७२, ८७३
धम्मकहं ६४५
धम्मट्ठी ६९२
धम्मतित्थं ६४५
धम्मपक्खस्स ७११, ७१४, ७१५
धम्मविदू ६९२
धम्म सवणवत्तियं ८५४, ८५५

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
धम्माणुगा(या) ७१४, ७१५, ८५९, ८६०
धम्मिट्ठा १४
धम्मिय ७१४, ७१५, ८५९, ८६०, ८६१
धरणितलपइट्ठाणे ७१३
धरणितलं ७१३
धाईणं ६८८
धारए ७५५
धारयंते ७८६
धिज्जीवितं (धिग्जीवितं) ७१०
धिर्ति ७१३
धुतकेस-मंसु-रोम-नहा ७१४
धुवे ६८०
धूणमेत्तं ६८१
धूता ६७१, ६९९, ७१३
धून्नंबहुले ७१३
धूय मरणाणं ७११
धूया (दुहितृ) ६८८, ७०४
नउलाणं ६३६
नक्क-उट्ठच्छिण्णयं ७१३
नक्खत्त ७१३
नगर ८४२
नग्गभाव ७१४
नपुंसगं ७३३-७३५
नलिणत्ताए ७३०
नवनीतं ६५०
नवं ८०६
नाकामकिच्चा ८०३
नाणत्तं ७३५, ७३७
नाणविहसंभवा ७३८, ७४६
नाणागंधा ७२३
नाणाछंदा ७०८, ७१८
नाणाज्झवसाणसंजुत्त ६१८, ७०८
नाणादिट्ठी ७०८, ७१८
नाणापण्णा ७०८, ७१८

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
नाणाफासा ७२३
नाणारसा ७२३
नाणरुई ७०८, ७१८
नाणारंभा ७०८, ७१८
नाणावण्णा ७२३, ७२४, ७३०, ७३८, ७४०, ७४२
नाणाविहजोणियाणं ७२५, ८२८, ७३०, ७३८, ७३९, ७४३, ७४४, ७४६
नाणाविहवक्कमा ७३८, ७४६
नाणाविहसरीरपोग्गलविउव्विता ७२३
नाणाविहं ७०८
नाणाविहाणं ७२३, ७३५, ७३९
नाणासीला ७०८, ७१८
नाणासंठाणसंठिया ७२३
नाणे ८३२
नातिसंयोगा ६७४
नाभिमता ७५०
नायश्रो ६६७
नायगं ७०८
नायपुत्त ६४७, ८०५, ८२६
नायहेउ ७००
नाया ६४७
नालंदाए ८४३, ८४४
निंदणाश्रो ७१४
निगमघायंसि ६९९
निग्गंथ ६४४, ७१५, ८४६, ८४७, ८५४, ८५५
निग्गंथणधम्मम्मि ८२८
निग्गंथीओ ६४४
निच्चं ७५०
निच्छयण्णू ८०२
निज्जरा ७७१
निज्जाणमग्गं ८५४

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
निज्जियसत्तू ६४६
नितिए (नित्य) ८२२
निदाए (निदात) ७४९
निदाणेणं ७३९
नियम ६८२
नियलजुयलसंकोडियमोडियं ७१३
नियं ७७९
निरए ६५१
निरालंबणा ७१४
निरावरणं ७१४
निरूवलेवा ७१४
निरंतररायलक्खणविरातियंगमंगे ६४६
निलयबंधणं ७१३
निव्वाघातं ७१४
निव्वाण ६८९, ७१७
निव्वाणमग्गं ८५४
निवेसए ७६५-७८१
निव्विगतिया ७१४
निव्वितिगिंछा (निर्विचिकित्सा) ७१५
निव्वेहलियत्ताए ७२८
निसण्णे ६४१, ६४२
निसम्म ८४५, ८५४, ८६९
निस्संकिता ७१५
निहयकंटकं ६४६
निहयसत्तू ६४६
नेरइए ७१०
नेव्वाणं ६४५
पइण्णं ८४६
पउमवरपोंडरीय ६३८-६४३, ६९२
पक्कमणि (प्रक्रमणी) ७०८
पक्खी (पक्षी) ८३४
पगाढ ७१३
पच्चक्खाणकिरिया ७४७
पच्चत्थिमाओ ६४१

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
पच्छा (पश्चात्) ७३२
पच्छामेव ८६२
पज्जत्तगा ७५१
पट्टणघायंसि ६९९
पडिकोसह ८४८
पडिग्गह ६५२, ७०७
पडिपुण्णुकोसकोट्ठागाराउहघरे ६४६
पडिपुण्णं ७१३, ७१४, ८५४, ८५६, ८६५
पडिपेहित्ता ७१०
पडिवद्धसरीरे ७१०
पडिवंध ७१४, ८७३
पडिमट्ठादी (प्रतिमास्थायी) ७१४
पडिरूव ६३८, ६४०, ६४१, ६४२, ६४३, ८११, ८४२
पडिलेहाए ८६९
पडिलंभो ७८५
पडिविरत(य) ६८३, ८५२, ८५९
पडीणं ६४६, ८६५
पडुच्च ७१६
पडुप्पण्णा(न्ना) ६८०, ७०७
पढमसमए ७०७
पणगत्ताए ७३०
पण्ण ६८८, ७९२, ८०५
पण्णत्तारो ६४७
पण्णवगं (प्रज्ञापक) ७४८, ८४९
पण्णा ७५१
पण्णामदेण (प्रज्ञामदेन) ७०३
पतत्ताए ७२३
पत्तिय ८७०, ८७१
पत्तेयं ६७४, ७४९, ७५०
पदाणं ८७०
पदुद्देसेणं ६५६
पदेसे ८४५
पन्नगभूतेणं ६८८

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
पभाए ७१४
पभूतं ८२४
पमाणजुत्तं ६८७
पयाणे ७१८, ७१९
पयलाइयाणं ७३६
पयह ६५१
पयाहिणं (प्रदक्षिण) ८७३
पयं ६५७
परकड-परणिट्ठितं ६८८
परकारणं ६६४
परग ६९६, ६९८
परघरपवेसे ७१५
परदत्तभोइणो ६५३
परधम्मियवेयावडियं ७१८
परपरिवायातो ६८३
परपाणपरितावणकरा ७१३, ७१४, ७१५
परमट्ठे ७१५
परमदुब्भिगंधा ७१३
परलोए ६५१
परलोगपलिमंथत्ताए ८६७
परलोगविसुद्धिए ८६७
परविद्धत्थं ७२३
पराइयसत्तू ६४७
परिग्गह ७१३, ७४९, ७५१, ८०७, ८५६-८६०
परिग्गहियाणि ७११
परिण्णायसंगे ६९३
परिण्णातकम्मे ६७८, ६९३
परिण्णाय ७५५
परिण्णायगिहवासे ६९३
परित्ता ८०४
परिनिव्वुड ६८२, ७११
परिमितपिंडवातिया ७१४
परिमंडले ६४९

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः

परियागं ६६५
परिवारहेउं ६९५, ७०१, ७०८
परिविद्धत्थं ७२३
परिव्वाया, परिव्वाइया (परिव्राजक) ८५५
परिसा (परिषद्) ६४६, ७१३
परिसहोवसग्गा ७१०
परेणं ८५४, ८५५
पलालए ६९६
पलिक्खीणं (परिक्षीण) ८५०
पलिता ६७५
पलिपागमणुचिन्ना ७३२, ७३३
पलिमोक्खं ७१७
पलिमंथगमादिएहिं ७१३
पलिमंथणं ७१३
पलंबवणमालाधारा ७१४
पवयणं ८४६
पवाल ७२३, ७४५
पव्वगा ६९६ [२]
पव्वतग्गे ७१३
पव्वयगुरुया ७०५
पसज्झ ८१६
पसढविओवातचित्तदंड ७४९, ७५०, ७५२
पसत्थपुत्ता ६४७
पसत्थारो ६४७
पसवित्ता ७१३
पसारेह ७१८
पसासेमाणे ६४६
पसिणं ८०३
पसुपोसणयाए ६९६
पसंतिडिंवरमरं ६४६
पसंता ७१४
पहीण ६३९, ६४३
पहीणपुव्वसंजोगा ६६६
पाईणं ६४६, ८६५

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः

पाउकुव्वं ७९७
पाउं ७९७
पागब्भिया ६५२
पागासासणिं ७०८
पाडिपहिए ७०९
पाडिपहियभावं ७०९
पाण ६५२, ६८४, ६८८, ६९०, ७०८, ७१८, ८१६, ८४७, ८५२, ८५६, ८५७, ८६३, ८६५
पाणकाले ६८८, ७१०
पाण-भूत-जीव-सत्त ८६१
पाणवहेण ८१३
पाणाइ(ति)वात(य) ६८१, ७१३-७१५, ७४९-७५१, ८५६, ८५७
पाणि ७१८
पाणितले ८२०
पाणं ६८८, ७१०, ८३९, ८४०
पातरासाए(प्रातराश) ६८८
पाति ७१८
पादतला ६४८
पामिच्चं ६८७
पायाच्छिणयं ७१३
पायच्छित्तं ७०५
पायपुंछणं ६५२, ७०७
पाया ६७५
पारविदु ६९३
पाव ७४७, ७४८, ७६९, ७८१, ७२५, ८६७
पावकम्मे ७५२
पावयणं ७१५, ८५४
पावसुयज्झयणं ७०८
पावाइणो ७९७
पावाइयसताइं ७१७
पावाइया ७१८
पावियाए ७४८

विशिष्टशब्दाः	सूत्राङ्काः
पासओ	७४८
पासाइं	७०४
पासादि(दी)या	६३८
पासावच्चिज्जे (पार्श्वापत्यीय)	८४५
पिईहिं	६९९
पिउं सुक्कं	७३४
पिच्छाए	६९६
पिट्ट(ड्ड)ण	७१३
पिट्टणताए	७५१
पिट्टं(ड्डं)ति(ते)	७१०
पिट्ठमंसि	७०४
पिण्णागपिंडी (पियागपिंडी)	८१२
पिण्णाए	६५० [६]
पिण्णायपिंडी	८१४
पिता	६७१, ७१३
पितिमरणाणं	७१९
पितुसुक्कं	७३२
पित्ताए	६९६
पिन्नागबुद्धीए	८१३
पियविप्पओगाणं	७१९
पीढ-फलग-सेज्जासंथारएणं	७१५
पुंडरीगिणी	६३८
पु(पो)क्खरणी	६३८, ६६०
पुक्खरपत्तं	७१४
पुक्खलत्ताए	७३०
पुक्खलत्थिभएहिं	७३१
पुक्खलत्थिभगजोणियाणं	७३१
पुक्खलत्थिभगत्ताए	७३०
पुक्खलत्थिभगाणं	७३०, ७३१
पुट्ठलाभिया	७१४
पुट्ठा	७०५
पुढविकाइ(यि)या	६७९, ७४९, ७५१, ७५३
पुढविकाय	७५१
पुढविजोणिया	७२३, ७२५, ७२८, ७२९, ७३१

विशिष्टशब्दाः	सूत्राङ्काः
पुढवित्ताए	७४५
पुढविवक्कमा	७२३
पुढविसरीरं	७२३, ७२४, ७३३, ७३५
पुढविसंभवा	७२३, ७२५, ७२८
पुढवी	६५६, ७२३, ७२५, ७२८
पुढवीजाते	६६० [३]
पुढवीसंवुड्ढा	६६०
पुढो	६८८
पुढोभूतसमवातं	६५६
पुण्णखंधं	८१५, ८२९
पुण्ण	७६९, ८३६
पुत्त	६७१, ६८८, ६९९, ७०४, ७१३
पुत्तमरणाणं	७१९
पुत्तपोसणयाए	६९६ [२]
पुप्फत्ताए	७२३
पुरत्था	८६५
पुरत्थिमातो	६३९
पुराकडं	७८७
पुराणं	८०६
पुरिमड्ढिया	७१४
पुरिस	६३९, ७३२-७३६, ८१२, ८१३, ८१८, ८३३, ८४०
पुरिसअभिसमण्णागता	६६०
पुररिसआसीविसे	६४६
पुरिसज्जा(जा)ए(ते)	६३९, ६४०, ६४१, ७०४, ७१३
पुरिसत्ताए	७३२, ७३४
पुरिसपज्जोइत्ता	६६०
पुरिसप्पणीया	६६०
पुरिसलक्खणं	७०८
पुरिसवरगंधहत्थी	६४६
पुरिसवरपोंडरीए	६४६
पुरिसवरे	६४६

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
पुरिसविजियविभंगं ७०८
पुरिससीहे ६४६
पुरिसादीया ६६०
पुरिसोत्तरिया ६६०
पुलए ७४५
पुव्वकम्मावसेसेणं ७१४
पुव्वसंयोगं ६५३
पुव्वामेव ८६४
पुव्वाहारितं (यं) ७२३
पुव्विं ८७०
पुव्वुत्तं ७४९
पुव्वं ८२०
पूयणाए ६५२
पेगता ७३२-७३५
तेज्ज ६८३, ७१५
पेज्जाओ ६६६
पेढालपुत्तं ८४५-८४८, ८५१, ८५२, ८६८, ८७०-८७३
पेमरसेसु ८०८
पेसुण्णाओ ६८३
पेसा(से) (प्रेष्य) ६७१, ७१३
पेस्सा ८३४
पोंडरिय ६३८, ७११, ७३०
पोयए ७१४
पोयं ७३५
पोरवीया ७२२
पोसह(ध) ७१५, ८५६, ८६५
पंकवहुले ७१३
पंच ७१०, ७९२
पंचमहब्भूतिए ६५४, ६५८
पंचमहव्वतियं ८७२, ८७३
पंचमासिए ७१४
पंचमे ६९९

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
पंचासव ७९२
पंजरं ६६१
पंडित(य) ६३९, ६४०, ६४३, ७१६
पंतचरगा ७१४
पंतजीवी ७१४
पंताहारा ७१४
पंसुवुट्ठि (पांशु वृष्टि) ७०८
फरिस ७१३
फरुसं ७१०
फलगसेज्जा ७१४
फलत्ताए ७२३
फलिऐ ७४५
फासमंता ६३८
फासा ६६८, ६७५, ६८३, ७१४
फासुएसणिज्जेणं ७१५
बद्धा ७०७
वल ६७५
वलमदेण ७०३
वलवं ६४६
वहवे ६३८, ७५०, ८०१
वहस्सइचरियं ७०८
वहिया ८४२, ८४४
बहु ६३८
बहुउदगा ६३८
वहुजणवहुमाणपूतिते ६४६
बहुजणस्स ८४३
वहुजण्णमत्थं ७८८
बहुतरगा ८५२, ८५६, ८५८, ८६२-८६४
वहुदासी-दास-गो-महिस-गवेलगप्पभूते ६४६, ८४३
वहुपडिविरया ७०६, ८६१
वहुपुक्खला ६३८
बहुसेया ६३८
वहुसंजया ७०६, ८६१

विशिष्टशब्दाः	सूत्राङ्काः
वहूणं	७२०
वाणेण	८३८
वादरकाए	७४५
वारसमे	७०६
वाल	६४०, ६४१, ६६४, ७१६ ७४९, ७५२, ८२४
वालकिच्चा	८०३
वालपंडिते	७१६
वावीसं	७१४
वाहा	६७५
वाहिरगमेतं	६७१, ६७५
वाहिरिया	७१३, ८४२, ८४३, ८४४
वाहिं	७१३
वितीयसमए	७०७
विलं	६८८
वीएहिं	७३१
वीओदग	७९५
वीओदगभोति	७९६
वीयकाया	७२२
वीयकायं	७९३, ७९४
वीयजोणियाणं	७३१
वीयाणं	७२३, ७२४
वुइय	६३८, ६४५
वुद्ध	८१४, ८२१, ८२८
वुद्धिमंता	८०२
वूय	८१९
वोहीए	८७०
वंधणपरिकिलेसातो	७१३
वंधे	७६८
वंभचेर	६७७, ७५४
वंभचरेवासं	६८२, ७१४
वंभवति	८०६
भएणं	८०३
भगिणी	६७१, ६९९, ७०४, ७१३

विशिष्टशब्दाः	सूत्राङ्काः
भगिणीमरणाणं	७१९
भग्गे	८५३
भज्जा	६७१, ६९९, ७०४, ७१३
भज्जामरणाणं	७१९
भट्टपुत्ता	६४७
भट्टा	६४७
भत्तपाणनिरुद्धियं	७१३
भत्तपाणपडियाइक्खिया	८५७
भत्तीए	८३७
भत्ते	७१४
भयए	७१३
भयं	७५३
भयंतारो	६४७
भवित्ता	८५६, ८५७, ८६५
भव्व	८७७
भाइमरणाणं	७१९
भाइल्ले (भागिक)	७१३
भाईहिं	७०४
भाणियव्व	७२९, ७९६
भातीहिं	६९९
भाया	६७१, ७१३
भारोक्कंता	७१०, ७१४
भारंडपक्खी	७१४
भासुरवोंदी	७१४
भासंति	७०७, ८४७
भासं	८४७
भासावो	७०५
भासापरक्कमे	७४७
भासामो	७५४
भासाय	७९१
भासासमित (य)	७०७, ७१४
भिद	७१३
भिक्खलाभिया	७१४
भिक्खायरियाए	६६७, ६६८

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
भिक्खुगाणं ८१५
भिक्खुणो ७८४
भिक्खुमज्झे ७८८
भिक्खुयाणं ८२२
भिक्खू ६४३, ६९३, ७९६
भिक्खं ७९६
भिसिगं ७१०
भीते ८०१
भुयमोयग ७४५
भूएहिं ८४७
भूताभिसंकाए ८२७
भूमिगतदिट्ठीए ७०२
भूमिसेज्जा ७१४
भूय ८६६
भूयगाम (भूतग्राम) ८०७
भूयाभिसंकाए ८००, ८१७
भे (भोः) ८४८
भेत्ता ६९६
भो ८४८
भोग ७१३
भोगभोगाइं ७०६, ७१०, ७१३
भोगपुत्ता ६४७
भोगपुरिसे ७१३
भोगा ६४७
भोम्मं ७०८
भोयए ८१५, ८२२, ८२९, ८३०
भोयणट्ठा ८०८
भोयणपवित्यरविहीतो ७१३
भंडगं ७१०
भंते ८७०, ८७२, ८७३
मउए ६४९
मउली ७१०
मए ६४८
मक्खायं ७२३, ७२४

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
मग्ग ६३९, ७९९
मग्गविदू (ऊ) ६३९, ६४०, ६४१, ६४३
मग्गत्थ ६३९, ६४०, ६४१, ६४३
मच्छाणं ७३३
मच्छियभावं ७०९
मच्छं ७०९
मडंबघातंसि ६९९
मण ७५१, ८२५
मणगुत्त ७०७, ७१४
मणवत्तिए ७४८
मणसमित(य) ७०७, ७१४
मणि ६६८, ७१०, ७१३
मणुस्स ६४६, ७०९, ७१३, ७३२
७३४, ८४९, ८५८-८६०
मणुस्सिदे ६४६
मणूसा ८०१
मणेणं ७४८, ७४९
मणोसिला ७४५
मण्ण ६४१, ६७४
मति ७१३, ८०५
मत्तगं ७१०
मत्ते ७०३
मदट्ठाणेणं ७०३
मद्दवियं ६८९
मन्न(ण्णे) ६४०, ६४१, ६४२, ६४३
मम ८५६, ८५७
ममं ६९७
ममि ६९७
मयणग ६९८
मरइ ६७४
मरयग ७४५
मलियकंटकं ६४६
मलियसत्तू ६४६
मल्लालंकारातो ७१३

विशिष्टशब्दाः	सूत्राङ्काः
मसारगल्ले	७४५
मसूर	७१३
महज्जुतिएसु	७१४, ७१५
महज्जुतिया	७१४
महब्बलेसु	७१४
महब्भूत	६५५
महताउ	८५८
महतिमहालयंसि	७१०
महया	८६४
महयाओ	८५७
महव्वते	७९२
महाकाया	८५०, ८५२, ८५७, ८५८, ८६२-८६५
महागय	८३८
महाजसेसु	७१४
महाणुभावेसु	७१४
महापरक्कमेसु	७१४
महापरिग्गहा	७१३, ८५८
महापोंडरिय	७३०
महाभवोघ	८३१
महारंभा	७१३, ८५८
महावीर	६४४, ८७३
महासुक्खा	७१४, ७१५
महासोक्खेसु	७१४
महिच्छा	७१३, ८५८
महिड्ढिय	७१४, ७१५
महिया	७३९
महिस	७१३
महुर	६४९
महोरगाणं	७३५
महं	६४०
महंत	६३९, ६४०, ६४१, ८३३
महंतसत्ता	८१५
माइमरणाणं	७१९
माईहिं	६९८

विशिष्टशब्दाः	सूत्राङ्काः
माउं ओयं	७३४
माउं गाउसिणं	७३७
माणवत्तिए	६९४, ७०३
माणाओ	६८३
माणी	७०३
माणे	७०२, ७७३
माणुस्सगाइं	७१०
मातण्णे	६८९
माता	६७१, ७१३
मातुआयं	७३२
मातुं खीरं	७३२-७३४
मातीहिं	७०४
मामगं	६५२
माया	६८३, ७०२, ७१३, ७७४
मायामोसाओ	६८३
मायावत्तिए	६९४, ७०५
मार	७०३, ७१३
मारियाणं	८२३
मारेउ	८३८
मास	७१३
मासिए	७१४
माहण	६४७, ६९३, ७०६, ७१०, ७११, ७९८ ८२९, ८३४, ८४७, ८६७, ८६९
माहणपुत्ता	६४७
मिढलक्खणं	७०८
मिगं	७०९
मिच्छा	७४८
मिच्छादंड	७१३
मिच्छादंसणसल्ल	६८३, ७१३, ७४९-७५१
मिच्छायारा	७५२
मिच्छासंठिए	७४७
मिच्छोवजीवि	७८५
मित्त	६९९
मित्तदोसवत्तिए (मित्रदोष-प्रत्यया)	६९४, ७०४, ७१३

विशिष्टशब्दाः	सूत्राङ्काः
मित्तहेउं	६९५
मिय	६९८, ७१३
मियचक्क (मृगचक्र)	७०८
मियपणिहाणे	६९८
मियवहाए	६९८
मियवित्तिए (मृगवित्तिक)	६९८
मिलक्खु (म्लेच्छ)	७३२, ८१३
मिस्सगस्स	७१५
मीसगस्स	७१५
मियसंकप्पे	६९५
मुइंगपडुप्पवाइतरवेणं	७१०
मुएण	६८२
मुक्कतोया	७१४
मुग्ग	७१३
मुगंदग (मुकुन्दक)	६९७
मुच्छिया	७१३
मुंजाओ (मुञ्जा)	६५०
मुंजो	६५०
मुट्ठीण	६७९, ७०४, ७५३
मुंडणाणं	७१९
मुंडभावे	७१४
मुंडा	८४९, ८५३, ८५६, ८५७, ८६५
मुणी	६९३, ८२८
मुत्तिमग्ग	८५४
मुत्ते	६९३
मुद्धाभिसित्ते	६४६
मुदिए	६४६
मुसावाद	८५६
मुसं	७००
मुहुत्तगं	७३६
मूलजोणियाणं	७३१
मूलत्ताए	७२३-७२५
मूलवीया	७२२
मूलाणं	७२३, ७२४, ७३१
मूलं	७१३, ७३१
मूसगाणं	७३६
मेतज्जे	८४५
मेद	७१३
मेधा(हा)वी	६३९-६४१, ६४३, ६६४, ७८५
मेहाविणो	८०१
मेहुण	८५६
मेहुणवत्तिए	७३२
मोक्खं	७६८, ७१७
मोत्तिय	६६८, ७१०, ७१३
मोरका	६९६
मोसवत्तिए	६९४, ७००
मोहणकरं	७०८
मंगल	८६९
मंगुसाणं	७३६
मंडलिबंध	७१७
मंदरो	७१४
मंस	६५०, ७१३, ८२३
मंसाए	६९६
मंसाओ	६५०, ६५३
मंसवुट्ठि	७०८
रएणं	८२४
रण्णो	७४९
रति	७१३
रत्त	६६८
रयण	६६८
रस	६६८, ६८३, ७१३, ८२४
रसभोई	७१४
रसमंत	६३८
रसविहीओ (विगईओ)	७३२
रह	७१३
राईणं	६८८
राओ	७४९
रागदोसत्ता	६५३

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः

रातो ७५०, ७५१
रायगिह ८४२
रायपुर ७४९
राया ६४६
रायाभिओगेण ८०३
रालयं ६९८
रिद्धित्थिमितसमिद्धे ८४२
रुइल(ले) (रुचिर) ६३८
रुक्ख (रुक्ख-वृक्ष) ६६०, ७१३, ७२३, ७२९, ७३०
रुक्खत्ताए ७२३, ७२९
रुक्खजोणि ७२३, ७२४, ७३९
रुक्खजोणिय ७२१, ७२३, ७२४
रुक्खवक्कमा ७२३, ७२४
रुक्खसंभवा ७२३, ७२४
रुद्दा ७१३
रुप्प ७४५
रुयए ७४६
रुहिरवुट्ठि ७०८
रूव ६६८, ६८३, ७१३, ७१४, ७९९
रुवमएण ७०३
रूवगसंववहाराओ ७१३
रोइयं ८७०
रोएमि ८७०
रोएहि ८७१
रोगातं(यं)क ६६९, ६७२, ६७३
लगंडसाईणो (लगण्डशायी) ७१४
लग्गा ८३९
लट्ठिगं ७१०
लद्धपुव्वं ६७२
लद्धावलद्ध-माणावमाणणाओ ७१४
लयाए ७०४
लवालवा ८०१
लवावसक्की ७९२
लहुए ६४९

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः

लहुब्भूया ७१४
लाघवियं ६८९
लाभमदेण ७०३
लावग ६९८, ७१०, ७१३
लावगलक्खणं ७०८
लिंगं ८१७
लुक्खे ६४९
लूहचरगा ७१४
लूहाहारा ७१४
लूहे ६४३, ६९३
लेए ८४३
लेच्छइपुत्ता (लिच्छविपुत्र) ६४७
लेच्छई (लिच्छवि) ६४७
लेण (लयन) ६८८, ६९०, ७०८, ७१०
लेणकाले ६८८, ७१०
लेयस्स ८४४
लेलूण (लेष्टु) ६७९, ७०४, ७५३
लेसणिं:(श्लेषणी) ७०८
लेसाए ७१५
लोए ७६५, ८००, ८३७
लोग ६४५, ७९०
लोभ ७८३, ७७४, ८४६
लोभवत्तिए ६९४, ७०६
लोमपक्खीणं ७३७
लोमुक्खणणमातं ६७९, ७५३
लोय ६४५, ८३५, ८३६
लोलुवसंपगाढे ८३०
लोहित(य)पाणि ७१३, ८२२
लोहिते ६४९
लोहियक्खे ७४६
वइ ७५१
वइगुत्त ७०७, ७१४
वइरे ७४५
वइवत्तिए ७४८

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
वइसमित(य) ७०७, ७१४
वग्घारियसोणिसुत्तगमल्लदामकलावे ७१०
वच्चा(उक्त्वा) ६३९, ७१८
वज्जबहुले ७१३
वज्झ(वध्य) ७८३
वज्झा ७८३
वट्टग (वर्तक) ६९८, ७१०, ७१३
वट्टगलक्खणं ७०८
वणलेवणभूयं ६८८
वणविदुग्गंसि (वनविदुर्ग) ६९६, ६९८
वणसंड (वनषण्ड) ८४४
वणस्सइ (ति) सरीरं ७२३
वणस्सतिकाइया ७५१
वणस्सतिकायं ७३३-७३७
वणिया (वणिक्) ८०७-८०८
वण्ण ६७५, ७१४
वण्णमंत ६३८
वतीए ७४८, ७४९
वत्तियहेउं (वृत्तिकहेतु प्रत्ययहेतु) ६९६
वत्थ ६५२, ६८८, ६९३, ७०८, ७१०
वत्थकाले ६८८, ७१०
वत्थपडिग्गहकंबलपायपुंछणेणं ७१५
वत्थुं ६८८
वधाए ६९८
वब्भवत्तियं ७१३
वमणं ६८१
वम्मिए ६६०
वयणिज्जे ६९३
वयणं ८१९
वयं ८३८
वराह ७१३
वसणुप्पाडियं ७१३
वलयंसि ६९६
वलितरंगे ६०५

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
ववगयदुब्भिक्खमारिभयविप्पमुक्कं ६४६
वसलगा (वृषलक) ७१०
वसवत्ती ६८२
वसाए ६९६, ७१४
वहबंधणं ७१३
वाउकायं ७३५
वाउक्कायत्ताए ७४४
वाउसरीरं ७२३
वाऊ ६५६
वागुरियभावं (वागुरिकभाव) ७०९
वातपरिगतं ७३९
वातसंगहितं ७३९
वातसंसिद्धं ७३९
वाय (वात) ८१८, ८१९, ८२५
वायत्ताए ७२८
वायसपरिमंडलं ७०८
वायाभिओगेण ८१९
वायु ७१४
वालाए ६९६
वालुग ७४५
वालुयत्ताए ७४५
वास ७१३, ८०१, ८३८, ८५३, ८५४
वासाणियत्ताए ७२८
वाहण ७१३
विगत्तगा (विकर्तक) ७१३
विगुणोदयंमि ७१३
विचित्तमालामउलिमउडा ७१४
विचित्तहत्थाभरणा ७१४
विच्छड्डित(य)पउरभत्तपाणे ६४६, ८४३
विज्जाओ ७०८
विणिच्छियट्ठा (विनिश्चितार्थ) ७१५
विण्णाएण ६८२
विण्णु (विज्ञ) ६७४, ६९४
विततपक्खीणं ७३६-७३७

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः

वित्ति (वृत्ति) ७१३, ७४५, ८३८
वित्ते (वित्तवान्) ६४६, ८४३
वित्तेसिणो ८०८
विदू (विद्वस्) ६९३
विद्धु ८१२, ८१३
विपरामुहस ६५१
विपरियणं ७२३
विपुलं ७१३
विप्परियास (विपर्यास) ७४६, ८३७
विभंगे ६९४, ७१०-७१३, ७१५, ७१७
वियक्का (वितर्क) ८०५
वियत्त (व्यक्त) ६३९, ६४०, ६४१, ६४३
वियंजियं (व्यञ्जित) ६६१
वियंतिकारए (व्यन्तकारक) ६७८
विरताविरतिं ७१६
विरतिं ७१६, ७९२
विरसाहारा ७१४
विरालियाणं (विरालिका) ७३६
विरुद्धे ७१०
विरूवरूव ६५१, ७०८, ७१०
विलेवण ७१३
विवज्जगस्स ७९१
विवेगं ६६५
विवेयकम्मे ६७८
विसण्ण ६३९, ६४०, ७४३
विसमं ७१३
विसल्लकरणिं (विशल्यकरणी) ७०८
विसंधी ६७५
विस्संभराण ७३६
विहग ७१४
विहाण ६६५
विहारेणं ७१४, ८५४, ७५५
विहिंसक्काइं ७५३
विहुणे ८०६

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः

वीरासणिया ७१४
वीसा ७१३
वीहासेणिया ७१४
वीहिं (व्रीहि) ६९८
वीहिरूसितं ६९८
वुड्ढ ७३३, ७३४, ७३५
वुत्तपुव्वं ८४९, ८५३, ८५६, ८५७, ८६५
वुसिमं (वृषिमत्) ८००
वेगच्छ (च्छि) ण्णयं ७१३
वेणइवादीणं ७१७
वेतालिं ७०८
वेत्तेण ७०४
वेदणा ६७४, ७१३
वेमाया (विमात्रा) ७०७
वेयणा ७७१
वेयणं ६९४
वेयवाओ (वेदवाद) ८२९
वेरबहुले ७१३
वेर ६९६, ७८२
वेरायतणाइं ७१३
वेरुलिए (वैडूर्यं) ७४६
वेस (वैश्ये) ८३४
वेसियं (वैशिक) ६८८
वंचण ७१३
वंजणं ७०८
सअट्ठं ६४४
सउणी(णि) (शकुनि) ६६१, ७०९
सकामकिच्चेण ८०३
सकारणं ६६४
सकिरिए ७४७, ७४९, ७५५
सक्करा (शर्करा) ७४२
सगड (शकट) ७१३
सचित्त ६८५, ७३७, ७३९, ७४३, ७४४, ७४५,
सच्चं ८५४

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
सच्चामोसाइं ७०६, ८६१
सछत्ताइ ७२८
सज्झत्ताए ७२८
सड्ढी (श्रद्धिन्) ६४७, ६५४, ६५९
सणप्फयाणं (सनखपद) ७३४
सणातणं ८३३
सण्णा ६७४, ७५१
सण्णिकायाओ ७५२
सण्णिकायं ७५२
सण्णिणो ७५२
सण्णिदिट्ठं ७५१
सण्णिधिसंणिचए ६८८
सण्णिपंचिंदिया ७५१
सण्णं ७६५, ७८१
सतंता ६५६
सत्तमे ७००
सत्थपरिणामितं (शस्त्रपरिणमित) ६८८
सत्थातीतं ६८८
सत्थारो (शास्तारः) ७५७
सदा जते ७४७, (७४६)
सद्द ६४३, ६६८, ६८३, ७१३
सद्धिं (सार्द्धम्) ६९९, ७०४
सनिमित्त ६४४
सन्निवेसघायंसि ६९९
सपडिक्कमणं ८७२, ८७३
सपरिग्गहा ६७७, ६७८
संपुव्वावरं ७१०
सप्पि ७३२, ७३४
सपिप्पलीयं ८२३
सप्पुरिसेहिं ७९९
सभागतो ७८८
समएणं ८४२
समट्ठे ७५०, ८५५

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
समण ६४४, ६४७, ६९३, ७०६, ७१०
७१९, ७८७, ७९०, ७९२, ७९५
७९८, ८०५, ८०६, ८४६, ८४७
८५५, ८५७, ८६७, ८६९, ८७३
समणक्ख (समनस्क) ७४८
समणगा
समणमाहणपोसणयाए ६९६, ६९९
समणमाहणवत्तियहेउं ६९६
समणव्वतेसु ८४०
समणोपासग ८४६, ८५१, ८५२, ८५३
८५६-८६५
समणोवासए (श्रमणोपासक) ८४३, ८४७
समणोवासगपरियागं ७१५
समत्तरूवो ८३३
समत्तं ८३६
समाउआ (समायुष्का) ८६३
समादाए ७४९-७५०
समाहि (समाधि) ८४१, ८४२
समाहिजुत्ता ८३६
समाहिपत्ता ७१५
समित (य) ७०७, ७४७, (७४६), ८०४
समियाचारा ७८४
समुक्कसे ७०३
समुग्गपक्खीणं (समुद्गपक्षी) ७३७
समुदाणचरगा ७१४
समुद्द ८२०, ८४१
समं ८३७
सयण ६८८, ६९०, ७०८, ७१०, ७१३
सयणकाले ६८८, ७१०
सरडाणं (सरटानां) ७३६
सरथाणं ७३६
सरलक्खणं ७०८
सरीरजोणिया ७४६
सरीरवक्कमा ७४६
सरीरसमुस्सएणं ७५०

विशिष्टशब्दाः	सूत्राङ्काः
सरीसंभवा	७४५, ७४६
सरीराहारा	७४६
सरीरे	६५०, ६६०
सल्ल	७०५, ६३६
सल्लकतणं	८५४
सवाय	८४०-८४५, ८४८, ८५१, ८५२
सव्वजीव	८५२
सव्वजोणिया	७५२
सव्वत्ताए	६९१, ७११
सव्वदुक्ख	७२०, ७२१, ७८३, ८५४
सव्वपाण	८५२, ८५४, ८६५
सव्वपाण-भूत-जीव-सत्तेहिं	७०६, ८६५
सव्वपयाणुकंपी	८११
सव्वप्पणताए	७२३
सव्वप्पणाए	७२३
सव्वफासविसहा	७१४
सव्वभूत	८५२
सव्वरातिएणं	७१०
सव्वसत्त	८५२, ८५४, ५६५
सस्साइं	७१०
सहपासियं	७०९
सहसक्कारेह	६५१
सहस्से	८१५, ८२२, ८२९
सहेउं	६४४
साइवहुलं	७१३
साइमेण	६५२
साउणिए (शाकुनिक)	७०९
साउणियभावं	७०९
सागणियाणं	७१८
सागरो	७१४
सातिमणंतपत्ते	८१०
सातिसंपओगवहुला	७१३
सावंरिं	७०८
सामगं	६९८
सामण्णपरियागं	७१४
सारदसलिलं	७१४
सामाइयं	८६५
सामुदाणियं	६८८
सायं	७१३
सारयति	७९०
सारूविकडं	७२३, ७२४, ७३२, ७३६
सालत्ताए	७२३
सालाणं	७२३
सालि	६९८
सावइसारो	७१७
सावगा	७१७
सावज्ज	६९९, ७०७-७१०, ७१३-७१५
सावज्जदोसं	८२६
सावतेयं (स्वापतेय)	६६७
सासगंजणं	७४५
सासत	६५६, ६८०
सासतमसासते	७५५
साहम्मिय	६८७
साहम्मियवेयावडियं	७१८
साहसिया	७१३
साहुजीविणो	७८४
साहम्मियं	६८७
साहू(धू)	६५१, ६५५, ७१४, ७१५, ७८०
सिंगाए (शृंग)	६९६
सिणायगाणं	८१५, ८२२, ८२९, ८३०
सिणेहं (स्नेह)	७२३, ७३४, ७४१
सिते	६४९
सिद्धि	६५१, ७७८, ७७९
सिद्धिमग्गं	८५४
सिद्धे	६८२
सिरसाण्हाते	७१०
सिरीसिव	७१३, ८३४
सिलोगं	८२८

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
सीओ(तो)दगं ७९३
सीमंकरे ६४६
सीमंधरे ६४६
सीय ७१३
सीलगुणोववेते ८२८
सिलप्पवाल ६६८, ७१३
सीलं ६७५
सीसग ७४५
सीसं ६७५
सीहपुच्छियगं (सिंहपुच्छितक) ७१३
सीहासणंसि ७१०
सीहो ७१४
सुइब्भूया ७१४
सुएण ६८२
सुंसुमाराणं ७३३
सुकडे ६५५
सुक्कचरियं ७०८
सुक्किले ६४९
सुठिच्चा ८२८, ८३२, ८४१
सुणगं ७०९
सुण्हा ६७१, ६८८, ६९९, ७०४, ७१३
सुण्हामरणाणं ७१९
सुत्त ७४९, ७५०, ७५१, ८०२
सुद्धहियमया ७१४
सुद्धेसणिया ७१४
सुद्धोदगाणं ७३९
सुपच्चक्खायं ८५२, ८५७, ८५८, ८६५
सुप्पडियाणंदा ७१४-७१५
सुप्पणीयताए ८४८
सुब्भिगंधे ६४९
सुभगाकरं ७०८
सुमणा ७०४
सुमह ८१५, ८२९
सुयमदेण (श्रुतमदेन) ७०३

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः
सुया ७५०
सुराथालएणं ७१०
सुरूवा ६४६, ६६७, ६९४, ७११
सुवण्ण ६४६, ६६७, ६६८, ६९४, ७११, ७१३, ७४५
सुवयणं (सुवचन) ८६९
सुविणं ७०८, ७४७, ७४९, ७५१, ७५२
सुव्वता(या) ७१४, ७१५
सुसंधीता ६७५
सुसाहू ७१४
सुसीला ७१४, ७१५
सुस्सूसमाणेसु ६८९
सुही ६७१
सुहुतहुयासणो ७१४
सुहुमा ७०७, ८६९
सूर ७१४, ८३१
सूरकंतत्ताए ७४५
सूरकंते ७४५
सूरचरियं ७०८
सूल ८१३
सूलाइयं ७१३
सूलाभिण्णयं ७१३
सेउकरे ६४६
सेए ६३९, ६४०, ६४१
सेज्जेसे ८५४, ८५५
सेणावतिपुत्ता ६४७, ६५४, ६५९
सेणावत्ती ६४७
सेयकाले ७०७
सेलगोल (शैलगोल) ७१३
सेवउ ७९३
सेवालत्ताए ७३०
सेसदवियाए (शेषद्रविका) ८४४
सेहाणं ७३६
सोंडीरा ७१४
सोगंधिए ७४५

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः

सोगंधियत्ताए ७३०
सोग्गतिगामिणो ८५९, ८६०
सोच्चा ८४५, ८६९
सोणइए ७०९
सोणियाए ६९६
सोताओ ६७५
सोमलेसा ७१४
सोयण (शोचन) ७१०, ७१३
सोयणताए (शोचनता) ७५१
सोयरियभावं (सौंदर्यभाव) ७०९
सोयवियं (शौच) ६८९
सोयं (श्रोत्रं) ६७५
सोवणियभावं (शौवनिकभाव) ७०९
सोवणियंतिए ७०९
सोवणियंतिय (शौवनिकान्तिक) ७०९
सोवरिए ७०९
सोवागि (श्वपाकी) ७०८
सोही ८२१
संख ६६८, ७१३
संखाए ६७०
संखादत्तिया (संख्यादत्तिका) ७१४
संखो ७१४
संखं ७१३, ८४९
संगइयंति (सांगतिक) ६६५
संगं ८०७
संघाएणं ७१४
संघायं ६६४
संजए(ते) ७८६, ८५४
संजमजातामातावुत्तियं (संयम यात्रा मात्रा वृत्तिका) ६८८
संजमेणं ७१४-८५४
संजलणे ७०४
संजूहेणं (संयूथेन) ६१४
संजो(यो)गे ७३२, ७२४
संडासगं (संदंशक) ७१८

विशिष्टशब्दाः सूत्राङ्काः

संडासतेणं ७१८
संतसार ६६८
संता ७१४
संतिमग्गं (शान्तिमार्ग) ७८५
संतिविरति ६८९
संदमाणिया (स्यन्दमानिका) ७१३
संविच्छेदगभावं ७०९
संधी ६७५
संपराइयं ६८६
संपरायंसि ८३२
संपहारेत्थ ८६८
संभवो ८१८
संभारकडेण ७१३
संवच्छरेण ८३८-८४०
संवरे ७७०
संवसमाणे ७०४
संवुडस्स ७०६
संसट्ठचरगा ७१४
संसट्ठं ७३२
संसार ८३५
संसारकंतारं ७२०
संसारिया (सांसारिक) ८४६, ८५१, ८५२
संसारियं ७१८
संसारे ७७६
ससुद्धं ८५४
हडिवंधणं (हडिवन्धन) ७१३
हढत्ताए (हठत्व) ७३०
हत्या ६७५
हत्यच्छिण्णयं ७१३
हत्यिजामे (हस्तियाम) ८४४
हयलक्खणं ७०८
हरतणुए (हरतनुक) ७३९
हरिए(ते)हिं ७३१
हरियजोणियाणं ७३१

विशिष्टशब्दाः	सूत्राङ्काः
हरियाण(णं)	७२७, ७२९, ७३१
हरियाले	७४५
हव्वाए	६३९, ६४०
हस्समंता	६६७
हारविराइतवच्छा	७१४
हालिद्दे	६४९
हिंगुलए	७४७
हिंसादण्डवत्तिए	६९७
हिंसादण्डे	६९४, ६९७
हिमए (हिमक)	७३९
हियइच्छितं	७१०
हिययाए	६९६
हिययुप्पाडिययं	७१३
हिरण्ण	६६८, ७१३
हीणे	७०२
हीलणाओ	७१४
हेउ	६७९, ७४९, ८०७
हंता (=हन्ता)	६९६
हंता (हन्त !)	८५३-८५५
हंसगब्भ	७४५
ह्रस्समंता (ह्रस्ववत्)	६४६, ६९४, ७११
ह्रस्से (ह्रस्व)	७४९

सूत्रकृतांगसूत्र के सम्पादन-विवेचन में प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची

आगम ग्रन्थ

आयारंगसुत्तं (प्रकाशन वर्ष ई. १९७७)

सम्पादक : मुनिश्री जम्बूविजयजी
प्रकाशक : महावीर जैन विद्यालय, अगस्त क्रान्ति मार्ग, वम्बई-४०००३६

आचारांगसूत्र (मूल-अनुवाद-विवेचन-टिप्पण युक्त)

संयोजक एवं प्रधान सम्पादक : युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी
सम्पादक-विवेचक : श्रीचन्द सुराना 'सरस'
प्रकाशक : आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

आचारांगसूत्रं सूत्रकृतांगसूत्रं च (निर्युक्ति टीका सहित)
(श्री भद्रवाहुस्वामिविरचित निर्युक्ति, श्री शीलांकाचार्य विरचित वृत्ति)

सम्पादक-संशोधक : मुनिश्री जम्बूविजयजी
प्रकाशक : मोतीलाल वनारसीदास इण्डोलोजिकल ट्रस्ट, बंगलो रोड़, जवाहरनगर, दिल्ली-११०००७

अंगसुत्ताणि (भाग १, २, ३)

सम्पादक : आचार्य श्री तुलसी
प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनूं (राजस्थान)

अत्थागमे (अर्थागम) खण्ड १ (हिन्दी अनुवाद)

सम्पादक : जैन धर्मोपदेष्टा पं. श्री फूलचन्द जी म. (पुप्फभिक्खू)
प्रकाशक : श्री सूत्रागम प्रकाशक समिति, 'अनेकान्त विहार' सूत्रागम स्ट्रीट, एस. एस. जैन वाजार, गुड़गांव कैंट (हरियाणा)

आयारदसा (मूल-अर्थ-टिप्पणयुक्त)

सम्पादक : पं. मुनिश्री कन्हैयालालजी 'कमल'
प्रकाशक : आगम-अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राजस्थान)

उत्तराध्ययन सूत्र (मूल-अर्थ-विवेचनयुक्त)
सम्पादक : दर्शनाचार्य साध्वी श्री चन्दनाजी
प्रकाशक : वीरायतन प्रकाशन, आगरा (उ. प्र.)

कल्पसूत्र (व्याख्या सहित)
सम्पादक : देवेन्द्र मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न
प्रकाशक : आगम शोध संस्थान, गढसिवाना (राजस्थान)

कप्पसुत्तं (मूल-अर्थ-टिप्पणयुक्त)
सम्पादक : पं. मुनिश्री कन्हैयालालजी 'कमल'
प्रकाशक : आगम-अनुयोग प्रकाशन, सांडेराव (राजस्थान)

उवासगदसाओ (अनुवाद-विवेचन-टिप्पणयुक्त)
संयोजक एवं प्रधान सम्पादक : युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी
अनुवादक-विवेचक-सम्पादक : डॉ. छगनलाल शास्त्री, एम. ए. पी-एच-डी.
प्रकाशक : श्री आगम प्रकाशन समिति, जैन स्थानक, पिप्पलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)

ज्ञातासूत्र
सम्पादक : पं. शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, 'न्यायतीर्थ'
प्रकाशक : स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदनगर)

ठाणं (मूलार्थ-विवेचन-टिप्पणयुक्त)
सम्पादक-विवेचक : युवाचार्य महाप्रज्ञ श्री नथमलजी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

अन्तकृद्दशांग (मूल एवं अर्थ)
सम्पादक : रतनलालजी डोशी
प्रकाशक : अ. भा. साधुमार्गी जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना (म. प्र.)

दसवेआलियं (विवेचनयुक्त)
सम्पादक विवेचक : युवाचार्य महाप्रज्ञ मुनिश्री नथमलजी
प्रकाशक : जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

प्रश्नव्याकरण सूत्र (मूल-अर्थ-भावार्थ-व्याख्यायुक्त)
व्याख्याकार : पं. हेमचन्द्रजी महाराज
सम्पादक : अमरमुनिजी महाराज
प्रकाशक : सन्मति ज्ञानपीठ, लोहामण्डी, आगरा-२

मूलसुत्ताणि
सम्पादक : पं. मुनिश्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
प्रकाशक : शान्तिलाल वी. शेठ, गुरुकुल प्रिंटिंग प्रेस, ब्यावर (राजस्थान)

सूत्रकृतांगसूत्र (मूल-अर्थ-भावार्थ-व्याख्या सहित) भाग १-२
व्याख्याकार : पं० मुनिश्री हेमचन्द्रजी महाराज
सम्पादक : अमर मुनि तथा मुनि नेमिचन्द्रजी
प्रकाशक : आत्मज्ञानपीठ, मानसा मण्डी (पंजाब)

श्रीसूत्रकृतांगमं (मूल-अन्वयार्थ-भावार्थ-टीकानुवाद सहित) चार खण्ड
(श्री शीलांकाचार्य रचित वृत्ति)
सम्पादक : पं० अम्बिकादत्त ओझा, व्याकरणाचार्य
प्रकाशक : श्री महावीर जैन ज्ञानोदय सोसाइटी, राजकोट (गुजरात)

सूत्रकृतांग (मूल, अर्थ, टीका, अनुवाद गुज० हिन्दी-सहित) भाग १ से ४
टीकाकार : जैनाचार्य पूज्यश्री घासीलालजी महाराज
अनुवादक : पं० मुनि श्री कन्हैयालालजी महाराज
प्रकाशक : अ० भा० श्वे० स्था० जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट (गुजरात)

सूयगडंगसुत्तं (मूल-टिप्पण परिशिष्टयुक्त)
सम्पादक : मुनिश्री जम्बूविजयजी
प्रकाशक : महावीर जैन विद्यालय, अगस्त क्रान्ति मार्ग, बम्बई-४०००३६

भगवतीसूत्र (अनगार धर्मामृतवर्षिणी व्याख्या सहित) भाग १ से ४ तक
व्याख्याकार : जैनाचार्य पूज्य श्री घासीलालजी महाराज
नियोजक : पं० मुनि श्री कन्हैयालालजी महाराज
प्रकाशक : जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट (गुजरात)

व्याख्या ग्रन्थ

तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि
व्याख्याकार : आचार्य पूज्यपाद
हिन्दी अनुवाद : पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी

तत्त्वार्थसूत्र (आचार्य उमास्वातिकृत स्वोपज्ञ भाष्यसहित)
सम्पादक : व्याकरणाचार्य पं० ठाकुरप्रसाद शर्मा
प्रकाशक : परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई

महावीर वाणी (संस्कृत रूपान्तर, विस्तृत तुलनात्मक विवेचन युक्त)
सम्पादक : पं. बेचरदासजी दोशी न्याय-व्याकरणतीर्थ
हिन्दी-अनुवादक : कस्तूरमलजी बांठिया
प्रकाशक : सर्वसेवा संघ, राजघाट, वाराणसी-१ (उ० प्र०)

सूक्ति त्रिवेणी
सम्पादक : उपाध्याय श्री अमरचन्दजी महाराज
प्रकाशक : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा (उ० प्र०)

विशेषावश्यक भाष्य (मूल गाथा, टीका का गुजराती अनुवाद)
(जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण रचित, मलधारी आचार्य हेमचन्द्र कृत वृत्ति)
भाषान्तरकार : शाह चुन्नीलाल हाकमचन्द, अहमदाबाद
प्रकाशक : आगमोदय समिति, बम्बई

शब्दकोष तथा अन्य सहायक ग्रन्थ

अभिधान राजेन्द्र कोष (भाग १ से ७ तक)
सम्पादक : आचार्य श्री राजेन्द्र सूरि
प्रकाशक : समस्त जैन श्वेताम्बर संघ, श्री अभिधान राजेन्द्र कार्यालय, रतलाम (म० प्र०)

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष (भाग १ से ४ तक)
सम्पादक : क्षुल्लक श्री जिनेन्द्रवर्णी
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ, बी० ४५/४७ कनॉट प्लेस, नई दिल्ली-१

पाइअ-सद्द-महण्णवो (द्वि० सं०)
सम्पादक : पं० हरगोविन्ददास टी० शेठ, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, और पं० दलसुखभाई मालवणिया
प्रकाशक : प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी-५

नालन्दा विशाल शब्द सागर
सम्पादक : श्री नवलजी
प्रकाशक : आदीश बुक डिपो, ३८ यू० ए० जवाहरनगर, बंगलो रोड, दिल्ली-७

शब्द रत्न महोदधि (संस्कृत गुजराती शब्दकोष) भाग १-२,
संग्राहक : पन्यास श्री मुक्तिविजयजी
संशोधक : पं० भगवानदास हरखचन्द
प्रकाशक : मन्त्री, श्री विजयनीतिसूरि वाचनालय

अभिधम्मत्थ संगहो (आचार्य अनुरुद्ध रचित)
टीकाकार : भदन्त सुमंगल स्वामी
सम्पादक-संशोधक : भदन्त रेवत धर्मशास्त्री एम० ए०
प्रकाशक : बौद्ध स्वाध्याय सत्र, एस० १७/३३० ए० मलदहिया, वाराणसी (उ० प्र०)

धम्मपदम् (बुद्ध सुभाषित)
सम्पादक : प्रो० सत्यप्रकाश शर्मा, एम० ए०, साहित्याचार्य
प्रकाशक : साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ-२

विसुद्धिमग्गो (आचार्य बुद्धघोष कृत) भाग १-२

अनुवादक : भिक्षु त्रिपिटकाचार्य धर्मरक्षित
प्रकाशक : महावोधि सभा सारनाथ, वाराणसी (उ० प्र०)

पाली हिन्दी कोश

सम्पादक : भदन्त आनन्द कौशल्यायन
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, ८ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-११०००६

दीघनिकाय (सुत्तपिटक का एक अंश)

अनुवादक : भिक्षु राहुल सांकृत्यायन एवं भिक्षु जगदीश कश्यप, एम० ए०
प्रकाशक : भारतीय वौद्ध शिक्षा परिषद्, बुद्ध विहार, लखनऊ

श्री शब्द रत्नाकर (संस्कृत शब्दकोष)

रचयिता : वाचनाचार्य साधु सुन्दरगणि
संशोधक : पं० हरगोविन्ददास एवं पं० वेचरदास
प्रकाशक : जैन श्वेताम्बर संघ, रंगून

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग-१

लेखक : पं० वेचरदास दोशी
प्रकाशक : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, जैनाश्रम हि० यु० वाराणसी-५ (उ० प्र०)

जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा

लेखक : पं० देवेन्द्र मुनि शास्त्री
प्रकाशक : तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राजस्थान)

सद्धर्ममण्डनम्

लेखक : स्व० जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज
सम्पादक : पं० मुनिश्री श्रीमल्लजी महाराज
प्रकाशक : श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ, रांगड़ी मोहल्ला, बीकानेर (राजस्थान)

जैन सिद्धान्त बोल संग्रह (भाग १ से ७ तक)

संयोजक : भैरोंदानजी सेठिया
प्रकाशक : अगरचन्द भैरोंदान सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर (राजस्थान)

मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास

लेखकः श्रीचन्द चौरड़िया न्यायतीर्थ (द्वय)
प्रकाशक : जैन दर्शन समिति, १६/सी-डोवरलेन, कलकत्ता-७०००२९

भगवद्गीता (मूल-अर्थ सहित)
प्रकाशक : गीता प्रेस, पो० गीता प्रेस, गोरखपुर (उ० प्र०)

अष्टाविंशत्युपनिषद् (ईश, केन, कठ, मुण्डक, छान्दोग्य आदि)
सम्पादक : स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, व्याकरणाचार्य
प्रकाशक : प्राच्य भारती प्रकाशन, कमच्छा, वाराणसी (उ० प्र०)

वीर स्तुति
अनुवादक : उपाध्याय श्री अमर मुनि
प्रकाशक : सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

प्रशम रति
रचयिता : आचार्य उमास्वाति
भावानुवादक : मुनि पद्मविजयजी
संशोधक : मुनि नेमिचन्द्रजी

अध्यात्मसार
ग्रन्थकार : श्रीमद् यशोविजयजी उपाध्याय
हिन्दी अनुवादक : मुनि पद्मविजयजी
सम्पादक : मुनि श्री नेमिचन्द्रजी

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमों में जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल में स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियों में भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या संयुक्त होने के कारण, इनका भी आगमों में अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अंतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, तं जह—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, विज्जुते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, तं जहा—अट्ठी, मंसं, सोणिते, असुतिसामंते, सुसाणसामंते, चंदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अंतो ओरालिए सरीरगे।

—**स्थानाङ्गसूत्र, स्थान १०**

नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्झायं करित्तए, तं जहा—आसाढपाडिवए, इंदमहपाडिवए कत्तिअपाडिवए सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गंथाणा वा निग्गंथीण वा, चउहिं संझाहिं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पढिमाते, पच्छिमाते, मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पई निग्गंथाणं वा, निग्गंथीण वा, चाउक्कालं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पुव्वण्हे अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—**स्थानाङ्गसूत्र, स्थान ४, उद्देश २**

उपरोक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या, इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गए हैं, जिनका संक्षेप में निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. **उत्कापात-तारापतन**—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

२. **दिग्दाह**—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पड़े कि दिशा में आग सी लगी है, तब भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

३. **गर्जित**—बादलों के गर्जन पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

४. **विद्युत**—बिजली चमकने पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

किन्तु गर्जन और विद्युत् का अस्वाध्याय चातुर्मास में नहीं मानना चाहिए। क्योंकि वह

गर्जन और विद्युत प्रायः ऋतु स्वभाव से ही होता है। अतः आर्द्रा में स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नहीं माना जाता।

५. **निर्घात**—विना बादल के आकाश में व्यन्तरादिकृत घोर गर्जन होने पर, या बादलों सहित आकाश में कड़कने पर दो प्रहर तक अस्वाध्याय काल है।

६. **यूपक**—शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, को सन्ध्या चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनों प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

७. **यक्षादीप्त**—कभी किसी दिशा में बिजली चमकने जैसा, थोड़े थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अतः आकाश में जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

८. **धूमिका कृष्ण**—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघों का गर्भमास होता है। इसमें धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पड़ती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पड़ती रहे, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

९. **मिहिकाश्वेत**—शीतकाल में श्वेत वर्ण का सूक्ष्म जलरूप धुन्ध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. **रज उद्घात**—वायु के कारण आकाश में चारों ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है। स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के हैं।

औदारिक सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३. **हड्डी, मांस और रुधिर**—पंचेन्द्रिय तिर्यंच की हड्डी मांस और रुधिर यदि सामने दिखाई दें, तो जब तक वहाँ से यह वस्तुएँ उठाई न जाएँ तब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओं के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि मांस और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एवं बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमशः सात एवं आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. **अशुचि**—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. **श्मशान**—श्मशानभूमि के चारों ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. **चन्द्रग्रहण**—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

१७. **सूर्यग्रहण**—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमशः आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्र पुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसंस्कार न हो तब तक स्वाध्याय न करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो तब तक शनैः शनैः स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओं में परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नहीं करें।

२०. औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पंचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पड़ा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पड़ा हो तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये हैं।

२१-२८ चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढपूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव हैं। इन पूर्णिमाओं के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इसमें स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. प्रातः सायं मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रातः सूर्य उगने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। सूर्यास्त होने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर में एक घड़ी आगे और एक घड़ी पीछे एवं अर्धरात्रि में भी एक घड़ी आगे तथा एक घड़ी पीछे स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।